# उत्तरज्झयणाणि

(मूल पाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, तुलनात्मक टिप्पण)

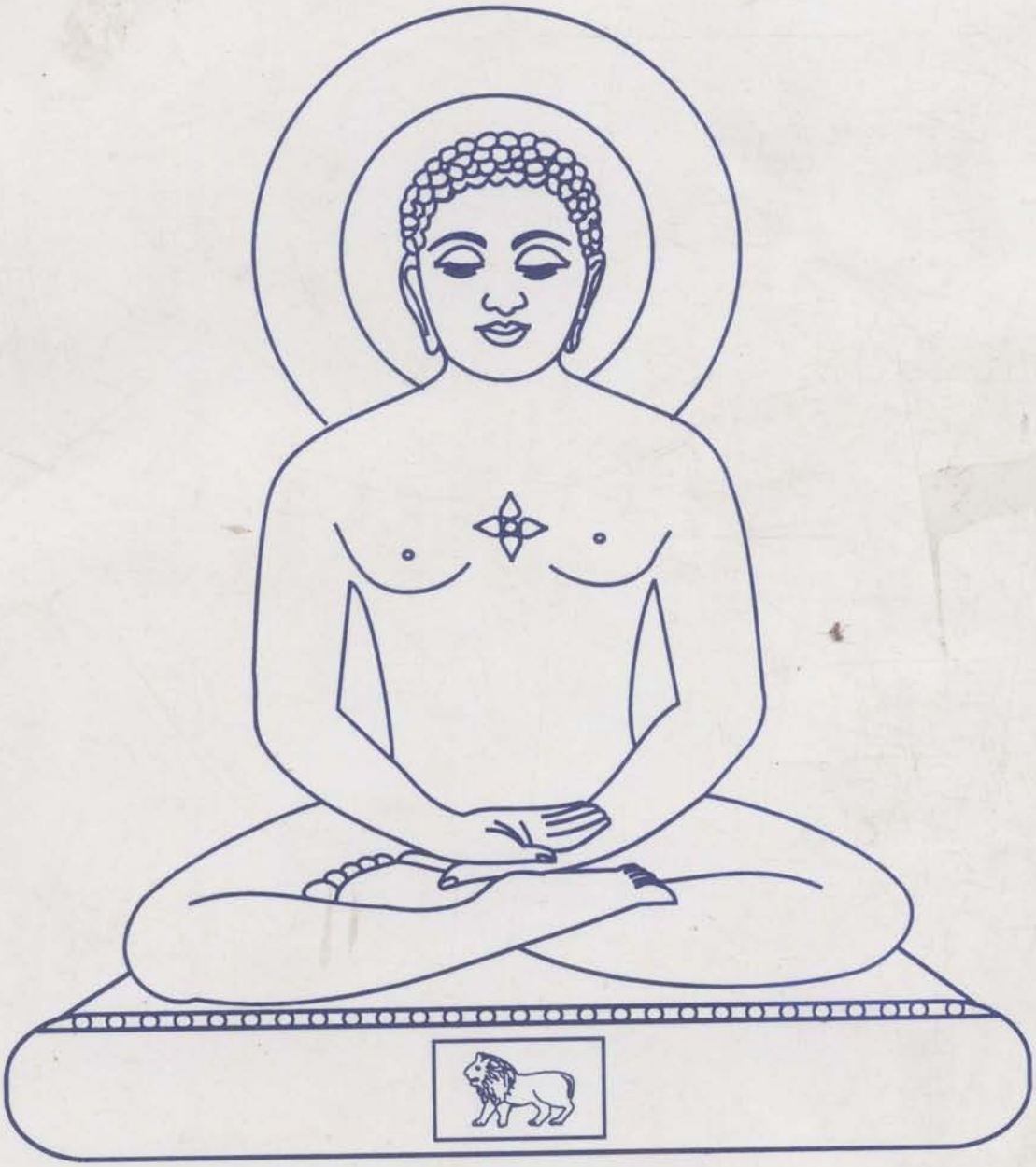

वाचना-प्रमुख
**आचार्य तुलसी**

संपादक : विवेचक
**आचार्य महाप्रज्ञ**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# उत्तरज्झयणाणि

(मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, तुलनात्मक टिप्पण)

वाचना-प्रमुख
आचार्य तुलसी

संपादक : विवेचक
आचार्य महाप्रज्ञ

प्रकाशक
जैन विश्वभारती
लाडनूं (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक : **जैन विश्वभारती**
लाडनूं-३४१३०६

© **जैन विश्व भारती**

प्रथम संस्करण : **१९६७**
द्वितीय संस्करण : **१९९३**
तृतीय संस्करण : **२०००**
चतुर्थ संस्करण : **२००६**

**सौजन्यः**
सुश्रावक स्वर्गीय श्री संतोक चंदजी ललवानी
एवं सुश्राविका सुगनी देवी ललवानी की पावन स्मृति
में उनके सुपुत्र कमल किशोर ललवानी (नोखा- कोलकाता)

पृष्ठ संख्या : ७६७

टाईप सेटिंग : सर्वोत्तम प्रिण्ट एण्ड आर्ट

मूल्य : **६००/—**रुपये

मुद्रक :
**कला भारती, शाहदरा, दिल्ली—११००३२**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# Uttarajjhayanani

*(Prakrit Text, Sanskrit renderings, Hindi translation and Comparative notes)*

*Vachana Pramukh*
**Acharya Tulsi**

*Editor and Annotator*
**Acharya Mahaprajna**

*Publisher*
**JAIN VISHVA BHARTI**
**LADNUN** (Rajasthan)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*Publisher :*
**Jain Vishva Bharati**
Ladnun-341306

**© Jain Vishva Bharati**

ISBN-81-7195-046-9

First Edition : **1967**
Second Edition : **1993**
Third Edition : **2000**
Fourth Edition : **2006**

**Courtsey :**
Sh. Kamal Kishor Lalwani, In the memory of
his Father Late Sh. Santok Chand Ji Lalwani and
his Mother Late Smt. Sugani Devi Lalwani,
(NOKHA- KOLKATA)

Page : 767

Price : **Rs. 600/-**

Type Setting : **Sarvottam Print & Art**

*Printers :*
**Kala Bharati, Shahdara Delhi-110032**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# समर्पण

॥१॥

पुट्ठो वि पण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आणा-पहाणो जणि जस्स निच्चं।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम-प्रधान था।
सत्य-योग में प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से॥

॥२॥

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीय मच्छं।
सज्झायसज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिंतन,
जयाचार्य को विमल भाव से॥

॥३॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में मेरे मन में।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से॥

विनयावनत
**आचार्य तुलसी**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथों से उप्त और सिञ्चित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगें। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूं, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं। संक्षेप में वह संविभाग इस प्रकार है—

| | | |
|---|---|---|
| संपादक : विवेचक | | **आचार्य महाप्रज्ञ** |
| | सहयोगी | **मुनि दुलहराज** |
| संस्कृत छाया | सहयोगी | **मनि सुमेरमल 'लाडनूं'** |
| | | **मुनि श्रीचन्द 'कमल'** |

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिनने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूं और कामना करता हूं कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

**आचार्य तुलसी**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# प्रकाशकीय

'उत्तरज्झयणाणि' मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पणियों सहित दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। पहले भाग में बीस अध्ययन हैं। शेष अध्ययन तथा विविध परिशिष्ट दूसरे भाग में संदृब्ध होंगे।

वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी एवं उनके इंगित और आकार पर सब कुछ न्यौछावर कर देने वाले मुनि-वृन्द की यह समवेत कृति आगमिक कार्य-क्षेत्र में युगान्तकारी है। इस कथन में अतिश्योक्ति नहीं, पर सत्य है। बहुमुखी प्रवृत्तियों के केन्द्र प्राणपुञ्ज आचार्य श्री तुलसी ज्ञान-क्षितिज के एक महान् तेजस्वी रवि हैं उनका मण्डल भी शुभ्र नक्षत्रों का तपोपुञ्ज है। यह इस अत्यन्त श्रम-साध्य कृति से स्वयं फलीभूत है।

गुरुदेव के चरणों में मेरा विनम्र सुझाव रहा—आपके तत्त्वावधान में आगमों का सम्पादन और अनुवाद हो—यह भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय की एक मूल्यवान् कड़ी के रूप में चिर-अपेक्षित है। यह अत्यन्त स्थायी कार्य होगा, जिसका लाभ एक-दो-तीन नहीं अपितु अनेक भावी पीढ़ियों को प्राप्त होता रहेगा। मुझे इस बात का अत्यन्त हर्ष है कि मेरी मनोभावना अंकुरित ही नहीं, पर फलवती और रसवती भी हुई है।

'दसवेआलियं' की तरह ही 'उत्तरज्झयणाणि' में भी प्रत्येक अध्ययन के आरम्भ में पांडित्यपूर्ण आमुख दे दिया है, जिससे अध्ययन के विषय का सांगोपाङ्ग आभास हो जाता है। प्रत्येक आमुख एक अध्ययनपूर्ण निबन्ध-सा है। प्रत्येक अध्ययन के अन्त में तद् अध्ययन गत विशेष शब्दों तथा विषयों पर तुलनात्मक विमर्श प्रस्तुत किया गया है। प्रयत्न यह किया गया है कि कोई भी शब्द या विषय विमर्श शून्य न रहे। टिप्पण गत विमर्श के संदर्भ भी सप्रमाण नीचे दे दिए गए हैं।

तेरापंथ के आचार्यों के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने प्राचीन चूर्णि, टीका आदि ग्रन्थों का बहिष्कार कर दिया। वास्तव में इसके पीछे तथ्य नहीं था। सत्य जहां भी हो वह आदरणीय है, यही तेरापंथ आचार्यों की दृष्टि रही। चतुर्थ आचार्य जयाचार्य ने पुरानी टीकाओं का कितना उपयोग किया था, यह उनकी भगवती जोड़ आदि रचनाओं से प्रकट है। 'दसवेआलियं' तथा 'उत्तरज्झयणाणि' तो इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाओं आदि का जितना उपयोग प्रथम बार वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी एवं उनके चरणों में सम्पादन-कार्य में लगे हुए युवाचार्य महाप्रज्ञ तथा उनके सहयोगी साधुओं ने किया है, उतना किसी भी अद्यावधि प्रकाशित सानुवाद संस्करण में नहीं हुआ है। सारा अनुवाद एवं लेखन-कार्य अभिनव कल्पना को लिए हुए है। मौलिक चिन्तन भी उनमें कम नहीं है। बहुश्रुतता एवं गंभीर अन्वेषण प्रति पृष्ठ से झलकते हैं। हम आशा करते हैं कि दो भागों में प्रकाशित होने वाला यह ग्रन्थ पाठकों को नई सामग्री प्रदान करेगा और वे इसे बड़े ही आदर के साथ अपनायेंगे।

## आभार

आचार्य श्री सुदीर्घ दृष्टि अत्यन्त भेदिनी है। जहां एक ओर जन-मानस को आध्यात्मिक और नैतिक चेतना की जागृति के व्यापक आंदोलनों में उनके अमूल्य जीवन-क्षण लग रहे हैं वहीं दूसरी ओर आगम-साहित्य-गत जैन-संस्कृति के मूल सन्देश को जन-व्यापी बनाने का उनका उपक्रम भी अनन्य और स्तुत्य है। जैन-आगमों को अभिलषित रूप में भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के सम्मुख ला देने की आकांक्षा में वाचना प्रमुख के रूप में आचार्य श्री तुलसी ने जो अथक परिश्रम अपने कन्धों पर लिया है, उसके लिए जैन ही नहीं अपितु सारी भारतीय जनता उनके प्रति कृतज्ञ रहेगी।

आचार्य महाप्रज्ञजी का सम्पादन और विवेचन कार्य एवं तेरापंथ-संघ के अन्य विद्वान् मुनि-वृन्द का सक्रिय सहयोग भी वस्तुतः अभिनन्दनीय है।

हम आचार्य श्री और उनके साधु-परिवार के प्रति इस जन-हितकारी पवित्र प्रवृत्ति के लिए नतमस्तक हैं।

**श्रीचन्द रामपुरिया**
कुलाधिपति
जैन विश्वभारती संस्थान

दीपावली १९९२
लाडनूं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# संपादकीय

## प्राचीन साहित्य का संपादन

सम्पादन का कार्य सरल नहीं है—यह उन्हें सुविदित है, जिन्होंने इस दिशा में कोई प्रयत्न किया है। दो-ढाई हजार वर्ष पुराने ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य और भी जटिल है, जिनकी भाषा और भावधारा आज की भाषा और भावधारा से बहुत व्यवधान पा चुकी है। इतिहास की यह अपवाद-शून्य गति है जो कि विचार या आचार जिस आकार में आरब्ध ा होता है, वह उसी आकार में स्थिर नहीं रहता। या तो वह बड़ा हो जाता है या छोटा। यह ह्रास और विकास की कहानी ही परिवर्तन की कहानी है और कोई भी आकार ऐसा नहीं है जो कृत है और परिवर्तनशील नहीं है। परिवर्तनशील घटनाओं, तथ्यों, विचारों और आचारों के प्रति अपरिवर्तनशीलता का आग्रह मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य का केन्द्र-बिन्दु यह है कि जो कृत है, वह सब परिवर्तनशील है। कृत या शाश्वत भी ऐसा क्या है, जहां परिवर्तन का स्पर्श न हो। इस विश्व में जो है, वह वही है जिसकी सत्ता शाश्वत और परिवर्तन की धारा से सर्वथा विभक्त नहीं है।

शब्द की परिधि में बंधने वाला कोई भी सत्य ऐसा हो सकता है, जो तीनों कालों में समान रूप से प्रकाशित रह सके? शब्द के अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है—भाषाशास्त्र के इस नियम को जानने वाला यह आग्रह नहीं रख सकता कि दो हजार वर्ष पुराने शब्द का आज वही अर्थ सही है, जो आज प्रचलित है। "पाषण्ड" शब्द का जो अर्थ ग्रन्थों और अशोक के शिलालेखों में है, वह आज के श्रमण-साहित्य में नहीं है। आज उसका अपकर्ष हो चुका है। आगम-साहित्य के सैकड़ों शब्दों की यही कहानी है कि वे आज मौलिक अर्थ का प्रकाश नहीं दे रहे हैं। इस स्थिति में हर चिन्तनशील व्यक्ति अनुभव कर सकता है कि प्राचीन साहित्य के सम्पादन का काम कितना दुरूह है।

मनुष्य अपनी शक्ति में विश्वास करता है और अपने पौरुष से खेलता है, अतः वह किसी भी कार्य को इसलिए नहीं छोड़ देता कि वह दुरूह है। यदि यह पलायन की प्रवृत्ति होती तो प्राप्य की संभावना नष्ट ही नहीं हो जाती किंतु आज जो प्राप्त है, वह अतीत के किसी भी क्षण में विलुप्त हो जाता। आज से हजार वर्ष पहले नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के सामने अनेक कठिनाइयां थीं। उन्होंने उनकी चर्चा करते हुए लिखा है :-

१. सत् सम्प्रदाय (अर्थ-बोध की सम्यक् गुरु-परम्परा) प्राप्त नहीं है।

२. सत् ऊह (अर्थ की आलोचनात्मक कृति या स्थिति) प्राप्त नहीं है।

३. अनेक वाचनाएं (आगमिक अध्यापन की पद्धतियां) हैं।

४. पुस्तकें अशुद्ध हैं।

५. कृतियां सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गंभीर हैं।

६. अर्थ-विषयक मतभेद भी हैं।

इन सारी कठिनाइयों के उपरांत भी उन्होंने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा और वे कुछ कर गए।

कठिनाइयां आज भी कम नहीं हैं किन्तु उनके होते हुए भी आचार्यश्री तुलसी ने आगम-संपादन के कार्य को अपने हाथों में ले लिया।

## आगम-संपादन की प्रेरणा और संकल्प

विक्रम सम्वत् २०११ का वर्ष और चैत्र मास। आचार्यश्री तुलसी महाराष्ट्र की यात्रा कर रहे थे। पूना से नारायणगांव की ओर जाते-जाते मध्यावधि में एक दिन का प्रवास 'मंचर' में हुआ। आचार्यश्री एक जैन परिवार के भवन में ठहरे थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहां मासिक पत्रों की फाइलें पड़ी थीं। गृह-स्वामी की अनुमति ले, हम लोग उन्हें पढ़ रहे थे। सांझ की वेला, लगभग छह बजे होंगे। मैं एक पत्र के किसी अंश का निवेदन करने के लिए आचार्यश्री के पास गया। आचार्यश्री पत्रों को देख रहे थे। जैसे ही मैं पहुंचा, आचार्यश्री ने धर्मदूत के सद्यस्क अंक की ओर संकेत करते हुए पूछा—"यह देखा कि नहीं?" मैंने उत्तर में निवेदन किया—"नहीं, अभी नहीं देखा।" आचार्यश्री बहुत गम्भीर हो गए। एक क्षण रुक कर बोले—"इसमें बौद्ध-पिटकों के सम्पादन की बहुत बड़ी योजना है। बौद्धों ने इस दिशा में पहले ही बहुत कार्य किया है और अब भी बहुत कर रहे हैं। जैन-आगमों का सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति से अभी नहीं हुआ है और अभी ध्यान भी नहीं दिया जा रहा है।" आचार्यश्री की वाणी में अन्तर-वेदना टपक रही थी, पर उसे पकड़ने के लिए समय की अपेक्षा थी।

रात्रिकालीन प्रार्थना के पश्चात् आचार्य श्री ने साधुओं को आमंत्रित किया। वे आए और वन्दना कर पंक्तिबद्ध बैठ गए। आचार्यश्री ने सायंकालीन चर्चा का स्पर्श करते हुए कहा—"जैन आगमों का कायाकल्प किया जाये, ऐसा संकल्प उठा है। उसकी पूर्ति के लिए कार्य करना होगा। बोलो, कौन तैयार है?"

सारे हृदय एक साथ बोल उठे—"सब तैयार हैं।"

आचार्यश्री ने कहा—"महान् कार्य के लिए महान् साधना चाहिए। कल ही पूर्व तैयारी में लग जाओ, अपनी-अपनी रुचि का विषय चुनो और उसमें गति करो।"

मंचर से विहार कर आचार्यश्री संगमनेर पहुंचे। पहले दिन वैयक्तिक बातचीत होती रही। दूसरे दिन साधु-साध्वियों की परिषद् बुलाई गई। आचार्यश्री ने परिषद् के सम्मुख आगम-सम्पादन के संकल्प की चर्चा की। सारी परिषद् प्रफुल्ल हो उठी। आचार्यश्री ने पूछा—"क्या इस संकल्प को अब निर्णय का रूप देना चाहिए?"

समलय से प्रार्थना का स्वर निकला—"अवश्य, अवश्य।" आचार्यश्री औरंगाबाद पधारे। सुराणा-भवन, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (वि० सं० २०११), महावीर-जयंती का पुण्य-पर्व। आचार्यश्री ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चतुर्विध-संघ की परिषद् में आगम-सम्पादन की विधिवत् घोषणा की।

## आगम-संपादन का कार्यारम्भ

वि० सं० २०१२ श्रावण मास (उज्जैन चातुर्मास) से आगम-सम्पादन का कार्यारम्भ हो गया। न तो सम्पादन का कोई अनुभव और न कोई पूर्व तैयारी। अकस्मात् धर्मदूत का निमित्त पा आचार्यश्री के मन में संकल्प उठा और उसे सबने शिरोधार्य कर लिया। चिन्तन की भूमिका से इसे निरी भावुकता ही कहा जाएगा, किन्तु भावुकता का मूल्य चिन्तन से कम नहीं है। हम अनुभव-विहीन थे, किन्तु आत्म-विश्वास से शून्य नहीं थे। अनुभव आत्म-विश्वास का अनुगमन करता है, किन्तु आत्म-विश्वास अनुभव का अनुगमन नहीं करता।

प्रथम दो-तीन वर्षों में हम अज्ञात दिशा में यात्रा करते रहे। फिर हमारी सारी दिशाएं और कार्य-पद्धतियां निश्चित व सुस्थिर हो गईं। आगम-सम्पादन की दिशा में हमारा कार्य सर्वाधिक विशाल व गुरुतर कठिनाइयों से परिपूर्ण है, यह कह कर मैं स्वल्प भी अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूं। आचार्यश्री के उत्साहवर्धक दिव्य आशीर्वाद से हमारा कार्य निरन्तर गतिशील हो रहा है। इस कार्य में हमें अन्य अनेक विद्वानों की सद्भावना, समर्थन व प्रोत्साहन मिल रहा है।

## सामूहिक वाचना

जैन-परम्परा में वाचना का इतिहास बहुत प्राचीन है। आज से १५०० वर्ष पूर्व तक आगम की चार वाचनाएं हो चुकी हैं। देवर्द्धिगणी के बाद कोई सुनियोजित आगम-वाचना नहीं हुई। उनके वाचना-काल में जो आगम लिखे गए थे, वह इस लम्बी अवधि में बहुत ही अव्यवस्थित हो गए हैं। उनकी पुनर्व्यवस्था के लिए आज फिर एक सुनियोजित वाचना की अपेक्षा थी। आचार्य श्री तुलसी ने सुनियोजित सामूहिक वाचना के लिए प्रयत्न भी किया था, परन्तु वह पूर्ण नहीं हो सका। अन्ततः हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि हमारी वाचना अनुसंधानपूर्ण, गवेषणापूर्ण, तटस्थ-दृष्टि-समन्वित तथा सपरिश्रम होगी तो वह अपने आप सामूहिक हो जाएगी। इसी निर्णय के आधार पर हमारा यह आगम-वाचना का कार्य प्रारम्भ हुआ।

हमारी इस वाचना के प्रमुख आचार्यश्री तुलसी हैं। वाचना का अर्थ अध्यापन है। हमारी इस प्रवृत्ति में अध्यापन-कर्म के अनेक अंग हैं—पाठ का अनुसंधान, भाषान्तरण, समीक्षात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अध्ययन आदि-आदि। इन सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्तियों में आचार्यश्री का हमें सक्रिय योग, मार्गदर्शन और प्रोत्साहन प्राप्त था और आज भी वह अदृश्य रूप से प्राप्त है। यही हमारा इस गुरुतर कार्य में प्रवृत्त होने का शक्तिबीज है।

सन् १९६७ में "उत्तरज्झयणाणि" दो भागों में प्रकाशित हुआ था। पहले भाग में मूल पाठ, छाया और अनुवाद था तथा दूसरे भाग में केवल टिप्पण और अन्यान्य परिशिष्ट। द्वितीय संस्करण सन् १९९३ में दो भागों में प्रकाशित हुआ। इसमें टिप्पण संलग्न है। प्रथम भाग में आदि के बीस अध्ययन तथा दूसरे भाग में शेष सोलह अध्ययन। प्रथम संस्करण में टिप्पणों की संख्या छह सौ थी, द्वितीय संस्करण में टिप्पणों की संख्या चौदह सौ हो गई। प्रस्तुत तृतीय संस्करण दोनों भाग समाहित है। इसमें ये नौ परिशिष्ट हैं—

१. पदानुक्रम
२. उपमा और दृष्टान्त
३. सूक्त
४. व्यक्ति-परिचय
५. भौगोलिक-परिचय
६. तुलनात्मक अध्ययन
७. टिप्पण-अनुक्रम
८. विशेष शब्द
९. प्रयुक्त ग्रन्थ।

## कृतज्ञता ज्ञापन

जिनके शक्तिशाली हाथों का स्पर्श पाकर निष्प्राण भी प्राणवान् बन जाता है तो भला आगम साहित्य जो स्वयं प्राणवान् है, उसमें प्राणसंचार करना क्या बड़ी बात है? बड़ी बात तो यह है कि आचार्यश्री ने उसमें प्राण-संचार मेरी और मेरे सहयोगी साधु-साध्वियों की असमर्थ अंगुलियों द्वारा कराने का प्रयत्न किया है। संपादन कार्य में हमें आचार्यश्री का आशीर्वाद ही प्राप्त नहीं था, उनका मार्गदर्शन और सक्रिय योग भी प्राप्त था। आचार्यवर ने इस कार्य को प्राथमिकता दी है और इसकी परिपूर्णता के लिए अपना पर्याप्त समय भी दिया है। इनके मार्गदर्शन, चिन्तन और प्रोत्साहन का संबल पा हम अनेक दुस्तर धाराओं का पार पाने में समर्थ हुए हैं।

मैं आचार्यश्री के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन कर भार-मुक्त होऊं, उसकी अपेक्षा अच्छा है कि अग्रिम कार्य के लिए उनके मूक आशीर्वाद का संबल पा और अधिक भारी बनूं।

आगम-संपादन के कार्य में अनेक साधु-साध्वियों का योग रहा है। आज भी वे इस सारस्वत कार्य में संलग्न हैं। इस संस्करण की समायोजना में सर्वाधिक योग मुनि दुलहराजजी का है। अन्यान्य मुनियों ने भी यथाशक्ति योग दिया है। मुनि श्रीचन्दजी, मुनि राजेन्द्र कुमार जी, मुनि धनंजय कुमार जी ने टिप्पण लेखन में योग दिया है। संस्कृत छाया लेखन में सहयोगी रहे हैं मुनि सुमेरमल जी 'लाडनूं' तथा मुनि श्रीचंद जी 'कमल'। टिप्पण अनुक्रम का परिशिष्ट तैयार किया है, मुनि राजेन्द्र कुमार जी, मुनि प्रशान्त कुमार जी तथा समणी कुसुमप्रज्ञा ने। मुनि सुमेरमलजी 'सुदर्शन' ने भी प्रूफ आदि देखने में अपना समय लगाया है।

इस प्रकार प्रस्तुत संपादन में अनेक मुनियों की पवित्र अंगुलियों का योग रहा है। मैं उन सबके प्रति सद्भावना व्यक्त करता हूं और आशा करता हूं कि वे इस महान् कार्य के अग्रिम चरण में और अधिक दक्षता प्राप्त कर गणाधिपति तुलसी द्वारा प्रारब्ध इस कार्य को और अधिक गतिमान् बनाने का प्रयत्न करेंगे।

आचार्यश्री प्रेरणा के अनन्त स्रोत थे। हमें इस कार्य में उनकी प्रेरणा और प्रत्यक्ष योग प्राप्त था। इसलिए हमारा मार्ग ऋजु बन गया था। आज भी परोक्षतः उन्हीं के शक्ति-संबल से हम इस सारस्वत कार्य में नियोजित हैं, गतिमान् हैं। उनका शाश्वत आशीर्वाद दीप बनकर हमारा कार्य-पथ प्रकाशित करता रहे, यही हमारी आशंसा है।

३० जून २०००
जैन विश्व भारती
लाडनूं

**आचार्य महाप्रज्ञ**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# भूमिका

## १. आगम-सूत्रों का वर्गीकरण

जैन आगमों का प्राचीनतम वर्गीकरण पूर्व और अंग के रूप में प्राप्त होता है। पूर्व संख्या में चौदह थे[1] और अंग बारह।[2]

दूसरा वर्गीकरण आगम-संकलन-कालीन है। उसमें आगमों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य।[3]

तीसरा वर्गीकरण इन दोनों का मध्यवर्ती है। उसमें आगम-साहित्य के चार वर्ग किए गए हैं—

(१) चरण-करणानुयोग, (२) धर्मकथानुयोग, (३) गणितानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग।

एक वर्गीकरण सबसे उत्तरवर्ती है। उसके अनुसार आगम चार वर्गों में विभक्त होते हैं—

(१) अंग (२) उपांग (३) मूल और (४) छेद।

नंदी के वर्गीकरण में मूल और छेद का विभाग नहीं है। उपांग शब्द भी अर्वाचीन है। नंदी के वर्गीकरण में इस अर्थ का वाचक अनंग-प्रविष्ट या अंग-बाह्य शब्द है।

आगमों का एक वर्गीकरण अध्ययन-काल की दृष्टि से भी किया गया है। दिन और रात के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में पढ़े जाने वाले आगम 'कालिक' तथा दिन और रात के चारों प्रहरों में पढ़े जाने वाले आगम 'उत्कालिक' कहलाते हैं।

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन अंग-बाह्य आगम हैं। ये दोनों 'मूल-सूत्र' कहे जाते हैं।

## २. मूल-सूत्र

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन गणधर-कृत नहीं हैं, इसलिए अंग-बाह्य हैं। इन्हें 'मूल' क्यों माना गया, इसका कोई प्राचीन उल्लेख उपलब्ध नहीं है। अनेक विद्वानों ने 'मूल' शब्द की अनेक आनुमानिक व्याख्याएं की हैं। "दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन" में इनका उल्लेख हम कर चुके हैं।

प्रो. विन्टरनित्ज ने 'मूल' शब्द को 'मूल ग्रन्थ' के अर्थ में स्वीकृत किया है। उनका अभिप्राय यह है—इन सूत्रों पर अनेक टीकाएं हैं। इनसे 'मूल ग्रंथ' का भेद करने के लिए इन्हें 'मूल-सूत्र' कहा गया।[4] यह प्रामाणिक नहीं है। प्रो. विन्टरनित्ज ने पिण्ड-निर्युक्ति को भी 'मूल-वर्ग' में सम्मिलित किया है। किन्तु उसकी अनेक टीकाएं नहीं हैं। यदि अनेक टीकाएं होने के कारण ही 'मूल-सूत्र' की संज्ञा दी गई तो पिण्डनिर्युक्ति इस वर्ग में नहीं आ सकती।

डॉ. सरपेन्टियर,[5] डॉ. ग्यारीनो[6] और प्रो. पटवर्धन[7] ने 'मूल-सूत्र' का अर्थ 'भगवान् महावीर के मूल शब्दों का संग्रह' किया है। किन्तु यह भी संगत नहीं है। भगवान् महावीर ने मूल शब्दों के कारण ही आगम को 'मूल' संज्ञा दी जाय तो वह आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को ही दी जा सकती है। वह सबसे प्राचीन और महावीर के मूल शब्दों का संकलन है।

---

१. समवाओ, समवाय १४ : चउद्दस पुव्वा प. तं.—
उप्पायपुव्वमग्गेणियं, च तइयं च वीरियं पुव्वं।
अत्थीनत्थिपवायं तत्तो नाणप्पवायं च।।
सच्चप्पवायपुव्वं, तत्तो आयप्पवायपुव्वं च।
कम्मप्पवायपुव्वं, पच्चक्खाणं भवे नवमं।।
विज्जा अणुप्पवायं, अबंझपाणाउ बारसं पुव्वं।
तत्तो किरियविसालं, पुव्वं तह बिंदुसारं च।।

२. वही, समवाय ८८ : दुवालसंगे गणिपडिगे प. तं.—आयारे सूयगडे ठाणे समवाए विआहपण्णत्ती णायाधम्मकहाओ उवासगदसाओ अंतगडदसाओ अणुत्तरोववाइयदसाओ पण्हावागरणाइं विवागसुए दिट्ठिवाए।

३. नंदी, सूत्र ७३ : अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च।

४. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-२, पृ. ४६६, पाद-टिप्पणी-१ : Why these texts are called "root-Sūtras" is not quite clear, Generally the word mūla is used in the sense of "fundamental text" in contradistinction to the commentary. Now as there old and important commentaries in existence precisely in the case of these texts, they were probably termed "Mūla-texts."

५. दी उत्तराध्ययन सूत्र, भूमिका, पृ. ३२ : In the Buddhist work Mahāvyutpatti 245. 1265 mūlagrantha seems to mean 'original text', i.e. the words of Buddha himself. Consequently there can be no doubt whatsoever that the Jains too may have used mūla in the sense of 'original text', and perhaps not so much in opposition to the later abridgments and commentaries as merely to denote the actual words of Mahāvīra himself.

६. द रिलीजीयन द जैन, पृ. ७६ : The word Mūla-Sūtra is translated as "trat'es originaux.:

७. दशवैकालिक सूत्र, : ए स्टडी, पृ. १६ : We find however the word Mūla often used in the sense "original text", and it is but reasonable to hold that the word Mūla appearing in the expression Mūlasūtra has got the same sense. Thus the term Mūlasūtra would mean 'the original text', i.e., "the text containing the original words of Mahāvīra (as received directly from his mouth)". And as mater of fact we find, the style of Mūlasūtras Nos. 1 and 3 (उत्तराध्ययन and दसवैकालिक) as Sufficiently ancient to justify the claim made in their original title, that they represent and preserve the original words of Mahāvīra.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन मुनि की जीवन-चर्या के प्रारंभ में मूलभूत सहायक बनते हैं तथा आगमों का अध्ययन इन्हीं के पठन से प्रारंभ होता है। इसीलिए इन्हें 'मूल-सूत्र' की मान्यता मिली, ऐसा प्रतीत होता है। डॉ. सुब्रिंग का अभिमत भी यही है।[1]

हमारा दूसरा अभिमत यह है कि इनमें मुनि के मूल गुणों—महाव्रत, समिति आदि का निरूपण है। इस दृष्टि से इन्हें 'मूल-सूत्र' की संज्ञा दी गई है।

### ३. मूलाचार और मूल-सूत्र

'मूलाचार' आचार्य वट्टकेर की रचना है।[2] उसमें भी उक्त अभिमत की पुष्टि होती है। मूलाचार में मुनि के मूल आचार का निरूपण है। उसमें उत्तराध्ययन के अनेक श्लोक संगृहीत हैं।[3]

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आवश्यक तथा ओघनिर्युक्ति-पिण्डनिर्युक्ति को 'मूल-सूत्र' वर्ग में स्थापित करने वाले आचार्य के मन में वही कल्पना रही है, जो कल्पना आचार्य वट्टकेर के मन में 'मूलाचार' के अधिकार-निर्माण में रही है। 'मूल-सूत्रों' की विषय-वस्तु से जो अधिकार तुलनीय हैं, वे ये हैं—

| | |
|---|---|
| (१) मूल-गुणाधिकार | मिलाइए—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन |
| (२) समाचाराधिकार | मिलाइए—ओघनिर्युक्ति |
| (३) पिण्ड-शुद्धि अधिकार | मिलाइए—पिण्डनिर्युक्ति |
| (४) षडावश्यकाधिकार | मिलाइए—आवश्यक |

इस सादृश्य के आधार पर दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि को 'मूल-सूत्र' वर्ग में रखने का हेतु बुद्धिगम्य हो जाता है।

### ४. मूल-सूत्र की कल्पना और श्रुत-पुरुष

'मूल-सूत्र' वर्ग की कल्पना का एक कारण श्रुत-पुरुष (आगम-पुरुष) भी हो सकता है। नंदी-चूर्णि में श्रुत-पुरुष की कल्पना की गई है। पुरुष के शरीर में बारह अंग होते हैं—दो पैर, दो जंघाएं, दो ऊरु, दो गात्रार्ध (उदर और पीठ), दो भुजाएं, ग्रीवा और शिर। आगम-साहित्य में जो बारह अंग हैं, वे ही श्रुत-पुरुष के बारह अंग हैं।[4]

अंग-बाह्य श्रुत-पुरुष के उपांग स्थानीय हैं। यह परिकल्पना अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य—इन दो आगमिक वर्गों के आधार पर हुई है। इसमें 'मूल' और 'छेद' की कोई चर्चा नहीं है। हरिभद्रसूरि (विक्रम की ८ वीं शताब्दी) और आचार्य मलयगिरि (विक्रम की १३ वीं शताब्दी) के समय तक भी श्रुत-पुरुष की कल्पना में अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य—ये दो ही परिपार्श्व रहे हैं। इन दोनों आचार्यों ने चूर्णि का अनुसरण किया है। उसमें कोई नई बात नहीं जोड़ी है।[5] आचार्य मलयगिरि ने तो अंग-प्रविष्ट तथा आचारांग आदि को भी 'मूल-भूत' कहा है।[6] श्रुत-पुरुष की प्राचीन रेखा-कृतियों में अंग-प्रविष्ट श्रुत की स्थापना इस प्रकार है—

| | | |
|---|---|---|
| १. दायां पैर | — | आचारांग |
| २. बायां पैर | — | सूत्रकृतांग |
| ३. दाईं जंघा | — | स्थानांग |
| ४. बाईं जंघा | — | समवायांग |
| ५. दायां ऊरु | — | भगवती |
| ६. बायां ऊरु | — | ज्ञाताधर्मकथा |
| ७. उदर | — | उपासकदशा |
| ८. पीठ | — | अन्तकृद्दशा |
| ९. दाईं भुजा | — | अनुत्तरोपपातिकदशा |
| १०. बाईं भुजा | — | प्रश्नव्याकरण |
| ११. ग्रीवा | — | विपाक |
| १२. शिर | — | दृष्टिवाद |

इन स्थापना के अनुसार भी मूल-स्थानीय (चरण-स्थानीय) आचारांग और सूत्रकृतांग है।[7]

श्रुत-पुरुष की अन्य रेखा कृतियों में स्थापना भिन्न प्रकार से मिलती है। उनमें मूल-स्थानीय चार सूत्र हैं—आवश्यक, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति और उत्तराध्ययन। नंदी और अनुयोगद्वार को व्याख्या-ग्रन्थों (या चूलिका-सूत्रों) के रूप में 'मूल' से भी नीचे प्रदर्शित किया है।[8]

पैंतालीस आगमों को प्रदर्शित करने वाली श्रुत-पुरुष की रेखाकृति बहुत अर्वाचीन है। यदि इनकी कोई प्राचीन रेखाकृति प्राप्त हो तो प्रस्तुत विषय की प्रामाणिक जानकारी हो

---

१. दसवेयालिय सुत्त, भूमिका, पृ. ३ : Together with the Uttarajjhāyā (commonly called Uttarajjhayana Sutta) the Āvassaganijjuti and the Pindanijjutti it forms a small group of texts called Mūlasutta. This disignation seems to mean that these four works are intended to serve the Jain monks and nuns in the beginning (मूल) of their career.

२. मुनि कल्याणविजयजी गणी ने 'श्रमण भगवान् महावीर' पृ. ३४३ पर 'मूलाचार' की रचना-काल विक्रम की सातवीं शताब्दी के आस-पास माना है।

३. मूलाचार, ४।६६ मिलाइए—उत्तराध्ययन, ३६।२५७
मूलाचार, ४।७० मिलाइए—उत्तराध्ययन, ३६।२५८
मूलाचार, ४।७२ मिलाइए—उत्तराध्ययन, ३६।२६०
मूलाचार, ४।७३ मिलाइए—उत्तराध्ययन, ३६।२६१

४. नंदी चूर्णि, पृ. ४७ : इच्चेतस्स सुतपुरिसस्स जं सुतं अंगभागठितं तं अंगपविट्ठं भण्णइ।

५. नंदी, हारिभद्रीया वृत्ति, पृ. ६०।

६. नंदी, मलयगिरीया वृत्ति, पत्र २०३ : यद् गणधरदेवकृतं तदंगप्रविष्टं मूलभूतमित्यर्थः, गणधरदेवा हि मूलभूतमाचारादिकं श्रुतमुपरचयन्ति।

७. श्री आगम पुरुषनुं रहस्य, पृ. ५० के सामने (श्री उदयपुर, मेवाड़ के हस्तलिखित भण्डार से प्राप्त प्राचीन) श्री आगम पुरुष का चित्र।

८. श्री आगम पुरुषनुं रहस्य, पृ. १४ तथा ४६ के सामने वाला चित्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकती है। जिस समय पैंतालीस आगमों की मान्यता स्थिर हुई, उसके आस-पास या उसी समय, संभव है श्रुत-पुरुष की स्थापना में भी परिवर्तन हुआ। चूर्णि-कालीन श्रुत-पुरुष के 'मूल-स्थान' (चरण-स्थान) में आचारांग और सूत्रकृतांग थे। उत्तर-कालीन श्रुत-पुरुष के 'मूल-स्थान' में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आ गए। इन्हें 'मूल-सूत्र' मानने का यह सर्वाधिक संभावित हेतु है।

### ५. अध्ययन-क्रम का परिवर्तन और मूल-सूत्र

आगमिक-अध्ययन के क्रम में जो परिवर्तन हुआ, उससे भी इसकी पुष्टि होती है। दशवैकालिक की रचना से पूर्व आचारांग के बाद उत्तराध्ययन पढ़ा जाता था। दशवैकालिक की रचना होने के पश्चात् दशवैकालिक और उत्तराध्ययन पढ़ा जाने लगा।[1]

प्राचीनकाल में आचारांग के प्रथम अध्ययन 'शस्त्र-परिज्ञा' का अध्ययन करा कर शैक्ष की उपस्थापना की जाती थी और फिर वह दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन 'षड्जीवनिका' का अध्ययन करा कर की जाने लगी।[2]

प्राचीनकाल में आचारांग के द्वितीय अध्ययन के पंचम उद्देशक के 'आमगन्ध' सूत्र का अध्ययन करने के बाद मुनि 'पिण्डकल्पी' होता था। फिर वह दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन 'पिण्डैषणा' के अध्ययन के पश्चात् 'पिण्डकल्पी' होने लगा।[3]

ये तीनों तथ्य इस बात के साक्षी हैं कि एक समय आचारांग का स्थान दशवैकालिक ने ले लिया। आचार की जानकारी के लिए आचारांग मूलभूत था, वैसे ही दशवैकालिक भी आचार-ज्ञान के लिए मूलभूत बन गया। संभव है आदि में पढ़े जाने के कारण तथा मुनि की अनेक मूलभूत प्रवृत्तियों के उद्बोधक होने के कारण इन्हें 'मूल-सूत्र' की संज्ञा दी गई।

### ६. मूल-सूत्रों की संख्या

१. उपाध्याय समयसुन्दर ने सामाचारी शतक' में (रचना-काल विक्रम सं. १६७२) 'मूल-सूत्र' चार माने हैं—(१) दशवैकालिक, (२) ओघनिर्युक्ति, (३) पिण्डनिर्युक्ति और (४) उत्तराध्ययन।

२. भावप्रभसूरि (१८ वीं शताब्दी) ने भी 'मूल-सूत्र' चार माने हैं—(१) उत्तराध्ययन, (२) आवश्यक, (३) पिण्डनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति और (४) दशवैकालिक।[4] ये नाम उपाध्याय समयसुन्दर के नामों से भिन्न हैं। इसमें पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को एक मानकर 'आवश्यक' को भी 'मूल-सूत्र' माना गया है।

३. स्थानकवासी[5] और तेरापन्थ[6] सम्प्रदाय में उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार—इन चार सूत्रों को 'मूल' माना गया है।

४. आधुनिक विद्वानों ने 'मूल-सूत्रों' की संख्या और क्रम-व्यवस्था निम्न प्रकार मानी है—

(क) प्रो. वेबर और प्रो. बूलर—उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक को 'मूल-सूत्र' ठहराते हैं।

(ख) डॉ. सरपेन्टियर, डॉ. विन्टरनित्ज और डॉ. ग्यारिनो—उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और ओघनिर्युक्ति को 'मूल-सूत्र' मानते हैं।

(ग) डॉ. सुब्रिंग—उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को 'मूल-सूत्रों' की संज्ञा देते हैं।[7]

(घ) प्रो. हीरालाल कापड़िया—आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशैकालिक-चूलिकाएं, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को 'मूल-सूत्र' कहते हैं।[8]

उक्त सब अभिमतों को संकलित करने पर 'मूल-सूत्रों' की संख्या आठ हो जाती है—आवश्यक, दशवैकालिक, दशवैकालिक-चूलिकाएं, उत्तराध्ययन, पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, अनुयोगद्वार और नंदी।

आगमों के वर्गीकरण में आवश्यक का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। अनंग-प्रविष्ट आगमों के दो विभाग किए हैं। उनमें पहला आवश्यक और दूसरा आवश्यक-व्यतिरिक्त है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगम दूसरे विभाग के अन्तर्गत हैं, जब कि आवश्यक का अपना स्वतंत्र स्थान है। इसलिए इसे 'मूल-सूत्रों' की संख्या में सम्मिलित करने का कोई हेतु प्रस्तुत नहीं है।

ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति—ये दोनों आगम नहीं हैं, किन्तु व्याख्या-ग्रन्थ हैं। पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक के

---

१. व्यवहारभाष्य, उद्देशक ३, गाथा १७६ :
आयारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु।
दसवेयालिय उवरिं, इयाणिं किं ते न होंती उ।।

२. वही, उद्देशक ३, गाथा १७४ :
पुव्वं सत्थपरिण्णा, अधीय पढियाइ होउ उवट्ठवणा।
इण्हिं छज्जीवणया, किं सा उ होउ उवट्ठवणा।।

३. वही, उद्देशक ३, गाथा १७५ :
वितितंमि बंभचेरे, पंचमउद्देस आगगंधम्मि।
सुत्तंमि पिंडकप्पी, इइ पुण पिंडेसणाएओ।।

४. जैनधर्मवरस्तोत्र, श्लोक ३० की स्वोपज्ञ वृत्ति—अथ उत्तराध्ययन-आवश्यक-पिण्डनिर्युक्ति : तथा ओघनिर्युक्ति-दशवैकालिक—इति चत्वारि-मूलसूत्राणि।

५. श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, आगम और व्याख्या साहित्य, पृ. २७।

६. श्रीमज्जयाचार्य कृत प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, आगमाधिकार, पृ. ७३-७४।

७. ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स, पृ. ४४-४५।

८. वही, पृ. ४८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पांचवें अध्ययन—पिण्डैषणा—की व्याख्या है। ओघ- निर्युक्ति ओघ-सामाचारी की व्याख्या है। यह आवश्यक निर्युक्ति का एक अंश है। विस्तृत कलेवर होने के कारण इसे पृथक्-ग्रंथ का रूप दिया गया।[1] इसलिए इन्हें 'मूल-सूत्रों' की संख्या में सम्मिलित करने की अपेक्षा दशवैकालिक और आवश्यक के सहायक ग्रन्थों के रूप में स्वीकार करना अधिक संगत लगता है।

अनुयोगद्वार और नंदी—ये दोनों चूलिका-सूत्र हैं। इन्हें 'मूल-सूत्र' वर्ग में रखने का हेतु उपलब्ध नहीं है। सम्भव है बत्तीस सूत्रों की मान्यता के साथ (वि. १६ वीं शताब्दी में) इन्हें 'मूल-सूत्र' वर्ग में रखा गया। श्रीमज्जयाचार्य ने पूर्व प्रचलित परम्परा के अनुसार अनुयोगद्वार और नंदी को 'मूल-सूत्र' माना है। किन्तु इस पर उन्होंने अपनी ओर से कोई मीमांसा नहीं की है।

इस प्रकार 'मूल-सूत्रों' की संख्या दो रह जाती है—दशवैकालिक और उत्तराध्ययन।

## ७. मूल-सूत्रों का विभाजन-काल

दशवैकालिक की निर्युक्ति, चूर्णि और हारिभद्रीय वृत्ति में मूल-सूत्रों की कोई चर्चा नहीं है।

इसी प्रकार उत्तराध्ययन की निर्युक्ति, चूर्णि और शान्त्याचार्य कृत बृहद्वृत्ति में भी उनकी कोई चर्चा नहीं है।

इससे यह स्पष्ट है कि विक्रम की ११वीं शताब्दी तक 'मूल-सूत्र' वर्ग की स्थापना नहीं हुई थी।

धनपाल का अस्तित्व-काल ग्यारहवीं शताब्दी है। उन्होंने 'श्रावक-विधि' में पैंतालीस आगमों का उल्लेख किया है।[2] इससे यह अनुमान होता है कि धनपाल से पहले ही आगमों की संख्या पैंतालीस निर्धारित हो चुकी थी। प्रद्युम्नसूरि (वि. १३ वीं शताब्दी) कृत विचारसार-प्रकरण में भी आगमों की संख्या पैंतालीस है, किन्तु इनमें 'मूल-सूत्र' विभाग नहीं है। उसमें ग्यारह अंग और चौंतिस ग्रंथों का उल्लेख मिलता है।[3]

प्रभावक-चरित में अंग, उपांग, मूल और छेद—आगमों के ये चार विभाग प्राप्त हैं।[4] यह विक्रम संवत् १३३४ की रचना है।

इससे यह फलित होता है कि 'मूल-सूत्र' वर्ग की स्थापना चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हो चुकी थी। फिर उपाध्याय समयसुन्दर के सामाचारी शतक में इसका उल्लेख प्राप्त होता है।[5]

## ८. दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का स्थान

जैन-आगमों में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने इनका बार-बार उल्लेख किया है। दिगम्बर-साहित्य में अंग-बाह्य के चौदह प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें सातवां दशवैकालिक और आठवां उत्तराध्ययन है।[6]

श्वेताम्बर-साहित्य में अंग-बाह्य श्रुत के दो मुख्य विभाग हैं—(१) कालिक और (२) उत्कालिक। कालिक सूत्रों की गणना में पहला स्थान उत्तराध्ययन का और उत्कालिक सूत्रों की गणना में पहला स्थान दशवैकालिक का है।[7]

## ९. उत्तराध्ययन

आलोच्यमान आगम का नाम 'उत्तराध्ययन' है। इसमें दो शब्द हैं—'उत्तर' और 'अध्ययन'। समवायांग के—'छत्तीसं उत्तरज्झयणा'[8]—इस वाक्य में उत्तराध्ययन में 'छत्तीस अध्ययन' प्रतिपादित नहीं हुए हैं, किन्तु 'छत्तीस उत्तर अध्ययन' प्रतिपादित हुए हैं। नंदी में भी 'उत्तरज्झयणाइं' यह बहुवचनात्मक नाम मिलता है।[9] उत्तराध्ययन के अंतिम श्लोक में भी—'छत्तीसं उत्तरज्झाए'—ऐसा बहुवचनात्मक नाम मिलता है।[10] निर्युक्तिकार ने 'उत्तराध्ययन' का बहुवचन में प्रयोग किया है।[11] चूर्णिकार ने छत्तीस उत्तराध्ययन का एक श्रुतस्कन्ध (एक ग्रंथ रूप) स्वीकार किया है। फिर भी उन्होंने इसका नाम बहुवचनात्मक माना है।[12]

इस बहुवचनात्मक नाम से यह फलित होता है कि

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६६५, वृत्ति पत्र ३४१ : साम्प्रतमोघनिर्युक्ति-र्वक्तव्या, सा च महत्वात् पृथग्ग्रन्थान्तररूपा कृता।

२. समयसुन्दर गणी विरचित श्री गाथा सहस्री में धनपाल कृत 'श्रावक विधि' का उद्धरण है। उसमें पाठ आता है—पणयालीसं आगम (श्लोक २६७, पृ. १८)।

३. विचारलेस, गाथा ३४४-३५१।

४. प्रभावकचरितम्, दूसरा आर्यरक्षित प्रबन्ध २४१ :
ततश्चतुर्विधः कार्योऽनुयोगोऽलः परं मया।
ततोऽङ्गोपाङ्गमूलाख्यग्रन्थच्छेदकृतागमः।।

५. सामाचारी शतक, पत्र ७६।
(क) कषायपाहुड (जयधवला सहित) भाग १, पृ. १३।२५ : दसवेयालियं उत्तरज्झयणं।
(ख) गोम्मटसार (जीव-काण्ड), गाथा ३६७ : दसवेयालं च उत्तरज्झयणं।

७. नंदी, सूत्र ७७,७८ :
से किं तं उक्कालियं? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं,
तं जहा—दसवेयालियं.....।
से किं तं कालियं? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं,
तं जहा—उत्तरज्झायाइं.....।

८. समवाओ, समवाय ३६।

९. नंदी, सूत्र ७८।

१०. उत्तराध्ययन ३६।२६८।

११. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४।

१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८ : एतेसिं चेव छत्तीसाए उत्तरज्झयणाणं समुदयसमितिसमागमेणं उत्तरज्झयणभावसुतक्खंधेति लब्भइ, ताणि पुण छत्तीसं उत्तरज्झयणाणि इमेहिं नामेहिं अणुगंतव्वाणि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन अध्ययनों का योग मात्र है, एक-कर्तृक एक ग्रन्थ नहीं।

'उत्तर' शब्द 'पूर्व' सापेक्ष है। चूर्णिकार ने प्रस्तुत अध्ययनों की तीन प्रकार से योजना की है।[1]—

(१) स-उत्तर —पहला अध्ययन
(२) निरुत्तर —छत्तीसवां अध्ययन
(३) स-उत्तर-निरुत्तर—बीच के सारे अध्ययन

किन्तु 'उत्तर' शब्द की यह अर्थ-योजना चूर्णिकार की दृष्टि में अधिकृत नहीं है। उनकी दृष्टि में अधिकृत अर्थ वही है जो निर्युक्तिकार के द्वारा प्रस्तुत है। निर्युक्तिकार के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन आचारांग के उत्तरकाल में पढ़े जाते थे, इसलिए इन्हें 'उत्तर अध्ययन' कहा गया।[2] श्रुतकेवली शय्यंभव (वीर-निर्वाण सं. ६८) के पश्चात् ये अध्ययन दशवैकालिक के उत्तरकाल में पढ़े जाने लगे।[3] इसलिए ये 'उत्तर अध्ययन' ही बने रहे। यह 'उत्तर' शब्द की संगत व्याख्या प्रतीत होती है।

दिगम्बर-आचार्यों ने भी 'उत्तर' शब्द की अनेक दृष्टिकोणों से व्याख्या की है। धवलाकार (वि. ९ वीं शताब्दी) के मतानुसार 'उत्तराध्ययन' उत्तर-पदों का वर्णन करता है। यह 'उत्तर' शब्द समाधान-सूचक है।[4]

अंगपण्णत्ति (वि. १६ वीं शताब्दी) से 'उत्तर' शब्द के दो अर्थ फलित होते हैं—

(१) उत्तरकाल—किसी ग्रंथ के पश्चात् पढ़े जाने वाले अध्ययन।

(२) उत्तर—प्रश्नों का उत्तर देने वाले अध्ययन।[5]

ये अर्थ भी 'उत्तर' और 'अध्ययनों' के सम्बन्ध में वास्तविकता पर प्रकाश डालते हैं।

उत्तराध्ययन में प्रश्नोत्तर-शैली से लिखित पांच अध्ययन हैं—९, १६, २३, २५ और २९। आंशिक रूप में कुछ प्रश्नोत्तर अन्य अध्ययनों में भी हैं। इस दृष्टि से 'उत्तर' का समाधान-सूचक अर्थ संगत होते हुए भी पूर्णतः व्याप्त नहीं है।

'उत्तरकाल' वाची अर्थ संगत होने के साथ-साथ पूर्णतः व्याप्त भी है, इसलिए इस 'उत्तर' का मुख्य अर्थ यही प्रतीत होता है।

## १०. उत्तराध्ययन : रचना-काल और कर्तृत्व

उत्तराध्ययन एक कृति है। कोई भी कृति शाश्वत नहीं होती, इसलिए यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि इसका कर्ता कौन है? इस प्रश्न पर सर्व प्रथम निर्युक्तिकार ने विचार किया है। चूर्णिकार ने भी इस प्रश्न को स्पष्ट शब्दों में उठाया है।[6] निर्युक्तिकार की दृष्टि में उत्तराध्ययन एक-कर्तृक नहीं है। उनके मतानुसार उत्तराध्ययन के अध्ययन कर्तृत्व की दृष्टि से, चार वर्गों में विभक्त होते हैं—

(१) अंगप्रभव
(२) जिन-भाषित
(३) प्रत्येकबुद्ध-भाषित
(४) संवाद-समुत्थित।[7]

दूसरा अध्ययन अंगप्रभव माना गया है। निर्युक्तिकार के अनुसार वह कर्मप्रवाद पूर्व के सतरहवें प्राभृत से उद्धृत है।[8] दसवां अध्ययन जिन-भाषित है।[9] आठवां अध्ययन प्रत्येकबुद्ध-भाषित है।[10] नवां और तेईसवां अध्ययन संवाद-समुत्थित है।[11] ये चूर्णि और बृहद्वृत्तिकार द्वारा उदाहृत हैं।

उत्तराध्ययन की मूल रचना पर ध्यान देने से उसके कर्तृत्व पर कुछ प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत सूत्र में गद्यात्मक अध्ययन तीन हैं—दूसरा, सोलहवां और उनतीसवां।

दूसरे अध्ययन का प्रारंभिक वाक्य है—'सुयं मे, आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु बावीसं परीसहा

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६ : विणयसुयं सउत्तरं जीवाजीवाभिगमो णिरुत्तरो, सर्वोत्तर इत्यर्थः सेसज्झयणाणि सउत्तराणि णिरुत्तराणि य, कहं? परीसहा विणयसुयस्स उत्तरा चउरंगिज्जस्स तु पुव्वा इति काउं णिरुत्तरा।

२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३ :
कमउत्तरेण पगयं आयारस्सेव उवरिमाइं तु।
तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुंति णायव्वा।।

३. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५ : विशेषश्चायं यथा—शय्यम्भवं यावदेष क्रमः, तदाऽऽरतस्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठ्यन्त इति।

४. धवला, पृ. ९७ (सहारनपुर प्रति, लिखित) : उत्तरज्झयणं उत्तरपदाणि वण्णेइ।

५. अंगपण्णत्ति ३।२५, २६ : उत्तराणि अहिज्जंति, उत्तरज्झयणं पदं जिणिंदेहिं।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६ : एयाणि पुण उत्तरज्झयणाणि कओ केण वा भासियाणित्ति?

७. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४ :
अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा।।

८. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ६९ :
कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं।
सणयं सोदाहरणं तं चेव इहंपि णायव्वं।।

९. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७ : जिणभासिया जहा दुमपत्तगादि।
(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५ : जिनभाषितानि यथा द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनम्।

१०. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७ : पत्तेयबुद्धभासियाणि जहा काविलिज्जादि।
(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५ : प्रत्येकबुद्धाः—कपिलादयः तेभ्य उत्पन्नानि यथा कापिलीयाध्ययनम्।

११. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७ : संवाओ जहा णमिपव्वज्जा केसिगोयमेज्जं च।
(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५ : संवादः—सङ्गतप्रश्नोत्तर-वचनरूपस्तत उत्पन्नानि, यथा—केशिगौतमीयम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया।''

सोलहवें अध्ययन का प्रारम्भिक वाक्य है—सुयं मे, आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेरसमाहिठाणा पण्णत्ता।''

उनतीसवें अध्ययन का प्रारम्भिक वाक्य है—''सुयं मे, आउसं! तेणं भगवया एवमाक्खायं—इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए।''

इन प्रारंभिक वाक्यों से फलित होता है कि दूसरा और उनतीसवां अध्ययन महावीर द्वारा निरूपित है अर्थात् जिन-भाषित है और सोलहवां अध्ययन स्थविर-विरचित है।

निर्युक्ति में दूसरे अध्ययन को कर्मप्रवाद-पूर्व से निर्यूढ़ माना गया है और इसके प्रारम्भिक वाक्य से यह फलित होता है कि यह जिन-भाषित है।

निर्युक्तिकार के चार वर्गों से कर्तृत्व पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, किन्तु विषय-वस्तु पर प्रकाश पड़ता है। दसवें अध्ययन का विषय-वस्तु भगवान् महावीर द्वारा कथित है। किन्तु उस अध्ययन के कर्त्ता भगवान् महावीर नहीं हैं—यह उस अध्ययन के अंतिम वाक्य—'बुद्धस्स निस्सम भासियं'—से स्पष्ट है। इसी प्रकार दूसरे और उनतीसवें अध्ययन के प्रारम्भिक वाक्यों से भी यही तथ्य प्रकट होता है। छठे अध्ययन के अंतिम श्लोक से भी यही सूचित होता है—

***एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।***
***अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए।।*** (६।१७)

प्रत्येकबुद्ध-भाषित अध्ययन प्रत्येकबुद्ध-विरचित नहीं है। आठवें अध्ययन के अंतिम श्लोक से इस अभिमत की पुष्टि होती है—

***इइ एस धम्मे अक्खाए कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।***
***तरिहिंति जे उ काहिंति तेहिं आराहिया दुवे लोगे।।***
(८/२०)

संवाद-समुत्थित अध्ययन, नवां और तेईसवां भी नमि तथा केशि-गौतम द्वारा विरचित नहीं हैं। इसका समर्थन भी उनके अन्तिम श्लोकों से होता है—

**एवं करेंति संबुद्धा पंडिया पवियक्खणा।**
**विणियट्टंति भोगेसु जहा से नमी रायरिसि।।** (९।६२)
**तोसिया परिसा सव्वा सम्मग्गं समुवट्ठिया।**
**संथुया ते पसीयंतु भयवं केसिगोयमे।।** (२३।८९)

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्युक्तिकार के चार वर्गों से इतना ही फलित होता कि भगवान् महावीर, कपिल, नमि और केशि-गौतम—इनके उपदेशों, उपदेश-गाथाओं या संवादों को आधार बनाकर ये अध्ययन रचे गए हैं। ये कब और किसके द्वारा रचे गए—इस प्रश्न का निर्युक्ति में कोई उत्तर प्राप्त नहीं है। चूर्णि और बृहद्वृत्ति में भी नहीं है। अन्य किसी साधन से भी प्रस्तुत सूत्र के कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं हो सका है। इसके रचना-काल की मीमांसा से हम इतना जान सकते हैं कि ये अध्ययन विभिन्न युगों में हुए अनेक ऋषियों द्वारा उद्गीत हैं।

सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन ई. पू. ५ वीं शताब्दी से लेकर ई. पू. पहली शताब्दी तक व्यवस्थित रूप धारण कर चुके थे। भगवद्गीता ओर उत्तरवर्ती उपनिषदों का निर्माण ई. पू. ५०० के लगभग हुआ था। आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष, कर्म, संसार की क्षणभंगुरता, वैराग्य व संन्यास की चर्चा इस युग में विशेष विकसित हुई थी।

उत्तराध्ययन में हम ई. पू. ६०० से ई. सन् ४०० तक की धार्मिक व दार्शनिक धारा का प्रतिनिधित्व या विकास पाते हैं। हो सकता है कि इनका कुछ अंश महावीर से पहले का भी हो। चूर्णि में ऐसा संकेत भी मिलता है कि उत्तराध्ययन का छठा अध्ययन भगवान् पार्श्व द्वारा उपदिष्ट है।[1]

'दशवैकालिक' वीर निर्वाण की पहली शताब्दी की रचना है। उत्तराध्ययन एक ग्रन्थ के रूप में इससे पूर्व संकलित हो चुका था। उस समय उसके अध्ययन कितने थे, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी (९८०-९९३) में देवर्द्धिगणी ने आगमों का संकलन किया था। उन्होंने उत्तराध्ययन के आकार-प्रकार व विषय-वस्तु में कोई अभिवृद्धि की या नहीं की, इसका प्रत्यक्ष उल्लेख प्राप्त नहीं है, किन्तु नहीं की, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। अतः उत्तराध्ययन को हम एक सहस्राब्दी की विचारधारा का प्रतिनिधि सूत्र कह सकते हैं। इसमें जहां वेद और ब्राह्मण-साहित्य-कालीन यज्ञ और जातिवाद की चर्चा है, वहां द्रव्य, गुण और पर्याय की परिभाषाएं भी हैं। उन परिभाषाओं को दर्शनकालीन (ई. पू. ५ वीं से ई. पू. पहली शताब्दी) माना जाए तो यह निष्पन्न होता है कि उत्तराध्ययन के अध्ययन विभिन्न कालों में निर्मित हुए और अंतिम वाचना के समय देवर्द्धिगणी ने उनका छत्तीस अध्ययनात्मक एक ग्रंथ के रूप में संकलन किया। इसीलिए समवायांग के छत्तीस उत्तर-अध्ययनों के नाम उल्लिखित हुए। अन्यथा अंग-साहित्य में इनका उल्लेख संभव नहीं होता। वर्तमान संकलन को सामने रखकर हम चिन्तन करें तो उत्तराध्ययन के संकलयिता देवर्द्धिगणी हैं। इसके प्रारंभिक संकलन और देवर्द्धिगणी कालीन संकलन में अध्ययनों की संख्या और विषय-वस्तु में पर्याप्त अन्तर आता है।

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १५७ : केचिदन्यथा पठन्ति—
एवं से उदाहु, अरहा पासे पुरिसादाणीए।
भगवंते वेसालिए, बुद्धे परिणिव्वुडे।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-वस्तु की दृष्टि से उत्तराध्ययन के अध्ययन चार भागों में विभक्त होते हैं—

(१) धर्मकथात्मक—७,८,९,१२,१३,१४,१८,१९,२०, २१,२२,२३,२५ और २७।

(२) उपदेशात्मक—१,३,४,५,६ और १०।

(३) आचारात्मक—२,११,१५,१६,१७,२४,२६,३२, और ३५।

(४) सैद्धान्तिक—२८,२९,३०,३१,३३,३४ और ३६।

आर्यरक्षित सूरि (वि. प्रथम शताब्दी) ने आगमों के चार वर्ग किए—

(१) चरण-करणानुयोग (३) गणितानुयोग
(२) धर्मकथानुयोग (४) द्रव्यानुयोग।

इस वर्गीकरण में उत्तराध्ययन धर्मकथानुयोग के अंतर्गत गृहीत है।[1] पर आचारात्मक अध्ययन चरण-करणानुयोग में तथा सैद्धांतिक अध्ययन द्रव्यानुयोग में समाते हैं। इस प्रकार उत्तराध्ययन का वर्तमान स्वरूप अनेक अनुयोगों का सम्मिश्रण है। यह सम्मिश्रण देवर्द्धिगणी के संकलन-काल में हुआ, यह बहुत संभव है।

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि उत्तराध्ययन के पहले अठारह अध्ययन प्राचीन हैं और उत्तरवर्ती अठारह अध्ययन अर्वाचीन। किन्तु इस अभिमत की पुष्टि के लिए उन्होंने कोई निश्चित हेतु प्रस्तुत नहीं किया है। यह हो सकता है कि कुछ उत्तरवर्ती अध्ययन अर्वाचीन हों, किन्तु सारे उत्तरवर्ती अध्ययन अर्वाचीन हैं, ऐसा मानने के लिए कोई कारण प्राप्त नहीं है। इकतीसवें अध्ययन में आचारांग, सूत्रकृतांग आदि प्राचीन आगमों के साथ-साथ दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ जैसे अर्वाचीन आगमों के नाम भी उपलब्ध होते हैं।[2] ये श्रुतकेवली भद्रबाहु (वीर-निर्वाण दूसरी शती) द्वारा निर्यूढ या कृत हैं।[3] इसलिए प्रस्तुत अध्ययन भद्रबाहु के बाद की रचना है।

अठाइसवें अध्ययन में अंग और अंग-बाह्य—इन दो आगमिक विभागों के अतिरिक्त ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद का उल्लेख भी मिलता है।[4] प्राचीन आगमों के चौदह पूर्वों, ग्यारह अंगों या बारह अंगों के अध्ययन का वर्णन मिलता है। किन्तु अंग-बाह्य या प्रकीर्णक श्रुत के अध्ययन का वर्णन नहीं मिलता, इसलिए यह अध्ययन भी उत्तरकालीन आगम-व्यवस्था के आस-पास की रचना प्रतीत होती है।

इस अध्ययन में द्रव्य, गुण तथा पर्याय की परिभाषाएं भी हैं। इनकी तुलना क्रमशः वैशेषिक दर्शन के द्रव्य, गुण और कर्म से की जा सकती है।

**उत्तराध्ययन**[5]

(१) द्रव्य—
गुणाणमासओ दव्वं
(२) गुण—
एगदव्वस्सिया गुणा
(३) पर्याय—
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे।

**वैशेषिक दर्शन**[6]

(१) द्रव्य—
क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।
(२) गुण—
द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगीविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।
(३) कर्म—
एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्।

आगम साहित्य में द्रव्य, गुण और पर्याय की परिभाषा प्रथम बार उत्तराध्ययन में प्राप्त होती है। आगमों में विवरणात्मक अर्थ ही अधिक मिलते हैं, संक्षिप्त परिभाषाएं प्रायः नहीं मिलती। इसकी पूर्ति व्याख्या-ग्रन्थों से होती है। उत्तराध्ययन में ये परिभाषाएं विशेष अर्थ-सूचक हैं। प्रस्तुत अध्ययन में कर्त्ता वैशेषिक दर्शन की उक्त परिभाषाओं से परिचित रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए यह अध्ययन भी अर्वाचीन संकलन में संकलित हुआ—ऐसा अनुमान होता है। उत्तराध्ययन के प्राचीन संस्करण में कितने अध्ययन संकलित थे और अर्वाचीन संस्करण में कितने अध्ययन संकलित किए गये, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु स्थूल रूप में इतना कहा जा सकता है कि प्राचीन संस्करण का मुख्य भाग कथा-भाग था और अर्वाचीन

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १ : अत्र धम्माणुयोगेनाधिकारः।

२. उत्तरज्झयणाणि, ३१।१६-१८ :
तेवीसइ सूयगडे, रूवाहिएसु सुरेसु अ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले।।
पणवीसभावणाहिं, उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले।।
अणगारगुणेहिं च, पकप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्चइ मंडले।

३. (क) दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति, गाथा १ :
वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसयलसुयणाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे।।
(ख) पंचकल्पभाष्य, गाथा २३, चूर्णि : तेण भगवता आयारपकप्प दसाकप्प ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।

४. (क) उत्तरज्झयणाणि, २८।२१ :.....अंगेण बाहिरेण व.....।
(ख) वही, २८।२३ : .....एक्कारस अंगाइं पइण्णगं दिट्ठिवाओ य।।

५. वही, २८।६।

६. वैशेषि दर्शन, प्रथम अध्याय, प्रथम आह्निक, सूत्र १५-१७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवर्द्धन का मुख्य भाग सैद्धान्तिक है।

उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु का उल्लेख श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मिलता है।

'जैन सिद्धान्त भवन', आरा (बिहार) में प्राप्त धवला की प्रति (पत्र ५४५) में मिलता है—उत्तराध्ययन में उद्गम, उत्पादन और एषणा से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्तों का विधान है।"[1]

अंगपण्णत्ति में लिखा है—"बाईस परीषहों और चार प्रकार के उपसर्गों के सहन का विधान, उसका फल तथा इस प्रश्न का यह उत्तर है—यह उत्तराध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।"[2]

धवला में यह भी लिखा है कि उत्तराध्ययन उत्तरपदों का वर्णन करता है।[3]

हरिवंश पुराण (वि. सं. ८४०) में लिखा है कि उत्तराध्ययन में वीर-निर्वाणगमन का वर्णन है।[4]

इस प्रकार दिगम्बर-साहित्य में उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु का जो वर्णन मिलता है, उसकी संगति उत्तराध्ययन के वर्तमान स्वरूप से नहीं होती। अंगपण्णत्ति का विषय-दर्शन आंशिक रूप से संगत होता है। जैसे—

(१) बाईस परीषहों के सहन का विधान, देखिए—दूसरा अध्ययन।

(२) प्रश्नों के उत्तर, देखिए—उनतीसवां अध्ययन।

प्रायश्चित्त विधि के वर्णन तथा महावीर के निर्वाण-प्राप्ति के वर्णन की वर्तमान उत्तराध्ययन के साथ कोई संगति नहीं है। संभव है इन लेखकों के सामने उत्तराध्ययन का कोई दूसरा संस्करण रहा है या भ्रान्त अनुश्रुति के आधार पर ऐसा लिखा है।

दिगम्बर-साहित्य से एक बात निश्चित रूप से फलित होती है कि उत्तराध्ययन अंग-बाह्य प्रकीर्णक है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह आरातीय आचार्यों (गणधरों के उत्तर-कालीन आचार्यों) की रचना है।[5]

श्वेताम्बर-साहित्य में उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु का वर्णन वही मिलता है, जो वर्तमान उत्तराध्ययन में प्राप्त है।[6]

वीर-निर्वाण की पहली शताब्दी की पूर्ति के साथ-साथ दशवैकालिक की रचना हो चुकी थी। उत्तराध्ययन उससे पूर्ववर्ती रचना है। वह आचारांग के बाद पढ़ा जाने लगा था। उसे अपनी विशेषता के कारण थोड़े समय में ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था। इस स्थिति के संदर्भ में यह अनुमान किया जा सकता है कि उत्तराध्ययन के प्रारम्भिक संस्करण की संकलना वीर-निर्वाण की पहली शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही हो चुकी थी।

उत्तराध्ययन के प्रारम्भिक संस्करण की प्राचीनता असंदिग्ध है। उसकी प्राचीनता जानने के दो साधन हैं—

(१) भाषा-प्रयोग और

(२) सिद्धान्त।

**भाषा-प्रयोग** : तीसरे अध्ययन (श्लोक १४) में 'जक्ख' (सं. यक्ष) शब्द का 'अर्चनीय देव' के अर्थ में प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग प्राचीनता का सूचक है। यज्ञ के उत्कर्ष काल में ही 'यक्ष' शब्द उत्कर्षवाची था। दोनों की निष्पत्ति एक ही धातु (यज्) से है। यज्ञ का अपकर्ष के साथ-साथ 'यक्ष' शब्द के अर्थ का भी अपकर्ष हो गया। उत्तरकालीन साहित्य में वह देवों की एक हीन जाति का वाचक मात्र रह गया।

इसी प्रकार 'पाढव' (३।१३), 'वुसीमओ' (५।१८), 'मिलेक्खुया' (१६।१६), 'अज्झत्थ' (६।६), 'समिय' (६।४), आदि अनेक शब्द हैं, जो आचारांग और सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन आगमों में ही मिलते हैं।

**सिद्धान्त** : जातिवाद (अध्ययन १२ और १३), यज्ञ एवं तीर्थस्थान (अध्ययन १२), ब्राह्मणों के लक्षणों का प्रतिपादन (अध्ययन २५)—ये इन अध्ययनों की प्राचीनता के सूचक हैं। ये सम्बन्धित चर्चाओं के उत्कर्ष काल में लिखे गए हैं, अन्यथा शान्त चर्चा का इतनी सप्राणता के साथ प्रतिपादन नहीं हो सकता। इसी तथ्य के आधार पर कहा जा सकता है कि ये अध्ययन महावीर-कालीन अथवा उनके परिपार्श्व-कालीन हैं। संभव है कुछ अध्ययन पूर्ववर्ती भी हों।

**चिकित्सा का वर्जन** (२।३२,३३), परिकर्म का वर्जन (अध्ययन १६), अचेलकता का प्रतिपादन (२।३४, ३५; २३।२९) तथा अचेलकता और सचेलकता की सामंजस्य-पूर्ण स्थिति का स्वीकार (२।१२,१३)—ये सभी जैन आचार की प्राचीनतम परम्परा के अवशेष हैं जो उत्तरवर्ती साहित्य में नवीन परंपराओं की पृष्ठभूमि में प्रश्न-चिन्ह बने हुए हैं।

उत्तराध्ययन अपने मूल रूप में धर्मकथानुयोग है।

---

१. उत्तरज्झयणं उग्गमुप्पायणेसणदोसगयपायच्छित्तविहाणं कालादि विसेसिदं वण्णेदि।

२. अंगपण्णत्ति, २/२५, २६ :
उत्तराणि अहिज्जंति उत्तरज्झयणं मदं जिणिंदेहिं।
बावीसपरीसहाणं उवसग्गाणं च सहणविहिं।।
वण्णेदि तप्फलमवि, एवं पण्हे च उत्तरं एवं।
कहदि गुरुसीसयाण, पइण्णिय अट्ठमं तं खु।।

३. धवला, पृ. ६७ (सहारनपुर प्रति) : उत्तरज्झयणं उत्तरपदाणि वण्णेइ।

४. हरिवंश पुराण, १०।१३४ : उत्तराध्ययनं वीर-निर्वाण-गमनं तथा।

५. तत्त्वार्थवार्तिक, १।२०, पृ. ७८ : यद् गणधरशिष्यप्रशिष्यैरारातीयैराधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्ताङ्गार्थवचनाविन्यासं तदङ्गबाह्यम्। .....तदभेदा उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः।

६. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, १८-२६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके कथा-भाग में भगवान् महावीर के उत्तरकालीन किसी भी राजा, मुनि या व्यक्ति का नाम नहीं है। इससे भी यह ज्ञात होता है कि इसका प्रारम्भिक-संस्करण भगवान् महावीर के निर्वाण-काल के आस-पास ही संकलित हो गया था।

**११. क्या उत्तराध्ययन भगवान् महावीर की अंतिम वाणी है?**

कल्पसूत्र में बताया गया है कि भगवान् महावीर कल्याणफल-विपाक वाले ५५ अध्ययनों, पाप-फल वाले ५५ अध्ययनों तथा ३६ अपृष्ट-व्याकरणों का व्याकरण कर 'प्रधान' नामक अध्ययन का निरूपण करते-करते सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।[1]

उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर यह माना जा सकता है कि छत्तीस अपृष्ट-व्याकरण वस्तुतः उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन ही हैं। उत्तराध्ययन के अंतिम श्लोक (३६।२६८) से इसकी पुष्टि की जाती है—

*इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।*
*छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीयसंमए।।*

चूर्णिकार ने इसका अर्थ निम्न प्रकार किया है—ज्ञातकुल में उत्पन्न वर्द्धमान स्वामी छत्तीस उत्तराध्ययनों का प्रकाशन या प्रज्ञापन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

शान्त्याचार्य ने चूर्णिकार का अनुसरण करते हुए भी इसमें अपनी ओर से दो बातें और जोड़ी हैं। पहली यह है कि भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययनों का अर्थ-रूप में और कुछ अध्ययनों का सूत्र-रूप में प्रज्ञापन किया।[2] दूसरी यह है कि उन्होंने 'परिनिर्वृत' का वैकल्पिक अर्थ 'स्वस्थीभूत' किया है।[3]

निर्युक्तिकार ने इन अध्ययनों को जिन-प्रज्ञप्त बतलाया है।[4] शान्त्याचार्य ने 'जिन' शब्द का अर्थ 'श्रुत-जिन' अर्थात् श्रुत-केवली किया है।[5]

निर्युक्तिकार के अभिमतानुसार ये छत्तीस अध्ययन श्रुतकेवली आदि स्थविरों द्वारा प्ररूपित हैं। उन्होंने इसकी भी कोई चर्चा नहीं की कि भगवान् के अन्तिम देशना में इन छत्तीस अध्ययनों का प्ररूपण किया। बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य भी परिनिर्वाण के विषय में असंदिग्ध नहीं हैं। केवल चूर्णिकार ने अपना असंदिग्ध मत प्रकट किया है।

उत्तराध्ययन के अध्ययनों की संख्या ३६ होने के कारण सहज ही उस ओर ध्यान जाता है कि कल्पसूत्र में उल्लिखित ३६ अपृष्ट-व्याकरण ये ही होने चाहिए। यहां यह स्मरणीय है कि समवायांग के छत्तीस अपृष्ट-व्याकरणों का उल्लेख नहीं है। वहां केवल इतना ही बतलाया गया है कि भगवान् महावीर ने अन्तिम रात्रि के समय ५५ कल्याण-फल-विपाक वाले अध्ययनों तथा ५५ पाप-फल-विपाक वाले अध्ययनों का व्याकरण कर परिनिर्वृत हुए।[7] समवायांग के छत्तीसवें समवाय में भी इसकी कोई चर्चा नहीं है।

उत्तराध्ययन की रचना तथा **'इइ एस धम्मे अक्खाए कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं'** जैसे उल्लेखों से यह प्रमाणित नहीं होता कि ये सब अध्ययन महावीर के द्वारा निरूपित हैं। निर्युक्ति के साक्ष्य में इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। अठारहवें अध्ययन के चौबीसवें श्लोक के प्रथसम दो चरण वे ही हैं, जो छत्तीसवें अध्ययन के अंतिम श्लोक के हैं—

| १८।२४ | ३६।२६८ |
|---|---|
| इइ पाउकरे बुद्धे | इइ पाउकरे बुद्धे |
| नायए परिनिव्वुडे। | नायए परिनिव्वुए। |
| विज्जाचरणसंपन्ने | छत्तीसं उत्तरज्झाए |
| सच्चे सच्चपरक्कमे।। | भवसिद्धीयसंमए।। |

अठारहवें अध्ययन के चौबीसवें श्लोक के पूर्वार्द्ध का जो अर्थ वृत्तिकार ने किया है, वही अर्थ छत्तीसवें श्लोक के पूर्वार्द्ध का होना चाहिए। वृत्तिकार ने चौबीसवें श्लोक के पूर्वार्द्ध की व्याख्या इस प्रकार की है—बुद्ध (अवगत तत्त्व), परिनिर्वृत (शीतीभूत), ज्ञातपुत्र महावीर ने इस तत्त्व का प्रज्ञापना किया है।[8] इस अर्थ के संदर्भ में जब हम छत्तीसवें

१. कल्पसूत्र, सूत्र १४६ : .....पच्चूसकालसमयंसि संपलियंकनिसन्ने पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागइं पणपन्नं अज्झयणाइं पावफलविवागाइं छत्तीसं च अपुट्ठवागरणाइं वागारित्ता पधाणं नाम अज्झयणं विभावेमाणे २ कालगए वितिक्कंते समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबंधणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतकडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २८३ : इति परिसमाप्तौ उपप्रदर्शने च, प्रादुःप्रकाशे, प्रकाशीकृत्य—प्रज्ञापयित्वा बुद्धः—अवगतार्थः ज्ञातकः—ज्ञाताकुलसमुद्भवः वर्द्धमानस्वामी, ततः परिनिर्वाणं गतः, किं प्रज्ञापयित्वा? षट्त्रिंशदुत्तराध्ययनानि।

३. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ७१२ : इति इत्यनन्तरमुपवर्णितान् 'पाउकरे' त्ति सूत्रत्वात् 'प्रादुष्कृत्य' कांश्चिदर्थतः कांश्चन सूत्रतोऽपि प्रकाश्य, कोऽर्थः? प्रज्ञाप्य, किमित्याह 'परिनिर्वृतः' निर्वाणं गत इति सम्बन्धनीयम्, कीदृशः सन् क इत्याह—'बुद्ध' केवलज्ञानादवगतसकलवस्तुतत्त्वः 'ज्ञातको' 'ज्ञातजो' वा—ज्ञातकुलसमुद्भवः, स चेह भगवान् वर्द्धमानस्वामी 'षट्त्रिंशद्' इति षट्त्रिंशत्संख्या उत्तराः—प्रधाना अधीयन्त इत्यध्याया—अध्ययनानि तत उत्तराश्च तेऽध्यायाश्चोत्तराध्यायास्तान्—क्रियश्रुतादीन्.....।

४. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ७१२ : अथवा 'पाउकरे' ति प्रादुरकार्षीत् प्रकाशितवान्, शेषं पूर्ववत् नवरं 'परिनिर्वृतः' क्रोधादिदहनोपशमतः समन्तात् स्वस्थीभूतः।

५. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५५६ :
तम्हा जिणपन्नत्ते, अणंतगमपज्जवेहि संजुत्ते।
अज्झाए जहाजोगं गुरूपसाया अहिज्झिज्जा।।

६. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ७१३ : तसमाज्जिनैः—श्रुतजिनादिभिः प्ररूपिताः।

७. समवाओ, समवाय ५५।

८. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ४४४ : इत्येवंरूपं 'पाउकरे' त्ति प्रादुरकार्षीत्—प्रकटितवान् 'बुद्धः' अवगततत्त्वः सन् ज्ञात एव ज्ञातकः—जगत्प्रतीतः क्षेत्रयो वा, स चेह प्रस्तावान्महावीर एव, 'परिनिर्वृतः' कषायानलविध्यापनात् समन्ताच्छीतीभूतः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन के अंतिम श्लोक को पढ़ते हैं, तब उससे यह फलित नहीं होता कि ज्ञातपुत्र महावीर छत्तीस अध्ययनों की प्रज्ञापना कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

महावीर की परम्परा में जो अर्थ-प्रतिपादन होता है, वह उनकी धर्मदेशना के आधार पर होता है। इसी पारंपरिक सत्य का उल्लेख उत्तराध्ययन के संकलनकर्त्ता ने अन्तिम श्लोक में किया है।

### १२. महावीर वाणी का प्रतिनिधि सूत्र

अविकल उत्तराध्ययन भगवान् महावीर की प्रत्यक्ष वाणी भले न हो, किन्तु उसमें भगवान् महावीर की वाणी का जिस समीचीन पद्धति से संगुम्फन हुआ है, उसे देखकर सहज ही यह कहने को मन ललचा उठता है कि यह महावीर-वाणी का प्रतिनिधि सूत्र है।

अहिंसा, अपरिग्रह आदि तत्त्व नवीन नहीं हैं और भगवान् महावीर के समय में भी नवीन नहीं थे। उनसे पहले अनेक तीर्थंकर और धर्माचार्य उनका प्रयोग कर चुके थे। किन्तु भगवान् महावीर ने तात्कालिक परिस्थितियों के संदर्भ में उनको जो अभिव्यक्ति दी, वह उनका नवीन रूप है। भगवान् महावीर के समय की सामाजिक परिस्थिति अहिंसा और अपरिग्रह के मुख्य बाधक-तत्त्व ये थे—

(१) दास-प्रथा
(२) जातिवाद
(३) पशुबलि
(४) अमित संग्रह
(५) दण्ड का उच्छृंखल प्रयोग
(६) अनियंत्रित भोग

इन बाधक-तत्त्वों के निरसन के लिए भगवान् महावीर ने जिस विचारधारा का प्रतिपादन किया उसका हृदयग्राही संकलन उत्तराध्ययन में हुआ है।

पार्श्वनाथ के समय में चार महाव्रत थे और सामायिक चारित्र था। भगवान् महावीर ने महाव्रत पांच किए और छेदोपस्थापनीय चारित्र की व्यवस्था की। छेदोपस्थापनीय का अर्थ है—विभाग-युक्त चारित्र।

पूज्यपाद (वि. ५-६ शताब्दी) ने लिखा है : "भगवान् महावीर ने चारित्र-धर्म के तेरह विभाग किए—पांच महाव्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां। ये विभाग पार्श्वनाथ के समय में नहीं थे।"[1] उत्तराध्ययन में इनका सुव्यवस्थित प्रतिपादन हुआ है।

षड्जीवनिकायवाद महावीर के तत्त्ववाद का प्रधान अंग है। जीव विषयक इतना व्यवस्थित और विस्तृत प्रतिपादन अन्य किसी धर्म-परम्परा में नहीं था। आचार्य सिद्धसेन ने इसे भगवान् महावीर की सर्वज्ञता की कसौटी के रूप में प्रस्तुत किया है।[2]

उत्तराध्ययन में जीव-विभक्ति का भी एक सुन्दर प्रकरण है। अजीव-विभक्ति, कर्मवाद, षड्द्रव्य, नव तत्त्व आदि-आदि भी समुचित रूपेण प्रतिपादित हुए हैं।

यद्यपि उत्तराध्ययन को धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत रखा गया है, किन्तु अपने वर्तमान आकार में वह चारों अनुयोगों का संगम है। इस दृष्टि से इसे महावीर-वाणी (आगमों) का प्रतिनिधि सूत्र कहा जा सकता है।

### १३. उत्तराध्ययन : आकार और विषय-वस्तु

उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन हैं। यह संकलित सूत्र है। इसका प्रारंभिक संकलन वीर-निर्वाण की पहली शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। उत्तरकालीन संस्करण देवर्द्धिगणी के समय में सम्पन्न हुआ। वर्तमान अध्ययनों के नाम समवायांग तथा उत्तराध्ययन निर्युक्ति में मिलते हैं। उनमें क्वचित् थोड़ा अन्तर भी है—

| समवायांग | उत्तराध्ययन | निर्युक्ति[4] |
|---|---|---|
| १. विणयसुयं | विणयसुयं | |
| २. परीसह | परीसह | |
| ३. चाउरंगिज्जं | चउरंगिज्जं | |
| ४. असंखयं | असंख्यं | |
| ५. अकाममरणिज्जं | अकाममरणं | |
| ६. पुरिसविज्जा | नियंठ—खुड्डागनियंठ | |
| ७. उरब्भिज्जं | ओरब्भं | |
| ८. काविलिज्जं | काविलिज्जं | |
| ९. नमिपव्वज्जा | णमिपव्वज्जा | |
| १०. दुमपत्तयं | दुमपत्तयं | |
| ११. बहुसुयपूजा | बहुसुयपुज्जं | |
| १२. हरिएसिज्जं | हरिएस | |
| १३. चित्तसंभूयं | चित्तसंभूइ | |
| १४. उसुकारिज्जं | उसुआरिज्जं | |
| १५. सभिक्खुगं | सभिक्खु | |
| १६. समाहिठाणाइं | समाहिठाणं | |
| १७. पावसमणिज्जं | पावसमणिज्जं | |
| १८. संजइज्जं | सजईज्जं | |
| १९. मियचारिता | मियचारिया | |

---

१. चारित्रभक्ति, ७ :
तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै-
राचारं परमेष्ठिनो जिनमतेर्वीरान् नमामो वयम्।।

२. प्रथम द्वात्रिंशिका, श्लोक १३ :
य एव षड्जीवनिकायविस्तरः परैरनालीढपथस्त्वयोदितः।
अनेन सर्वज्ञपरीक्षणमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः।।

३. समवाओ, समवाय ३६।

४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १३-१७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| २०. अणाहपव्वज्जा | नियंठिज्जं (महानियंठ)[1] |
| २१. समुद्दपालिज्जं | समुद्दपालिज्जं |
| २२. रहनेमिज्जं | रहनेमीयं |
| २३. गोयमकेसिज्जं | केसिगोयमिज्जं |
| २४. समितीओ | समिइओ |
| २५. जन्नतिज्जं | जन्नइज्जं |
| २६. सामायारी | सामायारी |
| २७. खलुंकिज्जं | खलुंकिज्जं |
| २८. मोक्खमग्गई | मुक्खगई |
| २९. अप्पमाओ | अप्पमाओ |
| ३०. तवोमग्गो | तव |
| ३१. चरणविही | चरण |
| ३२. पमायठाणाइं | पमायठाणं |
| ३३. कम्मपगडी | कमप्पयडी |
| ३४. लेसज्झयणं | लेसा |
| ३५. अणगारमग्गे | अणगारमग्गे |
| ३६. जीवाजीवविभत्ती | जीवाजीवाविभत्ती |

निर्युक्ति के अनुसार छत्तीस अध्ययनों का विषय-वर्णन इस प्रकार है।[2]

| अध्ययन | विषय |
|---|---|
| १ | —विनय |
| २ | —प्राप्त-कष्ट-सहन का विधान। |
| ३ | —चार दुर्लभ अंगों का प्रतिपादन। |
| ४ | —प्रमाद और अप्रमाद का प्रतिपादन। |
| ५ | —मरण-विभक्ति—अकाम और सकाममरण। |
| ६ | —विद्या और आचरण। |
| ७ | —रस-गृद्धि का परित्याग। |
| ८ | —लाभ और लोभ के योग का प्रतिपादन। |
| ९ | —संयम में निष्प्रकम्प भाव। |
| १० | —अनुशासन। |
| ११ | —बहुश्रुत की पूजा। |
| १२ | —तप का ऐश्वर्य |
| १३ | —निदान—भोग-संकल्प। |
| १४ | —अनिदान—भोग-असंकल्प। |
| १५ | —भिक्षु के गुण। |
| १६ | —ब्रह्मचर्य की गुप्तियां। |
| १७ | —पाप-वर्जन। |
| १८ | —भोग और ऋद्धि का त्याग। |
| १९ | —अपरिकर्म—देहाध्यास का परित्याग। |
| २० | —अनाथता। |
| २१ | —विचित्र चर्या। |
| २२ | —चरण का स्थिरीकरण। |
| २३ | —धर्म—चातुर्याम और पंचयाम। |
| २४ | —समितियां-गुप्तियां। |
| २५ | —ब्राह्मण के गुण। |
| २६ | —सामाचारी। |
| २७ | —अशठता। |
| २८ | —मोक्ष-गति। |
| २९ | —आवश्यक में अप्रमाद। |
| ३० | —तप। |
| ३१ | —चारित्र। |
| ३२ | —प्रमाद-स्थान। |
| ३३ | —कर्म। |
| ३४ | —लेश्या। |
| ३५ | —भिक्षु के गुण। |
| ३६ | —जीव और अजीव का प्रतिपादन। |

निर्युक्तिकार ने उत्तराध्ययन के प्रतिपाद्य के संक्षिप्त संकेत प्रस्तुत किए हैं। इनसे एक स्थूल-सी रूपरेखा हमारे सामने आ जाती है। विस्तार में जाएं तो उत्तराध्ययन का प्रतिपाद्य बहुत विशद है। भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर की धर्म-देशनाओं का स्पष्ट चित्रण यहां मिलता है। वैदिक और श्रमण संस्कृति के मतवादों का संवादात्मक शैली में इतना व्यवस्थित प्रतिपादन अन्य आगमों में नहीं है। इसमें धर्म-कथाओं, आध्यात्मिक-उपदेशों तथा दार्शनिक-सिद्धान्तों का आकर्षक योग है। इसे भगवान् महावीर की विचार-धारा का प्रतिनिधि सूत्र कहा जा सकता है।

### १४. उत्तराध्ययन की कथाएं : तुलनात्मक दृष्टिकोण

भारतीय धर्मों की अनेक साहित्यिक शाखाएं हैं। उनमें अनेक कथाएं एक जैसी हैं। प्रस्तुत सूत्र में चार कथाएं ऐसी हैं, जो किंचित् रूपान्तर के साथ महाभारत और बौद्ध साहित्य में मिलती हैं। जैसे—

**उत्तराध्ययन**

१. हरिकेश बल (अ. १२)
२. चित्त-संभूत (अ. १३)
३. इषुकारीय (अ. १४)
४. नमि-प्रव्रज्या (अ. १९)

**महाभारत**

१. X
२. X
३. शान्तिपर्व, अ. १७५
   शान्तिपर्व, अ. २७७
४. शान्तिपर्व, अ. १७८

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४२२ : एसा खलु निज्जुत्ती महानियंठस्स सुत्तस्स।

२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १८-२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा अ. २७६

जातक

१. मातंग (सं. ४६७)

२. चित्तसंभूत (सं. ४६८)

३. हरितपाल (सं. ५०६)

४. महाजन (सं. ५३६)

इनके सादृश्य का कारण पूर्वकालीन 'श्रमण-साहित्य' का स्वीकरण है। प्रत्येक-बुद्धों द्वारा रचित प्रकरण हजारों की संख्या में प्रचलित थे। उन्होंने भारतीय साहित्य की प्रत्येक धारा को प्रभावित किया था। मार्केण्डेय पुराण के पिता-पुत्र संवाद की तुलना उत्तराध्ययन के चौदहवें इषुकारीय अध्ययन गत पिता-पुत्र संवाद से करने पर दोनों का स्रोत एक ही परम्परा में प्राप्त होता है। इसकी विस्तृत चर्चा हमने 'उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन' में की है।

**१५. उत्तराध्ययन : व्याकरण-विमर्श**

वर्तमान प्राकृत व्याकरण की अपेक्षा प्राचीन आगमों में कुछ विशिष्ट प्रयोग उपलब्ध होते हैं। उत्तराध्ययन भी उसी कोटि का आगम है। इसके अनेक स्थलों में विभक्ति-विहीन शब्द का प्रयोग है। अनेक स्थलों में ह्रस्व का दीर्घीकरण और दीर्घ का ह्रस्वीकरण है। संस्कृत तुल्य तथा प्राकृत व्याकरण से असिद्ध संधि-प्रयोग प्राप्त होते हैं। विभक्ति, वचन आदि का व्यत्यय भी विपुल मात्रा में मिलता है। इसमें समालोच्य शब्द भी प्रयुक्त हैं।

**विभक्ति-विहीन शब्द-प्रयोग :**

बुद्धपुत्त (१।७)

भाय (१।३६)

कल्लाण (१।२६)

भिक्खु (१।२२)

तेल्ल (१४।२८)

जीविय (३२।२०)

**ह्रस्व का दीर्घीकरण :**

समायरन्ती (४।२)

परत्था (४।५)

दुक्खपउराए (८।१)

जाईमय (१२।५)

अन्नमन्नमणूरत्ता (१३।५)

अग्गमाहिसी (१६।१)

**दीर्घ का ह्रस्वीकरण :**

पक्खिणि (१४/४१)

जिया (२२।१६)

पमाणि (७।२७)

**संस्कृत तुल्य संधि-प्रयोग :**

सुइरादवि (७।१८)

**प्राकृत व्याकरण से असिद्ध संधि-प्रयोग :**

उवसग्गे+अभिधारए=उवसग्गाभिधारए (२।२१)

बुद्धेहि+आयरियं=बुद्धेहायरियं (१।४२)

विप्परियासं+उवेइ=विप्परियासुवेइ (२०।४६)

**विभक्ति-व्यत्यय :**

आणुपुव्विं (१।१)—यहां तृतीया के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है।

अदीणमणसो (२।३)—यहां प्रथम के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है।

सव्वदुक्खाणं (८।८)—यहां तृतीया के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है।

चोद्दसहिं ठाणेहिं (११।६)—यहां सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति है।

मुहाजीवी (२५।२७)—यहां द्वितीया के अर्थ में प्रथमा विभक्ति है।

चरमाण (३०।२०)—यहां षष्ठी के अर्थ में प्रथमा विभक्ति है।

**वचन-व्यत्यय :**

विहन्नइ (२।६)—यहां बहुवचन के स्थान पर एकवचन है।

आहु (१२।२५)—यहां एकवचन के स्थान पर बहुवचन है।

तं (३६।४८)—यहां बहुवचन के स्थान पर एकवचन है।

परित्तसंसारी (३६।२६०)—यहां बहुवचन के स्थान पर एकवचन है।

**अलाक्षणिक :**

फरसु+आईहिं=फरसुमाईहिं (१६।६६)

मुट्ठि+आईहिं=मुट्ठिमाईहिं (१६।६७)

असजत्=संजए (२१।२०)

**समालोच्य शब्द :**

अप्पायंके (३।१८)—यहां 'अप्प' का प्रचलित अर्थ 'अल्प' प्राप्त नहीं होता। यहां यह शब्द निषेधार्थ में प्रयुक्त है।

सुदिट्ठं (१२।३८); सुजट्ठं (१२।४०)—इन दोनों में समान प्रयोग चाहिए। संभव है 'सुदिट्ठं' के स्थान में लिपि-दोष से 'सुजट्ठं' हो गया हो।

'उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन' में हमने व्याकरण विषयक ऊहापोह विस्तार से किया है।

**१६. उत्तराध्ययन : भाषा की दृष्टि से**

उत्तराध्ययन की भाषा प्राकृत है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में सात प्राकृतों का उल्लेख किया है—मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, वाल्हीका और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दाक्षिणात्या।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश—इन छह प्राकृतों का उल्लेख किया है।

'षड्भाषाचन्द्रिका' में प्राकृत के ये ही छह विभाग मिलते हैं। वहां महाराष्ट्र की भाषा को प्राकृत, शूरसेन (मथुरा के आसपास के प्रदेश) की भाषा को शौरसेनी, मगध की भाषा को मागधी, पिशाच (पाण्ड्य, केकय आदि देशों) की भाषा को पैशाची और चूलिका पैशाची तथा आभीर आदि देशों की भाषा को अपभ्रंश कहा गया है।[2]

भगवान् महावीर अर्द्धमागधी भाषा में बोलते थे। आगमों में स्थान-स्थान पर यही उल्लेख मिलता है।[3] प्राचीन जैन आगमों की भाषा अर्द्धमागधी और मागधी रही है।

क्षेत्र की दृष्टि से अर्द्धमागधी उस भाषा का नाम है, जो आधे मगध में अर्थात् मगध के पश्चिमी भाग में व्यवहृत थी। इसमें मागधी भाषा के लक्षण प्राप्त थे, इसलिए प्रवृत्ति की दृष्टि से भी संभव है इसे अर्द्धमागधी कहा गया। भाषा-शास्त्रियों के अनुसार मागधी की तीन मुख्य विशेषताएं हैं—

(१) प्रथम विभक्ति में एकवचन में 'ओकर' के स्थान पर 'एकार होना।'

(२) 'र' का 'ल' होना।

(३) 'ष', 'स' के स्थान पर 'श' होना।

अर्द्धमागधी में प्रथम विशेषता बहुलता से मिलती है, दूसरी कहीं-कहीं मिलती है और तीसरी प्रायः नहीं मिलती।

जब जैन मुनि पूर्वी भारत से हट कर पश्चिमी भारत में विहार करने लगे तब उनकी मुख्य भाषा महाराष्ट्री-प्राकृत हो गई। अर्द्धमागधी और मागधी के लिखे हुए आगम भी उससे प्रभावित हुए। प्राकृत के रूपों में महाराष्ट्री ने उत्कर्ष भी प्राप्त कर लिया। महाकवि दण्डी ने भी इसका उल्लेख किया है—'महाराष्ट्राश्रयां, प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।'[4]

फिर भी जैन आचार्यों को आगमों की मूल भाषा की विस्मृति नहीं हुई। वे समय के विविध परिवर्तों में भी इसी तथ्य की पुनरावृत्ति करते रहे हैं कि आगमों की मूल भाषा अर्द्धमागधी है। प्रज्ञापना में अर्द्धमागधी भाषा बोलने वाले को 'भाषा-आर्य' कहा गया है।[5] स्थानांग[6] और अनुयोगद्वार[7] में संस्कृत तथा प्राकृत को ऋषिभाषित कहा गया है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने भाषा-आर्य की व्याख्या में संस्कृत और जोड़ा है।[8] कुछ आचार्य पूर्वों की भाषा भी संस्कृत मानते हैं।[9] इन सब तथ्यों के अध्ययन के उपरान्त भी हम इस तथ्य की विस्मृति नहीं कर सकते कि प्राचीन आगमों की भाषा अर्द्धमागधी थी।

### अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री

उत्तराध्ययन की भाषा महाराष्ट्री से प्रभावित अर्द्धमागधी है। अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री का अन्तर निम्न प्रकार है :

**अर्द्धमागधी**

असंयुक्त 'क' को 'ग' या 'त' होता है—
कुमारगा (१४।१९)
लोगो (१४।२२)
असंयुक्त 'ग' का लुक् नहीं होता—
कामभोगेसु (१४।६)
सगरो (१८।३५)
असंयुक्त 'च' और 'ज' के तकार-बहुल प्रयोग मिलते हैं—
तेगिच्छं (२।३३)
वितिगिच्छा (१६। सू. ४)
असंयुक्त 'त' का प्रायः लुक् नहीं होता—
अतरं (८।६)

---

१. नाट्यशास्त्र, १७।४८ :
मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्द्धमागधी।
वाल्हीका दाक्षिणात्याश्च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः।।

२. षड्भाषाचन्द्रिका, उपोद्घात :
षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात्।।
तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदुः।
शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते।।
मगधोत्पन्नभाषां तां मागधीं संप्रचक्षते।
पिशाचदेशनियतं पैशाचीद्वितयं भवेत्।।
पाण्ड्यकेकयवाल्हीक सिंह नेपाल कुन्तलाः।
सुधेष्णभोजगान्धारहैवकन्नोजकास्तथा।।
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद्गुणो भवेत्।
पिशाचजातमथवा पैशाचीद्वयमुच्यते।।
अपभ्रंशस्तु भाषा स्यादाभीरादिगिरां चयः।
.....।।

३. (क) ओवाइयं, सूत्र ७१ : तए णं समणं भगवं महावीरे कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स.....अद्धमागहाए भासाए भासइ.....।
(ख) समवाओ समवाय ३४ : भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ (२२)।

४. काव्यादर्श, १।३४।

५. प्रज्ञापना, पद १, सूत्र ३७ : भासारिया जे ण अद्धमागहाए भासाए भासेंति।

६. ठाणं, ७।४८ गाथा १० :
सक्कता पगता चेव, दोण्णि य भणिति आहिया।
सरमंडलंमि गिज्जंते, पसत्था इसिभासिता।।

७. अणुओगदाराइं, सूत्र ३०७ गाथा ११ :
सक्कया पायया चेव, भणितिओ होंति दोण्णि वि
सरमंडलम्मि गिज्जंते, पसत्था इसिभासिया।।

८. तत्त्वार्थ सूत्र ३।१५, हारिभद्रीय वृत्ति पृ. १८० :
शिष्टाः—सर्वातिशयसम्पन्ना गणधरादयः तेषां भाषा संस्कृता-ऽर्धमागधिकादिका च।

९. प्रभावक चरित, पृ. ५८, वृद्धवादिसूरि चरित, श्लोक ११३ : चतुर्दशापि पूर्वाणि संस्कृतानि पुराऽभवन्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असंयुक्त 'द' का प्रायः लुक् नहीं होता और कहीं-कहीं उसको 'त' हो जाता है।

उदगं (७।२३)

असंयुक्त 'प' को प्रायः 'व' हो जाता है—

महादीवो (२३।६६)

असंयुक्त 'य' का प्रायः लुक् नहीं होता और कहीं-कहीं उसको 'त' हो जाता है—

उवाया (३२।६)

असंयुक्त 'व' का प्रायः लुक् नहीं होता और कहीं-कहीं उसको 'त' हो जाता है—

पवरे (११।१६)

दिवायरे (११।२४)

प्रथमा के एकवचन में 'एकार' होता है—

कयरे (१२।६)

धीरे (१५।३)

**महाराष्ट्री**

'क' का प्रायः लुक् होता है—

अज्झावयणं (१२।१६)

'ग' का प्रायः लुक् होता है—

भोए (१४।३७)

'च' और 'ज' का प्रायः लुक् होता है—

समुवाय (१४।३७)

बीयाइं (१२।१२)

'त' का प्रायः लुक् होता है—

पुरोहियं (१४।३७)

'द' का प्रायः लुक् होता है—

विइयाणि (१२।१३)

'प' का प्रायः लुक् होता है—

तउय (३६।७३)

'य' का प्रायः लुक् होता है—

काय (३६।८२)

आउ (७।१०)

'व' का प्रायः लुक् होता है—

चेय (२४।१६)

प्रथम के एकवचन में 'ओकार' होता है—

मणगुत्तो (१२।३)

शब्द भेद—

| **अर्द्धमागधी** | **महाराष्ट्री** |
|---|---|
| कम्मुणा (२५।३१) | कम्मेण |
| वेयसां (२५।१६) | वेयाणं |
| विसालिसेहिं (३।१४) | विसरिसेहिं |
| दुवालसंगं (२४।३) | बारसंग (२३।७) |
| गेही (६।४) | गिद्धी |
| सोही (३।१२) | सुद्धी |
| तेगिच्छं (२।३३) | चीइच्छं |
| मिलेक्खुया (१०।१६) | मिलिच्छा, मिच्छा |
| माहणा (१२।१३) | बम्हणो (२५।१६) |
| पडुप्पन्न (२६ सू. १३) | पच्चुप्पन्न (७।६) |

उत्तराध्ययन में अर्द्धमागधी के साथ-साथ महाराष्ट्री-प्राकृत के प्रयोग भी मिलते हैं; इसलिए भाषा की दृष्टि से इसे भाषा-द्वय की मिश्रित कृति कहा जा सकता है।

### १७. उत्तराध्ययन के व्याख्या-ग्रंथ

जैन आगमों में उत्तराध्ययन सर्वाधिक प्रिय आगम है। उसकी प्रियता का कारण उसके सरल कथानक, सरस संवाद और सरस रचना-शैली है। उसकी सर्वाधिक प्रियता के साक्ष्य व्यापक अध्ययन-अध्यापन और विशाल व्याख्या-ग्रन्थ हैं। जितने व्याख्या-ग्रंथ उत्तराध्ययन के हैं, उतने अन्य किसी आगम के नहीं हैं।

**१. निर्युक्ति :**

यह उत्तराध्ययन के प्राप्त व्याख्या-ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन है। इसमें ५५७ गाथाएं हैं। यह लघु कृति है, किन्तु इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएं उपलब्ध हैं। इसलिए यह उत्तरवर्ती सभी व्याख्या-ग्रन्थों की आधार-भित्ति रही है। इसके कर्त्ता द्वितीय भद्रबाहु (वि. छठी शताब्दी) हैं।

**२. चूर्णि :**

यह प्राकृत-संस्कृत में लिखी गई उत्तराध्ययन की महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इसमें अन्तिम अठारह अध्ययनों की व्याख्यान बहुत ही संक्षिप्त है। ग्रन्थ की प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपना परिचय 'गोपालिक महत्तर शिष्य' के रूप में दिया है।[1] इसका अस्तित्व-काल विक्रम की सातवीं शताब्दी है।

**३. शिष्यहिता (बृहद्वृत्ति या पाइय-टीका) :**

उत्तराध्ययन की संस्कृत-व्याख्याओं में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें अवतरणात्मक कथाएं प्राकृत में गृहीत हैं। बृहद्वृत्तिकार ने अनेक बार 'बृद्धसम्प्रदायादवसेयः'[2] या सम्प्रदायाकवसेयः'[3] लिख कर उनका अवतरण किया है।

बृहद्वृत्तिकार के सामने चूर्णि के अतिरिक्त और भी कोई व्याख्या रही है, ऐसा प्रतीत होता है। नौवें अध्ययन के अट्ठाईसवें श्लोक की व्याख्या में—'तथा च वृद्धाः—

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २८३ :
वाणिजकुलसंभूओ, कोडियगणिओ उ वयरसाहीतो।
गोवालियमहत्तरओ, विक्खाओ आसि लोगंमि।।१।।
ससमयपरसमयविऊ, ओयस्सी दित्तिमं सुगंभीरो।
सीसगणसंपरिवुडो, वक्खाणरतिप्पिओ आसी।।२।।
तेसिं सीसेण इमं, उत्तरझयणाण चुण्णिखंडं तु।
रइयं अणुग्गहत्थं, सीसाणं मंदबुद्धीणं।।३।।

२. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र १४५।

३. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र १२५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोमहाराः प्राणाहारा इति'[1] ऐसा उल्लेख मिलता है। यह वाक्य चूर्णि का नहीं है। उसमें 'लोमहार' का अर्थ—'लोमहारा णाम पेल्लणमोसगा'[2]—इन शब्दों में है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि बृहद्वृत्ति में उद्धृत वाक्य चूर्णि से अतिरिक्त किसी दूसरी प्राचीन व्याख्या का है।

बृहद्वृत्तिकार ने 'वृद्ध' शब्द के द्वारा चूर्णिकार का भी उल्लेख किया है—'वृद्धास्तु व्याचक्षते—लोलुप्यमाणं ति लालप्यमानं भरणपोषणकुलसंताणेसु य तुब्भे भविस्सह त्ति।'[3]

मिलाइए—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २२३ : 'लोलुप्पमाणं लोलुप्यमानं भरणपोसणकुलसंताणेसु य तुब्भे भविस्सह त्ति।'

ये बृहद्वृत्तिकार हैं वादी-बेताल शान्तिसूरि। इनका अस्तित्व-काल विक्रम की ११वीं शताब्दी है।

**४. सुखबोधा :**

यह बृहद्वृत्तिकार से समुद्धृत लघु वृत्ति है। इसके कर्त्ता नेमिचन्द्र सूरि हैं। सूरिपद-प्राप्ति से पूर्व इनका नाम देवेन्द्र था। इस वृत्ति का रचना-काल विक्रम सं. ११२९ है।

**५. सर्वार्थसिद्धि :**

इसके रचयिता भावविजय हैं। इनका रचना-काल विक्रम संवत् १६७९ है। इसमें कथाएं पद्यबद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त और भी व्याख्या-ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। वे सारे के सारे प्रायः इन्हीं मुख्य व्याख्या ग्रन्थों के उपजीवी हैं। हम उनका संक्षिप्त परिचय—नाम, कर्त्ता और रचना-काल के विवरण-सहित—नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं[4] :

| | | | |
|---|---|---|---|
| ६. | अवचूरि | ज्ञानसागर | वि. सं. १५४१ |
| ७. | वृत्ति | कमल संयम | वि. सं. १५५४ |
| ८. | दीपिका | उदयसागर | वि. सं. १५४६ |
| ९. | लघुवृत्ति | खरतर तपोरत्नवाचक | वि. सं. १५५० |
| १०. | वृत्ति | कीर्तिवल्लभ | वि. सं. १५५२ |
| ११. | वृत्ति | विनयहंस | वि. सं. १५६७-८१ |
| १२. | टीका | अजितदेव सूरि | वि. सं. १६२८ |
| १३. | दीपिका | हर्षकुल | १६वीं शताब्दी |
| १४. | अवचूरि | अजितदेव सूरि | |
| १५. | टीका-दीपिका | माणिक्यशेखर सूरि | |
| १६. | दीपिका | लक्ष्मीवल्लभ | १८वीं शताब्दी |
| १७. | वृत्ति-टीका | हर्षनन्दन | वि. सं. १७११ |
| १८. | वृत्ति | शान्तिभद्राचार्य | |
| १९. | टीका | मुनिचन्द्र सूरि | |
| २०. | अवचूरि | ज्ञानशीलगणी | |
| २१. | अवचूरि | | वि. सं. १४९१ |
| २२. | बालावबोध | समरचन्द्र | |
| २३. | बालावबोध | कमललाभ | १६वीं शताब्दी |
| २४. | बालावबोध | मानविजय | वि. सं. १७४१ |

इसके अतिरिक्त कुछ वृत्ति-टीकाएं, दीपिकाएं तथा अवचूरियां भी उपलब्ध होती हैं। कई में कर्त्ता का नाम नहीं है तो कई में रचना-काल का उल्लेख नहीं है। वे ये हैं—

| व्याख्या-ग्रंथ | कर्त्ता | रचना-काल |
|---|---|---|
| मकरन्द टीका | | वि. सं. १७५० |
| दीपिका | | वि. सं. १६३७ |
| वृत्ति-दीपिका | | |
| दीपिका | | वि. सं. १६४३ |
| वृत्ति | | |
| अक्षरार्थ लवलेश | | |
| टब्बा | आदिचंद्र या रायचंद्र | |
| टब्बा | पार्श्वचन्द्र, धर्मसिंह १८वीं शताब्दी | |
| वृत्ति | मतिकीर्ति के शिष्य | |
| भाषा पद्यसार | ब्रह्म ऋषि | वि. सं. १५९९ |

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य (वि. सं. १८६०-१९३८) ने इस सूत्र के उनतीस अध्ययनों पर राजस्थानी भाषा में पद्य-बद्ध 'जोड़' की रचना की। यत्र-तत्र उन्होंने विषय को स्पष्ट करने के लिए वार्तिक भी लिखे हैं।

**उपसंहार**

प्रस्तुत भूमिका में उत्तराध्ययन का संक्षिप्त पर्यालोचन किया गया है। उनके छन्द आदि अनेक विषयों पर यहां कोई विमर्श नहीं किया गया है। इनका पर्यालोचन 'उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन' में किया जा चुका है। इसलिए उनके अवलोकन की सूचना के साथ-साथ मैं इस विषय को सम्पन्न कर रहा हूं।

**आचार्य तुलसी**

---

१. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ३१२।
२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १८३।
३. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ४००।
४. जैन भारती (वर्ष ७, अंक ३३, पृ. ५६५-६८) में प्रकाशित श्री अगरचन्दजी नाहटा के 'उत्तराध्ययन सूत्र और उसकी टीकाएं' लेख पर आधृत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# श्लोक—विषयानुक्रम


**पहला अध्ययन : विनयश्रुत (विनय का विधान, प्रकार और महत्त्व)** **१—२७**

श्लोक १ विनय-प्ररूपण की प्रतिज्ञा।
२ विनीत की परिभाषा।
३ अविनीत की परिभाषा।
४ अविनीत का गण से निष्कासन।
५ अज्ञानी भिक्षु का सूअर की तरह आचरण।
६ विनय का उपदेश।
७ विनय का परिणाम।
८ भिक्षु का आचार्य के पास विनय और मौन-भाव से सार्थक पदों का अध्ययन।
९ क्षमा की आराधना और क्षुद्र व्यक्तियों के साथ संसर्ग-त्याग।
१० चण्डालोचित कर्म का निषेध।
अधिक बोलने का निषेध।
स्वाध्याय और ध्यान का विधान।
११ ऋजुता तथा भूल की स्वीकृति।
१२ अविनीत और विनीत घोड़े से शिष्य के आचरण की तुलना।
१३ अविनीत शिष्य द्वारा कोमल प्रकृति वाले आचार्य को भी क्रोधी बना देना।
विनीत शिष्य द्वारा प्रचण्ड प्रकृति वाले आचार्य को भी प्रसन्न करना।
१४ बोलने का विवेक।
१५,१६ संयम और तप द्वारा आत्म-दमन।
१७ आचार्य के प्रतिकूल वर्तन का वर्जन।
१८,१९ आचार्य के प्रति विनय-पद्धति का निरूपण।
२०-२२ आचार्य द्वारा आमंत्रित शिष्य के आचरण का निरूपण।
२३ विनीत शिष्य को ही सूत्र, अर्थ और तदुभय देने का विधान।
२४,२५ भाषा-दोषों के वर्जन का उपदेश।
२६ अकेली स्त्री से आलाप-संलाप का निषेध।
२७ अनुशासन का स्वीकार।
२८,२९ प्रज्ञावान् मुनि के लिए अनुशासन हित का हेतु।
असाधु, अज्ञानी के लिए अनुशासन द्वेष का हेतु।
३० गुरु के समक्ष बैठने की विधि।
३१ यथासमय कार्य करने का निर्देश।
३२-३४ आहार सम्बन्धी विधि-निषेध।
३५ आहार का स्थान और विधि।
३६ सावद्य-भाषा का निषेध।
३७ विनीत और अविनीत शिष्य की उत्तम और दुष्ट घोड़े के साथ तुलना।
३८ पाप-दृष्टि मुनि के द्वारा अनुशासन की अवहेलना।
३९ अनुशासन के प्रति दृष्टि-भेद।
४० न आचार्य को और न स्वयं को कुपित करने का उपदेश।
४१ कुपित आचार्य को प्रसन्न करने का उपक्रम।
४२ व्यवहार-धर्म का पालन करने वाले मुनि की सर्वत्र प्रशंसा।
४३ आचार्य के मनोनुकूल वर्तन का उपदेश।
४४ विनीत द्वारा आदेशानुसार कार्य-सम्पन्नता।
४५ विनीत की कीर्ति और आधारभूतता।
४६ विनय से पूज्य आचार्य की कृपा और श्रुत-ज्ञान का लाभ।
४७ विनीत की सर्व-गुण-सम्पन्नता।
४८ विनयी के लिए मोक्ष की सुलभता का प्रतिपादन।

**दूसरा अध्ययन : परीषह-प्रविभक्ति (श्रमण-चर्या में होने वाले परीषहों का प्ररूपण)** **पृ० २८—६२**

सूत्र १-३ परीषह-निरूपण का उपक्रम और परीषहों का नाम निर्देश।
श्लोक १ परीषह-निरूपण की प्रतिज्ञा।
२,३ क्षुधा-परीषह।
४,५ पिपासा-परीषह।
६,७ शीत-परीषह।
८,९ उष्ण-परीषह।
१०,११ दंशमशक-परीषह।
१२,१३ अचेल-परीषह।
१४,१५ अरति-परीषह।
१६,१७ स्त्री-परीषह।
१८,१९ चर्या-परीषह।
२०,२१ निषीधिका-परीषह।
२२,२३ शय्या-परीषह।
२४,२५ आक्रोश-परीषह।
२६,२७ वध-परीषह।
२८,२९ याचना-परीषह।
३०,३१ अलाभ-परीषह।


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२,३३ रोग-परीषह।
३४,३५ तृष्ण-स्पर्श-परीषह।
३६,३७ जल्ल-परीषह।
३८,३९ सत्कार-पुरस्कार-परीषह।
४०,४१ प्रज्ञा-परीषह।
४२,४३ अज्ञान-परीषह।
४४,४५ दर्शन-परीषह।
४६ परीषहों को समभाव से सहने का उपदेश।

**तीसरा अध्ययन : चतुरंगीय (चार दुर्लभ अंगों का आख्यान)** पृ० ६३—७९

१ दुर्लभ अंगों का नाम-निर्देश।
२-७ मनुष्यत्व-प्राप्ति की दुर्लभता।
८ धर्म-श्रवण की दुर्लभता।
९ श्रद्धा की दुर्लभता।
१० वीर्य की दुर्लभता।
११ दुर्लभ अंगों की प्राप्ति से कर्म-मुक्त होने की संभवता।
१२ धर्म-स्थिति का आधार।
१३ कर्म-हेतुओं को दूर करने से ऊर्ध्व दिशा की प्राप्ति।
१४-१९ शील की आराधना से देवलोकों की प्राप्ति। वहां से च्युत होकर उच्च व समृद्ध कुलों में जन्म और फिर विशुद्ध बोधि का लाभ।
२० दुर्लभ अंगों के स्वीकार से सर्व कर्मांश-मुक्तता।

**चौथा अध्ययन : असंस्कृत (जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण का प्रतिपादन)** पृ० ८०—९३

१ जीवन की असंस्कृतता और अप्रमाद का उपदेश।
२ पाप-कर्म से धन-अर्जन के अनिष्ट परिणाम।
३ कृत कर्मों का अवश्यंभावी परिणाम।
४ कर्मों की फल-प्राप्ति में पर की असमर्थता।
५ धन की अत्राणता और उसके व्यामोह से दिग्मूढता।
६ भारण्ड पक्षी के उपमान से क्षण भर भी प्रमाद न करने का उपदेश।
७ गुणोपलब्धि तक शरीर-पोषण का विधान, फिर अनशन का उपदेश।
८ छन्द-निरोध से मोक्ष की संभवता।
९ शाश्वत-वाद का निरसन।
१० विवेक-जागरण के लिए एक क्षण भी न खोने का आह्वान।
११,१२ श्रमण के लिए अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों को समभाव से सहने का निर्देश।
१३ जीवन को शाश्वत मानने वालों का निरसन और शरीर-भेद तक गुणाराधना का आदेश।

**पांचवां अध्ययन : अकाममरणीय (मरण के प्रकार और स्वरूप-विधान)** पृ० ९४—११६

श्लोक १,२ अध्ययन का उपक्रम और मरण के प्रकारों का नाम-निर्देश।
३ मरण का काल-निर्धारण।
४-७ कामासक्त व्यक्ति द्वारा मिथ्या-भाषण का आश्रय।
८,९ कामसक्ति हिंसा का हेतु। हिंसा से दोष-परम्परा का विस्तार।
१० काम-रत व्यक्ति द्वारा शिशुनाग की तरह दुहरा कर्म-मल संचय।
११-१३ रोगांतक होने पर कर्म के अनिष्ट परिणामों की आशंका से भय-युक्त अनुताप।
१४-१६ विषम मार्ग में पड़े हुए गाड़ीवान की तरह धर्म-च्युत व्यक्ति द्वारा शोकानुभूति और परलोक- भय से संत्रस्त अवस्था में अकाम-मृत्यु।
१७ अकाम-मरण का उपसंहार और सकाम-मरण का आरम्भ।
१८ संयमी पुरुषों का प्रसाद-युक्त और आघात-रहित मरण।
१९ सकाम-मरण की दुर्लभता।
२० साधु और गृहस्थ का तुलनात्मक विवेचन।
२१ वाह्याचारों से साधुत्व की रक्षा असंभव।
२२ दुःशील और शील के निश्चित परिणाम।
२३ श्रावक-आचार का निर्देश।
२४ सुव्रती मनुष्य की सुगति-प्राप्ति।
२५-२८ संवृत-भिक्षु का अपवर्ग या स्वर्ग-गमन। देवताओं की समृद्धि और सम्पदा का वर्णन। देव-आवासों की प्राप्ति में उपशम और संयम की प्रधानता।
२९,३० बहुश्रुत मुनि का मरणकाल में सम-भाव तथा उद्विग्न न होने का उपदेश।
३१ संलेखना में शरीर-भेद की आकांक्षा।
३२ सकाम-मरण के प्रकारों में से किसी एक के स्वीकार का उपदेश।

**छठा अध्ययन : क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय (ग्रन्थ-त्याग का संक्षिप्त निरूपण)** पृ० ११७—१२८

श्लोक १ अविद्या—भव-भ्रमण का हेतु।
२ सत्य की गवेषणा और जीवों के प्रति मैत्री का उपदेश।
३ कृत-कर्मों के विपाक के समय स्वजन-परिजनों की असमर्थता।
४ सम्यग्-दर्शन वाले पुरुष द्वारा आंतरिक परिग्रह का त्याग।
५ बाह्य परिग्रह-त्याग से काम-रूपता की प्राप्ति।
६ अहिंसा के विचार का व्यावहारिक आधार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७ परिग्रह का निषेध और प्रदत्त भोजन का ग्रहण।
८,९ क्रिया-रहित ज्ञान से दुःख-मुक्ति मानने वालों का निरसन।
१० भाषा और अनुशासन की त्राण देने में असमर्थता।
११ आसक्ति है दुःखोत्पत्ति का कारण।
१२ सब दिशाओं को देख कर अप्रमाद का उपदेश।
१३ बाह्य की अनाशंसा और देह-धारणा का उद्देश्य।
१४ कर्म-हेतुओं पर विचार। मित और निर्दोष अन्न-पानी का ग्रहण।
१५ असंग्रह का विधान।
१६ अनियत विहार करते हुए पिण्डपात की गवेषणा।
१७ उपसंहार।

**सातवां अध्ययन : उरभ्रीय (उरभ्र, काकिणी, आम्रफल, व्यवहार और सागर—पांच उदाहरण) पृ० १२९—१४३**

श्लोक १-१० उरभ्र दृष्टांत से विषय-भोगों के कटु विपाक का दर्शन।
११-१३ काकिणी और आम्रफल दृष्टांत से देव-भोगों के सामने मानवीय-भोगों की तुच्छता का दर्शन।
१४-२२ व्यवहार (व्यवसाय) दृष्टांत से आय-व्यय के विषय में कुशलता का दर्शन।
२३,२४ सागर दृष्टांत से आय-व्यय की तुलना का दर्शन।
२५ काम-भोगों की अनिवृत्ति से आत्म-प्रयोजन का नाश।
२६,२७ कामभोगों की निवृत्ति से देवत्व और अनुत्तर सुख वाले मनुष्य कुलों की प्राप्ति।
२८ बाल जीवों का नरक-गमन।
२९ धीर-पुरुष का देव-गमन।
३० बाल और अबाल-भाव की तुलना और पण्डित मुनि द्वारा अबाल-भाव का सेवन।

**आठवां अध्ययन : कापिलीय (संसार की असारता और ग्रंथि-त्याग) पृ० १४४—१५७**

श्लोक १ दुःख-बहुल संसार से छूटने की जिज्ञासा।
२ स्नेह-त्याग से दोष-मुक्ति।
३ कपिल मुनि द्वारा पांच सौ चोरों को उपदेश।
४ ग्रन्थि-त्याग का उपदेश।
५ आसक्त मनुष्य की कर्म-बद्धता।
६ सुव्रती द्वारा संसार-समुद्र का पार।
७,८ कुतीर्थिकों की अज्ञता का निरसन।
९,१० अहिंसा का विवेक।
११,१२ संयम-निर्वाह के लिए भोजन की एषणा।
१३ स्वप्न-शास्त्र, लक्षण-शास्त्र और अंग-विद्या के प्रयोग का निषेध।
१४,१५ समाधि-भ्रष्ट व्यक्ति का संसार-भ्रमण और बोधि-दुर्लभता।
१६,१७ तृष्णा की दुष्पूरता।
१८,१९ स्त्री-संग का त्याग।
२० उपसंहार।

**नौवां अध्ययन : नमिप्रव्रज्या (इन्द्र और नमि राजर्षि का संवाद) पृ० १५८—१७८**

श्लोक १ नमि का जन्म और पूर्व जन्म की स्मृति।
२ धर्म की आराधना के लिए अभिनिष्क्रमण।
३,४ प्रवर भोगों का त्याग और एकांतवास का स्वीकार।
५ नमि के अभिनिष्क्रमण से मिथिला में कोलाहल।
६ देवेन्द्र का ब्राह्मण रूप में आकर नमि से प्रश्न।
७-१० मिथिला में हो रहे कोलाहल के प्रति देवेन्द्र की जिज्ञासा। नमि राजर्षि द्वारा आश्रय-हीन हुए पक्षियों के साथ मिथिलावासियों की तुलना।
११-१६ देवेन्द्र द्वारा जल रहे अन्तःपुर की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न। नमि राजर्षि का उदासीन-भाव।
१७-२२ देवेन्द्र द्वारा नगर-सुरक्षा के प्रति कर्त्तव्य-बोध। नमि राजर्षि द्वारा आत्म-नगर की सुरक्षापूर्वक मुक्ति-बोध।
२३-२६ देवेन्द्र द्वारा प्रासाद, वर्धमान-गृह आदि बनाने की प्रेरणा। नमि राजर्षि द्वारा मार्ग में बनाए घर के प्रति संदेहशीलता और शाश्वत घर की ओर संकेत।
२७-३० देवेन्द्र द्वारा नगर में न्याय और शांति-स्थापन का अनुरोध। राजर्षि द्वारा जगत् में होने वाले अन्याय-पोषण का उल्लेख।
३१-३६ देवेन्द्र द्वारा स्वतंत्र राजाओं को जीत कर मुनि बनने का अनुरोध। राजर्षि द्वारा आत्म-विजय ही परम विजय है, इसलिए अपनी आत्मा के साथ युद्ध करने का उपदेश।
३७-४० देवेन्द्र द्वारा यज्ञ, दान और भोग की प्रेरणा। राजर्षि द्वारा दान देने वाले के लिए भी संयम की श्रेयस्करता का प्रतिपादन।
४१-४४ देवेन्द्र द्वारा गृहस्थाश्रम में रहते हुए तप की प्रेरणा। राजर्षि द्वारा सम्यक्-चारित्र सम्पन्न मुनि-चर्या का महत्त्वख्यापन।
४५-४९ देवेन्द्र द्वारा परिग्रह के संग्रह का उपदेश। राजर्षि द्वारा आकाश के समान इच्छा की अनन्तता का प्रतिपादन और पदार्थों से इच्छा-पूर्ति की असंभवता का निरूपण।
५०-५४ देवेन्द्र द्वारा प्राप्त भोगों के त्याग और अप्राप्त भोगों की अभिलाषा से उत्पन्न विरोध का प्रतिपादन। राजर्षि द्वारा काम-भोगों की भयंकरता और उसके अनिष्ट परिणामों का ख्यापन।
५५-५६ देवेन्द्र का अपने मूल रूप में प्रकटीकरण। राजर्षि की हृदयग्राही स्तुति और वन्दन।
६० इन्द्र का आकाश-गमन।
६१ राजर्षि की श्रामण्य में उपस्थिति।
६२ संबुद्ध लोगों द्वारा इसी पथ का स्वीकार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## दसवां अध्ययन : द्रुमपत्रक (जीवन की अस्थिरता और आत्म-बोध)

पृ० १७९–१९२

श्लोक १,२ जीवन की अस्थिरता और अप्रमाद का उद्बोध।
३ आयुष्य की क्षणभंगुरता।
४ मनुष्य-भव की दुर्लभता।
५-६ स्थावर-काय में उत्पन्न जीव की उत्कृष्ट स्थिति।
७-१४ त्रस-काय में उत्पन्न जीव की उत्कृष्ट स्थिति।
१५ प्रमाद-बहुल जीव का जन्म-मृत्यु-मय संसार में परिभ्रमण।
१६ मनुष्य-भव मिलने पर भी आर्य-देश की दुर्लभता।
१७ आर्य-देश मिलने पर भी पूर्ण पांचों इन्द्रियों की दुर्लभता।
१८ उत्तम धर्म के श्रवण की दुर्लभता।
१९ श्रद्धा की दुर्लभता।
२० आचरण की दुर्लभता।
२१-२६ इंद्रिय-बल की उत्तरोत्तर क्षीणता।
२७ अनेक शीघ्र-घाती रोगों के द्वारा शरीर का स्पर्श।
२८ स्नेहापनयन की प्रक्रिया।
२९,३० वान्त-भोगों के पुनः सेवन न करने का उपदेश।
३१,३२ प्राप्त विशाल न्याय-पथ पर अप्रमादपूर्वक बढ़ने की प्रेरणा।
३३ विषम-मार्ग पर न चले जाने की सूचना।
३४ किनारे के निकट पहुंच कर प्रमाद न करने का उपदेश।
३५ क्षपक-श्रेणि से सिद्धि-लोक की प्राप्ति।
३६ उपशांत होकर विचरण करने का उपदेश।
३७ गौतम की सिद्धि-प्राप्ति।

## ग्यारहवां अध्ययन : बहुश्रुतपूजा (बहुश्रुत व्यक्ति का महत्त्व-ख्यापन)

पृ० १९३–२०६

श्लोक १ अध्ययन का उपक्रम।
२ अबहुश्रुत की परिभाषा।
३ शिक्षा-प्राप्त न होने के पांच कारण।
४,५ शिक्षा-शील के आठ लक्षण।
६-९ अविनीत के चौदह लक्षण।
१०-१३ सुविनीत के पन्द्रह लक्षण।
१४ शिक्षा-प्राप्ति की अर्हता।
१५ शंख में रखे हुए दूध की तरह बहुश्रुत की दोनों ओर से शोभा।
१६ कन्थक घोड़े की तरह भिक्षुओं में बहुश्रुत की सर्वश्रेष्ठता।
१७ जातिमान् अश्व पर आरूढ योद्धा की तरह बहुश्रुत की अजेयता।
१८ साठ वर्ष के बलवान हाथी की तरह बहुश्रुत की अपराजेयता।
१९ पुष्ट स्कन्ध वाले यूथाधिपति बैल की तरह बहुश्रुत आचार्य की शुशोभनीयता।
२० युवा सिंह के समान बहुश्रुत की सर्वश्रेष्ठता।
२१ वासुदेव के समान बहुश्रुत की बलवत्ता।
२२ चौदह रत्नों के अधिपति चक्रवर्ती के साथ चौदह पूर्वधर बहुश्रुत की तुलना।
२३ देवाधिपति शक्र के साथ बहुश्रुत की तुलना।
२४ उगते हुए सूर्य के तेज के साथ बहुश्रुत के तेज की तुलना।
२५ प्रतिपूर्ण चन्द्रमा के साथ बहुश्रुत की तुलना।
२६ सामाजिकों के कोष्ठागार के समान बहुश्रुत की परिपूर्णता।
२७ सुदर्शना नामक जम्बू के साथ बहुश्रुत की तुलना।
२८ शीता नदी की तरह बहुश्रुत की सर्वश्रेष्ठता।
२९ मंदर पर्वत के समान बहुश्रुत की सर्वश्रेष्ठता।
३० रत्नों से परिपूर्ण अक्षय जल वाले स्वयंभूरमण समुद्र के साथ बहुश्रुत के अक्षय ज्ञान की तुलना।
३१ बहुश्रुत मुनियों का मोक्ष-गमन।
३२ श्रुत के आश्रयण का उपदेश।

## बारहवां अध्ययन : हरिकेशीय (जाति की अतात्त्विकता का संबोध)

पृ० २०७–२२२

श्लोक १,२ हरिकेशबल मुनि का परिचय।
३ मुनि का भिक्षा के लिए यज्ञ-मण्डप में गमन।
४-६ मलिन मुनि को देख कर ब्राह्मणों का हंसना और मुनि के वेश और शरीर के बारे में परस्पर व्यंग्य-संलाप।
७ मुनि को अपमानजनक शब्दों से वापस चले जाने की प्रेरणा।
८ यक्ष का मुनि के शरीर में प्रवेश।
९,१० यक्ष द्वारा मुनि का परिचय और आगमन का उद्देश्य-कथन।
११ सोमदेव ब्राह्मण द्वारा भोजन न देने का उत्तर।
१२-१७ यक्ष और सोमदेव के बीच दान के अधिकारी के बारे में चर्चा।
१८ सोमदेव द्वारा मुनि को मार-पीट कर बाहर निकालने का आदेश।
१९ कुमारों द्वारा मुनि पर प्रहार।
२०-२३ भद्रा द्वारा कुमारों को समझाने का प्रयत्न। ऋषि का वास्तविक परिचय और अवहेलना से होने वाले अनिष्ट की ओर संकेत।
२४ यक्ष द्वारा कुमारों को भूमि पर गिराना।
२५ यक्ष द्वारा कुमारों पर भयंकर प्रहार। भद्रा का पुनः कुमारों को समझाना।
२६-२८ भिक्षु का अपमान करने से होने वाले अनिष्ट परिणाम की ओर संकेत।
२९ छात्रों की दुर्दशा।
३०,३१ सोमदेव का मुनि से विनम्र निवेदन।
३२ मुनि द्वारा स्पष्टीकरण।
३३-३५ सोमदेव का पुनः क्षमा देने का निवेदन। भिक्षा-ग्रहण करने का आग्रह। मुनि द्वारा भिक्षा-स्वीकार।
३६ देवों द्वारा दिव्य वृष्टि और दिव्य घोष।
३७ तप की महत्ता का प्रतिपादन, जाति की महत्ता का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरसन।
३८-३६ अग्नि का समारम्भ और जल का स्पर्श पाप-बन्ध का हेतु।
४० सोमदेव द्वारा यज्ञ के बारे में जिज्ञासा।
४१,४२ मुनि द्वारा वास्तविक यज्ञ का निरूपण।
४३ सोमदेव द्वारा ज्योति और उसकी सामग्री के बारे में जिज्ञासा।
४४ मुनि द्वारा आत्म-परक ज्योति का विश्लेषण।
४५ सोमदेव द्वारा तीर्थ के बारे में जिज्ञासा।
४६,४७ मुनि द्वारा तीर्थ का निरूपण।

## तेरहवां अध्ययन : चित्र-सम्भूतीय (चित्र और सम्भूति का संवाद) पृ० २२३—२३६

श्लोक १,२ सम्भूति का ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में काम्पिल्य में और चित्र का पुरिमताल में श्रेष्ठि-कुल में जन्म।
३ चित्र और सम्भूति का मिलन और सुख-दुःख के विपाक की वार्ता।
४-७ ब्रह्मदत्त द्वारा पूर्व भवों का वर्णन।
८ मुनि द्वारा पूर्व जन्म में कृत निदान की स्मृति दिलाना।
९ चक्रवर्ती द्वारा पूर्व कृत शुभ अनुष्ठानों से प्राप्त सुख-भोगों का वर्णन। मुनि से सुख के बारे में प्रश्न।
१०-१२ मुनि द्वारा कृत कर्मों को भोगने की अनिवार्यता। अपनी चक्रवर्ती-सम समृद्धि का उल्लेख। स्थविरों की गाथा से श्रामण्य-स्वीकार।
१३,१४ चक्रवर्ती द्वारा प्रचुर धन-सम्पदा और स्त्री-परिवृत होकर भोग भोगने का आग्रह। प्रव्रज्या की कष्टमयता।
१५ मुनि का चक्रवर्ती को वैराग्य-उपदेश।
१६ काम-राग की दुःखकारिता।
१७ काम-गुण-रत की अपेक्षा विरक्त को अधिक सुख।
१८ चाण्डाल-जाति में उत्पत्ति और लोगों का विद्वेष।
१९ वर्तमान की उच्चता पूर्व संचित शुभ कर्मों का फल।
२० अशाश्वत भोगों को छोड़ने का उपदेश।
२१ शुभ अनुष्ठानों के अभाव में भविष्य में पश्चात्ताप।
२२ अन्त-काल में मृत्यु द्वारा हरण। माता-पिता आदि की असहायता।
२३ कर्म द्वारा कर्त्ता का अनुगमन।
२४ केवल कर्मों के साथ आत्मा का परभव-गमन।
२५ शरीर को जला कर ज्ञातियों द्वारा दूसरे दाता का अनुसरण।
२६ जीवन की क्षणभंगुरता। बुढ़ापा द्वारा कांति का अपहरण। कर्म-अर्जन न करने का उपदेश।
२७-३० चक्रवर्ती द्वारा अपनी दुर्बलता का स्वीकार। सनत्कुमार को देख कर निदान करने का उल्लेख। प्रायश्चित्त न कर पाने के कारण दलदल में फंसे हाथी की तरह धर्मानुसरण करने में असमर्थता और काम-मूर्च्छा।
३१ जीवन की अस्थिरता। भोगों द्वारा मनुष्य का त्याग।
३२ आर्य-कर्म करने का उपदेश।
३३ राजा की भोग छोड़ने में असमर्थता और मुनि का वहां से गमन।
३४ चक्रवर्ती का नरक-गमन।
३५ चित्र की अनुत्तर सिद्धि-प्राप्ति।

## चौदहवां अध्ययन : इषुकारीय (ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति का भेद-दर्शन) पृ० २३७—२५२

श्लोक १-३ अध्ययन का उपक्रम और निष्कर्ष।
४,५ पुरोहित-कुमारों द्वारा निर्ग्रन्थों को देखना। पूर्व-जन्म की स्मृति और काम-गुणों से विरक्ति।
६ धर्म-श्रद्धा से प्रेरित होकर पिता से निवेदन।
७ जीवन की अनित्यता। मुनि-चर्या के लिए अनुमति।
८ पिता द्वारा समझाने का प्रयास। अपुत्र की गति नहीं।
९ वेदाध्ययन, ब्राह्मणों को दान और पुत्रोत्पत्ति के बाद मुनि बनने का परामर्श।
१०,११ कुमारों का पुरोहित को उत्तर।
१२ वेदाध्ययन, ब्राह्मण-भोजन और औरस पुत्र की अत्राणता।
१३ काम भोगों द्वारा क्षण भर सुख तथा चिरकाल तक दुःख की प्राप्ति।
१४,१५ कामना जन्म और मृत्यु की हेतु।
१६ प्रचुर धन और स्त्री की सुलभता में श्रमण बनने की उत्कण्ठा के लिए पिता का प्रश्न।
१७ धर्म-धुरा में धन और विषयों की निष्प्रयोजनता।
१८ पिता द्वारा शरीर-नाश के साथ जीव-नाश का प्रतिपादन।
१९ कुमारों द्वारा आत्मा की अमूर्तता का प्रतिपादन। आत्मा के आंतरिक दोष ही संसार-बन्धन के हेतु।
२० धर्म की अजानकारी में पाप का आचरण।
२१ पीड़ित लोक में सुख की प्राप्ति नहीं।
२२ लोक की पीड़ा क्या?
२३ लोक की पीड़ा—मृत्यु।
२४ अधर्म-रत व्यक्ति की रात्रियां निष्फल।
२५ धर्म-रत व्यक्ति की रात्रियां सफल।
२६ यौवन बीतने पर एक साथ दीक्षा लेने का पिता का सुझाव।
२७ मृत्यु को वश में करने वाला ही कल की इच्छा करने में समर्थ।
२८ आज ही मुनि-धर्म स्वीकारने का संकल्प।
२९,३० पिता की भी पुत्रों के साथ ही गृह-त्याग की भावना। शाखा-रहित वृक्ष, बिना पंख का पक्षी, सेना-रहित राजा और धन-रहित व्यापारी की तरह असहाय।
३१ वाशिष्ठी द्वारा प्राप्त भोगों को भोगने के बाद मोक्ष-पथ के स्वीकार का सुझाव।
३२ पुरोहित द्वारा भोगों की असारता का कथन। मुनि-धर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आचरण का संकल्प।
३३ भोग न भोगने के बाद में अनुताप।
३४ पुत्रों का अनुगमन क्यों नहीं?
३५ रोहित मच्छ की तरह धीर पुरुष ही संसार-जाल को काटने में समर्थ।
३६ वाशिष्ठी की भी पुत्र और पति के अनुगमन की इच्छा।
३७,३८ पुरोहित-परिवार की प्रव्रज्या के बाद राजा द्वारा धन-सामग्री लेने की इच्छा। रानी कमलावती की फटकार।
३९ समूचा जगत् भी इच्छा की पूर्ति के लिए असमर्थ।
४० पदार्थ-जगत् की अत्राणता। धर्म की त्राणता।
४१ रानी द्वारा स्नेह-जाल को तोड़ कर मुनि-धर्म के आचरण की इच्छा।
४२,४३ राग-द्वेष युक्त प्राणियों की संसार में मूढ़ता।
४४ विवेकी पुरुषों द्वारा अप्रतिबद्ध विहार।
४५ रानी द्वारा राजा को भृगु पुरोहित की तरह बनने की प्रेरणा।
४६ निरामिष बनने का संकल्प।
४७ काम-भोगों से सशंकित रहने का उपदेश।
४८ बन्धन-मुक्त हाथी की तरह स्व-स्थान की प्राप्ति का उद्‌बोध।
४९ राजा और रानी द्वारा विपुल राज्य और काम-भोगों का त्याग।
५० तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट मार्ग में घोर पराक्रम।
५१ दुःखों के अन्त की खोज।
५२ राजा, रानी, पुरोहित, ब्राह्मणी, पुरोहित-कुमारों द्वारा दुःख-विमुक्ति।

## पन्द्रहवां अध्ययन : सभिक्षुक (भिक्षु के लक्षणों का निरूपण) पृ० २५३–२६२

श्लोक १ मुनि व्रत का संकल्प। स्नेह-परिचय-त्याग-तप आदि का परिचय दिए बिना भिक्षा की एषणा।
२ रात्रि-भोजन या रात्रि-विहार का वर्जन। वस्तु के प्रति अमूर्च्छा-भाव।
३ हर्ष और शोक में अनाकुलता।
४ परीषह-विजय और समभाव की साधना।
५ सत्कार, पूजा और प्रशंसा के प्रति उपेक्षा-भावना।
६ स्त्री-पुरुष की संगति का त्याग।
७ विद्याओं द्वारा आजीविका करने का निषेध।
८ मंत्र, मूल आदि द्वारा चिकित्सा का निषेध।
९ गृहस्थों की श्लाघा का निषेध।
१० इहलौकिक फल-प्राप्ति के लिए परिचय का निषेध।
११ गृहस्थ द्वारा वस्तु न दिए जाने पर प्रद्वेष का निषेध।
१२ गृहस्थ द्वारा वस्तु दिए जाने पर आशीर्वाद का निषेध।
१३ नीरस अन्न-पान की निन्दा का निषेध और सामान्य घरों की भिक्षा।
१४ अभय की साधना।
१५ आत्म-तुल्य भावना का विकास।
१६ शिल्प-जीवी न होने, घर, मित्र और परिग्रह से मुक्त, मन्द कषाय और असारभोजी होने का उपदेश।

## सोलहवां अध्ययन : ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान (ब्रह्मचर्य के दस समाधि-स्थानों का वर्णन) पृ० २६३–२७५

सूत्र १-३ अध्ययन का प्रारम्भ और दस समाधि-स्थानों का नाम-निर्देश।
४ स्त्री-कथा वर्जन।
५ स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठने का वर्जन।
६ दृष्टि-संयम।
७ स्त्री-शब्द सुनने पर संयम।
८ पूर्वकृत काम-क्रीड़ा की स्मृति का संयम।
९ प्रणीत आहार का निषेध।
१० मात्रा से अधिक आहार का निषेध।
११ विभूषा-वर्जन।
१२ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श-विजय।
श्लोक १ एकान्त-वास।
२ स्त्री-कथा-वर्जन।
३ स्त्री-परिचय और वार्तालाप का वर्जन।
४ स्त्री का शरीर, अंग-प्रत्यंगों को देखने के प्रयत्न का निषेध।
५ स्त्री के शब्द, गीत आदि का श्रवण-वर्जन।
६ पूर्वकृत क्रीडा-रति का स्मरण-त्याग।
७ प्रणीत भोजन का वर्जन।
८ परिमित भोजन का विधान।
९ विभूषा-वर्जन।
१० शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—काम-गुणों का वर्जन।
११-१३ दस स्थानों के सेवन का तालपुट विष से तुलना।
१४ दुर्जय काम-भोग और ब्रह्मचर्य में शंका उत्पन्न करने वाले सभी स्थानों के वर्जन का उपदेश।
१५ भिक्षु का धर्म-आराम में विचरण।
१६ ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला व्यक्ति देव आदि सभी से वन्दनीय।
१७ ब्रह्मचर्य की साधना से सिद्धत्व की प्राप्ति।

## सतरहवां अध्ययन : पाप-श्रमणीय (पाप-श्रमण के स्वरूप का निरूपण) पृ० २७६–२८४

श्लोक १-३ ज्ञान-आचार में प्रमाद।
४ आचार्य, उपाध्याय की अवहेलना।
५ दर्शन-आचार में प्रमाद
६-१४ चारित्र-आचार में प्रमाद
१५,१६ तप-आचार में प्रमाद
१७-१९ वीर्य-आचार में प्रमाद
२० पाप-श्रमण की इहलोक और परलोक में व्यर्थता।
२१ सुव्रती द्वारा इहलोक और परलोक की आराधना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## अठारहवां अध्ययन : संजयीय (जैन-शासन की परम्परा का संकलन)

पृ० २८५–३०२

श्लोक १-३ संजय राजा का परिचय। शिकार के लिए राजा का वन-गमण।
४ केशर उद्यान में ध्यानलीन मुनि की उपस्थिति।
५ राजा द्वारा मुनि के पास आए हुए हिरण पर प्रहार।
६ राजा का मुनि-दर्शन।
७ भय-भ्रान्त मन से तुच्छ कार्य पर पश्चात्ताप।
८-१० मुनि से क्षमा-प्रार्थना। मौन होने पर अधिक भयाकुलता।
११ मुनि का अभय-दान। अभय-दाता बनने का उपदेश।
१२ अनित्य-जीव-लोक में आसक्त न होने का उपदेश।
१३ जीवन की अस्थिरता।
१४-१६ ज्ञाति-सम्बन्धों की असारता।
१७ कर्म-परिणामों की निश्चितता।
१८,१९ राजा का संसार-त्याग और जिन-शासन में दीक्षा।
२०,२१ क्षत्रिय मुनि द्वारा संजय राजर्षि से प्रश्न।
२२ संजय राजर्षि का अपने बारे में उत्तर।
२३ क्षत्रिय मुनि द्वारा एकान्तवादी विचार-धाराओं का उल्लेख।
२४-२७ एकान्त दृष्टिकोण मायापूर्ण, निरर्थक और नरक का हेतु।
२८-३२ क्षत्रिय मुनि द्वारा आत्म-परिचय।
३३ क्रियावाद का समर्थन।
३४ भरत चक्रवर्ती का प्रव्रज्या-स्वीकार।
३५ सगर चक्रवर्ती द्वारा संयम-आराधना।
३६ मघवा चक्रवर्ती द्वारा संयम-आराधना।
३७ सनत्कुमार चक्रवर्ती द्वारा तपश्चरण।
३८ शान्तिनाथ चक्रवर्ती द्वारा अनुत्तर-गति-प्राप्ति।
३९ कुन्थु नरेश्वर द्वारा मोक्ष-प्राप्ति।
४० अर नरेश्वर द्वारा कर्म-रजों से मुक्ति।
४१ महापद्म चक्रवर्ती द्वारा तप का आचरण।
४२ हरिषेण चक्रवर्ती द्वारा अनुत्तर-गति-प्राप्ति।
४३ जय चक्रवर्ती का हजार राजाओं के साथ दम का आचरण।
४४ दशार्णभद्र का मुनि-धर्म स्वीकार।
४५,४६ कलिंग का करकण्डू, पांचाल का द्विमुख, विदेह में नमि और गान्धार में नग्गति द्वारा श्रमण-धर्म में प्रव्रज्या।
४७ उद्रायण राजा द्वारा मुनि-धर्म का आचरण।
४८ काशीराज द्वारा कर्म-महावन का उन्मूलन।
४९ विजय राजा की जिन-शासन में प्रव्रज्या।
५० राजर्षि महाबल की मोक्ष-प्राप्ति।
५१ एकान्त दृष्टिमय अहेतुवादों को छोड़ कर पराक्रमशाली राजाओं द्वारा जैन-शासन का स्वीकार।
५२ जैन-शासन के द्वारा अनेक जीवों का उद्धार।
५३ एकान्त दृष्टिमय अहेतुवादों को अस्वीकार करने से मोक्ष की प्राप्ति।

## उन्नीसवां अध्ययन : मृगापुत्रीय (श्रमण-चर्या का सांगोपांग दिग्दर्शन)

पृ० ३०३–३२८

श्लोक १-९ मृगापुत्र का परिचय। मुनि को देख कर पूर्व-जन्म की स्मृति।
१० मृगापुत्र का माता-पिता से प्रव्रज्या के लिए निवेदन।
११-१४ जीवन की अशाश्वतता और काम-भोगों के कटु परिणाम।
१५ जीवन की दुःखमयता।
१६,१७ किम्पाक-फल की तरह काम-भोगों की अनिष्टता।
१८,१९ लम्बे मार्ग में पाथेय-रहित मनुष्य की तरह धर्म-रहित मनुष्य का भविष्य दुःखकर।
२०,२१ लम्बे मार्ग में पाथेय-सहित मनुष्य की तरह धर्म-सहित मनुष्य का भविष्य सुखकर।
२२,२३ आग लगे घर में से मूल्यवान् वस्तुओं की तरह अपने आपको संसार में से निकालने का मृगापुत्र का निवेदन।
२४-३० माता-पिता द्वारा श्रमण-धर्म के पांच महाव्रत और रात्रि-भोजन-वर्जन का परिचय।
३१,३२ परीषहों का वर्णन।
३३ कापोती-वृत्ति, केश-लोच का उल्लेख।
३४,३५ मृगापुत्र की सुकुमारता और श्रामण्य की कठोरता।
३६ आकाश गंगा के स्रोत-प्रतिस्रोत की तरह श्रामण्य की कठोरता।
३७ बालू के कौर की तरह संयम की स्वाद-हीनता।
३८ लोहे के यवों को चबाने की तरह श्रमण-धर्म की कठिनता।
३९ अग्नि-शिखा को पीने की तरह श्रमण-धर्म की कठिनता।
४० सत्त्व-हीन व्यक्ति की संयम के लिए असमर्थता।
४१ मेरु-पर्वत को तराजू से तोलने की तरह संयम की कठिनता।
४२ समुद्र को भुजाओं से तैरने की तरह संयम-पालन की कठिनता।
४३ विषयों को भोगने के बाद श्रमण-धर्म के आचरण का सुझाव।
४४ ऐहिक सुखों की प्यास बुझ जाने वाले के लिए संयम की सुकरता।
४५-७४ मृगापुत्र द्वारा नरक के दारुण दुःखों का वर्णन। स्वयं के द्वारा अनन्त बार उनको सहने का उल्लेख।
७५ माता-पिता द्वारा श्रामण्य की सबसे बड़ी कठोर चर्या—निष्प्रतिकर्मता का उल्लेख।
७६-८५ मृगापुत्र द्वारा मृग-चारिका से जीवन बिताने का संकल्प।
८६,८७ मृगापुत्र का प्रव्रज्या-स्वीकार।
८८-९५ मृगापुत्र द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना और मोक्ष-प्राप्ति।
९६ संबुद्ध व्यक्तियों द्वारा मृगापुत्र का अनुगमन।
९७,९८ मृगापुत्र के आख्यान से प्रेरणा लेने का उद्बोधन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## बीसवां अध्ययन : महानिर्ग्रन्थीय (अनाथता और सनाथता) पृ० ३२९—३४३


श्लोक १-८ अध्ययन का उपक्रम। श्रेणिक का मण्डिकुक्षि-उद्यान में गमन। मुनि को देख कर विस्मय और श्रामण्य-स्वीकार के बारे में प्रश्न।
९ मुनि द्वारा अपनी अनाथता का उल्लेख।
१०,११ राजा द्वारा स्वयं नाथ होने का प्रस्ताव।
१२ मुनि द्वारा राजा की अनाथता का उल्लेख।
१३-१५ राजा द्वारा आश्चर्यभरी व्याकुलता।
१६ अनाथता और सनाथता के बारे में जिज्ञासा।
१७-३५ मुनि द्वारा अपनी आत्म-कथा। परिवार द्वारा चक्षु-वेदना को दूर करने में असमर्थता। धर्म की शरण, रोगोपशमन, अनगार-वृत्ति का स्वीकार और सनाथता।
३६,३७ आत्म-कर्तृत्व का उद्बोधन।
३८-५० मुनि-धर्म से विपरीत आचरण करना—दूसरी अनाथता।
५१-५३ मेधावी पुरुष को महानिर्ग्रन्थ के मार्ग पर चलने की प्रेरणा।
५४-५६ अनाथ की व्याख्या से श्रेणिक को परम तोष। मुनि की हार्दिक स्तवना और धर्म में अनुरक्ति।
६० मुनि का स्वतंत्र-भाव से विहार।


## इक्कीसवां अध्ययन : समुद्रपालीय (वध्यचोर के दर्शन से संबोधि) पृ० ३४५—३५३


श्लोक १-६ पालित की समुद्र-यात्रा। समुद्रपाल का जन्म और विद्या अध्ययन।
७ रूपिणी के साथ विवाह
८-१० वृद्ध को देखकर संवेग-प्राप्ति। कर्मों का विपाक-चिन्तन और साधुत्व-स्वीकार।
११ मुनि को पर्याय-धर्म, व्रत, शील तथा परीषहों में अभिरुचि लेने का उपदेश।
१२ पंच महाव्रत व उनके आचरण का उपदेश।
१३ दयानुकम्पी होने का उपदेश।
१४ अपने बलाबल को तौल कर कालोचित कार्य करते हुए विहरण का उपदेश।
१५ सम-भाव की साधना का उपदेश।
१६ मन के अभिप्रायों पर अनुशासन तथा उपसर्गों को सहने का उपदेश।
१७-१९ परीषहों की उपस्थिति में समता-भाव का उपदेश।
२० पूजा में उन्नत और गर्हा में अवनत न होने का उपदेश।
२१ संयमवान् मुनि की परमार्थ-पदों में स्थिति।
२२ ऋषियों द्वारा आचीर्ण स्थानों के सेवन का उपदेश।
२३ अनुत्तर ज्ञानधारी मुनि की सूर्य की तरह दीप्तिमत्ता।
२४ समुद्रपाल मुनि की संयम में निश्चलता से अपुनरागम-गति की प्राप्ति।


## बावीसवां अध्ययन : रथनेमीय (पुनरुत्थान) पृ० ३५४—३६७


श्लोक १,२ वसुदेव राजा के परिवार का परिचय।
३,४ समुद्रविजय राजा के परिवार का परिचय। अरिष्टनेमि का जन्म।
५,६ अरिष्टनेमि का शरीर-परिचय और जाति-परिचय। केशव द्वारा उसके लिए राजीमती की मांग।
७ राजीमती का स्वभाव-परिचय।
८ उग्रसेन द्वारा केशव की मांग स्वीकार।
९-१६ अरिष्टनेमि के विवाह की शोभा-यात्रा। बाड़ों और पिंजरों में निरुद्ध प्राणियों को देखकर सारथि से प्रश्न।
१७ सारथि का उत्तर।
१८,१९ अरिष्टनेमि का चिन्तन।
२० सारथि को कुण्डल आदि आभूषणों का दान।
२१ अभिनिष्क्रमण की भावना और देवों का आगमन।
२२-२७ शिविका में आरूढ़ होकर अरिष्टनेमि का रैवतक पर जाना। केश-लुंचन। वासुदेव द्वारा आशीर्वचन।
२८ अरिष्टनेमि की दीक्षा की बात सुनकर राजीमती की शोक-निमग्नता।
२९-३१ राजीमती का प्रव्रजित होने का निश्चय और केश-लुंचन। वासुदेव का आशीर्वाद।
३२ राजीमती द्वारा अनेक स्वजन-परिजनों की दीक्षा।
३३ रैवतक पर्वत पर जाते समय राजीमती का वर्षा से भीगने के कारण गुफा में ठहरना।
३४ वस्त्रों को सुखाना। रथनेमि का राजीमती को यथाजात (नग्न) रूप में देखकर भग्नचित्त हो जाना।
३५ राजीमती का संकुचित होकर बैठना।
३६-३८ रथनेमि द्वारा आत्म-परिचय और प्रणय- निवेदन।
३९-४५ राजीमती द्वारा रथनेमि को विविध प्रकार से उपदेश।
४६,४७ रथनेमि का संयम में पुनः स्थिर होना।
४८ राजीमती और रथनेमि को अनुत्तर सिद्धि की प्राप्ति।
४९ संबुद्ध का कर्तव्य।


## तेवीसवां अध्ययन : केशि-गौतमीय (केशि और गौतम का संवाद) पृ० ३६८—३८६


श्लोक १-४ तीर्थङ्कर पार्श्व के शिष्य श्रमण केशि का परिचय। श्रावस्ती में आगमन और तिन्दुक उद्यान में स्थिति।
५-८ भगवान् महावीर के शिष्य गौतम का परिचय। श्रावस्ती में आगमन और कोष्ठक उद्यान में स्थिति।
९-१३ दोनों के शिष्य-समुदाय में एक-दूसरे को देखकर अनेक सन्देह और जिज्ञासाएं।
१४ केशि और गौतम का परस्पर मिलने का निश्चय।
१५-१७ गौतम का तिन्दुक-वन में आगमन। केशि द्वारा गौतम का आदर-सत्कार और आसन-प्रदान।
१८ केशी और गौतम की चन्द्र और सूर्य से तुलना।


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९,२० अन्यतीर्थिक साधु, श्रावक तथा देव आदि का आगमन।
२१-२४ केशी द्वारा चातुर्याम धर्म और पंच महाव्रत धर्म के बारे में प्रश्न।
२५-२७ गौतम का समाधान।
२८-३० केशी द्वारा सचेलक-अचेलक के बारे में जिज्ञासा।
३१-३३ लोक-प्रतीति आदि कारणों से वेष-धारण आवश्यक।
३४,३५ शत्रुओं पर विजयी कैसे?
३६-३८ गौतम का समाधान।
३९,४० पाश-बहुल संसार से मुक्त विहार कैसे?
४१-४३ गौतम का समाधान।
४४,४५ विष-तुल्य फल वाली लता का उच्छेद कैसे?
४६-४८ गौतम का समाधान।
४९,५० घोर अग्नियों का उपशमन कैसे?
५१-५३ गौतम का समाधान।
५४,५५ दुष्ट अश्व पर सवार होकर भी तुम उन्मार्ग पर क्यों नहीं?
५६-५८ गौतम का समाधान।
५९,६० कुमार्ग की बहुलता होने पर भी भटकते कैसे नहीं?
६१-६३ गौतम का समाधान।
६४,६५ महान् जल-प्रवाह में बहते हुए जीवों के लिए शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप कौन?
६६-६८ गौतम का समाधान।
६९,७० महाप्रवाह वाले समुद्र का पार कैसे?
७१-७३ गौतम का समाधान।
७४,७५ तिमिर-लोक में प्रकाश किसके द्वारा?
७६-७८ गौतम का समाधान।
७९,८० पीड़ित प्राणियों के लिए खेमंकर स्थान कहां?
८१-८४ गौतम का समाधान।
८५-८७ श्रमण केशी द्वारा गौतम की अभिवन्दना और पूर्व-मार्ग से पश्चिम-मार्ग में प्रवेश।
८८ केशी और गौतम का मिलन महान् उत्कर्ष और अर्थ-विनिश्चय का हेतु।
८९ परिषद् का संतोषपूर्वक निर्गमन।

## चौबीसवां अध्ययन : प्रवचन-माता (पांच समिति तथा तीन गुप्तियों का निरूपण) पृ० ३८७—३९६

श्लोक १ अध्ययन का उपक्रम।
२ समिति, गुप्तियों का नाम-निर्देश।
३ जिन-भाषित द्वादशांग-रूप प्रवचन का प्रवचन-माता में समावेश।
४ साधु को ईर्यापूर्वक चलने का आदेश।
५-८ ईर्या का आलम्बन, काल, मार्ग और यतना का निर्देश।
९,१० भाषा-समिति का स्वरूप और विधि।
११,१२ एषणा-समिति का स्वरूप और विधि।
१३,१४ आदान-समिति का स्वरूप और प्रतिलेखन-विधि
१५-१८ उच्चार-समिति का स्वरूप और प्रतिलेखन-विधि
१९ समितियों के कथन के पश्चात् गुप्तियों का कथन।
२० मनोगुप्ति के चार प्रकार।
२१ संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान मन के निवर्तन का उपदेश।
२२ वचन-गुप्ति के चार प्रकार।
२३ संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान वचन के निवर्तन का उपदेश।
२४,२५ संरम्भ, समारम्भ में प्रवर्तमान शरीर के निवर्तन का उपदेश।
२६ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए समिति का तथा अशुभ विषयों से निवृत्ति के लिए गुप्ति का विधान।
२७ प्रवचन-माता के आचरण से मुक्ति की संभवता।

## पचीसवां अध्ययन : यज्ञीय (जयघोष और विजयघोष का संवाद) पृ० ३९७—४०७

श्लोक १-३ जयघोष मुनि का परिचय और वाराणसी में आगमन।
४ विजयघोष ब्राह्मण द्वारा यज्ञ का आयोजन।
५ मुनि का वहां भिक्षार्थ उपस्थित होना।
६-८ विजयघोष द्वारा भिक्षा का निषेध।
९,१० मुनि द्वारा समभाव पूर्वक ब्राह्मण को संबोध।
११,१२ वेद-मुख, यज्ञ-मुख, नक्षत्र-मुख, धर्म-मुख एवं अपने-पराये उद्धार में समर्थ व्यक्तियों के विषय में जिज्ञासा।
१३-१५ विजयघोष का निरुत्तर होना और मुनि से इसके बारे में प्रश्न।
१६ मुनि द्वारा समाधान।
१७ चन्द्रमा के सम्मुख ग्रहों की तरह भगवान् ऋषभ के समक्ष समस्त लोक नत-मस्तक।
१८ यज्ञवादी ब्राह्मण-विद्या से अनभिज्ञ।
१९-२७ ब्राह्मण के स्वरूप का निरूपण।
२८ वेद और यज्ञ की अत्राणता।
२९ श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस के स्वरूप में बाह्याचार का खण्डन।
३० श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस की वास्तविक व्याख्या।
३१ जाति से कर्म की प्रधानता।
३२,३३ कर्मों से मुक्त आत्मा ही ब्राह्मण और उन्हीं की अपने-पराए उद्धार में समर्थता का प्रतिपादन।
३४-३७ विजयघोष द्वारा मुनि की स्तुति और भिक्षा के लिए आग्रह।
३८ मुनि का विजयघोष को संसार से निष्क्रमण का उपदेश।
३९-४१ मिट्टी के गीले और सूखे गोले की उपमा से भोगासक्ति के स्वरूप का विश्लेषण।
४२ विजयघोष द्वारा प्रव्रज्या-स्वीकार।
४३ जयघोष और विजयघोष दोनों को सिद्धि-प्राप्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## छवीसवां अध्ययन : सामाचारी (संघीय जीवन की पद्धति) पृ० ४०८–४२९


श्लोक १ अध्ययन का उपक्रम।
२-४ सामाचारी के दस अंगों के नाम-निर्देश।
५-७ सामाचारी का प्रयोग कब और कैसे।
८-१० प्रतिलेखन के बाद गुरु के आदेशानुसार चर्या का प्रारम्भ।
११ दिन के चार भागों में उत्तर-गुणों की आराधना।
१२ प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षाचरी और चौथे में पुनः स्वाध्याय का विधान।
१३-१५ पौरुषी-विधि और वर्ष भर की तिथियों के वृद्धि-क्षय का परिज्ञान।
१६ प्रतिलेखन का समय-विधान।
१७ रात्रि के चार भागों में उत्तर-गुणों की आराधना।
१८ प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय का विधान।
१९,२० नक्षत्रों द्वारा रात्रि का काल-ज्ञान।
२१-२५ प्रतिलेखना विधि।
२६,२७ प्रतिलेखना के दोषों के प्रकारों का वर्जन।
२८ प्रतिलेखना के प्रशस्त और अप्रशस्त विकल्प।
२९,३० प्रतिलेखना में कथा आदि करने वाले का छह कार्यों का विराधक होना।
३१ तीसरे प्रहर में भिक्षा तथा छह कारणों से भिक्षा का विधान।
३२ छह कारणों का नाम-निर्देश।
३३ छह कारणों से भिक्षा न करने का विधान।
३४ छह कारणों का नाम-निर्देश।
३५ भिक्षा के लिए अर्ध-योजन तक जाने का विधान।
३६ चौथे प्रहर में स्वाध्याय का विधान।
३७ शय्या की प्रतिलेखना।
३८ उच्चार-भूमि की प्रतिलेखना। कायोत्सर्ग का विधान।
३९-४१ दैवसिक अतिचारों का प्रतिक्रमण।
४२ काल-प्रतिलेखना।
४३ रात्री के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में स्वाध्याय का विधान।
४४ असंयत व्यक्तियों को न जगाते हुए स्वाध्याय का निर्देश।
४५ काल की प्रतिलेखना।
४६ कायोत्सर्ग का विधान।
४७-४९ रात्रिक अतिचारों का प्रतिक्रमण।
५० कायोत्सर्ग में तप-ग्रहण का चिन्तन।
५१ तप का स्वीकार और सिद्धों का संस्तव।
५२ सामाचारी के आचारण से संसार-सागर का पार।


## सत्तावीसवां अध्ययन : खलुंकीय (अविनीत की उद्दण्डता का चित्रण) पृ० ४३०–४३७


श्लोक १ गर्ग मुनि का परिचय।
२ वाहन वहन करते हुए बैल की तरह योग-वहन करने वाले मुनि का संसार स्वयं उल्लंघित।
३-७ अविनीत बैल का मनोवैज्ञानिक स्वभाव-चित्रण।
८ अयोग्य बैल की तरह दुर्बल शिष्य द्वारा धर्म-यान को भग्न करना।
९-१३ अविनीत शिष्य का स्वभाव-चित्रण।
१४,१५ आचार्य के मन में खेद-खिन्नता।
१६ गली-गर्दभ की तरह कुशिष्यों का गर्गाचार्य द्वारा बहिष्कार।
१७ गर्गाचार्य का शील-सम्पन्न होकर विहरण करना।


## अट्ठाईसवां अध्ययन : मोक्ष-मार्ग-गति (मोक्ष के मार्गों का निरूपण) पृ० ४३८–४६३


श्लोक १ अध्ययन का उपक्रम।
२ मार्गों का नाम-निर्देश।
३ मार्ग को प्राप्त करने वाले जीवों की सुगति।
४,५ ज्ञान के पांच प्रकार।
६ द्रव्य, गुण और पर्याय की परिभाषा।
७ द्रव्य के छह प्रकारों का नाम-निर्देश।
८ छह द्रव्यों की संख्या-परकता।
९ धर्म, अधर्म और आकाश के लक्षण।
१०-१२ काल, जीव और पुद्गल के लक्षण।
१३ पर्याय के लक्षण।
१४ नौ तत्त्वों के नाम-निर्देश।
१५ सम्यक्त्व की परिभाषा।
१६ सम्यक्त्व के दस प्रकारों का नाम-निर्देश।
१७,१८ निसर्ग-रुचि की परिभाषा।
१९ उपदेश-रुचि की परिभाषा।
२० आज्ञा-रुचि की परिभाषा।
२१ सूत्र-रुचि की परिभाषा।
२२ बीज-रुचि की परिभाषा।
२३ अभिगम-रुचि की परिभाषा।
२४ विस्तार-रुचि की परिभाषा।
२५ क्रिया-रुचि की परिभाषा।
२६ संक्षेप-रुचि की परिभाषा।
२७ धर्म-रुचि की परिभाषा।
२८ सम्यक्त्व का श्रद्धान।
२९ सम्यक्त्व और चारित्र का पौर्वापर्य सम्बन्ध।
३० दर्शन, ज्ञान और चारित्र से ही मुक्ति की सम्भवता।
३१ सम्यक्त्व के आठ अंगों का निरूपण।
३२,३३ चारित्र के पांच प्रकार।
३४ तप के दो प्रकार।
३५ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का परिणाम।
३६ संयम और तप से कर्म-विमुक्ति।


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## उनतीसवां अध्ययन : सम्यक्त्व-पराक्रम (साधना-मार्ग)

पृ० ४६४–५०२

श्लोक १ अध्ययन का उपक्रम। सम्यक्त्व-पराक्रम का अर्थ तथा संवेग से अकर्मता तक के ७३ विषयों का नाम-निर्देश।
२ संवेग के परिणाम।
३ निर्वेद के परिणाम।
४ धर्म-श्रद्धा के परिणाम।
५ गुरु-धार्मिक-शुश्रुषा के परिणाम।
६ आलोचना के परिणाम।
७ निन्दा के परिणाम।
८ गर्हा के परिणाम।
९ सामायिक का परिणाम।
१० चतुर्विंशतिस्तव का परिणाम।
११ वन्दना के परिणाम।
१२ प्रतिक्रमण के परिणाम।
१३ कायोत्सर्ग के परिणाम।
१४ प्रत्याख्यान का परिणाम।
१५ स्तव-स्तुति-मंगल के परिणाम।
१६ काल-प्रतिलेखना का परिणाम।
१७ प्रायश्चित्त के परिणाम।
१८ क्षमा करने के परिणाम।
१९ स्वाध्याय का परिणाम
२० वाचना के परिणाम।
२१ प्रतिपृच्छा के परिणाम।
२२ परिवर्तना का परिणाम।
२३ अनुप्रेक्षा के परिणाम।
२४ धर्मकथा के परिणाम।
२५ श्रुताराधना के परिणाम।
२६ एकाग्र-मनःसन्निवेश का परिणाम।
२७ संयम का परिणाम।
२८ तप का परिणाम।
२९ व्यवदान के परिणाम।
३० सुख-शात के परिणाम।
३१ अप्रतिबद्धता के परिणाम।
३२ विविक्त-शयनासन-सेवन के परिणाम।
३३ विनिवर्तना के परिणाम।
३४ संभोज-प्रत्याख्यान के परिणाम।
३५ उपधि-प्रत्याख्यान के परिणाम।
३६ आहार-प्रत्याख्यान के परिणाम।
३७ कषाय-प्रत्याख्यान के परिणाम।
३८ योग-प्रत्याख्यान के परिणाम।
३९ शरीर-प्रत्याख्यान के परिणाम।
४० सहाय-प्रत्याख्यान के परिणाम।
४१ भक्त-प्रत्याख्यान के परिणाम।
४२ सद्भाव-प्रत्याख्यान के परिणाम।
४३ प्रतिरूपता के परिणाम।
४४ वैयावृत्त्य के परिणाम।
४५ सर्व-गुण-सम्पन्नता के परिणाम।
४६ वीतरागता के परिणाम।
४७ क्षमा का परिणाम।
४८ मुक्ति के परिणाम।
४९ ऋजुता के परिणाम।
५० मृदुता के परिणाम।
५१ भाव-सत्य के परिणाम।
५२ करण-सत्य के परिणाम।
५३ योग-सत्य के परिणाम।
५४ मनो-गुप्तता के परिणाम।
५५ वाक्-गुप्तता के परिणाम।
५६ काय-गुप्तता के परिणाम।
५७ मनःसमाधारणा के परिणाम।
५८ वाक्-समाधारणा के परिणाम।
५९ काय-समाधारणा के परिणाम।
६० ज्ञान-सम्पन्नता के परिणाम।
६१ दर्शन-सम्पन्नता के परिणाम।
६२ चारित्र-सम्पन्नता के परिणाम।
६३ श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह का परिणाम।
६४ चक्षु-इन्द्रिय-निग्रह का परिणाम।
६५ घ्राणेन्द्रिय-निग्रह का परिणाम।
६६ जिह्वेन्द्रिय-निग्रह का परिणाम।
६७ स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह का परिणाम।
६८ क्रोध-विजय का परिणाम।
६९ मान-विजय का परिणाम।
७० माया-विजय का परिणाम।
७१ लोभ-विजय का परिणाम।
७२ प्रेम, द्वेष और मिथ्या-दर्शन-विजय के परिणाम।
७३ केवली के योग-निरोध का क्रम। शेष चार कर्मों के क्षय का क्रम।
७४ कर्म-क्षय के बाद जीव की मोक्ष की ओर गति, स्थिति का स्वरूप-विश्लेषण। उपसंहार।

## तीसवां अध्ययन : तपो-मार्ग-गति (तपो-मार्ग के प्रकारों का निरूपण)

पृ० ५०३–५३१

श्लोक १ अध्ययन का प्रारम्भ।
२ महाव्रत और रात्रि-भोजन-विरति से जीव की आश्रव-विरति।
३ समित और गुप्त जीव की आश्रव-विरति।
४ अर्जित कर्मों के क्षय के उपाय।
५,६ तालाब के दृष्टांत से तपस्या द्वारा कर्म-क्षय का निरूपण।
७ तप के प्रकार
८ बाह्य-तप के छह प्रकार।
९ इत्वरिक अनशन।
१०,११ इत्वरिक तप के छह प्रकार।
१२,१३ अनशन के दो प्रकार।
१४-२४ अवमौदर्य के प्रकार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५ भिक्षाचर्या की परिभाषा।
२६ रस-विवर्जन।
२७ कायक्लेश।
२८ विविक्त-शयनासन।
२९,३० आन्तरिक-तप के भेदों का नाम-निर्देश।
३१ प्रायश्चित्त।
३२ विनय।
३३ वैयावृत्त्य।
३४ स्वाध्याय और उसके प्रकार।
३५ ध्यान।
३६ कायोत्सर्ग।
३७ तप के आचरण से मुक्ति की संभवता।

**इकतीसवां अध्ययन : (चरण-विधि का निरूपण)** **पृ० ५३२–५४९**

श्लोक १ अध्ययन का उपक्रम।
२ असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति का विधान।
३ राग और द्वेष के निरोध से संसार-मुक्ति।
४ तीन दण्डों, गौरवों और शल्यों के त्याग से संसार-मुक्ति।
५ उपसर्ग-सहन करने से संसार-मुक्ति।
६ विकथा, कषाय, संज्ञा और आर्त्त-रौद्र ध्यान के वर्जन से संसार-मुक्ति।
७ व्रत और समितियों के पालन से, इन्द्रिय-विजय और क्रियाओं के परिहार से संसार-मुक्ति।
८ छह लेश्या, छह काय और आहार के छह कारणों में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
९ आहार-ग्रहण की सात प्रतिमाओं और सात भय-स्थानों में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
१० आठ मद-स्थान, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ति और दस प्रकार के भिक्षु-धर्म में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
११ उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं और भिक्षु की बारह प्रतिमाओं में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
१२ तेरह क्रियाओं, चौदह जीव-समुदायों और पन्द्रह परमाधार्मिक देवों में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
१३ गाथा षोडशक और सतरह प्रकार के असंयम में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
१४ अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य, उन्नीस ज्ञात-अध्ययन और बीस असमाधि-स्थानों में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
१५ इक्कीस सबल दोष, बाईस परीषहों में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
१६ सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययन और चौबीस प्रकार के देवों में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
१७ पच्चीस भावनाओं और छब्बीस उद्देशों में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
१८ साधु के सत्ताईस गुण और अठाईस आचार-प्रकल्पों में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
१९ उनतीस पाप-प्रसंगों और तीस प्रकार के मोह-स्थानों में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
२० सिद्धों के इकतीस आदि-गुण, बत्तीस योग-संग्रह और तेतीस आशातना में यत्न करने से संसार-मुक्ति।
२१ इन स्थानों में यत्न करने वाले का शीघ्र संसार-मुक्त होना।

**बतीसवां अध्ययन : प्रमाद-स्थान (प्रमाद के कारण और उनका निवारण)** **पृ० ५५०–५६८**

श्लोक १ अध्ययन का प्रारम्भ।
२ एकान्त सुख के हेतु का प्रतिपादन।
३ मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन।
४ समाधि की आवश्यक सामग्री।
५ एकल-विहार की विशेष विधि।
६ तृष्णा और मोह का अविनाभाव सम्बन्ध।
७ कर्म-बीज का निरूपण।
८ दुःख-नाश का क्रम।
९,१० राग-द्वेष और मोह के उन्मूलन का उपाय।
११ प्रकाम-भोजन ब्रह्मचारी के लिए अहितकर।
१२ विविक्त शय्यासन और कम भोजन से राग-शत्रु का पराजय।
१३-१८ ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-संसर्ग-वर्जन का विधान।
१९,२० किंपाक-फल की तरह काम-भोग की अभिलाषा दुःख का हेतु।
२१ मनोज्ञ विषय पर राग और अमनोज्ञ विषय पर द्वेष न करने का उपदेश।
२२-३४ रूप-आसक्ति हिंसा, असत्य, चौर्य और दुःख का हेतु। रूप-विरति शोक-मुक्ति का कारण।
३५-४७ शब्दासक्ति हिंसा, असत्य, चौर्य और दुःख का हेतु। शब्द-विरति शोक-मुक्ति का कारण।
४८-६० गन्ध-आसक्ति हिंसा, असत्य, चौर्य तथा दुःख का हेतु। गन्ध-विरति शोक-मुक्ति का कारण।
६१-७३ रस-आसक्ति हिंसा, असत्य, चौर्य तथा दुःख का हेतु। रस-विरति शोक-मुक्ति का कारण।
७४-८६ स्पर्श-आसक्ति हिंसा, असत्य, चौर्य तथा दुःख का हेतु। स्पर्श-विरति शोक-विमुक्ति का हेतु।
८७-९९ भाव-आसक्ति हिंसा, असत्य, चौर्य तथा दुःख का हेतु। भाव-विरति शोक-विमुक्ति का हेतु।
१०० रागी पुरुष के लिए इन्द्रिय और मन के विषय दुःख के हेतु, वीतराग के लिए नहीं।
१०१ समता या विकार का हेतु तद्विषयक मोह है, काम-भोग नहीं।
१०२,१०३ काम-गुण आसक्त पुरुष अनेक विकार—परिणामों द्वारा करुणास्पद और अप्रिय।
१०४ तप के फल की वांछा करने वाला इन्द्रिय-रूपी चोरों का वशवर्ती।
१०५ विषय-प्राप्ति के प्रयोजनों के लिए उद्यम।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०६ विरक्त पुरुष के लिए शब्द आदि विषय मनोज्ञता या अमनोज्ञता के हेतु नहीं।
१०७ राग-द्वेषात्मक संकल्प दोष का मूल है, इन्द्रिय-विषय नहीं—इस विचार से तृष्णा का क्षय।
१०८ वीतराग की कृतकृत्यता।
१०९ आयुष्य क्षय होने पर मोक्ष-प्राप्ति।
११० मुक्त जीव की कृतार्थता।
१११ दुःखों से मुक्त होने का मार्ग।

**तेतीसवां अध्ययन : कर्म-प्रकृति (कर्म की प्रकृतियों का निरूपण)** पृ० ५६९—५७६

श्लोक १ अध्ययन का उपक्रम।
२-३ कर्मों के नाम-निर्देश।
४-१५ कर्मों के प्रकार।
१६-१७ एक समय में ग्राह्य सब कर्मों के प्रदेशों का परिमाण।
१८ सब जीवों के संग्रह-योग्य पुद्गलों की छहों दिशाओं में स्थिति।
१९-२३ कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति।
२४ कर्मों का अनुभाग।
२५ कर्म-निरोध का उपदेश।

**चौतीसवां अध्ययन : लेश्या-अध्ययन (कर्म-लेश्या का विस्तार)** पृ० ५७७—५८९

श्लोक १-२ उपक्रम।
३ लेश्याओं के नाम-निर्देश।
४-९ लेश्याओं का वर्ण-विचार।
१०,१५ लेश्याओं का रस-विचार।
१६,१७ लेश्याओं का गंध-विचार।
१८,१९ लेश्याओं का स्पर्श-विचार।
२१-३२ लेश्याओं के परिणाम।
३३ लेश्याओं के स्थान।
३४-३९ लेश्याओं की स्थिति।
४०-४३ नारकीय जीवों के लेश्याओं की स्थिति।
४४-४६ तिर्यञ्च और मनुष्य के लेश्याओं की स्थिति।
४७-५५ देवों के लेश्याओं की स्थिति।
५६ अधर्म लेश्याओं की गति।
५७ धर्म लेश्याओं की गति।
५८-६० लेश्या-परिणति का उपपात के साथ संबंध।
६१ अप्रशस्त लेश्याओं का वर्जन और प्रशस्त लेश्याओं के स्वीकार का उपदेश।

**पैंतीसवां अध्ययन : अनगार-मार्ग-गति (अनगार का स्फुट आचार)** पृ० ५९०—५९६

श्लोक १ उपक्रम।
२ संग-विवेक।
३ पांच महाव्रतों का नाम-निर्देश।
४,५ भिक्षु वैसे मकान में न रहे जहां कामराग बढ़ता हो।
६ भिक्षु श्मशान आदि एकान्त स्थानों में रहे।
७ भिक्षु के रहने का स्थान कैसा हो?
८ भिक्षु को गृह-समारम्भ न करने का निर्देश।
९ गृह-समारम्भ के दोष।
१०,११ आहार की शुद्धता।
१२ भिक्षु के लिए अग्नि का समारंभ न करने का विधान।
१३ सोने-चांदी की अनाकांक्षा।
१४,१५ क्रय-विक्रय भिक्षु के लिए महान् दोष।
१६ पिण्ड-पात की एषणा।
१७ जीवन-निर्वाह के लिए भोजन का विधान।
१८ पूजा, अर्चना और सम्मान के प्रति अनाशंसा-भाव।
१९ शुक्ल-ध्यान और व्युत्सृष्ट-काय होने का उपदेश।
२० अनशन का विधान।
२१ आश्रव-रहित व्यक्ति का परिनिर्वाण।

**छत्तीसवां अध्ययन : जीवाजीवविभक्ति (जीव और अजीव के विभागों का निरूपण)** पृ० ५९७—६४२

श्लोक १ अध्ययन का उपक्रम।
२ लोक और अलोक की परिभाषा।
३ जीव और अजीव की प्ररूपणा के प्रकार।
४ अजीव के दो प्रकार।
५,६ अरूपी अजीव के दस प्रकार।
७ धर्मास्तिकाय आदि का क्षेत्रतः निरूपण।
८,९ धर्मास्तिकाय आदि का कालतः निरूपण।
१०-१४ रूपी पुद्गल के प्रकारों का द्रव्य, क्षेत्र और काल-मान।
१५-२० वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से पुद्गल की परिणति।
२१ संस्थान की अपेक्षा से पुद्गल की परिणति।
२२-४७ पुद्गल के अनेक विकल्प। अजीव विभक्ति का समापन।
४८ जीव के दो प्रकार।
४९-६७ सिद्धों के प्रकार, अवगाहना, संस्थिति का निरूपण तथा सिद्धालय का स्वरूप।
६८ संसारी जीव के दो प्रकार।
६९ स्थावर जीव के तीन मूल भेद।
७०-८३ पृथ्वीकाय के उत्तर-भेद, गति, स्थिति, कायस्थिति, अंतर आदि पर विचार।
८४-९१ अप्काय के उत्तर-भेद, गति, स्थिति, कायस्थिति, अंतर आदि पर विचार।
९२-१०६ वनस्पतिकाय के उत्तर-भेद, गति, स्थिति, कायस्थिति, अंतर आदि पर विचार।
१०७ त्रस-जीव के तीन भेद।
१०८-११६ तेजस्काय के उत्तर-भेद, गति, स्थिति, कायस्थिति, अंतर आदि पर विचार।
११७-१२५ वायुकाय के उत्तर-भेद, गति, स्थिति, कायस्थिति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंतर आदि पर विचार।
१२६ उदार त्रसकायिक जीवों के प्रकार।
१२७-१३५ द्वीन्द्रिय-काय के उत्तर-भेद, गति, स्थिति, कायस्थिति, अंतर आदि पर विचार।
१३६-१४४ त्रीन्द्रिय-काय के उत्तर-भेद, गति, स्थिति, कायस्थिति, अंतर आदि पर विचार।
१४५-१५४ चतुरिन्द्रिय-काय के उत्तर-भेद, गति, स्थिति, कायस्थिति, अंतर आदि पर विचार।
१५५ पञ्चेन्द्रिय के चार प्रकार।
१५६-१६८ नरकों के नाम-निर्देश। नैरयिक जीवों की स्थिति, कायस्थिति, अंतर आदि पर विचार।
१७०-१७१ पञ्चेन्द्रिय-तिर्यंच के प्रकार और अवांतर भेद।
१७२-१७८ जलचर जीवों के प्रकार। काल-विभाग, आयु, कायस्थिति तथा अंतर का निर्देश।
१७९-१८७ स्थलचर जीवों के प्रकार। काल-विभाग, आयु, कायस्थिति तथा अंतर का निर्देश।
१८८-१९४ खेचर जीवों के प्रकार। काल-विभाग, आयु, कायस्थिति तथा अंतर का निर्देश।
१९५-२०३ मनुष्य के प्रकार। काल-विभाग, आयु, कायस्थिति तथा अंतर का निर्देश।
२०४-२४७ देवों के प्रकार। काल-विभाग, आयु, कायस्थिति तथा अंतर का निर्देश।
२४८,२४९ जीवाजीव के ज्ञान पूर्वक संयम का निर्देश।
२५०-२५५ संलेखना विधि।
२५६-२६२ शुभ और अशुभ भावनाएं सुगति और दुर्गति का कारण।
२६३ कांदर्पी-भावना।
२६४ अभियोगी-भावना।
२६५ किल्विषिक-भावना।
२६६ आसुरी-भावना।
२६७ मोही-भावना।
२६८ उपसंहार।

# परिशिष्ट

| | |
|---|---|
| १. पदानुक्रम | पृ. ६४३ से ६८२ |
| २. उपमा और दृष्टांत | ६८३-६८४ |
| ३. सूक्त | ६८५-६८६ |
| ४. व्यक्ति परिचय | ६८७-६९२ |
| ५. भौगोलिक परिचय | ६९३-६९८ |
| ६. तुलनात्मक अध्ययन | ६९९-७०४ |
| ७. टिप्पण अनुक्रम | ७०५-७१४ |
| ८. विशेष शब्द | ७१५-७२० |
| ९. प्रयुक्त-ग्रन्थ | ७२१-७२७ |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पढमं अज्झयणं

## विणयसुयं

# पहला अध्ययन

## विनयश्रुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

चूर्णि के अनुसार इस अध्ययन का नाम 'विनयसूत्र'[1] और निर्युक्ति तथा बृहद्वृत्ति के अनुसार 'विनयश्रुत' है[2]।

समवायांग में भी इस अध्ययन का नाम विनयश्रुत' है[3]। 'श्रुत' और 'सूत्र'—दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। इस अध्ययन में विनय की श्रुति या सूत्रण है।

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति का एक अंग 'तपोयोग' है। उसके बारह प्रकार हैं। उनमें आठवां प्रकार 'विनय' है[4]। उसके सात रूप प्राप्त होते हैं[5] :

१. ज्ञानविनय—ज्ञान का अनुवर्तन।
२. दर्शनविनय—दर्शन का अनुवर्तन।
३. चारित्रविनय—चारित्र का अनुवर्तन।
४. मनविनय—मन का अनुवर्तन।
५. वचन विनय—वचन का अनुवर्तन।
६. कायविनय—काया का अनुवर्तन।
७. लोकोपचारविनय—अनुशासन, शुश्रूषा और शिष्टाचार पालन।

बृहद्वृत्ति में 'विनय' के पांच रूप प्राप्त होते है[6]।

१. लोकोपचारविनय।
२. अर्थविनय—अर्थ के लिए अनुवर्तन करना।
३. कामविनय—काम के लिए अनुवर्तन करना।
४. भयविनय—भय के लिए अनुवर्तन करना।
५. मोक्षविनय—मोक्ष के लिए अनुवर्तन करना। इस विनय के पांच प्रकार किए गए हैं—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और औपचारिकविनय।[7]

इन दोनों वर्गीकरणों के आधार पर विनय के पांच अर्थ प्राप्त होते हैं—अनुवर्तन, प्रवर्तन, अनुशासन, शुश्रूषा और शिष्टाचार-परिपालन।

प्रस्तुत अध्ययन में इन सभी प्रकारों का प्रतिपादन हुआ है।

दूसरे श्लोक में 'विनित' की परिभाषा लोकोपचारविनय के आधार पर की गई है। लोकोपचारविनय के सात विभाग हैं[8]—

१. अभ्यासवृत्तिता—समीप रहना।
२. परछन्दानुवृत्तिता—दूसरे के अभिप्राय का अनुवर्तन करना।
३. कार्यहेतु—कार्य की सिद्धि के लिए अनुकूल वर्तन करना।
४. कृतप्रतिक्रिया—कृत उपकार के प्रति अनुकूल वर्तन करना।
५. आर्त्तगवेषणा—आर्त्त की गवेषणा करना।
६. देशकालज्ञता—देश और काल को समझना।
७. सर्वार्थ-अप्रतिलोमता—सब प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अनुकूल वर्तन करना।

दूसरे श्लोक में दी हुई विनीत की परिभाषा से तीन विभाग—परछन्दानुवृत्तिता, अभ्यासवृत्तिता, देशकालज्ञता—क्रमशः आज्ञानिर्देशकर, उपपातकारक और इंगिताकार-सम्पन्न के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

दसवें श्लोक में 'मनविनय', 'वचनविनय' और 'ज्ञानविनय' का संक्षेप में बहुत सुन्दर निर्देश किया गया है।

इस प्रकार इस अध्ययन में विनय के सभी रूपों का सम्यक् संकलन हुआ है। प्राचीनकाल में विनय का बहुत मूल्य रहा है। तेईसवें श्लोक में बताया गया है कि आचार्य विनीत को विद्या देते हैं। अविनीत विद्या का अधिकारी नहीं माना जाता। इस अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि गुरु शिष्य पर कठोर और मृदु—दोनों प्रकार का अनुशासन करते थे। (श्लोक २७)। समय की नियमितता भी विनय और अनुशासन की एक अंग थी :

**कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।**
**अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे।।१।४१।।**

इस अध्ययन में स्वाध्याय और अध्ययन दोनों का सम्मिलित उल्लेख मिलता है। आचार्य रामसेन ने लिखा है[9] :

**स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।**
**ध्यानस्वाध्यायसम्पत्त्या, परमात्मा प्रकाशते।।**

स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान और ध्यान के पश्चात्

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ ८ : प्रथममध्ययनं विनयसुत्तमिति, विनयो यस्मिन् सूत्रे वर्ण्यते तदिदं विनयसूत्रम्।
२. (क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २८ : तत्थज्झयणं पढमं विणयसुयं..।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १५ : विनयश्रुतमिति द्विपदं नाम।
३. समवाओ, समवाय ३६ : छत्तीसं उत्तरज्झयणा पं. तं. विणयसुयं...।
४. उत्तरज्झयणाणि, ३०/८,३०।
५. ओववाइयं, सूत्र ४० : से किं तं विणए? विणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—णाणविणए दंसणविणए चरित्तविणए मणविणए वइविणए कायविणए लोगोवयारविणए।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र १६ : लोकोपचारविणओ अत्थनिमित्तं च कामहेउं च।
भयविणयमोक्खविणओ खलु पंचहा णेओ।।
७. वही, पत्र १६ :
दंसणणाणचरित्ते तवे य तह ओवयारिए चेव।
एसो य मोक्खविणओ पंचविहो होइ णायव्वो।।
८. ओववाइयं, सूत्र ४० : से किं तं लोगोवयारविणए? लोगोवयारविणए सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—अब्भासवत्तियं परच्छंदाणुवत्तियं कज्जहेउं कयपडिकिरिया अत्तगवेसणया देसकालण्णुया सव्वत्थेसु अप्पडिलोमया।
९. तत्त्वानुशासन, ८१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय—इस प्रकार स्वाध्याय और ध्यान की पुनरावृत्ति से परमात्मस्वरूप उपलब्ध होता है।

यह परम्परा बहुत पुरानी है। इसका संकेत दसवें श्लोक में मिलता है—**कालेण य अहिहिज्जत्ता, तओ झाएज्ज एगगो।**

विनय के व्यापक स्वरूप को सामने रखकर ही यह कहा गया था—'विनय जिन-शासन का मूल है। जो विनयरहित है, उसे धर्म और तप कहां से प्राप्त होगा?'[1]

आचार्य वट्टकेर ने विनय का उत्कर्ष इस भाषा में प्रस्तुत किया है—विनयविहीन व्यक्ति की सारी शिक्षा व्यर्थ है। शिक्षा का फल विनय है। यह नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति शिक्षित है और विनीत नहीं है। उनकी भाषा में शिक्षा का फल विनय और विनय का फल शेष समग्र कल्याण है।[2]

विनय मानसिक दासता नहीं है, किन्तु वह आत्मिक और व्यावहारिक विशेषताओं की अभिव्यंजना है। उसकी पृष्ठभूमि में इतने गुण समाहित रहते हैं[3] :

१. आत्मशोधि—आत्मा का परिशोधन।
२. निर्द्वन्द्व—कलह आदि द्वन्द्वों की प्रस्तुति का अभाव।
३. ऋजुता—सरलता।
४. मृदुता—निश्छलता और निरभिमानता।
५. लाघव—अनासक्ति।
६. भक्ति—भक्ति।
७. प्रह्लादकरण—प्रसन्नता।

विनय के व्यावहारिक फल हैं—कीर्ति और मैत्री। विनय करने वाला अपने अभिमान का निरसन, गुरुजनों का बहुमान, तीर्थंकर की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन करता है।[4]

सूत्रकार ने विनीत को वह स्थान दिया है, जो अनायास लभ्य नहीं है। सूत्र की परिभाषा है—'हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा'—जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार विनीत शिष्य धर्माचरण करने वालों के लिए आधार होता है।[5]

---

१. उपदेशमाला, ३४१ : विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तओ।।

२. मूलाचार, ५।२११ : विणएण विप्पहीणस्स, हवदि सिक्खा सव्वा णिरत्थिया।
विणओ सिक्खाए फलं, विणयफलं सव्व कल्लाणं।।।

३. वही, ५।२१३ : आयारजीदकप्पगुणदीवणा, अत्तसोधि णिज्जंजा।
अज्जव-मद्दव-लाहव-भत्ती-पल्हादकरणं च।

४. वही, ५।२१४ : कित्ती मित्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणं।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# चउमं अज्झयणं : पहला अध्ययन
## विणयसुयं : विनयश्रुत

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. संजोगा विप्पमुक्कस्स<br>अणगारस्स भिक्खुणो।<br>विणयं पाउकरिस्सामि<br>आणुपुव्विं सुणेह मे।। | *संयोगाद् विप्रमुक्तस्य*<br>*अनगारस्य भिक्षोः।*<br>*विनयं प्रादुष्करिष्यामि*<br>*आनुपूर्व्या शृणुत मम।।* | जो संयोग से मुक्त है, अनगार है, भिक्षु है,[1] उसके विनय को[2] क्रमशः प्रकट करूंगा। मुझे सुनो। |
| २. आणानिद्देसकरे<br>गुरूणमुववायकारए।<br>इंगियागार संपन्ने<br>से विणीए त्ति वुच्चई।। | *आज्ञानिर्देशकरः*<br>*गुरूणामुपपातकारकः।*<br>*इंगिताकारसम्प्रज्ञः*<br>*स विनीत इत्युच्यते।।* | जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है[3], गुरु की शुश्रूषा करता है,[4] गुरु के इंगित और आकार को[5] जानता है,[6] वह 'विनीत' कहलाता है। |
| ३. आणाऽनिद्देसकरे<br>गुरूणमणुववायकारए।<br>पडिणीए असंबुद्धे<br>अविणीए त्ति वुच्चई।। | *अनाज्ञानिर्देशकरः*<br>*गुरूणामनुपपातकारकः।*<br>*प्रत्यनीकोऽसम्बुद्धः*<br>*अविनीत इत्युच्यते।।* | जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन नहीं करता, गुरु की शुश्रूषा नहीं करता,[7] जो गुरु के प्रतिकूल वर्तन करता है और इंगित तथा आकार को नहीं समझता है[8] वह 'अविनीत' कहलाता है। |
| ४. जहा सुणी पूइकण्णी<br>निक्कसिज्जइ सव्वसो।<br>एवं दुस्सील पडिणीए<br>मुहरी निक्कसिज्जई।। | *यथा शुनी पूतिकर्णी*<br>*निष्काश्यते सर्वशः।*<br>*एवं दुःशीलः प्रत्यनीकः*<br>*मुखरो निष्काश्यते।।* | जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया सभी स्थानों से निकाली जाती है,[9] वैसे ही दुःशील,[10] गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाला और वाचाल भिक्षु[11] गण से निकाल दिया जाता है। |
| ५. कणकुण्डगं चइत्ताणं<br>विट्ठं भुंजइ सूयरे।<br>एवं सीलं चइत्ताणं<br>दुस्सीले रमई मिए।। | *कणकुण्डगं त्यक्त्वा*<br>*विष्ठां भुंक्ते शूकरः।*<br>*एवं शीलं त्यक्त्वा*<br>*दुःशीले रमते मृगः।।* | जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसी को[12] छोड़कर विष्ठा खाता है, वैसे ही अज्ञानी[13] भिक्षु शील को[14] छोड़कर दुःशील में रमण करता है। |
| ६. सुणियाऽभावं साणस्स<br>सूयरस्स नरस्स य।<br>विणए ठवेज्ज अप्पाणं<br>इच्छन्तो हियमप्पणो।। | *श्रुत्वा अभावं शुनः*<br>*शूकरस्य नरस्य च।*<br>*विनये स्थापयेदात्मानम्*<br>*इच्छन् हितमात्मनः।।* | अपनी आत्मा का हित[15] चाहने वाला भिक्षु कुतिया और सूअर की तरह दुःशील मनुष्य के अभाव (हीनभाव) को सुनकर[16] अपने आप को विनय में स्थापित करे। |
| ७. तम्हा विणयमेसेज्जा<br>सीलं पडिलभे जओ।<br>बुद्धपुत्त नियागट्ठी<br>न निक्कसिज्जइ कण्हुई।। | *तस्माद् विनयमेषयेत्*<br>*शीलं प्रतिलभेत यतः।*<br>*बुद्धपुत्रो नियागार्थी*<br>*न निष्काश्यते क्वचित्।।* | इसलिए विनय का आचरण करे कि जिससे शील की प्राप्ति हो। जो बुद्धपुत्र (आचार्य का प्रिय शिष्य) और मोक्ष का अर्थी[17] होता है, वह कहीं से भी नहीं निकाला जाता। |
| ८. निसन्ते सियाऽमुहरी<br>बुद्धाणं अन्तिए सया।<br>अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा<br>निरट्ठाणि उ वज्जए।। | *निशान्तः स्यादमुखरः*<br>*बुद्धानामन्तिके सदा।*<br>*अर्थयुक्तानि शिक्षेत*<br>*निरर्थानि तु वर्जयेत्।।* | भिक्षु आचार्य के समीप सदा प्रशान्त रहे, वाचालता न करे। उनके पास अर्थयुक्त पदों को सीखे और निरर्थक पदों का वर्जन करे।[18] |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. अणुसासिओ न कुप्पेज्जा
खंतिं सेविज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं
हासं कीडं च वज्जए।।

*अनुशिष्टो न कुप्येत्*
*क्षांतिं सेवेत पण्डितः।*
*क्षुद्रैः सह संसर्गं*
*हासं क्रीडां च वर्जयेत्।*

पण्डित भिक्षु गुरु के द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करे, क्षमा की आराधना करे। क्षुद्र व्यक्तियों के साथ संसर्ग, हास्य और क्रीड़ा[१६] न करे।

१०. मा य चण्डालियं कासी
बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता
तओ झाएज्ज एगगो।।

*मा च चाण्डालिकं कार्षीत्*
*बहुकं मा चालपेत्*
*कालेन चाधीत्य*
*ततो ध्यायेदेककः।।*

भिक्षु चण्डालोचित कर्म[२०] (क्रूर-व्यवहार) न करे। बहुत न बोले। स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करे और उसके पश्चात् अकेला ध्यान करे।[२१]

११. आहच्च[1] चण्डालियं कट्टु
न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं कडे त्ति भासेज्जा
अकडं नो कडे त्ति य।।

*'आहच्च' चाण्डालिकं कृत्वा*
*न निन्हुवीत कदाचिदपि।*
*कृतं कृतमिति भाषेत*
*अकृतं नो कृतमिति च।।*

भिक्षु सहसा चण्डालोचित कर्म कर उसे कभी भी न छिपाए। अकरणीय किया हो तो 'किया' और नहीं किया हो तो 'न किया' कहे।

१२. मा गलियस्से व कसं
वयणमिच्छे पुणो-पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे
पावगं परिवज्जए।।

*मा गल्यश्व इव कशं*
*वचनमिच्छेद् पुनः पुनः।*
*कशमिव दृष्ट्वा आकीर्णः*
*पापकं परिवर्जयेत्।।*

जैसे अविनीत घोड़ा[२२] चाबुक को बार-बार चाहता है, वैसे विनीत शिष्य गुरु के वचन (आदेश-उपदेश) को बार-बार न चाहे। जैसे विनीत घोड़ा चाबुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड़ देता है, वैसे ही विनीत शिष्य गुरु के इंगित और आकार को देखकर अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ दे[२३]।

१३. अणासवा थूलवया कुसीला
मिउं पि चण्डं पकरेंति सीसा।
चित्ताणुया लहुदक्खोववेया
पसायए ते हु दुरासयं पि।।

*अनाश्रवाः स्थूलवचसः कुशीलाः*
*मृदुमपि चण्डं प्रकुर्वन्ति शिष्याः।*
*चित्तानुगा लघुदाक्ष्योपेताः*
*प्रसादयेयुस्ते 'हु' दुराशयमपि।।*

आज्ञा को न मानने वाले और अंट-संट बोलने वाले कुशील शिष्य कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं। चित्त के अनुसार चलने वाले और पटुता से कार्य को सम्पन्न करने वाले शिष्य[२४] दुराशय[२५] गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

१४. नापुट्ठो वागरे किंचि
पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा
धारेज्जा पियमप्पियं।।

*नापृष्टो व्यागृणीयात् किञ्चित्*
*पृष्टो वा नालीकं वदेत्।*
*क्रोधमसत्यं कुर्वीत*
*धारयेत् प्रियमप्रियम्।।*

बिना पूछे कुछ भी न बोले।[२६] पूछने पर असत्य न बोले। क्रोध आ जाए तो उसे विफल कर दे।[२७] प्रिय और अप्रिय को धारण करे—राग और द्वेष न करे।[२८]

१५. अप्पा चेव दमेयव्वो
अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ
अस्सिं लोए परत्थ य।।

*आत्मा चैव दान्तव्यः*
*आत्मा 'हु' खलु दुदर्मः।*
*आत्मा दान्तः सुखी भवति*
*अस्मिल्लोके परत्र च।।*

आत्मा का ही दमन करना चाहिए[२९], क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है। दमित आत्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

१६. वरं मे अप्पा दन्तो
संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मन्तो
बन्धणेहि वहेहि य।।

*वरं मम आत्मा दान्तः*
*संयमेन तपसा च।*
*माहं परैर्दम्यमानः*
*बन्धनैर्वधैश्च।।*

अच्छा यही है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूं।[३०] दूसरे लोग बंधन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नहीं है।

---

१. बृहद्वृत्ति (पत्र ८) में इसका संस्कृत रूप 'आहत्य' और अर्थ कदाचित् किया गया है। चूर्णि (पृ. २६) में कदाचित् और सहसा—दो अर्थ प्राप्त हैं। पिशेल ने इसे अर्धमागधी का शब्द मानकर संस्कृत रूप में 'अहत्य' दिया है। देशीनाममाला (१।६२) में इसका अर्थ 'अत्यर्थ' मिलता है। शौरसेनी में यह शब्द 'आहणिअ' के रूप में मिलता है। प्रस्तुत प्रकरण में 'सहसा' अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७.पडिणीयं च बुद्धाणं
वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से
नेव कुज्जा कयाइ वि।।

*प्रत्यनीकत्वं च बुद्धानां*
*वाचा अथवा कर्मणा।*
*आविर्वा यदि वा रहस्ये*
*नैव कुर्यात् कदाचिदपि।।*

लोगों के समक्ष या एकान्त में, वचन से या कर्म से, कभी भी आचार्य के प्रतिकूल वर्तन न करे।[३१]

१८.न पक्खओ न पुरओ
नेव किच्चाण पिट्ठओ
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं
सयणे नो पडिस्सुणे।।

*न पक्षतो न पुरतः*
*नैव कृत्यानां पृष्ठतः।*
*न युञ्ज्याद् ऊरुणोरुं*
*शयने नो प्रतिशृणुयात्।।*

आचार्यों के[३२] बराबर न बैठे। आगे और पीछे भी न बैठे। उनके ऊरु से अपना ऊरु सटाकर न बैठे। बिछौने पर बैठे-बैठे ही उनके आदेश को स्वीकार न करे, किन्तु उसे छोड़कर स्वीकार करे।[३३]

१९.नेव पल्हत्थियं कुज्जा
पक्खपिण्डं व संजए।
पाए पसारिए वावि
न चिट्ठे गुरुणन्तिए।।

*नैव पर्यस्तिकां कुर्यात्*
*पक्षपिण्डं वा संयतः।*
*पादौ प्रसार्य्य वापि*
*न तिष्ठेद् गुरूणामन्तिके।।*

संयमी मुनि गुरु के समीप पलथी लगाकर (घुटनों और जंघाओं के चारों ओर वस्त्र बांधकर) न बैठे। पक्ष-पिण्ड कर (दोनों हाथों से घुटनों और साथल को[३४] बांधकर) तथा पैरों को फैलाकर न बैठे।

२०.आयरिएहिं वाहिन्तो
तुसिणीओ न कयाइ वि।
पसायपेही नियागट्ठी
उवचिट्ठे गुरुं सया।।

*आचार्यैर्व्याहृतः*
*तूष्णीको न कदाचिदपि।*
*प्रसादप्रेक्षी नियागार्थी*
*उपतिष्ठेत गुरुं सदा।।*

आचार्यों के द्वारा बुलाए जाने पर[३५] किसी भी अवस्था में मौन न रहे। गुरु के प्रसाद को चाहने वाला मोक्षाभिलाषी शिष्य सदा उनके समीप रहे।[३६]

२१.आलवंते लवंते वा
न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो
जओ जत्तं पडिस्सुणे।।

*आलपन् लपन् वा*
*न निषीदेत् कदाचिदपि।*
*त्यक्त्वा आसनं धीरः*
*यतो यत्नं प्रतिशृणुयात्।।*

धृतिमान् शिष्य गुरु के साथ आलाप करते और प्रश्न पूछते[३७] समय कभी भी बैठा न रहे, किन्तु वे जो आदेश दें, उसे आसन को छोड़कर संयतमुद्रा में यत्नपूर्वक स्वीकार करे।

२२.आसणगओ न पुच्छेज्जा
नेव सेज्जागओ कया।
आगम्मुक्कुडुओ संतो
पुच्छेज्जा पंजलीउडो।।

*आसनगतो न पृच्छेत्*
*नैव शय्यागतः कदा।*
*आगम्योत्कुटुकः सन्*
*पृच्छेत् प्रांजलिपुटः।।*

आसन पर अथवा शय्या पर बैठा-बैठा कभी भी गुरु से कोई बात न पूछे। उनके समीप आकर ऊकडू बैठ[३८], हाथ जोड़कर पूछे।

२३.एवं विणयजुत्तस्स
सुत्तं अत्थं च तदुभयं।
पुच्छमाणस्स सीसस्स
वागरेज्ज जहासुयं।।

*एवं विनययुक्तस्य*
*सूत्रमर्थं च तदुभयम्।*
*पृच्छतः शिष्यस्य*
*व्यागृणीयाद् यथाश्रुतम्।।*

इस प्रकार जो शिष्य विनय-युक्त हो[३९], उसके पूछने पर गुरु सूत्र, अर्थ और तदुभय[४०] (सूत्र और अर्थ दोनों) जैसे सुने हों, जाने हुए हों, वैसे बताए।

२४.मुसं परिहरे भिक्खू
न य ओहारिणिं वए।
भासादोसं परिहरे
मायं च वज्जए सया।।

*मृषा परिहरेद् भिक्षुः*
*न चावधारिणीं वदेत्।*
*भाषादोषं परिहरेत्*
*मायां च वर्जयेत् सदा।।*

भिक्षु असत्य का परिहार करे। निश्चयकारिणी भाषा न बोले। भाषा के दोषों को छोड़े। माया का सदा वर्जन करे।[४१]

२५.न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं
न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा
उभयस्संतरेण वा।।

*न लपेत् पृष्टः सावद्यं*
*न निरर्थं न मर्मकम्।*
*आत्मार्थं परार्थं वा*
*उभयस्यान्तरेण वा।।*

किसी के पूछने पर भी अपने, पराए या दोनों के प्रयोजन के लिए अथवा अकारण ही[४२] सावद्य न बोले, निरर्थक[४३] न बोले और मर्मभेदी वचन[४४] न बोले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६.समरेसु अगारेसु
सन्धीसु य महापहे।
एगो एगित्थिए सद्धिं
नेव चिट्ठे न संलवे।।

*स्मरेषु अगारेषु*
*सन्धिषु च महापथे।*
*एक एकस्त्रिया सार्धं*
*नैव तिष्ठेन्न संलपेत्।।*

कामदेव के मंदिरों में, घरों में, दो घरों के बीच की संधियों में[५५] और राजमार्ग में अकेला मुनि अकेली स्त्री के साथ न खड़ा रहे और न संलाप करे।

२७.जं मे बुद्धाणुसासंति
सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए
पयओ तं पडिस्सुणे।।

*यन्मां बुद्धा अनुशासति*
*शीतेन परुषेण वा।*
*मम लाभ इति प्रेक्ष्य*
*प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात्।।*

आचार्य मुझ पर कोमल या कठोर वचनों[५६] से जो अनुशासन करते हैं वह मेरे लाभ के लिए है—ऐसा सोचकर, जागरूकता पूर्वक उनके वचनों को स्वीकार करे।

२८.अणुसासणमोवायं
दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मन्नए पण्णो
वेसं होइ असाहुणो।।

*अनुशासनमौपायं*
*दुष्कृतस्य च चोदनम्।*
*हितं तन्मन्यते प्राज्ञः*
*द्वेष्यं भवत्यसाधोः।।*

मृदु या कठोर वचनों से किया जाने वाला अनुशासन हित-साधन का उपाय और दुष्कृत का निवारक होता है। प्रज्ञावान् मुनि उसे हित मानता है। वही असाधु के लिए द्वेष का हेतु[५७] बन जाता है।

२९.हियं विगयभया बुद्धा
फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं
खंतितसोहिकरं पयं।।

*हितं विगतभया बुद्धाः*
*परुषमप्यनुशासनम्।*
*द्वेष्यं तद् भवति मूढानां*
*क्षान्तिशोधिकरं पदम्।।*

भयमुक्त[५८] बुद्धिमान् शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं। परन्तु मोहग्रस्त व्यक्तियों के लिए वही—सहिष्णुता और चित्तविशुद्धि करने वाला, गुणवृद्धि का आधारभूत—अनुशासन द्वेष का हेतु बन जाता है।

३०.आसणे उवचिट्ठेज्जा
अणुच्चे अकुए थिरे।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई
निसीएज्जप्पकुक्कुए।।

*आसने उपतिष्ठेत*
*अनुच्चे अकुचे स्थिरे।*
*अल्पोत्थायी निरुत्थायी*
*निषीदेदल्पकुक्कुचः।।*

जो गुरु के आसन से नीचा हो, अकम्पमान हो और स्थिर हो (जिसके पाये धरती पर टिके हुए हों), वैसे आसन पर बैठे प्रयोजन होने पर भी बार-बार न उठे और प्रयोजन के बिना तो उठे ही नहीं। बैठे तब स्थिर एवं शांत होकर बैठे, हाथ-पैर आदि से चपलता न करे।[५९]

३१.कालेण निक्खमे भिक्खू
कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता
काले कालं समायरे।।

*काले निष्क्रामेद् भिक्षुः*
*काले च प्रतिक्रामेत्।*
*अकालं च विवर्ज्य*
*काले कालं समाचरेत्।।*

समय पर भिक्षा के लिए निकले, समय पर लौट आए। अकाल को वर्जनकर, जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे।[६०]

३२.परिवाडिए न चिट्ठेज्जा
भिक्खू दत्तेसणं चरे।
पडिरूवेण एसित्ता
मियं कालेण भक्खए।।

*परिपाट्यां न तिष्ठेत्*
*भिक्षुर्दत्तैषणां चरेत्।*
*प्रतिरूपेणैषयित्वा*
*मितं काले भक्षयेत्।।*

भिक्षु परिपाटी (पंक्ति) में खड़ा न रहे।[६१] गृहस्थ के द्वारा दिए हुए आहार की एषणा करे। प्रतिरूप (मुनि के वेष) में[६२] एषणा कर यथासमय मित आहार करे।

३३.नाइदूरमणासन्ने
नन्नेसिं चक्खुफासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा
लंघिया तं नइक्कमे।।

*नातिदूरेऽनासन्ने*
*नान्येषां चक्षुः स्पर्शतः।*
*एकस्तिष्ठेद् भक्तार्थः*
*लङ्घयित्वा तं नातिक्रामेत्।*

पहले से ही अन्य भिक्षु खड़े हों तो उनसे अति दूर या अति समीप खड़ा न रहे और देने वाले गृहस्थों की दृष्टि के सामने भी न रहे। किन्तु अकेला (भिक्षुओं और दाता दोनों की दृष्टि से बचकर) खड़ा रहे। भिक्षुओं को लांघकर भक्त लेने के लिए न जाए।[६३]

३४.नाइउच्चे व नीए वा
नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिण्डं
पडिगाहेज्ज संजए।।

*नात्युच्चे वा नीचे वा*
*नासन्ने नातिदूरतः।*
*प्रासुकं (स्पर्शुकं) परकृतं पिण्डं*
*प्रतिगृह्णीयात् संयतः।।*

संयमी मुनि प्रासुक और गृहस्थ के लिए बना हुआ आहार ले किन्तु अति ऊंचे या अति नीचे स्थान से लाया हुआ तथा अति समीप या अति दूर से दिया जाता हुआ आहार न ले[६४]।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५.अप्पपाणेऽप्पबीयंमि
पडिच्छन्नंमि संवुडे।
समयं संजए भुंजे
जयं अपरिसाडयं।।

*अल्पप्राणेऽल्पबीजे*
*प्रतिच्छन्ने संवृते।*
*समकं संयतो भुंजीत*
*यतमपरिसाटयन्।।*

संयमी मुनि प्राणी और बीज रहित,[५५] ऊपर से ढके हुए और पार्श्व में भित्ति आदि से संवृत[५६] उपाश्रय में अपने सहधर्मी मुनियों के साथ, भूमि पर न गिराता हुआ, यत्नपूर्वक आहार करे।[५७]

३६.सुकडे त्ति सुपक्के त्ति
सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति
सावज्जं वज्जए मुणी।।

*सुकृतमिति सुपक्वमिति*
*सुच्छिन्नं सुहृतं मृतम्।*
*सुनिष्ठित सुलष्टमिति*
*सावद्यं वर्जयेन्मुनिः।।*

बहुत अच्छा किया है (भोजन आदि), बहुत अच्छा पकाया है (घेवर आदि), बहुत अच्छा छेदा है (पत्ती का साग आदि), बहुत अच्छा हरण किया है (साग की कड़वाहट आदि), बहुत अच्छा मरा है (चूरमे में घी आदि), बहुत अच्छा रस निष्पन्न हुआ है, (जलेबी आदि में) बहुत इष्ट है—मुनि इन सावद्य वचनों का प्रयोग न करे।[५८]

३७.रमए पण्डिए सासं
हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो
गलियस्सं व वाहए।।

*रमते पण्डितान् शासत्*
*हयं भद्रमिव वाहकः।*
*बालं श्राम्यति शासत्*
*गल्यश्वमिव वाहकः।।*

जैसे उत्तम घोड़े को हांकते हुए उसका वाहक आनन्द पाता है, वैसे ही पंडित (विनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु आनन्द पाता है। जैसे दुष्ट घोड़े को हांकते हुए उसका वाहक खिन्न होता है, वैसे ही बाल (अविनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु खिन्न होता है।[५९]

३८.खड्डुया मे चवेडा मे
अक्कोसा य वहा य मे।
कल्लाणमणुसासन्तो
पावदिट्ठि त्ति मन्नई।।

*'खड्डुया' मे चपेटा मे*
*आक्रोशाश्च वधाश्च मे।*
*कल्याणमनुशास्यमानः*
*पापदृष्टिरिति मन्यते।।*

पाप-दृष्टि वाला शिष्य गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को भी ठोकर मारने, चांटा चिपकाने, गाली देने व प्रहार करने के समान मानता है।[६०]

३९.पुत्तो मे भाय नाइ त्ति
साहू कल्लाण मन्नई।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं
सासं दासं व मन्नई।।

*पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति*
*साधुः कल्याणं मन्यते।*
*पापदृष्टिस्त्वात्मानं*
*शास्यमानं दासमिव मन्यते।।*

गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्वजन की तरह अपना समझ कर शिक्षा देते हैं—ऐसा सोच विनीत शिष्य उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानता है, परन्तु कुशिष्य हितानुशासन से शासित होने पर अपने को दास तुल्य मानता है।[६१]

४०.न कोवए आयरियं
अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया
न सिया तोत्तगवेसए।।

*न कोपयेदाचार्यं*
*आत्मानमपि न कोपयेत्।*
*बुद्धोपघाती न स्यात्*
*न स्यात् तोत्रगवेषकः।।*

शिष्य आचार्य को कुपित न करे। स्वयं भी कुपित न हो। आचार्य का उपघात करनेवाला न हो।[६२] उनका छिद्रान्वेषी[६३] न हो।

४१.आयरियं कुवियं नच्चा
पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलिउडो
वएज्ज न पुणो त्ति य।।

*आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा*
*प्रातीतिकेन प्रसादयेत्।*
*विध्यापयेत् प्रांजलिपुटः*
*वदेन्न पुनरिति च।।*

आचार्य को कुपित हुए[६४] जानकर विनीत शिष्य प्रतीतिकारक (या प्रीतिकारक) वचनों से उन्हें प्रसन्न करे। हाथ जोड़कर[६५] उन्हें शांत करे और यों कहे कि "मैं पुनः ऐसा नहीं करूंगा।"

४२.धम्मज्जियं च ववहारं
बुद्धेहारियं सया।
तमायरंतो ववहारं
गरहं नाभिगच्छई।।

*धर्मार्जितं च व्यवहारं*
*बुद्धैराचरितं सदा।*
*तमाचरन् व्यवहारं*
*गर्हां नाभिगच्छति।।*

जो व्यवहार धर्म[६६] से अर्जित हुआ है, जिसका तत्त्वज्ञ आचार्यों ने सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ मुनि कहीं भी गर्हा को प्राप्त नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४३.मणोगयं वक्कगयं
जाणित्तायरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए
कम्मुणा उववायए।।

*मनोगतं वाक्यगतं*
*ज्ञात्वा आचार्यस्य तु।*
*तत् परिगृह्य वाचा*
*कर्मणोपपादयेत्।।*

आचार्य के मनोगत और वाक्यगत भावों को जानकर, उनको वाणी से ग्रहण करे और कार्यरूप में परिणत करे।

४४.वित्ते अचोइए निच्चं
खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं
किच्चाइं कुव्वई सया।।

*वित्तोऽचोदितो नित्यं*
*क्षिप्रं भवति सुचोदितः।*
*यथोपदिष्टं सुकृतं*
*कृत्यानि करोति सदा।।*

जो विनय से प्रख्यात होता है वह सदा बिना प्रेरणा दिए ही कार्य करने में प्रवृत्त होता है। वह अच्छे प्रेरक गुरु की प्रेरणा पाकर तुरन्त ही उनके उपदेशानुसार भलीभांति कार्य[६७] सम्पन्न कर लेता है।

४५.नच्चा नमइ मेहावी
लोए कित्ती से जायए।
हवई किच्चाणं सरणं
भूयाणं जगई जहा।।

*ज्ञात्वा नमति मेधावी*
*लोके कीर्तिस्तस्य जायते।*
*भवति कृत्यानां शरणं*
*भूतानां जगती यथा।।*

मेधावी मुनि उक्त विनय-पद्धति को जानकर उसे क्रियान्वित करने में तत्पर हो जाता है। उसकी लोक में कीर्ति होती है। जिसे प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार वह आचार्यों के लिए आधारभूत बन जाता है।

४६.पुज्जा जस्स पसीयन्ति
संबुद्धा पव्वसंथुया।
पसन्ना लाभइस्सन्ति
विउलं अट्ठियं सुयं।।

*पूज्या यस्य प्रसीदन्ति*
*सम्बुद्धाः पूर्वसंस्तुताः।*
*प्रसन्न लाभयिष्यन्ति*
*विपुलमार्थिकं श्रुतम्।।*

उस पर तत्त्ववित् पूज्य आचार्य प्रसन्न होते हैं।[६८] अध्ययन काल से पूर्व ही वे उसके विनय समाचरण से परिचित होते हैं। वे प्रसन्न होकर[६९] उसे मोक्ष के हेतुभूत[७०] विपुल श्रुतज्ञान का लाभ करवाते हैं।

४७.स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए
मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया।
तवोसमायारिसमाहिसंवुडे
महज्जुई पंचवयाइं पालिया।।

*स पूज्यशास्त्रः सुविनीतसंशयः*
*मनोरुचिस्तिष्ठति कर्मसम्पदा।*
*तपःसामाचारीसमाधिसंवृतः*
*महाद्युतिः पंच व्रतानि पालयित्वा।।*

वह पूज्य-शास्त्र[७१] होता है—उसके शास्त्रीय ज्ञान का बहुत सम्मान होता है। उसके सारे संशय मिट जाते हैं।[७२] वह गुरु के मन को भाता है। वह कर्म-सम्पदा (दस विध सामाचारी) से सम्पन्न[७३] होकर रहता है। वह तपःसामाचारी और समाधि से संवृत होता है। वह पांच महाव्रतों का पालन कर महान् तेजस्वी हो जाता है।[७४]

४८.स देवगन्धव्वमणुस्सपूइए
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए
देवे वा अप्परए महिड्ढिए।।

*स गन्धर्वमनुष्यपूजितः*
*त्यक्त्वा देहं मलपङ्कपूर्वकम्।*
*सिद्धो वा भवति शाश्वतः*
*देवो वा अल्परजा महर्द्धिकः।।*

देव, गन्धर्व और मनुष्यों से पूजित वह विनीत शिष्य मल और पंक से बने हुए शरीर को त्यागकर या तो शाश्वत सिद्ध होता है या अल्पकर्मवाला महर्द्धिक देव होता है।[७५]

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण

# अध्ययन १: विनयश्रुत

### १. (संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो)

संयोग का अर्थ है—संबंध। वह दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यान्तर। माता-पिता आदि का पारिवारिक सम्बन्ध 'बाह्य संयोग' है और विषय, कषाय आदि का संबंध 'आभ्यन्तरिक संयोग' है। भिक्षु को इन दोनों संयोगों से मुक्त होना चाहिए।[1]

वृक्ष चलते नहीं, इसीलिए उन्हें 'अग' कहा जाता है। प्राचीन काल में प्रायः घर वृक्ष की लकड़ी (काठ) से बनाए जाते थे, इसलिए घर का नाम 'अगार' हुआ। जिसके 'अगार' नहीं होता, वह 'अनगार' है।[2]

प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ की दृष्टि से 'अनगार और भिक्षु' दोनों शब्द एकार्थवाची हैं। शान्त्याचार्य ने बताया है कि यहां 'अनगार' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ लेना चाहिए, अन्यथा दो शब्दों की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। 'अगार' का अर्थ है 'घर'। जिसके 'घर' न हो वह 'अनगार' कहलाता है।[3]

नेमिचंद्र के अनुसार भिक्षु दूसरों के बने हुए घरों में रहते हुए भी उन पर ममत्व नहीं करता, इसलिए वह 'अनगार' है।[4]

शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'अणगार' और 'अस्सभिक्खु' ऐसा पदच्छेद किया है। जो भिक्षा लेने के लिए जाति, कुल आदि जता कर दूसरों को आत्मीय न बनाए, उसे 'अ-स्वभिक्षु' (मुधाजीवी) कहा जाता है।[5]

संयोगों से विप्रमुक्त, अनगार और भिक्षु—ये तीनों शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। इन तीनों का पौर्वापर्य सम्बन्ध है। जो व्यक्ति सभी प्रकार के संयोगों से विप्रमुक्त होता है, उसके लिए सामाजिक जीवन की समाप्ति हो जाती है। समाज का अर्थ है—संबंध चेतना का विकास। मुनि सामाजिक नहीं होता। वह किसी भी प्रकार से संबद्ध नहीं होता। वह संबंधातीत जीवन जीता है। यह मुनि बनने की प्रथम भूमिका है। जो सम्बन्ध-मुक्त होता है, वह अकिंचन होता है। उसका अपना घर भी नहीं होता। वह अनगार होता है। फिर प्रश्न होता है कि जब व्यक्ति संबंधातीत हो चुका होता है, जिसके कोई घर नहीं है, तो उसकी आजीविका कैसे चलती है? इसके उत्तर में कहा गया है कि वह भिक्षाचारी हो, भिक्षा से अपना जीवन निर्वाह करे।

इस प्रकार ये तीनों शब्द एक ही शृंखला में शृंखलित हैं। एक शब्द में कहा जा सकता है कि जो सम्बन्धातीत जीवन जीता है, उसके पास अपना कुछ भी नहीं होता, घर भी नहीं होता, किन्तु वह सम्पूर्ण विश्व को सम्पदा का सहज स्वामी बन जाता है।

*'अकिञ्चनोऽहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।*
*योगिगम्यमिदं तथ्यं, रहस्यं परमात्मनः।।'*

### २. विनय को (विणयं)

शान्त्याचार्य ने इसके संस्कृत रूप दो किए हैं—विनय और विनत। विनय का अर्थ है—आचार और विनत का अर्थ है—नम्रता।[6]

सुदर्शन सेठ ने थावच्चापुत्र से पूछा—"भंते! आपके धर्म का मूल क्या है?" थावच्चापुत्र ने कहा—"सुदर्शन! हमारे धर्म का मूल—विनय है। वह दो प्रकार का है—अगारविनय और अनगारविनय। बारह व्रत और ग्यारह उपासक प्रतिमाएं—यह अगारविनय' है और पांच महाव्रत, छठा रात्रिभोजन-विरमण व्रत, अठारह पापों का विरमण, दस प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु प्रतिमाएं—यह 'अनगारविनय' है।[7]

औपपातिक में विनय के सात प्रकार बताए हैं—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चरित्रविनय, मनविनय, वचनविनय, कायविनय और लोकोपचारविनय।[8] प्रस्तुत अध्ययन में विनय के दोनों अर्थों—आचार और नम्रता पर प्रकाश डाला गया है।

---

१. सुखबोधा, पत्र १ : 'संयोगात्' संबन्धाद् बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नात्, तत्र मात्रादिविषयाद् बाह्यात्, कषायादिविषयाच्चान्तरात्।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २६ : 'न गच्छंतीत्यगा—वृक्षा इत्यर्थः, अगैः कृतमगारं गृहमित्यर्थः, नास्य अगारं विद्यत इत्यनगारः।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र १६ : 'अनगारस्ये' ति अविद्यमानमगारमस्येत्यनगार इति व्युत्पन्नोऽनगारशब्दो गृह्यते, यस्त्वव्युत्पन्नो रूढिशब्दो यतिवाचकः, यथोक्तम्—
अनगारो मुनिर्मौनी, साधुः प्रव्रजितो व्रती।
श्रमणः क्षपणश्चैव, यतिश्चैकार्थवाचकाः।।
इति, स इह न गृह्यते, भिक्षुशब्देनैव तदर्थस्य गतत्वात्।

४. सुखबोधा, पत्र १, : 'अनगारस्य' परकृतगृहनिवासित्वात् तत्राऽपि ममत्वमुक्तत्वात् संगरहितस्य।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र १६ : अथवा—'अणगारस्सभिक्खुणो' त्ति अस्वेषु भिक्षुरस्वभिक्षु—जात्याद्यनाजीवनादनात्मीकृतत्वेनानात्मीयानेव गृहिणोऽन्नादि भिक्षत इति कृत्वा स च यतिरेव, ततोऽनगारश्चासावस्वभिक्षुश्च अनगारास्वभिक्षुः।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र १६ : विशिष्टो विविधो वा नयो—नीतिर्विनयः साधुजनासेवितः समाचारस्तं, विनमनं वा विनतम्।

७. नायाधम्मकहाओ, १।५। सूत्र ६१।

८. ओवाइयं, सूत्र ४०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ३. जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है (आणानिद्देसकरे)

चूर्णि के अनुसार 'आज्ञा' और 'निर्देश' समान अर्थवाची हैं। वैकल्पिक रूप में वहां आज्ञा का—अर्थ आगम का उपदेश और निर्देश का अर्थ—आगम से अविरुद्ध गुरु-वचन किया गया है।[1]

'शान्त्याचार्य ने आज्ञा का मुख्य अर्थ—आगमोक्त विधि और निर्देश का अर्थ—प्रतिपादन किया है। गौण रूप में आज्ञा का अर्थ—गुरुवचन और निर्देश का अर्थ—"मैं यह कार्य आपके अनुसार ही करूंगा"—इस प्रकार का निश्चयात्मक विचार प्रकट करना है।[2]

उनके सामने 'आणानिद्देसयरे' पाठ था। अतः उन्होंने 'यर' शब्द के 'कर' और 'तर' दोनों रूपों की व्याख्या की है—आज्ञा-निर्देश को करने वाला और आज्ञा-निर्देश के द्वारा संसार-समुद्र को तरने वाला। आगे लिखा है कि भगवद्वाणी के अनन्त पर्याय होने के कारण अनेक व्याख्या-भेद संभव हो सकते हैं। किन्तु मन्दमतियों के लिए यह व्यामोह का हेतु न बन जाए, इसलिए प्रत्येक सूत्र की व्याख्या में अनेक विकल्प करने का प्रयत्न नहीं किया है।[3]

### ४. शुश्रूषा करता है (उववायकारए)

चूर्णि में इसका अर्थ 'शुश्रूषा करने वाला'[4] और टीका में इसका अर्थ 'समीप रहने वाला'[5]—जहां बैठा हुआ गुरु को देखे और उनका शब्द सुन सके, वहां रहने वाला अर्थात् आदेश के भय से दूर न 'बैठने वाला' किया गया है। उपपात, निर्देश, आज्ञा और विनय इन्हें एकार्थक भी माना गया है।[6]

### ५. इंगित और आकार को (इंगियागार)

इंगित और आकार—ये दोनों शब्द शरीर की चेष्टाओं के वाचक हैं। किसी कार्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए शिर आदि को थोडा-सा हिलाना इंगित है। यह चेष्टा सूक्ष्म होती है। इसे निपुण-मति वाले लोग ही समझ सकते हैं।

आकार को स्थूल बुद्धिवाले लोग भी पकड़ सकते हैं। आसन को शिथिल करते हुए देख सहज ही यह जाना जा सकता है कि ये प्रस्थान करना चाहते हैं। इसी प्रकार दिशाओं को देखना, जम्भाई लेना और चादर ओढ़ना—ये सब प्रस्थान की सूचना देने वाले 'आकार' हैं।[7]

इंगित और आकार पर्यायवाची भी माने गए हैं।[8]

### ६. जानता है (संपन्ने)

चूर्णि और सुखबोधा में इसका अर्थ 'युक्त' और बृहद्वृत्ति में 'सम्प्रज्ञ' (जानने वाला) एवं 'युक्त'—दोनों अर्थ किए गए हैं। यहां बृहद्वृत्ति का सम्प्रज्ञ अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।[9]

### ७. गुरु की शुश्रूषा नहीं करता (अणुववायकारए)

अविनीत शिष्य का गुरु की उपासना में मन नहीं लगता। वह गुरु से मानसिक दूरी बनाए रखता है। उसके मन में सदा यह भाव बना रहता है कि यदि मैं गुरु की उपासना करूंगा तो उपालंभ देने का मौका अधिक मिलेगा। वह इस सत्य को विस्मृत कर देता है कि गुरु की प्रताड़ना में भी व्यक्ति का विकास एवं हित निहित है। नीति का यह प्रसिद्ध श्लोक इसी तथ्य को प्रतिध्वनित करता है—

*त्रीभिर्गुरूणां परुषाक्षराभिः, प्रताडिताः यान्ति नराः महत्त्वम्।*
*अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां, न जातु मौली मणयो वसन्ति।।*

### ८. (पडिणीए असंबुद्धे)

जो गुरु की आज्ञा के प्रतिकूल वर्तन करता है, गुरु के कथन का प्रतिवाद करता है और जो सदा गुरु के दोष देखता रहता है, वह प्रत्यनीक कहलाता है।

जो मुनि गुरु के इंगित और आकार का सम्यक् अवबोध नहीं करता, वह असंबुद्ध होता है।

यह श्लोक पूर्ववर्ती श्लोक का प्रतिपक्षी है। वृत्ति में

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २६ : आज्ञाप्यतेऽनया इति आज्ञा, निर्देशनं निर्देशः, आज्ञैव निर्देशः, अथवा आज्ञा—सूत्रोपदेशः, तथा निर्देशस्तु तदविरुद्धं गुरुवचनं, आज्ञानिर्देशं करोतीति आणाणिद्देसकरो।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४ : आङिति स्वस्वभावावस्थानात्मिकया मर्यादयाऽभिव्याप्त्या वा ज्ञायन्तेऽर्था अनयेत्याज्ञा—भगवदभिहितागमरूपा तस्या निर्देश—उत्सर्गापवादाभ्यां प्रतिपादनमाज्ञानिर्देशः, इदमित्थं विधेयमिदमित्थं वेत्येवमात्मकः तत्करणशीलस्तदनुलोमानुष्ठानो वा आज्ञानिर्देशकरः, यद्वाऽऽज्ञा—सौम्य! इदं कुरु इदं च मा कार्षीरिति गुरुवचनमेव, तस्या निर्देश—इदमित्थमेव करोमि इति निश्चयाभिधानं तत्करः।

३. वही, पत्र ४४ : आज्ञानिर्देशेन वा तरति भवाम्भोधिमित्याज्ञानिर्देशतर इत्यादयोऽनन्तगमपर्यायत्वाद् भगवद्वचनस्य व्याख्याभेदाः सम्भवन्तोऽपि मन्दमतीनां व्यामोहहेतुतया बालावबालादिबोधोत्पादनार्थत्वाच्चास्य प्रयासस्य न प्रतिसूत्रं प्रदर्शयिष्यन्ते।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २६ : उपपतनमुपपातः शुश्रूषाकरणमित्यर्थः।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४ : उप-समीपे पतनं-स्थानमुपपातः दृग्वचनविषयदेशावस्थानं तत्कारकः तदनुष्ठाता, न तु गुर्वादेशादिभीत्या तद्व्यवहितदेशस्थायीति यावत्।

६. व्यवहारभाष्य, ४/३५४ : उववाओ निद्देसो आणा विणओ य होंति एगट्ठा।

७. बृहद्वृत्ति पत्र ४४ : इंगित—निपुणमतिगम्यं प्रवृत्तिनिवृत्तिसूचकमीषद्भ्रूशिरःकम्पादि, आकारः स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादि भावाभिव्यंजको दिगवलोकनादिः आह च—
"अवलोयणं दिसाणं, वियंभणं साडयस्स संठवणं।
आसणसिढिलीकरणं, पट्टिटयलिंगाइं एयाइं।।"

८. (क) अभिधानप्पदीपिका, ७६४ : आकारो इंगितं इंगो
(ख) वही, ६८१ : आकारो कारणे वुत्तो, सण्ठाने इंगितेपि च।

९. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २७ : संपन्नवान् संपन्नः।
(ख) सुखबोधा पत्र १ : सम्पन्नः युक्तः।
(ग) बृहद्वृत्ति पत्र ४४ : सम्यक् प्रकर्षेण जानाति इंगिताकारसम्प्रज्ञः, यद्वा—इंगिताकाराभ्यां गुरुगतभावपरिज्ञानमेव कारणे कार्योपचारादिंगिताकारशब्देनोक्तं, तेन सम्पन्नो—युक्तः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यनीकता को समझाने के लिए 'कूलवालक श्रमण' की कथा दी है। वह इस प्रकार है—

एक आचार्य थे। उनका शिष्य अत्यंत अविनीत था। आचार्य यदाकदा उसे उपालम्भ देते और वह आचार्य पर द्वेषभाव रखता था। एक बार आचार्य उसको साथ ले सिद्धशेन की वंदना करने गए। वे वन्दन कर पर्वत से नीचे उतर रहे थे। आचार्य आगे थे। शिष्य पीछे-पीछे आ रहा था। उसके मन में द्वेष उभरा और उसने आचार्य को मारने के लिए एक शिलाखंड को नीचे लुढ़काया। आचार्य ने देखा। उन्होंने पैर पसार लिए। शिलाखंड पैरों के बीच से नीचे चला गया। अन्यथा वे मर जाते। शिष्य की इस जघन्यता से कुपित होकर उन्होंने शाप दिया—'दुष्ट! तेरा विनाश स्त्री के कारण होगा।' शिष्य ने सुना, आचार्य का वचन मिथ्या हो, इस दृष्टि से वह तापसों के एक आश्रम में रहने लगा। पास में एक नदी थी। वह नदी के घर में आतापना लेने लगा। जब कोई सार्थवाह उधर से निकलता तब उसे आहार उपलब्ध होता था। नदी के कूल पर आतापना लेने के प्रभाव से नदी ने अपना प्रवाह बदल दिया। उसका नाम हो गया—कूलवालय अर्थात् कूल को मोड़ देने वाला।

महाराज श्रेणिक का पुत्र कोणिक वैशाली नगरी को अपने अधीन करना चहता था। पर वह वैसा कर नहीं सका, क्योंकि वहां मुनिसुव्रत स्वामी का स्तूप था। कोणिक हताश हो गया। एक बार देववाणी हुई—'यदि श्रमण कूलवालक गणिका के वशवर्ती हो जाएं तो वैशाली नगरी को अधीनस्थ किया जा सकता है।' कोणिक ने गणिकाओं को बुलाया। एक गणिका ने इस कार्य को संपन्न करने की स्वीकृति दी। उसने कपट-श्राविका का रूप बनाया। सार्थ के साथ वह कूलवालक के पास गई और वन्दना कर बोली—'मेरा पति दिवंगत हो गया है। मैं तीर्थाटन करने निकली हूं। आपकी बात सुनी और मैं यहां आ गई। आप कृपा कर मेरे हाथ से दान लें।' उस दिन श्रमण के पारणक था। श्राविका ने औषधिमिश्रित मोदक दिए। श्रमण को अतिसार हो गया। औषधि के प्रयोग से श्रमण स्वस्थ हुआ। अनुराग बढ़ा। श्राविका प्रतिदिन मुनि का उद्वर्तन करती। मुनि का मन विचलित हो गया। वह श्रमण को ले कोणिक के पास आई। उससे सारी जानकारी प्राप्त कर कोणिक ने मुनिसुव्रत के स्तूप को ध्वस्त कर दिया और वैशाली नगरी पर अधिकार पा लिया।[1]

## ९. (जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो)

'पूर्ति' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) कानों में जब कृमि उत्पन्न हो जाते हैं तब उनसे दुर्गन्ध फूटने लगती है। (२) जब कानों में पीब पड़ जाती है तब भयंकर दुर्गन्ध आने लगती है। तात्पर्य में इसका अर्थ होगा—वह कुतिया जिसके शरीर के सारे अवयव सड़-गल गए हों।[2]

ऐसी कृतिया सभी स्थानों से निकाल दी जाती है। इसी प्रकार अविनीत सर्वत्र तिरस्कार का पात्र होता है। उसे कहीं भी सम्मान नहीं मिलता। आचार्य भिक्षु ने इसी श्लोक के मंतव्य को सरल अभिव्यक्ति दी है[3]—

*कुष्ठा काना री कूतरी, तिणरे झरै कीड़ा राध लोही रे।*
*सगले ठाम सूं काढे हुड हुड करे, घर में आवण न दे कोई रे।।*
*धिग धिग अविनीत आतमा।।*

चूर्णिकार और वृत्तिकार के अनुसार 'शुनी' शब्द का प्रयोग अत्यंत गर्हा एवं कुत्सा को व्यक्त करने के लिए किया गया है।[4]

सुश्रुत में 'पूतिकर्ण' को कान का रोग माना है, जिसमें पीब बहती है।[5]

'सव्वसो' शब्द के तीन अर्थ प्राप्त हैं—

१. सभी स्थानों से।[6]

२. सभी प्रकार से।[7]

३. सभी अवस्थाओं में।[8]

## १०. दुःशील (दुस्सील)

शील के तीन अर्थ हैं—स्वभाव, समाधि और आचार। जिसका शील राग-द्वेष तथा अन्यान्य दोषों से विकृत होता है वह दुःशील कहलाता है।[9]

आचार या चारित्र विनय के पर्यायवाची हैं। वे परस्पर जुड़े हुए हैं। विनय शील का ही एक अंग है। विनय की फलश्रुति है—चारित्र। जो अविनीत होता है, वह दुःशील होता है। दुःशील व्यक्ति विनाश को प्राप्त होता है। प्राचीन श्लोक है—

*वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमायाति याति च।*
*अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हतः।।*

---

१. सुखबोधा, पत्र २।

२. बृहद्वृत्ति पत्र ४५ : पूतिः—परिपाकतः कुथितगन्धौ कृमिकुलाकुलत्वाद् उपलक्षणमेतत्, तथाविधौ कर्णौ श्रुती यस्याः, पक्वरक्तं वा पूतिस्तद्व्याप्तौ कर्णौ यस्याः सा पूतिकर्णा, सकलावयवकुत्सोपलक्षणं चैतत्।

३. विनीत अविनीत की चौपई, ढाल २।१।

४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २७ : अथ शुनीग्रहणं शुनी गर्हिततरा, न तथा श्वा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५ : स्त्रीनिर्देशोऽत्यन्तकुत्सोपदर्शकः।

५. सुश्रुत १।२६०।१४।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५ : सव्वसो त्ति सर्वतः सर्वेभ्यो गोपुरगृहांगणादिभ्यः।

७. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २७ : सव्वसो सव्वपागारं।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २७ : सव्वसोत्ति....सर्वावस्थासु वा।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र पृ. ४५ : दुष्टमिति रागद्वेषादिदोषविकृतं शीलं स्वभावः समाधिराचारो वा यस्यासौ दुःशीलः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध साहित्य में मानसिक, वाचिक और कायिक अनाचार को दुःशील माना है।[1]

## ११. वाचाल भिक्षु (मुहरी)

अविनीत व्यक्ति वाचाल होता है। वाचालता से व्यक्ति की लघुता सामने आती है। नीति का प्रसिद्ध श्लोक है—

*मौखर्यं लाघवकरं, मौनमुन्नतिकारकम्।*
*मुखरी नूपुरो पादे, हारः कण्ठे विराजते।।*

वृत्तिकार ने 'मुहरी' शब्द के तीन संस्कृत रूप देकर, तीन भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं[2]—

१. मुखारि—जिसका मुंह ही अरि—शत्रु है अथवा जिसका मुंह (वचन) इहलोक और परलोक का अपकार करने वाला है।
२. मुधारि—असंबद्ध भाषा बोलने वाला।
३. मुखर—वाचाल।

## १२. चावलों की भूसी को (कणकुण्डगं)

चूर्णि और टीका में इसके दो अर्थ किए गए हैं—चावलों की भूसी अथवा चावलमिश्रित भूसी। चूर्णिकार ने इसे पुष्टिकारक तथा सूअर का प्रिय भोजन कहा है।[3]

श्रावक धर्म-विधि प्रकरण में एक कथा आई है, जिसका आशय है कि एक राजा को खाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। उसने विविध प्रकार के भोजन बनवाए। वह सब कुछ खा गया। यहां तक कि 'कण-कुण्डग', मंडक आदि भी खा गया। इस कथानक से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'कण-कुण्डग' चावलों का कुण्डा नहीं पर कोई खाद्य विशेष था।[4]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में कण-कुण्डक शब्द कई स्थानों में आया है (२।१५।५२,५६; २/२६/४३)। यहां कुण्डक का अर्थ—'लाल चूर्ण जो कि छिलके के अन्दर चावल से चिपटा रहता है'—किया है।[5] जातक में 'आचामकुण्डक' शब्द आया है। वहां आचाम का अर्थ 'चावल का मांड' है।[6] आयाम का अर्थ 'चावल से बना हुआ यूष' भी है।[7]

## १३. अज्ञानी (मिए)

मृग शब्द के दो अर्थ हैं—हरिण और पशु। प्रस्तुत प्रसंग में पशु की लाक्षणिक विवक्षा से इसका अर्थ है—अज्ञानी या विवेकहीन व्यक्ति। वृत्तिकार ने अविनीत अर्थ ग्रहण किया है।[8]

## १४. शील को (सीलं)

शील का अर्थ है—आचार अथवा संयम। मुनि का सम्पूर्ण आचार या संयम 'शील' शब्द से अभिहित होता है। प्रस्तुत प्रसंग में यह शब्द 'विनीत' शिष्य के आचार की ओर इंगित करता है। सूत्रकार के अनुसार विनीत के शील का स्वरूप यह है—

१. गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करना।
२. गुरु के उपपात में बैठना, गुरु की शुश्रूषा करना।
३. गुरु के इंगित और आकार को जानना।
४. गुरु के अनुकूल वर्तन करना।
५. वाचालता का वर्जन करना, अल्पभाषी होना।

बौद्ध साहित्य में शील, समाधि और प्रज्ञा—ये तीन शब्द बहुत प्रयुक्त हैं। शील का एक अर्थ है—कथनी और करनी की समानता।[9] इसका दूसरा अर्थ है—आचार—मन, वचन और काया की सम्यक् प्रवृत्ति।[10]

## १५. आत्मा का हित (हियमप्पणो)

आत्मा का ऐहिक और पारलौकिक हित विनय की आराधना से संभव है। आचार्य नेमिचंद्र ने इसकी पुष्टि में एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है[11]—

*'विणया णाणं णाणाओ दंसणं दंसणाओ चरणं च।*
*चरणाहिंतो मोक्खो, मोक्खे सोक्खं निराबाहं।।'*

विनय की आराधना से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र और चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष में निराबाध सुख उपलब्ध होता है।

## १६. अभाव (हीनभाव) को सुनकर (सुणियाऽभावं)

इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—'श्रुत्वा अभावं' तथा 'श्रुत्वा भावं'। अकार को 'सुणिया' से युक्त मानने पर संस्कृत रूप 'श्रुत्वा अभावं' बनता है, अन्यथा 'श्रुत्वा भावं'। भाव का अर्थ है—अवस्था या स्थिति।

## १७. बुद्धपुत्र (आचार्य का प्रिय शिष्य) और मोक्ष का अर्थी (बुद्धपुत्त नियागट्ठी)

आचार्य नेमिचंद्र के अनुसार 'बुद्धपुत्त' का अर्थ है—आचार्य आदि का प्रीतिपात्र शिष्य और 'नियागट्ठी' का अर्थ है—मोक्षाभिलाषी।[12]

चूर्णि और बृहद्वृत्ति में 'बुद्धउत्त' पाठ है। 'बुद्धउत्त' और 'नियागट्ठी' इन दोनों शब्दों को एक मानकर इसका संस्कृत रूप—'बुद्धोक्तनिजकार्थी'—तीर्थंकर आदि द्वारा उपदिष्ट ज्ञान

---

१. विसुद्धिमग्ग, भाग १, पृष्ठ ५५ : सब्बम्पि दुस्सील्यं अनाचारो।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५।
३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २७ : कणा नाम तंडुला कुंडगा कुक्कसाः; कणानां कुंडगाः, कणकुंडगाः, कणमिरसो वा कुंडकः कणकुंडक, सो य वुड्ढिकरो, सूयराणं प्रियश्च।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५ : कणाः—तन्दुलास्तेषां तन्मिश्रो वा कुण्डकः—तत्क्षोदनोत्पन्नकुक्कुसः कणकुण्डकस्तम्।
४. श्रावक-धर्मविधि प्रकरण, पत्र २४, २५।
५. The red powder which adheres to the rice under the husk. (Childers)
६. Jatak 254, gg/1-2 : Ācāma is scum of boiling rice.
७. Āyama, "A thin rice porridge" (Leumann Āupapatik S. S. Z.).
८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५ : मृग इव मृगः अज्ञत्वादविनीत इति प्रक्रमः।
९. विसुद्धिमग्ग, भाग १, पृ. १३ : सीलं ति सम्मावाचाकम्मन्ता।
१०. वही, पृ. १५ : सीले ति कुसलसीले।
११. सुखबोधा, पत्र ३।
१२. वही, पत्र ३, बुद्धानाम्—आचार्यादीनां पुत्र इव पुत्रो बुद्धपुत्रः—'पुत्ता य सीसा या समं विभत्ता' इतिवचनात्, स्वरूपविशेषणमेतत्, नियागार्थी मोक्षार्थी.....।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अभिलाषी किया गया है।[1] बृहद्वृत्ति में 'नियाग' का वैकल्पिक अर्थ मोक्ष किया है।[2]

बृहद्वृत्ति में ये दो पाठान्तर माने गए हैं[3]—

१. 'बुद्धवुत्त'—बुद्धव्युक्त अर्थात् आगम।

२. 'बुद्धपुत्त'—बुद्धपुत्र अर्थात् आचार्य आदि का प्रीतिपात्र शिष्य।

चूर्णिकार ने इस अध्ययन के बीसवें श्लोक में भी 'नियागट्ठी' का अर्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र का अर्थी किया है।[4]

आगम-साहित्य में 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलता है। इसका अर्थ है—आचार्य, तीर्थंकर, वीतराग, ज्ञानी, गुरु आदि-आदि। बौद्ध-साहित्य में इन अर्थों के साथ-साथ 'शाक्यपुत्र' के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है। महात्मा शाक्य मुनि को जब बोधि-लाभ हुआ तब वे बुद्ध कहलाए[5] और उनका दर्शन भी इसी नाम से अभिहित होने लगा। परन्तु महात्मा बुद्ध बोलते समय अपने लिए विशेषतः 'तथागत' शब्द का ही प्रयोग करते थे।

## १८. (निसन्ते...अट्ठजुत्ताणि...निरट्ठाणि)

निसन्ते—चूर्णि और वृत्ति के आधार पर इसके तीन अर्थ फलित होते हैं—[6]

(१) जिसका अन्तःकरण क्रोधयुक्त न हो।

(२) जिसका बाह्याकार प्रशान्त हो।

(३) जिसकी चेष्टाएं अत्यंत शांत हों।

अट्ठजुत्ताणि—इसके तीन अर्थ प्राप्त हैं—

(१) आगम-वचन[7]

(२) मोक्ष के उपाय[8]

(३) अर्थ सहित[9]

निरट्ठाणि—चूर्णिकार ने निरर्थक शब्द के तीन उदाहरण दिए हैं—

(१) भारत, रामायण आदि। ये लोकोत्तर अर्थ से शून्य हैं।

(२) दित्थ, दवित्थ, पाखंड आदि। ये अर्थ या निरुक्तशून्य शब्द हैं।

(३) स्त्री-कथा आदि।

ये मुनि के लिए अनर्थक या अप्रयोजनीय हैं।[10]

## १९. क्रीडा (कीडं)

इसका सामान्य अर्थ है—खेल-कूद, किलोल आदि। शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—अन्त्याक्षरी, प्रहेलिका आदि से उत्पन्न कुतूहल किया है।[11] चूर्णिकार ने विकल्प में दोनों शब्दों (हासं कीडं) का समुच्चयार्थ 'कीड़ापूर्वक हास्य' किया है।[12]

## २०. चण्डालोचित कर्म (क्रूर व्यवहार) (वण्डालियं)

चूर्णि में इसका मुख्य अर्थ क्रोध और अनृत किया है।[13] बृहद्वृत्ति में इसका मुख्य अर्थ क्रोध के वशीभूत हो अनृत भाषण करना और विकल्प में क्रूर कर्म किया है।[14] शान्त्याचार्य दूसरे विकल्प में 'मा अचण्डालियं' में अचण्ड को शिष्य का सम्बोधन मानकर 'अलीक' का अर्थ अनृत करते हैं।[15] नेमिचन्द्र ने केवल 'क्रोध के वशीभूत होकर अनृत भाषण करना' यही एक अर्थ माना है।[16] किन्तु चण्ड और अलीक—इन दो शब्दों को भिन्न मानने की अपेक्षा चाण्डालिक को एक शब्द मानना अधिक उपयुक्त है।

## २१. अकेला ध्यान करे (झाएज्ज एगगो)

इस शब्द से एक लौकिक प्रतिपत्ति का संकेत मिलता है कि ध्यान अकेला करे, अध्ययन दो व्यक्ति करें और ग्रामान्तर-गमन

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २८ : बुद्धैरुक्तं बुद्धोक्तं ज्ञानमित्यर्थः तदेव च नियाकं निजकमात्मीयं शेषं शरीरादि सर्वं परावयं।
(ख) बृहद्वृत्ति पत्र ४६ : बुद्धैः—अवगततत्त्वैस्तीर्थकरादिभिरुक्तम्—अभिहितं, तच्च तन्निजमेव निजकं च—ज्ञानादि तस्यैव बुद्धैरात्मीयत्वेन तत्त्वत उक्तत्वात्, बुद्धोक्तनिजकं, तदर्थयते अभिलषतीत्येवंशीलः बुद्धोक्तनिजकार्थी।

२. बृहद्वृत्ति पत्र ४६ : यद्वा.....नितरां यजनं यागः—पूजा यस्मिन् सोऽयं नियागो मोक्षः।

३. वही, पत्र ४६ : पठन्ति च—'बुद्धवुत्ते णियागट्ठि त्ति' बुद्धैः—उक्तरूपैर्व्युक्तो—विशेषेणाभिहितः, स च द्वादशांगरूप आगमस्तस्मिन् स्थित इति गम्यते, यद्वा—बुद्धानाम् आचार्यादीनां पुत्र इव पुत्रो बुद्धपुत्रः।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३५ : णियागं णिदागं नियागमित्यर्थः णाणातितियं वा णियगं आत्मीयमित्यर्थः सेसं सरीरादि सव्वं परायगं, णियाएण ऽट्ठो जस्स सो णियागट्ठी।

५. बुद्ध और बौद्ध साधक, पृ. १५।

६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २८ : अहियं शान्तो निशान्तः अक्रोधवानित्यर्थः, अत्यन्तशान्तचेष्टो वा।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३ : निशान्त नितरामुपशमवान् अन्तः क्रोधपरिहारेण बहिश्च प्रशान्तकारतया।

७. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २८ : अर्थयुक्तानि सूत्राण्युपदेशपदानि।
(ख) बृहद्वृत्ति पत्र, ४६, ४७ : अर्थते—गम्यत इति अर्थः,..... स च हेयउपादेयश्चोभयस्याप्यर्थ्यमाणत्वात् तेन युक्तानि—अन्वितानि अर्थयुक्तानि, तानि च हेयोपादेयाभिधायकानि, अर्थादागमवचांसि।

८. बृहद्वृत्ति पत्र ४७ : मुमुक्षुभिरर्थ्यमानत्वादर्थो—मोक्षस्तत्र युक्तानि—उपायतया संगतानि।

९. वही, पत्र ४७ : अर्थ वा अभिधेयमाश्रित्य युक्तानि—यतिजनोचितानि।

१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २८ : न येषामर्थो विद्यत इति निरत्थाणि.... 'भारहरामायणादीणि' अथवा दित्थो दवित्थो पाखंड इति, अथवा इत्थिकहादीणि।

११. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४७ : क्रीडां च अन्ताक्षरिकाप्रहेलिकादानादिजनिताम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३।

१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २९ : अहवा जं कीडपुव्वगं हास्य तद्।

१३. वही, पृ. २९ : चंडो नाम क्रोधः, ऋतं सत्यं, न ऋतमनृतं, णगते तु तमेव अलियं, चंड च अलियं च चंडालियं।

१४. बृहद्वृत्ति पत्र ४७ : चण्डः—क्रोधस्तद्वशादलीकम्—अनृतभाषणं चण्डालीकम्। यद्वा—चण्डेनाऽऽलमस्य चण्डेन वा कलितश्चण्डालः, स चातिक्रूरत्वाच्चण्डालजातिस्तस्मिन् भवं चाण्डालिकं कर्मेति गम्यते।

१५. वही, पत्र ४७ : अथवा अचण्ड! सौम्य! अलीकम्—अन्यथात्वविधानादिभिरसत्यं।

१६. सुखबोधा पत्र ३ : चण्डः क्रोधस्तद्वशाद् अलीकम्—अनृतभाषणं चण्डालिकं, लोभाद्यलीकोपलक्षणमेतत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीन आदि व्यक्ति करें।[1] भोजन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियां मण्डली में की जाती हैं। ध्यान[2] मण्डली में नहीं किन्तु अकेले में किया जाता है। इस प्राचीन परम्परा का ही यहां निर्देश है।

वर्तमान में सामूहिक ध्यान (ग्रुप मेडिटेशन) को भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें शक्ति-संपन्न साधकों के प्रकंपनों से निर्बल साधक सहज ही लाभान्वित हो जाते हैं। उनकी एकाग्रता को एक सहारा मिल जाता है और वे ध्यान की गहराई में जाने लगते हैं।

प्राचीन परम्परा के अनुसार दिन के चार प्रहरों में मुनि पहले और चौथे प्रहर में स्वाध्याय करे और दूसरे प्रहर में ध्यान करे। इसी प्रकार रात्री के चार प्रहरों में मुनि पहले और चौथे प्रहर में स्वाध्याय करे और दूसरे प्रहर में ध्यान करे।[3] दिन-रात में चार प्रहर स्वाध्याय के और दो प्रहर ध्यान के होते हैं।

ध्यान के दो अर्थ हैं—

(१) सूत्र के अर्थ का चिंतन (२) धर्म-विचय।

## २२. (गलियस्स.....आइण्णे)

गलियस्स—इसका अर्थ है अविनीत घोड़ा।[4] गंडी, गली और मराली—ये तीन शब्द दुष्ट घोड़े और बैल के पर्यायवाची हैं।[5] गंडी—उछल-कूद करने वाला। गली—पेटू। मराली—वाहन में जोतने पर लात मारने वाला या जमीन पर लेटने वाला।

आइण्णे इसका अर्थ है विनीत घोड़ा[6]। आकीर्ण, विनीत और भद्रक—ये तीन शब्द विनीत घोड़े और बैल के पर्यायवाची हैं।[7]

## २३. (पावगं परिवज्जए)

इसका अर्थ है—मुनि अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ दे। बृहद्वृत्तिकार ने 'पावगं पडिवज्जइ' को पाठान्तर मानकर उसका अर्थ पावक अर्थात् शुभ अनुष्ठान को स्वीकार करता है—किया है।[8]

## २४. पटुता से कार्य को संपन्न करने वाले शिष्य (लहुदक्खोववेया)

प्रस्तुत प्रसंग में 'लघुदाक्ष्य' समस्त पद है। लघु शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहां इसका अर्थ हल्का, सक्रिय, अविलंब किया जा सकता है। लघुदाक्ष्य का अर्थ होगा—क्रियाशील दक्षता, सूक्ष्म निपुणता, अविलंबकारिता।

## २५. दुराशय (दुरासयं)

इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—दुराशयः और दुराश्रयः।

वृत्तिकार शीलांकाचार्य ने 'दुराश्रय' शब्द मानकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है[9]—अति कुपित होने के स्वभाव वाले गुरु का आश्रय लेना अत्यंत कष्टप्रद होता है। नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—शीघ्र कुपित होने वाला किया है।[10] ये दोनों अर्थ प्रसंगोपात्त हैं।

व्याख्याकारों ने इस प्रसंग में एक कथा प्रस्तुत की है—

### आचार्य चंद्ररुद्र

आचार्य चंद्ररुद्र अत्यंत क्रोधी थे। एक बार वे अपने शिष्यों के साथ उज्जयिनी नगरी में आए। वे एकांत में स्वाध्यायरत थे। इतने में ही एक नव विवाहित युवक अपने मित्रों के साथ वहां आया और उपहासपूर्वक साधुओं को वंदना कर बोला—भंते! मुझे धर्म की बात बताएं। साधु उसके उपहास को समझ कर मौन रहे। वह युवक फिर बोला—भंते! आप मुझे दीक्षा दें। मैं गृहवास से निर्विण्ण हो गया हूं। मेरे दारिद्र्य को देखकर मेरी पत्नी ने भी मुझे छोड़ दिया है। मेरे पर कृपा करें और मेरा उद्धार करें। साधुओं ने उसे आचार्य के पास भेजा। वह आचार्य से बोला—मुझे प्रव्रजित करें। मैं गृहवास से ऊब गया हूं। आचार्य ने उसकी वाणी के उपहास को भांपकर रोषपूर्ण वाणी में कहा—जा, राख ले आ। वह गया। राख ले आया। आचार्य उसका लुंचन करने लगे। मित्र घबराए। उन्होंने अपने इस मित्र से कहा—भाग जा। अन्यथा मुनि बनना पड़ेगा। अभी-अभी तो तेरा विवाह हुआ है। उसने सोचा, अब घर कैसे जाऊं? लोच हो गया है। वह मुनि बन गया, भाव श्रमण हो गया। मित्र वहां से भाग खड़े हुए।

दूसरे दिन उस नव प्रव्रजित शिष्य ने आचार्य चंद्ररुद्र से कहा—भंते! यहां से अन्यत्र चलें। क्योंकि मेरे परिवार वाले मुझे घर चलने के लिए बाध्य करेंगे। रात्रि में आचार्य ने अपने उस नव शिष्य के साथ प्रस्थान कर दिया। शिष्य आगे चल रहा था। चलते-चलते अन्धकार की सघनता के कारण आचार्य को ठोकर लगी और वे गिर पड़े। उन्होंने क्रोध के

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २६ : उक्तं हि—'एकस्य ध्यानं द्वयोरध्ययनं त्रिप्रभृतिग्रामः', एवं लौकिकाः संप्रतिपन्नाः।

२. प्रवचनसारोद्धार गा. ६६२ :
सुत्ते अत्थे भोयण काले आवस्सए य सज्झाए।
संधारे चेव तहा सत्तेया मंडली जइणो।।

३. उत्तराध्ययन २६/१२,१८ :
पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीए सज्झायं।।
पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं।।

४. बृहद्वृत्ति, पृ. ४८ : गलिः—अविनीतः, स चासावश्वश्च गल्यश्वः।

५. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा. ६४ : गंडी गली मराली अरसे गोणे य हुंति एगट्ठा।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८ : आकीर्णो—विनीतः, स चेह प्रस्तावादश्वः।

७. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ६४ : आइन्ने य विणीए भद्दए वावि एगट्ठा।

८. बृहद्वृत्ति पत्र ४८ : पापमेव पापकं, गम्यमानत्वादनुष्ठानं परिवर्जयेत्...सर्वप्रकारं परिहरेत्...पठन्ति च—'पावगं पडिवज्जइ' त्ति तत्र च पुनातीति पावकं—शुभमनुष्ठानं प्रतिपद्येत—अंगीकुर्यात्।

९. वही, पत्र, ४६ : दुःखेनाश्रयन्ति तमतिकोपनत्वादिभिरिति दुराश्रयः।

१०. सुखबोधा, पत्र ४ : दुराशयमपि आशुकोपनमपि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वशीभूत होकर दंडे से शिष्य पर प्रहार किया, सिर फूट गया, पर शिष्य ने उस पीड़ा को समभाव से सहा। उसने सोचा, मैं कितना अधम हूं कि अपने शिष्यों के साथ सुखपूर्वक रहने वाले आचार्य को मैंने इस विपत्ति में डाला। वह पवित्र अध्यवसायों की श्रेणी में आगे बढ़ा और केवली हो गया।

रात बीती। आचार्य ने रुधिर से अवलिप्त शिष्य के शरीर को देखा। मन ही मन अपने कृत्य के प्रति ग्लानि हुई। शुभ अध्यवसायों के आलोक में स्वयं के कृत्य की निन्दा की और वे भी केवली हो गए।

शिष्य ने अपने मृदु व्यवहार से शीघ्र कुपित होने वाले अपने गुरु को भी मृदु बना दिया।[1]

## २६. (नापुट्ठो वागरे किंचि)

इसके दो अर्थ हैं—

(१) गुरु जब तक 'यह कैसे?' ऐसा न पूछे तब तक शिष्य कुछ भी न बोले, मौन रहे।

(२) गुरु ही नहीं, किसी के बिना पूछे कभी कुछ न कहे।

## २७. (कोहं असच्चं कुव्वेज्जा)

दो भाई अपनी मां के साथ रह रहे थे। एक भाई को उसके शत्रु ने मार डाला। मां ने अपने बेटे से कहा—बेटे! तेरे भाई की हत्या करने वाले को पकड़ और उसको मार डाल। बेटे का पौरुष जाग उठा। वह उस घातक की टोह में चल पड़ा। बारह वर्षों के पश्चात् वह मिला। उसका निग्रह कर वह उसे मां के समक्ष ला खड़ा किया। उसने कहा—मां! मैं शरणागत हूं। आप चाहें तो मारें या उबारें। मां का मन करुणा से भर गया। बेटे ने कहा—मां! इस भ्रातृघातक को देख कर मेरा रोम-रोम कुपित हो रहा है। कैसे सफल करूं अपने क्रोध को? मां बोली—बेटे! क्रोध को पीना सीखो। सर्वत्र उसको सफल मत करो। याद रखो—

*'सरणागयाण वस्संभियाण पणयाण वसणापत्ताणं।*
*रोगियअजंगमाणं, सप्पुरिसा नेव पहरंति।।'*

शरण में आए हुए, विश्रब्ध, प्रणत और विपत्ति में पड़े हुए तथा व्याधि से पंगु बने हुए लोगों पर कभी प्रहार मत करो। बेटे का क्रोध शांत हुआ। उसने अपने भ्रातृघातक को मुक्त कर डाला।[2]

## २८. (घारेज्जा पियमप्पियं)

एक बार पूरा नगर भयंकर रोग से आक्रान्त हो गया। राजा और पौरजन अत्यन्त दुखी हो गए। वहां तीन भूतवादी आए और बोले—राजन्! हमारे पास शक्तिशाली भूत हैं। हम सारे नगर का उपद्रव शान्त कर देंगे। राजा ने तीनों से कहा—अपने-अपने भूतों का परिचय दो।

पहला भूतवादी बोला—मेरा भूत अत्यंत सुन्दर रूप बनाकर नगर की गलियों में क्रीड़ा करेगा। यदि कोई उसको देखेगा, वह रुष्ट होकर उसको मार डालेगा। जो उसको देखकर नमन करेगा, वह रोग-मुक्त हो जाएगा। राजा ने कहा—ऐसा भूत नहीं चाहिए।

दूसरे भूतवादी ने कहा—राजन्! मेरा भूत अत्यन्त विकराल रूप बनाकर सड़क पर नाचेगा। यदि कोई उसका उपहास करेगा तो वह उसका सिर फोड़ डालेगा। जो उसकी प्रशंसा कर पूजा करेगा, वह रोगमुक्त हो जाएगा। राजा बोला—ऐसा भूत भी खतरनाक होता है।

तीसरे भूतवादी ने कहा—राजन्! मेरा भूत सीधा-साधा है। उसकी कोई पूजा करे या उपहास करे, वह सबको रोगमुक्त कर देता है। राजा ने कहा—'ऐसा भूत ही हमें चाहिए।' उस भूत ने सारी विपत्ति नष्ट कर दी, सारे नगर को रोगमुक्त कर डाला।

जो व्यक्ति प्रिय और अप्रिय हो सहता है, वही सबके लिए ग्राह्य होता है।[3]

## २९. दमन करना चाहिए (दमेयव्वो)

दमन का अर्थ है—पांचों इन्द्रियों तथा मन को उपशांत करना। विषय दो प्रकार के होते हैं—मनोज्ञ और अमनोज्ञ। मनोज्ञ विषयों के प्रति राग या आसक्ति और अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष या घृणा उत्पन्न होती है। इस वृत्ति पर विवेक के जागरण का अंकुश लगाना दमन है।[4]

'दमु' और 'शमु'—ये दोनों धातुएं एकार्थक हैं। प्रयोग की दृष्टि से 'दमन' का प्रयोग निग्रह करने के अर्थ में और 'शमन' का प्रयोग शांत करने के रूप में होता है। अध्यात्म के क्षेत्र में इन्द्रिय और मन का निग्रह करना दमन कहलाता है। प्रस्तुत श्लोक में आत्मा का अर्थ इन्द्रिय और मन है। आत्म-दमन का अर्थ होगा—इन्द्रिय और मन का निग्रह। जैसे वल्गा को खींचकर अश्व को नियंत्रित किया जाता है वैसे ही इन्द्रिय और मन के अश्व को नियंत्रण में रखना आत्म-दमन है।

दंडनीति में जो दमन का अर्थ है, वह यहां नहीं है। विधि-संहिता के अनुसार अपराधी का अभियोग और बलपूर्वक दमन किया जाता है। अध्यात्म-संहिता के अनुसार एक व्यक्ति अपनी पूरी स्वतंत्रता के साथ अहिंसक विधि के द्वारा अपने इन्द्रिय और मन की चंचल प्रवृत्ति का नियंत्रण करता है। यही आत्म-दमन है।

इस प्रकार एक ही शब्द दो संदर्भों में भिन्न अर्थवाला बन जाता है।

**३०. 'वरं मे अप्पा दंतो'** के प्रसंग में वृत्तिकार ने निम्न कथा प्रस्तुत की है—

---

१. सुखबोधा पत्र, ४,५
२. वही, पत्र ५
३. सुखबोधा, पत्र ५,६
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२ : दमयेत् इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन मनोज्ञेतरविषयेषु रागद्वेषवशतो दुष्टगजमिवोन्मार्गगामिनं स्वयं विवेकांकुशेनोपशमनं नयेत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**गन्धहस्ती सेचनक**

एक घना जंगल। वहां हाथियों का यूथ रहता था। यूथपति उस यूथ में नए उत्पन्न होने वाले सभी गज-कलभों को मार डालता था। एक बार गर्भिणी हथिनी ने सोचा, मेरे यदि बच्चा पैदा होगा तो यह यूथपति उसे मार डालेगा। अच्छा है, मैं यहां से छिटक जाऊं। एक बार अवसर देख कर वह वहां से निकल कर पास के ऋषि आश्रम में चली गई। ऋषिकुमारों ने उसे आश्रय दिया। उसने कलभ का प्रसव किया। वह उन ऋषिकुमारों के साथ वाटिका का सिंचन करने लगा। उन्होंने उसका नाम 'सचेनक' रखा। वह बड़ा हुआ। यूथपति को देखकर उस पर झपटा। उसे मारकर स्वयं उस यूथ का स्वामी बन गया। एक बार उसने कुछ सोचा और जिस आश्रम में वह जन्मा, बड़ा हुआ, उसी को विनष्ट कर डाला। ऋषिकुमार जान बचाकर राजा श्रेणिक के पास गए और सेचनक गन्धहस्ती की बात कही। राजा स्वयं उसे पकड़ने गया। वह गन्धहस्ती एक देवता द्वारा परिगृहीत था। उसने हाथी से कहा—'वत्स! तुम स्वयं अपना निग्रह करो। दूसरों के द्वारा बंधन और वध आदि से निगृहीत होना अच्छा नहीं है।' यह सुनकर हाथी आश्वस्त हुआ और स्वयं ही आलान स्तम्भ पर आकर खड़ा हो गया।

**३१. (श्लोक १७)**

शिष्य गुरु के प्रतिकूल आचरण न करे। न वह वाणी से यह कहे—तुम कुछ नहीं जानते अथवा गुरु के समक्ष या परोक्ष में वाणी से उनके विरुद्ध न बोले। तथा कर्म से अर्थात् क्रिया से वह आचार्य और उपाध्याय के शय्या-संस्तारक पर न बैठे, हाथ-पैर से उनका संघटन न करे तथा आते-जाते उन पर पैर रखकर न चले—यह चूर्णिगत व्याख्या है।[1] वृत्तिकार की व्याख्या कुछ भिन्न है।

**३२. आचार्यों के (किच्चाण)**

कृति का अर्थ है—वन्दना। जो वन्दना के योग्य होते हैं, उन्हें कृत्य—आचार्य कहा जाता है।[2]

**३३.** प्रस्तुत **श्लोक (१८)** में आचार्य के समक्ष शिष्य को किस प्रकार नहीं बैठना चाहिए, का निर्देश करते हुए सूत्रकार चार बातों का उल्लेख करते हैं—

वृत्तिकार ने उनके कारणों का निर्देश इस प्रकार किया है—

(१) शिष्य गुरु के दाएं-बाएं न बैठे, क्योंकि गुरु को इधर-उधर देखने में गले और कंधे में पीड़ा हो सकती है।

(२) शिष्य को गुरु के निकट आगे भी नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि गुरु-वंदना के लिए आने वाले लोगों को गुरु के मुखारविन्द का दर्शन न होने पर उनके मन में अप्रीति उत्पन्न हो सकती है।

(३) शिष्य गुरु के पीछे भी न बैठे, क्योंकि दोनों को, गुरु और शिष्य को, एक-दूसरे का मुंह न दीखने के कारण वह रसवत्ता पैदा नहीं होती जो रसवत्ता मुखदर्शन से होती है।

(४) शिष्य गुरु से सटकर न बैठे, क्योंकि पूज्य व्यक्तियों के अंग के संघटन से आशातना होती है और वह अविनय का प्रतीक है।[3]

**३४. (पल्हत्थियं.....पक्खपिण्डं)**

**पल्हत्थियं**—घुटनों और जंघाओं के चारों ओर वस्त्र बांधकर बैठने को पर्यस्तिका कहा जाता है।[4]

कुषाणकालीन मूर्तियों में, जो मथुरा से प्राप्त हुई हैं, यक्षकुवेर या साधु आदि अपनी टांग या पेट के चारों ओर वस्त्र बांधकर बैठे हुए दिखाए गए हैं। उसे उस समय की भाषा में 'पल्हत्थिया' (पलथी) कहते थे। वह दो प्रकार की होती थी—समग्र पल्हत्थिया या पूरी पलथी और अर्ध पल्हत्थिया या आधी पलथी।

आधी पलथी दक्षिण और वाम अर्थात् दाहिना पैर या बांया पैर मोड़ने से दो प्रकार की होती थी। पलथी लगाने के लिए साटक, बाहुपट्ट, चर्मपट्ट, सूत्र, रज्जु आदि से बन्धन बांधा जाता था। ये पल्हत्थिका-पट्ट रंगीन, चित्रित अथवा सुवर्ण-रत्न-मणि-मुक्ता खचित भी बनाए जाते थे।[5]

**पक्खपिण्डं**—दोनों हाथों से घुटनों और साथल को वेष्टित कर बैठना, पक्ष-पिण्ड कहलाता है।[6]

**३५. बुलाए जाने पर (वाहित्तो)**

चूर्णि और दोनों वृत्तियों में 'वाहिन्तो' पाठ है। उसका संस्कृत रूप 'व्याकृत' है। उत्तरवर्ती प्रतियों में यह पाठ 'वाहित्तो' के रूप में प्राप्त है। इसी आधार पर पिशेल ने इसका संस्कृत रूप 'व्याक्षिप्त' दिया है।[7] परन्तु 'व्याक्षिप्त' का प्राकृत रूप 'वक्खित्त' होता है। अतः शब्द और अर्थ की दृष्टि से यह उचित नहीं है।

इस शब्द के संदर्भ में नेमिचन्द्र ने कहा है कि गुरु के द्वारा बुलाए जाने पर शिष्य अपने आपको धन्य माने। उन्होंने एक प्राचीन पद्य उद्धृत किया है[8]—

***'धन्नाण चेव गुरुणो, आदेसं देंति गुणमहोयहिणो।***
***चंदणरसो अपुन्नाण निवडए नेय अंगम्मि।।'***

—गुणों के सागर आचार्य योग्य शिष्य को ही आदेश देते

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३४।
२. बृहद्वृत्ति पत्र ५४ : कृतिः—वन्दनकं तदर्हन्ति कृत्याः 'दण्डादित्वाद् यप्रत्ययः' ते चार्थादाचार्यादयः।
३. वही, पत्र ५४।
४. वही, पत्र ५४ : 'पर्यस्तिका' जानुजङ्घोपरिवस्त्रवेष्टनाऽऽत्मिकाम्।
५. अंगविज्जा भूमिका, पृ. ५६।
६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३५ : पक्खपिंडो दोहिंवि बाहाहिं उरूगजाणूणि घेत्तूण अच्छाणं।
७. पिशेल २८६।
८. सुखबोधा, पत्र ६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। जो क्षीणपुण्य हैं, क्या उनके शरीर पर कभी चन्दन रस का पात होता है?

### ३६. समीप रहे (उवचिट्ठे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'पास में बैठना' किया है।[1] टीकाओं में इसका अर्थ है—'मैं आपका अभिवादन करता हूं'—ऐसा कहता हुआ शिष्य सविनय गुरु के पास चला जाये।[2]

### ३७. (आलवन्ते लवन्ते वा)

आलाप और लपन—ये दो शब्द हैं। आलाप का अर्थ है—थोड़ा बोलना[3] या प्रश्न आदि पूछना।[4] लपन का अर्थ है—बार-बार बोलना या अनेक प्रकार से बोलना।[5]

### ३८. ऊकड़ू बैठ (उक्कुडुओ)

स्थानंग में पांच प्रकार की निषद्या का उल्लेख है।[6] उनमें उत्कुटुका एक निषद्या है। दोनों पैरों को भूमि पर टिका कर, दोनों पुतों को भूमि से न छुआते हुए, जमीन पर बैठना उत्कटुकासन है। इसका प्रभाव वीर्यग्रन्थियों पर पड़ता है। यह ब्रह्मचर्य की साधना में बहुत फलदायी है। यह विनय की एक मुद्रा है।

### ३९. जो शिष्य विनययुक्त हो (विणयजुत्तस्स)

विनययुक्त मुनि का व्यवहार कैसा हो? वह गुरु के सम्मुख अपनी जिज्ञासा को कैसे प्रस्तुत करे? वह गुरु के समक्ष कैसे अवस्थित रहे—इन प्रश्नों के संदर्भ में सूत्रकार ने कुछ निर्देश दिए हैं—

मुनि आसन पर आसीन होकर तथा शय्या पर स्थित होकर गुरु से जिज्ञासा न करे। वह गुरु के पास उपस्थित होकर, दोनों हाथ जोड़कर, उत्कटुक आसन में बैठकर जिज्ञासा करे।[7]

वर्तमान में उत्कटुक आसन के स्थान पर वंदनासन में बैठने की परम्परा प्रचलित है।

### ४०. सूत्र, अर्थ और तदुभय (सूत्तं अत्थं च तदुभयं)

आगम की रचना शैली तीन प्रकार की है—

१. सूत्रात्मक शैली—यह संक्षिप्त और सूचक मात्र होती है।

२. अर्थात्मक शैली—यह व्याख्यात्मक होती है।

३. तदुभयात्मक शैली—यह कहीं सूत्रात्मक और कहीं व्याख्यात्मक—दोनों प्रकार की होती है।

वृत्तिकार ने सूत्र से कालिक और उत्कालिक आगम तथा अर्थ से उनके अभिधेय को ग्रहण किया है। दोनों का समन्वित रूप है—तदुभय।[8]

### ४१. (श्लोक २४)

प्रस्तुत श्लोक में असत्य और निश्चयकारिणी भाषा न बोलने तथा भाषा के दोषों के परिहार का निर्देश है।

वृत्तिकार नेमिचन्द्र ने असत्य बोलने से होने वाले छह दोषों का निर्देश किया है[9]—

(१) धर्म की हानि (४) अर्थ की हानि
(२) अविश्वास (५) निंदा
(३) शारीरिक उत्ताप (६) दुर्गति।

अवधारिणी या निश्चयकारिणी भाषा न बोलने के प्रसंग में वृत्तिकार ने एक सुन्दर गाथा प्रस्तुत कर उसके वास्तविक कारण को निर्दिष्ट किया है—

*'अन्नह परिचिंतिज्जइ, कज्जं परिणमइ अन्नहा चेव।*
*विहिवसयाण जियाणं, मुहुत्तमेत्तं पि बहुविग्घं।।'*

—प्रत्येक प्राणी भाग्य के अधीन है, कर्मों के अधीन है। वह सोचता कुछ है और हो कुछ और ही जाता है। जीवन का प्रत्येक क्षण विघ्नों से भरा पड़ा है।[10]

असत्य भाषण, सावद्य का अनुमोदन करने वाली वाणी, पापकारी भाषा, क्रोध-मान-माया और लोभ के वशीभूत होकर बोले जाने वाली भाषा—ये सारी भाषाएं सदोष हैं।

### ४२. दोनों के प्रयोजन के लिए अथवा अकारण ही (उभयस्सन्तरेण)

टीकाओं में इसका अथ है—दोनों (अपने और पराए) के प्रयोजन के लिए अथवा प्रयोजन के बिना।[11] चूर्णि में इसका अर्थ दो या बहुत व्यक्तियों के बीच में बोलना—किया है।[12]

### ४३. निरर्थक (निरट्ठं)

सुखबोधा टीका में इस शब्द की व्याख्या में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत है—

*'एष वन्ध्यासुतो याति, खपुष्पकृतशेखरः।*
*मृगतृष्णाम्भसि स्नात शशशृंगधनुर्धरः।।'*

—देखो, यह बांझ का बेटा जा रहा है। यह आकाश-

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३५ : उपेत्यतिष्ठेत वा चिट्ठेज्जा।
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५५ : 'उपतिष्ठेत' मस्तकेनाभिवन्द इत्यादि वदन् सविनयमुपसर्पेत्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ८।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५ : आङ्गिति इषल्लपति वदति।
४. अभिधान चिन्तामणि कोष, २।१८८ : आपृच्छालाप....।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५ : लपति या वारं वारनेकधा वाऽभिदधति।
६. ठाणं ५/५० : पंच णिसिज्जाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—उक्कुडुया, गोदोहिया, समपायपुता, पलियंका, अद्धपलियंका।
७. उत्तरज्झयणाणि १।२१,२३।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६।
९. 'धर्महानिरविश्वासो, देहार्थव्यसनं तथा।
असत्यभाषिणां निंदा, दुर्गतिश्चोपजायते।।'
१०. सुखबोधा, पत्र ९।
११. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५७ : 'उभयस्स' त्ति आत्मनः परस्य च, प्रयोजनमिति गम्यते 'अन्तरेण व' त्ति विना वा प्रयोजनमित्युपस्कारः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०।
१२. उत्तरज्झयणाणि चूर्णि, पृ. ३६,३७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुसुमों का सेहरा बांधे हुए है। इसने मृगतृष्णा के पानी में स्नान कर, हाथ में खरगोश के सींग का धनुष्य ले रखा है।[1]

## ४४. मर्मभेदी वचन (मम्मयं)

चूर्णि के अनुसार 'मर्म' का निरुक्त है—'म्रियते येन तन् मर्म'—जिससे व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होता है, वह है मर्म। जैसे किसी को कहना कि तुम अपनी पत्नी के दास हो—'इत्थीकारी भवान्'—यह मर्म-वचन है।[2]

मर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—रहस्यमय, कटुक, पीड़ाकारक। वृत्तिकार ने यहां इसकी व्याख्या कटुवचन के रूप में की है। काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना—मर्मभेदी वचन है। यह यथार्थ होने पर भी मर्म को छूता है। यह अति संक्लेशकारी होता है।

चूर्णिकार ने एक श्लोक के माध्यम से बताया है कि जैसे मर्मभेदी वचन पीड़ाकारक होता है वैसे ही जन्म संबंधी और कार्य संबंधी वचन भी मर्मभेदी वचन की श्रेणी में ही आते हैं। किसी के जन्म का उल्लेख करते हुए कुछ कहना, आजीविका के सम्बन्ध में कुछ कहना, व्यक्ति के मर्म को छूने वाला होता है। मुनि इन तीनों का परिहार करे, क्योंकि मर्मविद्ध व्यक्ति स्वयं ही आत्महत्या कर सकता है या मर्मकारी वचन कहने वाले की हत्या कर सकता है—

*'मम्मं जम्मं कम्मं, तिन्नि वि एयाइं परिहरिज्जासि।*
*मा जम्ममम्मविद्धे, मरेज्ज मारेज्ज वा किंचि।।*[3]

## ४५. (समरेसु अगारेसु सन्धीसु)

**समरेसु**—चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ 'लोहार की शाला' है।[4] शान्त्याचार्य इसका अर्थ नाई की दुकान, लोहार की शाला और अन्य नीच-स्थान करते हैं। उन्होंने समर का दूसरा अर्थ युद्ध भी किया है।[5] नेमिचन्द्र के अनुसार इसका अर्थ नाई की दुकान है।[6]

सर मोनियर विलियम्स ने समर का अर्थ 'समूह का एकत्रित होना' किया है।[7] यह भी अर्थ प्रकरण की दृष्टि से ग्राह्य हो सकता है। समय का संस्कृत रूप स्मर भी होता है। इसका अर्थ है कामदेव सम्बन्धी या कामदेव का मंदिर।[8] अनुवाद में हमने यही अर्थ किया है। इस शब्द के द्वारा सन्देहास्पद स्थान का ग्रहण इष्ट है।

**अगारेसु**—चूर्णिकार ने इसका अर्थ शून्यागार[9] और शान्त्याचार्य ने केवल गृह किया है।[10]

**संधीसु**—घरों के बीच की संधि। दो दीवारों के बीच का प्रच्छन्न स्थान।[11]

## ४६. (सीएण फरुसेण)

**सीएण**—प्रकरणवश चूर्णिकार ने 'शीत' का अर्थ 'स्वादु' (मधुर), शान्त्याचार्य ने 'उपचार सहित' और नेमिचन्द्र ने आह्लादक किया है।[12]

**फरुसेण**—चूर्णिकार ने 'परुष' का अर्थ स्नेह-वर्जित या निष्ठुर और बृहद् वृत्तिकार ने कर्कश किया है।[13] गच्छाचार की वृत्ति में सुई के तुल्य चुभने वाले वचन को खर, बाण तुल्य चुभने वाले वचन को परुष और भाले के समान चुभने वाले वचन को कर्कश कहा है।[14]

## ४७. द्वेष का हेतु (वेसं)

वृत्तिकारों ने इसको द्वेष्य मानकर व्याख्या की है।[15] देशीनाममाला में इस अर्थ में 'वेसक्खिज्ज' शब्द प्राप्त होता है।[16]

## ४८. भयमुक्त (विगयभया)

'विगयभय' का एक अर्थ है—भयमुक्त। इसका वैकल्पिक अर्थ होता है—भय-प्राप्त। मुनि के मन में एक भय समा जाता है। वह सोचता है—यदि मैं गुरु के कठोर अनुशासन का पालन नहीं करूंगा तो दूसरों में मेरा अपमान होगा। दूसरे मुनि मेरे बारे में क्या सोचेंगे—इस अवधारणा से वह गुरु के अनुशासन को हितकर मानता है। यह रचनात्मक भय है। यह अनेक बार मुनि के जीवन में रचनात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन का हेतु बनता है।

---

१. सुखबोधा, पत्र १०।
२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३६।
३. वही, पृ. ३६।
४. वही, पृ. ३७ : समरं नाम जत्थ हेट्ठा लोहयारा कम्मं करेंति।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७ : समरेषु खरकुटीषु.....उपलक्षणत्वादस्यान्येष्वपि नीचास्पेदेषु.....अथवा सममरिभिर्वर्तन्त इति समराः।
६. सुखबोधा, पत्र १० : समरेषु-खरकुटीषु।
७. Sanskrit-English Dictionary, 1170 : Samara coming together, meeting, concourse, confluence.
८. (क) पाइअसद्दमहण्णवो, पृ. १०८५।
(ख) अंगविज्जा भूमिका, पृ. ६३ : समर—स्मरगृह या कामदेवगृह।
९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३७ : अगारं नाम सुण्णागारं।
१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ७० : अगारेषु—गृहेषु।
११. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३७ : संधाणं संधि, बहूण वा घराणं तिण्हं घराणं यदंतरा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५७ : 'गृहसन्धिषु च' गृहद्वयान्तरालेषु च।
१२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३७ : शीतेन स्वादुना इत्यर्थः।
(ख) बृहद्वृत्ति पत्र ५७ : 'शीतेन' सोपचारवचसा।
(ग) सुखबोधा, पत्र १० : शीतेन—उपचाराच्छीतलेनाऽऽह्लादकेनेत्यर्थः।
१३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३७ : परुषं—स्नेहवर्जितं यत्परोक्षं निष्ठुराभिधानम्।
(ख) बृहद्वृत्ति पत्र ५७ : 'परुषेण' कर्कशेन।
१४. गच्छाचार, पत्र ५६ : खराः शूचीतुल्याः। परुषाः बाणतुल्याः। कर्कशाः कुन्ततुल्याः।
१५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३८।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५८
(ग) सुखबोधा, पत्र १०।
१६. देशीनाममाला ७।७६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृत्तिकार ने 'बुद्धा' शब्द में वैकल्पिक रूप में पंचमी विभक्ति मानकर 'बुद्धाद्' का अर्थ आचार्य आदि किया है और 'विगयभया' को उसका विशेषण माना है—'विगतभयाद् बुद्धाद्'।[1]

## ४९. हाथ-पैर से चपलता न करे (अप्पकुक्कुए)

चूर्णि में 'अप्प' का अर्थ निषेध है।[2] शान्त्याचार्य ने 'अप्प' शब्द के अर्थ 'थोड़ा' और 'नहीं—दोनों किए हैं।[3] नेमिचन्द्र ने केवल 'थोड़ा' किया है।[4]

## ५०. श्लोक ३१ :

'काले कालं समायरे'—यह मुनि की सामाचारी का द्योतक है। मुनि को विविधि क्रियाओं में संलग्न होना होता है। यदि वह प्रत्येक क्रिया को उचित काल में या निर्धारित समय में संपन्न करता है, तो सारी क्रियाएं ठीक समय पर परिसम्पन्न हो जाती हैं।

जिस देश या समाज में भिक्षा का जो काल हो, मुनि उसी समय भिक्षा के लिए निकले। क्योंकि अकाल में जाने पर मुनि को खिन्न होना पड़ता है, आत्म-क्लामना होती है। वह समय पर जाए और समय पर लौट आए। यदि भिक्षा प्राप्त न हो तो वह घूमता ही न रहे। वह इस सूत्र का स्मरण करे कि भगवान् ने कहा है—अलाभोत्ति न सोएज्जा, तवोत्ति अहियासए—अप्राप्ति में दीन न बने। स्वतः तपस्या होती है, ऐसा सोचे। मुझे थोड़ा मिला या नहीं मिला—ऐसा सोचकर घर-घर न भटके।

केवल घूमते रहने से अन्यान्य क्रियाओं का काल अतिक्रान्त हो जाता है। तब वह न समय पर प्रतिलेखन कर सकता है और न स्वाध्याय-ध्यान ही कर सकता है।

यही श्लोक दशवैकालिक ५।२।४ में आया है।

## ५१. परिपाटी (पंक्ति) में खड़ा न रहे (परिवाडीए न चिट्ठेज्जा)

बृहद्वृत्ति में परिपाटी के दो अर्थ प्राप्त हैं—गृहपंक्ति और भोजन के लिए बैठे हुए व्यक्तियों की पंक्ति।

१. गृहपंक्ति- -मुनि एक स्थान पर खड़ा रहकर घरों की लंबी पंक्ति से लाया जाने वाला आहार न ले। क्योंकि दूर के घरों से भिक्षा लाने वाले गृहस्थ की अयतना का सम्यग् अवबोध नहीं हो सकता।

२. जहां भोजन करने वाले गृहस्थों की पंक्ति लगी हो, मुनि उस पंक्ति में खड़ा न रहे। क्योंकि इससे गृहस्थों के मन में अप्रीति और अदृष्टकल्याणता (अकल्याण-दर्शन) आदि दोष संभव हो सकते हैं।[5]

डॉ. जेकोबी ने इसका इस प्रकार अर्थ किया है, 'मुनि पंक्ति में बैठे हुए भोजन करने वाले व्यक्तियों के समक्ष (आहार की याचना के लिए) न जाए।[6]

उन्होंने इस अर्थ का कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया है।

## ५२. प्रतिरूप (मुनिवेष) में (पडिरूवेण)

प्रस्तुत श्लोक में प्रतिरूप शब्द है और २९वें अध्ययन के ४३वें सूत्र में प्रतिरूपता।

इस श्लोक की व्याख्या में चूर्णिकार ने प्रतिरूप के तीन अर्थ किए हैं[7]—

(१) शोभनरूप वाला।

(२) उत्कृष्ट वेश वाला अर्थात् रजोहरण, गोच्छग और पात्रधारी।

(३) जिनप्रतिरूपक—तीर्थंकर की भांति हाथ में भोजन करने वाला।

इनका प्रकरणगत अर्थ यह है कि मुनि—स्थविरकल्पी या जिनकल्पी—जिस देश में हो उसी वेश में भिक्षा करे।

वृत्तिकाल में इसका अर्थ—'चिरंतन मुनियों के समान वेष वाला'—ही मुख्य रहा है।[8]

प्रतिरूप का अर्थ प्रतिबिम्ब है। यह तीर्थंकर का भी हो सकता है और चिरंतन मुनियों का भी हो सकता है। यहां चिरंतन मुनियों के समान वेष वाला—यह अर्थ प्रासंगिक है और २९/४३ में तीर्थंकर के समान वेष वाला—यह अर्थ प्रासंगिक है। देखें—२९।४३ का टिप्पण।

## ५३. श्लोक ३३

इससे पूर्ववर्ती श्लोक में 'मियं कालेण भक्खए' इस पद द्वारा भोजन-विधि का उल्लेख हो चुका है। फिर भी इस

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३८ : 'अप्पकुक्कुए' त्ति न गात्रापी स्पंदयती ण वा अवद्धासणो भवति, अन्नत्थुसास-णीससितादी अत्थस्सेह मुक्त्वा शेषमकुकुचो।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८, ५९ : 'अप्पकुक्कुए' त्ति अल्पस्पन्दनः करादिभिरल्पमेव चलन्, यद्वा—अल्पशब्दोऽभावाभिधायी, ततश्चाल्पम्—असत् कुक्कुयं त्ति कौत्कुचं—कर-चरणभ्रू भ्रमणाद्यसच्चेष्टात्मक-मस्येत्यल्पकौत्कुचः।

४. सुखबोधा, पत्र ११।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५९ : परिपाटी गृहपंक्तिः, तस्यां न तिष्ठेत्—न पंक्तिरथगृहभिक्षोपादनायैकत्रावस्थितो भवति, तत्र दायकदोषाऽनवगम-प्रसंगात् यद्वा—पंक्त्यां—भोक्तुमुपविष्ट पुरुषादिसम्बन्धिन्यां न तिष्ठेत्। अप्रीत्यदृष्टकल्याणतादिदोषसम्भावत्।

६. जेकोबी, Jain Sūtras, पृष्ट ५ : A monk Should not approach (dining people) sitting in a row :

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ३९ : पडिरूवं णाम सोभणरूवं, जहा पासादिये दरिसणीज्जे अहिरूवे पडिरूवे, रूपं रूपं च प्रति यदन्यरूपं, तत्प्रतिरूपं, सर्वधर्मभूतेभ्यो हि तद्रूपमुत्कृष्टं, तत्तद् रयहरण-गोच्छ-पडिग्गह माताए, जे वा पाणिपडिग्गहिया जिणकप्पिता तेसिं गहणं, तेसिं जिनरूवप्रतिरूपकं भवति, यतस्तेन प्रतिरूपेन।

८. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५९ : प्रतिप्रतिबिम्बं चिरन्तनमुनीनां यद्रूपं तेन, उभयत्र पतद्ग्रहादिधारणात्मकेन सकलान्यधार्मिकविलक्षणेन।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लोक में पुनः भिक्षाटन करने की जो बात कही है, उसकी संगति इस प्रकार होती है[1]—साधु सामान्यतः एक बार ही भिक्षा के लिए जाए परन्तु ग्लान के निमित्त या जो आहार मिला उससे क्षुधा शांत न होने पर वह साधु पुनः भिक्षा के लिए जाए। इसकी पुष्टि में टीकाकार दशवैकालिक (अ. ५ उ. २) के निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं—

.....जई तेणं न संथरे।।२।।
तओ कारणमुपन्ने, भत्तपाणं गवेसए।
.....।।३।।

इस ३३वें श्लोक का विस्तार दशवैकालिक ५।२।१०, ११, १२ में मिलता है।

**चक्खुफासओ**—इसका संस्कृत रूप है 'चक्षुःस्पर्शतः।' यह तस् प्रत्यय सप्तमी के अर्थ में है।

बृहद्वृत्तिकार ने इस शब्द के दो संस्कृत रूप और दिए हैं—चक्षुःस्पर्शे और चक्षुःस्पर्शतः।[2]

**अइक्कमे**—प्रस्तुत इसका धातुगत अर्थ है—अतिक्रम करना, उल्लंघन करना। परन्तु प्रकरण की दृष्टि से इसका अर्थ 'प्रवेश करना' ही संगत लगता है। कारण कि इससे पूर्व 'लंघिया' शब्द (जिसका अर्थ है—लांघकर) आ चुका है।

## ५४. श्लोक ३४

इस श्लोक का प्रथम चरण 'नाइउच्चे व नीए वा'—ऊर्ध्वमालापहृत और अधोमालापहृत नामक भिक्षा के दोषों की ओर संकेत करता है। इनकी विशेष जानकारी दशवैकालिक सूत्र के ५।१।६७,६८,६९ में प्राप्त है।

वृत्तिकार ने इसके कुछ वैकल्पिक अर्थ दिए हैं[3]—

(क) १. स्थान की अपेक्षा : ऊंचे स्थान पर खड़ा न रहे।
२. शारीरिक मुद्रा की अपेक्षा : कंधों को ऊंचा कर—अकड़ कर खड़ा न रहे।
३. भाव की अपेक्षा : 'मैं लब्धि-संपन्न हूं' इस अहंकार-पूर्ण अवस्था में न जाए।

(ख) १. स्थान की अपेक्षा : नीचे स्थान पर खड़ा न रहे।
२. शारीरिक मुद्रा की अपेक्षा : कंधों को नीचा कर—दीनता की अवस्था में खड़ा न रहे।
३. भाव की अपेक्षा : मैं कितना मंदभाग्य हूं कि मुझे आज कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ—इस दीन अवस्था में न रहे।

डॉ. हर्मन जेकोबी ने इसका अर्थ इस प्रकार दिया है—(MONK Should) neither boldly erect nor humbly bowing down,—मुनि अकड़ कर खड़ा न रहे और न दीनता से नीचे झुके।[4]

यह अर्थ टीकाकार के वैकल्पिक अर्थ पर आधारित है। पर यह प्रसंगोपात्त नहीं लगता।

इसी श्लोक का दूसरा चरण 'नासन्ने नाइदूरओ'—गोचराग्र गए हुए मुनि के गृह-प्रवेश की मर्यादा की ओर संकेत करता है। इसका विस्तार दशवैकालिक ५।१।२४ में मिलता है। तीसरे चरण में आए हुए दो शब्द—'फासुयं' और 'परकडं पिण्ड' का विस्तार दशवैकालिक ८।२३ और ८।५१ में मिलता है।

प्रासुक का अर्थ है—बीज रहित, निर्जीव।[5] यह उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। इसका प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है—निर्दोष या विशुद्ध।

इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—प्रासुक और स्पर्शुक। बेचरदासजी ने इसका संस्कृत रूप 'स्पर्शुक' किया है।

जार्ल सरपेन्टियर ने माना है कि केवल जैन संस्कृत में ही इसका रूप 'प्रासुक' किया जाता है, किन्तु यह स्पष्ट अर्थ-बोधक नहीं है। ल्यूमेन ने औपपातिक में यही आशंका व्यक्त की है। किन्तु हॉरनल, पिशल और मेयर ने इसको 'स्पर्शक' माना है। इसका अर्थ है मनोज्ञ, स्वीकार करने योग्य।[6]

## ५५. प्राणी और बीज रहित (अप्पपाणेऽप्पबीयंमि)

अप्पपाणे—इसका अर्थ है—प्राणी-रहित स्थान में। दोनों टीकाकार 'पाण' शब्द से द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों का ग्रहण करते हैं।[7] परन्तु चूर्णिकार इस शब्द के द्वारा समस्त प्राणियों—स्थावर व त्रस—का ग्रहण करते हैं।[8]

यहां शान्त्याचार्य ने यह तर्क उपस्थित किया है कि इस चरण में आए हुए दो शब्दों 'अल्प-प्राण' और 'अल्पबीज' में अल्पबीज शब्द निरर्थक है, क्योंकि प्राण शब्द से समस्त प्राणियों का ग्रहण हो जाता है। बीज भी प्राण है।

इस तर्क का उन्होंने इन शब्दों में समाधान किया है—

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६० :
इह च मितं कालेन भक्षयेदिति भोजनमभिधाय यत्पुनर्भिक्षाटनाभिधानं तत् ग्लानादिनिमित्तं स्वयं वा बुभुक्षावेदनीयमसहिष्णोः पुनर्भ्रमणमपि न दोषायेति ज्ञापनार्थम्, उक्तं च—.....।

२. वही, पत्र ६० :
चक्षुःस्पर्शत इति सप्तम्यर्थे तसिः, ततः चक्षुःस्पर्शे—दृग्गोचरे चक्षुस्पर्शगो वा दृग्गोचरगतः।

३. वही, पत्र ६० : नात्युच्चे प्रासादो परिभूमिकादौ नीचे वा—भूमिगृहादौ, तत्र तदुत्क्षेपनिक्षेपनिरीक्षणासम्भावाद् दायकापायसम्भवाच्च, यद्वा नात्युच्चः उच्चस्थानस्थितत्वेन ऊर्ध्वीकृतकंधरतया वा द्रव्यतो, भावतस्त्वहो! अहं लब्धिमानिति मदाध्मातमानसः, नीचोऽत्यन्तावनतकन्धरो निम्नस्थानस्थितो वा द्रव्यतः, भावतस्तु न मयाऽद्य किंचित् कुलोऽप्यवाप्तमिति दैन्यवान्।

४. जैन सूत्राज, पृष्ठ ६।

५. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६० : प्रगटा असव इति सूत्रत्वेन मतुब्लोपादसुमन्तः-सहजसंसक्तिजन्मानो यस्मात् तत् प्रासुकम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२।

६. दी उत्तराध्ययन, सूत्र, पृ. २८०, २८१।

७. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४० : प्राणग्रहणात् सर्वप्राणीनां ग्रहणम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुख और नासिका के द्वारा जो वायु निकलती है, उसे प्राण कहते हैं। लोक में 'प्राण' का यही अर्थ रूढ़ है। प्राण द्वीन्द्रिय आदि में ही होता है। एकेन्द्रिय जीवों में वह नहीं होता। अतः 'अल्पबीज' का निर्देश सप्रयोजन है।[1]

चूर्णिकार का अभिमत है कि यहां अर्थ की दृष्टि से 'अप्पाणे' पाठ होना चाहिए, किन्तु उससे श्लोक-रचना ठीक नहीं बैठती, इस दृष्टि से 'अप्पाणे' के स्थान में 'अप्पपाणे' का प्रयोग किया गया है।[2]

टीकाकार की दृष्टि में भी अल्प शब्द अभाववाची है।[3] इससे भी चूर्णिकार का मत समर्थित होता है।

**अप्पबीयंमि**—इसका शब्दार्थ है—बीज रहित स्थान में। उपलक्षण से इसका अर्थ समस्त स्थावर जन्तु रहित स्थान में होता है।[4] बीज सहित स्थान वर्जनीय है तो हरियाली सहित स्थान अपने आप वर्जनीय हो जाता है।[5]

## ५६. (पडिच्छन्नंमि संवुडे)

**पडिच्छन्नंमि**—ऊपर से ढके हुए उपाश्रय में।

यहां प्रतिपाद्य यह है कि साधु खुले आकाश में भोजन न करे। क्योंकि वहां ऊपर से गिरने वाले सूक्ष्म जीवों का उपद्रव हो सकता है। अतः ऐसे स्थान में आहार करे जो ऊपर से छाया हुआ हो।[6]

**संवुडे**—पार्श्व में भित्ति आदि से संवृत उपाश्रय में।

चूर्णिकार ने 'संवुडे' को साधु का विशेषण मानकर इसका अर्थ संयत या सर्वेन्द्रियगुप्त किया है।[7] शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसे स्थान का विशेषण माना है।[8] अनुवाद का आधार यह दूसरा अर्थ रहा है। शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'संवुडे' को साधु का विशेषण भी माना है।[9]

देखें—दशवैकालिक ५।१।८३ का टिप्पण।

## ५७. (समयं.....जयं अपरिसाडियं)

**समयं**—इसका अर्थ है—साथ में। इस शब्द के द्वारा गच्छवासी साधुओं की सामाचारी का निर्देश हुआ है। जो मण्डली-भोजी साधु हैं उनका यह कर्तव्य है कि वे अपने सहधर्मी साधुओं को निमंत्रित कर उनके साथ भोजन करें, एकाकी न खाएं। इस आशय का स्पष्ट उल्लेख दशवैकालिक ५।१।९५ में मिलता है।

दोनों टीकाकार प्रधानतः इसी अर्थ को मान्य करते हैं और दशवैकालिक ५।१।९५ का श्लोक उद्धृत करते हैं। शान्त्याचार्य ने विकल्प में इसका अर्थ—'सरस-विरस आहार में अनासक्त होकर'—भी किया है।[10]

चूर्णि में बताया गया है कि अकेला भोजन करे तो वह समतापूर्वक करे और मण्डली में भोजन करे तो साधर्मिकों को निमंत्रित कर भोजन करे।[11]

**जयं अपरिसाडियं**—यह पद दशवैकालिक ५।१।९६ में ज्यों-का-त्यों आया है। 'अपरिसाडियं का अर्थ है—भूमि पर न गिराता हुआ। डॉ. जेकोबी ने इसका अर्थ—वस्त्ररहित—नग्न किया है।[12] यह समीचीन नहीं है।

## ५८. श्लोक ३६

बृहद्वृत्ति में प्रस्तुत श्लोकगत शब्दों की मुख्य व्याख्या भोजन विषयक है और वैकल्पिक रूप में दो प्रतिपत्तियां हैं—

१. 'सुपक्व' शब्द को छोड़कर शेष सभी शब्दों की सामान्य विषयक व्याख्या है, जैसे—इसने सुच्छिन्न किया है न्यग्रोध वृक्ष आदि, इसने अच्छा बनाया है प्रासाद, कूप आदि-आदि।

२. 'सुकृत' आदि शब्दों का निरवद्य प्रयोग भी है, जैसे—इसने सुकृत किया धर्मध्यान आदि। इसका सुपक्व है वचन-विज्ञान आदि। इसने सुच्छिन्न किया है स्नेह आदि। इसने अकल्याण की शांति के लिए उपकरणों को सुहृत—एकत्रित किया है। इसने सुहृत—अच्छी तरह से मार डाला है कर्म-शत्रुओं को। यह सुमृत है—इसने पंडित-मरण से मृत्यु प्राप्त की है। यह साध्वाचार के विषय में सुनिष्ठित है। सुलष्ट है—अच्छा है इसका तपोनुष्ठान आदि।[13]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६० : ननु चाल्पप्राण इत्युक्ते अल्पबीज इति गतार्थं, बीजानामपि प्राणत्वाद् उच्यते, मुखनासिकाभ्यां या निर्गच्छति वायुः स एवेहलोक रूढितः प्राणो गृह्यते। अयं च द्वीन्द्रियादीनामेव संभवति, न बीजादेकेन्द्रियाणामिति।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, ४० : अप्पाणेत्ति वत्तव्वे बंधाणुलोमे अप्पपाणे।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६० : अल्पा—अविद्यमानाः प्राणाः—प्राणिनो यस्मिंस्तदल्पप्राणम्।

४. वही, पत्र ६० : अल्पानि—अविद्यमानानि बीजानि शाल्यादीनि यस्मिंस्तदल्पबीजं तस्मिन्, उपलक्षणत्वाच्चास्य सकलैकेन्द्रियविरहिते।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४० : बीजग्रहणात् तद्भेदाः यदि वा बीजान्यपि वर्जयन्ति, किमुत हरितत्रसादयः?

६. सुखबोधा, पत्र १२ : प्रतिच्छन्ने—उपरिप्रावरणाऽन्विते, अन्यथा संपातिमसत्त्वसंपातसंभवात्।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४० : संवुडो नाम सव्विंदियगुत्तो।

८. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०, ६१ : 'संवृते' पार्श्वतः कटकुट्यादिना संकटद्वारे, अटव्यां कुडंगादिषु वा।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१ : संवृतो वा सकलाश्रवविरमणात्।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१ : 'समकम्' अन्यैः सह, न त्वेकाक्येव रसलम्पटतया समूहासहिष्णुतया वा, अत्राह च—
साहवो तो चियत्तेणं, निमंतेज्ज जहक्कमं।
जई तत्थ केइ इच्छेज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए।।
(दशवै० ५।१।९५)
त्ति, गच्छस्थितसामाचारी चेयं गच्छस्यैवं जिनकालिपकादीनामपि मूलत्वख्यापनायोक्ता।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२।

११. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४० : समतं नाम सम्यग् रागद्वेषवियुतः एकाकी भुंक्ते, यस्तु मंडलीए भुंक्ते सोऽविसमगं संजएहिं भुंजेज्ज, सहान्यैः साधुभिरिति, अहवा समयं जहारातिणिओ लंबणे गेण्हई ऽण्णे वा, तथा अविक्खितवदनो गेण्हति।

१२. डॉ. जेकोबी, Jaina Sutras, P. 6।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेमिचन्द्राचार्य भी इन शब्दों की भोजन विषयक व्याख्या कर वैकल्पिक रूप में सामान्य विषयक व्याख्या और निरवद्य व्याख्या—दोनों करते हैं। यत्र-तत्र उदाहरणों में अन्तर है।[1]

डॉ. हर्मन जेकोबी के अनुसार इस पद्य का अर्थ है—मुनि ऐसे आहार को वर्जनीय माने जो सुकृत, सुपक्व आदि हो।[2]

यह अर्थ प्रसंगोपात्त नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत श्लोक में यह विवेक दिया गया है कि मुनि आहार के सम्बन्ध में क्या न बोले।

प्रस्तुत श्लोक दशवैकालिक ७।१४ में भी आया है। इस सूत्र के प्राचीन चूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर इस श्लोक में प्रयुक्त शब्दों को अनेक विशिष्ट क्रियाओं के प्रशंसक वचन मानते हैं। दूसरे चूर्णिकार जिनदास और वृत्तिकार हरिभद्रसूरी इन शब्दों के उदाहरण भोजन विषयक भी देते हैं और सामान्य भी।

विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं ७।४१ का टिप्पण।

## ५९. श्लोक ३७

अविनीत व्यक्ति दुष्ट प्रकृति का होता है। गुरु के अनुशासन से वह प्रसन्न नहीं होता। गुरु उसके व्यवहार से खिन्न हो जाते हैं। ऐसी दुष्ट प्रकृति वाले अविनीत शिष्य की तुलना दुष्ट घोड़े से की गई है। आचार्य भिक्षु ने अविनीत की इस मनोवृत्ति का मार्मिक चित्रण किया है—

*गलियार गधो घोडो अविनीत ते, कूट्या बिना आगे न चाले रे।*
*ज्यूं अविनीत ने काम भोलाविया, कह्या नीठ नीठ पार घाले रे।।*
*गलियार गधो घोडो मोल ले, खाडेती घणो दुःख पावे रे।*
*ज्यूं अविनीत ने विख्या दिया पछै, पग पग गुरु पिछतावै रे।।*[3]

## ६०. श्लोक ३८

प्रस्तुत श्लोक के दो प्रकार के पाठों के आधार पर चूर्णिकार ने तीन अर्थ किए हैं[4]—

**१. खड्डुगाहिं चवेडाहि**.....इस पाठ के आधार पर इसका अर्थ है—ठोकरों, चपेटों, कटुवचनों तथा दंड आदि के आघातों से शिष्य-हित के लिए कल्याणकारी अनुशासन करने वाले आचार्य को शिष्य पापदृष्टि मानता है। वह सोचता है—ये पापी हैं। इनके मन में मेरे प्रति करुणा नहीं है। ये क्रूर हैं। ये कारावास के अधिकारी की भांति मुझे दंडित करते हैं।

**२. खड्डुगा मे चवेडा मे**—इस पाठ के आधार पर इसका अर्थ है—मेरे लिए तो केवल ठोकरें खाना, चपेटें खाना, गाली सहना और मार खाना ही भाग्य में है—ऐसा सोचकर शिष्य कल्याण के लिए अनुशासन करने वाले आचार्य को भी पापदृष्टि वाला मानता है।[5]

३. आचार्य वाणी के द्वारा शिष्य पर अनुशासन करते हैं। पापदृष्टि शिष्य उसको ठोकरें और चपेटों के समान मानता है। वह उनकी हितकारी वाणी को आक्रोश और प्रहार के समान मानता है।

बृहद्वृत्ति में चूर्णि के प्रथम दो अर्थ उपलब्ध हैं।[6] सुखबोधा वृत्ति में तीसरा अर्थ मान्य है।[7] यह अर्थ मुनि की जीवन शैली के अनुकूल है। इसीलिए हमने इसे स्वीकार किया है।

जर्मन विद्वान् डॉ. हरमन जेकोबी और जार्ल सरपेन्टियर ने प्रस्तुत श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—(कुशिष्य सोचता है) मुझे ठोकर, चपेटा, आक्रोश और मारपीट प्राप्त होती है। वह शिष्य अपने पर हितकारी अनुशासन करने वाले गुरु को क्रूर और चंड मानता है।[8]

## ६१. श्लोक ३९

प्रस्तुत श्लोक में 'भाया' (भ्रासा) और 'कल्लाणं' (कल्याण) के स्थान पर विभक्ति-विहीन 'भाय' और 'कल्लाणं' का प्रयोग हुआ है। सासं—प्राकृत व्याकरण के अनुसार यह 'शास्यमानं' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[9] सरपेन्टियर ने 'शास्यमानं' को असंभव मानते हुए इसका रूप 'शास्य' ही होना चाहिए, ऐसा कहा है।[10]

## ६२. आचार्य का उपघात करने वाला न हो (बुद्धोवघाई न सिया)

बुद्ध या आचार्य की उपघात के तीन प्रकार हैं—

१. ज्ञान-उपघात—यह आचार्य अल्प-श्रुत है या ज्ञान का गोपन करता है।

२. दर्शन-उपघात—यह आचार्य उन्मार्ग का प्ररूपण करता है या उसमें श्रद्धा करता है।

३. चरित्र-उपघात—यह आचार्य पार्श्वस्थ या कुशील है।

---

१. सुखबोधा, पत्र ६।

२. जेकोबी, जैन सूत्राज पृष्ठ ६ : A monk Should avoid as unallowed such food as is well dressed, or well cooked, or well cut.....।

३. विनीत अविनीत की चौपई, ढाल २।११,१२।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४१ : खड्डुगाहिं चवेडाहिं अक्कोसेहिं बहेहि या एवमादि भिक्खुशासने प्रकारे तमाचार्य कल्लाणमणुसासेन्तं, कल्यमानयतीति कल्लाणं, इह परलोकं (कहितं) इत्यर्थः, तथापि तत् कल्याणमनुशासत् कल्लाणं वा तमाचार्यमनुशासनं पावदिट्ठित्ति मण्णति, अयं हि पापो मां हंति, निर्घृणत्वात् क्रौर्य्यत्वाच्च चारपालकवद् बाधयति। अपरकल्पः खड्डुगा मे चवेडा मे सो उ गम्मो इति, एस आयरिओ अक्कोविओ एवं चवेउ उच्चावएहिं मं आउस्सेहिं आउस्सति, एवमसौ कल्लाणमणुसाससंतं पावदिट्ठित्ति मन्नति। अपर आदेशः—वाग्भिरप्यसावनुशास्यमानः मन्यते तां वाचं 'खड्डुगा मे चवेडा मे' तथा हितामपि वाचं अक्कोसतित्ति, सासति वधं वा।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२।

६. सुखबोधा, पत्र १३।

७. (क) जैन सूत्राज, पृष्ठ ६।
(ख) दी उत्तराध्ययन सूत्र, पृष्ठ २८१, २८२।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२।

९. दी उत्तराध्ययन सूत्र, पृष्ठ २८२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार जो व्यवहार करता है, वह आचार्य का उपघाती होता है।

इसका दूसरा अर्थ यह है—जो शिष्य आचार्य की वृत्ति का उपघात करता है, वह भी 'बुद्धोपघाती' कहलाता है। आचार्य को दीर्घजीवी देख शिष्य सोचते हैं—'हमलोग कब तक इनकी परिचर्या करते रहेंगे? कोई ऐसा प्रयत्न करें, जिससे ये अनशन कर लें।' वे भिक्षा में पूर्ण नीरस आहार लाते हैं और कहते हैं—भंते! क्या करें? श्रावक लोग अच्छा आहार देते ही नहीं।' उधर श्रावक लोग यह सोचकर कि आचार्य वृद्ध हैं, सौभाग्य से हमारे यहां स्थान-स्थित हैं, अतः हम स्वतः प्राप्त प्रणीत-भोजन उन्हें दें। वे भिक्षा के लिए आने वाले साधुओं को प्रणीत-आहार देना चाहते हैं पर वे साधु उन्हें कहते हैं—'आचार्य प्रणीत-भोजन नहीं लेना चाहते। वे संलेखना कर रहे हैं—अनशन की तैयारी के लिए काया को कृश कर रहे हैं।' श्रावक आचार्य को कहते हैं—'भगवन्! आप महान् उद्योतकारी आचार्य हैं, फिर असमय में ही संलेखना क्यों करते हैं? आप हमारे लिए भारभूत नहीं हैं। हम शक्तिभर आपकी सेवा करना चाहते हैं। आपके विनीत साधु भी आपकी सेवा करना चाहते हैं। वे भी आपसे खिन्न नहीं हैं।' आचार्य इस सारी स्थिति को जानकर सोचते हैं—'इस अप्रतीतिहेतुक प्राण-धारण से क्या अर्थ है? धर्मार्थी पुरुष को अप्रीति उत्पन्न करना उचित नहीं।' वे तत्काल श्रावकों से कहते हैं—मैं नियत-विहारी होकर कितने दिन तक इन विनीत साधुओं को और आपको रोके रहूंगा। अच्छा है, अब मैं उत्तम-अर्थ का अनुसरण करूं। इस प्रकार श्रावकों को समझाकर आचार्य अनशन कर लेते हैं।[1]

शिष्यों की ऐसी चेष्टा भी आचार्य की उपघात करने वाली कहलाती है। इसलिए विनीत शिष्य बुद्धोपघाती न हो—आचार्य को अनशन आदि के लिए बाध्य करने वाला न हो।

## ६३. छिद्रान्वेषी (तोत्तगवेसए)

जिसके द्वारा व्यथा उत्पन्न होती है उसे तोत्त—तोत्र कहा जाता है। द्रव्य तोत्र हैं—चाबुक, प्रहार आदि और भाव तोत्र हैं—दोषोद्भावन, तिरस्कारयुक्त वचन, छिद्रान्वेषण आदि-आदि।[2] इसका एक अर्थ यह भी किया जा सकता है—विनीत शिष्य एक ही कार्य के लिए आचार्य से बार-बार कहलाने की इच्छा न करे।

## ६४. कुपित हुए (कुवियं)

विनीत शिष्य का कर्तव्य है कि वह आचार्य को कुपित जाने तो उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करे। प्रश्न होता है कि यह कैसे जाना जाए कि आचार्य कुपित हुए हैं? चूर्णिकार ने कुपित को जानने के छह लक्षण बताए हैं। वे ये हैं[3]—

*अचक्षुदानं कृतपूर्वनाशनं, विमाननं दुश्चरिताय कीर्तनम्।*
*कथाप्रसंगो न च नाम विस्मयो, विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम्॥*

१. उसकी ओर दृष्टि उठाकर भी न देखना।
२. पूर्वकृत को भुला देना।
३. तिरस्कार करना।
४. दुश्चरित्र का कथन करना।
५. बातचीत न करना।
६. उसकी विशेषता पर विस्मय प्रगट न करना।

## ६५. (पत्तिएण.....पंजलिउडो)

**'पतिएण'**—शान्त्याचार्य ने इसे आर्ष प्रयोग मानकर इसके संस्कृत रूप दो किए हैं—१. प्रातीतिकेन और २. प्रीत्या। प्रातीतिक के दो अर्थ किए गए हैं—शपथ और प्रतीति उत्पादक वचन।[4] उन्होंने मुख्य अर्थ 'प्रातीतिक' किया है। नेमिचंद्र ने इसका मुख्य अर्थ प्रीत्या—प्रेम से किया है।[5]

**'पंजलिउडो'**—शान्त्याचार्य के अनुसार इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—प्रकृताञ्जलिः और प्राञ्जलिपुटः।[6] नेमिचन्द्र ने दूसरे रूप को मान्य किया है।[7]

## ६६. धर्म से अर्जित (धम्मज्जियं)

चूर्णिकार ने इस शब्द को 'धार्मिक जीतं—धम्मज्जीतं' इस प्रकार व्युत्पन्न कर, इकार को ह्रस्व मान 'धम्मज्जियं' शब्द माना है। इसका अर्थ है—धर्म के अनुरूप जीत व्यवहार अर्थात् प्राचीन बहुश्रुत आचार्यों द्वारा आचीर्ण व्यवहार।[8]

बृहद्वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—

१. धर्मार्जितं—क्षमा, संयम आदि धर्मों से प्राप्त।

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४२ : बुद्धो—आयरियो, बुद्धानुपहन्तुं शीलं यस्य स भवति बुद्धोवघाती, उपेत्य घातः उपघातः, स तु त्रिविधः णाणादि, णाणे अप्पसुतो एस देसं गोप्पवइ इओ दसणे उम्मग्गं पण्णवेति सद्दहति वा, चरणे पासत्थो वा कुशीलो वा एवमादी, अहवा आयरियस्स वृत्तिमुपहंति, जहा एको आयरिओ अ (वया) यमग्गो (अगमओ), तस्स सीसा चिंतेंति—केच्चिरं कालं अम्हेहिं एयस्स वट्टियव्वंति?, तो तहा काहामो जहा भत्तं पच्चक्खाति, ताहे अंतं एव (विरसं भत्तं) उवणेंति, भणंति य—ण देंति सड्ढा, किं करेमो?, सावयाणं च कहेंति—जहा आयरिया पणीयं पाणभोयणं ण इच्छंति, संलेहणं करेंतित्ति, ततो सड्ढा आगंतूणं भणंति—किं खमासमणा! संलेहणं करेह?, ण वयं पडिचारगा वा णिव्विएण्णत्ति, ताहे ते जाणिऊण तेहिं चेव वारितंति भणंति—किं मे सिस्सेहिं तुब्भेहिं वाऽवरोहिएहिं?, उत्तमायरियं उत्तमट्ठं पडिवज्जामि, प. २ भत्तं पच्चक्खायंति, इत्येवं बुद्धोपघाती न सिया।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२,६३।

२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४२।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४२।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ६३।

५. सुखबोधा, पत्र १४ : पत्तिएणं ति प्रीत्या सान्नैव।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ६३।

७. सुखबोधा, पत्र १४।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४३ : धार्मिकं जीतं धम्मज्जीतं, इकारस्य ह्रस्वत्वं काउं।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ६४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. धर्म्यजीतं—धर्म के अनुरूप जीत व्यवहार।

प्रथम अर्थ में मुनि-धर्म के दस भेदों से समन्वित व्यवहार धर्मार्जित कहलाता है। दूसरे अर्थ में व्यवहार के आगम, धारणा आदि पांच भेदों में से 'जीत' व्यवहार को मुख्य माना गया है।

प्रस्तुत प्रसंग में 'धर्मार्जित' अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।

प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चरण में 'तत्' शब्द का प्रयोग है। यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध होता है। इस आधार पर शान्त्याचार्य ने 'धम्मज्जियं', 'ववहारं' और 'बुद्धेहायरियं'—इन तीन शब्दों की द्वितीया विभक्ति के स्थान में प्रथमा विभक्ति भी मानी है।[1]

## ६७. कार्य (किच्चाइं)

सभी व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'कृत्यानि'—कार्य किया है।[2] प्राचीन आदर्शों में यही पाठ प्राप्त होता है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में विभक्ति-व्यत्यय के आधार पर 'किच्चाणं' पाठ माना जाए तो इसका अर्थ होगा—आचार्य का। पूर्ववर्ती और पश्चात्वर्ती श्लोक में 'आयरियस्स' और 'किच्चाणं' पाठ प्राप्त है।

## ६८. प्रसन्न होते हैं (पसीयन्ति)

इसका अर्थ है—प्रसन्न होना। प्रश्न होता है कि क्या आचार्य प्रसन्न होने पर स्वर्ग की साक्षात् प्राप्ति कराते हैं? क्या वे मोक्ष की उपलब्धि कराते हैं? क्या वे इच्छित वरदान देते हैं? इसके उत्तर में कहा गया कि वे स्वर्ग आदि की उपलब्धि नहीं करा सकते, पर वे मोक्ष के हेतुभूत श्रुतज्ञान की प्राप्ति अवश्य कराते हैं।[3]

## ६९. प्रसन्न होकर (प्रसन्ना)

प्रसाद या प्रसन्नता का अर्थ चित्त की निर्मलता से किया जाने वाला अनुग्रह है। इसका सम्बन्ध हर्ष से नहीं है। इस संदर्भ में 'अप्पाणं विप्पसायए'—आचारांग का यह सूत्र मननीय है।[4] अध्यात्म का प्रसाद निर्विचार की अवस्था में उपलब्ध है। महर्षि पतंजलि का अभिमत भी यहां उल्लेखनीय है।[5]

## ७०. मोक्ष के हेतुभूत (अट्ठियं)

यहां 'अर्थ' शब्द मोक्षवाची है। मोक्ष की प्राप्ति का हेतुभूत ज्ञान आर्थिक कहलाता है।[6] यह श्रुतज्ञान का विशेषण है।

## ७१. पूज्यशास्त्र (पुज्जसत्थे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ पूज्यशासित किया है।[7]

बृहद्वृत्तिकार ने इसके तीन संस्कृत रूप प्रस्तुत कर उनके भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं[8]—

१. पूज्यशास्त्र—जिसके शास्त्रीय ज्ञान की समस्त जनता पूजा करती है।

२. पूज्यशास्ता—जिसके गुरु सभी के पूजनीय हैं अथवा जो अपनी वृत्तियों से गुरु की पूजा में विशेष निमित्त बनता है।

३. पूज्यशस्त—जो पूज्य और कल्याणकारी है।

इन तीनों में पहला अर्थ ही उपयुक्त है। नीति का वाक्य है—'शास्त्रं भारोऽविवेकिनाम्'—अविवेकी व्यक्ति के लिए शास्त्र भाररूप होता है अथवा विवेक-विकल व्यक्तियों का शास्त्र या कथन भारभूत होता है। जो विवेकी होता है, विनीत होता है, उसी का शास्त्रज्ञान सारभूत होता है, पूजनीय होता है।

## ७२. उसके सारे संशय मिट जाते हैं (सुविणीयसंसए)

बृहद्वृत्ति में इसके दो अर्थ प्राप्त हैं[9]—

१. सुविनीतसंशय—जिसकी सारी जिज्ञासाएं या संशय मिट गए हैं।

२. सुविनीतसंसत्क—जिसकी परिषद् सुविनीत है।

## ७३. कर्मसम्पदा (दसविध सामाचारी) से सम्पन्न (कम्मसंपया)

प्राचीन काल में क्रिया की उपसम्पदा के लिए साधुओं की विशेष नियुक्ति होती थी। वे साधुओं को दसविध सामाचारी का प्रशिक्षण देते और उसकी पालना कराने का ध्यान रखते थे। चूर्णि में 'कर्मसम्पदा' का अर्थ 'योगज विभूति सम्पन्न' किया है।[10]

बृहद्वृत्ति में इसके दो अर्थ किए गए हैं—सामाचारी से सम्पन्न और योगज विभूति से सम्पन्न।[11]

चूर्णिकार और बृहद्वृत्तिकार ने नागार्जुनीयास्तु पठन्ति के अंतर्गत इसका पाठान्तर 'मणिच्छियं संपयमुत्तमं गयत्ति' दिया है। यहां संपद् का अथ है—यथाख्यातचारित्ररूप सम्पदा।[12]

---

१. बृहद्वृत्ति; पत्र ६४।
२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४३।
   (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६५।
   (ग) सुखबोधा, पत्र १३।
३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४४।
४. आयारो, ३।५५।
५. पातंजलयोगदर्शन, १।४७ : निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५ : अर्यत इत्यर्थो—मोक्षः स प्रयोजनमस्येत्यार्थिकं।
७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४४।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र ६६।
९. बृहद्वृत्ति पत्र ६६ : सुष्ठु—अतिशयेन विनीत—अपनीतः प्रसादितगुरुणैव शास्त्रपरमार्थसमर्पणेन संशयो—दोलायमानमानसात्मकोस्येति, सुविनीतसंशयः। सुविनीता वा संसत्—परिषदस्येति सुविनीतसंसत्कः। विनीतस्य हि स्वयमतिशयविनीतैव परिषद् भवति।
१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४४ : अक्खीणमहाणसीयादिलद्धिजुत्तो।
११. बृहद्वृत्ति, पत्र ६६ : कर्म-क्रिया दशविधचक्रवालसामाचारीप्रभृति-रितिकर्तव्यता तस्याः सम्पत्—सम्पन्नता तया, लक्षणे तृतीया, ततः कर्मसम्पदोपलक्षितस्तिष्ठतीति सम्बन्धः,.....'कर्म-सम्पदा' अत्यनुष्ठान-माहात्म्यसमुपन्नपुलाकादिलब्धिसम्पत्त्या।
१२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ४५। (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ७४. श्लोक ४७

मोक्षविनय के पांच प्रकार हैं—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और औपचारिकविनय या अनाशातना-विनय।[1]

प्रस्तुत श्लोक में पांचों विनयों का निर्देश है—

१. पूज्यशास्त्र—ज्ञानविनय।

२. सुविनीतसंशय—दर्शनविनय।

३. कर्मसम्पदा—औपचारिकविनय।

४. तपःसामाचारी तथा समाधि—तपविनय।

५. पांच महाव्रत—चारित्रविनय।

### ७५. (देवगंधव्व....मलपंकपुव्वयं....अप्परए)

**देवगंधव्व**—यहां 'देव' शब्द से वैमानिक तथा ज्योतिष्क देवों का तथा 'गंधर्व' शब्द से व्यंतर और भुवनपति देवों का ग्रहण किया है।

**मलपंकपुव्वयं**—मनुष्य-शरीर का निर्माण मल और पंक (रक्त और वीर्य) से होता है, इसलिए उसे मल-पंक-पूर्वक कहा जाता है।[2]

**अप्परए**—जो 'अल्परत' होता है, मोहजनित क्रीड़ा से रहित होता है, उसे 'अल्परत' कहा जाता है। जिसके बध्यमान-कर्म अल्प होते हैं उसे 'अल्परजाः' कहा जाता है। 'अप्परए' के ये दोनों अर्थ हो सकते हैं।[3]

---

१. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा २६१ :
दंसणनाणचरित्ते, तवे य तह ओवयारिए चेव।
एसो उ मोक्खविणयो, पंचविहो होइ नायव्वो।।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६७ : 'मलपंकपुव्वयं' ति जीवशुद्ध्यपहारितया मलवन्मलः स चासौ 'पावे वज्जे वेरे पंके पणए य' त्ति वचनात् षड्कश्च कर्ममलषड्कः स पूर्व—कार्यात् प्रथमभावितया कारणमस्येति मलषड्कपूर्वकं, यद्वा.....'माओउयं पिऊसुक्कं' त्ति वचनात् रक्तशुक्रे एव मलषड्की तत्पूर्वकम्।

३. वही, पत्र ६७ : 'अप्परए' त्ति अल्पमिति.....अविद्यमानं रतमिति..... .... क्रीडितं मोहनीयकर्मोदयजनितमस्येति अल्परतो लवसप्तमादिः, अल्परजा वा प्रतनुबध्यमानकर्मा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# बीअं अज्झयणं

## परीसह पविभत्ती

# दूसरा अध्ययन

## परीषह-प्रविभक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

उत्तराध्ययन के इस दूसरे अध्ययन में मुनि के परीषहों का निरूपण है। कर्म-प्रवाद पूर्व के १७वें प्राभृत में परीषहों का नय और उदाहरण-सहित निरूपण है। वही यहां उद्धृत किया गया है। यह निर्युक्तिकार का अभिमत है।[1] दशवैकालिक के सभी अध्ययन जिस प्रकार पूर्वों से उद्धृत हैं, उसी प्रकार उत्तराध्ययन का यह अध्ययन भी उद्धृत है।

जो सहा जाता है उसे कहते हैं परीषह। सहने के दो प्रयोजन हैं : (१) मार्गाच्यवन और (२) निर्जरा। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिये और निर्जरा—कर्मों को क्षीण करने के लिये कुछ सहा जाता है।[2]

भगवान महावीर की धर्म-प्ररूपणा के दो मुख्य अंग हैं—अहिंसा और कष्ट-सहिष्णुता।[3] कष्ट सहने का अर्थ शरीर, इन्द्रिय और मन को पीड़ित करना नहीं, किन्तु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना को सुस्थिर बनाये रखना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है :—

*सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे विणस्सदि।*
*तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए।।*[4]

अर्थात् सुख से भावित ज्ञान दुःख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, इसलिए योगी को यथाशक्ति अपने-आपको दुःख से भावित करना चाहिये।

इसका अर्थ काया को क्लेश देना नहीं है। यद्यपि एक सीमित अर्थ में काय-क्लेश भी तप रूप में स्वीकृत है किन्तु परीषह और काय-क्लेश एक नहीं हैं। काय-क्लेश आसन करने, ग्रीष्म-ऋतु में आतापना लेने, वर्षा-ऋतु में तरुमूल में निवास करने, शीत ऋतु में अपावृत स्थान में सोने और नाना प्रकार की प्रतिमाओं को स्वीकार करने, न खुतलाने, शरीर की विभूषा न करने के अर्थ में स्वीकृत है।[5]

उक्त प्रकारों में से कोई कष्ट जो स्वयं इच्छानुसार झेला जाता है, वह काय-क्लेश है और जो इच्छा के बिना प्राप्त होता है, वह परीषह है।[6]

काय-क्लेश के अभ्यास से शारीरिक दुःख को सहने की क्षमता, शारीरिक सुखों के प्रति अनाकांक्षा और क्वचिद् जिनशासन की प्रभावना भी होती है।[7] परीषह सहने करने से स्वीकृत अहिंसा आदि धर्मों की सुरक्षा होती है।

इस अध्ययन के अनुसार परीषह बाईस हैं—

| | |
|---|---|
| १. क्षुधा | १२. आक्रोश |
| २. पिपासा | १३. वध |
| ३. शीत | १४. याचना |
| ४. उष्ण | १५. अलाभ |
| ५. दंश-मशक | १६. रोग |
| ६. अचेल | १७. तृण-स्पर्श |
| ७. अरति | १८. जल्ल |
| ८. स्त्री | १९. सत्कार-पुरस्कार |
| ९. चर्या | २०. प्रज्ञा |
| १०. निषद्या | २१. अज्ञान |
| ११. शय्या | २२. दर्शन |

तत्त्वार्थ सूत्र में भी इनकी संख्या बाईस ही है।[8]

इनमें दर्शन-परीषह और प्रज्ञा-परीषह—ये दो मार्ग से अच्यवन में सहायक होते हैं और शेष बीस परीषह निर्जरा के लिए होते हैं।[9]

समवायांग (समवाय २२) में अन्तिम तीन परीषहों का क्रम उत्तराध्ययन से भिन्न है :—

| उत्तराध्ययन | समवायांग |
|---|---|
| १. प्रज्ञा | १. ज्ञान |
| २. अज्ञान | २. दर्शन |
| ३. दर्शन | ३. प्रज्ञा |

अभयदेवसूरी ने समवायांग की वृत्ति में अज्ञान-परीषह

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ६९
कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं।
सयणं सोदाहरणं तं चे इहंपि णायव्वं।।

२. तत्त्वार्थसूत्र, ९।८ : मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

३. सूयगडो, १।२।१।१४ :
धुणिया कुलियं व लेववं किसए देहमणासणा इह।
अविहिंसामेव पव्वए अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ।।
वृत्ति—विविधा हिंसा विहिंसा न विहिंसा अविहिंसा तामेव प्रकर्षेण व्रजेत्, अहिंसाप्रधानो भवेदित्यर्थः अनुगतो—मोक्षं प्रयत्नुकूलो धर्मोऽनुधर्मः असावहिंसालक्षणः परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मो 'मुनिनो सर्वज्ञेन 'प्रवेदितः' कथित इति।

४. अष्टपाहुड, मोक्ष प्राभृत ६२।

५. (क) उत्तरज्झयणाणि ३०।२७ :
ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं।।
(ख) ओववाइय, सूत्र ३६ : से किं तं कायकिलेसे? कायकिलेसे अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—ठाणाट्ठिइए उक्कुडुयासणिए पडिमट्ठाई वीरासणिए नेसज्जिए आयावए अवाउडए अकंडुयए अणिट्ठुहए सव्वगाय-परिकम्मविभूसविप्पमुक्के।

६. तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुतसागरीय), पृष्ठ ३०१, सू. ९।१७, की वृत्ति : यदृच्छया समागतः परीषहः, स्वयमेव कृतः कायक्लेशः।

७. वही : शरीरदुःखसहनार्थं शरीरसुखानभिष्वाङ्गार्थं जिनधर्मप्रभावनाद्यर्थञ्च।

८. तत्त्वार्थसूत्र, ९।९ : क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।

९. प्रवचनसारोद्धार, पत्र १९२, गा. ६८५ की वृत्ति : तत्र मार्गाच्यवनार्थं दर्शनपरीषहः प्रज्ञापरीषहश्च, शेषा विंशतिर्निर्जरार्थम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का क्वचित् श्रुति के रूप में उल्लेख किया है।

तत्त्वार्थसूत्र (९।९) में 'अचेल' के स्थान पर 'नाग्नय' परीषह का उल्लेख है और दर्शन-परीषह के स्थान पर अनशन-परीषह का। प्रवचनसारोद्धार (गाथा ६८६) में दर्शन-परीषह के स्थान में सम्यक्त्व-परीषह माना गया है। दर्शन और सम्यक्त्व यह केवल शब्द-भेद है।

अचेल और नाग्न्य में थोड़ा भेद भी है। अचेल का अर्थ है—१. नग्नता और २. फटे हुए या अल्पमूल्य वाले वस्त्र।[1]

तत्त्वार्थसूत्र श्रुतसागरीय वृत्ति में प्रज्ञा-परीषह और अदर्शन-परीषह की व्याख्या मूल उत्तराध्ययन के प्रज्ञा और दर्शन-परीषह से भिन्न है। उत्तराध्ययन (२।४२) में जो अज्ञान-परीषह की व्याख्या है वह श्रुतसागरीय में अदर्शन की व्याख्या है।

तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय) पृ. २९५

प्रज्ञा—परीषह :—

*योग मुनिस्तर्कव्याकरणच्छन्दोलंकारसारसाहित्याध्यात्मशास्त्रादिनिधाननांगपूर्वप्रकीर्णकनिपुणोऽपि सन् ज्ञानमदं न करोति, ममाग्रतः प्रवादिनः सिंहशब्दश्रवणात् वनगजा इव पलायन्ते... .....मदं नाधत्ते स मुनिः प्रज्ञापरीषहविजयी भवति।*

अर्थ :—जो मुनि तर्क, व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलंकार, अध्यात्मशास्त्र आदि विद्याओं में निपुन होने पर भी ज्ञान का मद नहीं करता है तथा जो इस बात का घमंड नहीं करता है कि प्रवादी मेरे सामने से उसी प्रकार भाग जाते हैं जिस प्रकार सिंह के शब्द को सुनकर हाथी भाग जाते हैं, उस मुनि के प्रज्ञा-परीषह-जय होता है।

उत्तराध्ययन अ. २

प्रज्ञा—परीषह :—

*से नूणं मए पुव्वं, कम्माणाणफला कडा।*
*जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई।।४०।।*
*अह पच्छा उइज्जंति, कम्माणाणफलाकडा।*
*एवमस्सासि अप्पाणं, णच्चा कम्मविवागयं।।४१।।*

अर्थ :—निश्चय ही मैंने पूर्व काल में अज्ञान-रूप फल देने वाले कर्म किये हैं। उन्हीं के कारण मैं किसी से कुछ पूछे जाने पर भी कुछ नहीं जानता—उत्तर देना नहीं जानता। पहले किये हुए अज्ञान-रूप फल देने वाले कर्म पकने के पश्चात् उदय में आते हैं—इस प्रकार कर्म के विपाक को जानकर आत्मा को आश्वासन दे।

अदर्शन-परीषह :—

*यो मुनिः.....चिरदीक्षितोऽपि सन्नेवं न चिन्तयति अद्यापि ममातिशयवद्बोधनं न सञ्जायते उत्कृष्टश्रुतव्रतादिविधायिनां किल प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुर्भवन्ति, इति श्रुतिर्मिथ्या वर्तते दीक्षेयं निष्फला व्रतधारणंच फल्गु एव वर्तते इति सम्यग्दर्शनविशुद्धि-सन्निधानादेवं न मनसि करोति तस्य मुनेरदर्शनपरीषहजयो भवतीत्यवसानीयम्।*

अर्थ :—चिर दीक्षित होने पर भी अवधिज्ञान या ऋद्धि आदि की प्राप्ति न होने पर जो मुनि विचार नहीं करता है कि यह दीक्षा निष्फल है, व्रतों का धारण करना व्यर्थ है इत्यादि, उस मुनि के अदर्शन-परीषह-जय होता है।

दर्शन-परीषह :—

*णत्थि णूणं परे लोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो।*
*अदुवा वंचिओ मि त्ति, इइ भिक्खू ण चिंतए।।४४।।*
*अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवावि भविस्सइ।*
*मुसं ते एवमाहंसु, इइ भिक्खू न चिंतए।।४५।।*

अर्थ :—निश्चय ही परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि भी नहीं है अथवा मैं ठगा गया हूं—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे। जिन हुये थे, जिन हैं और जिन होंगे ऐसा जो कहते हैं वे झूठ बोलते हैं—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

अज्ञान-परीषह :—

*निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।*
*जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावगं।।४२।।*
*तवोवहाणमादाय, पडिमं पडिवज्जओ।*
*एवं पि विरहओ, मे छउमं ण णियट्टइ।।४३।।*

अर्थ :—मैं मैथुन से निवृत्त हुआ, इन्द्रिय और मन का मैंने संवरण किया—यह सब निरर्थक है। क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी—यह मैं साक्षात् नहीं जानता।

तपस्या और उपधान को स्वीकार करता हूं, प्रतिमा का पालन करता हूं—इस प्रकार विशेष चर्या से विहरण करने पर भी मेरा छद्म (ज्ञानावरण आदि कर्म) निवर्तित नहीं हो रहा है—ऐसा चिन्तन न करे।

मूलाचार में विचिकित्सा के दो भेद किये हैं—(१) द्रव्य-विचिकित्सा और (२) भाव-विचिकित्सा। भाव-विचिकित्सा के अंतर्गत बाईस परीषहों का उल्लेख हुआ है। उनमें अरति के स्थान पर अरति-रति, याचना के स्थान पर अयाचना और दर्शन के स्थान पर अदर्शन-परीषह है।[2]

इन बाईस परीषहों के स्वरूप के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कई परीषह सामान्य व्यक्तियों के लिए नहीं थे। वे जिनकल्प-प्रतिमा को स्वीकार करने वाले विशेष संहनन और धृति-युक्त मुनियों के लिये थे। शान्त्याचार्य ने भी इस ओर संकेत किया है। उनके अनुसार अचेल-परीषह (जहां हम अचेल का

१. प्रवचनसारोद्धार, पत्र १९३, गा. ६८५ की वृत्ति : चेलस्य अभावो अचेलं जिनकल्पिकादीनां अन्येषां तु यतीनां भिन्नं स्फुटितं अल्पमूल्यं च चेलमप्यचेलमुच्यते।

२. मूलाचार, ५।७२,७३ :
छुहतण्हा सीदुण्हा दंसमसयमचेलभावो य।
अरदि रदि इत्थि चरिया णिसीधिया सेज्ज अक्कोसो।।
वधजायणं अलाहो रोग तणप्फास जल्लसक्कारो।
तह चेव पण्णपरिसह अण्णाणमदंसणं खमणं।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ नग्नता करते हैं) जिनकल्पी मुनियों के लिये तथा ऐसे स्थविरकल्पी मुनियों के लिये ग्राह्य है, जिन्हे वस्त्र मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, जिनके पास वस्त्रों का अभाव है, जिनके वस्त्र जीर्ण हो गये हैं अथवा जो वर्षा आदि के बिना वस्त्र-धारण नहीं कर सकते[1] और तृणस्पर्श-परीषह केवल जिनकल्पी मुनियों के लिए ग्राह्य है।[2]

प्रवचनसारोद्धार की टीका में सर्वथा नग्न रहना तथा चिकित्सा न कराना, केवल जिनकल्पी मुनि के लिये ही बतलाया है।[3]

व्याख्याकारों ने सभी परीषहों के साथ कथाएं जोड़कर उन्हें सुबोध बनाया है। कथाओं का संकेत निर्युक्ति में भी प्राप्त है।

परीषह-उत्पत्ति के कारण इस प्रकार बताये गये हैं[4] :—

| परीषह | उत्पत्ति के कारण कर्म |
|---|---|
| १. प्रज्ञा | ज्ञानावरणीय |
| २. अज्ञान | ज्ञानावरणीय |
| ३. अलाभ | अंतराय |
| ४. अरति | चारित्र मोहनीय |
| ५. अचेल | चारित्र मोहनीय |
| ६. स्त्री | चारित्र मोहनीय |
| ७. निषद्या | चारित्र मोहनीय |
| ८. याचना | चारित्र मोहनीय |
| ९. आक्रोश | चारित्र मोहनीय |
| १०. सत्कार-पुरस्कार | चारित्र मोहनीय |
| ११. दर्शन | दर्शन मोहनीय |
| १२. क्षुधा | वेदनीय |
| १३. पिपासा | वेदनीय |
| १४. शीत | वेदनीय |
| १५. उष्ण | वेदनीय |
| १६. दंश-मशक | वेदनीय |
| १७. चर्या | वेदनीय |
| १८. शय्या | वेदनीय |
| १९. वध | वेदनीय |
| २०. रोग | वेदनीय |
| २१. तृण-स्पर्श | वेदनीय |
| २२. जल्ल | वेदनीय |

ये सभी परीषह नौवें गुणस्थान तक हो सकते हैं। दशवें गुणस्थान में चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले अरति आदि सात परीषह तथा दर्शन-मोहनीय से उत्पन्न दर्शन-परीषह को छोड़कर शेष चौदह परीषह होते हैं। छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि में भी ये ही चौदह परीषह हो सकते हैं। केवली में मात्र वेदनीय-कर्म के उदय से होने वाले ग्यारह परीषह पाये जाते हैं।[5]

तत्त्वार्थ सूत्र में एक साथ उन्नीस परीषह माने हैं। जैसे—शीत और उष्ण में से कोई एक होता है। शय्या-परीषह के होने पर निषद्या और चर्या-परीषह नहीं होते। निषद्या-परीषह होने पर शय्या और चर्या-परीषह नहीं होते।[6]

बौद्ध-भिक्षु काय-क्लेश को महत्त्व नहीं देते किन्तु परीषह-सहन की स्थिति को वे भी अस्वीकार नहीं करते। स्वयं महात्मा बुद्ध ने कहा है—"मुनि शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, वात, आतप, देश और सरीसृप का सामना कर खग्ग-विषाण की तरह अकेला विहरण करे।"[7]

आचारांग निर्युक्ति में परीषह के दो विभाग हैं[8] :—

१. शीत—मन्द परिणाम वाले। जैसे—स्त्री-परीषह और सत्कार-परीषह। ये दो अनुकूल परीषह हैं।

२. उष्ण—तीव्र परिणाम वाले। शेष बीस। ये प्रतिकूल परीषह हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में परीषहों के विवेचन के रूप में मुनि-चर्या का बहुत ही महत्त्वपूर्ण निरूपण हुआ है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ९२,९३ : जिनकल्पप्रतिपत्तौ स्थविरकल्पेऽपि दुर्लभवस्त्रादौ वा सर्वथा चेलाभावेन सति वा चेले विना वर्षादिनिमित्तमप्रावरणेन जीर्णादिवस्त्रतया वा 'अचेलक' इति अवस्त्रोऽपि भवति।

२. वही, पत्र १२२ जिनकल्पिकापेक्षं चैतत्, स्थविरकल्पिकाश्च सापेक्षसंयमत्वात्सेवन्तेऽपीति।

३. (क) प्रवचनसारोद्धार, पत्र १९३ : गा. ६८५ की वृत्ति : चेलस्य अभावो अचेलं जिनकल्पिकादीनां.....।
(ख) वही, पत्र १९४ : ६८६ की वृत्ति : ज्वरकासश्वासादिके सत्यापि न गच्छनिर्गता जिनकल्पिकादयश्चिकित्साविधापने प्रवर्तन्ते।

४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ७३-७८ :
णाणावरणे वेए मोहंमिय अन्तराइए चेव।
एएसुं बावीसं परीसहा हुंति णायव्वा।।
पन्नान्नाणपरिसहा णाणावरणंमि हुंति दुन्नेए।
इक्को य अंतराए अलाहपरीसहो होई।।
अरई अचेल इत्थी निसीहिया जायणा य अक्कोसे।
सक्कारपुरक्कारे चरित्तमोहंमि सत्तेए।।
अरईए दुगुंछाए पुंवेय भयस्स चेव माणस्स।
कोहस्स य लोहस्स य उदएण परीसहा सत्त।।

५. वही, गाथा ७८।

६. (क) तत्त्वार्थ सूत्र, ९/१७ : एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशतिः।
(ख) तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय), पृ. २९९ : शीतोष्णपरीषहयोर्मध्ये अन्यतरो भवति शीतमुष्णो वा। शय्यापरीषहे सति निषद्याचर्ये न भवतः, निषद्यापरीषहे शय्याचर्ये द्वौ न भवतः, चर्यापरीषहे शय्यानिषद्ये द्वौ न भवतः। इति त्रयाणामसम्भवे एकोनविंशतिरेकस्मिन् युगपद् भवति।

७. सुत्तनिपात, उरवग्ग, ३।१८ :
सीतं च उण्हं च खुदं पीपासं, वातातपे डंससिरिंसपे च।
सब्बानिपेतानि अभिसंभवित्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो।।

८. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २०२,२०३ :
इत्थी सक्कार परिसहा य, दो भाव-सीयला एए।
सेसा वीसं उण्हा, परीसहा होंति णायव्वा।।
जे तिव्वपरिणामा, परीसहा ते भवन्ति उण्हा उ।
जे मन्दपरिणामा, परीसहा ते भवे सीया।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# बीयं अज्झयणं : दूसरा अध्ययन
## परीसह पविभत्ती : परीषह-प्रविभक्ति

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| सू. १—सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं— | *श्रुतं मया आयुष्मान्! तेन भगवता एवमाख्यातम्—* | सू. १—आयुष्मन्! मैंने सुना है, भगवान् ने इस प्रकार कहा— |
| इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खु सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा। | *इह खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः, यान् भिक्षुः श्रुत्वा, ज्ञात्वा, चित्वा, अभिभूय भिक्षाचर्यया परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत।* | निर्ग्रंथ-प्रवचन में बाईस परीषह होते हैं, जो काश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं, जिन्हें सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचितकर[1], पराजितकर भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नहीं होता। |
| सू. २—कयरे ते खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया? जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा। | *कतरे ते खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः? यान् भिक्षुः श्रुत्वा, ज्ञात्वा, चित्वा, अभिभूय भिक्षाचर्यया परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत।* | सू. २—वे बाईस परीषह कौन से हैं जो काश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं, जिन्हें सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचितकर, पराजितकर भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नहीं होता। |
| सू. ३—इमे ते खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा, तं जहा— | *इमे ते खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः, यान् भिक्षुः श्रुत्वा, ज्ञात्वा, चित्वा, अभिभूय भिक्षाचर्यया परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत। तद्यथा—* | सू. ३—वे बाईस परीषह कौन से हैं, जो काश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं, जिन्हें सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचितकर, पराजितकर भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नहीं होता। जैसे— |
| १. दिगिंछापरीसहे, २. पिवासापरीसहे, ३. सीयपरीसहे, ४. उसिणपरीसहे, ५. दंसमसयपरीसहे ६. अचेलपरीसहे, ७. अरइपरीसहे, ८. इत्थीपरीसहे, ९. चरियापरीसहे, १०. निसीहियापरीसहे, ११. सेज्जापरीसहे, १२. अक्कोसपरीसहे, १३. वधपरीसहे, १४. जायणापरीसहे, १५. अलाभपरीसहे, १६. रोगपरीसहे, १७. तणफासपरीसहे, १८. जल्लपरीसहे, १९. सक्कार- | *१. 'दिगिंछा'-परीषह २. पिपासा-परीषहः ३. शीतपरीषहः, ४. उष्ण-परीषहः, ५. दंशमशकपरीषहः, ६. अचेलपरीषहः, ७. अरति-परीषहः, ८. स्त्रीपरीषहः, ९. चर्या-परीषहः, १०. निषीधिका (निषद्या?)-परीषहः, ११. शय्यापरीषहः, १२. आक्रोशपरीषहः, १३. वध-परीषहः, १४. याचनापरीषहः, १५. अलाभपरीषहः, १६. रोग-परीषहः, १७. तृणस्पर्शपरीषहः, १८. 'जल्ल'-परीषहः, १९. सत्कार-* | १. क्षुधा परीषह,<br>२. पिपासा परीषह,<br>३. शीत परीषह,<br>४. उष्ण परीषह,<br>५. दंशमशक परीषह,<br>६. अचेल परीषह,<br>७. अरति परीषह,<br>८. स्त्री परीषह,<br>९. चर्या परीषह,<br>१०. निषद्या परीषह,<br>११. शय्या परीषह,<br>१२. आक्रोश परीषह,<br>१३. वध परीषह,<br>१४. याचना परीषह,<br>१५. अलाभ परीषह,<br>१६. रोग परीषह,<br>१७. तृणस्पर्श परीषह,<br>१८. जल्ल परीषह,<br>१९. सत्कार-पुरस्कार परीषह, |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरक्कारपरीसहे, २०. पन्नापरीसहे, २१. अन्नाणपरीसहे, २२. दंसण-परीसहे।

*पुरस्कारपरीषहः, २०. प्रज्ञा-परीषहः, २१. अज्ञानपरीषहः, २२. दर्शनपरीषहः।*

२०. प्रज्ञा परीषह,
२१. अज्ञान परीषह,
२२. दर्शन परीषह।

१. परीसहाणं पविभत्ती
कासवेणं पवेइया।
तं मे उदाहरिस्सामि
आणुपुव्विं सुणेह मे।।

*परीषहाणां प्रविभक्तिः*
*काश्यपेन प्रवेदिता।*
*तां भवतामुदाहरिष्यामि*
*आनुपूर्व्या शृणुत मे।।*

परीषहों का जो विभाग काश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित या परूपित है, उसे मैं क्रमवार कहता हूं। तू मुझे सुन।

(१) दिगिंछापरीसहे

*(१) 'दिगिंछा'-परीषहः*

(१) क्षुधा परीषह

२. दिगिंछापरिगए देहे
तवस्सी भिक्खु थामवं।
न छिंदे न छिन्दावए
न पए न पयावए।।

*'दिगिंछा' परिगते देहे*
*तपस्वी भिक्षुः स्थामवान्।*
*न छिन्द्यात् न छेदयेत्*
*न पचेत न पाचयेत्।।*

देह में क्षुधा व्याप्त होने पर[2] तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु फल आदि का छेदन न करे, न कराए। उन्हें न पकाए और न पकवाए।[3]

३. कालीपव्वंगसंकासे
किसे धमणिसंतए।
मायण्णे असणपाणस्स
अदीणमणसो चरे।।

*कालीपर्वाङ्गसङ्काशः*
*कृशो धमनिसन्ततः।*
*मात्रज्ञोऽशनपानयोः*
*आदीनमनाश्चरेत्।।*

शरीर के अंग भूख से सूखकर काकजंघा[4] नामक तृण जैसे दुर्बल हो जाएं, शरीर कृश हो जाए, धमनियों का ढांचा[5] भर रह जाए तो भी आहार-पानी की मर्यादा को जानने वाला साधु अदीनभाव से विहरण करे।

(२) पिवासापरीसहे

*(२) पिपासापरीषहः*

(२) पिपासा परीषह

४. तओ पुट्ठो पिवासाए
दोगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं न सेविज्जा
वियडस्सेसणं चरे।।

*ततः स्पृष्टः पिपासया*
*जुगुप्सी लज्जासंयतः।*
*शीतोदकं न सेवेत*
*'वियडस्स' एषणां चरेत्।।*

अहिंसक या करुणाशील[6] लज्जावान् संयमी साधु प्यास से पीड़ित होने पर सचित पानी[7] का सेवन न करे, किन्तु प्रासुक जल की एषणा[8] करे।

५. छिन्नावाएसु पंथेसु
आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्कमुहे ऽदीणे
तं तितिक्खे परीसहं।।

*छिन्नापातेषु पथिषु*
*आतुरः सुपिपासितः।*
*परिशुष्कमुखोऽदीनः*
*तं तितिक्षेत परीषहम्।।*

निर्जन मार्ग में जाते समय प्यास से अत्यंत आकुल हो जाने पर, मुंह सूख जाने पर भी साधु अदीनभाव से प्यास के परीषह को सहन करे।[9]

(३) सीयपरीसहे

*(३) शीतपरीषहः*

(३) शीत परीषह

६. चरंतं विरयं लूहं
सीयं फुसइ एगया।
नाइवेलं मुणी गच्छे
सोच्चाणं जिणसासणं।।

*चरन्तं विरतं रूक्षं*
*शीतं स्पृशति एकदा।*
*नातिवेलं मुनिर्गच्छेत्*
*श्रुत्वा जिनशासनम्।।*

विचरते हुए विरत और रूक्ष शरीर वाले साधु को[10] शीत ऋतु में सर्दी सताती है। फिर भी वह जिन-शासन को सुनकर (आगम के उपदेश को ध्यान में रखकर) स्वाध्याय आदि की वेला (अथवा मर्यादा) का अतिक्रमण न करे।[11]

७. न मे निवारणं अत्थि
छदित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि
इइ भिक्खू न चिंतए।।

*न मे निवारणमस्ति*
*छवित्राणं न विद्यते*
*अहं तु अग्निं सेवे*
*इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्।।*

शीत से प्रताड़ित होने पर मुनि ऐसा न सोचे—मेरे पास शीत-निवारक घर आदि नहीं हैं और छवित्राण (वस्त्र, कम्बल आदि) भी नहीं है, इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) उसिणपरीसहे

८. उसिणपरियावेणं
परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु नो परियावेणं
सायं नो परिदेवए।।

९. उण्हाहितत्ते मेहावी
सिणाणं नो वि पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा
न वीएज्जा य अप्पयं।।

(५) दंसमसयपरीसहे

१०. पुट्ठो य दंसमसएहिं
समरेव महामुणी।
नागो संगामसीसे वा
सूरो अभिहणे परं।।

११. न संतसे न वारेज्जा
मणं पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे
भुंजंते मंससोणियं।।

(६) अचेलपरीसहे

१२. परिजुण्णेहिं वत्थेहिं
होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्खं
इइ भिक्खू न चिंतए।।

१३. एगयाचेलए होइ
सचेले यावि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा
नाणी नो परिदेवए।।

(७) अरइपरीसहे

१४. गामाणुगामं रीयंतं
अणगारं अकिंचणं।
अरई अणुप्पविसे
तं तितिक्खे परीसहं।।

१५. अरइं पिट्ठओ किच्चा
विरए आयरक्खिए।
धम्मारामे निरारंभे
उवसंते मुणी चरे।।

(४) उष्णपरीषहः

उष्णपरितापेन
परिदाहेन तर्जितः।
ग्रीष्मे वा परितापेन
सातं नो परिदेवेत।।

उष्णाभितप्तो मेधावी
स्नानं नो अपि पार्थयेत्।
गात्रं नो परिषिञ्चेत्
न वीजयेच्चात्मकम्।।

(५) 'दंशमशकपरीषहः

स्पृष्टश्च दंशमशकैः
सम एव महामुनिः।
नागः संग्रामशीर्षे इव
शूरोऽभिहन्यात् परम्।।

न संत्रसेत् न वारयेत्
मनो पि न प्रदोषयेत्।
उपेक्षेत न हन्यात् प्राणान्
भुञ्जानान्मांसशोणितम्।।

(६) अचेलपरीषहः

परिजीर्णैर्वस्त्रैः
भविष्यामीत्यचेलकः।
अथवा सचेलको भविष्यामि
इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्।।

एकदाऽचेलको भवति
सचेलश्चापि एकदा।
एतद् धर्महितं ज्ञात्वा
ज्ञानी नो परिदेवेत।।

(७) 'अरतिपरीषहः

ग्रामानुग्रामं रीयमाणं
अनगारमकिञ्चनम्।
अरतिर्नुप्रविशेत्
तं तितिक्षेत परीषहम्।।

अरतिं पृष्ठतः कृत्वा
विरतिः आत्मरक्षितः।
धर्मारामो निरारम्भः
उपशान्तो मुनिश्चरेत्।।

(४) उष्ण परीषह

गरम धूलि आदि के परिताप, स्वेद, मैल या प्यास के दाह[१२] अथवा ग्रीष्मकालीन सूर्य के परिताप से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी मुनि सुख के लिए विलाप न करे—आकुल-व्याकुल न बने।

गर्मी से अभितप्त होने पर भी मेधावी[१३] मुनि स्नान की इच्छा न करे। शरीर को गीला न करे। पंखे से शरीर पर हवा न ले।

(५) दंशमशक परीषह

डांस और मच्छरों का उपद्रव होने पर भी महामुनि समभाव में रहे[१४], क्रोध आदि का वैसे ही दमन करे जैसे युद्ध के अग्रभाग में रहा हुआ शूर[१५] हाथी बाणों को नहीं गिनता हुआ शत्रुओं का हनन करता है।

भिक्षु उन दंश-मशकों से संत्रस्त न हो[१६], उन्हें हटाए नहीं[१७]। मन में भी उनके प्रति द्वेष न लाए। मांस और रक्त खाने-पीने पर भी उनकी उपेक्षा करे[१८], किन्तु उनका हनन न करे।[१९]

(६) अचेल परीषह

"वस्त्र फट गए हैं इसलिए मैं अचेल हो जाऊंगा अथवा वस्त्र मिलने पर फिर मैं सचेल हो जाऊंगा"—मुनि ऐसा न सोचे। (दीन और हर्ष दोनों प्रकार का भाव न लाए।)

जिनकल्प-दशा में अथवा वस्त्र न मिलने पर मुनि अचेलक भी होता है और स्थविरकल्पदशा में वह सचेलक भी होता है। अवस्था-भेद के अनुसार इन दोनों (सचेलत्व और अचेलत्व) को यति धर्म के लिए हितकर जानकर ज्ञानी मुनि वस्त्र न मिलने पर दीन न बने।[२०]

(७) अरति परीषह

एक गांव से दूसरे गांव में विहार करते हुए अकिंचन मुनि के चित्त में अरति उत्पन्न हो जाये तो उस परीषह को वह सहन करे।[२१]

हिंसा आदि से विरत रहने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला[२२], धर्म में रमण करने वाला, असत् प्रवृत्ति से दूर रहने वाला, उपशान्त मुनि अरति को दूर कर विहरण करे।[२३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(८) इत्थीपरीसहे

१६.संगो एस मणुस्साणं
जाओ लोगंमि इत्थिओ।
जस्स एया परिण्णाया
सुकडं तस्स सामण्णं।।

१७.एवमादाय मेहावी
पंकभूया उ इत्थिओ।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा
चरेज्जत्तगवेसए।।

(९) चरियापरीसहे

१८.एग एव चरे लाढे
अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि
निगमे वा रायहाणिए।।

१९.असमाणो चरे भिक्खू
नेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं
अणिएओ परिव्वए।।

(१०) निसीहियापरीसहे

२०.सुसाणे सुन्नगारे वा
रुक्खमूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा
न य वित्तासए परं।।

२१.तत्थ से चिट्ठमाणस्स
उवसग्गाभिधारए।
संकाभीओ न गच्छेज्जा
उट्ठित्ता अन्नमासणं।।

(११) सेज्जापरीसहे

२२.उच्चावयाहिं सेज्जाहिं
तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं विहन्नेज्जा
पावदिट्ठी विहन्नई।।

२३.पइरिक्कुवस्सयं लद्धु
कल्लाणं अदु पावगं।
किमेगरायं करिस्सइ
एवं तत्थऽहियासए।।

(८) स्त्रीपरीषहः

संग एष मनुष्याणां
या लोके स्त्रियः।
यस्यैताः परिज्ञाताः
सुकरं तस्य श्रामण्यम्।।

एवमादाय मेधावी
पंकभूताः स्त्रियः।
नो ताभिर्विनिहन्यात्
चरेदात्मगवेषकः।।

(९) चर्यापरीषहः

एक एव चरेद् लाढः
अभिभूय परीषहान्।
ग्रामे वा नगरे वापि
निगमे वा राजधान्याम्।।

असन् चरेद् भिक्षुः
नैव कुर्यात् परिग्रहम्।
असंसक्तो गृहस्थैः
अनिकेतः परिव्रजेत्।।

(१०) निषीधिकापरीषहः

श्मशाने शून्यागारे वा
वृक्षमूले वा एककः।
अकुक्कुचः निषीदेत्
न च वित्रासेयत् परम्।।

तत्र तस्य तिष्ठतः
उपसर्गा अभिधारयेयुः।
शंकाभीतो न गच्छेत्
उत्थायान्यदासनम्।।

(११) शय्यापरीषहः

उच्चावचाभिः शय्याभिः
तपस्वी भिक्षुः स्थामवान्।
नातिवेलं विहन्येत
पापदृष्टिर्विहन्यते।।

प्रतिरिक्तामुपाश्रयं लब्ध्वा
कल्याणं अथवा पापकम्।
किमेकरात्रं करिष्यति
एवं तत्राध्यासीत।।

(८) स्त्री परीषह

"लोक में जो स्त्रियां हैं, वे मनुष्यों के लिए संग हैं—लेप हैं"[२४]—जो इस बात को जान लेता है, उसके लिए श्रामण्य सुकर है।[२५]

"स्त्रियां ब्रह्मचारी के लिए दल-दल के समान हैं"—यह जानकार मेधावी मुनि उनसे अपने संयम-जीवन की घात न होने दे, किन्तु आत्मा की गवेषणा करता हुआ विचरण करे।[२६]

(९) चर्या परीषह

संयम के लिए[२७] जीवन-निर्वाह करने वाला मुनि परीषहों को जीतकर गांव में या नगर में, निगम[२८] में या राजधानी में अकेला[२९] (राग-द्वेष रहित होकर) विचरण करे।

मुनि एक स्थान पर आश्रम बनाकर न बैठे[३०] किन्तु विचरण करता रहे।[३१] गांव आदि के साथ ममत्व न करे, उनसे प्रतिबद्ध न हो। गृहस्थों से निर्लिप्त रहे। अनिकेत (गृह-मुक्त) रहता हुआ परिव्रजन करे।[३२]

(१०) निषद्या परीषह

राग-द्वेष रहित मुनि चपलताओं का वर्जन करता हुआ[३३] श्मशान, शून्यगृह अथवा वृक्ष के मूल[३४] में बैठे। दूसरों को त्रास न दे।[३५]

वहां बैठे हुए उसे उपसर्ग प्राप्त हों तो वह यह चिन्तन करे—"ये मेरा क्या अनिष्ट करेंगे?" किन्तु अपकार की शंका से डर कर वहां से उठ दूसरे स्थान पर न जाए।[३६]

(११) शय्या परीषह

तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु उत्कृष्ट या निकृष्ट उपाश्रय को पाकर[३७] मर्यादा का अतिक्रमण न करे (हर्ष या शोक न लाए)।[३८] जो पापदृष्टि होता है, वह विहत हो जाता है (हर्ष या शोक से आक्रान्त हो जाता है)।

प्रतिरिक्त (एकान्त) उपाश्रय—भले फिर वह सुन्दर हो या असुन्दर—को पाकर[३९] "एक रात में क्या होना जाना है"[४०]—ऐसा सोचकर रहे, जो भी सुख-दुःख हो उसे सहन करे।[४१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१२) अक्कोसपरीसहे

२४.अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं
न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं
तम्हा भिक्खू न संजले।।

२५.सोच्चाणं फरुसा भासा
दारुणा गामकंटगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा
न ताओ मणसीकरे।।

(१३) वधपरीसहे

२६.हओ न संजले भिक्खू
मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा
भिक्खुधम्मं विचिंतए।।

२७.समणं संजयं दंतं
हणेज्जा कोइ कत्थई।
नत्थि जीवस्स नासु त्ति
एवं पेहेज्ज संजए।।

(१४) जायणापरीसहे

२८.दुक्करं खलु भो! निच्चं
अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं से जाइयं होइ
नत्थि किंचि अजाइयं।।

२९.गोयरग्गपविट्ठस्स
पाणी नो सुप्पसारए।
सेओ अगारवासु त्ति
इइ भिक्खू न चिंतए।।

(१५) अलाभपरीसहे

३०.परेसु घासमेसेज्जा
भोयणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिंडे अलद्धे वा
नाणुतप्पेज्ज संजए।।

३१.अज्जेवाहं न लब्भामि
अवि लाभो सुए सिया।
जो एवं पडिसंविक्खे
अलाभो तं न तज्जए।।

*(१२) आक्रोशपरीषहः*

*आक्रोशेत् परो भिक्षुं*
*न तस्मै प्रतिसंज्वलेत्।*
*सदृशो भवति बालानां*
*तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेत्।।*

*श्रुत्वा परुषाः भाषाः*
*दारुणाः ग्रामकण्टकाः।*
*तूष्णीक उपेक्षेत*
*न ताः मनीकुर्यात्।।*

*(१३) वधपरीषहः*

*हतो न संज्वलेद् भिक्षुः*
*मनो पि न प्रदोषयेत्।*
*तितिक्षां परमां ज्ञात्वा*
*भिक्षुधर्मं विचिन्तयेत्।।*

*श्रमणं संतयं दान्तं*
*हन्यात् कोऽपि कुत्रचित्।*
*नास्ति जीवस्य नाश इति*
*एवं प्रेक्षेत संयतः।।*

*(१४) याचनापरीषहः*

*दुष्करं खलु भो! नित्यम्*
*अनगारस्य भिक्षोः।*
*सर्वं तस्य याचितं भवति*
*नास्ति किंचिदयाचितम्।।*

*गोचराग्रप्रविष्टस्य*
*पाणिः नो सुप्रसारकः।*
*श्रेयानगारवास इति*
*इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्।।*

*(१५) अलाभपरीषहः*

*परेषु घासमेषयेत्*
*भोजने परिनिष्ठिते।*
*लब्धे पिण्डे अलब्धे वा*
*नानुतपेत् संयतः।।*

*अद्यैवाहं न लभे*
*अपि लाभः श्वः स्यात्*
*य एवं प्रतिसंवीक्षते*
*अलाभस्तं न तर्जयति।।*

(१२) आक्रोश परीषह

कोई मनुष्य भिक्षु को गाली दे तो वह उसके प्रति क्रोध[४२] न करे। क्रोध करने वाला भिक्षु बालकों (अज्ञानियों) के सदृश हो जाता है,[४३] इसलिए भिक्षु क्रोध न करे।

मुनि परुष, दारुण और ग्राम-कंटक[४४] (कर्ण-कंटक) भाषा को सुनकर मौन रहता हुआ उसकी उपेक्षा करे,[४५] उसे मन में न लाए।[४६]

(१३) वध परीषह

पीटे जाने पर भी मुनि क्रोध[४७] न करे, मन में भी द्वेष न लाए। तितिक्षा को परम[४८] जानकर मुनि-धर्म[४९] का चिन्तन करे।

संयत और दान्त श्रमण को[५०] कोई कहीं पीटे तो वह "आत्मा का नाश नहीं होता"[५१]—ऐसा चिन्तन करे, पर प्रतिशोध की भावना न लाए।[५२]

(१४) याचना परीषह

ओह! अनगार भिक्षु की यह चर्या कितनी कठिन है कि उसे जीवन भर सब कुछ याचना से मिलता है। उसके पास अयाचित कुछ भी नहीं होता।[५३]

गोचराग्र में[५४] प्रविष्ट मुनि के लिए गृहस्थों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं है।[५५] अतः "गृहवास ही श्रेय है"[५६]—मुनि ऐसा चिन्तन न करे।

(१५) अलाभ परीषह

गृहस्थों के घर भोजन तैयार हो जाने पर मुनि उसकी एषणा करे। आहार थोड़ा मिलने या न मिलने पर संयमी मुनि अनुताप न करे।[५७]

"आज मुझे भिक्षा नहीं मिली, परन्तु संभव है कल मिल जाय"—जो इस प्रकार सोचता है, उसे अलाभ नहीं सताता।[५८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१६) रोगपरीसहे

३२.नच्चा उप्पइयं दुक्खं
वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं
पुट्ठो तत्थहियासए।।

(१६) रोगपरीषहः

ज्ञात्वोत्पतितं दुःखं
वेदनया दुःखार्दितः।
अदीनः स्थापयेत् प्रज्ञां
स्पृष्टस्तत्राऽध्यासीत।।

(१६) रोग परीषह

रोग को[६८] उत्पन्न हुआ जानकर तथा वेदना से पीड़ित होने पर दीन न बने। व्याधि से विचलित होती हुई प्रज्ञा को स्थिर बना और प्राप्त दुःख को समभाव से सहन करे।[६९]

३३.तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा
संचिक्खत्तगवेसए।
एसं खु तस्स सामण्णं
जं न कुज्जा न कारवे।।

चिकित्सां नाभिनन्देत्
संतिष्ठेतात्मगवेषकः।
एतत् खलु तस्य श्रामण्यं
यन्न कुर्यात् न कारयेत्।।

आत्म-गवेषक मुनि चिकित्सा का अनुमोदन न करे। रोग हो जाने पर समाधि पूर्वक रहे।[७१] उसका श्रामण्य यही है कि वह रोग उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा न करे, न कराए।[७२]

(१७) तणफासपरीसहे

३४.अचेलगस्स लूहस्स
संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स
हुज्जा गायविराहणा।।

(१७) तृणस्पर्शपरीषहः

अचेलकस्य रूक्षस्य
संयतस्य तपस्विनः।
तृणेषु शयानस्य
भवेद् गात्रविराधना।।

(१७) तृणस्पर्श परीषह

अचेलक और रूक्ष शरीर वाले संयत तपस्वी के घास पर सोने से शरीर में चुभन होती है।[७३]

३५.आयवस्स निवाएणं
अउला हवइ वेयणा।
एवं नच्चा न सेवंति
तंतुजं तणतज्जिया।।

आतपस्य निपातेन
अतुला भवति वेदना।
एवं ज्ञात्वा न सेवन्ते
तंतुजं तृणतर्जिताः।।

गर्मी पड़ने से अतुल वेदना होती है[७४]—यह जानकर भी तृण से पीड़ित मुनि वस्त्र का[७५] सेवन नहीं करते।

(१८) जल्लपरीसहे

३६.किलिन्नगाए मेहावी
पंकेण व रएण वा।
घिंसु वा परितावेण
सायं नो परिदेवए।।

(१८) जल्लपरीषहः

क्लिन्नगात्रो मेधावी
पंकेन वा रजसा वा।
ग्रीष्मे वा परितापेन
सातं नो परिदेवेत।।

(१८) जल्ल परीषह

मैल, रज[७६] या ग्रीष्म के परिताप से[७७] शरीर के क्लिन्न (गीला या पंकिल) हो जाने पर मेधावी मुनि सुख के लिए विलाप न करे।[७८]

३७.वेएज्ज निज्जरापेही
आरियं धम्मऽणुत्तरं।
जाव सरीरभेउ त्ति
जल्लं काएण धारए।।

वेदयेन् निर्जरापेक्षी
आर्यं धर्ममनुत्तरम्।
यावत् शरीरभेद इति
'जल्लं' कायेन धारयेत्।।

निर्जरार्थी मुनि अनुत्तर आर्य-धर्म (श्रुत-चारित्र-धर्म) को पाकर देह-विनाश पर्यन्त काया पर 'जल्ल' (स्वेद-जनित मैल) को धारण करे और तज्जनित परीषह को सहन करे।

(१९) सक्कारपुरक्कारपरीसहे

३८.अभिवायणमब्भुट्ठाणं
सामी कुज्जा निमंतणं।
जे ताइं पडिसेवंति
न तेसिं पीहए मुणी।।

(१९) सत्कारपुरस्कारपरीषहः

अभिवादनमभ्युत्थानं
स्वामी कुर्यान् निमन्त्रणम्।
ये एतानि प्रतिसेवन्ते
न तेभ्यः स्पृहयेन्मुनिः।।

(१९) सत्कार-पुरस्कार परीषह

अभिवादन और अभ्युत्थान करना तथा 'स्वामी'—इस संबोधन से संबोधित करना—जो गृहस्थ इस प्रकार की प्रतिसेवना—सम्मान करते हैं, मुनि इन सम्मानजनक व्यवहारों की स्पृहा न करे।[७९]

३९.अप्पुक्कसाई अप्पिच्छे
अण्णाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा
नाणुतप्पेज्ज पण्णवं।।

अनुकषायी अल्पेच्छः
अज्ञातैषी अलोलुपः।
रसेषु नानुगृध्येत्
नानुतपेत् प्रज्ञावान्।।

अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छा वाला अज्ञात कुलों से भिक्षा लेने वाला[८०], अलोलुप भिक्षु रसों में गृद्ध न हो। प्रज्ञावान् मुनि दूसरों को सम्मानित देख अनुताप न करे।[८१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२०) पण्णापरीसहे

४०.से नूणं मए पुव्वं
कम्माणाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि
पुट्ठो केणइ कण्हुई।।

४१.अह पच्छा उइज्जंति
कम्माणाणफला कडा।
एवमस्सासि अप्पाणं
नच्चा कम्मविवागयं।।

(२१) अण्णाणपरीसहे

४२.निरट्ठगम्मि विरओ
मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि
धम्म कल्लाण पावगं।।

४३.तवोवहाणमादाय
पडिमं पडिवज्जओ।
एवं पि विहरओ मे
छाउमं न नियट्टई।।

(२२) दंसणपरीसहे

४४.नत्थि नूणं परे लोए
इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओ मि त्ति
इइ भिक्खु न चिंतए।।

४५.अभू जिणा अत्थि जिणा
अदुवावि भविस्सई।
मुसं ते एवमाहंसु
इइ भिक्खू न चिंतए।।

४६.एए परीसहा सव्वे
कासवेण पवेइया।
जे भिक्खू न विहन्नेज्जा
पुट्ठो केणइ कण्हुई।।

—त्ति बेमि।

*(२०) प्रज्ञापरीषहः*

*अथ नूनं मया पूर्वं*
*कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि।*
*येनाहं नाभिजानामि*
*पृष्टः केनचित् क्वचित्।।*

*अथपश्चादुदीर्यन्ते*
*कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि।*
*एवमाश्वासयात्मानं*
*ज्ञात्वा कर्मविपाककम्।।*

*(२१) अज्ञानपरीषहः*

*निरर्थके विरतः*
*मैथुनात्सुसंवृतः।*
*यः साक्षान्नाभिजानामि*
*धर्मं कल्याणपापकम्।।*

*तप-उपधानमादाय*
*प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य।*
*एवमपि विहरतो मे*
*छद्म न निवर्तते।।*

*(२२) दर्शनपरीषहः*

*नास्ति नूनं परो लोकः*
*ऋद्धिर्वापि तपस्विनः।*
*अथवा वञ्चितोस्मि इति*
*इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्।।*

*अभूवन् जिनाः सन्ति जिनाः*
*अथवा अपि भविष्यन्ति।*
*मृषा ते एवमाहुः*
*इति भिक्षुर्न चिन्तयेत्।।*

*एते परीषहाः सर्वे*
*काश्यपेन प्रवेदिताः।*
*यान् भिक्षुर्न विहन्येत*
*स्पृष्टः केनापि क्वचित्।।*

*इति ब्रवीमि*

(२०) प्रज्ञा परीषह

निश्चय ही मैंने पूर्वकाल में अज्ञानरूप-फल देने वाले कर्म किए हैं। उन्हीं के कारण मैं किसी के कुछ पूछे जाने पर भी कुछ नहीं जानता—उत्तर देना नहीं जानता।[७२]

"पहले किए हुए अज्ञानरूप-फल देने वाले कर्म पकने के पश्चात् उदय में आते हैं"[७३]—इस प्रकार कर्म के विपाक को जानकर मुनि आत्मा को आश्वासन दे।[७४]

(२१) अज्ञान परीषह

"मैं मैथुन से निवृत्त हुआ[७५], इन्द्रिय और मन का मैंने संवरण किया—यह सब निरर्थक है। क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी[७६]—यह मैं साक्षात् नहीं जानता।"

तपस्या और उपधान को[७७] स्वीकार करता हूं, प्रतिमा का[७८] पालन करता हूं—इस प्रकार विशेष चर्या से विहरण करने पर भी मेरा छद्म[७९] (ज्ञान का आवरण) निवर्तित नहीं हो रहा है—ऐसा चिंतन न करे।[८०]

(२२) दर्शन परीषह

"निश्चय ही परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि[८१] भी नहीं है अथवा मैं ठगा गया हूं"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

"जिन हुए थे, जिन हैं और जिन होंगे—ऐसा जो कहते हैं वे झूठ बोलते हैं"—भिक्षु ऐसा चिंतन न करे।[८२]

इन सभी परीषहों का काश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर ने प्ररूपण किया है। इन्हें जानकर, इनमें से किसी के द्वारा कहीं भी स्पृष्ट होने पर मुनि इनसे पराजित (अभिभूत) न हो।

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण

# अध्ययन २ : परीषह-प्रविभक्ति

### १. अभ्यास के द्वारा परिचित कर (जिच्चा)

बृहद्वृत्ति में 'जिच्चा' का संस्कृत रूप 'जित्वा' और अर्थ—पुनः-पुनः अभ्यास के द्वारा परिचित कर, किया है।[1] यह 'जिं जये' धातु का रूप है। इसका अर्थ होता है—जीत कर। चूर्णि में 'जिणित्ता' जीतकर अर्थ किया है।[2]

हमने इसको 'चिं चये' धातु से निष्पन्न कर इसका संस्कृत रूप 'चित्वा' किया है। प्रस्तुत अर्थ के परिप्रेक्ष्य में यही संगत लगता है।

### २. क्षुधा व्याप्त होने पर (दिगिंछापरिगए)

सामान्यतः मनुष्य रोग से आक्रान्त होने पर ही क्षुधा परीषह को सहन करता है—आहार को छोड़ता है अथवा अल्पाहार करता है। उसके लिए अल्प आहार करना एक विवशता है। भगवान् महावीर रोग से अस्पृष्ट होने पर भी क्षुधा परीषह को सहन करते थे—अल्प आहार का प्रयोग करते थे। उनके लिए कहा गया है—'ओमोदरियं चाएति, अपुट्ठे वि भगवं रोगेहिं।'[3]

### ३. श्लोक २

परीषह प्रकरण में 'क्षुधा परीषह' को स्थान क्यों दिया गया? चूर्णिकार ने इसका समाधान 'क्षुधासमा नास्ति शरीर वेदना'—भूख के समान दूसरी शारीरिक वेदना नहीं है—कहकर किया है।[4]

नेमिचन्द्र यहां एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हैं—

*पंथसमा नत्थि जरा, दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि।*
*मरणसमं नत्थि भयं, खुहासमा वेयणा नत्थि।।*[5]

पंथ के समान कोई बुढ़ापा नहीं है, दरिद्रता के समान कोई पराभव नहीं है, मृत्यु के समान कोई भय नहीं है और क्षुधा के समान कोई वेदना नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'दिगिंछा' देशी शब्द है। इसका अर्थ है—क्षुधा, बुभुक्षा, भूख।[6]

### ४. काकजंघा (कालीपव्व)

इसका अर्थ है 'काक-जंघा' नामक तृण। इसे हिन्दी में घुंघची या गुंजा कहा जाता है।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'तृण विशेष' जिसको कई लोग 'काक-जंघा' कहते हैं, किया है।[7]

टीकाकार भी इसी अर्थ को मान्य करते हैं।[8] परन्तु आधुनिक विद्वान् डॉ. हरमन जेकोबी, डॉ. सांडेसरा आदि ने 'काक-जंघा' का अर्थ कौए की जंघा किया है।[9]

बौद्ध साहित्य में अल्प-आहार से होने वाली शारीरिक अवस्था के वर्णन में 'काल-पव्वानि' शब्द आया है।[10] राहुलजी ने इसका अर्थ 'काल वृक्ष के पर्व' किया है।[11] यह अर्थ टीकाकारों के अर्थ से मिलता-जुलता है।

काल-जंघा नामक तृण-वृक्ष के पर्व स्थूल और उसके मध्यदेश कृश होते हैं। उसी प्रकार जिस भिक्षु के घुटने, कोहनी आदि स्थूल और जंघा, ऊरु (साथल), बाहु आदि कृश होते हैं, उसे 'कालीपव्वंगसंकासे' (कालीपर्वसंकाशाङ्ग) कहा जाता है।[12]

### ५. धमनियों का ढांचा (धमणिसंतए)

इसका भावार्थ है—अत्यन्त कृश, जिसका शरीर केवल धमनियों का जाल-मात्र रह गया हो।[13]

बौद्ध-ग्रंथों में भी 'किसं धमनिसन्थतं' ऐसा प्रयोग आया है। उसका अर्थ—दुबला-पतला, नसों से मढ़े शरीर वाला है।[14] इस प्रयोग से एक तर्क होता है कि एक ओर तो

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र १ : जित्वा पुनः पुनरभ्यासेन परिचितान् कृत्वा।
२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५२ : जिच्चा ते जिणित्ता।
३. आयारो ६।४।१।
४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५२।
५. सुखबोधा, पत्र १७।
६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५२ :
दिगिंछा णाम देसीतो खुहाभिधाणं।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ८२ :
दिगिंछत्ति देशीवचनेन बुभुक्षोच्यते।
७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५३ : काली नाम तृणविसेसो केइ काकजंघा भणंति, तीसे पासतो पव्वाणि तुल्लाणि तणूणि।
८. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ८४।
(ख) सुखबोधा, पत्र १८।
९. (क) The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Page 10 : Emaciated like the joint of a crow's (leg).
(ख) उत्तराध्ययन, पृ. १७।
१०. मज्झिमनिकाय, १२।६।१६।
११. वही, अनुवाद पृ. ५०।
१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५३ : कालीतृणपर्वणः पर्व्वभिरंगानि संकाशानि यस्य स भवति कालीतृणपर्वांगसंकाशः, तानि हि कालीपर्वाणि संधिसु थूराणि मध्ये कृशानि, एवमसावपि भिक्षुः छुहाए जानुकोप्परसंधिसु थूरो भवति, जंघोरुकालयिकबाहुसु कृशः।
१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ८४ :
धमनयः—शिरास्ताभिः सन्ततो—व्याप्तो धमनिसंततः।
१४. धम्मपद, २६।१३ : पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं,
एकं वनस्मिं झायंतं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध तपस्या का खण्डन करते हैं और दूसरी ओर 'किसं धमनिसन्थतं' को अच्छा बताते हुए उसे ब्राह्मण का लक्षण मानते हैं। इसका क्या कारण है? इस प्रयोग को तथा मज्झिमनिकाय (१२।६।१६/२०) के विवरण को देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बौद्धों पर जैन-साहित्य और तपस्या-विधि का प्रभाव रहा है।

भागवत में भी—"एवं चीर्णेन तपसा, मुनिधर्मनिसन्ततः"—ऐसा प्रयोग आया है।[1]

इससे यह प्रतीत होता है कि तीनों (जैन, बौद्ध और वैदिक) धार्मिक परम्पराओं में कुछ रेखाएं समान रूप से खींची हुई हैं।

## ६. अहिंसक या करुणाशील (दोगुंछी)

'दोगुंछी' शब्द का संस्कृत रूपान्तरण है—जुगुप्सी। इसका शाब्दिक अर्थ है—घृणा करने वाला अथवा करुणा करने वाला। मुनि हिंसा से, अनाचार से घृणा करता है। मुनि जब प्यास से आक्रान्त भी हो जाए तब भी वह सचित्त जल का सेवन न करे, क्योंकि वह अहिंसक है। सचित्त जल का सेवन करना अनाचार है, हिंसा है। वह हिंसा से घृणा करता है अथवा प्राणी मात्र के प्रति अहिंसक व्यवहार करता है। इसलिए भावार्थ में 'दोगुंछी' का अर्थ अहिंसक होता है।

चूर्णि में असंयम से जुगुप्सा करने वाले को 'दोगुंछी' कहा है।[2]

## ७. सचित्त पानी (सीओदगं)

शीत का अर्थ है ठण्डा। शीत-उदक—यह स्वरूपस्थ (शस्त्र से अनुपहत या सजीव) जल का सूचक है।[3] डॉ. हरमन जेकोबी ने इसका अर्थ Cold Water 'ठण्डा पानी' किया है। यह शब्द का लाक्षणिक अर्थ है, भ्रामक भी है। ठण्डा पानी सचित्त भी हो सकता है और अचित्त भी। यहां सचित्त अर्थ अभिप्रेत है।

## ८. प्रासुक जल की एषणा (वियडस्सेसणं)

बृहद्वृत्तिकार ने 'वियड' का संस्कृत रूप 'विकृत' देकर, इसका अर्थ अग्नि आदि से संस्कारित किया है। प्रस्तुत प्रसंग में यह अचित्त या निर्जीव जल के लिए प्रयुक्त है।[4] 'वियड' देशी शब्द है।

## ९. प्यास का परीषह

पिता और पुत्र दोनों प्रव्रजित हो गए। एक बार वे मध्यान्ह में विहार कर एक नगर की ओर प्रस्थित हुए। रास्ते में भयंकर अटवी थी। छोटे मुनि को प्यास लगी और वह अपने पिता (मुनि) के पीछे धीरे-धीरे चलने लगा। अन्यान्य मुनि भी साथ थे। रास्ते में एक नदी आ गई। पिता-मुनि ने स्नेह से अभिभूत होकर अपने पुत्र-मुनि को कहा—"वत्स! नदी का पानी पीकर प्यास बुझाओ। फिर प्रायश्चित्त कर लेना।" पिता-मुनि नदी में उतरा।

उसने सोचा—मैं कुछ आगे चलूं, जिससे कि यह बाल मुनि पानी पी ले। कहीं मेरी आशंका से यह पानी न पीए—ऐसा सोचकर वह एक ओर चला गया।

बाल मुनि नदी में उतरा। उसका मन कुछ शिथिल हुआ। उसने अंजलि में पानी लिया। उसकी विवेक-चेतना जागी। उसने मन ही मन सोचा—'ओह! कैसे पीऊं इन जीवों को?'

भगवान् ने कहा है—

*एकम्मि उदगबिंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहिं पन्नत्ता।*
*ते पारेवयमेत्ता, जंबूदीवे ण माएज्जा।।*
*जत्थ जलं तत्थ वणं, जत्थ वणं निच्छिओ तेऊ।*
*तेऊ वाउसहगओ, तसा य पच्चक्खया चेव।।*
*ता हंतूण परप्पाणे, अप्पाणं जो करेइ सप्पाणं।*
*अप्पाणं दिवसाणं, कएण नासेइ सप्पाणं।।*

बाल मुनि को अत्यन्त विरक्ति हो गई। उसने सोचा—मैं अपने अल्प जीवितव्य के लिए इतने प्राणियों की हत्या करूं—यह मेरे लिए उचित नहीं है। यह सोचकर वह वहां से प्यासा ही चला। नदी पार की। प्यास बढ़ती ही गई। मृत्यु को निकट जानकर उसने एक वृक्ष के नीचे विश्राम किया और नमस्कार महामंत्र का जाप करते-करते दिवंगत हो गया।

सभी मुनियों ने बाल मुनि की धृति को सराहा और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।[5]

## १०. रूक्ष शरीर वाले साधु को (लूहं)

शीत परीषह के संदर्भ में 'रूक्ष' शब्द का प्रयोग अर्थ-सूचक है। स्निग्धता शरीर में गर्मी पैदा करती है, इसलिए स्निग्ध शरीर वाले को सर्दी कम सताती है। मुनि रूक्ष शरीर वाला है, वह विचरणशील है और वह विरत[6]—अग्नि के समारंभ तथा गृह-व्यापार से मुक्त है—प्रस्तुत श्लोक में उल्लिखित ये तीनों अवस्थाएं शीतस्पर्श को प्रखर बनाने वाली हैं।

शरीर की रूक्षता के दो कारण हैं—स्निग्ध भोजन का अभाव और स्नान आदि का अभाव।[7] जो मुनि निरंतर रूक्ष भोजन करता है, स्नान नहीं करता, उसका शरीर रूक्ष—सूखा हो जाता है। रूक्ष शरीर वाले को शीत, आतप आदि सताते हैं। रूक्ष आहार से मूत्र की अधिकता होती है, बार-बार शंका

---

१. भागवत, ११।१८/६।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५४ : दुगुंछत्तीति दोगुंछी, अस्संजमं दुगुंछती।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ८६ : शीतं—शीतलं, स्वरूपस्थतोयोपलक्षणमेतत्, ततः स्वकीयादिशस्त्रानुपहतं अप्रासुकमित्यर्थः।

४. वही, पत्र ८६ : वियडस्स त्ति विकृतस्य वन्ह्यादिना विकारं प्रापितस्य प्रासुकस्येति यावत्, प्रक्रमादुदकस्य।

५. सुखबोधा, पत्र १६।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५६ : विरतं अग्गिसमारंभातो गृहारंभातो वा, बाह्याभ्यंतरस्नेहपरिहारा।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ८८ : लूहं ति स्नानस्निग्धभोजनादिपरिहारेण रूक्षम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवृत्ति के लिए जाना होता है, इससे स्वाध्याय में बाधा उपस्थित होती है। रूक्ष आहार से चिड़चिड़ापन भी बढ़ता है और व्यक्ति बार-बार और शीघ्र कुपित होने लगता है।

भगवान् महावीर जब लाट देश में गए तब उन्हें वहां अनेक कष्ट सहने पड़े। उस देश में अन्न की उपज कम होती थी। प्रदेश पथरीला था। लोग रूखा-सूखा खाकर जीवन-निर्वाह करते थे, इसलिए वे अत्यधिक क्रोधी और चिड़चिडे स्वाभाव के थे।[1]

इस प्रकार रूक्ष भोजन शरीर और मन दोनों को प्रभावित करता है।

जैन मुनियों के लिए यह विधान है कि वे स्निग्ध आहार भी निरंतर न करें और रूक्ष आहार भी निरंतर न करें। दोनों में सामंजस्य बिठाएं। केवल स्निग्ध आहार करने से उन्माद बढ़ता है और केवल रूक्ष आहार करने से क्रोध आदि की वृद्धि होती है, मेधा कमजोर होती है।

हेराक्लाइटस ने कठोरता और रूक्षता को जगत् का मूल तत्त्व माना। उसने कहा—Keep your life dry—जीवन को सूखा बनाओ। इसके आधार पर संयम का विकास हुआ। भगवान् महावीर और हेराक्लाइटस—दोनों ने संयम के अर्थ में एक ही शब्द—रूक्ष—का प्रयोग किया है।

## ११. (शीत परीषह)

आचार्य भद्रबाहु राजगृह नगरी में समवसृत हुए। चार वणिक् मित्र उनके पास प्रव्रजित हुए। उन चारों ने आचार्य के पास विपुल श्रुतज्ञान अर्जित किया। उन्होंने अपनी आत्मशक्ति को उत्तेजित कर, एकल-विहार-प्रतिमा को स्वीकार कर चारों साथ-साथ जनपद विहार करने लगे। एक बार वे राजगृह आए। उस समय हेमंत ऋतु अपने यौवन पर थी। शीत का भयंकर प्रकोप सारे नगर को आतंकित कर रहा था। उस शीत वायु से अनेक पशु-पक्षी मर गए। वृक्ष जल गए, सूख गए। वे चारों मुनि स्वाध्याय और ध्यान से निवृत्त होकर दिन के तीसरे प्रहर में गोचरी के लिए निकले। चारों राजगृह की भिन्न-भिन्न दिशाओं में गए। उन्हें लौटकर वैभारगिरि पर्वत पर आना था। एक मुनि भोजन लेकर आ रहा था। वैभारगिरि के गुफा द्वार पर आते-आते दिन का चौथा प्रहर प्रारंभ हो गया। वह वहीं प्रतिमा—कायोत्सर्ग में स्थित हो गया। भोजन नहीं किया। दूसरा मुनि जब नगर के उद्यान तक पहुंचा तब चौथा प्रहर प्रारंभ हो गया। वह वहीं स्थित हो गया। तीसरा एक उद्यान के पास स्थित हो गया और चौथा नगर के पास प्रतिमा में खड़ा हो गया। एकल-विहार की साधना करने वाले साधकों की यह मर्यादा होती है कि जहां जब दिन का चौथा प्रहर प्रारंभ हो जाता है, उन्हें वहीं प्रतिमा में स्थित हो जाना होता है।

गुफाद्वार पर स्थित मुनि के पर्वत की वायु के भयंकर थपेड़े लग रहे थे। पर वह मेरु की भांति निष्प्रकंप और अटल रहा। वह रात्री के प्रथम प्रहर में दिवंगत हो गया। इसी प्रकार शीत के प्रचंड प्रकोप से पीड़ित होकर दूसरा रात्री के दूसरे प्रहर में, तीसरा तीसरे प्रहर में और चौथा चौथे प्रहर में दिवंगत हो गया।

यह निदर्शन है शीत परीषह को समभाव से सहन करने का।[2]

## १२. स्वेद, मैल या प्यास के दाह (परिदाहेण)

दाह दो प्रकार का होता है—बाह्य दाह और आन्तरिक दाह। स्वेद, मैल आदि द्वारा शरीर में जो दाह होता है वह बाह्य-दाह है और प्यास जनित दाह को आन्तरिक दाह कहते हैं। यहां दोनों प्रकार के दाह अभिप्रेत हैं।[3] चूर्णिकार ने इस प्रसंग में एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है :

*उवरिं तावेइ रवी, रविकरपरितापिता वहइ भूमी।*
*सव्वादो, परिदाहो, दसमलपरितंगा तस्स।।*[4]

## १३. मेधावी (मेहावी)

धारणा में क्षम बुद्धि 'मेधा' कहलाती है।[5] प्रस्तुत प्रसंग में मेधा का अर्थ है—मर्यादा। जो मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता वह मेधावी कहलाता है।[6] इसका निरुक्त है—'मेहया (मेरया) धावतीति मेधावी।'[7]

उपासकदशा की वृत्ति में आचार्य अभयदेवसूरी ने 'मेहावी' का निरुक्त इस प्रकार किया है—मेहावीत्ति सकृत्दृष्टश्रुतकर्मज्ञः—जो एक बार देखे हुए या सुने हुए कार्य को करने की पद्धति जान जाता है, वह मेधावी होता है।[8]

## १४. समभाव में रहे (समरेव)

शान्त्याचार्य के अनुसार मूल शब्द 'सम एव' है। परन्तु प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से 'ए' को 'रेफ' हो जाने पर 'समरेव' शब्द बना है।[9] चूर्णिकार ने 'समरे' का अर्थ युद्ध किया है।[10] वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप में चूर्णिकार का अनुगमन कर 'समरे' को 'संगामसीसे' का विशेषण माना है।[11]

## १५. शूर (सूरो)

व्याख्याकारों ने मुख्यतः शूर शब्द को 'नाग'—हाथी का विशेषण माना है। वैकल्पिक रूप में 'शूर' शब्द को स्वतंत्र

---

१. आचारांग चूर्णि, पृ. ३१८ : रुक्खाहारत्ता अतीव कोहणा।
२. सुखबोधा, पत्र २०।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ८६ : परिहदाहेन बहिः स्वेदमलाभ्यां वहनिना वा, अन्तश्च तृष्णया जनितदाहस्वरूपेण।
४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५७।
५. अभिधान चिंतामणि कोश, २।२२३ : सा मेधा धारणक्षमा।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र ६० : मेधावी मर्यादानतिवर्ती।
७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५७।
८. उपासकदशा वृत्ति, पत्र २१८।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१।
१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५८।
११. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानकर उसका अर्थ शूरवीर योद्धा किया है।[1]

जेकोबी ने 'शूर' को स्वतंत्र मानकर इसका अर्थ आत्म-योद्धा किया है।

### १६. संत्रस्त न हो (न संतसे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—हाथ, पैर आदि अवयवों को न हिलाए, न उछाले—किया है।[2]

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किये हैं—(१) दंशमशक आदि से संत्रस्त न हो। (२) हाथ, पैर आदि अवयवों को न हिलाए।[3]

डॉ. हरमन जेकोबी और डॉ. सांडेसरा ने इसका अर्थ—प्राणियों को त्रसित न करना—किया है।[4]

इसमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, परन्तु परीषह का प्रकरण है इसलिए शान्त्याचार्य का प्रथम अर्थ अधिक उपयुक्त है।

### १७. हटाना (वारेज्जा)

इसका अर्थ है हटाना, निषेध करना। मुनि हाथ, वस्त्र, शाखा, धूम आदि उपायों से डांस और मच्छरों का निवारण न करे।[5]

### १८. उपेक्षा करे (उवेहे)

दंश-मशकों के द्वारा काटे जाने पर मुनि उनकी उपेक्षा करे, उन पर राग-द्वेष न लाए। वह यह सोचे—ये असंज्ञी हैं, भोजन के प्रयोजन से घूम रहे हैं। मेरा शरीर इनके लिए भोज्य है, सर्वसाधारण जैसा है। यदि ये मेरे शरीर से अत्यंत अल्प-मात्रा में रक्त और मांस खाते हैं तो क्या है? मुझे इन पर द्वेष नहीं करना चाहिए। ये रक्त ही तो पी रहे हैं, मेरी आत्मा का उपहनन तो नहीं कर रहे हैं।[6]

**१९.** श्रमणभद्र राजपुत्र था। उसका मन विरक्त हुआ और वह धर्मघोष आचार्य के पास प्रव्रजित हो गया। वह आगमों का पूरा पारायण कर अपनी शक्ति को तोलकर एकलविहार प्रतिमा को स्वीकार कर विचरने लगा। शरद् ऋतु। अटवी में वह ध्यान-स्थित हो गया। रात्री का समय। दंश-मशकों ने आक्रमण किया। उसके अनावृत शरीर को वे काटने लगे। भयंकर वेदना। उसने सोचा—'यह वेदना कितने क्षणों की है? इससे भी अनन्तगुणा अधिक वेदना मैंने नरकावासों में सही है।' मुनि आत्मस्थ हो गया। अपनी चेतना के समुद्र में निमज्जन कर उसने सोचा—

*'अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवो त्ति एव कयबुद्धी।*
*दुक्खकरं जीव! तुमं, छिंद ममत्तं सरीरम्मि।।'*

—आत्मन्! तू सोच। यह शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। जो शरीर के प्रति मूढ़ होता है वह दुःख के आवर्त में फंसता जाता है। तू शरीर के मोह को तोड़ और अपनी चेतना में उन्मज्जन-निमज्जन कर।

इस आलंबन सूत्र से मुनि ने उस पीड़ा को सहा। दंश-मशकों ने उसके शरीर को रक्तहीन कर डाला। वह उसी रात दिवंगत हो गया, पर अधृति में नहीं फंसा।[7]

### २०. श्लोक १३ :

इस श्लोक में आया हुआ 'एगया' शब्द मुनि की जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक अवस्थाओं तथा वस्त्राभाव आदि अवस्थाओं की ओर संकेत करता है।

चूर्णिकार के अनुसार मुनि जिनकल्प अवस्था में 'अचेलक' होता है। स्थविरकल्प अवस्था में वह दिन में, ग्रीष्म ऋतु में या वर्षा ऋतु में बरसात न आने तक भी अचेलक रहता है। शिशिर-रात्र (पौष और माघ), वर्षा-रात्र (भाद्र और आश्विन), बरसात गिरते समय तथा प्रभात काल में भिक्षा के लिए जाते समय वह 'सचेलक' रहता है।[8]

इससे यह लगता है कि एक ही मुनि एक ही काल में अचेलक और सचेलक—दोनों अवस्थाओं में रहता है।

शान्त्याचार्य के अनुसार जिनकल्प अवस्था में मुनि अचेलक होता है और स्थविरकल्प अवस्था में भी जब वस्त्र दुर्लभ हो जाते हैं या सर्वथा मिलते ही नहीं अथवा वस्त्र होने पर भी वर्षा ऋतु के बिना उनको धारण न करने की परम्परा होने के कारण अथवा वस्त्रों के फट जाने पर—वह अचेलक हो जाता है।[9] नेमिचन्द्र का अभिमत भी संक्षेप में यही है।[10]

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५६.....शूरो वा योधः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१ : शूरः—पराक्रमवान्। यद्वा शूरो—योधः।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६६ : न संत्रसति अंगानि कंपयति विक्षिपति वा।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१ : 'न संत्रसेत्' नोद्विजेत् दंशादिभ्य इति गम्यते, यद्वाऽनेकार्थत्वाद्धातूनां न कम्पयेत्तैस्तुद्यमानोऽपि, अङ्गानीति शेषः।

४. (क) The Sacred Book of the East Vol. XLV, P.11 : He Should not scare away (insects)
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५६ : त्रास आपवो नहीं.....

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५६ : न चैव हस्तवस्त्रशाखाधूमादिभिस्तान्निवारणोपायैर्वारयति।

६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ५६ : वैषामसंज्ञित्वात् आहारकांक्षिणां, भुंजमानानां मच्छरीरं साहारणं यदि भक्षयन्ति किं ममात्र प्रद्वेषोत्पाते?
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२ : तथा असंज्ञिन एते आहारार्थिनश्च भोज्यमेतेषां मच्छरीरं बहुसाधारणं च यदि भक्षयन्ति किमत्र प्रद्वेषेणेति च विचिन्तयन् तदुपेक्षणपरो न तदुपघातं विदध्यादिति।

७. सुखबोधा, पत्र २२।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६० : एगता नाम जदा जिणकप्पं पडिवज्जति, अहवा दिवा अचेलगो भवति, ग्रीष्मे वा, वासासुवि वासे अपडिंते ण पाउणति, एवमेव एगता अचेलगो भवति, सचेले यावि एगता' तं जहा—सिसिररातीए वरिसारत्ते वासावासे पडंते भिक्खं हिंडंते।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२-६३ : 'एकदा' एकस्मिन् काले जिनकल्पप्रतिपत्तौ स्थविरकल्पेऽपि दुर्लभवस्त्रादौ वा सर्वथा चेलाभावेन, सति वा चेले विना वर्षादिनिमित्तमप्रावरणेन, जीर्णादिवस्त्रतया वा 'अचेलक' इति अवस्त्रोऽपि भवति।

१०. सुखबोधा, पत्र २२ : 'एकदा' जिनकल्पिकाद्यवस्थायां सर्वथा चेलाभावेन जीर्णादिवस्त्रतया वा अचेलको भवति। सचेलश्च 'एकदा' स्थविरकल्पिकाद्यवस्थायाम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेमन्त के चले जाने और ग्रीष्म के आ जाने पर मुनि एकशाटक या अचेल हो जाए—यह आचारांग में बताया गया है।[1] रात को हिम, ओस आदि के जीवों की हिंसा से बचने के लिए तथा बरसात में चल के जीवों से बचने के लिए वस्त्र पहनने-ओढ़ने का भी विधान मिलता है।[2]

स्थानांग में कहा है—पांच स्थानों से अचेलक प्रशस्त होता है।—

(१) उसके प्रतिलेखना अल्प होती है।

(२) उसका लाघव (उपकरण तथा कषाय की अल्पता) प्रशस्त होता है।

(३) उसका रूप (वेष) वैश्वासिक (विश्वास योग्य) होता है।

(४) तपोनुज्ञात—उसका तप (प्रतिसंलीनता नामक बाह्य तप का एक प्रकार—उपकरण संलीनता) जिनानुमत होता है।

(५) उसके विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है।[3]

स्थानांग के तीसरे स्थान में कहा है—तीन कारणों से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनियां वस्त्र धारण कर सकती हैं—

(१) लज्जा निवारण के लिए।

(२) जुगुप्सा—घृणा निवारण के लिए।

(३) परीषह निवारण के लिए।[4]

इस अध्ययन के चौंतीसवें और पैंतीसवें श्लोक में जो वस्त्र-निषेध फलित होता है, वह भी जिनकल्पी या विशेष अभिग्रहधारी की अपेक्षा से है—यह प्रस्तुत श्लोक से समझा जा सकता है।

## २१. चूर्णिकार ने चौदहवें श्लोक के प्रसंग में एक कथा प्रस्तुत की है—

एक बौद्ध भिक्षु अपने आचार्य के साथ कहीं जा रहा था। आचार्य आगे चल रहे थे और वह उसके पीछे। कुछ दूर जाने पर उसने मार्ग के एक पार्श्व में पड़ी हुई एक नौली देखी। उसने उसे उठाकर अपने थैले में रख ली। अब उसे भय सताने लगा। वह आचार्य के पास आकर बोला—भंते! पीछे चलने से मुझे भय लगता है, इसलिए आपके आगे-आगे चलना चाहता हूं। आचार्य बोले—ठीक है। भय को छोड़। तू अभय होकर आगे चल। वह कुछ दूर गया। आचार्य ने पूछा—क्या अब भी डर लगता है? शिष्य बोला—हां, अब भी भय लगता है। आचार्य ने उसे पुनः भय छोड़ने के लिए कहा। शिष्य में धर्मसंज्ञा का जागरण हुआ और तब उसने नौली को एक ओर फेंक दिया। आचार्य बोले—अरे, बहुत त्वरा से चल रहा है। क्या अब भय नहीं लगता? शिष्य बोला—भंते! मैंने भय को छोड़ दिया, जिससे भय लगता था उससे छुटकारा पा लिया।[5]

## २२. आत्मा की रक्षा करने वाला (आयरक्खिए)

शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप देकर दो भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं[6]—

आत्मरक्षितः—जिसने आत्मा की रक्षा की है।

आयरक्षितः—जिसने ज्ञान आदि के लाभ की रक्षा की है। 'आहिताग्न्यादिषु' के द्वारा 'रक्षित' का परनिपात हुआ है।

## २३. (श्लोक १४—१५)

मुनिचर्या का पालन करते-करते कभी साधक के मन में संयम के प्रति अरति—अनुत्साह पैदा हो सकता है। चौदहवें श्लोक में अरति उत्पन्न होने के तीन कारणों तथा पन्द्रहवें श्लोक में उसके निवारण के उपायों की चर्चा है। अरति उत्पन्न होने के तीन कारण ये हैं—

१. एक गांव से दूसरे गांव में विचरण करना।

२. स्थायी स्थान या घर का न होना।

३. अकिंचन होना, अपना कुछ भी न होना।

अरति निवारण के पांच उपाय ये हैं :—

१. विरत होना, अप्रतिबद्ध होना।

२. अरति आत्म-समुत्थ दोष है, आभ्यन्तर दोष है। जो आत्मरक्षित होता है, जो आत्मा से आत्मा की रक्षा करता है, वैराग्यवान् है, उसको अगार—घर का अभाव कभी नहीं सताता।

३. जो धर्माराम है, जो निरन्तर धर्म में रमण करता है, श्रुत, भावना आदि का अभ्यास करता है, वह कहीं भी रहे, आनंद का ही अनुभव करता है।

४. अकिंचन होने या अपना कुछ भी न होने पर भी वह निरारंभ होने के कारण अरति का वेदन नहीं करता। आरम्भ या प्रवृत्ति के लिए 'स्व' चाहिए, अर्थ चाहिए। निरारम्भ व्यक्ति 'अर्थ' से मुक्त होता है। (चू. पृ. ६२)

५. उपशांत—जिसके कषाय शान्त होते हैं, वह अरति से स्पृष्ट नहीं होता। जो अहंकार, ममकार और तृष्णा से अभिभूत होता है, उसे अरति पग-पग पर सताती है।

## २४. (संगो....इत्थिओ)

स्त्री अन्यान्य आसक्तियों को पैदा करने वाली महान् आसक्ति है। चूर्णिकार ने स्त्री-विषयक दो श्लोक उद्धृत किए हैं[7]—

---

१. आयारो ८।५०।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६६ : तह निसि चाउक्कालं सज्झायज्झाणसाहणमिसीणं।
हिममहियावासोसारयाइक्खाणिमित्तं तु।।

३. ठाणं ५।२०१।

४. ठाणं ३।३४७।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ६१।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ६६ : आत्मा रक्षितः दुर्गतिहेतोरपध्यानादेरनेनेत्यात्मरक्षितः, आहिताग्न्यादिषु दर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः। आयो वा—ज्ञानादिलाभो रक्षितोऽनेनेत्यायरक्षितः।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*एता हसंति च रुदंति च अर्थहेतो-*
*र्विश्वासयंति च परं न च विश्वसंति।*
*तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन,*
*नार्यः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः।।*
*समुद्रवीचीचपलस्वभावाः, सन्ध्याभ्ररेखा व मुहूर्तरागाः।*
*स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं, निपीडितालक्तकवत् त्यजंती।।*

## २५. सुकर हैं (सुकडं)

चूर्णिकार ने 'सुकरं' को मूल पाठ मानकर 'सुकडं' को पाठान्तर माना है। बृहद्वृत्तिकार ने 'सुकडं' को मूल मानकर 'सुकरं' का पाठान्तर के रूप में उल्लेख किया है।

'सुकरं' का अर्थ है—जो सुखपूर्वक या सरलता से किया जा सके।

'सुकडं' का अर्थ है—अच्छी तरह से किया हुआ।[1] अर्थ की प्रासंगिकता की दृष्टि से यहां 'सुकरं' पाठ उपयुक्त लगता है।

वर्ण-व्यत्यय—'र' के स्थान में 'ड' के प्रयोग आगम साहित्य में मिलते हैं। यहां 'सुकडं' का संस्कृत रूप 'सुकृतं' की अपेक्षा 'सुकरं' अधिक संगत लगता है।

## २६. (श्लोक १७)

आचार्य संभूतिविजय के अनेक मेधावी शिष्य थे। मुनि स्थूलभद्र उनके पास रहकर घोर तप तप रहे थे। एक बार स्थूलभद्र आदि चार अनगार आचार्य के पास आए और बोले—हम अभिग्रह करना चाहते हैं। आप हमें अनुज्ञा दें।

एक मुनि ने कहा—मैं सिंह की गुफा में चतुर्मास करना चाहता हूं। दूसरे ने कहा—मैं सांप की बिंबी पर, तीसरे ने कहा—मैं कूप-फलक पर और स्थूलभद्र ने कहा—मैं कोशा वेश्या के घर। गुरु ने चारों को अनुज्ञा दी। सिंह-गुफावासी मुनि के तपस्तेज से सिंह उपशांत हो गया। सांप की बिम्बी पर खड़े मुनि की शांति से दृष्टिविष सर्प निर्विष हो गया। कूप-फलक पर खड़े मुनि की एकाग्रता सधी। वेश्या के घर स्थूलभद्र मुनि को अनुकूल परीषह सहने पड़े।

चातुर्मास संपन्न हुआ। चारों गुरु के पास आए। आचार्य ने सिंह-गुफावासी आदि तीनों मुनियों की प्रशंसा करते हुए कहा—स्वागत है दुष्कर कार्य करने वालों का। मुनि स्थूलभद्र भी आए। आचार्य ने खड़े होकर स्वागत करते हुए कहा—अतिदुष्कर है, अतिदुष्कर है तुम्हारा आचरण।

तीनों ने सोचा, आचार्य श्री पक्षपात करते हैं। स्थूलभद्र अमात्य पुत्र हैं, इसलिए उनके प्रति ये उद्गार व्यक्त किए हैं।

दूसरे वर्ष सिंहगुफावासी मुनि द्वेष से अभिभूत होकर कोशा वेश्या के घर चतुर्मास बिताने गया। आचार्य ने बहुत प्रतिषेध किया, वह अहंकार वश नहीं माना। कोशा वेश्या ने अपने हावभाव से उसे मोहित कर डाला। मुनि उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर भोग की याचना करने लगे। कोशा ने कहा—उसका मूल्य चुकाना होगा। आप अकिंचन हैं। आप नेपाल जाएं। वहां का राजा जैन धर्म का श्रावक है। उससे लाख मूल्य वाली रत्नकंबल ले आएं।

मुनि अपनी मर्यादा और वेष की लज्जा को छोड़कर भयंकर अटवियों को पार करते हुए नेपाल पहुंचे। नेपालनरेश ने उन्हें कंबल दिया। वे लौट रहे थे। चोरों ने उन्हें लूटना चाहा। पर ज्यों-त्यों बचाव कर वे कोशा वेश्या के घर पहुंचे। रत्नकंबल भेंट कर निश्चिन्त हो गए। वेश्या ने उस कंबल से अपने कीचड़ सने पैरों को पोंछ कर नाली में डाल दिया। मुनि ने देखा और कहा—अरे! यह क्या कर डाला! इतनी मूल्यवान कंबल का यों ही नाश कर दिया! वेश्या बोली—स्वयं को देखें। क्या आपने भी अपने संयम-रत्न का नाश नहीं किया। मुनि संभले। उन्होंने आचार्य के पास आकर अपनी प्रतिशोध की भावना का प्रायश्चित्त किया। गुरु ने कहा—

***दग्धो वा सप्पो वा, सरीरपीडाकरा भुणेयव्वा।***
***नाणं च दंसणं वा, चरणं व न पच्चाला भेत्तुं।।***
***भयवं पि थूलभद्दो, तिक्खे चंकम्मिओ न पुण छिन्नो।***
***अग्गिसिहाए वुच्छो, चाउम्मासे न पुण दड्ढो।।***
**—एवं दुक्कर-दुक्करकारओ थूलभद्दो।**[2]

—व्याघ्र, सर्प आदि शरीर को पीड़ा उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र का भेदन करने में समर्थ नहीं होते। मुनि स्थूलभद्र ऐसे स्थान पर गए, पर स्खलित नहीं हुए। वे अग्निशिखातुल्य गणिका के घर में चतुर्मास के लिए रहे, पर वे उससे दग्ध नहीं हुए, अपने कर्तव्य से च्युत नहीं हुए।

## २७. संयम के लिए (लाढे)

शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ—'एषणीय-आहार' अथवा 'मुनि-गणों के द्वारा जीवन यापन करने वाला'—किया है। उनके अनुसार यह श्लाघावाची देशी शब्द है।[3] चूर्णिकार और नेमिचन्द्र भी संक्षेप में यही अर्थ करते हैं।[4] यह विशेषण चर्या के प्रसंग में आया है और इसके अगले चरण में परीषहों को जीतने की बात कही है तथा इसे श्लाघावाची शब्द कहा है। इन सभी तथ्यों पर ध्यान देने से इसका मूल अर्थ 'लाढ' या 'राढ' देश लगता है। भगवान महावीर ने वहां विहार किया

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६५।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १०३।

२. सुखबोधा, पत्र ३१।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र १०७ : 'लाढे' त्ति लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण साधुगुणैर्वा ऽऽत्मानं यापयतीति लाढः, प्रशंसाभिधायि वा देशीपदमेतत्।

४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६६ : लाढे इति फासुएण उग्गमादिसुद्धेण लाढेति, साधुगुणेहिं वा लाढय इति।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३१ : लाढयति—आत्मानं प्रासुकैषणीयाहारेण यापयतीति लाढः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था, तब वहां अनेक कष्ट सहे थे।[1] आगे चलकर वह शब्द कष्ट सहने वालों के लिए श्लाघा-सूचक बन गया। प्रस्तुत आगम के १५।२ में लाढ का अर्थ—सत् अनुष्ठान से प्रधान—किया है।[2]

## २८. निगम में (निगमे)

चूर्णिकार के अनुसार 'निगम' का अर्थ है—वह स्थान जहां नाना प्रकार के कर्म और शिल्प को जानने वाली जातियां निवास करती हों।[3]

बृहद्वृत्तिकार और नेमिचन्द्राचार्य के अनुसार निगम वह स्थान है जहां व्यापारी वर्ग रहता है।[4]

## २९. अकेला (एग एव)

चूर्णिकार और शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—राग-द्वेष रहित अथवा एकाकी। चूर्णिकार ने 'एकाकी' उसे माना है जो अप्रतिबद्धता के कारण जनता के मध्य में (गण में) रहता हुआ भी 'अकेला' रहे। 'गण में रहूं निरदाव अकेलो'—इसी की प्रतिध्वनि है। द्वितीय अर्थ की पुष्टि के लिए शान्त्याचार्य इसी आगम के ३२वें अध्ययन का पांचवां श्लोक उद्धृत करते हैं।[5] नेमिचन्द्र ने केवल प्रथम अर्थ ही स्वीकार किया है।[6]

इसी अध्ययन के बीसवें श्लोक के दूसरे चरण में 'एगओ' शब्द आया है। शान्त्याचार्य ने उसके दो अर्थ किए हैं—

(१) एकग—प्रतिमा का आचरण करने के लिए अकेला जाने वाला।

(२) एक—अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला।[7]

किन्तु उसका प्रकरणगत अर्थ एकक—अकेला उपयुक्त है।

## ३०. मुनि एक स्थान पर आश्रम बना कर न बैठे (असमाणो)

'असमाणो' का संस्कृत रूप है—असन्। चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं।[8]—

१. असन् (असन्निहित)—जिनके पास कुछ भी नहीं है।

२. असदृश—जो गृहस्थ के समान नहीं है।

३. अतुल्यविहारी—जिसका विहार अन्यतीर्थिकों से भिन्न है।

बृहद्वृत्ति के अनुसार इसके अर्थ ये हैं[9]—

भिक्षु असमान होता है। वह किसी घर या आश्रय में रहता है, पर उसके प्रति मूर्च्छित नहीं होता। न वह उस आश्रयदाता का वर्धापन करता है, न आश्रय की प्रशंसा करता है और न उसकी सार-संभाल करता है। आश्रय के सड़-गल जाने पर भी उसकी शिकायत गृहस्वामी से नहीं करता।

मुनि असमान—अहंकार रहित होता है।

वह अन्यतीर्थिकों की भांति नियत स्थानों या मठों में निवास नहीं करता। वह अनियताविहारी होता है। इस दृष्टि से भी वह असमान होता है।

गृहस्थ अपने स्थान के प्रति आसक्त होते हैं, निरन्तर उसकी चिंता करते रहते हैं। भिक्षु असन्निहित होने के कारण आश्रय की वार्ता से मुक्त होता है।

आयारचूला में अनेक स्थलों पर ये दो शब्द व्यवहृत हैं—'समाणे वा वसमाणे वा।'[10]

'वसमाण' शब्द अनियतवास का वाचक है और 'समाण' शब्द नियतवास का।[11]

प्रस्तुत आगम में प्रयुक्त 'असमाण' शब्द 'वसमाण' का वाचक है, अर्थात् अनियतवास का द्योतक है। आयारचूला के संदर्भ में 'असन्'—यह मूल अर्थ प्रतीत होता है।

## ३१. गांव आदि के साथ.....प्रतिबद्ध न हो (नेव कुच्चा परिग्गहं)

परिग्रह का अर्थ है—ममत्व। यह चरण पूर्ववर्ती श्लोक के दो अंतिम चरणों तथा दशवैकालिक सूत्र (चूलिका २।८) के—गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिं चि कुज्जा—का द्योतक है। मुनि किसी गांव, कुल, नगर या देश के प्रति आसक्त न हो, प्रतिबद्ध न हो। प्रतिबद्धता से संयम की हानि होती है। इसीलिए प्रस्तुत श्लोक के अगले दो चरणों में कहा गया है कि मुनि गृहस्थों से असंबद्ध रहे तथा अनिकेत होकर विचरण करे।

---

१. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ४८२ : लाढेसु अ उवसग्गा, घोरा.....। ततो भगवान् लाढासु जनपदे गतः तत्र घोरा उपसर्गा अभवन्।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : 'लाढे' त्ति सदनुष्ठानतया प्रधानः।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६६ : नयन्तीति निगमास्त एव नगमाः, नानाकर्मशिल्पजातयः इत्यर्थः।

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १०७ : निगमे वा वणिग्निवासे।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३१,३२।

५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६६ : एगो णाम रागद्दोसरहितो, अहवा एगो 'जणमज्झे वि वसंतो।'
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १०७ : 'एक एवे' ति रागद्वेषविरहितः 'चरेत्' अप्रतिबद्धविहारेण विहरेत्, सहायवैकल्यतो वैकस्तथाविधगीतार्थो, यथोक्तम्—
ण वा लभिज्जा णिउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणतो समं वा।
एक्को ऽवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो।।

६. सुखबोधा, पत्र ३१।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र १०६ : 'एकः' उक्तरूपः स एवैककः, एको वा प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकगः, एकं वा कर्म्मसाहित्यविगमतो मोक्षं गच्छति—तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकगः।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६७ : असमान इति असमादि (नो) कः, असंनिहित इत्यर्थः....अहवा असमाण इति नो गृहितुल्यितः....अथवा असमानः अतुल्यविहारः अन्यतीर्थिकैः।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र १०७ : न विद्यते समानोऽस्य गृहिण्यश्रयामूर्च्छितत्वेन अन्यतीर्थिकेषु वाऽनियतविहारादिनेत्यसमानः—असदृशो, यद्वा समानः—साहङ्कारो न तथेत्यसमानः, अथवा '(अ) समाणो' त्ति प्राकृतत्वादसन्निवासन्, यत्रास्ते तत्राप्यसंनिहित एवेति हृदयम्।

१०. आयारचूला, १।४६।१२२,१३८ आदि।

११. आचारांगवृत्ति, पत्र ३३५ : समानाः इति जंघाबलपरिक्षीणतयैकस्मिन्नेव क्षेत्रे तिष्ठन्तः, तथा वसमाना मासकल्पविहारिणः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह उन्नीसवां श्लोक पूर्ववर्ती श्लोक का पूरक है।

## ३२. चर्या परीषह

कोल्लकर नाम का नगर था। वहां बहुश्रुत स्थविर आचार्य संगम अपने अनेक साधुओं के साथ निवास कर रहे थे। वे वहां स्थिरवासी थे। वे सब निरंतर अपनी चर्या में पूर्ण जागरूक थे और आगमों के अनुसार चर्या का पालन करते थे। एक बार उनका शिष्य दत्त लंबे समय के बाद वहां आया और अपने स्थिरवासी आचार्य को देख उसने सोचा, ओह! ये तो 'नियतवासी' बन गए हैं। मुझे यहां नहीं ठहरना चाहिए। वह अन्यत्र ठहरा। आचार्य भिक्षावेला के समय ऊंच-नीच कुल में गोचरी करने गए। वह भी उनके साथ हो गया। कालदोष से उस दिन आचार्य को अन्त-प्रान्त भोजन मिला। आचार्य निस्संगभाव से आहार लेते हुए अनेक घरों में घूमते रहे। शिष्य आकुल-व्याकुल हो गया। उसने अंट-संट बोलना प्रारम्भ कर दिया। आचार्य उसको शान्त करने के लिए एक धनी के घर में गए। वहां गृहपत्नी रेवती अपने बच्चे को उठाए खड़ी थी। वह बच्चा छह मास से रोता था। एक पल के लिए भी रुदन नहीं रुकता था। आचार्य भीतर गए। रोते हुए लड़के के समक्ष चुटकी बजाई और उसने रोना बंद कर दिया। घरवाले प्रसन्न हुए। उन्होंने आचार्य को परम अन्न से प्रतिलाभित किया। शिष्य प्रसन्न हो अपने निवास स्थान पर आ गया। आचार्य छोटे-बड़े घरों से भिक्षा ले स्थान पर आए। सबने भोजन किया। सायं प्रतिक्रमण के समय आचार्य ने उससे कहा—कृत की आलोचना करो। उसने कहा—मैं तो आपके साथ ही घूमा था। आप आलोचना करें। आपने अमुक घर से धातृपिण्ड लिया है। यह अकल्प्य है। आचार्य बोले—दूसरों के अति सूक्ष्म छिद्र भी तुम देख लेते हो। वह बोला—यह असत्य है। कहा है—मनुष्य के पास अपने दोष देखने के लिए एक आंख भी नहीं है, किन्तु परदोषों को देखने के लिए वह सहस्राक्ष हो जाता है—

*एक्कं पि नत्थि लोयस्स लोयणं जेण नियइ नियदोसे।*
*परदोसपेच्छणे पुण, लोयणलक्खाइं जायंति।।*

शिष्य आचार्य को छोड़कर दूसरे कमरे में चला गया। रात का समय। भयंकर तूफान। सघन अंधकार। वह डरा। उसने आचार्य को पुकारा। आचार्य ने कहा—इधर आ जाओ। वह बोला—कैसे आऊं? हाथ से हाथ नहीं दीख रहा है। सर्वत्र सूचीभेद्य अन्धकार व्याप्त है। आचार्य लब्धि-संपन्न थे। उन्होंने अपनी अंगुली आगे की। वह प्रज्वलित होकर आलोक बिखेरने लगी। शिष्य ने सोचा—ये कैसे गुरु? अपने पास दीपक भी रखते हैं। वह और अधिक रुष्ट हो गया। कुछ समय बीता। उसकी विवेक-चेतना जागी। उसे अपनी दुष्टता का भान हुआ। उपद्रव मिटा। वह तत्काल गुरु-चरणों में आकर बार-बार क्षमायाचना करने लगा। उसने कहा—आप ही मेरे तारक हैं। आगे फिर मैं ऐसा आचरण नहीं करूंगा। आचार्य ने उसे आश्वस्त किया। शिष्य को ग्रंथकार के वचनों की स्मृति हो आई। वह गुनगुनाने लगा—

*निम्ममा निरहंकारा,, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे।*
*एगक्खेत्ते वि ठिया, खवंति पोराणयं कम्मं।।*

जो मुनि ममत्व और अहंकार से शून्य होते हैं, जो संयम, तप और चारित्र में जागरूक रहते हैं, वे नियतवासी होने पर भी, एक क्षेत्र में रहने पर भी, अपने कर्मों का क्षय कर देते हैं।[1]

निगमन—आचार्य संगम ने चर्या परीषह को समभाव से सहा।

## ३३. चपलताओं का वर्जन करता हुआ (अकुक्कुओ)

बृहद्वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—

(१) अकुक्कुचः और

(२) अकुत्कुचः।

इनके क्रमशः अर्थ हैं—

(१) अशिष्ट चेष्टाओं से रहित।

(२) हाथ-पैर को अनुचित रूप से न हिलाने वाला।[2]

## ३४. श्मशान....अथवा वृक्ष के मूल में (सुसाणे... रुक्खमूले)

मुनि को किस प्रकार के स्थान में रहना चाहिए इसका विचार कई अध्ययनों में किया गया है। देखें—१५।४; १६ सू. ३ श्लो. १; ३२।१२, १३, १६; ३५/४-६। श्मशान, शून्य-गृह और वृक्ष-मूल ये सब एकान्त स्थान के उदाहरण मात्र हैं। श्मशान और वृक्ष-मूल में मुख्यतया विशिष्ट साधना करने वाले मुनि ही रहते हैं।[3]

'सुसाण'—यह श्मशान के अर्थ में आर्ष-प्रयोग है।

कई बौद्ध-भिक्षु भी श्मशान में रहने का व्रत लेकर चलते थे। उनका यह व्रत 'श्मशानिकांग' कहलाता है। यही ग्यारहवां 'धुतांग' है।[4]

कई बौद्ध-भिक्षु वृक्षों के नीचे भी रहते थे। वे छाए हुए घरों में नहीं रहते थे। उनका यह व्रत 'वृक्षमूलिकांग' कहलाता है। यही नौवां 'धुतांग' है।[5]

## ३५. दूसरों को त्रास न दे (न य वित्तासए परं)

मुनि की साधना विविध प्रकार की होती है। कभी-कभी वह श्मशान-प्रतिमा की विशिष्ट साधना स्वीकार कर श्मशान में रात्री-निवास करता है। उस समय वहां विविध प्रकार के भयोत्पादक उपसर्ग होते हैं। मुनि उनसे भयभीत न हो। वह

१. सुखबोधा, पत्र ३२।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र १२६ : अकुक्कुचः—अशिष्टचेष्टारहितः।
...यद्वा अकुक्कुए त्ति अकुत्कुचः...कुत्सितं हस्तपादादिभिरस्पन्दमानो...

३. दशवैकालिक, १०।१२।

४. विशुद्धि मार्ग, पृ. ६०।

५. वही, पृ. ६०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम के इस वचन का स्मरण करे—'पडिमं पडिवज्जिया मसाणे, णो भायए भयभेरवाइं दिस्स।' साथ ही साथ वह वहां साधनारत अन्यान्य साधकों को भी न डराए। ऐसी आवाजें न करे कि दूसरे डर जाएं या ऐसे हावभाव न करे कि वहां भय का वातावरण खड़ा हो जाए।[1]

## ३६. (श्लोक २०,२१)

ये दो श्लोक निषद्या परीषह से संबंधित हैं। चूर्णिकार ने 'णिसीहिया' और 'ठाणं' को एकार्थक माना है और इसका अर्थ निषीदन—बैठना किया है।[2] वृत्ति में इसका अर्थ श्मशानादि स्वाध्याय भूमि किया है।[3] प्राचीनकाल में मुनि स्वाध्याय के लिए एकान्त स्थान में जाते थे। उसको निषीधिका या निषद्या कहते थे।

खारवेल के शिलालेख में 'काय निसीदिका' और 'अर्हत् निसीदिका' का पाठ मिलता है।

इस प्रकार 'निसीदिया' और निसीहिया'—ये दो प्रकार के पाठ मिलते हैं। इनमें खारवेल के शिलालेख के पाठ बहुत प्राचीन हैं। प्राचीन लिपि में 'द' और 'ह' का अंकन बहुत समान रहा है। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि 'निसीदिया' का 'द' 'हकार' में परिवर्तित हो गया और 'निसीहिया' पाठ प्रचलित हो गया।

'निसीदिया' का अर्थ है—निषद्या। यह स्वभाविक प्रयोग है। 'निसीहिया' का अर्थ निषीधिका, नैषेधिकी या निशीथिका किया जाता है। यह अर्थ मौलिक प्रतीत नहीं होता।

निषद्या का अर्थ है—निर्वाणभूमि, स्वाध्यायभूमि या समाधिस्थल।

### निषद्या परीषह

हस्तिनापुर नगर। कुरुदत्त नाम का श्रेष्ठिपुत्र। उसने एक आचार्य के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। आचार्य बहुश्रुत थे। उन्होंने उसकी पात्रता की परीक्षा कर उसे अनेक आगमों की वाचना दी। वह विनय की प्रतिपत्ति से ज्ञान अर्जित कर कुछ ही वर्षों में बहुश्रुत मुनि बन गया। आचार्य की अनुज्ञा प्राप्त कर वह एक बार एकलविहार प्रतिमा की प्रतिज्ञा कर साकेत नगर की ओर चला। नगर के समीप आते-आते दिन का अंतिम प्रहर—चतुर्थ प्रहर का काल आ गया। उसने वहीं पैर रोक दिए। वह स्थान था नगर का श्मशान। इधर-उधर शव जल रहे थे। वह वहीं कायोत्सर्ग में स्थित हो गया।

निकट के एक गांव से कुछ चोर गायों को चुराकर उसी रास्ते से निकले थे। चोरी का पता लगाने वाले कुछ लोग उनके पीछे-पीछे आ रहे थे। जहां मुनि कायोत्सर्ग में स्थित थे, वहां से दो मार्ग दो गांवों की ओर जा रहे थे। वे खोजी व्यक्ति वहां रुके। मुनि से पूछा कि चोर किस ओर गए हैं? मुनि मौन थे। खोजी व्यक्तियों ने पुनः-पुनः पूछा। मुनि ने मौन भंग नहीं किया। वे कुपित हुए और उन्होंने मुनि के सिर पर मिट्टी की पाल बांधकर उसको दहकते अंगारों से भर दिया। वे फिर वहां से चल दिए।

मुनि को असह्य विकराल वेदना हो रही थी। पर वे समता के अथाह सागर में उन्मज्जन-निमज्जन करने लगे। वे गुनगुनाने लगे—

*सह कलेवर! खेदमचिन्तयन्, स्ववशता हि पुनस्तव दुर्लभा।*
*बहुतरं च सहिष्यसि जीव हे! परवशो न च तत्र गुणोऽस्ति ते।।*

'शरीर! इस विपुल कष्ट को तू यह सोचकर समभाव से सहन कर कि कष्ट सहने की यह स्वतंत्रता अन्यत्र दुर्लभ है। मनुष्य जीवन के अतिरिक्त ऐसी स्ववशता पुनः प्राप्त होना कठिन है। परवशता में तूने अनेक भयंकर कष्ट सहे हैं। यह तेरी कोई विशेषता नहीं है। विशेषता तब होती है जब स्ववशता में भी भयंकर कष्टों को समभाव से सहा जाए।'

मुनि के परिणामों की श्रेणी विशुद्धतम होती गई और वे सभी कष्टों से सदा-सदा के लिए मुक्त हो गए।[4]

## ३७. उत्कृष्ट या निकृष्ट उपाश्रय को पाकर (उच्चावयाहिं सेज्जाहिं)

उच्च और अवच—ये दो शब्द हैं। उच्च का अर्थ है—वे दुमंजिले मकान जो लिपे-पुते हुए हैं अथवा जो शीत, आतप आदि का निवारण करने में सक्षम हैं, सभी ऋतुओं में सुखदायी हैं।

अवच का अर्थ है—जमीन से सटे हुए मकान, खंडहर या जो शीत और आतप से रक्षा करने में असमर्थ।[5]

शय्या का अर्थ है—वसति, गृह।

## ३८. मर्यादा का अतिक्रमण न करे (नाइवेलं विहन्नेज्जा)

वेला शब्द के दो अर्थ हैं—समय और मर्यादा।

'हन्' धातु के दो अर्थ हैं—हिंसा और गति। यहां यह गति अर्थ में प्रयुक्त है।

'नाइवेलं विहन्नेज्जा' पद के दो अर्थ हैं—

(१) मुनि शीत, आतप आदि से प्रताड़ित होकर स्वाध्यायभूमि का अतिक्रमण न करे, उसे छोड़कर अन्यत्र न जाए।

(२) मुनि उच्च या अवच स्थान को प्राप्त कर अपनी

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र १०६।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६७ : णिसीहियत्ति वा ठाणंति वा एगट्ठं, तं तु तस्स साधोः कुत्र स्थाने स्यात्? णिसीहियमित्यर्थः।

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ८३ : श्मशानादिका स्वाध्यायादिभूमिः निषद्येति यावत्।
(ख) सुखबोधा, पत्र १७ : नैषेधिकी—श्मशानादिका स्वाध्यायभूमिः।

४. सुखबोधा, पत्र ३३।

५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६८।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ११०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मर्यादा अर्थात् समभाव को न छोड़े।

वह अच्छे स्थान को प्राप्त कर यह न सोचे कि मैं कितना सौभाग्यशाली हूं कि मुझे सभी ऋतुओं में सुखदायी यह स्थान प्राप्त हुआ है। बुरे स्थान को प्राप्त कर वह न सोचे कि मैं कितना मंदभाग्य हूं कि मुझे शीत आदि से बचाने वाला स्थान भी प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार मुनि हर्ष और विषाद से ग्रस्त न हो।[1]

आयारचूला में 'स्थान या शय्याविधि' का निर्देश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—मुनि को कभी सम स्थान और कभी विषम स्थान, कभी वायु वाला और कभी वायु शून्य, कभी गंदा और कभी साफ-सुथरा, कभी दंश-मशकों से परिव्याप्त और कभी उनसे रहित, कभी खण्डर और कभी पूरा, कभी बाधाओं से व्याप्त और कभी निर्बाध स्थान मिलता है। मुनि इनमें समभाव रखे, राग-द्वेष न लाए।[2]

## ३९. प्रतिरिक्त (एकांत) उपाश्रय को (पइरिक्कुवस्सयं)

'पइरिक्क' देशी शब्द है। इसके एकांत, शून्य, विशाल आदि अनेक अर्थ हैं।[3] संस्कृत में भी 'प्रतिरिक्त' शब्द इन अर्थों में प्रयुक्त है।

चूर्णिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—पुण्य—सुन्दर अथवा पूर्ण, अव्याबाध, नव-निर्मापित, ऋतुक्षम—सभी ऋतुओं में सुखप्रद; जो अभी तक कार्पटिक आदि भिक्षुओं से उपभुक्त न हो वैसा स्थान।[4]

बृहद्वृत्ति में इसके दो अर्थ प्राप्त हैं[5]—

(१) स्त्री आदि से विरहित होने के कारण एकान्त।

(२) अव्याबाध।

## ४०. एक रात में क्या होना जाना है (किमेगरायं करिस्सइ)

यह एक रात्री का प्रयोग विशेष साधनारत मुनियों के लिए है। एकलविहार की प्रतिमा अथवा अन्य प्रतिमाओं को धारण कर विचरण करने वाले मुनि गांव में एक रात और नगर में पांच रात रह सकते हैं। स्थविरकल्पी मुनि नवकोटि विहार से विचरण करते हैं। इसलिए उनके लिए यह नियम नहीं है।[6]

## ४१. शय्या—वसति परीषह

कोशाम्बी नगरी के विश्रुत विप्र यज्ञदत्त के दो पुत्र थे। उनका नाम था—सोमदत्त और सोमदेव। वे वेदों के पारंगत विद्वान् हो गए। अकस्मात् कोई निमित्त मिला और वे दोनों संसार से विरक्त होकर सोमभूति अनगार के पास दीक्षित हो गए। दोनों ने ज्ञानार्जन के लिए श्रम किया और कुछ ही समय में वे बहुश्रुत हो गए। एक बार वे एक पल्ली में आए। वहां के लोग मदिरापान करते थे। उन्होंने अन्य पेय द्रव्य में मदिरा का मिश्रण कर मुनिद्वय को दिया। मुनि इससे अजान थे। उन्होंने उस पेय को पीया और कुछ ही समय पश्चात् वे उन्मत्त हो गए। उन्होंने सोचा—हमने अच्छा नहीं किया। हमारे से प्रमाद हुआ है। अच्छा है, हम अनशन कर लें। वे दोनों पास ही एक नदी पर गए और वहां पड़े हुए दो काष्ठ-फलकों पर पादपोपगमन अनशन कर लेट गए। दो-चार दिन बीते। अकाल में वर्षा हुई और नदी में बाढ़ आ गई। उस बाढ़ में दोनों भाई बह गए। समुद्र में जा गिरे। लहरों की तीव्र चपेटों से वे हत-विहत हुए। जलचर जीवों ने उन्हें काटा। दोनों भाई पीड़ा को समता से सहकर पंडित मरण को प्राप्त हुए।[7]

## ४२. प्रति क्रोध (पडिसंजले)

'पडिसंजले' का तात्पर्यार्थ है—कोई क्रोध से वशीभूत होकर गाली देता है, क्रोध से जलता है तो भी मुनि प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर उसके प्रति क्रोध न करे, क्रोधाग्नि में न जले। आंखों को लाल-पीला कर, सारे शरीर में दाह उत्पन्न कर, गाली का जवाब प्रचंड गाली से देना, अग्नि की भांति संज्वलित होना है। मुनि उसके प्रति भी संज्वलन क्रोध—अत्यधिक हलका क्रोध भी न करे, शांत रहे।[8]

आचार्य नेमिचन्द्र ने यहां एक सुन्दर श्लोक प्रस्तुत किया है[9]—

*आक्रुष्टेन मतिमता, तत्त्वार्थालोचने मतिः कार्या।*
*यदि सत्यं कः कोपः, स्यादनृतं किं नु कोपेन?।।*

## ४३. (सरिसो होइ बालाणं)

इस चरण का तात्पर्य यह है कि जो मुनि गाली का उत्तर गाली से देता है वह उस अज्ञानी के समान ही हो जाता है। यहां एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है—

'एक क्षपक मुनि था। देवता उसकी सेवा करता था। क्षपक जो कुछ कहता, देवता उसका पालन करता था। एक बार मुनि का एक नीच जाति वाले व्यक्ति से झगड़ा हो गया। वह हृष्ट-पुष्ट था। उसने मुनि को पछाड़ दिया। रात को देव वन्दना करने आया। मुनि मौन रहे। देव बोला—'क्या कोई मेरा

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ११०।
२. आयारचूला, ८/३०।
३. देखें—देशी शब्दकोश।
४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६६ : पयरेको णाम पुण्णो, अव्वाबाहो असु (ब्भु) ण्णवो वा, ण किंचिं वि तत्थ ठविया जं निमित्तं तत्थागमिस्संति, अयं कतुखमितो, ण कप्पडियादीहिं य उवभुज्जति।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ११० : पइरिक्कं स्त्र्यादिविरहितत्वेन विविक्तं, अव्याबाधं वा।
६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६६ : सो हि एगल्लविहारी गामे एग रातीए नगरे पंचरातीए।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ११०-१११ : प्रतिमाकल्पिकापेक्षं चैकरात्रमिति, स्थवरकल्पिकापेक्षया तु कतिपया रात्रयः।
७. सुखबोधा, पत्र ३५।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र १११-११२।
९. सुखबोधा, पत्र ३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपराध हुआ है?' मुनि ने कहा—'तूने उस दुष्ट आदमी को डांटा तक नहीं।' देव बोला—'गुरुदेव! मैं वहां आया तो था पर पहचान नहीं सका कौन था दुष्ट आदमी और कौन था श्रमण? वे दोनों एक जैसे ही थे।'

## ४४. (श्लोक २५)

प्रस्तुत श्लोक में भाषा के तीन विशेषण प्राप्त हैं—परुष, दारुण और ग्रामकण्टक।

**परुष**—वह भाषा जो स्नेहरहित, अनौपचारिक और कर्कश हो।[1]

**दारुण**—वह भाषा जो मन को फाड़ डाले, कमजोर साधकों को संयम-धृति को तोड़ दे।[2]

**ग्रामकण्टक**—यहां ग्राम शब्द इन्द्रिय-ग्राम (इन्द्रिय समूह) के अर्थ में प्रयुक्त है। ग्रामकण्टक अर्थात् कानों में कांटों की भांति चुभने वाले इन्द्रियों के विषय, प्रतिकूल शब्द आदि। ये कांटे इसलिए हैं कि ये दुःख उत्पन्न करते हैं और मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त साधकों के लिए विघ्नकारी होते हैं।[3]

मूलाराधना में 'ग्रामवचीकंटगेहिं' का प्रयोग है।[4] उसका अर्थ है—ग्राम्य लोगों के वचनरूपी कांटों से। प्रस्तुत श्लोक में 'ग्रामकण्टए' का प्रयोग है। यहां मध्यपद 'वची' का लोप मान लेने पर उसका अनुवाद ग्राम्य लोगों की कांटों के समान चुभने वाली भाषा—किया जा सकता है।

## ४५. आक्रोश परीषह

राजगृह नगर। मुद्गरपाणी यक्ष का आयतन। यक्ष का परम भक्त अर्जुन मालाकार। स्कन्दश्री उसकी पत्नी। दोनों का ईष्टदेव था मुद्गरपाणी यक्ष। एक बार छह युवकों ने स्कन्दश्री पर आक्रमण किया। अर्जुन मालाकार ने देखा। मुद्गरपाणी यक्ष मालाकार के शरीर में प्रविष्ट हुआ। मालाकार ने छहों व्यक्तियों तथा अपनी पत्नी को मुद्गर से मार डाला। अब वह प्रतिदिन सात व्यक्तियों (छह पुरुष और एक स्त्री) की हत्या करने लगा।

कुछ समय बीता। भगवान महावीर जनपद विहार करते हुए वहां आए। राजगृह के बाह्य उद्यान में ठहरे। चारों ओर अर्जुन मालाकार का भय व्याप्त था। कोई भी व्यक्ति भगवान के दर्शन करने जाने को उद्यत नहीं था। श्रेष्ठीपुत्र सुदर्शन 'जं होइ तं होइ' को ध्यान में रख भगवद् दर्शन के लिए चला। अर्जुन को सामने आते देख, सुदर्शन ने मन ही मन कहा—मुझे अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म की शरण हो, महावीर मेरी गति हों। इस वेला में यदि मेरे इस देह से कोई प्रमाद हो (मेरा मरण हो) तो मैं आहार, उपधि और काय का तीन करण तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूं। वह नमस्कार मंत्र का पांच बार स्मरण कर कायोत्सर्ग में स्थित हो गया। इतने में ही अर्जुन वहां आया। पर उसे तब अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि वह उस व्यक्ति पर प्रहार करने में असमर्थ हो रहा है। उसने अपना सारा पुरुषार्थ प्रहार करने के लिए लगा दिया। पर, सब व्यर्थ। यक्ष अर्जुन के शरीर से निकल गया। अर्जुन वहीं भूमि पर गिर पड़ा। चेतना प्राप्त कर वह उठा और सुदर्शन से पूछा—मैं कहां हूं? मैंने ऐसा क्यों किया? मेरी क्या स्थिति है? मैं अपने आपको नहीं जानता। तुम मुझे बताओ। सुदर्शन ने सारी बात बताई। मालाकार का मन आन्दोलित हो उठा। वह भी सुदर्शन के साथ भगवान् की सन्निधि में पहुंचा। उसने पूछा—भंते! मैं घोर पापी हूं। मेरी विशोधि कैसे हो सकती है? भगवान बोले—विशोधि के दो साधन हैं—तपस्या और संयम। यह सुनकर मालाकार भगवान के पास प्रव्रजित हो गया।

वह भक्तपान के लिए राजगृह में जाता। उसे देखते ही लोगों की स्मृति उभर जाती। कोई कहता—इसने मेरे पिता को, कोई कहता मेरे भाई को, कोई कहता—मेरी पत्नी को, कोई कहता—मेरे पुत्र को इस हत्यारे ने मारा है। वे उस पर ढेले फेंकते, मारते। पर मुनि अर्जुन उन सभी प्रकार के आक्रोशों को समभाव से सहता।

संयम की विशुद्ध परिपालना और समता की आराधना से कर्मों का क्षय कर उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।[5]

## ४६. मन में न लाए (मणसीकरे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—मानसिक असमाधि किया है।[6] प्रतिकूल भाषा को सुनकर भी मुनि अपनी मानसिक समाधि न खोए, मानसिक असमाधि में न जाए।

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—परुष भाषा बोलने वाले व्यक्ति के प्रति मन में भी द्वेष न लाए।[7]

## ४७. क्रोध (संजले)

चूर्णिकार ने संज्वलन का अर्थ रोषोद्गम या मानोदय किया है। उन्होंने उसका लक्षण बताते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है।[8]—

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७० : फरुसा निःस्नेहा अनुपचारा श्रमणको निल्लज्जा इत्यादि।

२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७० : मणं दारयतीति दारुण।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ११२ : दारयन्ति मन्दसत्त्वानां संयमविषयां धृतिमिति दारुणाः।

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७० : ग्रसत इति ग्रामः—इन्द्रियग्रामः तस्य इन्द्रियग्रामस्य कंटगा, जहा पंथे गच्छंताणं कंटगा विघ्नाय, तहा सद्दादयोवि इन्द्रियग्रामकंटया मोक्षिणां विघ्नायेति।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १११।
(ग) देखो—दशवैकालिक १०।११ का टिप्पण।

४. मूलाराधना, आश्वास ४, श्लोक ३०१, मूलाराधनादर्पणवृत्ति, पत्र ५१५ : दुस्सहपरीसहेहिं य, गामवचीकंटएहिं तिक्खेहिं।
अभिभूदा वि हु संता, मा धम्मधुरं पमुच्चेह।।
—ग्रामवचीकंटगेहिं—ग्राम्याणामविविक्तजनानां वचनानि एव कंटकास्तैराक्रोशवचनैरित्यर्थः।

५. सुखबोधा, पत्र ३५।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७० : मन करणं णाम तदुपयोगः मनसोऽसमाधिरित्यर्थः।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ११२ : न ता मनसि कुर्यात्, तद् भाषिणि द्वेषाकरणेनेति भावः।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*'कंपति रोषादग्निसंधुक्षितवच्च दीप्यतेऽनेन।*
*तं प्रत्याक्रोशत्याहंति च मन्येत येन स मतः।।*

—जो क्रोध से कांप उठता है, अग्नि की भांति जल उठता है, आक्रोश के प्रति आक्रोश और हनन के प्रति हनन करता है, यह संज्वलन का फल है।

बृहद्वृत्ति में इस शब्द के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि मुनि पीटे जाने पर भी शरीर से संज्वलित न हो—क्रोध से न कांपे और न पीटने वाले को पीटने का प्रयत्न ही करे। वह आक्रोश के प्रति आक्रोश कर अपने आपको अत्यन्त कुपित प्रदर्शित न करे।[1]

## ४८. परम (परमं)

प्राचीन साहित्य में दो शब्द प्रचलित हैं—पराविद्या और अपराविद्या। पराविद्या का अर्थ है—लोकोत्तर विद्या, अध्यात्म विद्या और अपराविद्या का अर्थ है—सांसारिक विद्या, व्यावहारिक विद्या।

उपनिषदों में पराविद्या की जिज्ञासा के अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं।

'परम' शब्द का अर्थ है—उत्कृष्ट। शान्त्याचार्य ने तितिक्षा को उत्कृष्ट धर्म-साधन माना है।[2]

## ४९. मुनि—धर्म (भिक्खुधम्मं)

मुनि-धर्म स्थानांग (१०।७१२) तथा समवायांग (समवाय १०) के अनुसार दस प्रकार का होता है—

| | |
|---|---|
| (१) क्षान्ति | (७) संयम |
| (२) मुक्ति—निर्लोभता, अनासक्ति | (८) तप |
| (३) मार्दव | (९) त्याग—अपने सांभोगिक |
| (४) आर्जव | साधुओं को आहार का |
| (५) लाघव | दान देना। |
| (६) सत्य | (१०) ब्रह्मचर्य |

## ५०. श्रमण को (समणं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'समान मन वाला' किया है।[3] शान्त्याचार्य ने इस अर्थ के साथ-साथ श्रमण भी किया है।[4] नेमिचन्द्र ने तपस्वी किया है।[5] संस्कृत में इस शब्द के दो रूप हो सकते हैं—श्रमणम् और समणम्। विस्तार के लिए देखें—दसवेआलियं १।३ के 'समणा' शब्द का टिप्पण।

## ५१. (श्लोक २६,२७)

प्रस्तुत दो श्लोकों (२६, २७) में आक्रोश, वध आदि परीषहों को झेलने के तीन आलंबन सूत्र प्राप्त होते हैं—

१. तितिक्षा—मुनि सोचे की सहन करने से बढ़कर निर्जरा का कोई साधन नहीं है। क्षमा परम धर्म है। सहन करने वाला ही क्षमाशील हो सकता है। एक प्राचीन श्लोक है—

*'धर्मस्य दया मूलं, न चाक्षमावान् दयां समाधत्ते।*
*तस्माद् यः क्षान्तिपरः, स साधयत्युत्तमं धर्मम्।।'*

२. मुनि धर्म का चिंतन करे। मुनि धर्म दो प्रकार का है—पांच महाव्रतात्मक और क्षान्ति आदि दसविध धर्म। मुनि यह सोचे कि मुनि-धर्म का मूल है क्षमा। यह आक्रोश करने वाला व्यक्ति मुझे निमित्त बनाकर कर्मों का उपचय करता है, इसलिए परोक्षतः मैं ही दोषी हूं। अतः मुझे इसके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए।

३. आत्मा के अमरत्व का चिन्तन—पीटे जाने पर मुनि यह सोचे कि जीव—आत्मा का नाश नहीं होता। इस चिन्तन का पूर्वपक्ष है कि यदि कोई दुर्जन व्यक्ति मुनि को गाली दे तो मुनि यह सोचे कि—चलो, गाली ही देता है, पीटता तो नहीं। पीटने पर सोचे—चलो, पीटता ही है, मारता तो नहीं। मारने पर सोचे—चलो मारता ही है, धर्म से भ्रष्ट तो नहीं करता—आत्म-धर्म का हनन तो नहीं करता, क्योंकि आत्मा अमर है, अमूर्त्त है।

इस प्रेक्षा से मुनि अगले बड़े उपताप को सामने रखकर छोटा उपताप जो प्राप्त होता है, उसे लाभ मानता है और इस प्रकार वह मनोवैज्ञानिक विजय प्राप्त कर लेता है।[6]

## ५२. वध परीषह

स्कन्दक श्रावस्ती नगर के जितशत्रु राजा का राजकुमार था। उसकी माता का नाम था धारिणी और बहिन का नाम था पुरंदरयशा। पुरंदरयशा का विवाह कुंभकार नगर के राजा दंडकी के साथ हुआ। पालक दंडकी का पुरोहित था।

एक बार श्रावस्ती नगरी में मुनि सुव्रत समवसृत हुए। धर्मचर्चा सुनने के लिए लोग उमड़ पड़े। युवराज स्कन्दक भी गया। धर्मदेशना सुनकर उसने श्रावक के व्रत अंगीकार कर लिए।

एक बार दंडकी राजा का पुरोहित पालक श्रावस्ती नगरी में दूत बनकर आया। भरी सभा में वह मुनियों का अवर्णवाद बोलने लगा। स्कन्दक ने उसे निरुत्तर कर दिया। उसी दिन से पालक स्कन्दक का द्वेषी बन गया।

कुछ समय बीता। स्कन्दक संसार से निर्विण्ण हुआ और उसने पांच सौ व्यक्तियों के साथ मुनि सुव्रत स्वामी के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। उसने ज्ञानाभ्यास कर बहुश्रुतता हासिल कर ली। मुनि सुव्रत स्वामी ने उसकी योग्यता का मूल्यांकन करते हुए उसे पांच सौ शिष्यों का अधिपति बना डाला। एक

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ११४।
२. वही, पत्र ११४ : परमां धर्मसाधनं प्रति प्रकर्षवर्तीं....तितिक्षाम्।
३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७२ : समो सव्वत्थ मणो जस्स भवति स समणो।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ११४ : 'समणं'—श्रमणं सममनसं वा—तथाविधवधेऽपि धर्मं प्रति प्रहितचेतसम्।
५. सुखबोधा, पत्र ३६ : 'श्रमणं' तपस्विनम्।
६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७२ :
अक्कोस-हणण-मारण-धम्मब्भंसाण बालसुलभाणं।
लाभं मन्नति धीरो, जहुत्तराणं अभावंमि।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बार मुनि स्कन्दक ने आचार्य से पूछा—भंते! मैं अपनी बहिन के गांव कुंभकार नगर में जाना चाहता हूं। आप आज्ञा दें। 'आचार्य बोले—वहां जाने पर मारणान्तिक कष्ट सहने होंगे।' मुनि स्कन्दक ने पूछा—'मृत्यु, भले ही हो। पर क्या हम आराधक होंगे या विराधक?' आचार्य बोले—तुमको छोड़कर सभी मुनि आराधक होंगे। उसने कहा—चलो, कोई बात नहीं। पांच सौ में से चार सौ निन्यानवे व्यक्ति तो आराधना कर अपना कल्याण करेंगे। एक के विराधक होने से क्या अन्तर आता है?

मुनि स्कन्दक अन्य पांच सौ मुनियों के साथ कुंभकार नगर में पहुंचा। पालक ने अवसर का लाभ उठाते हुए मुनि-निवास के चारों ओर शस्त्राशस्त्र गड़ा दिए। राजा दंडकी को मुनि के प्रति उकसाते हुए उसने कहा—यह आपका राज्य छीनने आया है। उद्यान के चारों ओर शस्त्रास्त्र छुपा कर रखे हैं। आपको विश्वास न हो तो जांच कराएं। राजा ने गुप्तचर भेजे। बात सही निकली। उसने सभी मुनियों को पुरोहित पालक को सौंप दिया। उसने सभी को कोल्हू में पीलने का आदेश दे दिया। एक-एक कर मुनि कोल्हू में पील दिए गए। सभी ने उत्कृष्ट अध्यवसायों से इस दारुण वध परीषह को सहा, केवलज्ञान प्राप्त कर सभी सिद्ध हो गए। अब केवल दो मुनि बचे थे—एक बाल मुनि और एक स्कन्दक। स्कन्दक का मन करुणार्द्र हो गया। उसने अधिकारी से कहा—इस बालक पर करुणा करो। मैं कोल्हू में पीले जाते हुए इस बालक को नहीं देख सकता। पहले मुझे पील दो। पालक हंसा। उसने स्कन्दक को और अधिक पीड़ित करने के लिए बाल मुनि को कोल्हू में डाल दिया। बाल मुनि ने अध्यवसायों की निर्मलता बनाए रखी। वह सिद्ध हो गया। स्कन्दक भान भूल बैठा। कोल्हू में पीले जाते समय निदान कर वह अग्निकुमार देव बना और पूरे जनपद को जलाकर राख कर दिया।

सभी मुनि वध परीषह को सहकर आराधक बन गए। मुनि स्कन्दक ने इस परीषह को नहीं सहा। वह विराधक हुआ।[1]

## ५३. (सव्वं से.... किंचि अजाइयं)

याचना अहंकार-विलय का प्रयोग है। जिस व्यक्ति को रोटी और पानी भी मांगने से मिलता है, रोटी और पानी के लिए भी जिसको दूसरों के आगे हाथ पसारना पड़ता है, उसमें अहंकार का भाव कैसे जागेगा? 'याचना' अहंकार-मुक्ति का एक आलंबन बनता है।

कुछ कहते हैं, साधु-जीवन का पलायन का जीवन है। साधु कोई उत्पादक श्रम नहीं करता। एक ओर मांगना कठिन होता है तो दूसरी ओर यह आरोप लगाया जाता है। आकिंचन्य और उत्पादन श्रम में कोई संबंध नहीं है।

सूफी परम्परा में कहा गया कि साधु के लिए मांगना वरदान है और आलसी—परिग्रही के लिए मांगना अभिशाप है। विनोबाभावे ने कांचन-मुक्ति का प्रयोग किया। उन्होंने कहा—जहां किंचनता है वहां मांगना, भिक्षा करना, वर्जित होना चाहिए। अकिंचन त्यागी संन्यासी के लिए याचना विहित है, सम्मत है।

याचना कठिन कर्म है। नीतिकार ने दाता और याचक की स्थिति का सुन्दर वर्णन इस श्लोक में प्रस्तुत किया है—

*'एकेन तिष्ठताऽधस्ताद् अन्येनोपरि तिष्ठता।*
*दातृयाचकयोर्भेदः, कराभ्यामेव सूचितः।।'*

देने वाले का हाथ ऊपर रहता है और लेने वाले का हाथ नीचे। यही दाता और याचक की स्थिति का द्योतक है।

एक राजा अपने गुरु के पास गया और बोला—'गुरुदेव! अहंकार मेरी साधना में बाधक बन रहा है। मुझे उसकी मुक्ति का उपाय बताएं।' गुरु बोले—"बहुत कठिन है अहं से मुक्त होना और वह भी एक राजा के लिए, जो सारे देश पर शासन करता है।" राजा ने आग्रह किया। उसकी उत्कट भावना को देखकर गुरु ने कहा—"उपाय सरल है, पर तुम्हारे लिए वह कठिन हो सकता है। यदि तुम वास्तव में ही अहं से छुटकारा पाना चाहते हो तो अपने राज्य के इस बड़े नगर में तुम सात दिन तक भिक्षा मांगने निकलो और घर-घर से भिक्षा लेकर जीवन-निर्वाह करो।" राजा बोला—"भंते! मांगना अत्यन्त कठिन कर्म है और वह भी अपने ही राज्य में, जहां मैं इतना सम्मानित और पूजनीय हूं। आप कोई दूसरा उपाय निर्दिष्ट करें।" गुरु बोले—"तुम्हारे लिए यही उपाय कारगर हो सकता है। यदि अहंकार से मुक्त होना चाहते हो तो ऐसा करना ही होगा।" राजा गुरु की बात मान, अकेला ही, नगर में मांगने निकला। हाथ में पात्र था। लोगों ने देखा। सभी आश्चर्यचकित रह गए। किसी ने आक्रोश व्यक्त किया, किसी ने घर से निकाल दिया। पर राजा समभाव से सब कुछ सहता हुआ, घर-घर गया। इस प्रकार सात दिन बीत गए। वह गुरु के पास आकर बोला, पूज्य गुरुदेव! उपाय कारगर हुआ। मुझे जो पाना था, वह मैंने पा लिया। अहं विलीन हो गया।

## ५४. गोचराग्र में (गोयरग्ग....)

'गोचर' का अर्थ है—गाय की भांति चरना। गाय अपने से परिचित या अपरिचित का भेदभाव किए बिना ही प्राप्त भोजन को ग्रहण कर लेती है, वैसे ही भिक्षु भी परिचित या अपरिचित व्यक्तियों या घरों से भिक्षा ग्रहण करता है। परन्तु गाय 'यथाकथंचित्' तो कुछ भी ले लेती है, वैसे भिक्षु नहीं ले सकता। वह सदा एषणायुक्त भोजन ही लेता है। यही 'अग्ग' (सं. अग्र्य) शब्द का विशेष अर्थ है।[2]

चूर्णिकार ने 'अग्ग' शब्द के दो अर्थ किए हैं—प्रधान और एषणायुक्त।[3] उन्होंने यहां बछड़े के उदाहरण का संकेत किया है—पर्व का दिन था। घर की मालकिन अन्यत्र गई हुई

१. सुखबोधा, पत्र ३६।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ११६।
३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७४ : अग्गं पहाणं, जतो एसणाजुत्तं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थी। पुत्रवधू साज शृंगार में लग गई। वह बछड़े को चारा-पानी देना भूल गई। फिर अचानक उसे बछड़े की याद आई। वह उसी रूप में चारा देने आई। बछड़े ने उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा। वह चारा खाने में मस्त हो गया। उसी प्रकार भिक्षु भी एषणायुक्त भोजन की गवेषणा में लीन रहे।[1]

## ५५. हाथ पसारना सरल नहीं है (पाणी नो सुप्पसारए)

याचना के लिए दूसरों के आगे हाथ पसारना—'मुझे दे'—यह कहना सरल नहीं है। जैसे—

***धणवइसमोऽवि दो अक्खराइं लज्जं भयं च मोत्तूणं।***
***देहित्ति जाव ण भणति पडइ मुहे नो परिभवस्स।।***[2]

कुबेर के समान धनवान् व्यक्ति भी जब तक लज्जा और भय को छोड़कर 'देहि' (दो) यह नहीं कहता तब तक उसका कोई तिरस्कार नहीं करता—अर्थात् धनवान् व्यक्ति 'मुझे दो' ऐसा कह दूसरों के आगे हाथ पसारता है तब वह भी तिरस्कार का भागी बन जाता है।

याचना करना मृत्यु के तुल्य है। नीतिकार ने कहा है—

***गात्रभंगः स्वरे दैन्यं, प्रस्वेदो वेपथुस्तथा।***
***मरणे यानि चिन्हानि, तानि चिन्हानि याचने।।***

मृत्यु के समय जो लक्षण प्रकट होते हैं—शरीर के अवयवों का ढीला पड़ जाना, वाणी में दीनता, पसीना तथा कंपन आदि वे सभी लक्षण याचना के समय भी प्रकट होते हैं।

## ५६. गृहवास ही श्रेय है (सेओ अगारवासु त्ति)

याचना के परीषह से पराजित होकर भिक्षु ऐसा न सोचे कि गृहवास ही श्रेयस्कर है, अच्छा है, क्योंकि वहां कुछ भी किसी से मांगना नहीं पड़ता, याचना नहीं करनी पड़ती। वहां अपने पुरुषार्थ से अर्जित कमाई का खाना होता है और वह भी दीन, अनाथ आदि को संविभाग देकर ही खाना होता है। इसलिए गृहवास ही अच्छा है।[3]

## ५७. (श्लोक ३०)

लाभ और अलाभ—यह एक द्वन्द्व है। मुनि को प्रत्येक पदार्थ याचित मिलता है। इसलिए उसे कभी वस्तु की प्राप्ति हो जाती है और कभी नहीं भी होती। अप्राप्ति में उसका मन विभाजित न हो, इसलिए बत्तीसवें श्लोक में एक आलंबन सूत्र निर्दिष्ट है। जो मुनि लाभ में हर्षित होता है, वह अलाभ में विषण्ण होगा ही। इस स्थिति से बचने के लिए वह दोनों अवस्थाओं में सम रहे। वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर यह न सोचे कि मैं कितना लब्धिमान् हूं कि जो चाहता हूं वह प्राप्त हो जाता है। वस्तु की प्राप्ति न होने पर यह भी न सोचे कि ओह! मैं कितना अभागा हूं कि मुझे कुछ भी नहीं मिलता। दोनों स्थितियों में वह धैर्य रखे, सम रहे। वह यह सोचे, आज मुझे यह पदार्थ नहीं मिला है तो क्या, संभव है कल या परसों या अगले दिन तो मिल सकेगा। इस आलंबन-सूत्र का जो सहारा लेता है, उसे अलाभ कभी नहीं सताता। इस आलंबन-सूत्र का मूल है—धैर्य।

एक युवक टालस्टाय के पास आकर बोला—महाशय! आपकी सफलता का सूत्र क्या है? टालस्टाय ने कहा—धैर्य। युवक ने दो-तीन बार पूछा और उसे यही उत्तर मिला। वह असमंजस से घिर गया। वह बोला—यह भी कोई सफलता का सूत्र होता है? क्या धैर्य रखने से कभी भी चलनी में पानी ठहर सकता है? असंभव है। आप बात छुपा रहे हैं, सच-सच बताएं। टालस्टाय ने कहा—मित्र! जीवन की सफलता का यह महान् सूत्र है। चलनी में पानी ठहर सकता है यदि धैर्य रखा जाए। युवक झुंझला उठा। वह बोला—कैसे? कब तक धैर्य रखा जाए? टालस्टाय ने कहा, धैर्य तब तक रखो जब तक कि पानी जम कर बर्फ न बन जाए। बर्फ चलनी में ठहर सकती है।

## ५८. उसे अलाभ नहीं सताता (अलाभो तं न तज्जए)

व्याख्याकारों ने यहां एक लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किया है।[4]—

एक बार वासुदेव, बलदेव, सत्यक और दारुक—ये चारों घोड़ों पर चढ़कर घूमने निकले। घोड़े तीव्रगामी थे। वे चारों एक भयंकर अटवी में आ पहुंचे। रात का समय होने वाला था। वे चारों एक न्यग्रोध वृक्ष के नीचे विश्राम करने ठहरे। रात्री का प्रथम प्रहर। सभी सो गए। दारुक जाग रहा था। इतने में ही क्रोध पिशाच का रूप धारण कर वहां आया और दारुक से बोला—'मैं भूखा हूं। ये जो सो रहे हैं, इनको खाकर अपनी भूख मिटाऊंगा। अन्यथा तू मेरे साथ लड़।' दारुक ने उससे लड़ना प्रारंभ किया। दारुक उस पिशाच पर काबू पाने में असफल रहा। उसका क्रोध बढ़ता गया। पिशाच का क्रोध भी वृद्धिंगत होता गया। प्रहर बीतते-बीतते दारुक निष्प्राण होकर नीचे लुढ़क गया।

दूसरे प्रहर में सत्यक उठा। पिशाच ने उसे निष्प्राण कर दिया। तीसरे प्रहर में बलदेव की भी यही गति हुई।

रात्री का चौथा प्रहर। वासुदेव उठा। पिशाच ने उसे ललकारा। दोनों लड़ने लगे। पिशाच जैसे-जैसे लड़ता, जैसे जैसे दांव-पेच खेलता, वासुदेव प्रशंसा के स्वर में कहता—'अहो! कितने बलसंपन्न हो तुम! अपार है तुम्हारी शक्ति।' ज्यों-ज्यों पिशाच इन प्रशंसा के शब्दों को सुनता, उसका रोष कम हो जाता। चौथे प्रहर के बीतते-बीतते पिशाच शक्तिहीन हो गया। वासुदेव ने उसे उठाकर एक ओर डाल दिया। प्रभात हुआ।

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७४।
२. वही, पृ. ७४।
३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृत्र. ७४।
   (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ११७।
४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७५,७६।
   (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ११८।
   (ग) सुखबोधा, पत्र ४५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसने देखा कि उसके तीनों साथी हत-प्रहत हैं। पूछने पर उन्होंने कहा—पिशाच ने हमारी यह दशा की है। वासुदेव बोला—वह क्रोधरूपी पिशाच था। मैंने उसे शान्ति या क्षमा से जीत लिया है।

जैसे क्रोध को क्षमा से जीता जा सकता है, वैसे ही अलाभ को संतोष से जीता जा सकता है।

वासुदेव का पुत्र 'ढंढ' भगवान् अरिष्टनेमि के पास चातुर्याम विनय धर्म को स्वीकार कर प्रव्रजित हो गया। वह समृद्ध गांव-नगरों में विहरण करता, पर कहीं भी उसे भिक्षा नहीं मिलती। यदि कभी कुछ प्राप्त होता तो वह 'जं वा तं वा'। वह जिस घर में जाता, उस घर से दूसरे मुनियों को भी भिक्षा प्राप्त नहीं होती। सबके अन्तराय होता। उसने यह अभिग्रह कर लिया कि मुझे दूसरे मुनियों का लाभ नहीं लेना है। एक बार भगवान् द्वारका नगरी में पधारे। वासुदेव ने पूछा—भंते! आपके साधु समुदाय में दुक्कर-कारक मुनि कौन हैं? भगवान् ने कहा—ढंढण अनगार। पुनः पूछा—कैसे भंते! भगवान् ने कहा—यह मुनि अलाभ परीषह को समभाव से सह रहा है। 'भंते! वे कहां हैं?' भगवान् बोले—जब तुम नगर में प्रवेश करोगे तब वह सामने मिल जाएगा।

वासुदेव ने नगर में प्रवेश करते ही देखा कि एक अनगार सामने से आ रहा है। उसका शरीर सूखकर लकड़ी जैसा हो गया है। वह केवल हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया है। परन्तु उसके मुखमण्डल का शान्तरस टपक रहा है। उसका पराक्रम अस्खलित है। वह ढंढण अनगार था। वासुदेव हाथी से नीचे उतरे। वंदना की। एक सेठ ने वासुदेव को वंदना करते देखा। संयोगवश ढंढण अनगार उसी सेठ के घर गए। सेठ ने उसको मोदक बहराए। उसने भगवान् के पास आकर पूछा—भंते! क्या मेरा लाभान्तराय कर्म क्षीण हो गया? भगवान् बोले—नहीं। 'क्यों भगवन्! आज मुझे भिक्षा में मोदक मिले हैं।' भगवान् बोले—आज जो भिक्षा प्राप्त हुई है, उसका मूल कारण है वासुदेव का वंदन करना। उसको देखकर ही सेठ के मन में भक्ति का भाव उमड़ा है। ढंढण अनगार ने सोचा—मैं दूसरे के लाभ पर जीना नहीं चाहता। अब मैं इस भिक्षा को दूसरों को दे भी नहीं सकता। यह सोचकर ढंढण अनगार भावना की शुभ श्रेणी में आरोहण करते-करते केवली बन गए। उसी भव में वे मुक्त हो गए।

मुनि लाभ-अलाभ में सम रहे। कभी कुछ मिल सकता है, कभी कुछ भी नहीं। उसका अपना कुछ भी नहीं होता। सारी आवश्यकताएं याचना से पूरी होती हैं। अतः उसे कभी लाभ होता है, कभी नहीं। उसका अपना स्व है—समता। उसी से वह इस परीषह का पार पा सकता है।

## ५९. रोग को (दुक्खं)

प्रस्तुत श्लोक में दुःख शब्द रोग का वाचक है।[1] दुःख चार हैं—जन्म, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु।[2]

रोग दो प्रकार के होते हैं—आन्तरिक और बाह्य। चूर्णिकार ने तीन प्रकार के रोगों का उल्लेख किया है।[3]—

१. वातिक—वायु के प्रकोप से होने वाला।

२. पैत्तिक—पित्त के प्रकोप से होने वाला।

३. श्लेष्मज—श्लेष्म के प्रकोप से होने वाला।

बाह्य रोग आगन्तुक होते हैं। वे विभिन्न प्रकार के कीटाणुओं से उत्पन्न होकर पीड़ित करते हैं। आन्तरिक रोग भावनात्मक असंतुलन तथा ईर्ष्या, द्वेष, अतिराग आदि आवेगों से उत्पन्न होकर आशुघाती रोग के रूप में प्रगट होते हैं। अन्तर्व्रण, अल्सर आदि रोग भावना की विकृति से होने वाले रोग हैं। वे भीतर ही भीतर बढ़ते हैं और फिर बाहर में प्रगट होकर व्यक्ति की लीला ही समाप्त कर डालते हैं।

स्थानांग सूत्र में रोगोत्पत्ति के नौ कारण निर्दिष्ट हैं[4]—अति आहार, अहित भोजन, अति निद्रा, अति जागरण आदि-आदि।

## ६०. रोग परीषह

साध्वी गले के केन्सर से पीड़ित थीं। वह बढ़ता ही जा रहा था। पर साध्वी समता में लीन थीं। उन्हें आलंबन सूत्र मिला—'आत्मान्यः पुद्गलश्चान्यः'—आत्मा अन्य है, शरीर अन्य है। इस आलंबन सूत्र की सतत भावना से उनके भावों में परिवर्तन हुआ और वे केन्सर की भयंकर पीड़ा होते हुए भी, उसकी संवेदना से मुक्त हो गईं। उनसे पूछा जाता, पीड़ा कैसे है? वे कहतीं, पीड़ा शरीरगत है, आत्मगत नहीं। शरीर मेरा नहीं है, पीड़ा भी मेरी नहीं है। आत्मा मेरी है। उसमें कोई पीड़ा नहीं है। कुछ महीनों तक उस असह्य पीड़ा की स्थिति में रहकर साध्वी ने पंडित मरण का समाधिपूर्वक वरण किया।

उनका सूत्र था—

*'असासए सरीरम्मि, विन्नाऐ जिणसासणे।*
*कम्मे वेइज्जमाणम्मि, लाभो दुःखऽहियासणं।।'*

—शरीर अशाश्वत है। जिन शासन को जान लेने पर यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि कर्मों को समभाव से सहना—उनसे उदीरित दुःखों में सम रहना लाभप्रद होता है।

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७७ : रोगं दुक्खं वा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ११८ : दुःखयति दुःखं, प्रस्तावाद् ज्वरादिरोगः।

२. उत्तरज्झयणाणि १९।१५ :
जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो।।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७७ : स तु रोगो वातिकः श्लेष्मजश्चेति।

४. ठाणं ९।७३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. मथुरा का कालवेशिक राजकुमार स्थविर आचार्य के पास प्रव्रजित हो गया। आगमों का अध्ययन कर वह एकल-विहार प्रतिमा को स्वीकार कर मुद्गशैलपुर आया। वह बवासीर के रोग से ग्रस्त था। अर्श गुदा के बाहर लटक रहे थे। अपार पीड़ा। पर वह चिकित्सा को सावद्य मानकर उस रोग का प्रतिकार नहीं कर रहा था। एक बहिन ने मुनि की अवस्था से द्रवित होकर एक वैद्य से पूछा। वैद्य बोला—बहिन! मैं कुछ औषधि दूंगा। तुम आहार में मिलाकर मुनि को दे देना। वे स्वस्थ हो जाएंगे। बहिन ने वैसा ही किया। उस औषधि की गंध से बवासीर का रोग नष्ट हो गया। मुनि को पता लगा कि एक बहिन ने वैद्य से पूछताछ कर यह आरंभ किया है। अब मेरे इस जीवन से क्या! मुझे अब अनशन कर लेना चाहिए। उन्होंने अनशन स्वीकार कर लिया।[1]

## ६१. समाधिपूर्वक रहे (संचिक्ख)

संस्कृत में इसके दो रूप होते हैं—संतिष्टेत और समीक्ष्य। बृहद्वृत्ति के अनुसार 'संतिष्टेत' का अर्थ है—समाधिपूर्वक रहे, चिल्लाए नहीं। उन्होंने 'समीक्ष्य' का अर्थ इस प्रकार किया है—रोग हो जाने पर मुनि यह सोचे कि यह उसके कर्मों का ही विपाक है, फल है।[2]

## ६२. चिकित्सा न करे, न कराए (जं न कुज्जा न कारवे)

सहज ही प्रश्न होता है—क्या यह विधान समस्त साधुओं के लिए है? इसके समाधान में कहा है—'चिकित्सा न करे, न कराए[3]'—यह उपदेश जिन-कल्पिक मुनियों के लिए है। स्थविर-कल्पी मुनि सावद्य चिकित्सा न करे, न कराए।[4] यह शान्त्याचार्य का अभिमत है।

उन्होंने सावद्य चिकित्सा को आपवादिक विधि मानकर उसके समर्थन में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है[5]—

***'काहं अछित्तिं अदुवा अहीहं, तवोविहाणेण य उन्नमिस्सं।***
***गणं व णीतीइ वि सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेति मोक्खं।।'***

मुनि पांच कारणों से चिकित्सा का आलम्बन ले सकता है—

१. मैं परम्परा को व्युच्छिन्न नहीं होने दूंगा।
२. मैं ज्ञानार्जन करूंगा।
३. मैं तपोयोग में संलग्न होऊंगा।
४. मैं उपधान तप के लिए उद्यम करूंगा।
५. मैं नीतिपूर्वक गण की सार-संभाल करूंगा।

श्रीमज्जयाचार्य के अनुसार स्थविरकल्पी सावद्य चिकित्सा न करे और जिनकल्पी निरवद्य चिकित्सा भी न करे।[6]

चूर्णिकार ने जिनकल्पी और स्थविर-कल्पी का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने सामान्यतः बताया है कि मुनि न तो स्वयं चिकित्सा करे और न वैद्यों के द्वारा कराए। श्रामण्य का पालन नीरोग अवस्था में किया जा सकता है, यह बात अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मुनि रोगी होने पर भी सावद्य क्रिया का सेवन नहीं करता। यही उसका श्रामण्य है।[7] विशेष जानकारी के लिए देखें—दसवेआलियं, ३।४ का टिप्पण।

## ६३. (श्लोक ३४)

प्रस्तुत श्लोक में तृणस्पर्श से होने वाले परीषह का वर्णन है। जो मुनि अचेल होता है, वस्त्ररहित होता है, तपस्या के कारण तथा रूक्ष भोजन करने के कारण जिसका शरीर बाहर से या भीतर से रूखा हो जाता है, उस मुनि को तृणस्पर्श अत्यन्त पीड़ित करता है। शरीर की रूक्षता के कारण तृणों की तीक्ष्णता या पलाल आदि घास की पोलाल के कारण मुनि के शरीर पर रेखाएं खिंच जाती हैं और दर्भ से शरीर स्थान-स्थान पर फट जाता है। जिसका शरीर स्निग्ध होता है, उसके लिए ये सारी बाधाएं नहीं होतीं, शरीर पर रेखाएं नहीं उभरतीं।

प्रस्तुत प्रसंग में गात्र-विराधना का अर्थ है—शरीर का फटना, शरीर का विदारित होना, शरीर पर रेखाएं उभरना।

## ६४. अतुल वेदना होती है (अउला हवइ वेयणा)

व्याख्याकारों ने यहां एक लघु दृष्टांत प्रस्तुत किया है—श्रावस्ती नगरी का राजकुमार भद्र संसार से विरक्त हो प्रव्रजित हो गया। कुछ समय बीता। एक बार वह अपने आचार्य से आज्ञा प्राप्त कर एकल-विहार प्रतिमा को स्वीकार कर विचरण करने लगा। उस समय छोटे-छोटे राज्य होते थे। एक बार वह 'वैराज्य' की सीमा में चला गया। वहां के आरक्षकों ने उसे गुप्तचर समझकर बंदी बना डाला। उसे बुरी तरह पीटा और शरीर पर नमक छिड़क, घास से परिवेष्टित कर, उसे छोड़ दिया। शरीर लहुलूहान था। दर्भ के तीखे नोंक उसे अत्यंत पीड़ित करने लगे। परन्तु मुनि ने अपना समताभाव नहीं छोड़ा।[8]

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७८।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र १२० : 'समीक्ष्य' स्वकर्मफलमेवैतत् भुज्यते इति पर्यालोच्य, यद्वा संचिक्ख 'त्ति अचां सन्धिलोपो बहुलम्' इत्येकारलोपे 'संचिक्खे' समाधिना तिष्ठेत्, न कूजनकर्करायतादि कुर्यात्।
३. वही, पत्र १२०।
४. वही, पत्र १२० : जिनकल्पिकापेक्षया चैतत्, स्थविरकल्पापेक्षया तु 'जं न कुज्जा' इत्यादौ सावद्यमिति गम्यते, अयमत्र भावः—यस्मात्कारणादिभिः सावद्यपरिहार एव श्रामण्यं, सावद्या च प्रायश्चित्तिका, ततस्तां नाभिनन्देत्।
५. वही, पत्र १२०।
६. उत्तराध्ययन की जोड़ २।३२-३३ :
रोग थकी दुःख उपनो जाणी, वेदन दुख पीडओ पहिछाणी।
थिर प्रज्ञा करि अदीन मनसूं, फरस्यूं रोग सहे दुख तन सूं।।
औषधि न करे ए गुण अधिक, निज कृत जाणी चरण गवेषक।
चरण पणूं सावज नहीं भावे, जिनकल्पी निरवद करै न करावै।।
७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७७ : यदुत्पन्नेषु तत्प्रतिकारायोद्यमो न कुरुते, तंत्रमंत्रयोगलेपादिभिः स्वयं करणं, न स्नेहविरेचनादिना स्वयं करोति, कारापणं तु वैद्यादिभिः, शक्यं हि नीरोगेण श्रामण्यं कर्तुं, यस्तु रागवानपि न सावद्यक्रियामारतभ तं प्रतीत्योच्यते—एयं खु तस्स सामन्नं।
८. वही, पृ. ७८, ७९।
९. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७९।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १२२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## ६५. वस्त्र का (तंतुजं)

व्याख्या ग्रंथों में इसका अर्थ तंतुओं से बना हुआ वस्त्र या कंबल किया है।[1] उन्होंने इसी अर्थ में पाठान्तर के रूप में 'तंतयं' (सं. तन्त्रजं) पाठ दिया है।[2]

चूर्णि और वृत्ति—दोनों में इसे जिनकल्पिक मुनियों की अपेक्षा से माना है।[3]

## ६६. मैल, रज (पंकेण वा रएण वा)

पसीने के कारण शरीर पर जमा हुआ गीला मेल 'पंक' कहलाता है और वही जब सूख कर गाढ़ा हो जाता है तब उसे 'रज' कहते हैं।[4]

शरीर पर लगे हुए धूलीकण 'रज' कहलाते हैं।[5]

'पंक' और 'रज' को एक शब्द में 'जल्ल' भी कहा गया है।[6]

## ६७. परिताप से (परितावेण)

जो चारों ओर से परितप्त करता है, वह है परिताप। जब शरीर परितप्त होता है, तब पसीना आता है और सारा शरीर उससे लथपथ हो जाता है। मेल और रज शरीर पर जमते हैं, पसीने के कारण वे कठोर बन जाते हैं और तब खिंचाव होता है, शरीर में पीड़ा होने लगती है।

## ६८. सुख के लिए विलाप न करे (सायं नो परिदेवए)

मुनि आतप के कारण शरीर पर जमने वाले मेल से पीड़ित होकर ऐसा विलाप न करे कि मेल से लथपथ मेरे शरीर में कब सुख का अनुभव होगा? अच्छा होता कि मैं आज किसी नदी या जलाशय के किनारे होता, किसी पर्वत शिखर पर रहता या चन्दन, खसखस आदि वृक्षों के पास रहता और शीतल वायु का सेवन करता।[7]

यहां 'सायं' में द्वितीया विभक्ति है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'साता को न बुलाए' किया है।[8] वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'सात का आश्रय लेकर' किया है।[9] अतः इसमें चतुर्थी विभक्ति का अर्थ निहित है।

## ६९. (श्लोक ३८)

प्रस्तुत श्लोक 'सत्कार-पुरस्कार' से संबंधित है। चूर्णिकार ने इस श्लोक की व्याख्या में इसका अर्थ इस प्रकार किया है—सत्कार का अर्थ है—अच्छा करना तथा सत्कार को ही पुरः—आगे रखना सत्कार-पुरस्कार है।[10]

बृहद्वृत्तिकार ने इसी अध्ययन के तीसरे सूत्र में उल्लिखित 'सत्कार-पुरस्कार परीषह, की व्याख्या में कहा है—अतिथि की वस्त्रदान आदि से पूजा करना सत्कार का अभ्युत्थान करना, आसन देना आदि को पुरस्कार माना है।' इसका वैकल्पिक अर्थ है—अभ्युत्थान, अभिवादन आदि सारी क्रियाएं सत्कार हैं और इनके द्वारा किसी की अगवानी करना पुरस्कार है।[11] राजवार्तिक में सत्कार का अर्थ—पूजा, प्रशंसा और पुरस्कार का अर्थ—किसी भी प्रवृत्ति के प्रारंभ में व्यक्ति को आगे रखना, मुखिया बनाना अथवा आमंत्रित करना किया है।[12]

## ७०. (अणुक्कसाई अप्पिच्छे अन्नाएसी)

**अणुक्कसाई**—चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'अल्प कषाय वाला' किया है।[13] शान्त्याचार्य ने इसका मुख्य अर्थ 'अनुत्कशायी—सत्कार आदि के लिए उत्कण्ठित न रहने वाला' किया है और वैकल्पिक अर्थ—'अणु-कषायी—सत्कार आदि न करने वालों पर क्रोध नहीं करने वाला' तथा 'सत्कार होने पर अभिमान नहीं करने वाला' किया है।[14] नेमिचन्द्र भी इसी का अनुसरण करते हैं।[15]

१५।१६ की टीका में शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं। यहां 'अनुत्कशायी' के स्थान पर 'अनुत्कषायी' माना है। (१) अणुकषायी—अल्प कषाय वाला। (२) अनुत्कषायी—जिसके कषाय प्रबल न हों।[16]

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७६ : तंदुभ्यो जातं तन्तुजं तनुवस्त्रं कंबलो वा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १२२।

२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७६ : तन्यते इति तन्त्रं-वेमविलेखनंछनिकादि तत्र जातं तंत्रजं, तनुवस्त्रं कंवलो वा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १२२।

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७६ : जिणकप्पिया जे अचेला।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १२२ : जिनकल्पिकापेक्षं चैतत्।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ७६-८० : पंको नाम स्वेदावस्रो मलः, रजस्तु कर्मठीभूतो जल्लो शुष्कमात्रस्तु रजः।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र १२३ : पांशुना वा।

६. वही, पत्र १२३ : जल्लं कठिनतापन्नं मलम्, उपलक्षणत्वात् पंकरजसी च।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८० : परिदेवनं नाम सातमाह्वयति, जहा जलाश्रयाः होन्ति नगो वेति, तहा चन्दनोसीरोरक्षीपवायवः, एवं परिदेवति।

८. वही, पृ. ८०।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र १२३ : सातं सुखम्, आश्रित्येति शेषः, नो परिदेवेत् न प्रलपेत्—कथं कदा वा ममैवं मलदिग्धदेहस्य सुखानुभवः स्यात्?

१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८१ : करणं कारः, शोभनकारः सक्कारः, सक्कारमेव पुरस्करोति सक्कारपुरस्कारपरीसहे भवति।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र ८३ : सत्कारो—वस्त्रादिभिः पूजनं, पुरस्कारः—अभ्युत्थानासनादिसम्पादनं, यद् वा सकलैवाभ्युत्थानावादनदानादिरूपा प्रतिपत्तिरिह सत्कारस्तेन पुरस्करणं सत्कारपुरस्कारः।

१२. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ९।९, पृ. ६१२ : सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः। पुरस्कारो नाम क्रियारम्भादिष्वग्रतः करणमामन्त्रणं वा।

१३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८१ : 'अणुक्कसायो' अणुशब्द स्तोकार्थः, अतो नेत्यनु, कषयंतीति कषायाः क्रोधाद्याः।

१४. बृहद्वृत्ति, पत्र १२४ : उत्कण्ठितः सत्कारादिषु शेत इत्येवं शील उत्कशायी न तथा अनुत्कशायी, यद्वा प्राकृतत्वादणुकषायी 'सर्वधनादित्वादि' नि, कोऽर्थः?—न सत्कारादिकमकुर्वते कुप्यति, तत्सम्पत्तौ वा नाहङ्कारवान् भवति।

१५. सुखबोधा, पत्र ४६।

१६. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२० : अणवः—स्वल्पाः सञ्ज्वलभनामान इति यावत् कषायाः—क्रोधादयो यस्येति 'सर्वधनादित्वादि' नि प्रत्ययेऽणुकषायी, प्राकृतत्वात्सूत्रे ककारस्य द्वित्वं, यद्वा उत्कषायी—प्रबलकषायी न तथाऽनुत्कषायी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**अप्पिच्छे**—अल्पेच्छ—अल्प इच्छा वाला। जो मुनि धर्मोपकरण के अतिरिक्त कुछ भी पाने की अभिलाषा नहीं करता, सत्कार-पूजा आदि की वांछा नहीं करता, वह 'अल्पेच्छ' कहलाता है।[1] शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) थोड़ी इच्छा वाला (२) इच्छा रहित—निरीह।[2]

**अन्नाएसी**—जो अज्ञात रहकर—तप, जाति आदि का परिचय दिए बिना आहार की एषणा करता है, उसे 'अज्ञातैषी' कहा जाता है। अपरिचित कुलों से एषणा करने वाला भी 'अज्ञातैषी' कहलाता है।[3] मनुस्मृति में भी भोजन के लिए कुल-गोत्र का परिचय देने वाले ब्राह्मण को 'वान्ताशी' कहा है।[4]

## ७१. प्रज्ञावान् मुनि....अनुताप न करे (नाणुतप्पेज्ज पण्णवं)

मुनि अन्यतीर्थिकों को राजा, अमात्य आदि विशिष्ट जनों से सत्कारित होते देखकर अपने मन में यह अनुताप न करे—अरे! मैं भी इनमें प्रव्रजित क्यों न हो गया? मैं श्रमण बना। श्रमण तो कुछेक लोगों के द्वारा पूजनीय और वन्दनीय हैं। दूसरे तीर्थिक इनको पराभूत भी कर देते हैं। मैंने क्यों श्वेत वस्त्र धारण किए।[5]

मुनि कभी भी ऐसा न सोचे। जो ऐसा नहीं सोचता वही प्रज्ञावान् होता है।

## ७२. (श्लोक ४०)

प्रज्ञा होने पर उसका मद करना प्रज्ञा परीषह है। इसी प्रकार प्रज्ञा न होने पर हीनता की अनुभूति करना भी प्रज्ञा परीषह है। पहले में प्रज्ञा के उत्कर्ष का भाव है और दूसरे में प्रज्ञा के अपकर्ष का भाव है।

मूल सूत्र में अप्रज्ञान से उत्पन्न हीनभाव को सहन करने का वर्णन है। प्रज्ञा-मद सूत्र से फलित नहीं है। चूर्णिकार ने प्रज्ञामद का वर्णन किया है।[6] उसकी तुलना राजवार्तिक के वर्णन से की जा सकती है। राजवार्तिक में केवल प्रज्ञा-मद का ही वर्णन मिलता है। वहां प्रज्ञा के अपकर्ष से होने वाले हीनभाव का वर्णन नहीं है।[7] चूर्णि में उसका उल्लेख भी मिलता है।[8]

शान्त्याचार्य ने भी प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या प्रज्ञा के उत्कर्ष और अपकर्ष—दोनों दृष्टियों से की है।[9] नेमिचन्द्र ने प्रज्ञा के अपकर्ष की दृष्टि से इसकी व्याख्या की है। उन्होंने मूल सूत्र का ही अनुसरण किया है। कथा के प्रसंग में उन्होंने प्रज्ञामद का उल्लेख भी किया है।[10]

ज्ञानावरण कर्म के उपार्जन के पांच हेतु हैं[11]—

१. ज्ञान और ज्ञानवान् की निन्दा करना।
२. ज्ञान और ज्ञानवान् पर प्रद्वेष रखना।
३. ज्ञान और ज्ञानवान् के प्रति मत्सरभाव रखना।
४. ज्ञान और ज्ञानवान् का उपघात करना।
५. ज्ञान और ज्ञानवान् के मार्ग में विघ्न उत्पन्न करना।

जब ज्ञानावरण कर्म का विपाक होता है तब ज्ञान आवृत हो जाता है। ऐसी स्थिति में जब कोई कुछ पूछता है तब व्यक्ति उसका उत्तर न दे पाने के कारण मन ही मन अपने को हीन मानने लग जाता है। यह प्रज्ञा के अभाव के कारण उत्पन्न परीषह है।

सूत्रकार ने इस परीषह को समभावपूर्वक सहने के कुछ सूत्र निर्दिष्ट किए हैं—

१. मैंने स्वयं इस अज्ञान का हेतुभूत ज्ञानावरण कर्म का उपार्जन किया है।
२. ये कर्म तत्काल ही उदय में नहीं आए। अबाधाकाल बीत जाने पर, उपयुक्त निमित्तों का संयोग मिलने पर, इनका विपाक हुआ है। अब मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं इनके विघात के लिए प्रयत्न करूं, न कि विषादग्रस्त होकर अपने आपको दुःखी बनाऊं।
३. सहज ही आज इन कर्मों का विपाक हो रहा है तो मैं इन्हें सहन करूं।

## ७३. पश्चात् उदय में आते हैं (पच्छा उइज्जन्ति)

कर्म-बन्ध की प्रक्रिया के अनुसार कर्मों का बन्ध होते ही वे उदय में नहीं आ जाते। प्रत्येक कर्मबन्ध का अबाधाकाल

---

१. सुखबोधा, पत्र ४६ : 'अल्पेच्छः' धर्मोपकरणप्राप्तिमात्राभिलाषी न सत्काराद्याकांक्षी।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र १२५।
३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८१ : 'अज्ञातैषी' न ज्ञापयत्यहमेवंभूतः पूर्वमासीत्, न वा क्षपको बहुश्रुतो वेति।
(ख) वही, पृ. २३५ : अज्ञातमज्ञातेन एषते—भिक्षते असौ अज्ञातैषी, निःश्रादिरहित इत्यर्थः।
(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : अज्ञातः—तपस्वितादिभिर्गुणैरनवगतः एष्यते—ग्रासादिकं गवेषयतीत्येवंशीलः।
४. मनुस्मृति, ३।१०६ :
न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः।।
५. सुखबोधा, पत्र ४६ : तीर्थान्तरीयान् नृपत्यादिभिसत्क्रियमाणानवेक्ष्य किमहमेषां मध्ये न प्रव्रजितः?
किं मया कतिपयजनपूज्या इतरजनस्यापि परिभवनीयाः श्वेतभिक्षवोऽङ्गीकृताः? इति न पश्चात्तापं विधत्ते।
६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८२ : प्रज्ञायते अनयेति प्रज्ञा, प्रगता ज्ञा प्रज्ञा, प्रज्ञापरीसहो नाम सो हि साति प्रज्ञाने तेण गव्वितो भवति तस्य प्रज्ञापरिषहः।
७. तत्त्वार्थ राजवार्तिक पृ. ६१२ : अंगपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य कृत्स्न-ग्रन्थार्थावधारिणः अनुत्तरवादिनस्त्रिकालविषयार्थविदः शब्द-न्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतोद्योतखद्योतवित् नितरामवभासन्ते इति विज्ञानमदः.....।
८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८२।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र १२६, १२७।
१०. सुखबोधा पत्र ५०।
११. बृहद्वृत्ति, पत्र १२६ :
ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निन्दाप्रद्वेषमत्सरैः।
उपघातैश्च विघ्नैश्च, ज्ञानघ्नं कर्म बध्यते।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता यह वह काल है जिसमें कर्म सुषुप्त रहते हैं, फल नहीं देते। जब वह काल पूर्ण होता है तब वे उदय में आते हैं, चाहे उनका विपाकोदय हो या प्रदेशोदय हो। यहां 'पच्छा' (सं. पश्चात्) शब्द से अबाधाकाल गृहीत है।[1]

**उइज्जन्ति**—यहां भविष्यत् काल का व्यत्यय मानकर बृहद्वृत्तिकार ने इसका रूप 'उदेष्यन्ति' दिया है।[2] हमने 'उदीर्यन्ते' के आधार पर अर्थ किया है।

## ७४. प्रज्ञा परीषह

सुवर्णभूमि में आर्य सागर अपनी शिष्य मंडली के साथ सुखपूर्वक रह रहे थे। उनके दादागुरु आचार्य कालक उज्जैनी में थे। एक बार उन्होंने सोचा, ओह! मेरे सारे शिष्य मंद श्रद्धा वाले हो गए हैं। वे न सूत्र पढ़ते हैं और न अर्थ का अनुचिन्तन करते हैं। वे सभी साध्वाचार में भी शिथिल हो रहे हैं। मैं मृदुता से उनको इस ओर खींचता हूं, पर वे मेरी इस प्रेरणा को सम्यक् नहीं लेते। उनकी बार-बार सारणा-वारणा से मेरे सूत्रार्थ की हानि होती है और कभी-कभी रोषवश कर्मबन्ध भी होता है। ऐसा चिन्तन कर वे रातोरात वहां से अकेले ही सुवर्णभूमी की ओर चल पड़े। आर्य सागर ने उन्हें नहीं पहचाना। वे उनके गण में सम्मिलित हो गए। आर्य सागर अनुयोग की वाचना देने लगे। उन्होंने उस वृद्ध मुनि से पूछा—'कुछ ज्ञात हो रहा है?' उसने कहा—हां। आर्य सागर का मन प्रफुल्ल हो गया। प्रज्ञा का अहं जाग उठा। कुछ दिन बीते।

उज्जैनी से आर्य कालक के सभी शिष्य उनकी टोह में निकले। वे सुवर्णभूमी में आए। आर्य सागर से पूछा—क्या यहां आर्य कालक आए थे? उन्होंने कहा—एक वृद्ध अवश्य आया था। मैं आर्य कालक को नहीं पहचानता। वे शिष्य आर्य कालक को पहचान गए। आर्य सागर ने अपने दादागुरु के प्रति हुई आशातना के लिए क्षमा याचना की और पूछा—क्षमाश्रमण! मेरी व्याख्या पद्धति कैसी है? आर्या कालक बोले—व्याख्या शैली सुन्दर है, पर कभी गर्व मत करना। एक-एक से बड़े ज्ञानी संसार में हैं। 'मैं ही ज्ञानी हूं' ऐसा मानना मूर्खता का द्योतक है। ज्ञान के क्षयोपशम का तरतम होता है, इसे मत भूलना।

आर्य सागर समझ गए। उन्होंने सोचा, अरे! मैंने ज्ञान का गर्व कर बहुत कुछ खो डाला। प्रज्ञा का गर्व नहीं करना, यह है प्रज्ञा के परीषह को सहना।[3]

## ७५. निवृत्त हुआ (विरओ)

विरति के पांच प्रकार हैं—प्राणातिपात विरति, मृषावाद विरति, अदत्तादान विरति, मैथुन विरति और अपरिग्रह विरति।

प्रस्तुत श्लोक में मैथुन विरति का ही उल्लेख है। सभी विरतियों में मैथुन विरति सबसे कठिन है, बड़ी है, इसलिए इसका मुख्य रूप से उल्लेख हुआ है।[4]

बृहद्वृत्तिकार मानते हैं कि पुरुष में अब्रह्म के प्रति अति आसक्ति होती है और उसके लिए इसका त्याग अत्यन्त कठिन होता है, इसलिए इसका यहां ग्रहण किया गया है।[5]

आचार्य नेमिचन्द्र ने इन्हीं कारणों का निर्देश देते हुए एक सुन्दर गाथा प्रस्तुत की है[6]—

*'अक्खाणऽसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभं च।*
*गुत्तीण य मणगुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पंति।।'*

चार पर विजय पाना अत्यन्त कठिन होता है—

१. इन्द्रियों में जिह्वा इन्द्रिय पर।
२. कर्मों में मोहनीय व्रत पर।
३. व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत पर।
४. गुप्तियों में मनोगुप्ति पर।

## ७६. (जो सक्खं....धम्मं कल्लाण पावगं)

अज्ञान से आवृत साधक सोचता है कि मैं साक्षात् या स्पष्ट रूप से नहीं जानता कि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी?

चूर्णिकार ने इन दो पदों के तीन अर्थ किए हैं।[7] साधक सोचता है—मैं साक्षात् नहीं जानता की

१. कल्याणकारी धर्म कौन सा है और पापकारी धर्म कौन सा है?

२. कौन से कर्म कल्याणकारी हैं और कौन से कर्म पापकारी?

३. ऐसे कौन से कर्म हैं, जिनका फल कल्याणकारी होता है और ऐसे कौन से कर्म हैं, जिनका फल पापकारी होता है?[8]

बृहद्वृत्ति में दो विकल्प प्रस्तुत हैं[9]—

१. शुभ धर्म कौन सा है और अशुभ धर्म कौन सा है?

२. मुक्ति का हेतुभूत धर्म कौन सा है और नरक आदि का हेतुभूत धर्म कौन सा है?

प्रस्तुत चरण में प्रयुक्त 'सक्खं' का अर्थ है—साक्षात्।[10] यही शब्द १२।३७ में इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। चूर्णिकार ने 'समक्खं' पाठ मानकर उसका अर्थ साक्षात् किया है।[11]

## ७७. तपस्या और उपधान को (तवोवहाण.....)

तप और उपधान—ये दो शब्द हैं। तप का अर्थ है—भद्र,

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र १२६ : यदि पूर्वं कृतानि कर्माणि किं न तदैव वेदितानि? उच्यते....पश्चाद्—अबाधोत्तरकालं, उदीर्यन्ते—विपच्यन्ते कर्माण्यज्ञान-फलानि कृतानि अलर्कमूषिकविषविकारवद् तथाविधद्रव्यसाचिव्यादेव तेषां विपाकदानात्।
२. वही, पत्र १२७।
३. सुखबोध, पत्र ५१।
४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८४।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र १२८।
६. सुखबोधा, पत्र ५१।
७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८४।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र १२८।
९. वही, पत्र १२८ : सक्खं साक्षात्।
१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८४ : समक्खं णाम सहसाक्षिभ्यां साक्षात् समक्षं तो साक्षात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाभद्र आदि तपोनुष्ठान।

उपधान शब्द जैन परम्परा का पारिभाषिक शब्द है। प्रत्येक आगम का अध्ययन प्रारंभ करने से पूर्व साधक को कुछ निश्चित तपस्याएं करनी होती हैं। वे तपस्याएं उपधान कहलाती हैं। इसमें आचाम्ल तप की प्रधानता रहती है।[1]

आगमों के अध्ययन काल में आचाम्ल (आयंबिल) आदि तपस्या करने की परम्परा रही है। प्रत्येक आगम के लिए तपस्या के दिन निश्चित किए हुए हैं। विशेष जानकारी के लिए देखें—**आचार दिनकर विभाग १; योगोद्वहनविधि, पत्र ८६-११०।**

प्रस्तुत आगम के ११।१४ में उपधान करने वाले के लिए "उवहाणवं" (उपधानवान्) का प्रयोग मिलता है।

## ७८. प्रतिमा को (पडिमं)

प्रतिमा का अर्थ कायोत्सर्ग है।[2] चूर्णि और बृहद्वृत्ति में इसका अर्थ मासिकी आदि भिक्षु-प्रतिमा किया है।[3]

किन्तु यह सांकेतिक है। प्रस्तुत प्रतिमा शब्द स्थान-मुद्रा का सूचक है। बैठी या खड़ी प्रतिमा की तरह स्थिरता से बैठने या खड़े रहने को प्रतिमा कहा गया है। प्रतिमाओं में उपवास आदि की अपेक्षा कायोत्सर्ग व आसनों की प्रधानता होती है। इसलिए उनका नाम उपवास प्रधान न होकर कायोत्सर्ग प्रधान है। वे बारह हैं। विशेष जानकारी के लिए देखें—दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ७।

## ७९. छद्म (छउमं)

जो आच्छादित करता है, वह छद्म है। आत्मगुणों को आच्छादित करने वाले चार कर्म हैं—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म। इनकी विद्यमानता में छद्मस्थता बनी रहती है।

प्रस्तुत श्लोक के प्रसंग में यहां केवल ज्ञानवरणीय कर्म गृहीत हैं।[4]

## ८०. (श्लोक ४२-४३)

सत्य का साक्षात्कार न होने के कारण हीन भावना से ग्रस्त होना अज्ञान परीषह है। प्रज्ञा परीषह और अज्ञान परीषह में क्या अन्तर है—यह प्रश्न सहज ही उभरता है। राजवार्तिक में इसका समाधान इस प्रकार मिलता है—प्रज्ञा परीषह का सम्बन्ध श्रुतज्ञान से है। सामान्य विषय की जानकारी न होना प्रज्ञा परीषह है। अज्ञान परीषह का सम्बन्ध अवधिज्ञान आदि अतीन्द्रिय ज्ञान से है।[5]

चूर्णिकार ने इन श्लोकों की व्याख्या ज्ञान परीषह—इन दोनों अपेक्षाओं से की है।[6]

वृत्तिकार ने अज्ञान के भावपक्ष और अभावपक्ष के आधार पर इनकी व्याख्या प्रस्तुत की है।[7]

राजवार्तिक में अज्ञान परीषह के दो अर्थ किए गए हैं। पहला अर्थ है—तू अज्ञानी है, इत्यादि आपेक्षात्मक वचनों को सुनना। दूसरा अर्थ है—प्रस्तुत श्लोकवर्ती निरूपण।[8]

वृत्तिकार ने अज्ञान के सद्भाव को समझाने के लिए यह उदाहरण प्रस्तुत किया है—

दो भाई एक साथ प्रव्रजित हुए। एक बहुश्रुत था और दूसरा अल्पश्रुत। बहुश्रुत मुनि के पास अपने शिष्य प्रव्रजित हुए और वह उन्हें अध्यापन कराने लगा। सभी शिष्य अध्यापन से संतुष्ट थे। अध्ययन-काल में उनमें जिज्ञासाएं उभरतीं और वे उनका समाधान बहुश्रुत मुनि के पास पा लेते। दिन भर मुनि को विश्राम नहीं मिलता। रात का समय भी शिष्यों को पढ़ाने और प्रश्नों का समाधान देने में बीत जाता। नींद लेने का समय भी कम रहता।

अल्पश्रुत मुनि सुखपूर्वक रहता और खूब नींद लेता। न कोई दूसरा मुनि उसके पास जाता और न कुछ पूछता। एक बार बहुश्रुत मुनि ने सोचा—ओह! धन्य है यह साथी मुनि जो नींद तो सुख से लेता है। मैं मंदभाग्य हूं कि मुझे सोने में भी अड़चनें आती हैं। इसका मुख्य कारण है मेरा ज्ञानी होना। ज्ञान की ऐसी उपासना से क्या लेना-देना। इस चिन्तन से उसके ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध हुआ। उसने इस असद् चिन्तन का प्रायश्चित्त नहीं किया।

वहां से मरकर वह देव बना। वहां का आयुष्य पूरा कर वह आभीर कुल में जन्मा। युवा होने पर किसी एक निमित्त को पाकर वह विरक्त हुआ और एक आचार्य के पास दीक्षित हो गया। गुरु ने उसे उत्तराध्ययन के प्रथम तीन अध्ययन सिखाए। जब उसे चौथे अध्ययन 'असंखयं' की वाचना दी गई, उस समय उसका पूर्व बन्धा हुआ ज्ञानावरण कर्म विपाक में आया। उसने बेला किया, आचाम्ल प्रारंभ किए, पर उस

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १२८ : तपो—भद्रमहाभद्रादि, उपधानम्—आगमोपचार-रूपमाचाम्लादि।
(ख) वही, ३४७ : उपधानम्—अङ्गानङ्गाध्ययनादौ यथायोगमाचाम्लादि तपो विशेषः।

२. मूलाराधना दर्पण, ८।२०७१ : पाडिमा कायोत्सर्गः।

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८५ : पडिमा नाम मासिकादिता।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १२८।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र १२८ : छादयतीति छद्म-ज्ञानावरणादिकर्म।

५. तत्त्वार्थ, राजवार्तिक ९।१७, पृ. ६१५ : प्रज्ञाऽज्ञाने अपि विरुद्धे तयोरन्तराभावेऽष्टादशसंख्याप्रसंग इति, तन्न, किं कारणम्? अपेक्षातो विरुद्धाभावात्। श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञाप्रकर्षे सति अवध्याद्यभावापेक्षया अज्ञानोपपत्तेः।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८४।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र १२८।

८. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ. ६१२ : अज्ञोऽयं न किञ्चिदपि वेति पशुसम इत्येवमाद्याधिक्षेपवचनं सहमानस्याऽध्ययनार्थग्रहणपराभिभवादिष्वसक्त-बुद्धेश्चिरप्रव्रजितस्य विविधतपो विशेषभाराक्रान्तमूर्तेः सकलासामर्थ्यप्रमत्तस्य विनिवृत्तनिष्टमनोवाक्कायचेष्टस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत इत्यनभिसन्दधतः अज्ञानपरीषहजयोऽवगन्तव्यः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन का एक भी श्लोक नहीं सीख पाया। वह आचार्य के पास गया। आचार्य ने कहा—जब तक यह अध्ययन न सीख लो, तब तक आचाम्ल तप करते रहो। इसे शिरोधार्य कर वह आयंबिल तप करने लगा। बारह वर्ष तक यह क्रम चला। इस अवधि में उसने केवल 'असंखयं'—यह अध्ययन मात्र सीखा। ज्ञानावरण कर्म क्षीण हुआ और फिर उसने शीघ्र ही अन्यान्य आगम सीख लिए।[1]

अज्ञान के अभावपक्ष की दृष्टि से वृत्तिकार ने लिखा है कि साधक निरन्तर यह सोचे, यद्यपि मैं समस्त शास्त्रों का पारायण कर सभी तथ्यों को कसौटी पर कस चुका हूं, किन्तु मुझे ज्ञान का गर्व नहीं करना है। क्योंकि—

**'पूर्वपुरुषसिंहानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम्।**
**श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः, कथं स्वबुद्ध्या मदं यान्ति।'**

—मेरे से पूर्व अनेक बहुश्रुत मुनि हो चुके हैं। उनका विज्ञान सागर की भांति अथाह था। उनके समक्ष मैं बिन्दुमात्र हूं। मैं किस आधार पर अहं करूं ?[2]

वृत्तिकार ने एक कथानक भी प्रस्तुत किया है—

आचार्य स्थूलभद्र ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए एक नगर में आए। वे बहुश्रुत और अनेक विद्याओं के पारगामी थे। उस नगर में उनका एक पूर्व परिचित मित्र रहता था। वे उसके घर गए और गृहपत्नी से पूछा—अमुक व्यक्ति कहां है? उसने कहा—'महाराज! वे व्यापार के लिए परदेश गए हैं।' आचार्य ने इधर-उधर देखा। उन्हें लगा कि जो घर पहले वैभव से परिपूर्ण और साफ-सुथरा था, वह आज खंडहर जैसा हो रहा है। उन्होंने अपने ज्ञानबल से जान लिया कि इस व्यक्ति के पूर्वजों ने घर के अमुक खंभे के नीचे धन गाड़ रखा था। वह आज भी ज्यों का त्यों पड़ा है। उनका मन पसीज गया। उन्होंने गृहपत्नी को खंभे की ओर अंगुली करते हुए सांकेतिक भाषा में कुछ कहा। उसने समझा कि महाराज मुझे अनित्यता का उपदेश दे रहे हैं। आचार्य वहां से चले गए। कुछ समय पश्चात् गृहपति घर आया। उसकी पत्नी ने आचार्य के आगमन की बात के साथ ही साथ सांकेतिक भाषा में जो कहा, वह सुनाया। गृहपति ने सारा संदर्भ जान लिया। खंभे के नीचे से उत्खनन किया, अपार धन मिला।[3]

## ८१. ऋद्धि (इड्ढी)

यहां ऋद्धि का अर्थ है—तपस्या आदि से उत्पन्न होने वाली विशेष शक्ति—योगज विभूति।[4] पातंजलयोग दर्शन के विभूति-पाद में जैसे योगज विभूतियों का वर्णन है वैसे ही जैन-आगमों में तपोजनित ऋद्धियों का वर्णन मिलता है।[5] शान्त्याचार्य ने इस प्रसंग पर दो श्लोक उद्धृत किए हैं[6]—

*पादरजसा प्रशमनं सर्वरुजां साधवः क्षणात्कुर्युः।*
*त्रिभुवनविस्मयजननान् दद्युः कामांस्तृणाग्राद्वा।।*
*धर्माद्रित्नोन्मिश्रितकाञ्चनवर्षादिसर्गसामर्थ्यम्।*
*अद्भुतभीमोरुशिलासहस्रसम्पातशक्तिश्च।।*

## ८२. (श्लोक ४४—४५)

प्रस्तुत दो श्लोक दर्शन परीषह से संबंधित हैं। प्रत्येक साधक किसी न किसी विचारधारा को आत्मसात् कर साधना में प्रवृत्त होता है। उस दार्शनिक धारा के प्रति उसका विश्वास अखण्ड होना चाहिए। अन्यथा वह पार नहीं पहुंच सकता, बीच में ही भटक जाता है।

जैन दर्शन की कुछेक मुख्य प्रतिपत्तियां ये हैं—

(१) परलोक—जन्मान्तर है।

(२) तपस्या का मुख्य फल है—कर्मों की क्षीणता और अवान्तर फल है—अनेक ऋद्धियों की उपलब्धि।

(३) केवली हुए हैं और होंगे।

प्रस्तुत दो श्लोकों में तीन प्रतिपत्तियों का उल्लेख हुआ है। जिस साधक में इनके प्रति अविश्वास होने लगता है, वह अपनी साधना को आगे नहीं बढ़ा सकता।

जब उसका मन संशय से भर जाता है कि परलोक को किसने देखा है? उसका अस्तित्व कैसे जाना जाए? तब उसे सारी क्रियाएं निरर्थक, कष्ट सहन व्यर्थ लगने लगता है। वह अपनी कठोर चर्या से फिसल जाता है।

साधक तपस्या करता है और जानता है कि उसे ऋद्धियां—योगज विशेषता प्राप्त होंगी, पर जब ऋद्धि-प्राप्ति में विलम्ब होता है, तब वह तपस्या से मुंह मोड़ लेता है। उसकी धृति डोल जाती है।

दो तपस्वी तपस्या कर रहे थे। नारदजी उधर से निकले। एक ने पूछा—ऋषिवर! कहां जा रहे हैं? नारद ने कहा—भगवान् के पास। तपस्वी ने कहा—मेरा एक काम करें। भगवान् से पूछें कि मेरी मुक्ति कब होगी? नारद आगे बढ़े। दूसरे तपस्वी ने भी यह बात कही। नारदजी लौटते समय उसी रास्ते से गुजरे और पहले तपस्वी से कहा—भगवान् ने कहा है कि तुम्हारी मुक्ति तीन जन्मों के बाद हो जाएगी। तपस्वी ने यह सुना। मन में उथल-पुथल हुई। सोचा, अरे क्या? मैं साठ हजार वर्षों से तप तप रहा हूं, फिर भी मुझे तीन जन्म और लेने पड़ेंगे? यह कैसा न्याय? उसने उसी समय तपस्या को तिलांजलि देकर गांव की ओर प्रस्थान कर दिया।

नारदजी दूसरे तपस्वी के पास पहुंचे और बोले—ऋषिवर! भगवान् ने कहा है कि तुम्हारी मुक्ति होगी अवश्य ही, किन्तु जिस वृक्ष के नीचे तुम तपस्या कर रहे हो, उस वृक्ष

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र १२९-१३०।
२. वही, पत्र १२९।
३. वही, पत्र १३०-१३१।
४. वही, पत्र १३१ : 'ऋद्धिर्वा, तपोमाहात्म्यरूपा.... सा च आमर्शौषध्यादिः।
५. ओववाइय, सूत्र १५।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र १३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के जितने पत्ते हैं, उतने वर्ष और लगेंगे। तपस्वी ने सुना। उसका मन हर्ष से भर गया। वह नाचते हुए गुनगुनाने लगा—'मेरी मुक्ति हो जाएगी। मेरी मुक्ति हो जाएगी।'

यह है धृति और अधृति का खेल। साधना में धृति रखनी होती है।

जब साधक में वीतराग या आप्त पुरुष के अस्तित्व के प्रति सन्देह हो जाता है तब वह उसके वचनों के प्रति भी सन्देहशील बन जाता है। 'जिन' सदा सबके प्रत्यक्ष नहीं होते। व्यक्ति को विश्वास पर व्यवहार करना होता है। जो शास्त्र है, वे वीतराग की वाणी के आधार पर संगृहीत हैं, ऐसा मानने वाला साधक ही उन वचनों के आधार पर अपनी साधना का यात्रापथ तय कर सकता है, अन्यथा नहीं। बिना विश्वास एक पैर भी नहीं चला जा सकता।

वर्तमान में भगवान् महावीर का शासन चल रहा है। वे चौबीसवें तीर्थंकर थे। उनसे पूर्व तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। इसीलिए कहा गया—'अभु जिणा'—जिन हुए थे। 'अत्थि जिणा'—जिन हैं—यह कथन तीर्थंकर महावीर की सूचना देता है। वृत्तिकार ने लिखा है कि यह अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व के सतरहवें प्राभृत से उद्धृत किया गया है और सुधर्मा स्वामी ने प्रत्यक्षतः जम्बूस्वामी को यह कहा है, इसलिए वीतराग की उपस्थिति का उल्लेख है अथवा महाविदेह आदि क्षेत्रों की अपेक्षा से भी यह कथन यथार्थ है। वहां तीर्थंकर सदा रहते हैं।

चौवालीसवें श्लोक के 'नत्थि नूणं परे लोए' को आधार बनाकर व्याख्याकारों ने आचार्य आषाढ़ का कथानक प्रस्तुत किया है। वह इस प्रकार है—

वत्सभूमि में आषाढ़ विचरण कर रहे थे। वे एक गण के आचार्य थे। वे बहुश्रुत और अनेक शिष्यों के आचार्य थे। उस गण में जो-जो मुनि दिवंगत होते, वे उनको अनशन करवाते और कहते—जब तुम देव बनो, तब अवश्य ही मुझे दर्शन देना। वर्ष बीत गए। अनेक संथारे हुए, परन्तु कोई लौटकर नहीं आया। एक बार एक अत्यन्त प्रिय शिष्य मृत्यु शय्या पर था। आचार्य ने उसे भक्त प्रत्याख्यान कराते हुए कहा—देवरूप में उत्पन्न होते ही शीघ्र यहां आकर दर्शन देना, प्रमाद मत करना। मुनि की मृत्यु हो गई। पर वह भी नहीं आया। आचार्य ने सोचा, यह निश्चित है कि परलोक है ही नहीं। अनेक गए, पर कोई नहीं आया। अतः यह व्रतचर्या निरर्थक है। मैंने व्यर्थ ही भोगों का परित्याग किया। आचार्य डावांडोल हो गए। उसी मुनिवेश में वे गण का त्याग कर चले गए। इतने में ही उनके एक दिवंगत शिष्य ने देखा। उनको प्रतिबोध देने के लिए उसने मार्ग में एक गांव की रचना की और वहां नृत्य का आयोजन किया। आचार्य वहां छह माह तक रहे। न उन्हें भूख सताती थी, न प्यास और न श्रम। छह माह के काल का बीतना भी उन्होंने नहीं जाना। देवता ने अपनी माया समेटी। आचार्य वहां से चले। देवता ने उनके संयम के परिणामों की परीक्षा करने के लिए छह बालकों की विकुर्वणा की। आचार्य के समक्ष पहला बच्चा आया। उसका नाम था—पृथ्वीकाय। आचार्य ने सोचा, मैं इसके सारे गहने ले लूं। जीवन सुखपूर्वक बीतेगा। आचार्य ने बच्चे को कहा—गहने उतार कर दो। बच्चा बोला—भंते! इस भीषण अटवी में मैं आपकी शरण में आया हूं। आप ही मुझे लूटते हैं। यह कैसा न्याय? मेरी बात सुनें, फिर जैसा चाहें वैसा करें।

*जेण भिक्खं बलिं देमि, जेण पोसेमि नायए।*
*सा मे मही अक्कमइ, जायं सरणओ भयं।।*

जो पृथ्वी सबका संरक्षण करती है, भरण-पोषण करती है, वही पृथ्वी मेरा भक्षण करती है तो लगता है कि शरण देने वाला ही प्राण हरण करता है।

आचार्य ने उसके गहने उतार कर उसे छोड़ दिया। गहने अपने पात्र में रख लिए।

इतने में अप्काय नामक दूसरा बालक आया। वह भी सुअलंकृत था। आचार्य ने कहा—गहने दे दे, अन्यथा मार डालूंगा। लड़का बोला—मेरी बात सुनें। पाटल नाम का व्यक्ति कथा कहकर आजीविका चलाता था। एक बार वह गंगा नदी को पार कर रहा था। इतने में ही उसमें तीव्र प्रवाह आया और वह पाटल बहने लगा। भंते! देखें—

*जेण रोहंति बीयाणि, जेण जीयंति कासया।*
*तस्स मज्झे विवज्जामि, जायं सरणओ भयं।।*

जिस जल के प्रभाव से बीज उत्पन्न होते हैं, कृषक जीवन यापन करते हैं, वही जल मुझे मार रहा है। यह सच है कि शरण देने वाला ही प्राण हरण कर रहा है।

आचार्य ने उसके गहने ले लिए और उसे अभयदान देकर छोड़ दिया।

तीसरा बालक तेजस्काय सामने आया। उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा—गुरुदेव! एक कथा सुनें। एक जंगल में तपस्वी रहता था। वह प्रतिदिन अग्नि की पूजा करता, आहुति देता। एक बार उसी आग से उसकी झोपड़ी जल कर राख हो गई। उस तपस्वी ने कहा—

*जमहं दिया राओ य, तप्पेमि महुसप्पिसा।*
*तेण मे उडओ दड्ढो, जायं सरणओ भयं।।*

मैं जिस आग का मधु और घृत से सिंचन करता था, उसी अग्नि ने मेरा—उटज जला डाला। शरण देने वाला भी भयप्रद हो गया।

एक व्यक्ति जंगल में जा रहा था। इतने में ही व्याघ्र आता हुआ दिखा। उसने अग्नि की शरण ली। अग्नि जला कर वह वहां बैठ गया। अग्नि को देखकर व्याघ्र भाग गया, पर उस अग्नि ने उसे जला डाला। जिसको शरण माना था, वही अशरण हो गया।

आचार्य ने उसके गहने ले लिए और उसे जीवित छोड़ दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथे बालक का नाम था—वायुकाय। आचार्य के समक्ष आते ही, आचार्य ने उसे आभूषण देने के लिए कहा। उसने आनाकानी की। आचार्य ने मार डालने की धमकी दी। बालक बोला—पहले मेरी बाते सुनें, फिर जो मन चाहे करें। भंते! एक युवक था। वह शक्तिसम्पन्न और शरीर-संपदा से युक्त था। उसे वायु का रोग हुआ। शीतल वायु भी उसे पीड़ित करने लगी। जिस वायु के सहारे प्राणी जीवित रहते हैं वही वायु प्राण-हरण भी कर लेती है। जो प्राणदाता है, वह प्राणहर्ता भी हो जाता है। ठीक ही कहा है—

*जिट्ठासाढेसु मासेसु, जो सुहोवाइ मारुओ।*
*तेण मे मज्जए अंगं, जायं सरणओ भयं।*
*जेण जीवंति सत्ताणि, निराहंमि अणंतए।।*
*तेण मे मज्जए अंगं, जायं सरणओ भयं।।*

आचार्य ने सुना, गहने अपने पात्र में रखे और उसे जीवित ही छोड़ दिया।

पांचवां बालक था—वनस्पतिकाय। उसने कहा—भंते! जंगल में एक घना वृक्ष था। उस वृक्ष पर अनेक पक्षी आकर विश्राम करते थे। वह पक्षियों का आवास-स्थान था। पक्षियों ने अपने घोंसले बना रखे थे और उन घोंसलों में उनके बच्चे पलपुष रहे थे। एक बार उसी वृक्ष के पास से एक बेल ऊपर उठी और पनपने लगी। धीरे-धीरे उस वल्ली ने सारे वृक्ष को आच्छादित कर दिया। वह वल्ली ऊपर तक बढ़ गई। एक दिन एक सर्प उस वल्ली के साहरे ऊपर चढ़ा और घोंसलों में स्थित सभी बच्चों को खा डाला। भंते! कैसा अन्याय! जो वृक्ष अभयस्थान था, वही वल्ली के कारण त्रासदायी बन गया—

*जाव वुच्छं सुहं वुच्छं, पादवे निरुवद्दवे।*
*मूलाउ उट्ठिया वल्ली, जायं सरणओ भयं।।*

आचार्य ने उसके आभूषण ले लिए और उसको छोड़ दिया।

छटे बालक का नाम था—त्रसकाय। आचार्य ने उसे देखा। ज्यों ही आचार्य उसके आभूषण उतारने लगे, वह बोला—गुरुवर्य! यह आप क्या कर रहे हैं? मैं तो आपके शरणागत हूं। आप मुझे मारें नहीं। मेरी बात सुनें—एक नगर था। वहां का राजा, पुरोहित और कोतवाल—ये तीनों चोर थे। ये नगर को लूटते। सारी जनता त्रस्त थी। भंते! ये तीनों रक्षक होते हैं, पर भक्षक बन गए। ठीक ही कहा है—शरण भी भय देने वाली हो जाती है।

*जत्थ राया सयं चोरो, भंडिओ या पुरोहिओ।*
*दिसं भयह नायरिया! जायं सरणओ भयं।।*

भंते! एक बात और सुनें—

एक ब्राह्मण था। उसकी पुत्री अत्यन्त रूपवती थी। उसने यौवन में पदार्पण किया। पिता उस पुत्री में आसक्त हो गया। सदा उसी का चिंतन करते-करते उसका शरीर सूख गया। ब्राह्मणी ने पूछा। उसने सारी बात बता दी। ब्राह्मणी बोली—आप चिन्ता न करें। मैं उपाय करूंगी। एक दिन ब्राह्मणी ने अपनी पुत्री से कहा—बेटी! हमारी यह कुल परम्परा है कि कुल में जन्मी हुई पुत्री का उपभोग पहले यक्ष करता है, फिर उसका विवाह कर दिया जाता है। इस मास की कृष्ण चतुर्दशी को यक्ष आएगा। तू उसको नाराज मत करना। उस समय प्रकाश मत रखना। लड़की के मन में यक्ष का कुतूहल छा गया। चतुर्दशी का दिन। रात में उसने दीपक पर ढक्कन दे दिया। घोर अंधकार। यक्ष का प्रतिरूप वह पिता ब्राह्मण आया और रात भर लड़की के साथ रतिक्रीड़ा कर वहीं सो गया। लड़की का कुतूहल शान्त नहीं हुआ था। वह जाग रही थी। उसने दीपक से ढक्कन उठाया। उसने आपने पास सोए पिता को देखा। उसने सोचा, जो कुछ होना है, होने दो। इनके साथ भोग भोगूं। फिर दोनों रतिक्रीड़ा में संलग्न हो गए। सूर्योदय हो गया। पर वे जागृत नहीं हुए। ब्राह्मणी ने जगाने के लिए कुछ गीत कहा। उसके प्रत्युत्तर में लड़की ने कहा—मां! तूने ही तो मुझे शिक्षा देते हुए कहा था—बेटी! आए हुए यक्ष को मत ठुकराना। मैंने वैसे ही किया। अब पिता का यक्ष द्वारा हरण कर लिया गया है। तुम दूसरे ब्राह्मण को खोजो।

ब्राह्मणी बोली—

*नवमास कुच्छीइ धारिया, पासवणे पुलिसे य महिए।*
*धूया मे गेहिए हडे सलणए असलणए य मे जायए।।*

जिस लड़की को मैंने नौ मास तक गर्भ में रखा, उसका मल-मूत्र साफ किया, आज उसी पुत्री ने मेरे पति का हरण कर लिया। शरण अशरण बन गया।

एक बार एक ब्राह्मण ने तालाब बनाया और उसके निकट एक मंदिर और बगीचा बना दिया। वहां यज्ञ होता था और यज्ञ में बकरे मारे जाते थे। वह ब्राह्मण मरा और वहीं बकरा बना। उसका पुत्र उसे उसी देवालय में बलि देने ले गया। उसे जातिस्मृति हुई। वह अपनी भाषा में बुड़बुड़ाने लगा। उसने सोचा—ओह! मैंने ही तो देव मंदिर बनाया और मैंने ही यह यज्ञ प्रवर्तित किया। वह कांप रहा था। एक ज्ञानी मुनि ने देखा। मुनि ने कुछ कहा और वह चुप हो गया। ब्राह्मण ने देखा और मुनि से पूछा। उसने कहा—वत्स! यह तेरा पिता है। उसने पूछा—इसकी पहचान क्या है? मुनि बोले—वत्स! यह तुम दोनों ने जहां जमीन में धन गाड़ा है, वह यह जानता है। बकरा उसी स्थान पर गया और अपने खुरों से पृथ्वी पर प्रहार करने लगा। लड़का जानता था। बकरे को मुक्त कर दिया। वह साधु के चरणों में लुढ़क गया।

उस ब्राह्मण ने यज्ञ और मंदिर को शरण मान कर उनका निर्माण किया था, पर वे भी अशरण ही निकले।

बालक त्रसकाय के गहने लेकर, आर्य आषाढ़ आगे चले। देव ने सोचा, आचार्य चारित्र से शून्य हो गए हैं, अब देखूं तो सही कि इनमें सम्यक्त्व है या नहीं?

आचार्य आषाढ़ छहों बच्चों के आभूषण लेकर आगे चले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने देखा कि मार्ग के एक ओर एक गर्भवती साध्वी साज-शृंगार किए बैठी है। आषाढ़ आचार्य ने कहा—

*कडए ते कुंडले य ते, अंजियक्खि! तिलयते य ते।*
*पवयणस्स उड्डाहकारिए! दुट्ठा सेहि! कतोसी आगया।।*

वह कुपित होकर बोली—

*राईसरिसवमेत्ताणि परच्छिड्डाणि पेच्छसे।*
*अप्पणो बिल्लमेत्ताणि, पिच्छन्तो वि न पेच्छसे।।*

आप दूसरों के राई जितने छिद्र देख लेते हैं और अपने बड़े दोषों को देखते हुए भी नहीं देखते।

आप श्रमण हैं, संयत हैं, ब्रह्मचारी हैं, कंचन और पत्थर को समान समझते हैं, आपका वैराग्य प्रखर है, आपका वेश मूलरूप में है। आर्य! कृपाकर बताएं आपके पात्र में क्या है।

*समणो सि य संजओ य सि, बंभयारी समलेट्ठुकंचणो।*
*वेहारियवायओ य ते, जेट्ठज्ज! किं ते पडिग्गहे।।*

आचार्य बिना कुछ कहे, अत्यन्त लज्जित होकर आगे बढ़ गए। देव हाथी की विकुर्वणा कर हाथी पर चढ़ कर आचार्य के सम्मुख आया। हाथी से उतर कर वन्दना की और कहा—भंते! मेरा सौभाग्य है कि यहां जंगल में आपके दर्शन हुए। कृपा कर आप मेरे हाथ से प्रासुक दान ग्रहण करें। आचार्य ने कहा—आज उपवास है। मैं कुछ भी नहीं ले सकता। इतने में ही एक व्यक्ति ने आचार्य के हाथ से बलात् झोली ली और उसमें मोदक देने लगा। झोली में आभरण देख, रुष्ट होकर बोला—अनार्य! ये क्या हैं? मेरे पुत्रों के ये आभरण हैं। बता वे कहां हैं? क्या तूने उनको मार डाला? आचार्य भय से कांपने लगे।

देवता ने अपनी लीला समेटी और प्रत्यक्षरूप से आकर हाथ जोड़कर बोला—हाय! आप जैसे आगमधरों के लिए ऐसा सोचना उचित नहीं है कि 'परलोक नहीं है।' आप जानते हैं कि देवलोक के अपार सुख हैं। उस सुख का उपभोग करते हुए देवता नहीं जान पाते कि कितना काल बीता है। मैं इसीलिए समय पर आपके समक्ष नहीं आ सका।

आचार्य आषाढ़ की विवेक चेतना जागी। वे अपनी भूल पर पश्चात्ताप करने लगे। वे अपने मूल स्थान पर आए और आलोचना, प्रतिक्रमण कर वैराग्य की वृद्धि करते हुए विहरण करने लगे।[1]

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ८७-९०।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १३३-१३६।
(ग) सुखबोधा, पत्र ५२-५५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तइअं अज्झयणं

## चाउरंगिज्जं

# तीसरा अध्ययन

## चतुरंगीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

अनुयोगद्वार आगम में नामकरण के दस हेतु बतलाए गए हैं। उनमें एक हेतु 'आदान-पद' है। इस अध्ययन का नाम उसी आदान-पद (प्रथम पद) के कारण 'चतुरंगीय' हुआ है।[1] इस अध्ययन में (१) मनुष्यता, (२) धर्मश्रुति, (३) श्रद्धा और (४) तप-संयम में पुरुषार्थ—इन चार अंगों की दुर्लभता का प्रतिपादन है। जीवन के ये चार प्रशस्त अंग—विभाग हैं। ये अंग प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा सहज प्राप्य नहीं हैं। चारों का एकत्र समाहार विरलों में पाया जाता है। जिनमें ये चारों नहीं पाए जाते वे धर्म की पूर्ण आराधना नहीं कर सकते। एक की भी कमी उनके जीवन में लंगड़ापन ला देती है। चारों अंगों की दुर्लभता निम्न विवेचन से प्रकट होगी—

### (१) मनुष्यता

आत्मा से परमात्मा बनने का एकमात्र अवसर मनुष्य-जन्म से प्राप्त होता है। तिर्यंच जगत् में क्वचित् पूर्व संस्कारों से प्रेरित धर्माराधना होती है, परन्तु वह अधूरी रहती है। देवता धर्म की पूरी आराधना नहीं कर पाते। वे विलास में ही अधिक समय गंवाते हैं। श्रामण्य के लिए वे योग्य नहीं होते। नैरयिक जीव दुःखों से प्रताड़ित होते हैं अतः उनका धार्मिक-विवेक प्रबुद्ध नहीं होता। मनुष्य का विवेक जागृत होता है। वह अति सुखी और अति दुःखी भी नहीं होता अतः वह धर्म की पूर्ण आराधना का उपयुक्त अधिकारी है।

### (२) धर्म-श्रवण

धर्म-श्रवण की रुचि प्रत्येक में नहीं होती। जिनका अन्तःकरण धार्मिक भावना से भावित होता है, वे मनुष्य धर्म-श्रवण में तत्पर रहते हैं। बहुत लोग दुर्लभतम मनुष्यत्व को पाकर भी धर्म सुनने का लाभ नहीं ले पाते। निर्युक्तिकार ने धर्म-श्रुति के १३ विघ्न बतलाए हैं[2]—

१. आलस्य—अनुद्यम।
२. मोह—धरेलू धन्धों की व्यस्तता से उत्पन्न मूर्च्छा अथवा हेयोपादेय के विवेक का अभाव।
३. अवज्ञा या अवर्ण—धर्म-कथक के प्रति अवज्ञा या गर्हा का भाव।
४. स्तम्भ—जाति आदि का अहंकार।
५. क्रोध—धर्म-कथक के प्रति अप्रीति।
६. प्रमाद—निद्रा, विकथा आदि।
७. कृपणता—द्रव्य-व्यय का भय।
८. भय।
९. शोक—इष्ट-वियोग से उत्पन्न दुःख।
१०. अज्ञान—मिथ्या धारणा।
११. व्याक्षेप—कार्य-बहुलता से उत्पन्न व्याकुलता।
१२. कुतूहल—इन्द्रजाल, खेल, नाटक आदि देखने की आकुलता।
१३. रमण—क्रीड़ा-परायणता।

### (३) श्रद्धा

भगवान ने कहा—"सद्धा परम दुल्लहा"—श्रद्धा परम दुर्लभ है। जीवन-विकास का यह मूल सूत्र है। जिसका दृष्टिकोण मिथ्या होता है वह सद्भाव को सुनकर भी उसमें श्रद्धा नहीं करता और श्रुत या अश्रुत असद्भाव में उसकी श्रद्धा हो जाती है। श्रद्धा मिथ्यादृष्टि के लिए दुर्लभ है। जिसका दृष्टिकोण सम्यग् होता है वह सद्भाव को सुनकर उसमें श्रद्धा करता है। किन्तु अपने अज्ञानवश या गुरु के नियोग से असद्भाव के प्रति भी उसकी श्रद्धा हो जाती है। इस प्रकार सम्यग्-दृष्टि के लिए भी श्रद्धा दुर्लभ है।

शिष्य ने पूछा—"भंते! क्या सम्यग् दृष्टि इतनी ऋजु प्रकृति के होते हैं जो गुरु के कथनमात्र से असद्भाव के प्रति श्रद्धा कर लेते हैं?"

आचार्य ने कहा—"आयुष्मन्! ऐसा होता है। जमालि ने जब असद्भाव की प्ररूपणा की और अपने शिष्यों को उससे परिचित किया तो कुछ शिष्य उसमें श्रद्धान्वित हो गए।"[3]

इसीलिए यह बहुत मार्मिक ढंग से कहा है कि—"श्रद्धा परम दुर्लभ है।"

### (४) तप-संयम में पुरुषार्थ

निर्युक्तिकार ने संयम के आठ पर्यायवाची नाम बतलाए हैं—(१) दया (२) संयम (३) लज्जा (४) जुगुप्सा (५) अछलना (६) तितिक्षा (७) अहिंसा और (८) हिरि।[4]

संयम के प्रति श्रद्धा होने पर भी सभी व्यक्ति उसमें

---

१. अणुओगदाराइं, सूत्र ३२२ : से किं तं आयाणपएणं? आयाणपएणं—आवंती, चाउरंगिज्जं, असंखयं, जण्णइज्जं....एलइज्जं... से तं आयाणपएणं।

२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १६० :
आलस्य मोहऽवन्ना, थंभा कोहा पमाय किविणता।
भय सोगा अन्नाणा, वक्खेव कुऊहला रमणा।।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र १५२ : ननु किमेवंविधा अपि केचिदत्यन्तमृजवः सम्भवेयुः ये स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरुपदेशतोऽन्यथापि प्रतिपद्येरन्? एवमेतत्, तथाहि—जमालिप्रभृतीनां निह्नवानां शिष्यास्तद्भक्तियुक्ततया स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरुप्रत्ययाद्विपरीतमर्थं प्रतिपन्नाः।

४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १५८ :
दया न संजमे लज्जा, दुगुंछाऽछलणा इअ।
तितिक्खा य अहिंसा य, हिरि एगट्ठिया पया।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पराक्रम नहीं कर पाते। जानना व श्रद्धा रखना एक वस्तु है और उसको क्रियान्वित करना दूसरी। इसमें संकल्प-बल, धृति, संतोष और अनुद्विग्नता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। जिनका चित्त व्याक्षिप्त या व्यामूढ़ नहीं है, वे ही व्यक्ति संयम में प्रवृत्त हो सकते हैं।

निर्युक्तिकार ने दुर्लभ अंगों का कुछ विस्तार किया है। उसके अनुसार मनुष्यता, आर्य क्षेत्र, उत्तम जाति, उत्तम कुल, सर्वांगपरिपूर्णता, नीरोगता, पूर्णायुष्य, परलोक-प्रवण बुद्धि, धर्म-श्रवण, धर्म-स्वीकरण, श्रद्धा और संयम—ये सब दुर्लभ हैं।[1] मनुष्य भव की दुर्लभता से दस दृष्टांत निर्युक्ति में उल्लिखित हैं।[2]

श्रद्धा की दुर्लभता बताने के लिए सात निह्नवों की कथाएं दी गई हैं।[3]

भगवान् ने कहा—'सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई'—सरल व्यक्ति की शोधि होती है और धर्म शुद्ध आत्मा में ठहरता है। जहां सरलता है वहां शुद्धि है और जहां शुद्धि है वहां धर्म का निवास है। धर्म का फल आत्म-शुद्धि है। परन्तु धर्म की आराधना करने वाले के पुण्य का बन्ध होता है। देवयोनि से च्युत हो जब वह पुनः मनुष्य बनता है तब वह दशांगवाली मनुष्य योनि में आता है। श्लोक १७ और १८ में ये दस अंग निम्नोक्त कहे गये हैं—

१. कामस्कन्ध।
२. मित्रों की सुलभता।
३. बन्धुजनों का सुसंयोग।
४. उच्चगोत्र की प्राप्ति।
५. रूप की प्राप्ति।
६. नीरोगता की प्राप्ति।
७. महाप्रज्ञता।
८. विनीतता।
९. यशस्विता।
१०. बलवत्ता।

इस अध्ययन के श्लोक १४ और १६ में आया हुआ 'जक्ख' (सं. यक्ष) शब्द भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। इसके अर्थ का अपकर्ष हुआ है। आगम-काल में 'यक्ष' शब्द 'देव' अर्थ में प्रचलित था। कालानुक्रम से इसके अर्थ का ह्रास हुआ और आज भूत, पिशाच का-सा अर्थ देने लगा है।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १५९ :
माणुस्स खित्त जाई, कुल रूवारोग्ग आउयं बुद्धी।
सवणुग्गह सद्धा, संजमो अ लोगंमि दुलहाइं।।

२. वही, गाथा १६० :
चुल्लग पासग धन्ने, जूए रयणे अ सुमिण चक्के य।
चम्म जुगे परमाणु, दस दिट्ठंता मणुअलंभे।।

३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १६४-६६ :
बहुरयपएसअव्वत समुच्छ, दुगतिगअबद्धिगा चेव।
एएसिं निग्गमणं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए।।
बहुरय जमालिपभवा, जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ, सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ।
गंगाए दोकिरिया, छलुगा तेरासिआण उप्पत्ति।
थेरा य गुट्ठमाहिल, पुट्ठमबद्धं परूविंति।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तइयं अज्झयणं : तीसरा अध्ययन
## चाउरंगिज्जं : चतुरंगीय

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. चत्तारि परमंगाणि<br>दुल्लहाणीह जंतुणो।<br>माणुसत्तं सुई सद्धा<br>संजमम्मि य वीरियं।। | *चत्वारि परमाङ्गानि*<br>*दुर्लभानीह जन्तोः।*<br>*मानुषत्वं श्रुतिः श्रद्धा*<br>*संयमे च वीर्यम्।।* | इस संसार में प्राणियों के लिए चार परम अंग दुर्लभ हैं[1]—मनुष्यत्व[2], श्रुति[3], श्रद्धा[4] और संयम में पराक्रम। |
| २. समावन्नाण संसारे<br>नाणागोत्तासु जाइसु।<br>कम्मा नाणविहा कट्टु<br>पुढो विस्संभिया पया।। | *समापन्नाः संसारे*<br>*नानागोत्रासु जातिषु।*<br>*कर्माणि नानाविधानि कृत्वा*<br>*पृथग् विश्वभृतः प्रजाः।।* | संसारी जीव विविध प्रकार के कर्मों का अर्जन कर विविध गोत्र वाली जातियों में[5] उत्पन्न हो, पृथक्-पृथक् रूप से समूचे विश्व का स्पर्श कर लेते हैं[6]—सब जगह उत्पन्न हो जाते हैं। |
| ३. एगया देवलोएसु<br>नरएसु वि एगया।<br>एगया आसुरं कायं<br>आहाकम्मेहिं गच्छई।। | *एकदा देवलोकेषु*<br>*नरकेष्वप्येकदा।*<br>*एकदा आसुरं कायं*<br>*यथाकर्मभिर्गच्छति।।* | जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार कभी देवलोक में कभी नरक में और कभी असुरों के निकाय में उत्पन्न होता है।[7] |
| ४. एगया खत्तिओ होइ<br>तओ चंडाल बोक्कसो।<br>तओ कीड पयंगो य<br>तओ कुंथु पीविलिया।। | *एकदा क्षत्रियो भवति*<br>*ततश्चण्डालो 'बोक्कसः'।*<br>*ततः कीटः पतङ्गश्च*<br>*ततः कुंथुः पिपीलिका।।* | वही जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चाण्डाल, कभी बोक्कस[8], कभी कीट, कभी पतंगा, कभी कुंथु और कभी चींटी। |
| ५. एवमावट्टजोणीसु<br>पाणिणो कम्मकिब्बिसा।<br>न निविज्जंति संसारे<br>सव्वट्ठेसु व खत्तिया।। | *एवमावर्तयोनिषु*<br>*प्राणिनः कर्मकिल्विषाः।*<br>*न निर्विन्दन्ते संसारे*<br>*सर्वार्थेष्विव क्षत्रियाः।।* | जिस प्रकार क्षत्रिय किसी भी अर्थ (प्रयोजन) के उपस्थित होने पर हार नहीं मानते[9], उसी प्रकार कर्म-किल्विष[10] (कर्म से कलुषित) जीव योनिचक्र में[11] भ्रमण करते हुए भी संसार में निर्वेद नहीं पाते—उससे मुक्त होने की इच्छा नहीं करते। |
| ६. कम्मसंगेहिं सम्मूढा<br>दुक्खिया बहुवेयणा।<br>अमाणुसासु जोणीसु<br>विणिहम्मंति पाणिणो।। | *कर्मसङ्गाः सम्मूढाः*<br>*दुःखिता बहुवेदनाः।*<br>*अमानुषीषु योनिषु*<br>*विनिहन्यन्ते प्राणिनः।।* | जो जीव कर्मों के संग से सम्मूढ, दुःखित और अत्यन्त वेदना वाले हैं, वे अपने कृत कर्मों के द्वारा मनुष्येतर (नरक-तिर्यंच) योनियों में ढकेले जाते हैं। |
| ७. कम्माणं तु पहाणाए<br>आणुपुव्वी कयाइ उ।<br>जीवा सोहिमणुप्पत्ता<br>आययंति मणुस्सयं।। | *कर्मणां तु प्रहाण्या*<br>*आनुपूर्व्या कदाचित् तु।*<br>*जीवाः शोधिमनुप्राप्ताः*<br>*आददते मनुष्यताम्।।* | काल-क्रम के अनुसार कदाचित् मनुष्य-गति को रोकने वाले कर्मों का नाश हो जाता है। उस शुद्धि को पाकर जीव मनुष्यत्व को प्राप्त होते हैं।[12] |
| ८. माणुस्सं विग्गहं लद्धुं<br>सुई धम्मस्स दुल्लहा।<br>जं सोच्चा पडिवज्जंति<br>तवं खंतिमहिंसयं।। | *मानुष्यकं विग्रहं लब्ध्वा*<br>*श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा।*<br>*यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते*<br>*तपः क्षान्तिमहिंस्रताम्।।* | मनुष्य-शरीर प्राप्त होने पर भी उस धर्म की श्रुति दुर्लभ है जिसे सुनकर जीव तप, सहिष्णुता और अहिंसा को[13] स्वीकार करते हैं। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. आहच्च सवणं लद्धुं।
सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं
बहवे परिभस्सई।।

*'आहच्च' श्रवणं लब्ध्वा*
*श्रद्धा परम-दुर्लभा।*
*श्रुत्वा नैर्यातृकं मार्गं*
*बहवः परिभ्रश्यन्ति।।*

कदाचित् धर्म सुन लेने पर भी उसमें श्रद्धा[१४] होना परम दुर्लभ है। बहुत लोग मोक्ष की ओर ले जाने वाले[१५] मार्ग को सुनकर भी उससे भ्रष्ट हो जाते हैं।[१६]

१०. सुइं च लद्धुं सद्धं च
वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि
नो एणं पडिवज्जए।।

*श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च*
*वीर्यं पुनर्दुर्लभम्।*
*बहवो रोचमाना अपि*
*नो एतद् प्रतिपद्यते।।*

श्रुति और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी संयम में वीर्य (पुरुषार्थ) होना अत्यन्त दुर्लभ है। बहुत लोग संयम में रुचि रखते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते।

११. माणुसत्तंमि आयाओ
जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं
संवुडे निद्धुणे रयं।।

*मानुषत्वे आयातः*
*यो धर्मं श्रुत्वा श्रद्धत्ते।*
*तपस्वी वीर्यं लब्ध्वा*
*संवृतो निर्धुनोति रजः।।*

मनुष्यत्व को प्राप्त कर जो धर्म को सुनता है, उसमें श्रद्धा करता है, वह तपस्वी संयम में पुरुषार्थ कर संवृत हो कर्मरजों को धुन डालता है।[१७]

१२. सोही उज्जुयभूयस्स
धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ
घयसित्त व्व पावए।।

*शोधिः ऋजुकभूतस्य*
*धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।*
*निर्वाणं परमं याति*
*घृतसिक्तः इव पावकः।।*

शुद्धि उसे प्राप्त होती है, जो ऋजुभूत होता है।[१८] धर्म उसमें ठहरता है जो शुद्ध होता है। जिसमें धर्म ठहरता है वह घृत से अभिषिक्त अग्नि की भांति परम निर्वाण (समाधि) को प्राप्त होता है।[१९]

१३. विगिंच कम्मुणो हेउं
जसं संचिणु खंतिए।
पाढवं सरीरं हिच्चा
उड्ढं पक्कमई दिसं।।

*विविंधि कर्मणो हेतुं*
*यशः सञ्चिनु क्षान्त्या।*
*पार्थिवं शरीरं हित्वा*
*ऊर्ध्वां प्रक्रामति दिशम्।।*

कर्म के हेतु को[२०] दूर कर।[२१] सहिष्णुता से यश (संयम) का संचय कर। ऐसा करने वाला पार्थिव शरीर को[२२] छोड़कर ऊर्ध्व दिशा—स्वर्ग को प्राप्त होता है।[२३]

१४. विसालिसेहिं सीलेहिं
जक्खा उत्तरउत्तरा।
महासुक्का व दिप्पंता
मन्नंता अपुणच्चवं।।

*विसदृशैः शीलैः*
*यक्षाः उत्तरोत्तराः।*
*महाशुक्लाः इव दीप्यमानाः*
*मन्यमाना अपुनश्च्यवम्।।*

विविध प्रकार के शीलों की आराधना के कारण जो देव[२४] उत्तरोत्तर—कल्पों व उसके ऊपर के देवलोकों की आयु का भोग करते हैं, वे महाशुक्ल[२५] (चन्द्र-सूर्य) की तरह दीप्तिमान होते हैं। 'स्वर्ग से पुनः च्यवन नहीं होता' ऐसा मानते हैं।[२६]

१५. अप्पिया देवकामाणं
कामरूवविउव्विणो।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति
पुव्वा वाससया बहू।।

*अर्पिता देवकामान्*
*कामरूपविकरणाः।*
*ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति*
*पूर्वाणि वर्षशतानि बहूनि।।*

वे दैवी भोगों के लिए अपने आपको अर्पित किए हुए रहते हैं, इच्छानुसार रूप बनाने में समर्थ होते हैं[२७] तथा सैकड़ों पूर्व—वर्षों तक—असंख्य काल तक[२८] ऊर्ध्ववर्ती कल्पों में रहते हैं।

१६. तत्थ ठिच्चा जहाठाणं
जक्खा आउक्खए चुया।
उवेंति माणुसं जोणिं
से दसंगेऽभिजायई।।

*तत्र स्थित्वा यथास्थानं*
*यक्षा आयुःक्षये च्युताः।*
*उपयन्ति मानुषीं योनिं*
*स दशांगोऽभिजायते।।*

वे देव उन कल्पों में अपनी शील-आराधना के अनुरूप स्थानों में रहते हुए आयु-क्षय होने पर वहां से च्युत होते हैं। फिर मनुष्य-योनि को प्राप्त होते हैं। वे वहां दस अंगों वाली भोग सामग्री से युक्त होते हैं।

१७. खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च
पसवो दास-पोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि
तत्थ से उववज्जई।।

*क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च*
*पशवो दास-पौरुषेयं।*
*चत्वारः कामस्कन्धाः*
*तत्र स उपपद्यते।।*

क्षेत्र-वास्तु, स्वर्ण, पशु और दास-पौरुषेय—जहां ये चार काम-स्कन्ध होते हैं, उन कुलों में वे उत्पन्न होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. मित्तवं नायवं होइ
उच्चागोए य वण्णवं।
उप्पायंके महापन्ने
अभिजाए जसोबले।।

*मित्रवान् ज्ञातिमान् भवति*
*उच्चैर्गोत्रश्च वर्णवान्।*
*अल्पातङ्कः महाप्रज्ञः*
*अभिजातो यशस्वी बली।।*

वे मित्रवान्, ज्ञातिमान्, उच्चगोत्र वाले, वर्णवान्, नीरोग, महाप्रज्ञ, अभिजात (शिष्ट, विनीत) यशस्वी और बलवान् होते हैं।[२८]

१९. भोच्चा माणुस्सए भोए
अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्वं विसुद्धसद्धम्मे
केवलं बोहि बुज्झिया।।

*भुक्त्वा मानुष्यकान् भोगान्*
*अप्रतिरूपान् यथायुः।*
*पूर्वं विशुद्धसद्धर्मा*
*केवलां बोधिं बुद्ध्वा।।*

वे अपनी आयु के अनुसार अनुपम मानवी भोगों को भोगकर, पूर्व जन्म में विशुद्ध-सद्धर्मी (निदान रहित तप करने वाले) होने के कारण सम्पूर्ण बोधि का[२९] अनुभव करते हैं।

२०. चउरंगं दुल्लहं मत्ता
संजमं पडिवज्जिया।
तवसा धुयकम्मंसे
सिद्धे हवइ सासए।।

*चतुरंगं दुर्लभं ज्ञात्वा*
*संयमं प्रतिपद्य।*
*तपसा धुतसत्कर्मा*
*सिद्धो भवति शाश्वतः।।*

वे उक्त चार अंगों को दुर्लभ मानकर संयम को स्वीकार करते हैं। फिर बचे हुए कर्मों को तपस्या से धुनकर[३१] शाश्वत सिद्ध हो जाते हैं।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन ३ : चतुरंगीय

## १. इस संसार में.....दुर्लभ है (दुल्लहाणीह)

निर्युक्तिकार ने मनुष्यत्व की दुर्लभता के प्रसंग में बारह दुर्लभ वस्तुओं का उल्लेख किया है।[1]—

| | |
|---|---|
| १. मनुष्य जन्म | ७. आयुष्य |
| २. आर्यक्षेत्र | ८. उज्ज्वल भविष्य |
| ३. आर्यजाति | ९. धर्म की श्रवण |
| ४. आर्यकुल | १०. धर्म की अवधारणा |
| ५. शरीर की सर्वांग संपूर्णता | ११. श्रद्धा |
| ६. आरोग्य | १२. संयम |

चूर्णिकार ने संयम में असटकरण—निश्चल आचरण को बारहवां माना है।[2]

चूर्णिकार और बृहद्वृत्तिकार ने इस प्रसंग में निर्युक्ति के पाठान्तर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार ये ग्यारह वस्तुएं दुर्लभ हैं[3]—

१. इन्द्रियलब्धि—पांच इन्द्रियों की प्राप्ति।
२. निर्वर्तना—इन्द्रियों की पूर्ण रचना।
३. पर्याप्ति—पूर्ण पर्याप्तियों की प्राप्ति।
४. निरुपहतता—जन्म के समय अंग-विकलता से रहित।
५. क्षेम—संपन्न देश की प्राप्ति।
६. धाण—सुभिक्ष क्षेत्र अथवा वैभवशाली क्षेत्र की प्राप्ति।
७. आरोग्य।
८. श्रद्धा।
९. ग्राहक—शिक्षक गुरु की प्राप्ति।
१०. उपयोग—स्वाध्याय आदि में जागरूकता।
११. अर्थ—धर्म विषयक जिज्ञासा।

## २. मनुष्यत्व (माणुसत्तं)

मनुष्य जन्म की दुर्लभता को स्पष्ट करने के लिए दस दृष्टांत दिए गए हैं। उनका संक्षेप इस प्रकार है—

(१) **चोल्लक**—बारी-बारी से भोजन।

ब्रह्मदत्त का एक कार्पटिक सेवक था। उसने राजा को अनेक बार विपत्तियों से बचाया था। वह सदा उनका सहायक बना रहा। ब्रह्मदत्त राजा बन गया। पर इस बेचारे को कहीं आश्रय नहीं मिला। राजा से अब मिलना दुष्कर हो गया। बारह वर्ष बीत गए। अभिषेक का बारहवां वर्ष। कार्पटिक ने उपाय सोचा। वह ध्वजवाहकों के साथ चल पड़ा। राजा ने उसे पहचान लिया। राजा ने उसको अपने पास बुलाकर कहा—जो इच्छा हो वह मांगो। कार्पटिक बोला—राजन्! मैं पहले दिन आपके प्रासाद में भोजन करूं, फिर बारी-बारी से आपके समस्त राज्य के सभी संभ्रांत कुलों में भोजन प्राप्त कर, पुनः आपके प्रासाद में भोजन करूं—यह वरदान दें। राजा बोला—यह क्यों! तुम चाहो तो मैं तुम्हें गांव दे सकता हूं, धन दे सकता हूं। तुम्हें ऐसा बना सकता हूं कि तुम जीवन भर हाथी के होदे पर सुखपूर्वक घूमते रहो। कार्पटिक बोला—मुझे इन सब प्रपंचों से क्या! राजा ने तथास्तु कहा।

अब वह बारी-बारी से नगर के घरों में जीमने लगा। उस नगर में अनेक कुलकोटियां थीं। क्या वह अपने जीवन-काल में उस नगर के घरों का अन्त पा सकेगा? कभी नहीं। फिर संपूर्ण भारत वर्ष की बात ही क्या!

संभव है किसी उपाय या देवयोग से वह संपूर्ण भारतवर्ष के घरों का पार पा जाए, किन्तु मनुष्य जन्म को पुनः प्राप्त करना दुष्कर है।

(२) **पाशक**—एक व्यक्ति ने स्वर्ण अर्जित करने की एक युक्ति निकाली। उसने जुए का एक प्रकार निकाला और यंत्रमय पाशकों का निर्माण किया। एक व्यक्ति को दीनारों से भरा थाल देकर घोषणा करवाई कि जो मुझे इस जुए में जीत लेगा, मैं दीनारों से भरा थाल उसे दे दूंगा। यदि वह व्यक्ति मुझे नहीं जीत सका तो उसे एक दीनार देना होगा। यंत्रमय पाशक होने के कारण कोई उसे जीत न सका और धीरे-धीरे उसने स्वर्ण के अनेक दीनार अर्जित कर लिए।

कदाचित् कोई व्यक्ति उसको जीत भी ले, पर मनुष्य जन्म सहजता से प्राप्त नहीं कर सकता।

(३) **धान्य**—धान्य के विविध प्रकारों को मिश्रित कर ढेर लगा दिया। उसमें एक प्रस्थ सरसों के दाने मिला दिए। एक वृद्धा उन सरसों के दानों को बीनने बैठी। क्या वह उस सरसों के दानों को पृथक् कर पाएगी? देवयोग से पृथक् कर भी ले, फिर भी जीव को पुनः मनुष्य जन्म मिलना दुष्कर है।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १५८ :
माणुस्स खित्त जाई कुल रूवारोग्ग आउयं बुद्धी।
सवणुग्गह सद्धा संजमो अ लोगंमि दुलहाइं।।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६४ : संजमो तंमि य असढकरणं।

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६४ : अथवा अन्नपरिवाडीए गाहा....।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १४६ : केचिदेतत् स्थाने पठन्ति—
इन्दियलद्धी निव्वत्तणा य पज्जत्ति निरुवहय खेमं।
धाणारोग्गं सद्धा गाहण उवओग अट्ठो य।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) द्यूत—राजसभा का मंडप एक सौ आठ स्तंभ पर आधृत था। राजकुमार का मन राज्य-लिप्सा से आक्रान्त हो गया। उसने राजा को मार डालना चाहा। अमात्य को इसका पता चला। उसने राजा से कहा—हमारे वंश की यह परम्परा है कि जो राजकुमार राज्य-प्राप्ति के अनुक्रम को सहन नहीं करता, उसे जुआ खेलना होता है और उस जुए में जीतने पर ही उसे राज्य प्राप्त हो सकता है। उसने पूछा—जीतने की शर्त क्या है? राजा ने कहा.....एक गांव तुम्हारा होगा, शेष हमारे। एक ही गांव में यदि तुम आठ सौ खेमों के एक-एक कोण को आठ सौ बार जीत लोगे तो तुम्हें राज्य सौंप दिया जाएगा।

जैसे यह दुर्लभ है, वैसे ही मनुष्य जन्म भी असंभव है।

(५) रत्न—एक वृद्ध वणिक् के पास अनेक रत्न थे। एक बार वृद्ध देशान्तर चला गया। पुत्रों ने सारे रत्न अन्यान्य व्यापारियों को बेच डाले। वृद्ध देशान्तर से आया और रत्नों के विक्रय की बात सुनकर चिन्तित हो गया। उसने पुत्रों से कहा—बेचे हुए रत्नों को पुनः एकत्रित करो। पुत्र सारे परेशान हो गए, क्योंकि उन्होंने सारे रत्न परदेशी व्यापारियों को बेच डाले थे। वे सारे व्यापारी दूर-दूर तक चले गए थे। उनसे रत्न एकत्रित करना असंभव था। वैसे ही मनुष्य जन्म पुनः प्राप्त होना दुर्लभ है।

(६) स्वप्न—एक कार्पटिक ने स्वप्न में देखा कि उसने पूर्ण चन्द्रमा को निगल लिया है। उसका फल स्वप्न-पाठकों से पूछा। उन्होंने कहा, बड़ा घर मिलेगा। उसे मिल गया। दूसरे कार्पटिक ने भी स्वप्न में सम्पूर्ण चन्द्र-मंडल को देखा। उसने स्वप्न पाठकों से इसका फल पूछा। वे बोले—तुम राजा बनोगे। उस देश का राजा सात दिन के बाद मर गया। अश्व की पूजा कर उसे गांव में छोड़ा। वह उसी व्यक्ति के पास जाकर हिनहिनाया। उसे पीठ पर बिठा राजमहल ले आया। वह राजा बन गया।

पहले कार्पटिक ने सोचा मैं भी ऐसा ही स्वप्न देखूं। वह दूध पीकर सो गया। क्या वैसा स्वप्न पुनः सुलभ हो सकता है? कभी नहीं। वैसे ही मनुष्य जन्म पुनः सुलभ नहीं होता।

(७) चक्र—इन्द्रदत्त इन्द्रपुर नगर का राजा था। उसके बाईस पुत्र थे। एक बार वह अमात्य-पुत्री में आसक्त हो उसके साथ एक रात रहा। वह गर्भवती हुई। उसने पुत्र का प्रसव किया। उसका नाम सुरेन्द्रदत्त रखा।

राजा के सभी बाईस पुत्र और सुरेन्द्रदत्त कलाचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने लगे। सुरेन्द्रदत्त विनीत और अचंचल था। उसने कलाचार्य से बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त कर ली। शेष राजकुमार स्थिर नहीं थे। वे वैसे ही रह गए।

मथुरा के अधिपति जितशत्रु की पुत्री का नाम निर्वृति था। जब वह विवाह योग्य हुई, तब राजा के पूछने पर उसने कहा—पिताजी! जो राधावेध कर पाएगा, वही मेरा पति होगा।

स्वयंवर की घोषणा हुई। एक अक्ष पर आठ चक्र और उस पर एक पुतली स्थापित की गई। उसकी आंख को बींधने की शर्त रखी।

इन्द्रदत्त अपने पुत्रों के साथ वहां आया। सभी बाईस पुत्रों ने पुतली की आंख को बींधने का प्रयत्न किया, पर सब व्यर्थ। अन्त में अमात्य के कहने पर सुरेन्द्रदत्त आया। उसको स्खलित करने के अनेक प्रयत्न हुए, पर उसने पुतली की आंख को बींध डाला। लोगों ने जय-जयकार किया। उसे निर्वृति और राज्य प्राप्त हुआ शेष पराजित होकर अपने-अपने देश चले गए।

जैसे उस पुतली की आंख को बींधना कठिन था, वैसे ही मनुष्य जन्म दुष्कर है।

(८) चर्म—एक तालाब था। वह पानी से लबालब भरा हुआ था। पूरे तालाब पर शैवाल छाई हुई थी। एक कछुआ उसमें रहता था। एक बार उसने पानी में तैरते-तैरते एक स्थान पर शैवाल में छिद्र देखा। उसने छिद्र में से ऊपर देखा। आकाश में चांद चमक रहा था, तारे टिमटिमा रहे थे। कुछ क्षणों तक देखता रहा। फिर सोचा, परिवार के सभी सदस्यों को यहां लाकर यह मनोरम दृश्य दिखाऊं। वह तत्काल गया और पूरे परिवार के साथ लौट आया। हटी हुई शैवाल पुनः एकाकार हो गई थी। छिद्र नहीं मिला। सभी सदस्य निराश हो लौट गए। क्या पुनः वह कभी छिद्र को पा सकेगा? वैसे ही मनुष्य जन्म को पुनः पाना भी दुष्कर है।

(९) युग (जुआ)—एक अथाह समुद्र। समुद्र के एक छोर पर जुआ है और छोर पर उसकी कील पड़ी है। उस कील का जुए के छिद्र में प्रवेश होना असंभव है, उसी प्रकार मनुष्य जन्म भी दुर्लभ है।

कील उस अथाह पानी में प्रवाहित हो गई। बहते-बहते संभव है वह इस छोर पर आकर जुए के छिद्र में प्रवेश कर ले, किन्तु मनुष्य जन्म से भ्रष्ट जीव पुनः मनुष्य जन्म नहीं पा सकता।

(१०) परमाणु—एक विशाल स्तंभ। एक देव उस स्तंभ का चूर्ण कर, एक नलिका में भर, मंदरपर्वत पर जाकर, उसे फूंक से बिखेर देता है। स्तंभ के वे सारे परमाणु इधर-उधर बिखर जाते हैं।

क्या दूसरा कोई भी व्यक्ति पुनः उस परमाणुओं को एकत्रित कर वैसे ही स्तंभ का निर्माण कर सकता है? कभी नहीं। वैसे ही एक बार मनुष्य जीवन को व्यर्थ खो देने पर, पुनः उसकी प्राप्ति दुष्कर होती है।

इन सारी कथाओं का मूल आधार है निर्युक्ति की गाथा।[1]

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १५६ :
चुल्लग पासग धन्ने जूए रयणे य सुमिण चक्के य।
चम्म जुगे परमाणू दस दिट्ठंता मणुअलंभे।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूर्णि में इन कथाओं के लिए 'चोल्लग पासग'—इतना मात्र उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

बृहद्वृत्ति ने इन दस कथाओं को संक्षेप में प्रस्तुत किया है।[2]

सुखबोधा में ये कथाएं विस्तार से प्राप्त हैं।[3] इनमें तथा बृहद्वृत्ति की कथाओं में भाषा और भाव का अन्तर भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

## ३. श्रुति (सुई)

धर्म के चार अंग हैं—मनुष्य जन्म, श्रुति—धर्म का श्रवण, श्रद्धा—धर्म के प्रति अभिरुचि और संयम में पराक्रम। ये चारों दुर्लभ हैं।

निर्युक्तिकार ने श्रुति की दुर्लभता के तेरह कारण बतलाए हैं[4]—

| | |
|---|---|
| १. आलस्य | ८. भय |
| २. मोह | ९. शोक |
| ३. अवज्ञा या अश्लाघा | १०. अज्ञान |
| ४. अहंकार | ११. व्याक्षेप |
| ५. क्रोध | १२. कुतूहल |
| ६. प्रमाद | १३. क्रीड़ाप्रियता। |
| ७. कृपणता | |

चूर्णिकार और बृहद्वृत्तिकार ने इन कारणों को समझाने का प्रयास किया है। वह इस प्रकार है—

मनुष्य आलस्य के वशीभूत होकर धर्म के प्रति उद्यम नहीं करता। वह कभी धर्माचार्य के पास धर्म-श्रवण करने के लिए नहीं जाता।

गृहस्थ के कर्त्तव्यों को निभाते-निभाते उसमें एक मूढ़ता या ममत्व पैदा हो जाता है। वह पूरा समय उसी में डूबा रहता है। उसमें हेय और उपादेय के विवेक का अभाव हो जाता है।

उसके मन में श्रमणों के प्रति अवज्ञाभाव पैदा हो जाता है। वह सोचता है, ये मुंड श्रमण क्या जानते हैं? मैं इनसे अधिक जानता हूं। ये मुनि कितने मैले कुचैले रहते हैं, इनमें कोई संस्कार नहीं है। ये प्रायः अपरिपक्व अवस्था के हैं, ये मुझे क्या धर्म देशना देंगे?

व्यक्ति के मन में जब जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य का अहंकार जाग जाता है तब वह सोचता है—ये मुनि अन्य जाति के हैं। मेरा कुल और जाति इतनी उत्तम है, फिर मैं इनके पास कैसे जाऊं?

किसी के मन में आचार्य या मुनि के प्रति प्रीति नहीं होती। वह उनको देखते ही कुपित हो जाता है। अप्रीति के कारण वह उनके पास जाने से हिचकिचाता है। कोई-कोई व्यक्ति में मोह की उदग्रता होती है। वह आचार्य या मुनि से सदा द्वेष रखता है। वह भी धर्म-श्रवण के लिए नहीं जा पाता।

कुछ व्यक्ति निरन्तर प्रमाद में रहते हैं, नींद लेना, खाना-पीना ही उन्हें सुहाता है। वे भी धर्म-श्रवण से वंचित रहते हैं।

कुछ व्यक्ति अत्यन्त कृपण होते हैं। वे सोचते हैं, यदि धर्मगुरुओं के पास जाएंगे तो अर्थ का निश्चित ही व्यय होगा। उनको कुछ देना-लेना पड़ेगा। इसलिए इनसे दूर रहना ही अच्छा है।

व्यक्ति जब धर्म प्रवचन में बार-बार नारकीय जीवों की वेदना की बात सुनता है, उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं और मन भय से व्याप्त हो जाता है। यह भय धर्म-श्रवण में बाधक बनता है।

शोक या चिन्ता भी धर्म-श्रवण में बाधक बनती है। पत्नी या पति का वियोग हो जाने पर निरन्तर उनकी स्मृति में खोए रहना भी एक अवरोध है।

जब व्यक्ति का ज्ञान मोहावृत हो जाता है, तब वह मिथ्या धारणाओं में फंस कर धर्म की श्रुति से वंचित रह जाता है।

गृहवास में व्यक्ति निरन्तर आकुल-व्याकुल रहता है। वह सोचता है, अभी वह करना है, अभी यह करना है। इससे उसका मन व्याक्षिप्त हो जाता है।

कुतूहल भी एक बाधा है। व्यक्ति कभी नाटक देखने में, कभी संगीत सुनने में या अन्यान्य मनोरंजन की क्रीड़ाओं में रत रहता है। वह धर्म के प्रति आकृष्ट नहीं हो सकता।

कुछ व्यक्ति सांडों को लड़ाने, तीतर और कुक्कटों को लड़ाने में रस लेते हैं। कुछ लोग जुआ खेलने में रत रहते हैं। वे धर्म-श्रुति का लाभ नहीं ले पाते।[5]

## ४. श्रद्धा (सद्धा)

धर्मश्रुति के प्राप्त हो जाने पर भी उस पर पूर्ण श्रद्धा होना अति दुर्लभ है।

मिथ्यादृष्टि मनुष्य गुरु के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन—आगम पर श्रद्धा नहीं करता। वह उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव पर श्रद्धा कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य गुरु के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन पर श्रद्धा करता है। उसके असद्भाव पर श्रद्धा करने के दो हेतु हैं—

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६४।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र १४५-१५०।
३. सुखबोधा, पत्र ५६-६७।
४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १६०, १६१ :
आलस्य मोहऽवन्ना थंभा कोहा पमाय किविणत्ता।
भय सोगा अन्नाणा वक्खेव कुऊहला रमणा।।
एएहिं कारणेहिं लद्धूण सुदुल्लहंपि माणुस्सं।
न लहइ सुइं हिअकरिं संसारुत्तारिणिं जीवो।।
५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६४-६५।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १५१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञान अथवा गुरु का नियोग—नियोजन। वह नहीं जानता कि यह तत्त्व ऐसा ही है, पर गुरु के नियोग से वह उस पर श्रद्धा कर लेता है।

प्रश्न होता है कि क्या सम्यग्दृष्टि व्यक्ति भी इतना ऋजु होता है कि गुरु के कथन-मात्र से असद्भाव के प्रति भी श्रद्धा कर लेता है? समाधान की भाषा में कहा गया—हां, ऐसा होता है। जमालि आदि निन्हवों के शिष्य अपने-अपने गुरु के प्रति पूर्ण भक्तिनत थे। वे स्वयं आगमों के रहस्यों के ज्ञाता थे। किन्तु गुरु पर विश्वास कर वे विपरीत अर्थ में भी श्रद्धान्वित हो गए।[1]

वृत्तिकार ने यहां जमालि आदि सात निन्हवों की संक्षिप्त कथावस्तु और उनके दार्शनिक पक्ष का उल्लेख किया है।[2]

ग्याहरवें श्लोक में इन चार दुर्लभ अंगों की प्राप्ति का परिणाम निर्दिष्ट है।

## ५. विविध गोत्रवाली जातियों में (नानागोत्तासु जाइसु)

चूर्णि में नानागोत्र का अर्थ हीन, मध्य और उत्तम आदि नाना प्रकार के गोत्र किया है। बृहद्वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ नाना नाम वाली जातियां और वैकल्पिक अर्थ हीन, मध्य और उत्तम भेद प्रधान गोत्रों में किया है।

चूर्णि के अनुसार जाति का अर्थ है—जन्म। शान्त्याचार्य ने इसका मुख्य अर्थ क्षत्रिय आदि जातियां और वैकल्पिक अर्थ जन्म किया है।[3]

प्रस्तुत प्रसंग में जाति का अर्थ जन्म अधिक प्रासंगिक है।

## ६. समूचे विश्व का स्पर्श कर लेते हैं (विस्संभिया)

'विस्संभिया' पद में बिन्दु अलाक्षणिक है। इसका संस्कृत रूप है—विश्वभृतः और अर्थ है—बार-बार के जन्म-मरण से विश्व के कण-कण का स्पर्श करने वाले जीव। इसका संस्कृत रूप विश्रम्भित भी हो सकता है। 'विस्संभिया' शब्द के तात्पर्यार्थ को समझाने के लिए वृत्तिकार ने एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है—

*णत्थि किर को पएसो लोए वालग्गकोडिमित्तोऽपि।*
*जम्मण मरणावाहा जत्थ जिएहि स संपत्ता।।*

केश के अग्रभाग जितना भाग भी लोक में ऐसा नहीं है जहां इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो।

चूर्णि और वृत्ति में इसका वैकल्पिक अर्थ यह है—कर्म के दारुण विपाक को नहीं जानने के कारण जो जीव विश्रम्भ—संभ्रांति को प्राप्त हो जाते हैं।[4]

## ७. (श्लोक ३)

प्रस्तुत श्लोक में 'देवलोक' तथा 'असुरकाय'—ये दो शब्द आए हैं। असुर भी देवताओं की एक जाति है। प्रश्न होता है कि फिर दो शब्दों का प्रयोग क्यों? इसका समाधान यह है—देवलोक शब्द सौधर्म आदि वैमानिक देवों की और असुर शब्द अधोलोक के देवों की अवस्थिति का बोधक है।[5]

सुखबोधा वृत्ति में देवलोक, नरकलोक, असुरलोक और व्यन्तरलोक में उत्पन्न होने योग्य कर्मों के बन्धन के कारणों की चर्चा चार श्लोकों में की है। वे कारण ये हैं[6]—

देव-आयुष्य बन्धकर्त्ता—१. सराग तपःसंयम का पालन करने वाला २. अणुव्रतधर ३. दान्त ४. अज्ञान तप में आसक्त।

नरक-आयुष्य का बन्धकर्त्ता—१. हिंसा में रत २. क्रूर ३. महान् आरम्भ और महान् परिग्रह में रत ४. मिथ्यादृष्टि ५. महान् पापी।

असुर-आयुष्य का बन्धकर्त्ता—१. अज्ञान तप में प्रतिबद्ध २. प्रबल क्रोध करने वाला ३. तप का अहं करने वाला ४. वैर में प्रतिबद्ध।

व्यन्तर-आयुष्य का बन्धकर्त्ता—१. फांसी पर लटककर आत्महत्या करने वाला २. विषभक्षण करने वाला ३. अग्निदाह में जल कर मरने वाला ४. जल में डूब मरने वाला ५. भूख और प्यास से क्लान्त होने वाला।

---

१. (क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १६२, १६३ :
मिच्छादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं न सद्दहइ।
सद्दहइ असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं।।
सम्मादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ।
सद्दहइ असब्भावं अणभोगा गुरुनिओगा वा।।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १५१,१५२।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र १५२-१८१।

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ९६
जननं जातिः नानागोत्रास्विति हीणमज्झिमउत्तमासु।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १८१ : नाना इत्यनेकार्थः, गोत्रशब्दश्च नामपर्यायः, ततो नानागोत्रासु—अनेकाभिधानासु जायन्ते जन्तवे आस्विति जातयः—क्षत्रियाद्याः तासु अथवा जननानि जातयः, ततो जातिषु—क्षत्रियादिजन्मसु नाना—हीनमध्यमोत्तमभेदेनानेकं गोत्रं यासु तास्तथा तासु।

४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ९६।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १८१,१८२ : विस्संभिय त्ति बिन्दोरलाक्षणिकत्वाद् विश्वं-जगत् बिभ्रति-पूरयन्ति क्वचित् कदाचिदुत्पत्था सर्वजगद्व्यापनेन विश्वभृतः....विश्रम्भिताः सञ्जातविश्रम्भाः सत्यः प्रक्रमात् कर्म्मस्वेव तद्विपाकदारुणत्वापरिज्ञानात्।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र १८२।

६. सुखबोधा, पत्र ६७ :
देवाउयं निबंधइ, सरागतवसंजमो।
अणुव्वयधरो दंतो, सत्तो बालतवम्मि य।।
जीवघायरओ कूरो, महारंभपरिग्गहो।
मिच्छदिट्ठी महापावो, बंधए नरयाउयं।।
बालतवे पडिबद्धा, उक्कडरोसा तवेण गारविया।
वेरेण य पडिबद्धा, भरिऊणं जंति असुरेसु।।
रज्जुग्गहणे विसभक्खणे य जलणे य जलपवेसे य।
तण्हाछुहाकिलंता, मरिऊणं हुंति वंतरिया।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## ८. (खत्तिओ, चंडाल बोक्कसो)

इस श्लोक में आए हुए तीन शब्द—क्षत्रिय, चाण्डाल और बुक्कस—संग्राहक हैं। क्षत्रिय शब्द से वैश्य, ब्राह्मण आदि उत्तम जातियों, चाण्डाल शब्द से निषाद, श्वपच आदि नीच जातियों और बुक्कस शब्द से सूत, वैदेह, आयोगव आदि संकीर्ण जातियों का ग्रहण किया गया है।[1]

जैन और बौद्ध परम्परा में क्षत्रिय का स्थान सर्वोच्च रहा है। सुखबोधा वृत्ति में क्षत्रिय का अर्थ राजा किया है। कल्प-सूत्र में ब्राह्मण की गिनती भिक्षुक या तुच्छ-कुल में की है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि शलाका-पुरुष ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न नहीं होते। दीघनिकाय[2] और निदान-कथा[3] के अनुसार क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों से ऊंचा है।

**चण्डाल**—शब्द के दो अर्थ किए गए हैं—(१) मातंग और (२) शूद्र से ब्राह्मण स्त्री में उत्पन्न व्यक्ति।[4] उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य के अनुसार चण्डाल अनार्य वर्ग की एक जाति है। वह ऋग्वेद के समय के पश्चात् आर्यों को गंगा के पूरब में मिली थी।[5]

मनुस्मृति (१०।५१, ५२) में चण्डाल के कर्त्तव्यों का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है—

*चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात् प्रतिश्रयः।*
*अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम्।।*
*वासांसि मृतचेलानि भिन्नाभाण्डेषु भोजनम्।*
*काष्णायसमलंकाराः परिवर्ज्या च नित्यशः।।*

**बोक्कसो**—इसके संस्कृत रूप चार मिलते हैं—बुक्कस, पुष्कस, पुक्कस और पुल्कस।

**बुक्कस**—श्मशान पर काम करने वाले बुक्कस कहलाते हैं।[6]

**पुष्कस**—जो मरे हुए कुत्तों को उठाकर बाहर फेंकते हैं, उन्हें पुष्कस कहा जाता है।[7]

**पुक्कस**—चाण्डाल और पुक्कस—पर्यायवाची भी माने गए हैं।

**पुल्कस**—भंगी।[8]

मनुस्मृति में विभिन्न वर्णों के कार्यों का विवरण दिया गया है। उसके अनुसार 'पुक्कस' का कार्य बिलों में रहने वाले गोह आदि को मारना या बांधना है।[9] अभिधानप्पदीपिका में 'पुक्कस' का अर्थ तोड़ने वाला किया गया है।[10]

चुर्णिकार और टीकाकार इसका अर्थ 'वर्णान्तरजन्मा' करते हैं। जैसे—ब्राह्मण से शूद्र स्त्री में उत्पन्न प्राणी निषाद, ब्राह्मण से वैश्य स्त्री से उत्पन्न प्राणी अम्बष्ठ और निषाद से अम्बष्ठ स्त्री से उत्पन्न प्राणी बोक्कस कहलाता है।[11] कौटिल्य अर्थशास्त्र और मनुस्मृति में इनसे भिन्न मत का उल्लेख है। मनुस्मृति में बताया गया है कि ब्राह्मण से वैश्य कन्या से उत्पन्न अम्बष्ठ और ब्राह्मण से शूद्र कन्या से उत्पन्न निषाद कहलाता है। इसको पारशव भी कहते हैं।[12] कौटिल्य अर्थशास्त्र (पृष्ठ १६५, १६६) में 'पुक्कस' का अर्थ निषाद से उग्री में उत्पन्न पुत्र और मनुस्मृति में निषाद से शूद्र में उत्पन्न पुत्र किया गया है।[13] महाभारत[14] में चाण्डाल और पुल्कस का एक साथ प्रयोग मिलता है। 'पुल्कस' का प्राकृत 'बुक्कस' हो सकता है। पुल्कस और चाण्डाल अर्थात् भंगी और चाण्डाल।

## ९. (सव्वट्ठेसु व खत्तिया)

सर्वार्थ शब्द के दो अर्थ किए जा सकते हैं—सर्व प्रयोजन और सर्व विषय। जिस प्रकार कोई क्षत्रिय प्रयोजन उपस्थित होने पर पराजय स्वीकार नहीं करता, खिन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्म से कलुषित व्यक्ति संसार-भ्रमण से खिन्न नहीं होता।

व्याख्याकारों ने दूसरे अर्थ (सर्व विषय) का विस्तार किया है। वह इस प्रकार है—राजाओं के पास समस्त प्रकार की सुख-सामग्री और कामभोगों को उत्तेजित करने वाले पदार्थ उपलब्ध रहते हैं। इन्द्रिय-विषयों का उपभोग करते हुए भी वे कभी तृप्त नहीं होते। उनकी तृष्णा बढ़ती है, साथ-साथ प्रताप भी बढ़ता है और वे सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाते हैं। वे शारीरिक और मानसिक दुःखों को भोगते हुए भी उन कामभोगों से कभी विरक्त नहीं होते। वे और अधिक अनुरक्त होते जाते हैं। वे

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६६।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १८२,१८३ : इह च क्षत्रियग्रहणादुत्तमजातयः चण्डालग्रहणान्नीचजातयो बुक्कसग्रहणाच्च संकीर्णजातय उपलक्षिताः।
(ग) मनुस्मृति, १०।२५, २६, ४८।

२. दीघनिकाय, ३।१।२४,२६।

३. निदानकथा, १।४६।

४. सुखबोधा, पत्र ६७ : 'चाण्डाल' मातङ्गः यदि वा शूद्रेण ब्राह्मण्या जातश्चाण्डालः।

५. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ. ३४।

६. अभिधान चिंतामणि, ३।५६७

७. वही, ३।५६७।

८. महाभारत, शान्तिपर्व १८०।३८।

९. मनुस्मृति, १०।४६ : क्षत्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम्।

१०. अभिधानप्पदीपिका, पृ. ५०८ : पक्कसो पुप्फछड्डको।

११. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६६ : बुक्कसो वर्णान्तरभेदः, यथा बंभणेण सुद्दीए जातो णिसादोत्ति वुच्चति, बंभणेण वेसीते जातो अबंट्ठेत्ति वुच्चति, तत्थ निसाएणं अंबट्ठीए जातोसो बोक्कसो भवति।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १८२।
(ग) सुखबोधा, पत्र ६७।

१२. मनुस्मृति, १०।८ :
ब्राह्मणाद् वैश्य कन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां, यः पारशव उच्यते।।

१३. मनुस्मृति, १०।१८ : जातो निषादाच्छूद्रायां जात्यां भवति पुक्कसः।

१४. महाभारत, शान्तिपर्व, १८०/३८ :
न पुल्कसो न चाण्डाल, आत्मानं त्यक्तुमिच्छति।
तया पुष्टः स्वया योन्या, मायां पश्यस्व यादृशीम्।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म-मरण के आवर्त से छुटकारा नहीं पा सकते।[1]

वैसे ही अधर्म में रत व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नहीं हो सकते।

## १०. कर्म—किल्विष (कम्मकिब्बिसा)

कर्मों से मलिन अथवा जिनके कर्म मलिन हों, वे कर्म-किल्विष कहलाते हैं। कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभानुबन्धी और अशुभानुबन्धी। जिनके अशुभानुबन्धी कर्म होते हैं वे 'कर्म-किल्विष' होते हैं।[2]

## ११. योनिचक्र में (आवट्टजोणीसु)

जीवों के उत्पत्ति स्थान को 'योनि' कहते हैं। वे ८४ लाख हैं। अनादिकाल से जीव इन योनियों में जन्म-मरण करता रहा है। जन्म-मरण का यह आवर्त्त है।[3]

## १२. (श्लोक ७)

गति के चार प्रकार हैं—१. नरकगति, २. तिर्यंचगति, ३. मनुष्यगति और ४. देवगति। तिर्यंच और नरकगति के योग्य कर्म मनुष्यगति की प्राप्ति के प्रतिबन्धक होते हैं। उनके अस्तित्व-काल में जीव मनुष्यगति को प्राप्त नहीं होता। 'आनुपूर्वी' नामकर्म की एक प्रकृति है।[4] मनुष्य-आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होने पर जीव मनुष्य गति में आता है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्यगति के बाधक कर्मों का नाश तथा मनुष्य-आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होने पर जीव को मनुष्यगति में आने की शुद्धि प्राप्त होती है। उसी अवस्था में वह मनुष्य बनता है।[5]

## १३. तप, सहिष्णुता और अहिंसा को (तवं खंतियमहिंसयं)

इस चरण में 'तव' के द्वारा तपस्या के बारह भेदों, 'खंति' के द्वारा दस-विध श्रमण-धर्म और 'अहिंसा' द्वारा पांच महाव्रतों का ग्रहण किया गया है, ऐसा सभी व्याख्याकारों का मत है।[6] शान्ति का अर्थ है—सहिष्णुता, क्षमा। वृत्तिकार ने इसका अर्थ क्रोध-जय किया है।[7] उनतीसवें अध्ययन में शान्ति को क्रोध-विजय का परिणाम बतलाया है।[8] शान्ति से परीषहों को जीतने की क्षमता प्राप्त होती है।[9]

## १४. श्रद्धा (सद्धा)

बृहद्वृत्ति के अनुसार श्रद्धा का अर्थ है—धर्म के प्रति रुचि या धर्म करने की अभिलाषा।[10] निरुक्त में श्रत् का अर्थ सत्य और वह जिस बुद्धि में धारण किया जाता है, उसका नाम है श्रद्धा।[11]

इन विचार-सूत्रों के आधार पर श्रद्धा का अर्थ सत्योन्मुखी अभिरुचि किया जा सकता है।

## १५. मोक्ष की ओर ले जाने वाले (नेआउयं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ ले जाने वाला किया है।[12] टीका में इसका अर्थ न्यायोपपन्न किया गया है।[13] डॉ. ल्यूमेन ने औपपातिक सूत्र में तथा डॉ. पिशल, डॉ. हरमन जेकोबी आदि ने इसका अर्थ न्यायोपपन्न किया है।[14]

बौद्ध साहित्य में नैर्यानिक का अर्थ दुःखक्षय की ओर ले जाने वाला, पार ले जाने वाला किया गया है।[15] चूर्णिकार के अर्थ का इससे निकट का सम्बन्ध है। इस अर्थ के आधार पर 'नेआउय' का संस्कृत रूप नैर्यातृक होना चाहिए। नैर्यातृक के प्राकृत रूप 'नेआइय' और 'नेआउय' दोनों बन सकते हैं। सूत्रकृतांग चूर्णि में ये दोनों रूप प्रयुक्त हुए हैं। वहां इनका अर्थ मोक्ष की ओर ले जाने वाला किया गया है।[16]

## १६. बहुत लोग...उससे भ्रष्ट हो जाते हैं (बहवे परिभस्सई)

इस पद में चूर्णिकार और शान्त्याचार्य ने जमाली आदि निह्नवों का उल्लेख किया है।[17] ये सभी निह्नव कुछ एक शंकाओं को लेकर नैर्यातृकमार्ग—निर्ग्रंथ प्रवचन से भ्रष्ट हो गए थे, दूर हो गए थे।

नेमिचन्द्र ने सातों निह्नवों का विवरण उद्धृत किया है।[18] वह आवश्यक निर्युक्ति में भी है।[19] डॉ. ल्यूमेन ने

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६७।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १८३।

२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६७ : 'कम्मकिब्बिसा' इति कम्मेहिं किव्विसा, कम्मकिब्बिसा, कर्माणि तेषां किब्बिसाणि कर्मकिब्बिसा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १८३ : कर्मणाः—उक्तरूपेण किल्बिषाः—अधमाः कर्मकिल्बिषाः, प्राकृतत्वाद्वा पूर्वापरिनिपातः, किल्विषाणि—क्लिप्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते किल्विषकर्माणः।

३. सुखबोधा, पत्र ६७ : आवर्त्तः—परिवर्त्तः तत्प्रधाना योनयः—चतुरशीतिलक्षप्रमाणानि जीवोत्पत्तिस्थानानि आवर्त्तयोनयस्तासु।

४. पन्नवणा २३।५४।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६८ : तेषां मानुसजातिनिर्वर्तकानां कर्मणां प्रहीयते इति प्रहाणा, आनुपूर्वी नाम क्रमः तया आनुपूर्व्या, प्रहीयमाणेषु मनुष्ययोनिघातिषु कर्म्मसु निर्वर्तकेषु वा आनुपूर्व्येण उदीर्यमाणेसु, कथं आनुपूर्व्या उदीर्यते? उच्यते, उक्कड्ढंतं जहा तोयं, अहवा कम्मं वा जोगं व भवं आयुगं वा मणुस्सगतिणामगोत्तस्स कस्मिंश्चित्तु काले कदाचित् पु पूरणे, न सर्वदेवैत्यर्थः, 'जीवा सोधिमणुप्पत्ता शुद्धयते अनेनेति शोधिः तदावरणीय कर्मापगमादित्यर्थः।

६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६८।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १८४।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र १८४ : शान्तिं क्रोधजयलक्षणाम्।

८. उत्तराध्ययन २९।६८ : कोहविजएणं खंतिं जणयइ।

९. उत्तराध्ययन २९।४७ : खंतीए णं परीसहे जिणइ।

१०. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८५ : श्रद्धा रुचिरूपा प्रक्रमाद् धर्मविषयैव।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १४४ : श्रद्धा धर्मकरणाभिलाषः।

११. पातंजल योगदर्शन १।२०, टीका पृ. ५५।

१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६८ : नयनशीलो नैयायिकः।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र १८५ : नैयायिकः, न्यायोपपन्न इत्यर्थः।

१४. देखें—उत्तराध्ययन चार्ल सरपेन्टियर, पृ. २६२।

१५. बुद्धचर्या, पृ. ४६७, ४८६।

१६. (क) सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. ४५७ : नयनशीलो नेयाइओ मोक्षं नयतीत्यर्थः।
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. ४५५ : मोक्खं णयणशीलो णेयाउओ।

१७. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६८।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १८५।

१८. सुखबोधा, पत्र ६६-७५।

१९. आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति, पत्र ४०१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Indischen Studien, vol. XXII, pp. 91-135 में निह्नवों का विवरण सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। डॉ. हरमन जेकोबी ने अपने अन्वेषणात्मक निबन्ध—'श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति'—में भी इस विवरण का उपयोग किया है।

## १७. (श्लोक ११)

यह श्लोक प्रथम श्लोक का निगमन प्रस्तुत करता है। प्रथम श्लोक का प्रतिपाद्य है कि चार परम अंग हैं और उनकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। इस श्लोक में इन चार परम अंगों की प्राप्ति का परिणाम निर्दिष्ट है। जिसे चतुरंग की प्राप्ति हो जाती है वह पूर्व संचित कर्मरजों को विनष्ट कर आत्मा को विशुद्ध बना लेता है। इस प्रकार चतुरंग का सिद्धांत आध्यात्मिक विकास की एक प्रायोगिक भूमिका का निर्देश है।

## १८. (सोही उज्जुयभूयस्स)

ऋजुता शुद्धि का घटक तत्त्व है। निर्जरा हमारे प्रत्यक्ष नहीं है। शुद्धि व्यवहार में प्रत्यक्ष हो जाती है। शुद्धि और ऋजुता—दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। ऋजुता का एक प्रकार है—अविसंवादन अर्थात् कथनी और करनी में संवादिता। अविसंवादिता आने पर ही जीवन में धर्म की आराधना होती है। उनतीसवें अध्ययन में इसका स्पष्ट उल्लेख है—

गौतम ने पूछा—ऋजुता से जीव क्या प्राप्त करता है?

भगवान् बोले—ऋजुता से वह काया, मन और भाषा—वाणी की सरलता और अविसंवादन वृत्ति को प्राप्त होता है। अविसंवादन वृत्ति से सम्पन्न जीव धर्म का आराधक होता है।[1]

माया एक शल्य है। उसकी विद्यमानता में व्रत या धर्म की प्राप्ति नहीं होती। उमास्वाति ने इसी आशय से लिखा है—व्रती या धार्मिक वही व्यक्ति होता है जो निःशल्य हो जाता है।[2]

ऋजु शब्द के दो अर्थ हैं—सरल और मोक्ष। चूर्णि में ऋजुभूत का अर्थ है—सरलता के गुण से युक्त[3] और बृहद्वृत्ति में इसका अर्थ है—चतुरंग की प्राप्ति से मुक्ति के प्रति प्रस्थित।[4]

## १९. (निव्वाणं...घयसित्तव्व पावए)

चूर्णि में निर्वाण का अर्थ मुक्ति है।[5] शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) स्वास्थ्य और (२) जीवन्मुक्ति। स्वास्थ्य का अर्थ है अपने आपमें अवस्थिति, आत्म-रमण। जिस व्यक्ति का जीवन धर्मानुगत होता है उसमें आत्म-रमण की स्थिति सहज हो जाती है। यही सही अर्थ में स्वास्थ्य है। आत्म-रमण की अवस्था सहजानन्द की अवस्था है। उसमें सुख निरन्तर बढ़ता रहता है। जैन आगम के अनुसार एक मास की पर्याय वाला श्रमण व्यन्तर देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है। स्वस्थ श्रमण चक्रवर्ती के सुखों को भी लांघ जाता है। यह परम-सुख की अनुभूति आत्म-सापेक्ष होती है। यही स्वास्थ्य या निर्वाण है।[6] जीवन्मुक्ति का अर्थ है इसी जीवन में मुक्ति।[7]

शान्त्याचार्य ने यहां 'प्रशमरति' का एक श्लोक उद्धृत किया है—

*निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।*
*विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम्।।२३८।।*

नेमिचन्द्र ने निर्वाण शब्द का अर्थ जीवन्मुक्ति किया है और मुनि-सुख की अर्घ्यता को लक्ष्य कर एक दूसरा श्लोक भी उद्धृत किया है।[8]—

*तणसंथारनिवन्नो वि, मुणिवरो भट्टारायमयमोहो।*
*जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि।।*

नागार्जुनीय परम्परा में यह श्लोक भिन्न रूप से मिलता है, ऐसा चूर्णिकार[9] और शान्त्याचार्य[10] ने उल्लेख किया है—

*चउद्धा संपयं लद्धुं इहेव ताव भायते।*
*तेयते तेजसपन्ने, घयसित्तेव पावए।।*

पलाल, उपल आदि के द्वारा अग्नि उतनी दीप्त नहीं होती जितनी कि वह घृत के सिंचन से होती है, इसलिए यहां **घयसित्तव्व पावए**—घृत सिंचन की उपमा को प्रधानता दी है।[11]

यहां निर्वाण की तुलना घृत-सिक्त अग्नि से की गई है। घृत से अग्नि प्रज्वलित होती है, बुझती नहीं, इसलिए निर्वाण का अर्थ 'मुक्ति' की अपेक्षा 'दीप्ति' अधिक उपयुक्त है। मुक्ति, स्वास्थ्य या जीवन्मुक्ति—ये सभी चेतना की प्रज्वलित—तेजोमय अवस्था के नाम हैं। इस दृष्टि को सामने रखकर निर्वाण का इनमें से कोई भी अर्थ किया जा सकता है। किन्तु उसका अर्थ 'बुझना' उपमा के साथ सामंजस्य नहीं रखता।

## २०. कर्म के हेतु को (कम्मणो हेउं)

कर्म बन्ध के दो मुख्य हेतु हैं—राग और द्वेष। अथवा कर्मबन्ध का कारण है—आश्रव। वह पांच प्रकार का है—

---

१. उत्तराध्ययन २९। सूत्र ४९।
२. तत्त्वार्थवार्तिक, ७।१८ : निःशल्यो व्रती।
३. उत्तराध्ययन चूर्णि पृ. ६६ : अर्जतीति ऋजुभूतः तद्गुणवतः।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र १८५ : ऋजुभूतस्य—चतुरंगप्राप्त्या मुक्तिंप्रति प्रगुणीभूतस्य।
५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६६ : निर्वृत्तिः—निर्वाणम्।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र १८५, १८६ : 'निर्वाणं' निर्वृत्तिनिर्वाणं स्वास्थ्यमित्यर्थः 'परमं' 'एगमासपरियाए समणे वंतरियाणं तेयल्लेसं वीईवयति' इत्याद्यागमेनोक्तं 'नैवास्ति राजराजस्य तत्सुख' मित्यादिना च वाचकवचनेनानूदितम्।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र १८६ : यद्वा निर्वाणमिति जीवन्मुक्तिम्।
८. सुखबोधा, पत्र ७६।
९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६६।
१०. बृहद्वृत्ति, पत्र १८६।
११. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ६६ : तृणतुषपलालकरीषादिभिरींधनविशेषैरिध्यमानो न तथा दीप्यते यथा घृतेनेत्यतोऽनुमानात् ज्ञायते तथा घृतेनाभिषिक्तोऽधिकं भाति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्व आश्रव, अव्रत आश्रव, प्रमाद आश्रव, कषाय आश्रव और योग आश्रव।

## २१. दूर कर (विगिंच)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[1]—

१. विचृङ् पृथग्भागे—पृथक्-पृथक् करना।

२. छोड़ना त्यागना।

## २२. पार्थिव शरीर को (पाढवं सरीरं)

बृहद्वृत्तिकार ने 'पाढवं' की व्याख्या इस प्रकार की है—जो पृथ्वी के तुल्य है वह पार्थिव है। पृथ्वी का एक नाम है—सर्वंसहा। वह सब कुछ सहन करती है। मनुष्य का शरीर सब कुछ सहन करता है, सुख-दुःख में सम रहता है। सहिष्णुता की समानता के आधार पर शरीर को भी पार्थिव कहा गया है।

इसका दूसरा अर्थ शैल या पर्वत किया जाता है। मनुष्य पर्वत की भांति अति निश्चल अवस्था को प्राप्त होता है, इसलिए उसके शरीर को पार्थिव कहा गया है।[2]

वृत्तिकार के ये दोनों अर्थ पार्थिव शब्द से बहुत दूर का संबंध स्थापित करते हैं।

सूत्रकृतांग की चूर्णि के अनुसार पांच भूतों में पृथ्वी को मुख्य मानकर शरीर को पार्थिव कहा गया है। शरीर में कठोर भाग पृथ्वी, द्रव भाग अप्, उष्णता तेजस्, उच्छ्वास-निःश्वास वायु और शुषिर भाग आकाश है।[3]

आयुर्वेद में शरीर को पार्थिव कहने का जो कारण बतलाया है, वह बहुत स्पष्ट है। संभावना की जा सकती है कि पार्थिव शब्द आयुर्वेद की परम्परा से ही संगृहीत है।

'गंध, घ्राणेन्द्रिय तथा शरीर के अन्तर्गत समस्त कठिन अवयव, गुरुत्व (भारीपन तथा पोषण), स्थिरता—ये कार्य शरीर में पृथिवी महाभूत के हैं.....पृथिवी लोक पर पाए जाने वाले मनुष्य आदि के शरीर पार्थिव शरीर कहे जाते हैं।'

'शरीरशास्त्री कहते हैं कि शरीर का ७० प्रतिशत भाग (लगभग २/३) जल ही से बना है। अस्थि.....सदृश कठिन धातु का भी अर्धांश जल ही होता है। शेष घन द्रव्य आयुर्वेद मत से पृथिवी-विकार हैं।.....इसका (शरीर का) मुख्य उपादान (समवायि) कारण पृथ्वी ही शेष रहता है। इसी से दर्शनों में इस शरीर को पार्थिव कहा जाता है।'[4]

## २३. (श्लोक १३)

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरणों में मध्य पुरुष की क्रिया है और अन्तिम चरण में प्रथम पुरुष की। इससे जान पड़ता है कि प्रथम दो चरणों में उपदेश है और अन्तिम दो चरणों में सामान्य निरूपण है।

शान्त्याचार्य के अनुसार अन्तिम दो चरणों की व्याख्या इस प्रकार है—'ऐसा करने वाला पार्थिव शरीर को छोड़कर ऊर्ध्वदिशा (स्वर्ग या मोक्ष) को प्राप्त होता है, इस अर्थ के आगे इतना और जोड़ देना चाहिए'—इसलिए तू भी ऐसा कर।[5]

## २४. देव (जक्खा)

यक्ष शब्द 'यजृ' धातु से बना है। इसके दो निरुक्त हैं—(१) इज्यन्ते पूज्यन्ते इति यक्षाः—जो पूजे जाते हैं वे यक्ष—देव हैं। (२) यान्ति वा तथाविधर्द्धिसमुदयेऽपि क्षयमिति यक्षाः—जो अनेक ऋद्धियों से संपन्न होने पर भी अपनी अवस्थिति से च्युत होते हैं, वे यक्ष हैं।[6]

पहले इसका अर्थ देव था। उत्तरवर्ती साहित्य में इसके अर्थ का अपकर्ष हुआ और यह शब्द निम्न कोटि की देवजाति के लिए व्यवहृत होने लगा।

## २५. महाशुक्ल (महासुक्का)

चन्द्र, सूर्य आदि अतिशय उज्ज्वल प्रभा वाले होते हैं इसलिए उन्हें महाशुक्ल कहा गया है।[7] 'सुक्क' का संस्कृत रूप शुक्त भी हो सकता है। उसका अर्थ अग्नि भी है। यह मान लेने पर इसका अर्थ होगा—महान् अग्नि।

## २६. (श्लोक १४)

सभी देव समान शील वाले नहीं होते। उनके तप, नियम और संयम-स्थान समान नहीं होते। व्यक्ति अपने पूर्वजन्म में जिस प्रकार से शील-संयम का पालन करता है, उसी के अनुरूप वह देवगति को प्राप्त करता है। सभी देवताओं की सम्पदा एक सी नहीं होती। पहले देवलोक से दूसरे की और दूसरे से तीसरे की सम्पदा अधिक होती है। इसी प्रकार यह सम्पदा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसका कारण है—**'जहा जहा णं तेसिं देवाणं तव-नियम-बंभचेराणि ऊसितानि भवंति, जस्स जारिसं सीलमासि तारिसो जक्खो भवति।'**[8]

**विसालिसेहिं**—यह मागधदेशी भाषा का शब्द है। इसका संस्कृत रूप है—विसदृशैः।[9]

## २७. इच्छानुसार रूप बनाने में समर्थ होते हैं (कामरूव विउव्विणो)

**कामरूव विउव्विणो** का अर्थ है—इच्छानुसार रूप करने

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि पृ. ६६ : विचिर् पृथक्भावे, पृथक् कुरुष्व। अहवा विगिंचेति उज्झित इत्यर्थः।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र १८६ : पाढवं ति पार्थिवमिव पार्थिवं शीतोष्णादि-परिषहसहिष्णुतया समदुःखसुखतया च पृथिव्यामिव भवं, पृथिवी हि सर्वसहाः, कारणानुरूपं च कार्यमिति भावो। यदि वा पृथिव्या विकारः पार्थिवः, स चेह शैलः ततश्च शैलेशीप्राप्त्यपेक्षयाऽतिनिश्चलतया शैलोपमत्वात् परप्रसिद्ध्या वा पार्थिवं....

३. सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. २३,२४।

४. आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान (वैद्य रणजितराय देसाई) पृ. ६६, १०६।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र १८६।

६. वही, पत्र १८७।

७. वही, पत्र १८७ : 'महाशुक्ला' अतिशयोज्ज्वलतया चन्द्रादित्यादयः।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १००।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र १८७ : विसालिसेहिं ति मागधदेशीयभाषया विसदृशैः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में समर्थ, आठ प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त।[1] तत्त्वार्थवार्तिक में एक साथ अनेक आकार वाले रूप-निर्माण की शक्ति को कामरूपीत्व कहा है।[2] चूर्णिकार ने इसका संस्कृत रूप 'कामरूपविकुर्विणः' और शान्त्याचार्य तथा नेमिचन्द्र ने 'कामरूपविकरणाः' दिया है।[3] 'विकुर्विणः' प्राकृत का ही अनुकरण है।

## २८. सैकड़ों पूर्ववर्षों तक—असंख्य काल तक (पुव्वा वाससया बहू)

८४ लाख को ८४ लाख से गुणन करने पर जो संख्या प्राप्त होती है उसे पूर्व कहा जाता है। सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्षों—७०५६०००००००००—को पूर्व कहा गया है। बहु अर्थात् असंख्य। असंख्य पूर्व या असंख्य सौ वर्षों तक। इसका तात्पर्य है पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक। देवों की कम से कम इतनी स्थिति तो होती ही है। मुनि पूर्वजीवी या शतवर्षजीवी होते हैं इसलिए उन्हीं के द्वारा उनका माप बतलाया गया है।[4]

## २९. (श्लोक १६-१८)

सोलहवें श्लोक में कहा गया है कि वे देव मनुष्य योनि में दस अंगों वाली भोग-सामग्री से युक्त होते हैं। वे दस अंग इस प्रकार हैं—

| | |
|---|---|
| (१) चार कामस्कन्ध। | (६) नीरोग। |
| (२) मित्रवान्। | (७) महाप्रज्ञ। |
| (३) ज्ञातिमान्। | (८) विनीत। |
| (४) उच्चगोत्र। | (९) यशस्वी। |
| (५) वर्णवान्। | (१०) सामर्थ्यवान्। |

चार कामस्कन्धों का निरूपण सतरहवें श्लोक में और शेष नौ अंगों का उल्लेख अट्ठारहवें श्लोक में है।

चत्तारि कामखंधाणी—'काम-स्कन्ध' का अर्थ है—मनोज्ञ शब्दादि के हेतुभूत पुद्गल समूह अथवा विलास के हेतुभूत पुद्गल समूह।[5] वे चार हैं—(१) क्षेत्र-वास्तु, (२) हिरण्य, (३) पशु, (४) दास-पौरुष।

क्षेत्र शब्द 'क्षि' धातु से बना है। उस धातु के दो अर्थ हैं—निवास और गति। जिसमें रहा जाए उसको क्षेत्र कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार ग्राम, आराम आदि क्षेत्र कहलाते हैं।[6] जहां अनाज उत्पन्न होता है, वह भी क्षेत्र कहलाता है। उसके तीन प्रकार हैं[7]—

(१) सेतुक्षेत्र—जहां सफल सिंचाई से होती है।
(२) केतुक्षेत्र—जहां फसल वर्षा से होती है।
(३) सेतुकेतुक्षेत्र—जहां ईख आदि सिंचाई और वर्षा—दोनों से उत्पन्न होते हैं।

वास्तु का अर्थ है—अगार-गृह। चूर्णिकार ने उसके तीन भेद किए हैं—

(१) सेतुवास्तु, (२) केतुवास्तु, (३) सेतुकेतुवास्तु।

अथवा

(१) खात, (२) उच्छ्रित, (३) खातोच्छ्रित।

उनकी व्याख्या के अनुसार—भूमिगृह को सेतु, ऊंचे प्रासाद को केतु और उभयगृह (भूमिगृह के ऊपर के प्रासाद) को सेतु-केतु कहा जाता है।[8] यही अर्थ खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित का है।

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने दूसरे विकल्प का उल्लेख किया है। अर्थ में तीनों एक मत हैं।[9]

पौरुष का अर्थ है—कर्मकर और दास का अर्थ है—खरीदा हुआ और मालिक की सम्पत्ति समझा जाने वाला व्यक्ति—गुलाम। उसके जीवन पर स्वामी का पूर्ण अधिकार होता था। अपनी जन्म-जात दास्य-स्थिति को बदलना उसके वश में नहीं होता था और न वह सम्पत्ति का स्वामी हो सकता था। दास और नौकर-चाकर में यही अन्तर है कि नौकर-चाकर पर स्वामी का पूर्ण अधिकार नहीं होता, वह स्वामी की सम्पत्ति नहीं समझा जाता और वह अनिश्चित काल के लिए वेतन पर रखा जाता है।

निशीथ चूर्णि में छह प्रकार के दास बतलाए गए हैं—

(१) परम्परागत।
(२) खरीदकर बनाया हुआ।

---

१. (क) सुखबोधा, पत्र ७७ : 'कामरूपविकरणाः' यथेष्टरूपादिनिर्वर्त्तनशक्तिसमन्विताः।
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १०१ : अष्टप्रकारैश्वर्ययुक्ता इत्यर्थः।

२. तत्त्वार्थवार्तिक ३।३६, पृ. २०३ : युगपदनेकाकारूपविकरणशक्तिः कामरूपित्वमिति।

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १०१ : काम्यंते कमनीया वा कामाः, रोचते रोचयति वा रूपं, कामतो रूपाणि विकुर्वितुं शीलं येषां त इमे कामरूपविकुर्विणः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १८७ : 'कामरूबविउव्विणो' त्ति सूत्रत्वात्कामरूपविकरणाः।
(ग) सुखबोधा, पत्र ७७।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र १८७ : पूर्वाणि—वर्षसप्ततिकोटिलक्षषट्पंचशत्कोटिसहस्रपरिमितानि बहूनि, जघन्यतोऽपि पल्योपमस्थितित्वात्, तत्रापि च तेषामसङ्ख्येयानामेव सम्भवात्, एवं वर्षशतान्यपि बहूनि, पूर्ववर्षशतायुषामेव चरणयोग्यत्वेन विशेषतो देशनौचित्यमिति ख्यापनार्थमित्थमुपन्यास इति।

५. सुखबोधा, पत्र ७७ : कामाः—मनोज्ञशब्दादयः तद्धेतवः स्कंधाः—तत्तत्पुद्गलसमूहाः कामस्कंधाः।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र १८८ : 'क्षि निवासगत्योः' क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षेत्रम्—ग्रामारामादि।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १०१ : तत्र क्षेत्रं सेतुं केतुं वा, सेतुं केतुं वा, सेतुं रहट्टादि, केतुं वरिसेण निप्फज्जते इक्खादि सेतुं केतुम्।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि पृ. १०१ : वत्थुंसि सेतुं भूमिघरादि, केतुं यदभ्युच्छ्रितं प्रासादाद्यं, उभयथा गृहं सेतुकेतुं भवति, अथवा वत्थुं खायं ऊसियं खातूसियं, खातं भूमिधरं ऊसितं पासाओ खातूसितं भूमिघरोवारि पासादो।

९. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८८ : तथा वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु-खातोच्छ्रितोभयात्मकम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ७७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) कर्ज न चुकाने पर निगृहीत किया हुआ।
(४) दुर्भिक्ष आदि होने पर भोजन आदि के लिए जिसने दासत्व ग्रहण किया हो।
(५) किसी अपराध के कारण जुर्माना न देने पर राजा द्वारा जो दास बनाया गया हो।
(६) बन्दी बनाकर जो दास बनाया गया हो।[1]

मनुस्मृति में सात प्रकार के दास बतलाए गए हैं—
(१) ध्वजाहृतदास—संग्राम में पराजित दास।
(२) भक्तदास—भोजन आदि के लिए दास बना हुआ।
(३) गृहजदास—अपनी दासी से उत्पन्न दास।
(४) क्रीतदास—खरीदा हुआ दास।
(५) दत्रिमदास—किसी द्वारा दिया हुआ दास।
(६) पैतृकदास—पैतृक धन रूप में प्राप्त दास।
(७) दण्डदास—ऋण निर्यातन के लिए बना हुआ दास।[2]

मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि दास 'अधन' होते हैं। वे जो धन एकत्रित करते हैं वह उनका हो जाता है जिनके वे दास हैं।[3]

निशीथ-चूर्णि और मनुस्मृति की दास-सूची सदृश है। मनुस्मृति में केवल दत्रिम दास का विशेष उल्लेख हुआ है।

याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने पन्द्रह प्रकार के दास बतलाए हैं। उनमें मनुस्मृति में कथित प्रकार तो हैं ही, साथ में जुए में जीते हुए, अपने आप मिले हुए, दुर्भिक्ष के समय बचाए हुए आदि-आदि अधिक हैं।[4]

सूत्रकार ने 'दास-पौरुष' को कामस्कन्ध—धन-सम्पत्ति माना है। दास-पौरुष शब्द से यह पता चलता है कि उस समय 'दास-प्रथा' बहुत प्रचलित थी। टीकाकारों ने दास का अर्थ पोष्य या प्रेष्य वर्ग और पौरुषेय का अर्थ पदाति समूह किया है।[5]

अंग्रेजी में भी दो शब्द हैं। Slave और Servant। ये दोनों दास और नौकर के पर्यायवाची हैं।

जैन-साहित्य के अनुसार बाह्य-परिग्रह के दस भेद हैं। उनमें 'दुप्पय' अर्थात् दो पैर वाले दास-दासियों को भी बाह्य-परिग्रह माना गया है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में गुलाम के लिए 'दास' और नौकर के लिए 'कर्मकर' शब्दों का व्यवहार किया गया है। इसमें दासकर्मकरकल्प नाम का एक अध्याय है।[6]

अनगारधर्मामृत की टीका में पण्डित आशाधरजी ने 'दास' शब्द का अर्थ—खरीदा हुआ कर्मकर किया है।[7]

आजकल लोगों की धारणा है कि 'दास' शब्द का अर्थ क्रूर और जंगली लोग है। पर 'दास' शब्द का मूल अर्थ यह नहीं जान पड़ता। दास का अर्थ दाता (जिसने अंग्रेजी में Noble कहते हैं) रहा होगा।[8] ऋग्वेद की कई ऋचाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'सप्त-सिन्धु' पर दासों का आधिपत्य था।[9] जान पड़ता है कि दास लोग राजपूतों की तरह शूर थे। नमूचि, शंबर आदि दास बड़े शूरवीर थे।[10]

इस आर्यपूर्व जाति पर आधुनिक अनुसन्धाताओं ने बहुत प्रकाश डाला है।

## ३०. संपूर्ण बोधि का (केवलं बोहि)

बोधि शब्द 'बुध्' धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ है—ज्ञान का विवेक। अध्यात्म के अर्थ में इसका अर्थ है—आत्मबोध। यही मोक्षमार्ग का बोध है। बोधि और ज्ञान एक नहीं हैं। सामान्य ज्ञान के लिए बोधि का प्रयोग नहीं हो सकता। ज्ञान पुस्तकीय तथ्यों के आधार पर होने वाली अवगति है। बोधि आन्तरिक विशुद्धि से स्वयं प्रस्फुटित होने वाला ज्ञान है। इसे अतीन्द्रिय ज्ञान या विशिष्ट ज्ञान भी कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सम्यग् युति बोधि है। 'असोच्चा केवली' इसके स्फुट निदर्शन हैं। उनमें आन्तरिक विशुद्धि से प्रज्ञा का इतना जागरण हो जाता है कि वे केवली बन जाते हैं। संपूर्ण ज्ञान के धनी बन जाते हैं।[11]

स्थानांग सूत्र में तीन प्रकार की बोधि का उल्लेख है—ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्रबोधि।[12] वृत्तिकार ने यहां 'बोधि' का अर्थ सम्यग्बोध किया है।[13]

सूत्रकृतांग २/७३ में 'णो सुलभं च बोहिं च आहियं'—में प्रयुक्त बोधि शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने सम्यग् दर्शन की

---

१. निशीथ चूर्णि, पृ. ११।
२. मनुस्मृति, ८।४१५ :
ध्वजाहृतो भक्तदासो, गृहजः क्रीतदत्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश्च, सप्तैते दासयोनयः।।
३. मनुस्मृति, ८।४१६ :
भार्या पुत्रश्च, दासश्च, त्रय एवाधनाः स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छन्ति, यस्य ते तस्य तद्धनम्।।
४. याज्ञवल्क्यस्मृति, २।१४, पृ. २७३।
५. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८८ : दास्यते—दीयते एभ्य इति दासाः—पोष्यवर्गरूपास्ते च पौरुसंति—सूत्रत्वात्पौरुषेयं च—पदातिसमूहः दासपौरुषेयम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ७७।
६. धर्मस्थीय, ३।१३, प्रकरण ६५।
७. अनगारधर्मामृत, ४।१२१।
८. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ. ११।
९. ऋग्वेद, १।३२।११; ५।३०।५।
१०. भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ. १३।
११. भगवती, ६।४६ आदि।
१२. ठाणं ३।१७६ : तिविहा बोधी पण्णत्ता, तं जहा—णाणबोधी, दंसणबोधी, चरित्तबोधी।
१३. स्थानांगवृत्ति, पत्र १२३ : बोधिः सम्यग्बोधः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्ति किया है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द ने बोधि की परिभाषा इस प्रकार की है—जिस उपाय से सद्ज्ञान उत्पन्न होता है, उस उपाय—चिन्ता का नाम बोधि है।[2]

इन सभी संदर्भों में 'बोधि' का अर्थ है—सम्यग्दर्शन। मोक्ष प्राप्ति का पहला सोपान है—सम्यग्दर्शन और उसके पश्चात् है संयम की साधना और उसकी फलश्रुति है मोक्ष।

बोधि या संबोधि का अर्थ केवलज्ञान भी होता है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में वह अभिप्रेत नहीं है।

बृहद्वृत्तिकार ने केवल का अर्थ—अकलंकित विशुद्ध और बोधि का अर्थ—जिनप्रणीत धर्म की प्राप्ति दिया है।[3] नेमिचन्द्र ने भी यही अर्थ किया है।[4]

विशेष विवरण के लिए देखें—ठाणं ३/१७६ का टिप्पण।

## ३१. बचे हुए कर्मों को....धुनकर (धुयकम्मंसे)

**कम्मंस**—यह कर्मशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। यह सत्कर्म या विद्यमान कर्म के अर्थ में रूढ़ है।[5] केवली के चार भवोपग्राही कर्म—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य—शेष रहते हैं। जीवन के अन्तिम काल में उन्हें क्षीण कर वह मुक्त हो जाता है।

शान्त्याचार्य ने इसका मुख्य अर्थ सत्कर्म और विकल्प में अंश का अर्थ 'भाग' किया है।[6] नेमिचन्द्र ने भी अंश का यही अर्थ किया है।[7] इसके अनुसार 'धुतकम्मंस' का अर्थ होगा—जो सर्व कर्मों के भाग का अपनयन कर चुका।

---

१. सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र ७७ : बोधिं च सम्यग्दर्शनावाप्तिलक्षणाम्।
२. षट्प्राभृतादि संग्रह, पृ. ४४०, द्वादशानुप्रेक्षा ८३।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र १८८ : केवलाम्—अकलंकां बोधिं—जिनप्रणीतधर्म्मप्राप्तिलक्षणाम्।
४. सुखबोधा, पत्र ७८।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र १८८ : कम्मंसित्ति—कार्म्मग्रन्थिकपरिभाषया सत्कर्म..।
६. वही, पत्र १८८ : कर्म्मणो अंशः—भागाः।
७. सुखबोधा, पत्र ७८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# चउत्थं अज्झयणं

## असंखयं

# चौथा अध्ययन

## असंस्कृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन का नाम निर्युक्ति के अनुसार 'प्रमादाप्रमाद'[1] और समवायाङ्ग के अनुसार 'असंस्कृत' (प्रा० असंखयं) है।[2] निर्युक्तिकार का नामकरण अध्ययन में वर्णित विषय के आधार पर है और समवायाङ्ग का नामाकरण आदानपद (प्रथमपद) के आधार पर है। इसका समर्थन अनुयोगद्वार से भी होता है।[3]

'जीवन असंस्कृत है—उसका संधान नहीं किया जा सकता, इसलिए व्यक्ति को प्रमाद नहीं करना चाहिए'—यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है। जिन व्यक्तियों का जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण नहीं है, वे अन्य मिथ्या धारणाओं में फंसकर मिथ्याभिनिवेश को प्रश्रय देते हैं। सूत्रकार जीवन के प्रति जागरूक रहने की बलवती प्रेरणा देते हुए तथ्यों का प्रतिपादन करते हैं और मिथ्या मान्यताओं का खण्डन करते हैं। वे मिथ्या मान्यताएं ये हैं—

१. यह माना जाता था कि धर्म बुढ़ापे में करना चाहिए, पहले नहीं।

भगवान ने कहा —"धर्म करने के लिए सब काल उपयुक्त हैं, बुढ़ापे में कोई त्राण नहीं है।" (श्लो० १)

२. भारतीय जीवन की परिपूर्ण कल्पना में चार पुरुषार्थ माने गए हैं—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। अर्थ को येनकेन-प्रकारेण अर्जित करने की प्रेरणा दी जाती थी। लोग धन को त्राण मानते थे।

भगवान् ने कहा—"जो व्यक्ति अनुचित साधनों द्वारा धन का अर्जन करते हैं, वे धन को छोड़कर नरक में जाते हैं। यहां या परभव में धन किसी का त्राण नहीं बन सकता। धन का व्यामोह व्यक्ति को सही मार्ग पर जाने नहीं देता।" (श्लो० २,५)

३. कई लोग यह मानते थे कि किए हुए कर्मों का फल परभव में ही मिलता है। कई मानते थे कि कर्मों का फल है ही नहीं।

भगवान् ने कहा—"किए हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। कर्मों का फल इस जन्म में भी मिलता है और पर-जन्म में भी।" (श्लो० ३)

४. यह मान्यता थी कि एक व्यक्ति बहुतों के लिए कोई कर्म करता है तो उसका परिणाम वे सब भुगतते हैं।

भगवान् ने कहा—"संसारी प्राणी अपने बन्धुजनों के लिए जो साधारण कर्म करते हैं, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धुजन बन्धुता नहीं दिखाते, उसका भाग नहीं बंटाते।" (श्लो० ४)

५. यह माना जाता था कि साधना के लिए समूह विघ्न है। व्यक्ति को अकेले में साधना करनी चाहिए।

भगवान् ने कहा—"जो स्वतंत्र वृत्ति का त्याग कर गुरु के आश्रयण में साधना करता है, वह मोक्ष पा लेता है।" (श्लो० ८)

६. लोग कहते थे कि यदि छन्द के निरोध से मुक्ति मिलती है तो वह अन्त समय में भी किया जा सकता है।

भगवान् ने कहा—"धर्म पीछे करेंगे—यह कथन शाश्वतवादी कर सकते हैं। जो अपने आपको अमर मानते हैं, उनका यह कथन हो सकता है, परन्तु जो जीवन को क्षण-भंगुर मानते हैं, वे भला काल की प्रतीक्षा कैसे करेंगे ? वे काल का विश्वास कैसे करेंगे ? धर्म की उपासना के लिए समय का विभाग अवांछनीय है। व्यक्ति को प्रतिपल अप्रमत्त रहना चाहिए।" (श्लो० ६-१०)

इस प्रकार यह अध्ययन जीवन के प्रति एक सही दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और मिथ्या मान्यताओं का निरसन करता है।

---

१. (क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १८१ :
पंचविहो अ पमाओ इहमज्झयणंमि अप्पमाओ य।
वण्णिज्जइ उ जम्हा तेण पमायप्पमायंति।।

२. समवाओ, समवाय ३६ : छत्तीसं उत्तरज्झयणा प० तं०—विणयसुयं...असंखयं...।

३. अणुओगदाराइं, सूत्र ३२२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# चउत्थं अज्झयणं : चौथा अध्ययन
# असंखयं : असंस्कृत

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. असंखयं जीविय मा पमायए<br>जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।<br>एवं वियाणाहि जणे पमत्ते<br>कण्णू विहिंसा अजया गहिंति।। | *असंस्कृतं जीवितं मा प्रमादीः*<br>*जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम्।*<br>*एवं विजानीहि जनाः प्रमत्ताः*<br>*कन्नु विहिंस्रा अयता ग्रहीष्यन्ति।।* | जीवन सांधा नहीं जा सकता,[1] इसलिए प्रमाद मत करो।[2] बुढ़ापा आने पर[3] कोई शरण नहीं होता। प्रमादी, हिंसक और अविरत मनुष्य किसकी शरण लेंगे—यह विचार करो। |
| २. जे पावकम्मेहि धणं मणूसा<br>समाययंती अमइं गहाय।<br>पहाय ते पासपयट्टिए नरे<br>वेराणुबद्धा नरयं उवेंति।। | *ये पापकर्मभिः धनं मनुष्याः*<br>*समाददते अमतिं गृहीत्वा।*<br>*प्रहाय ते पाशप्रवर्तिताः नराः*<br>*वैरानुबद्धा नरकमुपयन्ति।।* | जो मनुष्य कुमति को स्वीकार कर पापकारी प्रवृत्तियों से[4] धन का उपार्जन करते हैं वे मूर्च्छा के पाश से[5] संचालित वैर से बंधे हुए व्यक्ति[6] धन को छोड़कर नरक में जाते हैं। |
| ३. तेणे जहा संधिमुहे गहीए<br>सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।<br>एवं पया पेच्च इहं च लोए<br>कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।। | *स्तेनो यथा सन्धिमुखे गृहीतः*<br>*स्वकर्मणा कृत्यते पापकारी।*<br>*एवं प्रजा प्रेत्येह च लोके*<br>*कृतानां कर्मणां न मोक्षोऽस्ति।।* | जैसे सेंध लगाते हुए[7] पकड़ा गया पापी चोर अपने कर्म से ही छेदा जाता है, उसी प्रकार इस लोक और परलोक में प्राणी अपने कृत कर्मों से ही छेदा जाता है—दण्डित होता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। |
| ४. संसारमावन्न परस्स अट्ठा<br>साहारणं जं च करेइ कम्मं।<br>कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले<br>न बंधवा बंधवयं उवेंति।। | *संसारमापन्नः परस्यार्थात्*<br>*साधारणं यच्च करोति कर्म।*<br>*कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले*<br>*न बान्धवा बान्धवतामुपयन्ति।।* | संसारी प्राणी अपने बन्धुजनों के लिए जो साधारण कर्म (इसका फल मुझे भी मिले और उनको भी—ऐसा कर्म) करता है, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धुजन बन्धुता नहीं दिखाते—उसका भाग नहीं बंटाते। |
| ५. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते<br>इममि लोए अदुवा परत्था।<br>दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे<br>नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव।। | *वित्तेन त्राणं न लभते प्रमतः*<br>*अस्मिल्लोके अथवा परत्र।*<br>*प्रणष्टदीप इव अनन्तमोहः*<br>*नैर्यातृकं दृष्ट्वाऽदृष्ट्वैव।।* | प्रमत्त (धन में मूर्च्छित) मनुष्य इस लोक में अथवा परलोक में धन से त्राण नहीं पाता।[8] अन्धेरी गुफा में जिसका दीप बुझ गया हो[9] उसकी भांति, अनन्त मोह वाला प्राणी पार ले जाने वाले मार्ग को देखकर भी नहीं देखता।[10] |
| ६. सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी<br>न वीससे पंडिए आसुपन्ने।<br>घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं<br>भारुंडपक्खी व चरप्पमत्तो।। | *सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी*<br>*न विश्वस्यात् पण्डित आशुप्रज्ञः।*<br>*घोरा मुहूर्त्ता अबलं शरीरं*<br>*भारण्डपक्षीव चराप्रमतः।।* | आशुप्रज्ञ पंडित सोए हुए व्यक्तियों के बीच[11] भी जागृत रहे।[12] प्रमाद में विश्वास न करे। काल बड़ा घोर (क्रूर) होता है।[13] शरीर दुर्बल है। इसलिए भारण्ड पक्षी[14] की भांति अप्रमत्त होकर विचरण करे। |
| ७. चरे पयाइं परिसंकमाणो<br>जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।<br>लाभंतरे जीविय वूहइत्ता<br>पच्छा परिन्नाय मलावधंसी।। | *चरेत्पदानि परिशङ्कमानः*<br>*यत्किञ्चित्पाशमिह मन्यमानः।*<br>*लाभान्तरे जीवितं बृंहयिता*<br>*पश्चात्परिज्ञाय मलापध्वंसी।।* | पग-पग पर दोषों से भय खाता हुआ, थोड़े से दोष को भी[15] पाश मानता हुआ चले। नए-नए गुणों की उपलब्धि हो, तब तक जीवन को पोषण दे।[16] जब वह न हो तब विचार-विमर्श पूर्वक[17] इस शरीर का ध्वंस[18] कर डाले।[19] |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं
आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरप्पमत्तो
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं।।

*छन्दनिरोधेनोपैति मोक्षं*
*अश्वो यथा शिक्षितवर्मधारी।*
*पूर्वाणि वर्षाणि चरति अप्रमत्तः*
*तस्मान्मुनिः क्षिप्रमुपैति मोक्षम्।।*

शिक्षित (शिक्षक के अधीन रहा हुआ) और तनुत्राणधारी अश्व[२७] जैसे रण का पार पा जाता है, वैसे ही स्वच्छन्दता का निरोध करने वाला मुनि संसार का पार पा जाता है। पूर्व जीवन में[२९] जो अप्रमत्त होकर विचरण करता है, वह उस अप्रमत्त-विहार से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

९. स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा
एसोवमा सासयवाइयाणं।
विसीयई सिढिले आउयंमि
कालोवणीए सरीरस्स भेए।।

*स पूर्वमेव न लभेत पश्चात्*
*एषोपमा शाश्वतवादिकानाम्।*
*विषीदति शिथिले आयुषि*
*कालोपनीते शरीरस्य भेदे।।*

जो पूर्व जीवन में[३०] अप्रमत्त नहीं होता, वह पिछले जीवन में भी अप्रमाद को नहीं पा सकता। "पिछले जीवन में अप्रमत्त हो जाएंगे"—ऐसा निश्चय-वचन शाश्वतवादियों के लिए ही[३१] उचित हो सकता है। पूर्व जीवन में प्रमत्त रहने वाला आयु के शिथिल होने पर, मृत्यु के द्वारा शरीरभेद[३२] के क्षण उपस्थित होने पर विषाद को प्राप्त होता है।

१०. खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी
अप्पाणरक्खी चरमप्पमत्तो।।

*क्षिप्रं न शक्नोति विवेकमेतुं*
*तस्मात्समुत्थाय प्रहाय कामान्।*
*समेत्य लोकं समतया महैषी*
*आत्मरक्षी चरति अप्रमत्तः।।*

कोई भी मनुष्य विवेक को तत्काल प्राप्त[३३] नहीं कर सकता। इसलिए हे मोक्ष की एषणा करने वाले[३४] महर्षि! तुम उत्थित बनो—"जीवन के अंतिम भाग में अप्रमत्त बनेंगे"—इस आलस्य को त्यागो। काम-भोगों को छोड़ो। लोक को भलीभांति जानो। समभाव में रमण तथा आत्म-रक्षक और अप्रमत्त होकर विचरण करो।[३५]

११. मुहुं मुहुं मोहगुणे जयंतं
अणेगरूवा समणं चरंतं।
फासा फुसंती असमंजसं च
न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से।।

*मुहुर्मुहुर्मोहगुणान् जयन्तं*
*अनेकरूपाः श्रमणं चरन्तम्।*
*स्पर्शा स्पृशन्त्यसमञ्जसं च*
*न तेषु भिक्षुर्मनसा प्रद्विष्यात्।।*

बार-बार मोहगुणों[३६] पर विजय पाने का यत्न करने वाले उग्र-विहारी श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल[३७] स्पर्श पीड़ित करते हैं,[३८] असंतुलन पैदा करते हैं। किन्तु वह उन पर मन से भी प्रद्वेष न करे।

१२. मंदाय फासा बहुलोहणिज्जा
तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं
मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं।।

*मन्दाः स्पर्शा बहुलोभनीयाः*
*तथाप्रकारेषु मनो न कुर्यात्।*
*रक्षेत् क्रोधं विनयेद् मानं*
*मायां न सेवेत प्रजह्याल्लोभम्।।*

कोमल—अनुकूल स्पर्श[३९] बहुत लुभावने होते हैं। वैसे स्पर्शों में मन को न लगाये। क्रोध का निवारण करे।[४२] मान को दूर करे। माया का सेवन न करे। लोभ को त्यागे।

१३. जे संखया तुच्छ परप्पवाई
ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो
कंखे गुणे जाव सरीरभेओ।।

*ये संस्कृताः तुच्छाः परप्रवादिनः*
*ते प्रेयोदोषानुगताः पराधीनाः।*
*एते अधर्माः इति जुगुप्समानः*
*काङ्क्षेद् गुणान् यावच्छरीरभेदः।।*

जो अन्यतीर्थिक लोग "जीवन सांधा जा सकता है"[४३]—ऐसा कहते हैं वे अशिक्षित हैं,[४४] प्रेय और द्वेष में फंसे हुए हैं, परतन्त्र हैं।[४५] "वे धर्म-रहित हैं"—ऐसा सोच उनसे दूर रहे।[४६] अन्तिम सांस तक[४७] (सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि) गुणों की आराधना करे।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण :

# अध्ययन ४ : असंस्कृत

### १. सांधा नहीं जा सकता (असंखयं)

जिसका संस्कार किया जा सके, सांधा जा सके, बढ़ाया जा सके, उसको संस्कृत कहा जाता है। जीवन असंस्कृत होता है—न उसको सांधा जा सकता है और न बढ़ाया जा सकता है। यह जीवन की सचाई है। नेमिचन्द्र ने यहां एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है[1]—

*'वासाइं दो व तिन्नि व, वाहिज्जइ जरघरं पि सीडेवि।*
*सा का वि नत्थि नीई, सीडिज्जइ जीवियं जीए।।'*

सड़े-गले घर की मरम्मत कर दो-चार वर्ष उसमें रहा जा सकता है। किंतु ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे टूटे हुए जीवन को सांधा जा सके।

### २. प्रमाद मत करो (मा पमायए)

इसका अर्थ है—जीवन असंस्कृत है और आयुष्य अल्प है। प्रस्तुत श्लोक की रचना में 'मप्पमाउयं' का लिपि-विपर्यय के कारण 'मा पमायए' बना है, अथवा 'मा पमायए' ही मूल पाठ है, यह अन्वेषणीय है। प्रकरण की दृष्टि से 'मप्पमाउयं' पाठ अधिक प्रासंगिक है।

### ३. बुढ़ापा आने पर (जरोवणीयस्स)

जो व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि धर्म तो बुढ़ापे में कर लेंगे, वे भ्रम में जीते हैं। उन्हें सोचना चाहिए[2]—

*'जया य रूवलावण्णं सोहग्गं च विणासए।*
*जरा विडंबए देहं, तया को सरणं भवे ?'*

'बुढ़ापा रूप, लावण्य और सौभाग्य को नष्ट कर देता है। वह शरीर की विडंबना करता है। तब भला वह शरण कैसे हो सकता है ?'

*'रसायणं निसेवंति, मंसं मज्जरसं तहा।*
*भुंजंति सरसाहारं, जरा तहवि न नस्सए।।'*

लोग रसायनों का सेवन करते हैं ; मद्य, मांस, रस, सरस आहार आदि खाते हैं, फिर भी बुढ़ापा नहीं रुकता।

### ४. पापकारी प्रवृत्तियों से (पावकम्मेहि)

चूर्णि में पाप-कर्म का अर्थ—हिंसा, अनृत, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि कर्म—किया है।[3] शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'पाप के उपादान-भूत अनुष्ठान'[4] और नेमिचन्द्र ने 'कृषि, वाणिज्य आदि अनुष्ठान'[5] किया है।

### ५. मूर्च्छा के पाश से (पास)

चूर्णि और बृहद्वृत्ति में 'पास' का मुख्य अर्थ—पश्य 'देख' किया गया है। बृहद्वृत्ति में इसका वैकल्पिक अर्थ 'पाश' भी है।[6] नेमिचन्द्र ने इसे 'पाश' शब्द माना है।[7] उन्होंने दो प्राचीन श्लोक उद्धृत किए हैं—

*वारी गयाण जालं तिमीण हरिणाण वग्गुरा चेव।*
*पासा य सउणयाणं, णराण बंधत्थमित्थीओ।।१।।*
*उन्नयमाणा अक्खलिय-परक्कमा पंडिया कई जे य।*
*महिलाहिं अंगुलीए, नच्चाविज्जंति ते वि नरा।।२।।*

हाथी के लिए वारि—शृंखला, मछलियों के लिए जाल, हिरणों के लिए वागुरा और पक्षियों के लिए पाश जैसे बन्धन है, उसी प्रकार मनुष्यों के लिए स्त्रियां बन्धन हैं। उन्नत और अस्खलित पराक्रम वाले पण्डित और कवि भी महिलाओं की अंगुलियों के संकेत पर नाचते हैं।

### ६. वैर से बंधे हुए व्यक्ति (वेराणुबुद्धा)

'वेरे वज्जे य कम्मे य'—इस वचन के अनुसार वैर के दो अर्थ होते हैं—वज्र और कर्म। यहां इसका अर्थ कर्म है। शान्त्याचार्य के अनुसार 'वेराणुबद्ध' का अर्थ 'कर्म से बद्ध'[8] और नेमिचन्द्र के अनुसार 'पाप से बद्ध'[9] होता है।

### ७. सेंध लगाते हुए (संधिमुहे)

इसका शाब्दिक अर्थ है—सेंध के द्वार पर।[10] चूर्णिकार और टीकाकारों ने अनेक प्रकार की सेंध बतलाई हैं—कलशाकृति, नंद्यावर्ताकृति, पद्माकृति, पुरुषाकृति आदि-आदि।[11]

शूद्रक द्वारा लिखित संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिक' (३।१३)

---

१. सुखबोधा, पत्र ७८।
२. सुखबोधा, पत्र ७६।
३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११० : पातयते तमिति पापं, क्रियत इति कर्म, कर्म्माणि हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहादीनि।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र २०६ : 'पापकर्मभिः' इति पापोपादानहेतुभिरनुष्ठानैः।
५. सुखबोधा, पत्र ८० : 'पापकर्मभिः' कृषिवाणिज्यादिभिः अनुष्ठानैः।
६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११० : पस्सति श्रोतुरामंत्रणम्।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २०६ : 'पश्य' अवलोकय...यदि वा पाशा इव पाशा।
७. सुखबोधा, पत्र ८० : पाशा इव पाशाः।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र २०६ : वैरं-कर्म्म...तेन अनुबद्धाः—सततमनुगताः।
९. सुखबोधा, पत्र ८० : वैरानुबद्धाः —पापेन सततमनुगताः।
१०. बृहद्वृत्ति, पत्र २०७ : संधिः—क्षत्रं तस्य मुखमिव मुखं-द्वारं तस्मिन्।
११. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ट १११ : खत्ताणि य अणेगागाराणि कलसागिति-णंदियावत्त-संट्ठितं (ताणि) पयुमामि (सुमागि) ति पुरिसाकिति वा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २०७।
(ग) सुखबोधा, पत्र ८१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में सात प्रकार की सेंध बतलाई गई हैं—पद्म (कमल) के आकार की, सूर्य के आकार की, अर्द्धचन्द्र के आकार की, जलकुंड के आकार की, स्वस्तिक के आकार की, उभरे बर्तन (पूर्णकुम्भ) के आकार की और आयताकार।

इस प्रसंग पर चूर्णि (पृष्ठ ११०, १११), बृहद्वृत्ति (पत्र २०७, २०८) और सुखबोधा (पत्र ८१, ८२) में दो कथाओं का उल्लेख हुआ है।

दोनों कथाएं इस प्रकार हैं—

१. एक नगर में एक कुशल चोर रहता था। वह नाना प्रकार की सेंध लगाने में निपुण था। एक बार वह एक अभेद्य घर में कपिशीर्षक (कोंगरेवाली) सेंध लगा रहा था। इतने में ही घर का स्वामी जाग गया। वह सेंध की ओर देखने लगा। चोर ने सेंध लगाने का कार्य पूरा कर, उसमें अपने दोनों पैर डाले। घर का स्वामी सचेत था। उसने उसके दोनों पैर बलपूर्वक पकड़ लिए। चोर ने बाहर खड़े साथी चोर से कहा—भीतर मेरे पैर पकड़ लिए हैं। तुम जोर लगाकर मुझे बाहर खींच लो। साथी चोर ने वैसा ही करना प्रारम्भ किया। भीतर और बाहर दोनों ओर से इसकी खिंचाई होने लगी। उस सेंध के कंगरू तीखे थे। बार-बार की खिंचाई से सारा शरीर लहुलूहान हो गया। छोड़ा दोनों ने नहीं। वह विलाप करता हुआ मर गया।

२. एक चोर घर के पिछवाड़े में सेंध लगाकर एक धनाढ्य व्यक्ति के घर में घुसा। घर के सभी सदस्य निद्राधीन थे। उसने मनचाहा धन चुराया और उसी सेंध से बाहर निकल कर घर आ गया। रात बीती। प्रभात हुआ। उसने स्नान कर नए कपड़े पहने और उसी घर के समीप आ उपस्थित हुआ। वह जानना चाहता था कि लोग उस सेंध के विषय में क्या कहते हैं? वे उसे (चोर को) पहचान पाते हैं या नहीं? यदि पहचान नहीं पाएंगे तो मैं पुनः पुनः चोरी करूंगा। वह सेंध के स्थान पर आया। वहां भीड़ एकत्रित हो गई थी। सभी सेंध लगाने वाले की निपुणता पर आश्चर्य व्यक्त कर रहे थे। वे कहने लगे—अरे! इस घर पर चढ़ना अत्यन्त कठिन है। चोर इस पर कैसे चढ़ा? कैसे उसने पीछे की दीवार पर सेंध लगाई? ओह! इस छोटी-सी सेंध में होकर वह भीतर कैसे गया और धन की पोटली के साथ फिर इस छोटे सेन्ध-द्वार से कैसे निकला? चोर सुन रहा था। उसने अपनी कमर और पेट की ओर देखा। फिर देखा उस छोटी-सी सेंध की ओर। दो गुप्तचर वहां खड़े थे। वे इसकी सारी गतिविधियों पर ध्यान रख रहे थे। वे तत्काल आए और उसका निग्रह कर राजा के पास ले गए। उसने चोरी की बात स्वीकार की। राजा ने उसे दंडित कर कारावास में डाल दिया।

प्रस्तुत कथा में चोर अपने द्वारा लगाई गई सेंध की प्रशंसा सुनकर हर्षातिरेक से संयम न रखने के कारण पकड़ा जाता है। इस कथा की तुलना 'मृच्छकटिक' (३।१३) में आई हुई कथा से होती है। उसमें चारुदत्त की विशाल हवेली की दीवार के निकट खड़ा निष्णात चोर 'शर्विलक' सोच रहा है—'तरुलता से आच्छादित इस भित्ति में सेंध कैसे लगाई जाए? सेंध देखने के बाद लोग विस्मयाभिभूत हो उसकी प्रशंसा न करें तो मेरी सेंध लगाने की विशेषता ही क्या हुई?'

## ८. (वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते)

व्यक्ति धन कमाता है, पर वह उसके लिए त्राण नहीं बनता। धन सुख-सुविधा दे सकता है, पर शरण नहीं। व्याख्याग्रंथों में एक कथा है—

इन्द्रमह उत्सव का आयोजन था। राजा ने अपने नगर में घोषणा करवाई कि आज नगर के सभी पुरुष गांव के बाहर उद्यान में एकत्रित हो जाएं। कोई भी पुरुष नगर के भीतर न रहे। यदि कोई रहेगा तो उसे मौत का दंड भोगना पड़ेगा। सभी पुरुष नगर के बाहर एकत्रित हो गए। राजपुरोहित का पुत्र एक वेश्या के घर में जा छुपा। राज्य कर्मचारियों को पता लगा और वे वेश्या के घर से पकड़ कर ले गए। वह राजपुरुषों के साथ विवाद करने लगा। वे उसे राजा के समक्ष ले गए। राजाज्ञा की अवहेलना के जुर्म में राजा ने उसे मृत्युदंड दिया। पुरोहित राजा के समक्ष उपस्थित होकर बोला—राजन्! मैं अपना सर्वस्व आपको दे देता हूं। आप मेरे इकलौते पुत्र को मुक्त कर दें। राजा ने उसकी बात स्वीकार नहीं की और पुरोहित पुत्र को शूली पर चढ़ा दिया।[1]

जो धन यहां भी त्राण नहीं दे पाता, वह परलोक में त्राण कैसे बनेगा?

आचार्य नेमिचन्द्र ने वित्त—धन के परिणामों की चर्चा करते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है—[2]

***'मोहाययणं मयकामवद्धणो जणियचित्तसंतावो।***
***आरंभकलहहेऊ दुक्खाण परिग्गहो मूलं।।'***

परिग्रह मोह का आयतन, अहंकार और कामवासना को बढ़ाने वाला, चित्त में संताप पैदा करने वाला, हिंसा और कलह का हेतु तथा दुःखों का मूल है।

## ९. अन्धेरी गुफा में जिसका दीप बुझ गया हो (दीवप्पणट्ठे)

निर्युक्तिकार ने प्राकृत के अनुसार 'दीव' के दो अर्थ किए हैं—आश्वास-द्वीप और प्रकाश-दीप। जिससे समुद्र में निमग्न मनुष्यों को आश्वासन मिलता है उसे 'आश्वास-द्वीप' और जो अन्धकार में प्रकाश फैलाता है, उसे 'प्रकाश-दीप' कहा जाता है। आश्वास-द्वीप के दो भेद हैं—संदीन और असंदीन। जो जल-प्लावन आदि से नष्ट हो जाता है, उसे 'संदीन' और जो नष्ट नहीं होता उसे 'असंदीन' कहते हैं।[3] चूर्णिकार के अनुसार असंदीन द्वीप विस्तीर्ण और ऊंचा होता है।

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २११।
२. सुखबोधा, पत्र ८३।
३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २०६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे—कोंकण देश का द्वीप।[1]

प्रकाश-दीप के दो भेद हैं—संयोगिम और असंयोगिम। जो तैल, वर्ति आदि के संयोग से प्रदीप्त होता है वह 'संयोगिम' कहलाता है और सूर्य, चन्द्र आदि के बिम्ब 'असंयोगिम' कहलाते हैं।[2]

यहां प्रकाश-दीप अभिप्रेत है। कई धातुवादी धातु प्राप्ति के लिए भूगर्भ में गए। दीप, अग्नि और ईंधन उनके पास थे। प्रमादवश दीप बुझ गया, अग्नि भी बुझ गई। अब वे उस गहन अन्धकार में उस मार्ग को नहीं पा सके, जो पहले देखा हुआ था। वे भटक गए। एक स्थान पर महान् विषधर सर्प थे। वे धातुवादी वहां जा निकले। सर्पों ने उन्हें डसा। वे वहीं एक गढ़े में गिरे और तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो गए।[3]

सरपेन्टियर शान्त्याचार्य के दीप परक अर्थ को गलत मानते हैं।[4]

किन्तु शान्त्याचार्य ने निर्युक्तिकार के मत का अनुसरण कर 'दीव' शब्द के सम्भावित दो अर्थों की जानकारी दी है। उनमें प्रस्तुत अर्थ प्रकाश-दीप को ही माना है—अत्र च प्रकाशदीपेनाधिकृतम्।[5]

## १०. (श्लोक १—५)

प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम पांच श्लोकों में भगवान् महावीर के अपरिग्रह के दृष्टिकोण की व्याख्या मिलती है। संग्रह की व्यर्थता को बतलाने के लिए उन्होंने महत्त्वपूर्ण पांच सूत्र दिए। वे ये हैं—

१. जीवन स्वल्प है। वह सांधा नहीं जा सकता, फिर इतने छोटे से जीवन के लिए इतना संग्रह क्यों?
२. अशुद्ध साधनों से, पापकारी प्रवृत्तियों से धन का उपार्जन या संग्रह दुःख या दुर्गति का हेतु है।
३. कृत कर्मों से प्राणी छेदा जाता है—दंडित होता है। किए हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।
४. व्यक्ति परिवार के लिए कर्म करता है, परन्तु कर्मों के फलभोग के समय पारिवारिक जन उसका हिस्सा नहीं बंटाते, उसको अकेले ही फल भोगना पड़ता है।
५. धन त्राण नहीं दे सकता।

इन हेतुओं को सामने रखकर संग्रह की व्यर्थता का अंकन किया जा सकता है।

## ११. (सुत्तेसु)

सुप्त शब्द में उन दोनों का समावेश होता है, जो सोया हुआ हो और जो धर्माचरण के लिए जागृत न हो।[6]

## १२. जागृत रहे (पडिबुद्धजीवी)

प्रतिबुद्ध शब्द में उन दोनों का समावेश होता है—'जो नींद में न हो, और जो धर्माचरण के लिए जागृत हो।'

प्रतिबोध का अर्थ है—जागरण। वह दो प्रकार का है—(१) निद्रा का अभाव और (२) धर्माचरण और सत्य के प्रति जागरूकता। जिनकी चेतना द्रव्यतः सघन निद्रा के द्वारा और भावतः मूर्च्छा के द्वारा प्रसुप्त है, उनका विवेक जागृत नहीं होता। जो व्यक्ति दोनों अवस्थाओं में जागता है, वह प्रतिबुद्धजीवी है। वह पूरा जीवन जागरण का जीवन जीता है।[7]

दशवैकालिक सूत्र में प्रतिबुद्धजीवी की परिभाषा उपलब्ध है[8]—

(१) जो मन, वचन और काया की दुष्प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखने में सक्षम होता है।
(२) जो धृतिमान् होता है।
(३) जो संयमी और जितेन्द्रिय होता है।

उत्तराध्ययन की चूर्णि के अनुसार प्रतिबुद्धजीवी वह है जो कषायों और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चलता है।[9]

निद्रा—अजागरूकता के प्रतिषेध के लिए व्याख्या-ग्रन्थों में 'अगडदत्त' का उदाहरण दिया गया है। चूर्णि में इस कथानक का रूप अत्यन्त संक्षिप्त है।[10] बृहद्वृत्तिकार ने प्राकृत गद्य में कथानक प्रस्तुत किया है[11] और सुखबोधा में यह कथानक ३२८ गाथाओं में निबद्ध है।[12]

### कथा का सार संक्षेप

अगडदत्त एक रथिक का पुत्र था। बाल्य अवस्था में ही पिता का वियोग हो गया। वह वयस्क होकर कौशंबी नगरी में शस्त्र-विद्या सीखने गया। वहां एक निपुण शस्त्राचार्य के पास शस्त्रविद्या में निपुण हो, अपनी निपुणता का प्रदर्शन करने राजकुल में गया। राजा और सभी सभासद् उसकी दक्षता पर मुग्ध होकर उसे नगर रक्षा का भार सौंप दिया।

सारा जनपद एक चोर की हरकतों से संत्रस्त हो रहा था। राजा ने नगर रक्षक अगडदत्त को चोर को पकड़ लाने का काम सौंपा। वह राजकुल से चोर को पकड़ने निकला। वह एक उद्यान

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. ११४-११५ : जो पुण सो विच्छिण्णात्तणेण उस्सित्तणेण य जलेण ण छादेज्जति सो जीतिवत्थीणं त्राणाय, असंदीणो दीवो जह कोंकणदीवो।
२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २०७।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र २१२, २१३।
४. The Uttaradyayana Sutra, P.295 : दीवप्पणट्ठे is a composition of which the two parts have a wrong position one to the other : the word ought to be प्रणष्टदीपः But S also thinks it possible to explain दीव० by द्वीप–I think that would give a rather bad sense.
५. बृहद्वृत्ति, पत्र २१२।
६. वही, पत्र २१३ : सुत्तेषु—द्रव्यतः शयानेषु भावतस्तु धर्म्मं प्रत्यजाग्रत्सु।
७. वही, पत्र २१३।
८. दशवैकालिक, चूलिका २।१४,१५।
९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ ११६ : प्रतिबुद्धजीवनशील : प्रतिबुद्धजीवी, ण विस्ससेज्ज कसायिंदिएसु।
१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ ११६।
११. बृहद्वृत्ति, पत्र २१३-२१६।
१२. सुखबोधा, पत्र ८४-९४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में, एक सघन वृक्ष के नीचे विश्राम के लिए बैठा और उपाय की चिंता करने लगा। इतने में ही एक परिव्राजक उसी वृक्ष की छांह में आकर बैठा। अगडदत्त को उस व्यक्ति के चोर होने का संदेह हुआ। परिव्राजक और अगडदत्त—दोनों परस्पर बातचीत करने लगे। अगडदत्त बोला—भगवन्! मैं अत्यंत दरिद्र हूं। खाने-पीने के लिए भी कुछ नहीं है। परिव्राजक ने कहा—मेरे साथ रहो। मैं तुम्हें आजीविका दूंगा। अब वह परिव्राजक के साथ छांया की भांति रहने लगा।

वास्तव में परिव्राजक ही दुर्धर्ष चोर था। वह उस रात्री में अगडदत्त के साथ एक धनवान् के घर चोरी करने गया। अपार धन-संपत्ति चुरा, वह एक यक्ष मंदिर से पांच-सात व्यक्तियों को लेकर आया। सभी उस धन-संपत्ति के साथ नगर के बाहर आए। परिव्राजक ने कहा—अभी नगर के इस बाह्य उद्यान में हम सभी विश्राम करें, फिर आगे चलेंगे। सभी सो गए। अगडदत्त और परिव्राजक जागते हुए अपनी शय्या पर सोए रहे। दूसरे सभी व्यक्ति गाढ़ निद्रा में लीन हो गए। अगडदत्त परिव्राजक की आंख चुरा एक वृक्ष की ओट में जा छुपा। इधर परिव्राजक उठा। उसने सोए हुए उन सभी व्यक्तियों पर घोर प्रहार कर मौत के घाट उतार दिया। अगडदत्त को बिछौने पर न देखकर खोज में निकला। उसको एक वृक्ष की ओट में देखा और उस पर प्रहार करने झपटा। अगडदत्त सावधान था। उसने उसके कंधे पर बलपूर्वक प्रहार किया। चोर मूर्च्छित हो गिर पड़ा। कुछ चेतना आने पर वह बोला—"वत्स! तुम मेरे घर जाकर इस तलवार को दिखाना। वहां मेरी बहिन तुम्हें पति रूप में स्वीकार कर लेगी। इतना कह उसने वहीं प्राण छोड़ दिए।"

अगडदत्त उसके घर गया। तलवार को देखते ही बहिन जान गई कि यह मेरे भाई का हत्यारा है। उसने बदला लेने, उसे मारने का उपाय किया। पर अगडदत्त सावधान था। उसने उसकी चाल सफल नहीं होने दी। वह उसे लेकर राजघर में गया। राजा ने बहुत पारितोषिक देकर उसका सम्मान किया।

## १३. काल बड़ा घोर (क्रूर) होता है (घोरा मुहुत्ता)

इन शब्दों द्वारा यह संकेत किया गया है कि प्राणी की आयु अल्प होती है और मृत्यु का काल अनियमित होता है, न जाने कब वह आ जाए और प्राणी को उठा ले जाए।

यहां 'मुहूर्त्त' शब्द से समस्त काल का ग्रहण किया गया है। प्राणी की आयु प्रतिपल क्षीण होती है—इस अर्थ में काल प्रतिपल जीवन का अपहरण करता है इसीलिए उसे घोर-रौद्र कहा है।[1]

## १४. भारण्ड पक्षी (भारुंडपक्खी)

जैन-साहित्य में 'अप्रमत्त अवस्था' को बताने के लिए इस उपमा का प्रयोग अनेक स्थलों में किया गया है।

कल्पसूत्र में भगवान् महावीर को—'भारंडपक्खी इव अप्पमत्ते'—भारंड पक्षी की भांति अप्रमत्त कहा गया है। चूर्णि और टीकाओं के अनुसार ये दो जीव संयुक्त होते हैं। इन दोनों के तीन पैर होते हैं। बीच का पैर दोनों के लिए सामान्य होता है और एक-एक पैर व्यक्तिगत। वे एक-दूसरे के प्रति बड़ी सावधानी बरतते हैं, सतत जागरूक रहते हैं।[2]

छट्ठी शताब्दी की रचना वसुदेवहिण्डी नामक ग्रन्थ (पृ० २४६) में भारंड पक्षी का वर्णन देते हुए लिखा है—ये पक्षी रत्नद्वीप से आते हैं। इनका शरीर बहुत विशाल होता है और ये बाघ, रीछ आदि विशालकाय जानवरों का मांस खाते हैं।

कल्पसूत्र की किरणावली टीका में भारंड पक्षी का चित्रण निम्न प्रकार से किया गया है—

***द्विजिह्वा द्विमुखाश्चैकोदरा भिन्नफलैषिणः।***

पंचतंत्र के अपरीक्षित कारक में भारंड पक्षी से सम्बन्धित कथा का उल्लेख हुआ है। उसका प्राग्वर्ती श्लोक यह है—

***एकोदराः पृथग्ग्रीवा, अन्योन्यफलभक्षिणः।***
***असंहता विनश्यन्ति, भारंडा इव पक्षिणः॥***

एक सरोवर के तट पर भारण्ड पक्षी का एक युगल रहता था। एक दिन दोनों पति-पत्नी भोजन की खोज में समुद्र के किनारे-किनारे घूम रहे थे। उन्होंने देखा समुद्र की तरंगों के वेग से प्रवाहित होकर अमृत फलों का एक समूह तट पर विस्तीर्ण पड़ा है। उनमें से बहुत सारे फलों को नर भारण्ड पक्षी खा गया और उनके स्वाद से तृप्त हो गया। इसके मुख से फलों के स्वाद को सुनकर दूसरे मुख ने कहा—अरे भाई! यदि इन फलों में इतना स्वाद है तो मुझे भी कुछ चखाओ, जिससे कि यह दूसरी जीभ भी उस स्वाद के सुख का तनिक अनुभव कर सके। यह सुनकर भारण्ड पक्षी ने कहा—हम दोनों का पेट एक है। इसलिए एक मुख से खाने पर भी दूसरे को तृप्ति हो ही जाती है। इसलिए और खाने से क्या लाभ? परन्तु फलों का जो अवशिष्ट भाग है, वह मादा भारण्ड पक्षी को दे देना चाहिए ताकि वह भी उसका स्वाद ले सके। अवशिष्ट फल स्त्री को दे दिए गए। परन्तु दूसरे मुंह को यह उचित नहीं लगा। वह सदा उदासीन रहने लगा और येन-केन प्रकारेण इसका बदला लेना चाहा। एक दिन संयोगवश दूसरे मुख को एक विष-फल मिल गया। उसने अमृत-फल खाने वाले मुंह से कहा—अरे अधर्म और निरपेक्ष! मुझे आज विष-फल मिला है। अब मैं अपने अपमान का बदला लेने के लिए इसे खा रहा हूं। यह सुनकर पहला मुंह बोला—अरे मूर्ख! ऐसा मत कर। ऐसा करने से हम दोनों मर जायेंगे। परन्तु वह नहीं माना और अपमान का बदला लेने के लिए विष-फल खा गया।

---

१. सुखबोधा, पत्र ६४ : घोराः-रौद्राः सततमपि प्राणिनां प्राणापहारित्वात् मुहूर्त्ताः—कालविशेषाः, दिवसाद्युपलक्षणमेतत्।

२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ ११७।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २१७।
(ग) सुखबोधा, पत्र ६४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विष के प्रभाव से दोनों मर गए।

इस पक्षी के लिए भारंड, भारुण्ड और भेरुंड—ये तीन शब्द प्रचलित हैं। आचार्य हेमचन्द्र की देशीनाममाला में भारुण्ड का नाम भोरुड है—भारुंडयम्मि भोरुडओ (६।१०८)। उनकी अनेकार्थक नाममाला (३।७७३) में "भेरुण्डो भीषण खगः[1]—भेरुण्डः खगः पक्षी, यथा—विसंहिता विनश्यंति, भेरुण्डा इव पक्षिणः"—यह उल्लेख मिलता है।

वसुदेवहिण्डी में एक कथा है—

कई एक बनजारे व्यापार के लिए एक साथ निकले। प्रवास करते-करते वे अजपथ[1] नामक देश में आ पहुंचे। वहां पहुंचकर वे सभी व्यापारी 'वज्रकोटि संस्थित' नामक पर्वत को लांघकर आगे निकल गए। परन्तु अति शीत के कारण बकरे कांपने लगे। उनकी आंखों पर से पट्टियां हटा ली गईं और बाद में जिन पर बैठकर यहां आए थे उन सभी बकरों को मारकर उनकी चमड़ी से बड़ी-बड़ी मसकों का निर्माण किया। तदनन्तर रत्नद्वीप जाने के इच्छुक व्यापारी इन मसकों में एक-एक छुरा लेकर बैठ गए और अन्दर से उन्हें बन्द कर लिया।

उस पर्वत पर भक्ष्य की खोज में भारंड पक्षी आए और इन मसकों को मांस का लोंदा समझकर उठा ले गए। रत्नद्वीप में नीचे रखते ही अन्दर बैठे हुए व्यापारी छुरे से मसक को काटकर बाहर निकल गए। तदनन्तर वहां से यथेष्ट रत्नों का गट्ठर बांधकर पुनः मसक में आ बैठे। भारंड पक्षियों ने उन मसकों को पुनः उस पर्वत पर ला छोड़ दिया।

प्राप्त सामग्री के आधार पर यह भारंड पक्षी का संक्षिप्त परिचय है। प्राचीन काल में ये पक्षी यत्र-तत्र गोचर होते थे परन्तु आजकल उनका कोई इतिवृत्त नहीं मिलता। अभी-अभी कुछ वर्ष पूर्व हमने एक पत्र में पढ़ा कि एक दिन एक विशालकाय पक्षी आकाश से नीचे उतर रहा था। उसकी गति से उठी हुई आवाज हवाई जहाज की आवाज जैसी थी। ज्यों ही वह जमीन के पास आया, त्यों ही वहां खड़े कई पशु (व्याघ्र, सिंह आदि) स्वतः उसकी ओर खिंच गए और वह उन्हें खा गया।

## १५. थोड़े से दोष को भी (जं किंचि)

'यत् किंचित्' का प्रासंगिक अर्थ थोड़ा सा प्रमाद या दोष है। दुश्चिन्तित, दुर्भाषित और दुष्कार्य—ये सब प्रमाद है। जो दुश्चिन्तन करता है वह भी बन्ध जाता है। जो दुश्चिन्तन कर उसे क्रियान्वित करता है, वह तो अवश्य ही बन्धता है। इसलिए यत् किंचित् प्रमाद भी पाश है—बन्धन है।[2] शान्त्याचार्य ने 'यत् किंचित्' का मुख्य आशय गृहस्थ से परिचय करना और गौण आशय प्रमाद किया है।[3]

## १६. नए-नए गुण की उपलब्धि हो... पोषण दे (लाभंतरे जीविय बूहइत्ता)

चूर्णिकार ने 'लाभंतरे' का अर्थ—लाभ देने वाला किया है।[4] बृहद्वृत्ति में लाभ का अर्थ अपूर्व उपलब्धि और 'अन्तर' का अर्थ विशेष किया है। इसका तात्पर्य है विशिष्ट-विशिष्टतर ज्ञान, दर्शन और चारित्र के गुणों की उपलब्धि।[5]

वेन्नाकतट नगर में मंडिक नाम का जुलाहा रहता था। वह दूसरों के धन का अपहरण कर अपनी आजीविका चलाता था। वह अपने पैरों पर पट्टी बांधे राजमार्ग पर कपड़े बुनता। लोगों के पूछने पर कहता—मेरे पांव पर भयंकर विषफोड़ा हुआ है। वह हाथ में लाठी लिए, लंगड़ाता हुआ चलता। रात में वह घरों में सेंध लगाकर चोरी करता और गांव के निकट एक भूमिघर में उस धन को एकत्रित कर रखता। वहां उसकी बहिन रहती। उस भूमिघर के मध्य में एक गहरा कुंआ था। चोर मंडिक अपने द्वारा चुराए गए धन को उठाकर लाने वाले भारवाहकों के साथ वहां आता। उसकी बहिन उनका आतिथ्य करने के बहाने कुए पर पहले से बिछे हुए आसन पर उन्हें बिठाती और वे सारे उस अंधकूप में गिर कर मर जाते।

सारा नगर चोर से संत्रस्त था। चोर पकड़ में नहीं आ रहा था। नगर के सभ्रान्त व्यक्ति मिलकर राजा मूलदेव के पास गए। चोर की बात कही। राजा ने चिन्ता व्यक्त करते हुए उनको आश्वस्त करने दूसरे नगर-रक्षक की नियुक्ति की। वह भी चोर को पकड़ने में असफल रहा। तब राजा स्वयं काले वस्त्र पहनकर चोर की टोह में रात में निकला। वह एक सभा में जा बैठा। कोई भी उसे पहचान नहीं सका। इतने में मंडिक चोर ने वहां आकर पूछा—कौन हो तुम ? मूलदेव बोला—भैया ! मैं तो कार्पटिक हूं। मंडिक ने कहा—चलो मेरे साथ। मैं कुछ मजदूरी दूंगा। वह उठा। मंडिक आगे-आगे चल रहा था और वह गुप्तवेशधारी राजा उसके पीछे-पीछे। मंडिक एक धनी व्यक्ति के घर पहुंचा, सेंध लगाई और बहुत सारा धन चुराकर गठरियां बांधीं और कार्पटिक के सिर पर सारी गठरियां रखकर गांव से बाहर आया। उस भूमिघर के पास आकर इस चोर ने सारी गठरियां नीचे उतारीं और अपनी बहिन को पुकार कर कहा—इस अतिथि का सत्कार करो। मंडिक अन्यत्र चला गया। भगिनी ने इस अतिथि को देखा। इसके लावण्य और मुखच्छवि को

---

१. वह देश जहां बकरों पर प्रवास किया जाता है। उस देश में बकरों की आंखों पर पट्टी बांधकर सवारी की जाती है।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ ११७ : जंकिंचि अप्पणा पमादं पासति दुच्चिंतितादि, दुव्विचिंतिएणावि बज्झति, किं पुण जो चिंतित्तु कम्मुणा सफलीकरोति, एवं दुब्भासितदुच्चिंतितादि जं किंचि पासं।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २१७ : यत्किंचिद् 'गृहस्थसंस्तवाद्यल्पमपि.....जं किंचि' त्ति यत्किंचिदल्पमपि दुश्चिन्तितादि प्रमादपदं मूलगुणादिमालिन्यजनकतया बन्धहेतुत्वेन।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ ११७ : लाभंप्रयच्छतीति लाभान्तरं।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र २१७ : लम्भनं लाभः—अपूर्वार्थप्राप्तिः, अन्तरं-विशेषः, .. यावद् विशिष्ट विशिष्टतर-सम्यगज्ञानदर्शनचारित्रावाप्तिः...।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखकर उसने सोचा, यह कोई राजघराने का व्यक्ति है। बेचारा व्यर्थ ही मारा जाएगा। उसके मन में करुणा जागी। वह बोली—भद्र! यहां से भाग जाओ, अन्यथा मारे जाओगे। मूलदेव वहां से भाग गया। उस लड़की ने चिल्लाकर कहा—अरे, दौड़ो, दौड़ो, वह भाग गया है। मंडिक चोर ने यह सुना। वह नंगी तलवार हाथ में ले पीछे भागा। पर वह नहीं मिला। मूलदेव जाते-जाते एक शिवमंदिर में जा छुपा। चोर ने शिवलिंग को मनुष्य समझकर उस पर प्रहार कर भूमिघर पर आ गया। प्रभातकाल में वह राजपथ पर गया और कपड़े बुनने के काम में लग गया। राजपुरुषों ने उसे पकड़ कर राजा मूलदेव के समक्ष उपस्थित किया। राजा ने उसको ससम्मान आसन दिया और कहा—तुम अपनी बहिन का विवाह मेरे साथ कर दो। विवाह संपन्न हुआ। राजा ने उसको प्रचुर भोग सामग्री दी। कुछ दिन बीते। एक दिन राजा ने उससे कहा—मुझे अभी कुछ चाहिए। चोर ने अपने भंडार से धन ला दिया। फिर कुछ धन मंगाया। इस प्रकार चोर का सारा धन मंगा लिया। राजा ने उसकी बहिन से पूछा—इसके पास और कितना धन है? बहिन बोली—अब रिक्त हो गया है। तब राजा ने इस मंडिक चोर को शूली पर लटका दिया।

राजा को जब तक उस चोर से धन मिलता रहा तब तक वह उसका भरण-पोषण करता रहा। जब धन मिलना बंद हो गया तब उसको मार डाला।

बृहद्वृत्ति (पत्र २१८-२२२) में यह कथा विस्तार से प्राप्त है।

## १७. विचार-विमर्श पूर्वक (परिन्नाय)

परिज्ञा का अर्थ है—सभी प्रकार से जानकर। परिज्ञा के दो प्रकार हैं—ज्ञ-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा। व्यक्ति ज्ञ-परिज्ञा से जान लेता है कि अब मैं पूर्व की भांति ज्ञान, दर्शन और चारित्र के गुणों की विशिष्ट प्राप्ति करने में असमर्थ हूं, निर्जरा भी कम हो रही है क्योंकि शरीर क्षीण है। इस बुढ़ापे से जीर्ण और रोगों से आक्रान्त है, अतः अब धर्माराधना भी नहीं हो रही है। यह जानकर वह संलेखना करता है और अन्त में यावज्जीवन अनशन कर शरीर को त्याग देता है।

## १८. इस शरीर का ध्वंस (मलावधंसी)

यहां 'मल' का अर्थ है शरीर। यह मलों का आश्रय होता है अतः इसका लाक्षणिक नाम 'मल' है। चूर्णिकार ने 'मल' का अर्थ 'कर्म'[1] और बृहद्वृत्तिकार ने इसका मूल अर्थ कर्म और वैकल्पिक अर्थ शरीर दिया है।[2] शरीर अर्थ ही यहां प्रासंगिक है।

## १९. (श्लोक ७)

प्रस्तुत श्लोक में अनशन की सीमा का निरूपण किया गया है। प्रश्न होता है कि मुनि (या अन्य कोई) अनशन कब करे? सूत्रकार ने इसके समाधान में आयु-सीमा का कोई निर्धारण नहीं किया है और न ही रोग या नीरोग अवस्था का निर्देश दिया है। यहां एक भावात्मक सीमा का निर्देश है। जब तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र की नई-नई उपलब्धियां होती रहें, तब तक शरीर को धारण करना चाहिए। जब अपने शरीर से कोई विशिष्ट उपलब्धि न हो, उस अवस्था में संलेखना की आराधना कर अन्त में अनशन कर लेना चाहिए।

सूत्रकृतांग में आबाधा (बुढ़ापा या रोग) के होने या न होने—दोनों अवस्थाओं में अनशन की विधि का निर्देश मिलता है। यह निर्देश साधु और श्रमणोपासक—दोनों के लिए है।[3]

## २०. शिक्षित....अश्व (आसे जहा सिक्खिय.....)

अश्व दो प्रकार के होते हैं—प्रशिक्षित और अप्रशिक्षित। प्रशिक्षित अश्व अपने शिक्षक के अनुशासन में रहता है। वह उच्छृंखल नहीं होता। अप्रशिक्षित अश्व अपने सवार (अश्ववार) का अनुशासन नहीं मानता। वह उच्छृंखल होता है। व्याख्याकारों ने यहां एक कथानक प्रस्तुत किया है—

एक राजा ने दो कुलपुत्रों को दो अश्व दिए और कहा—इनको प्रशिक्षित करना है और समुचित भरण-पोषण भी करना है। एक कुलपुत्र अपने अश्व को धावन, प्लावन, वल्गन आदि अनेक कलाओं में पारंगत करता है और उसका उचित भरण-पोषण भी करता है। दूसरा कुलपुत्र सोचता है—राजकुल में इस अश्व के लिए इतना कुछ मिलता है, पर इसे क्यों खिलाया जाए? यह सोचकर वह उस अश्व को भूसा आदि खिलाता है और अपने अरहट पर जोतकर उससे काम कराता है। वह उसे प्रशिक्षित नहीं करता।

एक बार किसी शत्रु ने आक्रमण कर दिया। राजा ने उन दोनों कुलपुत्रों को अपने-अपने घोड़ों पर संग्राम में जाने का आदेश दिया। जो अश्व पूर्व-प्रशिक्षित था, वह अपने सवार का अनुशासन मानता हुआ संग्राम का पार पा गया। जो अप्रशिक्षित अश्व था, वह शत्रुओं के हाथ आ गया और कुलपुत्र बंदी बना लिया गया।[4]

## २१. पूर्व जीवन में (पुव्वाइं वासाइं)

पूर्व-परिमाण आयुष्यवालों के लिए 'पूर्व' और वर्ष-परिमाण आयुष्यवालों के लिए 'वर्ष' का उल्लेख हुआ है—ऐसा चूर्णिकार और वृत्तिकार का अभिमत है।[5] परन्तु विषय की दृष्टि से

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ ११७, ११८ : मलं अष्टप्रकारं।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २१८ : मलः-अष्टप्रकारं कर्म्म...यद्वा मलाश्रयत्वान्मलः—औदारिकशरीरं...।

३. सूयगडो, २।२।६७, ७३।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १२२; बृहद्वृत्ति, पत्र २२३; सुखबोधा पत्र ६६।

५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १२२ : पूरयंतीति पूर्वं, वर्षंतीति वर्षं, ताणि पुव्वाणि वासाणी, का भावना? पुव्वाउसो जया मणुया तदा पुव्वाणि, जदा वरिसायुसो तया वरिसाणि।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २२४ : पूर्वाणि वर्षाणीति च एतावदायुषामेव चारित्रपरिणतिरिति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'पुव्वाइं वासाइं' का अर्थ 'पूर्व जीवन के वर्ष' संगत लगता है।

## २२. पूर्व जीवन में (पुव्वमेवं)

'पुव्व' (पूर्व) का अर्थ है—पहले का जीवन। चूर्णिकार ने आठवें श्लोक के प्रसंग में एक प्रश्न उपस्थित किया है। शिष्य गुरु से पूछता है—भंते! कुछ क्षणों या दिनों तक अप्रमत्त रहा जा सकता है। जो पूर्वकाल (दीर्घकाल) तक अप्रमत्त रहने की बात कही जाती है, वह कष्टकर है, कठिन है। इसलिए जीवन के अन्तिम चरण में अप्रमत्त रहना ही श्रेयस्कर है।[1]

गुरु ने कहा—जो पहले जीवन में अप्रमादी नहीं होता, वह अन्त में अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि—

***'पुव्वमकारितजोगो पुरिसो, मरणे उवट्ठिते संते।***
***ण चइति व सहितुं जे अंगेहिं परीसहगिवादे।।'***

—जो मनुष्य पूर्वजीवन में समाधि को प्राप्त नहीं होता, वह मरणकाल में अपने प्रमाद को नहीं छोड़ सकता और अपने शिथिल शरीर से न परीषहों को ही सहन करने में सक्षम होता है।[2]

## २३. शाश्वतवादियों के लिए ही (सासयवाइयाणं)

प्रस्तुत चरण में शाश्वतवादी का प्रयोग आयुष्य के संदर्भ में हुआ है। आयुष्य दो प्रकार का है— सोपक्रम और निरुपक्रम। जिसमें अकाल-मृत्यु होती है, वह सोपक्रम आयुष्य है और जिसमें काल-मृत्यु होती है, वह निरुपक्रम आयुष्य है। शाश्वतवादी आयुष्य को निरुपक्रम मानते हैं। उनके अनुसार अकाल मृत्यु नहीं होती। वे ही लोग ऐसा मान सकते हैं—'स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा'—जीवन के प्रारम्भ में ही क्यों, धर्माचरण तो जीवन के अन्तकाल में किया जा सकता है। जो जीवन को पानी के बुदबुदे की भांति अस्थिर मानते हैं, वे ऐसा कभी नहीं सोच सकते।[3]

## २४. शरीरभेद (सरीरस्स भेए)

चूर्णिकार ने यहां एक कथा का उल्लेख किया है—एक राजा ने अपने राज्य में म्लेच्छों का आगमन जानकर पूरे जनपद में यह घोषणा करवाई कि नगर के सभी स्त्री-पुरुष दुर्ग में आ जाएं। वहां उनकी सुरक्षा होगी। कुछेक व्यक्ति तत्काल ही दुर्ग में आकर सुरक्षित हो गए। कुछेक व्यक्ति घोषणा के प्रति ध्यान न दे, अपने परिग्रह—धन, धान्य, मकान आदि में आसक्त होकर वहीं रह गए। देखते-देखते म्लेच्छ आए और वहां अवस्थित व्यक्तियों को मारकर उनका धन लूट ले गए। जो दुर्ग में थे, वे बच गए। म्लेच्छों के चले जाने पर वे आए और अपने स्वजनों को मरा देखकर तथा वैभव को नष्ट जानकर रोते-बिलखते रहे।[4]

## २५. विवेक को प्राप्त (विवेगमेउं)

विवेक का सामान्य अर्थ है—पृथक्करण। प्रस्तुत प्रसंग में उसका अर्थ है—आसक्ति का परित्याग और कषायों का परिहार।

सूत्रकार का अभिप्राय है कि कोई भी प्राणी विवेक को तत्काल प्राप्त नहीं कर सकता। कर्मों की क्षीणता होते-होते, पूरी सामग्री की उपलब्धि होने पर वह प्राप्त होता है। ऋषभ की जन्मदात्री मरुदेवा माता को तत्काल विवेक प्राप्त हो गया था। यह आपवादिक घटना है और इसे एक आश्चर्यकारी विशिष्ट घटना ही माना है। ऐसी तीव्र अभीप्सा विरलों में ही होती है। अतः इसे सामान्य नियम नहीं माना जा सकता। 'विवेक तत्काल हो नहीं सकता' इसको बताने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—

एक ब्राह्मण परदेश गया और वहां वेद की सभी शाखाओं का पारगामी होकर घर लौटा। एक दूसरे ब्राह्मण ने इसकी बहुश्रुतता से आकृष्ट होकर अपनी सुलालित-पालित पुत्री का विवाह इससे कर डाला। लोगों ने उसे प्रचुर दक्षिणा दी। धीरे-धीरे धन बढ़ा और वह धनाढ्य हो गया। इसने अपनी पत्नी के लिए स्वर्ण के आभूषण बनाए। वह सदा आभूषणों को पहने रहती। एक दिन ब्राह्मण बोला—हम इस सीमावर्ती गांव में रह रहे हैं। यहां चोरों का भय रहता है। तुम केवल पर्व दिनों में इन आभूषणों को पहनो तो अच्छा रहेगा, क्योंकि कभी चोर आ भी जाएं तो तुम इनकी सुरक्षा नहीं कर सकोगी। वह बोली—ठीक है। पर जब चोर आएंगे तब मैं इन्हें तत्काल उतार कर छुपा लूंगी। आप चिन्ता न करें।

एक बार उसी गांव में डाका पड़ा। लुटेरों ने इस ब्राह्मण के घर में प्रवेश किया और आभूषणों से अलंकृत उसकी पत्नी को पकड़कर गहने खोलने लगे। वह पौष्टिक भोजन की निरंतरता से अत्यधिक स्थूल हो गई थी। पैरों के कड़े, हाथ के कंगन नहीं निकले। चोरों ने उसके हाथ-पैर काटकर गहने ले भाग गए।[5]

## २६. मोक्ष की एषणा करने वाले (महेसी)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाला किया है।[6] बृहद्वृत्ति में इसके दो अर्थ प्राप्त हैं[7]—महर्षि और मोक्ष की इच्छा करने वाला।

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १२२ : अत्राह चोदकः—सक्कते मुहुत्तं दिवसं वा अप्पमादो काउं, जं पुणं भण्णति—'पुव्वाणि वासाणि चरप्पमत्तो', एवतियं कालं दुःक्खं अप्पमादो कज्जति, तेण पच्छिमे काले अप्पमादं करेस्सामि।

२. वही, पृष्ठ १०२, १२३।

३. वही, पृष्ठ १२३ : के य सासयवादिया उच्यते, ये निरुव्वक्कमायुणो, ण तु जेसिं फेणबुब्बुय भंगुराणि जीविताणि, अथवा सासयवादो णिण्ण अप्पमत्तो कालो मरतो जेसिं एसा दिट्ठी, जो पुव्वमेव अकयजोगो सो।

४. वही, पृष्ठ १२३।

५. सुखबोधा, पत्र ६७।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १२४ : महंतं एसतीति महेसि, मोक्षं इच्छतीत्यर्थः।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र २२५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## २७. अप्रमत्त होकर विचरण करो (चरमप्पमत्तो)

यहां मकार अलाक्षणिक है। पद है—चर अप्पमत्तो—तुम अप्रमत्त होकर विचरण करो। प्रमाद के परिहार और अपरिहार के द्योतक दृष्टांत इस प्रकार हैं—

एक व्यापारी दूर देश जाने के लिए प्रस्थित हुआ। उसने अपनी पत्नी से कहा—मुझे कुछ समय लगेगा। तुम यहां का कारोबार संभाल लेना। कर्मचारियों को व्यवस्थित रूप से काम में लगाए रखना।

व्यापारी परदेश चला गया। उसकी पत्नी का सारा समय शरीर के पोषण और शृंगार में बीतने लगा। वह अत्यधिक प्रमाद में रहने लगी। कर्मचारियों को न वह समय पर उचित कार्यों में नियोजित करती और न उन्हें उनका वेतन ही समय पर देती। सारे कर्मचारी वहां से चले गए। सारा व्यापार ठप्प हो गया। धन की कमी हो गई। कुछ समय पश्चात् सेठ परदेश से लौटा। घर और कारोबार की दुर्दशा को देखकर वह झल्ला उठा। उसने अपनी पत्नी को फटकारा, बुरा-भला कहा और उसको घर से निकाल दिया। पत्नी के प्रमाद ने सारे घर को चौपट कर डाला।

उसी वणिक् ने प्रचुर धन व्यय कर दूसरी कन्या के साथ विवाह कर लिया। वह चतुर थी। एक बार सेठ पुनः परदेश गया। पत्नी अपने कर्मचारियों को यथासमय कार्य का निर्देश देती और उन्हें पूर्वाण्ह में और अपराण्ह में भोजन कराती। उनके साथ वह मृदु व्यवहार करती और मासिक वेतन यथासमय चुका देती। सारे कर्मचारी उसके व्यवहार से प्रसन्न थे। वह निरन्तर घर की सार-संभाल करती। अपने शरीर के साज-शृंगार में अधिक समय नहीं लगाती। सेठ परदेश से लौटा। वह घर का वातावरण देखकर संतुष्ट हुआ और उसे सब कुछ सौंप दिया।[1]

जो प्रमाद का परिहार नहीं करता वह नष्ट हो जाता है और जो प्रमाद का परिहार कर श्रम में अपने आपको नियोजित करता है, वह स्वामी बन जाता है।

## २८. मोहगुणों (मोहगुणे)

इसका अर्थ है—मोह के सहायभूत इन्द्रियों के विषय—शब्द, रूप आदि। जो जानकार व्यक्ति को भी आकुल-व्याकुल कर उन्मार्ग में ले जाता है, वह मोह है। उस मोह को उत्तेजना देने वाले इन्द्रिय-विषय 'गुण' कहलाते हैं।

सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष—इन दो तत्वों को मुख्य मानता है। प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्व, रजस् और तमस्। मोहगुण की तुलना रजस् और तमस् से की जा सकती है।

## २९. प्रतिकूल (असमंजसं)

चूर्णिकार ने 'असमंजस' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि उनके सामने 'असमंजसा' पाठ था। उनके अनुसार यह 'फासा' का विशेषण है। इसका अर्थ है—प्रतिकूल, अनभिप्रेत।[2]

बृहद्वृत्ति में 'असमंजसं' को क्रिया-विशेषण मानकर इसका अर्थ—प्रतिकूल किया है। प्रतिकूल स्पर्श असंतुलन पैदा करते हैं। हमने यह भावार्थ ही ग्रहण किया है।[3]

## ३०. स्पर्श पीड़ित करते हैं (फासा फुसंती)

यहां स्पर्श का अर्थ है—इन्द्रियों के विषय। ये विषय गृहीत होते ही व्यक्ति के साथ संबद्ध हो जाते हैं, उसको पकड़ लेते हैं।[4]

चूर्णिकार के अनुसार सभी इन्द्रिय-विषयों में स्पर्श-इन्द्रिय के विषय को सहन करना अत्यन्त दुष्कर होता है।[5] इसलिए यह प्रधान है।

बृहद्वृत्तिकार ने 'स्पर्श' शब्द के उपादान का औचित्य बताते हुए कहा है—इन्द्रियों के पांच विषयों में सबसे दुर्जेय है—स्पर्श विषय। यह व्यापक भी है। इसीलिए इसके ग्रहण से सभी इन्द्रिय-विषय गृहीत हो जाते हैं।[6]

## ३१. कोमल—अनुकूल (मंदाय)

व्याख्याग्रन्थों में यह शब्द 'मंदा य' (सं० मन्दाश्च) ऐसा व्याख्यात है। परन्तु 'मंदाय' यह एक शब्द है। रायपसेणीय सूत्र १७३ और जीवाजीवाभिगम ३/२८५ में यह शब्द इसी रूप में प्राप्त होता है।

'मंद' शब्द के अनेक अर्थ हैं—धीमा, मृदु, हल्का, थोड़ा, छोटा आदि। चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अल्प और स्त्री।[7]

बृहद्वृत्ति में इसके दो अर्थ इस प्रकार हैं[8]—

१. मन्द—मूढ़। हित और अहित को जानने वाले व्यक्ति को भी ये स्पर्श मंद कर देते हैं, अन्यथा बना डालते हैं।

२. स्त्री।

सुखबोधा में भी ये ही दो अर्थ प्राप्त हैं।[9]

डॉ० हरमन जेकोबी ने 'मंदा' का अर्थ बाह्य (external) किया है।[10]

हमने इसका अर्थ कोमल—अनुकूल किया है, जो कि प्रसंग की दृष्टि से संगत है।

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १२४, १२५।
२. वही, पृष्ठ १२५।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र २२६।
४. वही, पत्र २२६।
५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १२५ : एतेसिं पुणो विसयाणं सव्वेसिं दुरधियासतरा फासा, जतो ववदेस्सते।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र २२६ : स्पर्शोपादानं चास्यैव दुर्जयत्वाद् व्यापित्वाच्च।
७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १२५ : मंदा णाम अप्पा, अथवा मंदंतीति मंदाः स्त्रियः...।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र २२७।
९. सुखबोधा, पत्र ६८।
१०. उत्तराध्ययन सूत्र, पृष्ठ २० : मंदा य फासा... external things।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ३२. निवारण करे (रक्खेज्ज)

यहां 'रक्ष' धातु निवारण के अर्थ में प्रयुक्त है।

### ३३. जीवन सांधा जा सकता है (संखया)

चूर्णि में 'संखया' अर्थात् संस्कृत का पहला अर्थ—'संस्कृत वचन वाले अर्थात् सर्वज्ञ में वचन के दोष दिखाने वाले' और दूसरा अर्थ 'संस्कृत बोलने में रुचि रखने वाले' किया गया है।[1] शान्त्याचार्य ने इसका एक अर्थ—'संस्कृत सिद्धान्त का प्ररूपण करने वाले'—किया है। उनका संकेत निरन्वयोच्छेदवादी बौद्धों, एकान्त-नित्यवादी सांख्यों और संस्कारवादी स्मृतिकारों की ओर है। बौद्ध लोग वस्तु को एकान्त अनित्य मानकर फिर 'सन्तान' मानते हैं तथा सांख्य उसे एकान्त-नित्य मानकर फिर 'आविर्भाव तिरोभाव' मानते हैं। इसलिए ये दोनों 'संस्कृत धर्मवादी' हैं। स्मृतिकारों के अभिमत में प्राचीन ऋषियों द्वारा निरूपित सिद्धान्त का प्रतिषेध और उसका पुनः संस्कार करके स्मृतियों का निर्माण किया गया—इसलिए वे भी संस्कारवादी हैं।[2]

डॉ० हरमन जेकोबी तथा अन्य विद्वानों ने मूल में 'असंखया' शब्द माना है। डॉ० सांडेसरा ने इसका तात्पर्यार्थ असहिष्णु, असमाधानकारी किया है।[3]

पहले श्लोक के पहले चरण में जीवन को असंस्कृत कहा है। उसके संदर्भ में 'संस्कृत' का अर्थ...'जीवन का संस्कार हो सकता है, वह फिर सांधा जा सकता है, ऐसा मानने वाले....' यह अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।

### ३४ अशिक्षित हैं (तुच्छ)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अशिक्षित किया है।[4] वृत्ति में इसका अर्थ है—निस्सार वचन कहने वाला, अपनी इच्छानुसार सिद्धान्त की प्ररूपणा करने वाला।[5]

### ३५. परतंत्र हैं (परज्झा)

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—परतंत्र। 'परज्झ' (स्था० १०/१०८) तथा 'परज्झा'—ये दोनों शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत हैं।

चूर्णि में इसके तीन अर्थ प्राप्त हैं—परवश, राग-द्वेष के वशवर्ती तथा अजितेन्द्रिय।[6]

वृत्तिकार ने इसे देशीपद मानकर इसका अर्थ परवश किया है।[7]

### ३६. दूर रहे (दुगुंछमाणो)

इसका शब्दार्थ है—जुगुप्सा करता हुआ, घृणा करता हुआ। मुनि किसी की निन्दा नहीं करता, किसी से घृणा नहीं करता। इसलिए इस शब्द का यहां तात्पर्य है कि मुनि उन व्यक्तियों को भलीभांति जान ले कि वे उन्मार्गगामी हैं, उनका संसर्ग अभिलषणीय नहीं है।

आचार्य नेमिचन्द्र ने इस प्रसंग में दो गाथाएं उद्धृत की हैं[8]—

***'सुट्ठुवि उज्जममाणं, पंचेव करेंति रित्तयं समणं।***
***अप्पथुई परनिंदा, जिम्मोवत्था कसाया य॥'***

—श्रामण्य में परम पुरुषार्थ करने वाले श्रमण को भी ये पांच बातें श्रामण्य से रिक्त कर देती हैं—

(१) स्वप्रशंसा (४) कामवासना
(२) परनिन्दा (५) कषाय चतुष्क।
(३) रसलोलुपता

***'संतेहिं असंतेहिं परस्स किं जंपिएहिं दोसेहिं।***
***अत्थो जसो न लब्भइ, सो य अमित्तो कओ होइ॥'***

—दूसरों में विद्यमान या अविद्यमान दोषों की चर्चा करने का लाभ ही क्या है? न इससे अर्थ—प्रयोजन ही सिद्ध होता है और न इससे यश ही मिलता है। पर जिसके दोषों की चर्चा की जाती है, वह शत्रु अवश्य बन जाता है।

### ३७. अन्तिम सांस तक (जाव सरीरभेओ)

आत्मा का शरीर से भिन्न होना या शरीर का आत्मा से शून्य हो जाना शरीरभेद है।[9] यह मरण या विमुक्ति का वाचक है। सामान्य मरण में स्थूल शरीर छूटता है, पर सूक्ष्म शरीर नहीं छूटते। जब मुक्ति होती है तब स्थूल और सूक्ष्म—दोनों प्रकार के शरीर छूट जाते हैं।

एक चोर धनाढ्य व्यक्तियों के घरों में सेंध लगाकर चोरी करता था। वह अपार धन चुराकर अपने घर ले जाता और घर में एक ओर बने कुएं में डाल देता। वह रूपवती कन्याओं के साथ विवाह करने का शौकीन था। वह उस कूप से धन निकालता और मनचाही कन्या से विवाह रचाता। वह कन्या गर्भवती होती तब उसे मारकर वह उसी कुए में डाल देता। वह

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १२६ : संस्कृता नाम संस्कृतवचना सर्वज्ञवचनदत्तदोषाः, अथवा संस्कृताभिधानरुचयः।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २२७ : यद्वा संस्कृतागमप्ररूपकत्वेन संस्कृता, यथा सौगताः, ते हि स्वागमे निरन्वयोच्छेदमभिधाय पुनस्तेनैव निर्वाहमपश्यन्तः परमार्थतोऽन्वयिद्रव्यरूपमेव सन्तानमुपकल्पयांबभूवुः, सांख्याश्चैकान्त-नित्यतामुक्त्वा तत्त्वतः परिणामरूपां चै (पावे) व पुनरविर्भावतिरो-भावावुक्तवन्तो, यथा वा—
"उक्तानि प्रतिषिद्धानि, पुनः सम्भावितानि च।
सापेक्षनिरपेक्षाणि ऋषिवाक्यान्यनेकशः॥"
इतिवचनाद्वचननिषेधनसम्भवादिभिरुपस्कृतस्मृत्यादिशास्त्रा मन्वादयः।

३. उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० ३७, फुट नो० २।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १२७ : तुच्छा णाम असिक्खिता इति।

५. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २२७।
(ख) सुखबोधा, पत्र ६८।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १२६ : परज्झा परवसा रागद्दोसवसगा अजितिंदिया।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र २२७ : परज्झ त्ति देशीपदत्वात् परवशा राग-द्वेषग्रह-ग्रस्तमानसतया न ते स्वतंत्राः।

८. सुखबोधा, पत्र ६६।

९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १२६ : भिद्यते इति भेदः, जीवो वा सरीरातो सरीरं वा जीवातो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह चाहता था कि मेरी पत्नी बच्चों की मां होकर दूसरों को मेरे धन की जानकारी न दे, इसलिए वह ऐसा क्रूर कर्म करता। इस प्रकार उसने अनेक कन्याओं की जीवनलीला समाप्त कर डाली। एक बार उसने अतीव रूपवती कन्या को देखा और उसके परिवार को अपार धनराशि देकर उससे विवाह कर लिया। वह गर्भवती हुई। उसने उसे नहीं मारा। उसने पुत्र का प्रसव किया। पुत्र आठ वर्ष का हो गया। चोर ने सोचा, बहुत काल बीत गया है। अब मैं पहले पत्नी को मारकर फिर बच्चे को भी मार डालूं तो अच्छा रहेगा। उसने एक दिन अवसर देखकर पत्नी को मार डाला। बच्चे ने यह देख लिया। वह भागा और गली में आकर चिल्लाने लगा। पास-पड़ोस के लोग एकत्रित हो गए। लड़के ने कहा—इसने मेरी मां को मार डाला है। राजपुरुषों ने उसे पकड़ लिया। घर की जांच की गई। उन्होंने देखा, कुंआ धन से भरा पड़ा है उसमें हड्डियां भी पड़ी हैं। उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। सारा धन उस बच्चे को दे दिया और उस चोर को फांसी पर लटका दिया।

जो पापकारी प्रवृत्तियों से धन एकत्रित करता है और धन को ही सब कुछ मानता है, उसकी यही दशा होती है। धन त्राण नहीं देता।[1]

१. सुखबोधा, पत्र ८१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पंचमं अज्झयणं

## अकाममरणिज्जं

# पांचवां अध्ययन

## अकाममरणीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन का नाम 'अकाममरणिज्जं'—'अकाम-मरणीय' है। निर्युक्ति में इसका दूसरा नाम 'मरणविभत्तीइ'—'मरणविभक्ति' भी मिलता है।[1]

जीवन यात्रा के दो विश्राम हैं—जन्म और मृत्यु। जीवन कला है तो मृत्यु भी उससे कम कला नहीं है। जो जीने की कला जानते हैं और मृत्यु की कला नहीं जानते, वे सदा के लिए अपने पीछे दूषित वातावरण छोड़ जाते हैं। व्यक्ति को कैसा मरण नहीं करना चाहिए, इसका विवेक आवश्यक है। मरण के विविध प्रकारों के उल्लेख इस प्रकार मिलते हैं—

## मरण के चौदह भेद

भगवती सूत्र में मरण के दो भेद—बाल और पंडित किए हैं। बाल-मरण के बारह प्रकार हैं और पंडित-मरण के दो प्रकार। कुल मिलाकर चौदह भेद वहां मिलते हैं—

बाल-मरण के बारह भेद हैं:—

| | |
|---|---|
| (१) वलय | (७) जल-प्रवेश |
| (२) वशार्त्त | (८) अग्नि-प्रवेश |
| (३) अन्तःशल्य | (९) विष-भक्षण |
| (४) तद्भव | (१०) शस्त्रावपाटन |
| (५) गिरि-पतन | (११) वैहायस |
| (६) तरु-पतन | (१२) गृद्धपृष्ट[2]। |

पंडित-मरण के दो भेद हैं:—

(१) प्रायोपगमन (२) भक्त-प्रत्याख्यान।[3]

## मरण के सतरह भेद

समवायांग में मरण के सतरह भेद बतलाए हैं। मूलाराधना में भी मरण के सतरह प्रकारों का उल्लेख है और उनका विस्तार विजयोदयावृत्ति में मिलता है। उक्त परम्पराओं के अनुसार मरण के सतरह प्रकार इस तरह हैं:—

| समवायांग | मूलाराधना (विजयोदयावृत्ति) |
|---|---|
| (१) आवीचि-मरण | (१) आवीचि-मरण |
| (२) अवधि-मरण | (२) तद्भव-मरण |
| (३) आत्यन्तिक-मरण | (३) अवधि-मरण |
| (४) वलन्मरण | (४) आदि-अन्त-मरण |
| (५) वशार्त्त-मरण | (५) बाल-मरण |
| (६) अन्तःशल्य-मरण | (६) पंडित-मरण |
| (७) तद्भव-मरण | (७) अवसन्न-मरण |
| (८) बाल-मरण | (८) बाल-पंडित-मरण |
| (९) पण्डित-मरण | (९) सशल्य-मरण |
| (१०) बाल-पंडित-मरण | (१०) वलाय-मरण |
| (११) छद्मस्थ-मरण | (११) व्युत्सृष्ट-मरण |
| (१२) केवलि-मरण | (१२) विप्रनास-मरण |
| (१३) वैहायस-मरण | (१३) गृद्धपृष्ट-मरण |
| (१४) गृद्धपृष्ट-मरण | (१४) भक्त-प्रत्याख्यान-मरण |
| (१५) भक्त-प्रत्याख्यान-मरण | (१५) प्रायोपगमन-मरण |
| (१६) इंगिनी-मरण | (१६) इंगिनी-मरण |
| (१७) प्रयोपगमन-मरण[4] | (१७) केवली-मरण।[5] |

समवायांग के तीसरे, दसवें और पन्द्रहवें मरण के नाम उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार क्रमशः अत्यन्त-मरण, मिश्र-मरण और भक्त-प्रतिज्ञा-मरण हैं। यह केवल शाब्दिक अन्तर है, नामों अथवा क्रम में भी और कोई अन्तर नहीं है।[6]

विजयोदया में क्रम तथा नामों में अन्तर है। 'वैहायस' के स्थान पर 'विप्रनास' तथा 'अन्तःशल्य' और 'आत्यन्तिक' के स्थान पर क्रमशः 'सशल्य' और 'आद्यन्त' नाम उल्लिखित हैं। समवायांग में वशार्त्त-मरण और छद्मस्थ-मरण हैं जबकि विजयोदया में अवसन्न-मरण और व्युत्सृष्ट-मरण। भगवती के उपर्युक्त पांचवें से लेकर दसवें तक के ६ भेद विजयोदया के 'बाल-मरण' भेद में समाविष्ट होते हैं।

उक्त सतरह प्रकार के मरणों की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है :—

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २३३ : सव्व एए दारा मरणविभत्तीइ वण्णिआ कमसो।

२. भगवई २।४६ : दुविहे मरणे पण्णत्ते, तं जहा—बालमरणे य पंडियमरणे य। से किं तं बालमरणे? बालमरणे दुवालसविहे पण्णत्ते तं जहा—वलयमरणे, वसट्टमरणे, अंतोसल्लमरणे, तब्भवमरणे, गिरिपडणे, तरुपडणे, जलप्पवेसे, जलणप्पवेसे, विसभक्खणे, सत्थोवाडणे, वेहाणसे, गद्धपट्ठे।

३. वही, २।४६ : से किं तं पंडियमरणे? पंडियमरणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा...पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।

४. समवाओ १७।६ सत्तरसविहे मरणे प०-आवीईमरणे, ओहिमरणे आर्यातियमरणे, वलायमरणे, वसट्टमरणे, अंतोसल्लमरणे, तब्भवमरणे, बालमरणे, पंडितमरणे, बालपंडितमरणे, छउमत्थमरणे, केवलिमरणे, भत्तपच्चक्खाणमरणे, इंगिणिमरणे पाओवगमणमरणे।

५. (क) मूलाराधना आश्वास १, गाथा २५ :
मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे।
तत्थ विय पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि।।
(ख) विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७।

६. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २१२, २१३ :
आवीचि ओहि अंतिय वलायमरणं वसट्टमरणं च।
अंतोसल्ल तब्भव बालं तह पंडियं मीसं।।
छउमत्थमरण केवलि वेहाणस गिद्धपिट्ठमरणं च।
मरणं भत्तपरिण्णा इंगिणी पाओवगमणं च।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**१. आवीचि-मरण**—आयुकर्म के दलिकों की विच्युति अथवा प्रतिक्षण आयु की विच्युति, आवीचि-मरण कहलाता है।[1]

वीचि का अर्थ है—तरंग। समुद्र और नदी में प्रतिक्षण लहरें उठती हैं। वैसे ही आयु-कर्म भी प्रतिसमय उदय में आता है। आयु का अनुभव करना जीवन का लक्षण है। प्रत्येक समय का जीवन प्रतिसमय में नष्ट होता है। यह प्रत्येक समय का मरण आवीचि-मरण कहलाता है।[2]

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की अपेक्षा से आवीचि-मरण के पांच प्रकार हैं।[3]

**२. अवधि-मरण**—जीव एक बार नरक आदि जिस गति में जन्म-मरण करता है, उसी गति में दूसरी बार जब-कभी जन्म-मरण करता है तो उसे अवधि-मरण कहा जाता है।[4]

**३. आत्यन्तिक-मरण**—जीव वर्तमान आयु-कर्म के पुद्गलों का अनुभव कर मरण प्राप्त हो, फिर उस भाव में उत्पन्न न हो तो उस मरण को आत्यन्तिक-मरण कहा जाता है।[5]

वर्तमान मरण—'आदि' और वैसा मरण आगे न होने से उसका 'अन्त'—इस प्रकार इसे 'आद्यन्त-मरण' भी कहा जाता है।[6]

**४. वलन्मरण**—जो संयमी जीवन-पथ से भ्रष्ट होकर मृत्यु पाता है, उसकी मृत्यु को वलन्मरण कहा जाता है।[7] भूख से तड़पते हुए मरने को भी वलन्मरण कहा जाता है।[8]

विजयोदया में वलाय-मरण कहा है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है—विनय, वैयावृत्य आदि को सत्कार न देने वाले, नित्य नैमित्तिक कार्यों में आलसी, व्रत, समिति और गुप्ति के पालन में अपनी शक्ति को छिपाने वाले, धर्म-चिन्तन के समय नींद लेने वाले, ध्यान और नमस्कार आदि से दूर भागने वाले व्यक्ति के मरण को वलाय-मरण कहा जाता है।[9]

**५. वशार्त्त-मरण**—दीप-कलिका में शलभ की तरह जो इन्द्रियों के वशीभूत होकर मृत्यु पाते हैं, उसे 'वशार्त्त-मरण' कहा जाता है।[10]

विजयोदया में भी यह नाम मिलता है। यह मरण आर्त्त और रौद्र ध्यान में प्रवृत्त रहने वालों के होता है। इसके चार भेद हैं—इन्द्रिय-वशार्त्त, वेदना-वशार्त्त, कषाय-वशार्त्त और नो-कषाय-वशार्त्त।[11]

**६. अन्तःशल्य मरण**—भगवती की वृत्ति में इसके दो भेद किए गए हैं—(१) द्रव्य और (२) भाव। शरीर में शस्त्र की नोक आदि रहने से जो मृत्यु होती है वह द्रव्य अन्तःशल्य-मरण कहलाता है। लज्जा और अभिमान आदि के कारण अतिचारों की आलोचना न कर दोषपूर्ण स्थिति में मरने वाले की मृत्यु को भाव अन्तःशल्य-मरण कहा जाता है।[12]

विजयोदया में इसका नाम सशल्य-मरण है। उसके भी दो भेद हैं—द्रव्य शल्य और भाव शल्य।[13] मिथ्यादर्शन, माया और निदान—इन तीनों शल्यों की उत्पत्ति के हेतुभूत कर्म को द्रव्य शल्य कहा जाता है। द्रव्य शल्य की दशा में होने वाला मरण द्रव्य शल्य-मरण कहलाता है। यह मरण पांच स्थावर और अमनस्क त्रस जीवों के होता है। उक्त तीन शल्यों के हेतुभूत कर्मों के उदय से जीव में जो माया, निदान और मिथ्यात्व का परिणाम होता है, उसे भाव शल्य कहा जाता है। इस दशा में होने वाला मरण भाव शल्य-मरण कहा जाता है।

जहां भाव शल्य है वहां द्रव्य शल्य अवश्य होता है, किन्तु भाव शल्य केवल समनस्क जीवों में ही होता है। अमनस्क जीवों में संकल्प या चिन्तन नहीं होता, इसलिए उनके केवल द्रव्य शल्य ही होता है। इसीलिए अमनस्क जीवों के मरण को द्रव्य शल्य-मरण और समनस्क जीवों के मरण को भाव शल्य-मरण कहा गया है।[14]

भविष्य में मुझे अमुक वस्तु मिले, आदि-आदि मानसिक संकल्पों को निदान कहते हैं। निदान-शल्य-मरण असंयत सम्यक्-दृष्टि और श्रावक के होता है।

---

१. समवाओ १७।६ वृत्ति, पत्र ३४ : आयुर्दलिकविच्युतिलक्षणावस्था यस्मिंस्तदावीचि अथवा वीचिः—विच्छेदस्तदभावादवीचि...एवं भूतं मरणमावीचिमरणं-प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणम्।

२. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८६।

३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१५ :
अणु समयनिरन्तरमवीइसन्नियं, तं भणन्ति पंचविहं।
दव्वे खित्ते काले भवे य भावे य संसारे।।

४. (क) समवाओ १७।६ वृत्ति पत्र ३४ : मर्यादा तेन मरणमवधिमरणम्, यानि हि नारकादिभवनिबन्धनतयाऽऽयुःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते यदि पुनस्तान्येवानुभूय मरिष्यति तदा तदवधिमरणमुच्यते। तद्द्रव्यापेक्षया पुनस्तद्ग्रहणावधिं यावज्जीवस्य मृतत्वादिति।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१६ : एमेव ओहिमरणं जाणि मओ ताणि चेव मरइ पुणो।
(ग) विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७।

५. (क) समवाओ १७।६ वृत्ति पत्र ३४ : यानि नारकाद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते मृतश्च न पुनस्तान्यनुभूय मरिष्यतीति एवं यन्मरणं तद्द्रव्यापेक्षया अत्यन्तभावित्वादात्यन्तिकमिति।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१६ : एमेव आइयंतियमरणं नवि मरइ ताइ पुणो।

६. विजयोदया, वृत्ति, पत्र ८७।

७. (क) समवाओ, १७।६ वृत्ति, पत्र ३४ : संयमयोगेभ्यो वलतां—भग्नव्रतपरिणतीनां व्रतिनां वलन्मरणम्।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१७ : संयमजोगविसन्ना मरंति जे तं वलायमरणं तु।

८. भगवई, २।४६ वृत्ति, पृ० २११ : वलतो—बुभुक्षापरिगतत्वेन वलवलायमानस्य संयमाद्धा भ्रश्यतो (यत्) मरणं तद्वलन्मरणम्।

९. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८६।

१०. समवाओ १७।६ वृत्ति, पत्र ३४ : इन्द्रियविषयपारतन्त्र्येण ऋता—बाधिता वशार्त्ताः स्निग्धदीपकलिकावलोकनात् शलभवत् तथाऽन्तः।

११. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८६, ६०।

१२. भगवई २।४६ वृत्ति, पत्र २११ : अन्तःशल्यस्य द्रव्यतोऽनुद्धततोमरादेः भावतः सातिचारस्य यद्मरणं तद् अन्तःशल्यमरणम्।

१३. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

१४. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) को दूषित करना, मार्ग का नाश करना, उन्मार्ग की प्ररूपणा करना, मार्ग में स्थित लोगों का बुद्धि-भेद करना—इन सबको एक शब्द में मिथ्यादर्शन-शल्य कहा जाता है।[1]

पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त आदि मुनि धर्म से भ्रष्ट होकर मरण-समय तक दोषों की आलोचना किए बिना जो मृत्यु पाते हैं, उसे माया-शल्य-मरण कहा जाता है। यह मरण मुनि, श्रावक और असंयत सम्यक्-दृष्टि को प्राप्त होता है।

**७. तद्भव-मरण**—वर्तमान भव (जन्म) से मृत्यु होती है, उसे तद्भव-मरण कहा जाता है।[2]

**८. बाल-मरण**—मिथ्यात्वी और सम्यक्दृष्टि का मरण बाल-मरण कहलाता है।[3] भगवती में बाल-मरण के १२ भेद प्राप्त हैं।[4] विजयोदया में पांच भेद किए हैं—(१) अव्यक्त-बाल (२) व्यवहार-बाल (३) ज्ञान-बाल (४) दर्शन-बाल और (५) चारित्र-बाल।[5] इनकी व्याख्या संक्षेप में इस प्रकार है :—

(१) अव्यक्त-बाल—छोटा बच्चा। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को नहीं जानता तथा इन चार पुरुषार्थों का आचरण करने में भी समर्थ नहीं होता।

(२) व्यवहार-बाल—लोक-व्यवहार, शास्त्र-ज्ञान आदि को जो नहीं जानता।

(३) ज्ञान-बाल—जो जीव आदि पदार्थों को यथार्थ रूप से नहीं जानता।

(४) दर्शन-बाल—जिसकी तत्त्वों के प्रति श्रद्धा नहीं होती। दर्शन-बाल के दो भेद हैं—इच्छा-प्रवृत्त और अनिच्छा-प्रवृत्त। इच्छा-प्रवृत्त—अग्नि, धूप, शस्त्र, विष, पानी, पर्वत से गिरकर, श्वासोच्छ्वास को रोक कर, अति सर्दी या गर्मी होने से, भूख और प्यास से, जीभ को उखाड़ने से, प्रकृतिविरुद्ध आहार करने से—इन साधनों के द्वारा जो इच्छा से प्राण-त्याग करता है, वह इच्छा-प्रवृत्त दर्शन-बाल-मरण कहलाता है। अनिच्छा-प्रवृत्त—योग्यकाल में या अकाल में मरने की इच्छा के बिना जो मृत्यु होती है, वह अनिच्छा-प्रवृत्त दर्शन-बाल-मरण कहलाता है।

(५) चारित्र-बाल—जो चरित्र से हीन होता है। विषयों में आसक्त, दुर्गति में जाने वाले, अज्ञानान्धकार से आच्छादित, ऋद्धि में आसक्त, रसों में आसक्त और सुख के अभिमानी जीव बाल-मरण से मरते हैं।

**९. पंडित-मरण**—संयति का मरण पंडित-मरण कहलाता है। विजयोदया में इसके चार भेद किए हैं—

(१) व्यवहार-पंडित (३) ज्ञान-पंडित
(२) सम्यक्त्व-पंडित (४) चारित्र-पंडित।[6]

इनकी व्याख्या इस प्रकार है :

(१) व्यवहार-पंडित—जो लोक, वेद और समय के व्यवहार में निपुण, उनके शास्त्रों का ज्ञाता और शुश्रूषा आदि गुणों से युक्त हो।

(२) दर्शन-पंडित—जो सम्यक्त्व से युक्त हो।

(३) ज्ञान-पंडित—जो ज्ञान से युक्त हो।

(४) चारित्र-पंडित—जो चारित्र से युक्त हो।

**१०. बाल-पंडित-मरण**—संयतासंयत का मरण बाल-पंडित-मरण कहलाता है।[7] स्थूल हिंसा आदि पांच पापों के त्याग तथा सम्यक्-दर्शन युक्त होने से वह पंडित है। सूक्ष्म असंयम से निवृत्त न होने के कारण उसमें बालत्व भी है।[8]

**११. छद्मस्थ-मरण**—मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मतिज्ञानी श्रमण के मरण को छद्मस्थ-मरण कहा जाता है।[9]

विजयोदया में इसके स्थान पर 'ओसण्ण-मरण' नाम मिलता है।[10] उसकी व्याख्या इस प्रकार है—रत्नत्रय में विहार करने वाले मुनियों के संघ से जो अलग हो गया हो उसे 'अवसन्न' कहते हैं। उसके मरण को अवसन्न-मरण कहा जाता है। पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त और अवसन्न—ये पांच भ्रष्ट मुनि 'अवसन्न' कहलाते हैं। ये ऋद्धि में आसक्त, दुःख से भयभीत, कषायों में परिणत हो आहार आदि संज्ञाओं के वशवर्ती, पाप शास्त्रों के अध्येता, तेरह क्रिया (३ गुप्ति, ५ समिति और ५ महाव्रत) में आलसी, संक्लिष्ट-परिणामी, भक्तपान और उपकरणों में आसक्त, निमित्त, तंत्र-मंत्र और औषध से आजीविका करने वाले, गृहस्थों का वैयावृत्य करने वाले, उत्तर गुणों से हीन, गुप्ति और समिति में अनुद्यत, संसार के दुःखों से भय न करने वाले, क्षमा आदि दश धर्मों में प्रवृत्त न होने वाले

---

१. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८, ८९।

२. (क) समवाओ ७७।९ वृत्ति, पत्र ३४ : यस्मिन् भवे—तिर्यग्मनुष्यभवलक्षणे वर्त्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवायुर्बद्ध्वा पुनः तत्क्षयेण म्रियमाणस्य यद्भवति तत्तद्भवमरणम्

(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२१ :
मोत्तुं अकम्मभूमगनरतिरिए सुरगणे अ नेरइए।
सेसाणं जीवाणं तब्भवमरणं तु केसिंचि।।

(ग) विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७।

३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२२ : अविरयमरणं बालं मरणं.....।

४. भगवई २।४९।

५. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७, ८८।

६. वही, पत्र ८८।

७. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२२ : जाणाहि बालपंडियमरणं पुण देसविरयाणं।

८. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

९. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२३ :
मणपज्जवोहिनाणी सुअमइनाणी मरंति जे समणा।
छउमत्थमरणमेयं केवलिमरणं तु केवलिणो।।

१०. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा चारित्र में दोष लगाने वाले होते हैं। ये अवसन्न मुनि मर कर हजारों भवों में भ्रमण करते हैं और दुःखों को भोगते हुए जीवन को पूरा करते हैं।

**१२. केवलि-मरण**—केवलज्ञानी का मरण केवलि-मरण कहलाता है।

**१३. वैहायस-मरण**—वृक्ष की शाखा पर लटकने, पर्वत से गिरने और झंपा लेने आदि कारण से होने वाला मरण वैहायस मरण कहलाता है।[1] विजयोदया में इसके स्थान पर 'विप्रणास-मरण' है।[2]

**१४. गृद्धपृष्ठ-मरण**—हाथी आदि के कलेवर में प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ-साथ उस जीवित शरीर को भी गीध आदि नोंच-नोंच कर मार डालते हैं, उस स्थिति में जो मरण होता है, वह गृद्धपृष्ठ-मरण कहलाता है।[3]

**१५. भक्त-प्रत्याख्यान-मरण**—यावज्जीवन के लिए त्रिविध अथवा चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान-मरण कहा जाता है।[4]

**१६. इंगिनी-मरण**—प्रतिनियत स्थान पर अनशनपूर्वक मरण को इंगिनी-मरण कहते हैं। जिस मरण में अपने अभिप्राय से स्वयं अपनी शुश्रूषा करे, दूसरे मुनियों से सेवा न ले उसे इंगिनी-मरण कहा जाता है। यह मरण चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करने वाले के ही होता है।[5]

**१७. प्रायोपगमन, पादपोपगमन, पादोपगमन-मरण**—अपनी परिचर्या न स्वयं करे और न दूसरों से कराए, ऐसे मरण को प्रायोपगमन अथवा प्रायोग्य-मरण कहते हैं।[6] वृक्ष के नीचे स्थिर अवस्था में चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है, उसे पादपोपगमन-मरण कहते हैं।[7] अपने पांवों के द्वारा संघ से निकल कर और योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है उसे पादोपगमन-मरण कहा जाता है। इस मरण को चाहने वाले मुनि अपने शरीर की परिचर्या न स्वयं करते हैं और न दूसरों से करवाते हैं।[8] कहीं 'पाउग्गमण' (प्रायोग्य) पाठ भी आता है।[9] भव का अन्त करने योग्य संहनन और संस्थान को 'प्रायोग्य' कहा जाता है। उसकी प्राप्ति को 'प्रायोग्य-गमन' कहा है। विशिष्ट संहनन और विशिष्ट संस्थान वाले के मरण को प्रायोग्य-गमन-मरण कहा जाता है।[10]

श्वेताम्बर परम्परा में 'पादपोपगमन' शब्द मिलता है और दिगम्बर परम्परा में 'प्रायोपगमन', 'प्रायोग्य' और 'पादोपगमन' पाठ मिलता है।

भगवती में पादपोपगमन के दो भेद किए हैं—निर्हारि और अनिर्हारि। निर्हारि—इसका अर्थ है बाहर निकालना। उपाश्रय में मरण प्राप्त करने वाले साधु के शरीर को वहां से बाहर ले जाना होता है, इसलिए उस मरण को निर्हारि कहते हैं। अनिर्हारि—अरण्य में अपने शरीर का त्याग करने वाले साधु के शरीर को बाहर ले जाना नहीं पड़ता, इसलिए उसे अनिर्हारि-मरण कहा जाता है।[11]

भगवती में इंगिनी-मरण को भक्त-प्रत्याख्यान का एक प्रकार स्वीकार कर उसकी स्वतंत्र व्याख्या नहीं की है।[12] मूलाराधना में भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन—ये तीनों पंडित मरण के भेद माने गए हैं।[13]

उपर्युक्त सतरह मरण विभिन्न विवक्षाओं से प्रतिपादित हैं। आवीचि, अवधि, आत्यन्तिक और तद्भव-मरण भव की दृष्टि से, वलन्, वैहायस, गृद्धपृष्ठ, वशार्त्त और अन्तःशल्य-मरण आत्म-दोष, कषाय आदि की दृष्टि से, बाल और पण्डित मरण चारित्र की दृष्टि से, छद्मस्थ और केवलि-मरण ज्ञान की दृष्टि से तथा भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन-मरण अनशन की दृष्टि से प्रतिपादित हैं।

उपर्युक्त सतरह मरणों में आवीचि मरण प्रतिपल होता है और सिद्धों को छोड़ सब प्राणियों के होता है। शेष मरण जीव-विशेषों के होते हैं।

एक समय में कितने मरण होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में है।[14] एक समय में दो मरण, तीन

१. (क) भगवई २।४६ वृत्ति, पत्र २२१ :
वृक्षशाखाद्युद्बन्धनेन यत्तन्निरुक्तिवशाद्वैहानसम्।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२४ :
गिद्धाइभक्खणं गिद्धपिट्ठ उब्बंधणाइ वेहासं।
एए दुन्निवि मरणा कारणजाए अणुण्णाया।।

२. विजयोदया वृत्ति, पत्र ६०।

३. (क) भगवई २।४६ वृत्ति, पत्र २११ : पक्षिविशेषैर्गृद्धैर्वा—मांसलुब्धैः शृगालादिभिः स्पृष्टस्य—विदारितस्य करिकरभरासभादिशरीरान्तर्गतत्वेन यन्मरणं तद्गृध्रस्पृष्टं वा गृद्धस्पृष्टं वा, गृध्रैर्वा भक्षितस्य—रुपृष्टस्य यत्तद्गृध्रस्पृष्टम्।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२४।

४. (क) भगवई २।४६ वृत्ति, पत्र २११, २१२।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा २२५, वृत्ति, पत्र २३५।

५. भगवई २।४६ वृत्ति, पत्र २१२ : चतुर्विधाहारपरिहारनिष्पन्नमेव भवतीति।

६. (क) भगवई २।४६ वृत्ति, पत्र २१२।
(ख) समवाओ १७।६ वृत्ति, पत्र ३५ : पादस्येवोपगमनम्—अवस्थानं यस्मिन् तत्पादोपगमनं तदेव मरणम्।
(ग) उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा २२५, वृत्ति पत्र २३५।

७. विजयोदया वृत्ति, पत्र ११३।

८. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा ६१।

९. विजयोदया वृत्ति, पत्र ११३।

१०. विजयोदया वृत्ति, पत्र ११३।

११. भगवई २।४६ वृत्ति, पत्र २१२ : निहरिण निर्वृत्तं यत्तन्निर्हारिमं, प्रतिश्रये यो म्रियते तस्यैतत्, तत्कडेवरस्य निर्हारणात्। अनिर्हारिमं तु योऽटव्यां म्रियते इति।

१२. भगवई २।४६ वृत्ति, पत्र २१२ : इङ्गितमरणमभिधीयते तद्भक्तप्रत्याख्यानस्यैव विशेषः।

१३. मूलाराधना, गाथा २६ : पायोपगमण मरणं भत्तपइण्णा च इंगिणी चेव।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स।।

१४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति-गाथा २२७-२२६ :
दुन्नि व तिन्न व चत्तारि पंच मरणाइ अवीइमरणंमि।
कइ मरइ एगसमयंसि विभासावित्थरं जाणे।।
सव्वे भवत्थजीवा मरंति आवीइअं सया मरणं।
ओहिं च आइअंतिय दुन्निवि एयाइ भयणाए।।
ओहिं च आइअंतिअ बालं तह पंडिअं च मीसं च।
छउमं केवलिमरणं अन्नुन्नेणं विरुज्झंति।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरण, चार मरण और पांच मरण भी होते हैं। बाल, बाल-पंडित और पंडित की अपेक्षा से वे इस प्रकार हैं—

**बाल की अपेक्षा**

(१) एक समय में दो मरण—अवधि और आत्यन्तिक में से एक और दूसरा बाल-मरण।
(२) एक समय में तीन मरण—जहां तीन होते हैं वहां तद्भव-मरण और बढ़ जाता है।
(३) एक समय में चार मरण—जहां चार होते हैं वहां वशार्त्त-मरण और बढ़ जाता है।
(४) एक समय में पांच मरण—जहां आत्मघात करते हैं वहां वैहायस और गृध्रपृष्ठ में से कोई एक बढ़ जाता है। वलन्मरण और शल्य-मरण को बाल-मरण के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

**पंडित की अपेक्षा**

पंडित-मरण की विवक्षा दो प्रकार से की है—दृढ़ संयमी पंडित और शिथिल संयमी पंडित।

**(क) दृढ़ संयमी पंडित**

(१) जहां दो मरण एक समय में होते हैं वहां अवधि-मरण और आत्यन्तिक-मरण में से कोई एक होता है क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं। दूसरा पंडित-मरण।
(२) जहां तीन मरण एक साथ होते हैं, वहां छद्मस्थ-मरण और केवलि-मरण में से एक बढ़ जाता है।
(३) जहां चार मरण की विवक्षा है, वहां भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और पादपोगमन में से एक बढ़ जाता है।
(४) जहां पांच मरण की विवक्षा है, वहां वैहायस और गृध्र-पृष्ठ में से एक मरण बढ़ जाता है।

**(ख) शिथिल संयमी पंडित**

(१) जहां दो मरण की एक समय में विवक्षा है, वहां अवधि और आत्यन्तिक में से एक और किसी कारणवश वैहायस और गृध्रपृष्ठ में से एक।
(२) कथंचिद् शल्य-मरण होने से तीन भी हो जाते हैं।
(३) जहां वलन्मरण होता है वहां एक साथ चार हो जाते हैं।
(४) छद्मस्थ-मरण की जहां विवक्षा होती है, वहां एक साथ पांच मरण हो जाते हैं।

भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन-मरण विशुद्ध संयम वाले पंडितों के ही होता है। दोनों प्रकार के पंडित-मरण की विवक्षा में तद्भव-मरण नहीं लिया गया है, क्योंकि वे देवगति में ही उत्पन्न होते हैं।

**बाल-पंडित की अपेक्षा**

(१) जहां दो मरण की एक समय में विवक्षा है, वहां अवधि और आत्यन्तिक में से कोई एक और बाल-पंडित।
(२) तद्भव-मरण साथ होने से तीन मरण।
(३) वशार्त्त-मरण साथ होने से चार मरण।
(४) कथंचिद् आत्मघात करने वाले के वैहायस और गृध्र-पृष्ठ में से एक साथ होने से पांच[1]।

## ३. मरण के दो भेद

गोम्मटसार में मरण के दो भेद किए गए हैं—(१) कदलीघात (अकालमृत्यु) और (२) संन्यास। विष-भक्षण, विषैले जीवों के काटने, रक्तक्षय, धातुक्षय, भयंकर वस्तुदर्शन तथा उससे उत्पन्न भय, वस्त्रघात, संक्लेश क्रिया, श्वासोच्छ्वास के अवरोध और आहार न करने से समय में जो शरीर छूटता है, उसे कदलीघात-मरण कहा जाता है। कदलीघात सहित अथवा कदलीघात के बिना जो संन्यास रूप परिणामों से शरीर-त्याग होता है, उसे त्यक्त-शरीर कहते हैं। त्यक्त-शरीर के तीन भेद हैं—(१) भक्त-प्रतिज्ञा, (२) इंगिनी और (३) प्रायोग्य। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

**(१) भक्त-प्रतिज्ञा**—भोजन का त्याग कर जो संन्यास मरण किया जाता है, उसे 'भक्त-प्रतिज्ञा-मरण' कहा जाता है। इसके तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य का कालमान अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट का १२ वर्ष और शेष का मध्यवर्ती।

**(२) इंगिनी**—अपने शरीर की परिचर्या स्वयं करे, दूसरों से सेवा न ले, इस विधि से जो संन्यास धारण पूर्वक मरण होता है उसे 'इंगिनी-मरण' कहा जाता है।

**(३) प्रायोग्य, प्रायोपगमन**—अपने शरीर की परिचर्या न स्वयं करे और न दूसरों से कराए, ऐसे संन्यास पूर्वक मरण को प्रायोग्य या प्रायोपगमन-मरण कहा है।

## ४. मरण के पांच भेद

मूलाराधना में दूसरे प्रकार से भी मरण-विभाग प्राप्त होता है—

१. पंडित-पंडित-मरण
२. पंडित-मरण
३. बाल-पंडित-मरण
४. बाल-मरण
५. बाल-बाल-मरण।[3]

प्रस्तुत अध्ययन में मरण के दो प्रकार बतलाए गए हैं। इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है अकाम-मृत्यु का परिहार और सकाम-मृत्यु का स्वीकरण।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२७-२२९ बृहद्वृत्ति पत्र, २३७-३८।
२. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा ५७-६१।
३. मूलाराधना, आश्वास १, गाथा २६ :
पंडिदं पंडिदं मरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पंचमं अज्झयणं : पांचवां अध्ययन
## अकाममरणिज्जं : अकाम-मरणीय

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. अण्णवंसि महोहंसि,<br>एगे तिण्णे दुरुत्तरं।<br>एत्थ एगे महापन्ने,<br>इमं पट्ठमुदाहरे।। | *अर्णवे महौघे*<br>*एकस्तीर्णो दुरुत्तरां*<br>*तत्रैको महाप्रज्ञः*<br>*इदं पृष्टमुदाहरेत्।।* | इस महा प्रवाह वाले दुस्तर संसार-समुद्र से[1] कई तिर गए। उसमें एक महाप्रज्ञ[2] (महावीर) ने इस प्रश्न[3] का व्याकरण किया। |
| २. संतिमे य दुवे ठाणा,<br>अक्खाया मारणंतिया।<br>अकाममरणं चेव,<br>सकाममरणं तहा।। | *सन्त इमे च द्वे स्थाने*<br>*आख्याते मारणान्तिके।*<br>*अकाममरणं चैव*<br>*सकाममरणं तथा।।* | मृत्यु के दो स्थान कथित हैं—अकाम-मरण और सकाम-मरण।[4] |
| ३. बालाणं अकामं तु,<br>मरणं असइं भवे।<br>पंडियाणं सकामं तु,<br>उक्कोसेण सइं भवे।। | *बालानामकामं तु*<br>*मरणमसकृद् भवेत्।*<br>*पण्डितानां सकामं तु*<br>*उत्कर्षेण सकृद् भवेत्।।* | बाल जीवों के अकाम-मरण बार-बार होता है। पण्डितों के सकाम-मरण उत्कर्षतः एक बार होता है।[5] |
| ४. तत्थिमं पढमं ठाणं,<br>महावीरेण देसियं।<br>कामगिद्धे जहा बाले,<br>भिसं कूराइं कुव्वई।। | *तत्रेदं प्रथमं स्थानं*<br>*महावीरेण देशितम्।*<br>*कामगृद्धो यथा बालो*<br>*भृशं क्रूराणि करोति।।* | महावीर ने उन दो स्थानों में पहला स्थान यह कहा है, जैसे कामासक्त बाल-जीव बहुत क्रूर-कर्म करता है।[6] |
| ५. जे गिद्धे कामभोगेसु,<br>एगे कूडाय गच्छई।<br>न मे दिट्ठे परे लोए,<br>चक्खुदिट्ठा इमा रई।। | *यो गृद्धः कामभोगेषु*<br>*एकः कूटाय गच्छति।*<br>*न मया दृष्टः परो लोकः*<br>*चक्षुर्दृष्टेयं रतिः।।* | जो कोई कामभोगों में[7] आसक्त होता है, उसकी गति मिथ्या भाषण[8] की ओर हो जाती है। वह कहता है—परलोक तो मैंने देखा नहीं, यह रति (आनन्द)[9] तो चक्षु-दृष्ट है—आंखों के सामने है।[10] |
| ६. हत्थागया इमे कामा,<br>कालिया जे अणागया।<br>को जाणइ परे लोए,<br>अत्थि वा नत्थि वा पुणो?।। | *हस्तागता इमे कामाः*<br>*कालिका येऽनागताः।*<br>*को जानाति परो लोकः*<br>*अस्ति वा नास्ति वा पुनः?।।* | ये कामभोग हाथ में आए हुए हैं। भविष्य में होने वाले संदिग्ध हैं।[11] कौन जानता है—परलोक है या नहीं? |
| ७. जणेण सद्धिं होक्खामि,<br>इइ बाले पगब्भई।<br>कामभोगाणुराएणं,<br>केसं संपडिवज्जई।। | *जनेन सार्धं भविष्यामि*<br>*इति बालः प्रगल्भते।*<br>*कामभोगानुरागेण*<br>*क्लेशं सम्प्रतिपद्यते।।* | "मैं लोक समुदाय के साथ रहूंगा" (जो गति उनकी होगी वही मेरी)—ऐसा मानकर बाल—अज्ञानी मनुष्य धृष्ट बन जाता है। वह काम-भोग के अनुराग से क्लेश[12] (संक्लिष्ट परिणाम) को प्राप्त करता है। |
| ८. ओ से दंडं समारभई,<br>तसेसु थावरेसु य।<br>अट्ठाए य अणट्ठाए,<br>भूयग्गामं विहिंसई।। | *ततः स दण्डं समारभते*<br>*त्रसेषु स्थावरेषु च।*<br>*अर्थाय चानर्थाय*<br>*भूतग्रामं विहिनस्ति।।* | फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवों के प्रति दण्ड का प्रयोग करता है और प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही[13] प्राणी-समूह की[14] हिंसा करता है। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. हिंसे बाले मुसावाई,
माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं,
सेयमेयं ति मन्नई।।

*हिंस्रो बालो मृषावादी*
*मायी पिशुनः शठः।*
*भुंजानः सुरां मांसं*
*श्रेय एतदिति मन्यते।।*

हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, छल-कपट करने वाला, चुगली खाने वाला, वेश-परिवर्तन कर अपने आपको दूसरे रूप में प्रगट करने वाला[१७] अज्ञानी मनुष्य मद्य और मांस का भोग करता है और 'यह श्रेय है'—ऐसा मानता है।

१०. कायसा वयसा मत्ते,
वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ,
सिसुणागु व्व मट्टियं।।

*कायेन वचसा मत्तः*
*वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु।*
*द्विधा मलं संचिनोति*
*शिशुनाग इव मृत्तिकाम्।।*

वह शरीर और वाणी से मत्त होता है। धन और स्त्रियों में गृद्ध होता है। वह आचरण और चिंतन—दोनों से उसी प्रकार कर्म-मल का संचय करता है जैसे शिशुनाग (अलस या केंचुआ) मुख और शरीर—दोनों से मिट्टी का।[१८]

११. तओ पुट्ठो आयंकेणं,
गिलाणो परितप्पई।
पभीओ परलोगस्स,
कम्माणुप्पेहि अप्पणो।।

*ततः स्पृष्टः आतंकेन*
*ग्लानः परितप्यते।*
*प्रभीतः परलोकात्*
*कर्मानुप्रेक्षी आत्मनः।।*

फिर वह आतंक से[१९] स्पृष्ट होने पर ग्लान बना हुआ परिताप करता है। अपने कर्मों का चिन्तन कर परलोक से भयभीत होता है।[२०]

१२. सुया मे नरए ठाणा,
असीलाणं च जा गई।
बालाणं क्रूरकम्माणं,
पगाढा जत्थ वेयणा।।

*श्रुतानि मया नरके स्थानानि*
*आशीलानां च या गतिः।*
*बालानां क्रूरकर्मणां*
*प्रगाढा यत्र वेदनाः।।*

वह सोचता है—मैंने उन नारकीय स्थानों[२१] के विषय में सुना है, जो शील रहित तथा क्रूर-कर्म करने वाले अज्ञानी मनुष्यों की अन्तिम गति हैं और जहां प्रगाढ़ वेदना है।[२२]

१३. तत्थोववाइयं ठाणं,
जहा मेयमणुस्सुयं।
आहाकम्मेहिं गच्छंतो,
सो पच्छा परितप्पई।।

*तत्रौपपातिकं स्थानं,*
*यथा ममैतदनुश्रुतम्।।*
*यथाकर्मभिर्गच्छन्,*
*सः पश्चात् परितप्यते।।*

उन नरकों में जैसा औपपातिक[२३] (उत्पन्न होने का) स्थान है, वैसा मैंने सुना है। वह आयुष्य क्षीण होने पर अपने कृत-कर्मों के अनुसार[२४] वहां जाता हुआ अनुताप करता है।

१४. जहा सागडिओ जाणं,
समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो,
अक्खे भग्गंमि सोयई।।

*यथा शाकटिको जानन्,*
*समं हित्वा महापथम्।*
*विषमं मार्गमवतीर्णः,*
*अक्षे भग्ने शोचति।।*

जैसे कोई गाड़ीवान् समतल राजमार्ग को जानता हुआ भी उसे छोड़कर विषम मार्ग से चल पड़ता है और गाड़ी की धुरी[२५] टूट जाने पर शोक करता है।

१५. एवं धम्मं विउक्कम्म,
अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते,
अक्खे भग्गे व सोयई।।

*एवं धर्मं व्युत्क्रम्य,*
*अधर्मं प्रतिपद्य।*
*बालः मृत्युमुखं प्राप्तः,*
*अक्षे भग्ने इव शोचति।।*

इसी प्रकार धर्म का उल्लंघन कर, अधर्म को स्वीकार कर, मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ अज्ञान धुरी टूटे हुए गाड़ीवान् की तरह शोक करता है।

१६. तओ से मरणंतंमि,
बाले संतस्सई भया।
अकाममरणं मरई,
धुत्ते व कलिना जिए।।

*ततः स मरणान्ते,*
*बालः संत्रस्यति भयात्।*
*अकाममरणं म्रियते,*
*धूर्त्त इव कलिना जितः।।*

फिर मरणान्त के समय वह अज्ञानी मनुष्य परलोक के भय से संत्रस्त होता है और एक ही दाव में[२६] हार जाने वाले जुआरी[२७] की तरह शोक करता हुआ अकाम-मरण से मरता है।

१७. एयं अकाममरणं,
बालाणं तु पवेइयं।
एत्तो सकाममरणं,
पंडियाणं सुणेह मे।।

*एतदकाममरणं,*
*बालानां तु प्रवेदितम्।*
*इतः सकाममरणं,*
*पण्डितानां शृणुत मम।।*

यह अज्ञानियों के अकाम-मरण का प्रतिपादन किया गया है। अब पण्डितों के सकाम-मरण का मुझसे सुनो।[२८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. मरणं पि सपुण्णाणं,
जहा मेयमणुस्सुयं।
विप्पसण्णमणाघायं,
संजयाण वुसीमओ।।

*मरणमपि सपुण्यानां,*
*यथा ममैतदनुश्रुतम्।*
*विप्रसन्नमनाघातं,*
*संयतानां वृषीमताम्।।*

जैसा मैंने सुना भी है—पुण्यशाली, संयमी और जितेन्द्रिय पुरुषों का[२७] मरण प्रसन्न[२८] और आघात रहित होता है।

१९. न इमं सव्वेसु भिक्खूसु,
न इमं सव्वेसुऽगारिसु।
नाणासीला अगारत्था,
विसमसीला य भिक्खुणो।।

*नेदं सर्वेषु भिक्षुषु,*
*नेदं सर्वेषु अगारिषु।*
*नानाशीला अगारस्थाः,*
*विषमशीलाश्च भिक्षवः।।*

यह सकाम-मरण न सब भिक्षुओं को प्राप्त होता है और न सभी गृहस्थों को। क्योंकि गृहस्थ विविध प्रकार के शील वाले[२९] होते हैं और भिक्षु भी विषम-शील वाले[३०] होते हैं।

२०. संति एगेहिं भिक्खूहिं,
गारत्था संजमुत्तरा।
गारेत्थेहि य सव्वेहिं,
साहवो संजमुत्तरा।।

*सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः,*
*अगारस्थाः संयमोत्तराः।*
*अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः,*
*साधवः संयमोत्तराः।।*

कुछ भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम प्रधान होता है। किन्तु साधुओं का संयम सब गृहस्थों से प्रधान होता है।[३१]

२१. चीराजिणं नगिणिणं,
जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न तायंति,
दुस्सीलं परियागयं।।

*चीराजिनं नाग्न्यं,*
*जटी सङ्घानिमुण्डित्वम्।*
*एतान्यपि न त्रायन्ते,*
*दुःशीलं पर्यागतम्।*

चीवर, चर्म, नग्नत्व, जटाधारीपन, संघाटी (उत्तरीय वस्त्र) और सिर मुंडाना—ये सब दुष्टशील वाले साधु की[३२] रक्षा नहीं करते।[३३]

२२. पिंडोलए व दुस्सीले,
नरगाओ न मुच्चई।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा,
सुव्वए कम्मई दिवं।।

*पिण्डावलगो वा दुःशीलो,*
*नरकान्न मुच्यते।*
*भिक्षादो वा गृहस्थो वा,*
*सुव्रतः क्रामति दिवम्।।*

भिक्षा से जीवन चलाने वाला भी यदि दुःशील हो तो वह नरक से नहीं छूटता।[३४] भिक्षु हो या गृहस्थ, यदि वह सुव्रती है तो स्वर्ग में जाता है।[३५]

२३. अगारि-सामाइयंगाइं
सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं,
एगरायं न हावए।।

*अगारि-सामायिकाङ्गानि,*
*श्रद्धी कायेन स्पृशति।*
*पौषधं द्वयोः पक्षयोः,*
*एकरात्रं न हापयति।।*

श्रद्धालु श्रावक गृहस्थ-सामायिक के अंगों का[३६] आचरण करे। दोनों पक्षों में किए जाने वाले पौषध को[३७] एक दिन-रात के लिए भी न छोड़े।

२४. एवं सिक्खासमावन्ने,
गिहवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ,
गच्छे जक्ख-सलोगयं।।

*एवं शिक्षासमापन्नः,*
*गृहवासेऽपि सुव्रतः।*
*मुच्यते छविपर्वणः,*
*गच्छेद् यक्ष-सलोकताम्।।*

इस प्रकार व्रतों के आसेवन की शिक्षा से समापन्न सुव्रती मनुष्य गृहवास में रहता हुआ भी औदारिक शरीर[३८] से मुक्त होकर यक्ष-सलोकता को प्राप्त होता है[३९]—देवलोक में चला जाता है।

२५. अह जे संवुडे भिक्खू,
दोण्हं अन्नयरे सिया।
सव्वदुक्खप्पहीणे वा,
देवे वावि महड्ढिए।।

*अथ यः संवृतो भिक्षुः,*
*द्वयोरन्यतरः स्यात्।*
*सर्वदुःखप्रहीणो वा,*
*देवो वाऽपि महर्द्धिकः।।*

जो संवृत भिक्षु होता है, वह दोनों में से एक होता है—सब दुःखों से मुक्त या महान् ऋद्धि वाला देव।

२६. उत्तराइं विमोहाइं,
जुइमंताणुपुव्वसो।
समाइण्णाइं जक्खेहिं,
आवासाइं जसंसिणो।।

*उत्तरा विमोहाः,*
*द्युतिमन्तोऽनुपूर्वशः।*
*समाकीर्णा यक्षैः,*
*आवासा यशस्विनः।।*

देवताओं के आवास उत्तरोत्तर[४०] उत्तम[४१] मोह रहित[४२] और द्युतिमान् तथा देवों से आकीर्ण होते हैं। उनमें रहने वाले देव यशस्वी—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७. दीहाउया इड्ढिमंता,
समिद्धा कामरूविणो।
अहुणोववन्नसंकासा,
भुज्जो अच्चिमालिप्पभा।।

*दीर्घायुषः ऋद्धिमन्तः,*
*समिद्धाः कामरूपिणः।*
*अधुनोपपन्नसंकाशा,*
*भूयोऽर्चिमालिप्रभाः।।*

दीर्घायु, ऋद्धिमान्, दीप्तिमान्,[४३] इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हों—ऐसी कान्ति वाले[४४] और सूर्य के समान अति-तेजस्वी होते हैं।

२८. ताणि ठाणाणि गच्छंति,
सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा,
जे संति परिनिव्वुडा।।

*तानि स्थानानि गच्छन्ति,*
*शिक्षित्वा संयमं तपः।*
*भिक्षादा वा गृहस्था वा,*
*ये सन्ति परिनिर्वृताः।।*

जो उपशान्त होते हैं,[४५] वे संयम और तप का अभ्यास कर उन देव-आवासों में जाते हैं, भले फिर वे भिक्षु हों या गृहस्थ।

२९. तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं,
संजयाण वुसीमओ।
न संतसंति मरणंते,
सीलवंता बहुस्सुया।।

*तेषां श्रुत्वा सत्पूज्यानां,*
*संयतानां वृषीमताम्।*
*न संत्रस्यन्ति मरणान्ते,*
*शीलवन्तो बहुश्रुताः।।*

उन सत्-पूजनीय, संयमी और जितेन्द्रिय भिक्षुओं का पूर्वोक्त विवरण सुनकर शीलवान् और बहुश्रुत भिक्षु मरणकाल में भी संत्रस्त नहीं होते।[४६]

३०. तुलिया विसेसमादाय
दयाधम्मस्स खंतिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी,
तहाभूएण अप्पणा।।

*तोलयित्वा विशेषमादाय,*
*दयाधर्मस्य क्षान्त्या।*
*विप्रसीदेन्मेधावी,*
*तथाभूतेनात्मना।।*

मेधावी मुनि अपने आपको तोल कर, अकाम और सकाम-मरण के भेद को जानकर अहिंसा धर्मोचित सहिष्णुता[४७] और तथाभूत (उपशान्त मोह)[४८] आत्मा के द्वारा प्रसन्न रहे—मरण-काल में उद्विग्न न बने।[४९]

३१. तओ काले अभिप्पेए,
सड्ढी तालिसमंतिए।
विणएज्ज लोमहरिसं,
भेयं देहस्स कंखए।।

*ततः काले अभिप्रेते,*
*श्रद्धी तादृशान्तिके।*
*विनयेल्लोमहर्षं,*
*भेदं देहस्य काङ्क्षेत्।।*

जब मरण अभिप्रेत हो,[५०] उस समय जिस श्रद्धा से मुनि-धर्म या संलेखना को स्वीकार किया, वैसी ही श्रद्धा रखने वाला भिक्षु गुरु के समीप कष्टजनित रोमांच को[५१] दूर करे, शरीर के भेद की प्रतीक्षा करे—उनकी सार संभाल न करे।[५२]

३२. अह कालंमि संपत्ते,
आघायाय समुस्सयं।
सकाममरणं मरई,
तिण्हमन्नयरं मुणी।।

*अथ काले संप्राप्ते,*
*आघातयन् समुच्छ्रयम्।*
*सकाममरणं म्रियते,*
*त्रयाणामन्यतरं मुनिः।।*

वह मरणकाल प्राप्त होने पर[५३] संलेखना के द्वारा शरीर का त्याग करता है,[५४] भक्त-प्रतिज्ञा, इङ्गिनी या प्रायोपगमन—इन तीनों में से किसी एक को[५५] स्वीकार कर सकाम-मरण से मरता है।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण :

# अध्ययन ५ : अकाममरणीय

**१. महाप्रवाह वाले...संसार समुद्र से (अण्णवंसि महोहंसि)**

संस्कृत कोश में पानी का एक नाम है 'अर्णस्'।[1] यह सकारान्त शब्द है। व्याकरण के अनुसार 'सकार' का लोपकर 'वकार' का आदेश करने पर 'अर्णव' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—समुद्र। प्रस्तुत प्रकरण में भाव अर्णव का प्रसंग है। इसका अर्थ होगा—संसार रूपी समुद्र।

ओघ का अर्थ है—प्रवाह। इसका प्रयोग अनेक संदर्भों में होता है, जैसे—जल का प्रवाह, जन्म-मरण का प्रवाह, दर्शनों या मतों का प्रवाह आदि।

प्रस्तुत प्रकरण में 'ओघ' शब्द जल-प्रवाह के अर्थ में प्रयुक्त है।

**२. महाप्रज्ञ (महापन्ने)**

इसका अर्थ है—महान् प्रज्ञावान्। वृत्तिकार ने प्रकरणवश इसका अर्थ केवलज्ञानी, तीर्थंकर किया है।[2]

**३. प्रश्न (पट्ठं)**

इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—पृष्ट और स्पष्ट। पृष्ट का अर्थ है—पूछना या प्रश्न और स्पष्ट का अर्थ है—स्पष्ट, असंदिग्ध। इसके स्थान पर 'पण्हं' पाठ भी मिलता है। उसका अर्थ है—प्रश्न, जिज्ञासा।

चूर्णि और वृत्ति में 'पट्ठं' का अर्थ स्पष्ट, असंदिग्ध किया है।[3]

**४. (अकाममरणं.....सकाममरणं)**

**अकाममरण**—जो व्यक्ति विषय में आसक्त होने के कारण मरना नहीं चाहता किन्तु आयु पूर्ण होने पर वह मरता है, उसका मरण विवशता की स्थिति में होता है इसलिए उसे अकाममरण कहा जाता है।[4] इसे बालमरण (अविरति का मरण) भी कहा जा सकता है।

**सकाममरण**—जो व्यक्ति विषयों के प्रति अनासक्त होने के कारण मरण-काल में भयभीत नहीं होता किन्तु उसे जीवन की भांति उत्सव-रूप मानता है, उस व्यक्ति के मरण को सकाममरण कहा जाता है।[5] इसे पंडितमरण (विरति का मरण) भी कहा जा सकता है।

**५. (श्लोक ३)**

इस श्लोक में कहा गया है कि पंडित (चरित्रवान्) व्यक्तियों का 'सकाममरण' एक बार ही होता है। यह कथन 'केवली' की अपेक्षा से ही है। अन्य चरित्रवान् मुनियों का 'सकाममरण' सात-आठ बार हो सकता है।[6]

इसमें आए हुए बाल और पंडित शब्दों का विशेष अर्थ है। जिस व्यक्ति के कोई व्रत नहीं होता उसे बाल कहा जाता है। सर्वव्रती व्यक्ति को पंडित कहा जाता है।

**६. (कामगिद्धे.....कूराइं कुव्वई)**

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह पुरुषार्थ-चतुष्टयी दो युगलों में विभक्त है। एक युगल है धर्म और मोक्ष का और दूसरा युगल है अर्थ और काम का। पहले युगल में धर्म साधन है और मोक्ष साध्य तथा दूसरे युगल में अर्थ (धन) साधन है और काम साध्य। इनके आधार पर दो विचारधाराएं बनीं—लौकिक और आध्यात्मिक। लौकिक धारा ने अर्थ और काम के आधार पर जीवन की व्याख्या की और आध्यात्मिक धारा ने धर्म और मोक्ष के आधार पर जीवन की व्याख्या की। दोनों की समन्विति ही जीवन की समग्रता है।

दो वाद प्रचलित हैं—सुखवाद और दुःखवाद। सुखवाद का मूल है—काम। व्यक्ति सुख से प्रेरित होकर नहीं, कामना से प्रेरित होकर प्रवृत्ति करता है। महावीर कहते हैं—'कामकामी खलु अयं पुरिसे'—यह मनुष्य काम (कामना) से प्रेरित होकर प्रवृत्ति करता है। काम ही मनुष्य की प्रेरणा है। फ्रायड ने भी काम को ही सभी प्रवृत्तियों और विकासों का मूल माना है।

यह सच है, मनुष्य कामनाओं से प्रेरित होकर या कामनाओं की संपूर्ति के लिए हिंसा आदि करता है। जब वह

---

१. अभिधान चिन्तामणि कोश, ४।१३८।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र १४१ : महती—निरावरणतयाऽपरिमाणा प्रज्ञा—केवलज्ञानात्मिका संवित् अस्येति महाप्रज्ञः।

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १३० : स्पष्टं नामासंदिग्धं।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २४१।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र २४२ : ते हि विषयाभिष्वङ्गतो मरणमनिच्छन्त एव म्रियन्ते।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र २४२ : सह कामेन—अभिलाषेण वर्तते इति सकामं सकाममिव सकामं मरणं प्रत्यसंत्रस्ततया, तथात्वं चोत्सवभूतत्वात् तादृशां मरणस्य, तथा च वाचकः—
"संचिततपोधनानां नित्यं व्रतनियमसंयमरतानाम्।
उत्सवभूतं मन्ये मरणमनपराधवृत्तीनाम्।।१।।"

६. बृहद्वृत्ति, पत्र २४२ : तच्च 'उत्कर्षेण' उत्कर्षोपलक्षितं, केवलिसम्बन्धीत्यर्थः, अकेवलिनो हि संयमजीवितं दीर्घमिच्छेयुरपि, मुक्त्यवाप्तिः इतः-स्यादिति, केवलिनस्तु तदपि नेच्छन्ति, आस्तां भवजीवितमिति, तन्मरणस्योत्कर्षेण सकामता 'सकृद्' एकवारमेव भवेत्, जघन्येन तु शेषचारित्रिणः सप्ताष्ट वा वारान् भवेदित्याकूतमिति सूत्रार्थः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामनाओं में गृद्ध होता है, उनकी पूर्ति की उदग्र अभिलाषा उसमें जागती है, तब वह क्रूर बनता है, क्रूर कर्म करता है। उसमें करुणा का सोता सूख जाता है।

कामनाओं की संपूर्ति का एकमात्र साधन है अर्थ। मनुष्य नानाविध उपायों से अर्थ का अर्जन करता है। वह साधन-शुद्धि के विवेक को भुला बैठता है।

चार पुरुषार्थ में धर्म और मोक्ष स्थविर हैं, बड़े हैं—'स्थविरे धर्ममोक्षे'। इसका अर्थ यह नहीं है कि अर्थ और काम जीवन की आवश्यकता नहीं हैं। ये भी जीवन के लिए अनिवार्य हैं। किन्तु भगवान् महावीर ने अध्यात्म-शास्त्र के आधार पर धर्म और मोक्ष को अधिक मूल्य दिया और अर्थ और काम को हेय बताया।

विश्वविजेता सिकन्दर की कामनाएं आकाश को छू रही थीं। उनकी पूर्ति के लिए उसने खून की नदियां बहाईं और विश्व-विजेता बनने के स्वप्न की संपूर्ति में लगा रहा। अन्ततः उसे निराशा ही मिली और उसकी सारी कामनाएं मन में ही रह गईं। एक कामना की पूर्ति दूसरी कामना को जन्म देती है और यह शृंखला कभी टूटती नहीं, अनन्त बन जाती है। **'इच्छा हु आकाससमा अणंतिया'**—भगवान् की यह वाणी अक्षरशः सत्य है। कामनाओं का पार वही पाता है जो अकाम हो जाता है।

कामनाओं से ग्रस्त प्राणी अत्यन्त क्रूर कर्म या विचार करता रहता है। मगरमच्छ की भौहों में एक प्रकार का अत्यन्त सूक्ष्म समनस्क प्राणी उत्पन्न होता है। उसे 'तंदुलमत्स्य' कहा जाता है। मगरमच्छ समुद्र में मुंह बाएं पड़ा रहता है। उसके खुले मुंह में जल के साथ-साथ हजारों छोटे-बड़े मत्स्य प्रवेश करते हैं और जल-प्रवाह के निर्गमन के साथ बाहर निकल जाते हैं। यह क्रम चलता रहता है। वह तंदुलमत्स्य मन ही मन सोचता है—'अरे! कितना मूर्ख है यह मगरमच्छ! क्यों नहीं यह मुंह में स्वतः प्रविष्ट होने वाले मत्स्यों को निगल जाता? यदि मैं इसके स्थान पर होता तो सबको निगल जाता।' यह विचार उसके मन में निरन्तर बना रहता है। उसकी शक्ति नहीं कि वह उन मत्स्यों को निगल जाए, पर वह मन से इतना क्रूर विचार कर प्रचुर कर्मों का संचय कर लेता है।

## ७. कामभोगों में (कामभोगेसु)

काम और भोग—ये दो शब्द हैं। चूर्णिकार ने इन दोनों शब्दों के दो-दो अर्थ किए हैं[1]—

काम— १. जिसकी कामना की जाती है।
२. काम-वासना।

भोग— १. जिनका उपभोग किया जाता है।
२. सभी इन्द्रियों के विषय।

बृहद्वृत्ति में इनके तीन अर्थ ये हैं[2]—

१. जिनकी कामना की जाती है वे हैं काम और जिनका उपभोग किया जाता है वे हैं भोग।
२. शब्द और रूप है काम तथा स्पर्श, रस और गंध है भोग।
३. स्त्रियों का संसर्ग या आसक्ति है काम तथा शरीर के परिकर्म के साधन—धूपन, विलेपन आदि हैं भोग।

## ८. मिथ्या भाषण (कूडाय)

'कूट' शब्द के अनेक अर्थ हैं—माया, झूठ, यथार्थ का अपलाप, धोखा, चालाकी, अंत, समूह, मृग को पकड़ने का यंत्र आदि-आदि।

प्रस्तुत प्रकरण की चूर्णि में इसके तीन अर्थ प्राप्त हैं—नरक, मृग को पकड़ने का यंत्र और इन्द्रिय-विषय[3]।

वृत्तिकार ने भी इसके तीन अर्थ किए हैं। प्रथम दो अर्थ चूर्णि के समान हैं और तीसरा अर्थ है—मिथ्या भाषण आदि।[4]

सूत्रकृतांग १/४/४५ में 'एगन्तकूडे' तथा 'कूडेन'—ये दो पद प्रयुक्त हैं। 'एगन्तकूड' में कूड का अर्थ है—विषम। एगन्तकूड का अर्थ है—ऐसा स्थान जहां कोई भी समतल भूमि न हो।[5]

'कूडेन' शब्द में 'कूड' का अर्थ है—गलयंत्रपाश अथवा पाषाणसमूह।[6]

सूत्रकृतांग १/१३/६ में भी 'कूडेण' शब्द का प्रयोग है। वहां इसका अर्थ है—माया। वृत्ति में इसका अर्थ मृगपाश किया गया है।[7]

प्रस्तुत प्रकरण में 'कूट' का अर्थ मिथ्या वचन अधिक संगत लगता है।

## ९. रति (आनन्द) (रई)

चूर्णि में 'रति' का अर्थ है—इष्ट विषय में प्रीति उत्पन्न करने वाली वृत्ति।[8] वृत्ति में इसका अर्थ है—कामवासना के सेवन से उत्पन्न चित्त का आह्लाद।[9]

## १०. (न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई)

परलोक तो मैंने देखा नहीं, यह रति (आनन्द) तो

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १३१ : काम्यन्त इति कामाः, भुज्यंत इति भोगाः, कामा इति विसयाः, भोगाः सेसिंदियविसया।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र २४३ : काम्यन्त इति कामाः, भुज्यन्त इति भोगाः... कामा दुविहा पण्णत्ता—सद्दा रूवा य, भोगा तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—गंधा रसा फासा य त्ति.....कामेषु—स्त्रीसंगेषु, भोगेषु—धूपनविलेपनादिषु।
३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३१-१३२।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र २४३।
५. सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० १३८ : एगंतकूडो णाम एकान्तविषमः।
६. सूत्रकृतांग वृत्ति, पत्र १३६ : कूटेन गलयन्त्रपाशादिना पाषाणसमूहलक्षणेन वा।
७. सूत्रकृतांग वृत्ति, पत्र २४१ : कूटवत्कूटं यथा कूटेन मृगादिबंधः।
८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३२ : इष्टविषयप्रीतिप्रादुर्भावात्मिका रतिः।
९. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २४३ : रम्यतेऽस्यामिति रतिः—स्पर्शनादिसम्भोग-जनिता चित्तप्रह्लत्तिः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्षु-दृष्ट है। इन दो पदों में अनात्मवादियों के अभिमत का उल्लेख है। वे प्रत्यक्ष को ही वास्तविक मानते हैं तथा भूत और अनागत को अवास्तविक। कामासक्त व्यक्तियों का यह चिन्तन अस्वाभाविक नहीं है।

## ११. (हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया)

चूर्णिकार ने लिखा है—कोई मूर्ख भी अपनी गांठ में बन्धे हुए चावलों को छोड़कर भविष्य में होने वाले चावलों के लिए आरम्भ नहीं करता।[1]

शान्त्याचार्य ने लिखा है—हाथ में आए हुए द्रव्यों को कोई भी पैरों से नहीं रौंदता।[2]

जो आत्मा, परलोक व धर्म का मर्म समझता है वह अनागत भोगों की प्राप्ति के लिए हस्तगत भोगों को नहीं छोड़ता। इसलिए अनात्मवादियों का यह चिन्तन यथार्थ नहीं है। इसकी चर्चा नौवें अध्ययन में श्लोक ५१-५३ में भी हुई है।

## १२. क्लेश (केसं)

क्लेश शब्द के अनेक अर्थ हैं—पीड़ा, परिताप, शारीरिक या मानसिक वेदना, दुःख, क्रोध, पाप आदि।

प्रस्तुत प्रसंग में क्लेश का अर्थ है—संक्लिष्ट परिणाम। जो व्यक्ति कामभोगों में अनुरक्त होता है, वह शारीरिक और मानसिक उत्ताप से उत्तप्त रहता है।

पतंजलि ने क्लेश के पांच प्रकार बतलाए हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।[3]

गीता में कहा है—जो व्यक्ति विषयों का चिन्तन निरंतर करता रहता है, उसमें उन विषयों के प्रति आसक्ति पैदा हो जाती है। आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से संमूढता, संमूढता से स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश और बुद्धि-नाश से व्यक्ति स्वयं नष्ट हो जाता है।[4]

प्रस्तुत श्लोक में भी यही प्रतिपाद्य है कि कामभोग की आसक्ति से क्लेश पैदा होता है। वह व्यक्ति आसक्ति के संक्लिष्ट परिणामों के आवर्त में फंस कर नष्ट हो जाता है।

कामभोग से होने वाला क्लेश बहुत दीर्घकालीन होता है। सुखबोधा में इसकी पुष्टि के लिए एक श्लोक उद्धृत किया गया है[5]—

***वरि विसु भुंजिउ मं विसय, एक्कसि विसिण मरंति।***
***नर विसयामिसमोहिया, बहुसो नरइ पडंति।।***

इसका आशय है कि विष पीना अच्छा है, विषय नहीं। मनुष्य विष से एक ही बार मरते हैं, किन्तु विषय रूप मांस में मोहित मनुष्य अनेक बार मरते हैं—नरक में जाते हैं।

## १३. प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही (अट्ठाए य अणट्ठाए)

हिंसा के दो प्रकार हैं—अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा। इन्हें एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है—

एक ग्वाला था। वह प्रतिदिन बकरियों को चराने जाता था। मध्याह्न में बकरियों को एक वट-वृक्ष के नीचे बिठाकर स्वयं सीधा सोकर बांस के गोफन से बेर की गुठलियों को फेंक बरगद के पत्तों को छेदता था। इस प्रकार उसने प्रायः पत्तों को छेद डाला। एक बार एक राजपुत्र उस वट-वृक्ष की छाया में जा बैठा। उसने छिदे हुए पत्रों को देखकर ग्वाले से पूछा—ये किसने छेदे हैं? उसने कहा—ये मैंने छेदे हैं। राजपुत्र ने कहा—किसलिए? ग्वाले ने कहा—विनोद के लिए। तब राजपुत्र ने उसे धन का प्रलोभन देते हुए कहा—मैं कहूं कि उसकी आंखें बींध दो, तो उसकी आंखें क्या तू बींध देगा? ग्वाले ने कहा—हां, मैं बींध सकता हूं, यदि वह मेरे नजदीक हो। राजपुत्र उसे अपने नगर ले गया। राजपथ में आए हुए प्रासाद में उसे ठहरा दिया। उस राजपुत्र का भाई राजा था। वह उसी मार्ग से अश्वरथ पर चढ़कर जाता था। राजपुत्र ने ग्वाले से कहा—इसकी आंखें फोड़ डाल। उस ग्वाले ने अपने गोफन से उसकी दोनों आंखें फोड़ डालीं। अब वह राजपुत्र राजा बन गया। उसने ग्वाले से कहा—बोल, तू क्या चाहता है? उसने कहा—आप मुझे वह गांव दें जहां मैं रहता हूं। राजा ने उसे वही गांव दे दिया। उसी सीमान्त के गांव में उसने ईख की खेती की और तुम्बी की बेल लगाई। गुड़ हुआ और तुम्बे हुए। उसने तुम्बों को गुड़ में पका गुड़-तुम्बक तैयार किया। उसे खाता और गाता—

***अट्टमट्टं च सिक्खिजा, सिक्खियं ण णिरत्थं।***
***अट्टमट्टपसाएण, भुंजए गुडतुम्बयम्।।***[6]

अर्थात् उटपटांग जो भी हो सीखना चाहिए। सीखा हुआ व्यर्थ नहीं जाता। इसी अट्टमट्ट के प्रसाद से यह गुड़तुम्बा मिल रहा है। ग्वाला पत्रों को बिना प्रयोजन छेदता था और उसने आंखों को प्रयोजनवश छेदा।

यह उदाहरण एक स्थूल भावना का स्पर्श करता है। साधारण उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजा की आंखें फोड़ डाली गईं—यह वस्तुतः अनर्थ हिंसा ही है। अर्थ-हिंसा उसे कहा जा सकता है, जहां प्रयोजन की अनिवार्यता हो।

## १४. प्राणी-समूह (भूयग्गामं)

सामान्यतः 'भूत' का अर्थ है—प्राणी और ग्राम का अर्थ है—समूह। भूतग्राम अर्थात् प्राणियों का समूह। समवायांग में

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १३२ : न हि कश्चित् मुग्धोऽपि ओदनं बद्धेलनकं मुक्त्वा कालिकस्योदनस्यारंभं करोति।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २४३।

३. पातंजलयोगदर्शन २।३ : अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।

४. गीता २।६२, ६३ : ध्यायतो विषयान् पुंसः, संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।

५. सुखबोधा, पत्र १०३।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र २४४, २४५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौदह भूतग्रामों—जीवसमूहों का उल्लेख है।[1] चूर्णिकार ने भी सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त के भेद से चौदह प्रकार के जीवों का उल्लेख किया है।[2] वृत्ति में इसका अर्थ है—प्राणियों का समूह।[3]

### १५. वेश परिवर्तन कर अपने आपको दूसरे रूप में प्रकट करने वाला (सढे)

इसका सामान्य अर्थ है—धूर्त्त, मूढ़, आलसी। यहां इसका अर्थ—वेष परिवर्तन कर अपने आपको दूसरे रूप में प्रगट करने वाला है।[4] टीकाओं में 'मंडिक चोरवत्' ऐसा उल्लेख किया है। मंडिक चोर की कथा इसी आगम के चौथे अध्ययन के सातवें श्लोक की व्याख्या में है।

### १६. (श्लोक १०)

प्रस्तुत श्लोक में व्यक्ति की अहंमन्यता और आसक्ति का सुन्दर चित्रण हुआ है। व्यक्ति मन, वचन और काया से मत्त होता है। शरीर से मत्त होकर वह मानने लगता है—मैं कितना रूप-संपन्न और शक्ति-संपन्न हूं! वाणी का अहं करते हुए वह सोचता है—मैं कितना सु-स्वर हूं! मेरी वाणी में कैसा जादू है! मानसिक अहं के वशीभूत होकर वह सोचता है—ओह! मैं अपूर्व अवधारणा शक्ति से संपन्न हूं। इस प्रकार वह अपना गुण-ख्यापन करता है।

आसक्ति के दो मुख्य हेतु हैं—धन और स्त्री। धन की आसक्ति से वह अदत्त का आदान करता है और परिग्रह का संचय करता है।

स्त्री की आसक्ति से वह स्त्री को संसार का सर्वस्व मानने लगता है—

***सत्यं वच्मि हितं वच्मि, सारं वच्मि पुनः पुनः।***
***अस्मिन्नसारे संसारे, सारं सारंगलोचनाः॥***

अहंमन्यता और आसक्ति से ग्रस्त व्यक्ति भीतर के अशुद्ध भावों से तथा बाहर की असत् प्रवृत्ति से—दोनों ओर से कर्मों का बंधन करता है। आस्था और आचरण—दोनों से वह कर्म का संचय करता है। वह इस लोक में भी जानलेवा रोगों से अभिभूत होता है और मरण के पश्चात् भी दुर्गति में जाता है।

सूत्रकार ने यहां शिशुनाग का उदाहरण प्रस्तुत किया है। शिशुनाग—अलस या केंचुआ मिट्टी खाता है। उसका शरीर गीला होता है और वह निरंतर मिट्टी के ढेरों में ही घूमता रहता है, इसलिए उसके शरीर पर मिट्टी चिपक जाती है। वह शीतयोनिक होता है अतः सूर्य की उत्तप्त किरणों से स्नेह—गीलापन सूख जाता है। वह तब गर्म मिट्टी से झुलस-झुलस कर मर जाता है।

इस प्रकार दोनों ओर से गृहीत मिट्टी उसके विनाश का कारण बन जाती है।[5]

चूर्णिकार ने 'दुहओ'—दो प्रकार से—के अनेक विकल्प किए हैं—

जैसे—स्वयं करता हुआ या दूसरों से करवाता हुआ, अन्तःकरण से या वाणी से, राग से या द्वेष से, पुण्य या पाप का, इहलोक बन्धन या परलोक बंधन—संचय करता है।[6]

### १७. आतंक से (आयंकेण)

आतंक का अर्थ है—शीघ्रघाती रोग। शिरःशूल, विसूचिका आदि रोग आतंक माने जाते हैं।[7] आज के परिप्रेक्ष्य में हृदय-रोग इस कोटि में आ सकता है।

चूर्णि में आतंक शब्द का केवल निरुक्त प्राप्त है—जो विविध प्रकार के दुःखों से जीवन को तंकित करता है—कष्टमय बनाता है, वह है आतंक।[8]

### १८. (पभीओ.....अप्पणो)

जब व्यक्ति बुढ़ापे में जर्जर हो जाता है या रोगग्रस्त हो जाता है, तब उसे मृत्यु की सन्निकटता का भान होता है। वह सोचता है, अब यहां से सब कुछ छोड़कर जाना होगा। 'अब आगे क्या होगा'—इस आशंका से वह भयभीत हो जाता है। वह अतीत की स्मृति करता है और अपने सारे आचरणों पर दृष्टिपात करता है। वह सोचता है—मैंने कुछ भी शुभ नहीं किया। केवल हिंसा, झूठ, असत् आचरण में ही सदा लिप्त रहा। मैंने धर्म और धर्मगुरुओं की निन्दा की, असत्य आरोप लगाए और न जाने क्या-क्या अनर्थ किया। सारा अतीत उसकी आंखों के सामने नाचने लगता है। वह सोचता है, अरे, मैंने ये सारे पापकारी आचरण इस विचार से प्रेरित होकर किए थे कि मानो मैं सदा अजर-अमर रहूंगा, कभी नहीं मरूंगा। मैं भूल गया था कि जो जन्मता है, वह एक दिन अवश्य ही मरता है। **'कम्मसच्चा हु पाणिणो'** भगवान की इस वाणी को भी मैं भूल गया था। किए हुए कर्मों का भोग अवश्य ही करना होता है।

मृत्यु के भय के साथ-साथ उसको नरक का भय भी सताता है। नरक प्रत्यक्ष नहीं है, पर उसके विचारों में नरक प्रत्यक्ष होता है और वह संत्रस्त होकर 'कर्मानुप्रेक्षी' बन जाता है—अपने समस्त आचरणों को देखता है।

वृत्तिकार ने यहां एक सुन्दर श्लोक प्रस्तुत किया है—[9]

---

१. समवाओ, समवाय १४।१।
२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३३ : भूतग्गामं चोद्दसविहं...एवं चोद्दसविहंपि।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र २४५ : भूयगामं ति भूताः प्राणिनस्तेषां ग्रामः—समूहः।
४. वही, पत्र २४५ : 'शढः' तत्तन्नेपथ्यादिकरणतोऽन्यथाभूतमात्मानमन्यथा दर्शयति।
५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३४।
६. वही, पृ० १३४।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र २४६ : आतंकेन—आशुघातिना शूलविसूचिकादिरोगेण।
८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३४ : तैस्तैर्दुःखप्रकारैरात्मानं तंकयतीत्यातंकः।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र २४६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*मवित्रीं भूतानां परिणतिमनालोच्य नियतां,*
*पुरा यत् यत् किञ्चिद् विहितमशुभं यौवनमदात्।*
*पुनः प्रत्यासन्ने महति परलोकैकगमने,*
*तदेवैकं पुंसां व्यथयति जराजीर्णवपुषाम्।।*

सुखबोधा में एक प्राचीन गाथा उद्धृत है[1]—

*कीरंति जाइं जोव्वणमएण अवियारिऊण कज्जाइं।*
*वयपरिणामे सरियाइं ताइं हियए खुडुक्कंति।।*

## १९. स्थानों (ठाणा)

वृत्ति में इसके चार अर्थ प्राप्त हैं[2]—

१. नारकों का उत्पत्ति-स्थान—नारक संकरे मुंह वाले घड़ों आदि में उत्पन्न होते हैं।
२. एक ही नरक में सीमन्तक, अप्रतिष्ठान भिन्न-भिन्न स्थान।
३. कुंभी, वैतरणी, असिपत्रक वनस्थान आदि।
४. भिन्न-भिन्न आयुष्य वाले नरक-स्थान।

## २०. जहां प्रगाढ वेदना है (पगाढा जत्थ वेयणा)

प्रगाढ के तीन अर्थ हैं—निरंतर, तीव्र और उत्कट।[3] चूर्णि में वेदना के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं—शीत और उष्ण वेदना अथवा शारीरिक और मानसिक वेदना।[4]

## २१. औपपातिक (उववाइयं)

जीवों की उत्पत्ति के तीन प्रकार हैं—गर्भ, सम्मूर्छन और उपपात। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि गर्भज होते हैं, द्वीन्द्रिय आदि जीव सम्मूर्छनज और नारक तथा देव औपपातिक होते हैं। औपपातिक जीव अन्तर्मुहूर्त्त मात्र में पूर्ण शरीर वाले हो जाते हैं। अतः नरक में उत्पन्न होते ही वे जीव नरक की वेदना से अभिभूत हो जाते हैं।[5]

## २२. कृत कर्मों के अनुसार (आहाकम्मेहिं)

चूर्णिकार और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'कर्मों के अनुसार' किया है।[6] शान्त्याचार्य ने इसका मूल अर्थ 'अपने किए हुए कर्मों के द्वारा' किया है और विकल्प में इसका अर्थ किया है—'कर्मों के अनुसार'।[7]

## २३. धुरी (अक्खे)

अक्ष शब्द के अनेक अर्थ हैं—पहिया, चक्र, चौसर, पहिए का धुरा, गाड़ी का जुआ आदि।

प्रस्तुत श्लोक में अक्ष का अर्थ धुरा है। धुरा का अर्थ है—लकड़ी या लोहे का वह डंडा जिसके सहारे पहिया घूमता है। वृत्ति में जो निरुक्त है वह इसी अर्थ का द्योतक है—अश्नीते नवनीतादिकमित्यक्षो धूः—जो स्निग्ध पदार्थ—घी, तेल आदि से व्याप्त रहता है, वह धू—धुरा होता है।[8]

## २४. एक ही दाव में (कलिना)

चूर्णिकार कलि के विषय में मौन हैं।[9] शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने 'कलिना दायेन' इतना कहकर छोड़ दिया है।[10]

किन्तु अन्य प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार जुए में दो प्रकार के दाव होते थे—कृतदाव और कलिदाव। 'कृत' जीत का दाव है और 'कलि' हार का। दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं।

सूत्रकृतांग के अनुसार जुआ चार अक्षों से खेला जाता था। उनके नाम हैं—

१. कलि—एकक। ३. त्रेता—त्रिक।
२. द्वापर—द्विक। ४. कृत—चतुष्क।

चारों पासे सीधे या औंधे एक से पड़ते हैं, उसे 'कृत' कहा जाता है। यह जीत का दाव है। एक, दो या तीन पासे उल्टे पड़ते हैं उन्हें क्रमशः कलि, द्वापर, त्रेता कहा जाता है। ये हार के दाव हैं। कुशल जुआरी इन्हें छोड़ 'कृतदाव' ही लेता है।[11]

काशिका में लिखा गया है कि पंचिका नाम का जुआ अक्ष या पांच शलकाओं से खेला जाता था। जब पांचों पासे सीधे या औंधे एक से गिरते हैं तब पासा फेंकने वाला जीतता है, इसे 'कृतदाव' कहते हैं। 'कलिदाव' इससे विपरीत है। जब कोई पासा उलटा या सीधा गिरता है तब उसे 'कलिदाव' कहते हैं।

भूरिदत्त जातक में 'कलि' और 'कृत' दोनों को एक-दूसरे के विपरीत माना है।[12]

छान्दोग्य उपनिषद् में भी 'कृत' जीत का दाव है।[13]

---

१. सुखबोधा, पत्र १०४।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र २४७।
३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३५ : पगाढा णाम णिरंतराः तीव्राः उक्कडा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २४७।
४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३५ : वेद्यंत इति वेदनाः शीता उष्णा च, अथवा शारीरमानसाः।
५. वही, पृ० १३५ : उपपातात्संजातमौपपातिकं, न तत्र गर्भव्युक्रांतिरस्ति येन गर्भकालान्तरितं तन्नरकदुःखं स्यात्, ते हि उत्पन्नमात्रा एव नरकवेदनाभिरभिभूयन्ते।
६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३५ : आधाकम्मेहिं यथाकर्मभिः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०५।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र २४७ : 'आहाकम्मेहिं' ति आधानमाधाकरणम्, आत्मनेति गम्यते, तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्म्माणि, तैः आधाकर्मभिः—स्वकृतकर्मभिः, यद्वाऽर्षत्वात् 'आहेति' आधाय कृत्वा, कर्माणीति गम्यते, ततस्तैरेव कर्म्मभिः,...यद्वा—'यथाकर्मभिः' गमिष्यमाणगत्यनुरूपैः तीव्रतीव्रतराद्यनुभावान्वितैः।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र २४७।
९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३६।
१०. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २४८।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०५।
११. सूयगडो, १।२।४५ :
कुजए अपराजिए जहा अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं।
कडमेव गहाय णो कलिं णो तेयं णो चेव दावरं।।
१२. जातक, संख्या ५४३।
१३. छान्दोग्य उपनिषद्, ४।१।४ : यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाभारत (सभापर्व ५२।१३) में शकुनि को 'कृतहस्त' कहा गया है अर्थात् जो सदा जीत का दाव ही फेंकता है।

पाणिनी के समय दोनों प्रकार के दाव फेंकने के लिए भाषा में अलग-अलग नामधातुएं चल गई थीं। उनका सूत्रकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है—**कृतं गृण्हाति—कृतयति, कलिं गृण्हाति—कलयति। (३।१।२१)**[1]

विधुर पंडित जातक में भी 'कृतं गृण्हाति कलिं गृण्हाति' ऐसे प्रयोग हुए हैं।[2]

जुए के खेल के नियमों के अनुसार जब तक किसी खिलाड़ी का 'कृतदाव' आता रहता, वही पासा फेंकता जाता था। पर जैसे ही 'कलिदाव' आता, पासा डालने की बारी दूसरे खिलाड़ी की हो जाती।

## २५. जुआरी (धुत्ते)

धूर्त्त शब्द के अनेक अर्थ हैं—वंचक, ठग, मायावी, जुआरी आदि। सामान्यतः यह शब्द 'ठग' के अर्थ में बहुत प्रयुक्त होता है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में यह जुआरी के अर्थ से व्यवहृत है।[3]

## २६. (श्लोक १७)

प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम सतरह श्लोकों में अज्ञानी व्यक्तियों की विचारधारा, जीवन शैली, मरणकाल की स्थिति तथा परलोकगमन की दिशा का वर्णन प्राप्त होता है। शेष आगे के श्लोकों में संयमी मुनि और व्रती श्रावकों की विचारधारा, जीवन शैली, मारणान्तिक अवधारणा और सुगतिगमन का सुन्दर वर्णन है।

## २७. जितेन्द्रिय पुरुषों का (वुसीमओ)

यहां बहुवचन के स्थान पर एकवचन है। बृहद्वृत्ति में इसका संस्कृत रूप है 'वश्यवताम्'। आत्मा और इन्द्रिय जिसके वश्य—अधीन होते हैं, उसे 'वश्यवान्' कहा जाता है। 'वुसीम' के दो अर्थ और किए गए हैं—(१) साधु गुणों में बसने वाला और (२) संविग्न।[4]

सरपेन्टियर ने लिखा है कि इसका संस्कृत रूप 'वश्यवन्त' शंकास्पद है। मैं इसके स्थान पर दूसरा उचित शब्द नहीं दे सकता। परन्तु इसके स्थान पर 'व्यवसायवन्तः' शब्द की योजना कुछ हद तक संभव हो सकती है।[5]

सरपेन्टियर की यह संभावना बहुत उपयोगी नहीं है। वस्तुतः 'वुसीम' शब्द या तो देशी है जिसका संस्कृत रूप कोई होता ही नहीं और यदि देशी नहीं है तो इसका संस्कृत रूप 'वृषीमत्' होना चाहिए।

'वृषी' का अर्थ है—'मुनि का कुश आदि का आशन।'[6] सूत्रकृतांग में श्रमण के उपकरणों में 'वृषिक' (भिसिग) का उल्लेख है।[7] इसके सम्बन्ध में मुनि को 'वृषीमान्' कहा जाता है। व्याकरण की दृष्टि से 'वुसीम' का संस्कृत रूप 'वृषीमत्' होता है। इसका प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है—मुनि, संयमी या जितेन्द्रिय।

निशीथ भाष्य में इसी अर्थ में 'वुसिराती'[8] (सं० वृषिराजिन्) तथा 'वुसि'[9] (सं० वृषिन्) शब्द प्राप्त होते हैं। 'वुसि' का अर्थ 'संविग्न' किया गया है।[10]

सूत्रकृतांग में 'वुसीमओ' का अनेक बार प्रयोग हुआ है। चूर्णिकार ने इसके अर्थ इस प्रकार किये हैं—

वुसिमतां वसूनि ज्ञानादीदि (१।८।१६ चूर्णि, पृ० २१३)।
वुसिमानिति संयमवान् (१।११।१५ चूर्णि पृ० २४५)।
वुसिमांश्च भगवान्—साधुर्वा वुसीमान् (१।१५।४ चूर्णि पृ० २६६)।
वुसियं वुसिमं वुत्तो (२।६।१४ चूर्णि, पृ० ४२३)।

पहले अर्थ से लगता है कि चूर्णिकार 'वसुमओ' पाठ की व्याख्या कर रहे हैं। आयारो १।१७४ में 'वसुम' शब्द मुनि के लिए प्रयुक्त हुआ है। शीलांकसूरि ने इसका अर्थ 'वसुमान्' सम्यक्त्व आदि धन से धनी—किया है।[11] दूसरे अर्थ में 'वुसि' संयम का पर्यायवाची है। तीसरे में वही भगवान् या साधु के लिये प्रयुक्त है। चौथा अर्थ स्पष्ट नहीं है। शीलांकसूरि ने वहां 'वुसिम' का अर्थ संयमवान् किया है।[12] लगता यह है 'वृषी' उपकरण के कारण वृषीमान् (वुसीम) मुनि का एक नाम बन गया।

बौद्ध साहित्य में वशी या वृषी का अर्थ है—कौशल। उसके पांच प्रकार हैं—

१. आवर्जन वशी—मन को ध्यान में लगाने का कौशल।
२. समापज्जनवशी—ध्यान में प्रवेश पाने का कौशल।
३. अधिष्ठानवशी—ध्यान में अधिष्ठान बनाये रखने का कौशल।
४. व्युत्थानवशी— ध्यान संपन्न करने का कौशल।
५. प्रत्यवेक्षणवशी—ध्यान की सारी विधियों तथा तथ्यों का समालोचन करने में कौशल।

---

१. पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ० १६७।
२. जातक, संख्या ५४५।
३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २४८ : धूर्त इव—द्यूतकार इव।
   (ख) अभिधान चिंतामणि ३।१४६ : कितवो द्यूतकृद्धूर्तोऽक्षधूर्तः।
४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २४६ : 'वुसीमतो' त्ति, आर्षत्त्वाद्वश्यवतां वश्य इत्यावत्तः, स चेहात्मा इन्द्रियाणि वा, वश्यानि विद्यन्ते येषां ते अमी वश्यवन्तः तेषाम्, अयमपरः सम्प्रदायार्थः—वसंति वा साहुगुणेहिं वुसीमन्तः, अहवा वुसीमा—संविग्गा तेसिं ति।
   (ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १३७ : 'वुसीमतो' वशे येषामिन्द्रियाणि ते भवति वुसीमं, वसंति वा साधुगुणेहिं वुसीमंतः, अथवा वुसीमंतः ते संविग्गा, तेसिं वुसीमतां संविग्गाणं वा।
५. उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० २६६ का फुटनोट १८।
६. अभिधान चिंतामणि, ३।४८०।
७. सूयगडो २।२।३० : दंडगं वा, छत्तगं वा, भण्डगं वा, मत्तगं वा, लट्ठिगं वा, भिसिगं वा...।
८. निशीथ भाष्य, गाथा ५४२०।
९. वही, गाथा ५४२१।
१०. वही, गाथा ५४२१।
११. आयारो १।१७४, वृत्ति—भाव वसूनि सम्यक्त्वादीनि तानि यस्य यस्मिन् वा सन्ति स वसुमान् द्रव्यवानित्यर्थः।
१२. सूयगडो २।६।१४, वृत्ति १४४ : वुसिमंति संयमवान्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये पांच प्रकार के वशी (कौशल) ध्यान में प्रवेश करने की कुशलता, योग्यता और गति में तीव्रता उत्पन्न करते हैं। इनसे व्यक्ति में ध्यान पर पूरा नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है।

## २८. प्रसन्न (विप्पसन्नं)

यह मरण का विशेषण है। जो व्यक्ति मरण-काल में विविध भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करता है, मूर्च्छा से अपहत नहीं होता, अनाकुल रहता हुआ प्रसन्नता से मरण का वरण करता है, उसका मरण विप्रसन्न मरण कहलाता है।

## २९. विविध प्रकार के शील वाले (नाणासीला)

गृहस्थ नानाशील—विविध शील वाले, विभिन्न रुचि वाले और विभिन्न अभिप्राय वाले होते हैं।[1] इसकी व्याख्या करते हुए नेमिचन्द्र ने लिखा है—"कई कहते हैं—गृहस्थाश्रम का पालन करना ही महाव्रत है।" कई कहते हैं—'गृहस्थाश्रम से उत्कृष्ट धर्म न हुआ और न होगा।' जो शूरवीर होते हैं, वे इसका पालन करते हैं और क्लीव व्यक्ति पाखण्ड का आश्रय लेते हैं। कई कहते हैं—'सात सौ शिक्षाप्रद गृहस्थों के व्रत हैं' आदि-आदि।[2]

## ३०. विषमशील वाले (विसमसीला)

साधु भी विषमशील वाले अर्थात् विषम आचार वाले होते हैं। शान्त्याचार्य ने लिखा है—कई पांच यम और पांच नियमों को, कई कन्द, मूल, फल के आहार को और कई आत्म-तत्त्व के परिज्ञान को ही व्रत मानते हैं।[3]

चूर्णिकार के अनुसार—कुछ कुप्रवचन-भिक्षु अभ्युदय की ही कामना करते हैं, जैसे तापस और पांडुरक (शिवभक्त, संन्यासी)। जो मोक्ष चाहते हैं, वे भी उसके साधन को सम्यक् प्रकार से नहीं जानते। वे आरम्भ (हिंसा) से मोक्ष मानते हैं। लोकोत्तर भिक्षु भी सबके सब निदान और शल्य रहित नहीं होते, आशंसा रहित तप करने वाले नहीं होते, इसलिए भिक्षुओं को विषम-शील कहा है।[4]

## ३१. (श्लोक २०)

तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—अव्रती, देशव्रती और सर्वव्रती। इस श्लोक में बताया गया है कि अव्रती या नामधारी भिक्षुओं से देशव्रती गृहस्थ संयम से प्रधान होते हैं और उनकी अपेक्षा सर्वव्रती भिक्षु संयम से प्रधान होते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है।[5]—

'एक श्रावक ने साधु से पूछा—'श्रावक और साधुओं में कितना अन्तर है ?' साधु ने कहा—'सरसों और मन्दर पर्वत जितना।' तब उसने पुनः आकुल होकर पूछा—'कुलिंगी (वेषधारी) और श्रावक में कितना अन्तर है?' साधु ने कहा—'वही, सरसों और मन्दर पर्वत जितना।' उसे समाधान मिला। कहा भी है—

सुविहित आचार वाले मुनियों के श्रावक देश विरत होते हैं।
कुतीर्थिक उनकी सौवीं कला को भी प्राप्त नहीं होते।

प्रस्तुत श्लोक के प्रसंग में आचार्य नेमिचन्द्र की वृत्ति में एक संदर्भ प्राप्त है[6]—

एक बार एक श्रावक ने साधु से पूछा—भंते! श्रावकों में और साधुओं में अन्तर क्या है? वत्स! दोनों में सर्षप और मन्दर पर्वत जितना अन्तर है। यह सुनकर श्रावक का मन आकुल-व्याकुल हो गया। उसने पुनः पूछा—भंते! कुलिंगी साधुओं में और श्रावकों में क्या अन्तर है? साधु ने कहा—दोनों में सर्षप और मन्दर पर्वत जितना अन्तर है। यह सुनकर श्रावक का मन आश्वस्त हुआ। एक पद्य है—

***देसिक्कदेसविरया समणाणं सावगा सुविहियाणं।***
***तेसिं परपासंडा एक्कंपि कलं नग्गहन्ति।।***

देशविरति श्रावक सुविहित साधुओं की बराबरी नहीं कर सकते, उनकी सोलहवीं कला के एक अंश की भी तुलना में नहीं आ सकते। इसी प्रकार पासंडी साधु इन श्रावकों की आंशिक तुलना में भी नहीं ठहर सकते।

## ३२. साधु की (परियागयं)

वृत्तिकार ने 'पर्यागत' का अर्थ—पर्याय-आगत—प्रव्रजित किया है। 'पर्यागत' शब्द ही प्रव्रजित के अर्थ में व्यवहृत है।[7] इसलिए 'पर्यायागत' शब्द मानकर उसके 'या' को लोप करने

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३७ : नानार्थांतरत्वेन शीलयंति तदिति शीलं—स्वभावः, अगारे तिष्ठतीत्यागारस्था, ते हि नानाशीला नानारुचयो—नानाच्छंदा भवंति।

२. सुखबोधा, पत्र १०६ : तेषु हि गृहिणस्तावद् अत्यन्तनानाशीला एव, यतः केचित् गृहाश्रमप्रतिपालनमेव महाव्रतमिति प्रतिपन्नाः।
गृहाश्रमपरो धर्मो, न भूतो न भविष्यति।
पालयन्ति नराः शूराः क्लीबाः पाखण्डमाश्रिताः।।१।।
इति वचनात्। अन्ये तु 'सप्तशिक्षापदशतानि गृहिणां व्रतम्' इत्याद्यनेकधैव ब्रुवते।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २४६ : 'विषमम्' अतिदुर्लक्षतयाऽतिगहनं विसदृशं वा शीलमेषां विषमशीलाः.....भिक्षवोऽप्यत्यन्तं विषमशीला एव, यतस्तेषु केषाञ्चित्पञ्चयमनियमात्मकं व्रतमिति दर्शनम्, अपरेषां तु कन्दमूलफलाशितैव इति, अन्येषामात्मतत्त्वपरिज्ञानमेवेति विसदृशशीलता।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३७ : कुप्रवचनभिक्षवोऽपि केचिदभ्युदयावेव तथा तापसाः पांडुरागाश्च, येऽपि मोक्षायोत्थिता तेऽपि तमन्यथा पश्यन्ति...तथैव लोकोत्तरभिक्षवोऽपि ण सव्वे अणिदाणकरा णिस्सल्ला वा, ण वा सव्वे आसंसापयोगनिरुपहततपसो भवंति इत्यतो विसमसीला य भिक्षुणो।

५. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २५० : तथा च वृद्धसम्प्रदायः—एगो सावगो साहुं पुच्छति—सावगाणं साहूणं किमंतरं? साहुणा भण्णति—सरिसवमंदरंतरं, ततो सो आउलीहूओ पुणो पुच्छति—कुलिंगीणं सावगाण य किमंतरं?, तेण भण्णति—तदेव सरिसवमंदरंतरंति, ततो समासासितो, जतो भणीयं।
"देसेक्कदेसविरया समणाणं सावगा सुविहियाणं।
जेसिं पारपासंडा सतिमंपि कलं न अग्घंति।।"

६. सुखबोधा, पत्र १२७।

७. आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की जटिल प्रक्रिया अपेक्षित नहीं है।

वृत्ति में इसका वैकल्पिक अर्थ—दुःशील की पर्याय को प्राप्त किया है।[1]

पर्यागत के मूल अर्थ की परम्परा विलुप्त हो जाने के कारण ये अर्थ किये गये हैं।

## ३३. (श्लोक २१)

इस श्लोक में वल्कल धारण करने वाले, चर्म धारण करने वाले, जटा रखने वाले, संघाटी रखने वाले और मुंड रहने वाले—इन विचित्र लिंगधारी कुप्रवचन-भिक्षुओं का उल्लेख हुआ है। ये सारे शब्द उस समय के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के सूचक हैं। मिलाइये—

(क) न नग्गचरिया न जटा न पंका,
नानासका थंडिलसायिका वा।
रज्जो च जल्लं उक्कटिकप्पधानं,
सोधेंति मच्चं अवितिण्णकंखं।।

(धम्मपद १०।१३)

(ख) तथा च वाचकः—
चर्मवल्कलचीराणि, कूर्चमुण्डशिखाजटाः।
न व्यपोहन्ति पापानि, शोधकौ तु दयादमौ।।

(सुखबोधा, पत्र १२७)

चूर्णि में चीर का अर्थ वल्कल[2] और वृहद्वृत्ति में चीवर किया गया है।[3]

नगिणिणं का अर्थ है नग्नता। यहां चूर्णिकार ने उस समय में प्रचलित कुछ नग्न सम्प्रदायों का नामोल्लेख किया है। मृगचारिक, उद्दण्डक (हाथ में दण्ड ऊंचा रखकर चलने वाले तापसों का सम्प्रदाय) और आजीवक सम्प्रदाय के साधु नग्न रहते थे।[4]

संघाटी—कपड़ों के टुकड़ों को जोड़कर बनाया गया साधुओं का एक उपकरण।[5] इस शब्द के द्वारा सूत्रकार ने संभवतः बौद्ध श्रमणों के प्रति संकेत किया है। महात्मा बुद्ध ने तेरह धुतांगों का वर्णन किया है। उसमें दूसरा धुतांग है—त्रैचीवरिकाङ्ग। संघाटी, उत्तरासंग और अन्तर-वासक—बौद्ध भिक्षु के ये तीन वस्त्र हैं। जो भिक्षु केवल इन्हीं को धारण करता है उसे त्रैचीवरिक कहते हैं और उसका वह धुतांगव्रत त्रैचीवरिकांग कहलाता है।[6]

जो अपने सिद्धान्त के अनुसार चोटी कटाते थे उन संन्यासियों के आचार का 'मुंडित्व' शब्द के द्वारा उल्लेख किया गया है।[7]

## ३४. (पिंडोलए.....ण मुच्चइ)

भिक्षाजीवी भी यदि दुःशील होता है तो उसे भी नरक की यातना भोगनी पड़ती है।

राजगृह नगर के नागरिक समय-समय पर मनोरंजन के लिए पर्वत की तलहटी पर एकत्रित होते थे। उस दिन एक भिक्षुक भी वहां भिक्षा के लिए जाता था। एक बार उसे भिक्षा नहीं मिली। वह अत्यन्त रुष्ट हो गया। उसके मन में प्रतिशोध की भावना उत्कट हुई। वह वैभार पर्वत पर चढ़ा। पर्वत की तलहटी में सैकड़ों लोग गोष्ठी में मग्न थे। उसने एक विशाल चट्टान को नीचे लुढ़काया और मन ही मन सोचा, इस चट्टान के नीचे अनेक लोग आकर मर जाएं तो मजा आ जाएगा। मुझे भिक्षा न देने का फल उन्हें मिल जायेगा। वह रौद्र ध्यान में लीन हो गया। संयोगवश उसी बड़ी चट्टान के साथ उसका पैर फिसला और वह स्वयं उस चट्टान के नीचे दब कर चूर-चूर हो गया। रौद्र ध्यान में मरकर वह नरक में उत्पन्न हुआ।[8]

## ३५. (भिक्खाए.....कम्मई दिवं)

व्रतों के परिपालन का मुख्य उद्देश्य है—निर्जरा, मोक्ष की प्राप्ति, मोक्ष की ओर प्रस्थान।

प्रस्तुत प्रसंग में देवलोकगमन की जो बात कही गई है, वह व्रत-पालन का जघन्य परिणाम है। व्रतों के पालन की तरतमता के अनुसार फल-प्राप्ति होती है। व्रत-पालन का उत्कृष्ट परिणाम है—मोक्ष और जघन्य परिणाम है—देवलोक की प्राप्ति। प्राचीन श्लोक है[9]—

***'अविराहियसामण्णस्स साहुणो, सावगस्स य जहण्णो।***
***उववातो सोहम्मे भणितो तेलोक्कदंसीहिं।।'***

—जो व्यक्ति अपने श्रामण्य या श्रावकत्व का अविराधित रूप से पालन करता है, उसकी जघन्य परिणति सौधर्म देवलोक होती है। यह तीर्थंकरों का कथन है।

यह वृत्तिकार का अभिमत है।

ठाणं सूत्र में स्वर्गप्राप्ति के चार कारण बतलाए हैं—

१. सराग संयम
२. संयमासंयम
३. बालतपःकर्म
४. अकामनिर्जरा।[10]

व्रत और संयम—ये स्वर्ग के साक्षात् हेतु नहीं हैं। सूत्र का आशय यह है कि व्रती और संयमी की सुगति होती है। उसका साक्षात् हेतु पुण्यबन्ध है। व्रत के साथ निर्जरा होती है

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २५० : परियागयं ति पर्यायागतं—प्रव्रज्यापर्यायप्राप्तम्, आर्षत्वाच्च याकारस्यैकस्य लोपः।..... दुःशीलमेव दुष्टशीलात्मकः पर्यायस्तमागतम् दुःशीलपर्यायागतम्।
२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३८ : चीरं—वल्कलम्।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र २५० : चीराणि च—चीवराणि।
४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३८ : णियणं णाम नग्गा एव, यथा मृगचारिका उद्दण्डकाः आजीवकश्च।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२० : संघाटी—वस्त्रसंहतिजनिता।
६. विशुद्धिमार्ग १।२, पृ० ६०।
७. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २५० : 'मुंडिणं' ति यत्र शिखाऽपि स्वसमयतोऽभिष्वज्यते, ततः प्राग्वत् मुण्डित्वम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०६।
८. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३८।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २५१।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र २५१।
१०. ठाणं ४।६३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और पुण्यबंध उसका प्रासंगिक फल है।

## ३६. गृहस्थ-सामायिक के अंगों का (अगारि-सामाइयंगाइं)

सामायिक शब्द का अर्थ है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। उसके दो प्रकार हैं—अगारी (गृहस्थ) का सामायिक और अनगार का सामायिक। चूर्णिकार ने अगारि-सामायिक के बारह अंग बतलाएं हैं।[1] वे श्रावक के बारह व्रत कहलाते हैं।

शान्त्याचार्य ने अगारि-सामायिक के तीन अंगों का उल्लेख किया है—निःशंकभाव, स्वाध्याय और अणुव्रत।[2]

विशेषावश्यक भाष्यकार ने सामायिक के चार अंग बतलाये हैं—[3]

(१) सम्यक् दृष्टि सामायिक।
(२) श्रुत सामायिक।
(३) देशव्रत (अणुव्रत) सामायिक।
(४) सर्वव्रत (महाव्रत) सामायिक।[4]

इनमें प्रथम तीन अगारि-सामायिक के अंग हो सकते हैं।

## ३७. पोषध को (पोसहं)

इसे श्वेताम्बर साहित्य में 'पोषध' या 'प्रोषध' (उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० १३६), दिगम्बर साहित्य में 'प्रोषध' और बौद्ध साहित्य में 'उपोसथ' कहा जाता है। यह श्रावक के बारह व्रतों में ग्यारहवां व्रत है। इसमें असन, पान, खाद्य, स्वाद्य का तथा मणि, सुवर्ण, माला, उबटन, विलेपन, शस्त्र-प्रयोग का प्रत्याख्यान और ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है।[5] इसकी आराधना अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या—इन पर्व-तिथियों में की जाती है।[6] शंख श्रावक के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि अशन, पान आदि का त्याग किए बिना भी पोषध किया जाता था।[7]

वसुनन्दि श्रावकाचार में प्रोषध के तीन प्रकार बतलाए गये हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम प्रोषध में चतुर्विध आहार और मध्यम प्रोषध में जल छोड़कर त्रिविध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है। आयंबिल (आचाम्ल), निर्विकृति, एकस्थान और एकभक्त को जघन्य प्रोषध कहा जाता है। विशेष जानकारी के लिए देखें—वसुनन्दि श्रावकाचार श्लोक २८०-२९४।

स्थानांग में 'पोषधोपवास' और 'परिपूर्ण पोषध'—ये दो शब्द मिलते हैं। पोषध (पर्व दिन) में जो उपवास किया जाता है, उसे पोषधोपवास कहा जाता है।[8] पर्व तिथियों में दिन-रात तक आहार, शरीर-सत्कार आदि को त्याग ब्रह्मचर्य पूर्वक जो धर्माराधना की जाती है उसे परिपूर्ण पोषध कहा जाता है।[9]

उक्त वर्णन के आधार पर पोषध की परिभाषा इस प्रकार बनती है—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा आदि पर्व-तिथियों में गृहस्थ उपवास पूर्वक धार्मिक आराधना करता है, उस व्रत को पोषध कहा जाता है।[10] बौद्ध साहित्य में भी चतुर्दशी और पूर्णिमा को उपोसथ करने का वर्णन मिलता है।[11][12] शान्त्याचार्य ने आसनेन का एक श्लोक उद्धृत किया है। उसमें भी अष्टमी और पूर्णिमा का पोषध करने का विधान है।[13] 'पोसह' शब्द का मूल 'उपवसथ' होना चाहिये। 'पोसह' का संस्कृत रूप पोषध किया जाता है और उसकी व्युत्पत्ति की जाती है—पोषध अर्थात् धर्म की पुष्टि को धारण करने वाला। यह इस भावना को अभिव्यक्त नहीं करती।

चतुर्दशी आदि पर्व-तिथियों को उपवास करने का विधान है, इसलिये वे तिथियां भी 'उपोस्थि' कहलाती हैं।[14] और उन तिथियों में की जाने वाली उपवास आदि धर्माराधना को भी उपोसथ कहा जाता है।[15] उपोसथ के उकार का अन्तर्धान और 'थ' को 'ह' करने पर उपोसथ का 'पोसह' रूप भी हो सकता है।

बौद्ध-सम्मत उपोसथ तीन प्रकार का होता है—(१) गोपाल-उपोसथ (२) निर्ग्रन्थ-उपोसथ (३) आर्य-उपोसथ।

### (१) गोपाल-उपोसथ

जैसे ग्वाला मालिकों को गाएं सौंपकर यह सोचता है कि आज गायों ने अमुक-अमुक जगह चराई की, कल अमुक-अमुक जगह चरेंगी। उसी प्रकार उपोसथ व्रती ऐसा सोचता है कि आज मैंने यह खाया, कल क्या खाऊंगा आदि। वह लोभयुक्त चित्त से दिन गुजार देता है, यह गोपाल-उपसथ-व्रत है। इसका न महान् फल होता है, न महान् परिणाम होता है, न महान् प्रकाश होता है और न महान् विस्तार।[16]

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३६ : अगारमस्यास्तीति अगारी, अगारसामाइयस्स वा अंगाणि आगारिसामाईयंगाणि, समय एव सामाइयं, अङ्गयतेऽनेनेति अंगं तस्स अंगाणि बारसविधो सावगधम्मो, तान्यगारसामाइयंगाणि, अगारिसामाइस्स वा अंगाणि।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २५१ : अगारिणो—गृहिणः सामायिकं—सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिरूपं तस्याङ्गानि—निःशंकताकालाध्ययनाणुव्रतादिरूपाणि अगारिसामायिकाङ्गानि।

३. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ११९६ : सम्मसुयदेससव्वयाण सामाइयाण मेक्कंपि।

४. भगवई, १२।६।

५. ठाणं, ४।३६२।

६. भगवई, १२।६।

७. ठाणं, ४।३६२।

८. ठाणं, ४।३६२, वृत्ति, पत्र २२५ : उद्दिष्टेत्यमावास्या परिपूर्णमिति अहोरात्रं यावत् आहारशरीरसत्कारत्यागब्रह्मचर्याव्यापारलक्षणभेदोपेतम्।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५ : पोषं—धर्मपुष्टि धत्त इति पोषधः—अष्टम्यादितिथिषु व्रतविशेषः।

१०. विशुद्धिमार्ग, पृ० २७३।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५ : आह आसनेनः—
'सर्वेष्वपि तपोयोगः प्रशस्तः कालपर्वसु।
अष्टम्यां पंचदश्यां च, नियतं पोषधं वसेद्।।'

१२. मज्झिमनिकाय, पृ० ४५६।

१३. वही, पृ० ३३८।

१४. अंगुत्तर निकाय, भा० १ पृ० २१२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### (२) निर्ग्रन्थ-उपोसथ

निर्ग्रन्थ अपने अनुयायियों को इस प्रकार व्रत लिवाते हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में सौ-सौ योजन तक जितने प्राणी हैं तू उन्हें दण्ड से मुक्त कर। इस प्रकार कुछ के प्रति दया व्यक्त करते हैं और कुछ के प्रति नहीं। निर्ग्रन्थ कहते हैं—तू सभी वस्तुओं को त्याग कर इस प्रकार व्रत ले। न मैं कहीं किसी का हूं और न मेरा कहीं कोई कुछ है—ऐसा व्रत लेना मिथ्या है, झूठा है। वे मृषावादी हैं। उस रात्रि के बीतने पर वे उन त्यक्त वस्तुओं को बिना किसी के दिये ही उपयोग में लाते हैं। इस प्रकार वे चोरी करने वाले होते हैं। इस व्रत का न महान् फल होता है, न महान् परिणाम होता है, न महान् प्रकाश होता है और न महान् विस्तार।[1]

### (३) आर्य-उपोसथ

आर्य-श्रावक तथागत का अनुस्मरण करता है। उसका चित्त मेल रहित हो जाता है। आर्य-श्रावक धर्म का, संघ का, देवताओं का अनुस्मरण करता है। वह हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य, मृषावाद का त्याग करता है, एकाहारी होता है।

*पाणं न हाने न चादिन्नं आदिए।*
*मुसा न भासे न च मज्जपो सिया।।*
*अब्रह्मचर्य्या विरमेय्य मेथुना।*
*रत्तिं न भुंजेय्य विकालभोजनं।।*
*मालं न धारेय्य न च गन्धआचरे।*
*मंचे छमायं वसथेय सन्थते।।*
*एतं हि अट्ठंगिकमाहुपोसथं।*
*बुद्धेण दुक्खंतगुणं पकासितं।।*[2]
*चातुद्दसी पंचदसी याव पक्खस्स अट्ठमी।*
*पाटिहारियपक्खंच अट्ठंगसुसमागतं।*
*उपोसथं उपवसेय्य, यो पंस्स मादिसो नरो।।*[3]

इन प्रकारों में निर्ग्रन्थ-उपोसथ पर कुछ आक्षेप किये गये हैं। किन्तु उपोसथ की साधना अमुक काल के लिये की जाती है और उसके व्रत भी अमुक काल तक स्वीकार किए जाते हैं—इस तथ्य को अनाग्रह-बुद्धि से समझने का प्रयत्न किया जाता तो ये आक्षेप आवश्यक नहीं होते।

### ३८. औदारिक शरीर (छविपव्वाओ) :

छवि का अर्थ है चमड़ी और पर्व का अर्थ है शरीर के संधिस्थल—घुटना, कोहनी आदि। छविपर्व का तात्पर्यार्थ है—औदारिक—चर्म, अस्थि आदि से बना हुआ शरीर।[4]

### ३९. यक्ष-सलोकता....को प्राप्त होता है (जक्ख सलोगयं)

यक्ष-सलोकता—देवों के तुल्य लोक अर्थात् देवगति।[5] 'ऐतरेय आरण्यक' और 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में सलोकता का प्रयोग मिलता है।[6]

आचार्य सायण और शंकराचार्य ने सलोकता का अर्थ 'समान-लोक या एक स्थान में बसना' किया है।[7]

दीघनिकाय के अनुवाद में भी इसका अर्थ यही है।[8] दीघनिकाय मूल में सलोकता के अर्थ में सहव्यता का प्रयोग मिलता है।[9]

### ४०. उत्तरोत्तर (.....अणुपुव्वसो)

सौधर्म देवलोक से अनुत्तरविमान पर्यन्त देवलोकों में निवास करने वाले देवों में मोह आदि क्रमशः कम होते जाते हैं। अनुत्तर विमान वासी देवों का मोह अत्यंत उपशांत होता है। वे वीतराग की-सी स्थिति में रहते हैं। 'अणुपुव्वसो' शब्द से यही सूचित किया गया है।[10]

तत्त्वार्थ के अनुसार देवलोकों में उत्तरोत्तर अभिमान कम होता है। वे देव स्थान, परिवार, शक्ति, अवधि, सम्पत्, आयुष्य की स्थिति आदि का अभिमान नहीं करते।[11]

### ४१. उत्तम (उत्तराइं)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—सबसे ऊपर स्थित देवलोक—अनुत्तरविमान किया है।[12] किन्तु पूरे श्लोक के संदर्भ में यह अर्थ विमर्शणीय है। इसका अर्थ यदि अनुत्तरविमान किया जाए तो अगले श्लोक में प्रयुक्त 'कामरूविणो' की संगति नहीं बैठती। इसीलिए उन्हें स्पष्टीकरण देना पड़ा, अन्यथा उसकी आवश्यकता नहीं होती।[13]

---

१. अंगुत्तर निकाय, भा० १ पृ० २१२-१३।
२. वही, भा० १ पृ० २१३-२२१।
३. वही, भा० १ पृ० १४७।
४. सुखबोधा, पत्र १०७ : छविश्च-त्वक् पर्व्वाणि च-जानुकूर्परादीनि छविपर्व तद्योगाद् औदारिकशरीरमपि छविपर्व ततः।
५. वही, पत्र १०७ : यक्षाः—देवा, समानो लोकोऽस्येति सलोकस्तद्भाव सलोकता यक्षे सलोकता यक्षसलोकता ताम्।
६. (क) ऐतरेयारण्यक, ३।२।१।७ पृ० २४२, २४३ : वेदान्हं सायुज्यं सरूपतां सलोकतामश्नुते।
(ख) बृहदारण्यक, १।५।२३, पृष्ठ ३८८ : एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति।
७. (क) ऐतरेयारण्यक, पृ० २४३ : सलोकता समानलोकतां वा एकस्थानत्वम्।
(ख) बृहदारण्यक उपनिषद्, पृ० ३९१ : सलोकतां समानलोकतां वा एकस्थानत्वम्।
८. दीघनिकाय, पृ० ८८।
९. दीघनिकाय, १।१३, पृ० २७३ : चन्दिम-सुरियानां सहव्यताय मग्गं देसेतुं—अजयमेव उजु-मग्गो।
१०. बृहद्वृत्ति, पत्र २५२ : अणुपुव्वसो त्ति प्राग्वदनुपूर्वतः क्रमेण विमोहादिविशेषणविशिष्टाः, सौधर्म्मादिषु अनुत्तरविमानावसानेषु पूर्वपूर्वापेक्षया प्रकर्षवन्त्येव विमोहत्वादीनी।
११. तत्त्वार्थ ४।२२ भाष्य।
१२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १४० : उत्तराणि नाम सव्वोवरिमाणि जाणि, ताणि हि सव्वविमाणुत्तराणि।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २५२।
१३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १४० : कामतः रूपाणि कुर्वन्तीति रूपाः कामरूपाः, स्याद्—अनुत्तरा न विकुर्वन्ति, ननु तेषां तदेवेष्टं रूपं येन सत्यां शक्तौ प्रयोजनाभावाच्च नान्यद् विकुर्वन्ति।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २५२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत श्लोक में 'उत्तराइं' के द्वारा सभी देवलोक विवक्षित हैं, केवल अनुत्तरविमान ही नहीं।

### ४२. मोह रहित (विमोहाइं) :

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अन्धकार रहित और स्त्रियों से रहित।[1] शान्त्याचार्य के अनुसार वे कामात्मक मोह से रहित होते हैं। द्रव्य-मोह (अन्धकार) तथा भाव-मोह (मिथ्यादर्शन)—ये दोनों वहां नहीं होते इसलिए उन्हें विमोह कहा गया है।[2]

### ४३. दीप्तिमान् (समिद्धा)

'समिद्ध' शब्द के संस्कृतरूप दो हो सकते हैं—समिद्ध और समृद्ध। समिद्ध का अर्थ है—दीप्तिमान् और समृद्ध का अर्थ है—वैभवशाली। शान्त्याचार्य ने पहला अर्थ मान्य किया है।[3] चूर्णिकार तथा नेमिचन्द्र ने दूसरा अर्थ मान्य किया है।[4]

### ४४. अभी उत्पन्न हुए हों—ऐसी कान्ति वाले (अहुणोववन्नसंकासा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अभिनव उत्पन्न की तरह किया है।[5] टीकाकारों ने इसका अर्थ 'प्रथम उत्पन्न देवता के तुल्य' किया है। इसका तात्पर्य है कि उनमें औदारिक शरीरगत अवस्थाएं नहीं होतीं। वे न बालक होते हैं और न बूढ़े, सदा एक से रहते हैं। उनका रूप-रंग और लावण्य जैसा उत्पत्ति के समय होता है वैसा ही अन्तकाल में होता है।[6]

### ४५. जो उपशान्त होते हैं (जे संति परिनिव्वुडा)

इसमें 'सन्ति' क्रियापद है। फिर भी व्याख्याकारों ने इसका मूल अर्थ इस प्रकार किया है—जो मुनि शान्तिपरिनिर्वृत होता है अर्थात् शान्ति या उपशम से शीतीभूत, कषाय रहित, कषायरूपी अग्नि को बुझाने वाला होता है।[7]

शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'सन्ति' को क्रियापद मानकर इसका अर्थ—विद्यन्ते किया है।[8]

### ४६. (श्लोक २९)

सभी प्रकार के भयों में मरण का भय अत्यंत कष्टप्रद होता है। कभी-कभी ऐसे अवसर भी आते हैं कि वास्तविक मृत्यु से मरने वाले लोगों से भी अधिक लोग मृत्यु के भय से मर जाते हैं।

महामारी घोड़े पर चढ़ कर जा रही थी। एक व्यक्ति सामने मिला। उसने पूछा कौन हो तुम? उसने कहा—मैं महामारी हूं। तुम कहां जा रही हो? क्यों जा रही हो? महामारी बोली—मैं अमुक नगर में हजार व्यक्तियों को मारने जा रही हूं। कुछ दिनों बाद वह उसी रास्ते से लौटी। संयोगवश वही व्यक्ति पुनः मिल गया। उसने कहा—देवी! तुम तो गई थी हजार आदमियों को मारने और वहां मरे हैं पांच हजार आदमी। तुमने झूठ क्यों कहा? महामारी बोली—भैया! मैंने झूठ नहीं कहा। मैंने तो हजार व्यक्तियों को ही मारा था। शेष चार हजार आदमी मौत के भय से मर गए। उसका मैं क्या करूं?

इसी अध्ययन के सोलहवें श्लोक में 'तओ से मरणंतंमि, बाले संतस्सई भया'—ऐसा उल्लेख है। इसका तात्पर्य है कि बाल—अज्ञानी व्यक्ति अपने जीवनकाल में धर्म को छोड़कर अधर्म से जीवन-यापन करता है। वह मरणकाल में परलोक-गमन—नरकगमन के भय से संत्रस्त हो जाता है। वह सोचता है मैंने नरक-प्रायोग्य कर्म किए हैं और मुझे उनको भोगना है।

प्रस्तुत श्लोक में 'न संतसन्ति मरणन्ते'.....पद के तात्पर्यार्थ में बताया है कि शीलवान् और संयमी मुनि मरणकाल में भी संत्रस्त नहीं होता। वह जानता है कि उसकी सुगति होगी, क्योंकि उसने धर्म के प्रशस्त मार्ग का अनुसरण किया है। वह संलेखना कर, अनशनपूर्वक मृत्यु का स्वेच्छा से वरण करता है।

इस शताब्दी के महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन ने अपना अन्त निकट जानकर कहा था—मुझे जितना जीना था, उतना जी लिया, अब जबरदस्ती मैं जीवन को लंबाना नहीं चाहता।

यह भावना भी 'न संतसंति मरणंते' की ही द्योतक है। नेमिचन्द ने यहां एक सुन्दर पद्य उद्धृत किया है[9]—

***'सुगहियतवपव्वयणा, विसुद्धसम्मत्तणाणचरित्ता।***
***मरणं उस्सवभूयं मण्णंति समाहियपण्णओ।।'***

अर्थात् जिनके पास तप रूपी पाथेय है, जिनकी श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र विशुद्ध है, वे समाहित आत्मा वाले मुनि मरण

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १४० : 'विमोहाइं' विमोहानीति निरंतमांसीत्यर्थ, तमो हि बाह्यमाभ्यन्तरं च, बाह्यं तावदन्येष्वपि देवलोकेषु तमो नास्ति, किं पुनरनुत्तरविमानेषु? अभ्यंतरतममधिकृत्यापदिश्यते—सर्व एव हि सम्यग्दृष्टयः, अथवा मोहयंति पुरुषं मोहसंज्ञातः स्त्रियः, ताः तत्र न।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २५२ : विमोहा इवाल्पवेदादिमोहनीयोदयतया विमोहाः, अथवा मोहो द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतोऽन्धकारो भावतश्च मिथ्यादर्शनादिः, स द्विविधोऽपि सततरत्नद्योतितत्वेन सम्यग्दर्शनस्यैव च तत्र सम्भवेन विगतो येषु ते विमोहाः।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २५२ : समिद्धा—अतिदीप्ताः।

४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १४० : समृद्धाः सर्वसंपदुपपेताः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०८।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४० : 'अहुणोववन्नसंकासा' अभिनवोपपन्नस्य देहस्य सर्वस्यैवाभ्यधिका द्युतिर्भवति अनुत्तरेष्वपि।

६. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २५२ : अधुनोपपन्नसंकाशाः प्रथमोत्पन्नदेवतुल्याः, अनुत्तरेषु हि वर्ण्यद्युत्यादि यावदायुस्तुल्यमेव भवति।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०८।

७. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १४१।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २५३।
(ग) सुखबोधा, पत्र १०८।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र २५३।

९. सुखबोधा, पत्र १०८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को उत्सव मानते हैं।

### ४७. अहिंसाधर्मोचित सहिष्णुता (दयाधम्मस्स खंतिए)

दया का अर्थ है—अहिंसा और क्षान्ति का अर्थ है—सहिष्णुता। अहिंसा और सहिष्णुता में गहरा संबंध है। कष्ट सहने की क्षमता को विकसित किए बिना अहिंसा का विकास संभव नहीं है। इस विषय में सूत्रकृतांग आगम का यह श्लोक द्रष्टव्य है[1]—

***'घुणिया कुलियं व लेववं, कसए देहमणसणादिहिं।***
***अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ।।'***

वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने 'दयाधम्मस्स.....' का अर्थ दसविध मुनिधर्म किया है।[2]

### ४८. तथाभूत (उपशान्त) (तहाभूएण)

तथाभूत का अर्थ है—आत्मभूत, स्वाभाविक। वही आत्मा तथाभूत होती है जो राग-द्वेष से रहित होती है। यह चूर्णि का अभिमत है।[3]

शान्त्याचार्य ने तथाभूत का अर्थ उपशांत मोह किया है।[4]

इसका वैकल्पिक अर्थ है—मरणकाल से पूर्व जो मुनि अनाकुलचित्त वाला था, वह मरणकाल में भी वैसा ही रहे, वह तथाभूत होता है।[5]

### ४९. प्रसन्न रहे.....उद्विग्न न बने (विप्पसीएज्ज)

इसका तात्पर्य यह है कि मुनि पंडितमरण और बालमरण—दोनों की परीक्षा कर अपने कषायों का अपनयन कर प्रसन्न रहे, स्वस्थ रहे। अपनी तपस्या का गर्व कर वह अपनी आत्मा को कलुषित न करे।

एक शिष्य तपस्या में संलग्न था। उसने बारह वर्ष की संलेखना की। एक दिन वह गुरु के पास आकर बोला—गुरुदेव! अब मैं क्या करूं? गुरु उसकी आंतरिकता से परिचित थे। उन्होंने कहा—वत्स! कृश कर। वह समझा नहीं। बार-बार पूछने पर भी गुरु का यही उत्तर रहा—कृश कर, कृश कर। एक ही उत्तर सुनकर शिष्य तिलमिला उठा और उसने अपनी अंगुली को तड़ाक से तोड़ते हुए कहा—अब और क्या कृश करूं? शरीर तो अस्थिपंजर मात्र रह गया है। गुरु बोले—जिससे प्रेरित होकर तूने अंगुली तोड़ी, उस प्रेरणा को कृश कर, क्रोध को कृश कर, कषाय को कृश कर। अब वह समझ गया।[6]

### ५०. जब मरण अभिप्रेत हो (तओ काले अभिप्पेए)

प्रश्न होता है कि क्या कभी मरण भी अभिप्रेत होता है? आदमी मरना कब और क्यों चाहता है? इस प्रश्न का समाधान है कि जब मुनि यह देखता है कि उसकी मन, वचन और काया की शक्ति क्षीण हो रही है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र के गुणों की अभिवृद्धि नहीं हो रही है, तब उसे मरण अभिप्रेत होता है।

इसकी ध्वनि यह है कि मनुष्य जैसे जीने के लिए स्वतंत्र है वैसे मरने के लिए भी स्वतंत्र है। मरण भी वांछनीय है। उसकी शर्त है कि वह आवेशकृत न हो। जब यह स्पष्ट प्रतीत होने लगे कि योग क्षीण हो रहे हैं, उस समय समाधिपूर्ण मरण वांछनीय है।

### ५१. कष्टजनित रोमांच को (लोमहरिसं)

चूर्णिकार ने रोमांचित होने के तीन कारण माने हैं—(१) भय (२) अनुकूल उपसर्ग और (३) हर्ष।[7]

'रलयोरैक्यं'—इस न्याय से लोमहरिस शब्द के दो संस्कृत रूप बनते हैं—लोमहर्ष और रोमहर्ष।

### ५२. (भेदं देहस्स कंखए)

मुनि शरीर के भेद की प्रतीक्षा करे। चूर्णिकार का मानना है कि औदारिक शरीर के भेद की नहीं, किन्तु आठ प्रकार के कर्मरूपी शरीर के भेद की आकांक्षा करें।[8]

वृत्तिकार ने माना है कि मुनि मरण की आशंसा न करे, किन्तु शरीर की सार-संभाल न करता हुआ मरण की प्रतीक्षा करे। मुनि के लिए मरण की आशंसा वर्जनीय है।[9]

### ५३. मरण-काल प्राप्त होने पर (अह कालम्मि संपत्ते)

मुनि अपनी संयम-यात्रा का निर्वहन करते-करते जब यह देखता है कि शरीर और इन्द्रियों की हानि हो रही है, योग क्षीण हो रहे हैं, स्वाध्याय आदि में बाधा आ रही है, तब वह शरीर-त्याग की तैयारी में लग जाए। वह सोचे, मुझे जो करना था, वह मैं कर चुका हूं। मुझ पर जो दायित्व था, उसका मैंने उचित निर्वाह किया है—

***'निप्फाइया य सीसा, सउणी जह अंडयं पयत्तेणं।***
***बारससंवच्छरियं, अह संलेहं ततो करइ।।'***

जैसे पक्षिणी अपने अंडे को प्रयत्नपूर्वक सेती हुई उसे निष्पादित करती है, वैसे ही मैंने भी अपने गण में शिष्यों का निष्पादन कर अपने दायित्व का निर्वाह किया है। अब मरणकाल संप्राप्त है, अतः मुझे बारह वर्षों की संलेखना में लग जाना

---

१. सूयगडो १।२।१४।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २५३ : दयाप्रधानो धर्मो दयाधर्मो दशविधयतिधर्मरूप, तस्य सम्बन्धिनी या क्षान्तिस्तया।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४१ : तथाभूतेन अप्पणा—तेन प्रकारेण भूतस्तथाभूतः, रागद्वेषवशगो ह्यात्मा अन्यथा भवति, मद्यपानां विश्व (चित्तवत्), तदभावे तु आत्मभूत एव।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र २५३ : तथाभूतेन—उपशान्तमोहोदयेन।

५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४१ : अथवा यथैव पूर्वमव्याकुलमनास्तथा मरणकालेऽपि तथाभूत एव।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २५३।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र २५३।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४२ : स तु भयाद् भवति, अनुलोमै वा उपसर्गैः हर्षाद् भवति।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४२ : भिद्यते इति भेदः, अष्टविधकर्म्मशरीरभेदं कांक्षति, न तूदारिकस्य।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र २५४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। यह सोच वह तपोयोग में संलग्न हो जाता है।

## ५४. शरीर का त्याग करता है (आघायाय समुस्सयं)

शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'बाह्य और आंतरिक शरीर का नाश करता हुआ' किया है।[1] इस अर्थ के आधार पर इसका संस्कृत रूप—'आघातयन् समुच्छ्रयम्' बनता है। इस चरण का वैकल्पिक अर्थ 'शरीर के विनाश का अवसर आने पर' भी किया गया है। यह अर्थ करने में विभक्ति का व्यत्यय मानना पड़ा, अतः इसमें उसका संस्कृत रूप भी बदल गया, जैसे—'आघाताय समुच्छ्रयस्य'।[2] आचारांग (१।४।४४) वृत्ति में समुच्छ्रय का अर्थ 'शरीर' किया गया है। बौद्ध साहित्य में समुच्छ्रय का अर्थ 'देह' मिलता है।[3] इस श्लोक में 'आघायाय' शब्द 'आघायाये' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है—ऐसा सरपेन्टियर ने लिखा है और उन्होंने पिसेल का नामोल्लेख कर अपनी बात की पुष्टि की है।[4]

## ५५. तीनों में से किसी एक को (तिण्हमन्नयरं)

भक्त-परिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन—ये अनशन के तीन प्रकार हैं। मुनि को इन तीनों में से किसी एक के द्वारा देह-त्याग करना चाहिए। इसलिए उसके मरण के भी ये तीन प्रकार के हो जाते हैं। चतुर्विध आहार तथा बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का जो यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है उस अनशन को भक्त-परिज्ञा कहा जाता है। इंगिनी में अनशन करने वाला निश्चित स्थान में ही रहता है, उससे बाहर नहीं जाता। पादोपगमन में अनशन करने वाला कटे हुए वृक्ष की शाखा की भांति स्थिर रहता है और शरीर की सार-संभाल नहीं करता।[5]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २५४ : 'आघायाय' त्ति आर्षत्वात आघातयन् संलेखनादिभिरुपक्रमणकारणैः समन्ताद् घातयन्विनाशयन्, कं?—समुच्छ्रयम्अन्तः कार्मणशरीरं बहिरौदारिकम्।

२. वही, पत्र २५४ : यद्वा—'समुस्सतं' त्ति सुब्व्यत्यात्समुच्छ्रयस्याघाताय—विनाशाय काले सम्प्राप्त इति।

३. महावस्तु, पृ० ३६६।

४. उत्तराध्ययन, पृष्ठ ३०१।

५. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# छट्ठं अज्झयणं

## खुड्डागनियंठिज्जं

# छठा अध्ययन

## क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन का नाम 'खुड्डागनियंठिज्जं'—'क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय' है। दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन का नाम 'खुड्डियायारकहा'—'क्षुल्लकाचारकथा' और छठे अध्ययन का नाम 'महायारकहा'—'महाचारकथा' है। इनमें क्रमशः मुनि के आचार का संक्षिप्त और विस्तृत निरूपण हुआ है। इसी प्रकार इस अध्ययन में भी निर्ग्रन्थ के बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ-त्याग (परिग्रह-त्याग) का संक्षिप्त निरूपण है।[1]

—'निर्ग्रन्थ' शब्द जैन-दर्शन का बहुत प्रचलित और बहुत प्राचीन शब्द है। बौद्ध-साहित्य में स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर को 'निगण्ठ' (निर्ग्रन्थ) कहा है। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार सुधर्मा स्वामी से आठ आचार्यों तक जैनधर्म 'निर्ग्रन्थ-धर्म' के नाम से प्रचलित था।[2] अशोक के एक स्तम्भ-लेख में भी 'निर्ग्रन्थ' का द्योतक 'निघंठ' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3]

अविद्या और दुःख का गहरा सम्बन्ध है। जहां अविद्या है वहां दुःख है, जहां दुःख है, वहां अविद्या है। पतंजलि के शब्दों में अविद्या का अर्थ है—अनित्य में नित्य की अनुभूति, अशुचि में शुचि की अनुभूति, दुःख में सुख की अनुभूति और अनात्मा में आत्मा की अनुभूति।[4]

सूत्र की भाषा में विद्या का एक पक्ष है सत्य और दूसरा पक्ष है मैत्री—'अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए, (श्लोक २)। जो कोरे विद्यावादी या ज्ञानवादी हैं उनकी मान्यता है कि यथार्थ को जान लेना पर्याप्त है, प्रत्याख्यान की कोई आवश्यकता नहीं है। क्रिया का आचरण उनकी दृष्टि में व्यर्थ है। किन्तु भगवान् महावीर इसे वाग्वीर्य मानते थे, इसलिए उन्होंने आचरण-शून्य भाषावाद और विद्यानुशासन को अत्राण बतलाया (श्लोक ८-१०)।

ग्रन्थ (परिग्रह) को त्राण मानना भी अविद्या है। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—"परिवार त्राण नहीं है", "धन भी त्राण नहीं है" (श्लोक ३-५)। और तो क्या, अपनी देह भी त्राण नहीं है। साधु देह-मुक्त नहीं होता फिर भी प्रतिपल उसके मन में यह चिन्तन होना चाहिए कि देह-धारण का प्रयोजन पूर्व-कर्मों को क्षीण करना है। लक्ष्य जो है वह बहुत ऊंचा है, इसलिए साधक को नीचे कहीं भी आसक्त नहीं होना चाहिए। उसकी दृष्टि सदा ऊर्ध्वगामी होनी चाहिए (श्लोक १३)। इस प्रकार इस अध्ययन में अध्यात्म की मौलिक विचारणाएं उपलब्ध हैं।

इस अध्ययन के अन्तिम श्लोक का एक पाठान्तर है। उसके अनुसार इस अध्ययन के प्रज्ञापक भगवान् पार्श्वनाथ हैं।

मूल—

***एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।***
***अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए।।***

पाठान्तर—

***एवं से उदाहु अरिहा पासे पुरिसादाणीए।***
***भगवं वेसालीए बुद्धे परिणिव्वुए।। (बृहद्वृत्ति, पत्र २७०)***

यद्यपि चूर्णि और टीकाकार ने इस पाठान्तर का अर्थ भी महावीर से सम्बन्धित किया है। 'पास' का अर्थ है—'पश्यतीति पाशः' या 'पश्यः' किया है। किन्तु यह संगत नहीं लगता। पुरुषादानीय—यह भगवान् पार्श्वनाथ का सुप्रसिद्ध विशेषण है। इसलिए उसके परिपार्श्व में 'पास' का अर्थ पार्श्व ही होना चाहिये। यद्यपि 'वेसालीय' विशेषण भगवान् महावीर से अधिक सम्बन्धित है, फिर भी इसके जो अर्थ किये गए हैं उनकी मार्यादा से वह भगवान् पार्श्व का भी विशेषण हो सकता है।[5] भगवान् पार्श्व इक्ष्वाकुवंशी थे। उनके गुण विशाल थे और उनका प्रवचन भी विशाल था, इसलिए उनके 'वैशालिक' होने में कोई आपत्ति नहीं आती। इस पाठान्तर के आधार से यह अनुमान किया जा सकता है कि यह अध्ययन मूलतः पार्श्व की परम्परा का रहा हो और इसे उत्तराध्ययन की शृंखला में सम्मिलित करते समय इसे महावीर की उपदेश-धारा का रूप दिया गया हो।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २४३ : सावज्जगंथमुक्का, अब्भिन्तरबाहिरेण गंथेण। एसा खलु निज्जुत्ती, खुड्डागनियंठसुत्तस्स।।

२. तपागच्छपट्टावलि (पं० कल्याणविजय संपादित) भाग १, पृष्ठ २५३ : श्री सुधर्मास्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निर्ग्रन्थाः।

३. दिल्ली-टोपरा का सप्तमस्तम्भ लेख : निघंठेसु पि मे कटे (,) इमे वियापटा होहंति।

४. पातंजल योगसूत्र २।५ : अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १५६-५७ : गुणा अस्य विशाला इति वैशालियः, विशालं शासनं वा, विशाले वा इक्ष्वाकुवंशे भवा वैशालीया। "वैशाली जननी यस्य, विशालं कुलमेव च। विशालं प्रवचनं वा, तेन वैशालिको जिनः।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# छट्ठं अज्झयणं : छठा अध्ययन
# खुड्डागनियंठिज्जं : क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. जावंत ऽविज्जापुरिसा<br>सव्वे ते दुक्खसंभवा।<br>लुप्पंति बहुसो मूढा<br>संसारंमि अणंतए।। | *यावन्तोऽविद्याः पुरुषाः*<br>*सर्वे ते दुःखसम्भवाः।*<br>*लुप्यन्ते बहुशो मूढाः*<br>*संसारेऽनन्तके।।* | जितने अविद्यावान्[1] (मिथ्यात्व से अभिभूत) पुरुष हैं, वे सब दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं।[2] वे दिङ्मूढ़ की भांति मूढ़ बने हुए इस अनन्त संसार में बार-बार लुप्त होते हैं।[3] |
| २. समिक्ख पंडिए तम्हा<br>पासजाईपहे बहू।<br>अप्पणा सच्चमेसेज्जा<br>मेत्तिं भूएसु कप्पए।। | *समीक्ष्य पण्डितस्तस्मात्*<br>*पाशजातिपथान् बहून्।*<br>*आत्मना सत्यमेषयेत्*<br>*मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत्।।* | इसलिए पण्डित पुरुष प्रचुर पाशों (बन्धनों) व जाति-पथों[4] (जन्म मरण का पथ) की समीक्षा कर स्वयं सत्य की गवेषणा करे[5] और सब जीवों के प्रति मैत्री का आचरण करे।[6] |
| ३. माया पिया ण्हुसा भाया<br>भज्जा पुत्ता य ओरसा।<br>नालं ते मम ताणाय<br>लुप्पंतस्स सकम्मुणा।। | *माता पिता स्नुषा भ्राता*<br>*भार्या पुत्राश्चौरसाः।*<br>*नालं ते मम त्राणाय*<br>*लुप्यमानस्य स्वकर्मणा।।* | जब मैं अपने द्वारा किए गए कर्मों से छिन्न-भिन्न होता हूं, तब माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, पत्नी और पुत्र—ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते। |
| ४. एयमट्ठं सपेहाए<br>पासे समियदंसणे।<br>छिंद गेहिं सिणेहं च<br>न कंखे पुव्वसंथवं।। | *एतमर्थं स्वप्रेक्षया*<br>*पश्येत् सम्यग्दर्शनः।*<br>*छिन्द्याद् गृद्धिं स्नेहं च*<br>*न काङ्क्षेत् पूर्वसंस्तवम्।।* | सम्यक्दर्शन वाला पुरुष[7] अपनी प्रेक्षा से[8] यह अर्थ—कोई त्राण नहीं है—देखे[9] और उसके प्रति जो गृद्धि और स्नेह[10] है उसका छेदन करे तथा परिचय की अभिलाषा न करे। |
| ५. गवासं मणिकुंडलं<br>पसवो दासपोरुसं।<br>सव्वमेयं चइत्ताणं<br>कामरूवी भविस्ससि।। | *गवाश्वं मणिकुण्डलं*<br>*पशवो दासपौरुषम्।*<br>*सर्वमेतत् त्यक्त्वा*<br>*कामरूपी भविष्यसि।।* | गाय, घोड़ा, मणि, कुण्डल, पशु, दास और कर्मकरों का समूह[11]—इन सबको छोड़। ऐसा करने पर तू कामरूपी (इच्छानुकूल रूप बनाने में समर्थ) होगा। |
| (थावरं जंगमं चेव<br>धणं धण्णं उवक्खरं।<br>पच्चमाणस्स कम्मेहिं<br>नालं दुक्खाउ मोयणे।।) | *(स्थावरं जंगमं चैव*<br>*धनं धान्यमुपस्करम्।*<br>*पच्यमानस्य कर्मभिः*<br>*नालं दुःखान्मोचने।।)* | (चल और अचल सम्पत्ति, धन, धान्य और गृहोपकरण—ये सभी पदार्थ कर्मों से दुःख पाते हुए प्राणी को दुःख से मुक्त करने में समर्थ नहीं होते हैं।) |
| ६. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं<br>दिस्स पाणे पियायए।<br>न हणे पाणिणो पाणे<br>भयवेराओ उवरए।। | *अध्यात्मं सर्वतः सर्वं*<br>*दृष्ट्वा प्राणान् प्रियात्मकान्।*<br>*न हन्यात् प्राणिनः प्राणान्*<br>*भयवैरादुपरतः।।* | सब दिशाओं से होने वाला सब प्रकार का अध्यात्म—जीवन की आशंसा[12] जैसे मुझमें है वैसे ही दूसरों में है। सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है[13]—इस सत्य को देखकर भय और वैर से उपरत पुरुष प्राणियों के प्राणों का घात न करे।[14] |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. आयाणं नरयं दिस्स
नायएज्ज तणामवि।
दोगुंछी अप्पणो पाए
दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं।।

*आदानं नरकं दृष्ट्वा*
*नाददीत तृणमपि।*
*जुगुप्सी आत्मनः पात्रे*
*दत्तं भुंजीत भोजनम्।।*

"परिग्रह नरक है"[५५]—यह देखकर वह एक तिनके को भी अपना बनाकर न रखे। अहिंसक या करुणाशील मुनि[५६] अपने पात्र में गृहस्थ द्वारा प्रदत्त[५७] भोजन करे।

८. इहमेगे उ मन्नंति
अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं
सव्वदुक्खा विमुच्चई।।

*इहैके तु मन्यन्ते*
*अप्रत्याख्याय पापकम्।*
*आर्यं विदित्वा*
*सर्व-दुःखाद् विमुच्यते।।*

इस संसार में कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पापों का त्याग किये बिना ही तत्व को[५८] जानने मात्र से जीव सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

९. भणंता अकरेंता य
बंधमोक्खपइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण
समासासेंति अप्पयं।।

*भणन्तोऽकुर्वन्तश्च*
*बन्धमोक्षप्रतिज्ञावन्तः।*
*वाग्वीर्यमात्रेण*
*समाश्वासयन्त्यात्मकम्।।*

"ज्ञान से ही मोक्ष होता है"—जो ऐसा कहते हैं, पर उसके लिए कोई क्रिया नहीं करते, वे केवल बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्त की स्थापना करने वाले हैं। वे केवल वाणी के वीर्य (वाचालता) से अपने आपको आश्वस्त करते हैं।

१०. न चित्ता तायए भासा
कओ विज्जाणुसासणं?
विसन्ना पावकम्मेहिं
बाला पंडियमाणिणो।।

*न चित्रा त्रायते भाषा*
*कुतो विद्यानुशासनम्?*
*विषण्णाः पापकर्मभिः*
*बालाः पण्डितमानिनः।।*

विविध[५९] भाषाएं त्राण नहीं होतीं। विद्या का अनुशासन[६०] भी कहां त्राण देता है? (जो इनको त्राण मानते हैं वे) अपने आपको पण्डित मानने वाले अज्ञानी मनुष्य प्रायः कर्मों द्वारा विषाद को प्राप्त हो रहे हैं।

११. जे केई सरीरे सत्ता
वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं
सव्वे ते दुक्खसंभवा।।

*ये केचित् शरीरे सक्ताः*
*वर्णे रूपे च सर्वशः।*
*मनसा कायवाक्येन*
*सर्वे ते दुःखसंभवाः।।*

जो कोई मन, वचन और काया से शरीर, वर्ण और रूप में सर्वशः आसक्त होते हैं, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।[६१]

१२. आवन्ना दीहमद्धाणं
संसारंमि अणंतए।
तम्हा सव्वदिसं पस्स
अप्पमत्तो परिव्वए।।

*आपन्ना दीर्घमध्वानं*
*संसारेऽनन्तके।*
*तस्मात् सर्वदिशो दृष्ट्वा*
*अप्रमत्तः परिव्रजेत्।।*

वे इस अनन्त संसार में जन्म-मरण के लम्बे मार्ग को[६२] प्राप्त किए हुए हैं। इसलिए सब दिशाओं[६३] (दृष्टिकोणों) को देखकर मुनि अप्रमत्त होकर विचरे।

१३. बहिया उड्ढमादाय
नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मखयट्ठाए
इमं देहं समुद्धरे।।

*बहिरूर्ध्वमादाय*
*नावकाङ्क्षेत् कदाचिदपि।*
*पूर्वकर्मक्षयार्थं*
*इमं देहं समुद्धरेत्।।*

बाह्य—शरीर से भिन्न ऊर्ध्व—आत्मा है इसे स्वीकार कर[६४] किसी प्रकार की आकांक्षा न करे।[६५] पूर्व कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे।[६६]

१४. विविच्च कम्मुणो हेउं
कालकंखी परिव्वए।
मायं पिंडस्स पाणस्स
कडं लद्धूण भक्खए।।

*विविच्च कर्मणो हेतुं*
*कालकांक्षी परिव्रजेत्।*
*मात्रां पिण्डस्य पानस्य*
*कृतं लब्ध्वा भक्षयेत्।।*

कर्म के हेतुओं[६७] का विवेचन (विश्लेषण या पृथक्करण) कर मुनि मृत्यु की प्रतीक्षा[६८] करता हुआ विचरे। संयम-निर्वाह के लिए आहार और पानी की[६९] जितनी मात्रा आवश्यक हो उतनी गृहस्थ के घर में सहज निष्पन्न भोजन से प्राप्त कर आहार करे।

१५. सन्निहिं च न कुव्वेज्जा
लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय
निरवेक्खो परिव्वए।।

*सन्निधिं च न कुर्वीत*
*लेपमात्रया संयतः।*
*पक्षी पात्रं समादाय*
*निरपेक्षः परिव्रजेत्।।*

संयमी मुनि पात्रगत लेप को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के आहार का संग्रह न करे।[७०] पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ जाता है वैसे ही मुनि अपने पात्रों को साथ ले, निरपेक्ष हो, परिव्रजन करे।[७१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. एसणासमिओ लज्जू
गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं
पिंडवायं गवेसए।।

*एषणासमितो लज्जावान्*
*ग्रामेऽनियतश्चरेत्।*
*अप्रमत्तः प्रमत्तेभ्यः*
*पिण्डपातं गवेषयेत्।।*

एषणा-समिति से युक्त और लज्जावान् मुनि[३२] गांवों में अनियत चर्या करे। वह अप्रमत्त रहकर गृहस्थों से[३३] पिण्डपात की गवेषणा करे।[३४]

१७. एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी
अणुत्तरदंसी
अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा नायपुत्ते
भगवं वेसालिए वियाहिए।।

*एवं सो उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञानी*
*अनुत्तरदर्शी*
*अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः।*
*अर्हन् ज्ञातपुत्रः*
*भगवान् वैशालिको व्याख्याता।।*

अनुत्तर-ज्ञानी, अनुत्तर-दर्शी, अनुत्तर-ज्ञानदर्शनधारी[३५], अर्हन्, ज्ञातपुत्र[३६], वैशालिक[३७] और व्याख्याता भगवान् ने ऐसा कहा है।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पण :

# अध्ययन ६ : क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय

## १. अविद्यावान् (अविज्जा)

अविद्या शब्द के अनेक अर्थ हैं—आध्यात्मिक अज्ञान, भ्रान्ति या माया, अज्ञान, मिथ्यादर्शन, तत्त्वज्ञान का अभाव आदि।

प्रस्तुत प्रकरण में चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अज्ञान और मिथ्यादर्शन।[1] शान्त्याचार्य के अनुसार इसके दो अर्थ ये हैं—तत्त्वज्ञान से शून्य, पर्याप्त ज्ञान से रहित। जिसमें तत्त्वज्ञानात्मिका विद्या न हो उसे 'अविद्य' कहा जाता है। अविद्य का अर्थ सर्वथा अज्ञानी नहीं, किन्तु अतत्त्वज्ञ है। जीव सर्वथा ज्ञानशून्य होता ही नहीं। यदि ऐसा हो तो फिर जीव और अजीव में कोई भेद ही नहीं रह जाता।[2]

यहां 'अविद्या' का अर्थ मिथ्यादर्शन होना चाहिए। पतंजलि के अनुसार अनित्य आदि में नित्य आदि की अनुभूति 'अविद्या' है।[3]

## २. वे सब दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं (सव्वे ते दुक्खसंभवा)

सभी अविद्यावान् पुरुष दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं। चूर्णिकार ने यहां एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है[4]—

*नातः परतरं मन्ये, जगतो दुःखकारणम्।*
*यथाऽज्ञानमहारोगं, सर्वरोगप्रणायकम्॥*

शान्त्याचार्य ने दुःख का अर्थ—पाप कर्म किया है।[5]

अज्ञान से होने वाले दुःख को समझाने के लिए व्याख्याकारों ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—एक आलसी व्यक्ति गरीबी से प्रताड़ित होकर घर से धन कमाने निकला। वह सभी नगरों और गांवों में घूमा। उसे कहीं कुछ नहीं मिला। उसने घर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में वह एक देव मंदिर में ठहरा। वह गांव चांडालों का था। रात में उसने देखा, एक चांडाल मंदिर में आया है। उसके हाथ में एक विचित्र घड़ा है। उसने घड़े को एक ओर रखा और कहा—मेरे लिए घर, शय्या और स्त्री की व्यवस्था करो। देखते-देखते वहां सब उपस्थित हो गए। उस चांडाल ने स्त्री के साथ भोग भोगा। प्रभात होते-होते विद्या का साहरण किया और सब कुछ पूर्ववत् हो गया।

उस आलसी का मन ललचाया। उसने सोचा, व्यर्थ ही परिभ्रमण से क्या? मैं इस चांडाल की सेवा कर घड़े को प्राप्त कर लूं तो सब कुछ हो जाएगा। वह उस चांडाल की सेवा करने लगा। कुछ दिन बीते। एक दिन चांडाल ने पूछा—क्या चाहता है तू? वह बोला—आप जैसा जीवन जी रहे हैं, मैं भी वैसा ही जीवन जीना चाहता हूं। चांडाल बोला—घड़ा लोगे या विद्या? उसने सोचा, विद्या साधने का कष्ट कौन करेगा। उसने कहा—घड़ा दो। उसे घड़ा मिल गया। वह घर पहुंचा। घड़े के प्रभाव से उसे सारी सामग्री मिली। एक दिन वह मद्यपान कर, घड़े को वह कंधे पर रख नाचने लगा। प्रमाद बढ़ा। घड़ा जमीन पर गिरा और फूट गया। साथ ही साथ विद्या के प्रभाव से होने वाली सारी लीला समाप्त हो गई। अब वह सोचने लगा, यदि मैं उस चांडाल से घड़ा न लेकर विद्या लेता तो कितना अच्छा होता! पर अब.....। वह पुनः दरिद्रता के दुःखों से घिर गया।[6]

## ३. बार-बार लुप्त होते हैं (लुप्पंति बहुसो मूढा)

चूर्णि में 'लुप्पन्ति' का अर्थ है—शारीरिक और मानसिक दुःखों से बाधित होना।[7] वृत्तिकार ने इसका अर्थ दरिद्रता आदि दुःखों से बाधित होना किया है।[8] यहां मूढ़ का अर्थ है—तत्त्व-अतत्त्व के ज्ञान से शून्य, हित-अहित के विवेक से विकल।[9]

## ४. पाशों (बंधनों) व जातिपथों (पासजाईपहे)

चूर्णि में 'पास' का अर्थ 'पश्य' और 'जातिपथ' का अर्थ चौरासी लाख जीवयोनि किया गया है।[10] वृत्ति में 'पास' का अर्थ

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४७, १४८ : विद्यत इति विद्या, नैषां विद्या अस्तीति अविद्या.....अविद्यादनं (नरा) मिथ्यादर्शनमित्यर्थः।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २६२ : वेदनं विद्या—तत्त्वज्ञानात्मिका, न विद्या अविद्या—मिथ्यात्वोपहतकुत्सितज्ञानात्मिका, तत्प्रधानाः पुरुषाः अविद्यापुरुषाः, अविद्यमाना वा विद्या येषां ते अविद्यापुरुषाः। इह च विद्या शब्देन प्रभूतश्रुतमुच्यते, न हि सर्वथा श्रुताभावः जीवस्य, अन्यथा अजीवत्वप्राप्तेः उक्तं हि—
सव्वजीवाणंपि य णं अक्खरस्स णंतभागो णिच्चुघाडितो।
जदि सोवि आवरिज्जेज्ज तो णं जीवो अजीवत्तणं पावेज्जा॥

३. देखें—इसी अध्ययन का आमुख।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १४८।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र २६२ : दुःखयतीति दुःखं—पापं कर्म्म।

६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४८।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६२, २६३।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १४६ : सारीरमाणसेहिं दुक्खेहिं लुप्पंति।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र २६३ : लुप्यन्ते दारिद्र्यादिभिर्बाध्यन्ते।

९. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १४६ : मूढा—तत्त्वातत्त्वअजाणगा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६२ : मूढा हिताहितविवेचनं प्रत्यसमर्थाः।

१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १४६ : पास त्ति पास, जायत इति जाती, जातीनां पंथा जातिपंथाः, अतस्ते जातिपंथा बहु 'चुलसीतिं खलु लोए जोणीणं पमुहसयसहस्साइं।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्त्री' आदि का संबंध है। वे एकेन्द्रिय आदि जातियों के मार्ग होते हैं, अतः उन्हें जातिपथ कहा गया है। 'पाशजातिपथ' अर्थात् एकेन्द्रिय आदि जातियों में ले जाने वाले स्त्री आदि के संबंध।[1] हमने 'पास' और 'जाइपह' को असमस्त मानकर अनुवाद किया है। आचार्य नेमिचन्द्र ने स्त्री आदि के संबंध के विषय में एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है[2]—

***भार्यायां निगडं दत्त्वा, न सन्तुष्टः प्रजापतिः।***
***भूयोऽप्यपत्यदानेन, ददाति गलशृङ्खलाम्॥***

प्रजापति ने मनुष्य को भार्यारूपी सांकल देकर भी संतोष नहीं किया। उसने उसी मनुष्य को अनेक सन्तान देकर उसके गले में एक सांकल और डाल दी।

## ५. स्वयं सत्य की गवेषणा करे (अप्पणा सच्चमेसेज्जा)

इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति स्वयं सत्य की खोज करे। जैन दर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। वह मानता है कि व्यक्ति-व्यक्ति को सत्य की खोज करनी चाहिए। दूसरों के द्वारा खोजा गया सत्य दूसरे के लिए प्रेरक बन सकता है, निमित्त कारण बन सकता है, पर उपादान कारण नहीं हो सकता। व्यक्ति निरन्तर सत्य की खोज करे, रुके नहीं। सत्य की खोज का द्वार बन्द न हो।

वैदिक मानते हैं कि वेद ही प्रमाण हैं, पुरुष प्रमाण हो नहीं सकता, क्योंकि वह सत्य को साक्षात् देख नहीं सकता—'तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद् द्रष्टुरभावतः। नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थत्वविनिश्चयः।' जैन परम्परा मानती है—ग्रन्थ प्रमाण नहीं होता, प्रमाण होता है पुरुष। सर्वज्ञ थे, हैं और होंगे। सर्वज्ञता की नास्ति नहीं मानी जा सकती।

सत्य की खोज के विषय में वैज्ञानिक अवधारणा भी यही है। दूसरे वैज्ञानिकों ने जो खोजा है, उससे आगे बढ़ो और सत्य के एक नए पर्याय को अभिव्यक्ति दो। खोज खोज है। उसमें निर्माणात्मक तत्त्व भी प्राप्त हो सकते हैं और विध्वंसात्मक तत्त्व भी मिल सकते हैं। सत्य की खोज में भी यही लागू होता है। पर जो व्यक्ति 'मित्ति मे सव्वभूएसु'—विश्व-मैत्री का सूत्र लेकर चलता है, वह खोजी कहीं विमूढ़ नहीं होता। वह विध्वंस को भी निर्माण में बदल देता है।

चूर्णिकार के अनुसार चार हेतुओं से की जाने वाली सत्य की गवेषणा का कोई अर्थ नहीं होता। वे चार हेतु हैं—(१) किसी दूसरे के विकास के आधार पर सत्य मान लेना (२) भय से (३) लोक-रंजन के लिए और (४) दूसरों के दबाव से।[4]

इसलिए कहा गया है—सर्वदा सर्वत्र आत्मना—स्वयं अपनी स्वतंत्र भावना से सत्य की मार्गणा करे।

सच्चं—चूर्णिकार ने सत्य का अर्थ संयम किया है।[5] वृत्तिकार ने सत् का अर्थ जीव और उसके लिए जो हितकर होता है, उसे सत्य कहा है। यथार्थ-ज्ञान और संयम जीव के लिए हितकर होते हैं। इसलिए ये सत्य कहलाते हैं।[6]

चूर्णि और वृत्तिकार ने सत्य का जो अर्थ किया है वह आचारपरक है। सत्य का सम्बन्ध केवल आचार से ही नहीं है, इसलिए व्यापक संदर्भ में सत्य के तीन अर्थ किए जा सकते हैं—(१) अस्तित्व[7] (२) संयम (३) ऋजुता।[8]

चूर्णिकार ने नामोल्लेखपूर्वक नागार्जुनीय वाचना का पाठांतर 'अत्तट्ठा सच्चमेसेज्जा' दिया। शान्त्याचार्य ने यह पाठांतर बिना किसी विशेष नाम के निर्दिष्ट किया है।[9] इन दोनों का मानना है कि इस पाठांतर में 'अत्तट्ठा' शब्द विशेष महत्त्व का है। सत्य की खोज का प्रमुख उद्देश्य है 'स्व'। वह पर के लिए नहीं होती।

इस श्लोक का सार यह है कि सत्य की खोज स्वयं के लिए स्वयं करो। सत्य की खोज वही व्यक्ति कर सकता है जो बंधनों की समीक्षा में पंडित है, हित-अहित की विवेक-चेतना का धनी हो। सत्य को वही पा सकता है जो स्वतंत्र चेतना से उसकी शोध करता है। सत्य-शोध का नवनीत है—विश्वमैत्री, सर्वभूतमैत्री।

## ६. आचरण करे (कप्पए)

चूर्णिकार ने 'कल्प' शब्द के छह अर्थ निर्दिष्ट किए हैं[10]—

१. सामर्थ्य—आठवें मास में वृत्ति या जीविका में समर्थ होना।
२. वर्णन—विस्तार से वर्णन करने वाला सूत्र—कल्पसूत्र।
३. छेदन—चार अंगुलमात्र केशों को छोड़कर आगे के केशों की कप्पति—काटना।
४. करण—करना।
५. औपम्य—चांद और सूर्य जैसे साधु।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २६४ : पाशा—अत्यन्तपारवश्यहेतवः, कलत्रादिसम्बन्धास्त एव तीव्रमोहोदयादिहेतुतया जातीनाम्—एकेन्द्रियादिजातीनां पन्थानः—तत्प्रापकत्वान् मार्गाः पाशजातिपथाः तान्।
२. सुखबोधा वृत्ति, पत्र ११२।
३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४६ : मा भूत् कस्यचित् परप्रत्ययात् सत्यग्रहणं, तथा परो भयात् लोकरंजनार्थं पराभियोगाद् वा।
४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४६ : सच्चो संजमो...।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र २६४ : सद्भ्यो—जीवादिभ्यो हितः-सम्यग् रक्षण-प्ररूपणादिभिः सत्यः—संयमः सदागमो वा।
६. तत्त्वार्थ ५।३० : उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।
७. ठाणं ४।१०२ : चउविहे सच्चे पण्णत्ते—काउज्जुययया, भासुज्जुययया भावुज्जुययया, अविसंवायणाजोगे।
८. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४६ : नागार्जुनीयानां 'अत्तट्ठा सच्चमेसेज्जा।' (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६४।
९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १४६, १५० : कल्पनाशब्दोऽप्यनेकार्थः, तद्यथा—सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा।
औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः॥
सामर्थ्ये अष्टममासे वित्तीकप्पो भवति, वर्णने विस्तरतः सूत्रं कल्पं, छेदने चतुरंगुलवज्जे अग्गकेसे कप्पति, करणे 'न वृत्तिं चिन्तयेत् प्राज्ञः, धर्ममेवानुचिन्तयेत्। जन्मप्रभृतिभूतानां, वृत्तिरायुश्च कल्पितम्॥' औपम्ये यथा चन्द्रादित्यकल्पाः साधवः, अधिवासे जहा सोहम्मकप्पवासी देवो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. अधिवास—सौधकर्मकल्पवासी देव।

प्रस्तुत प्रसंग में 'कल्प' शब्द का प्रयोग 'करण'—करने के अर्थ में है।[1]

## ७. सम्यग् दर्शन वाला पुरुष (समियदंसणे)

जिसका मिथ्यादर्शन शमित हो गया हो उसे शमितदर्शन अथवा जिसे दर्शन समित—प्राप्त हुआ हो उसे समितदर्शन कहा जाता है। इन दोनों का अर्थ है—सम्यग्दृष्टि संपन्न व्यक्ति।[2]

चूर्णिकार ने वैकल्पिक रूप से इसे संबोधन भी माना है।[3]

## ८. अपनी प्रेक्षा से (सपेहाए)

चूर्णि में इसका अर्थ 'सम्यक्बुद्धि' से है।[4] शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—सम्यक्-बुद्धि से अथवा अपनी बुद्धि से।[5] नेमिचन्द्र ने केवल 'अपनी बुद्धि से' किया है।[6] यही शब्द ७।१६ में आया है। वहां इसका अर्थ 'सम्यक्-आलोचना करके' किया गया है।[7] अपनी बुद्धि से—यह अर्थ अधिक उपयुक्त है।

## ९. देखे (पासे)

चूर्णि में इसका अर्थ 'पाश'—बंधन है।[8] वृत्तिकार ने इसे क्रियापद मानकर इसका अर्थ—देखे, अवधारण करे—किया है।[9] यही अर्थ प्रासंगिक लगता है।

## १०. गृद्धि और स्नेह (गेहिं सिणेहं)

गृद्धि का अर्थ है—आसक्ति। वह पशु, धन, धान्य आदि के प्रति होती है। स्नेह परिवार, मित्र आदि के प्रति होता है।[10]

गृद्धि किसी मनुष्य के प्रति नहीं हो सकती। यहां गृद्धि और स्नेह—दोनों शब्द प्रयुक्त हैं। इसलिए उनमें यह भेदरेखा की गई है।

## ११. दास और कर्मकरों का समूह (दासपोरुसं)

इसमें दो शब्द हैं—दास और पौरुस। दास का अर्थ है—जो घर की दासी से उत्पन्न हैं अथवा क्रीत हैं, वे दास कहलाते हैं। 'पौरुष' का अर्थ है—पुरुषों का समूह अर्थात् कर्मकरों का समूह।

शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप से 'दासपोरुस' को समस्त पद मानकर इसका अर्थ—दास पुरुषों का समूह किया है।[11]

विस्तार के लिए देखें—३।१६ का टिप्पण।

## १२. जीवन की आशंसा (अज्झत्थं)

अध्यात्म का शाब्दिक अर्थ है—आत्मा में होने वाला। प्राणी में कुछ मौलिक मनोवृत्तियां या संज्ञाएं होती हैं। वे सबमें समान रूप से मिलती हैं। जीवन की आशंसा या इच्छा एक मौलिक मनोवृत्ति है। यहां 'अध्यात्म' शब्द के द्वारा वही विवक्षित है। वह व्यापक है, इसलिए उसे 'सव्वओ सव्वं' (सर्वतः सर्वं) कहा गया है।

'अज्झत्थ' के स्थान पर 'अब्भत्थ' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। दोनों समानार्थक हैं।

## १३. सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है (पियायए)

चूर्णि और वृत्तियों में इसकी व्याख्या प्रियात्मक या प्रियदय के रूप में की गई है।[12] सरपेन्टियर ने इस शब्द की मीमांसा करते हुए लिखा है कि पाली साहित्य में 'पियायति' धातु का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है चाहना, उपासना करना, सत्कार करना आदि और संभव है यही क्रिया जैन-महाराष्ट्री में भी आई हो। अतः इस धातु के 'पियायइ', 'पियाएइ' रूप भी सहज गम्य हो जाता है। इस रूप को मानने पर ही प्रथम दो चरणों का अर्थ सहज सुगम हो जाता है।[13]

यदि हम टीकाकारों का अनुसरण करते हैं तो हमें 'दिस्स' शब्द को दोनों ओर जोड़ना पड़ता है और यदि हम 'पियायए' को धातु मान लेते हैं तो ऐसा नहीं करना पड़ता और अर्थ में भी विपर्यास नहीं होता। इसके अनुसार 'पाणे पियायए' का अर्थ होगा—प्राणियों के साथ मैत्री करे।

किन्तु आचारांग के—सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं (२।६३, ६४) के संदर्भ में इस श्लोक को पढ़ते हैं तो 'पियायए' का अर्थ प्रियायुष् (प्रियायुषः) संभव लगता है और अर्थसंगति की दृष्टि से भी यह उचित है। 'पियायए'—यहां पियाउए पाठ की परावृत्ति हुई है—ऐसा लगता है।

आचारांग वृत्ति में 'सव्वे पाणा पियाउया' का पाठान्तर है—'सव्वे पाणा पियायया'। शीलांकसूरि ने 'पियायया' का अर्थ—जिन्हें अपनी आत्मा प्रिय हो वे प्राणी—किया है।[14]

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १५० : अत्र करण कल्पः शब्दः।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २६४ : शमितं दर्शनं प्रस्तावात् मिथ्यात्वात्मकं येन स तथोक्तः, यदि वा सम्यक् इतं—गतं जीवादिपदार्थेषु दर्शनं—दृष्टिरस्येति समितदर्शनः। कोऽर्थः ? सम्यग्दृष्टिः।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १५१ : .....आमन्त्रणे वा।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १५० : सम्यक्प्रेक्षया सपेहाए।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र २६४ : 'सपेहाए' त्ति प्राकृतत्वात् संप्रेक्षया—सम्यग्बुद्ध्या स्वप्रेक्षया वा।

६. सुखबोधा, पत्र ११२ : स्वप्रेक्षया—स्वबुद्ध्या।

७. सुखबोधा, पत्र १२१ : 'सपेहाए' त्ति सम्प्रेक्ष्य—सम्यगालोच्य।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १५० : पाश्यतेऽनेनेति पाशः।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र २६४ : पासे त्ति पश्येदवधारयेत्।

१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५१ : गृद्धिः द्रव्यगोमहिष्यजाविकाधनधान्यादिषु, स्नेहस्तु बान्धवेषु।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र २६४ : यद् वा दासपोरुसं ति दासपुरुषाणां समूहो दासपौरुषं।

१२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ १५१ : 'पियायए' प्रिय आत्मा येषां ते प्रियात्मानः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ : 'पयादए' त्ति आत्मवत् सुखप्रियत्वेन प्रिया दया—रक्षणं येषां तान् प्रियदयान्, प्रियआत्मा येषां तान् प्रियात्मकान् वा।
(ग) सुखबोधा, पत्र ११२।

१३. उत्तराध्ययन, पृ० ३०३।

१४. आयारो २।६३, वृत्ति पत्र, ११०, १११ : पाठान्तरं वा 'सव्वेपाणा पियायया', आयतः—आत्माऽनादनन्ततत्वात् स प्रियो येषां ते तथा सर्वेऽपि प्राणिनः प्रियात्मानः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पियायया प्रथमा का बहुवचन है और पियायए द्वितीया का बहुवचन। इस प्रकार घूम-फिर कर हम फिर 'पियायय' के प्रियात्मक अर्थ पर ही आ पहुंचते हैं।

## १४. (श्लोक ६)

प्रस्तुत श्लोक में हिंसा से उपरत रहने का निर्देश दिया गया है। उसके मुख्य हेतु हैं—

१. जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सभी प्राणियों को सुख प्रिय है।

२. जैसे मुझे अपना जीवन प्रिय है, वैसे ही सभी प्राणियों को अपना-अपना जीवन प्रिय है।

दशवैकालिक ६/१० में कहा है—'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं'—सब प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए किसी को किसी प्राणी को मारने का अधिकार नहीं है।

हिंसा करने के अनेक कारण हैं। उनमें ये दो कारण और हैं—

१. व्यक्ति भय के कारण हिंसा करता है।

२. व्यक्ति वैर के वशीभूत होकर प्रतिशोध की भावना से हिंसा में प्रवृत होता है।

अहिंसा की अराधना के लिए हिंसा के सभी कारणों से निवृत्त होना होता है।

## १५. परिग्रह नरक है (आयाणं नरयं)

आदान का अर्थ है—परिग्रह। वह नरक का हेतु है, इसलिए कारण में कार्य का उपचार कर परिग्रह को नरक कह दिया गया है। इसका दूसरा अर्थ यह किया जा सकता है—अदत्त का आदान नरक है।[1] आयारो में हिंसा को नरक कहा है।[2]

## १६. अहिंसक या करुणाशील मुनि (दोगुंछी)

चूर्णिकार के अनुसार जुगुप्सा का अर्थ 'संयम' है। जो असंयम से जुगुप्सा करता है वह जुगुप्सी है।[3]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—आहार किए बिना धर्म करने में असमर्थ शरीर से जुगुप्सा करने वाला—किया है।[4]

पहले अर्थ की ध्वनि है—असंयम के प्रति जुगुप्सा करने वाला और दूसरे की ध्वनि है—शरीर की असमर्थता के प्रति जुगुप्सा करने वाला। तात्पर्यार्थ में 'दोगुंछी' का अर्थ है—अहिंसक, करुणाशील। जो संयमी होता है उसमें ये दोनों गुण होते हैं।

## १७. अपने पात्र में गृहस्थ द्वारा प्रदत्त (अप्पणो पाए दिन्ने)

चूर्णिकार ने कहा है—संयमी-जीवन के निर्वाह के लिए पात्र आवश्यक है। वह परिग्रह नहीं है।[5] मुनि अपने पात्र में भोजन करे, गृहस्थ के पात्र में भोजन न करे। इसके समर्थन में शान्त्याचार्य ने "पच्छाकम्मं पुरेकम्मं" (दशवैकालिक ६।५२) श्लोक उद्धृत किया है। उन्होंने इस उद्धरण के पूर्व 'शय्यम्भवाचार्य' का उल्लेख किया है।[6]

'पाए दिन्ने'—मिलाइए—बौद्धों का छट्ठा धुतांग 'पात्र-पिंडिकांग'। (विशुद्धि मार्ग १।२, पृ० ६०)

## १८. तत्त्व को (आयरियं)

चूर्णिकार ने इसका संस्कृत रूप 'आचरितं' और शान्त्याचार्य ने 'आर्यम्' किया है। नेमिचन्द्र ने 'आयारियं' पाठ मानकर इसका संस्कृत रूप 'आचारिकम्' किया है। आचारित का अर्थ आचार[7], आर्य का अर्थ तत्त्व[8] और आचारिक का अर्थ अपने-अपने आचार में होने वाला अनुष्ठान है।[9]

डॉ० हरमन जेकोबी ने पूर्व व्याख्याओं को अमान्य किया है। वे इसका अर्थ 'आचार्य' करते हैं।[10]

'आयरिय' के संस्कृत रूप आचरित और आचार्य दोनों हो सकते हैं, इसलिए आचरित को अमान्य करने का कोई कारण प्राप्त नहीं है। किन्तु इस श्लोक में ऐकान्तिक ज्ञानवाद का निरसन है। सांख्य आदि तत्त्वज्ञता, भेदज्ञान या विवेकज्ञान से मोक्ष मानते हैं। उनकी सुप्रसिद्ध उक्ति है—

***पंचविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः।***
***शिखी मुण्डी जटी वापि, मुच्यते नात्र संशयः।।***

'आर्य' का अर्थ तत्त्व भी है इसलिए प्रकरण की दृष्टि से शान्त्याचार्य की व्याख्या अनुपयुक्त नहीं है। वे 'आयरित' के संस्कृत रूप 'आर्य' होने में स्वयं संदिग्ध थे, इसलिए उन्होंने इस प्रयोग को सौत्रिक बतलाया। 'आयारिय' का संस्कृत रूप आकारित भी होता है। आकारित अर्थात् आह्वान-वचन। कुछ लोग केवल आह्वान-वचनों—मंत्रों के जप से सर्वदुःख मानते हैं, प्रत्याख्यान या संयम करना आवश्यक नहीं मानते। 'आयारिय' पाठ के आधार पर यह व्याख्या भी

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५२।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६६।

२. आयारो १।२५।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५२ : दुगुंछा—संजमो, किं दुगुंछति ? असंजमम्।

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २६६ : जुगुप्सते आत्मानमाहारं बिना धर्मधुराधरणाक्षममित्येवंशीलो जुगुप्सी।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११२।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५२ : पाति जीवानात्मानं वा तेनेति पात्रं, आत्मीयपात्रग्रहणात् मा भूत्कश्चित्परपात्रे गृहीत्वा भक्षयति तेन पात्रग्रहणं, ण सो परिग्गह इति।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र २६६ : पात्रग्रहणं तु व्याख्याद्वयेऽपि मा भूत निष्परिग्रहतया पात्रस्याप्यग्रहणमिति कस्यचिद् व्यामोह इति ख्यापनार्थं, तदपरिग्रहे हि तथाविधलब्ध्याद्यभावेन पाणिभोक्तृत्वाभावाद्गृहिभाजन एव भोजनं भवेत्, तत्र च बहुदोषसम्भवः, तथा च शय्यम्भवाचार्यः—
पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ ण कप्पइ।
एयमट्ठं ण भुंजंति, णिग्गंथा गिहिभायणे।।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५२ : आचारो निविष्टमाचरितं, आचारणीयं वा।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र २६६ : 'आयरियं' ति सूत्रत्वात् आराद्यातं सर्वकुयुक्तिभ्य इत्यार्यं तत्त्वम्।

९. सुखबोधा, पत्र ११३ : 'आचारिकं' निजनिजाऽऽचारभवमनुष्ठानमेव।

१०. Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarādyayana, P. 25.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकती है।

### १९. विविध (चित्ता)

'चित्रा' भाषा का विशेषण है। वह धातु, उपसर्ग, संधि, तद्धित, काल, प्रत्यय, प्रकृति, लोप, आगम आदि भेदों से विभिन्न शब्दों वाली[1], अथवा प्राकृत, संस्कृत आदि विभिन्न रूपों वाली होती है इसलिए उसे विचित्र कहा गया है।[2]

### २०. विद्या का अनुशासन (विज्जाणुसासणं)

इसका अर्थ है—मंत्र आदि का शिक्षण।[3] डॉ० हरमन जेकोबी ने इसका अर्थ—दार्शनिक शिक्षण—किया है।[4]

### २१. (श्लोक ११)

'मन, वचन और काया से शरीर में आसक्त होते हैं' इसे स्पष्ट करते हुए नेमिचन्द्र ने कहा है—'हम सुन्दर और मोटे शरीर वाले कैसे बनें'—मन से सतत यह चिन्तन करना, काया से सदा रसायन आदि का उपयोग कर शरीर को बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करना और वाणी से रसायन आदि से सम्बन्धित प्रश्न करते रहना आसक्ति है।[5] देहासक्ति पदार्थासक्ति का मूल कारण है। जो देहासक्ति से बचता है वह पदार्थों के प्रति अनासक्त रह सकता है।

### २२. जन्म-मरण के लंबे मार्ग को (दीहमद्धाणं)

चूर्णिकार ने यहां एक श्लोक उद्धृत किया है—[6]

*'अपन्ना दीर्घमध्वानमनादिकमनन्तकम्।*
*स तु कर्मभिरापन्नः हिंसादेरुपचीयते।।'*

### २३. सब दिशाओं (सव्वदिसं)

दिशा शब्द के दो अर्थ किए जा सकते हैं—१. दृष्टिकोण, २. उत्पत्ति-स्थान। चूर्णि और वृत्ति में दिशा शब्द से समस्त भाव-दिशाओं का ग्रहण किया गया है। भाव-दिशा अठारह प्रकार की है। जैसे—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, मूलबीज, स्कंधबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, नारक, देव, सम्मूर्च्छनज, कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर-द्वीपज।[7]

ज्ञानवाद और क्रियावाद की दृष्टि से विमर्श करें तो 'दिशा' का अर्थ दृष्टिकोण होना चाहिए। कोरा ज्ञानवादी अप्रमत्त नहीं हो सकता। अप्रमत्त होने के लिए ज्ञान और क्रिया—दोनों का समन्वय आवश्यक है।

प्रस्तुत प्रसंग में 'दिशा' का अर्थ दृष्टिकोण ही समीचीन लगता है।

### २४. बाह्य—शरीर से भिन्न ऊर्ध्व—आत्मा है, इसे स्वीकार कर (बहिया उड्ढमादाय)

बहिया—बाह्य। यह इन्द्रिय-जगत् का वाचक है। उड्ढं—ऊर्ध्व। यह आत्म-जगत् का वाचक है। जो व्यक्ति इन्द्रिय-जगत् में जीता है, वह विषयों की आकांक्षा न करे, यह कभी संभव नहीं है। क्योंकि इस जगत् में विषयों के आधार पर ही जीवन की ऊंचाई और नीचाई मापी जाती है। पर जो व्यक्ति इन्द्रिय-जगत् से परे हटकर ऊर्ध्व—मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाकर चलता है, वह विषयों से विरक्त होता है, उनसे आकर्षित नहीं होता। वह विषयों को भोगता है, पर उनसे बंधता नहीं।

संसार का सारा व्यवहार पदार्थाश्रित है। जीवन पदार्थों पर आधृत है। ऐसी स्थिति में उनको सर्वथा नकारना किसी के वश की बात नहीं है। परन्तु जो ऊर्ध्वलक्षी होता है वह पदार्थों को काम में लेता हुआ भी उनसे अभिष्वंग नहीं करता और जो इन्द्रिय-चेतना के स्तर पर जीता है वह उनसे बंध जाता है।

सूत्रकृतांग सूत्र का यह वाक्य 'माणसे खलु दुल्लहे' इसी बात का साक्ष्य है कि लक्ष्य की ऊर्ध्वता के कारण ही मनुष्य जन्म की दुर्लभता है, इसलिए इसकी रक्षा वांछनीय है।

लोकायत मानते हैं कि 'ऊर्ध्वं देहात् पुरुषो न विद्यते, देह एव आत्मा'—देह से ऊर्ध्व—परे कोई आत्मा नहीं है, देह ही आत्मा है। इसका निरसन करते हुए सूत्रकार ने कहा है—'बहिया उड्ढं'—शरीर से परे भी आत्मा है। यह चूर्णि की व्याख्या है।[8] वृत्ति के अनुसार 'बहिया उड्ढं' का अर्थ मोक्ष है। जो संसार से बहिर्भूत है और सबसे ऊर्ध्ववर्ती है, उसे 'बहिः ऊर्ध्व' कहा जाता है।[9]

### २५. किसी प्रकार की आकांक्षा न करे (नावकंखे कयाइ वि)

व्यक्ति ऊर्ध्वलक्षी होकर, मोक्ष को अपना लक्ष बनाकर किसी भी स्थिति में, कहीं भी विषयों के प्रति आसक्त न हो। उपसर्ग और परीषहों से प्रताड़ित होने पर भी वह विषयाभिमुख न हो।

यहां एक प्रश्न उभरता है कि यदि यह यथार्थ है तो फिर शरीर को धारण करना भी अयुक्त ही होगा, क्योंकि इसके प्रति भी आकांक्षा या आसक्ति होती है। शरीर भी आत्मा से बाह्य है।

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५३ :
चित्रानाम धातूपसर्गसंधितद्धितकालप्रत्ययप्रकृतिलोपागमविशुद्धया।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २६७ : 'चित्रा' प्राकृतसंस्कृतादिरूपा आर्यविषयं ज्ञानमेव मुक्त्यंगमित्यादिका वा।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २६७ : विदन्त्यनया तत्त्वमिति विद्या—विचित्रमंत्रात्मिका तस्या अनुशासनं—शिक्षणं विद्यानुशासनम्।

४. Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarādhyayana, P. 26.

५. सुखबोधा, पत्र ११३, ११४।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५४।

७. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५४।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६८ :
पुढविजलजलणवाया मूला खंधग्गपोरबीया य।
बितिचउपणिंदितिरिया य नारया देवसंघाया।।
सम्मुच्छिम कम्माकम्मभूमिगणरातहंतरद्दीवा।
भावदिसा दिस्सइ जं संसारी णियगमेयाहिं।।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५५।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र २६८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका उत्तर अगले दो चरणों में दिया गया है।

## २६. (पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे)

प्रस्तुत दो चरणों में शरीर के धारण और पोषण करने का सटीक उत्तर है। शरीर को धारण करने का और उसको उचित आहार से पुष्ट रखने का एकमात्र उद्देश्य है कि पूर्वसंचित कर्मों का क्षय किया जा सके और संयम की पालना से नए कर्मों को रोका जा सके। शरीर-धारण का यह आध्यात्मिक अथवा परमार्थिक हेतु है।

## २७. कर्म के हेतुओं (कम्मणो हेउं)

चूर्णिकार ने अविद्या और राग-द्वेष को कर्मबंध का हेतु माना है।[1] वृत्ति के अनुसार कर्मबंध के उपादान हेतु हैं—मिथ्यात्व और अविरति।[2]

## २८. मृत्यु की प्रतीक्षा (कालकंखी)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—पण्डित-मरण के काल की आकांक्षा करने वाला अर्थात् आजीवन संयम की इच्छा करने वाला—किया है।[3]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ क्रियोचित काल की आकांक्षा करने वाले किया है।[4] 'कालकंखी परिव्वए'—ये दो शब्द आचारांग १।३।३८ में ज्यों-के-त्यों आए हैं।

## २९. आहार और पानी की (पिंडस्स पाणस्स)

इस श्लोक में केवल दो शब्द—पिण्ड और पान आये हैं। अन्यत्र अनेक स्थानों पर—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं—ऐसे चार शब्द आते हैं। चूर्णिकार ने पिण्ड शब्द को अशन, खाद्य और स्वाद्य—इन तीनों का सूचक माना है।[5] मुनि खाद्य और स्वाद्य का प्रायः उपभोग नहीं करते, ऐसा वृत्तिकारों का अभिमत है।[6] अभयदेव सूरि ने भी स्थानांग वृत्ति में ऐसा मत प्रकट किया है।[7] चौदह प्रकार के दान जो बतलाये हैं उनमें खाद्य, स्वाद्य भी सम्मिलित हैं।[8] इन दोनों प्रकारों के उल्लेखों से यही जान पड़ता है कि इनका ऐकान्तिक निषेध नहीं है।

## ३०. (सन्निहिं च कुव्वेज्जा, लेवमायाए संजए)

सन्निधि का अर्थ है—अशन आदि को स्थापित करके रखना, दूसरे दिन के लिए संग्रह करना।[9]

निशीथ चूर्णि में थोड़े समय के बाद विकृत हो जाने वाले दूध, दही आदि के संग्रह को सन्निधि और चिरकाल तक न बिगड़ने वाले घी, तेल आदि के संग्रह को संचय कहा है।[10]

लेप मात्र का अर्थ है—जितनी वस्तु से पात्र पर लेप लगे उतनी मात्रा। मात्रा शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—

*ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादायां परिच्छदे।*
*परिमाणे धने चेति, मात्रा शब्दः प्रकीर्तितः॥*

यहां मात्रा शब्द परिमाण के अर्थ में है।[11] शान्त्याचार्य ने इसे मर्यादा के अर्थ में भी माना है। उनके अनुसार इसका अर्थ होगा—मुनि अपने काष्ठ पात्र पर गाढ़े तेल या रोगन आदि का लेप लगाए। उसके अतिरिक्त किसी प्रकार की सन्निधि न रखे।[12]

## ३१. (पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए)

यहां 'पत्त' शब्द में श्लेष है। इसके दो अर्थ होते हैं—पत्र (पंख) और भिक्षा-पात्र। चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—जैसे पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ता है, इसलिए उसे पीछे की कोई अपेक्षा—चिन्ता नहीं होती, वैसे ही भिक्षु अपने पात्र आदि उपकरणों को जहां जाए वहां साथ ले जाए, संग्रह करके कहीं रखे नहीं अर्थात् पीछे की चिन्ता से मुक्त होकर—निरपेक्ष होकर विहार करे।[13]

वृत्तिकारों ने इसका तात्पर्यार्थ किया है कि संयमोपकारी पात्र आदि उपकरणों की सन्निधि करने में दोष नहीं है।[14]

शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक अर्थ में 'पत्त' को पात्र मानकर व्याख्या की है। हमारा अनुवाद इसी पर आधारित है।[15]

## ३२. लज्जावान् मुनि (लज्जू)

चूर्णि में इसका अर्थ लज्जावान् है।[16] वृत्तिकार ने इसे

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५५।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र २६८ : कम्मणो—ज्ञानावरणादेः, हेतुं—उपादान कारणं मिथ्यात्वाविरत्यादि।
३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५५ : कालनाम यावदायुषः तं पंडितमरणकालं काङ्क्षमाणः।
४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १६८, १६९ : कालं अनुष्ठानप्रस्तावं काङ्क्षत इत्येवंशीलः कालकांक्षी।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११४।
५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५५ : पिण्डग्रहणात् त्रिविध आहारः।
६. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २६९ : 'पिण्डस्य' ओदनादेरन्नस्य 'पानस्य च' आयामादेः, खाद्यस्वाद्यानुपादानं च यतेः प्रायस्तत्परिभोगासम्भवात्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११५।
७. ठाणं ९।३ : णो पाणभोयणस्स....., वृत्ति, पत्र ४२२ : खाद्यस्वाद्ययोरुत्सर्गतो यतीनामयोग्यत्वात्पानभोजनयोर्ग्रहणमिति।
८. उपासकदसा २ : असणपाणखाइमसाइमेणं....पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र २६९ : सन्निधिः—प्रातरिदं भविष्यतीत्याद्यभिसन्धितोऽतिरिक्ताशनादिरस्थापनम्।
१०. निशीथ चूर्णि, उद्देशक ८, सूत्र १८।
११. सुखबोधा, पत्र ११४ : 'लेपमात्रया' यावतापात्रमुपलिप्यते तावत्परिमाणमपि।
१२. बृहद्वृत्ति, पत्र २६९ : लेपः—शकटाक्षादिनिष्पादितः पात्रगतः परिगृह्यते, तस्य मात्रा—मर्यादा, मात्राशब्दस्य मर्यादावाचित्वेनापि रूढत्वात्... लेपमात्रतया, किमुक्तं भवति ?—लेपमेकं मर्यादीकृत्य न स्वल्पमप्यन्यत् सन्निदधीत।
१३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५६ : यथाऽसौ पक्षी तं पत्रभारं समादाय गच्छति एवमुपकरणं भिक्षुरादाय निरवेक्खी परिव्वए।
१४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २६९ : तथा च प्रतिदिनमसंयमपलिमन्थभीरुतया पात्राद्युपकरणसन्निधिकरणेऽपि न दोषः।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११५।
१५. बृहद्वृत्ति, पत्र २६९ : पक्षीव निरपेक्षः, पात्रं पतद्ग्रहादिभाजनमर्थात्तन्नियोगं च समादाय व्रजेद्—भिक्षार्थं पर्यटेद्, इदमुक्तं भवति—मधुकरवृत्त्या हि तस्य निर्वहणं, तत्किं तस्य सन्निधिना ?
१६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्ष प्रयोग मानकर इसका अर्थ यति—मुनि किया है। लज्जा का अर्थ है—संयम। संयम के प्रति अनन्य उपयोगवान् होने के कारण यति 'लज्जू' कहलाता है।[1] सुखबोधा में इसका अर्थ 'संयमी' है।[2]

## ३३. अप्रमत्त रहकर गृहस्थों से (अप्पमत्तो पमत्तेहिं)

यहां अप्रमत्त और प्रमत्त—दोनों शब्द सापेक्ष हैं। अप्रमत्त का प्रयोग अप्रमत्त-संयती (सप्तम गुणस्थानवर्ती) के अर्थ में नहीं है, किन्तु प्रमादरहित जागरूक संयती के अर्थ में है। प्रमत्त शब्द का प्रयोग गृहस्थ के अर्थ में किया गया है।[3]

## ३४. (श्लोक १६)

प्रस्तुत श्लोक में मुनि की निरपेक्षता निर्दिष्ट है। उसके हेतु ये हैं—

१. एषणा समिति में उपयुक्त होना।

२. गांव, नगर आदि में अनियत चर्या करना।

३. अप्रमत्त रहना।

## ३५. अनुत्तर ज्ञानदर्शनधारी (अणुत्तरनाणदंसणधरे)

प्रस्तुत श्लोक में इस पद से पूर्व 'अणुत्तरणाणी अणुत्तरदंसी'—ये दो विशेषण आ चुके हैं। इसलिए यह प्रश्न अस्वाभाविक नहीं है कि पुनः इन्हीं दो विशेषणों की क्या उपयोगिता है? क्या यह पुनरुक्त दोष नहीं है?

समाधान में वृत्तिकार ने कहा है कि अनुत्तर ज्ञान और दर्शन लब्धिरूप में एक साथ रहते हैं, किन्तु इनका उपयोग युगपत्—एक साथ नहीं होता। ज्ञान और दर्शन की भिन्नकालता अनुत्तरज्ञानी और अनुत्तरदर्शी—इन दो पदों के पृथक् कथन से स्पष्ट है। यह उपयोग की दृष्टि से प्रतिपादित है। लब्धिरूप में इन दोनों की युगपत् अवस्थिति में भिन्नकालता स्वीकृत नहीं है। इसी व्यामोह को दूर करने के लिए यह विशेषण 'अणुत्तरनाणदंसणधरे' पुनरुक्त नहीं है, एक विशेष अवस्था का द्योतक है।[4]

## ३६. ज्ञातपुत्र (नायपुत्ते)

चूर्णि में नायपुत्त का अर्थ—ज्ञातकुल में प्रसूत सिद्धार्थ क्षत्रिय के पुत्र—है।[5] वृत्तियों में ज्ञात का अर्थ उदार क्षत्रिय, प्रकरण वश सिद्धार्थ किया गया है। ज्ञातपुत्र अर्थात् सिद्धार्थ-पुत्र।[6] आचारांग में भगवान् के पिता को काश्यपगोत्री कहा गया है।[7] भगवान् इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए, यह भी माना जाता है।[8] भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे। इसीलिए वे आदि-काश्यप कहलाते हैं। भगवान् महावीर भी इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे। 'ज्ञात' काश्यपगोत्रियों का कोई अवान्तर भेद था या सिद्धार्थ का ही कोई दूसरा नाम था अथवा 'नाय' का मूल अर्थ समझने में भ्रम हुआ है। हो सकता है उसका अर्थ नाग हो और ज्ञात समझ लिया गया हो।

वज्जी देश के शासक लिच्छवियों के नौ गण थे। ज्ञात या नाग उन्हीं का एक भेद था। देखें—दशवैकालिक ६।२० का टिप्पण।

## ३७. वैशालिक (वेसालिए)

चूर्णिकार ने वैशालिक के कई अर्थ किए हैं—जिसके गुण विशाल हों, जो विशाल इक्ष्वाकुवंश में जन्मा हो, जिसकी माता वैशाली हो, जिसका कुल विशाल हो, उसे वैशालिक कहा जाता है।[9] इसके संस्कृत रूप वैशालीयः, वैशालियः, विशालिकः, विशालीयः और वैशालिकः हैं।

जैनागमों में स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर को 'वेसालिय' कहकर सम्बोधित किया गया है। इसका कारण यह है कि भगवान् का जन्म स्थान कुण्डग्राम था। वह वैशाली के पास था। जन्म-स्थान के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर एक मत नहीं हैं परन्तु वैसालिय शब्द पर ध्यान जाते ही वैशाली की याद आ जाती है।

भगवान् की माता त्रिशला वैशाली गणराज्य के अधिपति चेटक की बहिन थी। इसके अनुसार चूर्णिकार का यह अर्थ—वैशाली जिसकी माता हो—बहुत संगत लगता है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २६६ : लज्जा-संयमस्तदुपयोगानन्यतया यतिरपि तथोक्तः, आर्षत्वाच्चैवं निर्देशः।

२. सुखबोधा, पत्र ११५।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २६६ : पमत्तेहिं ति प्रमत्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः, ते हि विषयादि प्रमादसेवनात् प्रमत्ता उच्यन्ते।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र २७०।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५६ : णातकुलप्पभू (सू) सिद्धत्थखत्तियपुत्ते।

६. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २७० : ज्ञातः—उदारक्षत्रियः स चेह प्रस्तावात् सिद्धार्थः तस्य पुत्रो ज्ञातपुत्रः—वर्तमानतीर्थाधिपतिर्महावीर इति यावत्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११५।

७. आयारचूला १५।७७ : समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिआ कासवगोत्तेणं।

८. अभिधान चिन्तामणि, १।३५।

९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५६, १५७ : 'वेसालीए' त्ति, गुणा अस्य विशाला इति वैशालीयः, विशालं शासनं वा वीशाले वा इक्ष्वाकुवंशे भवा वैशालिया,
"वैशाली जननी यस्य, विशालं कुलमेव च।
विशालं प्रवचनं वा, तेन वैशालिको जिनः।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# सत्तमं अज्झयणं

## उरब्भिज्जं

# सातवां अध्ययन

## उरभ्रीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन का नामकरण इसके प्रारम्भ में प्रतिपादित 'उरभ्र' के दृष्टान्त के आधार पर हुआ है।

समवायांग (समवाय ३६) तथा उत्तराध्ययन निर्युक्ति में[1] इसका नाम 'उरब्भिज्जं' है। किन्तु अनुयोगद्वार (सूत्र ३२२) में इसका नाम 'एलइज्ज' है। मूल पाठ (श्लोक १) में 'एलयं' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। 'उरभ्र' का नहीं। उरभ्र और एलक—ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिए ये दोनों नाम प्रचलित रहे हैं।

श्रामण्य का आधार अनासक्ति है। जो विषय-वासना में आसक्त होता है, वह कभी दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। विषयानुगृद्धि में रसासक्ति का भी प्रमुख स्थान है। जो रसनेन्द्रिय पर विजय पा लेता है, वह अन्यान्य विषयों को भी सहजतया वश में कर लेता है। इस कथन को सूत्रकार ने दृष्टान्त से समझाया है। प्रथम चार श्लोकों में दृष्टान्त के संकेत दिए गए हैं। टीकाकार ने 'सम्प्रदायादवसेयम्' ऐसा उल्लेख कर उसका विस्तार किया है :

एक सेठ था। उसके पास एक गाय, गाय का बछड़ा और एक मेंढा था। वह मेंढे को खूब खिलाता-पिलाता। उसे प्रतिदिन स्नान कराता, शरीर पर हल्दी आदि का लेप करता। सेठ के पुत्र उससे नाना प्रकार की क्रीड़ा करते। कुछ ही दिनों में वह स्थूल हो गया। बछड़ा प्रतिदिन यह देखता और मन ही मन सोचता कि मेंढे का इतना लालन-पालन क्यों हो रहा है? सेठ का हम पर इतना प्यार क्यों नहीं है? मेंढ़े को खाने के लिए जौ देता है और हमें सूखी घास। यह अन्तर क्यों? इन विचारों से उसका मन उदास हो गया। उसने स्तन-पान करना छोड़ दिया। उसकी मां ने इसका कारण पूछा। उसने कहा—'मां! यह मेंढा पुत्र की तरह लालित-पालित होता है। इसे बढ़िया भोजन दिया जाता है। विशेष अलंकारों से इसे अलंकृत किया जाता है। और एक मैं हूं मन्द-भाग्य कि कोई भी मेरी परवाह नहीं करता। सूखी घास चरता हूं और वह भी भरपेट नहीं मिलती। समय पर पानी भी नहीं मिलता। कोई मेरा लालन-पालन नहीं करता। ऐसा क्यों है मां?'

मां ने कहा—

*आउरचिन्नाइं एयाइं, जाइं चरइ नंदिओ।*
*सुक्कत्तणेहिं लाढाहि, एयं दीहाउलक्खणं।।*

(उत्त०नि०गा० २४६)

"वत्स! तू नहीं जानता। मेंढा जो कुछ खा रहा है, वह आतुर-लक्षण है। आतुर (मरणासन्न) प्राणी को पथ्य और अपथ्य जो कुछ वह चाहता है, दिया जाता है। सूखी घास खाकर जीना दीर्घायु का लक्षण है। इस मेंढ़े का मरण-काल सन्निकट है।"

कुछ दिन बीते। सेठ के घर मेहमान आए। बछड़े के देखते-देखते मोटे-ताजे मेंढ़े के गले पर छुरी चली और उसका मांस पकाकर मेहमानों को परोसा गया। बछड़े का दिल भय से भर गया। उसने खाना-पीना छोड़ दिया। मां ने कारण पूछा। बछड़े ने कहा—'मां! जिस प्रकार मेंढा मारा गया क्या मैं भी मारा जाऊंगा?' मां ने कहा—"वत्स! यह भय वृथा है। जो रस-गृद्ध होता है, उसे उसका फल भी भोगना पड़ता है। तू सूखी घास चरता है, अतः तुझे ऐसा कटु विपाक नहीं सहना पड़ेगा।"[2]

इसी प्रकार हिंसक, अज्ञ, मृषावादी, मार्ग में लूटने वाला, चोर, मायावी, चुराने की कल्पना में व्यस्त, शठ, स्त्री और विषयों में गृद्ध, महाआरम्भ और महापरिग्रह वाला, सुरा और मांस का उपभोग करने वाला, दूसरों का दमन करने वाला, कर-कर शब्द करते हुए बकरे के मांस को खाने वाला, तोंद वाला और उपचित रक्त वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकांक्षा करता है जिस प्रकार मेमना पाहुने की। (श्लोक ५-७)

भगवान् महावीर ने कहा—"अल्प के लिए बहुत को मत खोओ। जो ऐसा करता है, वह पीछे पश्चात्ताप करता है।" इसी भावना को सूत्रकार ने दो दृष्टान्तों से समझाया है :

(१) एक दमक था। उसने भीख मांग-मांग कर एक हजार कार्षापण एकत्रित किए। एक बार वह उन्हें साथ ले एक सार्थवाह के साथ अपने घर की ओर चला। रास्ते में भोजन के लिए उसने एक कार्षापण को काकिणियों में बदलाया और प्रतिदिन कुछ काकिणियों को खर्च कर भोजन लेता रहा। कई दिन बीते। उसके पास एक काकिणी शेष बची। उसे वह एक स्थान पर भूल आया। कुछ दूर जाने पर उसे वह काकिणी याद आ गई। अपने पास के कार्षापणों की नौली को एक स्थान पर गाड़ उसे लाने दौड़ा। परन्तु वह काकिणी किसी दूसरे के हाथों पड़ गई। उसे बिना प्राप्त किए लौटा तब तक एक व्यक्ति उस नौली को लेकर भाग गया। वह लुट गया। ज्यों-त्यों वह घर पहुंचा और पश्चात्ताप में डूब गया।[3]

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २४६ :
उरभाउणामगोयं, वेयंतो भावओ उ ओरब्भो।
तत्तो समुट्ठियमिणं, उरब्भिज्जन्ति अज्झयणं।।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २७२-२७४।

३. वही, पत्र २७६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) एक राजा था। वह आम बहुत खाता था। उसे आम का अजीर्ण हुआ। वैद्य आए। चिकित्सा की। वह स्वस्थ हो गया। वैद्यों ने कहा—"राजन्! यदि तुम पुनः आम खाओगे तो जीवित नहीं बचोगे।" उसने अपने राज्य के सारे आम्र के वृक्ष उखड़वा दिए। एक बार वह अपने मंत्री के साथ अश्व-क्रीड़ा के लिए निकला। अश्व बहुत दूर निकल गया। वह थक कर एक स्थान पर रुका। वहां आम के बहुत वृक्ष थे। मंत्री के निषेध करने पर भी राजा एक आम्र वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए बैठा। वहां अनेक फल गिरे पड़े थे। राजा ने उन्हें छुआ और सूंघा तथा खाने की इच्छा व्यक्त की। मंत्री ने निषेध किया पर राजा नहीं माना। उसने भरपेट आम खाए। उसकी तत्काल मृत्यु हो गई।[1]

इसी प्रकार जो मनुष्य मानवीय काम-भोगों में आसक्त हो, थोड़े से सुख के लिए मनुष्य-जन्म गंवा देता है वह शाश्वत सुखों को हार जाता है। देवताओं के काम-भोगों के समक्ष मनुष्य के काम-भोग तुच्छ और अल्पकालीन हैं। दोनों के काम-भोगों में आकाश-पाताल का अन्तर है। मनुष्य के काम-भोग कुश के अग्रभाग पर टिके जल-बिन्दु के समान है और देवताओं के काम-भोग समुद्र के अपरिमेय जल के समान है। (श्लोक २३)। अतः मानवीय काम-भोगों में आसक्त नहीं होना चाहिए।

जो मनुष्य है और अगले जन्म में भी मनुष्य हो जाता है, वह मूल पूंजी की सुरक्षा है। जो मनुष्य-जन्म में अध्यात्म का आचरण कर आत्मा को पवित्र बनाता जाता है, वह मूल को बढ़ाता है। जो विषय-वासना में फंसकर मनुष्य जीवन को हार देता है—तिर्यंच या नरक में चला जाता है—वह मूल को भी गंवा देता है (श्लोक १५)। इस आशय को सूत्रकार ने निम्न-व्यावहारिक दृष्टान्त से समझाया है:—

एक बनिया था। उसके तीन पुत्र थे। उसने तीनों को एक-एक हजार कार्षापण देते हुए कहा—"इनसे तुम तीनों व्यापार करो और अमुक समय के बाद अपनी-अपनी पूंजी ले मेरे पास आओ।" पिता का आदेश पा तीनों पुत्र व्यापार के लिए निकले। वे एक नगर में पहुंचे और तीनों अलग-अलग स्थानों पर ठहरे। एक पुत्र ने व्यापार आरम्भ किया। वह सादगी से रहता और भोजन आदि पर कम खर्च कर धन एकत्रित करता। इससे उसके पास बहुत धन एकत्रित हो गया। दूसरे पुत्र ने भी व्यापार आरम्भ किया। जो लाभ होता उसको वह भोजन, वस्त्र, मकान आदि में खर्च कर देता। इससे वह धन एकत्रित न कर सका। तीसरे पुत्र ने व्यापार नहीं किया। उसने अपने शरीर-पोषण और व्यसनों में सारा धन गंवा डाला।

तीनों पुत्र यथासमय घर पहुंचे। पिता ने सारा वृत्तान्त पूछा। जिसने अपनी मूल पूंजी गंवा डाली थी, उसे नौकर के स्थान पर नियुक्त किया, जिसने मूल की सुरक्षा की थी, उसे गृह का काम-काज सौंपा और जिसने मूल को बढ़ाया था, उसे गृहस्वामी बना डाला।[2]

मनुष्य-भव मूल पूंजी है। देवगति उसका लाभ है और नरकगति उसका छेदन है।

इस अध्ययन में पांच दृष्टान्तों का निरूपण हुआ है।[3] उनका प्रतिपाद्य भिन्न-भिन्न है। पहला (उरभ्र) दृष्टान्त विषय-भोगों के कटु-विपाक का दर्शन है (श्लोक १ से लेकर १० तक)। दूसरे और तीसरे (काकिणी और आम्रफल) दृष्टान्तों का विषय देव-भोगों के सामने मानवीय-भोगों की तुच्छता का दर्शन है। (श्लोक ११ से लेकर १३ तक)। चौथे (व्यवहार) दृष्टान्त का विषय आय-व्यय के विषय में कुशलता का दर्शन है। (श्लोक १४ से २२ तक)। पांचवें (सागर) दृष्टान्त का विषय आय-व्यय की तुलना का दर्शन है (श्लोक २३ से २४ तक)।

इस प्रकार इस अध्ययन में दृष्टान्त शैली से गहन तत्त्व की बड़ी सरस अभिव्यक्ति हुई है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २७७।
२. वही, पत्र २७८, २७९।
३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २४७ :
ओरब्भे अ कागिणी, अंबए अ ववहार सागरे चेव।
पंचेए दिट्ठंता, उरभिज्जंमि अज्झयणे।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# सत्तमं अज्झयणं : सातवां अध्ययन
## उरब्भिज्जं : उरभ्रीय

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. जहाएसं समुद्दिस्स<br>कोइ पोसेज्ज एलयं।<br>ओयणं जवसं देज्जा<br>पोसेज्जा वि सयंगणे।। | *यथावेशं समुद्दिश्य*<br>*कोऽपि पोषयेदेडकम्।*<br>*ओदनं यवसं दद्यात्*<br>*पोषयेदपि स्वकाङ्गणे।।* | जैसे पाहुने के[1] उद्देश्य से कोई मेमने का पोषण करता है। उसे चावल, मूंग, उड़द आदि[2] खिलाता है और अपने आंगन में[3] ही पालता है।[4] |
| २. तओ से पुट्ठे परिवूढे<br>जायमेए महोदरे।<br>पीणिए विउले देहे<br>आएसं परिकंखए।। | *ततः स पुष्टः परिवृढः*<br>*जातमेदाः महोदरः।*<br>*प्रीणितो विपुले देहे*<br>*आवेशं परिकाङ्क्षति।।* | इस प्रकार वह पुष्ट, बलवान्, मोटा, बड़े पेट वाला, तृप्त और विशाल देहवाला होकर पाहुने की आकांक्षा करता है।[5] |
| ३. जाव न एइ आएसे<br>ताव जीवइ से दुही।<br>अह पत्तंमि आएसे<br>सीसं छेत्तूण भुज्जई।। | *यावन्नैत्यावेशः*<br>*तावज्जीवति सो दुःखी।*<br>*अथ प्राप्ते आवेशे*<br>*शीर्षं छित्त्वा भुज्यते।।* | जब तक पाहुना नहीं आता है तब तक ही वह बेचारा[6] जीता है। पाहुने के आने पर उसका सिर छेदकर उसे खा जाते हैं। |
| ४. जहा खलु से उरब्भे<br>आएसाए समीहिए।<br>एवं बाले अहम्मिट्ठे<br>ईहई नरयाउयं।। | *यथा खलु स उरभ्रः*<br>*आवेशाय समीहितः।*<br>*एवं बालोऽधर्मिष्ठः*<br>*ईहते नरकायुष्कम्।।* | जैसे पाहुने के लिए निश्चित किया हुआ वह मेमना यथार्थ में उसकी आकांक्षा करता है, वैसे ही अधर्मिष्ठ अज्ञानी जीव यथार्थ में नरक के आयुष्य की इच्छा करता है। |
| ५. हिंसे बाले मुसावाई<br>अद्धाणंमि विलोवए।<br>अन्नदत्तहरे तेणे<br>माई कण्हुहरे सढे।। | *हिंस्रो बालो मृषावादी*<br>*अध्वनि विलोपकः।*<br>*अन्यदत्तहरः स्तेनः*<br>*मायी कुतोहरः शठः।।* | हिंसक, अज्ञ, मृषावादी, मार्ग में लूटने वाला, दूसरों की दी हुई वस्तु का बीच में हरण करने वाला[7], चोर, मायावी, चुराने की कल्पना में व्यस्त, (किसका धन हरण करूंगा—ऐसे अध्यवसाय वाला) शठ—वक्र आचरण वाला, |
| ६. इत्थीविसयगिद्धे य<br>महारंभपरिग्गहे।<br>भुंजमाणे सुरं मंसं<br>परिवूढे परंदमे।। | *स्त्री-विषय-गृद्धश्च*<br>*महारम्भपरिग्रहः।*<br>*भुञ्जानः सुरां मांसं*<br>*परिवृढः परन्दमः।।* | स्त्री और विषयों में गृद्ध, महाआरंभ[8] और महापरिग्रह वाला, सुरा और मांस का उपभोग करने वाला, बलवान्[9], दूसरों का दमन करने वाला,[10] |
| ७. अयकक्करभोई य<br>तुंदिल्ले चियलोहिए।<br>आउयं नरए कंखे<br>जहाएसं व एलए।। | *अजकर्करभोजी च*<br>*तुन्दिलः चितलोहितः।*<br>*आयुर्नरके काङ्क्षति*<br>*यथाऽऽवेशमिव एडकः।।* | कर-कर शब्द करते हुए[11] बकरे के मांस को खाने वाला, तोंद वाला और उपचित लोही वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकांक्षा करता है[12], जिस प्रकार मेमना पाहुने की। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. आसणं सयणं जाणं
वित्तं कामे य भुंजिया।
दुस्साहडं धणं हिच्चा
बहुं संचिणिया रयं।।

*आसनं शयनं यानं*
*वित्तं कामांश्च भुक्त्वा।*
*दुःसंहृतं धनं हित्वा*
*बहु संचित्य रजः।।*

आसन, शय्या, यान, धन और काम-विषयों को भोगकर, दुःख से एकत्रित किये हुए[13] धन को द्यूत आदि के द्वारा गंवाकर[14], बहुत कर्मों को संचित कर—

९. तओ कम्मगुरू जंतू
पच्चुप्पन्नपरायणे।
अय व्व आगयाएसे
मरणंतंमि सोयई।।

*ततः कर्मगुरुर्जन्तुः*
*प्रत्युत्पन्नपरायणः।*
*अज इव आगते आवेशं*
*मरणान्ते शोचति।।*

कर्मों से भारी बना हुआ, केवल वर्तमान को ही देखने वाला जीव[15] मरणान्तकाल में उसी प्रकार शोक करता है[16] जिस प्रकार पाहुने के आने पर मेमना।[17]

१०. तओ आउपरिक्खीणे
चुया देहा विहिंसगा।
आसुरियं दिसं बाला
गच्छंति अवसा तमं।।

*तत आयुषि परिक्षीणे*
*च्युताः देहाद् विहिंसकाः।*
*आसुरीयां दिशं बालाः*
*गच्छन्ति अवशाः तमः।।*

फिर आयु क्षीण होने पर वे नाना प्रकार की हिंसा करने वाले कर्मवशवर्ती अज्ञानी जीव देह से च्युत होकर अन्धकारपूर्ण आसुरीय दिशा (नरक) की ओर[18] जाते हैं।

११. जहा कागिणिए हेउं
सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अंबगं भोच्चा
राया रज्जं तु हारए।।

*यथा काकिण्या हेतोः*
*सहस्रं हारयेन्नरः।*
*अपथ्यमाम्रकं भुक्त्वा*
*राजा राज्यं तु हारयेत्।।*

जैसे कोई मनुष्य काकिणी के[19] लिए हजार (कार्षापण)[20] गंवा देता है, जैसे कोई राजा अपथ्य आम को खाकर राज्य से हाथ धो बैठता है, वैसे ही जो व्यक्ति मानवीय भोगों में आसक्त होता है, वह दैवी भोगों को हार जाता है।[21]

१२. एवं माणुस्सगा कामा
देवकामाण अंतिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो
आउं कामा य दिव्विया।।

*एवं मानुष्यकाः कामाः*
*देवकामानामन्तिके।*
*सहस्र-गुणिता भूयः*
*आयुः कामाश्च दिव्यकाः।।*

दैवी भोगों की तुलना में मनुष्य के कामभोग उतने ही नगण्य हैं जितने कि हजार कार्षापणों की तुलना में एक काकिणी और राज्य की तुलना में एक आम। दिव्य आयु और दिव्य काम-भोग मनुष्य की आयु और काम-भोगों से हजार गुना अधिक हैं।

१३. अणेगवासानउया
जा सा पन्नवओ ठिई।
जाणि जीयंति दुम्मेहा
ऊणे वाससयाउए।।

*अनेकवर्ष-नयुतानि*
*या सा प्रज्ञावतः स्थितिः।*
*यानि जीयन्ते दुर्मेधसा*
*ऊने वर्षशतायुषि।।*

प्रज्ञावान् पुरुष की[22] देवलोक में अनेक वर्ष नयुत (असंख्यकाल) की[23] स्थिति होती है—यह ज्ञात होने पर भी मूर्ख मनुष्य सौ वर्ष जितने अल्प जीवन के लिए[24] उन दीर्घकालीन सुखों को हार जाता है।

१४. जहा य तिन्नि वणिया
मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाहं
एगो मूलेण आगओ।।

*यथा च त्रयो वणिजः*
*मूलं गृहीत्वा निर्गताः।*
*एकोऽत्र लभते लाभम्*
*एको मूलेनागतः।।*

जैसे तीन वणिक् मूल पूंजी को लेकर निकले। उनमें से एक लाभ उठाता है, एक मूल लेकर लौटता है,

१५. एगो मूलं पि हारित्ता
आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा
एवं धम्मे वियाणह।।

*एको मूलमपि हारयित्वा,*
*आगतस्तत्र वाणिजः।*
*व्यवहारे उपमैषा*
*एवं धर्मे विजानीत।।*

और एक मूल को भी गंवाकर वापस आता है। यह व्यापार की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए।

१६. माणुसत्तं भवे मूलं
लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं
नरगतिरिक्खत्तणं धुवं।।

*मानुषत्वं भवेन्मूलं*
*लाभो देवगतिर्भवेत्।*
*मूलच्छेदेन जीवानां*
*नरकतिर्यक्त्वं ध्रुवम्।।*

मनुष्यत्व मूलधन है। देवगति लाभ रूप है। मूल के नाश से जीव निश्चित ही नरक और तिर्यञ्च गति में जाते हैं।[25]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. दुहओ गई बालस्स
आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च
जं जिए लोलयासढे।।

*द्विधा गतिर्बालस्य*
*आपद् वधमूलिका।*
*देवत्वं मानुषत्वं च*
*यज्जितो लोलता-शठः।।*

अज्ञानी जीव की दो प्रकार की गति होती है—नरक और तिर्यञ्च। वहां उसे वधहेतुक[२६] आपदा प्राप्त होती है। वह लोलुप और वंचक पुरुष[२७] देवत्व और मनुष्यत्व को पहले ही हार जाता है।

१८. तओ जिए सई होइ
दुविहं दोग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा
अद्धाए सुइरादवि।।

*ततो जितः सदा भवति*
*द्विविधां दुर्गतिं गतः।*
*दुर्लभा तस्योन्मज्जा*
*अध्वनः सुचिरादपि।।*

द्विविध दुर्गति में गया हुआ जीव सदा हारा हुआ होता है। उसका उनसे बाहर निकलना दीर्घकाल के बाद भी दुर्लभ है।

१९. एवं जियं सपेहाए
तुलिया बालं च पंडियं।
मूलियं ते पवेसंति
माणुसं जोणिमेंति जे।।

*एवं जितं सम्प्रेक्ष्य*
*तोलयित्वा बालं च पण्डितम्।*
*मूलिकां ते प्रविशन्ति*
*मानुषीं योनिमायान्ति ये।।*

इस प्रकार हारे हुए को देखकर तथा बाल और पण्डित की तुलना कर जो मानुषी योनि में आते हैं, वे मूलधन के साथ प्रवेश करते हैं।

२०. वेमायाहिं सिक्खाहिं
जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेंति माणुसं जोणिं
कम्मसच्चा हु पाणिणो।।

*विमात्राभिः शिक्षाभिः*
*ये नराः गृहिसुव्रताः।*
*उपयन्ति मानुषीं योनिं*
*कर्मसत्याः खलु प्राणिनः।।*

जो मनुष्य विविध परिमाण वाली शिक्षाओं द्वारा घर में रहते हुए भी सुव्रती हैं, वे मानुषी योनि में उत्पन्न होते हैं। क्योंकि प्राणी कर्म-सत्य होते हैं—अपने किये हुए का फल अवश्य पाते हैं।[२८]

२१. जेसिं तु विउला सिक्खा
मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवंता सवीसेसा
अद्दीणा जंति देवयं।।

*येषां तु विपुला शिक्षा*
*मूलिकां तेऽतिक्रम्य।*
*शीलवन्तः सविशेषाः*
*अदीना यान्ति देवताम्।।*

जिनके पास विपुल शिक्षा[२९] है वे शील-संपन्न और उत्तरोत्तर गुणों को प्राप्त करने वाले[३०] अदीन—पराक्रमी[३१] पुरुष मूलधन (मनुष्यत्व) का अतिक्रमण करके देवत्व को[३२] प्राप्त होते हैं।

२२. एवमद्दीणवं भिक्खुं
अगारिं च वियाणिया।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं
जिच्चमाणे न संविदे?।।

*एवमदैन्यवन्तं भिक्षुं*
*अगारिणं च विज्ञाय।*
*कथं नु जीयते ईदृक्षं*
*जीयमानो न संवित्ते?।।*

इस प्रकार पराक्रमी भिक्षु और गृहस्थ को (अर्थात् उनके पराक्रम-फल को) जानकर विवेकी पुरुष ऐसे लाभ को कैसे खोएगा? वह कषायों के द्वारा पराजित होता हुआ क्या यह नहीं जानता कि 'मैं पराजित हो रहा हूं?' यह जानते हुए उसे पराजित नहीं होना चाहिए।

२३. जहा कुसग्गे उदगं
समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा
देवकामाण अंतिए।।

*यथा कुशाग्रे उदकं*
*समुद्रेण समं मिनुयात्।*
*एवं मानुष्यकाः कामाः*
*देवकामानामन्तिके।।*

मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग देव सम्बन्धी काम-भोगों की तुलना में वैसे ही हैं, जैसे कोई व्यक्ति कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिन्दु की समुद्र से तुलना करता है।

२४. कुसग्गमेत्ता इमे कामा
सन्निरुद्धंमि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउं
जोगक्खेमं न संविदे?।।

*कुशाग्रमात्रा इमे कामाः*
*सन्निरुद्धे आयुषि।*
*कं हेतुं पुरस्कृत्य*
*योगक्षेमं न संवित्ते?।।*

इस अति-संक्षिप्त आयु में[३३] ये काम-भोग कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु जितने हैं। फिर भी किस हेतु को सामने रखकर मनुष्य योगक्षेम[३४] को नहीं समझता?[३५]

२५. इह कामाणियट्टस्स
अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं
जं भुज्जो परिभस्सई।।

*इह कामाऽनिवृत्तस्य*
*आत्मार्थोऽपराध्यति।*
*श्रुत्वा नैर्यातृकं मार्ग*
*यद् भूयः परिभ्रश्यति।।*

इस मनुष्य भव में काम-भोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का[३६] आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। वह पार ले जाने वाले मार्ग को[३७] सुनकर भी बार-बार भ्रष्ट होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६. इह कामणियट्टस्स
अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइदेहनिरोहेणं
भवे देव त्ति मे सुयं।।

*इह कामानिवृत्तस्य*
*आत्मार्थो नापराध्यति।*
*पूतिदेहनिरोधेन*
*भवेद् देव इति मया श्रुतम्।।*

इस मनुष्य भव में काम-भोगों से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट नहीं होता। वह पूतिदेह (औदारिक शरीर) का[२८] निरोध कर देव होता है—ऐसा मैंने सुना है।

२७. इड्ढी जुई जसो वण्णो
आउं सुहमणुत्तरं।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु
तत्थ से उववज्जई।।

*ऋद्धिर्द्युतिर्यशोवर्णः*
*आयुः सुखमनुत्तरम्।*
*भूयो यत्र मनुष्येषु*
*तत्र स उपपद्यते।।*

(देवलोक से च्युत होकर) वह जीव विपुल ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, आयु और अनुत्तर सुख वाले मनुष्य-कुलों में उत्पन्न होता है।[२९]

२८. बालस्स पस्स बालत्तं
अहम्मं पडिवज्जिया।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे
नरए उववज्जई।।

*बालस्य पश्य बालत्वम्*
*अधर्मं प्रतिपद्य।*
*त्यक्त्वा धर्ममधर्मिष्ठः*
*नरके उपपद्यते।।*

तू बाल (अज्ञानी) जीव की मूर्खता को देख। वह अधर्म को ग्रहण कर, धर्म को छोड़, अधर्मिष्ठ बन नरक में उत्पन्न होता है।

२९. धीरस्स पस्स धीरत्तं
सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे
देवेसु उववज्जई।।

*धीरस्य पश्य धीरत्वं*
*सर्वधर्मानुवर्तिनः।*
*त्यक्त्वाऽधर्मं धर्मिष्ठः*
*देवेषु उपपद्यते।।*

सब धर्मों का पालन करने वाले धीर-पुरुष की धीरता को देख। वह अधर्म को छोड़कर धर्मिष्ठ बन देवों में उत्पन्न होता है।[३०]

३०. तुलियाण बालभावं
अबालं चेव पंडिए।
चइऊण बालभावं
अबालं सेवए मुणि।।

*तोलयित्वा बालभावम्*
*अबालं चैव पण्डितः।*
*त्यक्त्वा बालभावम्*
*अबालं सेवते मुनिः।।*

पण्डित मुनि बाल-भाव और अबाल-भाव की तुलना कर, बाल-भाव को छोड़, अबाल-भाव का सेवन करता है।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण :

# अध्ययन ७ : उरभ्रीय

### १. पाहुने के (आएसं)

चूर्णि के अनुसार 'आएस' के संस्कृत रूप दो होते हैं—आदेश और आवेश।[1] इसका अर्थ है—पाहुना।[2]

### २. मूंग, उड़द आदि (जवसं)

चूर्णिकार और टीकाकारों ने इसका अर्थ 'मूंग, उड़द आदि धान्य' किया है।[3] शब्दकोश में इसका अर्थ—तृण, घास तथा गेहूं आदि धान्य किया गया है।[4]

डॉ० हरमन जेकोबी ने इस शब्द पर टिप्पणी देते हुए लिखा है कि भारतवर्ष में धान्य कणों द्वारा पोषित भेड़ का मांस अच्छा गिना जाता है।[5]

### ३. अपने आंगन में (सयंगणे)

इसका अर्थ है—अपने घर के आंगन में।[6] चूर्णिकार ने मूल में तथा शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'विसयंगणे' मानकर 'विसय' का अर्थ 'गृह' और 'आंगण' का अर्थ 'आंगन' किया है। विषयांगण अर्थात् गृहांगण। इसका दूसरा अर्थ—इन्द्रियों के विषयों की गणना करता हुआ—चिन्तन करता हुआ—किया गया है।[7]

### ४. (श्लोक १)

चूर्णिकार और टीकाकार ने यहां एक कथा प्रस्तुत की है। कथा के प्रसंग में निर्युक्ति की एक गाथा है—

***आउरचिन्नाइं एयाइं, जाइं चरइ नंदिओ।***
***सुक्कतणेहिं लाढाहि, एयं दीहाउलक्खणम्।।[8]***

गाय ने अपने बछड़े से कहा—"वत्स! यह नंदिक—मेमना जो खा रहा है, वह आतुर (मरणासन्न) का चिन्ह है। रोगी अन्तकाल में पथ्य या अपथ्य जो कुछ मांगता है, वह सब उसे दे दिया जाता है। वत्स! सूखे तिनकों से जीवन चलाना दीर्घायु का लक्षण है।"

इसकी तुलना मुनिक जातक (नं ३०) के श्लोक से होती है—

***मा मुनिकस्स पिहपि, आतुरन्नानि भुंजति।***
***अप्पोसुक्को भुसं खाद, एतं दीघायुलक्खणं।।***

### ५. विशाल देहवाला होकर पाहुने की आकांक्षा करता है। (विउले देहे आएसं परिकंखए)

चूर्णिकार ने विशाल देह का अर्थ—मांस से उपचित शरीर किया है।[9] प्रश्न होता है कि मरना कोई नहीं चाहता, फिर पाहुने की आकांक्षा करना कैसे संभव हो सकता है?

चूर्णिकार ने समाधान की भाषा में कहा है—मांस के अत्यधिक उपचित हो जाने के कारण शरीर स्वयं मेद से फटने जैसी स्थिति में हो जाता है। इस तथ्य को रूपक की भाषा में 'आकांक्षा करता है' निरूपित किया है।[10]

### ६. बेचारा (दुही)

सूत्रकार ने उस उपचित मेमने को दुःखी बताया है। प्रश्न होता है कि समस्त सुखोपभोग करते हुए भी वह दुःखी क्यों है? चूर्णिकार और नेमिचन्द्र इसका समाधान इन शब्दों में देते हैं कि जिस प्रकार मारे जाने वाले मनुष्य या पशु को अलंकृत करना तत्त्वतः उसे दुःखी करना ही है। वैसे ही मेमने को खिलाए जाने वाले ओदन आदि तत्त्वतः दुःख देने वाले हैं।[11]

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५८ : आएसं जाणतित्ति आइसो, ओवेसो वा, आविशति वा वेश्मनि, तत्र आविशति वा गत्वा इत्याएसा।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २७२ : आदिश्यते—आज्ञाप्यते विविधव्यापारेषु परिजनोऽस्मिन्नायात इत्यादेशः—अभ्यर्हितः प्राहुणकः।

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५८ : जवसो मुग्गमासादि।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २७२ : 'यवसं' मुद्गमाषादि।
(ग) सुखबोधा, पत्र ११६।

४. (क) पाइयसद्दमहण्णवो, पृ० ४३६।
(ख) अभिधान चिन्तामणि, ४।२६१।

५. Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarâdhyayana, p. 27. Foot-not 3. Mutton of gramfed sheep is greatly appreciated in India.

६. बृहद्वृत्ति, पत्र २७२ : 'स्वकाङ्गणे' स्वकीयगृहाङ्गणे।

७. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५८ : जो जस्स विसाति स तस्स विसयो भवति, यथा राज्ञो विषयः, एवं यद्यस्य विषयो भवति, लोकेऽपि वक्तारो भवन्ति सर्वोह्यात्मगृहे राजा, अंगं ति तस्मिन्निति अंगनं, गृहांगनमित्यर्थः, अथवा विषया रसादयः तान् गणयन्—प्राणिनोऽस्य मांसेन विषयान् भोक्ष्यामीति, अथवा विषयान् इति।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २७२ : यदि वा 'पोसेज्जा विसयंगणे' त्ति विशन्त्यस्मिन् विषयो—गृहं तस्यांगणं विषयांगणं तस्मिन् अथवा विषयं—रसलक्षणं वचनव्यत्ययाद् विषयान्वा गणयन्—संप्रधारयन् धर्मनिरपेक्ष इति भावः।

८. उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा २४६।

९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५६ : विपुलदेहे नाम मांसोपचितः।

१०. वही, पृ० १५६ : मांसोपचयादसौ स्वयमेव मेदसा स्फुटन्निव आएसं परिकंखए, कथं सो आगच्छेदिति।

११. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५६ : कहं दुही जवसोदने ऽपि दीयमाने ?, उच्यते, वधस्य वध्यमाने इष्टाहारे वा वध्यालंकारेण वाऽलंक्रियमाणस्स किमिव सुखं ?, एवमसौ जवसोदगादिसुखेऽपि सति दुःखमानेव।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११७ : 'दुहि' त्ति वध्यमण्डनमिवाऽस्यौदनदानादीनि तत्त्वतो दुःखमेव तदस्यास्तीति दुःखी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्त्याचार्य ने 'सेऽदुही' में आकार को लुप्त मानकर प्रथम व्याख्या 'अदुही' की है।[1] परन्तु यहां 'दुही' शब्द 'अदुही' की अपेक्षा अधिक अर्थ देता है।

### ७. (अन्नदत्तहरे)

अन्नदत्तहर शब्द के चार अर्थ किए हैं[2]—

(१) दूसरों को दी गई वस्तु को बीच में ही छीन लेने वाला।
(२) जो दूसरा देना नहीं चाहता, उसे बलात् छीन लेने वाला।
(३) गांव, नगर आदि में चोरी करने वाला।
(४) ग्रन्थिछेद कर दूसरों का धन चुराने वाला।

### ८. महाआरंभ (महारंभ)

जिस व्यवसाय में बहुत प्राणियों की घात होती है उसे महा-आरंभ कहा जाता है। महान् आरम्भ अर्थात् अपरिमित हिंसा का व्यापार।[3]

### ९. बलवान् (परिवूढे)

इसका शाब्दिक अर्थ है—जिसका शरीर मांस और शोणित से उपचित हो गया है। तात्पर्य में यह बलवान् और समर्थ का सूचक है।[4]

### १०. दूसरों का दमन करने वाला (परंदमे)

जो दूसरों को अपनी इच्छानुसार कार्यों में नियोजित करने में समर्थ हो, वह 'परंदम' होता है।

जो दूसरों का दमन करने में समर्थ होता है, वह 'परंदम' है।[5]

विशेष : पांचवें और छठे श्लोक में जैनधर्म का आचारशास्त्रीय दृष्टिकोण प्रतिपादित है।

### ११. कर-कर शब्द करते हुए (कक्कर)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—मधुर और दंतुर मांस किया है।[6]

वृत्ति में इसका अर्थ है—जो मांस खाते समय चने की भांति 'करकर' शब्द करता है वैसा मेदुर, दंतुर और अत्यन्त पका हुआ मांस।[7]

### १२. नरक के आयुष्य की आकांक्षा करता है (आउयं नरए कंखे)

प्रस्तुत तीन श्लोकों (५, ६, ७) में कुछेक प्रवृत्तियों का नामोल्लेख कर उनसे होने वाले परिणाम अर्थात् नरकगमन का निर्देश किया है। वे प्रवृत्तियां संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) हिंसा
(२) मृषावाद
(३) अदत्तादान
(४) विषयासक्ति
(५) महान् आरम्भ
(६) महान् परिग्रह
(७) मांस-मदिरा का सेवन
(८) शोषण।

स्थानांग (४।६२८) में नरकयोग्य कर्मार्जन के चार हेतु माने हैं—

१. महान् आरम्भ
२. महान् परिग्रह
३. पंचेन्द्रिय वध
४. मांस-भक्षण।

इन चार कारणों का विस्तार इन तीन श्लोकों (५-७) में है। नरकगमन के ये चार हेतु ही नहीं हैं, और भी अनेक हेतु हो सकते हैं। अध्यवसायों की क्लिष्टता और उससे संचालित कोई भी प्रवृत्ति नरक का कारण बन सकती है।

वृत्तिकार के अनुसार पांचवें और छठे श्लोक के दो चरणों में आरम्भ—हिंसा का कथन किया गया है तथा छठे के शेष दो चरणों तथा सातवें श्लोक के प्रथम दो चरणों में रसगृद्धि का निर्देश है और अवशिष्ट दो चरणों में आरम्भ और रसगृद्धि से होने वाले परिणाम—दुर्गतिगमन का निर्देश है।[8]

### १३. दुःख से एकत्रित हुए (दुस्साहडं)

चूर्णिकार ने 'दुस्साहडं' के तीन अर्थ किए हैं।[9]

१. 'दुट्ठं साहडं—दुस्साहडं'—कष्टपूर्वक उपार्जित, दूसरों को राजी कर उपार्जन करना।
२. दुक्खेण वा साहडं—दुस्साहडं—शीत, वात आदि अनेक कष्टों को सहते हुए उपचित।
३. दुष्ट उपायों से दूसरे की संपत्ति को टान लेना।

शान्त्याचार्य ने इसका मूल अर्थ इस प्रकार किया है—स्वयं दुःख को भोगकर तथा दूसरों को भी दुःखी बना कर उपार्जित करना। इसका वैकल्पिक अर्थ है—अत्यन्त कष्टपूर्वक संचित।[10]

आचार्य नेमिचन्द्र ने एक श्लोक उद्धृत कर धन के 'दुस्साहड' का समर्थन किया है[11]—

*'अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।*
*नाशे दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम्।।'*

### १४. द्यूत आदि के द्वारा गंवाकर (हिच्चा)

इसका सामान्य अर्थ है—छोड़कर। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ है—द्यूत आदि व्यसनों के द्वारा गंवाकर।[12]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २७३ : 'सेऽदुहि' त्ति अकारप्रश्लेषात् स इत्युरभ्रोऽदुःखी सुखी सन्, अथवा वध्यमण्डनमिवास्यौदनदानादिनीति तत्त्वतो दुःखितैवास्येति दुःखी।

२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६०।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २७४।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २७५ : महान्—अपरिमितः, आरम्भः—अनेकजन्तूपघातकृद् व्यापारः।

४. वही, पत्र २७५ : परिवूढे त्ति परिवृढः—प्रभुरुपचितमांसशोणिततया तत् क्रिया समर्थ इति यावत्।

५. वही, पत्र २७५ : परान्—अन्यान् दमयति—यत् कृत्याभिमतकृत्येषु प्रवर्तयतीति परन्दमः।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६० : कक्करं नाम मधुरं दंतुरं मांसं।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र २७५।

८. वही, पत्र २७५।

९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६१ : साहडं णाम उपार्जितं, दुट्ठं साहडं दुस्साहडं, परेसिं परेसिं उवरोधं काऊणंति भणितं होति। दुक्खेण वा साहडं दुस्साहडं, सीतावातादिकिलेसेहिं उवचिनंति, अथवा कताकतं देतव्वमदेतव्वं खेत्थखलावत्थं दुस्साहडं, दुस्सारवितंति भणितं होति।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र २७५।

११. सुखबोधा, पत्र ११७।

१२. वही, पत्र ११७ : 'हित्वा' द्यूताद्यसद्व्ययेन त्यक्त्वा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेमिचन्द्र ने इसी आशय का एक श्लोक उद्धृत किया है—

*द्यूतेन मद्येन पणाङ्गनाभिः, तोयेन भूपेन हुताशनेन।*
*मल्लिम्लुचेनांऽशहरेण नाशं, नीयेत वित्तं क्व धने स्थिरत्वम्॥*

## १५. केवल वर्तमान को ही देखने वाला जीव (पच्चुप्पन्नपरायणे)

प्रत्युत्पन्न का अर्थ है—वर्तमान। जो केवल वर्तमान के लिए एकनिष्ठ है, वह प्रत्युत्पन्नपरायण होता है। केवल वर्तमान को देखने वाला नास्तिक होता है और वह परलोक से सर्वथा निरपेक्ष होकर मानता है—'एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचरः'—लोक इतना ही है, जितना दृष्टिगोचर होता है। परलोक, स्वर्ग, नरक केवल कल्पना है।

## १६. मरणान्तकाल में.....शोक करता है (मरणंतम्मि सोयई)

नास्तिकता का जीवन जीने वाला व्यक्ति भी मृत्यु के समय शोक-निमग्न होकर सोचता है—हाय! अब मुझे यहां से जाना होगा। मैं नहीं जानता कि मैं कहां जाऊंगा। मेरी क्या गति होगी? मैंने अपना सारा जीवन मोह से मूर्च्छित होकर यों ही बिता डाला। वृत्तिकार का मत है कि अत्यन्त नास्तिक व्यक्ति भी मृत्यु-काल में मारणान्तिक वेदना से अभिभूत होकर अपने जीवन पर आंसू बहाता है।[1]

## १७. मेमना (अय)

शान्त्याचार्य ने 'अज' का अर्थ 'पशु तथा प्रस्तावानुसार उरभ्र (मेमना) किया है।'[2] अज शब्द अनेकार्थक है। इसके बकरा, भेड़, मेंढ़ा आदि अनेक अर्थ होते हैं। यहां इसका अर्थ—भेड़ या मेंढ़ा है। इसके स्थान पर एड़क और उरभ्र ये दो शब्द और यहां प्रयुक्त हैं। एड़क का अर्थ—मेंढ़ा और बकरा भी हो सकता है किन्तु उरभ्र का अर्थ भेड़ व मेंढ़ा ही है।

## १८. आसुरीय दिशा (नरक) की ओर (आसुरियं दिसं)

जहां सूर्य न हो उसे आसुरिय (असूर्य) कहा जाता है। इसका दूसरा अर्थ 'आसुरीय' किया गया है। रौद्र कर्म करने वाला असुर कहलाता है। असुर की जो दिशा होती है उसे 'आसुरीय' कहा जाता है। इसका तात्पर्यार्थ है—नरक। वहां सूर्य नहीं होता तथा वह क्रूर-कर्म करने वालों की दिशा है इसलिए वह 'आसुरीय' है।[3] तात्पर्य में वह अंधकारपूर्ण दिशा है। प्रथम अर्थ के अनुसार 'असुरिय' पाठ होना चाहिए और द्वितीय अर्थ के अनुसार वह 'आसुरीय' होना चाहिए।

## १९. काकिणी के (कागिणिए)

चूर्णि के अनुसार एक रुपये के अस्सीवें भाग तथा विसोवग के चौथे भाग को काकिणी कहा जाता था।[4] वि (वी) सोवग—विशोपक—देशी शब्द है। यह एक प्रकार का सिक्का था। यह रुपये का बीसवां भाग था।[5]

शान्त्याचार्य ने लिखा है—बीस कौड़ियों की काकिणी होती है।[6] मोनियर-मोनियर विलियम्स के अनुसार बीस कौड़ियों की अथवा 'पण' के चतुरंश की एक काकिणी होती है। बीस मासों का एक 'पण' होता है और पांच मासों की एक काकिणी।[7]

इस विवरण से यह स्पष्ट पता लगता है कि उस समय अन्यान्य सिक्कों के साथ-साथ काकिणी, वीसोपग, पण, कौड़ी आदि भी चलते थे। यदि हम रुपये को मध्य-बिन्दु मानकर सोचते हैं तो—

| | |
|---|---|
| ८० काकिणी | १ रुपया |
| २० विसोपग | १ रुपया |
| २० पण | १ रुपया |
| १६०० कौड़ियां | १ रुपया |
| २० कौड़ियां<br>१/४ वीसोपग<br>१/४ पण अथवा ५ मासा | १ काकिणी |

अनुयोगद्वार (सूत्र १३२) में सोना, चांदी, रत्न आदि तौलने के बाटों में गुंजा, काकिणी आदि का उल्लेख हुआ है। काकिणी को सवा रत्ती परिमाण का माना है। यह भी उपर्युक्त तालिका से सही लगता है। पाणिनी के व्याकरण में 'काकिणी' का प्रयोग नहीं हुआ है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि उस समय इस सिक्के का प्रचलन नहीं हुआ होगा। चाणक्य ने ताम्बे की सूची में इसका नाम दिया है (कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।१९)। बौद्ध साहित्य में काकिणी तथा कार्षापण का उल्लेख मिलता है। आठ काकिणी का एक कार्षापण होता था।[8] चार काकिणी के तीन मासे होते थे। कात्यायन ने सूत्र ५।१।३३ पर दो वार्तिकों में काकिणी और अर्ध काकिणी का उल्लेख किया है। वहां एक, डेढ़ और दो काकिणी से मोल ली जाने वाली वस्तु के लिए काकणीक, अध्यर्धकाकणी और द्विकाकणिक प्रयोग सिद्ध किए गए हैं। देखिए—२०।४२ के

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २७५।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११८।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २७५ : अजः—पशुः, स चेह प्रक्रमादुरभ्रः।

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६१ : नास्य सूरो विज्जति, आसुरियं वा नारका, जेसिं चक्खिदियअभावो सूरो ऊद्योतो णत्थि, जहा एगेंदियाणं दिसा भावदिसा खेत्तदिसावि घेप्पति, असतीत्यसुराः, असुराणामियं आसुरीयं अधोगतिरित्यर्थः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २७६ : अविद्यमानसूर्याम्, उपलक्षणत्वाद्ग्रहनक्षत्रविरहितां च, दिश्यते नारकादित्वेनास्यां संसारीति दीक् ताम्, अर्थात् भावदिशम्, अथवा रौद्रकर्मकारी सर्वोऽप्यसुर उच्यते, ततश्चासुराणामियमासुरी या तामासुरीयां दिशम्।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६१ : कागीणी णाम रूवगस्स असीतिमो भागो, वीसोवगस्स चतुभागो।

५. पाइयसद्दमहण्णव, पृ० १००७।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र २७२, 'काकिणिः'—विंशतिकपर्दकाः।

७. A Sanskrit English Dictionary p. 267 : A small coin or a small sum of money equal to twenty Kapardas or Cowries or to a quarter of a Pana.

८. (क) संयुत्तनिकाय, ३।२।३।
(ख) चुल्लसेट्ठि जातक ४, प्रथम खण्ड, पृ० २०३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'कहावणे' का टिप्पण।

## २०. हजार (कार्षापण) (सहस्सं)

'सहस्सं' शब्द के द्वारा हजार कार्षापण उपलक्षित किए गए हैं। ऐसा चूर्णि और वृत्ति का अभिमत है।[1] कार्षापण एक प्रकार का सिक्का है। इसका मान, जो धातु तोली जाती है उसके आधार पर भिन्न-भिन्न होता है। जैसे—यदि सोना हो तो १६ मासा, यदि चांदी हो तो १६ पण अथवा १२८० कौड़ियां, यदि तांबा हो तो ८० रत्तिकाएं अथवा १७६ ग्रेन आदि।[2] नारद (जिसका समय १०० और ३०० ई० के बीच में पड़ता है) ने एक स्थान में कहा है कि चांदी का कार्षापण दक्षिण में चालू था और प्राच्य देश में वह २० पण के बराबर था और पंचनद प्रदेश में चालू कार्षापण को वे प्रमाण नहीं मानते थे।[3] विशेष विवरण के लिए देखिए—२०।४२ के 'कहावणे' का टिप्पण।

## २१. (श्लोक ११)

इस श्लोक में दो कथाओं का संकेत है—

१. एक काकिणी के लिए सहस्र कार्षापण को हारना।

तुलना—

***सीलव्वयाइं जो बहुफलाइं, हंतूण सुखमहिलसइ।***
***पिइदुब्बलो तवस्सी, कोडीए कागिणिं किणई।।***

(उपदेशमाला श्लोक १८८)

२. आम्रफल में आसक्त हो राजा के द्वारा अपने जीवन और राज्य को खो देना।

दोनों कथाओं के लिए देखें—इसी अध्ययन का आमुख।

## २२. प्रज्ञावान् पुरुष की (पण्णवओ)

शान्त्याचार्य के अनुसार वही व्यक्ति प्रज्ञावान् कहलाता है जो ज्ञान और क्रिया—दोनों से युक्त हो, जो हेय और उपादेय की विवेक-बुद्धि से युक्त हो। निश्चयनय के अनुसार क्रियारहित प्रज्ञा अप्रज्ञा ही होती है।[4]

नेमिचन्द्र के अनुसार प्रकृष्ट ज्ञान प्रज्ञा है। क्रिया-विकल ज्ञान प्रकृष्ट होता ही नहीं, क्योंकि उसमें राग-द्वेष आदि समन्वित रहते हैं। अतः वह अप्रज्ञा ही है।[5]

## २३. अनेक वर्ष नयुत (असंख्यकाल) की (अणेगवासानउया)

वर्षों के अनेक नयुत—अर्थात् पल्योपम सागरोपम। 'नयुत' एक संख्यावाची शब्द है। वह पदार्थ की गणना में भी प्रयुक्त होता है और आयुष्य काल की गणना में भी। यहां आयुष्य काल की गणना की गई है। अतः इसके पीछे वर्ष शब्द जोड़ना पड़ा। 'वर्ष नयुत' वर्षों की संख्या देता है। 'नयुत' में जितने वर्ष होते हैं उनका परिमाण इस प्रकार है—

| | |
|---|---|
| ८४००००० वर्ष | १ पूर्वाङ्क |
| ८४००००० पूर्वाङ्क | १ पूर्व |
| ८४००००० पूर्व | १ नयुतांग |
| ८४००००० नयुतांग | १ नयुत |

(८४ लाख X ८४ लाख X ८४ लाख X ८४ लाख) = १ नयुत। अर्थात् एक नयुत में इतने-४६७८६१३६ ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०० वर्ष होंगे।

## २४. सौ वर्ष जितने अल्प जीवन के लिए (ऊणे वाससयाउए)

इसका शाब्दिक अर्थ है—सौ वर्ष जितनी अल्प आयुष्य की स्थिति में। चूर्णि के अनुसार भगवान् महावीर ने जब धर्म का प्रतिपादन किया तब सामान्यतः मनुष्य की आयु सौ वर्ष की थी। यह आयु 'नयुत' की अपेक्षा बहुत न्यून है।[6] वृत्ति के अनुसार भगवान् महावीर के तीर्थ में मनुष्य प्रायः सौ वर्ष जितनी न्यून आयु वाले होते थे।[7]

प्रस्तुत श्लोक में विषय और आयुष्य की तुलना की गई है। स्वर्ग की स्थिति दीर्घकालीन होती है। उसकी तुलना में मनुष्य जीवन की स्थिति अल्पकालीन बताई गई है।

## २५. (श्लोक १४–१६)

सूत्रकार ने दो श्लोकों (१४-१५) में एक व्यावहारिक उपमा का उल्लेख किया है। सोलहवें श्लोक में उसका निगमन प्रस्तुत किया है। नेमिचन्द्र ने सरस शब्दों में उस कथा का विस्तार इस प्रकार किया है—

एक धनिक बनिये के तीन पुत्र थे। उसने अपने पुत्रों की बुद्धि, व्यवसाय-कौशल, पुण्यशालिता और पुरुषार्थ की परीक्षा लेनी चाही। उसने एक उपाय किया। तीनों पुत्रों को एक-एक हजार कार्षापण देते हुए उसने कहा—'इस पूंजी से तुम तीनों व्यापार करो और अमुक काल के बाद मेरे पास पूंजी लेकर आओ।' वे तीनों मूल पूंजी को लेकर अपने नगर से चले और भिन्न-भिन्न नगरों में व्यापार करने के लिए अवस्थित हो गए। एक ने सोचा—'पिताजी हमारी परीक्षा करना चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने परदेश भेजा है। अब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं प्रचुर अर्थ का उपार्जन करूं और पिताजी को संतुष्ट करूं।' जो मनुष्य पुरुषार्थ नहीं करता वह केवल 'हडप्पा' जैसा होता है, केवल घास-फूस का पुतला होता है। इसलिए अपना पुरुषार्थ करना अपेक्षित है। मेरे लिए अर्थ के उपार्जन का यह सुन्दर अवसर

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २६२।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २७६ : 'सहस्सं' दशशतात्मकं, कार्षापणानामिति गम्यते।

२. Monier Monier-Williams, Sanskrit English Dictionary, p. 276.

३. हिन्दू सभ्यता, पृ० १७४, १७५।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र २७८।

५. सुखबोधा, पत्र ११६।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६३ : भगवता वरिससताउएसु मणुएसु धम्मो पणीतो इत्यतः ऊणे वाससयाउए।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र २७८ : भगवतश्च वीरस्य तीर्थे प्रायो न्यूनवर्षशतायुष एव जन्तव इतीत्थमुपन्यासः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। कहा भी है—**प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनं। तृतीये न तपस्तप्तं, चतुर्थे किं करिष्यति ?** जिस व्यक्ति ने अपने प्रथम वय में विद्या का अध्ययन नहीं किया, दूसरे वय में धन नहीं कमाया और तीसरे वय में तपस्या नहीं की, साधना नहीं की, वह भला अंतिम वय में क्या कर पाएगा ? यह सोचकर वह धन के उपार्जन में लगा। सादगीमय जीवन जीने का लक्ष्य बनाया और द्यूत आदि व्यसनों से दूर रहकर व्यापार में एकनिष्ठ हो गया। व्यापार चला और उसके विपुल लाभ हुआ।

दूसरे लड़के ने सोचा—'हमारे घर में धन की कमी नहीं है। प्रचुर धन है हमारे पास, किन्तु बिना कुछ नया उपार्जित किए, वह धन भी कभी न कभी पूरा हो जाएगा। इसलिए मुझे मूलधन की सुरक्षा करनी चाहिए।' वह व्यापार करने लगा। जो लाभ प्राप्त होता, उसको भोजन आदि में खर्च कर देता। बचाता कुछ भी नहीं।

तीसरे लड़के ने सोचा—विचित्र है कि हमारे घर में सात पीढ़ी तक खर्च करने जितना धन है। परन्तु पिताजी वृद्ध हैं। उनमें सोचने की शक्ति नहीं है। धन की न्यूनता न हो जाए इसलिए उन्होंने हमें परदेश भेजा है। यह ठीक ही कहा है—

***पंचासा वोलीणा, छट्ठाणा नूणं जंति पुरिसस्स।***
***रूवाणा ववसायो, हिरि सत्तोदारया चेव।।***

जब व्यक्ति पचास वर्ष की अवस्था को पार कर जाता है तब उसमें छह कमियां आती हैं—(१) रूप की कमी (२) आज्ञा देने की अक्षमता (३) व्यवसाय करने की निपुणता में कमी (४) लज्जाहीनता (५) शक्ति की न्यूनता और (६) उदारता की कमी।

मैं क्यों धन कमाने के क्लेश में पड़ूं ? उसने यह सोच कर व्यापार नहीं किया और केवल द्यूत, मद्य, मांस आदि के सेवन में लगा रहा। कुछ ही दिनों में मूल पूंजी खर्च हो गई।

काल की अवधि पूरी हुई। तीनों अपने नगर लौटे। जिस पुत्र ने अपनी मूल पूंजी गंवा डाली थी, पिता ने उसे अपने ही घर में नौकर की तरह रहने के लिए बाध्य किया। जिसने मूल पूंजी की सुरक्षा की थी, उसे घर का काम-काज सौंपा और जिसने पूंजी को बढ़ाया था उसे घर का स्वामी नियुक्त किया।

इसी कथा का दूसरा कोण इस प्रकार है—

तीनों व्यापार करने लगे। जिसने अपनी मूल पूंजी गंवा डाली, वह आगे व्यापार करने में असमर्थ रहा। उसने फिर नौकरी प्रारंभ की। दूसरे ने मूल पूंजी की सुरक्षा की तो वह पुनः व्यापार करने लग गया। तीसरे ने मूल पूंजी को इतना बढ़ाया कि वह अपने परिवार के साथ आनन्द से रहने लगा।[1]

सोलहवें श्लोक का निगमन इस प्रकार है—

तीन संसारी प्राणी मनुष्य योनि में जन्मे। उनमें से एक व्यक्ति संयम, आर्जव, मार्दव आदि गुणों से समन्वित होकर, सामान्य आरम्भ और परिग्रह से जीवन यापन करने लगा। वह मर कर पुनः मनुष्यभव में आया। यह मूल की सुरक्षा है। दूसरा सम्यक्-दर्शन और चारित्रिक गुणों से युक्त होकर, सरागसंयम का पालन कर देवलोक में गया। उसने मूल पूंजी को बढ़ाया। तीसरे ने अपना जीवन हिंसा आदि में व्यतीत कर, मर कर नरक योनि या तिर्यञ्च योनि में जन्मा। यह मूल पूंजी को हार जाने की बात है।[2]

## २६. वध—हेतुक (वहमूलिया)

चूर्णि के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'व्यधमूलिका' और वृत्ति के अनुसार 'वधमूलिका' है। व्यध का अर्थ प्रमारण या ताड़न और 'वध' का अर्थ प्राणिघात, विनाश या ताड़न किया गया है।[3]

## २७. लोलुप और वंचक पुरुष (लोलयासढे)

यहां 'लोलया' शब्द चिन्तनीय है। यह पुरुष का विशेषण हो तो इसका रूप 'लोलए' होना चाहिए। 'लोलए सढे' का अर्थ 'लोलुपता से शठ' हो तो उक्त पाठ हो सकता है किन्तु यह अर्थ मान्य नहीं रहा है। वृत्तिकार ने 'लोलया' पाठ की संगति इस प्रकार की है—जो मनुष्य मांस आदि में अत्यन्त लोलय होता है, वह उसी में तन्मय हो जाता है। उसी तन्मयता को प्रगट करने के लिए यहां लोल (लोलुप) को भी लोलता (लोलुपता) कहा गया है।[4] या से आ को अलाक्षणिक माना जाए तो लोलय का लोलक बनता है—लोलक अर्थात् लोलुप।

शठ का अर्थ है—आलसी या विश्वस्त व्यक्तियों को ठगने वाला।[5] मांसाहार नरकगति और वंचना तिर्यक्गति में उत्पन्न होने हेतु हैं।[6] इसलिए इस श्लोक में 'लोलय' और 'शठ' का प्रयोग सापेक्ष है।

## २८. (श्लोक २०)

इस श्लोक में विमात्रशिक्षा, गृहिसुव्रत और कर्मसत्य—ये तीन शब्द विशेष अर्थवान् हैं।

चूर्णि में शिक्षा का अर्थ शास्त्र-कला का कौशल है।[7] शान्त्याचार्य ने शिक्षा का अर्थ—प्रकृतिभद्रता आदि गुणों का अभ्यास—किया है।[8] प्रस्तुत प्रकरण में यह अर्थ अधिक उपयुक्त है।

चूर्णि में सुव्रत का अर्थ 'ब्रह्मचरणशील' है।[9] शान्त्याचार्य ने

---

१. सुखबोधा, पत्र ११६, १२०।
२. वही, पत्र १२०।
३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६४।
   (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २८०।
   (ग) सुखबोधा, पत्र १२०।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र २८० : 'लोलायासढे' त्ति लोलया—पिशितादिलाम्पट्यं तद्योगाज्जन्तुरपि तन्मयत्वख्यापनार्थं लोलतेत्युक्तः।
५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६४ : न धर्म्मचरणोद्यमवान्।
   (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २८० : शाठ्ययोगाच्छठः—विश्वस्तजनवंचकः।
६. ठाणं, ४।६२८, ६२६।
७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६५ : शिक्षानाम शास्त्रकलासु कौशल्यम्।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र २८१ : 'शिक्षाभिः' प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासरूपाभिः।
९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६५ : ब्रह्मचरणशीला सुव्रताः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुव्रत का अर्थ—सत्पुरुषोचित, अविषाद आदि गुणों से युक्त—किया है।[1] यहां व्रत का प्रयोग आगमोक्त श्रावक के बारह व्रतों के अर्थ में नहीं है। उन व्रतों को धारण करने वाला 'देवगति' (वैमानिक) में ही उत्पन्न होता है।[2] यहां सुव्रती की उत्पत्ति मनुष्ययोनि में बतलाई गई है। इसलिए यहां व्रत का अर्थ—प्रकृतिभद्रता आदि का अनुशीलन होना चाहिए। स्थानांग में बताया है कि मनुष्य-गति का बन्ध चार कारणों से होता है—

१. प्रकृति-भद्रता, २. प्रकृति-विनीतता, ३. सानुक्रोशता, ४. अमत्सरता।[3]

जीव जैसा कर्म-बन्ध करते हैं, वैसी गति उन्हें प्राप्त होती है। इसलिए उन्हें कर्म-सत्य कहा है।[4] जीव जो कर्म करते हैं उसे भोगना ही पड़ता है, बिना भोगे उससे मुक्ति नहीं मिलती।[5] इसलिए जीवों को कर्म-सत्य कहा है। जिनके कर्म (मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियां) सत्य (अविसंवादी) होते हैं, वे कर्म-सत्य कहलाते हैं।[6] जिनके कर्म निश्चित रूप से फल देने वाले होते हैं, वे कर्म-सत्य कहलाते हैं।[7] 'कम्मसच्चा हु पाणिणो' यह अर्थान्तरन्यास है।

## २९. विपुल शिक्षा (विउला सिक्खा)

शिक्षा दो प्रकार की होती है—ग्रहण अर्थात् जानना और आसेवन अर्थात् ज्ञात विषय का अभ्यास करना।[8] ज्ञान के बिना आसेवन सम्यक् नहीं होता और आसेवन के बिना ज्ञान सफल नहीं होता, इसलिए ज्ञान और आसेवन दोनों मिलकर ही शिक्षा को पूर्ण बनाते हैं। जिन व्यक्तियों की शिक्षा विपुल होती है—सम्यक्-दर्शन युक्त अणुव्रतों या महाव्रतों की आराधना से सम्पन्न होती है[9]—वे देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

## ३०. शीलसंपन्न.....करनेवाले (सीलवंता सवीसेसा)

शील का अर्थ है—सदाचार। जो उत्तरोत्तर गुणों को प्राप्त करते हैं, जो लाभोन्मुख होते हैं, वे सविशेष कहलाते हैं।

## ३१. अदीन—पराक्रमी (अद्दीणा)

चूर्णि में अदीन के तीन अर्थ प्राप्त हैं—(१) कष्टसहिष्णु, (२) असंयम का परिहार करने वाला, (३) सदा प्रसन्न रहने वाला।[10]

वृत्ति में इसके दो अर्थ प्राप्त हैं—(१) जो इस चिन्ता से मुक्त होता है कि मुझे यहां से मर कर कहां जाना है, (२) जो परीषह और उपसर्गों के आने पर दीन नहीं होता।[11]

## ३२. देवत्व को (देवयं)

यह सोलहवें श्लोक के 'लाभो देवगई भवे' का निगमन है। वृत्तिकार ने यहां प्रश्न उपस्थित किया है कि यहां देवत्व के लाभ की बात क्यों कही गई? वास्तव में मुक्ति-लाभ की बात कहनी चाहिए थी। इसका समाधान देते हुए वे कहते हैं—आगम त्रैकालिक होते हैं, किसी समय-विशेष के नहीं होते। वर्तमान में विशिष्ट संहनन के अभाव में मुक्ति की प्राप्ति असंभव है, इसलिए यहां 'देवत्व' की बात कही गई है।[12] वृत्ति की इस व्याख्या से विषय का प्रसंगान्तर हो जाता है।

## ३३. इस अति संक्षिप्त आयु में (सन्निरुद्धंमि आउए)

इस काल में मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष की मानी जाती है। इससे अधिक आयुष्य वाले मनुष्य बहुत ही कम होते हैं। यह अति संक्षिप्त आयुष्य है। यह इसका एक अर्थ है।

इसका दूसरा अर्थ है—आयुष्य दो प्रकार का होता है—सोपक्रम और निरुपक्रम। सोपक्रम आयुष्य में अनेक अवरोध आते हैं और प्राणी असमय में ही काल-कवलित हो जाता है। वह अपने आयुष्य कर्म के पुद्गलों को शीघ्र (संक्षेप में) भोग लेता है।[13]

## ३४. योगक्षेम को (जोगक्खेमं)

योग का अर्थ है—अप्राप्त की प्राप्ति और क्षेम का अर्थ है—प्राप्त का संरक्षण। यहां 'योगक्षेम' का तात्पर्य है—अध्यात्म की उन अवस्थाओं को प्राप्त करना जो आज तक प्राप्त नहीं थीं और जो प्राप्त हैं उनका सम्यग् संरक्षण करना, परिपालन करना।[14]

प्रस्तुत श्लोक में प्रश्न किया गया है कि जब आयुष्य इतना अल्प है तो मनुष्य किन कारणों से अपने योगक्षेम को नहीं जानता? अथवा जानता हुआ भी उसकी उपेक्षा करता है?

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २८१ : 'सुव्रताश्च' धृतसत्पुरुषव्रताः, ते हि प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासानुभावत एव न विषद्यपि विषीदन्ति सदाचारं वा नावधीरयन्तीत्यादिगुणान्विताः।

२. वही, पत्र २८१ : आगमत्रिकोहितव्रतधारणं त्वमीषामसम्भवि, देवगतिहेतुतयैव तदभिधानात्।

३. ठाणं, ४।६३० : चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा—पगतिभद्दताए, पगतिविणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरिताए।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६५ : कम्माणि सच्चाणि जेसिं ते कम्मसच्चा, तस्य जारिसाणि से तावं विधिं गतिं लभति, तं सुभमसुभं वा।

५. वही, पृ० १६५ : अथवा कम्मसत्या हि, सच्चं कम्मं, कम्मं अवेदे नवेइत्ति, यदि हि कृतं कर्म्म न वेद्यते ततो न कर्म्म-सत्याः स्युरिति।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र २८१ : कर्म्मणा—मनोवाक्कायक्रियालक्षणेन सत्या—अविसंवादिनः कर्म्मसत्याः।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र २८१ : सत्यानि···अवन्ध्यफलानि कर्म्माणि—ज्ञानावरणादीनि येषां ते सत्यकर्म्माणः।

८. सुखबोधा, पत्र १२२ : 'शिक्षा' ग्रहणाऽऽसेवनात्मिका।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र २८२ : 'विपुला' निःशंकितत्वादिसम्यक्त्वाचाराणुव्रतमहाव्रतादिविषयत्वेन विस्तीर्णा।

१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६५ : णो दीणो अद्दीणो इति अद्दीणो णाम जो परीसहोदए ण दीणो भवति, अथवा रोगिवत् अप्पत्थाहारं अकामः असंजमं वज्जतीति अदीनः, जे पुण हण्यन्ति इव ते अद्दीणा।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र २८२ : अदीनाः कथं वयममुत्र भविष्याम इति वैक्लव्यरहिताः परिषहोपसर्गादिसम्भवे वा न दैन्यभाज इत्यदीनाः।

१२. वही, पत्र २८२ : ननु तत्त्वतो मुक्तिगतिरेव लाभः, तत् किमिह तत्परिहारतो देवगतिरुक्तेति? उच्यते, सूत्रस्य त्रिकालविषयत्वात्, मुक्तेश्चेदानीं विशिष्टसंहननाभावतोऽभावाद् देवगतेश्च 'छेवट्टेण उ गम्मइ चत्तारि उ जाव आदिमा कप्पा' इति वचनाच्छेदपरिवर्तिसंहननिनामिदानींतनानामपि सम्भवादेवमुक्तमिति।

१३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६८।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २८३।

१४. बृहद्वृत्ति, पत्र २८३ : अलब्धस्य लाभो—योगो, लब्धस्य च परिपालनं—क्षेमोऽनयोः समाहारो योगक्षेमं, को ऽर्थः? अप्राप्तविशिष्टधर्मप्राप्तिः प्राप्तस्य च परिपालनम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत श्लोक में प्रश्न किया गया है कि जब आयुष्य इतना अल्प है तो मनुष्य किन कारणों से अपने योगक्षेम को नहीं जानता? अथवा जानता हुआ भी उसकी उपेक्षा करता है?

योगक्षेम को न जानने के कारण अगले श्लोक (२५) में निर्दिष्ट हैं—(१) कामभोगों से निवृत्त न होना और (२) पार ले जाने वाले मार्ग को सुनकर-जानकर भी उसकी उपेक्षा करना।

गीता में भी योगक्षेम शब्द प्रयुक्त है। वहां उसका अर्थ है—अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा।[1]

## ३५. (श्लोक २४)

प्रस्तुत श्लोक के अन्त में वृत्तिकारों ने इस अध्ययन में प्रयुक्त पांच दृष्टान्तों का निगमन प्रस्तुत किया है। वह इस प्रकार है[2]—

१. उरभ्र का दृष्टान्त—भोगों के उपभोग से भविष्य में होने वाले दोषों का निदर्शक।

२-३. काकिणी और आम्रफल का दृष्टान्त—भविष्य में अपाय-बहुल होने पर भी जो अतुच्छ है—प्रचुर है, उसे नहीं छोड़ा जा सकता—इसका निदर्शक।

४. वणिग् का दृष्टान्त—तुच्छ को भी वही छोड़ सकता है जो लाभ और अलाभ को जानने में कुशल है, जो आय-व्यय को तोलने में कुशल है—इस तथ्य का निदर्शक दृष्टान्त।

५. समुद्र का दृष्टान्त—आय-व्यय को कैसे तोला जाए, उसका निदर्शक दृष्टान्त। जैसे—दिव्यकामभोग समुद्र के जल के समान है। उसका उपार्जन महान् आय है और अनुपार्जन महान् व्यय है।

## ३६. कामभोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का (कामाणियट्टस्स)

काम-निवृत्ति प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। सोमदेवसूरि ने त्रिवर्ग के संतुलन पर विमर्श किया है। उनके अनुसार जिससे सब इन्द्रियों से प्रीति होती है, उसका नाम है 'काम'।[3] उन्होंने काम-सेवन के विषय में कुछ विकल्प प्रस्तुत किए हैं—

१. काम का सेवन उस सीमा तक हो, जिससे धर्म और अर्थ की सिद्धि में विरोध न आए।

२. धर्म, अर्थ और काम का संतुलित सेवन हो।

३. काम का अतिसेवन शरीर को पीड़ा पहुंचाता है तथा धर्म और अर्थ में बाधा डालता है।

४. जहां धर्म, अर्थ और काम का युगपत् प्रसंग हो तो उनमें प्राथमिकता है धर्म की, फिर अर्थ की और काम का स्थान है सबसे अन्त में।[4]

जो मनुष्य अर्थ का अतिसेवन करता है, वह काम और धर्म का अतिक्रमण करता है। जो काम का अतिसेवन करता है, वह धर्म और अर्थ का अतिक्रमण करता है। जो धर्म का अतिसेवन करता है वह अर्थ और काम का अतिक्रमण करता है। जीवन के लिए धर्म, अर्थ और काम—तीनों आवश्यक हैं, पर इनका संतुलित सेवन ही सुखद अवस्था पैदा कर सकता है।

## ३७. पार ले जाने वाले मार्ग को (नेयाउयं मग्गं)

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र—यही नैर्यात्रिक मार्ग है, मुक्ति-मार्ग है। यही पार ले जाने वाला है।[5]

## ३८. पुतिदेह (औदारिक शरीर) का (पूइदेह)

शरीर पांच प्रकार के होते हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। औदारिक शरीर रक्त, मांस, हड्डी आदि से युक्त होता है। अतः उसे 'पूतिदेह'—दुर्गन्ध पैदा करने वाला शरीर माना गया है।

## ३९. (श्लोक २७)

ऋद्धि—स्वर्ण आदि का समुदय।

द्युति—शरीर की कान्ति।

यशः—पराक्रम से होने वाली प्रसिद्धि।

वर्ण—गांभीर्य आदि गुणों से होने वाली श्लाघा अथवा गौरव।

सुख—इष्ट विषयों की उपलब्धि से होने वाला आह्लाद।[6]

## ४०. (श्लोक २८-२९)

इन श्लोकों में व्यवहृत कुछ शब्दों के अर्थ—

१. धर्म—अहिंसा, संयम और तप लक्षण वाला आचार।

२. अधर्म—विषयासक्ति, पदार्थासक्ति।

३. बाल—अज्ञानी।

४. धीर—धृतिमान्। जिसमें धृति—मन के नियमन की शक्ति होती है, वह।

वृत्ति में इसके दो अर्थ प्राप्त हैं—(१) बुद्धिमान और (२) कष्टों से अक्षुब्ध रहने वाला।[7]

कवि की प्रसिद्ध उक्ति है—**"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः"**[8]—विकार के हेतु उपस्थित होने पर भी जिन मनुष्यों का मन विकारग्रस्त नहीं होता, वे धीर होते हैं।

दशवैकालिक सूत्र के टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरी कहते हैं—दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन में धर्म का वर्णन है। वह

---

१. गीता, ६।२२।

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २८३, २८४।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२२।

३. सोमदेव नीतिसूत्राणि, कामसमुद्देश, १ : आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः।

४. सोमदेव नीतिसूत्राणि, कामसमुद्देश, २, ३, ४, १३ :
★ धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत.....।
★ समं वा त्रिवर्गं सेवेत।
★ एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानां आत्मानमितरौ च पीडयति।
★ धर्मार्थकामानां युगपत् समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान्।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६७ : नयणशीलो नैयायिकः, मग्गं ति दंसणचरित्तमइयं।

६. सुखबोधा, पत्र १२३ : 'ऋद्धिः' कनकादिसमुदायः, 'द्युतिः' शरीरकान्तिः, 'यशः' पराक्रमकृता प्रसिद्धिः, 'वर्णः' गांभीर्यादिगुणैः श्लाघा गौरवत्वादि वा,... 'सुखं' यथेप्सितविषयावाप्तौ आह्लादः।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र २८५ : धीः—बुद्धिस्तया राजत इति धीरः—धीमान् परीषहाद्यक्षोभ्यो वा धीरः।

८. कुमारसंभव, १।५९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धृति के बिना टिक नहीं सकता। अतः दूसरे अध्ययन 'सामण्णपुव्वयं' में धृति का प्रतिपादन है। श्रामण्य और तप का मूल धृति है—

***जस्स धिई तस्स तवो जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलभा।***
***जे अधिइमंतपुरिसा तवोऽपि खलु दुल्लहो तेसिं।।***

जिसमें धृति होती है, उसके तप होता है। जिसके तप होता है, उसको सुगति सुलभ है। जो अधृतिमान् पुरुष हैं, उनके लिए तप भी निश्चित ही दुर्लभ है।

महाभारत के अनुसार सुख और दुःख में विचलित नहीं होना, सम रहना, धृति है।[1] धृति दूसरा साथी है।[2]

५. सर्वधर्मानुवर्ती—वृत्तिकार ने सर्वधर्म का अर्थ—शान्ति आदि दसविध यतिधर्म—किया है। उसका अनुवर्तन करने वाला सर्वधर्मानुवर्ती होता है।[3]

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व १६२।१६ : धृतिर्नाम सुखे दुःखे यया नाप्नोति विक्रियाम्।

२. वही, वनपर्व २९७।२९ : धृत्या द्वितीयवान् भवति।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २८५ : सर्वे धर्मा क्षान्त्यादिरूपमनुवर्तते तदनुकूलाचारतया स्वीकुरुत इत्येवंशीलो यस्तस्य सर्वधर्मानुवर्तिनः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अट्ठमं अज्झयणं

## कावि‍लीयं

# आठवां अध्ययन

## कापिलीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

कपिल ब्राह्मण था। लोभ की बाढ़ ने उसके मन में विरक्ति ला दी। उसे सही स्वरूप ज्ञात हुआ। वह मुनि बन गया। संयोगवश एक बार उसे चोरों ने घेर लिया। तब कपिल मुनि ने उन्हें उपदेश दिया। वह संगीतात्मक था। उसी का यहां संग्रह किया गया है। प्रथम मुनि गाते, चोर भी उनके साथ-ही-साथ गाने लग जाते। 'अधुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए।... न गच्छेज्जा।।' यह प्रथम श्लोक ध्रुवपद था। मुनि कपिल द्वारा यह—अध्ययन गाया गया था, इसलिए इसे कापिलीय कहा गया है।' सूत्रकृतांग चूर्णि में इस अध्ययन को 'गेय' माना गया है।[1]

नाम दो प्रकार से होते हैं :—(१) निर्देश्य (विषय) के आधार पर और (२) निर्देशक (वक्ता) के आधार पर। इस अध्ययन का निर्देशक कपिल है, इसलिए इसका नाम कापिलीय रखा गया है।[2]

इसका मुख्य प्रतिपाद्य है—उस सत्य का शोध जिससे दुर्गति का अन्त हो जाए। सत्य-शोध में जो बाधाएं हैं उन पर भी बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है। लोभ कैसे बढ़ता है, इसका स्वयं अनुभूत चित्र प्रस्तुत किया गया है।

व्यक्ति के मन में पहले थोड़ा लोभ उत्पन्न होता है। वह उसकी पूर्ति करता है। मन पुनः लोभ से भर जाता है। उसकी पूर्ति का प्रयत्न होता है। यह क्रम चलता है परन्तु हर बार लोभ का उभार तीव्रता लिए होता है। ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता है। इसका अन्त तभी होता है जब व्यक्ति निर्लोभता की पूर्ण साधना कर लेता है।

उस काल और उस समय में कौशाम्बी नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी सभा में चौदह विद्याओं का पारगामी काश्यप नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम यशा था। उसके कपिल नाम का एक पुत्र था। राजा काश्यप से प्रभावित था। वह उसका बहुमान करता था। अचानक काश्यप की मृत्यु हो गई। उस समय कपिल की अवस्था बहुत छोटी थी। राजा ने काश्यप के स्थान पर दूसरे ब्राह्मण को नियुक्त कर दिया। वह ब्राह्मण जब घर से दरबार में जाता तब घोड़े पर आरूढ़ हो छत्र धारण करता था। काश्यप की पत्नी यशा जब यह देखती तो पति की स्मृति में विह्वल हो रोने लग जाती थी। कुछ काल बीता। कपिल भी बड़ा हो गया था। एक दिन जब उसने अपनी मां को रोते देखा तो इसका कारण पूछा। यशा ने कहा—"पुत्र! एक समय था जब तेरे पिता इसी प्रकार छत्र लगाकर दरबार में जाया-आया करते थे। वे अनेक विद्याओं के पारगामी थे। राजा उनकी विद्याओं से आकृष्ट था। उनके निधन के बाद राजा ने वह स्थान दूसरे को दे दिया है।" तब कपिल ने कहा—"मां! मैं भी विद्या पढ़ूंगा।"

यशा ने कहा—"पुत्र! यहां सारे ब्राह्मण ईर्ष्यालु हैं। यहां कोई भी तुझे विद्या नहीं देगा। यदि तू विद्या प्राप्त करना चाहता है तो श्रावस्ती नगरी में चला जा। वहां तेरे पिता के परम मित्र इन्द्रदत्त नाम के ब्राह्मण हैं। वे तुझे विद्या पढ़ाएंगे।"

कपिल ने मां का आशीर्वाद ले श्रावस्ती की ओर प्रस्थान किया। पूछते-पूछते वह इन्द्रदत्त ब्राह्मण के यहां जा खड़ा हुआ। अपने समक्ष एक अपरिचित युवक को देखकर इन्द्रदत्त ने पूछा—"तुम कौन हो? कहां से आए हो? यहां आने का क्या प्रयोजन है?"

कपिल ने सारा वृत्तान्त सुनाया। इन्द्रदत्त कपिल के उत्तर से बहुत प्रभावित हुआ। उसने उसके भोजन की व्यवस्था शालिभद्र नामक एक धनाढ्य वणिक् के यहां करके अध्यापन शुरू कर दिया। कपिल भोजन करने प्रतिदिन सेठ के यहां जाता और इन्द्रदत्त से अध्ययन करता। उसे एक दासी की पुत्री भोजन परोसा करती थी। वह हंसमुख स्वभाव की थी। कपिल कभी-कभी उससे मजाक कर लेता था। दिन बीते, उनका सम्बन्ध गाढ़ हो गया। एक बार दासी ने कपिल से कहा—"तुम मेरे मेरा सर्वस्व है। तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है। मैं निर्वाह के लिए दूसरों के यहां रह रही हूं अन्यथा तो मैं तुम्हारी आज्ञा में रहती।"

इसी प्रकार कई दिन बीते। दासी-महोत्सव का दिन निकट आया। दासी का मन बहुत उदास हो गया। रात्रि में उसे नींद नहीं आई। कपिल ने इसका कारण पूछा। उसने कहा—"दासी-महोत्सव आ गया है। मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है। मैं कैसे महोत्सव मनाऊं? मेरी सखियां मेरी निर्धनता पर हंसती हैं और मुझे तिरस्कार की दृष्टि से देखती हैं।" कपिल का मन खिन्न हो गया। उसे अपने अपौरुष पर रोष आया। दासी ने कहा—"तुम इतना धैर्य मत खोओ। समस्या का एक समाधान भी है। इसी नगर में धन नाम का एक सेठ रहता है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २८६ : .....ताहे ताणवि पंचवि चोरसयाणि ताले कुट्टेंति, सोऽवि गायति ध्रुवगं, "अधुवे असासयंमि दुक्खपउराए। किं णाम तं होज्ज कम्मयं? जेणाहं दुग्गइं ण गच्छेज्जा।।१।।" एवं सव्वत्थ सिलोगन्तरे ध्रुवग गायंति 'अधुवेत्यादि', तत्थ केइ पढमसिलोगे संबुद्धा, केइ बीए, एवं जाव पंचवि सया संबुद्धा पव्वतियत्ति। ...स हि भगवान् कपिलनामा...ध्रुवकं सङ्गीतवान्।

२. सूत्रकृतांङ्ग चूर्णि, पृ० ७ : गेयं णाम सरसंचारेण, जधा कविलिज्जे—"अधुवे असासयंमि संसारम्मि दुक्खपउराए। ...न गच्छेज्जा।।"

३. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४१, वृत्ति : निदेशकवशाज्जिनवचनं कापिलीयम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो व्यक्ति प्रातःकाल उसे सबसे पहले बधाई देता है उसे वह दो माशा सोना देता है। तुम वहां जाओ। उसे बधाई देकर दो माशा सोना ले आओ। इससे मैं पूर्णता से महोत्सव मना लूंगी।"

कपिल ने बात मान ली। कोई व्यक्ति उससे पहले न पहुंच जाए, यह सोच वह तुरन्त घर से रवाना हो गया। रात्रि का समय था। नगर-आरक्षक इधर-उधर घूम रहे थे। उन्होंने उसे चोर समझ पकड़ कर बांध लिया और प्रभात में प्रसेनजित राजा के सामने प्रस्तुत किया। राजा ने उससे रात्रि में अकेले घूमने का कारण पूछा। कपिल ने सहज व सरल भाव से सारा वृत्तान्त सुना दिया। राजा उसकी स्पष्टवादिता पर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—"ब्राह्मण ! आज मैं तुझ पर बहुत प्रसन्न हूं। तू जो कुछ मांगेगा वह मिलेगा।" कपिल ने कहा—"राजन् ! मुझे सोचने का कुछ समय दिया जाए।" राजा ने कहा—"यथा इच्छा।"

कपिल राजा की आज्ञा ले अशोक वनिका में चला गया। वहां उसने सोचा—"दो माशा सोने से क्या होगा ? क्यों न मैं सौ मोहरें मांग लूं ?" चिन्तन आगे बढ़ा। उसे सौ मोहरें भी तुच्छ लगने लगीं। हजार, लाख, करोड़ तक उसने चिन्तन किया। परन्तु मन नहीं भरा। सन्तोष के बिना शान्ति कहां? उसका मन आंदोलित हो उठा। तत्क्षण उसे समाधान मिल गया। मन वैराग्य से भर उठा। चिन्तन का प्रवाह मुड़ा। उसे जाति-स्मृति-ज्ञान प्राप्त हो गया। वह स्वयं-बुद्ध हो गया। वह स्वयं अपना लुंचन कर, प्रफुल्ल वदन हो राजा के पास आया। राजा ने पूछा—"क्या सोचा है, जल्दी कहो।" कपिल ने कहा—"राजन् ! समय बीत चुका है। मुझे जो कुछ पाना था पा लिया है। तुम्हारी सारी वस्तुएं मुझे तृप्त नहीं कर सकीं। किन्तु उनकी अनाकांक्षा ने मेरा मार्ग प्रशस्त कर दिया है। जहां लाभ है वहां लोभ है। ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। दो माशा सोने की प्राप्ति के लिए मैं घर से निकला था किन्तु मेरी तृप्ति करोड़ में भी नहीं हुई। तृष्णा अनन्त है। इसकी पूर्ति वस्तुओं की उपलब्धियों से नहीं होती, वह होती है त्याग से, अनाकांक्षा से।"

राजा ने कहा—"ब्राह्मण ! मेरा वचन पूरा करने का मुझे अवसर दें। मैं करोड़ मोहरें भी देने के लिए तैयार हूं।" कपिल ने कहा—"राजन् ! तृष्णा की अग्नि अब शान्त हो गई है। मेरे भीतर करोड़ से भी अधिक मूल्यवान् वस्तु पैदा हो गई है। मैं अब करोड़ मोहरों का क्या करूं ?" मुनि कपिल राजा के सान्निध्य से दूर चला गया। साधना चलती रही। वे मुनि छह मास तक छद्मस्थ अवस्था में रहे।

राजगृह और कौशाम्बी के बीच १८ योजन का एक महाअरण्य था। वहां बलभद्र प्रमुख इक्कडदास जाति के पांच सौ चोर रहते थे। कपिल मुनि ने एक दिन ज्ञान-बल से जान लिया कि सभी चोर एक दिन अपनी पापकारी वृत्ति को छोड़कर संबुद्ध हो जाएंगे। उन सबको प्रतिबोध देने के लिए कपिल मुनि श्रावस्ती से चलकर उस महा अटवी में आए। चोरों के सन्देशवाहक ने उन्हें देख लिया। वह उन्हें पकड़ अपने सेनापति के पास ले गया। सेनापति ने इन्हें श्रमण समझ कर छोड़ते हुए कहा—"श्रमण ! कुछ संगान करो।" श्रमण कपिल ने हावभाव से संगान शुरू किया। "अधुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए. ...."—यह ध्रुवपद था। प्रत्येक श्लोक के साथ यह गाया जाता था। वहां उपस्थित सभी चोर "अधुवे असासयंमि" का सह-संगान करते हुए ताली बजाने लगे। उनके द्वारा इस पद्य का पुनरुच्चारण हो जाने पर कपिल ने आगे के श्लोक कहे। कई चोर प्रथम श्लोक सुनते ही संबुद्ध हो गए, कई दूसरे, कई तीसरे, कई चौथे श्लोक आदि सुनकर। इस प्रकार पांच सौ चोर प्रतिबुद्ध हो गए। मुनि कपिल ने उन्हें दीक्षा दी और वे सभी मुनि हो गए।

प्रसंगवश इस अध्ययन में ग्रन्थित्याग, संसार की असारता, कुतीर्थिकों की अज्ञता, अहिंसा-विवेक, स्त्री-संगम का त्याग आदि-आदि विषय भी प्रतिपादित हुए हैं।

यह अध्ययन 'ध्रुवक' छन्द में प्रतिबद्ध है। जो छन्द सर्वप्रथम श्लोक में तथा प्रत्येक श्लोक के अन्त में गाया जाता है, उसे 'ध्रुवक' कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है—छह पदों वाला, चार पदों वाला और दो पदों वाला:—

***जं गिज्जइ पुव्वं चिय, पुणो-पुणो सव्वकव्वबंधेसु।***
***धुवयंति तमिह तिविहं, छप्पायं चउपयं दुपयं।।***

(बृहद्वृत्ति, पत्र २८६)

इस अध्ययन में चार पदों वाले ध्रुवक का प्रयोग हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अट्ठम अज्झयणं : आठवां अध्ययन
# कापिलीयं : कापिलीय

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. अधुवे असासयंमि,<br>संसारंमि दुक्खपउराए।<br>किं नाम होज्ज तं कम्मयं,<br>जेणाहं दोग्गइं न गच्छेज्जा।। | *अध्रुवेऽशाश्वते*<br>*संसारे दुःखप्रचुरके।*<br>*किं नाम भवेत् तद् कर्मकं*<br>*येनाहं दुर्गतिं न गच्छेयम्।।* | अध्रुव, अशाश्वत[1] और दुःख-बहुल संसार में ऐसा कौन-सा कर्म—अनुष्ठान है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊं ? |
| २. विजहित्तु पुव्वसंजोगं,<br>न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा।<br>असिणेह सिणेहकरेहिं,<br>दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू।। | *विहाय पूर्वसंयोगं*<br>*न स्नेहं क्वचित् कुर्वीत्।*<br>*अस्नेहः स्नेहकरेषु*<br>*दोषप्रदोषैः मुच्यते भिक्षुः।।* | पूर्व संबन्धों का[2] त्याग कर, किसी के साथ स्नेह न करे। स्नेह करने वालों के साथ भी स्नेह न करने वाला भिक्षु दोषों और प्रदोषों से[3] मुक्त हो जाता है। |
| ३. तो नाणदंसणसमग्गो,<br>हियनिस्सेसाए सव्वजीवाणं।<br>तेसिं विमोक्खणट्ठाए,<br>भासई मुनिवरो विगयमोहो।। | *ततो ज्ञानदर्शनसमग्रः*<br>*हितनिःश्रेयसाय सर्वजीवानाम्।*<br>*तेषां विमोक्षणार्थं*<br>*भाषते मुनिवरो विगतमोहः।।* | केवल ज्ञान और दर्शन से परिपूर्ण तथा विगतमोह मुनिवर ने सब जीवों के हित और कल्याण के लिए[4] तथा उन पांच सौ चोरों की मुक्ति के लिए[5] कहा। |
| ४. सव्वं गंथं कलहं च,<br>विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।<br>सव्वेसु कामजाएसु,<br>पासमाणो न लिप्पई ताई।। | *सर्वं ग्रन्थं कलहं च*<br>*विप्रजह्यात् तथाविधं भिक्षुः।*<br>*सर्वेषु कामजातेषु*<br>*पश्यन् न लिप्यते तादृक्।।* | भिक्षु कर्मबन्ध की हेतुभूत सभी ग्रन्थियों और कलह का[6] त्याग करे। कामभोगों के सब प्रकारों में दोष देखता हुआ वीतराग तुल्य मुनि[7] उसमें लिप्त न बने। |
| ५. भोगामिसदोसविसण्णे,<br>हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।<br>बाले य मंदिए मूढे,<br>बज्झई मच्छिया व खेलंमि।। | *भोगामिषदोषविषण्णः*<br>*व्यत्यस्तहितनिःश्रेयसबुद्धिः।*<br>*बालश्च मन्दो मूढः*<br>*बध्यते मक्षिकेव श्लेले।।* | आत्मा को दूषित करने वाले भोगामिष—(आसक्ति-जनक भोग) में[8] निमग्न, हित और निःश्रेयस्—मोक्ष में विपरीत[9] बुद्धि वाला, अज्ञानी, मन्द और मूढ[10] जीव उसी तरह (कर्मों से) बन्ध जाता है जैसे श्लेष्म[11] में मक्खी। |
| ६. दुपरिच्चया इमे कामा,<br>नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।<br>अह संति सुव्वया साहू,<br>जे तरंति अतरं वणिया व।। | *दुष्परित्यजा इमे कामाः*<br>*नो सुहानाः अधीरपरुषैः।*<br>*अथ सन्ति सुव्रताः साधवः*<br>*ये तरन्त्यतरं वणिज इव।।* | ये काम-भोग दुस्त्यज हैं। अधीर पुरुषों द्वारा[12] ये सुत्यज नहीं हैं। जो सुव्रती साधु हैं, वे दुस्तर काम-भोगों को उसी प्रकार तर जाते हैं जैसे वणिक् समुद्र को।[13] |
| ७. समणा मु एगे वयमाणा,<br>पाणवहं मिया अयाणंता।<br>मंदा निरयं गच्छंति,<br>बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं।। | *श्रमणाः स्मः एके वदन्तः*<br>*प्राणवधं मृगा अजानन्तः।*<br>*मन्दा निरयं गच्छन्ति*<br>*बालाः पापिकाभिर्दृष्टिभिः।।* | कुछ पशु की भांति अज्ञानी पुरुष 'हम श्रमण हैं' ऐसा कहते हुए भी प्राण-वध को नहीं जानते। वे मन्द और बाल-पुरुष अपनी पापमयी दृष्टियों से[14] नरक में जाते हैं। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. न हु पाणवहं अणुजाणे,
मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं।
एवारिएहिं अक्खायं,
जेहिं इमो साहुधम्मो पण्णत्तो।।

*न खलु प्राणवधमनुजानन्*
*मुच्येत कदाचित् सर्वदुःखैः।*
*एवमार्यैराख्यातं*
*यैरयं साधुधर्मः प्रज्ञप्तः।।*

प्राण-वध का अनुमोदन करने वाला पुरुष कभी भी सर्वदुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। उन आर्यों—तीर्थङ्करों ने[१५] ऐसा कहा है, जिन्होंने इस साधु-धर्म (महाव्रत) की प्रज्ञापना की।

९. पाणे य नाइवाएज्जा,
से समिए त्ति वुच्चई ताई।
तओ से पावयं कम्मं,
निज्जाइ उदगं व थलाओ।।

*प्राणांश्च नातिपातयेत्*
*स समित इत्युच्यते तादृक्।*
*ततः अथ पापकं कर्म*
*निर्याति उदकमिव स्थलात्।।*

जो जीवों की हिंसा नहीं करता वैसे मुनि को 'समित' (सम्यक् प्रवृत्त)[१६] कहा जाता है। उससे पाप-कर्म वैसे ही दूर हो जाते हैं,[१७] जैसे उन्नत प्रदेश से पानी।

१०. जगनिस्सिएहिं भूएहिं,
तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं,
मणसा वयसा कायसा चेव।।

*जगन्निश्रितेषु भूतेषु*
*त्रसनामसु स्थावरेषु च।*
*न तेषु आरभेत दण्डं*
*मनसा वचसा कायेन चैव।।*

जगत् के आश्रित जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी प्रकार से दण्ड का प्रयोग न करे।[१८]

११. सुद्धेसणाओ नच्चाणं,
तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं।
जायाए घासमेसेज्जा,
रसगिद्धे न सिया भिक्खाए।।

*शुद्धैषणाः ज्ञात्वा*
*तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम्।*
*यात्रायै ग्रासमेषयेद्*
*रसगृद्धो न स्याद् भिक्षादः।।*

भिक्षु शुद्ध एषणाओं को जानकर उनमें अपनी आत्मा को स्थापित करे। यात्रा (संयम-निर्वाह) के लिए भोजन की एषणा करे।[१९] भिक्षा-जीवी रसों में गृद्ध न हो।

१२. पंताणि चेव सेवेज्जा,
सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु वुक्कसं पुलागं वा,
जवणट्ठाए निसेवए मंथुं।।

*प्रान्त्यानि चैव सेवेत*
*शीतपिण्डं पुराणकुल्माषम्।*
*अथ 'बुक्कसं' पुलाकं वा*
*यमनार्थं निषेवेत मन्थुम्।।*

भिक्षु इन्द्रिय संयम के लिए प्रान्त (नीरस) अन्न-पान, शीत-पिण्ड, पुराने उड़द, बुक्कस (सारहीन), पुलाक (रूखा) या मंथु (बैर या सत्तू का चूर्ण) का सेवन करे।[२०]

१३. जे लक्खणं च सुविणं च,
अंगविज्जं च जे पउंजंति।
न हु ते समणा वुच्चंति,
एवं आयरिएहिं अक्खायं।।

*ये लक्षणं च स्वप्नं च*
*अङ्गविद्यां च ये प्रयुञ्जन्ति।*
*न खलु ते श्रमणा उच्यन्ते*
*एवमाचार्यैराख्यातम्।।*

जो लक्षण-शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र और अङ्गविद्या का प्रयोग करते हैं, उन्हें साधु नहीं कहा जाता—ऐसा आचार्यों ने कहा है।[२१]

१४. इह जीवियं अणियमेत्ता,
पब्भट्ठा समाहिजोएहिं।
ते कामभोगरसगिद्धा,
उववज्जंति आसुरे काए।।

*इह जीवितं अनियम्य*
*प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभ्यः।*
*ते कामभोगरसगृद्धाः*
*उपपद्यन्ते आसुरे काये।।*

जो इस जन्म में जीवन को अनियंत्रित रखकर[२२] समाधि-योग से[२३] परिभ्रष्ट होते हैं, वे कामभोग और रसों से आसक्त[२४] बने हुए पुरुष असुर-काय में[२५] उत्पन्न होते हैं।

१५. तत्तो वि य उवट्टिता,
संसारं बहुं अणुपरियडंति।
बहुकम्मलेवलित्ताणं,
बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं।।

*ततोऽपि च उद्वृत्य*
*संसारं बहु अनुपर्यटन्ति।*
*बहुकर्मलेपलिप्तानां*
*बोधिर्भवति सुदुर्लभा तेषाम्।।*

वहां से निकल कर भी वे संसार में बहुत[२६] पर्यटन करते हैं। वे प्रचुर कर्मों के लेप से लिप्त होते हैं। इसलिए उन्हें बोधि[२७] प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

१६. कसिणं पि जो इमं लोयं,
पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से,
इइ दुप्पूरए इमे आया।।

*कृत्स्नमपि य इमं लोकं*
*प्रतिपूर्णं दद्यादेकस्मै।*
*तेनापि स न सन्तुष्येत्*
*इति दुष्पूरकोऽयमात्मा।।*

धन-धान्य से परिपूर्ण यह समूचा लोक भी यदि कोई किसी को दे दे—उससे भी वह संतुष्ट नहीं होता—तृप्त नहीं होता, इतना दुष्पूर है यह आत्मा।[२८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं,
कोडीए वि न निट्ठियं।।

*यथा लाभस्तथा लोभः*
*लाभाल्लोभः प्रवर्धते।*
*द्विमाषकृतं कार्यं*
*कोट्याऽपि न निष्ठितम्।।*

जैसे लाभ होता है वैसे ही लोभ होता है। लाभ से लोभ बढ़ता है।[२९] दो माशे सोने से पूरा होने वाला कार्य करोड़ से भी पूरा नहीं हुआ।

१८. नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा,
गंडवच्छासु ऽणेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता,
खेल्लंति जहा व दासेहिं।।

*न राक्षसीषु गृध्येत्*
*गण्डवक्षस्स्वनेकचित्तासु।*
*याः पुरुषं प्रलोभ्य*
*खेलन्ति यथेव दासैः।।*

वक्ष में ग्रन्थि[३०] (स्तनों) वाली, अनेक चित्त वाली[३१] तथा राक्षसी की भांति भयावह स्त्रियों में[३२] आसक्त न हो, जो पुरुष को प्रलोभन में डालकर उसे दास की भांति नचाती हैं।[३३]

१९. नारीसु नो पगिज्झेज्जा,
इत्थीविप्पजहे अणगारे।
धम्मं च पेसलं नच्चा,
तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं।।

*नारीषु नो प्रगृध्येत्*
*स्त्रीविप्रजहोऽनगारः।*
*धर्मं च पेशलं ज्ञात्वा*
*तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम्।।*

स्त्रियों को त्यागने वाला अनगार उनमें गृद्ध न बने। भिक्षु धर्म को अति मनोज्ञ[३४] जानकर उसमें अपनी आत्मा को स्थापित करे।[३५]

२०. इइ एस धम्मे अक्खाए,
कविलेणं च विसुद्धपण्णेणं।
तरिहिंति जे उ काहिंति,
तेहिं आराहिया दुवे लोग।।

*इत्येष धर्म आख्यातः*
*कपिलेन च विशुद्धप्रज्ञेन।*
*तरिष्यन्ति ये तु करिष्यन्ति*
*तैरााधितौ द्वौ लोकौ।।*

इस प्रकार विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिल ने यह धर्म कहा। जो इसका आचरण करेंगे वे तरेंगे और उन्होंने दोनों लोकों को आराध लिया।[३६]

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन ८ : कापिलीय

## १. अध्रुव अशाश्वत (अधुवे असासयंमि)

आचारांग वृत्ति में अध्रुव के दो अर्थ प्राप्त हैं—अनित्य और चल।[1] अनित्य वह होता है जिसका नाश अवश्यंभावी है। चल वह होता है जो चलमान—गतिशील होता है।

शान्त्याचार्य ने एक ही स्थान से प्रतिबद्ध वस्तु को ध्रुव माना है। संसार अध्रुव है क्योंकि उसमें प्राणी उच्च-अवच आदि स्थानों में भ्रमण करते रहते हैं। वे एक स्थान से प्रतिबद्ध नहीं होते।

शाश्वत का अर्थ है—सदा होने वाला। जो सदा नहीं होता वह अशाश्वत है। संसार में कुछ भी शाश्वत नहीं है। राज्य, धन, धान्य, परिवार आदि अशाश्वत हैं।[2] हारिलवाचक ने कहा है[3]—

*चलं राज्यैश्वर्यं धनकनकसारः परिजनो,*
*नृपाद्वाल्लभ्यं च चलममरसौख्यं च विपुलम्।*
*चलं रूपाऽरोग्यं चलमिह चरं जीवितमिदं,*
*जनो दृष्टो यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः॥*

अध्रुव और अशाश्वत—ये दोनों शब्द एकार्थवाची भी हैं। इसमें पुनरुक्त दोष नहीं है। चूर्णिकार ने पुनरुक्त न होने के सामान्यतः पांच कारण बतलाए हैं[4]—(१) भक्तिवाद (२) शब्द पर विशेष बल देने के लिए (३) कृपा में (४) उपदेश में (५) भय प्रदर्शित करने के लिए।

प्रस्तुत प्रसंग में चूर्णिकार ने पुनरुक्त न होने के ये दो कारण दिए हैं[5]—उपदेश और भय-दर्शन तथा वृत्तिकार ने ये दो कारण दिए हैं[6]—उपदेश में और किसी शब्द पर विशेष बल देते समय।

## २. पूर्व संबंधों का (पुव्वसंजोगं)

संसार पहले होता है और मोक्ष पीछे। असंयम पहले होता है और संयम पीछे। ज्ञातिजन पहले होते हैं, उनका त्याग पीछे किया जाता है—इन भावनाओं के आधार पर चूर्णिकार ने पूर्व-संयोग का अर्थ—संसार का सम्बन्ध, असयम का सम्बन्ध और ज्ञाति का सम्बन्ध किया है।[7] शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने पूर्व-संयोग का अर्थ—पूर्व-परिचितों का संयोग अर्थात् माता-पिता आदि तथा धन आदि का सम्बन्ध किया है।[8]

## ३. दोषों और प्रदोषों से (दोसपओसेहिं)

यहां दो शब्द हैं—दोष और प्रदोष। दोष का अर्थ है—मानसिक संताप आदि। प्रदोष का अर्थ है—नरकगति आदि।[9]

## ४. हित और कल्याण के लिए (हियनिस्सेसाए)

हित का अर्थ है—निरुपम सुख का हेतुभूत, आत्मा के लिए स्वास्थ्यकर। निःश्रेयस् का अर्थ है—मोक्ष अथवा कल्याण। चूर्णि में निःश्रेयस् का अर्थ इहलोक, परलोक में निश्चित श्रेय अथवा अक्षय श्रेय किया है।[10]

प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'निस्सेस' का अर्थ निःशेष अथवा समस्त, संपूर्ण भी हो सकता है। इस संदर्भ में निःशेषहित का अर्थ—संपूर्ण हित है।

## ५. उन पांच सौ चोरों की मुक्ति के लिए (तेसिं विमोक्खणट्ठाए)

कपिल ने पूर्व-भव में इन सभी पांच सौ चोरों के साथ संयम का पालन किया था और उन सबके द्वारा यह संकेत दिया हुआ था कि समय आने पर हमें सम्बोधि देना। उसकी पूर्ति के लिए कपिल मुनि उन्हें संबुद्ध कर रहे हैं—उनकी मुक्ति के लिए प्रवचन कर रहे हैं।[11]

## ६. कलह का (कलहं)

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'क्रोध'[12] और चूर्णिकार ने 'भण्डन' किया है।[13] भण्डन का अर्थ है—वाक्-कलह, गाली देना और क्रोध।

डॉ० हरमन जेकोबी ने इसका अर्थ 'तिरस्कार'—घृणा

---

१. आचारांगवृत्ति, पत्र २६६।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र २८६।
३. वही, पत्र २८६।
४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७०।
५. वही, पृ० १७०।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र २८६।
७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७१ : पुव्वो णाम संसारो, पच्छा मोक्खो, पुव्वेण संजोगो पुव्वस्स वा संजोगो पुव्वसंजोगो, अथवा पुव्वसंजोगो असंजमेण णातीहिं वा।
८. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २६० : पुरा परिचिता मातृपित्रादयः पूर्वशब्देनोच्यन्ते ततस्तैः, उपलक्षणत्वादन्यैश्च स्वजनधनादिभिः संयोगः—सम्बन्धः पूर्वसंयोगः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२६।
९. सुखबोधा, पत्र १२६ : दोषाः—इहैव मनस्तापादयः, प्रदोषाः—परत्र नरकगत्यादयः।
१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७१ : इह परत्र च नियतं निश्चितं वा श्रेयः निःश्रेयसं अक्षयं।
११. वही, पृ० १७१ : तेसिं चोराणं, तेहिं सव्वेहिं पुव्वभवे सह कविलेण एगट्ठं संजमो कतो आसि, ततो तेहिं सिंगारो कतिल्लओ जम्हा अम्हे संबोधितव्वेति।
१२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २६१ : कलहहेतुत्वात्कलहः—क्रोधस्तम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२६।
१३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७१ : कलाभ्यो हीयते येन स कलः भण्डनमित्यर्थः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है।[1] मोनियर विलियम्स ने इसके मुख्यतः तीन अर्थ किए हैं—झगड़ा, झूठ या धोखा, गाली-गलौज।[2]

कलह क्रोधपूर्वक होता है। अतः कारण में कार्य का उपचार कर 'कलह' को क्रोध कहा गया है।

## ७. वीतरागतुल्य मुनि (ताई)

व्याख्याकारों ने इसके संस्कृत रूप दो दिए हैं—तायी और त्रायी।[3] जार्ल सरपेन्टियर टीकाकारों द्वारा किए गए इस अर्थ को ठीक नहीं मानते। उनका अभिमत है कि ताई को तादि—तादृक् के समान मानना चाहिए। तब इसका अर्थ होगा—उस जैसा वैसा। वे कहते हैं कि कालान्तर में इस शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हुआ और इसका अर्थ—उस जैसा अर्थात् बुद्ध जैसा—यह हुआ। तदनन्तर इसका अर्थ—पवित्र संत व्यक्ति आदि हुआ। इस आशय का आधार प्रस्तुत करते हुए वे चाइल्डर्स S.V. और दीर्घनिकाय पृ० ८८ पर फ्रेंक का नोट देखने का अनुरोध करते हैं।[4] सरपेन्टियर का यह अभिमत संगत लगता है। हमने इसी आधार पर इसका संस्कृत रूप तादृक् दिया है। विशुद्धिमार्ग पृ० १८० में तादिन शब्द का प्रयोग एक जैसे रहने वाले के अर्थ में हुआ है—

***यस्मा नत्थि रहो नाम, पापकम्मेसु तादिनो।***
***रहाभावेन तेनेस, अरहं इति विस्सुतो॥***

## ८. भोगामिष—आसक्ति-जनक भोग में (भोगामिस)

वर्तमान में आमिष का सीधा अर्थ 'मांस' किया जाता है। प्राचीन काल में इसका प्रयोग अनेक अर्थों में होता था। इसी आगम के चौदहवें अध्ययन में इसका छह बार प्रयोग हुआ है।[5] अनेकार्थ कोष में आमिष के—फल, सुन्दर आकृति, रूप, सम्भोग, लोभ और लंचा—इतने अर्थ मिलते हैं।[6] उत्तराध्ययन १४।४६ में यह मांस के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[7] पंचासक प्रकरण में यह आहार या फल आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[8] आसक्ति के हेतुभूत जो पदार्थ होते हैं उन सबके अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता था। बौद्ध साहित्य में भोजन व विषय-भोग—इन अर्थों में भी 'आमिष' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

"भन्ते! आमिष (भोजन आदि) के (विषय में) कैसे करना चाहिए?"

"सारिपुत्र! आमिष सबको समान बांटना चाहिए।"[9]

"भिक्षुओ! ये दो दान हैं—आमिष-दान और धर्म-दान। इन दो दानों में जो धर्म-दान है, वह श्रेष्ठ है।" इस प्रकार आमिष-संविभाग (अनुग्रह) और आमिष-योग (पूजा) के प्रयोग मिलते हैं।[10] भोग-सन्निधि के अर्थ में आमिष-सन्निधि का प्रयोग किया गया है।[11] अभिधानप्पदीपिका के श्लोक २८० में आमिष को मांस का तथा श्लोक ११०४ में उसे अन्नाहार का पर्यायवाची माना है।

भोग अत्यन्त आसक्ति के हेतु हैं, इसलिए यहां उन्हें आमिष कहा गया है।[12]

चूर्णिकार के अनुसार जो वस्तु सामान्य रूप से बहुत लोगों द्वारा अभिलषणीय होती है, उसे आमिष कहा जाता है। भोग बहुत लोगों के द्वारा काम्य हैं, इसलिए उन्हें आमिष कहा है। भोगामिष अर्थात् आसक्ति-जनक भोग अथवा बहुजन अभिलषणीय भोग।[13] देखिए १४।४१ का टिप्पण।

शान्त्याचार्य ने इस भावना के समर्थन में दशवैकालिक की प्रथम चूलिका के दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

१. जया य कुकुडंबस्स.....।

२. पुत्तदारपरिकिण्णो.....। (चूलिका १।७,८)

## ९. विपरीत (वोच्चत्थे)

चूर्णि में 'वोच्चत्थ' का अर्थ विपरीत और बृहद्वृत्ति में विपर्ययवान् या विपर्यस्त किया गया है। बुद्धि का विशेषण माना है वहां विपरीत या विपर्यस्त और बाल का विशेषण माना है वहां विपर्ययवान् किया गया है।[14] इसका संस्कृत रूप व्यत्यस्त होना चाहिए। डॉ० पिसेल ने इसका मूल उच्चस्थ माना है।[15] देशीनाममाला में इसका अर्थ 'विपरीत मैथुन-क्रिया' किया गया है।[16] सम्भव है उस समय यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त रहा हो और बाद में इस अर्थ के एकांश को लेकर इसका अर्थ 'विपरीत' रूढ़ बन गया हो। इसका मूल उच्चस्थ की अपेक्षा

---

१. Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarādhyayana, p.33.

२. Sanskrit English Dictionary, p. 261.

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २६१ : तायते—त्रायते वा रक्षति दुर्गतेरात्मानम् एकेन्द्रियादिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायी—त्रायी वा।

४. उत्तराध्ययन, पृ० ३०७, ३०८।

५. उत्तराध्ययन १४।४१, ४६, ४६।

६. अनेकार्थ कोष, पृ० १३३० : आमिषं—फले सुन्दराकाररूपादौ सम्भोगे लोभलंचयोः।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१० : सहामिषेण—पिशितरूपेण वर्तत इति सामिषः।

८. पंचासक प्रकरण ६।३१।

९. बुद्धचर्या, पृ० १०२।

१०. इतिवुत्तक, पृ० ८६।

११. बुद्धचर्या, पृ० ४३२।

१२. बृहद्वृत्ति, पत्र २६१ : भोगाः—मनोज्ञाः शब्दादयः ते च ते आमिषं चात्यन्तगृद्धिहेतुतया भोगामिषम्।

१३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७२ : भुज्यंत इति भोगाः, यत् सामान्यं बहुभिः प्रार्थ्यते तद् आमिषं, भोगा एव आमिषं भोगामिषम्।

१४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७२ : वुच्चित्थोणि जस्स हिते निःश्रेयसे अहितानिःश्रेयससंज्ञा, विपरीतबुद्धिरित्यर्थः।

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६१ : तत्र तयोर्वा 'वुद्धिः' तत्प्राप्त्युपायविषया मतिः तस्यां विपर्ययवान् सा वा विपर्यस्ता यस्य स हितनिःश्रेयसबुद्धिविपर्यस्तः विपर्यस्तहितनिःश्रेयसबुद्धिर्वा, विपर्यस्तशब्दस्य तु परनिपातः प्राग्वत् यद्वा विपर्यस्ता हिते निःशेषा बुद्धिर्यस्य स तथा।

१५. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ४७६ : वोच्चत्थ (विपरीत रतिः देशी० ७, ५८)=उच्चस्थ जो उच्च से सम्बन्धित है।

१६. देशीनाममाला, ७।५८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यत्यस्त में ढूंढना अधिक उपयुक्त है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह वोच्चत्थ के अधिक निकट है।

## १०. मन्द या मूढ (मंदिए मूढे)

चूर्णि में मंद का अर्थ है—स्थूलबुद्धि वाला।[1] चूर्णिकार ने महाराष्ट्र में मंद के प्रचलित अर्थ का भी उल्लेख किया है। वहां उपचित—स्थूल शरीर वाले को भी 'मंद' कहते हैं और अपचित—कृश शरीर वाले को भी 'मंद' कहते हैं।[2]

मूढ शब्द के दो अर्थ हैं—कार्य और अकार्य के विवेक से विकल अथवा श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में आसक्त।[3]

वैकल्पिक रूप से बाल, मंद और मूढ—इन तीनों शब्दों को एकार्थक भी माना है।[4]

शान्त्याचार्य के अनुसार मंद वह है जो धर्म-कार्य में अनुद्यत है और मूढ वह है जो मोह से आकुल है।[5]

## ११. श्लेष्म में (खेलंमि)

चूर्णि में खेल का अर्थ 'चिक्कन' किया है।[6] बृहद्वृत्ति में खेल का अर्थ 'श्लेष्म' किया है।[7] किन्तु श्लेष्म इसकी संस्कृत छाया नहीं है।

जार्ल सरपेन्टियर ने इसका संस्कृत रूप—'क्ष्वेट'—'क्ष्वेद' दिया है।[8] 'क्ष्वेड' का भी एक अर्थ चिकनाई—श्लेष्म होता है। राजवार्तिक में इसका संस्कृत रूप 'क्ष्वेल' मिलता है।[9] यही सर्वाधिक उपयुक्त है।

## १२. अधीर पुरुषों द्वारा (अधीर पुरिसेहिं)

धीर का प्रतिपक्ष है—अधीर। देखें—७।२८, २९ का टिप्पण।

## १३. समुद्र को (अतरं)

चूर्णि में 'अतर' का अर्थ समुद्र है।[10] वृत्ति में इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जिसे तैरना अशक्य हो।

तात्पर्यार्थ में इसके तीन अर्थ हैं—(१) विषयगण (२) भव या संसार तथा (३) समुद्र।[11]

वृत्तिकार ने एक सुन्दर श्लोक उद्धृत कर प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य स्पष्ट किया है[12]—

***विषयगणः कापुरुषं करोति वशवर्तिनं न सत्पुरुषम्।***
***बध्नाति मशकं एव हि लूतातन्तुर्न मातंगम्॥***

इन्द्रियों के विषय दुर्बल व्यक्ति को ही अपने वश में कर सकते हैं। सत्पुरुष—सबल व्यक्तियों पर उनका कोई प्रभाव नहीं होता। मकड़ी का तन्तु मच्छर को बांध सकता है, पर हाथी को नहीं बांध सकता।

## १४. पापमयी दृष्टियों से (पावियाहिं दिट्ठीहिं)

शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—प्रापिकाभिर्दृष्टिभिः और पापिकाभिर्दृष्टिभिः। प्रथम का अर्थ है—'नरक को प्राप्त करने वाली दृष्टि।' दूसरे का अर्थ है—'पापमयी, परस्पर विरोधी आदि दोषों से दूषित दृष्टि' अथवा पाप-हेतुक दृष्टि।[13] वास्तविक अर्थ यही है। पापिकादृष्टि के आशय को स्पष्ट करते हुए उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। जैसे—

***"न हिंस्यात् सर्वभूतानि।"***
***"श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकामः।"***
***"ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत, इन्द्राय क्षत्रियं,***
***मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम्।"[14]***

तथा च—

***"यस्य बुद्धि र्न लिप्यते, हत्वा सर्वमिदं जगत्।***
***आकाशमिव पंकेन, न स पापेन लिप्यते॥"***

अर्थात् एक ओर वे कहते हैं—'सब जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए।' दूसरी ओर वे कहते हैं—ऐश्वर्य चाहने वाले पुरुष को वायव्यकोण में श्वेत बकरे की, ब्रह्म के लिए ब्राह्मण की, इन्द्र के लिए क्षत्रिय की, मरुत् के लिए वैश्य की और तप के लिए शूद्र की बलि कर देनी चाहिए। यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोण है।

जैसे आकाश पंक से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सारे संसार की हत्या करके भी जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह पाप से लिप्त नहीं होता। यह पाप-हेतुक दृष्टिकोण है।

## १५. उन आर्यों—तीर्थंकरों ने (आरिएहिं)

यहां आर्य शब्द तीर्थंकर के लिए प्रयुक्त है। 'जिन्होंने साधु-धर्म का प्रज्ञापन किया'—इस निगमात्मक वाक्यांश से 'आर्य' शब्द का प्रयोग तीर्थंकर के लिए भी अभिप्रेत है।

## १६. समित (सम्यक् प्रवृत्त) (समिए)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—शमित, शांत—किया है।[15] वृत्तिकार ने पांच समितियों से युक्त को 'समित' (जागरूकतापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला) बतलाया है।[16]

---

१. उत्तराध्ययन, चूर्णि, पृ० १७२ : जस्स थूला बुद्धि सो मंदबुद्धी भण्णइ।
२. वही, चूर्णि, पृ० १७२ : उवचए थूलसरीरो मरहट्ठाणं मंदो भन्नति, अवचए जो किससरीरो सोवि मंदो भण्णति।
३. वही, चूर्णि, पृ० १७२ : मूढो णाम कज्जाकज्जमयाणाणो, सोतिंदियविसदोदो (यवसट्ठो) वा।
४. वही, चूर्णि, पृ० १७२ : अहवा बालमंदमूढ। शक्रपुरन्दरवदेकार्थमेव।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र २६१ : मंदिए त्ति सूत्रत्वान् मन्दो—धर्मकार्यकरणं प्रति अनुद्यतः, मूढो—मोहाकुलितमानसः।
६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७२ : खेलेण चिक्कणेण।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र २६१ : 'खेले' श्लेष्मणि।
८. उत्तराध्ययन, पृ० ३०८।
९. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ३।३६, पृ० २०३ : क्ष्वेलो निष्ठीवनौषधिर्येषां ते क्ष्वेलौषधिप्राप्ताः।
१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७२ : अतरो णाम समुद्दो।
११. बृहद्वृत्ति, पत्र २६२ : अतरं - तरीतुमशक्यं विषयगणं भवं वा... अतरं---नीरधिम्।
१२. वही, पत्र २६२।
१३. वही, पत्र २६२ : 'पावियाहिं' ति प्रापयन्ति नरकमिति प्रापिकास्ताभिः, यद्वा—पापा एव पापिकास्ताभिः, परस्परविरोधादिदोषात् स्वरूपेणैव कुत्सिताभिः।
१४. वही, पत्र २६२, २६३।
१५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७३ : सम्यक् इतः शमितः, शान्त इत्यर्थः।
१६. बृहद्वृत्ति, पत्र २६३ : समितः---समितिमान् इति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### १७. दूर हो जाते हैं (निज्जाइ)

चूर्णि में इसका अर्थ—अधो गच्छति—नीचे जाता है किया है।[1] वृत्ति में इसका मूल अर्थ है—निकल जाना। वृत्तिकार ने पाठान्तर के रूप में देशी शब्द 'णिण्णाइं' को प्रस्तुत कर उसका अर्थ—अधो गच्छति—नीचे जाता है—किया है।[2]

### १८. (श्लोक १०)

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'हिंकार' के विषय की चर्चा की है—हिंकार का प्रयोग सन्निधान और कारण—इन दो अर्थों में होता है। कारण के अर्थ में 'हिंकार' का प्रयोग बहुवचन में ही होता है, जैसे—तेहिं कयं। सन्निधान के अर्थ में 'हिंकार' का प्रयोग एकवचन में ही होगा, जैसे—कहिं गतो आसि ? कहिं च ते सद्धा ?[3]

इस श्लोक में प्राणातिपातविरमण का स्पष्ट निर्देश है। मुनि मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा का प्रयोग न करे, फिर चाहे स्वयं को कितनी ही ताड़ना सहन करनी क्यों न पड़े।

उज्जयिनी नगरी में एक श्रावक था। उसका पुत्र पूर्णरूपेण संस्कारी था। एक बार चोरों ने उसका अपहरण कर मालव प्रदेश ले गए और वहां एक सूपकार के हाथों बेच डाला। सूपकार ने एक दिन उसे कहा—'बेटे ! तुम जंगल में जाओ और बटेरों को मार कर लाओ। मैं भोजन के लिए उन्हें पकाऊंगा।' वह बोला—'मैं एक श्रावक का पुत्र हूं। मैंने अहिंसा को समझा है। मैं ऐसा काम कभी नहीं कर सकता।' सूपकार ने कहा—'अब तुम मेरे द्वारा खरीद लिए गए हो। मेरी आज्ञा का पालन करना ही होगा।' लड़के ने आज्ञा मानने से इनकार कर दिया तब सूपकार बोला—'मेरी आज्ञा न मानने के भयंकर परिणाम भोगने होंगे। मैं तुम्हें हाथी के पैर तले कुचलवा दूंगा। मैं तुम्हारे सिर पर गीला चमड़ा बांधकर मार डालूंगा।' बालक ने कहा—'कुछ भी क्यों न हो, मैं प्राणवध का यह कार्य नहीं कर सकता।' सूपकार ने तब उसे हाथी के पैरों तले कुचलवा कर मार डाला।

अहिंसा के क्षेत्र में सत्याग्रह की यह महत्त्वपूर्ण घटना है।[4]

### १९. यात्रा (संयम-निर्वाह) के लिए भोजन की एषणा करे (जायाए घासमेसेज्जा)

संयम-जीवन की यात्रा के लिए भोजन की गवेषणा करे—इस प्रसंग में शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने एक श्लोक उद्धृत किया है—

***जह सगडक्खोवंगो कीरइ भरवहणकारणा णवरं।***
***तह गुणभरवहणत्थं आहारो बंभयारीणं॥***

—जैसे गाड़ी के पहिए की धुरी को भार-वहन की दृष्टि से चुपड़ा जाता है, वैसे ही गुणभार के वहन की दृष्टि से ब्रह्मचारी आहार करे, शरीर को पोषण दे।[5]

प्रस्तुत श्लोक में 'जायाए घासमेसेज्जा' से एषणाशुद्धि का और 'रसगिद्धे न सिया भिक्खाए' से परिभोगैषणाशुद्धि का विवेक दिया गया है।

इसी आगम में छह कारणों से आहार करने और छह कारणों से आहार न करने का उल्लेख है।[6]

### २०. (श्लोक १२)

**पंताणि चेव सेवेज्जा**—इसकी व्याख्या दो प्रकार से होती है—'प्रान्तानि च सेवेतैव' और 'प्रान्तानि चैव सेवेत।' गच्छवासी मुनि के लिए यह विधि है कि वह प्रान्त-भोजन मिले तो उसे खाए ही, किन्तु उसे फेंके नहीं। गच्छनिर्गत (जिनकल्पी) मुनि के लिए यह विधि है कि वह प्रान्त-भोजन ही करे। प्रान्त का अर्थ है—नीरस-भोजन। शीतपिण्ड (ठण्डा आहार) आदि उसके उदाहरण हैं।[7]

**जवणट्ठाए**—शान्त्याचार्य ने 'जवण' का अर्थ—यापन—किया है। गच्छवासी की अपेक्षा से 'जवणट्ठाए' का अर्थ होगा—यदि प्रान्त-आहार से जीवन-यापन होता है तो खाए, वायु बढ़ने से जीवन-यापन न होता हो तो न खाए। गच्छनिर्गत की अपेक्षा से इसका अर्थ होगा—जीवन-यापन के लिए प्रान्त-आहार करे।[8]

'जवण' का संस्कृत रूप 'यमन' होना चाहिए। प्राकृत में 'मकार' को 'वकार' आदेश भी होता है, जैसे—श्रमण के दो रूप बनते हैं—समणो, सवणो। प्रकरण की दृष्टि से यमन शब्द

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७३, १७४ : निज्जाइ नाम अधो गच्छति।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २६३ : नियांति—निर्गच्छंति, पठन्ति च—णिण्णाइं ति अत्र देशीपदत्वादधोगच्छंति।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७४ : हिंकारस्य सन्निधानत्वात् कारणत्वाच्च, तत्र कारणे बहुवचन एव उपयोगो हिंकरणस्य, तथा—तेहिं कयं, सन्निधाने तु एकवचन एव हिंकारोपयोगः, तं जहा—कहिं गतो आसि ? कहिं च ते सद्धा ?

४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७४।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६४।

५. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २६४।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२८।

६. उत्तराध्ययन, २६।३२, ३४।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र २६४, २६५ : 'प्रान्तानि' नीरसानि, अन्नपानादीनीति गम्यते, च शब्दादन्तानि च, एवाऽवधारणे, स च भिन्नक्रमः सोवेज्जा इत्यस्यान्तरं द्रष्टव्यः, ततश्च प्रान्तान्यन्तानि च सेवेतैव न त्वसारागीति परिष्ठापयेद्, गच्छनिर्गतापेक्षया वा प्रान्तानि चैव सवेत, तस्य तथाविधानामेव ग्रहणानुज्ञानात्, कानि पुनस्तानीत्याह—'सीयपिंडं' ति शीतलः पिण्डः—आहारः, शीतश्चासौ पिण्डश्च शीतपिण्डः।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ : सूचितं—यदि शरीरयापना भवति तदैव निषेवेत, यदि त्वतिवातोद्रेकादिना तद्यापनैव न स्यात्ततो न निषेवेतापि, गच्छगतापेक्षमेतत्, तन्निर्गतश्चैतान्येव यापनार्थमपि निषेवेत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक उपयुक्त लगता है। इन्द्रियों का यमन अथवा संयम करने के लिए प्रान्त भोजन का सेवन उपयुक्त है। जीवन-यापन के लिए इस भोजन की उपयुक्तता नहीं है।

**कुम्मासं**—शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'राजमाष'—बड़े उड़द किया है।[1] मोनियर मोनियरविलियम्स ने इसका अर्थ 'तरल और खट्टा पेय-भोजन, जो फलों के रस से अथवा उबले हुए चावलों से बनाया जाता है' किया है।[2]

अभिधानप्पदीपिका में कुल्माष व्यंजन को 'सूप' कहा है।[3] विशुद्धिमार्ग में इसी अर्थ को मान्य कर 'कुल्माष' का अर्थ 'दाल' किया है।[4]

सिंहलसन्नय (व्याख्या) में 'कुल्माष' शब्द का अर्थ—'कोमु' अर्थात् पिट्ठा लिखा गया है। 'कुल्माष' के अनेक अर्थ हैं—कुलथी (उड़द की जाति का एक मोटा अन्न), मूंग आदि द्विदल, कांजी। उस समय ओदन, कुल्माष, सत्तू आदि प्रचलित थे।[5] 'कुल्माष' दरिद्र लोगों का भोजन था। वह उड़द आदि द्विदल में थोड़ा जल, गुड़ या नमक और चिकनाई डालकर बनाया जाता था। देखें—दसवेआलियं, ५।१।६८ का टिप्पण।

**बुक्कसं**—चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—तीमन अथवा सुरा के लिए पसाए हुए आटे का शेष भाग।[6]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—मूंग, उड़द आदि की कणियों से निष्पन्न अन्न अथवा जिसका रस निकाल लिया गया हो, वैसा अन्न किया है।[7]

**पुलागं**—चूर्णिकार ने 'पुलाक' के दो अर्थ किए हैं—

१. वल्ल, चना आदि रूखे अनाज।

२. जो स्वभाव से नष्ट हो गया हो (जिसका बीज भाग नष्ट हो गया हो) वह अनाज।[8]

शान्त्याचार्य ने असार वल्ल, चना आदि को 'पुलाक' कहा है।[9]

महाभारत में भी 'पुलाक' शब्द का प्रयोग मिलता है। उसका अर्थ किया गया है—दाना जो भूमि के अन्दर की गर्मी से सूख जाता है।[10]

**मंथु**—इसका अर्थ है—बैर[11] का चूर्ण, सत्तू का चूर्ण।[12] यह बहुत रूखा होता है, इसलिये इसे प्रान्त-भोजन कहा है।[13] देखें—दसवेआलियं, ५।१।६८ का टिप्पण।

## २१. (श्लोक १३)

इस श्लोक में कहा गया है कि जो मुनि लक्षण-विद्या, स्वप्न-विद्या और अंग-विद्या का प्रयोग करते हैं, वे सही अर्थ में मुनि नहीं हैं।

नेमिचन्द्र ने इन तीनों के विषय में प्राचीन श्लोक और प्राकृत गाथाएं उद्धृत की हैं। उन्होंने लक्षणशास्त्र से सम्बद्ध अठारह श्लोक, स्वप्नशास्त्र की तेरह गाथाएं और अंगविद्या से संबद्ध सात गाथाएं दी हैं। उनकी तुलना डॉ० जे० व्ही० जेडोलियम द्वारा सम्पादित जगदेव की स्वप्न-चिंतामणि से की जा सकती है। जार्ल सरपेन्टियर ने इसकी विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है।[14] शान्त्याचार्य ने इसका विस्तृत वर्णन नहीं किया है, केवल एक-दो श्लोक उद्धृत किए हैं।

बौद्ध-ग्रन्थों में अंग-निमित्त, उत्पाद, स्वप्न, लक्षण आदि विद्याओं को 'तिर्यक्-विद्या' कहा है। इनसे आजीविका करने को मिथ्या-आजीविका कहा है। जो इनसे परे रहता है वही 'आजीव-परिशुद्धिशील' होता है।[15]

**लक्खणं**—शरीर के लक्षणों, चिन्हों को देखकर शुभ-अशुभ फल कहने वाले शास्त्र को 'लक्षण-शास्त्र' या 'सामुद्रिक-शास्त्र' कहते हैं।[16] कहा भी है—'सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्'—सभी (शुभाशुभ फल देने के लक्षण) जीवों में विद्यमान हैं। जैसे—

***अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे, त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु।***
***गतौ यानं स्वरे चाज्ञा, सर्वं सत्त्वे प्रतीष्ठितम्॥***[17]

अर्थात् अस्थि में धन, मांस में सुख, त्वचा में भोग, आंखों में स्त्रियां, गति में वाहन और स्वर में आज्ञा—इस प्रकार पुरुष में सब कुछ प्रतिष्ठित है।

यह शब्द इसी आगम के १५।७, २०।४५ में भी आया है।

**सुविणं**—स्वप्न शब्द यहां 'स्वप्न-शास्त्र' का वाचक है। स्वप्न के शुभाशुभ फल की सूचना देने वाले शास्त्र को 'स्वप्न-शास्त्र' कहा जाता है।[18]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ : 'कुल्माषाः' राजमाषाः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२६।

२. A Sanskrit English Dictionary, p. 296 : Sour gruel (prepared by the spontaneous fermentation of the juice of fruits or boiled rice.)

३. अभिधानप्पदीपिका, पृ० १०४८ : सूपो (कुम्मास व्यंजने)।

४. विशुद्धिमार्ग, १।११ पृ० ३०५।

५. विनयपिटक, ४।७।६।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५ : बुक्कसो णाम कुसणणिब्भाडणं च, अथवा सुरागलितसेसं बुक्कसो भवति।

७. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ : 'बुक्कसं' मुद्गमाषादि नखिकानिष्पन्नमन्नमतिनिपीडितरसं वा।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२६।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५ : पुलागं णाम निस्साए णिप्फाए धण्णादि यद्वा विनष्टं स्वभावतः तत् पुलागमुद्दिश्यते।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ : 'पुलाकम्' असारं वल्लचनकादि।

१०. महाभारत, शांतिपर्व १८१।७ :
'पुलाका इव धान्येषु, पुत्तिका इव पक्षिषु।
तद्विधास्ते मनुष्याणां, येषां धर्मो न कारणम्॥'

११. सुखबोधा, पत्र १२६ : 'मंथुं' बदरादि चूर्णम्।

१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५ : मथ्यते इति मंथुं सत्तचुन्नाति।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ : मन्थुं वा—बदरादि चूर्णम्, अतिरूक्षतया चास्य प्रान्तत्वम्।

१४. दि उत्तराध्ययन सूत्र ३०६-३१२।

१५. विशुद्धिमार्ग १।१, पृ० ३०, ३१।

१६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५ : लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं, सामुद्रवत्।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ : 'लक्षणं च' शुभाशुभ सूचकं पुरुषलक्षणादि, रूढितः तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि लक्षणम्।

१७. बृहद्वृत्ति, पत्र २६५।

१८. वही, पत्र २६५ : 'स्वप्नं चे' त्यत्रापि रूढितः स्वप्नस्य शुभाशुभफलसूचकं शास्त्रमेव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**अंगविज्जं**—शरीर के अवयवों के स्फुरण से शुभाशुभ बताने वाले शास्त्र को 'अंग-विद्या' कहा जाता है।[1]

चूर्णिकार ने अंग-विद्या का अर्थ 'आरोग्य-शास्त्र' किया है। किन्तु प्रकरण की दृष्टि से अंग-विचार अधिक संगत लगता है।[2]

शान्त्याचार्य ने 'अंगविज्जा' के तीन अर्थ किए हैं—

१. शरीर के अवयवों के स्फुरण से शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।
२. प्रणव, मायाबीज आदि वर्ण-विन्यास युक्त विद्या।
३. अंग अर्थात् अंगविद्या[3] में वर्णित भौम, अन्तरिक्ष आदि, उनके शुभ-अशुभ को बताने वाली विद्या, विद्यानुप्रवाद में प्रसिद्ध विद्याएं, जैसे—हलि ! हलि ! मातङ्गिनी स्वाहा।

## २२. अनियंत्रित रखकर (अणियमेत्ता)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ मन और इन्द्रियों का अनियमन किया है।[4]

'जीवियं अणियमेत्ता'—का 'जीविकां अनियम्य' भी हो सकता है। इसका अर्थ होगा—जीविका का अनियमन कर।

## २३. समाधियोग से (समाहिजोएहिं)

समाधि का अर्थ है—एकाग्रता। उससे आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, इसलिए वह योग है। दशवैकालिक आगम में समाधि के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं[5]—१. विनय समाधि, २. श्रुत समाधि, ३. तपः समाधि और ४. आचार समाधि।

वृत्ति में समाधियोग के दो अर्थ प्राप्त हैं[6]—

१. समाधि का अर्थ है—चित्त-स्वास्थ्य और योग का अर्थ है—मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति।
२. समाधि का अर्थ है—शुभ चित्त की एकाग्रता और योग का अर्थ है—प्रत्युप्रेक्षण आदि प्रवृत्तियां।

## २४. काम, भोग और रसों में आसक्त (कामभोगरसगिद्धा)

विषयासक्त मनुष्यों द्वारा काम्य इष्ट शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श को काम कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं—द्रव्यकाम और भावकाम। भावकाम के दो प्रकार हैं—इच्छाकाम और मदनकाम। अभिलाषारूप काम को इच्छाकाम और वेदोपयोग काम को मदनकाम कहते हैं।[7]

इन्द्रियों के विषयों के आसेवन को भोग कहते हैं। भोग काम का उत्तरवर्ती है। पहले कामना होती है, फिर भोग होता है। आगमों में रूप और शब्द को काम तथा स्पर्श, रस और गंध को भोग कहा है।[8]

चूर्णि में रस का अर्थ है[9]—तिक्त, मधुर आदि रस और वृत्ति में उसके दो अर्थ प्राप्त हैं[10]—अत्यन्त आसक्ति अथवा शृंगार आदि रस।

वृत्तिकार का कथन है कि रस भोग के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु अतिगृद्धि को निदर्शित करने के लिए उनका पृथक् ग्रहण किया है।[11]

देखें—५।५ का टिप्पण

## २५. असुरकाय में (आसुरे काए)

चूर्णि में इसके दो अर्थ किए गए हैं—असुर देवों के निकाय में अथवा रौद्र तिर्यक् योनि में।[12] बृहद्वृत्ति में केवल पहला ही अर्थ है।[13]

## २६. बहुत (बहु)

चूर्णि और वृत्ति में इसे संसार का विशेषण माना है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ चौरासी लाख भेद वाला संसार किया है। वृत्तिकार ने इस अर्थ को वैकल्पिक मानकर मुख्य अर्थ विपुल या विस्तीर्ण किया है।[14] हमने इसे क्रिया-विशेषण माना है।

## २७. बोधि (बोही)

बोधि का अर्थ है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ : अंगविद्यां च शिरःप्रभृत्यंगस्फुरणतः शुभाशुभसूचिकाम्।
२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५ : अंगविद्या नाम आरोग्यशास्त्रम्।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ : अंगविद्यां च शिरःप्रभृत्यंगस्फुरणतः शुभाशुभसूचिकां 'सिरफुरणे किर रज्जं' इत्यादिकां विद्यां प्रणवमायाबीजादिवर्ण्ण-विन्यासात्मिका वा, यद् वा—अंगानि—अंगविद्याव्यावर्णितानि भौमन्त-रीक्षादीनि विद्या 'हलि ! हलि मातंगिनी स्वाहा' इत्यादयो विद्यानुवादप्रसिद्धाः, ततश्च अंगानि च विद्याश्चांगविद्याः, प्राग्वद् वचनव्यत्ययः।
४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७७ : न नियमित्ता अनियमित्ता, इंदियनियमेण, नो-इंदियनियमेण।
५. दसवेआलियं, ६।४।३।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र २६६ : समाधियोगेहिं—समाधिः—चित्तस्वास्थ्यं तत्प्रधाना योगाः—शुभमनोवाक्कायव्यापाराः समाधियोगाः। यद् वा समाधिश्च—शुभचित्तैकाग्रता योगाश्च—पृथगेव प्रत्युपेक्षणादयो व्यापाराः समाधियोगाः।
७. विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं, २।१ का काम शब्द पर टिप्पण।
८. विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं, २।३ का भोग शब्द पर टिप्पण।
९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५ : रसारितक्तादयः।
१०. बृहद्वृत्ति, पत्र २६६ : रसाः—अत्यन्तासक्तिरूपाः.....यद् वा रसाः—पृथगेव शृङ्गारादयो वा।
११. वही, पत्र २६६ : भोगान्तर्गतत्वेऽपि चैषां (रसानां) पृथगुपादानमतिगृद्धि-विषयताख्यापनार्थम्।
१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५, १७६ : असुराणामयं आसुरः, ते हि (बहिया) रियसमणा असत्थभावणाभाविया असुरेसु वा उववज्जंति, अथवा असुरसदृशो भावः आसुरः, क्रूर इत्यर्थः, 'उववज्जंति आसुरे काए' त्ति रौद्रेषु तिर्यग्योनिकेषु उववज्जंति।
१३. बृहद्वृत्ति, पत्र २६६ : 'आसुरे' असुरसम्बधि-निकाये, असुरनिकाये इत्यर्थः।
१४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७६ : बहुंति चउरासीतियोनिलक्षभेदः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६६ : बहुशब्दस्य 'बहुप्टपे घृतं श्रेयः' इत्यादिषु विपुलवाचिनोऽपि दर्शनाद् बहुं—विपुलं विस्तीर्णमिति यावत्, बहुप्रकारं वा चतुरशीति योनिलक्षतया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक् चारित्रात्मक जिन-धर्म की प्राप्ति।[1]

स्थानांग में इसके तीन प्रकार बतलाए गए हैं—ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्रबोधि।[2]

## २८. दुष्पूर है यह आत्मा (दुप्पूरए इमे आया)

एक भिखारी भिक्षा मांगने निकला। वह घर-घर जाकर कहता, मेरा पात्र मोहरों से भर दो। किसी भी व्यक्ति में यह सामर्थ्य नहीं था कि वह उस पात्र को मोहरों से भर दे। यह बात राजा तक पहुंची। राजा ने उसे दरबार में बुलाकर कहा—मैं भरता हूं तेरे पात्र को मोहरों से। राजा ने खजानची को आदेश दिया। खजानची भिखारी के पात्र में मोहरें डालने लगा, पर यह क्या? वह पात्र भर ही नहीं रहा था। राजा को आश्चर्य हुआ। उसने भिखारी को पूछा। भिखारी बोला—महाराज! यह सामान्य पात्र नहीं है। यह मनुष्य की खोपड़ी है। यह कभी नहीं भरती। यह दुष्पूरक है।

## २९. (श्लोक १७)

प्रस्तुत श्लोक में 'लाभ से लोभ बढ़ता है' के प्रसंग में कपिल की कथा की ओर संकेत है। पूरे कथानक के लिए देखें—इसी अध्ययन का आमुख पृ० १६७, १६८।

वृत्तिकार ने प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'मास' (सं० माषः) शब्द का मान दिया है। उस समय ढाई रत्ती का एक माषा होता था।[3] आज छह या आठ रत्ती का एक माषा माना जाता है।

## ३०. ग्रन्थि (गंड)

यहां गंड का अर्थ—ग्रन्थि (गांठ) या फोड़ा हो सकता है। स्तन मांस की ग्रंथि[4] या फोड़े के समान[5] होते हैं, इसलिए उन्हें गंड कहा गया है।

## ३१. अनेक चित्तवाली (अणेगचित्तासु)

आचारांग का एक सूक्त है—अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे—पुरुष अनेक चित्तवाला होता है। प्रस्तुत श्लोक में स्त्री के लिए 'अणेगचित्ता' का प्रयोग हुआ है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने स्त्री की अनेकचित्तता के विषय में कुछ श्लोक प्रस्तुत किए हैं—

***कुर्वन्ति तावत् प्रथमं प्रियाणी, यावन्न जानन्ति नरं प्रसक्तम्।***
***ज्ञात्वा च तन्मन्मथपाशबद्धं, ग्रस्तामिषं मीनमिवोद्धरन्ति॥***

अथवा—

***अन्नं भणंति पुरतो, अन्नं पासेण वज्जमाणीओ।***
***अन्नं च तासि हियए, न जं खमं तं करेंति महिलाओ॥***

(उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० १७६)

***'अन्यस्यांके ललति विशदं चान्यमालिंग्य शेते,***
***अन्यं वाचा वपयति हसत्यन्यमन्यं च रौति।***
***अन्यं वेष्टि स्पृशति कशति श्रोर्णुते वान्यमिष्टं,***
***नार्यो नृत्यत्तडित इव धिक् चञ्चलाश्चालिकाश्च॥'***

(बृहद्वृत्ति, पत्र २६७)

***ह्यन्यद् वाक्यन्यत् कार्येप्यन्यत् पुरोऽथ पृष्ठेऽन्यत्।***
***अन्यत् तव मम चान्यत्, स्त्रीणां सर्वं किमप्यन्यत्॥***

(सुखबोधा पत्र १३२)

## ३२. राक्षसी की भांति भयावह स्त्रियों में (रक्खसीसु)

यहां स्त्री को राक्षसी कहा है। जिस प्रकार राक्षसी समस्त रक्त को पी जाती है और जीवन हर लेती है, वैसे ही स्त्रियां भी मनुष्य के ज्ञान आदि गुणों तथा जीवन और धन का सर्वनाश कर देती हैं।[6] राक्षसी शब्द लाक्षणिक है, अभिधा वाचक नहीं है। यह कामासक्ति या वासना का सूचक है। पुरुष के लिए स्त्री वासना के उद्दीपन का निमित्त बनती है, इस दृष्टि से उसे राक्षसी कहा है। स्त्री के लिए पुरुष वासना के उद्दीपन का निमित्त बनता है, इस दृष्टि से उसे राक्षस कहा जा सकता है।

इसी तथ्य को पुष्ट करने वाला श्लोक है—

***दर्शनात् हरते चित्तं, स्पर्शनात् हरते बलम्।***
***मैथुनात् हरते वित्तं, नारी प्रत्यक्षराक्षसी॥***

## ३३. दास की भांति नचाती हैं (खेल्लंति जहा व दासेहिं)

कामवासना के वशवर्ती व्यक्तियों को स्त्रियां दास की भांति आज्ञापित करती हैं। वे कहती हैं—आओ, जाओ, बैठो, यह मत करो, वह मत करो आदि-आदि। इस प्रकार वे उनको नचाती हैं।

सूत्रकृतांग (श्रुतस्कंध १ अध्ययन ४) में इसका विशद वर्णन मिलता है।

## ३४. अति मनोज्ञ (पेसलं)

चूर्णिकार ने 'प्रियं करोतीति पेशलः'—ऐसी व्युत्पत्ति कर इसका अर्थ प्रिय करने वाला किया है।[7]

वृत्तिकार ने इहलोक और परलोक के लिए हितकारी होने

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २६६ : 'बोधिः' प्रेत्य जिनधर्म्मावाप्तिः।

२. ठाणं, ३।१७६।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २६७ : द्वाभ्यां—द्विसंख्याभ्यां माषाभ्यां—पञ्चरत्ति-कामानाभ्याम्।

४. वैराग्य शतक, श्लोक २१ : स्तनौ मांस-ग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र २६७ : गण्डं—गडु चोपचितपिशितपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिरार्द्रतासम्भवाच्च तदुपमत्वाद् गण्डे कुचावुक्तौ।

६. वही, पत्र २६७ : राक्षस्य इव राक्षस्यः—स्त्रियः तासु, यथा ही राक्षस्यो रक्तसर्वस्वमपकर्षन्ति जीवितं च प्राणीनामपहरन्ति एवमेता अपि, तत्त्वतो ही ज्ञानादीन्येव जीवितं च अर्थश्च (सर्वस्वं) तानी च ताभिरपह्रीयन्त एव, तथा च हारिलः—

"वातोद्धूतो दहति हुतभुग्देहमेकं नराणां,
मत्तो नागः कुपितभुजगश्चैकदेहं तथैव।
ज्ञानं शीलं विनयविभवौदार्यविज्ञानदेहान्।
सर्वानर्थान् दहति वनिताऽऽमुष्मिकानैहिकांश्च।"

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण जो अति मनोज्ञ होता है, उसे पेशल माना है।[1]

### ३५. (श्लोक १९)

मनोवैज्ञानिक मानते हैं—जो व्यक्ति कामवासना की पूर्ति नहीं करता, उसमें चित्त-विक्षेप या पागलपन आ जाता है। इस मान्यता में सापेक्ष सचाई है। इस सचाई का जो दूसरा पहलू है, उसका प्रतिपादन प्रस्तुत श्लोक में हुआ है। कामवासना के प्रति आकर्षण हो और उसकी पूर्ति न हो तथा सुख-प्राप्ति का कोई दूसरा विकल्प सामने न हो, उस अवस्था में मनोवैज्ञानिक मान्यता में सचाई हो सकती है।

सूत्रकार का अभिमत है—जो कामवासना के प्रति विराग या अनाकर्षण करना चाहता है वह धर्म के प्रति अनुराग या आकर्षण उत्पन्न करे। जो व्यक्ति धर्म के प्रति अनुरक्त होकर उसमें अपनी आत्मा का नियोजन कर देता है, वह कामवासना पर विजय पा लेता है और विक्षिप्तता की स्थिति से भी बच जाता है। यह 'अनुरागात् विरागः' अथवा प्रतिपक्ष भावना का सिद्धान्त है। यही रूपान्तरण की प्रक्रिया का सूत्र है। जिस वस्तु या प्रवृत्ति से अनुराग हटाना हो, उससे अनुराग को हटाकर दूसरी अन्य वस्तु या प्रवृत्ति पर उसको स्थापित कर दो। उस नई वस्तु या प्रवृत्ति पर अनुराग होने लगेगा और पूर्व अनुराग विराग में बदल जाएगा।

### ३६. दोनों लोकों को आराध लिया (आराहिया दुवे लोग)

इस विषय में तीन पक्ष प्रचलित हैं—

१. केवल वर्तमान को सुधारना।

२. केवल परलोक को सुधारना।

३. इहलोक और परलोक—दोनों को सुधारना।

प्रस्तुत आगम में तीसरा पक्ष मान्य किया गया है। धर्म का आचरण करने वाले दोनों—इहलोक और परलोक—को सुधारते हैं। वे वर्तमान जीवन को पवित्र बनाते हैं और अगले जीवन को भी पवित्र बना लेते हैं।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २६८ : पेशलम्—इह परत्र चैकान्तहितत्वेनातिमनोज्ञम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# नवमं अज्झयणं

## नमिपव्वज्जा

# नौवां अध्ययन

## नमि-प्रव्रज्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

मुनि वही बनता है जिसे बोधि प्राप्त है। वे तीन प्रकार के होते हैं—स्वयं-बुद्ध, प्रत्येक-बुद्ध और बुद्ध-बोधित (१) जो स्वयं बोधि प्राप्त करते हैं, उन्हें स्वयं-बुद्ध कहा जाता है, (२) जो किसी एक घटना के निमित्त से बोधि प्राप्त करते हैं, उन्हें प्रत्येक-बुद्ध कहा जाता है और (३) जो बोधि-प्राप्त व्यक्तियों के उपदेश से बोधि-लाभ करते हैं, उन्हें बुद्ध-बोधित कहा जाता है।[1]

इस सूत्र में तीनों प्रकार के मुनियों का वर्णन है—(१) स्वयं-बुद्ध कपिल का आठवें अध्ययन में, (२) प्रत्येक-बुद्ध नमि का नौवें अध्ययन में और (३) बुद्ध-बोधित संजय का अठारहवें अध्ययन में।

इस अध्ययन का सम्बन्ध प्रत्येक-बुद्ध मुनि से है। करकण्डु, द्विमुख, नमि और नग्गति[2]—ये चारों समकालीन प्रत्येक-बुद्ध हैं। इन चारों प्रत्येक-बुद्धों के जीव पुष्पोत्तर नाम के विमान से एक साथ च्युत हुए थे। चारों ने एक साथ प्रव्रज्या ली, एक ही समय में प्रत्येक-बुद्ध हुए, एक ही समय में केवली बने और एक ही समय में सिद्ध हुए।[3]

करकण्डु कलिंग का राजा था, द्विमुख पंचाल का, नमि विदेह का और नग्गति गंधार का।

बूढ़ा बैल, इन्द्रध्वज, एक कंकण की नीरवता और मंजरी-विहीन आम्र वृक्ष—ये चारों घटनाएं क्रमशः चारों की बोधि-प्राप्ति की हेतु बनीं।

एक बार चारों प्रत्येक-बुद्ध विहार करते हुए क्षितिप्रतिष्ठित नगर में आए। वहां व्यन्तरदेव का एक मन्दिर था। उसके चार द्वार थे। करकण्डु पूर्व दिशा के द्वार से प्रविष्ट हुआ, द्विमुख दक्षिण द्वार से, नमि पश्चिम द्वार से और नग्गति उत्तर द्वार से। व्यन्तरदेव ने यह सोच कर कि मैं साधुओं को पीठ देकर कैसे बैठूं, अपना मुंह चारों ओर कर लिया।

करकण्डु खुजली से पीड़ित था। उसने एक कोमल कण्डूयन लिया और कान को खुजलाया। खुजला लेने के बाद उसने कण्डूयन को एक ओर छिपा लिया। द्विमुख ने यह देख लिया। उसने कहा—"मुने! अपना राज्य, राष्ट्र, पुर, अंतःपुर—आदि सब कुछ छोड़कर आप इस (कण्डूयन) का संचय क्यों करते हैं?" यह सुनते ही करकण्डु के उत्तर देने से पूर्व ही नमि ने कहा—"मुने! आपके राज्य में आपके अनेक कृत्यकर—आज्ञा पालने वाले थे। उनका कार्य था दण्ड देना और दूसरों का पराभव करना। इस कार्य को छोड़ आप मुनि बने। आज आप दूसरों के दोष क्यों देख रहे हैं?" यह सुन नग्गति ने कहा—"जो मोक्षार्थी हैं, जो आत्म-मुक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, जिन्होंने सब कुछ छोड़ दिया है, वे दूसरों की गर्हा कैसे करेंगे?" तब करकण्डु ने कहा—"मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त साधु और ब्रह्मचारी यदि अहित का निवारण करते हैं तो वह दोष नहीं है। नमि, द्विमुख और नग्गति ने जो कुछ कहा है, वह अहित-निवारण के लिए ही कहा है अतः दोष नहीं है।"[4]

ऋषिभाषित प्रकीर्णक में ४५ प्रत्येक-बुद्ध मुनियों का जीवन निबद्ध है। उनमें से बीस प्रत्येक-बुद्ध अरिष्टनेमि के तीर्थ में, पन्द्रह पार्श्वनाथ के तीर्थ में और दस महावीर के तीर्थ में हुए हैं।[5]

(१) अरिष्टनेमि के तीर्थ में होने वाले प्रत्येक-बुद्ध—

| | |
|---|---|
| १. नारद | ११. मंखलीपुत्र |
| २. वज्जियपुत्र | १२. याज्ञवल्क्य |
| ३. असित्त दविल | १३. मैत्रेय भयाली |
| ४. भारद्वाज अंगिरस | १४. बाहुक |
| ५. पुष्पसालपुत्र | १५. मधुरायण |
| ६. वल्कलचीरि | १६. सोरियायण |
| ७. कुर्मापुत्र | १७. विदु |
| ८. केतलीपुत्र | १८. वर्षण कृष्ण |
| ९. महाकाश्यप | १९. आरियायण |
| १०. तेतलिपुत्र | २०. उत्कलवादी |

---

१. नंदी, सूत्र ३०।

२. (क) सुखबोधा, पत्र १४४ : नग्गति का मूल नाम सिंहरथ था। वह कनकमाला (वैताढ्य पर्वत पर तोरणपुर नगर के राजा दृढ़शक्ति की पुत्री) से मिलने पर्वत पर जाया करता था। प्रायः वहीं पर रहने के कारण उसका नाम 'नग्गति' पड़ा।

(ख) कुम्भकार जातक में उसे तक्षशिला का राजा बताया गया है और नाम नग्गजी (नग्गजित्) दिया है।

३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २७० :
पुप्फुत्तराउ चवणं पव्वज्जा होइ एगसमएणं।
पत्तेयबुद्धकेवलि सिद्धि गया एगसमएणं।।

४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २७६-२७९ :
जया रज्जं च रट्ठं च, पुरं अंतेउरं तहा।
सव्वमेअं परिच्चज्ज, संचयं किं करेसिमं?।।
जया ते पेइए रज्जे, कया किच्चकरा वहू।
तेसिं किच्चं परिच्चज्ज, अज्ज किच्चकरो भवं।।
जया सव्वं परिच्चज्ज, मुक्खाय घडसी भवं।
परं गरहसी कीस?, अत्तनीसेसकारए।।
मुक्खमग्गं पवन्नेसु, साहूसु बंभयारिसु।
अहिअत्थं निवारितो, न दोसं वत्तुमरिहसि।।

५. इसिभासिय, पढमा संगहिणी, गाथा १ :
पत्तेयबुद्धमिसिणो, वीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।
पासस्स य पण्णरस, वीरस्स विलीणमोहस्स।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) पार्श्वनाथ के तीर्थ में होने वाले प्रत्येक-बुद्ध—

| | |
|---|---|
| १. गाहावती-पुत्र तरुण | ६. वर्द्धमान |
| २. दगभाल | १०. वायु |
| ३. रामपुत्र | ११. पार्श्व |
| ४. हरिगिरि | १२. पिंग |
| ५. अम्बड | १३. महाशाल-पुत्र अरुण |
| ६. मातंग | १४. ऋषिगिरि |
| ७. वारत्तक | १५. उद्दालक |
| ८. आर्द्रक | |

(३) महावीर के तीर्थ में होने वाले प्रत्येक-बुद्ध—

| | |
|---|---|
| १. वित्त तारायण | ६. इन्द्रनाग |
| २. श्रीगिरि | ७. सोम |
| ३. साति-पुत्र बुद्ध | ८. यम |
| ४. संजय | ९. वरुण |
| ५. द्वीपायन | १०. वैश्रमण |

करकण्डु आदि चार प्रत्येक-बुद्धों का उल्लेख इस तालिका में नहीं है।

विदेह राज्य में दो नमि हुए हैं। दोनों अपने-अपने राज्य का त्याग कर अनगार बने। एक तीर्थंकर हुए, दूसरे प्रत्येक-बुद्ध।[1] इस अध्ययन में दूसरे नमि (प्रत्येक-बुद्ध) की प्रव्रज्या का विवरण है। इसलिए इसका नाम नमि-प्रव्रज्या रखा गया है।

मालव देश के सुदर्शनपुर नगर में मणिरथ राजा राज्य करता था। उसका कनिष्ठ भ्राता युगबाहु था। मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी। मणिरथ ने कपटपूर्वक युगबाहु को मार डाला। मदनरेखा उस समय गर्भवती थी। उसने जंगल में एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु को मिथिला-नरेश पद्मरथ ले गया। उसका नाम 'नमि' रखा।

पद्मरथ के श्रमण बन जाने पर 'नमि' मिथिला का राजा बना। एक बार वह दाह-ज्वर से आक्रान्त हुआ। छह मास तक घोर वेदना रही। उपचार चला। दाह-ज्वर को शान्त करने के लिए रानियां स्वयं चन्दन घिसतीं। एक बार सभी रानियां चन्दन घिस रही थीं। उनके हाथों में पहिने हुए कंकण बज रहे थे। उनकी आवाज से 'नमि' खिन्न हो उठा। उसने कंकण उतार लेने को कहा। सभी रानियों ने सौभाग्य-चिन्हस्वरूप एक-एक कंकण को छोड़कर शेष सभी उतार दिए।

कुछ देर बाद राजा ने अपने मन्त्री से पूछा—"कंकण का शब्द सुनाई क्यों नहीं दे रहा है?" मंत्री ने कहा—"स्वामिन्! कंकणों के घर्षण का शब्द आपको अप्रिय लगा था इसलिए सभी रानियों ने एक-एक कंकण रखकर शेष सभी उतार दिए। एक कंकण से घर्षण नहीं होता और घर्षण के बिना शब्द कहां से उठे?"

राजा नमि प्रबुद्ध हो गया। उसने सोचा सुख अकेलेपन में है। जहां द्वन्द्व है—दो हैं—वहां दुःख है। विरक्त भाव से वह आगे बढ़ा। उसने प्रव्रजित होने का दृढ़ संकल्प किया।

अकस्मात् ही नमि को राज्य छोड़ प्रव्रजित होते देख उसकी परीक्षा के लिए इन्द्र ब्राह्मण का वेश बनाकर आता है, प्रणाम कर नमि को लुभाने के लिए अनेक प्रयास करता है और कर्त्तव्य-बोध देता है। राजा नमि ब्राह्मण को अध्यात्म की गहरी बात बताता है और संसार की असारता का बोध देता है।

इन्द्र ने कहा—"राजन्! हस्तगत रमणीय भोगों को छोड़कर परोक्ष काम-भोगों की वांछा करना क्या उचित कहा जा सकता है?" (श्लोक ५१) राजा ने कहा—"ब्राह्मण! काम त्याज्य हैं, वे शल्य हैं, विष के समान हैं, आशीविष सर्प के तुल्य हैं। काम-भोगों की इच्छा करने वाले उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं (श्लोक ५३)।"

'आत्म-विजय ही परम विजय है'—इस तथ्य को स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली है। इन्द्र ने कहा—"राजन्! जो कई राजा तुम्हारे सामने नहीं झुकते, पहले उन्हें वश में करो, फिर मुनि बनना (श्लोक ३२)।" नमि ने कहा—"जो मनुष्य दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो व्यक्ति एक आत्मा को जीतता है, यह उसकी परम विजय है। आत्मा के साथ युद्ध करना ही श्रेयस्कर है। दूसरों के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? आत्मा को आत्मा के द्वारा जीत कर मनुष्य सुख पाता है। पांच इन्द्रियां तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये दुर्जेय हैं। एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिये जाते हैं (श्लोक ३४-३६)।"

'संसार में न्याय-अन्याय का विवेक नहीं है'—इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति यहां हुई है। इन्द्र ने कहा—"राजन्! अभी तुम चोरों, लुटेरों, गिरहकटों का निग्रह कर नगर में शान्ति स्थापित करो, फिर मुनि बनना (श्लोक २८)।" नमि ने कहा—"ब्राह्मण! मनुष्यों द्वारा अनेक बार मिथ्या-दण्ड का प्रयोग किया जाता है। अपराध नहीं करने वाले पकड़े जाते हैं और अपराध करने वाले छूट जाते हैं (श्लोक ३०)।"

इस प्रकार इस अध्ययन में जीवन के समग्र दृष्टिकोण को उपस्थित किया गया है। दान से संयम श्रेष्ठ है (श्लोक ४०), अन्यान्य आश्रमों में संन्यास आश्रम श्रेष्ठ है (श्लोक ४४), सन्तोष त्याग में है, भोग में नहीं (श्लोक ४८-४९) आदि-आदि भावनाओं का स्फुट निर्देश है। जब इन्द्र ने देखा कि राजा नमि अपने संकल्प पर अडिग है, तब उसने अपना मूल रूप प्रकट

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २६७ :
दुन्निवि नमी विदेहा, रज्जाइं पयहिऊण पव्वइया।
एगो नमितित्थयरो, एगो पत्तेयबुद्धो अ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया और उसकी स्तुति कर चला गया।

प्रस्तुत अध्ययन में ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र राजा नमि को राज्यधर्म के विविध कर्त्तव्यों की याद दिलाता है और महर्षि नमि उन सारे कर्त्तव्यों के प्रतिपक्ष में आत्मधर्म की बात करते हैं। इस प्रकार इस अध्ययन में राज्यधर्म और आत्मधर्म के अनेक बिन्दु अभिव्यक्त हुए हैं—

### राज्यधर्म

★ निजी संपत्ति या स्वजनों की रक्षा (श्लोक १२)।
★ देश-रक्षा के लिए प्राकार आदि का निर्माण (श्लोक १८)।
★ प्रासाद, वर्धमानगृहों आदि का निर्माण (श्लोक २४)।
★ अपराधी व्यक्तियों का निग्रह (श्लोक २८)।
★ राजाओं पर विजय (श्लोक ३२)।
★ यज्ञ, ब्रह्मभोज आदि से कीर्ति का अर्जन (श्लोक ३६)।
★ कोशागार का संवर्धन (श्लोक ४६)।

### आत्मधर्म

★ प्रिय-अप्रिय कुछ भी नहीं। मैं अकेला हूं—यही यथार्थ बोध। (श्लोक १५-१६)
★ सुरक्षा का साधन—संयम। शारीरिक और मानसिक दुःखों से रक्षा ही यथार्थ रक्षा। (श्लोक २०-२२)
★ शाश्वत स्थान मोक्ष के प्रति जागरूकता। (श्लोक २६-२७)
★ अपनी दुष्प्रवृत्ति का निग्रह। (श्लोक ३०)
★ इन्द्रिय-विजय, आत्म-विजय। (श्लोक ३४-३६)
★ संयम ही श्रेयस्कर। (श्लोक ४०)
★ संन्यास की श्रेष्ठता। (श्लोक ४४)
★ संतोष का संवर्धन। लोभ को अलोभ से जीतना। (श्लोक ४८-४६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# नवमं अज्झयणं : नौवां अध्ययन
## नमिपव्वज्जा : नमि-प्रव्रज्या

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. चइऊण देवलोगाओ<br>उववन्नो माणुसंमि लोगंमि।<br>उवसंतमोहणिज्जो<br>सरई पोराणियं जाइं।। | *च्युत्वा देवलोकात्*<br>*उपपन्नो मानुषे लोके।*<br>*उपशान्तमोहनीयः*<br>*स्मरति पौराणिकीं जातिम्।।* | नमिराज का जीव देवलोक से च्युत होकर मनुष्य-लोक में उत्पन्न हुआ।[1] उसका मोह उपशान्त था[2] जिससे उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हुई।[3] |
| २. जाइं सरित्तु भयवं<br>सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे।<br>पुत्तं ठवेत्तु रज्जे<br>अभिणिक्खमई नमी राया।। | *जातिं स्मृत्वा भगवान्*<br>*स्वसंबुद्धोऽनुत्तरे धर्मे।*<br>*पुत्रं स्थापयित्वा राज्ये*<br>*अभिनिष्क्रामति नमिः राजा।।* | भगवान्[4] नमिराज पूर्व-जन्म की स्मृति पाकर अनुत्तर धर्म की आराधना के लिए स्वयं-संबुद्ध हुआ[5] और राज्य का भार पुत्र के कंधों पर डालकर अभिनिष्क्रमण किया—प्रव्रज्या के लिए चल पड़ा। |
| ३. से देवलोगसरिसे<br>अंतेउरवरगओ वरे भोए।<br>भुंजित्तु नमी राया<br>बुद्धो भोगे परिच्चयई।। | *स देवलोकसदृशान्*<br>*वरान्तःपुरगतो वरान् भोगान्।*<br>*भुक्त्वा नमिः राजा*<br>*बुद्धो भोगान् परित्यजति।।* | उस नमिराज ने प्रवर अन्तःपुर में रहकर देवलोक के भोगों के समान प्रधान भोगों का भोग किया और संबुद्ध होने के पश्चात् उन भोगों को छोड़ दिया। |
| ४. मिहिलं सपुरजणवयं<br>बलमोरोहं च परियणं सव्वं।<br>चिच्चा अभिनिक्खंतो<br>एगंतमहिट्ठिओ भयवं।। | *मिथिलां सपुरजनपदां*<br>*बलमवरोधं च परिजनं सर्वम्।*<br>*त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तः*<br>*एकान्तमधिष्ठितो भगवान्।।* | भगवान् नमिराज ने नगर और जनपद सहित मिथिला नगरी, सेना[6], रनिवास और सब परिजनों को छोड़ कर अभिनिष्क्रमण किया और एकान्तवासी या एकत्व अधिष्ठित[7] हो गया। |
| ५. कोलाहलगभूयं<br>आसी मिहिलाए पव्वयंतंमि।<br>तइया रायरिसिंमि<br>नमिंमि अभिणिक्खमंतंमि।। | *कोलाहलकभूतम्*<br>*आसीन्मिथिलायां प्रव्रजति।*<br>*तदा राजर्षौ*<br>*नमौ अभिनिष्क्रामति।।* | जब राजर्षि नमि[8] अभिनिष्क्रमण कर रहा था, प्रव्रजित हो रहा था, उस समय मिथिला में सब जगह कोलाहल जैसा होने लगा।[9] |
| ६. अब्भुट्ठियं रायरिसिं<br>पव्वज्जाठाणमुत्तमं।<br>सक्को माहणरूवेण<br>इमं वयणमब्बवी।। | *अभ्युत्थितं राजर्षिं*<br>*प्रव्रज्यास्थानमुत्तमम्।*<br>*शक्रो ब्राह्मणरूपेण*<br>*इदं वचनमब्रवीत्।।* | उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए उद्यत हुए राजर्षि से देवेन्द्र ने ब्राह्मण[10] के रूप में आकर इस प्रकार कहा— |
| ७. किण्णु भो! अज्ज मिहिलाए<br>कोलाहलगसंकुला।<br>सुव्वंति दारुणा सद्दा<br>पासाएसु गिहेसु य?।। | *किन्नु भो! अद्य मिथिलायां*<br>*कोलाहलकसंकुलाः।*<br>*श्रूयन्ते दारुणाः शब्दाः*<br>*प्रासादेषु गृहेषु च?।।* | हे राजर्षि! आज मिथिला के प्रासादों और गृहों में[11] कोलाहल से परिपूर्ण दारुण[12] शब्द क्यों सुनाई दे रहे हैं? |
| ८. एयमट्ठं निसामित्ता<br>हेऊकारणचोइओ।<br>तओ नमी रायरिसी<br>देविंदं इणमब्बवी।। | *एतमर्थं निशम्य*<br>*हेतुकारणचोदितः।*<br>*ततो नमिः राजर्षिः*<br>*देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।* | यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से[13] प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा— |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. मिहिलाए चेइए वच्छे
सीयच्छाए मणोरमे।
पत्तपुप्फफलोवेए
बहूणं बहुगुणे सया।।

*मिथिलायां चैत्यो वृक्षः*
*शीतच्छायो मनोरमः।*
*पत्रपुष्पफलोपेतः*
*बहूनां बहुगुणः सदा।।*

मिथिला में एक चैत्य-वृक्ष[१४] था, शीतल छाया वाला, मनोरम, पत्र, पुष्प और फलों से लदा हुआ और बहुत पक्षियों के लिए सदा उपकारी।[१५]

१०. वाएण हीरमाणंमि
चेइयंमि मणोरमे।
दुहिया असरणा अत्ता
एए कंदंति भो! खगा।।

*वातेन ह्रियमाणे*
*चैत्ये मनोरमे।*
*दुःखिता अशरणा आर्ताः*
*एते क्रन्दन्ति भोः! खगाः।।*

एक दिन हवा चली और उस मनोरम चैत्य-वृक्ष को उखाड़ कर फेंक दिया। हे ब्राह्मण! उसके आश्रित रहने वाले ये पक्षी दुःखी, अशरण और पीड़ित होकर आक्रन्दन कर रहे हैं।[१६]

११. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइयो।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिं राजर्षिं*
*देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।*

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

१२. एस अग्गी य वाऊ य
एयं डज्झइ मंदिरं।
भयवं! अंतेउरं तेणं
कीस णं नावपेक्खसि?।।

*एषोऽग्निश्च वायुश्च*
*एतद् दह्यते मन्दिरम्।*
*भगवन्! अन्तःपुरं तेन*
*कस्मान्नावप्रेक्षसे?!!*

यह अग्नि है और यह वायु है। यह आपका मन्दिर[१७] जल रहा है। भगवन्! आप अपने रनिवास की ओर[१८] क्यों नहीं देखते?

१३. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइयो।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी।।

*एतदर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिः राजर्षिः*
*देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।*

यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

१४. सुहं वसामो जीवामो
जेसिं मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए
न मे डज्झइ किंचण।।

*सुखं वसामो जीवामः*
*येषां नः नास्ति किंचन।*
*मिथिलायां दह्यमानायां*
*न मे दह्यते किंचन।।*

वे हम लोग, जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है, सुखपूर्वक रहते और सुख से जीते हैं। मिथिला जल रही है उसमें मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।[१९]

१५. चत्तपुत्तकलत्तस्स
निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि
अप्पियं पि न विज्जए।।

*त्यक्तपुत्रकलत्रस्य*
*निर्व्यापारस्य भिक्षोः।*
*प्रियं न विद्यते किंचित्*
*अप्रियमपि न विद्यते।।*

पुत्र और स्त्रियों से मुक्त तथा व्यवसाय से निवृत्त[२०] भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय भी नहीं होती और अप्रिय भी नहीं होती।

१६. बहुं खु मुणिणो भद्दं
अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स
एगंतमणुपस्सओ।।

*बहु खलु मुनेर्भद्रं*
*अनगारस्य भिक्षोः।*
*सर्वतो विप्रमुक्तस्य*
*एकान्तमनुपश्यतः।।*

सब बन्धनों से मुक्त, 'मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं'—इस प्रकार एकत्व-दर्शी[२१], गृह-त्यागी एवं तपस्वी भिक्षु को विपुल सुख होता है।

१७. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिं राजर्षिं*
*देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।*

इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८.पागारं कारइत्ताणं
गोपुरट्टालगाणि च।
उस्सूलगसयग्घीओ
तओ गच्छसि खत्तिया!।।

*प्राकारं कारयित्वा*
*गोपुराट्टालकानि च।*
*अवचूलक-शतघ्नीः*
*ततो गच्छ क्षत्रिय!।।*

हे क्षत्रिय! अभी तुम परकोटा[२३], बुर्ज वाले नगर-द्वार[२४], खाई और शतघ्नी[२५] (एक बार में सौ व्यक्तियों का संहार करने वाला यंत्र) बनवाओ, फिर मुनि बन जाना।

१९.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिः राजर्षिः*
*देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।*

यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

२०.सद्धं नगरं किच्चा
तवसंवरमग्गलं।
खंतिं निउणपागारं
तिगुत्तं दुप्पधंसयं।।

*श्रद्धां नगरं कृत्वा*
*तपःसंवरमर्गलाम्।*
*क्षान्तिं निपुणप्राकारं*
*त्रिगुप्तं दुष्प्रधर्षकम्।।*

श्रद्धा को नगर, तप और संयम को अर्गला[२५], क्षमा या सहिष्णुता को त्रिगुप्त—बुर्ज, खाई और शतघ्नी स्थानीय मन, वचन और काय-गुप्ति से सुरक्षित[२६], दुर्जेय और सुरक्षा-निपुण परकोटा बना,

२१.धणुं परक्कमं किच्चा
जीवं च इरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा
सच्चेण पलिमंथए।।

*धनुः पराक्रमं कृत्वा*
*जीवां चेर्यां सदा।*
*धृतिं च केतनं कृत्वा*
*सत्येन परिमथ्नीयात्।।*

पराक्रम को धनुष, ईर्यापथ[२७] को उसकी डोर और धृति को उसकी मूठ[२८] बना उसे सत्य से बांधे।

२२.तवनारायजुत्तेण
भेत्तूणं कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो
भवाओ परिमुच्चए।।

*तपोनाराचयुक्तेन*
*भित्वा कर्मकंचुकम्।*
*मुनिर्विगतसङ्ग्रामः*
*भवात् परिमुच्यते।।*

तप-रूपी लोह-बाण से युक्त धनुष के द्वारा कर्म-रूपी कवच को भेद डाले। इस प्रकार संग्राम का अन्त कर मुनि संसार से मुक्त हो जाता है।

२३.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिं राजर्षिं*
*देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।*

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२४.पासाए कारइत्ताणं
वद्धमाणगिहाणि य।
बालग्गपोइयाओ य
तओ गच्छसि खत्तिया!।।

*प्रासादान् कारयित्वा*
*वर्धमानगृहाणि च।*
*'वालग्गपोइयाओ' च*
*ततो गच्छ क्षत्रिय!।।*

हे क्षत्रिय! अभी तुम प्रासाद, वर्धमान-गृह[२९] और चन्द्रशाला[३०] बनवाओ, फिर मुनि बन जाना।

२५.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइयो।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिः राजर्षिः*
*देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।*

यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

२६.संसयं खलु सो कुणई
जो मग्गे कुणई घरं।
जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा
तत्थ कुव्वेज्ज सासयं।।

*संशयं खलु स कुरुते*
*यो मार्गे कुरुते गृहम्।*
*यत्रैव गन्तुमिच्छेत्*
*तत्र कुर्वीत शाश्वतम्।।*

वह संदिग्ध ही बना रहता है जो मार्ग में घर बनाता है। (न जाने कब उसे छोड़ कर जाना पड़े)। अपना घर वहीं बनाना चाहिए जहां जाने की इच्छा हो—जहां जाने पर फिर कहीं जाना न हो।[३१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिं राजर्षिं*
*देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।*

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२८.आमोसे लोमहारे य
गंठिभेए य तक्करे।
नगरस्स खेमं काऊणं
तओ गच्छसि खत्तिया!।।

*आमोषान् लोमहारान्*
*ग्रन्थिभेदांश्च तस्करान्।*
*नगरस्य क्षेमं कृत्वा*
*ततो गच्छ क्षत्रिय!।।*

हे क्षत्रिय! अभी तुम बटमारों, प्राण-हरण करने वाले लुटेरों, गिरहकटों और चोरों का निग्रह कर नगर में शान्ति स्थापित करो, फिर मुनि बन जाना।[३२]

२९.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिः राजर्षिः*
*देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।*

यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

३०.असइं तु मणुस्सेहिं
मिच्छा दंडो पजुंजई।
अकारिणोऽत्थ बज्झंति
मुच्चई कारओ जणो।।

*असकृत्तु मनुष्यैः*
*मिथ्यादण्डः प्रयुज्यते।*
*अकारिणोऽत्र बध्यन्ते*
*मुच्यते कारको जनः।।*

मनुष्यों द्वारा अनेक बार मिथ्यादण्ड का प्रयोग किया जाता है। अपराध नहीं करने वाले यहां पकड़े जाते हैं और अपराध करने वाला छूट जाता है।[३३]

३१.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिं राजर्षिं*
*देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।*

इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

३२.जे केइ पत्थिवा तुब्भं
नानमंति नराहिवा!।
वसे ते ठावइत्ताणं
तओ गच्छसि खत्तिया!।।

*ये केचित् पार्थिवास्तुभ्यं*
*नानमन्ति नराधिप!।*
*वशे तान् स्थापयित्वा*
*ततो गच्छ क्षत्रिय!।।*

हे नराधिप क्षत्रिय! जो कई राजा तुम्हारे सामने नहीं झुकते उन्हें वश में करो, फिर मुनि बन जाना।

३३.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिः राजर्षिः*
*देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।*

यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

३४.जो सहस्सं सहस्साणं
संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं
एस से परमो जओ।।

*यः सहस्रं सहस्राणां*
*सङ्ग्रामे दुर्जये जयेत्।*
*एकं जयेदात्मानं*
*एष तस्य परमो जयः।।*

जो पुरुष दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा वह एक अपने आपको जीतता है, यह उसकी परम विजय है।

३५.अप्पाणमेव जुज्झाहि
किं ते जुज्झेण बज्झओ?।
अप्पाणमेव अप्पाणं
जइत्ता सुहमेहए।।

*आत्मनैव युद्धयस्व*
*किं ते युद्धेन बाह्यतः।*
*आत्मनैव आत्मानं*
*जित्वा सुखमेधते।।*

आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी युद्ध से तुझे क्या लाभ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत कर मनुष्य सुख पाता है।[३४]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६.पंचिंदियाणि कोहं
माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं
सव्वं अप्पे जिए जियं।।

*पंचेन्द्रियाणि क्रोधः*
*मानो माया तथैव लोभश्च।*
*दुर्जयश्चैव आत्मा*
*सर्वमात्मनि जिते जितम्।।*

पांच इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये दुर्जेय हैं। एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिये जाते हैं।

३७.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिं राजर्षिं*
*देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।*

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

३८.जइत्ता विउले जन्ने
भोइत्ता समणमाहणे।
दच्चा भोच्चा य जट्ठा य
तओ गच्छसि खत्तिया!।।

*इष्ट्वा विपुलान् यज्ञान्*
*भोजयित्वा श्रमण-ब्राह्मणान्।*
*दत्वा भुक्त्वा च इष्ट्वा च*
*ततो गच्छ क्षत्रिय!।।*

हे क्षत्रिय! अभी तुम प्रचुर यज्ञ करो, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन कराओ, दान दो, भोग भोगो और यज्ञ करो, फिर मुनि बन जाना।[३५]

३९.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिः राजर्षिः*
*देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।*

यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४०.जो सहस्सं सहस्साणं
मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ
अदिंतस्स वि किंचण।।

*यः सहस्रं सहस्राणां*
*मासे मासे गाः दद्यात्।*
*तस्यापि संयमः श्रेयान्*
*अददतोऽपि किंचन।।*

जो मनुष्य प्रतिमास दस लाख गायों का दान देता है उसके लिए भी संयम ही श्रेय है, भले फिर वह कुछ भी न दे।[३६]

४१.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिं राजर्षिं*
*देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।*

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

४२.घोरासमं चइत्ताणं
अन्नं पत्थेसि आसमं।
इहेव पोसहरओ
भवाहि मणुयाहिवा!।।

*घोराश्रमं त्यक्त्वा*
*अन्यं प्रार्थयसे आश्रमम्।*
*इहैव पौषधरतः*
*भव मनुजाधिप!।।*

हे मनुजाधिप! तुम घोराश्रम (गार्हस्थ्य) को छोड़ कर दूसरे आश्रम (संन्यास) की इच्छा करते हो, यह उचित नहीं। तुम यहीं रह कर पौषध में रत[३७] होओ—अणुव्रत, तप आदि का पालन करो।[३८]

४३.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिः राजर्षिः*
*देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।*

यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४४.मासे मासे तु जो बालो
कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स
कलं अग्घइ सोलसिं।।

*मासे मासे तु यो बालः*
*कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते।*
*न स स्वाख्यातधर्मणः*
*कलामर्हति षोडशीम्।।*

कोई बाल (गृहस्थ) मास-मास की तपस्या के अनन्तर कुश की नोक पर टिके उतना सा आहार[३९] करे तो भी वह सु-आख्यात धर्म[४०]—चारित्र धर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता।[४१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४५.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिं राजर्षिं*
*देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।*

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

४६.हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं
कंसं दूसं च वाहणं।
कोसं वड्ढावइत्ताणं
तओ गच्छसि खत्तिया!।।

*हिरण्यं सुवर्णं मणिमुक्तां*
*कांस्यं दूष्यं च वाहनम्।*
*कोशं वर्धयित्वा*
*ततो गच्छ क्षत्रिय!।।*

हे क्षत्रिय! अभी तुम चांदी, सोना[१२], मणि, मोती, कांसे के बर्तन, वस्त्र, वाहन और भण्डार की वृद्धि करो, फिर मुनि बन जाना।

४७.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिः राजर्षिः*
*देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।*

यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४८.सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि
इच्छा उ आगाससमा अणंतिया।।

*सुवर्णरूप्यस्य तु पर्वता भवेयुः*
*स्यात खलु कैलाससमा असंख्यकाः।*
*नरस्य लुब्धस्य न तैः किंचित्*
*इच्छा तु आकाशसमा अनन्तिका।।*

कदाचित् सोने और चांदी के कैलास के समान असंख्य पर्वत हो जाएं, तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

४९.पुढवी साली जवा चेव
हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स
इइ विज्जा तवं चरे।।

*पृथिवी शालिर्यवाश्चैव*
*हिरण्यं पशुभिः सह।*
*प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै*
*इति विदित्वा तपश्चरेत्।।*

पृथ्वी, चावल, जौ, सोना और पशु—ये सब एक की इच्छापूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं हैं[१३], यह जान कर तप का आचरण करे।

५०.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिं राजर्षिं*
*देवेन्द्र इदमब्रवीत्।।*

यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

५१.अच्छेरगमब्भुदए
भोए चयसि पत्थिवा!।
असंते कामे पत्थेसि
संकप्पेण विहन्नसि।।

*आश्चर्यमभ्युदये*
*भोगांस्त्यजसि पार्थिव!।*
*असतः कामान् प्रार्थयसे*
*संकल्पेन विहन्यसे।।*

हे पार्थिव! आश्चर्य है कि तुम इस अभ्युदय-काल में सहज प्राप्त भोगों को त्याग रहे हो और अप्राप्त काम-भोगों की इच्छा कर रहे हो—इस प्रकार तुम अपने संकल्प से ही प्रताड़ित हो रहे हो।[१४]

५२.एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी।।

*एतमर्थं निशम्य*
*हेतुकारणचोदितः।*
*ततो नमिः राजर्षिः*
*देवेन्द्रमिदमब्रवीत्।।*

यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

५३.सल्लं कामा विसं कामा
कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा
अकामा जंति दोग्गइं।।

*शल्यं कामा विषं कामाः*
*कामा आशीविषोपमाः।*
*कामान् प्रार्थयमाना*
*अकामा यान्ति दुर्गतिम्।।*

काम-भोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष सर्प के तुल्य हैं। काम-भोगों की इच्छा करने वाले[१५], उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।[१६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५४.अहे वयइ कोहेणं
माणेणं अहमा गई।
माया गईपडिग्घाओ
लोभाओ दुहओ भयं।।

*अधो व्रजति क्रोधेन*
*मानेनाधमा गतिः।*
*मायया गतिप्रतिघातः*
*लोभाद् द्विधा भयम्।।*

मनुष्य क्रोध से अधोगति में जाता है। मान से अधम गति होती है। माया से सुगति का विनाश होता है। लोभ से दोनों प्रकार का—ऐहिक और पारलौकिक—भय होता है।[८७]

५५.अवउज्झिऊण माहणरूवं
विउव्विऊण इंदत्तं।
वंदइ अभित्थुणंतो
इमाहि महुराहिं वग्गूहिं।।

*अपोज्झ्य ब्राह्मण-रूपं*
*विकृत्येन्द्रत्वम्।*
*वन्दतेऽभिष्टुवन्*
*आभिर्मधुराभिर्वाग्भिः।।*

देवेन्द्र ने ब्राह्मण का रूप छोड़, इन्द्र रूप में प्रकट हो नमि राजर्षि को वन्दना की और वह इन मधुर शब्दों में स्तुति करने लगा—

५६.अहो! ते निज्जिओ कोहो
अहो! ते माणो पराजिओ।
अहो! ते निरक्किया माया
अहो! ते लोभो वसीकओ।।

*अहो! त्वया निर्जितः क्रोधः*
*अहो! त्वया मानः पराजितः।*
*अहो! त्वया निराकृता माया*
*अहो! त्वया लोभो वशीकृतः।।*

हे राजर्षि! आश्चर्य है तुमने क्रोध को जीता है! आश्चर्य है तुमने मान को पराजित किया है! आश्चर्य है तुमने माया को दूर किया है! आश्चर्य है तुमने लोभ को वश में किया है!

५७.अहो! ते अज्जवं साहु
अहो! ते साहु मद्दवं।
अहो! ते उत्तमा खंती
अहो! ते मुत्ति उत्तमा।।

*अहो! ते आर्जवं साधु*
*अहो! ते साधु मार्दवम्।*
*अहो! ते उत्तमा क्षान्तिः*
*अहो! ते मुक्तिरुत्तमा।।*

अहो! उत्तम है तुम्हारा आर्जव। अहो! उत्तम है तुम्हारा मार्दव। अहो! उत्तम है तुम्हारी क्षमा या सहिष्णुता। अहो! उत्तम है तुम्हारी निर्लोभता।

५८.इहं सि उत्तमो भंते!
पेच्चा होहिसि उत्तमो।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं
सिद्धिं गच्छसि नीरओ।।

*इहास्युत्तमो भदन्त!*
*प्रेत्य भविष्यस्युत्तमः।*
*लोकोत्तमोत्तमं स्थानं*
*सिद्धिं गच्छसि नीरजाः।।*

भगवन्! तुम इस लोक में भी उत्तम हो और परलोक में भी उत्तम होओगे। तुम कर्म-रज से मुक्त होकर लोक के सर्वोत्तम स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करोगे।

५९.एवं अभित्थुणंतो
रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए।
पयाहिणं करेंतो
पुणो पुणो वंदई सक्को।।

*एवमभिष्टुवन्*
*राजर्षिमुत्तमया श्रद्धया।*
*प्रदक्षिणां कुर्वन्*
*पुनः पुनर्वन्दते शक्रः।।*

इस प्रकार इन्द्र ने उत्तम श्रद्धा से राजर्षि की स्तुति की और प्रदक्षिणा करते हुए बार-बार वन्दना की।

६०.तो वंदिऊण पाए
चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स।
आगासेणुप्पइओ
ललियचवलकुंडलतिरीडी।।

*ततो वन्दित्वा पादौ*
*चक्रांकुशलक्षणौ मुनिवरस्य।*
*आकाशेनोत्पतितः*
*ललितचपलकुण्डलकिरीटी।।*

इसके पश्चात् मुनिवर नमि के चक्र और अंकुश से चिन्हित चरणों में वन्दना कर ललित और चपल कुण्डल एवं मुकुट को धारण करने वाला[८८] इन्द्र आकाश-मार्ग से चला गया।

६१.नमी नमेइ अप्पाणं
सक्खं सक्केण चोइओ।
चइऊण गेहं वइदेही
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ।।

*नमिर्नमयत्यात्मानं*
*साक्षाच्छक्रेण चोदितः।*
*त्यक्त्वा गृहं वैदेही*
*श्रामण्ये पर्युपस्थितः।।*

नमि राजर्षि ने अपनी आत्मा को नमा लिया[८९]—संयम के प्रति समर्पित कर दिया। वे साक्षात् देवेन्द्र के द्वारा प्रेरित होने पर भी धर्म से विचलित नहीं हुए और गृह और वैदेही[९०] (मिथिला) को त्याग कर श्रामण्य में उपस्थित हो गये।

६२.एवं करेंति संबुद्धा
पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु
जहा से नमी रायरिसि।।

*एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः*
*पण्डिताः प्रविचक्षणाः।*
*विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः*
*यथा स नमिः राजर्षिः।।*

संबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष इसी प्रकार करते हैं—वे भोगों से निवृत्त होते हैं जैसे कि नमि राजर्षि हुए।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पण :

# अध्ययन ६ : नमि-प्रव्रज्या

### १. उत्पन्न हुआ (उववन्नो)

आगमों में यह शब्द बहु व्यवहृत है। इसका सामान्य अर्थ है—उत्पत्ति। देवता और नैरयिक के अतिरिक्त मनुष्य (उत्तरा० ६।१), स्थावरकाय (सूत्रकृतांग २।७।१०) तथा त्रसकाय (सूत्रकृतांग २।७।१६) की उत्पत्ति में भी यह शब्द प्रयुक्त है। उत्तरवर्ती साहित्य में यह शब्द देवता और नारक की उत्पत्ति के अर्थ में रूढ़ हो गया। तत्त्वार्थ में 'नारकदेवानामुपपातः'—ऐसा प्रयोग मिलता है।[1] उपपात का अर्थ भी उत्पत्ति है। परन्तु उत्पत्ति और उपपात की प्रक्रिया भिन्न है। गर्भज और सम्मूर्च्छनज प्रक्रिया उत्पत्ति की प्रक्रिया है। उपपात की प्रक्रिया में उत्पन्न होने वाला जीव अंतर्मुहूर्त्त में युवा बन जाता है।[2]

### २. उसका मोह उपशान्त था (उवसंतमोहणिज्जो)

यहां उपशम का अर्थ—अनुदयावस्था है। प्रस्तुत प्रसंग में चूर्णिकार ने दर्शनमोह और चारित्रमोह—दोनों की उपशांत दशा का उल्लेख किया है।[3] वृत्ति में केवल दर्शनमोहनीय की उपशांत दशा का उल्लेख है।[4]

जातिस्मृति ज्ञान के लिए चारित्रमोहनीय का उपशांत होना भी आवश्यक है। शुभ परिणाम और लेश्या की विशुद्धि के क्षणों में जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न होता है।

### ३. पूर्वजन्म की स्मृति हुई (सरई पोराणियं जाइं)

जाति का अर्थ उत्पत्ति या जन्म है। आत्मवाद के अनुसार जन्म की परम्परा अनादि है। इसलिए उसे पुराण कहा है। पुराण-जाति अर्थात् पूर्व-जन्म। पूर्व-जन्म की स्मृति को 'जातिस्मृति ज्ञान' कहा जाता है। यह मतिज्ञान का एक प्रकार है।[5] इसके द्वारा पूर्ववर्ती संख्येय जन्मों की स्मृति होती है।[6] वे सारे समनस्क जन्म होते हैं। प्रचलित धारणा यह है कि जातिस्मृति से उत्कृष्टतः पूर्व के नौ जन्म जाने जा सकते हैं।

किसी हेतु से संस्कार का जागरण होता है और अनुभूत-विषय की स्मृति हो जाती है। संस्कार मस्तिष्क में संचित होते हैं। प्रयत्न करने पर वे उद्बुद्ध हो जाते हैं। आजकल मस्तिष्क पर यांत्रिक व्यायाम कर शिशु जीवन की घटनाओं की स्मृति कराई जाती है। यह सारी वर्तमान जीवन की स्मृति की प्रक्रिया है। पूर्व-जन्म के संस्कार सूक्ष्म-शरीर—कार्मण-शरीर में संचित रहते हैं। मन की एकाग्रता तथा पूर्व-जन्म को जानने की तीव्र अभिलाषा से अथवा किसी अनुभूत घटना की पुनरावृत्ति देख जाति-स्मृति हो जाती है। जैन आगमों में इसके अनेक उल्लेख हैं। वर्तमान में भी इससे संबद्ध घटनाएं सुनी जाती हैं।

पूर्वजन्म की स्मृति के चार कारण निर्दिष्ट हैं[7]—

१. मोहनीय कर्म का उपशम।
२. अध्यवसायों की शुद्धि अथवा लेश्या की शुद्धि।
३. ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा।
४. जातिस्मृति ज्ञान को आवृत करने वाले कर्मों का क्षयोपशम।

प्रस्तुत श्लोक में केवल एक ही कारण—मोहनीय कर्म का उपशम निर्दिष्ट है।

जातिस्मृति ज्ञान के दो प्रकार हैं—सनिमित्तक और अनिमित्तक। कुछेक व्यक्तियों में जातिस्मृति ज्ञान के आवारक कर्मों के क्षयोपशम से वह ज्ञान स्वतः उद्भूत हो जाता है। यह अनिमित्तक है। कुछेक व्यक्तियों में यह ज्ञान बाह्य निमित्त से उद्भूत होता है। यह सनिमित्तक है।

चूर्णिकार के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में नमि जान जाते हैं कि देवभव से पूर्व वे मनुष्य थे और वहां उन्होंने संयम की आराधना की थी। वहां से वे पुष्पोत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए थे।[8]

'सरई' वर्तमान काल का रूप है। शान्त्याचार्य ने 'स्म' को 'शेष' माना है।[9] 'स्मरतिस्म' अर्थात् याद किया—स्मृति हुई। नेमिचन्द्र ने उस समय की अपेक्षा से इसे वर्तमान का रूप माना है।[10]

### ४. भगवान् (भयवं)

'भग' शब्द के अनेक अर्थ हैं—धैर्य, सौभाग्य, माहात्म्य, यश, सूर्य, श्रुत, बुद्धि, लक्ष्मी, तप, अर्थ, योनि, पुण्य, ईश,

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक २।३५।
२. तत्त्वार्थवार्तिक २।३२, भाष्य।
३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८० : उवसंतमोहणिज्जो दंसणमोहणिज्जं चरित्रमोहणिज्जं च उवसंतं जस्स सो भवति उवसंतमोहणिज्जो।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०६ : उपशान्तं—अनुदयं प्राप्तं मोहनीयं—दर्शनमोहनीयं यस्यासावुपशान्तमोहनीयः।
५. आयारो १।३, वृत्ति पत्र १८ : जातिस्मरणं त्वाभिनिबोधिकविशेषः।
६. आयारो १।३, वृत्ति पत्र १६ : जातिस्मरणस्तु नियमतः संख्येयान्।
७. नायाधम्मकहाओ १।१६०।
८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८०।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०६।
१०. सुखबोधा, पत्र १४५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयत्न और तनु। यहां प्रकरणवश उसका अर्थ बुद्धि या ज्ञान है। भगवान् अर्थात् बुद्धिमान।[1] आचार्य नेमिचन्द्र ने धैर्य आदि समस्त गुणों से युक्त व्यक्ति को भगवान् माना है।[2]

## ५. स्वयं संबुद्ध हुआ (सहसंबुद्धो)

चूर्णिकार ने 'सहसंबुद्ध' की व्युत्पत्ति—सहसा संबुद्धो—इस रूप में देकर इसका अर्थ स्वयंबुद्ध किया है।[3]

वृत्तिकार ने 'सह' का मुख्य अर्थ स्वयं और संबुद्ध का अर्थ सम्यग् तत्त्व का ज्ञाता किया है। जो स्वयं संबुद्ध होता है, किसी के द्वारा नहीं, वह सहसंबुद्ध है। उन्होंने इसका वैकल्पिक अर्थ—सहसा संबुद्ध अर्थात् जातिस्मृति के अनन्तर शीघ्र ही संबुद्ध होने वाला—किया है।[4]

आगम साहित्य में 'सह' शब्द 'स्व' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[5]

मुनि तीन प्रकार के होते हैं—

१. स्वयंबुद्ध—बिना किसी निमित्त के बुद्ध होने वाले।
२. प्रत्येकबुद्ध—निमित्त से प्रतिबुद्ध होने वाले।
३. बुद्धबोधित—प्रतिबुद्ध व्यक्ति से प्रेरणा पाकर बुद्ध होने वाले।

नमि स्वयंबुद्ध नहीं, प्रत्येकबुद्ध थे। कथानक के अनुसार वे चूड़ियों की ध्वनि के निमित्त को पाकर प्रतिबुद्ध हुए थे। अठारहवें अध्ययन (श्लोक ४५) के चार प्रत्येकबुद्धों में 'नमि' का भी उल्लेख है। किन्तु मूलपाठ के आधार पर यह फलित होता है कि नमि को पूर्वजन्म की स्मृति हुई और उसके पश्चात् वे स्वयं संबुद्ध हो गए।[6]

## ६. सेना (बल.....)

चूर्णिकार के अनुसार 'बल' शब्द चतुरंगिणी सेना का द्योतक है।[7] प्राचीन काल में सेना के चार अंग ये थे—१. हस्तिसेना, २. अश्वसेना, ३. रथसेना और ४. पदातिसेना।

## ७. एकान्तवासी या एकत्व अधिष्ठित (एगंतमहिट्ठिओ)

एकान्त शब्द के तीन अर्थ किए गए हैं—मोक्ष, विजन स्थान और एकत्व भावना। जो मोक्ष के उपाय—सम्यक् दर्शन आदि का सहारा लेता है, वह यहीं जीवन-मुक्त हो जाता है, इसलिए वह एकान्ताधिष्ठित कहलाता है। उद्यान आदि विजन स्थानों में रहने वाला तथा 'मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूं। मैं उनको नहीं देखता कि जिसका मैं होऊं और जो मेरा हो वह भी मुझे नहीं दीखता'—इस प्रकार अकेलेपन की भावना करने वाला भी एकांताधिष्ठित कहलाता है।[8] एकांतवासी में ये तीनों अर्थ गर्भित हैं। इन सभी अर्थों के साथ ही साथ चूर्णिकार ने एकांत का अर्थ 'वैराग्य' भी किया है।[9]

प्रस्तुत श्लोक में 'एगंतमहिट्ठिओ' तथा सोलहवें श्लोक में 'एगंतमणुपस्सओ' पाठ है। अर्थ के संदर्भ में दोनों स्थानों पर 'एगत्त' पाठ होना चाहिए। 'एगत्त' और 'एगंत' में लिखने में अधिक अन्तर नहीं होता। संभवतः 'एगत्त' पाठ ही 'एगंत' बन गया हो।

'एगंतमहिट्ठिओ' का अर्थ एकांतवासी की अपेक्षा एकत्व अधिष्ठित अधिक संगत लगता है। इसी प्रकार 'एगंतमणुपस्सओ' का अर्थ एकान्तदर्शी की अपेक्षा एकत्वदर्शी अधिक उपयुक्त लगता है। 'मैं अकेला हूं' 'मेरा कोई नहीं है'—यह बात एकत्वदर्शी ही कह सकता है।

(देखें—श्लोक १६ का टिप्पण।)

## ८. राजर्षि नमि (रायरिसिंमि)

नमि मिथिला जनपद के राजा थे। प्रव्रज्या के लिए उद्यत होने पर वे ऋषि बन गए। इसलिए उन्हें, 'राजर्षि' के रूप में अभिहित किया गया है। अथवा राजा की अवस्था में भी वे एक ऋषि की भांति जीवन बिताते थे, इसलिए भी वे राजर्षि कहलाए।

राजनीति का एक श्लोक है—

***'कामः क्रोधस्तथा लोभो, हर्षो मानो मदस्तथा।***
***षड्वर्गमुत्सृजेदेनं, तस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः।।'***

—जो काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद—अहंकार—इस षड्वर्ग को छोड़ देता है, वह राजर्षि कहलाता है। वह सुखी होता है।[10]

## ९. कोलाहल जैसा होने लगा (कोलाहलगभूयं)

जब नमि राजर्षि ने प्रव्रज्या के लिए अभिनिष्क्रमण किया

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०६ : भगशब्दो यद्यपि धैर्यादिष्वनेकेषु अर्थेषु वर्तते, यदुक्तं— धैर्यसौभाग्यमाहात्म्ययशोऽर्कश्रुतधीश्रियः।
तपोऽर्थोपस्थपुण्येशप्रयत्नतनवो भगाः।।
इति, तथापीह प्रस्तावाद् बुद्धिवचन एव गृह्यते, ततो भगोबुद्धिर्यस्यास्तीति भगवान्।

२. सुखबोधा, पत्र १४५।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८० : सहसा संबुद्धो सहसंबुद्धो, असंगत्तणो समणत्तणे स्वयं नान्येन बोधितः—स्वयंबुद्धः।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०६ : सहति—स्वयमात्मनैव सम्बुद्धः—सम्यगवगततत्त्वः सहसम्बुद्धो, नान्येन प्रतिबोधित इत्यर्थः, अथवा सहस त्ति आर्षत्वात् सहसा—जातिस्मृत्यनन्तरं झगित्येव बुद्धः।

५. आयारो, १।३ : सहसम्मुइयाए.....।

६. देखें—इसी अध्ययन के प्रथम दो श्लोक।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८१ : बलं—चतुरंगिणीसेनाम्।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०७ : 'एगंत' त्ति एवः—अद्वितीयः कर्म्मणामन्तो यस्मिन्निति, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, तत एकान्ती—मोक्षस्तम् 'अधिष्ठितः' इव आश्रितवानिवाधिष्ठितः, तदुपायसम्यग्दर्शनाद्यासेवनादधिष्ठितः एव वा, इहैव जीवन्मुक्त्यावाप्तेः, यद्वैकान्त—द्रव्यतो विजनमुद्यानादि भावतश्च सदा—
एकोऽहं न च मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं नासौ दृश्योऽस्ति यो मम।।
इति भावनात एक एवाहमित्यन्तो—निश्चय एकांतः, प्राग्वत् समासः, तमधिष्ठितः।

९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८१ : एगंतमहिट्ठियो वैराग्येनेत्यर्थः।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०७ : राजा चासौ राज्यावस्थामाधित्य ऋषिश्च तत्कालापेक्षया राजर्षिः, यदि वा राज्यावस्थायामपि ऋषिरिव ऋषिः—क्रोधादिषड्वर्गजयात्, तथा च राजतीतिः—कामः.....सुखी नृपः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तब कुछ पौरजन विलाप करने लगे, कुछ आक्रन्दन करने लगे और कुछ चिल्लाने लगे। उन सभी कलकल शब्दों से सारा नगर कोलाहलमय हो गया, कोलाहल से आकुल हो गया।

भूत शब्द के आठ अर्थ प्राप्त हैं—

| | |
|---|---|
| १. बना हुआ | ५. यथार्थ |
| २. अतीत | ६. विद्यमान |
| ३. प्राप्त | ७. उपमा |
| ४. सदृश | ८. तदर्थभाव। |

वृत्तिकार ने प्रस्तुत प्रकरण में भूत शब्द के दो अर्थ किए हैं—जात-उत्पन्न और सदृश।[1] यहां पहला अर्थ ही प्रसंगोपात्त है। इस अर्थ में 'भूत' शब्द का परनिपात प्राकृत के नियमानुसार हुआ है।

## १०. ब्राह्मण (माहण)

उत्तराध्ययन में 'माहण' शब्द का प्रयोग निम्नांकित स्थलों पर हुआ है—

१. ६।६, ३८, ५५।
२. १२।११, १३, १४, ३०, ३८।
३. १४।५, ३८, ५३।
४. १५।६।
५. १८।२१।
६. २५।१, ४, १८-२७, ३२, ३४, ३५।

शान्त्याचार्य ने इन विभिन्न स्थलों में प्रयुक्त 'माहण' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

| | |
|---|---|
| १. माहणरूवेण—ब्राह्मणवेषेण | (बृ० प० ३०७) |
| ब्राह्मणाश्च—द्विजाः | (बृ० प० ३१४) |
| ब्राह्मणरूपम् | (बृ० प० ३१८) |
| २. माहणानां—ब्राह्मणानाम् | (बृ० प० ३६०) |
| ब्राह्मणाः द्विजाः | (बृ० प० ३६१) |
| ब्राह्मणानाम् | (बृ० प० ३६२) |
| ब्राह्मणो द्विजातिः | (बृ० प० ३६७) |
| माहना ब्राह्मणाः | (बृ० प० ३७०) |
| ३. माहनस्य ब्राह्मणस्य | (बृ० प० ३९७) |
| ब्राह्मणेन | (बृ० प० ४०८) |
| ब्राह्मणः, ब्राह्मणी | (बृ० प० ४१२) |
| ४. माहना ब्राह्मणाः | (बृ० प० ४१८) |
| ५. 'माहण' त्ति मा वधीत्येवंरूपं मनो वाक् क्रिया च यस्यासौ माहनः, सर्वे धातवः पचादिषु दृश्यन्त इति वचनात्पचादित्वादच् | (बृ० प० ४४२) |
| ६. ब्राह्मणकुलसंभूतः | (बृ० प० ५२२) |
| ब्राह्मणसम्पदः | (बृ० प० ५२६) |
| ब्राह्मणः | (बृ० प० ५२६) |
| वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् | (बृ० प० ५२६) |
| ब्राह्मणः माहणः | (बृ० प० ५२६) |
| ब्राह्मणत्वम् | (बृ० प० ५२६) |

उक्त अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शान्त्याचार्य ने १८।२१ में प्रयुक्त 'माहण' शब्द की व्याख्या अहिंसक के रूप में की है और शेष स्थानों में प्रयुक्त 'माहण' का अर्थ उन्होंने ब्राह्मण जाति या ब्राह्मणत्व से संबद्ध माना है। ब्राह्मण का प्राकृत रूप 'बंभण' बनता है किन्तु इस आगम में ब्राह्मण के लिए 'बंभण' का प्रयोग २५।१९, २९, ३०, ३१ में हुआ है। इसके सिवा सर्वत्र 'माहण' का प्रयोग मिलता है। 'माहण' और 'बंभण' की प्रकृति एक नहीं है। 'माहण' अहिंसा का और 'बंभण' ब्रह्मचर्य (ब्रह्म-आराधना) का सूचक है। अहिंसा के बिना ब्रह्म की आराधना नहीं हो सकती और ब्रह्म की आराधना के बिना कोई अहिंसक नहीं हो सकता। इस प्रगाढ़ सम्बन्ध से दोनों शब्द एकार्थवाची बन गए। आगमिक व्याकरण के अनुसार ब्राह्मण का 'माहण' रूप बनता हो, यह भी संभव है। ब्राह्मण के लिए 'माहण' शब्द के प्रयोग की प्रचुरता को देखते हुए इस संभावना की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मलयगिरि ने 'माहण' का अर्थ परम गीतार्थ श्रावक भी किया है।[2] इस प्रकार 'माहण' शब्द साधु, श्रावक और ब्राह्मण—इन तीनों के लिए प्रयुक्त होता है, यह आगम की व्याख्याओं से प्राप्त होने वाला निष्कर्ष है। पर वह कहां साधु के लिए, कहां श्रावक के लिए और कहां ब्राह्मण के लिए है—इसका निर्णय करना बहुत विवादास्पद रहा है।

## ११. प्रासादों और गृहों में (पासाएसु गिहेसु)

चूर्णिकार ने प्रासाद का व्युत्पत्तिपरक अर्थ इस प्रकार किया है—जिसको देखकर जनता के नयन और मन आनन्दित हो जाते हैं, वह है प्रासाद।[3]

वृत्ति के अनुसार सात मंजिल वाला या इससे अधिक मंजिल वाला मकान 'प्रासाद' कहलाता है और साधारण मकान 'गृह'। प्रासाद का दूसरा अर्थ देवकुल और राज-भवन भी है।[4]

## १२. दारुण (दारुणा)

जो शब्द जनमानस को विदारित कर देते हैं, मन को फाड़ देते हैं अथवा जो शब्द हृदय में उद्वेग पैदा करते हैं, वे दारुण कहलाते हैं।[5]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०७ : भूत इति जात....यदि वा भूत शब्द उपमार्थः।
२. रायपसेणइयं, वृत्ति ३०० : 'माहनः' परमगीतार्थः श्रावकः।
३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८१ : पसीदन्ति जणस्य नयनमनांसि इति प्रासादः।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०८ : 'प्रासादेषु'—सप्तभूमादिषु, 'गृहेषु' सामान्यवेश्मसु, यद्वा 'प्रासादो देवतानरेन्द्राणा' मितिवचनात् प्रासादेषु देवतानरेन्द्रसम्बन्धिष्वास्पदेषु 'गृहेषु' तदितरेषु।
५. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३०८।
(ख) सुखबोधा, पत्र १४६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## १३. सुनकर, हेतु और कारण से (निसामित्ता हेऊकारण...)

संस्कृत भाषा में श्रुत्वा (सोच्चा) और निशम्य (निसामित्ता) ये सामान्यतः पर्यायवाची माने जाते हैं। अर्थ की अभिव्यंजना की दृष्टि से दोनों में अन्तर है। श्रुत्वा का अर्थ है—सुनकर और निशम्य का अर्थ है—अवधारण कर।[1]

साध्य के बिना जिसका न होना निश्चित हो उसे हेतु कहा जाता है। इन्द्र ने कहा—'तुम जो अभिनिष्क्रमण कर रहे हो वह अनुचित है (पक्ष), क्योंकि तुम्हारे अभिनिष्क्रमण के कारण समूचे नगर में हृदय-वेधी कोलाहल हो रहा है (हेतु)।'[2]

अदृष्ट पदार्थ जिस दृष्ट वस्तु के द्वारा गृहीत होता है, उसे हेतु कहा जाता है। जैसे—अदृष्ट अग्नि के लिए दृष्ट धुआं हेतु है।

जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति न हो सके और जो निश्चित रूप से कार्य का पूर्ववर्ती हो उसे कारण कहा जाता है। यदि तुम अभिनिष्क्रमण नहीं करते तो इतना हृदय-वेधी कोलाहल नहीं होता। इस हृदय-वेधी कोलाहल का कारण तुम्हारा अभिनिष्क्रमण है।[3]

## १४. चैत्यवृक्ष (चेइए वच्छे)

चूर्णि और टीका में चैत्यवृक्ष का अर्थ उद्यान और उसके वृक्ष किया गया है।[4] किन्तु वस्तुतः 'चेइए वच्छे' का अर्थ 'चैत्यवृक्ष' होना चाहिए। चैत्य को वियुक्त मानकर उसका अर्थ उद्यान करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

पीपल, बड़, पाकड़ और अश्वत्थ—ये चैत्य जाति के वृक्ष हैं।[5] मल्लिनाथ ने रथ्या-वृक्षों को चैत्यवृक्ष माना है।[6]

शान्त्याचार्य के अनुसार जिस वृक्ष के मूल में चबूतरा बना हो और ऊपर झण्डा लगा हुआ हो, वह चैत्यवृक्ष कहलाता है।[7] चैत्य शब्द को उद्यानवाची मानने पर वृक्ष शब्द को तृतीया विभक्ति का बहुवचन (वच्छेहि) और उसका (हि) लोप मानना पड़ा।[8] किन्तु 'चेइए' को 'वच्छे' का विशेषण माना जाता तो वैसा करना आवश्यक नहीं होता और व्याख्या भी स्वयं सहज हो जाती। स्थानांग में 'चेइयरुक्ख' शब्द मिलता है।[9] उससे भी यह प्रमाणित होता है कि 'चेइए वच्छे' का अर्थ 'चैत्यवृक्ष' ही होना चाहिए।

'वच्छे' के संस्कृत रूप दो होते हैं—वत्स और वृक्ष। यहां यह वृक्ष के अर्थ में प्रयुक्त है। प्रिय पुत्र का एक संबोधन है 'वत्स'। वृक्षों का पुत्र की भांति पालन-पोषण होता है, इसलिए उन्हें भी वत्स कह दिया जाता है।[10]

## १५. बहुत पक्षियों के लिए सदा उपकारी (बहूणं बहुगुणे)

चूर्णिकार ने 'बहूणं' से द्विपद, चतुष्पद तथा पक्षियों का ग्रहण किया है।[11] वृत्तिकार ने इसे केवल पक्षियों का ही वाचक माना है।[12]

'बहुगुण' का अर्थ है—प्रचुर उपकारी।[13] वह चैत्यवृक्ष, शीतलवायु, पत्र, पुष्प आदि के द्वारा सबका उपकार करता था, इसलिए वह 'बहुगुण' था।

## १६. (श्लोक १०)

प्रस्तुत श्लोक में पक्षियों के उपचार से सूत्रकार यह बताना चाहते हैं कि नमि राजर्षि के अभिनिष्क्रमण को लक्ष्य कर मिथिला के पौरजन और राजर्षि के स्वजन आक्रन्दन कर रहे हैं, मानो कि चैत्य-वृक्ष के धराशायी हो जाने पर पक्षिगण आक्रन्दन कर रहे हों। पक्षियों और स्वजनों का साम्य है। जैसे पक्षी एक वृक्ष पर रात बिताते हैं, फिर प्रातः अपनी-अपनी दिशा में उड़ जाते हैं, वैसे ही स्वजनों का एक निश्चित काल-मर्यादा के लिए संयोग होता है, फिर सब बिछुड़ जाते हैं।[14]

वृत्तिकार ने उपसंहार में बताया है कि पौरजनों या स्वजनों का आक्रन्दन करने का मूल हेतु नमि राजर्षि का अभिनिष्क्रमण नहीं है। आक्रन्दन का मूल हेतु है अपना-अपना स्वार्थ या प्रयोजन। स्वार्थ को विघटित होते देख सब आक्रन्दन कर रहे हैं।[15]

---

१. आचारांगवृत्ति, पत्र २४८ : श्रुत्वा—आकर्ण्य.....निशम्य अवधार्य।

२. सूखबोधा, पत्र १४६ : अनुचितमिदं भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति प्रतिज्ञा, आक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वादिति हेतुः।

३. वही, पत्र १४६ : आक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वं भवदभिनिष्क्रमणानुचितत्वं विनानुपन्नमित्येतावन्मात्रं कारणम्।

४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८१, १८२।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३०६ : चयनं चितिः—इह प्रस्तावात् पत्रपुष्पाद्युपचयः, तत्र साधुरित्यन्ततः प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात् स्थार्थिकेऽपि चैत्यम्—उद्यानं तस्मिन्, 'वच्छे' त्ति सूत्रत्वाद्धिशब्दलोपे वृक्षैः।

५. कालीदास का भारत, पृष्ठ ५२।

६. मेघदूत, पूर्वार्द्ध, श्लोक २३।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०६ : चितिरिहेष्टकादिचयः, तत्र साधुः—योग्यश्चित्यः प्राग्वत्, स एव चैत्यस्तस्मिन्, किमुक्तं भवति ? अधोबद्धपीठिके उपरि चोच्छ्रितपताके..... वृक्ष इति शेषः।

८. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८२ : एत्थ सिलोगभंगभया हिकाररस लोवो कओ।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३०६ : 'वच्छे' त्ति सुत्रत्वाद्धिशब्दलोपे वृक्षैः।

९. ठाणं, ३।८५ : तिहिं ठोणहिं देवाणं चेइयरुक्खा चलेज्जा।

१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८२ : वच्छे त्ति रुक्खस्साभिधाणं, सुतं प्रियवायरणं वच्छा, पुत्ता इव रक्खिज्जंति वच्छा।

११. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८२ : बहूणं दुप्पयचउप्पदपक्खीणं च।

१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०६ : बहूनां प्रक्रमात् खगादीनाम्।

१३. वही, पत्र ३०६ : बहवो गुणा यस्मात् तत् तथा तस्मिन्। कोथः ? फलादिभिः प्रचुरोपकारकारिणि।

१४. वही, पत्र ३०६।

१५. वही, पत्र ३०६ :
आत्मार्थं सीदमानं स्वजनपरिजनो रौति हाहारवार्तो,
भार्या चात्मोपभोगं गृहविभवसुखं स्वं च यस्याश्च कार्यम्।
क्रन्दत्यन्योऽन्यमन्यस्त्विह हि बहुजनो लोकयात्रानिमित्तं,
यो वान्यस्तत्र किंचिन् मृगयति हि गुणं रोदितीष्टः स तस्मै।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### १७. मन्दिर (मंदिरं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ नगर[1] और वृत्तिकार ने घर, प्रासाद किया है।[2]

### १८. रनिवास की ओर (अंतेउरं तेणं)

वृत्तिकार ने इसे एक पद मानकर इसका अर्थ—अन्तःपुराभिमुख किया है।[3]

### १९. (श्लोक १४)

साधना की दो भूमिकाएं हैं—निवृत्ति—एकत्व की साधना और लोक-संग्रह की भूमिका। प्रत्येकबुद्ध में एकत्व की भूमिका इतनी प्रबल हो जाती है कि उस भूमिका में केवल आत्मा ही शेष रहती है। निर्ममत्व की साधना का यह उत्कर्ष है।

मिथिला नगरी धूं-धूं कर जल रही है। नगरी के राजप्रासाद तथा अन्यान्य गृह भी अग्नि की लपेट में हैं। उस समय नमि सोचते हैं, 'जो जल रहा है उसमें मेरा कुछ भी नहीं है। क्योंकि मैं अकेला हूं। मेरे लिए अपना या पराया कुछ भी नहीं है।' नमि राजर्षि का यह चिन्तन निर्ममत्व या एकत्व की उत्कृष्ट साधना का सूचक है।

मिथिला का दाह एक रूपक है। अध्यात्म की भूमिका में एकत्व का मूल्य प्रदर्शित करने के लिए इस रूपक का उपयोग किया गया है। व्यवहार की भूमिका इससे भिन्न है। भूमिका-भेद को हृदयंगम करने पर ही इसका तात्पर्य समझा जा सकता है।

यह चिन्तन बौद्ध साहित्य और महाभारत में भी उपलब्ध है।

बौद्ध परम्परा के महाजनक जातक में प्रस्तुत श्लोक की भांति तीन श्लोक मिलते हैं[4]—

***सुसुखं बत जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चनं।***
***मिथिलाय डह्यमानाय न मे किंचि अडय्हथ।।१२५।।***
***सुसुखं बत जीवाम येसं नो नत्थि किंचनं।***
***रट्ठे विलुप्पमानम्हि न मे किंचि अजीरथ।।१२७।।***
***सुसुखं बत जीवाम येसं नो नत्थि किंचनं।***
***पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभास्सरा यथा।।१२८।।***

महाभारत में मांडव्य मुनि और राजा जनक का संवाद आया है। एक प्रश्न के उत्तर में महाराज जनक कहते हैं[5]—

***सुसुखं बत जीवामि, यस्य मे नास्ति किंचन।***
***मिथिलायां प्रदीप्तायां, न मे दह्यति किंचन।।***

इसी प्रकार एक दूसरा श्लोक है[6]—

***अनन्तमिव मे वित्तं, यस्य मे नास्ति किंचन।***
***मिथिलायां प्रदीप्तायां, न मे दह्यति किंचन।।***

### २०. व्यवसाय से निवृत्त (निव्वावारस्स)

वृत्तिकार ने यहां कृषि, पशु-पालन आदि को व्यवसाय माना है।[7]

साधु निर्व्यापार होता है। वह निवृत्तिप्रधान जीवन जीता है। उसके लिए प्रिय या अप्रिय कुछ भी नहीं होता। वह भिक्षाजीवी होता है। सारी आवश्यकताएं भिक्षा से पूरी हो जाती हैं, इसलिए उसे व्यवसाय करना नहीं पड़ता।

### २१. एकत्वदर्शी (एगंतमणुपस्सओ)

चूर्णिकार ने एकान्त के दो अर्थ किए हैं—(१) एकत्वदर्शी—मैं अकेला हूं, मैं किसी का नहीं हूं, और (२) निर्वाणदर्शी।[8] वृत्तिकार ने एकान्त का अर्थ—मैं अकेला हूं—किया है।[9]

चूर्णि और वृत्ति की व्याख्या के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि चूर्णिकार और वृत्तिकार के सामने 'एगत्तमणुपस्सओ' पाठ था।

देखें—श्लोक ४ का टिप्पण।

### २२. परकोटा (पागारं)

प्राचीन काल में नगर या किले की सुरक्षा के लिए मिट्टी या ईंटों की एक सुदृढ़ दीवार बनाई जाती थी, उसे प्राकार या परकोटा कहा जाता था।[10] वह तीन प्रकार के होती थी—पांसु प्राकार, इष्टिका प्राकार और प्रस्तर प्राकार। प्रस्तर प्राकार प्रशस्त माना जाता था।

### २३. बुर्ज वाले नगर-द्वार (गोपुरट्टालगाणि)

गोपुर का अर्थ 'नगर-द्वार' है।[11]

टीकाकार ने इसका अर्थ प्रतोली द्वार—नगर के बीच की सड़क का या गली का द्वार, किया है।[12] अट्टालक का अर्थ 'बुर्ज' है।[13] गोपुर अट्टालक—बुर्ज वाले नगर-द्वार सुरक्षा तथा पर्यवेक्षण के लिए बनाए जाते थे। वाल्मीकि रामायण में गोपुरट्टालक और साट्टगोपुर के प्रयोग मिलते हैं।[14]

### २४. खाई और शतघ्नी (उस्सूलग सयग्घीओ)

'उस्सूलग' का एक अर्थ है—खाई।[15] खाई शत्रु-सेना को पराजित करने के लिए बनाई जाती थी। वह बहुत ही गहरी

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८२ : मंदिरं णाम नगरं।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१० : मंदिरं वेश्म।
३. वही, पत्र ३१० : अन्तेउरंतेणं ति अन्तःपुराभिमुखं।
४. महाजनक जातक, संख्या ५३९।
५. महाभारत, शांतिपर्व २७६।४।
६. वही, शांतिपर्व १७८।२।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१० : निर्व्यापारस्य—परिहृतकृषिपाशुपाल्यादिक्रियस्य।
८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८२ : एकत्वं नाहं कस्यचित्, अथवा एकान्तं निर्वाणं।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१० : एकान्तम्—एकोऽहम्।
१०. वही, पत्र ३११ : प्रकर्षेण मर्यादया च कुर्वन्ति तमिति प्राकारस्तं—धूलीष्टकादिविरचितम्।
११. अभिधान चिन्तामणि, ४।४७ : पुद्वारे गोपुरम्।
१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ : गोभिः पूर्यन्त इति गोपुराणि—प्रतोलीद्वाराणि।
१३. वही, पत्र ३११ : अट्टालकानि प्राकारकोष्ठकोपरिवर्तीनि आयोधनस्थानानि।
१४. वाल्मीकि रामायण, ५।५८।१५८।
१५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ : 'उस्सूलय' त्ति खातिका।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और चौड़ी होती थी। उसमें जल भरा रहता था इसलिए शत्रु-सेना उसे सहज ही पार नहीं कर पाती थी। 'उस्सूलग' का दूसरा अर्थ ऊपर से ढंका हुआ गड्ढा भी किया गया है।[1] जार्ल सरपेन्टियर के अभिमत में 'उस्सूलग' का अर्थ 'खाई' यथार्थ नहीं है।[2] सर्वार्थसिद्धि में 'उच्छूलग' शब्द है।[3] चूर्णि, बृहद्वृत्ति और सुखबोधा में 'उस्सूलग' है। बीसवें श्लोक के 'तिगुत्त' शब्द की व्याख्या में बृहद्वृत्ति में 'उच्चूलक' और सुखबोधा में 'उच्छूलक' पाठ है।[4] इससे जान पड़ता है कि 'उस्सूलग' और 'उच्छूलग' एक शब्द के ही दो रूप हैं।

जार्ल सरपेन्टियर ने इसका अर्थ 'ध्वज' किया है।[5] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में 'ओचूलग' (अवचूलक) शब्द आया है। वृत्तिकार ने उसका अर्थ 'अधोमुखांचल—नीचे लटकता हुआ वस्त्र' किया है।[6] इसलिए 'उस्सूलग' या 'उच्चूलक' का अर्थ 'ध्वज' भी किया जा सकता है। किन्तु 'तिगुत्त' शब्द को देखते हुए इसका अर्थ खाई या गड्ढा होना चाहिए। नगर की गुप्ति—सुरक्षा के लिए प्राचीन काल में खाई का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।[7]

'सयग्घी' का अर्थ है शतघ्नी। यह एक बार में सौ व्यक्तियों का संहार करने वाला यंत्र है।[8] कौटिल्य ने इसे 'चल-यंत्र' माना है।[9] अर्थशास्त्र की व्याख्या के अनुसार शतघ्नी का अर्थ है—दुर्ग की दीवार पर रखा हुआ एक विशाल स्तंभ, जिस पर मोटी और लम्बी कीलें लगी हुई हों।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'सयग्घी' को देशी शब्द भी माना है। इसका पर्यायवाची शब्द 'घरट्टी' है।[10] शेषनाममाला में इसके दो पर्यायवाची नाम हैं—चतुस्ताला और लोहकण्टकसंचिता।[11] इसके अनुसार यह चार बालिश्त की और लोहे के कांटों से संचित होती थी। इसे एक बार में सैकड़ों पत्थर फेंकने का यंत्र, आधुनिक तोप का पूर्व रूप कहा जा सकता है।

प्राकार, गोपुर-अट्टालक, परिखा और शतघ्नी—ये प्राचीन नगरों, दुर्गों या राजधानियों के अभिन्न अंग होते थे।[12]

## २५. अर्गला (अग्गलं)

गोपुर (सिंहद्वार), किवाड़ और अर्गला—ये तीनों परस्पर सम्बन्धित हैं। सिंहद्वार को किवाड़ों पर भीतर से अर्गला देकर बन्द किया जाता था। शान्त्याचार्य ने गोपुर शब्द के द्वारा अर्गला[13]—कपाट का सूचन किया है। अर्गला शब्द गोपुर का सूचक है।

## २६. त्रिगुप्त (तिगुत्तं)

त्रिगुप्त प्राकार का विशेषण है। इसके अठारहवें श्लोक में अट्टालग, उस्सूलग और सयग्घी—इन तीनों शब्दों का संग्रह किया गया है। इनके द्वारा जैसे प्राकार सुरक्षित होता है वैसे ही मन, वचन और काया की गुप्तियों से क्षमा अथवा सहिष्णुता रूपी प्राकार सुरक्षित होता है।[14]

## २७. ईर्यापथ (इरियं)

चूर्णि और वृत्ति में ईर्या का अर्थ ईर्यासमिति किया गया है।[15] किन्तु पराक्रम और धृति—इन दोनों के साथ ईर्यासमिति की कोई संगति नहीं है। इसलिए यहां ईर्या का अर्थ—ईर्यापथ—जीवन की समग्रचर्या होना चाहिए। बौद्ध साहित्य में 'ईर्यापथ' इसी अर्थ में व्यवहृत है।

## २८. मूठ (केयणं)

धनुष के मध्य भाग में जो काठ की मुष्टि होती है, उसे 'केतन' कहा जाता है।[16]

## २९. वर्द्धमानगृह (वद्धमाणगिहाणि)

चूर्णि और टीका में इसका स्पष्ट अर्थ नहीं है। मोनियर मोनियर-विलियम्स ने इसका अर्थ 'वह घर जिसमें दक्षिण की ओर द्वार न हो' किया है।[17] मत्स्यपुराण का भी यही अभिमत है।[18] वास्तुसार में घरों के चौसठ प्रकार बतलाए हैं। उनमें तीसरा प्रकार वर्धमान है।[19] जिसके दक्षिण दिशा में मुखवाली गायी शाला हो, उसे वर्धमान कहा है।[20]

डॉ० हरमन जेकोबी ने वराहमिहिर की संहिता (५३।३६) के आधार पर माना है कि यह समस्त गृहों में सुन्दर होता है।[21] वर्धमान गृह धनप्रद होता है।[22]

## ३०. चन्द्रशाला (बालग्गपोइयाओ)

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ 'वलभी' है। वलभी के

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ : परबलपातार्थमुपरिच्छादितगर्ता वा।
२. The Uttarādhyayana Sūtra, p. 314.
३. सर्वार्थसिद्धि, पृ० २०७ : 'उच्छूलग' त्ति खातिका।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ : सुखबोधा, पत्र १४८।
५. The Uttarādhyayana Sūtra, p. 314.
६. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ३।६१।
७. कालीदास का भारत, पृ० २१८ : रामायणकालीन संस्कृति, पृ० २१३।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ : शतं घ्नन्तीति शतघ्न्यः, ताश्च यंत्रविशेषरूपाः।
९. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय १८, सूत्र ७।
१०. देशीनाममाला ८।५, पृ० ३१५।
११. शेषनाममाला, श्लोक १५०, पृ० ३६६ : शतघ्नी तु चतुस्ताला, लोहकण्टकसंचिता।
१२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ३, सूत्र ४।
१३. सुखबोधा, पत्र ३११ : गोपुरग्रहणमर्गलाकपाटोपलक्षणम्।
१४. वही, पत्र ३११ : तिसृभिः —अट्टालकोच्चुलकशतघ्नीसंस्थानीयाभिर्मनोगुप्त्यादिभिर्गुप्तिभिः गुप्तं त्रिगुप्तं, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः।
१५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८३।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३११।
१६. बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ : 'केतनं' शृङ्गमयधनुर्मध्ये काष्ठमयमुष्टिकात्मकम्।
१७. A Sanskrit English Dictionary, p. 926.
१८. मत्स्यपुराण, पृ० २५४ : दक्षिणद्वारहीनं तु वर्धमानमुदाहृतम्।
१९. वास्तुसार, ७५ पृ० ३६।
२०. वास्तुसार, ८२, पृ० ३८।
२१. Sacred Books of the East, Vol, XLV, The Uttarādhyayana Sūtra, p. 38, Foot Note, 1.
२२. वाल्मीकी रामायण, ५।८ : दक्षिणद्वाररहितं वर्धमानं मुष्टिधनप्रदम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक अर्थ हैं। यहां इसका अर्थ चन्द्रशाला या जलाशय में निर्मित लघु प्रासाद है।[1]

## ३१. (श्लोक २६)

इस श्लोक में राजर्षि ने कहा—"यह घर एक पथिक का विश्रामालय है। जहां मुझे जाना है वह स्थान अभी दूर है। पर मुझे दृढ़ विश्वास है कि मैं वहां पहुंच जाऊंगा और वहां पहुंच कर ही मैं अपना घर बनाऊंगा। जिस व्यक्ति को यह संशय होता है कि मैं अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंच सकूंगा या नहीं, वही मार्ग में घर बनाता है।"

राजर्षि ने कहा—"मुझे मुक्ति-स्थान में जाना है। वहां पहुंचने के साधन सम्यक्-दर्शन आदि मुझे प्राप्त हो चुके हैं। मैं उनके सहारे गन्तव्य की ओर प्रयाण कर चुका हूं। फिर मैं यहां किसलिए घर बनाऊं?"[2]

शान्त्याचार्य ने 'सासय' के संस्कृत रूप 'स्वाश्रय' और 'शाश्वत' किए हैं। स्वाश्रय अर्थात् अपना घर शाश्वत अर्थात् नित्य। यहां ये दोनों अर्थ प्रकरणानुसारी हैं।[3]

## ३२. (श्लोक २८)

इस श्लोक में आमोष, लोमहार, ग्रन्थि-भेद और तस्कर—ये चार शब्द विभिन्न प्रकारों से धन चुराने वाले व्यक्तियों के वाचक हैं। तस्कर का अर्थ 'चोर' है। शेष तीन शब्दों के अर्थ चूर्णि और टीका में समान नहीं हैं। चूर्णि के अनुसार आमोष का अर्थ 'पंथ-मोषक—वटमार, राह में लूट लेने वाला' है।[4] लोमहार का अर्थ 'पेल्लणमोषक' है।[5] यहां पेल्लण का संस्कृत रूप सम्भवतः पीडन है। पीडनमोषक अर्थात् पीड़ा पहुंचा कर लूटने वाला। सूत्रकृतांग की चूर्णि के अनुसार लोमहार का अर्थ है—गुप्त रहकर चोरी करने वाला, लूटने वाला।[6] जो युक्तिसुवर्ण—यौगिक या नकली सोना बनाकर तथा इसी कोटि के दूसरे कार्यों द्वारा लोगों को ठगता है, उसे ग्रन्थि-भेदक कहा जाता है।[7] टीका में आमोष की केवल व्युत्पत्ति दी गई है।[8] लोमहार का अर्थ 'मारकर सर्वस्व का अपहरण करने वाला'[9] तथा ग्रन्थि-भेदक का अर्थ 'गिरह-कट' किया है।[10]

प्रस्तुत लोक में आमोष आदि को द्वितीया विभक्ति का बहुवचन मानकर जहां व्याख्या की है, वहां 'उत्साद्य' का अध्याहार किया है और वैकल्पिक रूप में सप्तमी का एक वचन मानकर भी व्याख्या की है। आमोष आदि का उत्सादन कर—निग्रहकर अथवा आमोष आदि के होते हुए नगर जो अशान्त है, उसे शान्त बना, तुम मुनि बन जाना।

## ३३. (श्लोक ३०)

इस श्लोक में राजर्षि ने वस्तुस्थिति का मर्मोद्घाटन किया है। उन्होंने कहा—"मनुष्य में अज्ञान, अहंकार आदि दोष होते हैं। उनके वशीभूत होकर वह निरपराध को भी अपराधी की भांति दण्डित करता है और अज्ञानवश या घूस लेकर अपराधी को भी छोड़ देता है। अज्ञानी, अहंकारी और लालची मनुष्य मिथ्यादण्ड का प्रयोग करता है। इससे नगर का क्षेम नहीं हो सकता।"

'मिच्छादंडो' मिथ्या का अर्थ 'झूठा' और दण्ड का अर्थ 'देश-निष्कासन व शारीरिक यातना देना' है।[11]

## ३४. सुख पाता है (सुहमेहए)

'एध' धातु अकर्मक है। इसका अर्थ है—'वृद्धि होना।' धातु अनेकार्थक होते हैं, इस न्याय से इसका अर्थ 'प्राप्त करना' भी होता है। 'सुहमेहए' अर्थात् सुख को प्राप्त करता है। इसका वैकल्पिक अर्थ है—शुभ को बढ़ाता है।[12]

## ३५. (श्लोक ३८)

ब्राह्मण-परम्परा में यज्ञ करना, ब्राह्मणों को भोजन कराना और दान देना—इनका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।[13] जैन-आगमों में इनका पूर्व-पक्ष के रूप में कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है। देखें—उत्तराध्ययन, १४।६; सूत्रकृतांग, २।६।२६।

## ३६. (श्लोक ४०)

ब्राह्मण ने राजर्षि के सामने यज्ञ, ब्राह्मण-भोजन, दान

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८३ : वालग्गपोतिया णाम मूतियाओ, केचिदाहुः—जो आगासतलागस्स मज्झे खुड्डुलओ पासादो कज्जति।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१२ : 'वालग्गपोइयातो य' त्ति देशीपदं वलभीवाचकं, ततो वलभीश्च कारयित्वा, अन्ये त्वाकाशतडागमध्यस्थितं क्षुल्लकप्रासादमेव 'वालग्गपोइया य' त्ति देशीपदाभिधेयमाहुः।

२. सर्वार्थसिद्धि, पृ० २०८, २०९।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१२ : स्वस्य—आत्मन आश्रयो—वेश्म स्वाश्रयस्तं, यद्वा शाश्वतं—नित्यं, प्रक्रमाद् गृहमेव।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८३ : आमोक्ष्यंतीत्यामोक्खा पंथमोषका इत्यर्थः।

५. वही चूर्णि, पृ० १८३ : लोमहारा णाम पेल्लणमोसगा।

६. सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० ३७७ : जे अदीसता चोराः हरन्ति ते लोमहारा, वुच्चंति।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८३ : ग्रन्थि भिंदंति ग्रन्थिभेदका, जुत्तिसुवण्णगादीहिं।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१२ : आ—समन्तात् मुष्णन्ति—स्तैन्यं कुर्वन्तीत्यामोषाः।

९. वही, पत्र ३१२ : लोमानि—रोमाणि हरन्ति—अपनयन्ति प्राणिनां ये ते लोमहाराः।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१२ : ग्रन्थि—द्रव्यसम्बन्धिनं भिदन्ति—घुघुरकद्रव्यकर्तिकादिना विदारयन्तीति ग्रन्थिभेदाः।

११. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१३ : 'मिथ्या' व्यलीकः, किमुक्तं भवति ?—अनपराधित्वज्ञानाहंकारादिहेतुभिरपराधिष्विवादण्डनं दण्डः—देशत्यागशरीरनिग्रहादिः।
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८४ : लंघापाशैः (पक्षैः) कारकमपि मुंचति।

१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१४ : सुखम्—ऐकान्तिकात्यन्तिकमुक्तिसुखात्मकम्, एधते—इत्यनेकार्थत्वाद् धातूनां प्राप्नोति, अथवा सुहमेहए त्ति शुभं—पुण्यमेधते—अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् वृद्धिं नयति।

१३. (क) पद्मपुराण, १८।४३७ :
तपः कृते प्रशंसन्ति, त्रेतायां ज्ञानकर्म च।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।।
(ख) मनुस्मृति, २।२८ :
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और भोग-सेवन—ये चार प्रश्न उपस्थित किये थे। राजर्षि ने उनमें से केवल एक दान के प्रश्न का उत्तर दिया, शेष प्रश्नों के उत्तर इसी में गर्भित हैं।

शान्त्याचार्य ने लिखा है कि गो-दान सबसे अधिक प्रचलित है, इसलिए उसे प्रधानता दी है। यह यज्ञ आदि का उपलक्षण है।[1] इस श्लोक में संयम को श्रेय कहा है। यज्ञ आदि प्रेय हैं, सावद्य हैं, यह स्वयं फलित हो जाता है। टीकाकार के शब्दों में—"यज्ञ इसलिए सावद्य है कि उसमें पशु-वध होता है, स्थावर जीवों की भी हिंसा होती है। साधु को उसके योग्य अशन-पान और धर्मोपकरण दिए जाते हैं, वह धर्म-दान है। इसके अतिरिक्त जो सुवर्ण-दान, गो-दान, भूमि-दान आदि हैं वे प्राणियों के विनाश के हेतु हैं इसलिए सावद्य हैं और भोग तो सावद्य हैं ही।"

प्रतिवादी ने कहा—यज्ञ, दान आदि प्राणियों के प्रीतिकर हैं, इसलिए वे सावद्य नहीं हैं। आचार्य ने कहा—यह हेतु सही नहीं है। जो सावद्य है वह प्राणियों के लिए प्रीतिकर नहीं होता, जैसे—हिंसा आदि। यज्ञ आदि सावद्य हैं, इसलिए वे प्रीतिकर नहीं हैं।[2]

## ३७. पोषध में रत (पोसहरओ)

जो अनुष्ठान धर्म की पुष्टि करता है वह पोषध कहलाता है। यह पर्वतिथियों—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या में तपस्यापूर्वक किया जाने वाला अनुष्ठान विशेष है। आसरसेन ने कहा है—

*'सर्वेष्वपि तपोयोगः प्रशस्तः कालपर्वसु।*
*अष्टम्यां पञ्चदश्यां च, नियतं पोषधं वसेत्।।'*[3]

विशेष विवरण के लिए देखें—५।३३ पोसहं दुहओपक्खं।

## ३८. (श्लोक ४२)

ब्राह्मण परम्परा में संन्यास की अपेक्षा गृहस्थाश्रम का अधिक महत्त्व रहा है। महाभारत में बताया गया है कि जो शील और सदाचार से विनीत है, जिसने अपनी इन्द्रियों को काबू में कर रखा है, जो सरलतापूर्वक बर्ताव करता है और समस्त प्राणियों का हितैषी है, जिसको अतिथि प्रिय है, जो क्षमाशील है, जिसने धर्मपूर्वक धन का उपार्जन किया है—ऐसे गृहस्थ के लिए अन्य आश्रमों की क्या आवश्यकता? जैसे सभी जीव माता का सहारा लेकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रम का आश्रय लेकर ही जीवन यापन करते हैं।[4] महर्षि मनु ने भी गृही को 'ज्येष्ठाश्रम' कहा है। उसकी ज्येष्ठता इसलिए है कि शेष तीनों आश्रमों को वही धारणा करता है।[5] इस गुरुतम उत्तरदायित्व की मान्यता को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने गार्हस्थ्य के लिए 'घोराश्रम' शब्द का प्रयोग किया है।[6] चूर्णिकार ने इस भावना को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि प्रव्रज्या का पालन करना सरल है, किन्तु गृहस्थाश्रम चलाना बहुत कठिन है क्योंकि शेष सब आश्रम वाले उसी पर निर्भर रहते हैं।[7]

चूर्णिकार ने जो 'तर्कयन्ति' का प्रयोग किया है, वह सहज ही 'तर्कयन्ति गृहाश्रमम्' महाभारत के इस चरण की याद दिला देता है।[8] आगमकार भी गृहस्थ को श्रमण के जीवन का आश्रयदाता मानते हैं।[9] फिर भी जैन-परम्परा में श्रमण की अपेक्षा गृहस्थाश्रम का स्थान बहुत निम्न है। मैं घर को छोड़ कर कब श्रमण बनूं—यह गृहस्थ का पहला मनोरथ है।[10]

---

१. उपलक्षण का अर्थ है—शब्द की वह शक्ति जिससे निर्दिष्ट वस्तु के अतिरिक्त उस तरह की और वस्तुओं का भी बोध हो।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५ : गोदानं चेह यागाद्युपलक्षणम्, अतिप्रभूतजनाचरितमित्युपात्तम् एवं च संयमस्य प्रशस्यतरत्वमभिदधता यागादीनां सावद्यत्वमर्थादावेदितं, तथा च यज्ञप्रणेतृभिरुक्तम्—
षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनान्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः।।
इयत्पशुवधे च कथमसावद्यता नाम?, तथा दानान्यप्यशनादिविषयाणि धर्मोपकरणगोचराणि च धर्माय वर्ण्यन्ते, आह—
अशनादीनि दानानि, धर्मोपकरणानि च।
साधुभ्यः साधुयोग्यानि, देयानि विधिना बुधैः।।
शेषाणि तु सुवर्णगोभूम्यादीनि प्राण्युपमर्दहेतुतया सावद्यान्येव, भोगानां तु सावद्यत्वं सुप्रसिद्धं। तथा च प्राणिप्रीतिकरत्वादित्यसिद्धो हेतुः, प्रयोगश्च यत्सावद्यं न तत् प्राणिप्रीतिकरं, यथा हिंसादि, सावद्यानि च यागादीनि।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५।

४. महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १४१ :
शीलवृत्तविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च।।
आर्जवे वर्तमानस्य सर्वभूतहितैषिणः।
प्रियातिथेश्च क्षान्तस्य धर्मार्जितधनस्य च।।
गृहाश्रमपदस्थस्य किमन्यैः कृत्यमाश्रमैः।
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।।
तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः।

५. मनुस्मृति, ३।७७, ७८ :
यथा वायुं समाश्रित्य, वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य, वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।।
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो, ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५ : 'घोरः' अत्यन्तदुरनुचरः, स चासावाश्रमश्च आडिति—स्वपरप्रयोजनाभिव्याप्त्या श्राम्यन्ति—खेदमनुभवन्त्यस्मिन्निति कृत्वा घोराश्रमो—गार्हस्थ्यं, तस्यैवाल्पसत्त्वैर्दुष्करत्वात् यत आहुः—
गृहाश्रमसमो धर्मो, न भूतो न भविष्यति।
पालयन्ति नराः शूराः, क्लीबाः पाखण्डमाश्रिताः।।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८४ : आश्रयन्ति तमित्याश्रयाः, का भावना? सुखं हि प्रव्रज्या क्रियते, दुःखं गृहाश्रम इति, तं हि सर्वाश्रमास्तर्कयन्ति।

८. महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १४१ :
राजानः सर्वपाषण्डाः सर्वे रंगोपजीविनः।।
व्यालग्रहाश्च डम्भाश्च चोरा राजभटास्तथा।
सविद्याः सर्वशीलज्ञाः सर्वे वै चिकित्सकाः।।
दूराध्वानं प्रपन्नाश्च क्षीणपथ्योदना नराः।
एते चान्ये च बहवः तर्कयन्ति गृहाश्रमम्।।

९. ठाणं ५।१६२ : धम्मणं चरमाणस्स पंच णिस्सट्ठाणा पं० तं०—छक्काया, गणे, राया, गाहावती, सरीरं।

१०. वही, ३।४६७ : कया णं अहं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारितं पव्वइस्सामि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ३९. कुश की नोक पर टिके उतना-सा आहार (कुसग्गेण तु भुंजए)

इसके दो अर्थ होते हैं—जितना कुश के अग्र-भाग पर टिके उतना खाता है—यह एक अर्थ है।[1] दूसरा अर्थ है—कुश के अग्र भाग से ही खाता है, अंगुली से उठा कर नहीं खाता।[2] पहले का आशय एक बार खाने से है और दूसरे का कई बार खाने से। मात्रा की अल्पता दोनों में है।

### ४०. सु-आख्यात धर्म (सुयक्खायधम्मस्स)

स्थानांग (३।५०७) के अनुसार सुअधीत, सुध्यात और सुतपस्यित धर्म स्वाख्यात कहलाता है। इन तीनों का पौर्वापर्य है। जब धर्म सुअधीत होता है, तब वह सुध्यात होता है। जब वह सुध्यात होता है, तब वह सुतपस्यित होता है। इन तीनों की संयुति ही स्वाख्यात धर्म है।

वृत्तिकार का अभिमत यह है—भगवान् ने समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों की विरति को 'धर्म' कहा है, इसलिए उनका धर्म सु-आख्यात है। इसकी समग्रता से आराधना करने वाला स्वाख्यातधर्मा मुनि होता है।[3]

### ४१. (श्लोक ४४)

ब्राह्मण ने कहा—'धर्मार्थी-पुरुष को घोर अनुष्ठान करना चाहिए। संन्यास की अपेक्षा गृहस्थाश्रम घोर है, इसलिए उसे छोड़कर संन्यास में जाना उचित नहीं।'[4]

इसके उत्तर में राजर्षि ने कहा—'घोर होने मात्र से कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं होती। बाल अर्थात् गृहस्थ-आश्रम में रहने वाला घोर तप करके भी सर्व-सावद्य की विरति करने वाले मुनि की तुलना में नहीं आता, उसके सोलहवें भाग का भी स्पर्श नहीं करता।' धर्मार्थी के लिए घोर अनुष्ठेय नहीं है। उसके लिए अनुष्ठेय है स्वाख्यात धर्म, भले फिर घोर हो या अघोर। गृहस्थाश्रम घोर होने पर भी स्वाख्यात-धर्म नहीं है, इसलिए उसे मैं जो छोड़ रहा हूं, वह अनुचित नहीं है।'[5]

### ४२. चाँदी, सोना (हिरण्णं सुवण्णं)

हिरण्य शब्द चाँदी और सोना—दोनों का वाचक है। चूर्णिकार ने हिरण्य का अर्थ 'चाँदी' और सुवर्ण का अर्थ 'सोना' किया है।[6] शान्त्याचार्य ने हिरण्य का अर्थ 'सोना' किया है। उनके अनुसार सुवर्ण हिरण्य का विशेषण है। सुवर्ण अर्थात् श्रेष्ठ-वर्ण वाला।[7] वैकल्पिक रूप में हिरण्य का अर्थ गढ़ा हुआ सोना और सुवर्ण का अर्थ बिना गढ़ा हुआ सोना है।[8] सुखबोधा और सर्वार्थसिद्धि में यही अभिमत है।[9]

### ४३. पर्याप्त नहीं हैं (नालं)

अलं शब्द के तीन अर्थ हैं—पर्याप्त, वारण और भूषण। प्रस्तुत प्रसंग में चूर्णिकार ने अलं का अर्थ—पर्याप्त और वृत्तिकार ने समर्थ अर्थ किया है।[10]

### ४४. (अब्भुदए.....संकप्पेण विहन्नसि)

शान्त्याचार्य ने 'अब्भुदए' का संस्कृत रूप 'अद्भुतकान्' कर इसे भोगों का विशेषण माना है। इसका अर्थ है आश्चर्यकारी भोगों को। विकल्प में उन्होंने इसका संस्कृत रूप 'अभ्युदये'—अभ्युदय काल में—माना है।[11] प्रस्तुत प्रसंग में यही उपयुक्त व्याख्या है।

संकल्प का अर्थ है—उत्तरोत्तर भोग-प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा। इसका कहीं अन्त नहीं आता। जैसे-जैसे भोगों की प्राप्ति होती रहती है, अभिलाषा आगे से आगे बढ़ती जाती है। कहा भी है—

*'अमीषां स्थूलसूक्ष्माणामिन्द्रियार्थविधायिनाम्।*
*शक्रादयोऽपि नो तृप्तिं, विषयाणामुपागताः॥'*

ऐसे संकल्प-विकल्पों के वशीभूत होकर मनुष्य निरंतर प्रताड़ित होता रहता है।[12]

चूर्णिकार ने यहां असत्संकल्प का ग्रहण किया है।[13] संकल्प-विकल्प की जटिलता से होने वाली हानि को सूचित करने वाली यह कथा है—

श्रेष्ठीपुत्र जंबूकुमार प्रव्रजित होने के लिए उत्कंठित है। उस समय उसकी नवोढा पत्नियां उसे समझाने का प्रयत्न करती हैं। समुद्रश्री नामक पत्नी ने जंबू को कहा—प्रिय! आप भी उस भोले किसान की भांति हैं जिसने इक्षु के लोभ में अपने

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६ : 'कुशाग्रेणैव' तृणविशेषप्रान्तेन भुंक्ते, एतदुक्तं भवति—यावत् कुशाग्रेऽवतिष्ठते तावदेवाभ्यवहरति नातोऽधिकम्, अथवा कुशाग्रेणेति जातावेकवचनं, तृतीया तु ओदनेनारसौ भुंक्त इत्यादिवत् साधकतमत्वेनाभ्यवहार्यमात्रे ऽपि विवक्षितत्वात्।

२. सुखबोधा, पत्र १५० : 'कुशाग्रेणैव' दर्भाग्रेणैव भुंक्ते न तु कराङ्गुल्यादिभिः।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६।

४. वही, पत्र ३१५ : यद्यद् घोरं तत्तद् धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयं, यथाऽनशनादि, तथा चायं गृहाश्रमः।

५. वही, पत्र ३१६ : यदुक्तम्—'यद्यद् घोरं तत्तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयमनशनादिवदि' ति, अत्र घोरत्वादित्यनैकान्तिको हेतुः, घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयत्वाद्, अन्यस्य त्वात्मविघातादिवत्, अन्यथात्वात्, प्रयोगश्चात्र—यत स्वाख्यातधर्मरूपं न भवति घोरमपि न तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयं, यथाऽऽत्मवधादिः, तथा च गृहाश्रमः, तद्रूपत्वं चास्य गार्हस्थ्यात्तद्विरोधादित्यलं प्रसंगेन।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८५ : हिरण्यं—रजतं शोभनवर्णं सुवर्णम्।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६ : 'हिरण्यं' स्वर्णं 'सुवर्णं' शोभनवर्णं विशिष्टवर्णमित्यर्थः।

८. वही, पत्र ३१६ : यद्वा हिरण्यं—घटितस्वर्णमितरत्तु सुवर्णम्।

९. (क) सुखबोधा, पत्र १५१।
(ख) सर्वार्थसिद्धि, पत्र २११।

१०. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८५ : अलं पर्याप्तिवारणभूषणेषु, न अलं नालं पर्याप्तिक्षमानि स्युः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१७ : अलं—समर्थम्।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१७ : 'अब्भुदए' त्ति अद्भुतकान् आश्चर्यरूपान्।.... अथवा 'अब्भुदए' त्ति अभ्युदये, ततश्च यदभ्युदयेऽपि भोगास्त्वं नालंसि तदाश्चर्यं वर्तते।

१२. वही, पत्र ३१७।

१३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खेत में उत्पन्न मोठ-बाजरे की फसल को उखाड़ दिया था। पानी के अभाव में इक्षु हुआ नहीं। वह दोनों से हाथ धो बैठा। वैसे ही आप भी मुक्ति-सुख के लोभ में इस ऐहिक सुख को छोड़ रहे हैं।

मरुप्रदेश में 'सुवरी' नामक एक गांव था। वहां बग नाम का किसान रहता था। एक बार वह अपने खेत में मोठ, बाजरी बोकर ससुराल गया। वहां ईख बहुत होते थे। ससुराल वालों ने दामाद के स्वागत में ईक्षुरस के मालपूए बनाए। उसे बहुत स्वादिष्ट लगे। भोजन के पश्चात् उसने अपने ससुर से ईक्षु बोने की विधि पूछी। उन्होंने ईक्षु बोने से लेकर मालपूए बनाने तक की सारी प्रक्रिया बता दी। ससुराल से आते समय वह बोने के लिए ईक्षुखंड भी ले आया। वह अपने गांव पहुंचा। मोठ-बाजरे की फसल अच्छी थी। उसने मोठ-बाजरे को उखाड़ फेंका। खेत साफ कर उसमें ईक्षु बो दिया। मरुप्रदेश में पानी है कहां! बिना पानी के ईक्षु की खेती होती नहीं। ईक्षु बोने का प्रयत्न व्यर्थ गया। उस खेत से उसे न मोठ-बाजरे की फसल ही प्राप्त हुई और न ईक्षु ही मिले। वह दोनों को खो बैठा। वह न इधर का रहा न उधर का—'नो हव्वाए नो पाराए।'

### ४५. कामभोग की इच्छा करने वाले (कामे पत्थेमाणा)

नमि राजर्षि ने कहा—इन्द्र! कामभोग की इच्छा करने वाले उनका सेवन न करने पर भी दुर्गति में जाते हैं तो भला, असद् भोगों की वांछा की, जो तुमने मेरे प्रति संभावना की है, वह सर्वथा असंगत है, क्योंकि मुमुक्षु व्यक्ति कहीं भी आकांक्षा नहीं करता। कहा भी है—'मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः'—मुनि मोक्ष और संसार के प्रति सर्वथा निस्पृह होता है, इसलिए इंद्र! तुम्हारा कथन सार्थक नहीं है।

### ४६. (श्लोक ५३)

प्रस्तुत श्लोक में काम को शल्य, विष और आशीविष सर्प के तुल्य कहा गया है। काम की चुभन निरंतर बनी रहती है, इसलिए वह शल्य (अन्तर्व्रण) है। उसमें मारक-शक्ति है, इसलिए वह विष है। आशीविष सर्प वे होते हैं जिनकी दाढाओं में विष होता है। वे मणिधारी सर्प होते हैं। उनकी दीप्तमणि से विभूषित फण लोगों को सुंदर लगते हैं। लोग उन फणों का स्पर्श करने की इच्छा का संवरण नहीं कर पाते। ज्योंही वे उन सर्पों का स्पर्श करते हैं, तत्काल उनके द्वारा डसे जाने पर मृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार काम भी लुभावने होते हैं और प्राणी इनका सहज शिकार हो जाता है।[1]

गीता में कहा है—जो व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों का निरन्तर चिंतन करता रहता है, उसके मन में आसक्ति पैदा होती है। आसक्ति से काम-वासना उभरती है। उससे क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति-विभ्रम और स्मृति-विभ्रम से बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धि नष्ट होने पर वह व्यक्ति नष्ट हो जाता है।[2]

### ४७. (श्लोक ५४)

प्रस्तुत श्लोक में क्रोध, मान, माया और लोभ के परिणामों का प्रतिपादन है। जो व्यक्ति कामनाओं के वशीभूत होता है, प्राप्त भोगों में आसक्त होता है और अप्राप्त भोगों को सतत वांछा करता है, उसमें ये चारों कषाय अवश्य होते हैं। भोगों की वांछा के साथ इनका होना अनिवार्य है। ये चारों अधोगति के हेतु हैं।

यहां क्रोध से नरकगति, मान से अधम गति, माया से सुगति का विनाश अर्थात् दुर्गति की प्राप्ति और लोभ से ऐहिक तथा पारलौकिक दुःख की प्राप्ति का उल्लेख है। अनुसंधान के लिए देखें—२९।४।

स्थानांग (४।६२९) में माया को तिर्यञ्चयोनि का कारण माना है।

आयुर्वेद में हृदय-दौर्बल्य, अरुचि, अग्निमांद्य आदि का मूल कारण लोभ माना है। यह व्यवहार संगत भी है। क्योंकि लोभी व्यक्ति सदा भयभीत रहता है, सत्य कहने या स्वीकारने में उसका हृदय निर्बल हो जाता है। निरंतर अर्थार्जन की बात सोचते रहने से उसमें अरुचि और अग्निमांद्य का होना स्वाभाविक है।

### ४८. मुकुट को धारण करने वाला (तिरीडी)

जिसके तीन शिखर हों उसे 'मुकुट' और जिसके चौरासी शिखर हों उसे 'किरीट' कहा जाता है।[3] जिसके सिर पर किरीट हो वह 'किरीटी' कहलाता है।[4] सामान्यतया मुकुट और किरीट पर्यायवाची माने जाते हैं।

### ४९. (नमी नमेइ अप्पाणं)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[5]—

१. राजर्षि नमि ने अपने उत्प्रेरित आत्मा को स्वतत्त्वभावना से प्रगुणित किया, किन्तु इन्द्र की स्तुति सुनकर गर्वित नहीं हुए।

२. इन्द्र की स्तुति सुनकर नमि ने अपने आपको संयम के प्रति और अधिक संलग्न कर दिया।

आचार्य नेमिचन्द्र ने यहां एक श्लोक प्रस्तुत किया है[6]—

***'संतगुणकित्तणेण वि, पुरिसा लज्जंति जे महासत्ता।***
***इयरे पुण अलियपसंसणे वि अंगे न मायंति॥'***

### ५०. वैदेही (मिथिला) (वइदेही)

नमि विदेह जनपद के अधिपति थे, इसलिए उन्हें 'विदेही' कहा है। 'वइदेही' का दूसरा संस्कृत रूप 'वैदेही' है। विभक्ति का व्यत्यय माना जाए तो इसका अर्थ 'वैदेही' (मिथिला को) किया जा सकता है।[7]

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१८।
२. गीता २।६२, ६३।
३. सूत्रकृताङ्ग चूर्णि, पृ० ३६० : तिहिं सिहरएहिं मउडो चतुरसीहिं किरीडं।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१९ : किरीटी च-मुकुटवान्।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१९-३२०।
६. सुखबोधा, पत्र १५३।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३२० : 'वइदेहीत्ति सूत्रत्वाद्विदेहो नाम जनपदः सोऽस्यास्तीति विदेही विदेहजनपदाधिपो, न त्वन्य एव कश्चिदिति भावः, यद्वा—विदेहेषु भवा वैदेही—मिथिलापुरी, सुव्यत्ययात्ताम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# दसमं अज्झयणं

## दुमपत्तयं

# दशवां अध्ययन

## द्रुमपत्रक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन का नाम आद्य-पद (आदान-पद) 'दुमपत्तए' के आधार पर 'दुमपत्रक' रखा गया है।[1]

कई कारणों से गौतम गणधर के मन में विचिकित्सा हुई। भगवान् महावीर ने उसका निराकरण करने के लिए इस अध्ययन का प्रतिपादन किया। निर्युक्तिकार तथा बृहद्वृत्तिकार ने यहा एक कथानक का उल्लेख किया है। उसका संक्षेप इस प्रकार है—

उस काल और उस समय पृष्ठचम्पा नाम की नगरी थी। वहां शाल नाम का राजा था और युवराज का नाम था महाशाल। उसके यशस्वती नाम की बहिन थी। उसके पति का नाम पिठर था। उसके एक पुत्र हुआ। उसका नाम गागली रखा गया। एक बार भगवान् महावीर राजगृह से विहार कर पृष्ठचम्पा पधारे। सुभूमि-भाग उद्यान में ठहरे। राजा शाल भगवान् की वन्दना करने गया। भगवान् से धर्म सुना और विरक्त हो गया। उसने भगवान् से प्रार्थना की—"भन्ते! मैं महाशाल का राज्याभिषेक कर दीक्षित होने के लिए अभी वापस आ रहा हूं।" वह नगर में गया। महाशाल से सारी बात कही। उसने भी दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की। वह बोला—"मैं आपके साथ ही प्रव्रजित होऊंगा।" राजा ने अपने भानजे गागली को काम्पिल्यपुर से बुलाया और उसे राज्य का भार सौंप दिया। गागली अब राजा हो गया। उसने अपने माता-पिता को भी वहीं बुला लिया। इधर शाल और महाशाल भगवान् के पास दीक्षित हो गए। यशस्वती भी श्रमणोपासिका हुई। उन दोनों श्रमणों ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

भगवान् महावीर पृष्ठचम्पा से विहार कर राजगृह गए। वहां से विहार कर चम्पा पधारे। शाल और महाशाल भगवान् के पास आए और प्रार्थना की—"यदि आपकी अनुज्ञा हो तो हम पृष्ठचम्पा जाना चाहते हैं। सम्भव है किसी को प्रतिबोध मिले और कोई सम्यग्दर्शी बने।" भगवान् ने अनुज्ञा दी और गौतम के साथ उन्हें वहां भेजा। वे पृष्ठचम्पा गए। वहां के राजा गागली और उसके माता-पिता को दीक्षित कर वे पुनः भगवान् महावीर के पास आ रहे थे। मार्ग में चलते-चलते मुनि शाल और महाशाल के अध्यवसायों की पवित्रता बढ़ी और वे केवली हो गए। गागली और उसके माता-पिता—तीनों को केवलज्ञान हुआ। सभी भगवान् के पास पहुंचे। गौतम ने भगवान् की वन्दना की और उन सबको वन्दना करने के लिए कहा। भगवान् ने गौतम को सम्बोधित कर कहा "गौतम! केवलियों की आशातना मत करो।" गौतम ने उनसे क्षमा-याचना की, पर मन शंकाओं से भर गया। उन्होंने सोचा—"मैं सिद्ध नहीं होऊंगा।"

एक बार गौतम अष्टापद पर्वत पर गए। वहां पहले से ही तीन तापस अपने-अपने पांच-पांच सौ शिष्यों के परिवार से तप कर रहे थे। उनके नाम थे कौडिन्य, दत्त और शैवाल।

दत्त बेले-बेले की तपस्या करता। वह नीचे पड़े पीले पत्ते खा कर रहता था। वह अष्टापद की दूसरी मेखला तक ही चढ़ पाया।

कौडिन्य उपवास-उपवास की तपस्या करता और पारणे में मूल, कन्द आदि सचित्त आहार करता था। वह अष्टापद पर्वत पर चढ़ा किन्तु एक मेखला से आगे नहीं जा सका।

शैवाल तेले-तेले की तपस्या करता था। वह सूखी शैवाल (सेवार) खाता था। वह अष्टापद की तीसरी मेखला तक ही चढ़ सका।

गौतम आए। तापस उन्हें देख परस्पर कहने लगे—"हम महातपस्वी भी ऊपर नहीं जा सके, तो यह कैसे जाएगा?" *गौतम ने जंघाचरण-लब्धि का प्रयोग किया और मकड़ी के जाले का सहारा ले पर्वत पर चढ़ गये। तापसों ने आश्चर्य* भरी आंखों से यह देखा और वे अवाक् रह गए। उन्होंने मन ही मन यह निश्चय कर लिया कि ज्योंही मुनि नीचे उतरेंगे, हम उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेंगे। गौतम ने रात्रिवास पर्वत पर ही किया। जब सुबह वे नीचे उतरे, तब तापसों ने उनका रास्ता रोकते हुए कहा—"हम आपके शिष्य हैं और आप हमारे आचार्य।" गौतम ने कहा—"तुम्हारे और हमारे आचार्य त्रैलोक्य गुरु भगवान् महावीर हैं।" तापसों ने साश्चर्य पूछा—"तो क्या आपके भी आचार्य हैं?" गौतम ने भगवान् के गुणगान किए और सभी तापसों को प्रव्रजित कर भगवान् की दिशा में चल पड़े। मार्ग में भिक्षा-वेला के समय भोजन करते-करते शैवाल तथा उसके सभी शिष्यों को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। दत्त तथा उसके शिष्यों को छत्र आदि अतिशय देख कर केवलज्ञान हुआ। कौडिन्य तथा उसके शिष्यों को भगवान् महावीर को देखते ही केवलज्ञान हो गया।[2] गौतम इस

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २८३ :
दुमपत्तेणोवम्मं अहाठिईए उवक्कमेण च।
इत्थ कयं आइमी तो तं दुमपत्तमज्झयणं।।

२. समवाओ (प्रकीर्णक समवाय ३८) में भगवान् महावीर के केवलज्ञानी शिष्यों की संख्या सात सौ है। प्रस्तुत कथा के अनुसार पन्द्रह सौ की संख्या केवल इन्हीं तापसों की हो जाती है। यह आगम के अनुसार संगत नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति से अनभिज्ञ थे। सभी भगवान् के पास आए। गौतम ने वंदना की, स्तुति की। वे सभी तापस मुनि केवली परिषद् में चले गए। गौतम ने उन्हें भगवान् की वन्दना करने के लिए कहा। भगवान् ने कहा—"गौतम! केवलियों की आशातना मत करो।" गौतम ने 'मिच्छामि दुक्कडं' लिया।

गौतम का धैर्य टूट गया। भगवान् ने उनके मन की बात जान ली। उन्होंने कहा—"गौतम! देवताओं का वचन प्रमाण है या जिनवर का?"

गौतम ने कहा—"भगवन्! जिनवर का वचन प्रमाण है।"

भगवान् ने कहा—"गौतम! तू मुझ से अत्यन्त निकट है, चिर-संसृष्ट है। तू और मैं—दोनों एक ही अवस्था को प्राप्त होंगे। दोनों में कुछ भी भिन्नता नहीं रहेगी।" भगवान् ने गौतम को सम्बोधित कर 'दुमपत्तए' (द्रुमपत्रक) अध्ययन कहा।[1]

इस अध्ययन के प्रत्येक श्लोक के अन्त में 'समयं गोयम! मा पमायए' है। निर्युक्ति (गा० ३०६) में 'तण्णिस्साए भगवं सीसाणं देइ अनुसट्ठिं'—यह पद है। इसका तात्पर्य है कि भगवान् महावीर गौतम को सम्बोधित कर उनकी निश्राय में, अन्य सभी शिष्यों को अनुशासन—शिक्षा देते हैं।

दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा ७८ में 'निश्रावचन' का उदाहरण यही अध्ययन है।[2] इसकी चर्चा आवश्यक निर्युक्ति में भी मिलती है।

इस अध्ययन में जीवन की अस्थिरता, मनुष्य भव की दुर्लभता, शरीर तथा इन्द्रिय बल की उत्तरोत्तर क्षीणता, स्नेहापनयन की प्रक्रिया, वान्त भोगों को पुनः स्वीकार न करने की शिक्षा आदि-आदि का सुन्दर चित्रण है।

---

१. (क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २८१-३०६।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३२३-३३३ : तेणं कालेणं तेणं समएणं पिट्ठीचंपा णाम णयरी...ताधे सामी दुमपत्तयं णाम अज्झयणं पण्णवेइ।

२. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा ७८ :
पुच्छाए कोणिओ खलु निस्सावयणंमि गोयमस्सामी।
नाहियवाइं पुच्छे जीवत्थित्तं अणिच्छंतं।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# दसमं अज्झयणं : दशवां अध्ययन
## दुमपत्तयं : द्रुमपत्रक

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. दुमपत्तए पंडुयए जहा<br>निवडइ राइगणाण अच्चए।<br>एवं मणुयाण जीवियं<br>समयं गोयम! मा पमायए।। | *द्रुमपत्रकं पाण्डुकं यथा*<br>*निपतति रात्रिगणानामत्यये।*<br>*एवं मनुजानां जीवितं*<br>*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।* | रात्रियां बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पत्ता[1] जिस प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर। |
| २. कुसग्गे जह ओसबिंदुए<br>थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।<br>एवं मणुयाण जीवियं<br>समयं गोयम! मा पमायए।। | *कुशाग्रे यथा 'ओस' बिन्दुकः*<br>*स्तोकं तिष्ठति लम्बमानकः।*<br>*एवं मनुजानां जीवितं*<br>*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।* | कुश[2] की नोक पर लटकते हुए ओस-बिन्दु की अवधि जैसे थोड़ी होती है वैसे ही मनुष्य जीवन की गति है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर। |
| ३. इइ इत्तरियम्मि आउए<br>जीवियए बहुपच्चवायए।<br>विहुणाहि रयं पुरेकडं<br>समयं गोयम! मा पमायए।। | *इतीत्वरिके आयुषि*<br>*जीवितके बहुप्रत्यपायके।*<br>*विधुनीहि रजः पुराकृतं*<br>*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।* | यह आयुष्य क्षणभंगुर[3] है, यह जीवन विघ्नों से भरा हुआ[4] है, इसलिए हे गौतम! तू पूर्व संचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर और क्षण भर भी प्रमाद मत कर। |
| ४. दुलहे खलु माणुसे भवे<br>चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।<br>गाढा य विवाग कम्मुणो<br>समयं गोयम! मा पमायए।। | *दुर्लभः खलु मानुषो भवः*<br>*चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम्।*<br>*गाढाश्च विपाकाः कर्मणः*<br>*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।* | सब प्राणियों को चिरकाल तक भी मनुष्य-जन्म मिलना दुर्लभ है। कर्म के विपाक तीव्र होते हैं[5], इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर। |
| ५. पुढविक्कायमइगओ<br>उक्कोसं जीवो उ संवसे।<br>कालं संखाईयं<br>समयं गोयम! मा पमायए।। | *पृथिवीकायमतिगतः*<br>*उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।*<br>*कालं संख्यातीतं*<br>*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।* | पृथ्वीकाय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असंख्य काल तक वहां रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर। |
| ६. आउक्कायमइगओ<br>उक्कोसं जीवो उ संवसे।<br>कालं संखाईयं<br>समयं गोयम! मा पमायए।। | *अप्कायमतिगतः*<br>*उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।*<br>*कालं संख्यातीतं*<br>*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।* | अप्काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असंख्य काल तक वहां रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर। |
| ७. तेउक्कायमइगओ<br>उक्कोसं जीवो उ संवसे।<br>कालं संखाईयं<br>समयं गोयम! मा पमायए।। | *तेजस्कायमतिगतः*<br>*उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।*<br>*कालं संख्यातीतं*<br>*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।* | तेजस्काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असंख्य काल तक वहां रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर। |
| ८. वाउक्कायमइगओ<br>उक्कोसं जीवो उ संवसे।<br>कालं संखाईयं<br>समयं गोयम! मा पमायए।। | *वायुकायमतिगतः*<br>*उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।*<br>*कालं संख्यातीतं*<br>*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।* | वायुकाय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असंख्य काल तक वहां रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. वणस्सइकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणंतदुरंतं
समयं गोयम! मा पमायए।।

*वनस्पतिकायमतिगतः*
*उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।*
*कालमनन्तं दुरन्तं*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

वनस्पतिकाय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक दुरन्त अनन्त काल तक वहां रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१०. बेइंदियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं
समयं गोयम! मा पमायए।।

*द्वीन्द्रियकायमतिगतः*
*उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।*
*कालं संख्येयसंज्ञितं*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

द्वीन्द्रियकाय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक संख्येय काल तक वहां रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

११. तेइंदियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं
समयं गोयम! मा पमायए।।

*त्रीन्द्रियकायमतिगतः*
*उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।*
*कालं संख्येयसंज्ञितं*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

त्रीन्द्रियकाय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक संख्येय काल तक वहां रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१२. चउरिंदियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं
समयं गोयम! मा पमायए।।

*चतुरिन्द्रियकायमतिगतः*
*उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।*
*कालं संख्येयसंज्ञितं*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

चतुरिन्द्रिकाय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक संख्येय काल तक वहां रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१३. पंचिंदियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तट्ठभवग्गहणे
समयं गोयम! मा पमायए।।

*पंचेन्द्रियकायमतिगतः*
*उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।*
*सप्ताष्टभवग्रहणानि*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

पंचेन्द्रियकाय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक सात-आठ जन्म-ग्रहण तक वहां रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१४. देवे नेरइए य अइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्किक्कभवग्गहणे
समयं गोयम! मा पमायए।।

*देवान्नैरयिकांश्चातिगतः*
*उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।*
*एकैकभवग्रहणं*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

देव और नरक-योनि में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक एक-एक जन्म-ग्रहण तक वहां रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।[8]

१५. एवं भवसंसारे
संसरइ सुहासुहेहि कम्मेहिं।
जीवो पमायबहुलो
समयं गोयम! मा पमायए।।

*एवं भवसंसारे*
*संसरति शुभाशुभैः कर्मभिः।*
*जीवः प्रमादबहुलः*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

इस प्रकार प्रमाद-बहुल जीव शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा जन्म-मृत्युमय संसार में परिभ्रमण करता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।[9]

१६. लद्धूण वि माणुसत्तणं
आरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलेक्खुया
समयं गोयम! मा पमायए।।

*लब्ध्वापि मानुषत्वं*
*आर्यत्वं पुनरपि दुर्लभम्।*
*बहवो दस्यवो म्लेच्छाः*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

मनुष्य-जन्म दुर्लभ है, उसके मिलने पर भी आर्यत्व[5] और भी दुर्लभ है। बहुत से लोग मनुष्य होकर भी दस्यु और म्लेच्छ[6] होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१७. लद्धूण वि आरियत्तणं
अहीणपंचिंदियया हु दुल्लहा।
विगलिंदियया हु दीसई
समयं गोयम! मा पमायए।।

*लब्ध्वाप्यार्यत्वं*
*अहीनपंचेन्द्रियता खलु दुर्लभा।*
*विकलेन्द्रियता खलु दृश्यते*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

आर्य देश में जन्म मिलने पर भी पांचों इन्द्रियों से पूर्ण स्वस्थ होना दुर्लभ है। बहुत से लोग इन्द्रियहीन[10] दीख रहे हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे
समयं गोयम! मा पमायए।।

*अहीनपंचेन्द्रियत्वमपि स लभेत*
*उत्तमधर्मश्रुतिः खलु दुर्लभा।*
*कुतीर्थिनिषेवको जनो*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

पांचों इन्द्रियां पूर्ण स्थान होने पर भी उत्तम धर्म[११] की श्रुति दुर्लभ है। बहुत सारे लोग कुतीर्थिकों[१२] की सेवा करने वाले होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१९. लद्धूण वि उत्तमं सुइं
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे
समयं गोयम! मा पमायए।।

*लब्ध्वाप्युत्तमां श्रुतिं*
*श्रद्धानं पुनरपि दुर्लभम्।*
*मिथ्यात्वनिषेवको जनो*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

उत्तम धर्म की श्रुति मिलने पर भी श्रद्धा होना और अधिक दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मिथ्यात्व का सेवन करने वाले होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२०. धम्मं पि हु सद्दहंतया
दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया
समयं गोयम! मा पमायए।।

*धर्ममपि खलु श्रद्दधतः*
*दुर्लभकाः कायेन स्पर्शकाः।*
*इह कामगुणेषु मूर्च्छिताः*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

उत्तम धर्म में श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण करने वाले दुर्लभ हैं। इस लोक में बहुत सारे कामगुणों में मूर्च्छित[१३] होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२१. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से सोयबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए।।

*परिजीर्यति ते शरीरकं*
*केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।*
*तच्छोत्रबलं च हीयते*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है,[१४] केश सफेद हो रहे हैं और श्रोत्र का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२२. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से चक्खुबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए।।

*परिजीर्यति ते शरीरकं*
*केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।*
*तच्चक्षुर्बलं च हीयते*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और चक्षु का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२३. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से घाणबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए।।

*परिजीर्यति ते शरीरकं*
*केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।*
*तद् घ्राणबलं च हीयते*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और घ्राण का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२४. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से जिब्भबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए।।

*परिजीर्यति ते शरीरकं*
*केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।*
*तज्जिह्वाबलं च हीयते*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और जीभ का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२५. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से फासबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए।।

*परिजीर्यति ते शरीरकं*
*केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।*
*तत् स्पर्शबलं च हीयते*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और स्पर्श का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।[१५]

२६. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पंडुरया हवंति ते।
से सव्वबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए।।

*परिजीर्यति ते शरीरकं*
*केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।*
*तत् सर्वबलं च हीयते*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और सब प्रकार का पूर्ववर्ती बल[१६] क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७.अरई गंडं विसूइया
आयंका विविहा फुसंति ते।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं
समयं गोयम! मा पमायए।।

*अरतिर्गण्डं विसूचिका*
*आतङ्का विविधाः स्पृशन्ति ते।*
*विपतति विध्वस्यते ते शरीरकं*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

पित्त-रोग,[१७] फोड़ा-फुन्सी, हैजा[१८] और विविध प्रकार के शीघ्रघाती रोग शरीर का स्पर्श करते हैं जिनसे यह शरीर शक्तिहीन और विनष्ट होता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२८.वोछिंद सिणेहमप्पणो
कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए
समयं गोयम! मा पमायए।।

*व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मनः*
*कुमुदं शारदिकमिव पानीयम्।*
*तत्सर्वस्नेहवर्जितः*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

जिस प्रकार शरद ऋतु का कुमुद (रक्त-कमल) जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त बन। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।[१९]

२९.चिच्चाण धणं च भारियं
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आइए
समयं गोयम! मा पमायए।।

*त्यक्त्वा धनं च भार्यां*
*प्रव्रजितोह्यस्यनगारिताम्।*
*मा वान्तं पुनरप्यापिब*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

गाय आदि धन और पत्नी का त्याग कर तू अनगार-वृत्ति के लिए घर से निकला है। वमन किए हुए काम-भोगों को फिर से मत पी। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३०.अवउज्झिय मित्तबंधवं
विउलं चेव धणोहसंचयं।
मा तं बिइयं गवेसए
समयं गोयम! मा पमायए।।

*अपोज्झ्य मित्रबान्धवं*
*विपुलं चैव धनौघसंचयम्।*
*मा तद् द्वितीयं गवेषय*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

मित्र, बान्धव और विपुल धन-राशि को छोड़कर फिर से उनकी गवेषणा मत कर। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३१.न हु जिणे अज्ज दिस्सई
बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे
समयं गोयम! मा पमायए।।

*न खलु जिनोऽद्य दृश्यते*
*बहुमतो दृश्यते मार्गदेशिकः।*
*सम्प्रति नैर्यातृके पथि*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

"आज जिन नहीं दीख रहे हैं, जो मार्ग-दर्शक हैं वे एकमत नहीं हैं"—अगली पीढ़ियों को इस कठिनाई का अनुभव होगा, किन्तु अभी मेरी उपस्थिति में तुझे पार ले जाने वाला पथ प्राप्त है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।[२०]

३२.अवसोहिय कंटगापहं
ओइण्णो सि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया
समयं गोयम! मा पमायए।।

*अवशोध्य कंटकपथं*
*अवतीर्णोऽसि पथं महान्तं।*
*गच्छसि मार्गं विशोध्य*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

कांटों से भरे मार्ग को छोड़ कर तू विशाल पथ पर चला आया है।[२१] दृढ़ निश्चय के साथ[२२] उसी मार्ग पर चल। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३३.अबले जह भारवाहए
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए
समयं गोयम! मा पमायए।।

*अबलो यथा भारवाहकः*
*मा मार्गं विषममवगाह्य।*
*पश्चात्पश्चादनुतापकः*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

बलहीन भार-वाहक की भांति तू विषम-मार्ग में मत चले जाना। विषम मार्ग में जाने वाले को पछतावा होता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।[२३]

३४.तिण्णो हु सि अण्णवं महं
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए
समयं गोयम! मा पमायए।।

*तीर्णः खलु असि अर्णवं महान्तं*
*किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः।*
*अभित्वरस्व पारं गन्तुं*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

तू महान् समुद्र को तैर गया, अब तीर के निकट पहुंच कर क्यों खड़ा है?[२४] उसके पार जाने के लिए जल्दी कर। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।[२५]

३५.अकलेवरसेणिमुस्सिया
सिद्धिं गोयम! लोयं गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं
समयं गोयम! मा पमायए।।

*अकलेवरश्रेणिमुच्छ्रित्य*
*सिद्धिं गौतम! लोकं गच्छसि।*
*क्षेमं च शिवमनुत्तरं*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

हे गौतम! तू क्षपक-श्रेणी पर[२६] आरूढ़ होकर उस सिद्धिलोक को प्राप्त होगा, जो क्षेम, शिव और अनुत्तर है। इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६.बुद्धे परिनिव्वुडे चरे
गामगए नगरे व संजए।
संतिमग्गं च बूहए
समयं गोयम! मा पमायए।।

*बुद्धः परिनिर्वृतश्चरेः*
*ग्रामे गतो नगरे वा संयतः।*
*शान्तिमार्गं च बृंहयेः*
*समयं गौतम! मा प्रमादीः।।*

तू गांव में या नगर में संयत, बुद्ध और उपशान्त होकर विचरण कर, शांतिमार्ग को[२७] बढ़ा। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३७.बुद्धस्स निसम्म भासियं
सुकहियमट्ठपओवसोहियं।
रागं दोसं च छिंदिया
सिद्धिगइं गए गोयमे।।

*बुद्धस्य निशम्य भाषितं*
*सुकथितमर्थपदोपशोभितम्।*
*रागं दोषं च छित्त्वा*
*सिद्धिगतिं गतो गौतमः।।*

अर्थपद (शिक्षापद) से[२८] उपशोभित एवं सुकथित भगवान् की वाणी को सुनकर राग और द्वेष का छेदन कर गौतम सिद्धिगति को प्राप्त हुए।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन १० : द्रुमपत्रक

## १. वृक्ष का पका हुआ पत्ता (दुमपत्तए पंडुयए)

जीवन की नश्वरता को पके हुए द्रुम-पत्र की उपमा से समझाया गया है। निर्युक्तिकार ने यहां पके हुए पत्र और कोंपल का एक उद्बोधक संवाद प्रस्तुत किया है। पके हुए पत्र ने किसलयों से कहा—"एक दिन हम भी वैसे ही थे, जैसे कि तुम हो और एक दिन तुम भी वैसे ही हो जाओगे, जैसे कि हम हैं।"[1]

अनुयोगद्वार में इस कल्पना को और अधिक सरस रूप दिया गया है। पके हुए पत्तों को गिरते देख कोंपलें हंसीं। तब पत्तों ने कहा—"जरा ठहरो, एक दिन तुम पर भी वही बीतेगी, जो आज हम पर बीत रही है।"[2]

तुलना—

***पान पड़ंतो देख नै, हंसी रे कोंपलियां।***
***मों बीती तों बीतसी, धीरी बापडियां।।***

जैसे वृन्त से टूटते हुए पीले पत्ते ने किसलयों को मर्म की बात कही, वैसे ही जो पुरुष यौवन से मत्त होते हैं, उन्हें यह सोचना चाहिए[3]—

***परिभवसि किमिति लोकं, जरसा परिजर्जरीकृतशरीरम्।***
***अचिरात् त्वमपि भविष्यसि, यौवनगर्वं किमुद्वहसि ?***

**'पंडुयए'**—इसका शाब्दिक अर्थ—सफेद-पीला या सफेद रंग है। वृक्ष का पत्ता पकने पर इस रंग का हो जाता है। इसके दो कारण हैं—(१) काल का परिपाक (२) किसी रोग-विशेष का आक्रमण। पंडुयए का भावानुवाद 'पका हुआ' किया गया है।[4]

## २. कुश (कुस)

यह दर्भजाति या तृणविशेष है। यह दर्भ से पतला होता है और इसकी नोंक तीखी होती है।[5]

## ३. क्षणभंगुर (इत्तरियम्मि)

इत्वरिक का अर्थ है—अल्पकालिक। वर्तमान में सौ वर्ष की आयु मानी जाती है। यह सामान्य नियम है।[6] विशेष रूप में वह अधिक भी हो सकती है।

## ४. विघ्नों से भरा हुआ (पच्चवायए)

प्रत्यपाय का अर्थ है—विघ्न। जीवन को घटाने या उसका उपघात करने वाले अनेक हेतु हैं। स्थानांग सूत्र में आयुष्य-भेद के सात कारण निर्दिष्ट हैं[7]—

१. अध्यवसान—राग, स्नेह, भय आदि की तीव्रता।
२. निमित्त—शस्त्रप्रयोग आदि।
३. आहार—आहार की न्यूनाधिकता।
४. वेदना—नयन आदि की तीव्रतम वेदना।
५. पराघात—गढे आदि में गिरना।
६. स्पर्श—सर्प आदि का स्पर्श।
७. आन-अपान—उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध।

## ५. कर्म के विपाक तीव्र होते हैं (गाढा य विवाग कम्मुणो)

गाढ के दो अर्थ हैं—चिकना और दृढ़। 'विवाग कम्मुणो'—कर्म का विपाक—यहां विशेष अर्थ का द्योतक है। इस वाक्यांश के द्वारा मनुष्यगति की विघातक प्रकृतियों का ग्रहण किया गया है। मनुष्यगति प्राप्त होना सुलभ नहीं है—यह इसका तात्पर्यार्थ है।[8] जीव अन्यान्य जीव-निकायों में चिरकाल तक रह सकता है, किन्तु मनुष्य भव में उसकी स्थिति अल्प होती है, इसलिए उसकी प्राप्ति दुर्लभ मानी जाती है।[9]

## ६. (श्लोक ५—१४)

जीव एक जन्म में जितने काल तक जीते हैं, उसे 'भव-स्थिति' कहा जाता है और मृत्यु के पश्चात् उसी जीव-निकाय के शरीर में उत्पन्न होने को 'काय-स्थिति' कहा जाता है।[10] देव और नारकीय जीव मृत्यु के पश्चात् पुनः देव और नारक नहीं बनते। उनके 'भव-स्थिति' ही होती है,

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३०८ :
जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भेवि अ होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडंत पंडुरवत्तं किसलयाणं।।

२. अणुओगदाराइं, सूत्र ५६६ :
परिजरियपेरंतं, चलंतबेंटं पडंतनिच्छीरं।
पत्तं वसणप्पत्तं, कालप्पत्तं भणइ गाहं।।
जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हेऽवि अ होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं।।

३. सुखबोधा, पत्र १६०।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३३३ : 'पंडुयए' त्ति आर्षत्वात् पाण्डुरकं कालपरिणामतस्तथाविधरोगादेर्वा प्राप्तवलक्षभावम्।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८८ : कुसो दब्भसरिसो...तत् कुशो हि तनुतरो भवति दर्भात्।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८८ : इत्तरियं अल्पकालिकं वर्षशतमात्रं।

७. ठाणं ७।७२ : सत्तविधे आउभेदे पण्णत्ते, तं जहा—
अज्झवसाणणिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाते।
फासे आणापाणू, सत्तविधे भिज्जए आउं।।

८. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८८, १८६।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३५।

९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८६ : सुदुर्लभं मानुष्यं यस्माद् अन्येषु जीवस्थानेषु चिरं जीवोऽवतिष्ठते, मनुष्यत्वे तु स्तोकं कालमित्यतो दुर्लभं।

१०. स्थानांग, २।२५६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'काय-स्थिति' नहीं होती।[1] तिर्यंच और मनुष्य मृत्यु के पश्चात् पुनः तिर्यंच और मनुष्य बन सकते हैं इसलिए उनके 'काय-स्थिति' भी होती है।[2] पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के जीव लगातार असंख्य अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी परिमित काल तक अपने-अपने स्थानों में जन्म लेते रहते हैं। वनस्पतिकाय के जीव अनंत काल तक वनस्पतिकाय में ही रह जाते हैं।[3] दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीव हजारों-हजारों वर्षों तक अपने-अपने निकायों में जन्म ले सकते हैं। पांच इन्द्रिय वाले जीव लगातार एक सरीखे सात-आठ जन्म ले सकते हैं।

पांच इन्द्रिय वाले तिर्यंच जीवों की कायस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्टतः तीन पल्योपम पृथक् पूर्वकोटि की है।[4] पृथक् पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—दो से नौ तक। पृथक् पूर्वकोटि अर्थात् दो से नौ पूर्वकोटि तक। तीन पल्योपम का आयुष्य यौगलिक तिर्यंचों का होता है। इस दृष्टि से पांच इन्द्रिय वाले तिर्यंचों की उत्कृष्ट भवस्थिति एक कोटिपूर्व होने से सात भवों का कालमान सात कोटिपूर्व होता है। कोई तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव सात भव इस अवधि का करता है और आठवां भव तिर्यंच यौगलिक का करता है। कुल मिलाकर उसकी स्थिति तीन पल्य और सात कोटिपूर्व की हो जाती है।

## ७. (श्लोक १५)

जीव जो संसार में परिभ्रमण करता है, उसका हेतु बन्धन है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म जीव को बांधे हुए रहते हैं। ये बन्धन टूटते हैं तब जीव मुक्त हो जाते हैं।[5] इस श्लोक में संसार के हेतु का वर्णन है। बन्धन के इन दोनों प्रकारों और उनका नाश होने पर मुक्त होने का सिद्धान्त गीता में भी मिलता है।[6]

## ८. आर्यत्व (आरियत्तं)

आर्य नौ प्रकार के बतलाए गए हैं[7]—

| | |
|---|---|
| १. क्षेत्र आर्य | ६. भाषा आर्य |
| २. जाति आर्य | ७. ज्ञान आर्य |
| ३. कुल आर्य | ८. दर्शन आर्य |
| ४. कर्म आर्य | ९. चारित्र आर्य। |
| ५. शिल्प आर्य | |

प्रस्तुत प्रकरण में क्षेत्र की दृष्टि से आर्यत्व विवक्षित है। चूर्णिकार का अभिमत भी यही है।[8] क्षेत्रार्य की परिभाषा समय-समय पर बदलती रही है। प्रज्ञापना में क्षेत्रार्य का एक वर्गीकरण मिलता है। उसके अनुसार मगध, अंग, बंग आदि साढ़े पचीस देश क्षेत्रार्य माने गए हैं[9]—

| | | |
|---|---|---|
| १. मगध | १०. जांगल | १९. चेदि |
| २. अंग | ११. सौराष्ट्र | २०. सिंधु-सौवीर |
| ३. बंग | १२. विदेह | २१. शूरसेन |
| ४. कलिंग | १३. वत्स | २२. भंगि |
| ५. काशी | १४. शांडिल्य | २३. वट्ट |
| ६. कौशल | १५. मलय | २४. कुणाल |
| ७. कुरु | १६. मत्स्य | २५. लाढ |
| ८. कुशावर्त | १७. वरणा | अर्ध कैकय। |
| ९. पांचाल | १८. दशार्ण | |

## ९. दस्यु और म्लेच्छ (दसुया मिलेक्खुया)

दस्यु का अर्थ है देश की सीमा पर रहने वाला चोर।[10]

मिलेक्खु का अर्थ 'म्लेच्छ' है। सूत्रकृतांग में 'मिलक्खु'[11] और अभिधानप्पदीपिका में 'मिलक्ख' शब्द मिलता है।[12] यहां एकार अधिक है। यह शब्द संस्कृत के म्लेच्छ शब्द का रूपान्तर नहीं, किन्तु मूलतः प्राकृत भाषा का है।

जिसकी भाषा अव्यक्त होती है, जिसका कहा हुआ आर्य लोग नहीं समझ पाते, उन्हें म्लेच्छ कहा जाता है। वृत्तिकार ने शक, यवन, शबर आदि देशों में उत्पन्न लोगों को म्लेच्छ कहा है। वे आर्यों की व्यवहार-पद्धति—धर्म-अधर्म, गम्य-अगम्य, भक्ष्य-अभक्ष्य—से भिन्न प्रकार का जीवन जीते थे, इसलिए आर्य लोग उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे।[13] आचार्य नेमिचन्द्र ने म्लेच्छ देशों के कुछेक नाम तथा म्लेच्छ लोगों के व्यवहार का निदर्शन किया है।[14]

## १०. इन्द्रियहीन (विगलिंदियया)

'विकलेन्द्रिय'—यह जीवों का एक वर्गीकरण है। इसमें द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों का समाहार होता है। यहां विकलेन्द्रिय का प्रयोग इस पारिभाषिक अर्थ में नहीं है। इसका अर्थ है—इन्द्रियों की विकलता, आंख-कान आदि इन्द्रियों

---

१. स्थानांग, २।२६१ : दोण्हं भवट्ठिती.....।
२. वही, २।२६० : दोण्हं कायट्ठिती.....।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३३६।
४. जीवाजीवाभिगम ६।२२५।
५. उत्तराध्ययन, २१।२४।
६. (क) गीता, २।५० : बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम्।।
(ख) गीता, ९।२८ :
शुभाशुभफलैरेवं, मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तो मामुपैष्यसि।।
७. प्रज्ञापना १।९२।
८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९०।
९. प्रज्ञापना १।९३।
१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७ : दस्यवो—देशप्रत्यन्तवासिनश्चौरा।
११. सूयगडो, १।१।४२ : मिलक्खू अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताणुभासए।
ण हेउं से वियाणाइ, भासियं तऽणुभासए।।
१२. (क) अभिधानप्पदीपिका, २।७८६ : मिलक्ख देसो, पच्चन्तो।
(ख) वही, २।५१७ : मिलक्ख जातियो (प्यथ)।
१३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९०।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७ : 'मिलेक्खु य' त्ति म्लेच्छा—अव्यक्तवाचो, न यदुक्तमार्यैरवधार्यते, ते च शकयवनशबरादिदेशोद्भवाः, येऽप्यवाप्यापि मनुजत्वं जन्तुरूपद्यते, एते च सर्वेऽपि धर्माधर्मगम्यागम्यभक्ष्याभक्ष्यादिसकलार्यव्यवहारबहिष्कृतास्तिर्यक्प्राया एव।
१४. सुखबोधा, पत्र १९२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अभाव। यह अभाव धर्म की आराधना में बाधक बनता है।

### ११. उत्तम धर्म (उत्तम धम्म.....)

चूर्णिकार ने सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत धर्म को उत्तम धर्म माना है।[1] वृत्तिकार ने उत्तम का अर्थ श्रेष्ठ किया है।[2]

उमास्वाति ने दस यतिधर्मों के साथ उत्तम शब्द का प्रयोग किया है।[3] क्षमा धर्म की प्रकृष्ट साधना का नाम उत्तम क्षमा धर्म है। इसी प्रकार मार्दव आदि धर्मों की प्रकृष्ट साधना होती है तो उनके साथ उत्तम शब्द का प्रयोग होता है।

### १२. कुतीर्थिकों (कुतित्थि)

कुतीर्थिकों का अर्थ 'एकान्तदृष्टि वाला' और 'असत्य मंतव्य वाला दार्शनिक' है। वह जन-रुचि के अनुकूल उपदेश देता है इसीलिए उसकी सेवा करने वाले को उत्तम धर्म सुनने का अवसर ही नहीं मिलता।[4]

### १३. कामगुणों में मूर्च्छित (कामगुणेहिं मुच्छिया)

'कामगुण' का अर्थ है—इन्द्रियों के शब्द आदि विषय। गुण शब्द आयारो में भी विषय के अर्थ में प्रयुक्त है। जैसे मनुष्य पित्त आदि के प्रकोप से होने वाली मूर्च्छा से मूर्च्छित होकर लौकिक अपायों—दोषों का चिंतन नहीं कर पाता, वैसे ही मनुष्य इन्द्रिय-विषयों में मूर्च्छित होकर उसके परिणामों का चिन्तन नहीं करता हुआ दुःखी होता है।

आतुर व्यक्ति अपथ्य विषयों के प्रति आकर्षित होता है[5]—

***प्रायेण हि यदपथ्यं तदेव चातुरजनप्रियं भवति।***
***विषयातुरस्य जगतस्तथानुकूलाः प्रिया विषयाः।।***

### १४. जीर्ण हो रहा है (परिजूरइ)

इसका संस्कृत रूप 'परिजीर्यति' होता है और प्राकृत में 'निद्'[6] और 'खिद्'[7] धातु को 'जूर' आदेश होता है। इसलिए 'परिजूरइ' का अनुवाद 'जीर्ण हो रहा है' के अतिरिक्त 'अपने आपको कोस रहा है' या 'खिन्न हो रहा है' भी हो सकता है।

### १५. (श्लोक २०—२५)

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों में इन्द्रिय-विकास का क्रम इस प्रकार है—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

प्रस्तुत पांच सूत्रों में इन्द्रियों में ह्रास का क्रम बतलाया गया है। सबसे पहले श्रोत्रेन्द्रिय का ह्रास होना प्रारम्भ होता है, फिर क्रमशः चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय का ह्रास होता है। कादंबिनी के एक लेख में इन्द्रियों के ह्रास का प्रारम्भ इस प्रकार बताया गया है—

'मानव जीवन के इस काल में उसकी विभिन्न शक्तियां भी क्रम से क्षीण होती हैं। सबसे पहला लक्षण आंख पर प्रकट होता है। आंख के लेंस के लचीलेपन की कमी दसवें वर्ष में ही प्रारम्भ हो जाती है और साठ वर्ष की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते वह समाप्त हो जाती है। आंख की शक्ति के क्षय के दूसरे लक्षण हैं—दृष्टि के प्रसार में कमी, किसी चीज का साफ-साफ नजर न आना तथा हल्के प्रकाश में दिखलाई न पड़ना। ये लक्षण ४० वर्ष की उम्र में प्रारम्भ होते हैं। इसी प्रकार मानव की दूसरी शक्तियां भी कम होती हैं। स्वाद की तेजी ५० वर्ष की उम्र में घटने लगती है और घ्राण शक्ति ६० वर्ष की उम्र में। श्रवण शक्ति का क्षय तो २० वर्ष की उम्र में ही प्रारम्भ हो जाता है। मानव मस्तिष्क की ग्रहण-शक्ति २२ वर्ष की उम्र में सबसे अधिक होती है और उसके बाद घटती है पर वह अत्यन्त अल्प गति से। ४० वर्ष की उम्र के बाद घटने का क्रम कुछ बढ़ जाता है और ८० वर्ष की उम्र तक पहुंचने पर वह फिर उतनी रह जाती है।[8]

### १६. सब प्रकार का पूर्ववर्ती बल (सव्वबले)

चूर्णि में 'सर्वबल' के दो अर्थ प्राप्त हैं[9]—इन्द्रियों की शक्ति अथवा शारीरिक, वाचिक और मानसिक शक्ति।

शारीरिक शक्ति—प्राणबल, बैठने-चलने की शक्ति।

वाचिक शक्ति—स्निग्ध, गंभीर और सुस्वर में बोलने की शक्ति।

मानसिक शक्ति—ग्रहण और धारण करने में क्षम मनोबल।

शान्त्याचार्य ने भी सर्वबल के दो अर्थ किए हैं[10]—

१. हाथ, पैर आदि शारीरिक अवयवों की शक्ति।
२. मन, वचन और काया की ध्यान, अध्ययन, चंक्रमण आदि चेष्टाएं।

### १७. पित्त-रोग (अरई)

अरति के अनेक अर्थ होते हैं। शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'वायु आदि से उत्पन्न होने वाला चित्त का उद्वेग' किया है।[11] किन्तु इस श्लोक में शरीर का स्पर्श करने वाले रोगों का

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६० : उत्तमा—अनन्यतुल्या सर्वज्ञोक्ता धर्मस्य..।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७ : उत्तमधर्मविषयत्वादुत्तमा।
३. तत्त्वार्थसूत्र ९।६ : उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७ : कुत्सितानि च तानि तीर्थानि कुतीर्थानि च—शाक्यौलूक्यादिप्ररूपितानि तानि विद्यन्ते येषामनुष्ठेयतया स्वीकृतत्वात्ते कुतीर्थिनस्तान्नितरां सेवते यः स कुतीर्थिनिषेवको जनो—लोकः कुतीर्थिनो हि यशः सत्काराद्येषिणो यदेव प्राणिप्रियं विषयादि तदेवोपदिशन्ति, ततीर्थकृतामप्येवंविधत्वात्, उक्तं हि—
सत्कारयशोलाभार्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरैः।
अवसादितं जगदिदं प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः।।
इति सुकरैव तेषां सेवा, तत्सेविनां च कुत उत्तमधर्मश्रुतिः ?
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३३८।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र २३८ : यद् वा 'परिजूरइ' त्ति निन्देर्जूर इति प्राकृतलक्षणात् परिनिन्दतीत्यात्मानमिति गम्यते, यथा—धिग्मां कीदृशं जातमिति।
७. हेमशब्दानुशासन, ८।४।१३२ : खिदेर्जूरविसूरी।
८. कादम्बिनी, सितम्बर १९८५, 'जवानी के बिना यह देह शव है'—रतनलाल जोशी।
९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६१।
१०. बृहद्वृत्ति, पत्र २२८।
११. बृहद्वृत्ति, पत्र ३३८ : 'अरतिः' वातादिजनितश्चित्तोद्वेगः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख है। इस दृष्टि से अनुवाद में इसका अर्थ 'पित्त-रोग' किया गया है। अरति का अर्थ पित्त-रोग भी है।[1]

## १८. हैजा (विसूचिका)

यह वह रोग है जो शरीर में सूई की भांति चुभन पैदा करता है। वृत्तिकार ने इसे अजीर्ण-विशेष माना है।[2] आज की भाषा में इसे 'हैजा' कहा जा सकता है।

प्रस्तुत श्लोक के प्रसंग में आचार्य नेमिचन्द्र ने अन्य अनेक रोगों के नाम गिनाए हैं[3]—श्वास, खांसी, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगंदर, अर्स, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मुखशूल, अरुचि, अक्षिवेदना, खाज, कर्णबाधा, जलोदर, कोढ आदि।

## १९. (श्लोक २८)

इस श्लोक में भगवान् ने गौतम को स्नेह-मुक्त होने का उपदेश दिया है। गौतम पदार्थों में आसक्त नहीं थे। विषय-भोगों में भी उनका अनुराग नहीं था। केवल भगवान् से उन्हें स्नेह था। भगवान् स्वयं वीतराग थे। वे नहीं चाहते थे कि कोई उनके स्नेह-बंधन में बंधे। भगवान् के इस उपदेश की पृष्ठ-भूमि में उस घटना का भी समावेश होता है, जिसका एक प्रसंग में भगवान् ने स्वयं उल्लेख किया था। भगवान् ने कहा था—"गौतम! तू मेरा चिरकालीन सम्बन्धी रहा है।"[4]

प्रस्तुत—श्लोक के प्रथम दो चरण धम्मपद के मार्ग-वर्ग, श्लोक १३ से तुलनीय हैं—

***'उच्छिंद सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं व पाणिना।'***

अर्थात्—अपने प्रति आसक्ति को इस तरह काट दो जैसे शरद् ऋतु में हाथों से कमल का फूल काट दिया जाता है।

शरद् ऋतु का कमल इतना कोमल होता है कि वह सहज ही हाथों से काटा जा सकता है। यह धम्मपद गत उपमा का आशय है। उत्तराध्ययन के टीकाकारों ने इस उपमा का आशय इस प्रकार व्यक्त किया है—"कुमुद पहले जल-मग्न होता है और बाद में जल के ऊपर आ जाता है।"[5]

निर्लेपता के लिए कमल की उपमा का प्रयोग सहज रूप में होता है। उत्तराध्ययन २५।२६ में लिखा है कि जैसे पद्म जल में उत्पन्न होकर भी उसमें लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो कामों से अलिप्त रहता है, वह ब्राह्मण है। निर्लेपता के लिए कुमुद और जल दो ही शब्द पर्याप्त हैं। स्नेह शारद-जल की तरह मनोरम होता है, यह दिखलाने के लिए शारद-पानीय का प्रयोग किया गया है।[6] धम्मपद में 'पाणिना' में तृतीया विभक्ति का एक वचन है और उसका अर्थ है 'हाथ'। उत्तराध्ययन में 'पाणियं' द्वितीया का एकवचन है और इसका अर्थ है 'जल'।

## २०. (श्लोक ३१)

चूर्णि और टीका में 'बहुमए' का अर्थ 'मार्ग'[7] और 'मग्गदेसिए' का अर्थ 'मोक्ष को प्राप्त करने वाला'[8] किया है। इसके अनुसार इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार होगा—"आज जिन नहीं दीख रहे हैं फिर भी उनके द्वारा निरूपित मोक्ष को प्राप्त कराने वाला मार्ग दीख रहा है—यह सोच भव्य लोग प्रमाद से बचेंगे। अभी मेरी उपस्थिति में तुझे न्यायपूर्ण पथ प्राप्त है, इसलिए.....।" किन्तु 'मग्गदेसिए' का अर्थ 'मार्ग का उपदेश देने वाला' और 'बहुमए' का अर्थ 'विभिन्न विचार रखने वाला' सहज संगत लगता है, इसलिए हमने अनुवाद में इन शब्दों का यही अर्थ किया है।

## २१. (श्लोक ३२)

**कंटकापहं**—इसका अर्थ है—कांटों से भरा मार्ग। कांटे दो प्रकार के होते हैं—(१) द्रव्य-कंटक—बबूल आदि के कांटे और (२) भाव-कंटक—मिथ्या या एकान्तदृष्टि वाले दार्शनिकों के वचन।[9]

**पहं महालयं**—यहां पथ का अर्थ है—सम्यग् दर्शन, सम्यग् चारित्रमय मोक्षमार्ग। महालय का अर्थ है—महामार्ग।[10]

## २२. दृढ़ निश्चय के साथ (विसोहिया)

इसका संस्कृत रूप है—विशोध्य। चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अतिचार से रहित करके—किया है।[11] वृत्ति में इसका अर्थ है—निश्चय करके।[12]

एक आचार्य अपने तीन शिष्यों के साथ एक नगर में

---

१. चरकसंहिता, ३०।६८ :
कमलां वातरक्तं च, विसर्पं हच्छिरोग्रहम्।
उन्मादारत्यपस्मारान्, वातपित्तात्मकान् जयेत्।।

२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९१ : सूचिरिव विध्यतीति विसूचिका।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २३८ : विध्यतीव शरीरं सूचिभिरिति विसूचिका—अजीर्णविशेषः।

३. सुखबोधा, पत्र १६३ :
सासे खासे जरे डाहे, कुच्छिसूले भगंदरे।
अरिसा अजीरए दिट्ठीमुहसूले अरोयए।।
अच्छिवेयण कंडू य, कन्नाबाहा जलोयरे।
कोढे एमाइणो रोगा, पीलयंति सरीरिणं।।

४. भगवती, १४।७।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३३९ : 'पानीयं' जलं, यथा तत् प्रथमं जलमग्नमपि जलमपहाय वर्तते तथा त्वमपि चिरसंसृष्टचिरपरिचितत्वादिभिर्मद्विषय-स्नेहवशगोऽपि तमपनय।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ३३९ : इह च जलमपहायैतावति सिद्धे यच्छारदशब्दोपादानं तच्छारदजलस्येवरम्यस्नेहस्याप्यातिमनोरमत्वख्यापनार्थम्।

७. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९२ : बहुमतो णाम पंथो।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३९ : 'बहुमए' त्ति पन्थाः।

८. सुखबोधा, पत्र १६४ : 'मग्गदेसिय' त्ति मार्ग्यमाणत्वाद मार्गः—मोक्षस्तस्य 'देसिए' त्ति सूत्रत्वात् देशकः—प्रापको मार्गदेशकः।

९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९२-१९३।

१०. वही, पृ० १९३ : पथं सम्यग्दर्शनचारित्रमयं। महालयं ति आलीयन्ते तस्मिन्नित्यालयः महामार्ग इत्यर्थः।

११. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९३ : विशोधयितुं—अतिचारविरहितं कृत्वेत्यर्थः।

१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४० : विशोध्य इति विनिश्चित्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आए। वे तीनों का परीक्षण करना चाहते थे। वे उन्हें ध्यान का प्रशिक्षण दे रहे थे। काफी दिनों के बाद उन्होंने सोचा, परीक्षा ले लूं कि इनकी चेतना बदली या नहीं बदली ? तीनों को बुलाकर कहा—आज अमुक रास्ते से तुम्हें गुजरना है। सामने कंटीली बाड़, कांटे बिखरे हुए हैं। गुरु ने कहा—इसी रास्ते से जाना है, रास्ता बदलना नहीं है।

पहला शिष्य बहुत विनीत था। उसमें समर्पण की चेतना जाग गई थी। वह गुरु के आदेशानुसार उसी मार्ग से चला। शूलों से उसके पैर लहूलुहान हो गए और वह वेदना से कराहता हुआ बैठ गया।

दूसरे शिष्य में चेतना का रूपान्तरण घटित नहीं हुआ था। उसने गुरु के आदेश को अव्यावहारिक माना। वह उस मार्ग को छोड़ दूसरे मार्ग से चल पड़ा। तीसरा शिष्य आया। देखा, बड़ा कठिन काम है कांटों पर चलना। तत्काल गया, बुहारी लाया और रास्ते में बिखरे सारे कांटे बुहार कर रास्ते को साफ कर दिया। अब वह निश्चिंतता से उसी मार्ग से आगे बढ़ा और गंतव्य पर पहुंच गया। यह है चेतना का रूपान्तरण। तीनों की कसौटी हो गई।

## २३. (श्लोक ३३)

जैसे कोई एक आदमी धन कमाने के लिए विदेश गया। वहां से बहुत सारा सोना लेकर वापस घर को आ रहा था। कंधों पर बहुत वजन था। शरीर से था वह दुबला-पतला। मार्ग सीधा-सरल आया तब तक वह ठीक चलता रहा और जब कंकरीला, पथरीला मार्ग आया तब वह आदमी घबड़ा गया। उसने धन की गठरी वहीं छोड़ दी और अपने घर चला आया। अब वह सब कुछ गंवा देने के कारण निर्धन हो पछतावा करता है। इसी प्रकार जो श्रमण प्रमादवश विषय-मार्ग में जा संयम-धन को गंवा देता है, उसे पछतावा होता है।[1]

## २४. (तिण्णो हु सि.....तीरमागओ)

इस भाव को स्पष्ट करने वाली एक कथा है—

राजधानी में नट-मंडली आई। बहुत विश्रुत, बहुत कुशल। राजसभा में नाटक आयोजित हुआ। नटी ने अपूर्व कौशल दिखलाया। प्रहर पर प्रहर बीत गए पर जनता की आंखें अब भी प्यासी थीं। कृपण था राजा और कृपण थी प्रजा। नट राजा की दृष्टि देख रहा था पर राजा देख रहा था नटी के अपूर्व करतब। न राजा पसीजा और न नट ने नाटक थामा। आखिर नटी ने थककर गाया—हे मेरे नायक ! पंजर थक गया है। अब तुम कोई मधुर तान छेड़ो, मधुर ताल दो।

नट ने गाया—बहुत लम्बी रात बीत चुकी। भोर होने को है। अब थोड़ी देर के लिए रंग में भंग मत करो।

नट के करतब देखने एक मुनि भी आया हुआ था। वह खड़ा हुआ। सवा लाख की रत्नकंबल उसने नट के हाथ में थमा दी। राजकुमार उठा और उसने कुंडल नट की झोली में डाल दिए। राजकुमारी ने अपना हार नटी को पहना दिया।

राजा अचम्भे में था। सभा अवाक् थी। दो क्षण वातावरण मौन रहा। इतना अनुग्रह कैसे ? राजा ने मुनि से पूछा। मुनि बोला—मैंने तो इसे रत्नकंबल ही दिया है, इसने मुझे जीवन दिया है। इसके वाक्य से प्रेरणा ले मैं वापस मुनिधर्म में स्थिर हो गया हूं।

राजा ने युवराज से पूछा—मुझे बिना पूछे कुंडल दिए, इतना साहस कैसे हुआ ? युवराज बोला—मैं तो तुला हुआ था महाराज ! आपकी हत्या के लिए। 'रंग में भंग मत करो'—इस वाक्य ने मुझे उबार लिया। राजा ने कन्या से पूछा—रत्नहार इतना सस्ता तो नहीं है। कन्या बोली—आपने मेरी चिंता कब की ? मैं मंत्रीपुत्र के साथ भागने की तैयारी में थी। किन्तु नट के वाक्य ने मुझे बचा लिया। दो क्षण के लिए फिर एक बार सभा में सन्नाटा छा गया।

## २५. (श्लोक ३४)

अर्णव का शाब्दिक अर्थ है—समुद्र। यहां इसका प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में हुआ है। लाक्षणिक अर्थ के आधार पर इसके दो अर्थ किए जा सकते हैं—(क) जन्म-मरणरूपी समुद्र और (ख) उत्कृष्ट स्थितिक कर्ममय समुद्र।[2]

भगवान् महावीर गौतम से कह रहे हैं—गौतम ! तुम दोनों प्रकार के समुद्र तर गए हो। तुमने भव—संसार का पार पा लिया है और तुमने उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों का भी क्षय कर डाला है। अब तो तुम्हारे अल्प कर्म शेष रहे हैं। अब तुम इन अवशिष्ट कर्मों का क्षय करने के लिए त्वरा करो। तुम तीर पर पहुंच चुके हो। एक चरण आगे बढ़ाओ, बस, कृतकृत्य हो जाओगे।

## २६. क्षपक-श्रेणी पर (अकलेवरसेणिं)

कलेवर अर्थात् शरीर। मुक्त आत्माओं के कलेवर नहीं होता इसलिए वे अकलेवर कहलाते हैं। उनकी श्रेणी की तरह पवित्र भावनाओं की श्रेणी होती है, उसे अकलेवर-श्रेणी कहते हैं। तात्पर्य की भाषा में इसका अर्थ क्षपक-श्रेणी—कर्मों का क्षय करने वाली भाव-श्रेणी है। कलेवर-श्रेणी का दूसरा अर्थ 'सोपान-पंक्ति' हो सकता है। मुक्ति-स्थान तक पहुंचने के लिए विशुद्ध भाव-श्रेणी का सहारा लिया जाता है। सोपान-पंक्ति वहां काम नहीं देती। इसलिए उसे 'अकलेवर-श्रेणी' कहा है।[3] अकलेवर का एक अर्थ विदेह अवस्था भी है।

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९३।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४०।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९३ : द्रव्यार्णवः समुद्रः, भावार्णवस्तु संसार एव, उक्कोसट्ठितियाणि वा कम्माणि।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २४१ : कलेवरं—शरीरम् अविद्यमानं कडेवरमेषामकडेवराः—सिद्धास्तेषां श्रेणिरिव श्रेणिर्यथोत्तरोत्तरशुभपरिणामप्राप्तिरूपया ते सिद्धिपदमारोहन्ति (तां), क्षपकश्रेणिमित्यर्थः। यद्वा कडेवराणि—एकेन्द्रियशरीराणि तन्मयत्वेन तेषां श्रेणिः कडेवरश्रेणिः—वंशादिविरचिता प्रसादादिष्वारोहणहेतुः, तथा च या न सा अकडेवरश्रेणिः—अनन्तरोक्तरूपैव ताम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## २७. शांति-मार्ग को (संतिमग्गं)

शांति का अर्थ है 'निर्वाण, उपशम और अहिंसा'। शांति-मार्ग अर्थात् मुक्तिमार्ग। यह दसविध यति-धर्म का सूचक है।[1]

'सन्तिमग्गं च बूहए'—इस पद की तुलना धम्मपद २०।१३ के तीसरे चरण से होती है—'सन्तिमग्गमेव ब्रूहय'।

## २८. अर्थपद (शिक्षापद) से (अट्ठपअ)

चूर्णिकार ने अर्थ-पद का कोई अर्थ नहीं किया है। शान्त्याचार्य ने उसका एक शाब्दिक-सा अर्थ किया है—अर्थ-पद अर्थात् अर्थ-प्रधान पद।[2] न्यायशास्त्र में मोक्ष-शास्त्र के चतुर्व्यूह को अर्थ-पद कहा गया है। अर्थ-पद का अर्थ है 'पुरुषार्थ का स्थान'। न्याय की परिभाषा में चार अर्थ-पद इस प्रकार हैं—

(१) हेय—दुःख और उसका निर्वर्तक (उत्पादक) अर्थात् दुःख-हेतु।
(२) आत्यन्तिक-हान—दुःख-निवृत्ति रूप मोक्ष का कारण अर्थात् तत्त्वज्ञान।
(३) इसका उपाय (शास्त्र)।
(४) अधिगन्तव्य—लभ्यमोक्ष।[3]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २४१ : शाम्यन्त्यस्यां सर्वदुरितानीति शांतिः—निर्वाणं तस्या मार्गः—पंथाः, यद्वा शांतिः—उपशमः सैव मुक्तिहेतुतया मार्गः शांतिमार्गो, दशविधधर्मोपलक्षणं शांतिग्रहणम्।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २४१ : अर्थप्रधानानि पदानि अर्थपदानि।

३. न्याय भाष्य, १।१।१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# इक्कारसमं अज्झयणं

## बहुस्सुयपूया

# ग्यारहवां अध्ययन

## बहुश्रुतपूजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में बहुश्रुत की भाव-पूजा का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'बहुस्सुयपूया'—'बहुश्रुतपूजा' रखा गया है। यहां बहुश्रुत का मुख्य अर्थ चतुर्दश-पूर्वी है। यह सारा प्रतिपादन उन्हीं से संबद्ध है। उपलक्षण से शेष सभी बहुश्रुत मुनियों की पूजनीयता भी प्राप्त होती है।[1]

निशीथ-भाष्य-चूर्णि के अनुसार बहुश्रुत तीन प्रकार के होते हैं[2]—

१. जघन्य बहुश्रुत—जो निशीथ का ज्ञाता हो।
२. मध्यम बहुश्रुत—जो निशीथ और चौदह-पूर्वों का मध्यवर्ती ज्ञाता हो।
३. उत्कृष्ट बहुश्रुत—जो चतुर्दश-पूर्वी हो।

सूत्रकार ने बहुश्रुत को अनेक उपमाओं से उपमित किया है। सारी उपमाएं बहुश्रुत की आंतरिक शक्ति और तेजस्विता को प्रकट करती हैं—

१. बहुश्रुत कम्बोज के घोड़ों की तरह शील से श्रेष्ठ होता है।
२. बहुश्रुत दृढ़ पराक्रमी योद्धा की तरह अजेय होता है।
३. बहुश्रुत साठ वर्ष के बलवान हाथी की तरह अपराजेय होता है।
४. बहुश्रुत यूथाधिपति वृषभ की तरह अपने गण का प्रमुख होता है।
५. बहुश्रुत दुष्पराजेय सिंह की तरह अन्य तीर्थिकों में श्रेष्ठ होता है।
६. बहुश्रुत वासुदेव की भांति अबाधित पराक्रमवाला होता है।
७. बहुश्रुत चतुर्दश रत्नाधिपति चक्रवर्ती की भांति चतुर्दश-पूर्वधर होता है।
८. बहुश्रुत देवाधिपति शक्र की भांति संपदा का अधिपति होता है।
९. बहुश्रुत उगते हुए सूर्य की भांति तप के तेज से प्रज्वलित होता है।
१०. बहुश्रुत पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति सकल कलाओं से परिपूर्ण होता है।
११. बहुश्रुत धान के भरे कोठों की भांति श्रुत से परिपूर्ण होता है।
१२. बहुश्रुत जम्बू वृक्ष की भांति श्रेष्ठ होता है।
१३. बहुश्रुत सीता नदी की भांति श्रेष्ठ होता है।
१४. बहुश्रुत मन्दर पर्वत की भांति श्रेष्ठ होता है।
१५. बहुश्रुत नाना रत्नों से परिपूर्ण स्वयम्भूरमण समुद्र की भांति अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

बहुश्रुतता का प्रमुख कारण है विनय। जो व्यक्ति विनीत होता है उसका श्रुत फलवान् होता है। जो विनीत नहीं होता उसका श्रुत फलवान् नहीं होता। स्तब्धता, क्रोध, प्रमाद रोग और आलस्य—ये पांच शिक्षा के विघ्न हैं।[3] इनकी तुलना योगमार्ग के नौ विघ्नों से होती है।[4]

आठ लक्षणयुक्त व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त होती है (श्लोक ४, ५)—

१. जो हास्य नहीं करता।
२. जो इन्द्रिय और मन का दमन करता है।
३. जो मर्म प्रकाशित नहीं करता।
४. जो चरित्रवान् होता है।
५. जो दुःशील नहीं होता।
६. जो रसों में अतिगृद्ध नहीं होता।
७. जो क्रोध नहीं करता।
८. जो सत्य में रत रहता है।

सूत्रकार ने अविनीत के १४ लक्षण और विनीत के १५ गुणों का प्रतिपादन कर अविनीत और विनीत की सुन्दर समीक्षा की है (श्लोक ६-१३)।

इस अध्ययन में श्रुत-अध्ययन के दो कारण बताए हैं (श्लोक ३२)—

१. स्व की मुक्ति के लिए।
२. पर की मुक्ति के लिए।

दशवैकालिक में श्रुत-अध्ययन के चार कारण निर्दिष्ट हैं[5]—

१. मुझे श्रुत प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
२. मैं एकाग्रचित्त होऊंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
३. मैं आत्मा को धर्म में स्थापित करूंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।
४. मैं धर्म में स्थित होकर दूसरे को उसमें स्थापित करूंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३१७ :
ते किर चउदसपुव्वी, सव्वक्खरसन्निवाइणो निउणा।
जा तेसिं पूया खलु, सा भावे ताइ अहिगारो।।

२. निशीथ पीठिका भाष्य चूर्णि, पृ० ४६५ : बहुस्सुयं जस्स सो बहुस्सुतो, सो तिविहो—जहण्णो, मज्झिमो, उक्कोसो। जहण्णो जेणपकप्पज्झयणं अधीतं, उक्कोसो चोद्दस्स पुव्वधरो, तम्मज्झे मज्झिमो।

३. उत्तराध्ययन ११।३ :
अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भइ।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण य।।

४. पातंजल योगदर्शन १।३० : व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

५. दशवैकालिक ६।४ सूत्र ५ : सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# इक्कारसमं अज्झयणं : ग्यारहवां अध्ययन
# बहुस्सुयपूया : बहुश्रुतपूजा

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. संजोगा विप्पमुक्कस्स<br>अणगारस्स भिक्खुणो।<br>आयारं पाउकरिस्सामि<br>आणुपुव्विं सुणेह मे।। | *संयोगाद् विप्रमुक्तस्य*<br>*अनगारस्य भिक्षोः।*<br>*आचारं प्रादुष्करिष्यामि*<br>*आनुपूर्व्या शृणुत मे।।* | जो संजोग से मुक्त है, अनगार है, भिक्षु है, उसका मैं क्रमशः आचार[1] कहूंगा। मुझे सुनो। |
| २. जे यावि होइ निव्विज्जे<br>थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।<br>अभिक्खणं उल्लवई<br>अविणीए अबहुस्सुए।। | *यश्चापि भवति निर्विद्यः*<br>*स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।*<br>*अभीक्ष्णमुल्लपति*<br>*अविनीतोऽबहुश्रुतः।।* | जो विद्याहीन है, विद्यावान् होते हुए भी जो अभिमानी है, जो सरस आहार में लुब्ध है, जो अजितेन्द्रिय है, जो बार-बार असम्बद्ध बोलता है, जो अविनीत है, वह अबहुश्रुत कहलाता है।[2] |
| ३. अह पंचहिं ठाणेहिं<br>जेहिं सिक्खा न लब्भई।<br>थंभा कोहा पमाएणं<br>रोगेणाऽलस्सएण य।। | *अथ पञ्चभिः स्थानैः*<br>*यैः शिक्षा न लभ्यते।*<br>*स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन*<br>*रोगेणालस्येन च।।* | मान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य—इन पांच स्थानों (हेतुओं) से शिक्षा प्राप्त नहीं होती।[3] |
| ४. अह अट्ठहिं ठाणेहिं<br>सिक्खासीले त्ति वुच्चई।<br>अहस्सिरे सया दंते<br>न य मम्ममुदाहरे।। | *अथाष्टभिः स्थानैः*<br>*शिक्षाशील इत्युच्यते।*<br>*अहसिता सदा दान्तः*<br>*न च मर्म उदाहरेत्।।* | आठ स्थानों (हेतुओं) से व्यक्ति को शिक्षाशील कहा जाता है। (१) जो हास्य न करे (२) जो सदा इन्द्रिय और मन का दमन करे (३) जो मर्म-प्रकाशन न करे।[4] |
| ५. नासीले न विसीले<br>न सिया अइलोलुए।<br>अकोहणे सच्चरए<br>सिक्खासीले त्ति वुच्चई।। | *नाशीलो न विशीलः*<br>*न स्यादतिलोलुपः।*<br>*अक्रोधनः सत्यरतः*<br>*शिक्षाशील इत्युच्यते।।* | (४) जो चरित्र से हीन न हो (५) जिसका चरित्र दोषों से कलुषित न हो (६) जो रसों में अति लोलुप न हो (७) जो क्रोध न करे और (८) जो सत्य में रत हो—उसे शिक्षा-शील कहा जाता है।[5] |
| ६. अह चउदसहिं ठाणेहिं<br>वट्टमाणे उ संजए।<br>अविणीए वुच्चई सो उ<br>निव्वाणं च न गच्छइ।। | *अथ चतुर्दशसु स्थानेषु*<br>*वर्तमानस्तु संयतः।*<br>*अविनीत उच्यते स तु*<br>*निर्वाणं च न गच्छति।।* | चौदह स्थानों (हेतुओं) में वर्तन करने वाला संयमी अविनीत कहा जाता है। वह निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। |
| ७. अभिक्खणं कोही हवइ<br>पबंधं च पकुव्वई।<br>मेत्तिज्जमाणो वमइ<br>सुयं लद्धूण मज्जई।। | *अभीक्ष्णं क्रोधी भवति*<br>*प्रबन्धं च प्रकरोति।*<br>*मित्रीय्यमाणो वमति*<br>*श्रुतं लब्ध्वा माद्यति।।* | (१) जो बार-बार[6] क्रोध करता है (२) जो क्रोध को टिका कर रखता है[7] (३) जो मित्रभाव रखने वाले को भी ठुकराता है[8] (४) जो श्रुत प्राप्त कर मद करता है, |
| ८. अवि पावपरिक्खेवी<br>अवि मित्तेसु कुप्पई।<br>सुप्पियस्सावि मित्तस्स<br>रहे भासइ पावगं।। | *अपि पापपरिक्षेपी*<br>*अपि मित्रेभ्यः कुप्यति।*<br>*सुप्रियस्यापि मित्रस्य*<br>*रहसि भाषते पापकम्।।* | (५) जो किसी की स्खलना होने पर उसका तिरस्कार करता है, (६) जो मित्रों पर कुपित होता है, (७) जो अत्यन्त प्रिय मित्र की भी एकांत में बुराई करता है[9], |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. पइण्णवाई दुहिले
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते
अविणीए त्ति वुच्चई।।

*प्रकीर्णवादी द्रोही*
*स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।*
*असंविभागी 'अचियत्त'*
*अविनीत इत्युच्यते।।*

(८) जो असंबद्ध-भाषी है,[१०] (९) जो द्रोही है, (१०) जो अभिमानी है, (११) जो सरस आहार आदि में लुब्ध है, (१२) जो अजितेन्द्रिय है, (१३) जो असंविभागी है और (१४) जो अप्रीतिकर है[११]—वह अविनीत कहलाता है।

१०. अह पन्नरसहिं ठाणेहिं
सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले
अमाई अकुऊहले।।

*अथ पंचदशभिः स्थानः*
*सुविनीत इत्युच्यते।*
*नीचवर्त्यचपलः*
*अमाय्यकुतूहलः।।*

पन्द्रह स्थानों (हेतुओं) से सुविनीत कहलाता है—(१) जो नम्र व्यवहार करता है,[१२] (२) जो चपल नहीं होता,[१३] (३) जो मायावी नहीं होता,[१४] (४) जो कुतूहल नहीं करता,[१५]

११. अप्पं चाऽहिक्खिवई
पबन्धं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई
सुयं लद्धं न मज्जई।।

*अल्पं चाधिक्षिपति*
*प्रबन्धं च न करोति।*
*मित्रीय्यमाणो भजति*
*श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति।।*

(५) जो किसी का तिरस्कार नहीं करता,[१६] (६) जो क्रोध को टिका कर नहीं रखता, (७) जो मित्रभाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञ होता है, (८) जो श्रुत प्राप्त कर मद नहीं करता,

१२. न य पावपरिक्खेवी
न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स
रहे कल्लाण भासई।।

*न च पाप-परिक्षेपी*
*न च मित्रेभ्यः कुप्यति।*
*अप्रियस्यापि मित्रस्य*
*रहसि कल्याणं भाषते।।*

(९) जो स्खलना होने पर किसी का तिरस्कार नहीं करता,[१७] (१०) जो मित्रों पर क्रोध नहीं करता, (११) जो अप्रिय मित्र की भी एकान्त में प्रशंसा करता है,[१८]

१३. कलहडमरवज्जए
बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसंलीणे
सुविणीए त्ति वुच्चई।।

*कलह-'डमर'-वर्जकः*
*बुद्धोऽभिजातिगः।*
*ह्रीमान् प्रतिसंलीनः*
*सुविनीत इत्युच्यते।।*

(१२) जो कलह और हाथापाई का वर्जन करता है (१३) जो कुलीन होता है (१४) जो लज्जावान् होता है और (१५) जो प्रतिसंलीन (इन्द्रिय और मन का संगोपन करने वाला) होता है—वह बुद्धिमान् मुनि सुविनीत कहलाता है।[१९]

१४. वसे गुरुकुले निच्चं
जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई
से सिक्खं लद्धुमरिहई।।

*वसेद् गुरुकुले नित्यं*
*योगवानुपधानवान्।*
*प्रियङ्करः प्रियवादी*
*स शिक्षां लब्धुमर्हति।।*

जो सदा गुरुकुल में[२०] वास करता है, जो एकाग्र होता है,[२१] जो उपधान (श्रुत-अध्ययन के समय तप) करता है, जो प्रिय व्यवहार करता है, जो प्रिय बोलता है—वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

१५. जहा संखम्मि पयं
निहियं दुहओ वि विरायइ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू
धम्मो कित्ती तहा सुयं।।

*यथा शङ्खे पयो*
*निहितं द्विधापि विराजते।*
*एवं बहुश्रुते भिक्षौ*
*धर्मः कीर्तिस्तथा श्रुतम्।।*

जिस प्रकार शङ्ख में रखा हुआ दूध दोनों ओर (अपने और अपने आधार के गुणों) से सुशोभित होता है[२२] उसी प्रकार बहुश्रुत[२३] भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत[२४] दोनों ओर (अपने और अपने आधार के गुणों) से सुशोभित होते हैं।

१६. जहा से कंबोयाणं
आइण्णे कंथए सिया।
आसे जवेण पवरे
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा स काम्बोजानां*
*आकीर्णः कन्थकः स्यात्।*
*अश्वो जवेन प्रवरः*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार कम्बोज के घोड़ों में से कन्थक घोड़ा शील आदि गुणों से आकीर्ण और वेग से श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं में बहुश्रुत श्रेष्ठ होता है।[२५]

१७. जहाइण्णसमारूढे
सूरे दढपरक्कमे।
उभओ नंदिघोसेणं
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथाऽऽकीर्णसमारूढः*
*शूरो दृढपराक्रमः।*
*उभयतो नन्दिघोषेण*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार आकीर्ण (जातिमान्) अश्व पर चढ़ा हुआ दृढ़ पराक्रम वाला योद्धा दोनों ओर होने वाले मंगलपाठकों के घोष से[२६] अजेय होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अपने आसपास होने वाले स्वाध्याय-घोष से अजेय होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८.जहा करेणुपरिकिण्णे
कुंजरे सट्ठिहायणे।
बलवंते अप्पडिहए
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा करेणुपरिकीर्णः*
*कुञ्जरः षष्टिहायनः।*
*बलवानप्रतिहतः*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार हथिनियों से परिवृत साठ वर्ष का[२०] बलवान् हाथी किसी से पराजित नहीं होता, उसी प्रकार बहुश्रुत दूसरों से पराजित नहीं होता।

१९.जहा से तिक्खसिंगे
जायखंधे विरायई।
वसहे जूहाहिवई
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा स तीक्ष्णशृंगः*
*जातस्कन्धो विराजते।*
*वृषभो यूथाधिपतिः*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार तीक्ष्ण सींग और अत्यन्त पुष्ट स्कन्ध वाला[२१] बैल यूथ का अधिपति बन सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत आचार्य बनकर सुशोभित होता है।

२०.जहा से तिक्खदाढे
उदग्गे दुप्पहंसए।
सीहे मियाण पवरे
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा स तीक्ष्णदंष्ट्रः*
*उदग्रो दुष्प्रधर्षकः।*
*सिंहो मृगाणां प्रवरः*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार तीक्ष्ण दाढ़ों वाला पूर्ण युवा और दुष्पराजेय सिंह आरण्य-पशुओं में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अन्य तीर्थिकों में श्रेष्ठ होता है।[२२]

२१.जहा से वासुदेवे
संखचक्कगयाधरे।
अप्पडिहयबले जोहे
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा स वासुदेवः*
*शङ्खचक्रगदाधरः।*
*अप्रतिहतबलो योधः*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार शङ्ख, चक्र और गदा[२३] को धारण करने वाला वासुदेव अबाधित बल वाला योद्धा होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अबाधित बल वाला होता है।

२२.जहा से चाउरंते
चक्कवट्टी महिड्ढिए।
चउदसरयणाहिवई
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा स चतुरंतः*
*चक्रवर्ती महर्द्धिकः।*
*चतुर्दशरत्नाधिपतिः*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार महान् ऋद्धिशाली, चतुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत चतुर्दश पूर्वधर होता है।[२४]

२३.जहा से सहस्सक्खे
वज्जपाणी पुरंदरे।
सक्के देवाहिवई
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा स सहस्राक्षः*
*वज्रपाणिः पुरन्दरः।*
*शक्रो देवाधिपतिः*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार सहस्रचक्षु,[२५] वज्रपाणि और पुरों का विदारण करने वाला[२६] शक्र देवों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत दैवी सम्पदा का अधिपति होता है।

२४.जहा से तिमिरविद्धंसे
उत्तिट्ठंते दिवायरे।
जलंते इव तेएण
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा स तिमिरविध्वंशः*
*उत्तिष्ठन् दिवाकरः।*
*ज्वलन्निव तेजसा*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने वाला उगता हुआ[२७] सूर्य तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत तप के तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है।

२५.जहा से उडुवई चंदे
नक्खत्तपरिवारिए।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा स उडुपतिश्चन्द्रः*
*नक्षत्रपरिवारितः।*
*प्रतिपूर्णः पौर्णमास्यां*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार नक्षत्र[२८] परिवार से परिवृत ग्रहपति चन्द्रमा पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण होता है, उसी प्रकार साधुओं के परिवार से परिवृत बहुश्रुत सकल कलाओं में परिपूर्ण होता है।

२६.जहा से सामाइयाणं
कोट्ठागारे सुरक्खिए।
नाणाधन्नपडिपुण्णे
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा स सामाजिकानां*
*कोष्ठागारः सुरक्षितः।*
*नानाधान्यप्रतिपूर्णः*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार सामाजिकों (समुदायवृत्ति वालों) का कोष्ठागार[२९] सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत नाना प्रकार के श्रुत से परिपूर्ण होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७.जहा सा दमाण पवरा
जंबू नाम सुदंसणा।
अणाढियस्स देवस्स
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा सा द्रुमाणां प्रवरा*
*जम्बूर्नाम्ना सुदर्शना।*
*अनादृतस्य देवस्य*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार अनादृत देव का आश्रय सुदर्शना नाम का जम्बू वृक्ष सब वृक्षों में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।[३७]

२८.जहा सा नईण पवरा
सलिला सागरंगमा।
सीया नीलवंतपवहा
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा सा नदीनां प्रवरा*
*सलिला सागरङ्गमा।*
*शीता नीलवत्प्रवहा*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार नीलवान् पर्वत से निकल कर समुद्र में मिलने वाली शीता नदी शेष नदियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।[३८]

२९.जहा से नगाण पवरे
सुमहं मंदरे गिरी।
नाणासहिपज्जलिए
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा स नगानां प्रवरः*
*सुमहान्मन्दरो गिरिः।*
*नानौषधिप्रज्वलितः*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार अतिशय महान् और अनेक प्रकार की औषधियों से दीप्त मंदर पर्वत[३९] सब पर्वतों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।

३०.जहा से सयंभूरमणे
उदही अक्खओदए।
नाणारयणपडिपुण्णे
एवं हवइ बहुस्सुए।।

*यथा स स्वयम्भूरमणः*
*उदधिरक्षयोदकः।*
*नानारत्नप्रतिपूर्णः*
*एवं भवति बहुश्रुतः।।*

जिस प्रकार अक्षय जल वाला स्वयंभूरमण समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

३१.समुद्दगंभीरसमा दुरासया
अचक्किया केणई दुप्पहंसया।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया।

*समुद्रगाम्भीर्यसमा दुराशयाः*
*अशक्याः केनापि दुष्प्रधर्षकाः।*
*श्रुतेन पूर्णा विपुलेन तादृशः*
*क्षपयित्वा कर्म गतिमुत्तमां गताः।।*

समुद्र के समान गम्भीर[४०], दुराशय[४१]—जिसके आशय तक पहुंचना सरल न हो, अशक्य—जिसके ज्ञानसिन्धु को लांघना शक्य न हो, किसी प्रतिवादी के द्वारा अपराजेय और विपुलश्रुत से पूर्ण[४२] वैसे बहुश्रुत मुनि कर्मों का क्षय करके उत्तम गति (मोक्ष) में गए।

३२.तम्हा सुयमहिट्ठेज्जा
उत्तमट्ठगवेसए।
जेणऽप्पाणं परं चेव
सिद्धिं संपाउणेज्जासि।।

*तस्मात् श्रुतमधितिष्ठेत्*
*उत्तमार्थगवेषकः।*
*येनात्मानं परं चैव*
*सिद्धिं संप्रापयेत्।।*

इसलिए उत्तम अर्थ[४३] (मोक्ष) की गवेषणा करने वाला मुनि श्रुत का आश्रयण करे,[४४] जिससे वह अपने आपको और दूसरों को सिद्धि की प्राप्ति करा सके।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन ११ : बहुश्रुतपूजा

## १. आचार (आयारं)

आचार का अर्थ 'उचित क्रिया' या 'विनय' है।[1] चूर्णिकार के अनुसार पूजा, विनय और आचार एकार्थक शब्द हैं।[2] जैन और बौद्ध साहित्य में विनय शब्द भी आचार के अर्थ में बहुलता से प्रयुक्त हुआ है।[3] प्रस्तुत अध्ययन में बहुश्रुत की पूजा और शिक्षा की अर्हता पर प्रकाश डाला गया है।[4]

आचार के पांच प्रकार हैं—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपःआचार और वीर्याचार।[5] बहुश्रुतता का संबंध ज्ञानाचार या शिक्षा से है।

## २. (अवि, थद्धे, अणिग्गहे)

प्रस्तुत प्रकरण बहुश्रुत की पूजा का है। बहुश्रुत की पूजा उसके स्वरूप को जानने से होती है। बहुश्रुत का प्रतिपक्ष अबहुश्रुत है। बहुश्रुत को जानने से पहले अबहुश्रुत को जानना आवश्यक है। इसलिए इस श्लोक में अबहुश्रुत का स्वरूप बतलाया गया है।[6]

**'अवि'** का अर्थ है—विद्यावान् होते हुए भी। निर्विद्य (विद्याहीन) शब्द मूल पाठ में प्रयुक्त है किन्तु विद्यावान् का उल्लेख 'अपि' शब्द के आधार पर किया गया है।[7] जो स्तब्धता आदि दोषों से युक्त है वह विद्यावान् होते हुए भी अबहुश्रुत है। इसका कारण यह है कि स्तब्धता आदि दोषों से बहुश्रुतता का फल नहीं होता।[8]

**'थद्धे'** का अर्थ है—अभिमानी। ज्ञान से अहंकार का नाश होता है किन्तु जब ज्ञान भी अहंकार की वृद्धि का साधन बन जाए तब अहंकार कैसे मिटे ? जब औषध भी विष का काम करे तो चिकित्सा किसके द्वारा की जाए ?[9]

**'अणिग्गहे'** का अर्थ है—अजितेन्द्रिय। इन्द्रियों पर नियंत्रण करने के लिए विद्या अंकुश के समान है। उसके अभाव में व्यक्ति अनिग्रह होता है।[10] जो इन्द्रियों का निग्रह न कर सके वह अनिग्रह—अजितेन्द्रिय कहलाता है।[11]

## ३. (श्लोक ३)

प्रस्तुत श्लोक के कुछेक शब्दों का विवरण—

**ठाणेहिं**—स्थानों से। स्थान शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहां इसका अर्थ हेतु[12] या प्रकार[13] है।

**सिक्खा**—शिक्षा। शिक्षा के दो प्रकार हैं—ग्रहण और आसेवन। ज्ञान प्राप्त करने को ग्रहण और उसके अनुसार आचरण करने को आसेवन कहा जाता है।[14] अभिमान आदि कारणों से ग्रहण-शिक्षा भी प्राप्त नहीं होती तो भला आसेवन-शिक्षा कैसे प्राप्त हो सकती है ?[15]

**थंभा**—इसका अर्थ है—'मान'। अभिमानी व्यक्ति विनय नहीं करता, इसलिए उसे कोई नहीं पढ़ाता। अतः मान शिक्षा-प्राप्ति में बाधक है।[16]

**पमाएणं**—प्रमाद के पांच प्रकार हैं—

(१) मद्य, (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा और (५) विकथा।[17]

**रोगेण**—चूर्णिकार ने रोग उत्पन्न होने के दो कारण बतलाए हैं[18]—

(१) अति-आहार और (२) अपथ्य-आहार।

**आलस्सएण**—आलस्य का अर्थ है—उत्साहहीनता।[19]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४४ : आचरणमाचारः—उचितक्रिया विनय इति यावत्।
२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८५ : पूयति वा विणओत्ति वा आयारोत्ति वा एगट्ठं।
३. देखें-१।१७ का टिप्पण।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४४ : स चेह बहुश्रुतपूजात्मक एव गृह्यते, तस्या एवात्राधिकृतत्वात्।
५. ठाणं ५।१४७।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४४ : इह च बहुश्रुतपूजा प्रक्रान्ता, सा च बहुश्रुतस्वरूपपरिज्ञान एव कर्तुं शक्या, बहुश्रुतस्वरूपं च तद्विपर्ययपरिज्ञाने तद्विविक्तं सुखेनैव ज्ञायत इत्यबहुश्रुतस्वरूपमाह।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४४ : अपिशब्दसम्बन्धात् सविद्योऽपि।
८. वही, पत्र ३४४ : सविद्यस्याप्यबहुश्रुतत्वं बाहुश्रुत्यफलाभावादिति भावनीयम्।
९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९५ :
ज्ञानं मदनिर्मथनं, माद्यति यस्तेन दुश्चिकित्स्यः सः।
अगदो यस्य विषायति, तस्य चिकित्सा कुतोऽन्येन।।
१०. वही, पृ० १९५ : अंकुशभूता विद्या तस्या अभावादनिग्रहः।
११. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४४ : न विद्यते इन्द्रियनिग्रहः—इन्द्रियनियमनात्मको ऽस्येति अनिग्रहः।
१२. वही, पत्र ३४४-३४५ : 'थैः' इति वक्ष्यमाणैर्हेतुभिः।
१३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९५ : ठाणेहिंति प्रकारा।
१४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४५ : शिक्षणं शिक्षा—ग्रहणासेवनात्मिका।
१५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९५ : गहणासिक्खावि णत्थि, कतो आसेवणसिक्खा।
१६. वही, पृ० १९५ : तत्थ ते णो कोइ पाढेति, इयरो थद्धत्तेण ण वंदति।
१७. वही, पृ० १९५ : पमादो पंचविधो, तंजहा—मज्जप० विसयप० कसायप० णिद्दाप० विगहापमादो।
१८. वही, पृ० १९५ : अत्याहारेण अपत्थाहारेण वा रोगो भवति।
१९. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४५ : 'आलस्येन' अनुत्साहात्मना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## ४. (सिक्खासीले, अहस्सिरे, मम्मं)

**सिक्खासीले**—शिक्षा में रुचि रखने वाला या शिक्षा का अभ्यास करने वाला 'शिक्षाशील' कहलाता है।[1]

**अहस्सिरे**—जो हास्य न करे। अकारण या कारण उपस्थित होने पर भी जिसका स्वभाव हंसने का न हो उसे 'अहसिता' कहा जाता है।[2]

**मम्मं**—मर्म का अर्थ है—लज्जाजनक, अपवादजनक या निन्दनीय आचरण सम्बन्धी गुप्त बात।[3]

## ५. (नासीले न विसीले, अकोहणे, सच्चरए)

चूर्णिकार ने अशील शब्द का अर्थ गृहस्थ की भांति आचरण करने वाला और विशील का अर्थ जादू-टोना आदि करने वाला किया है।[4] वृत्ति में अशील का अर्थ है—चारित्र धर्म से सर्वथा हीन और विशील का अर्थ है—अतिचारों से कलुषित व्रत वाला।[5]

जो निरपराध या अपराधी पर क्रोध न करे, वह 'अक्रोधन' कहलाता है।[6]

चूर्णि के अनुसार जो मृषा न बोले या संयम में रत हो, वह 'सत्यरत' कहलाता है।[7]

## ६. बार-बार (अभिक्खणं)

बृहद्वृत्ति के अनुसार इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—'अभीक्ष्णं' और 'अभिक्षणं।' अभीक्ष्णं का अर्थ बार-बार और अभिक्षणं का अर्थ निरंतर है।[8]

## ७. जो क्रोध को टिकाकर रखता है (पबंधं)

प्रबंध का अर्थ है—अविच्छेद। बार-बार क्रोध आना और आए हुए क्रोध को टिका कर रखना एक बात नहीं है। इसका वैकल्पिक अर्थ है—विकथाओं में निरंतर लगे रहना।[9]

## ८. जो मित्रभाव रखने वाले को भी ठुकराता है (मेत्तिज्जमाणो वमइ)

इसका आशय एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा समझाया गया है। कोई साधु पात्र रंगना नहीं जानता। वैसी स्थिति में दूसरा साधु उसका पात्र रंगने को तैयार है किन्तु वह सोचने लगता है कि मैं इससे अपना पात्र रंगाऊंगा तो मुझे भी इसका काम करना पड़ेगा। इस प्रत्युपकार के भय से वह उससे पात्र नहीं रंगवाता और कहता है मुझे तुमसे पात्र नहीं रंगवाना है। इस तरह मित्रभाव रखने की इच्छा करने वाले का तिरस्कार करता है।[10]

## ९. बुराई करता है (भासइ पावगं)

बुराई करता है—इसका तात्पर्य यह है कि सामने मीठा बोलता है और पीछे 'यह दोष का सेवन करता है' इस प्रकार उसका अपवाद करता है।[11]

## १०. जो असंबद्ध भाषी है (पइण्णवाई)

बृहद्वृत्ति के अनुसार 'पइण्णवाई' के संस्कृत रूप दो बनते हैं—प्रकीर्णवादी और प्रतिज्ञावादी।

जो सम्बन्ध रहित बोलता है या पात्र या अपात्र की परीक्षा किए बिना ही श्रुत का रहस्य बता देता है, वह 'प्रकीर्णवादी' कहलाता है। 'यह ऐसे ही है' इस तरह जो ऐकांतिक आग्रहपूर्वक बोलता है, वह 'प्रतिज्ञावादी' कहलाता है।[12] चूर्णिकार को पहला रूप अभिमत है[13] और सुखबोधा को दूसरा।[14]

प्रकरण की दृष्टि से पहला अर्थ ही अधिक संगत है। जार्ल सरपेन्टियर ने पहला अर्थ ही मान्य किया है।[15]

## ११. जो अप्रीतिकर है (अचियत्ते)

अचियत्त—यह देशी पद है। चूर्णि में इसके दो अर्थ प्राप्त हैं—अदर्शनीय और अप्रीतिकर।[16] वृत्ति के अनुसार जिसको देखने से या बोलते हुए सुनने से अप्रीति उत्पन्न होती है, वह व्यक्ति अचियत्त—अप्रीतिकर कहलाता है।[17]

## १२. जो नम्र व्यवहार करता है (नीयावत्ती)

बृहद्वृत्ति के अनुसार 'नीचवर्ती' के दो अर्थ हैं—

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४५ : शिक्षायां शीलः—स्वभावो यस्य शिक्षां वा शीलयति—अभ्यस्यतीति शिक्षाशीलः—द्विविधशिक्षाभ्यासकृद्।

२. वही, पत्र ३४५ : अहसिता—न सहेतुकमहेतुकं वा हसन्नेवास्ते।

३. वही, पत्र ३४५ : 'मर्म' परापभ्राजनाकारि कुत्सितं जात्यादि।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६६ : अशीलो गृहस्थ इव.. विशीलो भूतिकम्मादीहिं।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४५ : अशीलः—अविद्यमानशीलः, सर्वथा विनष्टचारित्रधर्म इत्यर्थः, विशीलः—विरूपशीलः अतिचारकलुषितव्रत इति यावत्।

६. वही, पत्र ३४५ : 'अक्रोधनः' अपराधिन्यनपराधिनि वा न कथंचित् क्रुध्यति।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६६ : सच्चरतो ण मुसावादी, संजमरतो वा।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ : अभीक्ष्णं पुनः पुनः, यद् वा—क्षणं क्षणमभि अभिक्षणम्—अनवरतम्।

९. वही, पत्र ३४६ : प्रबन्धं च प्रकृतत्वात् कोपस्यैवाविच्छेदात्मकम्.... विकथादिषु वाऽविच्छेदेन प्रवर्तनं प्रबन्धः।

१०. वही, पत्र ३४६ : 'मेत्तिज्जमाणो' त्ति मित्रीय्यमाणोऽपि मित्रं ममायमस्मित्यतीप्यमाणोऽपि अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात् 'वमति' त्यजति, प्रस्तावान्मित्रयितारं मैत्रीं वा, किमुक्तं भवति ? यदि कांश्चद्धार्मिकतया वक्ति—यथा त्वं न देत्सीत्यहं तव पात्रं लेपयामि, ततोऽसौ प्रत्युपकारभीरुतया प्रतिवक्ति—ममालमेतेन।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ : 'भाषते' वक्ति पापमेव पापकं, किमुक्तं भवति ?—अग्रतः प्रियं वक्ति पृष्ठतस्तु प्रतिसेवकोऽयमित्यादिकमनाचारमेवाविष्करोति।

१२. वही, पत्र ३४६ : प्रकीर्णम्—इतस्ततो विक्षिप्तम्, असम्बद्धमित्यर्थः, वदति—जल्पतीत्येवंशीलः प्रकीर्णवादी, वस्तुतत्त्वविचारेऽपि यत्किंचनवादीत्यर्थः, अथवा—यः पात्रमिदमपात्रमिदमिति वाऽपरीक्ष्यैव कथंचिदधिगतं श्रुतरहस्यं वदतीत्येवंशीलः प्रकीर्णवादी इति, प्रतिज्ञया वा—इदमित्थमेव इत्येकान्ताभ्युपगमरूपया वदनशीलः प्रतिज्ञावादी।

१३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६६ : अपरिक्खउं जस्स व तस्स व कहेति।

१४. सुखबोधा, पत्र १६८ : प्रतिज्ञया—इत्थमेवेदमित्येकान्ताभ्युपगमरूपया वदनशीलः प्रतिज्ञावादी।

१५. The Uttarâdhyayana Sutra, p. 320

१६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६६ : अचियत्तो अदंसणिओ वा अथवा...अप्रिय इत्यर्थः।

१७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ : अचियत्ते त्ति अप्रीतिकरः—दृश्यमानः सम्भाष्यमाणो वा सर्वस्याप्रीतिमेवोत्पादयति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. नीच अर्थात् नम्र वर्तन करने वाला।

२. शय्या आदि में गुरु से नीचा रहने वाला।[1]

इसकी विशेष जानकारी के लिए देखें—दशवैकालिक ९।२।१७।

## १३. जो चपल नहीं होता (अचवले)

चपल चार प्रकार के होते हैं—

१. गति-चपल—जो दौड़ता हुआ चलता है।

२. स्थान-चपल—जो बैठा-बैठा हाथ-पैर आदि को हिलाता रहता है, जो स्थिरता से एक आसन पर नहीं बैठता।

३. भाषा-चपल—इसके चार प्रकार हैं—

(क) असत् प्रलापी—असत् (अविद्यमान) कहने वाला।

(ख) असभ्य प्रलापी—कड़ा या रूखा बोलने वाला।

(ग) असमीक्ष्य प्रलापी—बिना सोचे-विचारे बोलने वाला।

(घ) अदेशकाल प्रलापी—कार्य संपन्न हो जाने के बाद—उस-उस प्रदेश में यह कार्य किया जाता तो सुन्दर होता—इस प्रकार कहने वाला।

४. भाव-चपल—प्रारम्भ किए हुए सूत्र और अर्थ को बीच में छोड़कर दूसरे सूत्र और अर्थ का अध्ययन प्रारम्भ करने वाला।[2]

## १४. जो मायावी नहीं होता (अमाई)

चूर्णिकार ने मायापूर्ण व्यवहार को समझाने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—किसी साधु को भिक्षा में सरस भोजन मिला। उसने सोचा—गुरु इस भोजन को देखेंगे तो स्वयं ले लेंगे। इस डर से उसने सरस भोजन को रूखे-सूखे भोजन से ढक दिया—यह मायापूर्ण व्यवहार है। जो ऐसे व्यवहारों का आसेवन नहीं करता, वह अमायी होता है।[3] विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ५।२।३१।

## १५. जो कुतूहल नहीं करता (अकुऊहले)

इन्द्रियों के विषय और चामत्कारिक विद्याएं पाप-स्थान होती हैं, यह जान कर जो उनके प्रति उदासीन रहता है, उसे अकुतूहल कहा जाता है।[4] ऐसा व्यक्ति नाटक, इन्द्रजाल आदि को देखने के लिए कभी उत्सुक नहीं होता।[5]

## १६. जो किसी का तिरस्कार नहीं करता (अप्पं चाऽहिक्खिवई)

'अल्प' शब्द के दो अर्थ होते हैं—थोड़ा और अभाव।

पहले अर्थ के अनुसार इस चरण का अनुवाद होगा—थोड़ा तिरस्कार करता है। इसका भाव यह है कि ऐसे तो वह किसी का तिरस्कार नहीं करता किन्तु अयोग्य को धर्म में प्रेरित करने की दृष्टि से उसका थोड़ा तिरस्कार करता है।[6]

चूर्णि के अनुसार यहां 'अल्प' शब्द अभाववाची है।[7]

## १७. जो स्खलना होने पर किसी का तिरस्कार नहीं करता (न य पावपरिक्खेवी)

प्रस्तुत श्लोक में 'पाप' शब्द का प्रयोग पापी अथवा दोषपूर्ण व्यक्ति के अर्थ में किया गया है।[8] अविनीत व्यक्ति दोषी का तिरस्कार करता है। विनीत व्यक्ति दोष का तिरस्कार करता है, दोषी का नहीं। यह दोनों के दृष्टिकोण में बहुत बड़ा अन्तर है।

गोशालक ने आर्द्रकुमार से कहा—'तुम यह कहकर सभी प्रावादुकों की गर्हा कर रहे हो। वे प्रावादुक अपने-अपने दर्शन का निरूपण करते हुए अपनी-अपनी दृष्टि को प्रकट करते हैं।'

तब आर्द्रकुमार ने कहा—'गरहामो दिट्ठिं ण गरहामो किंचि'—हम दृष्टि (दर्शन) की गर्हा कर रहे हैं, किसी प्रावादुक की गर्हा नहीं कर रहे हैं।[9]

## १८. प्रशंसा करता है (कल्लाण भासई) :

कुछ व्यक्ति कृतघ्न होते हैं। वे एक दोष को सामने रख कर सौ गुणों को भुला देते हैं। कुछ व्यक्ति कृतज्ञ होते हैं। वे एक गुण को सामने रख कर सौ दोषों को भुला देते हैं। यहां बतलाया गया है कि कृतज्ञ व्यक्ति अपकार करने वाले मित्र के पूर्वकृत किसी एक उपकार का स्मरण कर उसके परोक्ष में भी उसका दोष-गान नहीं करता किन्तु गुण-गान करता है, प्रशंसा करता है।[10]

## १९. (कलहडमर, बुद्धे अभिजाइए, हिरिमं पडिसंलीणे)

**कलहडमर**—'कलह' का अर्थ है—वाचिक विग्रह अर्थात्

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ : नीचम्—अनुच्छ्रितं यथा भवत्येवं नीचेषु वा शय्यादिषु वर्तते इत्येवंशीलो नीचवर्ती—गुरुषु न्यग्वृत्तिमान्।

२. वही, पत्र ३४६-३४७ : 'अचपलः' नाऽऽरब्धकार्यं प्रत्यस्थिरः, अथवाऽचपलो—गतिस्थानभाषाभावभेदतश्चतुर्धा, तत्र—गतिचपलः—द्रुतचारी, स्थानचपलः—तिष्ठन्नपि चलन्नेवास्ते हस्तादिभिः, भाषाचपलः—असदसभ्यासमीक्ष्यादेशकालप्रलापिभेदाच्चतुर्धा, तत्र असद्—अविद्यमानमसभ्यं—खरपरुषादि, असमीक्ष्य—अनालोच्य प्रलपन्तीत्येवंशीला असदसभ्यासमीक्ष्यप्रलापिनस्त्रयः, अदेशकालप्रलापी चतुर्थः अतीते कार्ये यो वक्ति—यदिदं तत्र देशे काले वाऽकरिष्यत् ततः सुन्दरमभविष्यद्, भावचपलः सूत्रेऽर्थे वाऽसमाप्त एव योऽन्यद् गृह्णाति।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७ : 'अमाई' त्ति जो मायं न सेवति, सा य माया एरिसप्पगारा, जहा कोइ मणुन्नं भोयनं लद्धूण पंतेण छातेति 'मा मेयं दाइयं संतं दट्ठूणं सयमादिए।'

४. वही, पृ० १९७ : अकुतूहली विसएसु विज्जासु पावठाणत्ति ण वट्टतित्ति।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७ : 'अकुतूहलः' न कुहुकेन्द्रजालाद्यवलोकनपरः।

६. वही, पत्र ३४७ : 'अल्पं च' इति स्तोकमेव 'अधिक्षिपति' तिरस्करोति, किमुक्तं भवति ?—नाधिक्षिपत्येव तावदसौ कंचन, अधिक्षिपन् वा कंचन कङ्कटुकरूपं धर्मं प्रति प्रेरयन्नल्पमेवाधिक्षिपति।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७ : अल्पशब्दो हि स्तोके अभावे वा, अत्र अभावे द्रष्टव्यः, ण किंचि अधिक्खिवति, नाभिक्रमतीत्यर्थः।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६।

९. सूयगडो, २।६।११, १२।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७ : कल्याणं भाषते, इदमुक्तं भवति—मित्रमिति यः प्रतिपन्नः स यद्यप्यपकृतिशतानि विधत्ते तथाऽप्येकमपि सुकृतमनुस्मरन् न रहस्यपि तद्दोषमुदीरयति, तथा चाह—

एकसुकृतेन दुष्कृतशतानि ये नाशयन्ति ते धन्याः।
न त्वेकदोषजनितो येषां कोपः स च कृतघ्नः।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वचन से झगड़ा करना और 'डमर' का अर्थ है—हाथापाई करना। दोनों एकार्थक भी माने गए हैं।[1]

**बुद्धे**—बुद्ध अर्थात् बुद्धिमान्, तत्त्व को जानने वाला। चौदह स्थानों में बुद्ध की स्वतंत्र गणना नहीं है। इसका सम्बन्ध सुविनीत के प्रत्येक स्थान से है।[2]

**अभिजाइए**—अभिजाति का अर्थ है—कुलीनता। जो कुलीनता रखता है अर्थात् लिए हुए भार का निर्वाह करता है, वह अभिजातिग (कुलीन) कहलाता है।[3]

**हिरिमं**—इसका अर्थ है लज्जावान्। लज्जा एक प्रकार का मानसिक संकोच है। वह कभी-कभी मनुष्य को उबार देती है। लज्जाहीन मनुष्य मन के विकृत होने पर अनुचित कार्य कर डालता है, किन्तु लज्जावान् पुरुष उस स्थिति में भी अनुचित आचरण नहीं करता।[4] इसलिए लज्जा व्यक्ति का बहुत बड़ा गुण है। जो अनुचित कार्य करने में लजाता हो, वह ह्रीमान् अर्थात् लज्जावान् कहलाता है।

**पडिसंलीणे**—इसका अर्थ है प्रतिसंलीन। कुछ लोग दिन भर इधर-उधर फिरते रहते हैं। कार्य में संलग्न व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिए। उसे अपने स्थान पर स्थिरता पूर्वक बैठे रहना चाहिए। इन्द्रिय और मन को भी करणीय कार्य में संलग्न रखना चाहिए। प्रयोजनवश कहीं जाना भी पड़ता है किन्तु निष्प्रयोजन इन्द्रिय, मन और हाथ-पैर की चपलता के कारण इध र-उधर नहीं फिरना चाहिए। प्रतिसंलीन शब्द के द्वारा इसी आचरण की शिक्षा दी गई है।[5]

## २०. गुरुकुल में (गुरुकुले)

'गुरुकुल' का अर्थ गच्छ या गण है। यहां कहा गया है कि मुनि 'गुरुकुल' में रहे अर्थात् गुरु की आज्ञा में रहे, स्वच्छन्द विहारी होकर अकेला न विचरे।[6] गुरुकुल में रहने से उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। दर्शन और चारित्र में स्थिरता आती है। वे धन्य हैं जो जीवनपर्यन्त 'गुरुकुल-वास' नहीं छोड़ते।[7]

## २१. जो एकाग्र होता है (जोगवं)

योग शब्द दो धातुओं से निष्पन्न होता है। एक का अर्थ है जुड़ना और दूसरी का अर्थ है समाधि। चूर्णिकार ने योग के तीन अर्थ किए हैं।[8]—(१) मन, वाणी और काया की प्रवृत्ति (२) संयमयोग (३) पढ़ने का उद्योग।

शान्त्याचार्य ने योग के दो अर्थ किए हैं[9]—धार्मिक प्रयत्न तथा समाधि।

गीता में एक स्थान पर कर्म-कौशल को योग कहा है[10] तो दूसरे स्थान पर समत्व को योग कहा है।[11] इस प्रकार योग की सत् कर्म विषयक और समाधि विषयक दोनों प्रकार की व्याख्या मिलती है। धार्मिक-प्रयत्न और समाधि दोनों मोक्ष के हेतु हैं, इसलिए दोनों में सर्वथा भेद नहीं है। इसीलिए हरिभद्रसूरि ने मोक्ष से योग कराने वाले समूचे धर्म-व्यापार को योग कहा है।[12] दशवैकालिक ८।४२ में कहा है—मुनि को योग करना चाहिए। वहां योग का मुख्य अर्थ श्रमण-धर्म की आराधना है।

अनगारधर्मामृत में कायक्लेश तप के छह प्रकारों का निर्देश है—अयन (सूर्य आदि की गति), शयन, आसन, स्थान, अवग्रह और योग।

ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखर पर सूर्य के सम्मुख खड़ा होना आतापनायोग है। वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे बैठना वृक्षमूल योग है। शीतकाल में चौराहे पर या नदी के किनारे ध्यान में स्थित होना शीतयोग है। इस प्रकार योग के अनेक भेद हैं।[13]

## २२. दोनों ओर (अपने और अपने आधार के गुणों) से सुशोभित होता है (दुहओ वि विरायइ)

शंख भी स्वच्छ होता है और दूध भी स्वच्छ होता है। जब शंख के पात्र में दूध रखा जाता है तब दूध पात्र की स्वच्छता के कारण अधिक स्वच्छ हो जाता है। वह न तो झरता है और न

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६७ : कलह एव डमरं कलहडमरं, कलहेति वा भंडणेति वा डमरेति वा एगट्ठो, अथवा कलहो वाचिको डमरो हत्थारंभो।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७ : 'बुद्धो' बुद्धिमान्, एतच्च सर्वत्रानुगम्यत एवेति न प्रकृतसङ्ख्याविरोधः।

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६७ : अभिजाणते, विणीतो कुलीणे य।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७ : अभिजातिः—कुलीनता ता गच्छति—उत्क्षिप्तभारनिर्वाहणादिनेत्यभिजातिगः।

४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६७ : ह्री लज्जायां, लज्जति अचोक्खमायरंतो।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७ : ह्रीः—लज्जा सा विद्यतेऽस्य ह्रीमान्।

५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६७, १६८ : पंडिसंलीणो आचार्यसकासे इंदियणोइंदिएहिं।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७ : 'प्रतिसंलीनः'—गुरुसकाशेऽन्यत्र वा कार्यं विना न यतस्ततश्चेष्टते।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७ : गुरूणाम्—आचार्यदीनां कुलम्—अन्वयो गच्छ इत्यर्थः गुरुकुलं तत्र, तदाज्ञोपलक्षणं च कुलग्रहणं.....किमुक्तं भवति ?. ...गुर्वाज्ञायामेव तिष्ठेत्।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६८ : आयरियसमीवे अच्छति.... आह हि—
णाणस्स होइ भागी थिरयरगो दंसणे चरित्ते य।
धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति।।

८. वही, पृ० १६८ : जोगो मणजोगादि संजमजोगो वा, उज्जोगं पडितव्वते करेइ।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७ : योजनं योगो—व्यापारः, स चेह प्रक्रमाद्धर्मगत एव तद्वान्, अतिशायने मतुप्, यद्वा योगः—समाधिः सोऽस्यास्तीति योगवान्।

१०. गीता, २।५० : योगः कर्मसु कौशलम्।

११. वही, २।४८ : समत्वं योग उच्यते।

१२. योगविंशिका-१ : मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वोवि धम्मवावारो।

१३. अनगारधर्मामृत ७।३२।६८३ :
ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः,
स्थानैरेकपदाग्रगामिभिः अनिष्ठीवाग्रमावग्रहैः।
योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत् तनोः,
कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपमिती सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत्।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खट्टा होता है।[1]

## २३. बहुश्रुत (बहुस्सुए)

बहुश्रुत शब्द जैन आगमों में बहुत प्रचलित है। श्रुत का अर्थ है—ज्ञान। जिसका श्रुत व्यापक और विशाल होता है उसे बहुश्रुत कहा जाता है। व्याख्या साहित्य में इसकी निश्चित परिभाषाएं मिलती हैं।[2] बृहत्कल्प भाष्य के अनुसार बहुश्रुत तीन प्रकार के होते हैं[3]—

१. जघन्य बहुश्रुत—निशीथ का ज्ञाता।

२. मध्यम बहुश्रुत—कल्प और व्यवहार का ज्ञाता।

३. उत्कृष्ट बहुश्रुत—नौवें और दशवें पूर्व का ज्ञाता।

निशीथ चूर्णि का मत इससे बहुत भिन्न है। उसके अनुसार उत्कृष्ट बहुश्रुत वह होता है जो चतुर्दशपूर्वधर हो।[4] धवला में बारह अंगों के धारक को बहुश्रुत कहा गया है।[5]

प्रस्तुत अध्ययन में बहुश्रुत के व्यक्तित्व का सर्वांगीण परिचय उपलब्ध है। वह केवल ज्ञानी ही नहीं होता, व्यक्तित्व की अनेक विशेषताओं से संपन्न होता है। यहां उसकी सोलह विशेषताएं बतलाई गई हैं। उनका निर्देश काव्य की भाषा में है। प्रश्नव्याकरण में निरूपित मुनि की विशेषताओं के साथ इनका तुलनात्मक अध्ययन बहुत ज्ञानवर्धक हो सकता है।

**१. निर्मलता**—शंख में निहित दूध की उपमा बहुश्रुत की निर्मल आभा की द्योतक है। प्रश्नव्याकरण में मुनि को शंख की भांति निरंजन—राग-द्वेष और मोह से मुक्त बतलाया गया है।[6]

**२. जागरूकता**—जैसे आकीर्ण या भद्र अश्व चाबुक को देखते ही वेगवान् हो जाता है, वैसे ही बहुश्रुत निरन्तर जागरूक रहता है। यह तात्पर्यार्थ उत्तराध्ययन १।१२ में खोजा जा सकता है। धम्मपद में भी इस अर्थ के द्योतक दो श्लोक मिलते हैं।[7]

**३. शौर्य**—बहुश्रुत परिस्थितियों से हार नहीं मानता। वह योद्धा की भांति पराक्रमी होता है।

**४. अप्रतिहत**—बहुश्रुत हाथी की भांति अप्रतिहत होता है। प्रश्नव्याकरण में मुनि का एक विशेषण है—हाथी की भांति शौण्डीर—समर्थ या बलवान्।[8]

**५. भार-निर्वाहक**—बहुश्रुत अपने दायित्व का वृषभ की तरह भलीभांति निर्वाह करता है। प्रश्नव्याकरण में मुनि की प्राणवान् ऋषभ से तुलना की गई है।[9]

**६. दुष्प्रधर्ष**—बहुश्रुत सिंह की भांति दुष्प्रधर्ष—अनाक्रमणीय होता है। अन्यदर्शनी उस पर वैचारिक आक्रमण नहीं कर सकते। प्रश्नव्याकरण में मुनि के लिए भी इस उपमा का प्रयोग किया गया है।[10]

**७. अपराजेय**—बहुश्रुत वासुदेव की भांति अपराजेय होता है।

**८. लब्धिसंपन्न**—जैसे चक्रवर्ती ऋद्धिसंपन्न होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी योगज विभूतियों से संपन्न होता है।

**९. आधिपत्य या स्वामित्व**—जैसे इन्द्र देवों का अधिपति होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी दिव्य शक्तियों का अधिपति होता है।

**१०. तेजस्वी**—बहुश्रुत सूर्य की भांति तेज से दीप्त होता है। प्रश्नव्याकरण में मुनि का एक विशेषण है—सूर्य की भांति तेजस्वी।[11]

**११. कलाओं से परिपूर्ण और सौम्यदर्शन**—बहुश्रुत पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति समस्त कलाओं से परिपूर्ण होता है। उसका दर्शन सौम्यभाव युक्त होता है। प्रश्नव्याकरण में मुनि का एक विशेषण है—चन्द्रमा की भांति सौम्य।[12]

**१२. श्रुतसंपन्न**—बहुश्रुत कोष्ठागार की भांति श्रुत से परिपूर्ण होता है।

**१३. आदर्श**—बहुश्रुत जम्बू वृक्ष की भांति श्रेष्ठ होता है, आदर्श होता है। उसका ज्ञान संजीवनी का काम करता है, जैसे जम्बू वृक्ष का फल।

**१४. ज्ञान की निर्मलता**—बहुश्रुत निर्मल जलवाली शीता नदी की भांति निर्मल ज्ञान से युक्त होता है।

**१५. अडोल और दीप्तिमान्**—जैसे मंदर पर्वत अडोल और नानाविध वनस्पतियों से दीप्त होता है, वैसे ही बहुश्रुत ज्ञान से अत्यन्त स्थिर और ज्ञान के प्रकाश से दीप्त होता है।

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६८ : 'संखिमि' संखभायणे पयं—खीरं णिसितं ठवियं न्यस्तमित्यर्थः, उभयतो दुहतो, संखो खीरं च, अहवा तओ खीरं व, खीरं संखे ण परिस्सयति ण य अंबिलं भवति।

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४८ : 'दुहओवि' त्ति द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा, न शुद्धतादिना स्वसम्बन्धिगुणलक्षणेनैकेनैव प्रकारेण, किन्तु स्वसम्बन्ध्याश्रयसम्बन्धिगुणद्वयलक्षणेन प्रकारद्वयेनापीत्यपिशब्दार्थः, 'विराजते' शोभते, तत्र हि न तत् कलुषीभवति, न चाम्लतां भजते, नापि च परिस्रवति।

२. देखें—इसी अध्ययन का आमुख।

३. बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ४०२ :
तिविहो बहुस्सुओ खलु, जहण्णओ मज्झिमो उ उक्कोसो।
आयारपकप्पे कप्प नवम-दसमे य उक्कोसो।।

४. देखें—इसी अध्ययन का आमुख।

५. धवला ८।३।४१ बारसंगपारया बहुसुदा णाम।

६. प्रश्नव्याकरण १०।११ : संखे विव निरंगणे विगय-राग-दोस-मोहे।

७. धम्मपद १०।१५, १६ :
हरीनिसेधो पुरिसो कोचि लोकस्मिं विज्जति।
यो निन्दं अप्पबोधति अस्सो भद्दो कसामिव।।
अस्सो यथा भद्दो कसानिविट्ठो, आतापिनो संवेगिनो भवाथ।
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च समाधिना धम्मविनिच्छयेन च।।

८. प्रश्नव्याकरण, १०।११ : सोंडीरे कुंजरे व।

९. वही, १०।११ : वसभे व जायथामे।

१०. वही, १०।११ : सीहे वा...होतिदुप्पधंरिसे।

११. वही, १०।११ : सूरोव्व दित्ततेए।

१२. वही, १०।११ : चंदो इव सोमभावयाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्नव्याकरण में मुनि का एक विशेषण है—गिरिवर मंदर पर्वत की तरह अचल।[1]

**१६. अक्षयकोष**—बहुश्रुत समुद्र की भांति अक्षय ज्ञान और अतिशयों से संपन्न होता है। प्रश्नव्याकरण में मुनि का एक विशेषण है—अक्षुब्ध सागर की भांति शांत।[2]

## २४ धर्म, कीर्ति और श्रुत (धम्मो कित्तीं तहा सुयं)

चूर्णिकार ने इस चरण का अर्थ दो प्रकार से किया है—योग्य व्यक्ति को ज्ञान देने वाले बहुश्रुत के धर्म होता है, उसकी कीर्ति होती है और उसका ज्ञान अबाधित रहता है। दूसरे प्रकार से इसका अर्थ है—बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत अबाधित रहते हैं।[3]

## २५. (कंबोयाणं, आइण्णे कंथए)

**कंबोयाणं**—कम्बोज (प्राचीन जनपद, जो अब अफगानिस्तान का भाग है) में उत्पन्न अश्व 'कम्बोज कहलाते हैं।[4]

**आइण्णे**—आकीर्ण अर्थात् शील, रूप, बल आदि गुणों से युक्त अश्व।[5]

**कंथए**—खड़खड़ाहट या शस्त्र-प्रहार से नहीं चौंकने वाला श्रेष्ठ जाति का घोड़ा 'कन्थक' कहलाता है।[6]

## २६. मंगलपाठकों के घोष से (नंदिघोसेणं)

चूर्णि में इसका अर्थ है—मंगलपाठकों की जय-जय ध्वनि।[7] वृत्तिकार ने इसको वैकल्पिक अर्थ मानकर इसका मूल अर्थ बारह प्रकारों के वाद्यों की ध्वनि किया है।[8] कोश में जय-जय की ध्वनि को नान्दी कहा गया है। यही अर्थ प्रसंगोपात्त है।

## २७. साठ वर्ष का (सट्ठिहायणे)

साठ वर्ष की आयु तक हाथी का बल प्रतिवर्ष बढ़ता रहता है और उसके बाद में कम होना शुरू हो जाता है। इसीलिए यहां हाथी की पूर्ण बलवत्ता बतलाने के लिए साठ वर्ष का उल्लेख किया गया है।[9]

## २८. अत्यन्त पुष्ट स्कन्ध वाला (जायखंधे)

'जाय' का अर्थ है—पुष्ट। जिसका कंधा पुष्ट होता है, उसे 'जात-स्कन्ध' कहा जाता है। जिसका कन्धा पुष्ट होता है उसके दूसरे अंगोपांग पुष्ट ही होते हैं।[10]

## २९. (श्लोक २०)

**उदग्गे**—उदग्र के अनेक अर्थ हैं—प्रधान, शोभन, उत्कट, पूर्ण युवा आदि। यहां 'उदग्र' का अर्थ वयःप्राप्त पूर्ण युवा है।[11]

**मियाण**—यहां 'मृग' का अर्थ जंगली पशु है।[12] देखिए—उत्तराध्ययन १।५ का टिप्पण।

## ३०. शङ्ख, चक्र और गदा (संखचक्कगया)

वासुदेव के शङ्ख का नाम पाञ्चजन्य, चक्र का नाम सुदर्शन और गदा का नाम कौमोदकी है।[13]

लोहे के दण्ड को गदा कहा जाता है। अर्थशास्त्र के अनुसार यह चल-यंत्र होता है।[14]

## ३१. (चाउरंते, चक्कवट्टी, चउदसरयण)

**चाउरन्ते**—जिसके राज्य में एक दिगन्त में हिमवान् पर्वत और तीन दिगन्तों में समुद्र हो, वह 'चातुरन्त' कहलाता है। इसका दूसरा अर्थ है—हाथी, अश्व, रथ और मनुष्य—इन चारों के द्वारा शत्रु का अन्त करने वाला—नाश करने वाला।[15]

**चक्कवट्टी**—छह खण्ड वाले भारतवर्ष का अधिपति 'चक्रवर्ती' कहलाता है।[16]

**चउदसरयण**—चक्रवर्ती के चौदह रत्न ये हैं—

(१) सेनापति (२) गाथापति (३) पुरोहित (४) गज (५) अश्व (६) बढई (७) स्त्री (८) चक्र (९) छत्र (१०) चर्म (११) मणि (१२) काकिणी (१३) खड्ग और (१४) दण्ड।[17]

---

१. प्रश्नव्याकरण, १०।११ : अचले जह मंदरे गिरिवरे।

२. वही, १०।११ : अक्खोभे सागरोव्व थिमिए।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६८ : भायणे देंतस्स धम्मो भवति कित्ती वा, सो तहा सुत्तं अबाधितं भवति, अपत्ते देंतस्स असुतमेव भवति, अथवा इहलोगे परलोगे जसो भवति पत्तदाई (त्ति), अहवा एवंगुणजातीए भिक्खू बहुस्सुते भवति, धम्मो कित्ती जसो भवति, सुयं व से भवति।

४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६८ : कंबोतेसु भवा कंबोजाः, अश्वा इति वाक्यशेषः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४८ : 'काम्बोजानां' कम्बोजदेशोद्भवानां प्रक्रमादश्वानाम्।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६६ : आकीर्णे गुणेहिं सीलरूपबलादीहि य।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७ : 'कन्थकः' प्रधानोऽश्वो, यः किल दृषच्छकलभूत-कुतुपनिपतनध्वने र्न सन्त्रस्यति।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६६।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ : नन्दीघोषेण—द्वादशतूर्यनिनादात्मकेन, यद् वा आशीर्वचनानि नान्दी जीयास्त्वमित्यादीनि।

९. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६६ : हायणं वरिसं, सट्ठिवरिसे परं बलहीणो, अपत्तबलो परेण परिहाति।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ : षष्टिहायनः—षष्टिवर्षप्रमाणः, तस्य हि एतावत्कालं यावत् प्रतिवर्षं बलोपचयः ततस्तदपचय इत्येवमुक्तम्।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ : जातः—अत्यन्तोपचितीभूतः स्कन्धः ग्रीवेति एवास्यांत जातस्कन्धः, समस्ताङ्गोपाङ्गोपचितत्वोपलक्षणं चैतत्, तदुपचये हि शेषाङ्गान्युपचितान्येवास्य भवन्ति।

११. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६६ : उदग्गं पधानं शोभनमित्यर्थः, उदग्गं वयसि वर्त्तमानम्।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ : 'उदग्रः' उत्कट उदग्रवयः स्थितत्वेन वा उदग्रः।

१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ : 'मृगाणाम्' आरण्यप्राणिनाम्।

१३. वही, पत्र ३५० : शङ्खश्च—पाञ्चजन्यः, चक्रं च—सुदर्शनं, गदा च—कौमोदकी।

१४. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २।१८।३६, पृ० ११०।

१५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५० : चतसृष्वपि दिक्ष्वन्तः—पर्यन्त एकत्र हिमवानन्यत्र च दिक्त्रये समुद्रः स्वसम्बन्धितयाऽस्येति चतुरन्तः, चतुर्भिर्वा—हयगजरथनरात्मकैरन्तः—शत्रुविनाशात्मको यस्य स तथा।

१६. वही, पत्र ३५० : 'चक्रवर्ती' षट्खण्डभरताधिपः।

१७. वही, पत्र ३५० : चतुर्दश च तानि रत्नानि च चतुर्दशरत्नानि, तानि चामूनि—
सेणावइ गाहावइ पुरोहिय गय तुरंग वड्ढइग इत्थी।
चक्कं छत्तं चम्मं मणि कागिणी खग्ग दंडो य।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ३२. सहस्रचक्षु (सहस्सक्खे)

इसका परम्परागत अर्थ यह है कि इन्द्र के पांच सौ मन्त्री होते हैं। राजा मन्त्री की आंखों से देखता है, अपनी नीति निश्चित करता है, इसलिए इन्द्र को 'सहस्राक्ष' कहा गया है। जो हजार आंखों से देखता है, इन्द्र अपनी दो आंखों से उससे अधिक देख लेता है, इसलिए वह 'सहस्राक्ष' कहलाता है।[1]

### ३३. पुरों का विदारण करने वाला (पुरंदरे)

चूर्णि में पुरन्दर की व्याख्या नहीं है। शान्त्याचार्य ने इसका लोक-सम्मत अर्थ किया है—इन्द्र ने पुरों का विदारण किया था, इसलिए वह 'पुरन्दर' नाम से प्रसिद्ध हो गया।[2] पुरं-दर—पुरों को नष्ट करने वाला। ऋग्वेद में दस्युओं या दासों के पुरों को नष्ट करने के कारण इन्द्र को 'पुरन्दर' कहा गया है।[3]

### ३४. उगता हुआ (उत्तिट्ठंते)

चूर्णिकार ने मध्याह्न तक के सूर्य को उत्थित होता हुआ माना है। उस समय तक सूर्य का तेज बढ़ता है। मध्याह्न के पश्चात् वह घटने लग जाता है। इसका दूसरा अर्थ 'उगता हुआ' किया गया है। उगता हुआ सूर्य सोम होता है।[4]

बृहद्वृत्ति के अनुसार उगता हुआ सूर्य तीव्र नहीं होता, बाद में वह तीव्र हो जाता है, इसलिए 'उत्तिष्ठन्' शब्द के द्वारा बाल सूर्य ही अभिप्रेत है।[5]

### ३५. नक्षत्र (नक्खत्त)

नक्षत्र सताईस हैं। उनके नाम ये हैं—

(१) अश्विनी (२) भरणी (३) कृत्तिका (४) रोहिणी (५) मृगशिर (६) आर्द्रा (७) पुनर्वसू (८) पुष्य (९) अश्लेषा (१०) मघा (११) पूर्वा फल्गुनी (१२) उत्तरा फल्गुनी (१३) हस्त (१४) चित्रा (१५) स्वाति (१६) विशाखा (१७) अनुराधा (१८) ज्येष्ठा (१९) मूल (२०) पूर्वाषाढा (२१) उत्तराषाढा (२२) श्रवण (२३) धनिष्ठा (२४) शतभिषक् (२५) पूर्वभद्रपदा (२६) उत्तरभद्रपदा और (२७) रेवती।

### ३६. सामाजिकों (समुदायवृत्ति वालों) का कोष्ठागार (सामाइयाणं कोट्ठागारे)

आजकल जैसे सामुदायिक अन्न-भण्डार होते हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल में भी सामुदायिक अन्न-भण्डार होते थे।[6] उनमें नाना प्रकार के अनाज रखे जाते थे।[7] चोर, अग्नि, चूहों आदि से बचाने के लिए उनकी पूर्णतः सुरक्षा की जाती थी।[8] उन अन्न-भण्डारों को 'कोष्ठागार' या 'कोष्ठाकार' कहा जाता था।[9]

### ३७. (श्लोक २७)

प्रस्तुत श्लोक में जम्बू वृक्ष की उपमा से बहुश्रुत को उपमित किया है। जम्बू वृक्ष जम्बूद्वीप में अवस्थित है। इस द्वीप का अधिपति है अनादृत नाम का व्यन्तर देव। जम्बू वृक्ष इसी देव का निवास स्थान है। इस वृक्ष का अपर नाम है—सुदर्शना। यह वस्तुतः पृथ्वीकायिक होता है। यह द्रुम की अनुकृति वाला होने के कारण द्रुम कहलाता है।

विशेष विवरण के लिए देखें—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ४।१४६-१६०।

### ३८. (सलिला, सीया नीलवंतपवहा)

**सलिला**—यहां सलिला का प्रयोग नदी के अर्थ में किया गया है।[10]

**सीया नीलवंतपवहा**—नीलवान मेरु पर्वत के उत्तर में अवस्थित वर्षधर पर्वत है। शीता नदी इस पर्वत से प्रवाहित होती है।[11] यह सबसे बड़ी नदी है और अनेक जलाशयों से व्याप्त है।[12]

वर्तमान भूगोल-शास्त्रियों के अनुसार चीन, तुर्किस्तान के चारों ओर स्थित पर्वतों से कई नदियां निकलती हैं, जो 'तकलामकान' मरुस्थल की ओर जाती हैं और अन्त में इसी मरुस्थल की राह में सूख जाती हैं। काशगर नदी और यारकन्द नदी क्रमशः 'तियेन-शान' और पामीर से निकलती

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६६ : सहस्सक्खेत्ति पंच मंतिसयाइं देवाणं तस्स, तेसिं सहस्सो अक्खीणं, तेसिं णीतिए दिट्ठनीति, अहवा जं सहस्सेण अक्खाणं दीसति तं सो दोहिं अक्खीहिं अब्भहियतरायं पेच्छति।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५० : लोकोक्त्या च पूर्दारणात् पुरन्दरः।

३. ऋग्वेद, १।१०२।७; १।१०६।८; २।२०।७; ३।५४।१५; ५।३०।११; ६।१६।१४।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०० : जाव मज्झण्णो ताव उट्ठेति, ताव से तेयलेसा वड्ढति, पच्छा परिहायति, अहवा उत्तिट्ठंतो सोमो भवति हेमंतियबालसूरिओ।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५१ : 'उत्तिष्ठन्' उद्गच्छन् 'दिवाकरः' सूर्यः, स हि ऊर्ध्वं नभोभागमाक्रामन्ललितेजस्वितां भजते अवतररंतु न तथेत्येवं विशिष्यते, यद्वा उत्थानं—प्रथममुद्गमनं तत्र चायं न तीव्र इति तीव्रत्वाभावख्यापकमेतत्, अन्यथा हि तीव्रोऽयमिति न सम्यग् दृष्टान्तः स्यात्।

६. वही, पत्र ३५१ : समाजः—समूहस्तं समवयन्ति सामाजिकाः— समूहवृत्तयो लोकास्तेषां.....कोट्ठागारे।

७. वही, पत्र ३५१ : नाना—अनेकप्रकाराणि धान्यानि—शालिमुद्गादीनि तैः प्रतिपूर्णो—भृतः नानाधान्यप्रतिपूर्णः।

८. वही, पत्र ३५१ : सुष्ठु—प्राहरिकपुरुषादिव्यापारणद्वारेण रक्षितः—पालितो दस्युमूषिकादिभ्यः सुरक्षितः।

९. वही, पत्र ३५१ : कोष्ठा—धान्यपल्यास्तेषामगारं—तदाधारभूतं गृहम्, उपलक्षणत्वादन्यदपि प्रभूतधान्यस्थानं, यत्र प्रदीपनकादिभयात् धान्यकोष्ठाः क्रियते तत् कोष्ठागारमुच्यते, यदि वा कोष्ठान् आ—समन्तात् कुर्वते तस्मिन्निति कोष्ठाकारः।

१०. वही, पत्र ३५२ : सलिलं— जलमस्यामस्तीति, आर्शआदेराकृतिगणत्वादचि सलिला—नदी।

११. वही, पत्र ३५२ : 'शीता' शीतानाम्नी, नीलवान्—मेरोरुत्तरस्यां दिशि वर्षधरपर्वततः.....प्रवहति...नीलवत्प्रवहा वा।

१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०० : सीता सव्वण्णदीण महल्ला बहूहिं च जलासतेहिं च आइण्णा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। दोनों नदियां मिलकर तारिम नदी हुई, जो 'लोबनोर' तक जाती है। भारतीय साहित्य में यही नदी 'शीता' के नाम से प्रख्यात है।[1]

पौराणिक विद्वान् नील पर्वत की पहचान आज के कारकोरम से करते हैं। पुराणों के हेमकूट, निषध, नील, श्वेत तथा शृङ्गी पर्वत अनुक्रम से आज के हिन्दुकुश, सुलेमान, काराकोरम, कुवेनलुन तथा थियेनशान हैं।[2]

## ३९. मंदर पर्वत (मंदरे गिरी)

मन्दर पर्वत सबसे ऊंचा पर्वत है और वहां से दिशाओं का प्रारम्भ होता है।[3] उसे नाना प्रकार की औषधियों और वनस्पतियों से प्रज्वलित कहा गया है। वहां विशिष्ट औषधियां होती हैं। उनमें से कुछ प्रकाश करने वाली होती हैं। उनके योग से मंदर पर्वत भी प्रकाशित होता है।[4] सूत्रकृतांग की वृत्ति में भी मेरु—मन्दर पर्वत को औषधि-सम्पन्न कहा है।[5]

कश्मीर के उत्तर में एक ही स्थान या बिंदु से पर्वतों की छह श्रेणियां निकलती हैं। इनके नाम हैं—हिमालय, काराकोरम, कुवेनलुन, हियेनशाल, हिन्दुकुश और सुलेमान। इनमें जो केन्द्र-बिन्दु है, उसे पुराणों के रचयिता मेरु-पर्वत कहते हैं। यह पर्वत भू-पद्म की कर्णिका जैसा है।[6]

## ४०. (समुद्दगंभीरसमा)

व्याकरण की दृष्टि से यह 'समुद्दसमगम्भीरा' होना चाहिए था, किन्तु छन्द-रचना की दृष्टि से 'गम्भीर' का पूर्व निपात हुआ है। बृहद्वृत्ति के अनुसार 'गाम्भीर्य' के स्थान में 'गम्भीर' का आर्ष-प्रयोग हुआ है।[7]

## ४१. दुराशय (दुरासया)

'दुरासय' शब्द के संस्कृत रूप तीन होते हैं—

१. दुराश्रय—जिसका आश्रयण दुःखपूर्वक होता है।

२. दुरासद—जिसको प्राप्त करना कठिन होता है।

३. दुराशय—दुष्ट आशय वाला।

आगमों में इन तीनों अर्थों में यह शब्द प्राप्त होता है।[8]

प्रस्तुत प्रसंग में 'दुराशय' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार है—जिसके आशय को गंभीरता के कारण कठिनाई से जाना जाता है। वृत्तिकार ने इसके संस्कृत रूप दो दिए हैं—दुराश्रय और दुरासद। अभिभूत करने की बुद्धि से जिसके पास पहुंचना कठिन होता है उसे दुराश्रय या दुरासद कहा जाता है।[9] चूर्णि में केवल दुराश्रय की व्याख्या प्राप्त है।[10]

## ४२. विपुल श्रुत से पूर्ण (सुयस्स पुण्णा विउलस्स)

इसके तीन अर्थ हैं—[11]

१. चौदह पूर्वों से प्रतिपूर्ण।

२. विमल और निःशंकित वाचना से युक्त अथवा प्रचुर अर्थ के ज्ञाता।

३. अंग, अंगबाह्य आदि विस्तृत श्रुत के ज्ञाता।

## ४३. उत्तम अर्थ (मोक्ष) (उत्तमट्ठ)

साधना का लक्ष्य है—बंधनमुक्ति या मोक्ष की प्राप्ति। पुरुषार्थ चतुष्टयी में मोक्ष को उत्तम कहा गया है। प्रस्तुत प्रसंग में उत्तमार्थ का अर्थ है—मोक्ष।

## ४४. श्रुत का आश्रयण करे (सुयमहिट्ठेज्जा)

वृत्तिकार ने श्रुत के आश्रयण या अधिष्ठान के अनेक साधन बतलाए हैं—अध्ययन, श्रवण, चिंतन आदि।[12]

---

१. India and Central Asia (by P.C. Bagchi) p. 43.

२. वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १६४।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०० : जहा मन्दरो थिरो उरिसओ दिसाओ य अत्थ पवत्तंति।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५२ : 'नानौषधिभिः' अनेकविधविशिष्टमाहात्म्यवनस्पतिविशेषरूपाभिः प्रकर्षेण ज्वलितो—दीप्तः नानौषधिप्रज्वलितः, ता ह्यतिशायिन्यः प्रज्वलन्त्य एवासत इति तद्योगादसावपि प्रज्वलित इत्युक्तः, यद्वा—प्रज्वलिता नानौषधयोऽस्मिन्निति प्रज्वलितनानौषधिः, प्रज्वलितशब्दस्य तु परनिपातः प्राग्वत्।

५. सूत्रकृतांग, १।६।१२, वृत्ति पत्र १४७ : 'गिरिवरे से जलिएव भोमे' असौ मणिभिरौषधिभिश्च देदीप्यमानतया "भौम इव" भूदेश इव ज्वलित इति।

६. वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १६४।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५३।

८. (क) दशवैकालिक २।६ : पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं। (दुराश्रय)
(ख) उत्तराध्ययन १।१३ : पसायए ते हु दुरासयं पि। (दुरासदं)
(ग) प्रस्तुत श्लोक-दुराशय।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५३।

१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०१।

११. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०१।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५३।

१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५३ : अध्ययनश्रवणचिन्तनादिना आश्रयेत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# बारसमं अज्झयणं

## हरिएसिज्जं

# बारहवां अध्ययन

## हरिकेशीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

यह अध्ययन मुनि हरिकेशबल से सम्बन्धित है, इसलिए इसका नाम 'हरिएसिज्जं'—'हरिकेशीय' है।

मथुरा नगरी के राजा 'शंख' विरक्त हो मुनि बन गए। ग्रामानुग्राम घूमते हुए एक बार वे हस्तिनागपुर (हस्तिनापुर) आए और भिक्षा के लिए नगर की ओर चले। ग्राम-प्रवेश के दो मार्ग थे। मुनि ने एक ब्राह्मण से मार्ग पूछा। एक मार्ग का नाम 'हुताशन' था और वह अत्यन्त निकट था। वह अग्नि की तरह प्रज्वलित रहता था। ब्राह्मण ने कुतूहलवश उस उष्ण मार्ग की ओर संकेत कर दिया। मुनि निश्छलभाव से उसी मार्ग पर चल पड़े। वे लब्धि-सम्पन्न थे। अतः उनके पाद-स्पर्श से मार्ग ठण्डा हो गया। मुनि को अविचल भाव से आगे बढ़ते देख ब्राह्मण भी उसी मार्ग पर चल पड़ा। मार्ग को बर्फ जैसा ठण्डा देख उसने सोचा—"यह मुनि का ही प्रभाव है।" उसे अपने अनुचित कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। वह दौड़ा-दौड़ा मुनि के पास आया और उसने अपना पाप प्रकट कर क्षमायाचना की। मुनि ने धर्म का उपदेश दिया। ब्राह्मण के मन में विरक्ति के भाव उत्पन्न हुए। वह मुनि के पास प्रव्रजित हो गया। उसका नाम सोमदेव था। उसमें जाति का अवलेप था। 'मैं ब्राह्मण हूं, उत्तम जातीय हूं'—यह मद उसमें बना रहा। कालक्रम से मर कर वह देव बना। देव-आयुष्य को पूरा कर जाति-मद के परिपाक से गंगा नदी के तट पर हरिकेश के अधिप 'बलकोष्ट' नामक चाण्डाल की पत्नी 'गौरी' के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम बल रखा गया। यही बालक हरिकेशबल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक दिन वह अपने साथियों के साथ खेल रहा था। खेलते-खेलते वह लड़ने लगा। लोगों ने जब यह देखा तो उसको दूर ढकेल दिया। दूसरे बालक पूर्ववत् खेलने लगे किन्तु वह दर्शक मात्र ही रहा। इतने में ही एक भयंकर सर्प निकला। लोगों ने उसे पत्थर से मार डाला। कुछ ही क्षणों बाद एक अलसिया निकला। लोगों ने उसे छोड़ दिया। दूर बैठे बालक हरिकेश ने यह सब देखा। उसने सोचा—"प्राणी अपने दोषों से ही दुःख पाता है। यदि मैं सर्प के समान विषैला होता हूं तो यह स्वाभाविक ही है कि लोग मुझे मारेंगे और यदि मैं अलसिए की तरह निर्विष होता हूं तो कोई दूसरा मुझे क्यों सताएगा?" चिन्तन आगे बढ़ा। जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। जाति-मद के विपाक का चित्र सामने आ गया। निर्वेद को प्राप्त हो उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि हरिकेशबल श्रामण्य का विशुद्ध रूप से पालन करते हुए तपस्या में लीन रहने लगे। तप के प्रभाव से अनेक यक्ष उनकी सेवा करने लगे। मुनि यक्ष-मन्दिर में कायोत्सर्ग, ध्यान आदि करते। एक बार वे ध्यानलीन खड़े थे। उस समय वाराणसी के राजा कौशिक की पुत्री भद्रा यक्ष की पूजा करने वहां आई। पूजा कर वह प्रदक्षिणा करने लगी। उसकी दृष्टि ध्यानलीन मुनि पर जा टिकी। उनके मैले कपड़े देख उसे घृणा हो आई। आवेश में आ उसने मुनि पर थूक दिया। यक्ष ने यह देखा। उसने सोचा—"इस कुमारी ने मुनि की आशातना की है। इसका फल इसे मिलना ही चाहिए।" यक्ष कुमारी के शरीर में प्रविष्ट हो गया। कुमारी पागल हो गयी। वह अनर्गल बातें कहने लगी। दासियां उसे राजमहल में ले गयीं। उपचार किया गया पर सब व्यर्थ। यक्ष ने कहा—"इस कुमारी ने एक तपस्वी मुनि का तिरस्कार किया है। यदि यह उस तपस्वी के साथ पाणिग्रहण करना स्वीकार कर लेती है तो मैं इसके शरीर से बाहर निकल सकता हूं, अन्यथा नहीं।" राजा ने बात स्वीकार कर ली।

राजा अपनी कन्या को साथ ले यक्ष-मन्दिर में आया और उसने मुनि को नमस्कार कर अपनी कन्या को स्वीकार करने की प्रार्थना की। मुनि ने ध्यान पारा और कहा—"राजन्! मैं मुमुक्षु हूं। स्त्री मोक्ष-मार्ग में बाधक है, इसलिए मैं इसका स्पर्श भी नहीं कर सकता।" इतना कह मुनि पुनः ध्यानलीन हो गए।

कन्या को मुनि के चरणों में छोड़ राजा अपने स्थान पर आ गया। यक्ष ने मुनि का रूप बनाया और राजकन्या का पाणिग्रहण किया। रात भर कन्या वहीं रही। प्रभात में यक्ष दूर हुआ। मुनि ने सही-सही बात कन्या से कही। वह दौड़ी-दौड़ी राजा के पास गई और उसने यक्ष द्वारा ठगे जाने की बात बताई। राजा के पास बैठे रुद्रदेव पुरोहित ने कहा—"राजन्! यह ऋषि-पत्नी है। मुनि ने इसे त्याग दिया है, अतः इसे किसी ब्राह्मण को दे देना चाहिए।" राजा ने उसी पुरोहित को कन्या सौंप दी। वह उसके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा। कुछ काल बीता। पुरोहित ने यज्ञ किया। दूर-दूर से विद्वान् ब्राह्मण बुलाए गए। उन सबके आतिथ्य के लिए प्रचुर भोजन-सामग्री एकत्रित की गई।

उस समय मुनि हरिकेशबल एक-एक मास का तप कर रहे थे। पारणे के दिन वे भिक्षा के लिए घर-घर घूमते हुए उसी यज्ञ-मण्डप में जा पहुंचे।

उसके बाद मुनि और वहां के वरिष्ठ ब्राह्मणों के बीच जो वार्ता-प्रसंग चला उसका संकलन सूत्रकार ने किया है। वार्ता के माध्यम से ब्राह्मण-धर्म और निर्ग्रन्थ-प्रवचन का सार प्रतिपादित हुआ है। सर्वप्रथम ब्राह्मणकुमार मुनि की अवहेलना करते हैं परन्तु अन्त में वे उनसे मार्ग-दर्शन लेते हैं।

इस अध्ययन में निम्न विषयों पर चर्चा हुई है—

| | |
|---|---|
| १. दान का अधिकारी | —श्लोक १२ से १८। |
| २. जातिवाद | —श्लोक ३६ |
| ३. यज्ञ | —श्लोक ३८ से ४४। |
| ४. जल-स्नान | —श्लोक ३८, ४५, ४६, ४७। |

बौद्ध-साहित्य में मातंग जातक (४९७) में यह कथा प्रकारांतर से मिलती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# बारसमं अज्झयणं : बारहवां अध्ययन
## हरिएसिज्जं : हरिकेशीय

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. सोवागकुलसंभूओ<br>गुणुत्तरधरो मुणी।<br>हरिएसबलो नाम<br>आसि भिक्खू जिइंदिओ।। | *श्वपाककुलसंभूतः*<br>*उत्तरगुणधरो मुनिः।*<br>*हरिकेशबलो नाम*<br>*आसीद् भिक्षुर्जितेन्द्रियः।।* | चाण्डाल-कुल[1] में उत्पन्न, ज्ञान आदि उत्तम गुणों को धारणा करने वाला, धर्म-अधर्म का मनन करने वाला[2] हरिकेशबल[3] नामक जितेन्द्रिय भिक्षु था। |
| २. इरिएसणभासाए<br>उच्चारसमिईसु य।<br>जओ आयाणनिक्खेवे<br>संजओ सुसमाहिओ।। | *ईर्यैषणाभाषायां*<br>*उच्चारसमितौ च।*<br>*यत आदाननिक्षेपे*<br>*संयतः सुसमाहितः।।* | वह ईर्या, एषणा, भाषा, उच्चार, आदाननिक्षेप—इन समितियों में सावधान था, संयमी और समाधिस्थ था। |
| ३. मणगुत्तो वयगुत्तो<br>कायगुत्तो जिइंदिओ।<br>भिक्खट्ठा बंभइज्जम्मि<br>जन्नवाडं उवट्ठिओ।। | *मनोगुप्तो वचोगुप्तः*<br>*कायगुप्तो जितेन्द्रियः।*<br>*भिक्षार्थं ब्रह्मेज्ये*<br>*यज्ञवाटे उपस्थितः।।* | वह मन, वचन और काया से गुप्त और जितेन्द्रिय था। वह भिक्षा लेने के लिए यज्ञ-मण्डप में गया, जहां ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। |
| ४. तं पासिऊणमेज्जंतं<br>तवेण परिसोसियं।<br>पंतोवहिउवगरणं<br>उवहसंति अणारिया।। | *तं दृष्ट्वा आयन्तं*<br>*तपसा परिशोषितम्।*<br>*प्रान्त्योपध्युपकरणं*<br>*उपहसन्त्यनार्याः।।* | वह तप से कृश हो गया था। उसके उपधि और उपकरण प्रांत (जीर्ण और मलिन) थे।[4] उसे आते देख, वे अनार्य[5] (ब्राह्मण) हंसे। |
| ५. जाईमयपडिथद्धा<br>हिंसगा अजिइंदिया।<br>अबंभचारिणो बाला<br>इमं वयणमब्बवी।। | *जातिमदप्रतिस्तब्धाः*<br>*हिंसका अजितेन्द्रियाः।*<br>*अब्रह्मचारिणो बालाः*<br>*इदं वचनमब्रुवन्।।* | जातिमद से मत्त, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी और अज्ञानी ब्राह्मणों ने परस्पर इस प्रकार कहा— |
| ६. कयरे आगच्छइ दित्तरूवे<br>काले विगराले फोक्कनासे।<br>ओमचेलए पंसुपिसायभूए<br>संकरदूसं परिहरिय कंठे ?।। | *कतर आगच्छति दृप्तरूपः*<br>*कालो विकरालः 'फोक्क' नासः।*<br>*अवमचेलकः पांशुपिशाचभूतः*<br>*संकरदूष्यं परिधाय कण्ठे ?।।* | वीभत्स रूप वाला,[6] काला, विकराल, बड़ी नाक वाला,[7] अधनंगा,[8] पांशु-पिशाच (चुड़ैल) सा,[9] गले में संकर-दूष्य (उकुरडी से उठाया हुआ चिथड़ा) डाले हुए[10] वह कौन आ रहा है ? |
| ७. कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे<br>काए व आसा इहमागओ सि।<br>ओमचेलगा पंसुपिसायभूया<br>गच्छ क्खलाहि किमिहं ठिओसि ?।। | *कतरस्त्वमित्यदर्शनीयः*<br>*कया वाऽऽशयेहागतोऽसि ?*<br>*अवमचेलकः पांशुपिशाचभूतः*<br>*गच्छ 'खलाहि' किमिह स्थितोसि ?।।* | ओ अदर्शनीय मूर्ति ! तुम कौन हो ? किस आशा से यहां आए हो ? अधनंगे तुम पांशु-पिशाच (चुड़ैल) से लग रहे हो। जाओ, आंखों से परे चले जाओ[11] ! यहां क्यों खड़े हो ? |
| ८. जक्खो तहिं तिंदुयरुक्खवासी<br>अणुकंपओ तस्स महामुणिस्स।<br>पच्छायइत्ता नियगं सरीरं<br>इमाइं वयणाइमुदाहरित्था।। | *यक्षस्तस्मिन् तिन्दुकरूक्षवासी*<br>*अनुकम्पकस्तस्य महामुनेः।*<br>*प्रच्छाद्य निजकं शरीरं*<br>*इमानि वचनानि उदाहार्षीत्।।* | उस समय महामुनि हरिकेशबल की अनुकंपा करने वाला[12] तिन्दुक (आबनूस) वृक्ष का वासी[13] यक्ष अपने शरीर का गोपन कर मुनि के शरीर में प्रवेश कर इस प्रकार बोला— |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. समणो अहं संजओ बंभयारी
विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले
अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि।।

*श्रमणोऽहं संयतो ब्रह्मचारी*
*विरतो धनपचनपरिग्रहात्।*
*परप्रवृत्तस्य तु भिक्षाकाले*
*अन्नस्यार्थं इहाऽऽगतोस्मि।।*

"मैं श्रमण हूं, संयमी हूं, ब्रह्मचारी हूं,[१४] धन व पचन-पाचन और परिग्रह से[१५] विरत हूं। यह भिक्षा का काल है। मैं सहज निष्पन्न भोजन पाने के लिए यहां आया हूं।"

१०. वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य
अन्नं पभूयं भवयाणमेयं।
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति
सेसावसेसं लभऊ तवस्सी।।

*वितीर्यते खाद्यते भुज्यते च*
*अन्नं प्रभूतं भवतामेतत्।*
*जानीत मां याचना-जीविनमिति*
*शेषावशेषं लभतां तपस्वी।।*

"आपके यहां पर यह बहुत सारा भोजन दिया जा रहा है, खाया जा रहा है और भोगा जा रहा है।[१६] मैं भिक्षा-जीवी हूं,[१७] यह आपको ज्ञात होना चहिए। अच्छा ही है कुछ बचा भोजन[१८] इस तपस्वी को मिल जाए।"

११. उवक्खडं भोयण माहणाणं
अत्तट्ठियं सिद्धिमिहेगपक्खं।
न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं
दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओसि?।।

*उपस्कृतं भोजनं ब्राह्मणानां*
*आत्मार्थिकं सिद्धमिहैकपक्षम्।*
*न तु वयमीदृशमन्नपानं*
*दास्यामः तुभ्यं किमिह स्थितोऽसि?।।*

(सोमदेव—) यहां जो भोजन बना है, वह केवल ब्राह्मणों के लिए ही बना है। वह एक-पाक्षिक है[१९]—अब्राह्मण को अदेय है। ऐसा अन्न-पान[२०] हम तुम्हें नहीं देंगे, फिर यहां क्यों खड़े हो?

१२. थलेसु बीयाइ ववंति कासगा
तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं
आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं।।

*स्थलेषु बीजानि वपन्ति कर्षकाः*
*तथैव निम्नेषु चाऽऽशंसया।*
*एतया श्रद्धया ददध्वं मह्यं*
*आराधयत पुण्यमिदं खलु क्षेत्रम्।।*

(यक्ष—) "अच्छी उपज की आशा से[२१] किसान जैसे स्थल (ऊंची भूमि) में बीज बोते हैं, वैसे ही नीची भूमि में बोते हैं। इसी श्रद्धा से (अपने आपको निम्न भूमि और मुझे स्थल तुल्य मानते हुए भी तुम) मुझे दान दो, पुण्य की आराधना करो। यह क्षेत्र है, बीज खाली नहीं जाएगा।"

१३. खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए
जहिं पकिण्णा विरुहंति पुण्णा।
जे माहणा जाइविज्जोववेया
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं।।

*क्षेत्राण्यस्माकं विदितानि लोके*
*येषु प्रकीर्णानि विरोहन्ति पूर्णानि।*
*ये ब्राह्मणा जातिविद्योपेताः*
*तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि।।*

(सोमदेव—) "जहां बोए हुए सारे के सारे बीज उग जाते हैं, वे क्षेत्र इस लोक में हमें ज्ञात हैं। जो ब्राह्मण जाति और विद्या से युक्त[२२] हैं, वे ही पुण्य-क्षेत्र हैं।"[२३]

१४. कोहो य माणो य वहो य जेसिं
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं।।

*क्रोधश्च मानश्च वधश्च येषां*
*मृषा अदत्तं च परिग्रहश्च।*
*ते ब्राह्मणा जातिविद्याविहीनाः*
*तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि।।*

(यक्ष—) "जिनमें क्रोध है, मान है, हिंसा है, झूठ है, चोरी है और परिग्रह है—वे ब्राह्मण जाति-विहीन, विद्या-विहीन और पाप-क्षेत्र हैं।"

१५. तुब्भेत्थ भो! भारधरा गिराणं
अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरंति
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं।।

*यूयमत्र भो! भारधरा गिरां*
*अर्थं न जानीथाधीत्य वेदान्।*
*उच्चावचानि मुनयश्चरन्ति*
*तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि।।*

"हे ब्राह्मणो! इस संसार में तुम केवल वाणी का भार ढो रहे हो। वेदों को पढ़कर भी उनका अर्थ नहीं जानते। जो मुनि उच्च और नीच घरों में[२४] भिक्षा के लिए जाते हैं, वे ही पुण्य-क्षेत्र हैं।"

१६. अज्झावयाणं पडिकूलभासी
पभाससे किं तु सगासि अम्हं।
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं
न य णं दाहामु तुमं नियंठा!।।

*अध्यापकानां प्रतिकूलभाषी*
*प्रभाषसे किं तु सकाशेऽस्माकम्।*
*अप्येतद् विनश्यतु अन्नपानं*
*न च दास्यामः तुभ्यं निर्ग्रन्थ!।।*

(सोमदेव—) "ओ! अध्यापकों के प्रतिकूल बोलने वाले साधु! हमारे समक्ष तू क्या बढ़-बढ़ कर बोल रहा है? हे निर्ग्रन्थ! यह अन्न-पान भले ही सड़ कर नष्ट हो जाए किन्तु तुझे नहीं देंगे।"

१७. समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स
गुत्तीहि गुत्तस्स जिइंदियस्स।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं
किमज्ज जण्णाण लहित्थ लाहं?।।

*समितिभिर्मह्यं सुसमाहिताय*
*गुप्तिभिर्गुप्ताय जितेन्द्रियाय।*
*यदि मह्यं न दास्यथाऽथैषणीयं*
*किमद्य यज्ञानां लप्स्यध्वे लाभम्?।।*

(यक्ष—) "मैं समितियों से समाहित, गुप्तियों से गुप्त और जितेन्द्रिय हूं। यह एषणीय (विशुद्ध) आहार यदि तुम मुझे नहीं दोगे, तो इन यज्ञों का आज[२५] तुम्हें क्या लाभ होगा?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. के एत्थ खत्ता उवजोइया वा
अज्झावया वा सह खंडिएहिं।
एयं दंडेण फलेण हंता
कंठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं?।।

*केऽत्र क्षत्रा उपज्योतिषा वा*
*अध्यापका वा सह खण्डिकैः।*
*एनं दण्डेन फलेन हत्वा*
*कण्ठे गृहीत्वा अपसारयेयुः?।।*

(सोमदेव—) "यहां कौन है क्षत्रिय,[२६] रसोइया,[२७], अध्यापक या छात्र,[२८] जो डण्डे से पीट, एड़ी का प्रहार कर,[२९] गलहत्था दे इस निर्ग्रन्थ को यहां से बाहर निकाले?"

१९. अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता
उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा।
दंडेहि वित्तेहि कसेहि चेव
समागया तं इसि तालयंति।।

*अध्यापकानां वचनं श्रुत्वा*
*उद्धावितास्तत्र बहवः कुमाराः।*
*दण्डैर्वेत्रैः कशैश्चैव*
*समागतास्तमृषिं ताडयन्ति।।*

अध्यापकों का वचन सुनकर बहुत से कुमार उधर दौड़े। वहां आ डण्डों, बेतों और चाबुकों से उस ऋषि को पीटने लगे।

२०. रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया
भद्द त्ति नामेण अणिंदियंगी।
तं पासिया संजय हम्ममाणं
कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ।।

*राज्ञस्तत्र कौशलिकस्य दुहिता*
*भद्रेति नाम्ना अनिन्दिताङ्गी।*
*तं दृष्ट्वा संयतं हन्यमानं*
*क्रुद्धान् कुमारान् परिनिर्वापयति।।*

राजा कौशलिक की सुन्दर पुत्री भद्रा यज्ञ-मण्डप में मुनि को प्रताड़ित होते देख क्रुद्ध कुमारों को शांत करने लगी।

२१. देवाभिओगेण निओइएणं
दिन्ना मु रन्ना मणसा न झाया।
नरिंददेविंदऽभिवंदिएणं
जेणम्हि वंता इसिणा स एसो।।

*देवाभियोगेन नियोजितेन*
*दत्ताऽस्मि राज्ञा मनसा न ध्याता।*
*नरेन्द्रदेवेन्द्राभिवन्दितेन*
*येनास्मि वान्ता ऋषिणा स एषः।।*

(भद्रा—) "राजाओं और इन्द्रों द्वारा पूजित यह वह ऋषि हैं, जिसने मेरा त्याग किया। देवता के अभियोग से प्रेरित होकर राजा द्वारा मैं दी गई, किन्तु जिसने मुझे मन से भी नहीं चाहा।"

२२. एसो हु सो उग्गतवो महप्पा
जिइंदिओ संजओ बंभयारी।
जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणिं
पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना।।

*एष खलु स उग्रतपा महात्मा*
*जितेन्द्रियः संयतो ब्रह्मचारी।*
*यो मां तदा नेच्छति दीयमानां*
*पित्रा स्वयं कौशलिकेन राज्ञा।।*

"यह वही उग्र तपस्वी, महात्मा, जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी है, जिसने मुझे स्वयं मेरे पिता राजा कौशलिक द्वारा दिए जाने पर भी नहीं चाहा।"

२३. महाजसो एस महाणुभागो
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
मा एयं हीलह अहीलणिज्जं
मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा।।

*महायशा एष महानुभागः*
*घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च।*
*मैनं हीलयताहीलनीयं*
*मा सर्वान् तेजसा भवतो निर्धाक्षीत्।।*

"यह महान् यशस्वी है। महान् अनुभाग (अचिन्त्य-शक्ति) से सम्पन्न है। घोर व्रती है। घोर पराक्रमी है।[३०] इसकी अवहेलना मत करो, यह अवहेलनीय नहीं है। कहीं यह अपने तेज से तुम लोगों को भस्मसात् न कर डाले?"

२४. एयाइं तीसे वयणाइ सोच्चा
पत्तीइ भद्दाइ सुहासियाइं।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए
जक्खा कुमारे विणिवाडयंति।।

*एतानि तस्या वचनानि श्रुत्वा*
*पत्न्या भद्रायाः सुभाषितानि।*
*ऋषेर्वैयापृत्यार्थं*
*यक्षाः कुमारान् विनिपातयन्ति।।*

सोमदेव पुरोहित की पत्नी भद्रा के सुभाषित वचनों को सुनकर यक्षों ने ऋषि का वैयापृत्य[३१] (परिचर्या) करने के लिए कुमारों को भूमि पर गिरा दिया।

२५. ते घोररूवा ठिय अंतलिक्खे
असुरा तहिं तं जणं तालयंति।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमंते
पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो।।

*ते घोररूपाः स्थिता अन्तरिक्षे*
*असुरास्तत्र तं जनं ताडयन्ति।*
*तान् भिन्नदेहान् रुधिरं वमतः*
*दृष्ट्वा भद्रेदमाह भूयः।।*

घोर रूप और रौद्र भाव वाले यक्ष आकाश में स्थिर हो कर उन छात्रों को मारने लगे। उनके शरीरों को क्षत-विक्षत और उन्हें रुधिर का वमन करते देख भद्रा फिर कहने लगी—

२६. गिरिं नहेहिं खणह
अयं दंतेहिं खायह।
जायतेयं पाएहि हणह
जे भिक्खुं अवमन्नह।।

*गिरिं नखैः खनथ*
*अयो दन्तैः खादथ।*
*जाततेजसं पादैर्हथ*
*ये भिक्षुमवमन्यध्वे।।*

"जो तुम इस भिक्षु का अपमान कर रहे हो, वे तुम नखों से पर्वत खोद रहे हो, दांतों से लोहे को चबा रहे हो और पैरों से अग्नि को प्रताड़ित कर रहे हो।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७.आसीविसो उग्गतवो महेसी
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
अगणिं व पक्खंद पयंगसेणा
जे भिक्खुयं भत्तकाले वहेह।।

*आशीविष उग्रतपा महर्षिः*
*घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च।*
*अग्निमिव प्रस्कन्दथ पतङ्गसेना*
*ये भिक्षुकं भक्तकाले विध्यथ।।*

"यह महर्षि आशीविष लब्धि से सम्पन्न है।[३२] उग्र तपस्वी है।[३३] घोर व्रती और घोर पराक्रमी है। भिक्षा के समय तुम इस भिक्षु को व्यथित कर पतंग-सेना की भांति अग्नि में झंपापात कर रहे हो।"

२८.सीसेण एयं सरणं उवेह
समागया सव्वजणेण तुब्भे।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा
लोगं पि एसो कुविओ डहेज्जा।।

*शीर्षेणैनं शरणमुपेत*
*समागताः सर्वजनेन यूयम्।*
*यदीच्छथ जीवितं वा धनं वा*
*लोकमप्येष कुपितो दहेत्।।*

"यदि तुम जीवन और धन चाहते हो तो सब मिलकर, सिर झुका कर इस मुनि की शरण में आओ। कुपित होने पर यह समूचे संसार को भस्म कर सकता है।"[३४]

२९.अवहेडियपिट्ठसउत्तमंगे
पसारियाबाहु अकम्मचेट्ठे।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमंते
उड्ढंमुहे निग्गयजीहनेत्ते।।

*अवहेठित-पृष्ठ-सदुत्तमाङ्गान्*
*प्रसारितबाह्वकर्मचेष्टान्।*
*प्रसारिताक्षान् रुधिरं वमतः*
*ऊर्ध्वमुखान् निर्गतजिह्वानेत्रान्।।*

उन छात्रों के सिर पीठ की ओर झुक गए। उनकी भुजाएं फैल गईं। वे निष्क्रिय[३५] हो गए। उनकी आंखें खुली की खुली रह गईं।[३६] उनके मुंह से रुधिर निकलने लगा। उनके मुंह ऊपर को हो गए। उनकी जीभें और नेत्र बाहर निकल आए।

३०.ते पासिआ खंडिय कट्ठभूए
विमणो विसण्णो अह माहणो सो।
इसिं पसाएइ सभारियाओ
हीलं च निंदं च खमाह भंते!।।

*तान् दृष्ट्वा खण्डिकान् काष्ठभूतान्*
*विमना विषण्णोऽथ ब्राह्मणः सः।*
*ऋषिं प्रसादयति सभार्याकः*
*हीलां च निन्दां च क्षमस्वभदन्त!।।*

उन छात्रों को काठ की तरह निश्चेष्ट देख कर वह सोमदेव ब्राह्मण उदास और घबराया हुआ अपनी पत्नी सहित मुनि के पास आ उन्हें प्रसन्न करने लगा—"भंते! हमने जो अवहेलना और निन्दा की उसे क्षमा करें।"

३१.बालेहि मूढेहि अयाणएहिं
जं हीलिया तस्स खमाह भंते!।
महप्पसाया इसिणो हवंति
न हु मुणी कोवपरा हवंति।।

*बालैर्मूढैरज्ञकैः*
*यद् हीलितास्तत्क्षमस्व भदन्त!।*
*महाप्रसादा ऋषयो भवन्ति*
*न खलु मुनयः कोपपरा भवन्ति।।*

"भंते! मूढ़ बालकों ने अज्ञानवश जो आपकी अवहेलना की, उसे आप क्षमा करें। ऋषि महान् प्रसन्नचित्त होते हैं। मुनि कोप नहीं किया करते।"

३२.पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च
मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेंति
तम्हा हु एए निहया कुमारा।।

*पूर्वं चेदानीं चानागतं च*
*मनःप्रदोषो न मेऽस्ति कोऽपि।*
*यक्षाः खलु वैयापृत्यं कुर्वन्ति*
*तस्मात् खलु एते निहताः कुमाराः।।*

(मुनि—) "मेरे मन में कोई प्रद्वेष न पहले था, न अभी है और न आगे भी होगा। किंतु यक्ष मेरा वैयापृत्य कर रहे हैं। इसीलिए ये कुमार प्रताड़ित हुए।"

३३.अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो
समागया सव्वजणेण अम्हे।।

*अर्थं च धर्मं च विजानन्तः*
*यूयं नापि कुप्यथ भूतिप्रज्ञाः।*
*युष्माकं तु पादौ शरणमुपेमः*
*समागताः सर्वजनेन वयम्।।*

(सोमदेव—) "अर्थ[३७] और धर्म को जानने वाले भूति-प्रज्ञ[३८] (मंगल-प्रज्ञा युक्त) आप कोप नहीं करते। इसलिए हम सब मिल कर आपके चरणों की शरण ले रहे हैं।"

३४.अच्चेमु ते महाभाग!
न ते किंचि न अच्चिमो।
भुंजाहि सालिमं कूरं
नाणावंजणसंजुयं।।

*अर्चयामस्ते महाभाग!*
*न ते किंचिन्नार्चयामः।*
*भुङ्क्ष्व शालिमत् कूरं*
*नानाव्यञ्जनसंयुतम्।।*

"महाभाग! हम आपकी अर्चा करते हैं। आपका कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसकी हम अर्चा न करें। आप नाना व्यंजनों से युक्त चावल-निष्पन्न भोजन ले कर खाइए।"

३५.इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं
तं भुंजसु अम्ह अणुग्गहट्ठा।
बाढं ति पडिच्छइ भत्तपाणं
मासस्स ऊ पारणए महप्पा।।

*इदं च मेऽस्ति प्रभूतमन्नं*
*तद् भुङ्क्ष्वास्माकमनुग्रहार्थम्।*
*बाढमिति प्रतीच्छति भक्तपानं*
*मासस्य तु पारणके महात्मा।।*

"मेरे यहां प्रचुर भोजन[३९] पड़ा है। हमें अनुगृहीत करने के लिए आप कुछ खाएं।" महात्मा हरिकेशबल ने हां भर ली और एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए भक्त-पान लिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. तहियं गंधोदयपुप्फवासं
दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा।
पहयाओ दुंदुहीओ सुरेहिं
आगासे अहो दाणं च घुट्ठं।।

*तस्मिन् गन्धोदकपुष्पवर्षः*
*दिव्या तस्मिन् वसुधारा च वृष्टा।*
*प्रहता दुन्दुभयः सुरैः*
*आकाशेऽहोदानं च घुष्टम्।।*

देवों ने वहां सुगन्धित जल, पुष्प और दिव्य धन की वर्षा की। आकाश में दुन्दुभि बजाई और 'अहोदानम्' (आश्चर्यकारी दान)—इस प्रकार का घोष किया।

३७. सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो
न दीसइ जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्ते हरिएससाहू
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा।।

*साक्षात् खलु दृश्यते तपोविशेषः*
*न दृश्यते जातिविशेषः कोऽपि।*
*श्वपाकपुत्रं हरिकेशसाधुं*
*यस्येदृशी ऋद्धिर्महानुभागा।।*

यह प्रत्यक्ष ही तप की महिमा दीख रही है, जाति की कोई महिमा नहीं है।[४७] जिसकी ऋद्धि ऐसी महान् (अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न) है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।

३८. किं माहणा! जोइसमारभंता
उदएण सोहिं बहिया विमग्गह?।
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं
न तं सुदिट्ठं कुसला वयंति।।

*किं ब्राह्मणा! ज्योतिः समारभमाणाः*
*उदकेन शुद्धिं बाह्यां विमार्गयथ।*
*यद् मार्गयथ बाह्यां विशुद्धिं*
*न तत् सुदृष्टं कुशला वदन्ति।।*

(मुनि—) "ब्राह्मणो! अग्नि का समारम्भ (यज्ञ) करते हुए तुम बाहर से (जल से) शुद्धि की[४१] क्या[४२] मांग कर रहे हो? जिस शुद्धि की बाहर से मांग कर रहे हो, उसे कुशल लोग[४३] सुदृष्ट (सम्यग्दर्शन) नहीं कहते।"[४४]

३९. कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं
सायं च पायं उदगं फुसंता।
पाणाइ भूयाइ विहेडयंता
भुज्जो वि मंदा! पगरेह पावं।।

*कुशं च यूपं तृणकाष्ठमग्निं*
*सायं च प्रातरुदकं स्पृशन्तः।*
*प्राणान् भूतान् विहेठयन्तः*
*भूयोऽपि मन्दाः प्रकुरुथ पापम्।।*

"दर्भ, यूप (यज्ञ-स्तम्भ), तृण, काष्ठ और अग्नि का उपयोग करते हुए, संध्या और प्रातःकाल में जल का स्पर्श करते हुए, प्राणों ओर भूतों की हिंसा करते हुए, मंदबुद्धि वाले तुम बार-बार पाप करते हो।"

४०. कहं चरे? भिक्खु! वयं जयामो?
पावाइ कम्माइ पणोल्लयामो?।
अक्खाहि णे संजय! जक्खपूइया!
कहं सुइट्ठं कुसला वयंति?।।

*कथं चरामो? भिक्षो! वयं यजामः?*
*पापानि कर्माणि प्रणुदामः?।*
*आख्याहि नः संयत! यक्षपूजित!*
*कथं स्विष्टं कुशला वदन्ति?।।*

(सोमदेव—) "हे भिक्षो! हम कैसे प्रवृत्त हों? यज्ञ कैसे करें? जिससे पाप-कर्मों का नाश कर सकें। यक्ष-पूजित संयत! आप हमें बताएं—कुशल पुरुषों ने सुइष्ट (श्रेष्ठ-यज्ञ) का विधान किस प्रकार किया है?"

४१. छज्जीवकाए असमारभंता
मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माणमायं
एयं परिन्नाय चरंति दंता।।

*षड्जीवकायानसमारभमाणाः*
*मृषा अदत्तं चासेवमानाः।*
*परिग्रहं स्त्रियो मानं मायां*
*एतत् परिज्ञाय चरन्ति दान्ताः।।*

(मुनि—) "मन और इन्द्रियों का दमन करने वाले छह जीव-निकाय की हिंसा नहीं करते; असत्य और चौर्य का सेवन नहीं करते; परिग्रह, स्त्री, मान और माया का परित्याग करके विचरण करते हैं।"

४२. सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं
इह जीवियं अणवकंखमाणो।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो
महाजयं जयई जन्नसिट्ठं।।

*सुसंवृतः पञ्चभिः संवरैः*
*इह जीवितमनवकांक्षमाणः।*
*व्युत्सृष्टकायः शुचित्यक्तदेहः*
*महायजं यजते यज्ञश्रेष्ठम्।।*

"जो पांच संवरों से सुसंवृत होता है, जो असंयम जीवन की इच्छा नहीं करता, जो काय का व्युत्सर्ग करता है, जो शुचि है और जो देह का त्याग करता है,[४५] वह यज्ञों में श्रेष्ठ महायज्ञ[४६] करता है।"

४३. के ते जोई? के व ते जोइठाणे?
को ते सुया? किं व ते कारिसंगं?।
एहा य ते कयरा? संति? भिक्खू!
कयरेण होमेण हुणासि जोइं?।।

*किं ते ज्योतिः? किं वा ते ज्योतिस्थानं?*
*कारतेखुवः? किं वा ते करीषाङ्गम्?।*
*एधाश्च ते कतराः? शांतिः? भिक्षो!*
*कतरेण होमेन जुहोषि ज्योतिः?।।*

(सोमदेव—) "भिक्षो! तुम्हारी ज्योति—अग्नि कौन-सी है? तुम्हारा ज्योति-स्थान (अग्नि-स्थान) कौन-सा है? तुम्हारे घी डालने की करछियां[४७] कौन-सी हैं? तुम्हारे अग्नि को जलाने के कण्डे कौन-से हैं? तुम्हारे ईंधन और शांति-पाठ कौन-से हैं? और किस होम से तुम ज्योति को हुत (प्रीणित) करते हो?"

४४. तवो जोइ जीवो जोइठाणं
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोगसंती
होमं हुणामी इसिणं पसत्थं।।

*तपोज्योतिर्जीवो ज्योतिःस्थानं*
*योगाः श्रुवः शरीरं करीषाङ्गम्।*
*कर्मैधाः संयमयोगाः शांतिः*
*होमं जुहोमि ऋषीणां प्रशस्तम्।।*

(मुनि—) "तप ज्योति है। जीव ज्योति-स्थान है। योग (मन, वचन और काया की सत् प्रवृत्ति) घी डालने की करछियां हैं। शरीर अग्नि जलाने के कण्डे हैं। कर्म ईंधन है। संयम की प्रवृत्ति शांति-पाठ है। इस प्रकार मैं ऋषि-प्रशस्त (अहिंसक) होम करता हूं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४५. के ते हरए ? के य ते संतितित्थे ?
कहिंसि ण्हाओ व रयं जहासि ?।
आइक्ख णे संजय ! जक्खपूइया !
इच्छामो नाउं भवओ सगासे।।

*कस्ते ह्रदः ? किंच ते शांतितीर्थं?
कस्मिन् स्नातो वा रजो जहासि ?।
आचक्ष्व नः संयत ! यक्षपूजित !
इच्छामो ज्ञातुं भवतः सकाशे।।*

(सोमदेव—) "आपका नद (जलाशय) कौन सा है ? आपका शान्तितीर्थ[४९] कौन-सा है ? आप कहां नहा कर कर्मरज धोते हैं ? हे यक्ष-पूजित संयत ! हम आपसे जानना चाहते हैं, आप बताइए।"

४६. धम्मे हरए बंभे संतितित्थे
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो
सुसीइभूओ पजहामि दोसं।।

*धर्मो ह्रदः ब्रह्म शांतितीर्थं
अनाविल आत्मप्रसन्नलेश्यः।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः
सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम्।।*

(मुनि—) "अकलुषित एवं आत्मा का प्रसन्न-लेश्या वाला[४६] धर्म मेरा ह्रद (जलाशय) है। ब्रह्मचर्य मेरा शांतितीर्थ है, जहां नहा कर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्म-रज[५०] का त्याग करता हूं।"[५१]

४७. एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं
महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
जहिंसि ण्हाया विमला विसुद्धा
महारिसी उत्तम ठाणं पत्ता।।

*एतत्स्नानं कुशलैर्दृष्टं
महास्नानमृषीणां प्रशस्तम्।
यस्मिन् स्नाता विमला विशुद्धाः
महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः।।*

"यह स्नान कुशल पुरुषों द्वारा दृष्ट है। यह महास्नान है।[५२] अतः ऋषियों के लिए यही प्रशस्त है। इस धर्म-नद में नहाए हुए महर्षि विमल और विशुद्ध होकर उत्तम-स्थान (मुक्ति) को प्राप्त हुए।"

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन १२ : हरिकेशीय

## १. चाण्डाल कुल (सोवागकुल)

बृहद्वृत्ति के अनुसार 'श्वपाक' का अर्थ चाण्डाल है।[1] चूर्णिकार के अनुसार जिस कुल में कुत्ते का मांस पकाया जाता है, वह 'श्वपाक-कुल' कहलाता है।[2] श्वपाक-कुल की तुलना वाल्मीकि रामायण में वर्णित मुष्टिक लोगों से होती है। वे श्वानमांस-भक्षी, शव के वस्त्रों का उपयोग करने वाले, भयंकर-दर्शन—विकृत आकृति वाले तथा दुराचारी होते थे।[3]

## २. (मुणी)

चूर्णिकार के अनुसार धर्म-अधर्म का मनन करने वाला मुनि होता है।[4] बृहद्वृत्तिकार ने सर्व विरति की प्रतिज्ञा लेने वाले को मुनि कहा है।[5]

## ३. हरिकेशबल (हरिएसबलो)

मुनि का नाम 'बल' था और 'हरिकेश' उनका गोत्र था। नाम के पूर्व गोत्र का प्रयोग होता था, इसलिए वे 'हरिकेशबल' नाम से प्रसिद्ध थे।[6]

## ४. (पंतोवहिउवगरणं)

इसमें तीन शब्द हैं—प्रान्त्य, उपधि और उपकरण। प्रान्त्य का अर्थ है—जीर्ण और मलिन। जो वस्तु निम्नकोटि की होती है, उसे प्रान्त्य या प्रान्त कहा जाता है। यहां यह उपधि और उपकरण से संबद्ध है।[7] उपधि का अर्थ है—साधु के रखने योग्य वस्त्र आदि। ये धार्मिक शरीर का उपकार करते हैं, इसलिए इन्हें उपकरण कहा जाता है।[8]

## ५. अनार्य (अणारिया)

अनार्य शब्द मूलतः जातिवाचक था। किन्तु अर्थ-परिवर्तन होते-होते वह आचरणवाची बन गया। उत्तम-आचरण करने वाले को आर्य और अधर्म-आचरण करने वाले को अनार्य कहा जाने लगा। ब्राह्मणों को यहां आचरण की दृष्टि से अनार्य कहा है।[9]

## ६. बीभत्स रूप वाला (दित्तरूवे)

'दित्तरूवे'—इसके संस्कृत रूप दो होते हैं—दीप्तरूप और दृप्तरूप। दीप्त के अनेक अर्थ हैं—भास्वर, तेजस्वी, कांतियुक्त आदि। दृप्त के अर्थ हैं—गर्वयुक्त, बीभत्स, डरावना आदि। प्रस्तुत प्रसंग में यह शब्द 'दृप्तरूप' बीभत्स रूप वाला के अर्थ में प्रयुक्त है।

चूर्णिकार ने 'दीप्तरूप' के दो अर्थ किए हैं—अदीप्तरूप अथवा पिशाच की भांति विकृत दीप्तरूप।[10] वृत्तिकार ने 'दीप्त' शब्द को बीभत्स वाचक माना है। जिस प्रकार अत्यन्त जलने वाले फोड़ों के लिए 'शीतल' (शीतला का रोग) शब्द का व्यवहार होता है, उसी प्रकार विकृत दुर्दर्शरूप वाले के लिए 'दीप्तरूप' का प्रयोग हुआ है।[11]

## ७. बड़ी नाक वाला (फोक्कनासे)

'फोक्क' देशी शब्द है। इसका अर्थ है—आगे से मोटा और उभरा हुआ।[12] हरिकेशबल की नाक ऐसी ही थी।

## ८. अधनंगा (ओमचेलए)

ओमचेल का अर्थ 'अचेल' भी हो सकता है। किन्तु यहां इसका अर्थ—अल्प या जीर्ण वस्त्र वाला है।[13]

## ९. पांशु-पिशाच (चुड़ैल) सा (पंसुपिसायभूए)

लौकिक मान्यता के अनुसार पिशाच के दाढ़ी, नख और रोंए लम्बे होते हैं और वह धूल से सना हुआ होता है। मुनि भी शरीर की सार-सम्हाल न करने और धूल से सने हुए होने के कारण पिशाच जैसे लगते थे।[14] पांशुपिशाच

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५७ : श्वपाकाः—चाण्डालाः।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०३ : शयति श्वसिति वा श्वा श्वेन पचतीति श्वपाकः।

३. वाल्मीकि रामायण, १।५६।१६,२०।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०३ : मनुते मन्यते वा धर्म्माऽधर्म्मानिति मुनिः।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५७ : मुणति—प्रतिजानीते सर्व्वविरतिमिति मुणिः।

६. वही, पत्र ३५७ : हरिकेशः सर्वत्र हरिकेशतयैव प्रतीतो बलो नाम—बलाभिधानः।

७. वही, पत्र ३५८ : प्रान्तं—जीर्णमलिनत्वादिभिरसारम्।

८. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४ : उपदधाति तीर्थं उपधिः, उपकरोतीत्युपकरणम्।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५८ : उपधिः—वर्षाकल्पादिः स एव व उपकरणं—धर्म्मशरीरोपष्टम्भहेतुरस्येति।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५८।

१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४ : दित्तरूवे त्ति, दीप्तरूपं प्रकारवचनं, अदीप्तरूप इत्यर्थः, अथवा विकृतेन दीप्तरूपो भवति पिशाचवत्।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५८ : दीप्तवचनं त्वतिबीभत्सोपलक्षकम्। अत्यन्तदाहिषु स्फोटकेषु शीतलकव्यपदेशवत्, विकृततया वा दुर्दर्शमिति दीप्तमिव दीप्तमुच्यते।

१२. वही, पत्र ३५८ : फोक्क त्ति देशीपदं, ततश्च फोक्का—अग्रे स्थूलोन्नता।

१३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४ : ओमं नाम स्तोकं, अचेलओ वि ओमचेलओ भवति, अयं ओमचेलगो असर्वांगप्रावृतः जीर्णवासो वा।

१४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५९ : पांशुना—रजसा पिशाचवद् भूतो—जातः पांशुपिशाचभूतः, गमकत्वात्समासः, पिशाचो हि लौकिकानां दीर्घश्मश्रुनखरोमा पुनश्च पांशुभिः समविध्वस्त इष्टः, ततःसोऽपि निष्परिकर्म्मतया रजोदिग्धदेहतया चैवमुच्यते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अर्थ चुड़ैल भी है।

## १०. (संकरदूसं परिहरिय)

इसका अर्थ है—गले में संकर-दूष्य (उकुरड़ी से उठाया हुआ चिथड़ा) डाले हुए। संकर का अर्थ है—तृण, धूल, राख, गोबर आदि कूड़े-कर्कट का ढेर, उकुरड़ी। वहां वे ही वस्त्र डाले जाते हैं जो अत्यन्त निकृष्ट एवं अनुपयोगी होते हैं। मुनि के वस्त्र भी वैसे ही थे या वे फेंकने योग्य वस्त्रों को भी ग्रहण करते थे, इसलिए उनके दूष्य (वस्त्र) को 'संकर-दूष्य' कहा गया है।[1]

मुनि अभिग्रहधारी थे। जो अभिग्रहधारी होते हैं वे अपने वस्त्रों को जहां जाते हैं वहां साथ ही रखते हैं, कहीं पर भी छोड़कर नहीं जाते। इसलिए उनके वस्त्र भी उनके साथ ही थे।[2]

वस्त्र मुनि के कन्धे पर रखे हुए थे। कन्धा कण्ठ का पार्श्ववर्ती भाग है। इसलिए उसे कण्ठ ही मान कर यहां कण्ठ शब्द का प्रयोग हुआ है।[3]

'परिहर' यह पहनने के अर्थ में आगमिक धातु है।

## ११. (खलाहि)

यह देशीपद है। चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[4]—

१. 'चला जा'—ऐसा तिरस्कारयुक्त गमन का निर्देशवचन।

२. इस स्थान से हट जा।

वृत्तिकार ने केवल दूसरा अर्थ ही माना है।[5] इसका तात्पर्य है—हमारी आंखों के सामने से हट जा।

## १२. अनुकम्पा करने वाला (अणुकंपओ)

अनुकम्पा का अर्थ है—अनुरूप या अनुकूल क्रिया की प्रवृत्ति। यक्ष मुनि के प्रति आकृष्ट था, उनके अनुकूल प्रवर्तन करता था, इसलिए उसे 'अनुकम्पक' कहा गया है।[6]

## १३. तिन्दुक (आबनूस) वृक्ष का वासी (तिंदुयरुक्खवासी)

ब्राह्मणों ने मुनि का तिरस्कार किया किन्तु वे कुछ भी नहीं बोले, शांत रहे। उस समय आबनूस वृक्ष पर रहने वाले यक्ष ने, जो मुनि के तप से आकृष्ट हो मुनि का अनुगमन करता था, जो चेष्टाएं कीं, वे इस श्लोक में बताई गई हैं।[7] मुनि जहां-जहां जाते वह यक्ष अदृश रूप में सदा उनके साथ रहता।[8]

चूर्णिकार के अनुसार आबनूस का एक वन था। उसके बीच में एक बड़ा आबनूस का वृक्ष था। उस पर वह यक्ष निवास करता था। उसके नीचे चैत्य था। मुनि उसमें ध्यान करते थे।[9]

## १४. (समणो संजओ बंभयारी)

मैं श्रमण हूं, संयमी हूं, ब्रह्मचारी हूं। श्रमण वही होता है जो संयत है। संयत वही होता है जो ब्रह्मचारी है।[10] इस प्रकार इन तीनों शब्दों में हेतु-हेतुमद्भाव सम्बन्ध है।

## १५. धन व पचन-पाचन और परिग्रह से (धणपयणपरिग्गहाओ)

गाय आदि चतुष्पद प्राणियों को धन कहते हैं।[11] राजस्थान में अब भी यह शब्द इस अर्थ में प्रचलित है। चूर्णिकार ने परिग्रह का अर्थ स्वर्ण आदि किया है।[12] शान्त्याचार्य के अनुसार इसका अर्थ द्रव्य आदि में होने वाली मूर्च्छा—ममत्व है।[13]

## १६. खाया जा रहा है और भोगा जा रहा है (खज्जइ भुज्जई)

यहां खाद् और भुज् दो धातुओं का प्रयोग हुआ है। सामान्यतः इन दोनों का प्रयोग खाने के अर्थ में होता है, किन्तु इनमें अर्थ-भेद भी है। चूर्णि के अनुसार खाद्य खाया जाता है और भोज्य भोगा जाता है।[14]

बृहद्वृत्ति के अनुसार 'खाजा' आदि तले हुए पदार्थ खाद्य हैं और दाल-चावल आदि पदार्थ भोज्य कहलाते हैं।[15]

## १७. भिक्षा-जीवी हूं (जायणजीविणु)

इसका संस्कृत रूप 'याचनजीवनम्' या 'याचनजीविनम्' बनता है। जहां 'याचनजीवनम्' माना जाए वहां प्राकृत में जो इकार है, वह अलाक्षणिक माना जाए। इसका अर्थ है—याचना के द्वारा जीवन चलाने वाला। इसका वैकल्पिक रूप 'याचनजीविनम्' है। इसके प्राकृत रूप में द्वितीया विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। याचन-जीवी अर्थात् याचना से

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५६ : 'संकरे' ति सङ्करः, स चेह प्रस्तावात्तृणभस्म-गोमयाङ्गारदिमीलक उक्कुरुडिकेति यावत्, तत्र दुष्यं—वस्त्रं संकरदुष्यं, तत्र हि यदत्यन्तनिकृष्टं निरुपयोगि तल्लीकैरुत्सृज्यते, ततस्तत्प्रायमन्यदपि तथोक्तं, यद्वा उज्झितधर्म्मकमेवासौ गृह्णातीत्येवमभिधानम्।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४ : स भगवान् अनिक्षिप्तोपकरणत्वात् यत्र यत्र गच्छति तत्र तत्र तं पंतोवकरणं कंठे ओलंबेत्तुं गच्छइ।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५६ : अत्र कण्ठैकपार्श्वः कण्ठशब्दः।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४ : खलाहि—खल इति परिभवगमननिर्देशः, तद् यथा—खलयसरा उच्छज्जा अथवा अवसर अस्मात् स्थानात्।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५६ : खलाहि ति देशीपदमपसरेत्यर्थे वर्त्तते ततोऽयमर्थः—अरमद् दृष्टिपथदपसर।

६. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५६ : 'अणुकंपउ' ति अनुशब्दोऽनुरूपार्थे ततश्चानुरूपं कम्पते—वेष्टत इत्यनुकम्पकः—अनुरूपक्रियाप्रवृत्तिः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १७६ : 'अनुकम्पकः'—अनुकूलक्रियाप्रवृत्तिः।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५६ : एवमविक्षिप्तेऽपि तस्मिन् मुनौ प्रशमपरतया किञ्चिदप्यजल्पति तत्सान्निध्यकारी गण्डीतिन्दुकयक्षो यदचेष्टत तदाह।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४ : स च भगवान् यत्र यत्र गच्छति तत्र तत्रांतर्हितो भूत्वा स यक्षः तेन्दुकवृक्षवासी तमनुगच्छति।

९. वही, पृ० २०४-२०५ : तस्स तिंदुगठाणस्स मज्झे महंतो तिंदुगरुक्खो, तहिं सो भवति वसति, तस्सेव हिट्ठा चेइयं, जत्थ सो साहू ठितो, सव्वतेण उट्ठितो।

१०. वही, पृ० २०५ : कः श्रमणः ?, यः संयतः। कः संयतः ?, यो ब्रह्मचारी।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६० : धनं चतुष्पदादि।

१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५ : परिग्रहो—हिरण्णादि।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६० : परिग्रहो द्रव्यादिषु मूर्च्छा।

१४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५ : खाइमं खज्जति वा भोज्जं भुंजति।

१५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६० : खाद्यते खण्डखाद्यादि, भुज्यते च भक्तसूपादि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन चलाने के स्वभाव वाला। 'जायणजीविण' का पाठांतर है 'जायण जीवण'। इसमें प्रथमा विभक्ति है।[1]

## १८. कुछ बचा भोजन (सेसावसेसं)

चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—खा लेने के बाद बचा हुआ भोजन।[2] वृत्ति में इसका अर्थ है—काम में ले लेने के पश्चात् शेष में बचा-खुचा अर्थात् अन्तप्रांत भोजन। अन्तप्रांत का एक अर्थ तुच्छ भोजन भी होता है।[3]

## १९. एकपाक्षिक (एगपक्खं)

यज्ञ का भोजन केवल ब्राह्मणों को दिया जा सकता है। वह ब्राह्मणेतर जातियों को नहीं दिया जा सकता, शूद्रों को तो दिया ही नहीं जा सकता। इस मान्यता के आधार पर उसे 'एकपाक्षिक' कहा गया है।[4]

चूर्णिकार ने यहां एक प्राचीन श्लोक उद्धृत कर शूद्रों के प्रति किए जाने वाले व्यवहार का निर्देश किया है[5]—

*'न शूद्राय बलिं दद्यात्, नोच्छिष्टं न हविःकृतम्।*
*न चास्योपदिशेद् धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत्।।'*

शूद्र व्यक्ति को न बलि का भोजन दिया जाए, न उच्छिष्ट भोजन और न आहुतिकृत भोजन ही दिया जाए। उसे धर्म का उपदेश भी नहीं देना चाहिए और व्रत भी नहीं दिलाना चाहिए।

## २०. पान (पाणं)

यह शब्द सामान्य पानी के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। इसका अर्थ है—द्राक्षापान आदि पानक। सोलहवें श्लोक में प्रयुक्त 'पान' का अर्थ है—कांजि आदि।

देखें-दसवेआलियं ५।१।४७ का टिप्पण।

## २१. आशा से (आससाए)

जो अधिक वर्षा होगी तो ऊंची भूमि में अच्छी उपज होगी और कम वर्षा होगी तो नीची भूमि में अच्छी उपज होगी— इस आशा से किसान ऊंची और नीची भूमि में बीज बोते हैं।[6]

## २२. जाति और विद्या से युक्त (जाइविज्जोववेया)

चूर्णिकार ने 'विज्जा' का अर्थ वेद किया है। उनका अभिमत है कि यहां छंद रचना की दृष्टि से वेद के स्थान पर विज्जा का प्रयोग किया है।[7]

## २३. पुण्य-क्षेत्र हैं (सुपेसलाइं)

सुपेशल का अर्थ श्रेष्ठ या प्रीतिकर किया गया है।[8] किन्तु यह 'सुपावयाइं' (श्लोक १४) का प्रतिपक्षी है, इसलिए हमने इसका अनुवाद 'पुण्य' किया है।

यज्ञवाट के ब्राह्मणों ने मुनि हरिकेश से कहा—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ क्षेत्र हैं। तुम शूद्र जाति के हो, इसीलिए वेद आदि चौदह विद्याओं से बहिर्भूत हो। तुम दानपात्र नहीं हो सकते। कहा है[9]—

*'सममबाह्मणे दानं, द्विगुणं ब्रह्मबन्धुषु।*
*सहस्रगुणमाचार्ये, अनन्तं वेदपारगे।।'*

—अब्राह्मण को दिया गया दान समफल वाला, ब्राह्मण को दिया गया दान दुगुने फल वाला, आचार्य को दिया गया दान सहस्रगुण फल वाला और वेद के पारगामी विद्वान् को दिया गया दान अनन्त फल वाला होता है।

बृहद्वृत्ति में यही श्लोक कुछ पाठभेद से प्राप्त है।[10]

## २४. उच्च और नीच घरों में (उच्चावयाइं)

'उच्चावयाइं' के संस्कृत रूप दो बन सकते हैं—उच्चावचानि और उच्चव्रतानि। 'उच्चावच' का अर्थ—ऊंच-नीच घर या नाना प्रकार के तप। उच्चव्रत अर्थात् दूसरे व्रतों की अपेक्षा से महान् व्रत—महाव्रत।[11] मुनि ऊंच-नीच घरों में भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं अथवा नाना प्रकार के तपों और महाव्रतों का आचरण करते हैं।

## २५. आज (अज्ज)

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं और अर्थ भी दो हैं—[12]
अज्ज—अद्य—आज।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६० : 'जायणजीविणो' त्ति याचनेन जीवनं—प्राणधारणमस्येति याचनजीवनं, आर्षत्वादिकारः, पठ्यते च—'जायणजीवणो' त्ति, इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शकः, तत एवं स्वरूपं, यतश्चैवमतो मह्यमपि ददध्वमिति भावः, कदाचिदुत्कृष्टमेवासौ याचत इति तेषामाशयः स्यादत आह, अथवा ज्ञानीत मां यायनजीविनं—याचनेन जीवनशीलं, द्वितीयार्थे षष्ठी, पाठान्तरे तु प्रथमा।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५ : सेसावसेसं—यदत्र भुक्तशेषं।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६० : शेषावशेषम्—उद्धरितस्याप्युद्धरितभु, अन्तप्रांतमित्यर्थः।

४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५ : एगपक्खं नाम नाब्राह्मणेभ्यो दीयते।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६० : एकः पक्षो—ब्राह्मणलक्षणो यस्य तदेकपक्षं, किमुक्तं भवति ?—यदस्मिन्नुपरिक्रियते न तद् ब्राह्मणव्यतिरिक्तान्यस्मै दीयते विशेषतस्तु शूद्राय।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६१ : 'आससाए' त्ति आशंसया—यद्यत्यन्तप्रवर्षणं भावि तदा स्थलेषु फलावाप्तिरथान्यथा तदा निम्नेष्वित्येवमभिलाषात्मिकया।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०६ : जननं जायते वा जातिः, वेद्यतेऽनेनेति वेदः, वेदउपवेत्ता, बन्धानुलोम्यात् विज्जोववेया।

८. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०६ : सुपेसलाणि..... शोभनं प्रीतिकरं वा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६०।

९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०६।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६१ :
सममशोत्रिये दानं, द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
सहस्रगुणमाचार्ये अनन्तं वेदपारगे।।

११. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०६ : उच्चावचं नाम नानाप्रकारं, नानाविधानि तपांसि, अहवा उच्चावयानि शोभनशीलानि।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६२-३६३ : उच्चावयाइं त्ति उच्चावयानि—उत्तमाधमानि मुनयश्चरन्ति- भिक्षानिमित्तं पर्यटन्ति गृहाणि,.... यदिवोच्चावचानि—विकृष्टाविकृष्ट तया नानाविधानि, तपांसीति गम्यते, उच्चव्रतानि वा शेषव्रतापेक्षया महाव्रतानि।

१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६३ : अज्ज त्ति अद्य ये यज्ञास्तेषामिदानीमारब्धयज्ञानां, यद् वा 'अज्ज' त्ति हे आर्या !।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ज---आर्य---आर्य पुरुष।

### २६. क्षत्रिय (खत्ता)

खत्ता शब्द के संस्कृत रूप दो हो सकते हैं---क्षत्राः और क्षत्ताः। इन दोनों के दो अर्थ हैं। क्षत्र का अर्थ है---क्षत्रिय और क्षत्ता का अर्थ है---वर्णसंकर।[1]

### २७. (उवजोइया)

उपज्योतिष्क का अर्थ है---अग्नि के समीप रहने वाला रसोइया या यज्ञ करने वाला।[2]

### २८. छात्र (खंडिएहिं)

यह देशी शब्द है। इसके तीन अर्थ हैं---छात्र, स्तुतिपाठक और अनिषेध्य। यहां प्रथम दो अर्थ प्रासंगिक हैं। चूर्णि में 'चट्टा---छात्रा' यह वाक्यांश प्राप्त है।[3] वृत्ति में खंडिक का अर्थ छात्र किया है।[4]

### २९. (दंडेण फलेण)

बृहद्वृत्ति में दण्ड का मुख्य अर्थ 'बांस की लाठी आदि मारक-वस्तु' और विकल्प में उसका अर्थ 'कोहनी का प्रहार' किया गया है।[5] चूर्णि में इसका अर्थ 'कोहनी का प्रहार' किया है।[6]

चूर्णि में 'फल' का अर्थ 'एड़ी का प्रहार' किया है।[7] बृहद्वृत्ति में फल का मूल अर्थ 'बिल्व आदि फल' किया है और इसका वैकल्पिक अर्थ---मुष्टि का प्रहार---माना है।[8] समवायांग की वृत्ति में इसका अर्थ योगभावित मातुलिंग आदि फल मिलता है।[9] हिन्दी कोश में फल का अर्थ---तलवार आदि की धार भी मिलता है। बृहद्वृत्तिकार का अर्थ अप्रासंगिक नहीं है।

### ३०. (महाजसो महाणुभागो घोरव्वओ घोरपरक्कमो)

प्रस्तुत तेवीसवें श्लोक के प्रथम दो चरणों में ये चार विशेष शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उनका अर्थ-बोध इस प्रकार है---

**महाजसो**---जिसका यश त्रिभुवन में विख्यात है, वह 'महायशा' कहलाता है।[10]

**महाणुभागो**---भाग का अर्थ है---'अचिन्त्य शक्ति'। जिसे महान् अचिन्त्य शक्ति प्राप्त हो उसे 'महाभाग' (महाप्रभावशाली) कहा जाता है।[11] चूर्णिकार के अनुसार यह पाठ 'महाणुभावो' है और इसका अर्थ है---अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ।[12]

**घोरव्वओ**---जो अत्यन्त दुर्धर महाव्रतों को धारण किए हुए हो, उसे 'घोरव्रत' कहा जाता है।[13]

**घोरपरक्कमो**---जिसमें कषाय आदि को जीतने का प्रचुर सामर्थ्य हो, उसे 'घोर पराक्रम' कहा जाता है।[14]

देखें---१४।५० के 'घोरपरक्कमा' का टिप्पण।

### ३१. वैयापृत्य (परिचर्या) (वेयावडिय)

जिससे कर्म का विदारण होता है, उसे 'वेदावडित' कहा जाता है, यह चूर्णि की व्युत्पत्ति है।[15]

शान्त्याचार्य ने इसका संस्कृत रूप वैयावृत्त्य किया है। यहां और ३२वें श्लोक में वैयावृत्त्य का प्रयोग प्रत्यनीक-निवारण (विरोधी से रक्षा) के अर्थ में हुआ है।[16] वैयापृत्त्य और वैयावृत्त्य की विशेष जानकारी के लिए देखें---दसवेआलियं ३।६ का टिप्पण।

### ३२. आशीविषलब्धि से संपन्न है (आसीविओ)

आशीविषलब्धि एक योगजन्य विभूति है। इसके द्वारा व्यक्ति अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ हो जाता है। इसका दूसरा अर्थ है---यह मुनि आशीविष सांप जैसा है। जो सांप की अवहेलना करता है वह मृत्यु को प्राप्त करता है, उसी प्रकार मुनि की अवहेलना करने वाले को भी मरना पड़ता है।[17]

तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार 'आस्याविष' और 'आस्यविष' ये भिन्न-भिन्न लब्धियां हैं। उग्र विष से मिश्रित आहार जिनके मुख में जाकर निर्विष हो जाता है अथवा मुख से निकले हुए वचनों को सुनने मात्र से महाविष व्याप्त व्यक्ति निर्विष हो जाते हैं, वे 'आस्याविष' हैं।[18] जिस प्रकृष्ट तपस्वी यति के 'मर जाओ' आदि शाप से व्यक्ति तुरन्त मर जाता है, वे 'आस्यविष' हैं।[19]

आशी का एक अर्थ इच्छा भी हो सकता है। जिसकी इच्छा विष बन जाती है उसे आशीविष कहा जाता है। ऐसा देखा जाता

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६३ : 'क्षत्राः' क्षत्रियजातयो वर्णसंकरोत्पन्ना वा।

२. वही, पत्र ३६३-३६४ : 'उवजोइय' त्ति ज्योतिषः समीपे ये त उपज्योतिषस्त एवोपज्योतिष्काः---अग्निसमीपवर्त्तिनो महानसिका ऋत्विजो वा।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०७।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६४।

५. वही, पत्र ३६४ : 'दण्डेन' वंशयष्ट्यादिना..... यद्वा 'दण्डेने' ति कूर्प्पराभिघातेन।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०७ : दण्ड्यते ऽनेनेति दण्डः कोप्पराभिघातः।

७. वही, पृ० २०७ : फलं तु पार्ष्णीघातः।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६४ : 'फलेन' बिल्वादिना.... यद् वा मुष्टिप्रहारेण वृद्धाः।

९. समवायांग ३०, वृत्ति पृ० ५० : फलेन---योगभावितेन मातुलिङ्गादिना।

१०. विशेषावश्यकभाष्य, १०६४ : तिहुयणविक्खायजसो महाजसो।

११. (क) विशेषावश्यकभाष्य, १०६३ : भागो चिंतासत्ती, स महाभागो महप्पभावोति।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५ : महानुभागः---अतिशयाचिन्त्यशक्तिः।

१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०८ : अणुभाव णाम शापानुग्रहसामर्थ्यम्।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५ : 'घोरव्रतो' धृतात्यन्तदुर्द्धरमहाव्रतः।

१४. वही, पत्र ३६५ : 'घोरपराक्रमश्च' कषायादिजयं प्रति रौद्रसामर्थ्यः।

१५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०८ : विदारयति वेदारयति वा कर्म्म वेदावडिता।

१६. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५ : 'वेयावडियट्ठयाए' त्ति सूत्रत्वाद्वैयावृत्त्यार्थमेतत् प्रत्यनीकनिवारणलक्षणे प्रयोजने व्यावृत्ता भवाम इत्येवमर्थम्।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६८ : वैयावृत्त्यं---प्रत्यनीकप्रतिघातरूपम्।

१७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६६ : आस्यो---दंष्ट्रास्तासु विषमस्येत्यासीविषः---असीविषलब्धिमान्, शापानुग्रहसमर्थ इत्यर्थः, यद्वा आसीविष इव आसीविषः, यथाहि तमत्यन्तमवजानानो मृत्युमेवाप्नोति, एवमेनमपि मुनिमवमन्यमानानामवश्यं भावि मरणमित्याशयः।

१८. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ० २०३ : उग्रविषसंपृक्तो ऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषीभवति यदीयास्यनिर्गतवचःश्रवणाद्वा महाविषपरीता अपि निर्विषीभवन्ति ते आस्याविषाः।

१९. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ० २०३-४ : प्रकृष्टतपोबला यतयो यं ब्रुवते म्रियस्वेति स तत्क्षण एव महाविषपरीतो म्रियते, ते आस्यविषाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि किसी-किसी मनुष्य की इच्छा (टपकार) से मकान फट जाता है।

### ३३. उग्र तपस्वी है (उग्गतवो)

जो एक, दो, तीन, चार, पांच पक्ष अथवा मास आदि उपवास-योग में से किसी एक उपवास-योग का आरम्भ कर जीवन पर्यन्त उसका निर्वाह करता है, उसे 'उग्र तपस्वी' कहा जाता है।[1]

### ३४. (लोगं पि एसो.....)

मुनि कुपित होने पर समूचे विश्व को भस्म कर सकता है। वाचक का मन्तव्य है—'कल्पान्तोग्रानलवत् प्रज्वलनं तेजसैकतस्तेषाम्'—जैसे प्रलयकाल की उग्र अग्नि प्रज्वलित होती है, वैसे ही ये तपस्वी मुनि अपनी तैजस शक्ति से युक्त होते हैं।

*'न तद् दूरं यदश्वेषु, यच्चाग्नौ यच्च मारुते।*
*विषे च रुधिरप्राप्ते, साधौ च कृतनिश्चये।।'*

—अश्व, अग्नि और पवन के लिए कुछ भी दूर नहीं होता। जो विष रक्तगत हो जाता है, उसके लिए मारना सरल हो जाता है। वैसे ही संकल्पवान् मुनि के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं होता।[2]

### ३५. निष्क्रिय (अकम्मचेट्ठे)

बृहद्वृत्ति में इसके दो अर्थ प्राप्त होते हैं-

(१) जिनके कार्य की हेतुभूत चेष्टाएं रुक गई हों।

(२) जिनकी यज्ञ की अग्नि में ईंधन आदि डालने की प्रवृत्ति बन्द हो गई हो।[3]

### ३६. (निब्भेरिय.....)

निब्भेरिय—यह देशी शब्द है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ निर्गत—बाहर निकला हुआ[4] और वृत्तिकार ने प्रसारित किया है।[5]

### ३७. अर्थ (अत्थं)

'अर्थ' शब्द के अनेक अर्थ हैं—प्रयोजन, अध्यात्मशास्त्र का प्रतिपाद्य अथवा अभिधेय वस्तु, सत्य, धन आदि। वृत्ति में दो अर्थ उपलब्ध हैं—वस्तु और अभिधेय।

अर्थ ज्ञेय होता है, इसलिए उसका एक अर्थ—सब वस्तुएं हो सकता है। किन्तु यहां प्रकरण से शुभ-अशुभ कर्मों या राग-द्वेष के फल को 'अर्थ' कहा गया है। अथवा शास्त्रों का प्रतिपाद्य—इस अर्थ में भी वह प्रयुक्त हो सकता है।[6] यहां अर्थ शब्द 'सत्य' के अर्थ में प्रयुक्त है।

### ३८. भूतिप्रज्ञ (भूइपन्ना)

भूति के तीन अर्थ किए गए हैं—मंगल, वृत्ति और रक्षा। प्रज्ञा का अर्थ है वह बुद्धि जिससे पहले ही जान लिया जाता है। जिसकी बुद्धि सर्वोत्तम मंगल, सर्वश्रेष्ठ वृद्धि या सर्वभूत-हिताय प्रवृत्त हो, वह 'भूतिप्रज्ञ' कहलाता है।[7]

### ३९. प्रचुर भोजन (पभूयमन्नं)

यहां प्रचुर अन्न के द्वारा यज्ञ में बने पूड़े, खाजे आदि सारे खाद्य पदार्थों को लेने का मुनि से अनुरोध किया गया है। चावल के बने भोजन को सबसे मुख्य माना जाता था। इसलिए पिछले श्लोक में उसके लिए पृथक् रूप से अनुरोध किया है।[8]

### ४०. जाति की कोई महिमा नहीं है (न दीसई जाइविसेस कोई)

जैन दर्शन के अनुसार जातिवाद अतात्त्विक है। भगवान् महावीर ने कहा—एक जीव अनेक बार उच्च गोत्र में उत्पन्न हुआ और अनेक बार नीच गोत्र में जन्मा, इसलिए न कोई छोटा है और न कोई बड़ा।[9] मनुष्य अपने कर्मों से ब्राह्मण होता है, कर्मों से क्षत्रिय, कर्मों से वैश्य और कर्मों से शूद्र।[10] मनुष्य की सुरक्षा उसके ज्ञान और आचार से होती है, जाति और कुल से नहीं।[11] भगवान् महावीर ने यह कभी स्वीकार नहीं किया कि ब्राह्मण जाति में उत्पन्न व्यक्ति चाहे कैसी भी दुश्चवृत्ति करे, श्रेष्ठ है और शूद्र जाति में उत्पन्न व्यक्ति चाहे कितना भी तपश्चरण करे, नीच है। वस्तुतः व्यक्ति की उच्चता और नीचता की कसौटी तप, संयम और पवित्रता है, जाति नहीं। जो जितना आचारवान् है वह उतना ही उच्च है और

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ० २०३ : तपोऽतिशयर्द्धिः सप्तविधा—उग्र-दीप्त-तप्त-महा-घोर-तपो-वीरपराक्रम-घोरब्रह्मचर्यभेदात्: चतुर्थ-षष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षमासाद्यनशनयोगेष्वन्यतमयोगमारभ्य आमरणाद-निवर्तका उग्रतपसः।

२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०६।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६७।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६७ : अकर्मचेष्टाश्च—अविद्यमानकर्म्महेतुव्यापारतया प्रसारितबाहूवकर्म्मचेष्टास्तान्, यद्वा क्रियन्त इति कर्म्माणि—अग्नौ समित्प्रक्षेपणादीनि तद्विषया चेष्टा कर्मचेष्टेह गृह्यते।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०६ : णिब्भरितं-निर्गतमित्यर्थः।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६७ : निब्भेरिय त्ति प्रसारित.....।

६. वही, पत्र ३६८ : अर्यत इत्यर्थो—ज्ञेयत्वात्सव्वमेव वस्तु, इह तु प्रक्रमाच्छुभाशुभकर्म्मविभागो रागद्वेषविपाको वा परिगृह्यते, यद्वा अर्थः—अभिधेयः स चार्थाच्छास्त्राणामेव तम्।

७. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१० : भूतिं मंगलं वृद्धिः रक्षा, प्रागर (गेव) ज्ञायते अनयेति प्रज्ञा, तत्र मंगले सर्वमंगलोत्तमाऽस्य प्रज्ञा, अनन्तज्ञानवानित्यर्थः, रक्षायां तु रक्षाभूताऽस्य प्रज्ञा सर्वलोकस्य सर्वसत्त्वानां वा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६८ : भूतिर्मंगलं वृद्धि रक्षा चेति वृद्धाः, प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा, ततश्चः भूतिः—मंगलं सर्वमंगलोत्तमत्वेन वृद्धिर्वा वृद्धि विशिष्टत्वेन रक्षा वा प्राणिरक्षकत्वेन प्रज्ञा—बुद्धिरस्येति भूतिप्रज्ञः।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६६ : 'प्रभूतं' प्रचुरमन्नं—मण्डकखण्डखाद्यादि समस्तमपि भोजनं, यत्प्राक् पृथगोदनग्रहणं तत्तस्य सर्वान्नप्रधानत्वख्यापनार्थम्।

९. आयारो २।४६ : से असइं उच्चागोए। असइं णीआगोए : णो हीणे, णो अइरित्ते.....।

१०. उत्तराध्ययन, २५।३१।

११. सूत्रकृतांग, १।१३।११ : न तस्य जाई व कुलं व ताणं, नन्नत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो जितना आचारभ्रष्ट है वह उतना ही नीच है। वह फिर जाति से ब्राह्मण हो या शूद्र। शूद्र जाति में उत्पन्न होने से वह ज्ञान का अधिकारी नहीं, यह भी मान्य नहीं है। ब्राह्मण परम्परा के अनुसार ब्राह्मणों के लिए शूद्र को वेदों का ज्ञान देना निषिद्ध था। लंका में विलाप करती हुई सीता कहती है—"मैं अनार्य रावण को अपना अनुराग वैसे ही अर्पित नहीं कर सकती जैसे ब्राह्मण शूद्र को मंत्र-ज्ञान नहीं दे सकता।"[1] जैन संघ में दीक्षित होकर जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को साधना करने का अधिकार था, वैसे ही शूद्रों को। हरिकेशबल मुनि उसके एक ज्वलन्त उदाहरण हैं।

## ४१. बाहर से (जल से) शुद्धि की (सोहिं बहिया)

शोधि का अर्थ है—शुद्धि-निर्मलता।[2] शोधि दो प्रकार की होती है—द्रव्यशोधि और भावशोधि।

मलिन वस्त्रों को पानी से धोना द्रव्यशोधि है और तप, संयम आदि के द्वारा आठ प्रकार के कर्ममलों का प्रक्षालन करना भावशोधि है। द्रव्यशोधि बाह्यशोधि होती है।[3] इसका कोई धार्मिक मूल्य नहीं है। वाचक प्रवर ने लिखा है—[4]

***'शौचमाध्यात्मिकं त्यक्त्वा, भावशुद्ध्यात्मकं शुभं।***
***जलादिशौचं यत्रेष्टं, मूढविस्मापकं हि तत्।।'***

## ४२. (किं)

इसका प्रयोग दो अर्थों में होता है—क्षेप और पृच्छा। यहां यह क्षेप—निंदा या तिरस्कार के अर्थ में प्रयुक्त है।[5]

## ४३. कुशल लोग (कुसला)

**'कुशं लुनातीति कुशलः'**—जो कुश—घास को काटता है, वह कुशल कहलाता है। यह इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।

चूर्णि में 'कुशल' का अर्थ—कर्म-बंधन को काटने वाला किया है।[6] वृत्ति के अनुसार कुशल वह है जो तत्त्व-विचारणा में निपुण है।[7]

## ४४. (श्लोक ३८)

प्रस्तुत श्लोक का चौथा पद है—'न तं सुदिट्ठं कुसला वयंति' तथा चालीसवें श्लोक का चौथा पद है—'न तं सुजट्ठं कुसला वयंति'। 'सुजट्ठं' का संस्कृत रूप है 'सु-इष्ट' (स्विष्टं) और अर्थ है—श्रेष्ठ यज्ञ। प्रस्तुत श्लोक के चौथे पद का भी यही अर्थ अभिप्रेत है। इसलिए 'सुदिट्ठं' के स्थान पर 'सुजट्ठं' अथवा 'सुइट्ठं' पाठ की संभावना की जा सकती है। चूर्णि और वृत्ति में 'सुदिट्ठं' पाठ ही व्याख्यात है।

## ४५. (सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं, वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो)

**सुसंवुडो**—जिसके प्राणातिपात आदि आश्रव-द्वार रुक गए हों, उसे 'सुसंवृत' कहा जाता है।[8]

**पंचहिं संवरेहिं**—संवर के पांच प्रकार ये हैं—

(१) प्राणातिपात-विरति।
(२) मृषावाद-विरति।
(३) अदत्तादान-विरति।
(४) मैथुन-विरति।
(५) परिग्रह-विरति।

**वोसट्ठकाओ**—जिसने विविध या विशिष्ट प्रकार से काया का उत्सर्ग किया हो, उसे 'व्युत्सृष्ट-काय' कहा जाता है।[9]

**सुइचत्तदेहो**—जो गृहीत व्रतों में दोष न लगाए—अकलुषित व्रत हो, उसे 'शुचि' कहा जाता है।[10]

जिसने देह के प्रतिकर्म (संवारने) का त्याग किया हो, उसे त्यक्त किया हो, उसे 'त्यक्त-देह' कहा जाता है।[11]

विशेष जानकारी के लिए देखें—दसवेआलियं १०।१३ का टिप्पण।

## ४६. महायज्ञ (महाजयं)

चूर्णि और वृत्ति में 'महाजय' का अर्थ महान् जय मिलता है। किन्तु 'जण्णसेट्ठं'—यह विशेषण-पद है। इसलिए 'महाजय' का संस्कृत रूप 'महायज' होना चाहिए। यज्ञों में महायज्ञ ही श्रेष्ठ माना जाता है। 'यकार' को 'जकार' और 'जकार' का लोप तथा उसे यकारादेश करने पर 'महायज' रूप बन जाता है।

## ४७. घी डालने की करछियां (सुया)

इसका संस्कृत रूप है 'स्रुव' और अर्थ है—यज्ञ में आहुति देते समय अग्नि में घी आदि डालने का पात्र-विशेष।

---

१. वाल्मीकीय रामायण, ५।२८।५ : भावं न चास्याहमनुप्रदातुमलं द्विजो मंत्रमिवाद्विजाय।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३७० : 'सोहिं' ति शुद्धिं निर्मलताम्।
३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २११ : दुविधा सोधी—दव्वसोधी भावसोधी य, दव्वसोधी मलिनं वस्त्रादि पानीयेन शुद्ध्यते, भावसोधी तवसंजमादीहिं अट्ठविहकम्ममललित्तो जीवो सोधिज्जति, अदव्वसोधी भावसोधी बाहिरियं, जं तं जलेण बाहिरसोधी।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३७०।
५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१० : किंसद्दो खेवे पुच्छाए य वट्टति, खेवो निंदा, एत्थ निंदाए।
६. वही, पृ० २११ : अट्ठप्पगारं कम्मं.....लूनंतीति कुसला।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३७० : कुशलाः—तत्त्वविचारं प्रति निपुणाः।
८. वही, पत्र ३७१ : सुष्ठु संवृतः—स्थगितसमस्ताश्रवद्वारः सुसंवृतः।
९. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २११ : 'वोसट्ठकाए' विविधमुत्सृष्टो विशिष्टो विशेषेण वा उत्सृष्टः कायः—शरीरम्।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३७१ : व्युत्सृष्टो—विविधैरुपायैर्विशेषेण वा परीषहोपसर्गसहिष्णुतालक्षणेनोत्सृष्टः—त्यक्तः कायः—शरीरमनेनेति व्युत्सृष्टकायः।
१०. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २११ : शुचिः अनाश्रवः अखण्डचरित्र इत्यर्थः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३७१ : शुचिः—अकलुषव्रतः।
११. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २११ : त्यक्तदेह इव त्यक्तदेहो नाम निष्प्रतिकर्म्मशरीरः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३७१ : त्यक्तदेहश्च—अत्यन्तनिष्प्रतिकर्म्मतया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्रुव' खदिर (कत्थे) की लकड़ी से बनाई जाती थी। इसके दो प्रकार होते थे[1]—

१. अधरा स्रुव—इसको उपभृत् कहा जाता था। यह शत्रुपक्षीय और नीचे रखा जाता था।
२. उत्तरा स्रुव—इसे जुहू कहा जाता था। यह यजमानपक्षीय और उपभृत् से ऊपर रखा जाता था।[2]

विशेष विवरण के लिए देखें—अभिधान चिन्तामणि कोश ३।४६२ का विमर्श।

## ४८. शांतितीर्थ (संतितित्थे)

चूर्णिकार और बृहद्वृत्तिकार ने 'संति' का अर्थ—शांति या 'सन्ति' (अस् धातु का बहुवचन) किया है। इसका अर्थ शांति मानने पर 'तीर्थ' में एक वचन है। 'सन्ति' को क्रिया मानने पर उसमें बहुवचन है।[3] बृहद्वृत्ति के अनुसार तीर्थ का अर्थ 'पुण्यक्षेत्र' या 'संसार समुद्र को तैरने का उपायभूत घाट' है। चूर्णि के अनुसार तीर्थ के दो भेद हैं—द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ। प्रभास आदि द्रव्यतीर्थ कहलाते हैं और ब्रह्मचर्य भावतीर्थ या शांतितीर्थ कहलाते हैं।[4]

अगले श्लोक (४६) में सूत्रकार ने स्वयं ब्रह्मचर्य को शांतितीर्थ माना है। शान्त्याचार्य ने इस प्रसंग में इसका अर्थ इस प्रकार किया है—मतु प्रत्यय का लोप तथा ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी का अभेद मान लेने पर यह होता है कि ब्रह्मचारी तीर्थ है। इस अर्थ में 'बंभे' में वचन-व्यत्यय मानना होगा।[5]

## ४९. आत्मा का प्रसन्न लेश्या वाला (अत्तपसन्नलेसे)

चूर्णि में पीत आदि लेश्याओं को प्रसन्न माना है। लेश्या दो प्रकार की होती है—शरीरलेश्या (आभामंडल) और आत्मलेश्या (भावधारा)। 'अत्तपसन्नलेसे'—इस पद के द्वारा आत्मलेश्या का ग्रहण किया गया है। शरीर की लेश्याएं अशुद्ध होने पर भी आत्मा की लेश्याएं शुद्ध हो सकती हैं। शरीर की लेश्याएं शुद्ध होने पर आत्मा की लेश्या शुद्ध और अशुद्ध—दोनों प्रकार की हो सकती है।

'अत्त' शब्द पांच अर्थों में प्रयुक्त होता है—आत्मा, इष्ट, कान्त, प्रिय और मनोज्ञ। चूर्णि में 'अत्त' का मुख्य अर्थ आत्मा और वैकल्पिक अर्थ इष्ट किया है। पीत आदि लेश्याएं इष्ट होती हैं, वे शुद्ध लेश्याएं हैं। अशुद्ध लेश्याएं (कृष्ण आदि) इष्ट नहीं होतीं।[6]

वृत्तिकार ने 'पसन्न' का अर्थ—विशुद्ध और 'अत्त' का अर्थ आत्मा किया है। उन्होंने 'अत्त' का संस्कृत रूप 'आप्त' मानकर उसके दो अर्थ और किए हैं—हितकर और प्राप्त।[7]

'अत्तपसन्नलेसे' के संस्कृत रूप 'आत्मप्रसन्नलेश्यः' या 'आप्तप्रसन्नलेश्यः' होता है। लेश्या प्रसन्न (धर्म) और अप्रसन्न (अधर्म)—दो प्रकार की होती है। आत्मा की प्रसन्न—सर्वथा अकलुषित लेश्या जहां होती है, उसे प्रसन्न लेश्या कहा गया है। आप्त-पुरुष के द्वारा प्रसन्न लेश्या का निरूपण हो अथवा जहां प्रसन्न लेश्या प्राप्त हो, उस धर्म या शांतितीर्थ को 'आप्तप्रसन्नलेश्य' कहा गया है।

## ५०. कर्म-रज (दोसं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ पाप[8] और वृत्तिकार ने 'कर्म' किया है।[9] कर्म विशुद्ध आत्मा को भी दूषित कर देता है, इसलिए वह दोष है।

## ५१. (श्लोक ४६)

महात्मा बुद्ध ने भी जलस्नान को धार्मिक महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने भी धार्मिक महत्त्व आत्मशुद्धि को ही दिया है।

इस विषय पर मज्झिमनिकाय का निम्नोक्त प्रसंग सुन्दर प्रकाश डालता है।[10]—

उस समय सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण भगवान् के अविदूर में बैठा था। तब सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण ने भगवान् से यह कहा—

क्या आप गौतम स्नान के लिए बाहुका नदी चलेंगे ?

ब्राह्मण ! बाहुका नदी से क्या (लेना) है ? बाहुका नदी क्या करेगी ?

हे गौतम ! बाहुका नदी लोकमान्य (=लोक-सम्मत) है, बाहुका नदी बहुत जनों द्वारा पवित्र (=पुण्य) मानी जाती है। बहुत से लोग बाहुका नदी में (अपने) किए पापों को बहाते हैं।

तब भगवान् ने सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण को गाथाओं में कहा—

---

१. का० श्रौ० सू० १।३।४० : खादिर स्रुवः।
२. शतपथब्राह्मण १।४।४।१८,१६।
३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१२ : 'संतितित्थे' ति शमनं शांतिः, शांतिरेव तीर्थः, अथवा सन्तीति विद्यन्ते, कतराणि संति तित्थाणि ?
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३७३ : संतितित्थे त्ति किं च ते—तव शान्त्यैपापोपशमननिमित्तं तीर्थ-पुण्यक्षेत्र शान्तितीर्थम्, अथवा कानि च किं रूपाणी ते—तव सन्ति विद्यन्ते तीर्थानि संसारोदधितरणोपायभूतानि।
४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१२ : तित्थं दुविहं—दव्वतित्थं भावतित्थं च, प्रभासादीनि द्रव्यतीर्थानि, जीवानामुपरोधकारीनीतिकृत्या न शान्तितीर्थानि भवंति, यस्तु आत्मनः परेषां च शान्तये तद् भावतीर्थं भवति, ब्रह्म एव शान्तितीर्थम्।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३७३ : ब्रह्मेति—ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ..... अथवा ब्रह्मेति ब्रह्मचर्यवन्तो मतुब्लोपाद् अभेदोपचाराद् वा साधव उच्यन्ते, सुव्यत्ययाच्चैकवचनं, संति—विद्यन्ते तीर्थानि ममेति गम्यते।
६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१२ : शरीरलेश्यासु हि अशुद्धास्वपि आत्मलेश्या शुद्धा भवंति, शुद्धा अपि शरीरलेश्या भजनीया, अथवा अत्त इति इष्टः, ताश्च पीताद्याः, ताश्च शुद्धाः, अनिष्टास्तु अणत्ताओ, उक्तं हि-अत्त इट्ठा कंता पिया मणुण्णा,.....।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३७३।
८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१२ : दोसमिति पापं।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र ३७३ : दोष—कर्म।
१०. मज्झिमनिकाय, १।१।७, पृ० २६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाहुका, अविकक्क, गया और सुन्दरिका में।

सरस्वती और प्रयाग तथा बाहुमती नदी में।

काले कर्मों वाला मूढ़ चाहे नित्य नहाए, (किन्तु) शुद्ध नहीं होगा।

क्या करेगी सुन्दरिका, क्या प्रयाग और क्या बाहुलिका नदी ?

(वह) पापकर्मी=कृत किल्बिष दुष्ट नर को नहीं शुद्ध कर सकते।

शुद्ध (नर) के लिए सदा ही फल्गु है, शुद्ध के लिए सदा ही उपोसथ है।

शुद्ध और शुचिकर्मा के व्रत सदा ही पूरे होते रहते हैं।

ब्राह्मण ! यहीं नहीं, सारे प्राणियों का क्षेम कर।

यदि तू झूठ नहीं बोलता, यदि प्राण नहीं मारता।

यदि बिना दिया नहीं लेता, (और) श्रद्धावान् मत्सर-रहित है।

(तो) गया जाकर क्या करेगा, क्षुद्र जलाशय (=उपादान) भी तेरे लिए गया है।

## ५२. महास्नान है (महासिण्हाणं)

इसका शाब्दिक अर्थ है—महास्नान अर्थात् श्रेष्ठ स्नान। चूर्णिकार ने इसका लाक्षणिक अर्थ—समस्त कर्मों का क्षय किया है।[1]

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१२ : महासिणाणं णाम सव्वकम्मक्खओ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तेरसमं अज्झयणं

## चित्तसंभूइज्जं

# तेरहवां अध्ययन

## चित्र-संभूतीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में चित्र और संभूत के पारस्परिक सम्बन्ध और विसम्बन्ध का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'चित्तसंभूइज्जं' 'चित्र-संभूतीय' है।[1]

उस काल और उस समय साकेत नगर में चन्द्रावतंसक राजा का पुत्र मुनिचन्द्र राज्य करता था। राज्य का उपभोग करते-करते उसका मन काम-भोगों से विरक्त हो गया। उसने मुनि सागरचन्द के पास दीक्षा ग्रहण की। वह अपने गुरु के साथ-साथ देशान्तर जा रहा था। एक बार वह भिक्षा लेने गाव में गया, पर सार्थ से बिछुड़ गया और एक भयानक अटवी में जा पहुंचा। वह भूख और प्यास से व्याकुल हो रहा था। वहां चार ग्वाल-पुत्र गाएं चरा रहे थे। उन्होंने मुनि की अवस्था देखी। उनका मन करुणा से भर गया। उन्होंने मुनि की परिचर्या की। मुनि स्वस्थ हुए। चारों ग्वाल-बालकों को धर्म का उपदेश दिया। चारों बालक प्रतिबुद्ध हुए और मुनि के पास दीक्षित हो गए। वे सभी आनन्द से दीक्षा-पर्याय का पालन करने लगे। किन्तु उनमें से दो मुनियों के मन में मैले कपड़ों के विषय में जुगुप्सा रहने लगी। चारों मर कर देव-गति में गए। जुगुप्सा करने वाले दोनों देवलोक से च्युत हो दशपुर नगर में शांडिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती की कुक्षी से युगल रूप में जन्मे। वे युवा हुए। एक बार वे जंगल में अपने खेत की रक्षा के लिए गए। रात हो गई। वे एक वट वृक्ष के नीचे सो गए। अचानक ही वृक्ष की कोटर से एक सर्प निकला और एक को डस कर चला गया। दूसरा जागा। उसे यह बात मालूम हुई। तत्काल ही वह सर्प की खोज में निकला। वही सर्प उसे भी डस गया। दोनों मर कर कालिंजर पर्वत पर एक मृगी के उदर से युगल रूप में उत्पन्न हुए। एक बार दोनों आसपास चर रहे थे। एक व्याध ने एक ही बाण से दोनों को मार डाला। वहां से मर कर वे गंगा नदी के तीर पर एक राजहंसिनी के गर्भ में आए। युगल रूप में जन्मे। वे युवा बने। वे दोनों साथ-साथ घूम रहे थे। एक बार एक मछुए ने उन्हें पकड़ा और गर्दन मरोड़ कर मार डाला।

उस समय वाराणसी नगरी में चाण्डालों का एक अधिपति रहता था। उसका नाम था भूतदत्त। वह बहुत समृद्ध था। वे दोनों हंस मर कर उसके पुत्र हुए। उनका नाम चित्र और संभूत रखा गया। दोनों भाइयों में अपार स्नेह था।

उस समय वाराणसी नगरी में शङ्ख राजा राज्य करता था। नमुचि उसका मंत्री था। एक बार उसके किसी अपराध पर राजा क्रुद्ध हो गया और वध की आज्ञा दे दी। चाण्डाल भूतदत्त को यह कार्य सौंपा गया। उसने नमुचि को अपने घर में छिपा लिया और कहा—"मंत्रिन्! यदि आप मेरे तल-घर में रहकर मेरे दोनों पुत्रों को अध्यापन कराना स्वीकार करें तो मैं आपका वध नहीं करूंगा।" जीवन की आशा में मंत्री ने बात मान ली। अब वह चाण्डाल के पुत्रों—चित्र और संभूत को पढ़ाने लगा। चाण्डालपत्नी नमुचि की परिचर्या करने लगी। कुछ काल बीता। नमुचि चाण्डाल-स्त्री में आसक्त हो गया। भूतदत्त ने यह बात जान ली। उसने नमुचि को मारने का विचार किया। चित्र और संभूत दोनों ने अपने पिता के विचार जान लिए। गुरु के प्रति कृतज्ञता से प्रेरित हो उन्होंने नमुचि को कहीं भाग जाने की सलाह दी। नमुचि वहां से भागा-भागा हस्तिनापुर में आया और चक्रवर्ती सनत्कुमार का मंत्री बन गया।

चित्र और संभूत बड़े हुए। उनका रूप और लावण्य आकर्षक था। नृत्य और संगीत में वे प्रवीण हुए। वाराणसी के लोग उनकी कलाओं पर मुग्ध थे।

एक बार मदन-महोत्सव आया। अनेक गायक-टोलियां मधुर राग में अलाप रही थीं और तरुण-तरुणियों के अनेक गण नृत्य कर रहे थे। उस समय चित्र-संभूत की नृत्य-मण्डली भी वहां आ गई। उनका गाना और नृत्य सबसे अधिक मनोरम था। उसे सुन और देख कर सारे लोग उनकी मण्डली की ओर चले आए। युवतियां मंत्र-मुग्ध सी हो गयीं। सभी तन्मय थे। ब्राह्मणों ने यह देखा। मन में ईर्ष्या उभर आई। जातिवाद की आड़ ले वे राजा के पास गए और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा ने दोनों मातंग-पुत्रों को नगर से निकाल दिया। वे अन्यत्र चले गए।

कुछ समय बीता। एक बार कौमुदी-महोत्सव के अवसर पर वे दोनों मातंग-पुत्र पुनः नगर में आए। वे मुंह पर कपड़ा डाले महोत्सव का आनन्द ले रहे थे। चलते-चलते उनके मुंह से संगीत के स्वर निकल पड़े। लोग अवाक् रह गए। वे उन दोनों के पास आए। आवरण हटाते ही उन्हें पहचान गए। उनका रक्त ईर्ष्या से उबल गया। "ये चाण्डाल-पुत्र हैं"—ऐसा कहकर उन्हें लातों और चाटों से मारा और नगर से बाहर निकाल दिया। वे बाहर एक उद्यान में ठहरे। उन्होंने सोचा—

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३३२ :
चित्तेसंभूआउं वेअंतो, भावओ अ नायव्वो।
तत्तो समुट्ठिअमिणं, अज्झयणं चित्तसंभूयं।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"धिक्कार है हमारे रूप, यौवन, सौभाग्य और कला-कौशल को! आज हम चाण्डाल होने के कारण प्रत्येक वर्ग से तिरस्कृत हो रहे हैं। हमारा सारा गुण-समूह दूषित हो रहा है। ऐसा जीवन जीने से लाभ ही क्या?" उनका मन जीने से ऊब गया। वे आत्म-हत्या का दृढ़ संकल्प ले वहां से चले। एक पहाड़ पर इसी विचार से चढ़े। ऊपर चढ़कर उन्होंने देखा कि एक श्रमण ध्यान-लीन हैं। वे साधु के पास आए और बैठ गए। ध्यान पूर्ण होने पर साधु ने उनका नाम-धाम पूछा। दोनों ने अपना पूर्व वृत्तान्त कह सुनाया। मुनि ने कहा—"तुम अनेक कला-शास्त्रों के पारगामी हो। आत्म-हत्या करना नीच व्यक्तियों का काम है। तुम्हारे जैसे विमल-बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए यह उचित नहीं। तुम इस विचार को छोड़ो और जिन-धर्म की शरण में आओ। इससे तुम्हारे शारीरिक और मानसिक—सभी दुःख उच्छिन्न हो जायेंगे।" उन्होंने मुनि के वचन को शिरोधार्य किया और हाथ जोड़कर कहा—"भगवन्! आप हमें दीक्षित करें।" मुनि ने उन्हें योग्य समझ दीक्षा दी। गुरु-चरणों की उपासना करते हुए वे अध्ययन करने लगे। कुछ समय बाद वे गीतार्थ हुए। विचित्र तपस्याओं से आत्मा को भावित करते हुए वे ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। एक बार वे हस्तिनापुर आए। नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरे। एक दिन मास-क्षमण का पारणा करने के लिए मुनि संभूत नगर में गए। भिक्षा के लिए वे घर-घर घूम रहे थे। मंत्री नमुचि ने उन्हें देख कर पहचान लिया। उसकी सारी स्मृतियां सद्यस्क हो गईं। उसने सोचा—यह मुनि मेरा सारा वृत्तान्त जानता है। वहां के लोगों के समक्ष यदि इसने कुछ कह डाला तो मेरी महत्ता नष्ट हो जाएगी। ऐसा विचार कर उसने लाठी और मुक्कों से मार कर मुनि को नगर से बाहर निकालना चाहा। कई लोग मुनि को पीटने लगे। मुनि शांत रहे। परन्तु लोग जब अत्यन्त उग्र हो गए, तब मुनि का चित्त अशांत हो गया। उनके मुंह से धुंआ निकला और सारा नगर अंधकारमय हो गया। लोग घबड़ाए। अब वे मुनि को शांत करने लगे। चक्रवर्ती सनत्कुमार भी वहां आ पहुंचा। उसने मुनि से प्रार्थना की—"भंते! यदि हम से कोई त्रुटि हुई हो तो आप क्षमा करें। आगे हम ऐसा अपराध नहीं करेंगे। आप महान् हैं। नगर-निवासियों को जीवन-दान दें।" इतने से मुनि का क्रोध शांत नहीं हुआ। उद्यान में बैठे मुनि चित्र ने यह संवाद सुना और आकाश को धूम्र से आच्छादित देखा। वे तत्काल वहां आए और उन्होंने मुनि सम्भूत से कहा—"मुने! क्रोधानल को उपशांत करो, उपशांत करो! महर्षि उपशम-प्रधान होते हैं। वे अपराधी पर भी क्रोध नहीं करते। तुम अपनी शक्ति का संवरण करो!" मुनि संभूत का मन शान्त हुआ। उन्होंने तेजोलेश्या का संवरण किया। अन्धकार मिट गया। लोग प्रसन्न हुए। दोनों मुनि उद्यान में लौट गए। उन्होंने सोचा—"हम काय-संलेखना कर चुके हैं, इसलिए अब हमें अनशन करना चाहिए।" दोनों ने बड़े धैर्य के साथ अनशन ग्रहण किया।

चक्रवर्ती सनत्कुमार ने जब यह जाना कि मन्त्री नमुचि के कारण ही सभी लोगों को संत्रास सहना पड़ा है तो उसने मन्त्री को बांधने का आदेश दिया। मन्त्री को रस्सों से बांध कर मुनियों के पास लाए। मुनियों ने राजा को समझाया और उसने मन्त्री को मुक्त कर दिया। चक्रवर्ती दोनों मुनियों के पैरों पर गिर पड़ा। रानी सुनन्दा भी साथ थी। उसने भी वन्दना की। अकस्मात् ही उसके केश मुनि सम्भूत के पैरों को छू गए। मुनि सम्भूत को अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ। उसने निदान करने का विचार किया। मुनि चित्र ने ज्ञान-शक्ति से यह जान लिया और निदान न करने की शिक्षा दी, पर सब व्यर्थ। मुनि सम्भूत ने निदान किया—"यदि मेरी तपस्या का फल है तो मैं चक्रवर्ती बनूं।"

दोनों मुनियों का अनशन चालू था। वे मर कर सौधर्म देवलोक में देव बने। वहां का आयुष्य पूरा कर चित्र का जीव पुरिमताल नगर में एक इभ्य सेठ का पुत्र बना और सम्भूत का जीव कांपिल्यपुर के ब्रह्म राजा की रानी चुलनी के गर्भ में आया। रानी ने चौदह महास्वप्न देखे। बालक का जन्म हुआ। उनका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया।

राजा ब्रह्म के चार मित्र थे—(१) काशी का अधिपति कटक (२) गजपुर का राजा कणेरदत्त (३) कौशल देश का राजा दीर्घ और (४) चम्पा का अधिपति पुष्पचूल। राजा ब्रह्म का इनके साथ अगाध प्रेम था। वे सभी एक-एक वर्ष एक-दूसरे के राज्य में रहते थे। एक बार वे सब राजा ब्रह्म के राज्य में समुदित हो रहे थे। उन्हीं दिनों की बात है, एक दिन राजा ब्रह्म को असह्य मस्तक-वेदना उत्पन्न हुई। स्थिति चिन्ताजनक बन गई। राजा ब्रह्म ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को चारों मित्रों को सौंपते हुए कहा—"इसका राज्य तुम्हें चलाना है।" मित्रों ने स्वीकार किया।

कुछ काल बाद राजा ब्रह्म की मृत्यु हो गई। मित्रों ने उसका अन्त्येष्टि-कर्म किया। उस समय कुमार ब्रह्मदत्त छोटी अवस्था में था। चारों मित्रों ने विचार-विमर्श कर कौशल देश के राजा दीर्घ को राज्य का सारा भार सौंपा और बाद में सब अपने-अपने राज्य की ओर चले गये। राजा दीर्घ राज्य की व्यवस्था देखने लगा। सर्वत्र उसका प्रवेश होने लगा। रानी चुलनी के साथ उसका प्रेम-बन्धन गाढ़ होता गया। दोनों निःसंकोच विषय-वासना का सेवन करने लगे।

रानी के इस दुश्चरण को जानकर राजा ब्रह्म का विश्वस्त मन्त्री धनु चिन्ताग्रस्त हो गया। उसने सोचा—"जो व्यक्ति अधम आचरण में फंसा हुआ है, वह भला कुमार ब्रह्मदत्त का क्या हित साध सकेगा?"

उसने रानी चुलनी और राजा दीर्घ के अवैध-सम्बन्ध की बात अपने पुत्र वरधनु के माध्यम से कुमार तक पहुंचाई। कुमार को यह बात बहुत बुरी लगी। उसने एक उपाय ढूंढा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक कौवे और एक कोकिल को पिंजरे में बन्द कर अन्तःपुर में ले गया और रानी चुलनी को सुनाते हुए कहा—"जो कोई भी अनुचित सम्बन्ध जोड़ेगा, उसे मैं इसी प्रकार पिंजरे में डाल दूंगा।" राजा दीर्घ ने यह बात सुनी। उसने चुलनी से कहा-"कुमार ने हमारा सम्बन्ध जान लिया है। मुझे कौवा और तुम्हें कोयल मान संकेत दिया है। अब हमें सावधान हो जाना चाहिए।" चुलनी ने कहा—"वह अभी बच्चा है। जो कुछ मन में आता है कह देता है।" राजा दीर्घ ने कहा—"नहीं, ऐसा नहीं है। वह हमारे प्रेम में बाधा डालने वाला है। उसको मारे बिना अपना सम्बन्ध नहीं निभ सकता।" चुलनी ने कहा—"जो आप कहते हैं, वह सही है किन्तु उसे कैसे मारा जाये ? लोकापवाद से भी तो हमें डरना चाहिए।" राजा दीर्घ ने कहा—"जनापवाद से बचने के लिए पहले हम इसका विवाह कर दें, फिर ज्यों-त्यों इसे मार देंगे।" रानी ने बात मान ली।

एक शुभ वेला में कुमार का विवाह सम्पन्न हुआ। उसके शयन के लिए राजा दीर्घ ने हजार स्तम्भ वाला एक लाक्षा-गृह बनवाया।

इधर मन्त्री धनु ने राजा दीर्घ से प्रार्थना की—"स्वामिन्! मेरा पुत्र वरधनु मन्त्री-पद का कार्यभार संभालने के योग्य हो गया है। मैं अब कार्य से निवृत्त होना चाहता हूं।" राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और छलपूर्वक कहा—"तुम और कहीं जाकर क्या करोगे ? यहीं रहो और दान आदि धर्मों का पालन करो।" मन्त्री ने राजा की बात मान ली। उसने नगर के बाहर गङ्गा नदी के तट पर एक विशाल प्याऊ बनाया। वहां वह पथिकों और परिव्राजकों को प्रचुर अन्न-पान देने लगा। दान और सम्मान से वशीभूत हुए पथिकों और परिव्राजकों द्वारा उसने लाक्षा-गृह से प्याऊ तक एक सुरंग खुदवाई। राजा-रानी को बात ज्ञात नहीं हुई।

रानी चुलनी ने कुमार ब्रह्मदत्त को अपनी नववधू के साथ उस लाक्षा-गृह में भेजा। दोनों वहां गए। रानी ने शेष सभी ज्ञाति-जनों को अपने-अपने घर भेज दिया। मन्त्री का पुत्र वरधनु वहीं रहा। रात्रि के दो पहर बीते। कुमार ब्रह्मदत्त गाढ़ निद्रा में लीन था। वरधनु जाग रहा था। अचानक लाक्षा-गृह एक ही क्षण में प्रदीप्त हो उठा। हाहाकार मचा। कुमार जागा और दिङ्मूढ़ बना हुआ वरधनु के पास आ बोला—"यह क्या हुआ ? अब क्या करें ?" वरधनु ने कहा-"यह राज-कन्या नहीं है, जिसके साथ आपका पाणि-ग्रहण हुआ है। इसमें प्रतिबन्ध करना उचित नहीं है। चलो हम चलें।" उसने कुमार ब्रह्मदत्त को एक सांकेतिक स्थान पर लात मारने को कहा। कुमार ने लात मारी। सुरंग का द्वार खुल गया। वह उसमें घुसे। मन्त्री ने पहले ही अपने दो विश्वासी पुरुष सुरंग के द्वार पर नियुक्त कर रखे थे। वे घोड़ों पर चढ़े हुए थे। ज्यों ही कुमार ब्रह्मदत्त और वरधनु सुरंग से बाहर निकले त्यों ही उन्हें घोड़ों पर चढ़ा दिया। वे दोनों वहां से चले। पचास योजन दूर जा कर ठहरे। लम्बी यात्रा के कारण घोड़े खिन्न हो कर गिर पड़े। अब वे दोनों वहां से पैदल चले। वे चलते-चलते वाराणसी पहुंचे। राजा कटक ने जब यह संवाद सुना, तब वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसने पूर्ण सम्मान से कुमार ब्रह्मदत्त का नगर में प्रवेश करवाया। अपनी पुत्री कटकावती से उसका विवाह किया। राजा कटक ने दूत भेजकर सेना सहित पुष्पचूल को बुला लिया। मन्त्री धनु और राजा कणेरदत्त भी वहां आ पहुंचे। और भी अनेक राजा मिल गए। उन सबने वरधनु को सेनापति के पद पर नियुक्त कर कांपिल्यपुर पर चढ़ाई कर दी। घमासान युद्ध हुआ। राजा दीर्घ मारा गया। "चक्रवर्ती की विजय हुई"—यह घोष चारों ओर फैल गया। देवों ने आकाश से फूल बरसाए। "बारहवां चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ है"—यह नाद हुआ। सामन्तों ने कुमार ब्रह्मदत्त का चक्रवर्ती के रूप में अभिषेक किया।

राज्य का परिपालन करता हुआ ब्रह्मदत्त सुखपूर्वक रहने लगा। एक बार एक नट आया। उसने राजा से प्रार्थना की—"मैं आज मधुकरी गीत नामक नाट्य-विधि का प्रदर्शन करना चाहता हूं।" चक्रवर्ती ने स्वीकृति दे दी। अपरान्ह में नाटक होने लगा। उस समय एक कर्मकरी ने फूल-मालाएं लाकर राजा के सामने रखीं। राजा ने उन्हें देखा और मधुकरी गीत सुना। तब चक्रवर्ती के मन में एक विकल्प उत्पन्न हुआ—"ऐसा नाटक उसके पहले भी इसने कहीं देखा है।" वह इस चिन्तन में लीन हुआ और उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई। उसने जान लिया कि ऐसा नाटक मैंने सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान में देखा था।

इसकी स्मृति मात्र से वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। पास में बैठे हुए सामन्त उठे, चन्दन का लेप किया। राजा की चेतना लौट आई। सम्राट् आश्वस्त हुआ। पूर्वजन्म के भाई की याद सताने लगी। उसकी खोज करने के लिए एक मार्ग ढूंढा। रहस्य को छिपाते हुए सम्राट् ने महामात्य वरधनु से कहा—**"आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा"**—इस श्लोकार्द्ध को सब जगह प्रचारित करो और यह घोषणा करो कि इस श्लोक की पूर्ति करने वाले को सम्राट् अपना आधा राज्य देगा। प्रतिदिन यह घोषणा होने लगी। यह अर्द्धश्लोक दूर-दूर तक प्रसारित हो गया और व्यक्ति-व्यक्ति को कण्ठस्थ हो गया।

इधर चित्र का जीव देवलोक से च्युत हो कर पुरिमताल नगर में एक इभ्य सेठ के घर जन्मा। युवा हुआ। एक दिन पूर्वजन्म की स्मृति हुई और वह मुनि बन गया। एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते-करते वहीं कांपिल्यपुर में आया और मनोरम नाम के कानन में ठहरा। एक दिन वह कायोत्सर्ग कर रहा था। उसी समय रहंट को चलाने वाला एक व्यक्ति वहां बोल उठा—

**"आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा।"**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि ने यह सुना और उसके आगे के दो चरण पूरा करते हुए कहा—

**"एषा नौ षष्ठिका जातिः, अन्योन्याभ्यां वियुक्तयोः।।"**

रहंट चलाने वाले उस व्यक्ति ने उन दोनों चरणों को एक पत्र में लिखा और आधा राज्य पाने की खुशी में वह दौड़ा-दौड़ा राज-दरबार में पहुंचा। सम्राट् की अनुमति प्राप्त कर वह राज्यसभा में गया और एक ही सांस में पूरा श्लोक सम्राट् को सुना डाला। उसे सुनते ही सम्राट् स्नेहवश मूर्च्छित हो गया। सारी सभा क्षुब्ध हो गई। सभासद् क्रुद्ध हुए और उसे पीटने लगे। उन्होंने कहा—"तू ने सम्राट् को मूर्च्छित कर दिया। यह कैसी तेरी श्लोक-पूर्ति?" मार पड़ी तब वह बोला—"मुझे मत मारो। श्लोक की पूर्ति मैंने नहीं की है।" "तो किसने की है?"—सभासदों ने पूछा। वह बोला—"मेरे रहंट के पास खड़े एक मुनि ने की है।" अनुकूल उपचार पाकर सम्राट् सचेतन हुआ। सारी बात की जानकारी प्राप्त कर वह मुनि के दर्शन के लिए सपरिवार चल पड़ा। कानन में पहुंचा। मुनि को देखा। वन्दना कर विनयपूर्वक उनके पास बैठ गया। बिछुड़ा हुआ योग पुनः मिल गया। अब वे दोनों भाई सुख-दुःख के फल-विपाक की चर्चा करने लगे। यही चर्चा इस अध्ययन में प्रतिपादित है।[1] बौद्ध ग्रंथों में भी इस कथा का प्रकारांतर से उल्लेख मिलता है।[2]

१. कथा के विस्तार के लिए देखें—सुखबोधा, पत्र १८५-१९७।

२. चित्र-संभूत जातक संख्या ४९८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तेरसमं अज्झयणं : तेरहवां अध्ययन
## चित्तसंभूइज्जं : चित्र-संभूतीय

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. जाईपराजिओ खलु<br>कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि।<br>चुलणीए बंभदत्तो<br>उववन्नो पउमगुम्माओ।। | *जातिपराजितः खलु*<br>*अकार्षीत् निदानं तु हस्तिनापुरे।*<br>*चुलन्यां ब्रह्मदतः*<br>*उपपन्नः पद्मगुल्मात्।।* | जाति से पराजित हुए संभूत ने हस्तिनापुर में[1] निदान[2] (चक्रवर्ती होऊं—ऐसा संकल्प) किया। वह सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान मे देव बना। वहां से च्युत होकर चुलनी की कोख में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न हुआ। |
| २. कंपिल्ले संभूओ<br>चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि।<br>सेट्ठिकुलम्मि विसाले<br>धम्मं सोऊण पव्वइओ।। | *काम्पिल्ये सम्भूतः*<br>*चित्रः पुनर्जातः पुरिमताले।*<br>*श्रेष्ठिकुले विशाले*<br>*धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजितः।।* | संभूत काम्पिल्य नगर में[3] उत्पन्न हुआ। चित्र पुरिमताल में[4] एक विशाल श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न हुआ। वह धर्म सुन प्रव्रजित हो गया। |
| ३. कंपिल्लम्मि य नयरे<br>समागया दो वि चित्तसंभूया।<br>सुहदुक्खफलविवागं<br>कहेंति ते एक्कमेक्कस्स।। | *काम्पिल्ये च नगरे*<br>*समागतौ द्वावपि चित्रसम्भूतौ।*<br>*सुखदुःखफलविपाकं*<br>*कथयतस्तावेकैकस्य।।* | काम्पिल्य नगर में चित्र और सभूत दोनो मिले। दोनों ने परस्पर एक-दूसरे के सुख-दुःख के विपाक की बात की। |
| ४. चक्कवट्टी महिड्ढीओ<br>बंभदत्तो महायसो।<br>भायरं बहुमाणेणं<br>इमं वयणमब्बवी।। | *चक्रवर्ती महर्द्धिकः*<br>*ब्रह्मदत्तो महायशाः।*<br>*भ्रातरं बहुमानेन*<br>*इदं वचनमब्रवीत्।।* | महान् ऋद्धि-सम्पन्न और महान् यशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने बहुमानपूर्वक अपने भाई से इस प्रकार कहा— |
| ५. आसिमो भायरो दो वि<br>अन्नमन्नवसाणुगा।<br>अन्नमन्नमणूरत्ता<br>अन्नमन्नहिएसिणो।। | *आस्व भ्रातरौ द्वावपि*<br>*अन्योऽन्यवशानुगौ।*<br>*अन्योऽन्यमनुरक्तौ*<br>*अन्योऽन्यहितैषिणौ।।* | "हम दोनों भाई थे—एक दूसरे के वशवर्ती, परस्पर अनुरक्त और परस्पर हितैषी।" |
| ६. दासा दसण्णे आसी<br>मिया कालिंजरे नगे।<br>हंसा मयंगतीरे<br>सोवागा कासिभूमिए।। | *दासौ दशर्णेषु आस्व*<br>*मृगौ कालिंजरे नगे।*<br>*हंसौ मृतङ्गातीरे*<br>*श्वपाकौ काशीभूम्याम्।।* | "हम दोनों दशार्ण देश में दास, कालिंजर पर्वत पर हरिण, मृतगङ्गा के किनारे हंस और काशी देश में चांडाल थे।"[5] |
| ७. देवा य देवलोगम्मि<br>आसि अम्हे महिड्ढिया।<br>इमा नो छट्ठिया जाई<br>अन्नमन्नेण जा विणा।। | *देवौ च देवलोके*<br>*आस्वाऽऽवां महर्द्धिकौ।*<br>*इयं नौ षष्ठिका जातिः*<br>*अन्योऽन्येन या विना।।* | "हम दोनों सौधर्म देवलोक में महान् ऋद्धि वाले देव थे। यह हमारा छठा जन्म है, जिसमें हम एक-दूसरे से बिछुड़ गये।" |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. कम्मा नियाणप्पगडा
तुमे राय! विचिंतिया।
तेसिं फलविवागेण
विप्पओगमुवागया।।

*कर्माणि निदानप्रकृतानि*
*त्वया राजन्! विचिन्तितानि।*
*तेषां फलविपाकेन*
*विप्रयोगमुपागतौ।।*

(मुनि—) "राजन्! तू ने निदानकृत कर्मों का चिन्तन किया। उनके फल-विपाक से हम बिछुड़ गये।"

९. सच्चसोयप्पगडा
कम्मा मए पुरा कडा।
ते अज्ज परिभुंजामो
किं नु चित्ते वि से तहा?।।

*सत्यशौचप्रकृतानि*
*कर्माणि मया पुराकृतानि।*
*तान्यद्य परिभुंजे*
*किन्नु चित्रोऽपि तानि तथा?।।*

(चक्री—) "चित्र! मैंने पूर्वजन्म में सत्य और शौचमय[4] शुभ अनुष्ठान किये थे। आज मैं उनका फल भोग रहा हूं। क्या तू भी वैसा ही भोग रहा है?"

१०. सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं
कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहिं
आया ममं पुण्णफलोववेए।।

*सर्वं सुचीर्णं सफलं नराणां*
*कृतेभ्यः कर्मभ्यो न मोक्षोऽस्ति।*
*अर्थैः कामैश्चोत्तमैः*
*आत्मा मम पुण्यफलोपेतः।।*

(मुनि—) "मनुष्यों का सब सुचीर्ण सफल होता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना मोक्ष (उससे छुटकारा) नहीं होता। मेरी आत्मा उत्तम अर्थ और कामों के द्वारा पुण्य-फल से युक्त है।"

११. जाणासि संभूय! महाणुभागं
महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं।
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं!
इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया।।

*जानासि सम्भूत! महानुभागं*
*महर्द्धिकं पुण्यफलोपेतम्।*
*चित्रमपि जानीहि तथैव राजन्!*
*ऋद्धिर्द्युतिस्तस्यापि च प्रभूता।।*

"संभूत! जिस प्रकार तू अपने को महानुभाग (अचिंत्य-शक्ति) सम्पन्न, महान् ऋद्धिमान् और पुण्य-फल से युक्त मानता है, उसी प्रकार चित्र को भी जान। राजन्! उसके भी प्रचुर ऋद्धि और द्युति थी।"

१२. महत्थरूवा वयणप्पभूया
गाहाणुगीया नरसंघमज्झे।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया
इहऽज्जयंते समणोम्हि जाओ।।

*महार्थरूपा वचनाऽल्पभूता*
*गाथाऽनुगीता नरसंघमध्ये।*
*यां भिक्षवः शीलगुणोपेताः*
*इहार्जयन्ति श्रमणोऽस्मि जातः।।*

"स्थविरों ने जन समुदाय के बीच अल्पाक्षर और महान् अर्थ वाली जो गाथा गाई, जिसे शील और श्रुत से सम्पन्न भिक्षु बड़े यत्न से अर्जित करते हैं, उसे सुनकर मैं श्रमण हो गया।"[3]

१३. उच्चोयए महु कक्के य बंभे
पवेइया आवसहा य रम्मा।
इमं गिहं चित्त! धणप्पभूयं
पसाहि पंचालगुणोववेयं।।

*उच्चोदयो मधुः कर्कश्च ब्रह्मा*
*प्रवेदिता आवसथाश्च रम्याः।*
*इदं गृहं चित्र! प्रभूतधनं*
*प्रशाधि पञ्चालगुणोपेतम्।।*

(चक्री—) "उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य और ब्रह्मा—ये प्रधान प्रासाद[5] तथा दूसरे अनेक रम्य प्रासाद हैं। चित्र! पंचाल देश की विशिष्ट वस्तुओं से युक्त और प्रचुर धन से पूर्ण[6] यह घर है—इसका तू उपभोग कर।"

१४. नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं
नारीजणाइं परिवारयंतो।
भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू!
मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं।।

*नाट्यैर्गीतैश्च वादित्रैः*
*नारीजनान् परिवारयन्।*
*भुङ्क्ष्व भोगानिमान् भिक्षो!*
*मह्यं रोचते प्रव्रज्या खलु दुःखम्।।*

"हे भिक्षु! तू नाट्य[10], गीत और वाद्यों के साथ नारी-जनों को परिवृत करता हुआ इन भोगों को भोग। यह मुझे रुचता है। प्रव्रज्या वास्तव में ही कष्टकर है।"

१५. तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं
नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं।
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही
चित्तो इमं वयणमुदाहरित्था।।

*तं पूर्वस्नेहेन कृतानुरागं*
*नराधिपं कामगुणेषु गृद्धम्।*
*धर्माश्रितस्तस्य हितानुप्रेक्षी*
*चित्र इदं वचनमुदाहार्षीत्।।*

धर्म में स्थित और उस (राजा) का हित चाहने वाले चित्र मुनि ने पूर्वभव के स्नेह-वश अपने प्रति अनुराग रखने वाले कामगुणों में आसक्त राजा से यह वचन कहा—

१६. सव्वं विलवियं गीयं
सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा
सव्वे कामा दुहावहा।।

*सर्वं विलपितं गीतं*
*सर्वं नाट्यं विडम्बितम्।*
*सर्वाण्याभरणानि भाराः*
*सर्वे कामा दुःखावहाः।।*

सब गीत विलाप हैं, सब नाट्य विडम्बना हैं, सब आभरण भार हैं और सब काम-भोग दुःखकर हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७.बालाभिरामेसु दुहावहेसु
न तं सुहं कामगुणेसु रायं!
विरत्तकामाण तवोधणाणं
जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं।।

*बालाभिरामेषु दुःखावहेषु*
*न तत्सुखं कामगुणेषु राजन्!।*
*विरक्तकामानां तपोधनानां*
*यद् भिक्षूणां शीलगुणे रतानाम्।।*

"राजन्! अज्ञानियों के लिए रमणीय और दुःखकर काम-गुणों में वह सुख नहीं है, जो सुख कामों से विरक्त, शील और गुणों में रत तपोधन भिक्षु को प्राप्त होता है।"

१८.नरिंद! जाई अहमा नराणं
सोवागजाई दुहओ गयाणं।
जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा
वसीय सोवागनिवेसणेसु।।

*नरेन्द्र! जातिरधमा नराणां*
*श्वपाकजातिर्द्वयोः गतयोः।*
*यस्यामावां सर्वजनस्य द्वेष्यौ*
*अवसाव श्वपाकनिवेशनेषु।।*

"नरेन्द्र! मनुष्यों में चांडाल-जाति अधम है। उसमें हम दोनों उत्पन्न हो चुके हैं। वहां हम चाण्डालों की बस्ती में रहते थे और सब लोग हमसे द्वेष करते थे।"

१९.तीसे य जाईइ उ पावियाए
वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु।
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा
इहं तु कम्माइं पुरेकडाइं।।

*तस्यां च जातौ तु पापिकायाम्*
*उषितौ श्वपाकनिवेशनेषु।*
*सर्वस्य लोकस्य जुगुप्सनीयौ*
*इह तु कर्माणि पुराकृतानि।।*

"दोनों ने कुत्सित चाण्डाल जाति में जन्म लिया और चांडालों की बस्ती में निवास किया।[१२] सब लोग हमसे घृणा करते थे। इस जन्म में जो उच्चता प्राप्त हुई है, वह पूर्वकृत शुभ कर्मों का फल है।"

२०.सो दाणिसिं राय! महाणुभागो
महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ।
चइत्तु भोगाइ असासयाइं
आयाणहेउं अभिणिक्खमाहि।।

*स इदानीं राजन्! महानुभागः*
*महर्द्धिकः पुण्यफलोपेतः।*
*त्यक्त्वा भोगानशाश्वतान्*
*आदानहेतोरभिनिष्क्राम।।*

हे राजन्! वर्तमान में[१३] "उसी के कारण वह तू महान् अनुभाग (अचिन्त्य-शक्ति) सम्पन्न, ऋद्धिमान् और पुण्य-फल युक्त राजा बना है। इसलिए तू अशाश्वत भोगों को छोड़कर आदान—चारित्र धर्म की[१४] आराधना के लिए अभिनिष्क्रमण कर।"

२१.इह जीविए राय! असासयम्मि
धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए
धम्मं अकाऊण परंसि लोए।।

*इह जीविते राजन्! अशाश्वते*
*'धणियं' तु पुण्यान्यकुर्वाणः।*
*स शोचति मृत्युमुखोपनीतः*
*धर्ममकृत्वा परस्मिल्लोके।।*

"राजन्! जो इस अशाश्वत जीवन में प्रचुर[१५] शुभ अनुष्ठान[१६] नहीं करता, वह मृत्यु के मुंह में जाने पर पश्चात्ताप करता है और धर्म की आराधना नहीं होने के कारण परलोक में भी पश्चात्ताप करता है।"

२२.जहेह सीहो व मियं गहाय
मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया
कालम्मि तम्मिंसहरा भवंति।।

*यथेह सिंहो व मृगं गृहीत्वा*
*मृत्युर्नरं नयति खलु अन्तकाले।*
*न तस्य माता वा पिता वा भ्राता*
*काले तस्यांशधरा भवन्ति।।*

"जिस प्रकार सिंह हरिण को पकड़ कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्तकाल में मृत्यु मनुष्य को ले जाती है। काल आने पर उसके माता-पिता या भाई अंशधर[१७] नहीं होते—अपने जीवन का भाग दे कर बचा नहीं पाते।"

२३.न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ
न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं
कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं।।

*न तस्य दुःखं विभजन्ति ज्ञातयः*
*न मित्रवर्गा न सुता न बान्धवाः।*
*एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखं*
*कर्तारमेवानुयाति कर्म।।*

ज्ञाति, मित्र-वर्ग, पुत्र और बान्धव[१८] उसका दुःख नहीं बंटा सकते। वह स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है। क्योंकि कर्म कर्ता का अनुगमन करता है।[१९]

२४.चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ
परं भवं सुंदर पावगं वा।।

*त्यक्त्वा द्विपदं च चतुष्पदं च*
*क्षेत्रं गृहं धन-धान्यं च सर्वम्।*
*कर्मात्मद्वितीयोऽवशः प्रयाति*
*परं भवं सुन्दरं पापकं वा।।*

यह पराधीन आत्मा द्विपद, चतुष्पद, खेत, घर, धान्य, वस्त्र आदि सब कुछ छोड़ कर केवल अपने किये कर्मों को साथ लेकर सुखद या दुःखद पर-भव में जाता है।

२५.तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से
चिईगयं डहिय उ पावगेणं।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य
दायारमन्नं अणुसंकमंति।।

*तदेककं तुच्छशरीरकं तस्य*
*चितिगतं दग्ध्वा तु पावकेन।*
*भार्या च पुत्रोपि च ज्ञातयश्च*
*दातारमन्यमनुसङ्क्रमन्ति।।*

उस अकेले और असार शरीर को अग्नि से चिता में जलाकर स्त्री, पुत्र और ज्ञाति किसी दूसरे दाता (जीविका देने वाले) के पीछे चले जाते हैं।[२०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६.उवणिज्जई जीवियमप्पमायं
वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं!।
पंचालराया! वयणं सुणाहि
मा कासि कम्माइं महालयाइं।।

*उपनीयते जीवितमप्रमादं*
*वर्णं जरा हरति नरस्य राजन्!।*
*पञ्चालराज! वचनं शृणु*
*मा कार्षीः कर्माणि महान्ति।।*

"राजन्! कर्म बिना भूल किए (निरन्तर) जीवन को मृत्यु के समीप ले जा रहे हैं। बुढ़ापा मनुष्य के वर्ण (सुस्निग्ध कांति) का हरण कर रहा है। पंचालराज! मेरा वचन सुन। प्रचुर कर्म[२१] मत कर।"

२७.अहं पि जाणामि जहेह साहू!
जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।
भोगा इमे संगकरा हवंति
जे दुज्जया अज्जो! अम्हारिसेहिं।।

*अहमपि जानामि यथेह साधो!*
*यन्मम त्वं साधयसि वाक्यमेतत्।*
*भोगा इमे सङ्गकरा भवंति*
*ये दुर्जया आर्य! अस्मादृशैः।।*

(चक्री—) "साधो! तू जो मुझे यह वचन जैसे कह रहा है, वैसे मैं भी जानता हूं कि ये भोग आसक्तिजनक होते हैं। किन्तु हे आर्य! हमारे जैसे व्यक्तियों के लिए ये दुर्जय हैं।"

२८.हत्थिणपुरम्मि चित्ता!
दट्ठूणं नरवइं महिड्ढियं।
कामभोगेसु गिद्धेणं
नियाणमसुहं कडं।।

*हस्तिनापुरे चित्र!*
*दृष्ट्वा नरपतिं महर्द्धिकम्।*
*कामभोगेषु गृद्धेन*
*निदानमशुभं कृतम्।।*

"चित्र मुने! हस्तिनापुर में महान् ऋद्धि वाले चक्रवर्ती (सनत्कुमार) को देख भोगों में आसक्त होकर मैंने अशुभ निदान (भोग-संकल्प) कर डाला।"

२९.तस्स मे अपडिकंतस्स
इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं
कामभोगेसु मुच्छिओ।।

*तस्य मेऽप्रतिक्रांतस्य*
*इदमेतादृशं फलम्।*
*जानन्नपि यद् धर्मं*
*कामभोगेषु मूर्च्छितः।।*

"उसका मैंने प्रतिक्रमण (प्रायश्चित्त) नहीं किया। उसी का यह ऐसा फल है कि मैं धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगों में मूर्च्छित हो रहा हूं।"

३०.नागो जहा पंकजलावसन्नो
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो।।

*नागो यथा पङ्कजलावसन्नः*
*दृष्ट्वा स्थलं नाभिसमेति तीरम्।*
*एवं वयं कामगुणेषु गृद्धाः*
*न भिक्षोर्मार्गमनुव्रजामः।।*

"जैसे पंक-जल (दलदल) में फंसा हुआ हाथी स्थल को देखता हुआ भी किनारे पर नहीं पहुंच पाता, वैसे ही काम-गुणों में आसक्त बने हुए हम श्रमण-धर्म को जानते हुए भी उसका अनुसरण नहीं कर पाते।"

३१.अच्चेइ कालो तूरंति राइओ
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयंति
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी।।

*अत्येति कालस्त्वरन्ते रात्रयः*
*न चापि भोगाः पुरुषाणां नित्याः।*
*उपेत्य भोगाः पुरुषं त्यजन्ति*
*द्रुमं यथा क्षीणफलमिव[२२] पक्षी।।*

(मुनि—) "जीवन बीत रहा है। रात्रियां दौड़ी जा रही हैं। मनुष्यों के भोग भी नित्य नहीं हैं। वे मनुष्य को प्राप्त कर उसे छोड़ देते हैं, जैसे क्षीण फल वाले वृक्ष को पक्षी।"

३२.जइ ता सि भोगे चइउं असत्तो
अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं!।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकंपी
तो होहिसि देवा इओ विउव्वी।।

*यदि तावदसि भोगान् त्यक्तुमशक्तः*
*आर्याणि कर्माणि कुरु राजन्!।*
*धर्मे स्थितः सर्वप्रजानुकम्पी*
*तस्माद् भविष्यसि देव इतो वैक्रियी।।*

"राजन्! यदि तू भोगों का त्याग करने में असमर्थ है तो आर्य-कर्म कर। धर्म में स्थित होकर सब जीवों की अनुकम्पा करने वाला बन, जिससे तू जन्मान्तर में वैक्रिय शरीर वाला देव होगा।"

३३.न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी
गिद्धो सि आरंभपरिग्गहेसु।
मोहं कओ एत्तिउ विप्पलावो
गच्छामि रायं! आमंतिओ सि।।

*न तव भोगान् त्यक्तुं बुद्धिः*
*गृद्धोसि आरम्भपरिग्रहेषु।*
*मोघं कृत एतावान् विप्रलापः*
*गच्छामि राजन्! आमन्त्रितोऽसि।।*

"तुझ में भोगों को त्यागने की बुद्धि नहीं है। तू आरम्भ और परिग्रह में[२३] आसक्त है। मैंने व्यर्थ ही इतना प्रलाप किया। तुझे आमंत्रित (सम्बोधित) किया। राजन्! अब मैं जा रहा हूं।"

३४.पंचालराया वि य बंभदत्तो
साहुस्स तस्स वयणं अकाउं।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे
अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो।।

*पञ्चालराजोपि च ब्रह्मदत्तः*
*साधोस्तस्य वचनमकृत्वा।*
*अनुत्तरान् भुक्त्वा कामभोगान्*
*अनुत्तरे स नरके प्रविष्टः।।*

पंचाल जनपद के राजा ब्रह्मदत्त ने मुनि के वचन का पालन नहीं किया। वह अनुत्तर काम भोगों को भोग कर अनुत्तर (अप्रतिष्ठान) नरक में गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो
उदग्गचारित्ततवो महेसो।
अणुत्तरं संजम पालइत्ता
अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ।।

*चित्रोपि कामेभ्यो विरक्तकामः*
*उदग्रचारित्रतपा महर्षिः।*
*अनुत्तरं संयमं पालयित्वा*
*अनुत्तरां सिद्धिगतिं गतः।।*

कामना से विरक्त और उदात्त चारित्र-तप वाला महर्षि चित्र अनुत्तर संयम का पालन कर अनुत्तर सिद्धिगति को प्राप्त हुआ।[२१]

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन १३ : चित्र-संभूतीय

### १. हस्तिनापुर में (हत्थिणपुरम्मि)

वर्तमान में इसकी पहचान हस्तिनापुर गांव से की जाती है। यह मेरठ जिले के मवाना तहसील में मेरठ से बाईस मील उत्तर-पूर्व में स्थित है।

विशेष विवरण के लिए देखें—परिशिष्ट ५।

### २. निदान (नियाणं)

निदान का अर्थ है—पौद्गलिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला संकल्प। यह आर्त्तध्यान के चार भेदों में से चौथा भेद है। दशाश्रुतस्कंध दशा १० में इसका विस्तृत वर्णन प्राप्त है।

प्रस्तुत प्रसंग में मुनि संभूत द्वारा किए गए निदान का उल्लेख है। नमुचि से पराजित होकर मुनि संभूत ने तेजोलेश्या का प्रयोग किया। सारा नगर अन्धकारमय हो गया। पौरजन भयभीत हो गए। चक्री सनत्कुमार और पौरजन मुनि के पास आए। अनुनय-विनय कर तेजोलेश्या के संहरण की प्रार्थना की। चक्रवर्ती की पत्नी सुनन्दा मुनि के चरणों में गिर पड़ी। उसके केशों के सुखद और कोमल स्पर्श से मुनि विचलित हो गए। उन्होंने निदान किया—यदि मेरी तपस्या का फल है तो मैं अगले जन्म में चक्रवर्ती बनूं।

पूरे कथानक के लिए देखें—आमुख।

### ३. कांपिल्य नगर में (कंपिल्ले)

उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में फतेहगढ़ से अठाइस मील उत्तर-पूर्व गंगा के समीप कांपिल गांव है। कांपिल्य की पहचान इसी गांव से की जाती है।

विशेष विवरण के लिए देखें—परिशिष्ट ५।

### पुरिमताल में ( पुरिमतालम्मि)

मानभूम के पास 'पुरुलिया' नाम का गांव है। यह अयोध्या का शाखा-नगर है। माना जाता है कि यही पुरिमताल है।

विशेष विवरण के लिए देखें—परिशिष्ट ५।

### ४. (श्लोक ६)

**दसण्णे**—दशार्ण देश। बुंदेलखंड और केन नदी का प्रदेश दशार्ण माना जाता है। इस नाम के दो देश मिलते हैं—पूर्व दशार्ण और पश्चिम दशार्ण। पूर्व दशार्ण मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ जिले में माना जाता है। पश्चिम दशार्ण में भोपाल राज्य और पूर्व मालव का समावेश होता है।

**कालिंजरे नगे**—कालिंजर पर्वत। यह बांदा के पूरब में स्थित एक पहाड़ है। यह तीर्थस्थान भी माना जाता है।

**मयंगतीरे**—मृतगंगा के किनारे। चूर्णि और सर्वार्थसिद्धि के अनुसार गंगा प्रति वर्ष नए-नए मार्ग से समुद्र में जाती है। जो मार्ग चिर-त्यक्त हो—बहते-बहते गंगा ने जो मार्ग छोड़ दिया हो—उसे मृतगंगा कहा जाता है।[1]

**कासिभूमिए**—काशी देश में। काशी जनपद पूर्व में मगध, पश्चिम में वत्स, उत्तर में कौशल और दक्षिण में 'सोन' नदी तक विस्तृत था। इसकी राजधानी थी वाराणसी। आज बनारस को ही काशी कहा जाता है।

विशेष विवरण के लिए देखें—परिशिष्ट ५।

### ५. सत्य और शौचमय (सच्चसोय.....)

चूर्णिकार ने सत्य के दो अर्थ किए हैं—सबके लिए हितकर और संयम। शौच शब्द के तीन अर्थ प्राप्त हैं—विशुद्धि, मायारहित अनुष्ठान अर्थात् व्रतों का स्वीकरण और तप।[2]

वृत्ति में सत्य का अर्थ है—मृषा भाषा का परिहार और शौच का अर्थ है—मायारहित अनुष्ठान।[3]

### ६. (श्लोक १०)

प्रस्तुत श्लोक का वाक्य है—कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि—किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। प्रश्न होता है—क्या सभी कर्मों का फल भुगतना पड़ता है? चूर्णिकार का मत है कि जो कर्म निधत्ति और निकाचित रूप में बद्ध है, उन्हें भोगना ही पड़ता है।[4] शेष कर्मों को बदला जा सकता है—उनके रस को मंद और स्थिति को कम किया जा सकता है।

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१५ : मतगंगा—हेट्ठाभूमीए गंगा, अण्णमण्णेहिं मग्गेहिं जेण पुव्वं वोढूणं पच्छा ण वहति सा मतगंगा भण्णति।
(ख) सर्वार्थसिद्धि, पृ० २६१ :
गंगा विशति पाथोधिं, वर्षे वर्षे पराध्वना।
वाहस्तत्रचिरात् त्यक्तो, मृतगंगेति कथ्यते।।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१५।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३८४।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१५ : बद्धपुव्वा णिधत्तणिकाइयाणं ण मोक्खो अत्थि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु कर्म-सिद्धांत के अनुसार चूर्णि का यह मंतव्य विचारणीय है। निधत्ति में उद्वर्तना और अपवर्तना—दोनों होते हैं। निकाचित में कोई परिवर्तन नहीं होता।

## ७. (श्लोक १२)

**वयणप्पभूया**—इसके संस्कृत रूप 'वचनाऽल्पभूता' या 'वचनाल्पभूता'—दोनों हो सकते हैं। दोनों का अर्थ है—अल्पाक्षर वाली।[1]

**सीलगुणोववेया**—इसका अर्थ है—शील और श्रुत से सम्पन्न। शील और गुण—इन दो शब्दों का अर्थ 'अपृथक्' और 'पृथक्'—दोनों रूप से किया जा सकता है। वृत्तिकार ने 'शील' का अर्थ चारित्र कर उसी को गुण माना है—चारित्र रूप गुण। विकल्प में उन्होंने गुण का अर्थ श्रुत किया है।[2]

विशेषावश्यक भाष्य में 'चरणगुण' शब्द प्रयुक्त है। वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्र ने इन दोनों शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की है-[3]

चरण—महाव्रत, श्रमण-धर्म आदि मूलगुण अथवा सर्वचारित्र या देशचारित्र।

गुण—उत्तरगुण अथवा दर्शन और ज्ञान।

**अज्जयंते**—यह क्रियापद है। बृहद्वृत्तिकार ने 'अज्जयंते' (अर्जयन्ति) या 'जयंते' (यतन्ते)—इन दोनों की व्याख्या की है। 'अर्जयन्ति' अर्थात् पठन, श्रवण और अनुष्ठान द्वारा प्राप्त करते हैं 'यतन्ते' क्रिया मानने पर तीसरे चरण का अनुवाद होगा—जिसे सुनकर चारित्रगुणयुक्त भिक्षु जिन-प्रवचन में यत्न करते हैं।[4]

## ८. प्रासाद (आवसहा)

प्रस्तुत श्लोक में मूलतः चार प्रकार के प्रासादों का उल्लेख है—उच्चोदय, मधु, कर्क और ब्रह्म। श्लोक के प्रथम चरण में प्रयुक्त 'च' से 'मध्य' नामक प्रासाद का ग्रहण अभिप्रेत है। चूर्णि और वृत्ति में इन पांचों प्रासादों का नामोल्लेख है, पर इनका स्वरूप-विमर्श नहीं है। इन पांच भवनों के अतिरिक्त भवन चक्रवर्ती जहां चाहते हैं उसी स्थान में वर्धकिरत्न द्वारा तैयार हो जाते हैं।[5]

हरमन जेकोबी ने 'उच्चोदए' शब्द को तोड़कर 'उच्च' और 'उदय'—नाम के प्रासाद मानकर पांच की संख्या पूरी की है। उन्होंने 'मध्य' नामक प्रासाद को नहीं माना है।[6]

## ९. चित्र !...प्रचुर धन से पूर्ण (चित्त ! धणप्पभूयं)

वृत्तिकार ने 'चित्तधणप्पभूयं' ऐसा पद मानकर इसका संस्कृत रूप 'प्रभूतचित्रधनं' दिया है। उन्होंने 'चित्र' के दो अर्थ किए हैं—आश्चर्यकारी अथवा अनेक प्रकार का।[7]

वास्तव में यहां 'चित्त' (सं० चित्र) शब्द संबोधन है और 'धणप्पभूयं' गृह का विशेषण है।

जेकोबी ने भी यही मानकर अपने मत के समर्थन में ल्यूमेन को साक्ष्य माना है।[8]

## १०. नाट्य (नट्टेहि)

शान्त्याचार्य ने नट्ट की व्याख्या नाट्य और नृत्य इन दोनों रूपों में की है। जिसमें बत्तीस पात्र हों, वह 'नाट्य' होता है। जिसमें अंगहार (अंगविक्षेप) की प्रधानता हो, वह 'नृत्य' होता है।[9]

भारतीय नृत्य के तीन विभाग हैं—नाट्य, नृत्य और नृत्त।

**नाट्य**—किसी रस-मूलक अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं। नाट्य के आठ रस होते हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। नवां शान्तरस नाट्य में नगण्य है। रस का आधार है भाव। भाव के उद्दीप्त होने पर रस की सृष्टि होती है।

नाट्य की अवस्थानुकृति चार प्रकार के साधनों से होती है—

(१) आंगिक—हाथ-पैर का संचालन। इसके अन्तर्गत मुद्राएं हैं।

(२) वाचिक—स्वर, वाणी तथा भाव का अनुकरण।

(३) आहार्य—वेशभूषा का अनुकरण।

(४) सात्त्विक—सात्त्विक भावों का अनुकरण।

सात्त्विक भाव आठ हैं—

(१) स्तम्भ—अंग-संचालन शक्ति का लोप होना

(२) प्रलय—संज्ञा का लोप होना।

(३) रोमांच—रोंगटे खड़े होना।

(४) स्वेद—पसीना छलकना।

(५) वैवर्ण्य—रंग बदलना।

(६) वेपथु—कंपकंपी।

(७) अश्रु—आंसू बहाना।

(८) वैस्वर्य—स्वर विकृत होना।

**नृत्य**—भाव-मूलक अवस्थानुकृति को 'नृत्य' कहते हैं। भाव मन के विकार को कहते हैं। भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायीभाव और संचारीभाव। स्थायीभाव हृदय पर देर तक अंकित रहते हैं। संचारीभाव तरंगों की भांति थोड़े काल के लिए उठते हैं। इनकी संख्या तेतीस कही गई है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३८५।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३८५ : शीलं चारित्रं, तदेव गुणः, यद् वा गुणः पृथगेव ज्ञानम्। ततः शीलगुणेन शीलगुणाभ्यां वा चारित्रज्ञानाभ्याम्।

३. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १, शिष्यहिता व्याख्या, पृ० २।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३८५ : अज्जयंते त्ति अर्जयन्ति पठनश्रवणतदर्थानुष्ठानादिभिरावर्जयन्ति। यद्वा 'जं भिक्खुणो' इत्यत्र श्रुत्वेति शेषः, ततो यां श्रुत्वां 'जयंत' त्ति इह—अस्मिन् जिनप्रवचने 'यतन्ते' यत्नवन्तो भवन्ति।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१६।

६. जैन सूत्राज, पृ० ५८।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३८६ : चित्तधणप्पभूयं ति तत्र प्रभूतं—बहुचित्रम्—आश्चर्यमनेकप्रकारं वा धनमस्मिन्निति प्रभूतचित्रधनं, सूत्रे तु प्रभूतशब्दस्य परनिपातः।

८. जैन सूत्राज, पृ० ५८, फुटनोट नं १।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ३८६ : 'णट्टेहिं' ति द्वात्रिंशत्पात्रोपलक्षितैर्नाट्यैर्नृत्यैर्वा—विविधाङ्गहारादिस्वरूपैः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**नृत्त**—लय तथा तालमूलक अवस्थाकृति को 'नृत्त' कहते हैं। नृत्य और नृत्त मूक होते हैं। इनमें वाचिक साधन का प्रयोग नहीं होता। मूक नृत्य की भाषा अनुभाव (सात्त्विक-भाव) और मुद्राएं हैं। नृत्य द्वारा भाव-प्रदर्शन होता है और नृत्त द्वारा लय और ताल-प्रदर्शन होता है।

## ११. (श्लोक १६)

प्रस्तुत श्लोक में जिन चार बातों का कथन किया गया है, यह सापेक्ष वक्तव्य है। यह विराग या परमार्थ की भूमिका का दृष्टिकोण है।

**(१) सव्वं विलवियं गीयं**—

"विलवियं" का अर्थ है—विलाप। वृत्तिकार ने विलाप के दो हेतु माने हैं—निरर्थकता और रुदनमूलकता। गीत विलाप इसलिए है कि वह मत्त बालकों की भांति निरर्थक होता है। वह विलाप इसलिए है कि वह विधवा या परदेशांतर गए हुए पति की पत्नी के रुदन से उद्भूत होता है, इसलिए वह रुदनधर्मा है।

नौकर अपने कुपित स्वामी को प्रसन्न करने के लिए जो-जो वचन कहता है, अपने आपको दास की भांति खड़ा रखकर, प्रणत होकर जो कुछ याचना करता है, वह सारा विलाप ही है। प्रोषितभर्तृका स्त्री और नौकर जो क्रियाएं करते हैं, वे सब गीत कहलाती हैं। क्या यह विलाप नहीं है? रोग से अभिभूत अथवा इष्ट के वियोग से दुःखी व्यक्ति क्या विलाप नहीं करता? उसी प्रकार जो गीत आदि गाते हैं, वे राग की वेदना से अभिभूत होकर गाते हैं। यह भी विलाप ही है।[1]

**(२) सव्वं नट्टं विडंबियं**—

चूर्णिकार ने विडंबना की व्याख्या इस प्रकार की है—जो स्त्री या पुरुष यक्षाविष्ट है, शत्रु पक्ष के द्वारा अवरुद्ध है अथवा पीकर उन्मत्त हो चुका है वह शरीर और वाणी से जो चेष्टाएं करता है, वे सारी विडंबना हैं। इसी प्रकार जो स्त्री या पुरुष अपने स्वामी के परितोष के लिए अथवा किसी धनवान् के द्वारा नियुक्त किए जाने पर शास्त्रीय विधि के अनुसार नाट्य का सहारा लेकर हाथ, पैर, नयन, होठ आदि का संचालन करता है—विविध प्रकार की मुद्राओं में हावभाव करता हुआ नाचता है, यह सारी विडंबना ही है।[2]

**(३) सव्वे आभरणा भारा**—

जो व्यक्ति किसी की आज्ञा का वशवर्ती होकर मुकुट आदि आभरण धारण करता है, वह भार का अनुभव करता हुआ पीड़ित होता है। जो दूसरों को विस्मित करने के लिए उन्हीं आभरणों को स्वयं धारण करता है तब कार्य की गुरुता को ध्यान में रखकर भार को महसूस नहीं करता। पर वे वास्तव में भारभूत ही होते हैं।[3]

एक श्रेष्ठिपुत्र की पुत्रवधू बहुत प्रेमालु और कोमलांगी थी। एक बार सासू ने कहा—बहू! चौक में जो पत्थर की लोढी पड़ी है, उसे उठा ला। वह बोली—'मां! वह बहुत भारी है, मैं उसे उठा नहीं सकती। पति ने सोचा—यह शारीरिक श्रम से जी चुरा रही है। उसने एक उपाय सोचा। उसने उस पत्थर पर स्वर्ण का झोल चढ़वाया और उसे गले के आभूषण का रूप दे दिया। उसे लेकर वह पत्नी के पास आकर बोला—मैं स्वर्ण का एक आभूषण लाया हूं। वह भारी अवश्य है, पर है सुन्दर और मूल्यवान्। पत्नी बोली—कोई चिन्ता नहीं है। मैं उसे गले में धारण कर लूंगी। उसने उसे गले में पहन लिया। वह भारी-भरकम था। गले के लिए आरामदेय भी नहीं था। पर था स्वर्ण का आभूषण। कुछ दिन बीते। एक दिन पति ने मुस्करा कर कहा—प्रिये! तुमने उस दिन कहा था कि पत्थर की लोढी भारी है, इसलिए उठा नहीं सकती। पर तुम बीस दिनों से उसी लोढी को गले में लटकाए घूम रही हो। क्या भार नहीं लगा? इतना सुनते ही वह लज्जित होकर अपने बहाने पर पश्चात्ताप करने लगी।'

## १२. दोनों ने.....निवास किया (वुच्छामु)

वृत्ति में 'वुच्छा' और 'मु' को अलग-अलग मानकर 'वुच्छा' का अर्थ निवास किया है और 'मु' का अर्थ—हम दोनों ने—किया है।[4]

## १३. वर्तमान में (दाणिसिं)

बृहद्वृत्तिकार ने 'सिं' को पद-पूर्ति के लिए माना है और वैकल्पिक रूप में 'दाणिसिं' को देशी भाषा का शब्द मानकर इसका अर्थ इदानीं—वर्तमान में किया है।[5]

## १४. आदान—चारित्र धर्म की (आयाण)

'आयाण' के संस्कृत रूप दो बनते हैं—आदान और आयान। आगमों में यह शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

| | |
|---|---|
| १. इन्द्रिय।[6] | ५. व्रतों का स्वीकार।[10] |
| २. ज्ञान आदि।[7] | ६. संयम।[11] |
| ३. मार्ग।[8] | ७. कर्म।[12] |
| ४. आदि—प्रथम।[9] | ८. चारित्र।[13] |

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१६, २१७।
२. वही, पृ० २१७।
३. वही, पृ० २१७।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३८७ : वुक्छे ति उषितौ, 'मु' इत्यावां।
५. वही, पत्र ३८७ : इदानीम् काले 'सि' ति पूरणे यद् वा 'दाणिसिं' ति देशीयभाषयेदानीम्।
६. (क) सूयगडो १।१२।२२ : आयाणगुत्ते वलयाविमुक्के।
(ख) आयारो ६।३५ : .....आयाणप्पभिइं सुपणिहिए चरे।
७. सूयगडो १।१४।१७ : आदाणमट्ठी वोदाणमोणं।
८. सूयगडो १।१।५३ : संति मे तओ आयाणा, जेहिं केरइ पावं।
९. अणुओगदाराइं, सूत्र ३१६ : से किं तं दसं नामे?.....—आयाणपएणं।
१०. सूयगडो २।७।२२ : समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए।
११. सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र २३५ : तथा मोक्षार्थिनाऽदीयते—गृह्यते इत्यादानं—संयमः।
१२. वही, पत्र २३५ : यदि वा मिथ्यात्वादिनादीयते इत्यादानं—अष्टप्रकारं कर्म।
१३. उत्तरज्झयणाणि १३।२० : आयाणहेउं अभिणिक्खमाहि।
चूर्णि पृ० २१८ : आदाणं णाम चारित्तं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. उपादान।[1]
१०. परिग्रह।[2]
११. ज्ञान, दर्शन और चरित्र।[3]

### १५. प्रचुर (धणियं)

यह देशीपद प्रचुर के अर्थ में प्रयुक्त है।

### १६. शुभ अनुष्ठान (पुण्णाइं)

यहां पुण्य पद धर्म के अर्थ में प्रयुक्त है। चौथे चरण में धर्म शब्द का प्रयोग भी है। 'पुव्वाइं अकुव्वमाणो' और 'धम्मं अकाऊण'—इन दोनों में संबद्धता है। पुण्य नौ पदार्थों में एक पदार्थ है। उसका अर्थ है—शुभ कर्म पुद्गल का उदय। यहां यह अर्थ प्रासंगिक नहीं है।

### १७. अंशधर (अंसहर)

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—अंशधर और अंशहर। 'अंशधर' का अर्थ है—अपने जीवन का अंश देकर मरते हुए को बचाने वाला। 'अंशहर' का अर्थ है—दुःख में भाग बंटाने वाला।[4]

### १८. ज्ञाति.....बांधव (नाइओ...बंधवा)

ज्ञाति और बन्धु—इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। जो दूरवर्ती स्वजन हैं, वे ज्ञाति कहलाते हैं। जो निकटवर्ती सगे-संबंधी हैं, वे बन्धु कहलाते हैं।[5]

### १९. (एक्को.....अणुजाइ कम्मं)

कर्मवाद का सिद्धांत है—प्राणी अकेला ही अपने दुःख और सुख का अनुभव करता है। कोई भी उसमें हिस्सा नहीं बंटाता। जैसे—वत्सो विन्दति मातरं—बछड़ा गाय के पीछे-पीछे चलता है, वैसे ही कर्म कर्ता का अनुगमन करता है। कर्म का सिद्धांत नितांत व्यक्तिवादी है। कर्म करने और भोगने में व्यक्ति केवल व्यक्ति रहता है। इस क्षेत्र में वह कभी सामुदायिक नहीं बनता।

### २०. दूसरे दाता के पीछे चले जाते हैं (दायारमन्नं अणुसंकमंति)

यह पद्यांश प्राचीन कौटुम्बिक परम्परा का द्योतक है। उस समय घर का मुखिया मर जाने पर, दूसरे को मुखिया बना लिया जाता था। घर का स्वामित्व उसी का हो जाता था।

व्यक्ति जब मर जाता है तब ज्ञातिजन उसे यथाशीघ्र श्मशान घाट ले जाना चाहते हैं। वे उस शव को श्मशान में ले जाकर लोकलाज से उसे जलाकर राख कर डालते हैं। वे फिर कुछ लौकिक कृत्य करते हैं, रोते हैं, विलाप करते हैं, फिर उसे विस्मृत कर अपने स्वार्थ-संपादन के लिए आजीविका देने वाले दूसरे दाता का आश्रय ले लेते हैं। फिर वे कभी उसकी बात भी नहीं करते, अनुगमन तो दूर रहा।

### २१. प्रचुर कर्म (कम्माइं महालयाइं)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—अनन्त और दीर्घ स्थिति वाले कर्म। उनको क्षीण करना कष्टसाध्य होता है, इसलिए दीर्घकाल तक उन्हें भोगना पड़ता है।[6]

वृत्ति में इसका मुख्य अर्थ प्रचुर या अनन्त है और वैकल्पिक अर्थ है—अत्यन्त चिकने कर्म, वैसे कर्म जिनका अनुभाग—आश्लेष बहुत सघन हो।[7]

### २२ (व)

'इव' अर्थ में चार अव्यय प्रयुक्त होते हैं—पिव, मिव, विव और व। यहां 'व इव अर्थ में प्रयुक्त है।'

### २३. आरंभ और परिग्रह में (आरंभ परिग्गहेसु)

आरम्भ और परिग्रह—यह एक युगल है। आरम्भ का अर्थ है—हिंसा और परिग्रह का अर्थ है—पदार्थ का संग्रह। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। परिग्रह हिंसामूलक होता है। हिंसा के लिए परिग्रह नहीं होता, परिग्रह के लिए हिंसा होती है, इसलिए हिंसा और परिग्रह साथ-साथ चलते हैं—हिंसा+परिग्रह, परिग्रह+हिंसा।

स्थानांग सूत्र में जीव को अनेक वस्तुओं की अनुपलब्धि के आरम्भ और परिग्रह को मुख्य हेतु माना है—आरंभे चेव परिग्गहे चेव।[8]

### २४. (श्लोक ३४-३५)

'अणुत्तर'—अनुत्तर शब्द दो श्लोकों में चार बार प्रयुक्त है। चौंतीसवें श्लोक में वह काम-भोग और नरक का विशेषण है। पैंतीसवें में वह संयम और सिद्धि-गति का विशेषण है। अनुत्तर का अर्थ है—प्रकृष्ट। ब्रह्मदत्त के काम-भोग प्रकृष्ट थे, इसलिए वह मर कर प्रकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट) नरक में उत्पन्न हुआ। स्थानांग में बताया गया है कि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मर कर सातवीं पृथ्वी अप्रतिष्ठान नामक नरक में गया।[9]

चित्र का संयम प्रकृष्ट था, इसलिए वह प्रकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट सुखमय) सिद्धिगति में गया।

---

१. आयारो ३।७३ : आयाणं (णिसिद्धा ?) सगडब्भि।
२. वही ६।५६ : एवं खु मुणी आयाणं.....।
वृत्ति पत्र २२१ : आदानं—वस्त्रं कर्म वा।
३. आचारांग चूर्णि, पत्र २१७ : आयाणं णाणादि तियं।
४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१८ : अंशो नाम दुःखभागः, तमस्य न हरन्ति, अहवा स्वजीवितांशेन ण तं मरंतं धारयंति।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३८८-३८९ : अंशं—प्रक्रमाज्जीवितव्यभागं धारयंति—मृत्युना नीयमानं रक्षन्तीत्यंशधराः.....अथवा अंशो—दुःखभागस्तं हरन्ति—अपनयन्ति ये ते अंशहरा भवन्तीति।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३८९ : ज्ञातयः—दूरवर्तिनः स्वजनाः।.....बान्धवा—निकटवर्तिनः स्वजनाः।
६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१९ : कम्माइं महालयाइं.....अनन्तानीत्यर्थः, दुर्मोचकत्वाच्च चिरस्थितिकानि।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९० : महालयाणि त्ति अतिशयमहान्ति, महान् वा लयः—कर्माश्लेषो येषु तानि।
८. ठाणं २।४१-६२।
९. ठाणं २।४४८ : दो चक्कवट्टी अपरिचत्तकामभोगा कालमासे कालं किच्चा असेहत्तमाए पुढवीए अपइट्ठाणे णरए नेरइत्ताए उववन्ना तं जहा—सुभूमे चेव बंभदत्ते चेव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# चउदसमं अज्झयणं

## उसुयारिज्जं

# चौदहवां अध्ययन

## इषुकारीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन के छह पात्र हैं—(१) महाराज इषुकार (२) रानी कमलावती (३) पुरोहित भृगु (४) पुरोहित की पत्नी यशा और (५-६) पुरोहित के दो पुत्र।

इनमें भृगु पुरोहित का कुटुम्ब ही इस अध्ययन का प्रधान पात्र है। किन्तु राजा की लौकिक प्रधानता के कारण इस अध्ययन का नाम 'इषुकारीय' रखा गया है।[1]

इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है 'अन्यत्व भावना' का उपदेश। आगम-काल में कई मतावलम्बियों की यह मान्यता थी कि पुत्र के बिना गति नहीं होती, स्वर्ग नहीं मिलता। जो व्यक्ति गृहस्थ-धर्म का पालन करता है वह स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। जिसके कोई सन्तान नहीं है उसका कोई लोक नहीं होता। पुत्र से ही परभव होता है—सुधरता है। इसी के फलस्वरूप—

१. 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।
गृहिधर्ममनुष्ठाय, तेन स्वर्गं गमिष्यति।।'
२. "अनपत्यस्य लोका न सन्ति।"
३. "पुत्रेण जायते लोकः, इत्येषा वैदिकी श्रुतिः।
अथ पुत्रस्य पुत्रेण, स्वर्गलोके महीयते।।"

आदि-आदि सूक्त प्रचलित हो रहे थे और लोगों का अधिकांश भाग इसमें विश्वास करने लगा था। पुत्र-प्राप्ति के लिए सभी संभावित प्रयत्न किए जाते थे। पुत्रोत्पत्ति से जीवन की महान् सफलता मानी जाती थी। इस विचारधारा ने दाम्पत्य-जीवन का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया था, परन्तु अध्यात्म के प्रति उदासीन भाव प्रतिदिन बढ़ते जा रहे थे। उस समय यह मान्यता प्रचलित थी कि यदि पुत्र से ही स्वर्ग-प्राप्ति हो जाती है तो दान आदि धर्म व्यर्थ हैं।

भगवान् महावीर स्वर्ग और नरक की प्राप्ति में व्यक्ति-व्यक्ति की प्रवृत्ति को महत्व देते थे। उन्होंने कहा—"पुण्य-पाप व्यक्ति-व्यक्ति का अपना होता है। माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र-स्त्री आदि कोई भी प्राणी त्राण नहीं होता है। सबको स्वतंत्र रूप से अपने-अपने कर्मों का फल-विपाक भोगना पड़ता है।" इस अध्ययन में इस भावना का स्फुट चित्रण है।

निर्युक्तिकार ने ग्यारह गाथाओं में कथावस्तु को प्रस्तुत किया है। उसमें सभी पात्रों के पूर्व-भव, वर्तमान-भव में उनकी उत्पत्ति तथा निर्वाण का संक्षिप्त चित्रण है।[2]

पूर्व अध्ययन में वर्णित चित्र और सम्भूत के पूर्व-जन्म में दो ग्वाले मित्र थे। उन्हें साधु के अनुग्रह से सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। वे वहां से मर कर देवलोक में गए। वहां से च्युत होकर उन्होंने क्षितिप्रतिष्ठित नगर में एक इभ्य-कुल में जन्म लिया। वे बड़े हुए। चार इभ्य-पुत्र उनके मित्र बने। उन सबने युवावस्था में कामभोगों का उपभोग किया, फिर स्थविरों से धर्म सुन प्रव्रजित हुए। चिरकाल तक संयम का अनुपालन किया। अन्त में अनशन कर सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान में चार पल्य की स्थिति वाले देव बने। दोनों ग्वाल-पुत्रों को छोड़ कर शेष चारों मित्र वहां से च्युत हुए। उनमें एक कुरु जनपद के इषुकार नगर में इषुकार नाम का राजा हुआ और दूसरा उसी राजा की रानी कमलावती। तीसरा भृगु नाम का पुरोहित हुआ और चौथा भृगु पुरोहित की पत्नी यशा। बहुत काल बीता। भृगु पुरोहित के कोई पुत्र नहीं हुआ। पति-पत्नी चिन्तित रहने लगे।

एक बार दोनों ग्वाल-पुत्रों ने, जो तब देव-भव में थे, अवधिज्ञान से जाना कि वे भृगु पुरोहित के पुत्र होंगे। वे वहां से चले। श्रमण का रूप बना भृगु पुरोहित के पास आए। भृगु और यशा दोनों ने वन्दना की। मुनियों ने धर्म का उपदेश दिया। भृगु-दम्पति ने श्रावक के व्रत स्वीकार किए। पुरोहित ने पूछा—"भगवन्! हमारे कोई पुत्र होगा या नहीं?" श्रमण-युगल ने कहा—"तुम्हारे दो पुत्र होंगे किन्तु वे बाल्यावस्था में ही दीक्षित हो जायेंगे। उनकी प्रव्रज्या में तुम्हें कोई व्याघात उपस्थित नहीं करना होगा। वे दीक्षित होकर धर्म-शासन की प्रभावना करेंगे।" इतना कह दोनों श्रमण वहां से चले गए। पुरोहित पति-पत्नी को प्रसन्नता हुई। कालान्तर में वे दोनों देव पुरोहित पत्नी के गर्भ में आए। दीक्षा के भय से पुरोहित नगर को छोड़ व्रज गांव में जा बसा। वहां पुरोहित की पत्नी यशा ने दो पुत्रों को जन्म दिया। वे कुछ बड़े हुए। माता-पिता ने सोचा ये कहीं दीक्षित न हो जाएं अतः एक बार उनसे कहा—"पुत्रो! ये श्रमण सुन्दर-सुन्दर बालकों को उठा ले जाते हैं और मार कर उनका मांस खाते हैं। उनके पास तुम दोनों कभी मत जाना।"

एक बार दोनों बालक खेलते-खेलते गांव से बहुत दूर निकल गए। उन्होंने देखा कि कई साधु उसी मार्ग से आ रहे हैं। भयभीत हो वे एक वृक्ष पर चढ़ गए। संयोगवश साधु भी उसी वृक्ष की सघन छाया में आ बैठे। बालकों का भय बढ़ा। माता-पिता की शिक्षा स्मृति पटल पर नाचने लगी। साधुओं ने कुछ विश्राम किया। झोली से पात्र निकाले और सभी एक

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३६२ :
तत्तो समुट्ठियमिणं उसुआरिज्जंति अज्झयणं।
उसुआरनामगोए वेयंतो भावओ अ उसुआरो।।

२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३६३-३७३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मण्डली में भोजन करने लगे। बालकों ने देखा कि मुनि के पात्रों में मांस जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। साधुओं को सामान्य भोजन करते देख बालकों का भय कम हुआ। बालकों ने सोचा—"अहो! हमने ऐसे साधु अन्यत्र भी कहीं देखे हैं।" चिंतन चला। उन्हें जातिस्मृति-ज्ञान उत्पन्न हुआ। वे नीचे उतरे, मुनियों की वन्दना की और सीधे अपने माता-पिता के पास आए।

उन्होंने माता-पिता से कहा—"हमने देख लिया है कि मनुष्य-जीवन अनित्य है, विघ्न-बहुल है और आयु थोड़ी है इसलिए घर में हमें कोई आनन्द नहीं है। हम मुनि-चर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते हैं।" (श्लोक ७)

पिता ने कहा—"पुत्रो! वेदों को जानने वाले इस प्रकार कहते हैं कि जिनके पुत्र नहीं होता उनकी गति नहीं होती। इसलिए वेदों को पढ़ो। ब्राह्मणों को भोजन कराओ। स्त्रियों के साथ भोग करो। पुत्रोत्पन्न करो। पुत्रों का विवाह कर, उन्हें घर सौंप कर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि हो जाना।" (श्लोक ८, ९)

पुत्रों ने कहा—"वेद पढ़ने पर भी वे त्राण नहीं होते। ब्राह्मणों को भोजन कराने पर वे नरक में ले जाते हैं। औरस पुत्र भी त्राण नहीं होते। काम-भोग क्षण भर सुख और चिरकाल दुःख देने वाले, बहुत दुःख और थोड़ा सुख देने वाले, संसार-मुक्ति के विरोधी और अनर्थों की खान हैं। काल सदा तैयार खड़ा है। ऐसी स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाए?" (श्लोक १२, १३, १५)

पिता ने कहा-"पुत्रो! जिसके लिए सामान्यतया लोग तप किया करते हैं वह सब कुछ—प्रचुर धन, स्त्रियां, स्वजन और इन्द्रियों के विषय तुम्हें यहीं प्राप्त हैं फिर तुम किसलिए श्रमण होना चाहते हो?" (श्लोक १६)

पुत्रों ने कहा—"जहां धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार है वहां धन, स्वजन और इन्द्रियों के विषयों का क्या प्रयोजन? हम सभी प्रतिबन्धों से मुक्त होकर भिक्षा से निर्वाह करने वाले श्रमण होंगे।" (श्लोक १७)

नास्तिक मान्यता का यह घोष था कि शरीर से भिन्न कोई चैतन्य नहीं है। पांच भूतों के समवाय से उसकी उत्पत्ति होती है और जब वे भूत विलग हो जाते हैं तब चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। "अरणि में अग्नि, दूध में घृत और तिल में तेल अविद्यमान होने पर भी उचित प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न हो जाते हैं। उसी प्रकार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति माननी चाहिए।" (श्लोक १८)

आस्तिक मान्यता को स्पष्ट करते हुए पुत्रों ने कहा—"आत्मा अमूर्त्त है इसलिए यह इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं है। यह अमूर्त्त है इसलिए नित्य है। आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बंधन के हेतु हैं और बंधन ही संसार का हेतु है।" (श्लोक १९)

पिता-पुत्र का यह वार्तालाप आगे चलता है। पिता ब्राह्मण-संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर बातें करता है और दोनों पुत्र श्रमण-संस्कृति की भित्ति पर चर्चा करते हैं। अन्त में पुरोहित को संसार की असारता और क्षणभंगुरता पर विश्वास पैदा हो जाता है और उसका मन संवेग से भर जाता है। वह अपनी पत्नी को समझाता है। पूर्ण विचार-विमर्श कर चारों (माता-पिता तथा दोनों पुत्र) प्रव्रजित हो जाते हैं।

यहां एक सामाजिक तथ्य का उद्घाटन हुआ है। उस समय यह राज्य का विधान था कि जिसके कोई उत्तराधिकारी नहीं होता उसकी सम्पत्ति राजा की मानी जाती थी। भृगु पुरोहित का सारा परिवार दीक्षित हो गया। राजा ने यह बात सुनी। उसने सारी सम्पत्ति पर अधिकार करना चाहा। रानी कमलावती को यह मालूम हुआ और उसने राजा से कहा—"राजन्! वमन को खाने वाले पुरुष की प्रशंसा नहीं होती। आप ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते हैं, यह वमन पीने जैसा है।" (श्लोक ३७, ३८)

रानी ने भोगों की असारता पर पूर्ण प्रकाश डाला। राजा के मन में विराग जाग उठा। राजा-रानी दोनों प्रव्रजित हो गए।

इस प्रकार यह अध्ययन ब्राह्मण-परम्परा तथा श्रमण-परम्परा की मौलिक मान्यताओं की चर्चा प्रस्तुत करता है। निर्युक्तिकार ने राजा के लिए 'सीमंधर' नाम का भी प्रयोग किया है। वृत्तिकार ने 'इषुकार' को राज्यकालीन नाम और 'सीमंधर' को राजा का मौलिक नाम होने की कल्पना की है।[2]

बौद्ध-साहित्य के हत्थिपाल जातक (५०९) में कुछ परिवर्तन के साथ इस कथा का निरूपण हुआ है।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३७३ : सीमंधरो य राया.....।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९४ : अत्र चेषुकारमिति राज्यकालनाम्ना सीमन्धरश्चेति मौलिकनाम्नेति सम्भावयामः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# चउदसमं अज्झयणं : चौदहवां अध्ययन
## उसुयारिज्जं : इषुकारीय

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. देवा भवित्ताण पुरे भवम्मी<br>केई चुया एगविमाणवासी।<br>पुरे पुराणे उसुयारनामे<br>खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे।। | *देवा भूत्वा पुरा भवे*<br>*केचिच्च्युता एकविमानवासिनः।*<br>*पुरे पुराणे इषुकारनाम्नि*<br>*ख्याते समृद्धे सुरलोकरम्ये।।* | पूर्वजन्म में, देवता होकर एक ही विमान में रहने वाले[1] कुछ जीव देवलोग से च्युत हुए। उस समय इषुकार नाम का एक नगर था—प्राचीन, प्रसिद्ध, समृद्धिशाली और देवलोक के समान। |
| २. सकम्मसेसेण पुराकएण<br>कुलेसु दग्गेसु य ते पसूया।<br>निव्विण्णसंसारभया जहाय<br>जिणिंदमग्गं सरणं पवन्ना।। | *स्वकर्मशेषेण पुराकृतेन*<br>*कुलेषूदग्रेषु च ते प्रसूताः।*<br>*निर्विण्णाः संसारभयाद् हित्वा*<br>*जिनेन्द्रमार्गं शरणं प्रपन्नाः।।* | उन जीवों के अपने पूर्वकृत पुण्य-कर्म बाकी थे।[2] फलस्वरूप वे इषुकार नगर के उत्तम कुलों में उत्पन्न हुए। संसार के भय से खिन्न होकर उन्होंने भोगों को छोड़ा और जिनेन्द्रमार्ग की शरण में चले गए। |
| ३. पुमत्तमागम्म कुमार दो वी<br>पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती।<br>विसालकित्ती य तहोसुयारो<br>रायत्थ देवी कमलावई य।। | *पुंस्त्वमाऽऽगम्य कुमारौ द्वावपि*<br>*पुरोहितः तस्य यशा च पत्नी।*<br>*विशालकीर्तिश्च तथेषुकारः*<br>*राजात्र देवी कमलावती च।।* | दोनों पुरोहित कुमार, पुरोहित, उसकी पत्नी यशा, विशाल कीर्ति वाला इषुकार राजा और उसकी रानी कमलावती—ये छहों व्यक्ति मनुष्य जीवन प्राप्त कर जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में चले गए। |
| ४. जाईजरामच्चुभयाभिभूया<br>बहिंविहाराभिनिविट्ठचित्ता।<br>संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा<br>दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता।। | *जातिजरामृत्युभयाभिभूतौ*<br>*बहिर्विहाराभिनिविष्टचित्तौ।*<br>*संसारचक्रस्य विमोक्षणार्थं*<br>*दृष्ट्वा तौ कामगुणेभ्यो विरक्तौ।।* | ब्राह्मण के योग्य यज्ञ आदि करने वाले पुरोहित के दोनों प्रिय पुत्रों ने एक बार निर्ग्रन्थ को देखा। उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति हुई और भलीभांति आचरित तप और संयम की स्मृति जाग उठी। वे जन्म, जरा और मृत्यु[3] के भय से अभिभूत हुए। उनका चित्त मोक्ष की ओर खिंच गया। संसारचक्र[4] से मुक्ति पाने के लिए वे कामगुणों से विरक्त हो गए।[5] |
| ५. पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स<br>सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स।<br>सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं<br>तहा सुचिण्णं तवसंजमं च।। | *प्रियपुत्रकौ द्वावपि ब्राह्मणस्य*<br>*स्वकर्मशीलस्य पुरोहितस्य।*<br>*स्मृत्वा पौराणिकीं तत्र जातिं*<br>*तथा सुचीर्णं तपः संयमं च।।* | |
| ६. ते कामभोगेसु असज्जमाणा<br>माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा।<br>मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा<br>तायं उवागम्म इमं उदाहु।। | *तौ कामभोगेष्वसजन्तौ*<br>*मानुष्यकेषु ये चापि दिव्याः।*<br>*मोक्षाभिकाङ्क्षिणावभिजातश्रद्धौ*<br>*तातमुपागम्येदमुदाहरताम्।।* | उनकी मनुष्य और देवता सम्बन्धी काम-भोगों में आसक्ति जाती रही। मोक्ष की अभिलाषा और धर्म की श्रद्धा से प्रेरित होकर वे पिता के पास आए और इस प्रकार कहने लगे— |
| ७. असासयं दट्ठु इमं विहारं<br>बहुअंतरायं न य दीहमाउं।<br>तम्हा गिहंसि न रइं लहामो<br>आमंतयामो चरिस्सामु मोणं।। | *अशाश्वतं दृष्ट्वेमं विहारं*<br>*बह्वन्तरायं न च दीर्घमायुः।*<br>*तस्माद् गृहे न रतिं लभावहे*<br>*आमंत्रयावहे चरिष्यावो मौनम्।।* | "हमने देखा है कि यह मनुष्य जीवन[6] अनित्य है, उसमें भी विघ्न बहुत हैं और आयु थोड़ी है। इसलिए घर में हमें कोई आनन्द नहीं है। हम मुनि-चर्या[7] को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते हैं।" |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं
तवस्स वाघायकरं वयासी।
इमं वयं वेयविओ वयंति
जहा न होई असुयाण लोगो।।

*अथ तातकस्तत्र मुन्योस्तयोः*
*तपसो व्याघातकरमवादीत्।*
*इमां वाचं वेदविदो वदन्ति*
*यथा न भवत्यसुतानां लोकः।।*

उनके पिता ने उन कुमार मुनियों[५] की तपस्या में बाधा उत्पन्न करने वाली बातें कहीं—'पुत्रो! वेदों को जानने वाले इस प्रकार कहते हैं कि जिनको पुत्र नहीं होता उनकी गति नहीं होती।'

९. अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे
पुत्ते पडिट्ठप्प गिहंसि जाया!।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं
आरण्णगा होह मुणी पसत्था।।

*अधीत्य वेदान् परिवेष्य विप्रान्*
*पुत्रान् प्रतिष्ठाप्य गृहे जातौ!।*
*भुक्त्वा भोगान् सह स्त्रीभिः*
*आरण्यकौ भवतं मुनी प्रशस्तौ।।*

"पुत्रो! इसलिए वेदों को पढ़ो। ब्राह्मणों को भोजन कराओ। स्त्रियों के साथ भोग भोगो। पुत्रों को उत्पन्न करो। उनका विवाह कर, घर का भार सौंप फिर अरण्यवासी[६] प्रशस्त मुनि हो जाना।"[७]

१०. सोयग्गिणा आयगुणिंधणेणं
मोहाणिला पज्जलणाहिएणं।
संतत्तभावं परितप्पमाणं
लोलुप्पमाणं बहुहा बहुं च।।

*शोकाग्निना आत्मगुणेन्धनेन*
*मोहानिलात् प्रज्वलनाधिकेन।*
*संतप्तभावं परितप्यमानं*
*लोलुप्यमानं बहुधा बहुं च।।*

दोनों कुमारों ने सोच-विचारपूर्वक उस पुरोहित को—जिसका मन और शरीर आत्मगुण रूपी इन्धन और मोह रूपी पवन से अत्यन्त प्रज्वलित शोकाग्नि से संतप्त और परितप्त हो रहा था[८], जिसका हृदय वियोग की आशंका से अतिशय[९] छिन्न हो रहा था, जो एक-एक कर अपने अभिप्राय अपने पुत्रों को समझा रहा था और उन्हें धन और क्रमप्राप्त कामभोगों का निमंत्रण दे रहा था—ये वाक्य कहे—

११. पुरोहियं तं कमसोऽणुणंतं
निमंतयंतं च सुए धणेणं।
जहक्कमं कामगुणेहि चेव
कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं।।

*पुरोहितं तं क्रमशोऽनुनयन्तं*
*निमंत्रयन्तं च सुतौ धनेन।*
*यथाक्रमं कामगुणैश्चैव*
*कुमारकौ तौ प्रसमीक्ष्य वाक्यम्।।*

१२. वेया अहीया न भवंति ताणं
भुत्ता दिया निंति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवंति ताणं
को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं।।

*वेदा अधीता न भवन्ति त्राणं*
*भोजिता द्विजा नयन्ति तमस्तमसि।*
*जाताश्च पुत्रा न भवन्ति त्राणं*
*को नाम तवानुमन्येतैतत्।।*

"वेद पढ़ने पर भी वे त्राण नहीं होते। ब्राह्मणों को भोजन कराने पर वे अन्धकारमय[१३] नरक में ले जाते हैं। औरस पुत्र भी त्राण नहीं होते।[१४] इसलिए आपने कहा उसका अनुमोदन कौन कर सकता है?"

१३. खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।।

*क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखाः*
*प्रकामदुःखा अनिकामसौख्याः।*
*संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः*
*खानिरनर्थानां तु कामभोगाः।।*

"ये कामभोग क्षण भर सुख और चिरकाल दुःख देने वाले हैं, बहुत दुःख और थोड़ा सुख देने वाले हैं, संसार-मुक्ति के विरोधी हैं और अनर्थों की खान हैं।"

१४. परिव्वयंते अणियत्तकामे
अहो य राओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे
पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च।।

*परिव्रजन्ननिवृत्तकामः*
*अहनि च रात्रौ परितप्यमानः।*
*अन्यप्रमत्तो धनमेषयन्*
*प्राप्नोति मृत्युं पुरुषो जरां च।।*

"जिसे कामनाओं से मुक्ति नहीं मिली वह पुरुष अतृप्ति की अग्नि से संतप्त होकर दिन-रात परिभ्रमण करता है। दूसरों के लिए प्रमत्त होकर[१५] धन की खोज में लगा हुआ वह जरा और मृत्यु को प्राप्त होता है।"

१५. इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि
इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं
हरा हरंति त्ति कहं पमाए?।।

*इदं च मेऽस्ति इदं च नास्ति*
*इदं च मे कृत्यमिदमकृत्यम्।*
*तमेवमेवं लालप्यमानं*
*हरा हरन्तीति कथं प्रमादः?।।*

"यह मेरे पास है और यह नहीं है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है—इस प्रकार वृथा बकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला काल[१६] उठा लेता है। इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाए?"

१६. धणं पभूयं सह इत्थियाहिं
सयणा तहा कामगुणा पगामा।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो
तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं।।

*धनं प्रभूतं सह स्त्रीभिः*
*स्वजनास्तथा कामगुणाः प्रकामाः।*
*तपः कृते तप्यति यस्य लोकः*
*तत् सर्वं स्वाधीनमिहैव युवयोः।।*

"जिसके लिए लोग तप किया करते हैं वह सब कुछ—प्रचुर धन, स्त्रियां, स्वजन और इन्द्रियों के विषय तुम्हें यहीं प्राप्त हैं फिर किसलिए तुम श्रमण होना चाहते हो?"—पिता ने कहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. धणेण किं धम्मधुराहिगारे
सयणेण वा कामगुणेहि चेव।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी
बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं।।

*धनेन किं धर्मधुराधिकारे*
*स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव।*
*श्रमणौ भविष्यावो गुणौघधारिणौ*
*बहिर्विहारावभिगम्य भिक्षाम्।।*

पुत्र बोले—"पिता! जहां धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार है वहां धन, स्वजन और इन्द्रिय-विषय का क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं। हम गुण-समूह से सम्पन्न श्रमण होंगे, प्रतिबन्ध-मुक्त होकर गांवों और नगरों में विहार करने वाले और भिक्षा लेकर जीवन चलाने वाले।"[17]

१८. जहा य अग्गी अरणीउसंतो
खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु।
एमेव जाया! सरीरंसि सत्ता
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे।।

*यथा चाग्निररणितोऽसन्*
*क्षीरे घृतं तैलं महातिलेषु।*
*एवमेव जातौ! शरीरे सत्त्वाः*
*संमूर्च्छन्ति नश्यन्ति नावतिष्ठन्ते।।*

"पुत्रो! जिस प्रकार अरणी में अविद्यमान अग्नि उत्पन्न होती है, दूध में घी और तिल में तेल पैदा होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। शरीर का नाश हो जाने पर उनका अस्तित्व नहीं रहता।"—पिता ने कहा।[18]

१९. नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं नियस्स बंधो
संसारहेउं च वयंति बंधं।।

*नो इन्द्रियग्राह्योऽमूर्तभावात्*
*अमूर्तभावादपि च भवति नित्यः।*
*अध्यात्महेतुर्नियतोऽस्य बन्धः*
*संसारहेतुं च वदन्ति बन्धम्।।*

कुमार बोले—"पिता! आत्मा अमूर्त है इसलिए यह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह अमूर्त है इसलिए नित्य है। यह निश्चय है कि आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं और बन्धन ही संसार का हेतु है।"—ऐसा कहा है।[19]

२०. जहा वयं धम्ममजाणमाणा
पावं पुरा कम्ममकासि मोहा।
ओरुज्झमाणा परिरक्खियंता
तं नेव भुज्जो वि समायरामो।।

*यथाऽऽवां धर्ममजानानौ*
*पापं पुरा कर्माकार्ष्व मोहात्।*
*अवरुध्यमानौ परिरक्ष्यमाणौ*
*तन्नैव भूयोऽपि समाचरावः।।*

"हम धर्म को नहीं जानते थे तब घर में रहे, हमारा पालन होता रहा और मोह-वश हमने पाप-कर्म का आचरण किया। किन्तु अब फिर पाप-कर्म का आचरण नहीं करेंगे।"

२१. अब्भाहयंमि लोगंमि
सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडंतीहिं
गिहंसि न रइं लभे।।

*अभ्याहते लोके*
*सर्वतः परिवारिते।*
*अमोघाभिः पतन्तीभिः*
*गृहे न रतिं लभावहे।।*

"यह लोक पीड़ित हो रहा है, चारों ओर से घिरा हुआ है, अमोघा[20] आ रही है। इस स्थिति में हमें सुख नहीं मिल रहा है।"

२२. केण अब्भाहओ लोगो?
केण वा परिवारिओ?।
का वा अमोहा वुत्ता?
जाया! चिंतावरो हुमि।।

*केनाभ्याहतो लोकः?*
*केन वा परिवारितः?।*
*का वाऽमोघा उक्ताः?*
*जातौ! चिन्तापरो भवामि।।*

"पुत्रो! यह लोक किससे पीड़ित है? किससे घिरा हुआ है? अमोघा किसे कहा जाता है? मैं जानने के लिए चिन्तित हूं।"—पिता ने कहा।

२३. मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो
जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता
एवं ताय! वियाणह।।

*मृत्युनाऽभ्याहतो लोकः*
*जरया परिवारितः।*
*अमोघा रात्रय उक्ताः*
*एवं तात! विजानीहि।।*

कुमार बोले—"पिता! आप जानें कि यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, जरा से घिरा हुआ है और रात्रि को अमोघा कहा जाता है।"

२४. जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स
अफला जंति राइओ।।

*या या व्रजति रजनी*
*न सा प्रतिनिवर्तते।*
*अधर्मं कुर्वाणस्य*
*अफला यान्ति रात्रयः।।*

"जो-जो रात बीत रही है, वह लौट कर नहीं आती। अधर्म करने वाले की रात्रियां निष्फल चली जाती हैं।"

२५. जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स
सफला जंति राइओ।।

*या या व्रजति रजनी*
*न सा प्रतिनिवर्तते।*
*धर्मं च कुर्वाणस्य*
*सफला यान्ति रात्रयः।।*

"जो-जो रात रात बीत रही है वह लौट कर नहीं आती। धर्म करने वाले की रात्रियां सफल होती हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६. एगओ संवसित्ताणं
दुहओ सम्मत्तसंजुया।
पच्छा जाया! गमिस्सामो
भिक्खमाणा कुले कुले।।

*एकतः समुष्य*
*द्वितः सम्यक्त्वसंयुताः।*
*पश्चाज्जातौ! गमिष्यामः*
*भिक्षमाणाः कुले कुले।।*

"पुत्रो! पहले हम सब एक साथ रहकर सम्यक्त्व और व्रतों का पालन करें फिर तुम्हारा यौवन बीत जाने के बाद घर-घर से भिक्षा लेते हुए विहार करेंगे।"--पिता ने कहा।[२१]

२७. जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं
जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि
सो हु कंखे सुए सिया।।

*यस्यास्ति मृत्युना सख्यं*
*यस्य वास्ति पलायनम्।*
*यो जानीते न मरिष्यामि*
*स खलु काङ्क्षति श्वः स्यात्।।*

पुत्र बोले—"पिता कल की इच्छा वही कर सकता है, जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, जो मौत के मुंह से बच कर पलायन कर सके और जो जानता हो—मैं नहीं मरूंगा।"

२८. अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो
जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि
सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं।।

*अद्यैव धर्मं प्रतिपद्यावहे*
*यत्र प्रपन्ना न पुनर्भविष्यावः।*
*अनागतं नैव चास्ति किंचित्*
*श्रद्धाक्षमं नो विनीय रागम्।।*

"हम आज ही उस मुनि-धर्म को स्वीकार कर रहे हैं, जहां पहुंच कर फिर जन्म लेना न पड़े। भोग हमारे लिए अप्राप्त नहीं हैं—हम उन्हें अनेक बार प्राप्त कर चुके हैं।[२२] राग-भाव को दूर कर श्रद्धा-पूर्वक श्रेय की प्राप्ति के लिए हमारा प्रयत्न युक्त है।"

२९. पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो
वासिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं
छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं।।

*प्रहीणपुत्रस्य खलु नास्ति वासः*
*वासिष्टि! भिक्षाचर्यायाः कालः।*
*शाखाभिर्वृक्षो लभते समाधिं*
*छिन्नाभिः शाखाभिस्तमेव स्थाणुम्।।*

"पुत्रों के चले जाने के बाद मैं घर में नहीं रह सकता। हे वाशिष्टि![२३] अब मेरा भिक्षाचर्या का काल आ चुका है। वृक्ष शाखाओं से समाधि को प्राप्त होता है। उनके कट जाने पर लोग उसे ठूंठ कहते हैं।"

३०. पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी
भिच्चाविहूणो व्व रणे नरिंदो।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए
पहीणपुत्तो मि तहा अहं पि।।

*पक्षविहीन इव यथेह पक्षी*
*भृत्यविहीन इव रणे नरेन्द्रः।*
*विपन्नसारो वणिगिव पोते*
*प्रहीणपुत्रोऽस्मि तथाऽहमपि।।*

"बिना पंख का पक्षी, रण-भूमि में सेना रहित राजा और जल-पोत पर धन-रहित व्यापारी जैसा असहाय होता है, पुत्रों के चले जाने पर मैं भी वैसा ही हो जाता हूं।"

३१. सुसंभिया कामगुणा इमे ते
संपिंडिया अग्गरसाप्पभूया।
भुंजामु ता कामगुणे पगामं
पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं।।

*सुसंभृताः कामगुणा इमे ते*
*सम्पिण्डिता अग्र्यरसप्रभूताः।*
*भुंजीवहि तावत् कामगुणान् प्रकामं*
*पश्चात् गमिष्यावः प्रधानमार्गम्।।*

वाशिष्ठी ने कहा—"ये सुसंस्कृत[२४] और प्रचुर शृंगार-रस[२५] से परिपूर्ण इन्द्रिय-विषय, जो तुम्हें प्राप्त हैं, उन्हें अभी हम खूब भोगें। उसके बाद हम मोक्ष-मार्ग[२६] को स्वीकार करेंगे।"

३२. भुत्ता रसा भोइ! जहाइ णे वओ
न जीवियट्ठा पजहामि भोए।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं
संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं।।

*भुक्ता रसा भवति! जहाति नो वयः*
*न जीवितार्थं प्रजहामि भोगान्।*
*लाभमलाभं च सुखं च दुःखं*
*संतिष्ठमानश्चरिष्यामि मौनम्।।*

पुरोहित ने कहा—"हे भवति![२७] हम रसों को भोग चुके हैं, वय हमें छोड़ता चला जा रहा है। मैं असंयम जीवन के लिए भोगों को नहीं छोड़ रहा हूं लाभ-अलाभ और सुख-दुःख को समदृष्टि से देखता हुआ मैं मुनि-धर्म का आचरण करूंगा।"

३३. मा हू तुमं सोयरियाण संभरे
जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी।
भुंजाहि भोगाए मए समाणं
दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो।।

*मा खलु त्वं सोदर्याणां स्मार्षीः*
*जीर्ण इव हंसः प्रतिस्रोतोगामी।*
*भुंक्ष्व भोगान् मया समं*
*दुःखं खलु भिक्षाचर्याविहारः।।*

वाशिष्ठी ने कहा—"प्रतिस्रोत में बहने वाले बूढ़े हंस की तरह तुम्हें पीछे अपने बन्धुओं को याद करना न पड़े, इसलिए मेरे साथ भोगों का सेवन करो। यह भिक्षाचर्या और ग्रामानुग्राम विहार सचमुच दुःखदायी है।"[२८]

३४. जहा य भोई! तणुयं भुयंगो
निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो।
एमेए जाया पयहंति भोए
ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्को?।।

*यथा च भवति! तनुजां भुजंगः*
*निर्मोचनीं हित्वा पर्येति मुक्तः।*
*एवमेतौ जातौ प्रजहीतो भोगान्*
*तौ अहं कथं नानुगमिष्याम्येकः?।।*

"हे भवति! जैसे सांप अपने शरीर की केंचुली को छोड़ मुक्त-भाव से चलता है वैसे ही पुत्र भोगों को छोड़ कर चले जा रहे हैं। पीछे मैं अकेला क्यों रहूं, उनका अनुगमन क्यों न करूं?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. छिंदित्तु जालं अबलं व रोहिया
मच्छा जहा कामगुणे पहाय।
धोरेयसीला तवसा उदारा
धीरा हु भिक्खायरियं चरंति।।

*छित्त्वा जालमबलमिव रोहिताः*
*मत्स्या यथा कामगुणान् प्रहाय।*
*धौरेयशीलास्तपसा उदाराः*
*धीराः खलु भिक्षाचर्यां चरन्ति।।*

"जैसे रोहित मच्छ जर्जरित जाल को काट कर बाहर निकल जाते हैं वैसे ही उठाए हुए भार को वहन करने वाले प्रधान तपस्वी और धीर पुरुष कामभोगों को छोड़ कर भिक्षाचर्या को स्वीकार करते हैं।"

३६. नहेव कुंचा समइक्कमंता
तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा।
पलेंति पुत्ता य पई य मज्झं
ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्का?।।

*नभसीवा क्रौंचाः समतिक्रामन्तः*
*ततानि जालानि दलित्वा हंसाः।*
*परियान्ति पुत्रौ च पतिश्च मम*
*तानहं कथं नानुगमिष्याम्येका?।।*

वाशिष्टी ने कहा—"जैसे क्रौंच पक्षी और हंस बहेलियों द्वारा बिछाए हुए जालों को काट कर आकाश में उड़ जाते हैं वैसे ही मेरे पुत्र और पति जा रहे हैं। पीछे मैं अकेली क्यों रहूं? उनका अनुगमन क्यों न करूं?"

३७. पुरोहियं तं ससुयं सदारं
सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए।
कुडुंबसारं विउलुत्तमं तं
रायं अभिक्खं समुवाय देवी।।

*पुरोहितं तं ससुतं सदारं*
*श्रुत्वाऽभिनिष्क्रम्य प्रहाय भोगान्।*
*कुटुम्बसारं विपुलोत्तमं तद्*
*राजानमभीक्ष्णं समुवाच देवी।।*

पुरोहित अपने पुत्र और पत्नी के साथ भोगों को छोड़ कर प्रव्रजित हो चुका है, यह सुन राजा ने उसके प्रचुर और प्रधान धन-धान्य आदि[२८] को लेना चाहा तब महारानी कमलावती ने बार-बार[२९] कहा—

३८. वंतासी पुरिसो रायं!
न सो होइ पसंसिओ।
माहणेण परिच्चत्तं
धणं आदाउमिच्छसि।।

*वान्ताशी पुरुषो राजन्!*
*न स भवति प्रशंसनीयः।*
*ब्राह्मणेन परित्यक्तं*
*धनमादातुमिच्छसि।।*

"राजन्! वमन खाने वाले पुरुष की प्रशंसा नहीं होती। तुम ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते हो—यह क्या है?"

३९. सव्वं जगं जइ तुहं
सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं
नेव ताणाय तं तव।।

*सर्वं जगद् यदि तव*
*सर्वं वापि धनं भवेत्।*
*सर्वमपि ते अपर्याप्तं*
*नैव त्राणाय तत्तव।।*

"यदि समूचा जगत् तुम्हें मिल जाए अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाए तो भी वह तुम्हारी इच्छा-पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होगा और वह तुम्हें त्राण भी नहीं दे सकेगा।"[३०]

४०. मरिहिसि रायं! जया तया वा
मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि।।

*मरिष्यसि राजन्! यदा तदा वा*
*मनोरमान् कामगुणान् प्रहाय।*
*एकः खलु धर्मो नरदेव! त्राणं*
*न विद्यतेऽन्यमिहेह किंचित्।।*

"राजन्! इन मनोरम कामभोगों को छोड़ कर जब कभी मरना होगा[३१]। हे नरदेव! एक धर्म ही त्राण है।[३२] उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु त्राण नहीं दे सकती।"[३३]

४१. नाहं रमे पक्खिण पंजरे वा
संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा
परिग्गहारंभनियत्तदोसा।।

*नाहं रमे पक्षिणी पंजर इव*
*छिन्नसन्ताना चरिष्यामि मौनम्।*
*अकिंचना ऋजुकृता निरामिषा*
*परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता।।*

"जैसे पक्षिणी पिंजड़े[३४] में आनन्द नहीं मानती, वैसे ही मुझे इस बन्धन में आनन्द नहीं मिल रहा है। मैं स्नेह के जाल को तोड़ कर अकिंचन, सरल क्रिया वाली[३५], विषय-वासना से दूर[३६] और परिग्रह एवं हिंसा के दोषों से मुक्त[३७] होकर मुनि-धर्म का आचरण करूंगी।"

४२. दवग्गिणा जहा रण्णे
डज्झमाणेसु जंतुसु।
अन्ने सत्ता पमोयंति
रागद्दोसवसं गया।।

*दवाग्निना यथारण्ये*
*दह्यमानेषु जन्तुषु।*
*अन्ये सत्त्वाः प्रमोदन्ते*
*रागद्वेषवशं गताः।।*

"जैसे दावाग्नि लगी हुई है, अरण्य में जीव-जन्तु जल रहे हैं, उन्हें देख राग-द्वेष के वशीभूत होकर दूसरे जीव प्रमुदित होते हैं।"[३८]

४३. एवमेव वयं मूढा
कामभोगेसु मुच्छिया।
डज्झमाणं न बुज्झामो
रागद्दोसग्गिणा जगं।।

*एवमेव वयं मूढाः*
*कामभोगेषु मूर्च्छिताः।*
*दह्यमानं न बुध्यामहे*
*रागद्वेषाग्निना जगत्।।*

"उसी प्रकार कामभोगों में मूर्च्छित हो कर हम मूढ़ लोग यह नहीं समझ पाते कि यह समूचा संसार राग-द्वेष की अग्नि से जल रहा है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४. भोगे भोच्चा वमित्ता य
लहुभूयविहारिणो।
आमोयमाणा गच्छंति
दिया कामकमा इव।।

*भोगान् भुक्त्वा वान्त्वा च*
*लघुभूतविहारिणः।*
*आमोदमाना गच्छन्ति*
*द्विजाः कामक्रमा इव।।*

"विवेकी पुरुष भोगों को भोग कर फिर उन्हें छोड़ वायु की तरह अप्रतिबद्ध-विहार करते हैं[३५] और वे स्वेच्छा से विचरण करने वाले[३०] पक्षियों की तरह प्रसन्नतापूर्वक स्वतंत्र विहार करते हैं।"

४५. इमे य बद्धा फंदंति
मम हत्थऽज्जमागया।
वयं च सत्ता कामेसु
भविस्सामो जहा इमे।।

*इमे च बद्धाः स्पन्दन्ते*
*मम हस्तमार्य! आगताः।*
*वयं च सक्ताः कामेषु*
*भविष्यामो यथेमे।।*

"आर्य! जो कामभोग अपने हाथों में आए हुए हैं और जिनको हमने नियंत्रित कर रखा है, वे कूद-फांद कर रहे हैं। हम कामनाओं में आसक्त बने हुए हैं किन्तु अब हम भी वैसे ही होंगे, जैसे कि अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ भृगु हुए हैं।"

४६. सामिसं कुललं दिस्स
बज्झमाणं निरामिसं।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता
विहरिस्सामि निरामिसा।।

*सामिषं कुललं दृष्ट्वा*
*बाध्यमानं निरामिषम्।*
*आमिषं सर्वमुज्झित्वा*
*विहरिष्यामि निरामिषा।।*

"जिस गीध के पास मांस होता है उस पर दूसरे पक्षी झपटते हैं और जिसके पास मांस नहीं होता उस पर नहीं झपटते—यह देख कर मैं आमिष (धन, धान्य आदि) को छोड़, निरामिष हो कर विचरूंगी।"

४७. गिद्धोवमे उ नच्चाणं
कामे संसारवड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासे व
संकमाणो तणुं चरे।।

*गृध्रोपमांस्तु ज्ञात्वा*
*कामान् संसारवर्धनान्।*
*उरगः सुपर्णपार्श्वे इव*
*शङ्कमानस्तनु चरेत्।।*

"गीध की उपमा से काम-भोगों को संसारवर्धक जान कर मनुष्य को इनसे इसी प्रकार शंकित होकर चलना चाहिए, जिस प्रकार गरुड़ के सामने सांप शंकित होकर चलता है।"

४८. नागो व्व बंधणं छित्ता
अप्पणो वसहिं वए।
एयं पत्थं महारायं!
उसुयारि त्ति मे सुयं।।

*नाग इव बन्धनं छित्त्वा*
*आत्मनो वसतिं व्रजेत्।*
*एतत् पथ्यं महाराज!*
*इषुकार! इति मया श्रुतम्।।*

"जैसे बन्धन को तोड़ कर हाथी अपने स्थान (विंध्याटवी) में चला जाता है, वैसे ही हमें अपने स्थान (मोक्ष) में चले जाना चाहिए। हे महाराज इषुकार! यह पथ्य है[३१], इसे मैंने ज्ञानियों से सुना है।"

४९. चइत्ता विउलं रज्जं
कामभोगे य दुच्चए।
निव्विसया निरामिसा
निन्नेहा निप्परिग्गहा।।

*त्यक्त्वा विपुलं राज्यं*
*कामभोगांश्च दुस्त्यजान्।*
*निर्विषयौ निरामिषौ*
*निःस्नेहौ निष्परिग्रहौ।।*

राजा और रानी विपुल राज्य और दुस्त्यज कामभोगों को छोड़ निर्विषय[३२], निरामिष, निःस्नेह और निष्परिग्रह हो गए।

५०. सम्मं धम्मं वियाणित्ता
चेच्चा कामगुणे वरे।
तवं पगिज्झऽहक्खायं
घोरं घोरपरक्कमा।।

*सम्यग् धर्मं विज्ञाय*
*त्यक्त्वा कामगुणान् वरान्।*
*तपः प्रगृह्य यथाख्यातं*
*घोरं घोरपराक्रमौ।।*

धर्म को सम्यक् प्रकार से जान, आकर्षक भोग-विलास को छोड़, वे तीर्थंकर के द्वारा उपदिष्ट घोर तपश्चर्या को स्वीकार कर संयम में घोर पराक्रम करने लगे।[३३]

५१. एवं ते कमसो बुद्धा
सव्वे धम्मपरायणा।
जम्ममच्चुभउव्विग्गा
दुक्खस्संतगवेसिणो।।

*एवं ते क्रमशो बुद्धाः*
*सर्वे धर्मपरायणाः।*
*जन्ममृत्युभयोद्विग्नाः*
*दुःखस्यान्तगवेषिणः।।*

इस प्रकार वे सब क्रमशः बुद्ध होकर, धर्म-परायण, जन्म और मृत्यु के भय से उद्विग्न बन गए तथा दुःख के अन्त की खोज में लग गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५२. सासणे विगयमोहाणं
पुव्विं भावणभाविया।
अचिरेणेव कालेण
दुक्खस्संतमुवागया।।

*शासने विगतमोहानां*
*पूर्वं भावनाभाविताः।*
*अचिरेणैव कालेन*
*दुःखस्यान्तमुपागताः।।*

जिनकी आत्मा पूर्व-जन्म में कुशल-भावना से भावित थी वे सब—राजा, रानी, ब्राह्मण पुरोहित, ब्राह्मणी और दोनों पुरोहित कुमार अर्हत् के शासन में आकर दुःख का अंत पा गए—मुक्त हो गए।[११]

५३. राया सह देवीए
माहणो य पुरोहिओ।
माहणी दारगा चेव
सव्वे ते परिनिव्वुड।।

*राजा सह देव्या*
*ब्राह्मणश्च पुरोहितः।*
*ब्राह्मणी दारकौ चैव*
*सर्वे ते परिनिर्वृताः।।*

—त्ति बेमि।।

*—इति ब्रवीमि।।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन १४ : इषुकारीय

### १. (एगविमाणवासी)

ये सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक एक ही विमान में रहते थे, इसलिए इन्हें 'एक विमानवासी' कहा गया है।[1]

### २. अपने...पुण्य कर्म बाकी थे (सकम्मसेसेण)

पुनर्जन्म के अनेक कारणों में यह भी एक प्रमुख कारण है। अपने किए हुए कर्म जब तक शेष रहते हैं तब तक जीव को जन्म लेना ही पड़ता है। इन छहों व्यक्तियों के पुण्य-कर्म शेष थे, इसलिए इनका जन्म उत्तम कुल में हुआ।

### ३. जन्म, जरा और मृत्यु (जाईजरामच्चु.....)

जन्म, जरा और मृत्यु—ये तीन भय माने जाते हैं। गीता में जन्म, जरा, मृत्यु और दुःख—इन चारों का एक साथ उल्लेख प्राप्त है।[2] ये भय के कारण भी हैं और वैराग्य के हेतु भी बनते हैं। रोग भी वैराग्य का कारण है। महात्मा बुद्ध को वृद्ध, रोगी और मृत व्यक्ति को देखकर वैराग्य हुआ था।

### ४. संसारचक्र (संसारचक्कस्स)

चूर्णिकार ने संसार-चक्र के छह आरे—विभाग माने हैं—जन्म, जरा, सुख, दुःख, जीवन और मरण।[3] इन सबसे आत्यन्तिक छुटकारा पाना ही मोक्ष है। इसका साधन है—विरति।

### ५. (बहिंविहार, कामगुणे विरत्ता)

**बहिंविहार**—बहिर्विहार अर्थात् मोक्ष। मोक्ष संसार के बाहर है—उससे भिन्न है, इसलिए उसे 'बहिर्-विहार' कहा गया है।[4]

**कामगुणे विरत्ता**—शब्द आदि इन्द्रियों के विषय कामनाओं को उत्तेजित करते हैं, इसलिए ये 'काम-गुण' कहलाते हैं।

दूसरे श्लोक में बताया है कि वे छहों व्यक्ति जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में चले गए। यहां 'कामगुणे-विरत्ता' की व्याख्या में बताया गया है कि काम-गुणों की विरक्ति का अर्थ ही जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में जाना है।[5]

### ६. मनुष्य जीवन (विहारं)

विहार शब्द के अनेक अर्थ हैं—मनोरंजन, घूमना, हाथ-पैर आदि का संचालन आदि। यहां विहार का अर्थ है—जीवन की समग्रता या संपूर्ण जीवन-यापन।

चूर्णि में इसका अर्थ भोग और वृत्ति में मनुष्यभव में अवस्थिति किया है।[6]

### ७. मुनि-चर्या (मोणं)

इसका अर्थ है—मुनि-चर्या, संयम। मौन शब्द की व्युत्पत्ति है—मुनेर्भावः मौनम्। मुनि का भाव अर्थात् ज्ञान या ज्ञानयुक्त आचरण।

### ८. (मुणीण)

टीकाकारों के अनुसार यह कुमारों का विशेषण है। यहां भावी मुनि को 'मुनि' कहा गया है।[7] किन्तु जिन मुनियों को देख कर कुमारों को प्रव्रजित होने की प्रेरणा मिली, उनके तपोमार्ग का व्याघात करना पुरोहित के लिए इष्ट था, इसलिए मुनि शब्द के द्वारा उन मुनियों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

### ९. अरण्यवासी (आरण्णगा)

ऐतरेय, कौशीतकी और तैतरीय—ये शास्त्र 'आरण्यक' कहलाते हैं। इनमें वर्णित विषयों के अध्ययन के लिए अरण्य का एकान्तवास आवश्यक था, इसलिए इन्हें आरण्यक कहा गया। अरण्य में रहकर साधना करने वाले मुनि भी आरण्यक कहलाते थे।

### १०. (श्लोक ८—९)

ब्राह्मण[8] और स्मृतिशास्त्र[9] का अभिमत रहा है कि जो द्विज वेदों को पढ़े बिना, पुत्रों को उत्पन्न किए बिना और यज्ञ किए बिना मोक्ष की इच्छा करता है, वह नरक में जाता है, इसलिए वह विधिवत् वेदों को पढ़ कर, पुत्रों को उत्पन्न कर

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६६ : एकस्मिन् पद्मगुल्मनाम्नि विमाने वसन्तीत्येवंशीला एकविमानवासिनः।

२. गीता, १४।२० : गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही समुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखै-र्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२२ : संसारचक्कं छब्बिहं, तं जहा—जाती जरा सुहं दुक्खं जीवितं मरणं।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६७ : बहिं संसाराद्विहारः—स्थानं बहिर्विहारः, स चार्थान्मोक्षः।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६७ : अत्र कामगुणविरक्तिरेव जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्तिः।

६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२३ : विहरणं—विहारः, भोगाः इत्यर्थः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६८ : विहरणं विहारः, मनुष्यत्वे—नावस्थानमित्यर्थः।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६८ : 'मुन्योः' भावतः प्रतिपन्नमुनिभावयोः।

८. ऐतरेय ब्राह्मण, ७।३ : नापुत्रस्य लोकोऽस्ति।

९. मनुस्मृति, ६।३६, ३७ :
अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्।।
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और यज्ञ कर मोक्ष में मन लगाए—संन्यासी बने। पुरोहित ने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

बौद्धायन धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण जन्म से ही तीन ऋणों—पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण और देव-ऋण—को साथ लिए उत्पन्न होता है। इन ऋणों को चुकाने के लिए यज्ञ, याग आदि पूर्वक गृहस्थाश्रम का आश्रय करने वाला मनुष्य ब्रह्मलोक को पहुंचता है और ब्रह्मचर्य या संन्यास की प्रशंसा करने वाले लोग धूल में मिल जाते हैं।[1]

स्मृतिकारों के अनुसार पितृ-ऋण सन्तानोत्पत्ति के द्वारा, ऋषि-ऋण स्वाध्याय के द्वारा और देव-ऋण यज्ञ आदि के द्वारा चुकाया जा सकता है।

महाभारत (शांतिपर्व, मोक्ष धर्म, अध्याय २७७) में एक ब्राह्मण और उसके मेधावी नामक पुत्र का संवाद है। पिता मोक्ष-धर्म में अकुशल और पुत्र मोक्ष-धर्म में विचक्षण था। उसने पिता से पूछा—"तात! मनुष्यों की आयु तीव्र गति से बीती जा रही है। इस बात को अच्छी तरह जानने वाला धीर पुरुष किस धर्म का अनुष्ठान करे? पिता! यह सब क्रमशः और यथार्थ रूप से आप मुझे बताइए, जिससे मैं भी उस धर्म का आचारण कर सकूं।"

पिता ने कहा—"बेटा! द्विज को चाहिए कि वह पहले ब्रह्मचर्य-आश्रम में रह कर वेदों का अध्ययन कर ले, फिर पितरों का उद्धार करने के लिए गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके पुत्रोत्पादन की इच्छा करे। वहां विधि-पूर्वक अग्नियों की स्थापना करके उनमें विधिवत् अग्निहोत्र करे। इस प्रकार यज्ञ-कर्म का सम्पादन करके वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट हो मुनिवृत्ति से रहने की इच्छा करे।"

स्मृति ग्रन्थों में ब्राह्मणों को भोजन कराने का पुनः-पुनः विधान मिलता है।[2]

## ११. संतप्त और परितप्त हो रहा था (संतत्तभावं परितप्पमाणं)

संतप्तभाव और परितप्यमान—इन दोनों में कार्य-कारण का सम्बन्ध है। जिसका भाव (अन्तःकरण) संतप्त रहता है, वह परितप्यमान हो जाता है। यह शोक का आवेश शरीर में दाह उत्पन्न करने का हेतु बनता है।[3] व्यक्ति दाह से चारों ओर परितप्त होता है।

## १२. अतिशय (बहुहा बहुं च)

चूर्णि में बहुधा का अर्थ—पुनः-पुनः और बहु का अर्थ—बहुत प्रकार का—है।[4] वृत्ति में बहुधा का अर्थ—अनेक प्रकार का और बहु का अर्थ—प्रचुर है।[5]

## १३. अन्धकारमय नरक (तमं तमेणं)

वृत्तिकार ने 'तम' का अर्थ नरक और 'तमेण' का अर्थ अज्ञान से, किया है। 'तमंतमेणं' को एक शब्द तथा सप्तमी के स्थान में तृतीया विभक्ति मानी जाए तो इसका वैकल्पिक अर्थ होगा—अन्धकार से भी जो अति सघन अन्धकारमय है वैसे रौरव आदि नरक।[6]

## १४. (जाया य पुत्ता.....)

मनुस्मृति आदि में 'अपुत्रस्य गति र्नास्ति', 'अनपत्यस्य लोका न सन्ति', 'पुत्रेण जायते लोकः'—आदि सूक्तियां मिलती हैं। भगवान् महावीर ने कहा—माता, पिता, पुत्र, भार्या आदि कोई त्राण नहीं हो सकते। स्वर्ग या नरक की प्राप्ति में व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ ही काम आता है। पुत्रोत्पत्ति से ही यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो भला कौन धर्म का आचरण करेगा?

## १५. दूसरों के लिए प्रमत्त होकर (अन्नप्पमत्ते)

'अन्न' के संस्कृत रूप दो होते हैं—अन्य और अन्न। अन्य-प्रमत्त अर्थात् मित्र-स्वजन आदि के लिए प्रमाद में फंसा हुआ। अन्न-प्रमत्त अर्थात् भोजन या जीविका के लिए प्रमाद में फंसा हुआ।[7]

## १६. उठाने वाला काल (हरा)

यहां 'हर' शब्द का प्रयोग काल के अर्थ में किया गया है। रोग भी आयु का हरण करता है, इसलिए उसे भी 'हर' कहा जाता है। एक प्राचीन गाथा है[8]—

***किं तेसिं ण बीभेया, आसकिसोरीहिं सिग्घलग्गाणं।***
***आयुबल मोडयाणं दिवसाणं आवडंताणं?***

## १७. (श्लोक १७)

'धन के लिए धर्म नहीं करना चाहिए और धन से धर्म नहीं होता'—इस जैन-दृष्टि से परिचित कुमारों ने जो कहा वह धर्म के उद्देश्य के सर्वथा अनुरूप है। प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि धर्म के क्षेत्र में आत्मा के पवित्र आचरणों का ही महत्त्व है; धन, स्वजन और कामगुणों का कोई महत्त्व नहीं है। शान्त्याचार्य ने इस विचार के समर्थन में 'वेदेप्युक्तं' लिख कर एक वाक्य उद्धृत किया है—'न सन्तान के द्वारा, न धन के द्वारा किन्तु अकेले त्याग से ही लोगों ने अमृतत्व को प्राप्त किया है'—'न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।'[9]

**गुणोह**—चूर्णि में गुणौघ से अठारह हजार शीलांग[10] का

---

१. बौद्धायन धर्मसूत्र, २।६।११।३३-३४।

२. मनुस्मृति, ३।१३१, १८६, १८७।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९९ : समिति—समन्तात् तप्त इव तप्तः अनिर्वृतत्वेन भावः—अन्तःकरणमस्येति संतप्तभावः तम्, अत एव च परितप्यमानं—समन्ताद् दह्यमानम्, अर्थात् शरीरे दाहस्यापि शोकावेशत उत्पत्तेः।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२३।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४००।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०० : तमोरूपत्वात् तमो—नरकस्तत्तमसा—अज्ञानेन यद् वा तमसोऽपि यत्तमस्तस्मिन् अतिरौद्रे रौरवादिनरके।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४००, ४०१ : अन्ये—सुहृत्स्वजनादयः, अथवा अन्नं-भोजनं तदर्थं प्रमत्तः—तत्कृत्यासक्तचेता अन्यप्रमत्तः अन्नप्रमत्तो वा।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२५।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०१।

१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२५ : गुणोहो—अट्ठारस सीलंगसहस्साणि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और टीका में सम्यक्-दर्शन आदि गुण-समूह का ग्रहण किया गया है।[1]

**बहिंविहारा**—इसका द्रव्य और भाव—दोनों दृष्टियों से अर्थ किया गया है। द्रव्य-दृष्टि से बहिर्विहार का अर्थ है 'नगर आदि से बाहर रहने वाला' और भाव-दृष्टि से इसका अर्थ है 'प्रतिबन्ध रहित विहार करने वाला।'[2] तीसरे श्लोक में यह शब्द मोक्ष के अर्थ में प्रयुक्त है।

## १८. (श्लोक १८)

धर्माचरण का मूल आत्मा है। पुरोहित ने सोचा यदि मेरे पुत्र आत्मा के विषय में संदिग्ध हो जाएं तो इनमें मुनि बनने की प्रेरणा स्वतः समाप्त हो जाएगी। उसने इस भावना से आत्मा के नास्तित्व का दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए जो कहा, वही इस श्लोक में है।[3]

**असंतो**—तत्त्व की उत्पत्ति के विषय में दो प्रमुख विचारधाराएं हैं—सद्वाद और असद्वाद। असद्वादियों के अभिमत में आत्मा उत्पत्ति से पूर्व असत् होती है। कारण-सामग्री मिलने पर वह उत्पन्न होती है, नष्ट होती है, अवस्थित नहीं रहती—जन्म-जन्मान्तर को प्राप्त नहीं होती।[4]

## १९. (श्लोक १९)

आस्तिकों के अभिमत में सर्वथा असत् की उत्पत्ति होती ही नहीं। उत्पन्न वही होता है, जो पहले भी हो और पीछे भी हो। जो पहले भी नहीं होता, पीछे भी नहीं होता, वह बीच में भी नहीं होता।[5] आत्मा जन्म से पहले भी होती है और मृत्यु के पश्चात् भी होती है, इसलिए वर्तमान शरीर में उसकी उत्पत्ति को असत् की उत्पत्ति नहीं कहा जा सकता।

नास्तिक लोग आत्मा को इसलिए असत् मानते हैं कि जन्म से पहले उसका कोई अस्तित्व नहीं होता और उसको अनवस्थित इसलिए मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् उसका अस्तित्व नहीं रहता। इसका कारण यह है कि आत्मा न तो शरीर में प्रवेश करते समय दीखती है और न उससे बिछुड़ते समय भी। पिता के इस प्रतिपादन का प्रतिवाद कुमारों ने इन शब्दों में किया—"आत्मा नहीं दीखती इतने मात्र से उसका नास्तित्व नहीं माना जा सकता। इन्द्रियों के द्वारा मूर्त-द्रव्य ही जाने जा सकते हैं। आत्मा अमूर्त है इसलिए वह इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है, किन्तु मन के द्वारा ग्राह्य है।" प्रस्तुत श्लोक में—आत्मा है, वह नित्य है, उसके कर्म का बन्ध होता है और बन्ध के कारण वह बार-बार जन्म का वरण करती है—आस्तिकता के आधारभूत इन चार तथ्यों का निरूपण है।

**नो इंदिय**—चूर्णि में 'नो-इंदिय' को एक शब्द माना है। इसलिए उसके अनुसार इसका अर्थ मन होता है[6] और टीका में 'नो' और 'इन्द्रिय' को पृथक्-पृथक् माना है।[7]

**अज्झत्थ**—अध्यात्म का अर्थ है 'आत्मा में होने वाला'। मिथ्यात्व आदि आत्मा के आन्तरिक दोष हैं। इसलिए उन्हें 'अध्यात्म' कहा जाता है।[8] सूत्रकृतांग में क्रोध आदि को 'अध्यात्म-दोष' कहा है।[9]

## २०. अमोघा (अमोहाहिं)

अमोघ का शाब्दिक-अर्थ अव्यर्थ—अचूक है। किन्तु यहां अमोघा का प्रयोग रात्रि के अर्थ में किया गया है। महाभारत में इसका अर्थ दिन-रात किया है।[10] चूर्णिकार ने एक प्रश्न खड़ा किया है—अमोघा का अर्थ रात ही क्यों? क्या कोई दिन में नहीं मरता? इसके समाधान में उन्होंने बताया है—यह लोक-प्रसिद्ध बात है कि मृत्यु को रात कहा जाता है, जैसे दिन की समाप्ति रात में होती है वैसे ही जीवन की समाप्ति मृत्यु में होती है।[11] काल-प्रवाह के अर्थ में उत्तराध्ययन में रात्रि शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है।[12] जहां रात होती है, वहां दिवस अवश्य होता है, इसलिए शान्त्याचार्य ने अमोघा से दिवस का भी ग्रहण किया है।[13]

## २१. (पच्छा, गमिस्सामो)

**पच्छा**—पश्चात् शब्द के द्वारा पुरोहित ने आश्रम-व्यवस्था की ओर पुत्रों का ध्यान खींचने का यत्न किया है।[14] इसकी

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०१ : गुणौघं—सम्यग्दर्शनादिगुणसमूहम्।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०१ : बहिः—ग्रामनगरादिभ्यो बहिर्वर्त्तित्वाद् द्रव्यतो भावतश्च क्वचिदप्रतिबद्धत्वाद् विहारः—विहरणं ययोस्तौ बहिर्विहारौ अप्रतिबद्धविहारावित्यर्थः।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०१ : आत्मास्तित्वमूलत्वात्सकलधर्मानुष्ठानस्य तन्निराकरणायाह पुरोहितः।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०१, ४०२ : 'सत्त्वाः' प्राणिनः 'समुच्छंति' त्ति समुर्च्छन्ति, पूर्वमसन्त एव शरीराकारपरिणतभूतसमुदायत उत्पद्यन्ते, तथा चाहुः—"पृथिव्यापरतेजोवायुरिति तत्त्वानि, एतेभ्यश्चैतन्यं, मद्यांगेभ्यो मदशक्तिवत्", तथा 'नासइ' त्ति नश्यन्ति—अभ्रपटलवत्प्रलयमुपयान्ति 'णावचिट्ठे' त्ति न पुनः अवतिष्ठन्ते—शरीरनाशे सति न क्षणमप्यवस्थितिभाजो भवन्ति।

५. (क) आयारो, ४।४६ : जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कओ सिया।
(ख) माध्यमिककारिका, ११।२ : नैवाद्यं नावरं यस्य, तस्य मध्यं कुतो भवेत्।
(ग) माण्डूक्यकारिका, २।६ : आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमाने पि तत् तथा।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२६ : नोइन्द्रियं मनः।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०२ : 'नो' इति प्रतिषेधे इन्द्रियैः—श्रोत्रादिभिर्ग्राह्यः—संवेद्य इन्द्रियग्राह्यः।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०२ : अध्यात्मशब्देन आत्मस्था मिथ्यात्वादय इहोच्यन्ते।

९. सूयगडो, १।६।२५ :
कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।

१०. महाभारत, शान्तिपर्व, २७७।६।

११. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२७ : अमोहा रयणी, किं दिवसतो ण मरंति?, उच्यते—लोकसिद्धं यन्मरंतीति (रत्तिं) वाहरंती य, अहवा सो न दिवसे विणा (रत्तीए) तेण रत्ती भण्णति, अपच्छिमत्त्वाद्वा णियमा रत्ती।

१२. उत्तरज्झयणाणि, १०।१; १४।२३-२५।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०३ : अमोघा 'रयणि' त्ति रजन्य उक्ताः, दिवसाविनाभावित्वात्तासां दिवसाश्च।

१४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०४ : 'पश्चाद्' यौवनावस्थोत्तरकालं, कोऽर्थः?—पश्चिमे वयसि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या के शब्द सहसा कालिदास के इस श्लोक की याद दिला देते हैं—

**शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयैषिणाम्।**
**वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ (रघुवंश १।८)**

पिता के कहने का अभिप्राय था कि हम लोग बुढ़ापे में मुनि बनेंगे।

**गमिस्सामो**—यह अनियत-वास का संकेत है। चूर्णिकार ने यहां गांव में एक रात और नगर में पांच रात रहने का उल्लेख किया है।[1]

## २२. भोग हमारे लिए अप्राप्त नहीं हैं—हम उन्हें अनेक बार प्राप्त कर चुके हैं (अणागयं नेव य अत्थि किंचि)

आत्मा को पुनर्भवि मानने वालों के लिए यह एक बहुत बड़ा तथ्य है। लोग कहते हैं—यह दीक्षित हो रहा है, इसने संसार में आकर क्या देखा है, क्या पाया है? इसे अभी घर में रहना चाहिए। इस बात का उत्तर कुमारों ने आत्मवाद के आधार पर दिया है। उन्होंने कहा—अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करने वाली आत्मा के लिए अप्राप्त कुछ भी नहीं है, उसे सब कुछ प्राप्त हो चुका है। पदार्थ की प्राप्ति के लिए उसे घर में रहना आवश्यक नहीं है।[2]

जहां मृत्यु न पहुंच पाए वैसा कोई स्थान नहीं है—यह इसका दूसरा अर्थ है।[3]

## २३. हे वाशिष्ठि! (वासिट्ठि!)

गोत्र से सम्बोधित करना गौरव सूचक समझा जाता था, इसलिए पुरोहित ने अपनी पत्नी को 'वाशिष्ठि' कह कर सम्बोधित किया।[4] देखें—दसवेआलियं, ७।१७ का टिप्पण।

## २४. सुसंस्कृत (सुसंभिया)

जो इन्द्रियों के विषय को संपादित करने वाली सारी सामग्री से युक्त होते हैं, सुसंस्कृत होते हैं, वे सुसंभृत कहलाते हैं। यह शब्द 'कामगुण' का विशेषण है।

## २५. शृंगार रस (अग्गरसा...)

नौ रसों में शृंगार पहला रस है, इसलिए इसे अग्रयरस कहा जा सकता है। वृत्ति में यह वैकल्पिक अर्थ के रूप में प्रस्तुत है।

चूर्णि में इसका अर्थ सुख और वृत्ति में मधुर आदि प्रधान रस किया है।[5]

## २६. मोक्ष-मार्ग (पहाणमग्गं)

प्रधान का अर्थ है—मोक्ष। चूर्णिकार ने इस पद के तीन अर्थ किए हैं—(१) ज्ञान, दर्शन और चारित्र (२) दसविध श्रमण धर्म (३) तीर्थकरों का मार्ग।[6] वृत्ति के अनुसार इसका अर्थ है—महापुरुषों द्वारा आसेवित प्रव्रज्यारूपी मुक्तिमार्ग।[7]

'गमिस्सामुपहाणमग्गं'—में संधि-विच्छेद करने पर 'उपहाणमग्गं' पाठ होता है। इसका संस्कृत रूप होगा—'उपधानमार्ग' और अर्थ होगा—तपस्या का मार्ग।

## २७. हे भवति! (भोइ!)

महाराष्ट्र में यह शब्द पूज्य के अर्थ में प्रचलित है। चूर्णि और वृत्ति में इसको आमंत्रण-वचन मानकर भवति! रूप में प्रस्तुत किया है।[8]

## २८. धन, धान्य आदि (कुडुंबसारं)

कुटुम्ब के लिए वे ही सारभूत पदार्थ होते हैं जिनसे कुटुम्ब का भरण-पोषण होता है। हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य आदि कुटुम्बसार माने जाते हैं। यह लाक्षणिक अर्थ की अभिव्यंजना है।

## २९. बार-बार (अभिक्खं)

चूर्णि और वृत्ति में इसका अर्थ 'अभीक्ष्णं'—पुनः-पुनः किया है।[9] 'कुडुम्बसारं विउलुत्तमं तं'—इस वाक्य का कोई क्रियापद नहीं है। इसलिए वृत्तिकार ने 'गेण्हंतं' पद का अध्याहार किया है।[10] यदि 'अभिक्ख' पद का अभिकांक्षत् रूप माना जाए तो अध्याहार की आवश्यकता नहीं रहती। वर्णलोप के द्वारा यह सिद्ध हो सकता है।

## ३०. वह तुम्हें त्राण भी नहीं दे सकेगा (नेव ताणाय तं तव)

रानी कमलावती ने राजा से कहा—धन-धान्य या परिवार परलोक में त्राण नहीं दे सकता। चूर्णिकार ने यहां एक श्लोक उद्धृत किया है[11]—

***अत्थेण णंदराया ण ताइओ गोहणेण कुइअन्नो।***
***धन्नेण तिलयसेट्ठी पुत्तेहिं न ताइओ सगरो॥***

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३७ : गमिस्सामो, अणियत्तवासी गामे एगरातीओ णगरे पंचरातीयो।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०४ : 'अनागतम्' अप्राप्तं नैव चास्ति किंचिदिति मनोरममपि विषयसौख्यादि अनादौ संसारे सर्वस्य प्राप्तपूर्वत्वात्ततो न तदर्थमपि गृहावस्थानं युक्तमिति भावः।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०४ : यद्वाऽनागतं यत्र मृत्योरागतिर्नास्ति तन्न किंचित्स्थानमस्ति।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०५ : वाशिष्ठि!—वशिष्ठगोत्रोद्भवे, गौरवख्यापनार्थं गोत्राभिधानम्।

५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२६ : अग्गरसानां—सुखानां।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४०७।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२६ : पहाणमग्गो णाम ज्ञानदंसणचरित्ताणि, दसविधो वा समणधम्मो, पहाणं वा मग्गं पहाणमग्गं, तीर्थकराणामित्यर्थः।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०६ : प्रधानमार्गं महापुरुषसेवितं प्रव्रज्यारूपं मुक्तिपथमिति।

८. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२६ : हे भवति!.....।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४०६ : हे भवति! आमन्त्रणवचनमेतत्।

९. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३०।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४०८।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०८ : तदिति यत् पुरोहितेन त्यक्तं गृहजन्तमिति शेषः।

११. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ३१. मरना होगा (मरिहिसि.....)

'जातस्य ही ध्रुवो मृत्युः'—यह अटल सिद्धान्त है। जो जन्मता है, वह अवश्य ही मरता है, फिर चाहे कोई राजा हो या रंक, स्त्री हो या पुरुष। कहा भी है—

*१. ध्रुवं उड्ढं तणं कट्ठं, धुवमिन्नं मट्टियामयं भाणं।*
*जातस्य ध्रुवं मरणं, तूरह हितमप्पणो काउं।।*[1]

*२. 'कश्चित् तावत् त्वया दृष्टः श्रुतो वा शाकेतोऽपिवा।*
*क्षितौ वा यदि वा स्वर्गे, यो जातो न मरिष्यति।।'*[2]

### ३२. एक धर्म ही त्राण है (एक्को हु.....)

'मरणसमं नत्थि भयं'—मरण के समान दूसरा कोई भय नहीं है। धर्म इस भय से त्राण दे सकता है।

महान् वैज्ञानिक आइंस्टीन को डॉक्टर ने कहा—एक ऑपरेशन और करना होगा। आइंस्टीन ने कहा—"मैं हठपूर्वक जीना नहीं चाहता। मुझे जितना समय जीना था जी लिया। जो काम करना था, कर लिया। अब मेरे मन में जीने की कोई आकांक्षा नहीं है।"

### ३३. (इहेह)

इसमें 'इह' शब्द का दुबारा प्रयोग है—इह+इह=इहेह। यह दुबारा होने वाला प्रयोग सम्भ्रम का सूचक है।[3]

### ३४. पिंजड़े (पंजरे.....)

तुलना—

*उद्घाटिते नवद्वारे पञ्जरे विहगोऽनिलः।*
*यत्तिष्ठति तदाश्चर्यं, प्रयाणे विस्मयः कुतः।।*

### ३५. सरल क्रियावाली (उज्जुकडा)

चूर्णि में इसका अर्थ—अमायी और वृत्ति में मायारहित अनुष्ठान दिया है।[4] यही शब्द १५।१ में भी प्रयुक्त हुआ है। वहां चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—जो व्यक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से अपने भावों को ऋजु बना लेता है, वह ऋजुकृत कहलाता है। वृत्तिकार ने ऋजु के दो अर्थ किए हैं—संयम अथवा मायारहित अनुष्ठान।[5]

### ३६. विषय-वासना से दूर (निरामिसा)

इस श्लोक में 'निर' के साथ और ४६ वें श्लोक में 'स' और 'निर' के साथ तथा स्वतंत्र रूप में और ४६ वें श्लोक में 'निर' के साथ—इस प्रकार आमिष शब्द का छह बार प्रयोग हुआ है। ४६ वें श्लोक के प्रथम दो चरणों में वह मांस के अर्थ में[6] तथा शेष स्थानों में आसक्ति के हेतुभूत काम-भोग या धन के अर्थ में[7] प्रयुक्त हुआ है।

बौद्ध साहित्य में भी धन या भोग के अर्थ में आमिष शब्द का प्रयोग हुआ है।[8] देखें—उत्तरज्झयणाणि, ८।५ का टिप्पण।

### ३७. (परिग्गहारंभनियत्तदोसा)

जो आरम्भ और परिग्रह के दोष से निवृत्त हो गई हो उस स्त्री का विशेषण 'परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता' होता है। शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'परिग्रहारम्भनिवृत्ता' और 'अदोषा' ये दो विशेषण भी माने हैं।[9]

### ३८. राग-द्वेष..... (रागद्दोस.....)

'दावाग्नि लगी हुई है। अरण्य में जीव-जन्तु जल रहे हैं। उन्हें देख राग-द्वेष के वशीभूत होकर दूसरे जीव प्रमुदित हो रहे हैं।' प्रस्तुत प्रसंग में द्वेष शब्द की सार्थकता हो सकती है, पर राग शब्द की उपयोगिता क्या है? यह प्रश्न स्वाभाविक है। राग का अर्थ यदि मनोरंजन किया जाए तो प्रसंग की संगति बैठ सकती है। अथवा अपने प्रति राग और दूसरों के प्रति द्वेष अर्थ हो तो दोनों की सार्थकता हो सकती है।

सच्चाई यह है कि किसी के प्रति द्वेष होने का अर्थ है—किसी के प्रति राग है। राग मौलिक प्रवृत्ति है। द्वेष उसका एक स्फुलिंग है। इसलिए जहां द्वेष है वहां राग का होना नैसर्गिक है।

### ३९. वायु की तरह अप्रतिबद्ध विहार करते हैं (लहुभूयविहारिणो)

वायु की तरह विहार करने वाला अथवा संयमपूर्वक विहार करने वाला 'लघुभूतविहारी' कहलाता है।[10] मिलाइए—दसवेआलियं ३।१०।

### ४०. स्वेच्छा से निवारण करने वाले (कामकमा)

जो अपनी स्वतंत्र इच्छा से इधर-उधर घूमते हैं वे कामक्रम कहलाते हैं। मुक्त पक्षी अपनी इच्छा के अनुसार सभी दिशाओं में उड़ने के लिए स्वतंत्र होते हैं। वे अप्रतिबद्ध होते हैं।

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३०।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०८।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०९ : इहेहे ति वीप्साभिधानं सम्भ्रमख्यापनार्थम्।
४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३० : उज्जुकडा—अमायी।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४०९ : ऋजु—मायाविरहितं, कृतं अनुष्ठितमस्या इति ऋजुकृता।
५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३४ : ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिः उज्जुकडे—ऋजुभावं कृत्वा।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१० : सहामिषेण—पिशितरूपेण वर्तत इति सामिषः।
७. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४०९ : निष्क्रान्ता आमिषाद्—गृद्धिहेतोरभिलषितविषयादेः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१० : 'आमिषम्' अभिष्वंगहेतु धनधान्यादि।
८. मज्झिमनिकाय, २।२।१०, पृ० २७८।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०९ : निवृत्ता—उपरता परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता, यद्वा परिग्रहारम्भनिवृत्ता अतएव चादोषा—विकृतिविरहिता।
१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१० : लघुः—वायुस्तद्वद्भूतं—भवनमेषां लघुभूताः, कोऽर्थः? वायूपमाः तथाविधाः सन्तो विहरन्तीत्येवंशीलाः लघुभूतविहारिणः—अप्रतिबद्धविहारिण इत्यर्थः, यद्वा लघुभूतः—संयमस्तेन विहर्तुं शीलं येषां ते तथाविधाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ४१. पथ्य है (पत्थं)

इसके संस्कृत पर्याय चार होते हैं—पथ्य, प्रार्थ्य, पार्थ और प्रस्थ। प्रस्तुत प्रसंग में पथ्य और प्रार्थ्य—ये दोनों उचित लगते हैं।

### ४२. निर्विषय (निव्विसय)

विषय शब्द के दो अर्थ होते हैं—शब्द आदि विषय और देश। वृत्तिकार ने निर्विषय का मूल अर्थ शब्द आदि इन्द्रिय विषयों का त्याग और वैकल्पिक अर्थ देश-त्याग किया है।[1] चूर्णि में पहला अर्थ ही मान्य है।[2] प्रस्तुत प्रसंग में विपुल राज्य को छोड़ने के कारण निर्विषय का अर्थ—देश रहित ही होना चाहिए।

### ४३. घोर पराक्रम करने लगे (घोरपरक्कमा)

तप के अतिशय की ऋद्धि सात प्रकार की बतलाई गई है। उसका छट्ठा प्रकार 'घोर पराक्रम' है। ज्वर, सन्निपात आदि महाभयंकर रोगों के होने पर भी जो अनशन, काया-क्लेश आदि में मन्द नहीं होते और भयानक श्मशान, पहाड़ की गुफा आदि में रहने के अभ्यासी हैं वे 'घोर तप' हैं। ये ही जब तप और योग को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं तब 'घोर पराक्रम' कहे जाते हैं। यह व्याख्या तत्त्वार्थ राजवार्तिक में प्राप्त होती है।[3] पचासवें श्लोक के अन्तिम दो चरणों के अनुसार यह उपयुक्त प्रतीत होती है। 'तवं पगिज्झऽहक्खायं घोरं घोरपरक्कमा' इसमें घोरता की भावना निहित है और 'घोरपरक्कमा' उसी का अग्रिम रूप है। चूर्णि और टीका में इनका केवल शाब्दिक अर्थ मिलता है।

### ४४. (सासणे विगयमोहाणं, पुव्विं भावणभाविया)

इन ६ जीवों ने पूर्व में जैन शासन में दीक्षित होकर अनित्य, अशरण आदि भावनाओं के द्वारा अपनी आत्मा को भावित किया था। इन चरणों में उसी तथ्य की सूचना दी गई है।[4]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४११।
२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३१।
३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ३।३६, पृ० २०३।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पनरसमं अज्झयणं

## सभिक्खुयं

# पन्द्रहवां अध्ययन

## सभिक्षुक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में भिक्षु के लक्षणों का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'सभिक्खुयं'—'सभिक्षुक' रखा गया है।

भिक्षु अकेला होता है। उसके न कोई मित्र होता और न कोई शत्रु। वह सभी सम्बन्धों से विप्रमुक्त होता है। वह साधना करता है। वह अध्यात्म की कला को कभी जीविका-उपार्जन के लिए प्रयुक्त नहीं करता। वह सदा जितेन्द्रिय रहता है। (श्लोक १६)

जीवन भयाकुल है। उसके प्रत्येक चरण में भय ही भय है। भिक्षु अभय की साधना करता है। पहले-पहल वह भय को जीतने के लिए उपाश्रय में ही मध्य रात्रि में उठ कर अकेला ही कायोत्सर्ग करता है। दूसरी बार उपाश्रय से बाहर, तीसरी बार दूर चौराहे पर, चौथी बार शून्य-गृह में और अन्त में श्मशान में अकेला जा कायोत्सर्ग करता है। वह भय-मुक्त हो जाता है। अभय अहिंसा का परिपाक है। (श्लोक १४)

मुनि को प्रत्येक वस्तु याचित ही मिलती है। अयाचित कुछ भी नहीं मिलता। जो इच्छित वस्तु मिलने पर प्रसन्न और न मिलने पर अप्रसन्न नहीं होता वह भिक्षु है। भिक्षु के लिए सभी द्वार खुले हैं। कोई दाता देता है और कोई नहीं भी देता। इन दोनों स्थितियों में जो सम रहता है वह भिक्षु है। (श्लोक ११, १२)

मुनि सरस आहार मिलने पर उसकी प्रशंसा और नीरस मिलने पर उसकी गर्हा न करे। ऊंचे कुलों की भिक्षा करने के साथ-साथ प्रान्त कुलों से भी भिक्षा ले। भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो उसी में सन्तोष करने वाला भिक्षु होता है। (श्लोक १३)

मुनि अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए हीन-भाव से किसी के आगे हाथ नहीं पसारता। वह याचना में भी अपने आत्म-गौरव को नहीं खोता। बड़े व्यक्तियों की न वह चापलूसी करता है और न छोटे व्यक्तियों का तिरस्कार, न वह धनवानों की श्लाघा करता है और न निर्धनों की निन्दा। सबके प्रति उसका बर्ताव सम होता है। (श्लोक ६)

दशवैकालिक का दसवां अध्ययन 'सभिक्खु' है। उसमें २१ श्लोक हैं। इस अध्ययन में १६ श्लोक हैं। उद्देश्य-साम्य होने पर भी दोनों के वर्णन में अन्तर है। कहीं-कहीं श्लोकों के पदों में शब्द-साम्य है। इस अध्ययन में प्रयुक्त भिक्षु के कई विशेषण नए हैं। इसके समग्र अध्ययन से भिक्षु को जीवन-यापन विधि का अथ से इति तक सम्यक् परिज्ञान हो जाता है।

इस अध्ययन में अनेक दार्शनिक तथा सामाजिक तथ्यों का संकलन हुआ है। आगम काल में कुछ श्रमण और ब्राह्मण मंत्र, चिकित्सा आदि का प्रयोग करते थे। भगवान् महावीर ने जैन मुनि के लिए ऐसा करने का निषेध किया है।

वमन, विरेचन और धूमनेत्र—ये चिकित्सा-प्रणाली के अंग हैं। आयुर्वेद में प्रचलित 'पंचकर्म' की प्रक्रिया में प्रथम दो का महत्त्वपूर्ण स्थान है और आज भी इस प्रक्रिया से चिकित्सा की जाती है। धूमनेत्र मस्तिष्क-सम्बन्धी रोगों का निवारण करने के लिए प्रयुक्त होता था। इसका उल्लेख दशवैकालिक ३।६ और सूत्रकृतांग २।४।६७ में भी हुआ है।

सातवें श्लोक में अनेक विद्याओं का उल्लेख हुआ है। आजीवक आदि श्रमण इन विद्याओं का प्रयोग कर अपनी आजीविका चलाते थे। इससे लोगों में आकर्षण और विकर्षण—दोनों होते थे। साधना भंग होती थी। भगवान् ने इस विद्या-प्रयोगों से आजीविका चलाने का निषेध किया है।

निर्युक्तिकार ने भिक्षु के लक्षण इस प्रकार बतलाए हैं[1]—

भिक्षु वह है जो राग-द्वेष को जीत लेता है।

भिक्षु वह है जो मन, वचन और काया—इन तीनों दण्डों में सावधान रहता है।

भिक्षु वह है जो न सावद्य कार्य करता है, न दूसरों से करवाता है और न उसका अनुमोदन करता है।

भिक्षु वह है जो ऋद्धि, रस और साता का गौरव नहीं करता।

भिक्षु वह है जो मायावी नहीं होता, जो निदान नहीं करता और जो सम्यग्दर्शी होता है।

भिक्षु वह है जो विकथाओं से दूर रहता है।

भिक्षु वह है जो आहार, भय, मैथुन और परिग्रह—इन चार संज्ञाओं को जीत लेता है।

भिक्षु वह है जो कषायों पर विजय पा लेता है।

भिक्षु वह है जो प्रमाद से दूर रहता है।

भिक्षु वह है जो कर्म-बन्धन को तोड़ने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है।

जो ऐसा होता है वह समस्त ग्रन्थियों का छेदन कर अजर-अमर पद को पा लेता है।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३७८-३७९ :
रागद्दोसा दंडा जोगा तह गारवा य सल्ला य।
विगहाओ सण्णाओ खुहं कसाया पमाया य॥
एयाइं तु खुहाइं जे खलु भिंदंति सुव्वया रिसओ।
ते भिन्नकम्मगंठी उविंति अयरामरं ठाणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पनरसमं अज्झयणं : पन्द्रहवां अध्ययन
## सभिक्खुयं : सभिक्षुक

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं<br>सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने।<br>संथवं जहिज्ज अकामकामे<br>अन्नायएसी परिव्वए जे स भिक्खू।। | *मौनं चरिष्यामि समेत्य धर्मं*<br>*सहित ऋजुकृतः छिन्ननिदानः।*<br>*संस्तवं जह्यादकामकामः*<br>*अज्ञातैषी परिव्रजेत् स भिक्षुः।।* | 'धर्म को स्वीकार कर मुनि-व्रत का[1] आचरण करूंगा—जो ऐसा संकल्प करता है, जो सहिष्णु है[2], जिसका अनुष्ठान ऋजु है[3], जो वासना के संकल्प का छेदन करता है[4], जो परिचय का[5] त्याग करता है, जो काम-भोगों की अभिलाषा को छोड़ चुका है[6], जो तप आदि का परिचय दिए बिना भिक्षा की खोज करता है[7], जो अप्रतिबद्ध विहार करता है—वह भिक्षु है। |
| २. राओवरयं चरेज्ज लाढे<br>विरए वेयवियाऽऽयरक्खिए।<br>पन्ने अभिभूय सव्वदंसी<br>जे कम्हिचि न मुच्छिए स भिक्खू।। | *रागोपरतं चरेद् लाढः*<br>*विरतो वेदविदात्मरक्षितः।*<br>*प्रज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी*<br>*यः कस्मिनपि न मूर्च्छितः स भिक्षुः।।* | जो राग से उपरत होकर विहार करता है[8], जो निर्दोष आहार से जीवन-यापन करता है, जो विरत, आगम को जानने वाला और आत्म-रक्षक है[9], जो प्रज्ञ है[10], जो परीषहों को जीतने वाला और सब जीवों को आत्म-तुल्य समझने वाला है[11], जो किसी भी वस्तु में मूर्च्छित नहीं होता—वह भिक्षु है। |
| ३. अक्कोसवहं विइत्तु धीरे<br>मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते।<br>अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे<br>जे कसिणं अहियासए स भिक्खू।। | *आक्रोशवधं विदित्वा धीरः*<br>*मुनिश्चरेद् लाढः नित्यमात्मगुप्तः।*<br>*अव्यग्रमना असंप्रहृष्टः*<br>*यः कृत्स्नमध्यास्ते स भिक्षुः।।* | जो धीर मुनि कठोर वचन और ताड़ना को अपने कर्मों का फल जानकर शान्त भाव से विचरण करता है, जो प्रशस्त है, जो सदा आत्मा का संवरण किये रहता है[12], जिसका मन आकुलता और हर्ष से रहित होता है[13], जो सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है। |
| ४. पंतं सयणासणं भइत्ता<br>सीउण्हं विविहं च दंसमसगं।<br>अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे<br>जे कसिणं अहियासए स भिक्खू।। | *प्रान्तं शयनासनं भुक्त्वा*<br>*शीतोष्णं विविधं च दंशमशकम्।*<br>*अव्यग्रमना असंप्रहृष्टः*<br>*यः कृत्स्नमध्यास्ते स भिक्षुः।।* | तुच्छ[14] शयन और आसन का सेवन करके तथा सर्दी, गर्मी, डांस और मच्छरों के त्रास को सहन करके भी जिसका मन आकुलता और हर्ष से रहित होता है, जो सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है। |
| ५. नो सक्कियमिच्छई न पूयं<br>नो वि य वंदणगं कुओ पसंसं?।<br>से संजए सुव्वए तवस्सी<br>सहिए आयगवेसए स भिक्खू।। | *नो सत्कृतमिच्छति न पूजां*<br>*नो अपि च वंदनकं कुतः प्रशंसाम्?*<br>*स संयतः सुव्रतस्तपस्वी*<br>*सहित आत्मगवेषकः स भिक्षुः।।* | जो सत्कार, पूजा और वन्दना की इच्छा नहीं करता वह प्रशंसा की इच्छा कैसे करेगा? जो संयत, सुव्रत, तपस्वी, दूसरे भिक्षुओं के साथ रहने वाला और आत्म-गवेषक है[15]—वह भिक्षु है। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. जेण पुण जहाइ जीवियं
मोहं वा कसिणं नियच्छई।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी
न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू।।

*येन पुनर्जहाति जीवितं*
*मोहं वा कृत्स्नं नियच्छति।*
*नरनारीं प्रजह्यात् सदा तपस्वी*
*न च कौतूहलमुपैति स भिक्षुः।।*

जिसके संयोग मात्र से संयम-जीवन छूट जाये और समग्र मोह से बंध जाए वैसे स्त्री या पुरुष की संगति का जो त्याग करता है, जो सदा तपस्वी है, जो कुतूहल नहीं करता—वह भिक्षु है।

७. छिन्नं सरं भोमं अंतलिक्खं
सुमिणं लक्खणदंडवत्थुविज्जं।
अंगवियारं सरस्स विजयं
जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू।।

*छिन्नं स्वरं भौममन्तरिक्षं*
*स्वप्नं लक्षणदण्डवास्तुविद्यां।*
*अंगविकारः स्वरस्य विचयः*
*यो विद्याभिर्न जीवति स भिक्षुः।।*

जो छिन्न (छिद्र-विद्या), स्वर (सप्त-स्वर विद्या), भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दण्ड, वास्तु-विद्या, अंग-विकार और स्वर-विज्ञान (पशु-पक्षी स्वर-विद्या)—इन विद्याओं के द्वारा आजीविका नहीं करता—वह भिक्षु है।[१५]

८. मंतं मूलं विविहं वेज्जचिंतं
वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू।।

*मन्त्रं मूलं विविधां वैद्यचिन्तां*
*वमन-विरेचन-धूमनेत्र-स्नानम्।*
*आतुरे शरणं चिकित्सितं च*
*तत् परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः।।*

मन्त्र[१७], मूल, विविध प्रकार की आयुर्वेद सम्बन्धी चिन्ता, वमन, विरेचन, धूम्र-पान की नली[१८], स्नान[१९], आतुर होने पर स्वजन की शरण, चिकित्सा—इनका परित्याग कर जो परिव्रजन करता है—वह भिक्षु है।

९. खत्तियगणउग्गरायपुत्ता
माहणभोइय विविहा य सिप्पिणो।
नो तेसिं वयइ सिलोगपूयं
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू।।

*क्षत्रियगणोग्रराजपुत्राः*
*ब्राह्मणभोगिका विविधाश्च शिल्पिनः।*
*नो तेषां वदति श्लोकपूजे*
*तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः।।*

क्षत्रिय, गण, उग्र, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक[२०] (सामन्त) और विविध प्रकार के शिल्पी जो होते हैं, उनकी श्लाघा और पूजा नहीं करता किन्तु उसे दोष-पूर्ण जान उसका परित्याग कर जो परिव्रजन करता है—वह भिक्षु है।

१०. गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा
अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा।
तेसिं इहलोइयफलट्ठा
जो संथवं न करेइ स भिक्खू।।

*गृहिणो ये प्रव्रजितेन दृष्टाः*
*अप्रव्रजितेन च संस्तुता भवेयुः।*
*तेषामिहलौकिकफलार्थं*
*यः संस्तवं न करोति स भिक्षुः।।*

दीक्षा लेने के पश्चात् जिन्हें देखा हो या उससे पहले जो परिचित हों उनके साथ इहलौकिक फल (वस्त्र-पात्र आदि) की प्राप्ति के लिए जो परिचय नहीं करता—वह भिक्षु है।

११. सयणासणपाणभोयणं
विविहं खाइमसाइमं परेसिं।
अदए पडिसेहिए नियंठे
जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू।।

*शयनासनपानभोजनं*
*विविधं खाद्यस्वाद्यं परेभ्यः।*
*अददद्भ्यः प्रतिषिद्धो निर्ग्रन्थः*
*यस्तत्र न प्रदुष्यति स भिक्षुः।।*

शयन, आसन, पान, भोजन और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य गृहस्थ न दे तथा कारणविशेष से मांगने पर भी इन्कार हो जाए, उस स्थिति में जो प्रद्वेष न करे—वह भिक्षु है।

१२. जं किंचि आहारपाणं विविहं
खाइमसाइमं परेसिं लद्धुं।
जो तं तिविहेण नाणुकंपे
मणवयकायसुसंवुडे स भिक्खू।।

*यत्किंचिदाहरपानं विविधं*
*खाद्यस्वाद्यं परेभ्यो लब्ध्वा।*
*यस्तेन त्रिविधेन नानुकम्पते*
*सुसंवृतमनोवाक्कायः स भिक्षुः।।*

गृहस्थों के घर से जो कुछ आहार, पानक और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य प्राप्त कर जो गृहस्थ की मन, वचन और काया से अनुकम्पा नहीं करता—उन्हें आशीर्वाद नहीं देता, जो मन, वचन और काया से सुसंवृत होता है—वह भिक्षु है।

१३. आयामगं चेव जवोदणं च
सीयं च सोवीरजवोदगं च।
नो हीलए पिंडं नीरसं तु
पंतकुलाइं परिव्वए स भिक्खू।।

*आयामकं चैव यवौदनं च*
*शीतं सौवीरं यवोदकं च।*
*न हीलयेत् पिण्डं नीरसं तु*
*प्रान्त्यकुलानि परिव्रजेत् स भिक्षुः।।*

ओसामन, जौ का दलिया, ठण्डा-बासी आहार, कांजी का पानी[२१], जौ का पानी जैसी नीरस भिक्षा की जो निन्दा नहीं करता, जो सामान्य घरों में भिक्षा के लिए जाता है—वह भिक्षु है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. सद्दा विविहा भवंति लोए
दिव्वा माणुस्सगा तहा तिरिच्छा।
भीमा भयभेरवा उराला
जो सोच्चा न वहिज्जई स भिक्खू।।

*शब्दा विविधा भवन्ति लोके*
*दिव्या मानुष्यकास्तथा तैरश्चाः।*
*भीमा भयभैरवा उदाराः*
*यः श्रुत्वा न व्यथते स भिक्षुः।।*

लोक में देवता, मनुष्य और तिर्यञ्चों के अनेक प्रकार के रौद्र, अति भयंकर[२२] और ऊंचे स्वर में[२३] शब्द होते हैं, उन्हें सुनकर जो व्यथित नहीं होता—वह भिक्षु है।

१५. वादं विविहं समिच्च लोए
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी
उवसंते अविहेडए स भिक्खू।।

*वादं विविधं समेत्य लोके*
*सहितः खेदानुगतश्च कोविदात्मा।*
*प्रज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी*
*उपशान्तोऽविहेठकः स भिक्षुः।।*

जो लोक में विविध प्रकार के वादों को जानता है, जो सहिष्णु है, जो संयमी है[२४], जिसे आगम का परम अर्थ प्राप्त हुआ है[२५], जो प्रज्ञ है, जो परीषहों को जीतने वाला और सब जीवों को आत्म-तुल्य समझने वाला है, जो उपशान्त और किसी को भी अपमानित न करने वाला[२६] होता है—वह भिक्षु है।

१६. असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते
जिइंदिए सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी
चेच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू।।

*अशिल्पजीव्यगृहोऽमित्रः*
*जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रमुक्तः।*
*अणुकषायी लध्वल्पभक्षी*
*त्यक्त्वा गृहमेकचरः स भिक्षुः।।*

जो शिल्प-जीवी नहीं होता, जिसके घर नहीं होता, जिसके मित्र नहीं होते[२७], जो जितेन्द्रिय और सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है, जिसका कषाय मन्द होता है[२८], जो हलका और थोड़ा भोजन करता है, जो घर को छोड़ अकेला (राग-द्वेष से रहित हो) विचरता है—वह भिक्षु है।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण

# अध्ययन १५ : सभिक्षुक

### १. मुनि-व्रत का (मोणं)

जो त्रिकालावस्थित जगत् को जानता है, उसे मुनि कहा जाता है। मुनि के भाव या कर्म को मौन कहा जाता है। मौन का बहु-प्रचलित अर्थ है—वचन-गुप्ति। किन्तु यहां इसका अर्थ—समग्र मुनि-धर्म है।[1]

### २. जो सहिष्णु है (सहिए)

यहां 'सहिए' शब्द का अर्थ है सहिष्णु। 'षह्' धातु मर्षण अर्थात् क्षमा के अर्थ में है। इस धातु का प्राकृत में क्त प्रत्ययांत रूप 'सहिय' बनता है। संस्कृत में 'इट्' होने पर 'सहित' और 'इट्' न होने पर 'सोढ' बनता है। सेतुबन्ध (१।५५) में 'सहिय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से युक्त किया है।[2] बृहद्वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—सम्यग्-दर्शन आदि से युक्त अथवा दूसरे साधुओं के साथ। उन्होंने इसका दूसरा संस्कृत रूप 'स्वहित' देकर उसका अर्थ—अपने लिए हितकर किया है।[3]

आचार्य नेमिचन्द्र ने 'सहिए' का अर्थ—अन्य साधुओं से समेत—किया है। वे यहां एकल-विहार का प्रतिषेध बतलाते हैं। साधुओं को एकाकी विहार नहीं करना चाहिए—इस तथ्य की पुष्टि में वे एक गाथा प्रस्तुत करते हैं—

***'एगागियस्स दोसा, इत्थी साणे तहेव पडिणीए।***
***भिक्खविसोहि महव्वय, तम्हा सेविज्ज दोगमणं।।'***

अर्थात् एकाकी रहने से—

१. स्त्री-प्रसंग की संभावना रहती है।
२. कुत्ते आदि का भय रहता है।
३. शत्रु का भय रहता है।
४. भिक्षा की विशुद्धि नहीं रहती।
५. महाव्रतों के पालने में जागरूकता नहीं रहती।

अतः एकाकी न रह कर साथ में रहना चाहिए।[4]

इसी अध्ययन के पांचवें श्लोक के चौथे चरण में 'सहित' शब्द प्रयुक्त है। वहां चूर्णिकार ने इसका अर्थ—ज्ञान आदि से सहित किया है और शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—

(१) सम्यग् ज्ञान और क्रिया से युक्त।

(२) भविष्य के लिए कल्याणकारी अनुष्ठान से युक्त।[5]

पन्द्रहवें श्लोक में भी इसका प्रयोग हुआ है।

किन्तु इन व्याख्याओं में ज्ञान आदि का अध्याहार करने पर ही 'सहित' का अर्थ पूर्ण होता है। सहिष्णु—इस अर्थ में किसी दूसरे पद के अध्याहार की अपेक्षा नहीं होती।

### ३. जिसका अनुष्ठान ऋजु है (उज्जुकडे)

इसका अर्थ है—संयम प्रधान या मायारहित अनुष्ठान। चूर्णि के अनुसार जो व्यक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से अपने भावों को ऋजु—सरल बना लेता है, वह ऋजुकृत कहलाता है।[6] वृत्तिकार ने ऋजु का अर्थ संयम तथा मायारहित किया है।[7]

देखें—१४।४ का टिप्पण।

### ४. जो वासना के संकल्प का छेदन करता है (नियाणछिन्ने)

निदान का अर्थ है—किसी व्रतानुष्ठान की फल-प्राप्ति के लिए मोहाविष्ट-संकल्प, जैसे—'मेरे साधुपन का यदि फल हो तो मैं देव बनूं, धनी बनूं आदि-आदि।' साधक के लिए ऐसा करना निषिद्ध है।

शान्त्याचार्य ने निदान के दो अर्थ किए हैं—विषयों की आसक्ति तथा प्राणातिपात आदि कर्म-बन्धन का कारण।[8] उन्होंने संयुक्त पद 'नियाणछिन्न' का अर्थ 'अप्रमत्त-संयत' किया है।[9]

### ५. परिचय का (संथवं)

इसके दो अर्थ हैं—स्तुति और परिचय। चूर्णिकार और टीकाकारों को यहां 'परिचय' अर्थ ही अभीष्ट है।

चूर्णिकार के अनुसार संस्तव दो प्रकार का है—संवास-संस्तव और वचन-संस्तव। असाधु व्यक्तियों के साथ

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३४ : मन्यते त्रिकालावस्थितं जगदीति मुनिः, मुनिभावो मौनम्।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : मुनेः कर्म मौनं तच्च सम्यक्चारित्रम्।
(ग) सुखबोधा, पत्र २१४ : मौनं श्रामण्यम्।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३४ : ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिः।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : सहितः—सम्यग्दर्शनादिभिरन्यसाधुभिर्वेति गम्यते। .....स्वस्मै हितः स्वहितो वा सदनुष्ठानकरणतः।

४. सुखबोधा, पत्र २१४।

५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३६ : ज्ञानादिसहितः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१६ : सहितः सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां, यद् वा सह हितेन—आयतिपथ्येन अर्थादनुष्ठानेन वर्त्तत इति सहितः।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३४।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४।

८. वही, पत्र ४१४ : निदानं—विषयाभिष्वंगात्मकं, यदि वा.....निदानं—प्राणातिपातादिकर्मबन्धकारणम्।

९. वही, पत्र ४१४ : छिन्ननिदानो वा अप्रमत्तसंयत इत्यर्थः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहना 'संवास-संस्तव' है और असाधु व्यक्तियों के साथ आलाप-संलाप करना 'वचन-संस्तव' है।[1]

वृत्तिकार ने संस्तव के प्रकारांतर से दो भेद किए हैं—पूर्व-संस्तव और पश्चात् संस्तव।

पितृ-पक्ष का सम्बन्ध 'पूर्व-संस्तव' और ससुर-पक्ष, मित्र आदि का सम्बन्ध 'पश्चात् संस्तव' कहलाता है।[2]

### ६. जो काम-भोगों की अभिलाषा को छोड़ चुका है (अकामकामे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'मोक्ष की कामना करने वाला' किया है।[3] शान्त्याचार्य के अनुसार काम दो प्रकार के होते हैं—इच्छाकाम और मदनकाम। जो इन दोनों की कामना नहीं करता, वह 'अकामकाम' है।[4] विकल्प में उन्होंने चूर्णिकार का अनुसरण किया है।[5]

### ७. जो तप आदि का परिचय.....खोज करता है (अन्नायएसी)

दशवैकालिक १०।१६ में 'अन्नायउंछं' शब्द प्रयुक्त है। वहां अन्नाय—'अज्ञात' का अर्थ है—अज्ञातकुल। प्रस्तुत प्रकरण में 'अज्ञात' का अर्थ है—तप आदि का ज्ञान कराए बिना।[6] अज्ञातैषी का अर्थ होता है—तप आदि का परिचय दिए बिना भिक्षा की खोज करने वाला। चूर्णिकार ने इसका अर्थ—किसी की निश्रा—आश्रय लिए बिना भिक्षा करने वाला किया है।[7]

### ८. जो राग से उपरत होकर विहार करता है (राओवरयं चरेज्ज)

'राओवरयं' के संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—रागोपरतम् और रात्रि-उपरतम्। प्रथम रूप के अनुसार शान्त्याचार्य ने इस वाक्य का अर्थ 'राग (मैथुन) से निवृत्त होकर विहरण करे' और दूसरे रूप के अनुसार 'रात्रि-भोजन से निवृत्त होकर विहरण करे' किया है।[8]

चूर्णिकार ने 'रात्रि-उपरत' के अनुसार इसका अर्थ 'रात्रि में भोजन न करे, रात्रि में गमन आदि क्रियाएं न करे' किया है।[9]

नेमिचन्द्र ने शान्त्याचार्य के प्रथम अर्थ का अनुसरण किया है।[10] वह अधिक प्रासंगिक है।

### ९. आगम को जानने वाला और आत्म-रक्षक है (वेयवियाऽऽयरक्खिए)

शान्त्याचार्य ने मुख्य रूप से इन दो शब्दों को एक मान कर इसका अर्थ 'सिद्धांतों को जान कर उनके द्वारा आत्मा की रक्षा करने वाला' किया है और गौण रूप में इन दोनों शब्दों को अलग-अलग मान कर 'वेयवियं' का अर्थ 'ज्ञानवान्' और 'आयरक्खिए' का अर्थ 'सम्यग्-दर्शन आदि के लाभ की रक्षा करने वाला' किया है।[11]

### १०. जो प्रज्ञ है (पन्ने)

चूर्णिकार ने प्राज्ञ (प्रज्ञ) का अर्थ—आय और उपाय की विधि को जानने वाला किया है। प्राज्ञ वह होता है जो आय—सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र के लाभ तथा उत्सर्ग, अपवाद, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की विधियों को जानने वाला हो।[12] वृत्ति में इसका अर्थ —'हेय और उपादेय को जानने वाला' किया है।[13]

### ११. जो परीषहों को.....आत्म-तुल्य समझने वाला है (अभिभूय सव्वदंसी)

चूर्णि में 'अभिभूय' का अर्थ—तिरस्कार कर तथा 'सर्वदर्शी' का अर्थ—सबको आत्मतुल्य समझने वाला—किया है।[14] वृत्ति में 'अभिभूय' के दो अर्थ प्राप्त हैं—परीषहों तथा उपसर्गों को पराजित कर तथा राग-द्वेष का अभिभव कर। वृत्तिकार ने 'सव्वदंसी' के दो संस्कृत रूप देकर दो भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं—

१. सर्वदर्शी—प्राणीमात्र को आत्मवत् देखने वाला अथवा सर्व वस्तुजात को समदृष्टि से देखने वाला।
२. सर्वदंशी—सब कुछ खा जाने वाला, लेपमात्र भी नहीं छोड़ने वाला।[15]

आचारांग में 'वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं' ऐसा पाठ है।[16] यहां 'अभिभूय' शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है। इसका अर्थ

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३४-२३५ : संस्तवो द्विविधः —संवासरासंस्तवः वचनरासंस्तवश्च, अशोभनैः सह संवासः, वचनसंस्तवश्च तेषामेव।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : पूर्वसंस्तुतैर्मात्रादिभिः पश्चात्संस्तुतैश्च श्वश्रूवादिभिः।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३५ : अकामः- —अपगतकामः, कामो द्विविधः—इच्छाकामो मदनकामश्च, अपगतकामस्य या इच्छा ता कामयति, सा च कामेच्छा मोक्षं कामयतीति, प्रार्थयतीत्यर्थः।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : कामान्—इच्छाकाममदनकामभेदान् कामयते—प्रार्थयते यः स कामकामो, न तथा अकामकामः।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : यद्वाऽकामो- -मोक्षस्तत्र सकलाभिलाषनिवृत्तेस्तं कामयते यः स तथा।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३५।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : रागः—अभिष्वंगः उपरतो—निवृत्तो यस्मिंस्तद्रागोपरतं यथा भवत्येवं 'चरेद्' विहरेत्, क्तान्तस्य परनिपातः प्राग्वात्, अनेन मैथुननिवृत्तिरुक्ता, रागाविनाभावित्वान्मैथुनस्य, यद्वाऽऽवृत्तिन्यायेन 'रातोवरयं' ति रात्र्युपरतं चरेत्, भक्षयेदित्यनेनैव रात्रिभोजननिवृत्तिरप्युक्ता।

९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३५ : रात्रादुपरतं चरेत्, किमुक्तं भवति ?, रात्रौ न भुक्ते, रात्रौ गतादिक्रियां न कुर्यात्।

१०. सुखबोधा, पत्र २१५।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : वेद्यतेऽनेन तत्त्वमिति वेदः—सिद्धान्तस्तस्य वेदनं वित् तया आत्मा रक्षितो—दुर्गतिपतनात्त्रातोऽनेनेति वेदविदात्मरक्षितः, यद्वा वेदं वेत्तीति वेदवित् तथा रक्षिता आयाः—सम्यग्दर्शनादिलाभा येनेति रक्षितायः।

१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३५ : प्राज्ञो—विदुः, संपन्नो आयोपायविधिज्ञो भवेत्, उत्सर्गापवादद्रव्याद्यापदादिको य उपायः।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४ : प्राज्ञः—हेयोपादेयबुद्धिमान्।

१४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३५ : अभिभूय—तिरस्कृत्य, सव्वदर्सी—आत्मवत् सर्वदर्शी भवेत्।

१५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४-४१५ : अभिभूय पराजित्य परीषहोपसर्गादिति गम्यते, सर्वं समस्तं गम्यमानत्वात् प्राणिगणं पश्यति—आत्मवत् प्रेक्षत इत्येवंशीलः, अथवाऽभिभूय रागद्वेषौ सर्वं वस्तु समतया पश्यतीत्येवंशीलः सर्वदर्शी, यदि वा सर्वं दशति—भक्षयतीत्येवंशीलः सर्वदंशी।

१६. आयारो १।६८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है---ज्ञान और दर्शन के आवरण को हटाकर। जो इन आवरणों से मुक्त होता है, वही सर्वदर्शी हो सकता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि का सोपान है।

### १२. जो आत्मा का संवरण किए रहता है (आयगुत्ते)

शान्त्याचार्य ने इसका मुख्य अर्थ 'शारीरिक अवयवों को नियंत्रित रखने वाला' किया है और गौण रूप में 'आत्म-रक्षक' किया है। उन्होंने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत करते हुए आत्मा का अर्थ 'शरीर' किया है।[1] नेमिचन्द्र ने 'आत्म-रक्षक' अर्थ मान्य किया है।[2]

### १३. जिसका मन आकुलता...से रहित होता है (अवग्गमणे)

मन की दो अवस्थाएं हैं---व्यग्र और एकाग्र। व्यग्र का अर्थ है---चंचल। अव्यग्र शब्द एकाग्र के अर्थ में प्रयुक्त है।

### १४. तुच्छ (पंत)

यह देशी शब्द है। प्रस्तुत प्रसंग में यह 'सयणासणं' का विशेषण है। इसका अर्थ है---तुच्छ, सामान्य। बंगला भाषा में इसका अर्थ है---बासी चावल।

### १५. आत्म-गवेषक है (आयगवेसए)

शान्त्याचार्य ने 'आय' शब्द के तीन संस्कृत रूपों की कल्पना कर इस शब्द समूह के तीन अर्थ किए हैं[3]---

१. आत्म-गवेषक---आत्मा के शुद्ध स्वरूप की गवेषणा करने वाला।
२. आय-गवेषक---सम्यग् दर्शन आदि की आय (लाभ) की गवेषणा करने वाला।
३. आयात-गवेषक---मोक्ष की गवेषणा करने वाला।

### १६. (श्लोक ७)

इस श्लोक में दस विद्याओं का उल्लेख किया गया है। उनमें दण्ड-विद्या, वास्तु-विद्या और स्वर को छोड़ शेष सात विद्याएं निमित्त के अंग हैं। अंग, स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, छिन्न, भौम और अन्तरिक्ष---ये अष्टांग निमित्त हैं।[4] प्रस्तुत श्लोक में व्यंजन का उल्लेख नहीं है।

वस्त्र, शस्त्र, काठ, आसन, शयन आदि में चूहे, शस्त्र, कांटे आदि से हुए छेद के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना छिन्न निमित्त है।

स्वरों को सुन कर शुभाशुभ का ज्ञान कर लेना स्वर-निमित्त है।

स्वर के तीन अर्थ किए जा सकते हैं---(१) सप्तस्वर-विद्या, (२) स्वरोदय के आधार पर शुभ-अशुभ फल का निर्देश करना और (३) अक्षरात्मक शब्द अथवा पशु-पक्षियों के अनक्षरात्मक शब्दों के आधार पर शुभ-अशुभ का निर्देश करना। तत्त्वार्थ-वार्तिक में स्वर का यह अर्थ उपलब्ध है।[5]

भूकम्प आदि के द्वारा अथवा अकाल में होने वाले पुष्प-फल, स्थिर वस्तुओं के चलन एवं प्रतिमाओं के बोलने से भूमि का स्निग्ध-रुक्ष आदि अवस्थाओं के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना अथवा भूमिगत धन आदि द्रव्यों का ज्ञान करना भौम-निमित्त है।

आकाश में होने वाले गन्धर्व-नगर, दिग्दाह, धूली की वृष्टि आदि के द्वारा अथवा ग्रहों के युद्ध तथा उदय-अस्त के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना अंतरिक्ष-निमित्त है।

स्वप्न के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना स्वप्न-निमित्त है।

शरीर के लक्षणों के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना लक्षण-निमित्त है।

शिरः-स्फुरण आदि के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना अंगविकार-निमित्त है।

यष्टि के विभिन्न रूपों के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना यष्टि-विद्या है।

प्रासाद आदि आवासों के शुभाशुभ लक्षणों का ज्ञान करना वास्तु-विद्या है।

षड्ज, ऋषभ आदि सात स्वरों के शुभाशुभ निरूपण का अभ्यास करना स्वर-विचय है।

चूर्णि में जो व्याख्या 'स्वर' की है, वह बृहद्वृत्ति में 'स्वर-विचय' की और जो 'स्वर-विचय' की है, वह 'स्वर' की है।[6] निमित्त या विद्या के द्वारा भिक्षा प्राप्त करना 'उत्पादना'

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१५ : 'आत्मा' शरीरम्, आत्मशब्दस्य शरीरवचनस्यापि दर्शनात्, उक्तं हि---
धर्मधृत्यग्निधीनद्रर्कत्यक्तत्त्वरवार्थदेहिषु।
शीलानिलमनोयत्नैकवीर्येष्वात्मनः स्मृतिः।।
इति, तेन गुप्त आत्मगुप्तो---न यतस्ततः करणचरणादिविक्षेपकृत, यद्वा गुप्तो---रक्षितोऽसंयमस्थानेभ्य आत्मा येन स तथा।

२. सुखबोधा, पत्र २१५ : 'आयगुत्ते' त्ति गुप्तः---रक्षितोऽसंयमस्थानेभ्य आत्मा येन स।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१६।

४. (क) अंगविज्जा, १।२ :
अंगं सरो लक्खणं च वंजणं सुविणो तहा।
छिण्ण भोम्मंऽतलिक्खाए, एमेए अट्ठ आहिया।।
(ख) मूलाचार, पिण्डशुद्धि अधिकार, ३८।
(ग) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ३।३६।

५. तत्त्वार्थवार्तिक ३।३६ : अक्षरानक्षरशुभाशुभशब्दश्रवण नेष्टानिष्टफलाविर्भावनं महानिमित्तं स्वरम्।

६. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३६ : पुरुषः दुदुभिस्वरो काकस्वरो वा एवमादिस्वरव्याकरणम्।
(ख) वही, पृ० २३६ : ऋषभगान्धारादीनां स्वराणां विजयः अभ्यासः।
(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१६ : 'सरं' ति स्वरस्वरूपाभिधानं,
"सज्जं रवइ मयूरो, कुक्कुडो रिसभं सरं।
हंसो रवति गंधारं, मज्झिमं तु गवेलए।।"
इत्यादि, तथा-
"सज्जेण लहइ वित्तिं, कयं च न विणस्सई।
गावो पुत्ता य मित्ता य, नारीणं होइ वल्लहो।।
रिसहेण उ ईसरियं, सेणावच्चं धणाणि य।"
(घ) वही, पत्र ४१७ : स्वरः---पोदकीशिवादिरुतरूपस्तस्य विषयः---तत्सम्बन्धी शुभाशुभनिरूपणाभ्यासः, यथा---
गतिस्तारा स्वरो वामः, पोदक्याः शुभदः स्मृतः।
विपरीतः प्रवेशे तु, स एवाभीष्टदायकः।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामक एक दोष है, इसलिए कहा है विद्याओं के द्वारा जो जीवन नहीं चलाता, वह भिक्षु है।

### १७. मंत्र (मंतं)

जो देवाधिष्ठित होता है, जिसके आदि में 'ओं' और अन्त में 'स्वाहा' होता है, जो 'ह्रीं' आदि वर्ण-विन्यासात्मक होता है, उसे 'मंत्र' कहा जाता है।[1]

### १८. धूमपान की नली (धूमणेत्त)

चूर्णिकार ने धूमनेत्र को संयुक्त माना है।[2]

टीकाकारों ने दोनों शब्दों को अलग-अलग मान कर अर्थ किया है। उनके अनुसार 'धूम' का अर्थ है—मनःशिलादि धूप से शरीर को धूपित करना और 'नेत्त' का अर्थ है—नेत्र-संस्कारक अंजन आदि से नेत्र आंजना।[3] परन्तु यह अर्थ संगत नहीं लगता। यहां मूल शब्द है 'धूमणेत्त'। इसका अर्थ है—धूएं की नली से धुंआ लेना। विस्तार के लिए देखें- – दसवेआलियं, ३।६ के 'धूवणेत्ति' का टिप्पण।

### १९. स्नान (सिणाणं)

इसका अर्थ—पुत्र-प्राप्ति के लिए मंत्र-औषधि आदि से संस्कारित जल से स्नान करना किया गया है।[4]

### २०. (खत्तियगणउग्ग...भोइय)

**खत्तिय**—शान्त्याचार्य ने क्षत्रियों को 'हैहय' आदि वंशों में उत्पन्न माना है।[5] पुराणों के अनुसार हैहय 'ऐलवंश' या 'चन्द्रवंश' की एक शाखा है।[6] भगवान् ऋषभ ने मनुष्यों के चार वर्ग स्थापित किए थे—

१. उग्र—आरक्षक।

२. भोग—गुरुस्थानीय।

३. राजन्य—समवयस्क या मित्रस्थानीय।

४. क्षत्रिय—शेष सारी प्रजा।[7]

इस व्यवस्था से लगता है कि कुछ लोगों को छोड़ कर अधिकांश क्षत्रिय ही थे। इसीलिए श्रमण-परम्परा में क्षत्रियों का महत्त्व रहा।

**गण**—भगवान् महावीर के काल में अनेक शक्तिशाली गणतंत्र थे। वज्जी-गणतंत्र में नौ लिच्छवि और नौ मल्लकी—ये काशी-कोशल के १८ गणराज्य सम्मिलित थे। शान्त्याचार्य ने मल्ल शब्द के द्वारा इसी गणराज्य की ओर संकेत किया है।[8]

**उग्ग**—आरक्षक।[9]

**भोइय**—भोगिक का अर्थ 'सामन्त' है। शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'राजमान्य प्रधानपुरुष' किया है।[10] नेमिचन्द्र के अनुसार इसका अर्थ है—विशिष्ट वेशभूषा का भोग करने वाले अमात्य आदि।[11]

### २१. कांजी का पानी (सोवीर)

इसका अर्थ है—कांजी। गुजरात में चावल के मांड को कांजी और तमिल भाषा में उसे गंजी कहते हैं।

देखें—ठाणं ३/३७८ का टिप्पण।

### २२. अति भयंकर (भयभेरवा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—निरन्तर उत्रास पैदा करने वाला किया है और शान्त्याचार्य ने 'अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाला' किया है।[12]

अध्ययन २१ (श्लोक १६) में भी 'भयभेरवा' का अर्थ भीषण-भीषणतम है।[13] दशवैकालिक की वृत्ति में हरिभद्र सूरि ने इसका यही अर्थ किया है।[14]

मज्झिम-निकाय में एक 'भय-भैरव' नाम का सुत्तन्त है।[15] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की वृत्ति में आकस्मिक भय को 'भय' और सिंह आदि से उत्पन्न होने वाले भय को 'भैरव' कहा है।[16]

### २३. ऊंचे स्वर में (उराला)

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—सुन्दर, प्रधान, भयंकर, विशाल आदि।[17] चूर्णि और वृत्ति में इसका अर्थ—महान् (शब्द) किया है।[18]

### २४. जो संयमी है (खेयाणुगए)

चूर्णिकार ने खेद का अर्थ 'विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियों में होने वाला कष्ट' किया है।[19]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१७ : 'मन्त्रम्' ऐकारादिस्वाहापर्यन्तो ह्रींकारादिवर्ण-विन्यासात्मकस्तम्।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३७ : वमनविरेचनधूमनेत्रस्नात्रादिकान्।

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१७ : धूमं—मनःशिलादिसम्बन्धि नेत्तंति—नेत्रशब्देन नेत्रसंस्कारकमिह सभीरांजनादि परिगृह्यते।
(ख) सुखबोधा, पत्र २१७।

४. वही, पत्र ४१७ : स्नानम्—अपत्यार्थं मन्त्रौषधिसंस्कृतजलाभिषेचनम्।

५. वही, पत्र ४१८ : क्षत्रियाः—हैहेयाद्यन्वयजाः।

६. (क) Ancient Indian Historical Tradition, pp. 85-87.
(ख) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १, पृ० १२७-१२६।

७. आवश्यक निर्युक्ति, १६८ : उग्गा भोगा रायण खत्तिया संग हो भवे चउहा।
आरक्खगुरुवयंसा सेसा जे खत्तिया ते उ।।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१८ : गणाः मल्लादिसमूहाः।

९. वही, पत्र ४१८ : उग्राः—आरक्षकादयः।

१०. वही, पत्र ४१८ : भोगिकाः—नृपतिमान्याः प्रधानपुरुषाः।

११. सुखबोधा, पत्र २१७ : भोगिकाः विशिष्टनेपथ्यादिभोगवन्तोऽमात्यादयः।

१२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३७ : भयभेरवाः सुतरां उत्त्रासजनकाः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१६ : भयेन भैरवाः—अत्यन्तसाध्वसोत्पादका भयभैरवाः।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८६ : 'भयभैरवा' भयोत्पादकत्वेन भीषणाः।

१४. दशवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र २६७ :
'भैरवभया' अत्यन्तरौद्रभयजनकाः।,

१५. मज्झिम निकाय, १।१।४, पृ० १३।

१६. जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, वृत्ति, पत्र १४३ : 'भयं' आकस्मिकं, 'भैरवं' सिंहादिसमुत्थम्।

१७. देशीशब्दकोश।

१८. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३७ : ओराला—महंता।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१६ : उदाराः महान्तो।

१९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३८ : खेदेन अनुगतो, खेदो विनयवैयावृत्त्य-स्वाध्यायादिषु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्त्याचार्य के अनुसार इसका अर्थ 'संयम' है। खेदानुगत अर्थात् जो संयमी है।[1]

**२५. जिसे आगम का परम अर्थ प्राप्त हुआ है (कोवियप्पा)**

चूर्णिकार के अनुसार कोविदात्मा वह है जिसने सभी ज्ञातव्य तथ्यों का पारायण या अभ्यास कर लिया है।[2]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—वह व्यक्ति जिसने शास्त्र का परम अर्थ पा लिया है।[3]

**२६. किसी को भी अपमानित न करने वाला (अविहेडए)**

चूर्णिकार के अनुसार जो वचन और काया से दूसरों का अपवाद नहीं करता वह 'अविहेटक' होता है।[4]

शान्त्याचार्य ने 'अविहेटक' का अर्थ 'अबाधक' किया है।[5] देखें—दसवेआलियं १०।१० का टिप्पण।

**२७. जिसके मित्र नहीं होते (अमित्त)**

यहां मित्र शब्द का प्रयोग आसक्ति के हेतुभूत वयस्क के अर्थ में हुआ है।[6] मुनि को सबके साथ मैत्री रखनी चाहिए किन्तु राग-वृत्ति करने वाले को मित्र नहीं बनाना चाहिए, यही इसका हार्द है।

**२८. जिसका कषाय मंद होता है (अणुक्कसाई)**

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—अणुकषायी और अनुत्कषायी।

चूर्णि में इसका अर्थ है—अल्पकषायी।[7] वृत्तिकार ने मुख्य रूप से संज्वलन कषाययुक्त व्यक्ति को अणुकषायी माना है। इसका वैकल्पिक अर्थ है—जो उत्कषायी—प्रबल कषायी न हो वह अणुकषायी होता है।[8]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१६ : खेदयत्यनेन कर्मेति खेदः—संयमस्तेनानुगतो—युक्तः खेदानुगतः।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३८ : कोविप्पा कोविदात्मा ज्ञातव्येषु सर्वेषु परिचेष्टित इत्यर्थः।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१६, ४२० : कोविदः—लब्ध-शास्त्रपरमार्थ, आत्मा ऽत्रयेति कोविदात्मा।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३८ : विहेडनं प्रपंचनं, वाचा कायेन च परापवाद इत्यर्थः, अनपवादी।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२० : 'अविहेटकः' न करयविद्विबाधकः।

६. वही, पत्र ४२० : अविद्यमानानि मित्राणि अभिष्वंगहेतवो वयस्या यस्यासावमित्रः।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३८ : अणु—स्तोकं अल्पं अल्पकषायी।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२० : अणवः—स्वल्पाः संज्वलननामान इति यावत् कषायाः—क्रोधादयो यस्येति सर्वधनादित्वादिनि प्रत्ययेऽणुकषायी प्राकृतत्वात् सूत्रे ककारस्य द्वित्वं, यद् वा उत्कषायी—प्रबलकषायी न तथाऽनुत्कषायी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# सोलसमं अज्झयणं

## बंभचेरसमाहिठाणं

# सोलहवां अध्ययन

## ब्रह्मचर्यसमाधि-स्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

ब्रह्मचर्य-समाधि का निरूपण होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'बंभचेरसमाहिठाणं'—'ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान' है। इसमें ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थानों का वर्णन है। स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग में भी ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का वर्णन प्राप्त होता है। तुलनात्मक तालिका यों है—

**स्थानाङ्ग तथा समवायाङ्ग में वर्णित नौ गुप्तियां**[1]

१. निर्ग्रंथ स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का सेवन न करे।
२. केवल स्त्रियों के बीच कथा न कहे अर्थात् स्त्री-कथा न करे।
३. स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।[2]
४. स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को न देखे और न अवधानपूर्वक उनका चिन्तन करे।
५. प्रणीत रसभोजी न हो।
६. मात्रा से अधिक न खाए और न पीए।
७. पूर्व-क्रीड़ाओं का स्मरण न करे।
८. शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श तथा श्लोक—कीर्ति में आसक्त न हो।
९. साता और सुख में प्रतिबद्ध न हो।

**उत्तराध्ययन के दस स्थान**

१. निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का प्रयोग न करे।
२. स्त्रियों के बीच कथा न कहे।
३. स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।
४. स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर न देखे।
५. स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, विलाप आदि के शब्द न सुने।
६. पूर्व-क्रीड़ाओं का अनुस्मरण न करे।
७. प्रणीत आहार न करे।
८. मात्रा से अधिक न खाए और न पीए।
९. विभूषा न करे।
१०. शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में आसक्त न हो।

उत्तराध्ययन में जो दसवां स्थान है, वह स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग में आठवां स्थान है। अन्य स्थानों का वर्णन प्रायः समान है। केवल पांचवां स्थान स्थानाङ्ग तथा समवायाङ्ग में नहीं है।

प्रस्तुत अध्ययन में चक्षु-गृद्धि की भांति पांचवे स्थान में शब्द-गृद्धि का भी वर्जन किया गया है और दसवें स्थान में पांचों इन्द्रियों की आसक्ति का समवेत रूप से वर्जन किया गया है।

यहां दस समाधि स्थानों का वर्णन बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। शयन, आसन, काम-कथा, स्त्री-पुरुष का एक आसन पर बैठना, चक्षु-गृद्धि, शब्द-गृद्धि, पूर्व क्रीड़ा का स्मरण, सरस आहार, अतिमात्र आहार, विभूषा, इन्द्रिय-विषयों की आसक्ति—ये सब ब्रह्मचर्य की साधना में विघ्न हैं। इसलिए इनके निवारण को 'ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान' या 'ब्रह्मचर्य-गुप्ति' कहा गया है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ वस्ति-निग्रह है। वह पांचों इन्द्रियों तथा मन के संयम के बिना प्राप्त नहीं होता। इसलिए उसका अर्थ 'सर्वेन्द्रिय-संयम' है। ये समाधि-स्थान इन्द्रिय-संयम के ही स्थान हैं :

स्पर्शन-इन्द्रिय—संयम के लिए सह-शयनासन और एक आसन पर बैठना वर्जित है।

रसन-इन्द्रिय—संयम के लिए सरस और अति-मात्रा में आहार करना वर्जित है।

घ्राण-इन्द्रिय—संयम के लिए कोई पृथक् विभाग निर्दिष्ट नहीं है।

चक्षु-इन्द्रिय—संयम के लिए स्त्री-देह व उसके हाव-भावों का निरीक्षण वर्जित है।

श्रोत्र-इन्द्रिय—संयम के लिए हास्य-विलास पूर्ण शब्दों

---

१. (क) ठाणं, ९।३ : नव बंभचेरगुत्तीओ पं० तं० १. विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवति—णो इत्थिसंसत्ताइं णो पसुसंसत्ताइं णो पंडगसंसत्ताइं। २. णो इत्थिणं कहं कहेत्ता भवति। ३. णो इत्थिठाणाइं सेवित्ता भवति। ४. णो इत्थीणमिंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवति। ५. णो पणीतरसभोई (भवति ?)। ६. णो पाणभोयणस्स अतिमाहारए सया भवति। ७. णो पुव्वरतं पुव्वकीलियं सरेत्ता भवति। ८. णो सद्दाणुवाती णो रूवाणुवाती णो सिलोगाणुवाती (भवति ?)। ९. णो सातसोक्खपडिबद्धे यावि भवति।

(ख) समवाओ, समवाय ९ : नव बंभचेरगुत्तीओ पं० तं०—१. नो इत्थीपसुपंडगसंसत्ताणि सेवित्ता भवइ। २. नो इत्थीणं कहं कहित्ता भवइ। ३. नो इत्थीणं ठाणाइं सेवित्ता भवइ। ४. नो इत्थीण इंदियाणि मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ। ५. नो पणीयरसभोई भवइ। ६. नो पाणभोयणस्स अतिमायं आहारइत्ता भवइ। ७. नो इत्थीण पुव्वरयाइं पुव्वकीलिआइं सुमरइत्ता भवइ। ८. नो सद्दाणुवाई नो रूवाणुयाई नो गंधाणुवाई नो रसाणुवाइ नो फासाणुवाई नो सिलोगाणुवाई। नो सायासोक्खपडिबद्धे यावि भवइ।

२. समवायाङ्ग में इसके स्थान पर—निर्ग्रंथ स्त्री-समुदाय की उपासना न करे—ऐसा पाठ है। देखें—पा० टि० १ (ख)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सुनना वर्जित है।

मानसिक—संयम के लिए काम-कथा, पूर्व-क्रीड़ा का स्मरण और विभूषा वर्जित है।

दसवां स्थान इन्द्रिय-संयम का संकलित रूप है।

मूलाचार में शील-विराधना (अब्रह्मचर्य) के दस कारण बतलाए गए हैं[1]—

१. स्त्री-संसर्ग—स्त्रियों के साथ संसर्ग करना।
२. प्रणीत-रस-भोजन—अत्यन्त गृद्धि से पांचों इन्द्रियों के विकारों को बढ़ाने वाला आहार करना।
३. गंधमाल्य-संस्पर्श—सुगन्धित द्रव्यों तथा पुष्पों के द्वारा शरीर का संस्कार करना।
४. शयनासन—शयन और आसन में गृद्धि रखना।
५. भूषण—शरीर का मण्डन करना।
६. गीत-वाद्य—नाट्य, गीत आदि की अभिलाषा करना।
७. अर्थ-संप्रयोजन—स्वर्ण आदि का व्यवहरण।
८. कुशील-संसर्ग—कुशील व्यक्तियों का संसर्ग।
९. राज-सेवा—विषयों की पूर्ति के लिए राजा का गुण-कीर्तन करना।
१०. रात्रि-संचरण—बिना प्रयोजन रात्रि में इधर-उधर जाना।

दिगम्बर विद्वान् पण्डित आशाधरजी ने ब्रह्मचर्य के दस नियमों को निम्नांकित रूप में रखा है[2]—

१. मा रूपादिरसं पिपास सुदृशाम्—ब्रह्मचारी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द के रसों को पान करने की इच्छा न करे।
२. मा वस्तिमोक्षं कृथा—वह ऐसा कार्य न करे, जिससे लिंग-विकार हो।
३. वृष्यं मा भज—वह कामोद्दीपक आहार न करे।
४. स्त्रीशयनादिकं च मा भज—स्त्री तथा शयन-आसन आदि का प्रयोग न करे।
५. वराङ्गेदृशं मा दा—स्त्रियों के अंगों को न देखे।
६. स्त्रीं मा सत्कुरु—स्त्रियों का सत्कार न करे।
७. मा च संस्कुरु—शरीर-संस्कार न करे।
८. रतं वृत्तं मा स्मर—पूर्व सेवित का स्मरण न करे।
९. वर्त्स्यन् मा इच्छ—भविष्य में क्रीड़ा करने का न सोचे।
१०. इष्टविषयान् मा जुषस्व—इष्ट रूपादि विषयों का सेवन न करे।

इनमें क्रमांक १, ३, ४, ५ और ७ तो वे ही हैं जो श्वेताम्बर आगमों में हैं, शेष भिन्न हैं।

वेद अथवा उपनिषदों में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए शृंखलाबद्ध नियमों का उल्लेख नहीं मिलता। स्मृति में कहा है—स्मरण, क्रीड़ा, देखना, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रिया—इस प्रकार मैथुन आठ प्रकार के हैं। इन सबसे विलग हो ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए।[3]

बौद्ध-साहित्य से भी ब्रह्मचर्य-गुप्तियों जैसा कोई व्यवस्थित क्रम नहीं मिलता, किन्तु विकीर्ण रूप में कुछ नियम मिलते हैं। वहां रूप के प्रति अति आसक्ति-भाव को दूर करने के लिए अशुचि भावना के चिन्तन का मंत्र मान्य रहा है। यह 'कायगता-स्मृति' के नाम से विख्यात है।[4]

बुद्ध मृत्यु-शय्या पर थे तब शिष्यों ने पूछा—"भंते! स्त्रियों के साथ हम कैसा व्यवहार करेंगे?"

"अदर्शन, आनन्द!"

"दर्शन होने पर भगवन्! कैसा बर्ताव करेंगे?"

"अलाप न करना, आनन्द!"

"बातें करने वाले को कैसा करना चाहिए?"

"स्मृति को संभाल रखना चाहिए।"[5]

उक्त अनेक परम्पराओं के संदर्भ में दस समाधि-स्थानों का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

---

१. मूलाचार ११।१३, १४ :
इत्थीसंसग्गी पणीदरसभोयण गंधमल्लसंठप्पं।
सयणासणभूसणयं, छट्ठं पुण गीयवाइयं चेव।।
अत्थस्स संपओगो, कुसीलसंसग्गि रायसेवा य।
रत्ति वि य संचरणं, दस सील विराहणा भणिया।।

२. अनगारधर्मामृत ४।६१ :
मा रूपादिरसं पिपास सुदृशा मा वस्तिमोक्षं कृथा,
वृष्यं स्त्रीशयनादिकं च भज मा मा दा वरांगे दृशम्।
मा स्त्रीं सत्कुरु मा च संस्कुरु रतं वृत्तं स्मरस्मार्यं मा,
वर्त्स्यन्नेच्छ जुषस्व मेष्टविषयान् द्विःपञ्चधा ब्रह्मणे।।

३. दक्षस्मृति ७।३१-३३ :
ब्रह्मचर्य्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।।
न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न कर्त्तव्यं कदाचन।
एतैः सर्वैः सुसम्पन्नो यतिर्भवति नेतरः।।

४. सुत्तनिपात १।११, विसुद्धिमग्ग (प्रथम भाग) परिच्छेद ८, पृ० २१८-२६०।

५. दीघनिकाय (महापरिनिव्वाण सुत्त) २।३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# सोलसमं अज्झयणं : सोलहवां अध्ययन
## बंभचेरसमाहिठाणं : ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेरसमाहिठाणा पण्णत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा। | *श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातम्—इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा निशम्य संयमबहुलः संवरबहुलः समाधिबहुलः गुप्तः गुप्तेन्द्रियः, गुप्तब्रह्मचारी सदाऽप्रमत्तो विहरेत्।* | आयुष्मन् ![1] मैंने सुना है, भगवान् (प्रज्ञापक आचार्य) ने ऐसा कहा है—निर्ग्रन्थ प्रवचन में जो स्थविर (गणधर)[2] भगवान हुए हैं उन्होंने ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान[3] बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु संयम, संवर और समाधि का[4] पुनः-पुनः अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, इन्द्रियों को उनके विषयों से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओं से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे। |
| २. कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेरसमाहिठाणा पण्णत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ? | *कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा निशम्य संयमबहुलः संवरबहुलः समाधिबहुलः गुप्तः, गुप्तेन्द्रियः गुप्तब्रह्मचारी सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ?* | स्थविर भगवान् ने वे कौन से ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु संयम, संवर और समाधि का पुनः-पुनः अभ्यास करे; मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, इन्द्रियों को उनके विषयों से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओं से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे ? |
| ३. इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेरसमाहिठाणा पण्णत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा, तं जहा—विवित्ताइं सयणासणाइं सेविज्जा, से निग्गंथे। नो इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गंथे।<br>तं कहमिति चे ?<br>आयरियाह—निग्गंथस्स खलु इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा | *इमानि खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा निशम्य संयमबहुलः संवरबहुलः समाधिबहुलः गुप्तः गुप्तेन्द्रियः गुप्तब्रह्मचारी सदाऽप्रमत्तो विहरेत्। तद्यथा—<br>विविक्तानि शयनासनानि सेवेत, स निर्ग्रन्थः। नो स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति, स निर्ग्रन्थः।<br>तत् कथमिति चेत् ?<br>आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेवमानस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्,* | स्थविर भगवान् ने ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान ये बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु संयम, संवर और समाधि का पुनः-पुनः अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, इन्द्रियों को उनके विषयों से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओं से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे। वे इस प्रकार हैं—<br>जो एकांत शयन और आसन का सेवन करता है, वह निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नहीं करता।[5]<br>यह क्यों ?<br>ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थिपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गंथे।

*दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मान्नो स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति, स निर्ग्रन्थः।*

है, इसलिए जो स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

४. नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ, से निग्गंथे।
तं कहमिति चे?
आयरियाह—निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा।

*नो स्त्रीणां कथां कथयिता भवति, स निर्ग्रन्थः।*
*तत्कथमिति चेत्?*
*आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कथां कथयतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत भेदं वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मान्नो स्त्रीणां कथां कथयेत्।*

जो केवल स्त्रियों के बीच में कथा नहीं करता वह निर्ग्रन्थ है।[६]
यह क्यों?
ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—केवल स्त्रियों के बीच कथा करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए केवल स्त्रियों के बीच में कथा न करे।

५. नो इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ, से निग्गंथे।
तं कहमिति चे?
आयरियाह—निग्गंथस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा, समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा।

*नो स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतो विहर्ता भवति, स निर्ग्रन्थः।*
*तत्कथमिति चेत्?*
*आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत्, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवली प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतो विहरेत्।*

जो स्त्रियों के साथ पीठ आदि एक आसन पर नहीं बैठता, वह निर्ग्रन्थ है।
यह क्यों?
ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।

६. नो इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ, से निग्गंथे।
तं कहमिति चे?
आयरियाह—निग्गंथस्स खलु इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएमाणस्स निज्झायमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा

*नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयिता निध्यांता भवति, स निर्ग्रन्थः।*
*तत्कथमिति चेत्?*
*आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यवलोकमानस्य निर्ध्यायतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुप्तद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को*

जो स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर नहीं देखता, उनके विषय में चिन्तन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।
यह क्यों?
ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर देखने वाले और उनके विषय में चिन्तन करने वाले[७] ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु निग्गंथे नो इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएज्जा, निज्झाएज्जा।

*भवेत्, केवलीप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु निर्ग्रन्थः नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयेन्निर्ध्यायेत्।*

केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर न देखे और उनके विषय में चिन्तन न करे।

७. नो इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा, दूसंतरंसि वा, भित्तंतरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कंदियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेत्ता हवइ, से निग्गंथे।
तं कहमिति चे?
आयरियाह—निग्गंथस्स खलु इत्थीणं 'कुड्डंतरंसि वा, दूसंतरंसि वा, भित्तंतरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कंदियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु निग्गंथे नो इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा, दूसंतरंसि वा, भित्तंतरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कंदियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा।'

*नो स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा, कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसितशब्दं वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा, श्रोता भवति, स निर्ग्रन्थः।*
*तत्कथमिति चेत्?*
*आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा, कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसितशब्दं वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा, शृण्वतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा, समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घ-कालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि- प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्यते। तस्मात् खलु निर्ग्रन्थः नो स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा हसितशब्दं वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा शृण्वन् विहरेत्।*

जो मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को नहीं सुनता, वह निर्ग्रन्थ है।
यह क्यों?
ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को सुनने वाले, ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को न सुने।

८. नो निग्गंथे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ, से निग्गंथे।
तं कहमिति चे?
आयरियाह—निग्गंथस्स खलु पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा

*नो निर्ग्रन्थः पूर्वरतं पूर्वक्रीडितमनुस्मर्ता भवेत्, स निर्ग्रन्थः।*
*तत्कथमिति चेत्?*
*आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु पूर्वरतं पूर्वक्रीडितमनुस्मरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं*

जो गृहवास में की हुई रति और क्रीड़ा का अनुस्मरण नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।
यह क्यों?
ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—गृहवास में की हुई रति और क्रीड़ा का अनुस्मरण करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरेज्जा।

*वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वरत पूर्वक्रीडितमनुस्मरेत्।*

का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए गृहवास में की हुई रति और क्रीड़ा का अनुस्मरण न करे।

६. नो पणीयं आहारं आहारित्ता हवइ, से निग्गंथे।
तं कहमिति चे?
आयरियाह—निग्गंथस्स खलु पणीयं पाणभोयणं आहारेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे पणीयं आहारं आहारेज्जा।

*नो प्रणीतमाहारमाहर्त्ता भवति, स निर्ग्रन्थः।*
*तत्कथमिति चेत्?*
*आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु प्रणीतमाहारमाहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातंको भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः प्रणीतमाहारमाहरेत्।*

जो प्रणीत[६] आहार नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।
यह क्यों?
ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—प्रणीत पान-भोजन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए प्रणीत आहार न करे।

१०. नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ, से निग्गंथे।
तं कहमिति चे?
आयरियाह—निग्गंथस्स खलु अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे अइमायाए पाणभोयणं भुंजिज्जा।

*नो अतिमात्रया पानभोजनमाहर्ता भवति, स निर्ग्रन्थः।*
*तत्कथमिति चेत्?*
*आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खल्वतिमात्रया पानभोजनमाहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात् दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थोऽतिमात्रया पानभोजनं भुंजीत।*

जो मात्रा से अधिक नहीं पीता और नहीं खाता, वह निर्ग्रन्थ है।
यह क्यों?
ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—मात्रा से अधिक पीने और खाने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए मात्रा से अधिक न पीए और न खाए।

११. नो विभूसाणुवाई हवइ, से निग्गंथे।
तं कहमिति चे?
आयरियाह—विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं तस्स इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बंभयारिस्स

*नो विभूषानुपाती भवति, स निर्ग्रन्थः।*
*तत्कथमिति चेत्?*
*आचार्य आह—विभूषावर्तिको विभूषितशरीरः स्त्रीजनस्याभिलषणीयो भवति। ततस्तस्य स्त्रीजनेनाभिलष्यमाणस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा*

जो विभूषा नहीं करता—शरीर को नहीं सजाता, वह निर्ग्रन्थ है।
यह क्यों?
ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—जिसका स्वभाव विभूषा करने का होता है, जो शरीर को विभूषित किए रहता है, उसे स्त्रियां चाहने लगती हैं। पश्चात् स्त्रियों के द्वारा चाहे जाने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे विभूसाणुवाई सिया।

*विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थो विभूषानुपाती स्यात्।*

होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए विभूषा न करे।

१२. नो सद्दरूवरसगंधफासाणुवाई हवइ, से निग्गंथे।
तं कहमिति चे?
आयरियाह—निग्गंथस्स खलु सद्दरूवरसगंधफासाणुवाइस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे सद्दरूवरसगंधफासाणुवाई हविज्जा। दसमे बंभचेरसमाहिठाणे हवइ।

*नो शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपाती भवति, स निर्ग्रन्थः।*
*तत्कथमिति चेत्?*
*आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपातिनो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपाती भवेत्। दशमं ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानं भवति।*

जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त नहीं होता, वह निर्ग्रन्थ है।
यह क्यों?
ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त होने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न बने। ब्रह्मचर्य की समाधि का यह दसवां स्थान है।

भवंति इत्थ सिलोगा, तं जहा—

*भवन्ति अत्र श्लोकाः, तद् यथा-*

यहां श्लोक है, जैसे—

१. जं विवित्तमणाइण्णं
रहियं थीजणेण य।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा
आलयं तु निसेवए।।

*यो विविक्तोनाकीर्णः*
*रहितं स्त्रीजनेन च।*
*ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थम्*
*आलयं तु निषेवते।।*

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए मुनि वैसे आलय में रहे जो एकांत, अनाकीर्ण और स्त्रियों से रहित हो।

२. मणपल्हायजणणिं
कामरागविवड्ढणिं।
बंभचेररओ भिक्खू
थीकहं तु विवज्जए।।

*मनःप्रह्लादजननीं*
*कामरागविवर्धनीम्।*
*ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः*
*स्त्रीकथां तु विवर्जयेत्।।*

ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु मन को आह्लाद देने वाली तथा काम-राग बढ़ाने वाली स्त्री-कथा का वर्जन करे।

३. समं च संथवं थीहिं
संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेररओ भिक्खू
निच्चसो परिवज्जए।।

*समं च संस्तवं स्त्रीभिः*
*संकथां चाभीक्ष्णम्।*
*ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः*
*नित्यशः परिवर्जयेत्।।*

ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के साथ परिचय और बार-बार वार्तालाप का सदा वर्जन करे।

४. अंगपच्चंगसंठाणं
चारुल्लवियपेहियं।
बंभचेररओ थीणं
चक्खुगिज्झं विवज्जए।।

*अंगप्रत्यंगसंस्थानं*
*चारुल्लपितप्रेक्षितम्।*
*ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां*
*चक्षुर्ग्राह्यं विवर्जयेत्।।*

ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के चक्षु-ग्राह्य अंग-प्रत्यंग, आकार, बोलने की मनहर-मुद्रा और चितवन को न देखे—देखने का यत्न न करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. कुइयं रुइयं गीयं
हसियं थणियकंदियं।
बंभचेररओ थीणं
सोयगिज्झं विवज्जए।।

*कूजितं रुदितं गीतं*
*हसितं स्तनितक्रन्दितम्।*
*ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां*
*श्रोत्रग्राह्यं विवर्जयेत्।।*

ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के श्रोत्र-ग्राह्य कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन और क्रन्दन को न सुने—सुनने का यत्न न करे।

६. हासं किड्डं रइं दप्पं
सहसावत्तासियाणि य।
बंभचेररओ थीणं
नाणुचिंते कयाइ वि।।

*हासं क्रीडां रतिं दर्पं*
*सहसाऽवत्रासितानि च।*
*ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां*
*नानुचिन्तयेत् कदाचिदापि।।*

ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु पूर्व-जीवन में स्त्रियों के साथ अनुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, अभिमान और आकस्मिक त्रास का कभी भी अनुचिंतन न करे।[१०]

७. पणीयं भत्तपाणं तु
खिप्पं मयविवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू
निच्चसो परिवज्जए।।

*प्रणीतं भक्तपानं तु*
*क्षिप्रं मदविवर्धनम्।*
*ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः*
*नित्यशः परिवर्जयेत्।।*

ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु शीघ्र ही काम-वासना को बढ़ाने वाले प्रणीत भक्त-पान का सदा वर्जन करे।

८. धम्मलद्धं मियं काले
जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा
बंभचेररओ सया।।

*धर्म्यलब्धं मितं काले*
*यात्रार्थं प्रणिधानवान्।*
*नाऽतिमात्रं तु भुञ्जीत*
*ब्रह्मचर्यरतः सदा।।*

ब्रह्मचर्य-रत और स्वस्थ चित्त वाला भिक्षु जीवन निर्वाह के लिए उचित समय में निर्दोष, भिक्षा द्वारा प्राप्त,[११] परिमित भोजन करे, किन्तु मात्रा से अधिक न खाए।

९. विभूसं परिवज्जेज्जा
सरीरपरिमंडणं।
बंभचेररओ भिक्खू
सिंगारत्थं न धारए।।

*विभूषां परिवर्जयेत्*
*शरीरपरिमण्डनम्।*
*ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः*
*शृङ्गारार्थं न धारयेत्।।*

ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु विभूषा का वर्जन करे और शरीर की शोभा बढ़ाने वाले केश, दाढ़ी आदि को शृंगार के लिए धारण न करे।

१०. सद्दे रूवे य गंधे य
रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे
निच्चसो परिवज्जए।।

*शब्दान् रूपांश्च गंधांश्च*
*रसान् स्पर्शांस्तथैव च।*
*पञ्चविधान् कामगुणान्*
*नित्यशः परिवर्जयेत्।।*

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पांचों प्रकार के काम-गुणों का सदा वर्जन करे।

११. आलओ थीजणाइण्णो
थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं
तासिं इंदियदरिसणं।।

*आलयः स्त्रीजनाकीर्णः*
*स्त्रीकथा च मनोरमा।*
*संस्तवश्चैव नारीणां*
*तासामिन्द्रियदर्शनम्।।*

(१) स्त्रियों से आकीर्ण आलय,
(२) मनोरम स्त्री-कथा,
(३) स्त्रियों का परिचय,
(४) उनके इन्द्रियों को देखना,

१२. कुइयं रुइयं गीयं
हसियं भुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च
अइमायं पाणभोयणं।।

*कूजितं रुदितं गीतं*
*हसितं भुक्तासितानि च।*
*प्रणीतं भक्तपानं च*
*अतिमात्रं पानभोजनम्।।*

(५) उनके कूजन, रोदन, गीत और हास्य-युक्त शब्दों को सुनना,
(६) भुक्त-भोग और सहावस्थान को याद करना,
(७) प्रणीत पान-भोजन,

१३. गत्तभूसणमिट्ठं च
कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स
विसं तालउडं जहा।।

*गात्रभूषणमिष्टं च*
*कामभोगाश्च दुर्जयाः।*
*नरस्यात्मगवेषिणः*
*विषं तालपुटं यथा।।*

(८) मात्रा से अधिक पान-भोजन,
(९) शरीर को सजाने की इच्छा और
(१०) दुर्जय काम-भोग—ये दस आत्म-गवेषी मनुष्य के लिए तालपुट[१२] विष के समान हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. दुज्जए कामभोगे य
निच्चसो परिवज्जए।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि
वज्जेज्जा पणिहाणवं।।

*दुर्जयान् कामभोगांश्च*
*नित्यशः परिवर्जयेत्।*
*शंकास्थानानि सर्वाणि*
*वर्जयेत् प्रणिधानवान्।।*

एकाग्रचित्त वाला मुनि दुर्जय काम-भोगों और ब्रह्मचर्य में शंका उत्पन्न करने वाले पूर्वोक्त सभी स्थानों का वर्जन करे।

१५. धम्मारामे चरे भिक्खू
धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरए दंते
बंभचेरसमाहिए।।

*धर्मारामे चरेद् भिक्षुः*
*धृतिमान् धर्मसारथिः।*
*धर्मारामरतो दान्तः*
*ब्रह्मचर्यसमाहितः।।*

धैर्यवान्,[13] धर्म के रथ को चलाने वाला, धर्म के आराम में रत, दांत और ब्रह्मचर्य में चित्त का समाधान पाने वाला भिक्षु धर्म के आराम में विचरण करे।

१६. देवदाणवगंधव्वा
जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति
दुक्करं जे करंति तं।।

*देवदानवगन्धर्वाः*
*यक्षराक्षसकिन्नराः।*
*ब्रह्मचारिणं नमस्कुर्वन्ति*
*दुष्करं यः करोति तत्।।*

उस ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर—ये सभी नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

१७. एस धम्मे धुवे निअए
सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झंति चाणेण
सिज्झिस्संति तहापरे।।

*एष धर्मो ध्रुवो नित्यः*
*शाश्वतो जिनदेशितः।*
*सिद्धाः सिध्यन्ति चानेन*
*सेत्स्यन्ति तथापरे।*

यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत[14] और अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट है। इसका पालन कर अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में भी होंगे।

—त्ति बेमि।।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण

# अध्ययन १६ : ब्रह्मचर्यसमाधि-स्थान

### १. आयुष्मन् ! (आउसं)

आयुष्मन् शब्द शिष्य के आमंत्रण के लिए बहु-प्रयुक्त है। प्रश्न होता है कि जाति, कुल आदि के आधार पर भी आमंत्रण शब्द प्रयुक्त हो सकता है, फिर आयुष्य के साथ ही उसका प्रयोग क्यों ? चूर्णिकार का अभिमत है कि सभी आमंत्रणवाची शब्दों में आयुष्यवाची आमंत्रण ही गुरुतर है। जब आयुष्य होता है तभी जाति आदि अन्यान्य बातें होती हैं। आयुष्य के अभाव में उनका कोई मूल्य नहीं होता।[1]

चूर्णिकार ने विभिन्न पृष्ठभूमियों में 'आयुष्मन्' शब्द की अर्थ-मीमांसा प्रस्तुत की है। वह इस प्रकार है—

१. हे आयुष्मन् !—सुधर्मा स्वामी अपने प्रमुख शिष्य जम्बू को सम्बोधित कर कहते हैं—'जैसा मैंने भगवान् महावीर के पास सुना है, वैसा मैं कहता हूं।' इससे शिष्य और आचार्य की व्यवस्था ज्ञापित होती है।

२. मैंने भगवान् के जीवनकाल में ऐसा सुना था—इससे बौद्धदर्शन सम्मत क्षणभंगुरवाद का निरसन होता है।

३. मैंने भगवान् के समीप रहते हुए ऐसा सुना है—इससे गुरुकुलवास में रहने की बात स्पष्ट होती है और यह ख्यापित होती है कि शिष्य को सदा गुरुकुलवास में रहना चाहिए—वसे गुरुकुले निच्चं।

४. मैंने गुरु (भगवान्) के चरणों की सेवा करते हुए ऐसा सुना है—तात्पर्य है कि मैंने ये बातें विनय से प्राप्त की हैं। इससे विनयमूल धर्म की बात स्पष्ट होती है।[2]

चूर्णिकार ने भगवान् महावीर, सुधर्मा और जम्बू का जो उल्लेख किया है, वह विमर्शनीय है। इस अध्ययन का संबंध स्थविरों से है। इसलिए प्रज्ञापक आचार्य स्थविरों से श्रुत प्रज्ञप्ति का उल्लेख कर रहे हैं।

### २. स्थविर (गणधर) (थेरेहिं)

प्राचीनकाल की गण-व्यवस्था में सात पदों में एक पद 'स्थविर' का होता था। सातों पदों के कार्य विभक्त थे। स्थविर का कार्य था—श्रामण्य में शिथिल हुए साधुओं को पुनः संयम में स्थिर करना। ये अनेक संपदाओं से युक्त होते थे। चूर्णिकार ने इसी ओर संकेत किया है।[3]

शान्त्याचार्य ने स्थविर का अर्थ गणधर किया है।[4] अगस्त्यचूर्णि में दशवैकालिक (६।४।१७) में प्रयुक्त 'स्थविर' शब्द का यही अर्थ है।[5] गणधर के प्रमुख रूप से दो अर्थ होते हैं—(१) तीर्थंकर के प्रमुख शिष्य (२) अनुपम ज्ञान आदि के धारक। प्रस्तुत प्रकरण में गणधर का तात्पर्य गौतम आदि नौ गणधरों से नहीं है।

### ३. (दस बंभचेरसमाहिठाणा)

विशेष विमर्श के लिए देखें—इसी अध्ययन का आमुख।

### ४. (संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले)

इनमें 'बहुल' शब्द उत्तर-पद में है, जब कि वह पूर्व-पद में होना चाहिए—बहुलसंजमे, बहुलसंवरे, बहुलसमाहि। वृत्तिकार ने इसका समाधान 'प्राकृतत्वात्' कह कर दिया है।[6]

संयम, संवर और समाधि का अर्थ चूर्णि और वृत्तियों में भिन्न-भिन्न है—

| | चूर्णि | बृहद्वृत्ति | सुखबोधा |
|---|---|---|---|
| १. | संयम—पृथ्वीकाय आदि का संयम। | आश्रव-विरमण। | संयम। |
| २. | संवर—पांच महाव्रत। | आश्रवद्वार-निरोध। | इंद्रिय-संवरण। |
| ३. | समाधि—ज्ञान आदि।[7] | चित्त की स्वस्थता[8]। | चित्त की स्वस्थता[9]। |

प्रस्तुत प्रसंग में संयम और संवर का सम्बन्ध इन्द्रियों के साथ है। इन्द्रियों का निग्रह करना संयम और उनका निरोध करना संवर है। समाधि का अर्थ है—चित्त की स्वस्थता अथवा एकाग्रता।

### ५. (सूत्र ३)

इस अध्ययन में ब्रह्मचर्य के साधनों का निरूपण किया गया है। साधन-शुद्धि के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती। जो ब्रह्मचारी साधनों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है, उसका ब्रह्मचर्य

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४१ : सत्स्वप्यन्येषु जात्यादिषु आमंत्रणेषु आयुरेव गरीयः, कुतः ? आयुषि सति सर्वाण्येव जात्यादीनी भवंति।

२. वही, पृ० २४१।

३. वही, पृ० २४१ : धर्म्मे स्थिरीकरणात् स्थविराः..... स्थविरैः-ऐश्वर्यादिसम्पदुपेतैः।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२२ : स्थविरैः—गणधरैः।

५. अगस्त्यचूर्णि : थेरो पुण गणहरो।

६. सुखबोधा, पत्र २१६।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४१।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२२-४२३।

९. सुखबोधा, पत्र २१६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नष्ट हो जाता है। उसके नाश की संभावनाएं इस प्रकार हैं—

(१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) भेद (५) उन्माद (६) दीर्घकालीन रोग और आतंक (७) धर्म-भ्रंश।

**(१) शंका**—ब्रह्मचर्य का पालन करने में कोई लाभ है या नहीं? तीर्थंकरों ने अब्रह्मचर्य का निषेध किया है या नहीं? अब्रह्मचर्य के सेवन में जो दोष बतलाए गए हैं, वे यथार्थ हैं या नहीं—इस प्रकार अनेक संशय उत्पन्न होते हैं।

**(२) कांक्षा**—शंका के पश्चात् उत्पन्न होने वाली अब्रह्मचर्य की अभिलाषा।

**(३) विचिकित्सा**—चित्त-विप्लव। जब अभिलाषा तीव्र हो जाती है तब मन समूचे धर्म के प्रति विद्रोह करने लग जाता है। धर्माचरण के प्रति अनेक सन्देह उठ खड़े होते हैं, इसी अवस्था का नाम विचिकित्सा है।

**(४) भेद**—जब विचिकित्सा का भाव पुष्ट हो जाता है तब चारित्र का भेद—विनाश होता है।

**(५,६) उन्माद और दीर्घकालीन रोग और (आतंक)**—कोई मनुष्य ब्रह्मचारी तभी रह सकता है जब वह ब्रह्मचर्य में अब्रह्मचर्य की अपेक्षा अधिक आनन्द माने। यदि कोई हठपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करता है किन्तु इन्द्रिय और मन को आत्मवश रखने में आनन्द की अनुभूति नहीं कर पाता तो वह उन्माद या रोग और आतंक से अभिभूत हो जाता है।

**(७) धर्म-भ्रंश**—इन पूर्व अवस्थाओं से जो नहीं बच पाता वह धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए कहा गया है कि ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य के विघातक निमित्तों से बचे। मूलतः उसके मन में ब्रह्मचर्य के प्रति संदेह ही उत्पन्न नहीं होना चाहिए। उसके होने पर अगली अवस्थाओं से बचना कठिन हो जाता है। ये अवस्थाएं किसी व्यक्ति के एक-दो और किसी के अधिक भी हो जाती हैं।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५१,५२।

## ६. केवल स्त्रियों के बीच में कथा न करे (नो इत्थीणं कहं)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—स्त्री संबंधी कथा न करे। स्त्री कथा के चार प्रकार हैं।[1]—

१. स्त्रियों की जाति विषयक कथा, जैसे—यह क्षत्रियाणी है, ब्राह्मणी है आदि।
२. स्त्रियों की कुल विषयक कथा, जैसे—यह उग्रकुल की है, द्रविड कुल की है, मराठाकुल की है।
३. स्त्रियों की रूप विषयक कथा।
४. स्त्रियों की नैपथ्य—वेशभूषा विषयक कथा, जैसे—अमुक देश की स्त्रियों की वेशभूषा सुन्दर है, असुन्दर है आदि।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—केवल स्त्रियों में कथा न करे तथा स्त्रियों के जाति, कुल, रूप, संस्थान, नैपथ्य आदि की कथा न करे।[2] इन्होंने रूप का अर्थ संस्थान किया है।

## ७. (आलोएमाणस्स निज्झायमाणस्स)

'आलोएमाण' के संस्कृत रूप दो किए जा सकते हैं—आलोकमान और आलोचमान। दोनों क्रियापदों का अर्थ है—देखता हुआ। 'निज्झायमाण' के भी संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—निर्ध्यायन् और निध्यायन्। निर्ध्यायन् का अर्थ है—चिन्तन करता हुआ और निध्यायन् का अर्थ है—देखता हुआ। आलोकन और निर्ध्यान की प्रक्रिया में अन्तर है। आलोकन का अर्थ है—चारों ओर से देखना अथवा एक बार दृष्टिपात करना। निर्ध्यान का अर्थ है—देखने के पश्चात् उसके विषय में चिन्तन करना।

## ८. मिट्टी की दीवार...पक्की दीवार (कुड्ड...भित्त)

शान्त्याचार्य ने 'कुड्य' का अर्थ खड़िया मिट्टी से बनी हुई भींत,[3] नेमिचन्द्र ने पत्थरों से रचित भींत[4] और चूर्णिकार ने पक्की ईंटों से बनी हुई भींत किया है।[5]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने 'भित्ति' का अर्थ 'पक्की ईंटों से बनी भींत'[6] और चूर्णिकार ने 'केतुक' आदि किया है।[7]

शब्द-कोशों के निर्माण-काल में ये दोनों शब्द पर्यायवाची माने जाते रहे हैं।[8]

लगता है कि 'भित्ति' 'कुड्य' का ही एक प्रकार है। उसके प्रकारों की चर्चा प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होती है।

कुड्य का अर्थ है—भींत। वह अनेक प्रकार की होती थी। जैसे—

(१) लिपी हुई भींत।
(२) बिना लिपी हुई भींत।
(३) चेलिम कुड्य—वस्त्र की भींत या पर्दा।
(४) फलमय कुड्य—लकड़ी के तख्तों से बनी हुई भींत।
(५) फलकपासित कुड्य—जिसके केवल पार्श्व में तख्ते लगे हों और अन्दर गारे आदि का काम हो।
(६) मट्ठ—रगड़ कर चिकनी की हुई दीवार।
(७) चित्त—चित्र युक्त भित्ति।
(८) कडित—चटाई से बनी हुई दीवार।
(९) तणकुड्ड-फूस से बनी हुई दीवार आदि-आदि।[9]

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४२।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२४।
३. वही, पत्र ४२५ : कुड्यं—खटिकादिरचितम्।
४. सुखबोधा, पत्र २२१ : कुड्यं लेष्टुकादिरचितम्।
५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४२ : पक्केष्टकादि कुड्यम्।
६. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४२५ : भित्तिः—पक्केष्टकादिरचिता।
(ख) सुखबोधा, पत्र २२१।
७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४२ : केतुगादि भित्ती।
८. अभिधान चिंतामणि, ४।६६।
९. अंगविज्जा, भूमिका, पृ० ५८-५९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ९. प्रणीत (पणीयं)

जिससे घृत, तैल आदि की बूंदें टपकती हों अथवा जो धातु-वृद्धिकारक हो, उसे 'प्रणीत' आहार कहा जाता है।[1]

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५६।

### १०. (श्लोक ६)

प्रस्तुत श्लोक में शृंगार रस की कुछेक बातें कही गई हैं। वे कामशास्त्र की उपजीवी हैं। प्रयुक्त कुछेक शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

★ **रति**—दयिता के सहवास से उत्पन्न प्रीति।

★ **दर्प**—मनस्विनी नायिका के मान को खंडित करने के लिए उत्पन्न गर्व।

★ **सहसा अवत्रासित**—पराङ्मुख दयिता को प्रसन्न करने के लिए आकस्मिक त्रास का उत्पन्न करना, जैसे—आंखमिचौनी करना, मर्मस्थानों का घट्टन करना आदि।

### ११. भिक्षा द्वारा प्राप्त (धम्मलद्धं)

वृत्तिकार ने इसके संस्कृत रूप दो किए हैं—धर्म्यलब्ध और धर्मलब्ध। धर्म्यलब्ध का अर्थ है—एषणा से प्राप्त और धर्मलब्ध का अर्थ है—अध्यात्म के उपदेश से प्राप्त, न कि टोटका, कुण्डल आदि से प्राप्त।[2]

### १२. तालपुट (तालउडं)

यह तीव्रतम विष है। यह ओष्ठपुट के भीतर जाते ही, ताली बजाने जितने अल्प समय में व्यक्ति को मार डालता है। यह सद्योघाती विष है।[3]

देखें—दशवैकालिक ८।५६।

### १३. (धिइमं)

धृति का सामान्य अर्थ है—धैर्य। वृत्तिकार ने इसका अर्थ चित्त का स्वास्थ्य किया है।[4] जिसका चित्त स्वस्थ होता है, वही धृतिमान् होता है।

### १४. ध्रुव, नित्य, शाश्वत (धुवे निअए सासए)

इस श्लोक में प्रयुक्त इन तीन शब्दों का अर्थ-बोध इस प्रकार है—

१. **ध्रुव**—जो प्रमाणों से प्रतिष्ठित और पर-प्रवादियों से अखंडित।

२. **नित्य**—जो अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिर स्वभाववाला है, जो त्रिकालवर्ती होता है, वह नित्य है। यह द्रव्यार्थिक दृष्टिकोण है।

३. **शाश्वत**—जो निरंतर बना रहता है वह शश्वद् है। अथवा जो शश्वद् अन्यान्य रूप में उत्पन्न होता रहता है। यह पर्यायार्थिक दृष्टिकोण है।[5]

वृत्तिकार का कथन है कि इन तीनों शब्दों को एकार्थक भी माना जा सकता है। यह इसलिए कि नाना देशों के शिष्यों पर अनुग्रह करने के लिए इन एकार्थवाचक भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है।[6]

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४२-२४३ : प्रणीतं—गलत्स्नेहं तैलघृतादिभिः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४२६ : 'प्रणीत' गलद्बिन्दु, उपलक्षणत्वादन्यमप्यत्यन्त-धातूद्रककारिणम्

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२८।

३. वही, पत्र ४२९ : तालपुटं सद्योघाति यत्रौष्टपुरान्तर्वर्तिनि तालमात्रकालविलम्बतो मृत्युरूपजायते।

४. वही, पत्र ४३० : धृतिमान्—धृतिः—चित्तस्वास्थ्यं तद्वान्।

५. वही, पत्र ४३०।

६. वही, पत्र ४३० : एकार्थिकानि वा नानादेशजविनेयनुग्रहार्थमुक्तानि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# सतरसमं अज्झयणं

## पावसमणिज्जं

# सतरहवां अध्ययन

## पाप-श्रमणीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में पाप-श्रमण के स्वरूप का निरूपण है, इसलिए इसे 'पावसमणिज्जं'—'पाप-श्रमणीय' कहा गया है।

श्रमण दो प्रकार के होते हैं—श्रेष्ठ-श्रमण और पाप-श्रमण। जो ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप और वीर्य—इन पांच आचारों का पालन करता है वह श्रेष्ठ-श्रमण है। उसके लक्षण पन्द्रहवें अध्ययन में बताए गए हैं। जो ज्ञान आदि आचारों का सम्यक् पालन नहीं करता, इस अध्ययन में वर्णित अकरणीय कार्यों का आचरण करता है, वह पाप-श्रमण होता है।[1]

जो प्रव्रज्या ग्रहण कर सुख-शील हो जाता है—'सीहत्ताए णिक्खंतो सियालत्ताए विहरंति'—सिंह की भांति निष्क्रांत होने पर भी गीदड़ की तरह प्रव्रज्या का पालन करता है, वह पाप-श्रमण होता है। (श्लोक १)

जो खा-पीकर सो जाता है वह पाप-श्रमण होता है। जैन परम्परा में यह औत्सर्गिक मर्यादा रही है कि मुनि दिन में न सोए। इसके कई अपवाद भी हैं। जो मुनि विहार से परिश्रान्त हो गया हो, वृद्ध हो गया हो, रोगी हो, वह मुनि आचार्य से आज्ञा लेकर दिन में भी सो सकता है, अन्यथा नहीं।[2]

आयुर्वेद के ग्रन्थों में सोने का विधान इस प्रकार है—नींद लेने का उपयुक्त काल रात है। यदि रात में पूरी नींद न आए तो प्रातःकाल भोजन से पूर्व सोए। रात में जागने से रूक्षता[3] और दिन में लेटकर नींद लेने से स्निग्धता पैदा होती है। परंतु दिन में बैठे-बैठे नींद लेना न रूक्षता पैदा करता है और न स्निग्धता। यह स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है।

जो मुनि आचार्य और उपाध्याय का प्रत्यनीक होता है, पापों से नहीं डरता, कलह की उदीरणा करता है, चंचल होता है, रस-गृद्ध होता है, तपःकर्म नहीं करता, गण और गणी को छोड़ देता है, वह पाप-श्रमण है।

इस अध्ययन में—

श्लोक १-४ में ज्ञान-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है।
श्लोक ५ में दर्शन-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है।
श्लोक ६-१४ में चरित्र-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है।
श्लोक १५-१६ में तपः-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है।
श्लोक १७-१९ में वीर्य-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३९० :
जे भावा अकरणिज्जा, इहमज्झयणंमि वन्निअ जिणेहिं।
ते भावे सेवंतो, नायव्वो पावसमणोत्ति।।

२. ओघनिर्युक्ति, गाथा ४१९ :
अद्धाण परिस्संतो, गिलाण वुड्ढो अणुन्नवेत्ताणं।
संथारूत्तरपट्टो, अत्थरण निवज्जणा लोगं।।

३. अष्टांगहृदय सूत्रस्थान ७।५५, ६५ :
यथाकाल मतो निद्रां, रात्रौ सेवेत सात्मतः।
असात्म्याद् जागरादर्थं, प्रातः स्वप्यादभुक्तवान्।।
रात्रौ जागरणं रूक्षं, स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा।
अरूक्षमनभिस्यन्दि, त्वासीनप्रचलायितम्।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# सतरसमं अज्झयणं : सतरहवां अध्ययन
## पावसमणिज्जं : पाप-श्रमणीय

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. जे के इमे पव्वइए नियंठे<br>धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने।<br>सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं<br>विहरेज्ज पच्छा य जहासुहं तु।। | *यः कश्चिदयं प्रव्रजितो निर्ग्रन्थः*<br>*धर्मं श्रुत्वा विनयोपपन्नः।*<br>*सुदुर्लभं लब्ध्वा बोधिलाभं*<br>*विहरेत् पश्चाच्च यथासुखं तु।।* | जो कोई निर्ग्रन्थ धर्म को सुन, दुर्लभतम बोधि-लाभ[1] को प्राप्त कर विनय[2] से युक्त हो प्रव्रजित होता है किन्तु प्रव्रजित होने के पश्चात् स्वच्छन्द-विहारी[3] हो जाता है। |
| २. सेज्जा दढा पाउरणं मे अत्थि<br>उप्पज्जई भोत्तुं तहेव पाउं।<br>जाणामि जं वट्टइ आउसु! त्ति<br>किं नाम काहामि सुएण भंते!।। | *शय्या दृढा प्रावरणं मेऽस्ति,*<br>*उत्पद्यते भोक्तुं तथैव पातुम्।*<br>*जानामि यद्वर्तत आयुष्मन्! इति*<br>*किं नाम करिष्यामि श्रुतेन भदन्त?* | (गुरु के द्वारा अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होने पर वह कहता है—) मुझे रहने को अच्छा उपाश्रय मिल रहा है, कपड़ा भी मेरे पास है, खाने-पीने को भी मिल जाता है। आयुष्मन्! जो हो रहा है, उसे मैं जान लेता हूं। भंते! फिर मैं श्रुत का अध्ययन कर क्या करूंगा?[4] |
| ३. जे के इमे पव्वइए<br>निद्दासीले पगामसो।<br>भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ<br>पावसमणि त्ति वुच्चई।। | *यः कश्चिदयं प्रव्रजितो*<br>*निद्राशीलः प्रकामशः।*<br>*भुक्त्वा पीत्वा सुखं स्वपिति*<br>*पापश्रमण इत्युच्यते।।* | जो प्रव्रजित होकर बार-बार नींद लेता है, खा-पी कर आराम से लेट जाता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है। |
| ४. आयरियउवज्झाएहिं<br>सुयं विणयं च गाहिए।<br>ते चेव खिंसई बाले<br>पावसमणि त्ति वुच्चई।। | *आचार्योपाध्यायैः*<br>*श्रुतं विनयं च ग्राहितः।*<br>*तांश्चैव खिंसति बालः*<br>*पापश्रमण इत्युच्यते।।* | जिन आचार्य और उपाध्याय ने श्रुत और विनय सिखाया उन्हीं की निन्दा करता है,[5] वह विवेक-विकल भिक्षु पाप-श्रमण कहलाता है। |
| ५. आयरियउवज्झायाणं<br>सम्मं नो पडितप्पइ।<br>अप्पडिपूयए थद्धे<br>पावसमणि त्ति वुच्चई।। | *आचार्योपाध्यायानां*<br>*सम्यग् न प्रतितप्यते।*<br>*अप्रतिपूजकः स्तब्धः*<br>*पापश्रमण इत्युच्यते।।* | जो आचार्य और उपाध्याय के कार्यों की सम्यक् प्रकार से चिन्ता नहीं करता—उनकी सेवा नहीं करता, जो बड़ों का सम्मान नहीं करता, जो अभिमानी होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है। |
| ६. सम्मद्दमाणे पाणाणि<br>बीयाणि हरियाणि य।<br>असंजए संजयमन्नमाणे<br>पावसमणि त्ति वुच्चई।। | *संमर्दयन् प्राणान्*<br>*बीजानि हरितानि च।*<br>*असंयतः संयतं मन्यमानः*<br>*पापश्रमण इत्युच्यते।।* | द्वीन्द्रिय आदि प्राणी तथा बीज और हरियाली का मर्दन करने वाला, असंयमी होते हुए भी अपने आपको संयमी मानने वाला, पाप-श्रमण कहलाता है। |
| ७. संथारं फलगं पीढं<br>निसेज्जं पायकंबलं।<br>अप्पमज्जियमारुहइ<br>पावसमणि त्ति वुच्चई।। | *संस्तारं फलकं पीठं*<br>*निषद्यां पादकम्बलम्।*<br>*अप्रमृज्यारोहति*<br>*पापश्रमण इत्युच्यते।।* | जो बिछौने, पाट, पीठ, आसन[6] और पैर पोंछने के कम्बल का प्रमार्जन किए बिना[7] (तथा देखे बिना) उन पर बैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. दवदवस्स चरई
पमत्ते य अभिक्खणं।
उल्लंघणे य चंडे य
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*'दवदवस्स' चरति*
*प्रमत्तश्चाभीक्ष्णम्।*
*उल्लंघनश्च चण्डश्च*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो द्रुतगति से चलता है, जो बार-बार प्रमाद करता है, जो प्राणियों को लांघ कर[८]—उनके ऊपर होकर चला जाता है, जो क्रोधी है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

९. पडिलेहेइ पमत्ते
अवउज्झइ पायकंबलं।
पडिलेहणाअणाउत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*प्रतिलेखयति प्रमत्तः*
*अपोज्झति पादकम्बलम्।*
*प्रतिलेखनाऽनायुक्तः*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो असावधानी से प्रतिलेखन करता है, जो पाद-कम्बल को जहां कहीं रख देता है, इस प्रकार जो प्रतिलेखना में असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

१०. पडिलेहेइ पमत्ते
से किंचि हु निसामिया।
गुरुपरिभावए निच्चं
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*प्रतिलेखयति प्रमत्तः*
*स किंचित् खलु निशम्य।*
*गुरुपरिभावको नित्यं*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो कुछ भी बातचीत हो रही हो उसे सुनकर प्रतिलेखना में असावधानी करने लगता है, जो गुरु का तिरस्कार करता है[१०]—शिक्षा देने पर उनके सामने बोलने लगता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।[११]

११. बहुमाई पमुहरे
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*बहुमायी प्रमुखरः*
*स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।*
*असंविभागी 'अचियत्ते'*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो बहुत कपटी, वाचाल, अभिमानी, लालची, इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण न रखने वाला, भक्त-पान आदि का संविभाग न करने वाला[१२] और गुरु आदि से प्रेम न रखने वाला होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

१२. विवादं च उदीरेइ
अहम्मे अत्तपण्णहा।
वुग्गहे कलहे रत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*विवादं चोदीरयति*
*अधर्मः आत्मप्रज्ञाहा।*
*व्युद्ग्रहे कलहे रक्तः*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो शांत हुए विवाद को फिर से उभाड़ता है, जो सदाचार से शून्य होता है, जो (कुतर्क से) अपनी प्रज्ञा का हनन करता है,[१३] जो कदाग्रह और कलह में[१४] रक्त होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

१३. अथिरासणे कुक्कुईए
जत्थ तत्थ निसीयई।
आसणम्मि अणाउत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*अस्थिरासनः कौकुचिकः*
*यत्र तत्र निषीदति।*
*आसनेऽनायुक्तः*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो स्थिरासन नहीं होता—बिना प्रयोजन इधर-उधर चक्कर लगाता है, जो हाथ, पैर आदि अवयवों को हिलाता रहता है, जो जहां कहीं बैठ जाता है[१५]—इस प्रकार आसन (या बैठने) के विषय में जो असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

१४. ससरक्खपाए सुवई
सेज्जं न पडिलेहइ।
संथारए अणाउत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*ससरक्षपादः स्वपिति*
*शय्यां न प्रतिलिखति।*
*संस्तारकेऽनायुक्तः*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो सचित्त रज से भरे हुए पैरों का प्रमार्जन किए बिना ही सो जाता है, सोने के स्थान का प्रतिलेखन नहीं करता—इस प्रकार बिछौने (या सोने) के विषय में जो असावधान होता है,[१६] वह पाप-श्रमण कहलाता है।

१५. दुद्धदहीविगईओ
आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*दुग्धदधिविकृतीः*
*आहारत्यभीक्ष्णम्।*
*अरतश्च तपःकर्मणि*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो दूध, दही आदि विकृतियों का[१७] बार-बार आहार करता है और तपस्या में रत नहीं रहता, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

१६. अत्थंतम्मि य सूरम्मि
आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ पडिचोएइ
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*अस्तान्ते च सूर्ये*
*आहरत्यभीक्ष्णम्।*
*चोदितः प्रतिचोदयति*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो सूर्य के उदय से लेकर अस्त होने तक बार-बार[१८] खाता रहता है। 'ऐसा नहीं करना चाहिए'—इस प्रकार सीख देने वाले को कहता है कि तुम उपदेश देने में कुशल हो, करने में नहीं, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७.आयरियपरिच्चाई
परपासंडसेवए।
गाणंगणिए दुब्भूए
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*आचार्यपरित्यागी*
*परपाषण्डसेवकः।*
*गाणङ्गणिको दुर्भूतः*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो आचार्य को छोड़[१९] दूसरे धर्म-सम्प्रदायों में[२०] चला जाता है, जो छह मास की अवधि में एक गण से दूसरे गण में संक्रमण करता है[२१], जिसका आचारण निन्दनीय है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

१८.सयं गेहं परिचज्ज
परगेहंसि वावडे।
निमित्तेण य ववहरई
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*स्वकं गेहं परित्यज्य*
*परगेहे व्याप्रियते।*
*निमित्तेन च व्यवहरति*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो अपना घर छोड़कर (प्रव्रजित होकर) दूसरों के घर में व्यापृत होता है[२२]—उनका कार्य करता है, जो शुभाशुभ बता कर धन का अर्जन करता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

१९.सन्नाइपिंडं जेमेइ
नेच्छई सामुदाणियं।
गिहिनिसेज्जं च वाहेइ
पावसमणि त्ति वुच्चई।।

*स्वज्ञातिपिण्डं जेमति*
*नेच्छति सामुदानिकम्।*
*गृहिनिषद्यां च वाहयति*
*पापश्रमण इत्युच्यते।।*

जो अपने ज्ञाति-जनों के घर का भोजन करता है, किन्तु सामुदायिक भिक्षा[२३] करना नहीं चाहता, जो गृहस्थ की शय्या पर बैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

२०.एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे
रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए
न से इहं नेव परत्थ लोए।।

*एतादृशः पंचकुशीलाऽसंवृतः*
*रूपधरो मुनिप्रवराणामधस्तनः।*
*अस्मिँल्लोके विषमिव गर्हितः*
*न स इह नैव परत्र लोके।।*

जो पूर्वोक्त आचरण करने वाला, पांच प्रकार के कुशील साधुओं[२४] की तरह असंवृत, मुनि के वेश को धारण करने वाला और मुनि-प्रवरों की अपेक्षा तुच्छ संयम वाला होता है, वह इस लोक में विष की तरह निंदित होता है। वह न इस लोक में कुछ होता है और न परलोक में।

२१.जे वज्जए एए सया उ दोसे
से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे।
अयंसि लोए अमयं व पूइए
आराहए दुहओ लोगमिणं।।

*यो वर्जयत्येतान् सदा तु दोषान्*
*स सुव्रतो भवति मुनिनां मध्ये।*
*अस्मिँल्लोकेऽमृतमिव पूजितः*
*आराधयति द्विधा लोकमिमम्।।*

जो इन दोषों का सदा वर्जन करता है वह मुनियों में सुव्रत होता है। वह इस लोक में अमृत की तरह पूजित[२५] होता है तथा इस लोक और परलोक—दोनों लोकों की आराधना करता है।[२६]

—त्ति बेमि।।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन १७ : पाप-श्रमणीय

### १. बोधि-लाभ (बोहिलाभं)

प्रस्तुत प्रसंग में 'बोधि' का अर्थ है—(१) चेतना का जागरण, विशेष प्रकार की समझ और (२) धर्म अथवा तत्त्व। वृत्ति में इसका अर्थ—केवली प्रणीत धर्म किया है।[1]

विशेष विवरण के लिए देखें—सूयगडो १।१।१ का टिप्पण।

### २. विनय...(विणओ...)

विनय का सामान्य अर्थ नम्रता है। प्रस्तुत संदर्भ में यह शब्द ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय अथा उपचारविनय, (शिष्टाचार)—इस चतुर्विध विनय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2] विनय का एक अर्थ है—आचार। विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तरज्झयणाणि के प्रथम अध्ययन का आमुख तथा पहले श्लोक का टिप्पण।

### ३. स्वच्छंद-विहारी (जहासुहं)

इसका शाब्दिक अर्थ है—जिन प्रवृत्तियों में स्वयं को सुख की अनुभूति हो वैसी प्रवृत्ति करना अर्थात् स्वच्छन्द विहारी बनना। प्रव्रजित होते समय व्यक्ति सिंहवृत्ति से प्रव्रजित होता है। फिर विकथा आदि में संलग्न होकर वह खिन्नता का अनुभव करता हुआ शृगालवृत्ति वाला हो जाता है, शिथिल हो जाता है—'सीहत्ताए णिक्खंतो सीयालत्ताए विहरति।'[3]

### ४. (किं नाम काहामि सुएण भंते !)

गुरु के द्वारा श्रुत की आराधना की प्रेरणा देने पर आलसी शिष्य कहता है—'भंते! श्रुत के अध्ययन से क्या? बहुश्रुत और अल्पश्रुत में कोई विशेष भेद नहीं होता। आप श्रुत की आराधना करते हैं, पर अतीन्द्रिय वस्तु को जानने में असमर्थ हैं। जो प्रत्यक्ष है उसे ही देख पाते हैं। हम भी वर्तमानग्राही हैं, जो प्रत्यक्ष है उसे जानते हैं। फिर हृदय, कंठ और तालु को सुखाने वाले अध्ययन से क्या प्रयोजन?'[4]

### ५. निंदा करता है (खिंसई)

यह देशी धातु है। इसके दो अर्थ किए गए हैं—तिरस्कार करना, निन्दा करना।[5]

### ६. आसन (निसेज्जं)

वृत्तिकार ने निषद्या का अर्थ स्वाध्याय भूमि आदि किया है।[6] प्राचीनकाल में स्वाध्याय के लिए एकान्त स्थान का उपयोग किया जाता था, वह मुनियों का समाधिस्थल होता था,[7] उसे निषद्या कहा जाता था। आजकल प्रचलित 'निसीहिआ' शब्द भी उसी का द्योतक है। किन्तु यहां निषद्या का अर्थ आसन ही प्रासंगिक है। संस्तार, फलक, पीठ, पाद कम्बल—इन पदों के साथ निषद्या का प्रयोग आसनवाची ही होना चाहिए। देखें—अध्ययन २ में निषद्या परिषह का टिप्पण।

### ७. प्रमार्जन किए बिना (तथा देखे बिना) (अप्पमज्जियं)

'प्रमार्जन' और 'प्रतिलेखन' ये दोनों सम्बन्धित कार्य हैं, इसलिए जहां प्रमार्जन का विधान हो वहां प्रतिलेखन का विधान स्वयं समझ लेना चाहिए।[8]

### ८. (दवदवस्स चरई)

मिलाएं—दसवेआलियं, ५।१।१४।

### ९. प्राणियों को लांघ कर (उल्लंघणे)

वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ बालक आदि को लांघकर जाना किया है।[9] वैकल्पिक रूप में उन्होंने बछड़ा, डिम्भ आदि का उल्लंघन करना भी किया है।[10] दशवैकालिक में मुनि के लिए भेड़, बच्चा, कुत्ता और बछड़ा—इन चारों को लांघकर या हटाकर प्रवेश करने का निषेध है।[11]

### १०. जो गुरु का तिरस्कार करता है (गुरुपरिभावए)

जो गुरु के साथ विवाद करता है अथवा गुरु के द्वारा किसी कार्य के लिए प्रेरित किए जाने पर 'आप ही यह कार्य

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३२ : बोधिलाभं—जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिरूपम्।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४४ : विनयोपपन्नो—ज्ञानदर्शनचारित्र-उपचार-विनयसम्पन्न इत्यर्थः।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३२।

४. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४४ : न च बहुश्रुताल्पश्रुतयोः कश्चिद् विशेषः, ततः किं मम गलतालुविशोषणेण।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४३३ : ये भवन्तो भदन्ता अधीयन्ते तेऽपि नातीन्द्रियं वस्तु किञ्चनावबुध्यन्ते, किन्तु साम्प्रतमात्रेक्षिण एव, तच्चैतावदस्मास्वेवमप्यस्ति, ततः किं हृदयगलतालुशोषविधायिनाऽधीतेनेति ?

५. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४५।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४३३।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३४ : निषद्यां—स्वाध्यायभूम्यादिकां यत्र निषद्यते।

७. जैनेन्द्र कोश, भाग २, पृष्ठ ६२७।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३४ : 'अप्रमृज्य' रजोहरणादिनाऽसंशोध्य उपलक्षणत्वाद-प्रत्युपेक्ष्य च।

९. वही, पत्र ४३४ : उल्लंघनश्च बालादीनामुचितप्रतिपत्त्यकरणतोऽधःकर्ता।

१०. वही, पत्र ४३४ : उल्लंघनश्च वत्सडिम्भादीनाम्।

११. दसवेआलियं, ५।१।२२ :
एलगं दारगं साणं, वच्छगं वावि कोट्टए।
उल्लंघिया न पविसे, विऊहित्ताण व संजए॥

करें, आप ही ने तो हमें ऐसा सिखाया था और आज आप ही इसमें दोष निकालते हैं—अतः यह आपका ही दोष है, हमारा नहीं'—इस प्रकार असभ्य वचनों से जो उन्हें अपमानित करता है, उसे 'गुरुपरिभावक' कहा जाता है।[1]

### ११. (श्लोक ९, १०)

देखें—उत्तरज्झयणाणि, २६।२६, ३०।

### १२. भक्त-पान आदि का संविभाग न करने वाला (असंविभागी)

जो गुरु, ग्लान, बाल आदि साधुओं को उचित अशन-पान आदि देता है, वह 'संविभागी' होता है और जो केवल अपने आत्म पोषण का ही ध्यान रखता है, वह 'असंविभागी' होता है।[2] देखें—दसवेआलियं, ६।२।२२।

### १३. जो (कुतर्क से) अपनी प्रज्ञा का हनन करता है (अत्तपन्नहा)

शान्त्याचार्य ने इसके तीन संस्कृत रूप दिए हैं—(१) आत्मप्रश्नहा (२) आत्तप्रज्ञाहा (३) आप्तप्रज्ञाहा। जो आत्मा संबंधी प्रश्नों का वाचालता से हनन कर देता है, वह 'आत्मप्रश्नहा' कहलाता है। जो अपनी या दूसरों की बुद्धि का कुतर्कों के द्वारा हनन करता है, वह 'आत्तप्रज्ञाहा' अथवा 'आप्तप्रज्ञाहा' कहलाता है।[3]

### १४. जो कदाग्रह और कलह में (वुग्गहे कलहे)

चूर्णि की भाषा में सामान्य लड़ाई को 'विग्रह' और वाचिक लड़ाई को 'कलह' कहा जाता है।[4]

बृहद्वृत्ति के शब्दों में दंड आदि की घात से जनित विरोध को 'व्युद्ग्रह' और वचन आदि से उत्पन्न विरोध को 'कलह' कहा जाता है।[5]

### १५. जो जहां कहीं बैठ जाता है (जत्थ तत्थ निसीयई)

इस श्लोक में आसन का विवेक है। 'जहां कहीं बैठ जाता है'—इसका आशय है कि सजीव और सरजस्क स्थान पर बैठ जाता है। उपयुक्त स्थान का विवेक दशवैकालिक में है।[6] चूर्णिकार ने इसका संकेत भी दिया है।[7]

### १६. बिछौने (या सोने) के विषय में जो असावधान होता है (संथारए अणाउत्ते)

इसकी व्याख्या में शान्त्याचार्य ने ओघनिर्युक्ति की एक गाथा का उल्लेख किया है।[8] देखें—उत्तरज्झयणाणि, २६।११ का टिप्पण।

### १७. विकृतियों का (विगईओ)

विकृति और रस ये दोनों समान अर्थवाची हैं। यहां दूध, आदि को 'विकृति' कहा है और इसी आगम में अन्यत्र दूध, दही, घी आदि को 'रस' कहा है।[9] विकृति के नौ प्रकार बतलाए गए हैं—

(१) दूध (२) दही (३) नवनीत (४) घृत (५) तैल (६) गुड (७) मधु (८) मद्य और (९) मांस।[10]

स्थानांग में तैल, घृत, वसा (चर्बी) और नवनीत को स्नेह-विकृति भी कहा गया है।[11]

इसी सूत्र में मधु, मद्य, मांस और नवनीत को महाविकृति भी कहा गया है।[12]

दूध, दही आदि विकार बढ़ाने वाले हैं, इसलिए इनका नाम विकृति है।[13]

विकृति खाने से मोह का उदय होता है।[14] इसलिए बार-बार उन्हें नहीं खाना चाहिए। देखिए—दशवैकालिक, चूलिका २।७।

मद्य और मांस ये दो विकृतियां तथा वसा—ये अभक्ष्य हैं। मधु और नवनीत को कुछ आचार्य अभक्ष्य मानते हैं और कुछ आचार्य विशेष स्थिति में उन्हें भक्ष्य भी मानते हैं। यहां उन्हीं विकृतियों के बार-बार खाने का निषेध किया गया है, जो भक्ष्य हैं।

चूर्णिकार ने 'विगति' शब्द के आधार पर इसका निर्वचन इस प्रकार किया है—'अशोभनं गतिं नयन्तीति विगतयः'—जो बुरी गति में ले जाती है, वह विगति है।[15]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३४ : गुरुपरिभावकः.....किमुक्तं भवति ?—असम्यक्-प्रत्युपेक्षमाणोऽन्यद्वा वितथमाचरन् गुरुभिश्चोदितस्तानेव विवदतेऽभिभवति वाऽसभ्यवचनैः, यथा—स्वयमेव प्रत्युपेक्षध्वं, युष्माभिरेव वयमित्थं शिक्षितास्ततो युष्माकमेवैष दोष इत्यादि।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३४ : संविभजति—गुरुग्लानबालादिभ्य उचितमशनादि यच्छतीत्येवंशीलः संविभागी न तथा य आत्मपोषकत्वेनैव सोऽसंविभागी।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३४, ४३५।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६ : विग्रहः सामान्येन कलहो वाचिकः।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३५ : 'वुग्गहे' त्ति व्युद्ग्रहे दण्डादिघातजनिते विरोधे 'कलहे' तस्मिन्नेव वाचिके।

६. दसवेआलियं, ८।५ :
सुद्धपुढवीए न निसिए, ससरक्खम्मि य आसणे।
पमज्जिनु निसीएज्जा, जाइत्ता जस्स ओग्गहं।।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६ : सुद्धपुढवीए ण णीसीएज्जत्ति एतन्न स्मरति।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३५ : 'संस्तारके' फलककम्बलादौ, सुप्त इति शेषः, 'अनायुक्तः' "कुक्कुडिपायपसारण आयामेउं पुणोवि आउंटे" इत्याद्यागमार्थानुपयुक्तः।

९. उत्तरज्झयणाणि, ३०।२६ :
खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं।।

१०. ठाणं, ९।२३।

११. वही, ५।१८४ : चत्तारि सिणेहविगतीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—तेल्लं घयं वसा णवणीतं।

१२. वही, ४।१८५ : चत्तारि महाविगतीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—महुं, मंसं, मज्जं, णवणीतं।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३५ : विकृतिहेतुत्वाद्विकृती।

१४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६ : विगतीमाहारयतः मोहोद्भवा भवति।

१५. वही, पृ० २४६ : विकृतिं—अशोभनं गतिं नयन्तीति विगतयः, ताश्च क्षीरविगत्यादयः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### १८. बार-बार (अभिक्खणं)

अभीक्ष्ण का शब्दार्थ 'पुनः-पुनः' होता है। चूर्णि और वृत्ति में इसका भावार्थ प्रतिदिन किया गया है। पुनः पुनः आहार करता है अर्थात् प्रतिदिन आहार करता है।[1] इसका मूल अर्थ 'बार-बार खाता है, सूर्योदय से सूर्यास्त तक खाता रहता है'—होना चाहिए। इसका सम्बन्ध 'एगभत्तं च भोयणं' (दशवैकालिक ६।२२) से होना चाहिए।

### १९. आचार्य को छोड़ (आयरियपरिच्चाई)

आचार्य मुझे तपस्या में प्रेरित करते हैं तथा मेरे द्वारा आनीत आहार को बाल, ग्लान आदि साधुओं में वितरित कर देते हैं—इन या इन जैसे दूसरे कारणों से जो आचार्य को छोड़ देता है, वह...।[2]

### २०. दूसरे धर्म-संप्रदायों में (परपासंड)

वृत्तिकार ने 'परपासंड' का अर्थ सौगत आदि किया है।[3]

विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तरज्झयणाणि २३।१६ का टिप्पण।

### २१. एक गण से दूसरे गण में संक्रमण करता है (गाणंगणिए)

भगवान् महावीर की यह व्यवस्था थी कि जो निर्ग्रन्थ जिस गण में दीक्षित हो, वह जीवन-पर्यन्त उसी में रहे। विशेष प्रयोजनवश (अध्ययन आदि के लिए) वह गुरु की आज्ञा से साधर्मिक गणों में जा सकता है।[4] परन्तु दूसरे गण में संक्रमण करने के पश्चात् छह मास तक वह पुनः परिवर्तन नहीं कर सकता।[5] छह मास के पश्चात् यदि वह परिवर्तन करना चाहे तो कर सकता है। जो मुनि विशेष कारण के बिना छह मास के भीतर ही परिवर्तन करता है उसे 'गाणंगणिक' कहते हैं।[6]

### २२. दूसरों के घर में व्यापृत होता है-उनका कार्य करता है (परगेहंसि वावडे)

चूर्णि में पर-गृह-व्यापार का अर्थ 'निमित्त आदि का व्यापार' किया गया है।[7]

बृहद्वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'जो मुनि आहारार्थी होकर गृहस्थों को आप्तभाव दिखा कर उनके कार्यों में व्यापृत होता है' किया है।[8]

### २३. सामुदायिक-भिक्षा (सामुदाणियं)

सामुदायिक-भिक्षा की व्याख्या का एक अंश दशवैकालिक ५।१।२५ में तथा दूसरा अंश इस श्लोक में मिलता है। उसके अनुसार ऊंच नीच सभी कुलों से भिक्षा लेना सामुदायिक-भिक्षा है। इसके अनुसार ज्ञात-अज्ञात सभी कुलों से भिक्षा लेना सामुदायिक-भिक्षा है।

शान्त्याचार्य ने 'सामुदायिक' के दो अर्थ किए हैं—

(१) अनेक घरों से लाई हुई भिक्षा।

(२) अज्ञात उंछ—अपरिचित घरों से लाई हुई भिक्षा।[9]

### २४. पांच प्रकार के कुशील साधुओं (पंचकुसीले)

जैन आगमों में पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ बतलाए गए हैं[10]—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक।

मूल तथा उत्तर गुणों में दोष लगाने वाला मुनि कुशील निर्ग्रन्थ कहलाता है। इसके मुख्यतः दो प्रकार हैं—प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील। दोनों के पांच-पांच प्रकार हैं—(१) ज्ञान कुशील (२) दर्शन कुशील (३) चारित्र कुशील (४) लिंग कुशील (५) यथासूक्ष्मकुशील।[11] सूत्रकृतांग की चूर्णि में नौ प्रकार के कुशील बतलाए गए हैं—(१) पार्श्वस्थ (२) अवसन्न (३) कुशील (४) संसक्त (५) यथाछंद (६) काथिक (७) प्राश्निक (८) संप्रसारक (९) मामक।[12]

प्रस्तुत प्रसंग में दोनों प्रकार के कुशील—प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील निर्ग्रंथों का वर्णन है।[13]

### २५. अमृत की तरह पूजित (अमयं व पूइए)

चूर्णि में अमृत का वर्णन इस प्रकार है—अमृत उत्कृष्ट वर्ण, गंध और रस से युक्त होता है। वह शरीर की क्रांति को बढ़ाता है, शक्ति का संवर्धन करता है तथा अवयवों को पुष्ट करता है। वह सौभाग्य का जनक, सभी रोगों का नाश करने वाला और अनेक गुणों से सम्पन्न होता है। वह कल्पवृक्ष के फल की भांति अमृतमय होता है।[14]

---

१. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६ : नित्यमाहारयति, यदि नाम कश्चिद् चोदयति किमिति भवं आहारं नित्यमाहारयति न चतुर्थषष्ठादि कदाचिदपि करोति ?

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४३५ : अभीक्ष्णं...प्रातरारभ्य सन्ध्यां यावत् पुनः पुनः भुंक्ते, यदि वा...अभीक्ष्णं पुनः पुनः, दिने दिने इत्युक्तं भवति।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३५ : 'आचार्यपरित्यागी' ते हि तपःकर्मणि विषीदन्तमुद्यमयन्ति, आनीतमपि चान्नादि बालग्लानादिभ्यो दापयन्त्यतोऽतीवाहारलौल्यात्तत्परित्यजनशीलः।

३. वही, पत्र ४३५ : परान्—अन्यान् पाषण्डान्—सौगतप्रभृतीन् 'मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया' इत्यादिकादभिप्रायतोऽत्यन्तमाहारप्रसक्तान्।

४. ठाणं, ७।१।

५. दसाओ २।३।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३५-४३६ : स्वेच्छाप्रवृत्ततया 'गाणंगणिए' त्ति गणाद् गणं षण्मासाभ्यन्तर एव संक्रामतीति गाणंगणिक इत्यागमिकी परिभाषा।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६-२४७ : परगृहेषु व्यापारं करोति, निमित्तादीनां च व्यापारं करोति।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३६ : 'परगेहे' अन्यवेश्मनि 'वावरे' त्ति व्याप्रियते—पिण्डार्थी सन् गृहिणामाप्तभावं दर्शयन् स्वलस्तत्कृत्यानि कुरुते।

९. वही, पत्र ४३६ : समुदानानि—भिक्षास्तेषां समूहः सामुदानिकम्...बहुगृहसम्बन्धिनं भिक्षासमूहमज्ञातोञ्छमितियावत्।

१०. ठाणं : ५।१।८४।

११. ठाणं, : ५।१।८७ : कुसीले पंचविधे पण्णत्ते, तं जहा—णाणकुसीले, दंसणकुसीले, चरितकुसीले, लिंगकुसीले, अहासुहुमकुसीले णामं पंचमे।

१२. सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० १०७।

१३. देखें—ठाणं ५।१।८४ का टिप्पण।

१४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४७ : अमृतं कियद् वर्णगन्धरसोपेतं वर्णबलपुष्टिसौभाग्यजननं सर्वरोगनाशनं अनेकगुणसंपन्नं कल्पवृक्षफलवद-मृतमभिधीयते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**२६. (श्लोक २०—२१)**

इन दो श्लोकों में दो मार्ग उपदिष्ट हैं—एक कुव्रत का, दूसरा सुव्रत का।

पहला अधोगमन का मार्ग है। वह व्यक्ति के वर्तमान और भविष्य—दोनों को बिगाड़ता है। दूसरा ऊर्ध्वगमन का मार्ग है। वह व्यक्ति के वर्तमान और भविष्य—दोनों को सुधारता है—

किसी अरण्य में एक संन्यासी साधना कर रहा था। एक दिन कोई राजा उधर से निकला। उसके हाथ में मरा हुआ खरगोश था। जंगल में शिकार कर वापिस आते समय वह मार्ग भूल गया। उसने सामने एक तापस के आश्रम को देखा। मार्ग पूछने के लिए वह तापस की कुटिया में आया और बोला—महात्मन्! मैं भटक गया हूं। मुझे मार्ग बताएं। संन्यासी ने कहा—राजन्! मैं तो दो ही मार्ग जानता हूं—अहिंसा स्वर्ग का मार्ग है और हिंसा नरक का मार्ग है। तीसरा मार्ग मैं नहीं जानता। राजा ने सदा-सदा के लिए अहिंसा का मार्ग चुन लिया। यह सुव्रत का मार्ग है। साधना करने वाले व्यक्ति को भी सुव्रत का मार्ग चुनना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अट्ठारसमं अज्झयणं

## संजइज्जं

# अठारहवां अध्ययन

## संजयीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

यह अध्ययन राजा संजय के वर्णन से समुत्पन्न है, इसलिए इसका नाम 'संजइज्जं'—'संजयीय' है।[1]

कांपिल्य नगर में संजय नाम का एक राजा राज्य करता था। एक बार वह शिकार के लिए निकला। उसके साथ चारों प्रकार की सेनाएं थीं। वह केसर उद्यान में गया। वहां उसने संत्रस्त मृगों को मारा। इधर-उधर देखते उसकी दृष्टि गर्दभाली मुनि पर जा टिकी। वे ध्यानस्थ थे। उन्हें देख वह संभ्रान्त हो गया। उसने सोचा—मैंने यहां के मृगों को मार मुनि की आशातना की है। वह घोड़े से नीचे उतरा। मुनि के पास जा वन्दना कर बोला—"भगवन्! मुझे क्षमा करें।" मुनि ध्यानलीन थे। वे कुछ नहीं बोले। राजा का भय बढ़ा। उसने सोचा—यदि मुनि क्रुद्ध हो गए तो वे अपने तेज से समूचे विश्व को नष्ट कर देंगे। उसने पुनः कहा—"भंते! मैं राजा संजय हूं। मौन तोड़ कर मुझे कुछ कहें।" (श्लोक १-१०)

मुनि ध्यान संपन्न कर राजा को अभयदान देते हुए बोले—"राजन्! तुझे अभय है। तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है" (श्लोक ११)। मुनि ने जीवन की अस्थिरता, ज्ञाति-सम्बन्धों की असारता, कर्म-परिणामों की निश्चितता का उपदेश दिया। राजा ने सुना। वैराग्य उभर आया। वह राज्य को त्याग कर मुनि गर्दभाली के पास श्रमण बन गया।

एक दिन वह क्षत्रीय मुनि संजय मुनि के पास आया और बोला—"तुम्हारा नाम क्या है? तुम्हारा गोत्र क्या है? किसलिए तुम माहन-मुनि बने हो? तुम किस प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो और किस प्रकार विनीत कहलाते हो?" (श्लोक २१)

मुनि संजय ने उत्तर दिया—"नाम से मैं संजय हूं। गोत्र मेरा गौतम है। गर्दभाली मेरे आचार्य हैं। मुक्ति के लिए मैं माहन बना हूं। आचार्य के उपदेशानुसार मैं सेवा करता हूं इसलिए मैं विनीत हूं।" (श्लोक २२)

क्षत्रिय मुनि ने उनके उत्तर से आकृष्ट हो बिना पूछे ही कई तथ्य प्रकट किए और मुनि संजय को जैन प्रवचन में विशेष दृढ़ करने के लिए महापुरुषों के उदाहरण दिए तथा संयमपूर्ण जीवन बिताने का उपदेश दिया। संयमी कैसा होता है? उसे क्या करना होता है? तप का आचरण क्यों करना चाहिए? सुदुश्चर धर्म का आचरण कैसे किया जा सकता है—आदि प्रश्नों का समाधान दिया।

जब संजय राजर्षि ने अपना आयुष्य-काल जानने की जिज्ञासा रखी तब क्षत्रिय मुनि ने कहा—राजर्षि! जैन प्रवचन में त्रिकालज्ञ तीर्थंकर की आराधना करने वाला मुनि साधना के द्वारा स्वयं त्रिकालज्ञ हो जाता है। मैं तुम्हारे आयुष्य-काल को जानता हूं और तुमने विशुद्ध प्रज्ञा से प्रश्न पूछा है, इसलिए वह तुमको बता देता हूं।

अध्ययन बहुत सूत्रात्मक शैली में लिखा गया है, इसलिए इसमें उक्त घटना का संकेत मिलता है। उसका पूरा विवरण उपलब्ध नहीं है। वृत्तिकार ने संकेत की भाषा को स्पष्ट करने का किञ्चित् प्रयत्न किया है। (श्लोक ३०,३१,३२)

क्षत्रिय मुनि ने राजर्षि संजय से दार्शनिक चर्चा भी की। भगवान् महावीर के समय में दर्शन की चार मुख्य धाराएं थीं—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद।

उन्होंने इन चारों की जानकारी दी और निष्कर्ष की भाषा में क्रियावाद के प्रति रुचि के संवर्धन की प्रेरणा दी। प्रसंगवश उन्होंने अपने अनुभवों का उल्लेख कर पुनर्जन्म और आत्मा की स्थापना की। (श्लोक ३३)

इस अध्ययन से एक नवदीक्षित मुनि के स्थिरीकरण की प्रक्रिया सहज ही फलित होती है।

इस अध्ययन में भरत, सगर, मघव, सनत्कुमार, शांति, अर, कुन्थु, महापद्म, हरिषेण, जय आदि दस चक्रवर्तियों और दशार्णभद्र, करकण्डु, द्विमुख, नमि, नग्गति, उद्रायण, काशीराज, विजय, महाबल आदि नौ नरेश्वरों का वर्णन है।

इसमें दशार्ण, कलिंग, पांचाल, विदेह, गान्धार, सौवीर, काशी आदि देशों का नामोल्लेख भी हुआ है। यह अध्ययन प्राग् ऐतिहासिक और ऐतिहासिक जैन शासन की परम्परा का संकलन-सूत्र जैसा है।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३६४ :
संजयनामं गोयं, वेयंतो भावसंजओ होइ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयणं संजइज्जंति।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अट्ठारसमं अज्झयणं : अठारहवां अध्ययन
## संजइज्जं : संजयीय

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. कंपिल्ले नयरे राया<br>उदिण्णबलवाहणे।<br>नामेणं संजए नाम<br>मिगव्वं उवणिग्गए।। | *काम्पिल्ये नगरे राजा*<br>*उदीर्णबलवाहनः।*<br>*नाम्ना संजयो नाम*<br>*मृगव्यामुपनिर्गतः।।* | कांपिल्य[1] नगर में सेना और वाहनों से सम्पन्न संजय नाम का राजा था। एक दिन वह शिकार करने के लिए गया। |
| २. हयाणीए गयाणीए<br>रहाणीए तहेव य।<br>पायत्ताणीए महया<br>सव्वओ परिवारिए।। | *हयानीकेन गजानीकेन*<br>*रथानीकेन तथैव च।*<br>*पादातानीकेन महता*<br>*सर्वतः परिवारितः।।* | वह महान् अश्वसेना, हस्तिसेना, रथसेना और पैदलसेना से चारों ओर से घिरा हुआ था। |
| ३. मिए छुभित्ता हयगओ<br>कंपिल्लुज्जाणकेसरे।<br>भीए संते मिए तत्थ<br>वहेइ रसमुच्छिए।। | *मृगान् क्षिप्त्वा हयगतः*<br>*काम्पिल्योद्यानकेसरे।*<br>*भीतान् श्रान्तान् मृगान् तत्र*<br>*विध्यति रसमूर्च्छितः।।* | वह घोड़े पर चढ़ा हुआ था। सैनिक हिरणों को कांपिल्य नगर के केशर नामक उद्यान की ओर ढकेल रहे थे। वह रस-मूर्च्छित होकर उन डरे हुए और खिन्न बने हुए हिरणों को वहां व्यथित कर रहा था—मार रहा था। |
| ४. अह केसरम्मि उज्जाणे<br>अणगारे तवोधणे।<br>सज्झायज्झाणजुत्ते<br>धम्मज्झाणं झियायई।। | *अथ केसर उद्याने*<br>*अनगारस्तपोधनः।*<br>*स्वाध्यायध्यानयुक्तः*<br>*धर्म्यध्यानं ध्यायति।।* | उस केशर नाम उद्यान में स्वाध्याय और ध्यान में लीन रहने वाले एक तपोधन अनगार गर्दभाली[2] धर्म्य-ध्यान में एकाग्र हो रहे थे। |
| ५. अप्फोवमंडवम्मि<br>झायई झवियासवे।<br>तस्सागए मिए पासं<br>वहेई से नराहिवे।। | *'अप्फोव' मण्डपे*<br>*ध्यायति क्षपितास्रवः।*<br>*तस्यागतान् मृगान् पार्श्वं*<br>*विध्यति स नराधिपः।।* | कर्म-बन्धन के हेतुओं को निर्मूल करने वाले अनगार लता-मण्डप[3] में ध्यान कर रहे थे। राजा ने उनके समीप आए हुए हिरणों पर बाणों के प्रहार किए। |
| ६. अह आसगओ राया<br>खिप्पमागम्म सो तहिं।<br>हए मिए उ पासित्ता<br>अणगारं तत्थ पासई।। | *अथाश्वगतो राजा*<br>*क्षिप्रमागम्य स तस्मिन्।*<br>*हतान् मृगान् तु दृष्ट्वा*<br>*अनगारं तत्र पश्यति।।* | राजा अश्व पर आरूढ़ था। वह तुरन्त वहां आया। उसने पहले मरे हुए हिरणों को ही देखा, फिर उसने उसी स्थान में अनगार को देखा। |
| ७. अह राया तत्थ संभंतो<br>अणगारो मणाहओ।<br>मए उ मंदपुण्णेणं<br>रसगिद्धेण घंतुणा।। | *अथ राजा तत्र सम्भ्रान्तः*<br>*अनगारो मनागाहतः।*<br>*मया तु मन्दपुण्येन*<br>*रसगृद्धेन घातुकेन।।* | राजा अनगार को देख कर भयभ्रान्त हो गया। उसने सोचा—मैं भाग्यहीन, रस-लोलुप और जीवों को मारने वाला हूं। मैंने तुच्छ प्रयोजन के लिए मुनि को आहत किया है। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. आसं विसज्जइत्ताणं
अणगारस्स सो निवो।
विणएण वंदए पाए
भगवं! एत्थ मे खमे।।

*अश्वं विसृज्य*
*अनगारस्य स नृपः।*
*विनयेन वन्दते पादौ*
*भगवन्! अत्र मे क्षमस्व।।*

वह राजा घोड़े को छोड़ कर विनयपूर्वक अनगार के चरणों में वन्दना करता और कहता है—"भगवन्! इस कार्य के लिए मुझे क्षमा करें।"

९. अह मोणेण सो भगवं
अणगारे झाणमस्सिए।
रायाणं न पडिमंतेइ
तओ राया भयद्दुओ।।

*अथ मौनेन स भगवान्*
*अनगारो ध्यानमाश्रितः।*
*राजानं न प्रतिमन्त्रयते*
*ततो राजा भयद्रुतः।।*

वे अनगार भगवान् मौनपूर्वक ध्यान में लीन थे। उन्होंने राजा को प्रत्युत्तर नहीं दिया। उससे राजा और अधिक भयाकुल हो गया।

१०. संजओ अहमस्सीति
भगवं! वाहराहि मे।
कुद्धे तेएण अणगारे
डहेज्ज नरकोडिओ।।

*संजयोऽहमस्मीति*
*भगवन्! व्याहर माम्।*
*क्रुद्धस्तेजसाऽनगारः*
*दहेत् नरकोटीः।।*

राजा बोला—"हे भगवन्! मैं संजय हूं। आप मुझसे बातचीत कीजिए। अनगार कुपित होकर अपने तेज से[४] करोड़ों मुनष्यों को जला डालता है।"

११. अभओ पत्थिवा! तुब्भं
अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि
किं हिंसाए पसज्जसि?।।

*अभयं पार्थिव! तव*
*अभयदाता भव च।*
*अनित्ये जीवलोके*
*किं हिंसायां प्रसजसि?*

अनगार बोले—"पार्थिव! तुझे अभय है और तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है?"[५]

१२. जया सव्वं परिच्चज्ज
गंतव्वमवसस्स ते।
अणिच्चे जीवलोगम्मि
किं रज्जम्मि पसज्जसि?।।

*यदा सर्वं परित्यज्य*
*गन्तव्यमवशस्य ते।*
*अनित्ये जीवलोके*
*किं राज्ये प्रसजसि?*

"जबकि तू पराधीन है और इसलिए सब कुछ छोड़ कर तुझे चले जाना है तब इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों राज्य में आसक्त हो रहा है?"

१३. जीवियं चेव रूवं च
विज्जुसंपायचंचलं।
जत्थं तं मुज्झसी रायं
पेच्चत्थं नावबुज्झसे।।

*जीवितं चैव रूपं च*
*विद्युत्सम्पातचंचलम्।*
*यत्र त्वं मुह्यसि राजन्!*
*प्रेत्यार्थं नावबुध्यसे।।*

"राजन्! तू जहां मोह कर रहा है वह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है। तू परलोक के हित को क्यों नहीं समझ रहा है?"

१४. दाराणि य सुया चेव
मित्ता य तह बंधवा।
जीवंतमणुजीवंति
मयं नाणुव्वयंति य।।

*दाराश्च सुताश्चैव*
*मित्राणि च तथा बान्धवाः।*
*जीवन्तमनुजीवन्ति*
*मृतं नानुव्रजन्ति च।।*

"स्त्रियां, पुत्र, मित्र और बान्धव जीवित व्यक्ति के साथ जीते हैं किन्तु वे मृत के पीछे नहीं जाते।"

१५. नीहरंति मयं पुत्ता
पियरं परमदुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्ते
बंधू रायं! तवं चरे।।

*निःसारयन्ति मृतं पुत्राः*
*पितरं परमदुःखिताः।*
*पितरोऽपि तथा पुत्रान्*
*बन्धवो राजन्! तपश्चरेः।।*

"पुत्र अपने मृत पिता को परम दुःख के साथ श्मशान ले जाते हैं और इसी प्रकार पिता भी अपने पुत्रों और बंधुओं को[६] श्मशान में ले जाता है, इसलिए हे राजन्! तू तपश्चरण कर।"

१६. तओ तेणऽज्जिए दव्वे
दारे य परिरक्खिए।
कीलंतऽन्ने नरा रायं!
हट्ठतुट्ठमलंकिया।।

*ततस्तेनार्जिते द्रव्ये*
*दारेषु च परिरक्षितेषु।*
*क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन्!*
*हृष्टतुष्टाऽलङ्कृताः।।*

"राजन्! मृत्यु के पश्चात् उस मृत व्यक्ति के द्वारा अर्जित धन और सुरक्षित स्त्रियों को हृष्ट, तुष्ट[७] और अलंकृत होकर दूसरे व्यक्ति भोगते हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७.तेणावि जं कयं कम्मं
सुहं वा जइ वा दुहं।
कम्मुणा तेण संजुत्तो
गच्छई उ परं भवं।।

*तेनापि यत् कृतं कर्म*
*सुखं वा यदि वा दुःखम्।*
*कर्मणा तेन संयुक्तः*
*गच्छति तु परं भवम्।।*

"उस मरने वाले व्यक्ति ने भी जो कर्म किया—सुखकर या दुःखकर—उसी के साथ वह परभव में चला जाता है।"

१८.सोऊण तस्स सो धम्मं
अणगारस्स अंतिए।
महया संवेगनिव्वेयं
समावन्नो नराहिवो।।

*श्रुत्वा तस्य स धर्मं*
*अनगारस्यान्तिके।*
*महता संवेगनिर्वेदं*
*समापन्नो नराधिपः।।*

वह संजय राजा अनगार के समीप महान् आदर के साथ[८] धर्म सुन कर मोक्ष का इच्छुक और संसार से उद्विग्न हो गया।

१९.संजओ चइउं रज्जं
निक्खंतो जिणसासणे।
गद्दभालिस्स भगवओ
अणगारस्स अंतिए।।

*संजयस्त्यक्त्वा राज्यं*
*निष्क्रान्तो जिनशासने।*
*गर्दभालेर्भगवतः*
*अनगारस्यान्तिके।।*

संजय राज्य छोड़ कर भगवान् गर्दभालि अनगार के समीप जिन-शासन में दीक्षित हो गया।

२०.चिच्चा रट्ठं पव्वइए
खत्तिए परिभासइ।
जहा ते दीसई रूवं
पसन्नं ते तहा मणो।।

*त्यक्त्वा राष्ट्रं प्रव्रजितः*
*क्षत्रियः परिभाषते।*
*यथा ते दृश्यते रूपं*
*प्रसन्नं ते तथा मनः।।*

जिसने राष्ट्र को[९] छोड़ कर प्रव्रज्या ली, उस क्षत्रिय ने[१०] (अप्रतिबद्ध विहारी राजा संजय से) कहा—"तुम्हारी आकृति जैसे प्रसन्न दीख रही है वैसे ही तुम्हारा मन भी प्रसन्न दीख रहा है।"

२१.किंनामे ? किंगोत्ते ?
कस्सट्ठाए व माहणे ?।
कहं पडियरसी बुद्धे ?
कहं विणीए त्ति वुच्चसि ?।।

*किंनामा ? किंगोत्रः ?*
*कस्मै अर्थाय वा माहनः ?।*
*कथं प्रतिचरसि बुद्धान् ?*
*कथं विनीत इत्युच्यसे ?।।*

"तुम्हारा क्या नाम है ? गोत्र क्या है ? किसलिए तुम माहन—मुनि बने हो ? तुम किस प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो और किस प्रकार विनीत कहलाते हो ?"

२२.संजओ नाम नामेणं
तहा गोत्तेण गोयमो।
गद्दभाली ममायरिया
विज्जाचरणपारगा।।

*संजयो नाम नाम्ना*
*तथा गोत्रेण गौतमः।*
*गर्दभालयो ममाचार्याः*
*विद्याचरणपारगाः।।*

"नाम से मैं संजय हूं। गोत्र से गौतम हूं। गर्दभालि मेरे आचार्य हैं—विद्या और चारित्र के पारगामी। मुक्ति के लिए मैं माहन बना हूं। आचार्य के उपदेशानुसार मैं सेवा करता हूं इसलिए मैं विनीत कहलाता हूं।"[११]

२३.किरियं अकिरियं विणयं
अन्नाणं च महामुणी !।
एएहिं चउहिं ठाणेहिं
मेयण्णे किं पभासई ?।।

*क्रियः क्रिया विनयः*
*अज्ञानं च महामुने !।*
*एतैश्चतुर्भिः स्थानैः*
*मेयज्ञः किं प्रभाषते।।*

वे क्षत्रिय श्रमण बोले—"महामुने ! क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञान—इन चार स्थानों के द्वारा एकान्तवादी तत्त्ववेत्ता[१२] क्या तत्त्व बतलाते हैं[१३]—

२४.इइ पाउकरे बुद्धे
नायए परिनिव्वुडे।
विज्जाचरणसंपन्ने
सच्चे सच्चपरक्कमे।।

*इति प्रादुरकरोद् बुद्धः*
*ज्ञातकः परिनिर्वृतः।*
*विद्याचरणसंपन्नः*
*सत्यः सत्यपराक्रमः।।*

"उसे तत्त्ववेत्ता ज्ञात-वंशीय, उपशांत, विद्या और चारित्र से सम्पन्न, सत्यवाक् और सत्य-पराक्रम वाले भगवान् महावीर ने प्रकट किया है।"

२५.पडंति नरए घोरे
जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छंति
चरित्ता धम्ममारियं।।

*पतन्ति नरके घोरे*
*ये नराः पापकारिणः।*
*दिव्यां च गतिं गच्छन्ति*
*चरित्वा धर्ममार्यम्।।*

"जो मनुष्य पाप करने वाले हैं वे घोर नरक में जाते हैं और आर्य-धर्म का आचरण कर मनुष्य दिव्य-गति को प्राप्त होते हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६.मायावुइयमेयं तु
मुसाभासा निरत्थिया।
संजममाणो वि अहं
वसामि इरियामि य।।

*मायोक्तमेतत् तु*
*मृषाभाषा निरर्थिका।*
*संयच्छन्नप्यहम्*
*वसामि ईरे च।।*

"इन एकान्त-दृष्टि वाले क्रियावादी आदि वादियों ने जो कहा है, वह माया-पूर्ण है इसलिए वह मिथ्या-वचन है, निरर्थक है। मैं उन माया-पूर्ण एकान्तवादों से बच कर रहता हूं और चलता हूं।"[१४]

२७.सव्वे ते विइया मज्झं
मिच्छादिट्ठी अणारिया।
विज्जमाणे परे लोए
सम्मं जाणामि अप्पगं।।

*सर्वे ते विदिता मम*
*मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः।*
*विद्यमाने परे लोके*
*सम्यग् जानाम्यात्मानम्।।*

"मैंने उन सब एकान्तदृष्टि वालों को जान लिया है। वे मिथ्या-दृष्टि और अनार्य हैं। मैं परलोक के अस्तित्व में आत्मा को भलीभांति जानता हूं।"

२८.अहमासी महापाणे
जुइमं वरिससओवमे।
जा सा पाली महापाली
दिव्वा वरिससओवमा।।

*अहमासं महाप्राणे*
*द्युतिमान् वर्षशतोपमः।*
*या सा पाली महापाली*
*दिव्या वर्षशतोपमा।।*

"मैं महाप्राण[१५] नामक विमान में कान्तिमान देव था। मैंने वहां पूर्ण आयु का भोग किया।[१६] जैसे यहां सौ वर्ष की आयु पूर्ण होती है, वैसे ही देवलोक में पल्योपम और सागरोपम की आयु पूर्ण मानी जाती है।"[१७]

२९.से चुए बंभलोगाओ
माणुस्सं भवमागए।
अप्पणो य परेसिं च
आउं जाणे जहा तहा।।

*अथ च्युतो ब्रह्मलोकात्*
*मानुष्यं भवमागतः।*
*आत्मनश्च परेषां च*
*आयुर्जानामि यथा तथा।।*

"वह मैं ब्रह्मलोक से च्युत होकर मनुष्य-लोक में आया हूं। मैं जिस प्रकार अपनी आयु को जानता हूं उसी प्रकार दूसरों की आयु को भी जानता हूं।"[१८]

३०.नाणा रुइं च छंदं च
परिवज्जेज्ज संजए।
अणट्ठा जे य सव्वत्था
इइ विज्जामणुसंचरे।।

*नाना रुचिं च छन्दश्च*
*परिवर्जयेत् संयतः।*
*अनर्था ये च सर्वार्थाः*
*इति विद्यामनुसंचरेः।।*

"संयमी को नाना प्रकार की रुचि[१९] अभिप्राय और जो सब प्रकार के अनर्थ[२०] हैं उनका वर्जन करना चाहिए—इस विद्या के पथ पर तुम्हारा संचरण हो।"—(क्षत्रिय मुनि ने राजर्षि से कहा)—

३१.पडिक्कमामि पसिणाणं
परमंतेहिं वा पुणो।
अहो उट्ठिए अहोरायं
इइ विज्जा तवं चरे।।

*प्रतिक्रमामि प्रश्नेभ्यः*
*परमन्त्रेभ्यो वा पुनः।*
*अहो उत्थितोऽहोरात्रम्*
*इति विद्वान् तपश्चरेः।।*

"मैं (शुभाशुभ सूचक) प्रश्नों और गृहस्थ-कार्य-संबंधी मंत्रणाओं से[२१] दूर रहता हूं। अहो! मैं दिन-रात धर्माचरण के लिए सावधान रहता हूं—यह समझ कर[२२] तुम तप का आचरण करो।"

३२.जं च मे पुच्छसी काले
सम्मं सुद्धेण चेयसा।
ताइं पाउकरे बुद्धे
तं नाणं जिणसासणे।।

*यच्च मां पृच्छसि काले*
*सम्यक् शुद्धेन चेतसा।*
*तत् प्रादुरकरोद् बुद्धः*
*तज्ज्ञानं जिनशासने।।*

"जो तुम मुझे सम्यक् शुद्ध-चित्त से आयु के विषय में पूछते हो, उसे सर्वज्ञ भगवान् ने प्रकट किया है, वह ज्ञान जिनशासन में विद्यमान है।"[२३]

३३.किरियं च रोयए धीरे
अकिरियं परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठिसंपन्ने
धम्मं चर सुदुच्चरं।।

*क्रियां च रोचयेद् धीरः*
*अक्रियां परिवर्जयेत्।*
*दृष्ट्या दृष्टिसंपन्नः*
*धर्मं चर सुदुश्चरम्।।*

"धीर-पुरुष को क्रियावाद पर रुचि करनी चाहिए और अक्रियावाद[२४] को त्याग देना चाहिए। सम्यक्-दृष्टि के द्वारा दृष्टि-सम्पन्न होकर तुम सुदुश्चर धर्म का आचरण करो।

३४.एयं पुण्णपयं सोच्चा
अत्थधम्मोवसोहियं।
भरहो वि भारहं वासं
चेच्चा कामाइ पव्वए।।

*एतत् पुण्यपदं श्रुत्वा*
*अर्थधर्मोपशोभितम्।*
*भरतोऽपि भारतं वर्षं*
*त्यक्त्वा कामान् प्राव्रजत्।।*

अर्थ (मोक्ष) और धर्म से उपशोभित इस पवित्र उपदेश को सुनकर भरत चक्रवर्ती ने भारतवर्ष और कामभोगों को छोड़कर प्रव्रज्या ली।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५.सगरो वि सागरंतं
भरहवासं नराहिवो।
इस्सरियं केवलं हिच्चा
दयाए परिनिव्वुडे।।

*सगरो पि सागरान्तं*
*भरतवर्षं नराधिपः।*
*ऐश्वर्यं केवलं हित्वा*
*दयया परिनिर्वृतः।।*

"सगर चक्रवर्ती सागर पर्यन्त[२५] भारतवर्ष और पूर्ण ऐश्वर्य को छोड़ अहिंसा[२६] की आराधना कर मुक्त हुए।"

३६.चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पव्वज्जमब्भुवगओ
मघवं नाम महाजसो।।

*त्यक्त्वा भारतं वर्षं*
*चक्रवर्ती महर्द्धिकः।*
*प्रव्रज्यामभ्युपगतः*
*मघवा नाम महायशाः।।*

"महर्द्धिक और महान् यशस्वी मघवा चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोड़कर प्रव्रज्या ली।"

३७.सणंकुमारो मणुस्सिंदो
चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पुत्तं रज्जे ठवित्ताणं
सो वि राया तवं चरे।।

*सनत्कुमारो मनुष्येन्द्रः*
*चक्रवर्ती महर्द्धिकः।*
*पुत्रं राज्ये स्थापयित्वा*
*सोऽपि राजा तपोऽचरत्।।*

"महर्द्धिक राजा सनत्कुमार चक्रवर्ती ने पुत्र को राज्य पर स्थापित कर तपश्चरण किया।"

३८.चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
संती संतिकरे लोए
पत्तो गइमणुत्तरं।।

*त्यक्त्वा भारतं वर्षं*
*चक्रवर्ती महार्द्धिकः।*
*शान्तिः शान्तिकरो लोके*
*प्राप्तो गतिमनुत्तराम्।।*

"महर्द्धिक और लोक में शान्ति करने वाले शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोड़कर अनुत्तर गति प्राप्त की।"

३९.इक्खागरायवसभो
कुंथू नाम नराहिवो।
विक्खायकित्ती धिइमं
मोक्खं गओ अणुत्तरं।।

*इक्ष्वाकुराजवृषभः*
*कुन्थुर्नाम नराधिपः।*
*विख्यातकीर्तिर्धृतिमान्*
*मोक्षं गतोऽनुत्तरम्।।*

"इक्ष्वाकु कुल के राजाओं में श्रेष्ठ, विख्यात कीर्ति वाले, धृतिमान् भगवान् कुन्थु नरेश्वर ने अनुत्तर मोक्ष प्राप्त किया।"

४०.सागरंतं जहित्ताणं
भरहं वासं नरीसरो।
अरो य अरयं पत्तो
पत्तो गइमणुत्तरं।।

*सागरान्तं हित्वा*
*भारतं वर्षं नरेश्वरः।*
*अरश्चारजः प्राप्तः*
*प्राप्तो गतिमनुत्तराम्।।*

"सागर पर्यन्त भारतवर्ष को छोड़कर, कर्मरज से मुक्त होकर 'अर' नरेश्वर ने अनुत्तर गति प्राप्त की।"

४१.चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी नराहिओ।
चइत्ता उत्तमे भोए
महापउमे तवं चरे।।

*त्यक्त्वा भारतं वर्षं*
*चक्रवर्ती नराधिपः।*
*त्यक्त्वा उत्तमान् भोगान्*
*महापद्मस्तपोऽचरत्।।*

"विपुल राज्य, सेना और वाहन तथा उत्तम भोगों को छोड़कर महापद्म चक्रवर्ती ने तप का आचरण किया।"

४२.एगच्छत्तं पसाहित्ता
महिं माणनिसूरणो।
हरिसेणो मणुस्सिंदो
पत्तो गइमणुत्तरं।।

*एकच्छत्रां प्रसाध्य*
*महीं माननिषूदनः।*
*हरिषेणो मनुष्येन्द्रः*
*प्राप्तो गतिमनुत्तराम्।।*

"(शत्रु-राजाओं का) मान-मर्दन करने वाले हरिषेण चक्रवर्ती ने पृथ्वी पर एक-छत्र शासन किया, फिर अनुत्तर गति प्राप्त की।"

४३.अन्निओ रायसहस्सेहिं
सुपरिच्चाई दमं चरे।
जयनामो जिणक्खायं
पत्तो गइमणुत्तरं।।

*अन्वितो राजसहस्रैः*
*सुपरित्यागी दममचरत्।*
*जयनामा जिनाख्यातं*
*प्राप्तो गतिमनुत्तराम्।।*

"जय चक्रवर्ती ने हजार राजाओं के साथ राज्य का परित्याग कर जिन-भाषित दम (संयम) का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४.दसण्णरज्जं मुइयं
चइत्ताणं मुणी चरे।
दसण्णभद्दो निक्खंतो
सक्खं सक्केण चोइओ।।

*दशार्णराज्यं मुदितं*
*त्यक्त्वा मुनिरचरत्।*
*दशार्णभद्रो निष्क्रान्तः*
*साक्षाच्छक्रेण चोदितः।।*

"साक्षात् शक्र के द्वारा प्रेरित दशार्णभद्र ने दशार्ण देश का प्रमुदित राज्य छोड़कर प्रव्रज्या ली और मुनि धर्म का आचरण किया।"

(नमी नमेइ अप्पाणं
सक्खं सक्केण चोइओ।
चइऊण गेहं वइदेही
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ।।)

*(नमिर्नामयति आत्मानं*
*साक्षाच्छक्रेण चोदितः*
*त्यक्त्वा गेहं वैदेही*
*श्रामण्ये पर्युपस्थितः।।)*

"(विदेह के अधिपति नमिराज ने, जो गृह को त्याग कर श्रामण्य में उपस्थित हुए और देवेन्द्र ने जिन्हें साक्षात् प्रेरित किया, आत्मा को नमा लिया—वे अत्यन्त नम्र बन गये।)"[२७]

४५.करकंडू कलिंगेसु
पंचालेसु स दुम्मुहो।
नमी राया विदेहेसु
गंधारेसु य नग्गई।।

*करकण्डुः कलिङ्गेषु*
*पञ्चालेषु च द्विमुखः।*
*नमी राजा विदेहेषु*
*गान्धारेषु च नग्गतिः।।*

"कलिंग में करकण्डु, पांचाल में द्विमुख, विदेह में नमि राजा और गान्धार में नग्गति[२८]—"

४६.एए नरिंदवसभा
निक्खंता जिणसासणे।
पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं
सामण्णे पज्जुवट्ठिया।।

*एते नरेन्द्रवृषभाः*
*निष्क्रान्ता जिनशासने।*
*पुत्रान् राज्ये स्थापयित्वा*
*श्रामण्ये पर्युपस्थिताः।।*

"राजाओं में वृषभ के समान ये अपने-अपने पुत्रों को राज्य पर स्थापित कर जिन-शासन में प्रव्रजित हुए और श्रमण-धर्म में सदा यत्नशील रहे।"

४७.सोवीररायवसभो
चेच्चा रज्जं मुणी चरे।
उद्दायणो पव्वइओ
पत्तो गइमणुत्तरं।।

*सौवीरराजवृषभः*
*त्यक्त्वा राज्यं मुनिरचरत्।*
*उद्रायणः प्रव्रजितः*
*प्राप्तो गतिमनुत्तराम्।।*

"सौवीर राजाओं में वृषभ के समान उद्रायण राजा ने राज्य को छोड़कर प्रव्रज्या ली, मुनि-धर्म का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की।"

४८.तहेव कासीराया
सेओ सच्चपरक्कमे।
कामभोगे परिच्चज्ज
पहणे कम्ममहावणं।।

*तथैव काशीराजः*
*श्वेतः सत्यपराक्रमः।*
*कामभोगान् परित्यज्य*
*प्राहन् कर्ममहावनम्।।*

"इसी प्रकार सत्य के लिए पराक्रम करने वाले काशीराज श्वेत[२९] ने काम-भोगों का परित्याग कर कर्म-रूपी महावन का उन्मूलन किया।"

४९.तहेव विजओ राया
अणट्टाकित्ति पव्वए।
रज्जं तु गुणसमिद्धं
पयहित्तु महाजसो।।

*तथैव विजयो राजा*
*अनष्टकीर्तिः प्राव्रजत्।*
*राज्यं तु गुणसमृद्धं*
*प्रहाय महायशाः।।*

"इसी प्रकार विमल-कीर्ति, महायशस्वी विजय राजा ने गुण से समृद्ध राज्य को छोड़ कर जिन-शासन में प्रव्रज्या ली।"

५०.तहेवुग्गं तवं किच्चा
अव्वक्खित्तेण चेयसा।
महाबलो रायरिसी
अदाय सिरसा सिरं।।

*तथैवोग्रं तपः कृत्वा*
*अव्याक्षिप्तेन चेतसा।*
*महाबलो राजर्षिः*
*आदित शिरसा शिरः।।*

"इसी प्रकार अनाकुल-चित्त से उग्र तपस्या कर राजर्षि महाबल ने अपना शिर देकर शिर (मोक्ष) को[३०] प्राप्त किया।"[३१]

५१.कहं धीरो अहेऊहिं
उम्मत्तो व्व महिं चरे?।
एए विसेसमादाय
सूरा दढपरक्कमा।।

*कथं धीरः अहेतुभिः*
*उन्मत्त इव महीं चरेत्?।*
*एते विशेषमादाय*
*शूरा दृढपराक्रमाः।।*

"ये भरत आदि शूर और दृढ़ पराक्रम-शाली राजा दूसरे धर्म-शासनों से जैन-शासन में विशेषता पाकर यहीं प्रव्रजित हुए तो फिर धीर पुरुष एकान्त-दृष्टिमय अहेतुवादों के द्वारा[३२] उन्मत्त की तरह कैसे पृथ्वी पर विचरण करे?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५२.अच्चंतनियाणखमा
सच्चा मे भासिया वई।
अतरिंसु तरंतेगे
तरिस्संति अणागया।।

*अतयन्तनिदानक्षमा*
*सत्या मया भाषिता वाक्।*
*अतीर्षुः तरन्त्येके*
*तरिष्यन्ति अनागताः।।*

"मैंने यह अत्यन्त युक्तियुक्त[३३] और सत्य बात कही है। इसके द्वारा कई जीवों ने संसार समुद्र का पार पाया है, पा रहे हैं और भविष्य में पाएंगे।"

५३.कहं धीरे अहेऊहिं
अत्ताणं परियावसे?।
सव्वसंगविनिम्मुक्के
सिद्धे हवइ नीरए।।

*कथं धीरः अहेतुभिः*
*आत्मानं पर्यावासयेत्?।*
*सर्वसंगविनिर्मुक्तः*
*सिद्धो भवति नीरजाः।।*

"धीर पुरुष एकान्त दृष्टिमय अहेतुवादों में अपने आपको कैसे लगाए? जो सब संगों से[३४] मुक्त होता है वह कर्म-रहित होकर सिद्ध हो जाता है।"[३५]

—त्ति बेमि।। —*इति ब्रवीमि।* —ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन १८ : संजयीय

### १. कांपिल्य (कंपिल्ले)

देखें—१३।२ का टिप्पण।

### २. (अणगारे तवोधणे)

इस श्लोक (४) में केवल 'अनगार तपोधन' है। अनगार का नामोल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु इसी प्रकरण में निर्युक्तिकार ने अनगार का नाम 'गद्दभालि'—गर्दभाली बताया है।[1]

### ३. लता-मंडप (अप्फोव)

यह देशी शब्द है। चूर्णि और वृत्ति में इसका अर्थ है—वृक्ष आदि से आकीर्ण, विस्तृत, वृक्ष-गुच्छ-गुल्म-लता से आच्छन्न।[2]

### ४. तेज से (तेएण)

तपस्या के प्रभाव से अनेक लब्धियां उत्पन्न होती हैं। उनमें एक है—तेजोलब्धि। इससे अनुग्रह और निग्रह—दोनों किए जा सकते हैं। निग्रह की अवस्था में अनेक प्रदेशों और प्राणियों को भस्मसात् किया जा सकता है।

### ५. (श्लोक ११)

प्रस्तुत श्लोक में अहिंसा के आधारभूत दो तत्त्व प्रतिपादित हैं—अभय और अनित्यता का बोध। भय हिंसा का मुख्य कारण है। भय की आशंका से ही मनुष्य ने शस्त्र आदि का निर्माण किया है। सबसे अधिक भय मृत्यु का होता है। जो किसी का प्राण हरण नहीं करता वह अभयदाता हो जाता है।

अनित्यता की विस्मृति मनुष्य को हिंसा की ओर ले जाती है। उसकी स्मृति अहिंसा की एक प्रबल प्रेरणा है।

### ६. अपने बन्धुओं को (बंधू)

यहां 'बंधू' शब्द प्रथमान्त बहुवचन है। 'बन्धून्' यह पद अध्याहार्य है। इसके आधार पर इसका अनुवाद होगा—बन्धु अपने बन्धुओं को श्मशान में ले जाते हैं।[3]

### ७. हृष्ट-तुष्ट (हट्ठतुट्ठ)

बाहर से पुलकित होने को 'हृष्ट' और मानसिक प्रीति का अनुभव करने को 'तुष्ट' कहा जाता है।[4]

### ८. महान् आदर के साथ (महया)

वृत्तिकार को यहां 'महया' शब्द के दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। इसका एक अर्थ होगा—महान् आदर के साथ। विभक्ति व्यत्यय द्वारा तृतीया के स्थान पर प्रथमा विभक्ति मान लेने पर इसका संस्कृत रूप महत् होता है।[5] तब वह धर्म का विशेषण बनता है और इसका अर्थ होता है—महान् धर्म। 'महता' यह साधन बनता है।

### ९. राष्ट्र को (रट्ठं)

राष्ट्र का अर्थ 'ग्राम, नगर आदि का समुदाय'[6] या 'मण्डल' है।[7] प्राचीन काल में 'राष्ट्र' शब्द आज जितने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता था। वर्तमान में राष्ट्र का अर्थ है—पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त देश। प्राचीन काल में एक ही देश में अनेक राष्ट्र होते थे।[8] उनकी तुलना आज के प्रमण्डलों या राज्य-सरकारों से की जा सकती है। मनुस्मृति में राष्ट्र का प्रयोग कुछ व्यापक अर्थ में भी हुआ लगता है।[9]

### १०. उस क्षत्रिय ने (खत्तिए)

यहां क्षत्रिय का नाम नहीं बताया गया है। परम्परा के अनुसार यह व्यक्ति पूर्वजन्म में वैमानिक देव था। वहां से च्युत होकर क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ। उचित बाह्य निमित्त मिलने पर विरक्त हुआ और राष्ट्र को छोड़ कर प्रव्रजित हो गया। वह जनपद विहार करता हुआ संजय मुनि से मिला और उसने अनेक जिज्ञासाएं कीं।[10]

### ११. (श्लोक २१, २२)

यहां क्षत्रिय ने पांच प्रश्न पूछे—

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३७७ : अह केसरमुज्जाणे नामेणं गद्दभालि अणगारो।

२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४८।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४३८ : अप्फोवमण्डवमिति वृक्षाद्याकीर्णे, तथा च वृद्धाः अप्फोव इति, किमुक्तं भवति ? आस्तीर्णे, वृक्षगुच्छगुल्मलता-संछन्न इत्यर्थः।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४१ : 'बन्धु' त्ति बन्धवश्च बन्धूनिति शेषः।

४. वही, पत्र ४४१ : हृष्टाः बहिः पुलकादिमन्तः, तुष्टाः—आन्तरप्रीतिभाजः।

५. वही, पत्र ४४१ : 'महय' त्ति महता आदरेणेतिशेषः, सुव्यत्ययेन वा महत्।

६. वही, पत्र ४४२ : 'राष्ट्रं' ग्रामनगरादिसमुदायम्।

७. वही, पत्र ४४१ : 'राष्ट्रं' मण्डलम्।

८. राजप्रश्नीयवृत्ति, पृ० २७६ : राज्यम्—राष्ट्रादिसमुदायात्मकम्। राष्ट्रं च जनपदं च।

९. मनुस्मृति, १०।६१ :
यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति।।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४२ : 'क्षत्रियः' क्षत्रजातिरनिर्दिष्टनामा परिभाषते, संजयमुनिमित्युपस्कारः, स हि पूर्वजन्मनि वैमानिक आसीत्, ततश्च्युतः क्षत्रियकुलेऽजनि, तत्र च कुतश्चित्तथाविधनिमित्ततः स्मृतपूर्वजन्मा तत एव चोत्पन्नवैराग्यः प्रव्रज्यां गृहीतवान्, गृहीतप्रव्रज्यश्च विहरन् संजयमुनिं दृष्ट्वा तद्विमर्शार्थमिदमुक्तवान्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) तुम्हारा नाम क्या है ?
(२) तुम्हारा गोत्र क्या है ?
(३) तुम माहन किसलिए बने हो ?
(४) तुम आचार्यों की प्रतिचर्या कैसे करते हो ?
(५) तुम विनीत कैसे कहलाते हो ?

संजय मुनि ने इनके उत्तर में कहा—
(१) मेरा नाम संजय है।
(२) मेरा गोत्र गौतम है।
(३) मैं मुक्ति के लिए माहन बना हूं।
(४) मैं अपने आचार्य गर्दभालि के आदेशानुसार प्रतिचर्या करता हूं।
(५) मैं आचार्य के उपदेश का आसेवन करता हूं, इसलिए 'विनीत' कहलाता हूं।

२२वें श्लोक में नाम और गोत्र के उत्तर स्पष्ट शब्दों में हैं। शेष तीन उत्तर 'गद्दभाली ममायरिया, विज्जाचरणपारगा' इन दो चरणों में समाहित किए गए हैं।[1]

## १२. एकांतवादी तत्त्ववेत्ता (मेयन्ने)

मेय का अर्थ है—ज्ञेय। मेय को जानने वाला मेयज्ञ कहलाता है। क्षत्रिय मुनि ने एकान्त क्रियावादी, अक्रियावादी दार्शनिकों के सिद्धान्तों की चर्चा पर महावीर के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से संजय ऋषि को परिचित कराया।

## १३. (श्लोक २३)

इस श्लोक में चार वादों—(१) क्रियावाद (२) अक्रियावाद (३) अज्ञानवाद (४) विनयवाद के विषय में राजर्षि से पूछा गया है। भगवान् महावीर के समसामयिक सभी वादों का यह वर्गीकरण है। सूत्रकृतांग में इन्हें 'चार समवसरण' कहा गया है।[2] इनके तीन सौ तिरसठ भेद होते हैं।

**(१) क्रियावाद :** क्रियावादी आत्मा का अस्तित्व मानते हैं किन्तु वह व्यापक है या अव्यापक, कर्त्ता है या अकर्त्ता, क्रियावान् है या अक्रियावान्, मूर्त्त है अमूर्त्त—इसमें उन्हें विप्रतिपत्ति रहती है।

**(२) अक्रियावाद :** जो आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते वे अक्रियावादी हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें नास्तिक भी कहा जा सकता है। कई अक्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, परन्तु "आत्मा का शरीर के साथ एकत्व है या अन्यत्व, यह नहीं कहा जा सकता"—ऐसा मानते हैं। कई अक्रियावादी आत्मा की उत्पत्ति के अनन्तर ही उसका प्रलय मानते हैं।

**(३) अज्ञानवाद :** जो अज्ञान से ही सिद्धि मानते हैं वे अज्ञानवादी हैं। इनकी मान्यता है कि कई जगत् को ब्रह्मादि विवर्त्तमय, कई प्रकृति-पुरुषात्मक, कई षड्द्रव्यात्मक, कई चतुःसत्यात्मक, कई विज्ञानमय, कई शून्यमय आदि-आदि मानते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी नित्य, अनित्य आदि अनेक प्रकारों से जानी जाती है—इन सबके ज्ञान से क्या ? यह ज्ञान स्वर्ग-प्राप्ति के लिए अनुपयुक्त है, अकिंचित्कर है आदि-आदि।

**(४) विनयवाद :** जो विनय से ही मुक्ति मानते हैं वे विनयवादी हैं। इनकी मान्यता है कि देव, दानव, राजा, तपस्वी, हाथी, घोड़ा, हरिण, गाय, भैंस, शृंगाल आदि को नमस्कार करने से क्लेश का नाश होता है। विनय से ही कल्याण होता है, अन्यथा नहीं।

क्रियावादियों के १८० भेद, अक्रियावादियों के ८४ भेद, वैनयिकों के ३२ भेद और अज्ञानियों के ६७ भेद मिलते हैं। इस प्रकार इन सबके ३६३ भेद होते हैं।[3]

अकलंकदेव ने इन वादों के आचार्यों का भी नामोल्लेख किया है—[4]

कोक्कल, कांठेविद्धि, कौशिक, हरि, श्मश्रुमान, कपिल, रोमश, हारित, अश्व, मुण्ड, आश्वलायन आदि १८० क्रियावाद के आचार्य व उनके अभिमत हैं।

मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि ८४ अक्रियावाद के आचार्य व उनके अभिमत हैं।

साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, चारायण, काठ, माध्यन्दिनी मौद, पैप्पलाद, बादरायण, स्विष्टिकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनी आदि ६७ अज्ञानवाद के आचार्य व उनके अभिमत हैं।

वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थूल आदि ३२ विनयवाद के आचार्य व उनके अभिमत हैं।

इस संसार में भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोग हैं। कई क्रियावाद में विश्वास करते हैं और कई अक्रियावाद में।[5] राजर्षि ने कहा—धीर पुरुष क्रियावाद में रुचि रखे और अक्रियावाद का वर्जन करे।[6]

जैन दर्शन क्रियावादी है पर एकांतदृष्टि नहीं है, इसलिए वह सम्यग्वाद है। जिसे आत्मा आदि तत्त्वों में विश्वास होता है, वही क्रियावाद (अस्तित्ववाद) का निरूपण कर सकता है।[7]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४२-४४३ : विद्याचरणपारगत्वाच्च तैस्तन्निवृत्तौ मुक्तिलक्षणं फलमुक्तं, ततस्तदर्थं माहनोऽस्मि, यथा च तदुपदेशस्तथा गुरुन् प्रतिचरामि, तदुपदेशासेवनाच्च विनीतः।

२. सूयगडो, १।१२।१।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४४ : तत्र तावच्छतमशीतं क्रियावादिनां अक्रियावादिनश्च चतुरशीतिसंख्याः, अज्ञानिकाः सप्तषष्टिविधाः वैनयिकवादिनो द्वात्रिंशत् एवं त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयम्।

४. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ८।१, पृ० ५६२।

५. सूयगडो, १।१०।१७।

६. उत्तरज्झयणाणि, १८।३३।

७. सूयगडो, १।१२।२०-२१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखें—२४वां टिप्पण।

## १४. (श्लोक २६)

क्षत्रिय श्रमण ने कहा—मैं उन मायापूर्ण एकांतवादों से बचकर रहता हूं और चलता हूं। वृत्तिकार के अनुसार क्षत्रिय मुनि ने यह बात संजय मुनि के स्थिरीकरण के लिए कही।[1]

## १५. महाप्राण (महापाणे)

यह पांचवें देवलोक का एक विमान है।[2]

## १६. मैंने वहां पूर्ण आयु का भोग किया है (वरिससओवमे)

मनुष्य-लोक में सौ वर्ष की आयु पूर्ण आयु मानी जाती है। इसी दृष्टि से देवलोक की पूर्ण आयु की उससे तुलना की गई है। क्षत्रिय मुनि ने कहा—जैसे मनुष्य यहां सौ वर्ष की आयु भोगते हैं, वैसे मैंने वहां दिव्य सौ वर्ष की आयु का भोग किया है।[3]

## १७. (पाली महापाली)

पाल जैसे जल को धारण करती है वैसे ही भव-स्थिति जीवन-जल को धारण करती है। इसलिए उसे 'पाली' कहा गया है।

'पाली' को पल्योपम-प्रमाण और 'महापाली' को सागरोपम-प्रमाण माना गया है।[4] यह गणनातीत (उपमेय) काल है। असंख्य-काल का एक पल्य होता है और दस कोडाकोड पल्यों का एक सागर है। विशद जानकारी के लिए देखिए—अणुओगदाराइं, सूत्र ४१८ आदि।

यहां 'महापाली' भव-स्थिति को 'वर्षशतोपमा' माना है। मनुष्य-लोक में सौ वर्ष की आयु पूर्ण आयु मानी जाती है, उसी तरह महाप्राण देवलोक में महापाली परम आयु मानी जाती है। इसलिए पुनः महापाली को वर्षशतोपम कहा गया। पल्योपम काल को एक पल्य की उपमा से समझाया गया है। पल्य में से एक बाल सौ-सौ वर्षों के अन्तर से निकाला जाता है। इसीलिए उसे 'वर्षशतोपम' कहा हो, यह भी कल्पना की जा सकती है।[5]

## १८. (श्लोक २९)

क्षत्रिय मुनि ने संजय मुनि को अपने पूर्वजन्म की जानकारी दी। इससे ध्वनित होता है कि उन्हें जातिस्मरण ज्ञान उपलब्ध था। जातिस्मरण के द्वारा अपने पूर्वजन्म को जाना जा सकता है। उन्होंने आगे कहा—मैं जिस प्रकार अपनी आयु को जानता हूं उसी प्रकार दूसरों की आयु को भी जानता हूं। जातिस्मरण से दूसरों की आयु को नहीं जाना जा सकता। इससे ज्ञात होता है कि उन्हें दूसरों का पूर्वजन्म जानने की विद्या भी प्राप्त थी।

## १९. रुचि (रुइं)

यहां रुचि का अर्थ है—क्रियावाद, अक्रियावाद आदि दर्शनों के प्रति होने वाली अभिलाषा।[6]

## २०. सब प्रकार के अनर्थ (सव्वत्था)

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं और उनके आधार पर अर्थ भी दो होते हैं[7]—

१. सर्वार्थाः—हिंसा आदि अशेष विषय।
२. सर्वत्र—आकार को अलाक्षणिक मानने पर इसका संस्कृत रूप 'सर्वत्र' होगा और अर्थ होगा—सभी क्षेत्र आदि में।

## २१. गृहस्थ-कार्य-सम्बन्धी मंत्रणाओं से (परमंतेहिं)

मुनि ने कहा—मैं अंगुष्ठ-विद्या आदि प्रश्नों से दूर रहता हूं, किन्तु गृहस्थ-कार्य-सम्बन्धी मंत्रणाओं से विशेष दूर रहता हूं। क्योंकि वे अतिसावद्य होती हैं। अतः मेरे लिए करणीय नहीं होतीं।[8]

## २२. समझकर (विज्जा)

'विज्जा' (सं० विद्वान्) शब्द क्वसु प्रत्ययान्त है। क्वसु प्रत्यय भूत और वर्तमान—दोनों अर्थों में होता है। प्रस्तुत संदर्भ में क्वसु प्रत्यय वर्तमान अर्थ में निर्दिष्ट है।[9] इसका अर्थ है जानकर—समझकर। वृत्ति में विद्वान् का अर्थ जानता हुआ किया है।[10]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४५ : 'संजममाणोऽवि' त्ति 'अपि' एवकारार्थस्ततः संयच्छन्नेव—उपरमन्नेव तदुक्त्याकर्णनादितः 'अहम्' इत्यात्मनिर्देशे विशेषतस्तत्स्थिरीकरणार्थम्, उक्तं हि—'ठियतो ठावए परं' ति।

२. वही, पत्र ४४५ : महाप्राणे महाप्राणनाम्नि ब्रह्मलोकविमाने।

३. वही, पत्र ४४५ : 'वरिससतोवमे' त्ति वर्षशतजीविना उपमा—दृष्टान्तो यस्यासौ वर्षशतोपमो मयूरव्यंसकादित्वात्समासः, ततोऽयमर्थः—यथेह वर्षशतजीवी इदानीं परिपूर्णायुरुच्यते, एवमहमपि तत्र परिपूर्णायुरभूवम्।

४. वही, पत्र ४४५ : तथाहि—य सा पालिरिव पालिः—जीवितजलधारणाद् भवस्थितिः, सा चोत्तरत्र महाशब्दोपादानादिह पल्योपमप्रमाणा।

५. वही, पत्र ४४५-४४६ : दिवि भवा दिव्या वर्षशतेनोपमा यस्याः सा वर्षशतोपमा, यथा हि वर्षशतमिह परमायुः तथा तत्र महापाली, उत्कृष्टतोऽपि हि तत्र सागरोपमैरेवायुरुपनीयते, न तूत्सर्पिण्यादिभिः अथवा—

"योजनं विस्तृतः पल्यस्तथा योजनमुत्सृतः।
सप्तरात्रप्ररूढाणां केशाग्राणां स पूरितः।।१।।
ततो वर्षशते पूर्णे, एकैकं केशमुद्धरेत्।
क्षीयते येन कालेन, तत्पल्योपममुच्यते।।२।।"
इति वचनाद्वर्षशतैः केशोद्धारहेतुभिरुपमा अर्थात् पल्यविषया यस्या सा वर्षशतोपमा, द्विविधाऽपि स्थितिः, सागरोपमस्यापि पल्योपमनिष्पाद्यत्वात्, तत्र मम महापाली दिव्या भवस्थितिरासीदित्युपस्कारः, अतश्चाहं वर्षशतोपमायुरभूवमिति भावः।

६. वही, पत्र ४४६ : रुचिं च—प्रक्रमात् क्रियावाद्यादिमतविषयमभिलाषम्।

७. वही, पत्र ४४६।

८. वही, पत्र ४४६ : प्रतीपं क्रामामि प्रतिक्रामामि—प्रतिनिवर्ते, केभ्यः ?—'पसिणाणं' ति सुव्यत्ययात् 'प्रश्नेभ्यः' शुभाशुभसूचकेभ्योऽङ्गुष्ठप्रश्नादिभ्यः, अन्येभ्यो वा साधिकरणेभ्यः, तथा परे-गृहस्थास्तेषां मन्त्राः-परमन्त्राः-तत्कार्यालोचनरूपास्तेभ्यः,....प्रतिक्रमामि, अतिसावद्यत्वात्तेषाम्।

९. श्रीभिक्षुशब्दानुशासनं, ५।३।६ : 'वेत्तेर्वा क्वसुः'।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४६ : 'विज्ज' त्ति विद्वान् जानन्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## २३. (श्लोक ३१—३२)

क्षत्रिय मुनि ने राजर्षि संजय से कहा—तुमने मुझे आयु के विषय में प्रश्न किया है। मैं अपना आयुष्य-काल और दूसरों का आयुष्य-काल भी जानता हूं, किन्तु मैं ऐसे प्रश्नों से अतीत हो चुका हूं। फिर भी तुमने जानने की दृष्टि से मुझे पूछा है। वह मैं बताता हूं।

फिर क्षत्रिय मुनि ने संभवतः संजय को उनके आयुष्य-काल के विषय में कुछ बताया हो, ऐसा प्रतीत होता है। उन्होंने आगे कहा—मृत्यु विषयक ज्ञान जैन शासन में विद्यमान है। जिनशासन की आराधना करो, वह ज्ञान तुम्हें भी उपलब्ध हो सकेगा।[1]

## २४. क्रियावाद...अक्रियावाद (किरियं...अकिरियं)

सूत्रकृतांग चूर्णि के अनुसार क्रिया का अर्थ है—कंपन। एजन, कंपन, गमन, और क्रिया (प्रवृत्ति)—ये सब एकार्थक हैं।[2] महर्षि पतंजलि ने चित्त निरोध के प्रयत्न को क्रिया कहा है। उन्होंने तीन प्रकार की क्रियाएं मानी हैं—१. शारीरिक क्रियायोग—तपस्या आदि २. वाचिक क्रियायोग—स्वाध्याय आदि और ३. मानस क्रियायोग—ईश्वर प्रणिधान आदि।[3]

भगवान महावीर के समय में चार प्रकार के वाद प्रचलित थे—क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद। प्रस्तुत प्रसंग में 'किरिआ' शब्द क्रियावाद के अर्थ में प्रयुक्त है। क्रियावाद का अर्थ है—आत्मा आदि पदार्थों में विश्वास करना तथा आत्मकर्तृत्व को स्वीकार करना। इसके चार अर्थ फलित होते हैं—आस्तिकवाद[4], सम्यग्वाद, पुनर्जन्मवाद और कर्मवाद।[5]

अक्रियावाद की चार प्रतिपत्तियां हैं—

१. आत्मा का अस्वीकार।
२. आत्मा के कर्तृत्व का अस्वीकार।
३. कर्म का अस्वीकार।
४. पुनर्जन्म का अस्वीकार।[6]

अक्रियावादी को नास्तिकवादी, नास्तिकप्रज्ञ और नास्तिकदृष्टि कहा गया है।[7] स्थानांग सूत्र में अक्रियावादी के आठ प्रकार बतलाए हैं—[8]

१. एकवादी
२. अनेकवादी
३. मितवादी
४. निर्मितवादी
५. सातवादी
६. समुच्छेदवादी
७. नित्यवादी
८. असत्परलोकवादी

इनके विशेष विवरण के लिए देखें—ठाणं ८।२२ का टिप्पण तथा सूयगडो १।१२।१ का टिप्पण।

वृत्तिकार ने क्रिया का अर्थ अस्तिवाद और सत्-अनुष्ठान तथा अक्रिया का अर्थ नास्तिवाद और मिथ्याअनुष्ठान किया है।[9]

देखें—इसी अध्ययन का १३ वां टिप्पण।

## २५. सागर पर्यन्त (सागरंत)

तीन दिशाओं—पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में सागर पर्यन्त और एक दिशा उत्तर में हिमालय पर्वत तक।[10]

## २६. अहिंसा (दयाए)

प्रश्न व्याकरण में अहिंसा के ६० नाम गिनाएं हैं। उनमें एक नाम है—दया। यहां दया अहिंसा के अर्थ में प्रयुक्त है।[11] वृत्तिकार ने दया का अर्थ संयम किया है।[12] दशवैकालिक में लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य—ये चार विशुद्धि स्थान बतलाए गए हैं।[13] अहिंसा की परिभाषा सब जीवों के प्रति संयम है।[14] अतः दया का अर्थ संयम भी किया जा सकता है।

## २७. (नमी नमेइ अप्पाणं.....सामण्णे पज्जुवट्ठिओ)

यह श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। इस निर्णय के अनेक कारण हैं—

१. यह नौवें अध्ययन (९।६१) में आ चुका है।
२. शान्त्याचार्य ने अपनी वृत्ति में इसकी व्याख्या नहीं की है।
३. इससे अग्रवर्ती श्लोक में नमीराज का उल्लेख आया है।
४. शान्त्याचार्य ने 'सूत्राणि सप्तदश'—ऐसा उल्लेख किया है।

'एयं पुण्णपयं सोच्चा' (३४ वें श्लोक) में 'तहेवुग्गं तवं किच्चा' (५० वें श्लोक) तक १७ श्लोक होते हैं। उनमें 'नमि

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४७ : 'अप्पणो य परेसिं च' इत्यादिना तस्यायुर्विज्ञाता-मवगम्य संजयमुनिनाऽसौ पृष्टः कियन्ममायुरिति, ततोऽसौ प्राह—यच्च त्वं मां कालविषयं पृच्छसि तत्प्रादुष्कृतवान् 'बुद्धः' सर्वज्ञोऽत एव तज्ज्ञानं जिनशासने व्यवच्छेदफलत्वाज्जिनशासन एव न त्वन्यस्मिन् सुगतादिशासने, अतो जिनशासन एव यत्नो विधेयो येन यथाऽहं जानामि तथा त्वमपि जानीषे।
२. सूत्रकृतांग चूर्णि, पृष्ठ ३३६ : एजनं कंपन गमनं क्रियेत्यनर्थान्तरम्।
३. पातंजलयोगदर्शनम् २।१ : 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।'
४. द.चू. १। पृष्ठ २७ : किरिया नाम अत्थिवादो भण्णइ।
५. देखें—सूयगडो १।१२।१ का टिप्पण।
६. दशाश्रुतस्कन्ध दशा ६, सूत्र ३।
७. दशाश्रुतस्कन्ध दशा ६, सूत्र ६।
८. ठाणं ८।२२।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४७ : 'क्रियां' च 'अस्ति जीव इत्यादिरूपां सदनुष्ठानात्मिकां वा....तथा 'अक्रियां' नास्त्यात्मेत्यादिकां मिथ्यादृक्-परिकल्पिततत्तदनुष्ठानरूपां वा।
१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४८ : सागरान्तं—समुद्रपर्यन्तं दिक्त्रये, अन्यत्र तु हिमवत्पर्यन्तमित्युपस्कारः।
११. प्रश्नव्याकरण, ६।१।३।
१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४८ : दयया—संयमेन।
१३. दसवेआलियं ९।१।१३ : लज्जा दया संजम बंभचेरं, कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं।
१४. दसवेआलियं ६।८ : अहिंसा निउणं दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमेइ अप्पाणं' तथा 'करकंडू कलिंगेसु' श्लोकों की व्याख्या बृहद्वृत्ति में नहीं है। दोनों को प्रक्षिप्त मानने से 'सप्तदश सूत्राणि' की बात नहीं बैठती और 'करकंडू कलिंगेसु' को प्रक्षिप्त मानना भी युक्तियुक्त नहीं लगता। क्योंकि 'नमि नमेइ अप्पाणं' इसकी तो पुनरावृत्ति हुई है और 'करकंडू कलिंगेसु'— यह श्लोक पहली बार आया है। अतः 'नमी नमेइ अप्पाणं' को ही प्रक्षिप्त मानना चाहिए।[1]

## २८. (श्लोक ४५)

मुनि के तीन प्रकार होते हैं—

१. स्वयंबुद्ध—जो स्वयं बोधि प्राप्त करते हैं।
२. प्रत्येकबुद्ध—जो किसी एक निमित्त से बोधि प्राप्त करते हैं।
३. बुद्धबोधित—जो गुरु के उपदेश से बोधि प्राप्त करते हैं।

प्रत्येकबुद्ध एकाकी विहार करते हैं। वे गच्छवास में नहीं रहते।[2] प्रस्तुत श्लोक में चार प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख है—

१. करकण्डु—कलिंग का राजा।[3]
२. द्विमुख—पंचाल का राजा।
३. नमि—विदेह का राजा।
४. नग्गति—गान्धार का राजा।

इनका विस्तृत वर्णन टीका में प्राप्त है।[4] ये चारों प्रत्येकबुद्ध एक साथ, एक ही समय में देवलोक से च्युत हुए, एक साथ प्रव्रजित हुए, एक ही समय में बुद्ध हुए, एक ही समय में केवली बने और एक साथ सिद्ध हुए।[5]

करकण्डु बूढ़े बैल को देखकर प्रतिबुद्ध हुआ।
द्विमुख इन्द्रध्वज को देखकर प्रतिबुद्ध हुआ।
नमि एक चूड़ी की नीरवता को देखकर प्रतिबुद्ध हुआ।
नग्गति मंजरी विहीन आम्र-वृक्ष को देखकर प्रतिबुद्ध हुआ।[6]

बौद्ध ग्रन्थों में भी इन चार प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख मिलता है।[6] किन्तु इनके जीवन-चरित्र तथा बोधि-प्राप्ति के निमित्तों के उल्लेख में भिन्नता है।

चारों प्रत्येकबुद्धों का जीवनवृत्त इस प्रकार है—

### १. करकण्डु

चम्पा नगरी में दधिवाहन नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पद्मावती था। वह गणतन्त्र के अधिनेता महाराज चेटक की पुत्री थी।

एक बार रानी गर्भवती हुई। उसे दोहद उत्पन्न हुआ। परन्तु वह उसे व्यक्त करने में लज्जा का अनुभव करती रही। शरीर सूख गया। राजा के पूछने पर रानी ने अपने मन की बात कह दी।

रानी राजा का वेष धारण कर हाथी पर बैठी। राजा स्वयं उसके मस्तक पर छत्र लगा कर खड़ा था। रानी का दोहद पूरा हुआ। वर्षा आने लगी। हाथी वन की ओर भागा। राजा रानी घबड़ाए। राजा ने रानी से वट वृक्ष की शाखा पकड़ने के लिए कहा। हाथी उस वट वृक्ष के नीचे से निकला। राजा ने एक डाल पकड़ ली। रानी डाल नहीं पकड़ सकी। हाथी रानी को ले भागा। राजा अकेला रह गया। रानी के वियोग से वह अत्यन्त दुःखी हो गया।

हाथी थककर निर्जन वन में जा ठहरा। उसे एक तालाब दिखा। वह प्यास बुझाने के लिए पानी में घुसा। रानी अवसर देख नीचे उतरी और तालाब से बाहर आ गई।

वह दिग्मूढ़ हो इधर-उधर देखने लगी। भयाक्रांत हो वह एक दिशा की ओर चल पड़ी। उसने एक तापस देखा। उसके निकट जा प्रणाम किया। तापस ने उसका परिचय पूछा। रानी ने सब बता दिया। तापस ने कहा—"मैं भी महाराज चेटक का सगोत्री हूं। अब भयभीत होने की कोई बात नहीं।" उसने रानी को आश्वत कर, फल भेंट किए। रानी ने फल खाए। दोनों वहां से चले। कुछ दूर जाकर तापस ने गांव दिखाते हुए कहा—'मैं इस हल-कृष्ट भूमि पर चल नहीं सकता। वह दंतपुर नगर दीख रहा है। वहां दंतवक्र राजा है। तुम निर्भय हो वहां चली जाओ और अच्छा साथ देखकर चम्पापुरी चली जाना।'

रानी पद्मावती दंतपुर पहुंची। वहां उसने एक उपाश्रय में साध्वियों को देखा। उनके पास जा वन्दना की। साध्वियों ने परिचय पूछा। उसने सारा हाल कह सुनाया, पर गर्भ की बात गुप्त रख ली।

साध्वियों की बात सुन रानी को वैराग्य हुआ। उसने दीक्षा ले ली। गर्भ वृद्धिंगत हुआ। महत्तरिका ने यह देख रानी से पूछा। साध्वी रानी ने सच-सच बात बता दी। महत्तरिका ने यह बात गुप्त रखी। काल बीता। गर्भ के दिन पूरे हुए। रानी ने शय्यातर के घर जा प्रसव किया। उस नवजात शिशु को रत्नकम्बल में लपेटा और अपनी नामांकित मुद्रा उसे पहना श्मशान में छोड़ दिया। श्मशानपाल ने उसे उठाया और अपनी स्त्री को दे दिया। उसने उसका नाम 'अवकीर्णक' रखा। साध्वी रानी ने श्मशानपाल की पत्नी से मित्रता की। रानी जब उपाश्रय में पहुंची तब साध्वियों ने गर्भ के विषय में पूछा। उसने कहा—मृत पुत्र हुआ था। मैंने उसे फेंक दिया।

बालक श्मशानपाल के यहां बड़ा हुआ। वह अपने समवयस्क बालकों के साथ खेल खेलते समय कहता—'मैं तुम्हारा राजा हूं। मुझे 'कर' दो।'

एक बार उसके शरीर में सूखी खुजली हो गई। वह अपने

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४७-४४८।
२. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५२५-५२८।
३. सुखबोधा, पत्र १३३-१४५।
४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २७०।
५. सुखबोधा, पत्र १३३ :
वसहे च इन्दकेऊ, वलए अम्बे य पुप्फिए बोही।
करकंड दुम्मुहस्सा, नमिस्स गन्धाररन्नो य।
६. कुम्भकार जातक (सं० ४०८)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथियों से कहता—'मुझे खुजला दो।' ऐसा करने से उसका नाम 'करकण्डु' हुआ।

करकण्डु उस साध्वी के प्रति अनुराग रखता था। वह साध्वी मोहवश उसे भिक्षा में प्राप्त लड्डू आदि दिया करती थी।

बालक बड़ा हुआ। वह श्मशान की रक्षा करने लगा। वहां पास ही बांस का वन था। एक बार दो साधु उस ओर से निकले। एक साधु दण्ड के लक्षणों को जानता था। उसने कहा—'अमुक प्रकार का दण्ड जो ग्रहण करेगा, वह राजा होगा।' करकण्डु तथा एक ब्राह्मण के लड़के ने यह बात सुनी। ब्राह्मण कुमार तत्काल गया और लक्षण वाले बांस का दण्ड काटा। करकण्डु ने कहा—'यह बांस मेरे श्मशान में बढ़ा है, अतः इसका मालिक मैं हूं।' दोनों में विवाद हुआ न्यायाधीश के पास गए। उसने न्याय देते हुए करकण्डु को दण्ड दिला दिया।

ब्राह्मण कुपित हुआ और उसने चाण्डाल परिवार को मारने का षड्यन्त्र रचा। चाण्डाल को इसकी जानकारी मिल गई। वह अपने परिवार को साथ ले काञ्चनपुर चला गया।

काञ्चनपुर का राजा मर चुका था। उसके पुत्र नहीं था। राजा चुनने के लिए घोड़ा छोड़ा गया। घोड़ा सीधा वहीं जा रुका, जहां चाण्डाल विश्राम कर रहा था। घोड़े ने कुमार करकण्डु की प्रदक्षिणा की और वह उसके निकट ठहर गया। सामंत आए। कुमार को ले गए। राज्याभिषेक हुआ। वह काञ्चनपुर का राजा बन गया।

जब ब्राह्मणकुमार ने यह समाचार सुना तो वह एक गांव लेने की आशा से करकण्डु के पास आया और याचना की कि मुझे चम्पा राज्य में एक गांव दिया जाए। करकण्डु ने दधिवाहन के नाम पत्र लिखा। दधिवाहन ने इसे अपना अपमान समझा। उसने करकण्डु को बुरा-भला कहा। करकण्डु ने यह सब सुन कर चम्पा पर चढ़ाई कर दी।

साध्वी रानी पद्मावती ने युद्ध की बात सुनी। मनुष्य-संहार की कल्पना साकार हो उठी। वह चम्पा पहुंची। पिता-पुत्र का परिचय कराया। युद्ध बन्द हो गया। राजा दधिवाहन अपना सारा राज्य करकण्डु को दे प्रव्रजित हो गया।

करकण्डु गो-प्रिय था। एक दिन वह गोकुल देखने गया। उसने एक पतले बछड़े को देखा। उसका मन दया से भर गया। उसने आज्ञा दी कि इस बछड़े को उसकी मां का सारा दूध पिलाया जाए और जब वह बड़ा हो जाए तो दूसरी गायों का दूध भी उसे पिलाया जाए। गोपालों ने यह बात स्वीकार की।

बछड़ा सुखपूर्वक बढ़ने लगा। वह युवा हुआ। उसमें अपार शक्ति थी। राजा ने देखा। वह बहुत प्रसन्न हुआ।

कुछ समय बीता। एक दिन राजा पुनः वहां आया। उसने देखा कि वही बछड़ा आज बूढ़ा हो गया है, उसकी आंखें धंसी जा रही हैं, पैर लड़खड़ा रहे हैं और दूसरे छोटे-बड़े बैलों का संघट्टन सह रहा है। राजा का मन वैराग्य से भर गया। संसार की परिवर्तनशीलता का भान हुआ। वह प्रतिबुद्ध होकर प्रत्येक-बुद्ध हो गया।[1] वह प्रव्रजित होकर विहरण करने लगा।

## २. द्विमुख

पंचाल देश में काम्पिल्य नाम का नगर था। वहां जय नाम का राजा राज्य करता था। वह हरिकुलवंश में उत्पन्न हुआ था। उसकी रानी का नाम गुणमाला था।

एक दिन राजा आस्थान मण्डप में बैठा था। उसने दूत से पूछा—'संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मेरे पास नहीं है और दूसरे राजाओं के पास है?' दूत ने कहा—'राजन्! तुम्हारे यहां चित्र-सभा नहीं है।' राजा ने तत्काल चित्रकारों को बुलाया और चित्र-सभा का निर्माण करने की आज्ञा दी। चित्रकारों ने कार्य प्रारम्भ किया। पृथ्वी की खुदाई होने लगी। पांचवें दिन एक रत्नमय देदीप्यमान् महामुकुट निकला। राजा को सूचना मिली। वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

थोड़े ही काल में चित्र-सभा का कार्य सम्पन्न हुआ। शुभ दिन देखकर राजा ने वहां प्रवेश किया और मंगल-वाद्य ध्वनियों के बीच उस मुकुट को धारण किया। उस मुकुट के प्रभाव से उसके दो मुंह दीखने लगे। लोगों ने उसका नाम 'द्विमुख' रखा।

काल अतिक्रांत हुआ। राजा के सात पुत्र हुए, पर एक भी पुत्री नहीं हुई। गुणमाला उदासीन रहने लगी। उसने मदन नामक यक्ष की आराधना प्रारम्भ की। यक्ष प्रसन्न हुआ। उसके एक पुत्री हुई। उसका नाम 'मदनमञ्जरी' रखा।

उज्जैनी के राजा चण्डप्रद्योत ने मुकुट की बात सुनी। उसने दूत भेजा। दूत ने द्विमुख राजा से कहा—या तो आप अपना मुकुट चण्डप्रद्योत राजा को समर्पित करें या युद्ध के लिए तैयार हो जाएं।

द्विमुख राजा ने कहा—'मैं अपना मुकुट तभी दे सकता हूं जबकि वह मुझे चार वस्तुएं दे—

१. अनलगिरि हाथी २. अग्निभीरु रथ ३. शिवा देवी और ४. लोहजंघ लेखाचार्य।'

दूत ने जाकर चण्डप्रद्योत से सारी बात कही। वह कुपित हुआ और उसने चतुरंगिणी सेना ले द्विमुख पर चढ़ाई कर दी। वह सीमा पर पहुंचा। उसने सेना का पड़ाव डाला और गरुड़-व्यूह की रचना की। द्विमुख भी अपनी सेना ले सीमा पर आ डटा। उसने सागर-व्यूह की रचना की।

दोनों ओर भयंकर युद्ध हुआ। मुकुट के प्रभाव से द्विमुख की सेना अजेय रही। प्रद्योत की सेना भागने लगी। वह हार गया। द्विमुख ने उसे बन्दी बना डाला।

चण्डप्रद्योत कारागृह में बन्दी था। एक दिन उसने राजकन्या

---

१. सुखबोधा, पत्र १३३-१३५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मदनमञ्जरी को देखा। वह उसमें आसक्त हो गया। ज्यों-त्यों रात बीती। प्रातःकाल हुआ। राजा द्विमुख वहां आया। उसने प्रद्योत को उदासीन देखा। कारण पूछने पर उसने सारी बात कही। उसने कहा—'यदि मदनमञ्जरी नहीं मिली तो मैं अग्नि में कूद कर मर जाऊंगा।' द्विमुख ने अपनी कन्या का विवाह उससे कर दिया। चण्डप्रद्योत अपनी नववधू को साथ ले उज्जैनी चला गया।

एक बार इन्द्र-महोत्सव[1] आया। राजा की आज्ञा से नागरिकों ने इन्द्रध्वज की स्थापना की। वह इन्द्रध्वज अनेक प्रकार के पुष्पों, घण्टियों तथा मालाओं से सज्जित किया गया। लोगों ने उसकी पूजा की। स्थान-स्थान पर नृत्य, गीत होने लगे। सारे लोग मोद-मग्न थे। इस प्रकार सात दिन बीते। पूर्णिमा के दिन महाराज द्विमुख ने इन्द्रध्वज की पूजा की।

पूजा-काल समाप्त हुआ। लोगों ने इन्द्रध्वज के आभूषण उतार लिए और काष्ट को सड़क पर फेंक दिया। एक दिन राजा उसी मार्ग से निकला। उसने उस इन्द्रध्वज काष्ट को मलमूत्र में पड़े देखा। उसे वैराग्य हो आया। वह प्रत्येक-बुद्ध हो पंचमुष्टि लोच कर प्रव्रजित हो गया।[2]

## ३. नमि

अवन्ती देश में सुदर्शन नाम का नगर था। वहां मणिरथ नाम का राजा राज्य करता था। युगबाहु उसका भाई था। उसकी पत्नी का नाम मदनरेखा था। मणिरथ ने युगबाहु को मार डाला। मदनरेखा गर्भवती थी। वह वहां से अकेली चल पड़ी। जंगल में उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसे रत्नकम्बल में लपेटकर वहीं रख दिया और स्वयं शौच-कर्म करने जलाशय में गई। वहां एक जलहस्ती ने उसे सूंड में पकड़ा और आकाश में उछाला। विदेह राष्ट्र के अन्तर्गत मिथिला नगरी का नरेश पद्मरथ शिकार करने जंगल में आया। उसने उस बच्चे को उठाया। वह निष्पुत्र था। पुत्र की सहज प्राप्ति पर उसे प्रसन्नता हुई। बालक उसके घर में बढ़ने लगा। उसके प्रभाव से पद्मरथ के शत्रु राजा भी नत हो गए। इसलिए बालक का नाम 'नमि' रखा। युवा होने पर उसका विवाह १००८ कन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ।

पद्मरथ विदेह राष्ट्र की राज्यसत्ता नमि को सौंप प्रव्रजित हो गया। एक बार महाराज नमि को दाह-ज्वर हुआ। उसने छह मास तक अत्यन्त वेदना सही। वैद्यों ने रोग को असाध्य बतलाया। दाह-ज्वर को शांत करने के लिए रानियां स्वयं चन्दन घिस रही थीं। उनके हाथ में पहिने कंकण बज रहे थे। उनकी आवाज से राजा को कष्ट होने लगा। उसने कंकण उतार देने के लिए कहा। सभी रानियों ने सौभाग्य चिन्ह स्वरूप एक-एक कंकण को छोड़कर शेष सभी कंकण उतार दिए। कुछ देर बाद राजा ने अपने मंत्री से पूछा—'कंकण का शब्द क्यों नहीं सुनाई दे रहा है?' मंत्री ने कहा—'राजन्! उसके घर्षण से उठे हुए शब्द आपको अप्रिय लगते हैं, यह सोचकर सभी रानियों ने एक-एक कंकण के अतिरिक्त शेष कंकण उतार दिए हैं। अकेले में घर्षण नहीं होता। घर्षण के बिना शब्द कहां से उठे?'

राजा नमि ने सोचा—'सुख अकेलेपन में है। जहां द्वंद्व है, दो हैं वहां दुःख है।' विचार आगे बढ़ा। उसने सोचा यदि मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊंगा तो अवश्य ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लूंगा। उस दिन कार्तिक मास की पूर्णिमा थी। राजा इसी चिंतन में लीन हो सो गया। रात्रि के अन्तिम प्रहर में उसने स्वप्न देखा। नन्दीघोष की आवाज से जागा। उसका दाह-ज्वर नष्ट हो चुका था। उसने स्वप्न का चिन्तन किया। उसे जाति-स्मृति हो गई। वह प्रतिबुद्ध हो प्रव्रजित हो गया।[3]

## ४. नग्गति (नग्गई[4])

गांधार जनपद में पुण्ड्रवर्द्धन नाम का नगर था। वहां सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था। एक बार उत्तरापथ से उसके दो घोड़े भेंट आए।

एक दिन राजा और राजकुमार दोनों घोड़ों पर सवार हो उनकी परीक्षा करने निकले। राजा ज्यों-ज्यों लगाम खींचता त्यों-त्यों वह तेजी से दौड़ता था। दौड़ते-दौड़ते वह बारह योजन तक चला गया। राजा ने लगाम ढीली छोड़ दी। घोड़ा वहीं रुक गया। उसे एक वृक्ष के नीचे बांध राजा घूमने लगा। फल खाकर भूख शांत की। रात बिताने के लिए राजा पहाड़ पर चढ़ा। वहां उसने सप्तभौम वाला एक सुन्दर महल देखा। राजा अन्दर गया। वहां एक सुन्दर कन्या देखी। एक दूसरे को देख दोनों में प्रेम हो गया। राजा ने कन्या का परिचय पूछा, पर उसने कहा—'पहले मेरे साथ विवाह करो, फिर मैं अपना सारा वृत्तांत तुम्हें बताऊंगी।'

राजा ने उसके साथ विवाह किया। कन्या का नाम कनकमाला था। रात बीती। प्रातःकाल कन्या ने कथा सुनाई।

राजा ने दत्तचित्त हो कथा सुनी। उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वह एक महीने तक वहीं रहा।

एक दिन उसने कनकमाला से कहा—'प्रिये! शत्रुवर्ग कहीं मेरे राज्य का नाश न कर दे, इसलिए अब मुझे वहां जाना चाहिए। तू मुझे आज्ञा दे।' कनकमाला ने कहा—'जैसी आपकी आज्ञा! परन्तु आपका नगर यहां से दूर है। आप

---

१. इस महोत्सव का प्रारम्भ भरत ने किया था। निशीथचूर्णि (पत्र ११७४) में इसको आषाढी पूर्णिमा के दिन मनाने का तथा आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीया वृत्ति (पत्र ३५६) में कार्तिक पूर्णिमा को मनाने का उल्लेख है। लाड देश में श्रावण पूर्णिमा को यह महोत्सव मनाया जाता था।

२. विस्तार के लिए देखें—सुखबोधा, पत्र १३५-१४१।

३. सुखबोधा, पत्र १३६-१४५।

४. बौद्ध जातक (सं० ४४८) में नग्गजी और शतपथ ब्राह्मण (८।१।४।१०) में नग्नजित् नाम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पैदल कैसे चल सकेंगे ? मेरे पास प्रज्ञप्ति विद्या है। आप इसे साध लें।' राजा ने विद्या की साधना की। विद्या सिद्ध होने पर उसके प्रभाव से वह अपने नगर पहुंच गया।

राजा को प्राप्त कर लोगों ने महोत्सव मनाया। सामंतों ने राजा से पूर्व वृत्तांत पूछा। राजा ने सारी बात बताई। सब आश्चर्य से भर गए।

राजा पांच-पांच दिनों से उसी पर्वत पर कनकमाला से मिलने जाया करता था। वह कुछ दिन उसके साथ बिता कर अपने नगर को लौट आता। इस प्रकार काल बीतने लगा। लोग कहते—राजा 'नग' अर्थात् पर्वत पर है। उसके बाद उसका नाम 'नग्गति' पड़ा।

एक दिन राजा भ्रमण करने निकला। उसने एक पुष्पित आम्र वृक्ष देखा। एक मञ्जरी को तोड़ वह आगे निकला। साथ वाले सभी व्यक्तियों ने मञ्जरी, पत्र, प्रवाल, पुष्प, फल आदि सारे तोड़ डाले। आम्र का वृक्ष अब केवल ठूंठ मात्र रह गया। राजा पुनः उसी मार्ग से लौटा। उसने पूछा—'वह आम्र-वृक्ष कहां है।' मंत्री ने अंगुली के इशारे से उस ठूंठ की ओर संकेत किया। राजा आम की उस अवस्था को देख अवाक् रह गया। उसे कारण ज्ञात हुआ। उसने सोचा—'जहां ऋद्धि है, वहां शोभा है परन्तु ऋद्धि स्वभावतः चंचल होती है।' इन विचारों से वह संबुद्ध हो गया।[1]

## २९. श्वेत (सेओ)

प्रस्तुत श्लोक में आया हुआ 'सेओ' (श्वेत) काशीमंडल के अधिपति का नाम है। स्थानांग सूत्र में यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर ने आठ राजाओं को प्रव्रजित किया था। उनमें एक 'सेय' (श्वेत) नाम का राजा था।[2] स्थानांग की टीका में उसे आमलकल्पा नगरी का राजा बतलाया गया है। उसकी रानी का नाम धारणी था। एक बार भगवान् महावीर जब आमलकल्पा नगरी में आए तब राजा-रानी—दोनों प्रवचन सुनने गए और प्रव्रजित हो गए।[3] स्थानांग के आधार पर काशीराज का नाम श्वेत था, यह संभावना की जा सकती है।

उत्तराध्ययन की बृहद्वृत्ति में 'सेओ' का अर्थ श्रेयस्—अतिप्रशस्य किया है।[4] डॉ० हर्मन जेकोबी ने भी इसका अनुसरण कर सेय का अनुवाद Best किया है और इसे सत्य का विशेषण माना है।[5]

सुखबोधा में काशीराज का परिचय सातवें बलदेव नन्दन के रूप में दिया गया है। उनका जीवनवृत्त इस प्रकार है—वाराणसी नगरी में अग्निशिख राजा था। उसकी रानी का नाम था जयंती। उसके पुत्र का नाम था नन्दन। वह सातवां बलदेव था। उसका छोटा भाई शेषवती का पुत्र दत्त वासुदेव था।[6]

सुखबोधा के इस मंतव्य का कोई प्राचीन आधार ज्ञात नहीं है।

डॉ० हर्मन जेकोबी ने फुटनोट में इस मत को उद्धृत किया है।[7]

## ३०. सिर देकर सिर (मोक्ष) को (सिरसा सिरं)

'सिरसा'—सिर दिए बिना अर्थात् जीवन-निरपेक्ष हुए बिना साध्य की उपलब्धि नहीं होती। 'सिरसा'—इस शब्द में 'इष्टं साधयामि पातयामि वा शरीरम्' की प्रतिध्वनि है।

शान्त्याचार्य ने इसके साथ में 'इव' और जोड़ा है।[8]

'सिर'—शरीर में सबसे ऊंचा स्थान सिर का है। लोक में सबसे ऊंचा मोक्ष है। इसी समानता से सिर-स्थानीय मोक्ष को 'सिर' कहा है।[9]

## ३१. (श्लोक ३४—५०)

इन सतरह श्लोकों में जिनशासन में दीक्षित होने वाले राजाओं की तालिका दी गई है। इनमें दस चक्रवर्ती और शेष नौ माण्डलिक राजे हैं—

| चक्रवर्ती | राजे |
|---|---|
| १. भरत | १. दशार्णभद्र |
| २. सगर | २. करकण्डु |
| ३. मघवा | ३. द्विमुख |
| ४. सनत्कुमार | ४. नमिराज |
| ५. शांतिनाथ | ५. नग्गति |
| ६. कुन्थु | ६. उद्रायण |
| ७. अर | ७. श्वेत |
| ८. महापद्म | ८. विजय |
| ९. हरिषेण | ९. महाबल |
| १०. जय | |

## ३२. अहेतुवादों के द्वारा (अहेऊहिं)

बृहद्वृत्ति में अहेतु का अर्थ कुहेतु किया गया है। जो अपने साध्य की सिद्धि करने में सक्षम होता है वह साधन अथवा हेतु कहलाता है। एकांतदृष्टि वाले जितने विचार हैं वे अपने साध्य की सिद्धि करने में सफल नहीं होते, इसलिए एकांतवादी दृष्टिकोण को अहेतु कहा जा सकता है।[10]

## ३३. अत्यन्त युक्तियुक्त (अच्चंतनियाणखमा)

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. सुखबोधा, पत्र १४१-१४५।
२. ठाणं, ८।४१।
३. स्थानांगवृत्ति, पत्र ४०८।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४९ : श्रेयसि—अतिप्रशस्ये।
५. जैनसूत्राज, उत्तराध्ययन : १८।४९, पृ० ८७।
६. सुखबोधा, पत्र २५५।
७. जैनसूत्राज, उत्तराध्ययन : १८।४९, पृ० ८७, फुट नोट ४।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४९ : शिरसेव—शिरसा शिरःप्रदानेनेव जीवितनिरपेक्षमिति।
९. वही, पत्र ४४७ : 'शिरं' ति शिर इव शिरः सर्वजगदुपरिवर्त्तितया मोक्षः।
१०. वही, पत्र ४४९ : अहेतुभिः क्रियावाद्यादिपरिकल्पितकुहेतुभिः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) अतिशय निदान (हेतु) युक्त।

(२) अतिशय निदान (कर्ममल शोधन) में क्षम।[1]

चूर्णिकार ने 'अनियाणखम' पद मानकर अनिदान का अर्थ अबंध किया है।[2]

### ३४. संगों से (संग)

जिससे कर्म का बंधन होता है, उसे 'संग' कहते हैं। वह दो प्रकार का है—द्रव्यसंग और भावसंग। द्रव्यतः संग पदार्थ होते हैं और भावतः संग होते हैं एकांतवादी दर्शन।[3]

### ३५. (श्लोक २०—५३)

इन चौंतीस श्लोकों में क्षत्रिय और राजर्षि संजय के बीच हुए वार्तालाप का संकलन है। क्षत्रिय ने बिना पूछे ही अपना परिचय दिया और फिर अनेक राजाओं के उदाहरणों से संजय को समझाया।

अन्त में क्षत्रिय वहां से चलकर अपने विवक्षित स्थान पर आ गए।[4] राजर्षि संजय तप के आचरण द्वारा आस्रवों को क्षीण कर मुक्त हो गए।[5]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४६ : अतिशयेन निदानैः—कारणैः, को ऽर्थः ?—हेतुभिर्न तु परप्रत्ययेनैव, क्षमा—युक्ता ऽत्यन्तनिदानक्षमा, यद्वा निदानं—कर्ममलशोधनं तस्मिन् क्षमाः—समर्थाः।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २५०।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४६-४५० : सजन्ति—कर्मणा संबध्यन्ते जन्तव एभिरिति संगाः—द्रव्यतो द्रविणादयो भावतस्तु मिथ्यात्वरूपत्वादेत एव क्रियादिवादाः।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५० : इत्थं तमनुशास्य गतो विवक्षितं स्थानं क्षत्रियः।

५. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४०४ :
काऊण तवच्चरणं बहूणि वासाणि सो धुयकिलेसो।
तं ठाणं संपत्तो जं संपत्ता न सोयंति।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# एगूणविंसइमं अज्झयणं

## मियापुत्तिज्जं

# उन्नीसवां अध्ययन

## मृगापुत्रीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

निर्युक्तिकार के अनुसार इस अध्ययन का नाम 'मिगपुत्तिज्जं'—'मृगापुत्रीय' है। मृगा रानी के पुत्र से यह अध्ययन समुत्पन्न है, इसलिए इसका नाम 'मृगापुत्रीय' रखा गया है।[1]

समवायांग के अनुसार इसका नाम 'मियचारिया'—'मृगचारिका' है।[2] यह नामकरण प्रतिपाद्य के आधार पर है।

सुग्रीव नगर में बलभद्र नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम मृगावती था। उसके एक पुत्र था। माता-पिता ने उसका नाम बलश्री रखा। वह लोक में मृगापुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। युवा हुआ। पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। एक बार वह अपनी पत्नियों के साथ प्रासाद के झरोखे में बैठा हुआ क्रीड़ा कर रहा था। मार्ग में लोग आ-जा रहे थे। स्थान-स्थान पर नृत्य-संगीत की मण्डलियां आयोजित थीं। एकाएक उसकी दृष्टि राजमार्ग पर मन्द गति से चलते हुए निर्ग्रन्थ पर जा टिकी। मुनि के तेजोदीप्त ललाट, चमकते हुए नेत्रों तथा तपस्या से कृश शरीर को वह अनिमेषदृष्टि से देखता रहा। मन आलोकित हुआ। चिन्तन तीव्र हुआ। उसने सोचा—"अन्यत्र भी मैंने ऐसा रूप देखा है।" इन विचारों में वह लीन हुआ और उसे जाति-स्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। पूर्व-जन्म की सारी घटनाएं प्रत्यक्ष हो गईं। उसने जान लिया कि पूर्व-भव में वह श्रमण था। इस अनुभूति से उसका मन वैराग्य से भर गया। वह अपने माता-पिता के पास आया और बोला—"तात! मैं प्रव्रज्या लेना चाहता हूं। शरीर अनित्य है, अशुचिमय है, दुःख और क्लेशों का भाजन है। मुझे इसमें कोई रस नहीं है। जिसे आज या कल छोड़ना ही होगा, उसे मैं अभी छोड़ देना चाहता हूं। संसार में दुःख ही दुःख है। जन्म दुःख है, मरण दुःख है, जरा दुःख है। सारे भोग आपात-भद्र और परिणाम-विरस हैं।" (श्लोक ६-१५)

माता-पिता ने उसे समझाया और श्रामण्य की कठोरता और उसकी दुश्चरता का दिग्दर्शन कराया। उन्होंने कहा—

"पुत्र! श्रामण्य दुश्चर है। मुनि को हजारों गुण धारण करने होते हैं। उसे जीवन भर प्राणातिपात से विरति करनी होती है। इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का विवर्जन करना होता है। रात्रि-भोजन का सर्वथा त्याग अत्यन्त कठिन है। अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं।"

"भिक्षाचर्या दुःखप्रद होती है। याचना और अलाभ—दोनों को सहना दुष्कर है। साधु को कुक्षि-संबल होना पड़ता है।"

"तुम सुकोमल हो, श्रामण्य अत्यन्त कठोर है। तुम उसका पालन नहीं कर सकोगे। दूसरी बात है कि यह श्रामण्य यावज्जीवन का होता है। इसमें अवधि नहीं होती। श्रामण्य बालुका-कवल की तरह निःस्वाद और असि-धारा की तरह दुश्चर है। इसका पालन करना लोहे के यव चबाने जैसा है।" (श्लोक २४-३८)

इस प्रकार मृगापुत्र और उसके माता-पिता के बीच सुन्दर संवाद चलता है। माता-पिता उसे भोग की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं और वह साधना की ओर अग्रसर होना चाहता है। माता-पिता ने श्रामण्य को जिन उपमाओं से उपमित किया है वे संयम की गुरुता और दुष्करता को प्रमाणित करती हैं।

मृगापुत्र का आत्म-विश्वास मूर्त्त हो जाता है और वह इन सबको आत्मसात् करने के लिए अपने आपको योग्य बताता है।

अन्त में माता-पिता कहते हैं—"वत्स! जो कुछ तू कहता है वह सत्य है परंतु श्रामण्य का सबसे बड़ा दुख है—निष्प्रति-कर्मता अर्थात् रोग की चिकित्सा न करना।" (श्लोक ७५)

मृगापुत्र ने कहा—"तात! अरण्य में बसने वाले मृग आदि पशुओं तथा पक्षियों की कौन चिकित्सा करता है? कौन उनको औषधि देता है? कौन उनकी सुख-पृच्छा करता है? कौन उनको भक्त-पान देता है? मैं भी उन्हीं की भांति रहूंगा—मृगचारिका से अपना जीवन बिताऊंगा।" (श्लोक ७६-८५)

माता-पिता ने मृगापुत्र की बातें सुनी। उसकी संयम-ग्रहण की दृढ़ता से पराभूत हो उन्होंने प्रव्रज्या की आज्ञा दे दी। मृगापुत्र मुनि बन गया। उसने पवित्रता से श्रामण्य का पालन किया और अन्त में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गया।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४०८ :
मिगदेवीपुत्ताओ, बलसिरिनामा समुट्ठियं जम्हा।
तम्हा मिगपुत्तिज्जं, अज्झयणं होइ नायव्वं।।

२. समवाओ, समवाय ३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# एगूणविंसइमं अज्झयणं : उन्नीसवां अध्ययन
## मियापुत्तिज्जं : मृगापुत्रीय

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. सुग्गीवे नयरे रम्मे<br>काणणुज्जाणसोहिए।<br>राया बलभद्दो त्ति<br>मिया तस्सग्गमाहिसी।। | *सुग्रीवे नगरे रम्ये*<br>*काननोद्यानशोभिते।*<br>*राजा बलभद्र इति*<br>*मृगा तस्याग्रमहिषी।।* | कानन और उद्यान[1] से शोभित सुरम्य सुग्रीव नगर में बलभद्र राजा था। मृगा उसकी पटरानी थी। |
| २. तेसिं पुत्ते बलसिरी<br>मियापुत्ते त्ति विस्सुए।<br>अम्मापिऊण दइए<br>जुवराया दमीसरे।। | *तयोः पुत्रो बलश्रीः*<br>*मृगापुत्र इति विश्रुतः।*<br>*अम्बापित्रोर्दयितः*<br>*युवराजो दमीश्वरः।।* | उनके 'बलश्री'[2] नाम का पुत्र था। जनता में वह 'मृगापुत्र'—इस नाम से विश्रुत था। वह माता-पिता को प्रिय, युवराज[3] और दमीश्वर[4] था। |
| ३. नंदणे सो उ पासाए<br>कीलए सह इत्थिहिं।<br>देवो दोगुंदगो चेव<br>निच्चं मुइयमाणसो।। | *नन्दने स तु प्रासादे*<br>*क्रीडति सह स्त्रीभिः।*<br>*देवो दोगुन्दकश्चेव*<br>*नित्यं मुदितमानसः।।* | वह दोगुन्दग[5] देवों की भांति सदा प्रमुदित-मन रहता हुआ आनन्द लेने वाले प्रासाद में स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहा था। |
| ४. मणिरयणकुट्टिमतले<br>पासायालोयणट्ठिओ।<br>आलोएइ नगरस्स<br>चउक्कतियचच्चरे।। | *मणिरत्नकुट्टिमतले*<br>*प्रासादालोकनस्थितः।*<br>*आलोकते नगरस्य*<br>*चतुष्कत्रिकचत्वराणि।।* | मणि और रत्न[6] से जड़ित फर्श वाले प्रासाद के गवाक्ष[7] में बैठा हुआ मृगापुत्र नगर के चौराहों, तिराहों और चौहट्टों को देख रहा था। |
| ५. अह तत्थ अइच्छंतं<br>पासई समणसंजयं।<br>तवनियमसंजमधरं<br>सीलड्ढं गुणआगरं।। | *अथ तत्रातिक्रामन्त*<br>*पश्यति श्रमणसंयतम्।*<br>*तपोनियमसंयमधरं*<br>*शीलाढ्यं गुणाकरम्।।* | उसने वहां जाते हुए एक संयत श्रमण को देखा, जो तप, नियम[8] और संयम को धारण करने वाला, शील से समृद्ध[9] और गुणों का आकर था। |
| ६. तं देहई मियापुत्ते<br>दिट्ठीए अणिमिसाए उ।<br>कहिं मन्नेरिसं रूवं<br>दिट्ठपुव्वं मए पुरा।। | *तं पश्यति मृगापुत्रः*<br>*दृष्ट्याऽनिमेषया तु।*<br>*कुत्र मन्ये ईदृशं रूपं*<br>*दृष्टपूर्वं मया पुरा।।* | मृगापुत्र ने उसे अनिमेष-दृष्टि से देखा और मन ही मन चिन्तन करने लगा—"मैं मानता हूं कि ऐसा रूप मैंने पहले कहीं देखा है।" |
| ७. साहुस्स दरिसणे तस्स<br>अज्झवसाणम्मि सोहणे।<br>मोहंगयस्स संतस्स<br>जाईसरणं समुप्पन्नं।। | *साधोर्दर्शने तस्य*<br>*अध्यवसाने शोभने।*<br>*मोहं गतस्य शान्तस्य*<br>*जातिस्मरणं समुत्पन्नम्।।* | साधु के दर्शन और अध्यवसाय[10] पवित्र होने पर "मैंने ऐसा कहीं देखा है"—इस विषय में सम्मोहित हो गया, चित्तवृत्ति सघनरूप में एकाग्र हो गई[11] और विकल्प शांत हो गए। इस अवस्था में उसे जाति स्मरण—पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(देवलोग चुओ संतो
माणुसं भवमागओ।
सन्निनाणे समुप्पण्णे
जाइं सरइ पुराणयं।।)

*(देवलोकच्युतः सन्
मानुषं भवमागतः।
संज्ञिज्ञाने समुत्पन्ने
जातिं स्मरति पौराणिकीम्।।)*

(देवलोक से च्युत हो मनुष्य-जन्म में आया। समनस्क-ज्ञान उत्पन्न हुआ। तब पूर्व-जन्म की स्मृति हुई।)

८. जाईसरणे समुप्पन्ने
मियापुत्ते महिड्ढिए।
सरई पोराणियं जाइं
सामण्णं च पुराकयं।।

*जातिस्मरणे समुत्पन्ने
मृगापुत्रो महर्द्धिकः।
स्मरति पौराणिकीं जातिं
श्रामण्यं च पुराकृतम्।।*

जाति-स्मृति ज्ञान उत्पन्न होने पर महर्द्धिक मृगापुत्र को पूर्व-जन्म और पूर्व-कृत श्रामण्य की स्मृति हो आई।

९. विसएहि अरज्जंतो
रज्जंतो संजमम्मि य।
अम्मापियरं उवागम्म
इमं वयणमब्बवी।।

*विषयेष्वरज्यन्
रज्यन् संयमे च।
अम्बापितरावुपागम्य
इदं वचनमब्रवीत्।।*

अब विषयों में उसकी आसक्ति नहीं रही। वह संयम में अनुरक्त हो गया। माता-पिता के समीप आ उसने इस प्रकार कहा—

१०. सुयाणि मे पंच महव्वयाणि
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो!।।

*श्रुतानि मया पंच महाव्रतानि
नरकेषु दुःखं च तिर्यग्योनिषु।
निर्विण्णकामोऽस्मि महार्णवात्
अनुजानीत प्रव्रजिष्यामि अम्ब!।।*

"मैंने पांच महाव्रतों को सुना है। नरक और तिर्यंच योनियों में दुःख है। मैं संसार-समुद्र से निर्विण्ण-काम (विरक्त) हो गया हूं। मैं प्रव्रजित होऊंगा। माता! मुझे आप अनुज्ञा दें।"

११. अम्मताय! मए भोगा
भुत्ता विसफलोवमा।
पच्छा कडुयविवागा
अणुबंधदुहावहा।।

*अम्ब-तात! मया भोगाः
भुक्ता विषफलोपमाः।
पश्चात् कटुकविपाकाः
अनुबन्धदुःखावहाः।।*

"माता-पिता! मैं भोगों को भोग चुका हूं। ये भोग विष-तुल्य हैं, इनका परिणाम कटु होता है और ये निरन्तर दुःख देने वाले हैं।"[१२]

१२. इमं सरीरं अणिच्चं
असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं
दुक्खकेसाण भायणं।।

*इदं शरीरमनित्यं
अशुच्यशुचिसंभवम्।
अशाश्वतावासमिदं
दुःखक्लेशानां भाजनम्।।*

"यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न है, आत्मा का यह अशाश्वत आवास है तथा दुःख और क्लेशों का[१३] भाजन है।"

१३. असासए सरीरम्मि
रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा व चइयव्वे
फेणबुब्बुयसन्निभे।।

*अशाश्वते शरीरे
रतिं नोपलभेऽहम्।
पश्चात् पुरा वा त्यक्तव्ये
फेनबुदबुदसन्निभे।।*

"इस अशाश्वत-शरीर में मुझे आनन्द नहीं मिल रहा है। इसे पहले या पीछे जब कभी छोड़ना है। यह पानी के बुलबुले के समान नश्वर है।"

१४. माणुसत्ते असारम्मि
वाहीरोगाण आलए।
जरामरणघत्थम्मि
खणं पि न रमामहं।।

*मानुषत्वे असारे
व्याधिरोगाणामालये।
जरामरणग्रस्ते
क्षणमपि न रमेऽहम्।।*

"मनुष्य-जीवन असार है, व्याधि और रोगों का[१४] घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है। इसमें मुझे एक क्षण भी आनन्द नहीं मिल रहा है।"

१५. जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं
रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो
जत्थ कीसंति जंतवो।।

*जन्म दुःखं जरा दुःखं
रोगाश्च मरणानि च।
अहो दुःखं खलु संसारः
यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः।।*

"जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है। अहो! संसार दुःख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च
पुत्तदारं च बंधवा।
चइत्ताणं इमं देहं
गंतव्वमवसस्स मे।।

*क्षेत्रं वास्तु हिरण्यं च*
*पुत्रदारांश्च बान्धवान्।*
*त्यक्त्वेमं देहं*
*गन्तव्यमवशस्य मे।।*

"भूमि, घर, सोना, पुत्र, स्त्री, बान्धव और इस शरीर को छोड़कर मुझे अवश हो चले जाना है।"

१७. जहा किंपागफलाणं
परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं
परिणामो न सुंदरो।।

*यथा किम्पाकफलानां*
*परिणामो न सुन्दरः।*
*एवं भुक्तानां भोगानां*
*परिणामो न सुन्दरः।।*

"जिस प्रकार किम्पाक-फल[१५] खाने का परिणाम सुन्दर नहीं होता उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता।"

१८. अद्धाणं जो महंतं तु
अपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो दुही होई
छुहातण्हाए पीडिओ।।

*अध्वानं यो महान्तं तु*
*अपाथेयः प्रव्रजति।*
*गच्छन् स दुःखी भवति*
*क्षुधातृष्णया पीडितः।।*

"जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है और साथ में सम्बल नहीं लेता, वह भूख और प्यास से पीड़ित होकर चलता हुआ दुःखी होता है।"

१९. एवं धम्मं अकाऊणं
जो गच्छइ परं भवं।
गच्छंतो सो दुही होइ
वाहीरोगेहिं पीडिओ।।

*एवं धर्ममकृत्वा*
*यो गच्छति परं भवम्।*
*गच्छन् स दुःखी भवति*
*व्याधिरोगैः पीडितः।।*

"इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म किए बिना परभव में जाता है वह व्याधि और रोग से पीड़ित होकर जीवन-यापन करता हुआ दुःखी होता है।"

२०. अद्धाणं जो महंतं तु
सपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो सुही होइ
छुहातण्हाविवज्जिओ।।

*अध्वानं यो महान्तं तु*
*सपाथेयः प्रव्रजति*
*गच्छन् स सुखी भवति*
*क्षुधातृष्णाविवर्जितः।।*

"जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है, किन्तु सम्बल के साथ, वह भूख-प्यास से रहित हो कर चलता हुआ सुखी होता है।"

२१. एवं धम्मं पि काऊणं
जो गच्छइ परं भवं।
गच्छंतो सो सुही होइ
अप्पकम्मे अवेयणे।।

*एवं धर्ममपि कृत्वा*
*यो गच्छति परं भवम्।*
*गच्छन् स सुखी भवति*
*अल्पकर्माऽवेदनः।।*

"इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म की आराधना कर परभव में जाता है, वह अल्पकर्म वाला और वेदना रहित होकर जीवन-यापन करता हुआ सुखी होता है।"

२२. जहा गेहे पलित्तम्मि
तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभंडाणि नीणेइ
असारं अवउज्झइ।।

*यथा गेहे प्रदीप्ते*
*तस्य गेहस्य यः प्रभुः।*
*सारभाण्डानि गमयति*
*असारमपोज्झति।।*

"जैसे घर में आग लग जाने पर उस घर का जो स्वामी होता है, वह मूल्यवान् वस्तुओं को उसमें से निकालता है और मूल्यहीन वस्तुओं को वहीं छोड़ देता है।"

२३. एवं लोए पलित्तम्मि
जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि
तुब्भेहिं अणुमन्निओ।।

*एवं लोके प्रदीप्ते*
*जरया मरणेन च।*
*आत्मानं तारयिष्यामि*
*युष्माभिरनुमतः।।*

"इसी प्रकार यह लोक जरा और मृत्यु से प्रज्वलित हो रहा है। मैं आपकी आज्ञा पाकर उसमें से अपने आपको निकालूंगा!"

२४. तं बिंतम्मापियरो
सामण्णं पुत्त! दुच्चरं।
गुणाणं तु सहस्साइं
धारेयव्वाइं भिक्खुणो।।

*तं ब्रूतोऽम्बापितरौ*
*श्रामण्यं पुत्र! दुश्चरम्।*
*गुणानां तु सहस्राणि*
*धारयितव्यानि भिक्षोः।।*

माता-पिता ने उससे कहा—"पुत्र! श्रामण्य का आचरण बहुत कठिन है। भिक्षु को हजारों गुण[१६] धारण करने होते हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५. समया सव्वभूएसु
सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई
जावज्जीवाए दुक्करा।।

*समता सर्वभूतेषु*
*शत्रुमित्रेषु वा जगति।*
*प्राणातिपातविरतिः*
*यावज्जीवं दुष्करा।।*

"विश्व के शत्रु और मित्र सभी जीवों के प्रति समभाव रखना और यावज्जीवन प्राणातिपात की विरति करना बहुत ही कठिन कार्य है।"

२६. निच्चकालऽप्पकत्तेणं
मुसावायविवज्जणं।
भासियव्वं हियं सच्चं
निच्चाउत्तेण दुक्करं।।

*नित्यकालाप्रमत्तेन*
*मृषावादविवर्जनम्।*
*भाषितव्यं हितं सत्यं*
*नित्यायुक्तेन दुष्करम्।।*

"सदा अप्रमत्त रह कर मृषावाद का वर्जन करना और सतत सावधान रह कर हितकारी सत्य वचन बोलना बहुत ही कठिन कार्य है।"

२७. दंतसोहणमाइस्स
अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स
गेण्हणा अवि दुक्करं।।

*दन्तशोधनमात्रस्य*
*अदत्तस्य विवर्जनम्।*
*अनवद्यैषणीयस्य*
*ग्रहणमपि दुष्करम्।।*

"दतौन जितना वस्तुखंड भी[१७] बिना दिए न लेना और ऐसी दत्त वस्तु भी वही लेना, जो अनवद्य और एषणीय हो—बहुत ही कठिन कार्य है।"

२८. विरई अबंभचेरस्स
कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं
धारेयव्वं सुदुक्करं।।

*विरतिरब्रह्मचर्यस्य*
*कामभोगरसज्ञेन।*
*उग्रं महाव्रतं ब्रह्म*
*धारयितव्यं सुदुष्करम्।।*

"काम-भोग का रस जानने वाले व्यक्ति के लिए अब्रह्मचर्य की विरति करना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करना बहुत ही कठिन कार्य है।"[१८]

२९. धणधन्नपेसवग्गेसु
परिग्गहविवज्जणं।
सव्वारंभपरिच्चाओ
निम्ममत्तं सुदुक्करं।।

*धनधान्यप्रेष्यवर्गेषु*
*परिग्रहविवर्जनम्।*
*सर्वारम्भपरित्यागः*
*निर्ममत्वं सुदुष्करम्।।*

"धन-धान्य[१९] और प्रेष्य-वर्ग के परिग्रहण[२०] का वर्जन करना, सब आरम्भों (द्रव्य की उत्पत्ति के व्यापारों) और ममत्व का त्याग करना बहुत ही कठिन कार्य है।"

३०. चउव्विहे वि आहारे
राईभोयणवज्जणा।
सन्निहीसंचओ चेव
वज्जेयव्वो सुदुक्करो।।

*चतुर्विधेऽप्याहारे*
*रात्रिभोजनवर्जनम्।*
*सन्निधिसंचयश्चैव*
*वर्जयितव्यः सुदुष्करः।।*

"चतुर्विध आहार को रात में खाने का त्याग करना तथा सन्निधि और संचय का वर्जन करना बहुत ही कठिन कार्य है।"

३१. छुहा तण्हा य सीउण्हं
दंसमसगवेयणा।
अक्कोसा दुक्खसेज्जा य
तणफासा जल्लमेव य।।

*क्षुधा तृषा च शीतोष्णं*
*दंशमशकवेदना।*
*आक्रोशा दुःखशय्या च*
*तृणस्पर्शा 'जल्ल' मेव च।।*

"भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डांस और मच्छरों का कष्ट, आक्रोश-वचन, कष्टप्रद उपाश्रय, घास का बिछौना, मैल,

३२. तालणा तज्जणा चेव
वहबंधपरीसहा।
दुक्खं भिक्खायरिया
जायणा य अलाभया।।

*ताडना तर्जना चैव*
*वधबन्धौ परीषहौ।*
*दुःख भिक्षाचर्या*
*याचना चालाभता।।*

ताड़ना, तर्जना, बध, बन्धन[२१] का कष्ट, भिक्षा-चर्या, याचना और अलाभ—इन्हें सहन करना बहुत ही कठिन कार्य है।"

३३. कावोया जा इमा वित्ती
केसलोओ य दारुणो।
दुक्खं बंभवयं घोरं
धारेउं अ महप्पणो।।

*कापोती येयं वृत्तिः*
*केशलोचश्च दारुणः।*
*दुःखं ब्रह्मव्रतं घोरं*
*धारयितुं च महात्मनः।।*

"यह जो कापोती-वृत्ति[२२] (कबूतर के समान दोष-भीरु वृत्ति), दारुण केश-लोच[२३] और घोर ब्रह्मचर्य को धारण करना है,[२४] वह महान् आत्माओं के लिए भी दुष्कर है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४. सुहोइओ तुमं पुत्ता !
सुकुमालो समुज्जिओ।
न हु सी पभू तुमं पुत्ता !
सामण्णमणुपालिउं।।

*सुखोचितस्त्वं पुत्र !*
*सुकुमारश्च सुमज्जितः।*
*न खलु असि प्रभुस्त्वं पुत्र !*
*श्रामण्यमनुपालयितुम्।।*

"पुत्र ! तू सुख भोगने योग्य है, सुकुमार है, साफ-सुथरा रहने वाला है।[२५] पुत्र ! तू श्रामण्य का पालन करने के लिए समर्थ नहीं है।"

३५. जावज्जीवमविस्सामो
गुणाणं तु महाभरो।
गुरुओ लोहभारो व्व
जो पुत्ता ! होइ दुव्वहो।।

*यावज्जीवमविश्रामः*
*गुणानां तु महाभरः।*
*गुरुको लोहभार इव*
*यः पुत्र ! भवति दुर्वहः।।*

"पुत्र ! श्रामण्य में जीवन पर्यन्त विश्राम नहीं है। यह गुणों का महान् भार है। भारी भरकम लोह-भार की भांति इसे उठाना बहुत ही कठिन है।"

३६. आगासे गंगसोउ व्व
पडिसोओ व्व दुत्तरो।
बाहाहिं सागरो चेव
तरियव्वो गुणोयही।।

*आकाशे गंगास्रोत इव*
*प्रतिस्रोत इव दुस्तरः।*
*बाहुभ्यां सागरश्चैव*
*तरितव्यो गुणोदधिः।।*

"आकाश-गंगा के स्रोत,[२६] प्रति-स्रोत और भुजाओं से सागर को तैरना जैसे कठिन कार्य है वैसे ही गुणोदधि-संयम को तैरना कठिन कार्य है।"

३७. वालुयाकवले चेव
निरस्साए उ संजमे।
असिधारागमणं चेव
दुक्करं चरिउं तवो।।

*बालुकाकवलश्चैव*
*निरास्वादस्तु संयमः।*
*असिधारागमनं चेव*
*दुष्करं चरितुं तपः।।*

"संयम बालू के कोर की तरह स्वाद-रहित है। तप का आचरण करना तलवार की धार पर चलने जैसा है।"

३८. अहीवेगंतदिट्ठीए
चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे।
जवा लोहमया चेव
चावेयव्वा सुदुक्करं।।

*अहिरिवैकान्तदृष्टिकः*
*चारित्रं पुत्र ! दुश्चरम्।*
*यवा लोहमयाश्चैव*
*चर्वयितव्या सुदुष्करम्।।*

"पुत्र ! सांप जैसे एकाग्रदृष्टि से[२७] चलता है, वैसे एकाग्रदृष्टि से चारित्र का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है। लोहे के यवों को चबाना जैसे कठिन है वैसे ही चारित्र का पालना कठिन है।"

३९. जहा अग्गिसिहा दित्ता
पाउं होइ सुदुक्करं।
तह दुक्करं करेउं जे
तारूण्णे समणत्तणं।।

*यथाग्निशिखा दीप्ता*
*पातुं भवति सुदुष्करम्।*
*तथा दुष्करं कर्तुं 'जे'*
*तारुण्ये श्रमणत्वम्।।*

"जैसे प्रज्वलित अग्नि-शिखा को[२८] पीना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही यौवन में श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन है।"

४०. जहा दुक्खं भरेउं जे
होइ वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्खं करेउं जे
कीवेणं समणत्तणं।।

*यथा दुःखं भर्तुं 'जे'*
*भवति वातस्य 'कोत्थलो'।*
*तथा दुष्करं कर्तुं 'जे'*
*क्लीवेन श्रमणत्वम्।।*

"जैसे वस्त्र के थैले को[२९] हवा से भरना कठिन कार्य है वैसे ही सत्वहीन व्यक्ति के लिए श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन कार्य है।"

४१. जहा तुलाए तोलेउं
दुक्करं मंदरो गिरी।
तहा निहुयं नीसंकं
दुक्करं समणत्तणं।।

*यथा तुलया तोलयितुं*
*दुष्करं मन्दरो गिरिः।*
*तथा निभृतं निःशङ्कं*
*दुष्करं श्रमणत्वम्।।*

"जैसे मेरु-पर्वत को तराजू से तौलना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही निश्चल और निर्भय भाव से श्रमण-धर्म का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है।"

४२. जहा भुयाहिं तरिउं
दुक्करं रयणागरो।
तहा अणुवसंतेणं
दुक्करं दमसागरो।।

*यथा भुजाभ्यां तरितुं*
*दुष्करं रत्नाकरः।*
*तथाऽनुपशान्तेन*
*दुष्करं दमसागरः।।*

"जैसे समुद्र को भुजाओं से तैरना बहुत ही कठिन कार्य है, वैसे ही उपशमहीन व्यक्ति के लिए दमरूपी समुद्र को तैरना बहुत ही कठिन कार्य है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४३. भुंज माणुस्सए भोगे
पंचलक्खणए तुमं।
भुत्तभोगी तओ जाया!
पच्छा धम्मं चरिस्ससि।।

*भुङ्क्ष्व मानुष्यकान् भोगान्*
*पंचलक्षणकान् त्वम्।*
*भुक्तभोगी ततो जात!*
*पश्चाद् धर्मं चरेः।।*

"पुत्र! तू मनुष्य सम्बन्धी पांच इन्द्रियों के भोगों का भोग कर। फिर भुक्त-भोगी होकर मुनि-धर्म का आचरण करना।"

४४. तं बिंतम्मापियरो
एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स
नत्थि किंचि वि दुक्करं।।

*तद् ब्रूतो अम्बापितरौ*
*एवमेतद् यथास्फुटम्।*
*इह लोके निष्पिपासस्य*
*नास्ति किंचिदपि दुष्करम्।*

मृगापुत्र ने कहा[३०]—"माता-पिता! जो आपने कहा वह सही है किन्तु जिस व्यक्ति की ऐहिक सुखों की प्यास बुझ चुकी है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।"

४५. सारीरमाणसा चेव
वेयणाओ अणंतसो।
मए सोढाओ भीमाओ
असइं दुक्खभयाणि य।।

*शारीरमानस्यश्चैव*
*वेदनास्तु अनन्तशः।*
*मया सोढा भीमाः*
*असकृद् दुःखभयानि च।।*

"मैंने भयंकर शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को अनन्त बार सहा है और अनेक बार दुःख एवं भय का अनुभव किया है।"

४६. जरामरणकंतारे
चाउरंते भयागरे।
मए सोढाणि भीमाणि
जम्माणि मरणाणि य।।

*जरामरणकान्तारे*
*चतुरन्ते भयाकरे।*
*मया सोढानि भीमानि*
*जन्मानि मरणानि च।।*

"मैंने चार अन्त वाले[३१] और भय के आकर जन्म-मरणरूपी जंगल में भयंकर जन्म-मरणों को सहा है।"

४७. जहा इहं अगणी उण्हो
एत्तोणंतगुणे तहिं।
नरएसु वेयणा उण्हा
अस्साया वेइया मए।।

*यथेहाग्निरुष्णः*
*इतोऽनन्तगुणस्तत्र।*
*नरकेषु वेदना उष्णा*
*असाता वेदिता मया।।*

"जैसे यहां अग्नि उष्ण है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय उष्ण-वेदना वहां नरक में मैंने सही है।"[३२]

४८. जहा इमं इहं सीयं
एत्तोणंतगुणं तहिं।
नरएसु वेयणा सीया
अस्साया वेइया मए।।

*यथेदमिह शीतम्*
*इतोऽनन्तगुणं तत्र।*
*नरकेषु वेदना शीता*
*असाता वेदिता मया।।*

"जैसे यहां यह शीत है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय शीत-वेदना वहां नरक में मैंने सही है।"

४९. कंदंतो कंदुकुंभीसु
उड्ढपाओ अहोसिरो।
हुयासणे जलंतम्मि
पक्कपुव्वो अणंतसो।।

*क्रन्दन् कन्दुकुम्भीषु*
*ऊर्ध्वपादोऽधःशिराः।*
*हुताशने ज्वलति*
*पक्वपूर्वोऽनन्तशः।।*

"पकाने के पात्र में,[३३] जलती हुई अग्नि में[३४] पैरों को ऊंचा और सिर को नीचा कर आक्रन्दन करता हुआ मैं अनन्त बार पकाया गया हूं।"

५०. महादवग्गिसंकासे
मरुम्मि वइरवालुए।
कलंबवालुयाए य
दड्ढपुव्वो अणंतसो।।

*महादवाग्निसंकाशे*
*मरौ वज्रबालुकायाम्।*
*कदम्बबालुकायां च*
*दग्धपूर्वोऽनन्तशः।।*

"महा दवाग्नि तथा मरु-देश और वज्रबालुका जैसी कदम्ब नदी के बालु में[३५] मैं अनन्त बार जलाया गया हूं।"

५१. रसंतो कंदुकुंभीसु
उड्ढं बद्धो अबंधवो।
करवत्तकरकयाईहिं
छिन्नपुव्वो अणंतसो।।

*रसन् कन्दुकुम्भीषु*
*ऊर्ध्वं बद्धोऽबान्धवः।*
*करपत्रक्रकचादिभिः*
*छिन्नपूर्वोऽनन्तशः।।*

"मैं पाक-पत्र में त्राण रहित होकर आक्रन्द करता हुआ ऊंचा बांधा गया और करवत और आरा आदि के द्वारा अनन्त बार छेदा गया हूं।"[३६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५२. अइतिक्खकंटगाइण्णे
तुंगे सिंबलिपायवे।
खेवियं पासबद्धेणं
कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं।।

*अतितीक्ष्णकण्टकाकीर्णे*
*तुंगे शाल्मलिपादपे।*
*क्षेपितं पाशबद्धेन*
*कर्षापकर्षैः दुष्करम्।।*

"अत्यन्त तीखे कांटों वाले ऊंचे शाल्मलि वृक्ष पर[३७] पाश से बांध, इधर-उधर खींच कर असह्य वेदना से मैं खिन्न किया गया हूं।"

५३. महाजंतेसु उच्छू वा
आरसंतो सुभेरवं।
पीलिओ मि सकम्मेहिं।
पावकम्मो अणंतसो।।

*महायन्त्रेष्विक्षुरिव*
*आरसन् सुभैरवम्।*
*पीडितोऽस्मि स्वकर्मभिः*
*पापकर्माऽनन्तशः।।*

"पापकर्मा मैं अति भयंकर आक्रन्द करता हुआ अपने ही कर्मों द्वारा महायन्त्रों में ऊख की भांति अनन्त बार पेरा गया हूं।"

५४. कूवंतो कोलसुणएहिं
सामेहिं सबलेहि य।
पाडिओ फालिओ छिन्नो
विप्फुरंतो अणेगसो।।

*कूजन् कोलशुनकैः*
*श्यामैः शबलैश्च।*
*पातितः स्फाटितः छिन्नः*
*विस्फुरन्ननेकशः।।*

"मैं इधर-उधर जाता और आक्रन्द करता हुआ काले और चितकबरे सूअर एवं कुत्तों के द्वारा अनेक बार गिराया, फाड़ा और काटा गया हूं।"[३८]

५५. असीहि अयसिवण्णाहिं
भल्लीहिं पट्टिसेहि य।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य
ओइण्णो पावकम्मुणा।।

*असिभिरतसीवर्णाभिः*
*भल्लीभिः पट्टिशैश्च।*
*छिन्नो भिन्नो विभिन्नश्च*
*अवतीर्णः पापकर्मणा।।*

"पाप-कर्मों के द्वारा नरक में अवतरित हुआ मैं अलसी के फूलों के समान नीले रंग वाली तलवारों, भल्लियों और लोहदण्डों[३९] के द्वारा छेदा, भेदा और छोट-छोटे टुकड़ों में विभक्त किया गया हूं।"

५६. अवसो लोहरहे जुत्तो
जलंते समिलाजुए।
चोइओ तोत्तजुत्तेहिं
रोज्झो वा जह पाडिओ।।

*अवशो लोहरथे युक्तः*
*ज्वलति समिलायुते।*
*चोदितस्तोत्रयोक्त्रैः*
*'रोज्झो' वा यथा पातितः।।*

"युग-कीलक (जुए के छेदों में डाली जाने वाली लकड़ी की कीलों) से युक्त जलते हुए लोह-रथ में परवश बना हुआ मैं जोता गया, चाबुक और रस्सी के द्वारा[४०] हांका गया तथा रोझ[४१] की भांति भूमि पर गिराया गया हूं।"

५७. हुयासणे जलंतम्मि
चियासु महिसो विव।
दड्ढो पक्को य अवसो
पावकम्मेहि पाविओ।।

*हुताशने ज्वलति*
*चितासु महिष इव।*
*दग्धः पक्वश्चावशः*
*पापकर्मभिः पापिकः।।*

"पाप-कर्मों से घिरा[४२] और परवश हुआ मैं भैंसे की भांति[४३] अग्नि की जलती हुई चिताओं में जलाया और पकाया गया हूं।"

५८. बला संडासतुंडेहिं
लोहतुंडेहि पक्खिहिं।
विलुत्तो विलवंतो हं
ढंकगिद्धेहिणंतसो।।

*बलात् संदंशतुण्डैः*
*लोहतुण्डैः पक्षिभिः।*
*विलुप्तो विलपन्नहं*
*ध्वंक्षगृधैरनन्तशः।।*

"संडासी जैसी चोंच वाले और लोहे जैसी कठोर चोंच वाले ढंक[४४] और गीध पक्षियों[४५] के द्वारा, विलाप करता हुआ मैं, बल-प्रयोग पूर्वक अनन्त बार नोचा गया हूं।"

५९. तण्हाकिलंतो धावंतो
पत्तो वेयरणिं नदिं।
जलं पाहिं ति चिंतंतो
खुरधाराहिं विवाइओ।।

*तृष्णाक्लान्तो धावन्*
*प्राप्तो वैतरणीं नदीम्।*
*जलं पास्यामीति चिन्तयन्*
*क्षुरधाराभिर्विपादितः।।*

"प्यास से पीड़ित होकर मैं दौड़ता हुआ वैतरणी नदी पर पहुंचा। जल पीऊंगा---यह सोच रहा था, इतने में छूरे की धार से[४६] चीरा गया।"

६०. उण्हाभितत्तो संपत्तो
असिपत्तं महावणं।
असिपत्तेहिं पडंतेहिं
छिन्नपुव्वो अणेगसो।।

*उष्णाभितप्तः संप्राप्तः*
*असिपत्रं महावनम्।*
*असिपत्रैः पतद्भिः*
*छिन्नपूर्वोऽनेकशः।।*

"गर्मी से संतप्त होकर असि-पत्र महावन में गया। वहां गिरते हुए तलवार के समान तीखे पत्तों से अनेक बार छेदा गया हूं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६१. मुग्गरेहिं मुसंढीहिं
सूलेहिं मुसलेहि य।
गयासं भग्गगत्तेहिं
पत्तं दुक्खं अणंतसो।।

*मुद्गरैः 'मुसुंढीहिं'*
*शूलैर्मुसलैश्च।*
*गतांश भग्नगात्रैः*
*प्राप्तं दुःखमनन्तशः।।*

"मुद्गरों, मुसुण्डियों,[७७] शूलों और मुसलों से त्राण-हीन दशा में मेरा शरीर चूर-चूर किया गया—इस प्रकार मैं अनन्त बार दुःख को प्राप्त हुआ हूं।"

६२. खुरेहिं तिक्खधारेहिं
छुरियाहिं कप्पणीहि य।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो
उक्कत्तो य अणेगसो।।

*क्षुरैः तीक्ष्णधारैः*
*क्षुरिकाभिः कल्पनीभिश्च।*
*कल्पितः पाटितश्छिन्नः*
*उत्कृत्त चानेकेशः।।*

"तेज धार वाले छूरों, छुरियों और कैंचियों से मैं अनेक बार खण्ड-खण्ड किया गया, दो टूक किया गया और छेदा गया हूं तथा मेरी चमड़ी उतारी गयी है।"

६३. पासेहिं कूडजालेहिं
मिओ वा अवसो अहं।
वाहिओ बद्धरुद्धो अ
बहु सो चेव विवाइओ।।

*पाशैः कूटजालैः*
*मृग इव अवशोऽहम्।*
*वाहितो बद्धरुद्धश्च*
*बहुशश्चैव विपादितः।।*

"पाशों और कूटजालों द्वारा मृग की भांति परवश बना हुआ मैं अनेक बार ठगा गया, बांधा गया, रोका गया और मारा गया हूं।"

६४. गलेहिं मगरजालेहिं
मच्छो वा अवसो अहं
उल्लिओ फालिओ गहिओ
मारिओ य अणंतसो।।

*गलैर्मकरजालैः*
*मत्स्य इव अवशोऽहम्।*
*उल्लिखितः पाटितो गृहीतः*
*मारितश्चाऽनन्तशः।।*

"मछली के फंसाने की कंटियों और मगरों को पकड़ने के जालों के द्वारा मत्स्य की तरह परवश बना हुआ मैं अनन्त बार खींचा, फाड़ा, पकड़ा और मारा गया हूं।"

६५. वीदंसएहि जालेहिं
लेप्पाहिं सउणो विव।
गहिओ लग्गो बद्धो य
मारिओ य अणंतसो।।

*विदंशकैर्जालैः*
*लेपैः शकुन इव।*
*गृहीतो लग्नो बद्धश्च*
*मारितश्चाऽनन्तशः।।*

"बाज पक्षियों, जालों और वज्रलेपों के द्वारा पक्षी की भांति मैं अनन्त बार पकड़ा, चिपकाया, बांधा और मारा गया हूं।"

६६. कुहाडफरसुमाईहिं
वड्ढईहिं दुमो विव।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो
तच्छिओ य अणंतसो।।

*कुठारपरश्वादिभिः*
*वर्धकिभिर्द्रुम इव।*
*कुट्टितः पाटितश्छिन्नः*
*तक्षितश्चाऽनन्तशः।।*

"बढ़ई के द्वारा वृक्ष की भांति कुल्हाड़ी और फरसा आदि के द्वारा मैं अनन्त बार कूटा, दो टूक किया, छेदा और छीला गया हूं।"

६७. चवेडमुट्ठिमाईहिं
कम्मारेहिं अयं पिव।
ताडिओ कुट्टियो भिन्नो
चुण्णिओ य अणंतसो।।

*चपेटामुष्ट्यादिभिः*
*कर्मारै रय इव।*
*ताडितः कट्टितो भिन्नः*
*चूर्णितश्चाऽनन्तशः।।*

"लोहार के द्वारा[७८] लोहे की भांति चपत और मुट्ठी आदि के द्वारा मैं अनन्त बार पीटा, कूटा, भेदा और चूरा किया गया हूं।"

६८. तत्ताइं तंबलोहाइं
तउयाइं सीसयाणि य।
पाइओ कलकलंताइं
आरसंतो सुभेरवं।।

*तप्तानि ताम्रलोहानि*
*त्रपुकानि सीसकानि च।*
*पायितः कलकलायमानानि*
*आरसन् सुभैरवम्।।*

"भयंकर आक्रन्द करते हुए मुझे गर्म और कलकल शब्द करता हुआ तांबा, लोहा, रांगा और सीसा पिलाया गया।"

६९. तुहं पियाइं मंसाइं
खंडाइं सोल्लगाणि य।
खाविओ मि समंसाइं
अग्गिवण्णाइं णेगसो।।

*तव प्रियाणि मांसानि*
*खण्डानि शूल्यकानि च।*
*खादितोऽस्मि स्वमांसानि*
*अग्निवर्णान्यनेकशः।।*

"तुझे खण्ड किया हुआ और शूल में खोंस कर पकाया हुआ मांस प्रिय था—यह याद दिलाकर मेरे शरीर का मांस काट अग्नि जैसा लाल कर मुझे खिलाया गया।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७०.तुहं पिया सुरा सीहू
मेरओ य महूणि य।
पाइओ मि जलंतीओ
वसाओ रुहिराणि य।।

*तव प्रिया सुरा सीधुः*
*मेरकश्च मधूनि च।*
*पायितोऽस्मि ज्वलन्तीः*
*वसा रुधिराणि च।।*

"तुझे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु—ये मदिराएं प्रिय थीं—यह याद दिलाकर मुझे जलती हुई चर्बी और रुधिर पिलाया गया।"

७१.निच्चं भीएण तत्थेण
दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा
वेयणा वेइया मए।।

*नित्यं भीतेन त्रस्तेन*
*दुःखितेन व्यथितेन च।*
*परमा दुःखसंबद्धा*
*वेदना वेदिता मया।।*

"सदा भयभीत, संत्रस्त, दुःखित और व्यथित रूप में रहते हुए मैंने परम दुःखमय वेदना का अनुभव किया है।"

७२.तिव्वचंडप्पगाढाओ
घोराओ अइदुस्सहा।
महब्भयाओ भीमाओ
नरएसु वेइया मए।।

*तीव्रचण्डप्रगाढाः*
*घोरा अतिदुस्सहाः।*
*महाभया भीमाः*
*नरकेषु वेदिता मया।।*

"तीव्र, चण्ड, प्रगाढ़, घोर,[१६] अत्यन्त दुःसह, भीम और अत्यन्त भयंकर वेदनाओं का मैंने नरक-लोक में अनुभव किया है।"

७३.जारिसा माणुसे लोए
ताया! दीसंति वेयणा।
एत्तो अणंतगुणिया
नरएसु दुक्खवेयणा।।

*यादृश्यो मानुषे लोके*
*तात! दृश्यन्ते वेदनाः।*
*इतोऽनन्तगुणिताः*
*नरकेषु दुःखवेदनाः।।*

"माता-पिता! मनुष्य लोक में जैसी वेदना है उससे अनन्तगुना अधिक दुःख देने वाली वेदना नरक-लोक में है।"

७४.सव्वभवेसु अस्साया
वेयणा वेइया मए।
निमेसंतरमित्तं पि
जं साया नत्थि वेयणा।।

*सर्वभवेष्वसाता*
*वेदना वेदिता मया।*
*निमेषान्तरमात्रमपि*
*यत् साता नास्ति वेदना।।*

**"मैंने सभी जन्मों में दुःखमय वेदना का अनुभव किया है। वहां एक निमेष का अन्तर पड़े उतनी भी सुखमय वेदना नहीं है।"[१७]**

७५.तं बिंतम्मापियरो
छंदेणं पुत्त! पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे
दुक्खं निप्पडिकम्मया।।

*तं ब्रूतोऽम्बापितरौ*
*छन्दसा पुत्र! प्रव्रज।*
*'नवरं' पुनः श्रामण्ये*
*दुःखं निष्प्रतिकर्मता।।*

माता-पिता ने उससे कहा—"पुत्र! तुम्हारी इच्छा है तो प्रव्रजित हो जाओ। परन्तु श्रमण बनने के बाद रोगों की चिकित्सा नहीं की जाती,[१९] यह कितना कठिन मार्ग है। (यह जानते हो?)"

७६.सो बिंतम्मापियरो!
एवमेयं जहाफुडं।
पडिकम्मं को कुणई
अरण्णे मियपक्खिणं?।।

*स ब्रूतेऽम्बापितरौ!*
*एवमेतद् यथास्फुटम्।*
*प्रतिकर्म कः करोति*
*अरण्ये मृगपक्षिणाम्?।।*

उसने कहा—"माता-पिता! आपने जो कहा वह ठीक है। किन्तु जंगल में रहने वाले हरिण[२२] और पक्षियों की चिकित्सा कौन करता है?"[२३]

७७.एगभूओ अरण्णे वा
जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि
संजमेण तवेण य।।

*एकभूतोऽरण्ये वा*
*यथा तु चरति मृगः*
*एवं धर्मं चरिष्यामि*
*संयमेन तपसा च।।*

"जैसे जंगल में हरिण अकेला विचरता है, वैसे मैं भी संयम और तप के साथ एकाकी भाव को प्राप्त कर धर्म का आचरण करूंगा।"

७८.जया मिगस्स आयंको
महारण्णम्मि जायई।।
अच्छंतं रुक्खमूलम्मि
को णं ताहे तिगिच्छई?।।

*यथा मृगस्यातङ्कः*
*महारण्ये जायते।*
*तिष्ठन्तं वृक्षमूले*
*क एनं तदा चिकित्सति?।।*

"जब महावन में[२४] हरिण के शरीर में आतंक—रोग उत्पन्न होता है तब किसी वृक्ष के पास बैठे हुए उस हरिण की कौन चिकित्सा करता है?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७६. को वा से ओसहं देई ?
को वा से पुच्छई सुहं ?।
को से भत्तं च पाणं च
आहरित्त पणामए ?।।

*को वा तस्मै औषधं दत्ते ?
को वा तस्य पृच्छति सुखम् ?।
कस्तस्मै भक्तं च पानं च
आहृत्याऽर्पयेत् ?।।*

"कौन उसे औषध देता है ? कौन उससे सुख की बात पूछता है ? कौन उसे खाने-पीने को भक्त-पान लाकर देता है ?"[५५]

८०. जया य से सुही होइ
तया गच्छइ गोयरं।।
भत्तपाणस्स अट्ठाए
वल्लराणि सराणि य।।

*यदा च स सुखी भवति
तदा गच्छति गोचरम्।
भक्तपानस्याऽर्थाय
वल्लराणि सरांसि च।।*

"जब वह स्वस्थ हो जाता है तब गोचर में जाता है। खाने-पीने के लिए लता-निकुंजों और जलाशयों में[५६] जाता है।"

८१. खाइत्ता पाणियं पाउं
वल्लरेहिं सरेहि वा।
मिगचारियं चरित्ताणं
गच्छई मिगचारियं।।

*खादित्वा पानीयं पीत्वा
वल्लरेषु सरस्सु वा।
मृगचारिकां चरित्वा
गच्छति मृगचारिकाम्।।*

"लता-निकुंजों और जलाशयों में खा-पीकर वह मृगचर्या (कुदान) के द्वारा मृगचर्या (स्वतन्त्र-विहार) को चला जाता है।"[५७]

८२. एवं समुट्ठिओ भिक्खू
एवमेव अणेगओ।
मिगचारियं चरित्ताणं
उड्ढं पक्कमई दिसं।।

*एवं समुत्थितो भिक्षुः
एवमेवाऽनेकगः।
मृगचारिकां चरित्वा
ऊर्ध्वां प्रक्रामति दिशम्।।*

"इसी प्रकार संयम के लिए उठा हुआ भिक्षु स्वतंत्र विहार[५८] करता हुआ मृगचर्या का आचरण कर ऊंची दिशा—मोक्ष को चला जाता है।"

८३. जहा मिगे एग अणेगचारी
अणेगवासे धुवगोयरे य।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा।।

*यथा मृग एकोऽनेकचारी
अनेकवासो ध्रुवगोचरश्च।
एवं मुनिर्गोचर्यां प्रविष्टः
नो हीलयेन्नो अपि च खिंसयेत्।।*

"जिस प्रकार हरिण अकेला अनेक स्थानों से भक्त-पान लेने वाला, अनेक स्थानों में रहने वाला ओर गोचर से ही जीवन-यापन करने वाला[५९] होता है, उसी प्रकार गोचर-प्रविष्ट मुनि जब भिक्षा के लिए जाता है तब किसी की अवज्ञा और निन्दा नहीं करता।"

८४. मिगचारियं चरिस्सामि
एवं पुत्ता ! जहासुहं।
अम्मापिऊहिंणुण्णाओ।
जहाइ उवहिं तओ।।

*मृगचारिकां चरिष्यामि
एवं पुत्र ! यथासुखम्।
अम्बापितृभ्यामनुज्ञातः
जहात्युपधिं ततः।।*

(मृगापुत्र ने कहा—) "मैं मृगचर्या का आचरण करूंगा।" (माता-पिता ने कहा—) "पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो।" इस प्रकार माता-पिता की अनुमति पाकर वह उपधि को छोड़ रहा है।

८५. मियचारियं चरिस्सामि
सव्वदुक्खविमोक्खणिं।
तुब्भेहिं अम्मपुण्णाओ
गच्छ पुत्त ! जहासुहं।।

*मृगचारिकां चरिष्यामि
सर्वदुःखविमोक्षणीम्।
युवाभ्यामम्ब ! अनुज्ञातः
गच्छ पुत्र ! यथासुखम्।।*

"मैं तुम्हारी अनुमति पाकर सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाली मृगचर्या का आचरण करूंगा।" (माता-पिता ने कहा—) "पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो।"

८६. एवं सो अम्मापियरो
अणुमाणित्ताण बहुविहं।
ममत्तं छिंदई ताहे
महानागो व्व कंचुयं।।

*एवं सोऽम्बापितरौ
अनुमान्य बहुविधम्।
ममत्वं छिनत्ति तदा
महानाग इव कंचुकम्।।*

"इस प्रकार वह नाना उपायों से माता-पिता को अनुमति के लिए राजी कर ममत्व का छेदन कर रहा है जैसे महानाग कांचुली का छेदन करता है।"

८७. इड्ढिं वित्तं च मित्ते य
पुत्तदारं च नायओ।
रेणुयं व पडे लग्गं
निद्धुणित्ताण निग्गओ।।

*ऋद्धिं वित्तं च मित्राणि च
पुत्रदारांश्च ज्ञातीन्।
रेणुकमिव पटे लग्नं
निर्धूय निर्गतः।।*

"ऋद्धि, धन, मित्र, पुत्र, कलत्र और ज्ञाति-जनों को कपड़े पर लगी हुई धूलि की भांति झटकाकर वह निकल गया—प्रव्रजित हो गया।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८८. पंचमहव्वयजुत्तो
पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।
सब्भितरबाहिरओ
तवोकम्मंसि उज्जुओ।।

*पञ्चमहाव्रतयुक्तः*
*पञ्चसमितस्त्रिगुप्तिगुप्तश्च।*
*साभ्यन्तरबाह्ये*
*तपः कर्मणि उद्युतः।।*

"वह पांच महाव्रतों से युक्त, पांच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, आंतरिक और बाहरी तपस्या में तत्पर—"

८९. निम्ममो निरहंकारो
निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु
तसेसु थावरेसु य।।

*निर्ममो निरहंकारः*
*निस्सङ्गस्त्यक्तगौरवः।*
*समश्च सर्वभूतेषु*
*त्रसेषु स्थावरेषु च।।*

"ममत्व रहित, अहंकार रहित, निर्लेप, गौरव को त्यागने वाला, त्रस और स्थावर सभी जीवों में समभाव रखने वाला—"

९०. लाभालाभे सुहे दुक्खे
जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु
तहा माणावमाणओ।।

*लाभालाभे सुखे दुःखे*
*जीविते मरणे तथा।*
*समो निन्दाप्रशंसयोः*
*तथा मानापमानयोः।।*

"लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान में सम रहने वाला—"

९१. गारवेसु कसाएसु
दंडसल्लभएसु य।
नियत्तो हाससोगाओ
अनियाणो अबंधणो।।

*गौरवेभ्यः कषायेभ्यः*
*दण्डशल्यभयेभ्यश्च।*
*निवृत्तो हासशोकात्*
*अनिदानोऽबन्धनः।।*

"गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय,[६१] हास्य और शोक से निवृत्त, निदान और बन्धन से रहित—"

९२. अणिस्सिओ इहं लोए
परलोए अणिस्सिओ।
वासीचंदणकप्पो य।
असणे अणसणे तहा।।

*अनिश्रित इह लोके*
*परलोकेऽनिश्रितः।*
*वासीचन्दनकल्पश्च*
*अशनेऽनशने तथा।।*

"इहलोक और परलोक में अनासक्त, वसूले से काटने और चन्दन लगाने पर[६२] तथा आहार मिलने या न मिलने पर[६३] सम रहने वाला—"

९३. अप्पसत्थेहिं दारेहिं
सव्वओ पिहियासवे।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं
पसत्थदमसासणे।।

*अप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः*
*सर्वतः पिहितास्रवः।*
*अध्यात्मध्यानयोगैः*
*प्रशस्तदमशासनः।।*

अप्रशस्त द्वारों से आने वाले[६४] कर्म-पुद्गलों का सर्वतोनिरोध करने वाला, अध्यात्मध्यान-योग के द्वारा प्रशस्त एवं उपशम-प्रधान शासन में रहने वाला हुआ।[६५]

९४. एवं नाणेण चरणेण
दंसणेण तवेण य।
भावणाहि य सुद्धाहिं
सम्मं भावेत्तु अप्पयं।।

*एवं ज्ञानेन चरणेन*
*दर्शनेन तपसा च।*
*भावनाभिश्च शुद्धाभिः*
*सम्यग् भावयित्वाऽऽत्मकम्।।*

"इस प्रकार ज्ञान, चारित्र, तप और विशुद्ध भावनाओं के द्वारा[६६] आत्मा को भली-भांति भावित कर—"

९५. बहुयाणि उ वासाणि
सामण्णमणुपालिया।
मासिएण उ भत्तेण
सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं।।

*बहुकानि तु वर्षाणि*
*श्रामण्यमनुपाल्य।*
*मासिकेन तु भक्तेन*
*सिद्धिं प्राप्तोऽनुत्तराम्।।*

"बहुत वर्षों तक श्रमण-धर्म का पालन कर, अन्त में एक महीने का अनशन कर वह अनुत्तर सिद्धि—मोक्ष को प्राप्त हुआ।"

९६. एवं करंति संबुद्धा
पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु
मियापुत्ते जहारिसी।।

*एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः*
*पण्डिताः प्रविचक्षणाः।*
*विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः*
*मृगापुत्रो यथा ऋषिः।।*

"संबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण जो होते हैं वे ऐसा करते हैं। वे भोगों से उसी प्रकार निवृत्त होते हैं, जिस प्रकार मृगापुत्र ऋषि हुए थे।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९७. महापभावस्स महाजसस्स
मियाइपुत्तस्स निसम्म भासियं।
तवप्पहाणं चरियं च उत्तमं
गइप्पहाणं च तिलोगविस्सुयं।।

*महाप्रभावस्य महायशसः*
*मृगायाः पुत्रस्य निशम्य भाषितम्।*
*तपःप्रधानं चरितं चोत्तमं*
*प्रधानगतिं च त्रिलोकविश्रुताम्।।*

"महा प्रभावशाली, महान् यशस्वी मृगापुत्र का[९७] कथन, तप-प्रधान उत्तम-आचरण और त्रिलोक-विश्रुत प्रधान गति (मोक्ष) को सुनकर--"[९८]

९८. वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं
ममत्तबंधं च महब्भयावहं।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं
धारेह निव्वाणगुणावहं महं।।

*विज्ञाय दुःखविवर्धनं धनं*
*ममत्वबन्धं च महाभयावहम्।*
*सुखावहां धर्मधुरामनुत्तरां*
*धारय निर्वाणगुणावहां महतीम्।।*

"धन को दुःख बढ़ाने वाला और ममता के बन्धन को महान् भयंकर जानकर, सुख देने वाली, अनुत्तर निर्वाण के गुणों को प्राप्त कराने वाली,[९९] महान् धर्म की धुरा को धारण करो।"

--ति बेमि।।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन १६ : मृगापुत्रीय

### १. कानन और उद्यान (काणणुज्जाण)

कानन वह होता है जहां बड़े वृक्ष हों।[1] उद्यान का अर्थ है—क्रीडा-वन। वृत्तिकार ने उद्यान का अर्थ 'आराम' भी किया है।[2] आराम जन-साधारण के घूमने-फिरने का स्थान होता था। क्रीडा-वन ऐसा स्थान था जहां नौका-विहार, खेल-कूद तथा अन्यान्य क्रीडा सामग्री की सुलभता रहती थी।

देखें—दशवैकालिक, ६।१ का टिप्पण

### २. बलश्री (बलसिरी)

मृगापुत्र के दो नाम थे—बलश्री और मृगापुत्र। 'बलश्री' माता-पिता द्वारा दिया हुआ नाम था और जन-साधारण में वह 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध था।[3]

### ३. युवराज (जुवराया)

राजाओं में यह परम्परा थी कि बड़ा पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता था। जब वह राज्य का कार्यभार संभालने में समर्थ हो जाता तब उसको 'युवराज पद' दे दिया जाता। वह राज्य पद की पूर्व-स्वीकृति का वाचक है।

प्राचीन साहित्य में यह मिलता है कि राज्याभिषेक से पूर्व 'युवराज' भी एक मन्त्री होता था, जो राजा को राज्य-संचालन में सहायता देता था। उसकी विशेष मुद्रा होती थी और उसकी पदवी का सूचक एक निश्चित पद होता था।

'युवराज' को 'तीर्थ' भी कहा गया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में १८ तीर्थ गिनाएं हैं, उनमें 'युवराज' का उल्लेख भी हुआ है। तीर्थ का अर्थ है—महा अमात्य।[4]

### ४. दमीश्वर (दमीसरे)

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ दिए हैं—

(१) उद्धत व्यक्तियों का दमन करने वाला राजाओं का ईश्वर।

(२) उपशमशील व्यक्तियों का ईश्वर।

प्रथम अर्थ वार्तमानिक अवस्था का बोधक है और दूसरा भविष्यकाल की अपेक्षा से कहा गया है।[5]

नेमिचन्द्र ने केवल द्वितीय अर्थ ही किया है।[6]

### ५. दोगुन्दग (दोगुंदगो)

'दोगुन्दग' त्रायस्त्रिंश जाति के देव होते हैं। वे सदा भोग-परायण होते हैं।[7] उनकी विशेष जानकारी के लिए देखें—भगवती, १०।४।

### ६. मणि और रत्न (मणिरयण)

सामान्यतः मणि और रत्न पर्यायवाची माने जाते हैं। वृत्तिकार ने इनमें यह भेद किया है कि विशिष्ट माहात्म्य युक्त रत्नों को 'मणि' कहते हैं, जैसे चन्द्रकांतमणि, सूर्यकान्तमणि आदि-आदि तथा शेष गोमेदक आदि 'रत्न' कहलाते हैं।[8]

### ७. गवाक्ष (आलोयण)

दशवैकालिक, ५।१।१५ में गवाक्ष के अर्थ में 'आलोय' का प्रयोग हुआ है। यहां उसी अर्थ में 'आलोयण' शब्द है।

शान्त्याचार्य ने इसका एक अर्थ 'सबसे ऊंची चतुरिका' भी किया है। गवाक्ष या चतुरिका से दिशाओं का अवलोकन किया जा सकता है, इसलिए उसे 'आलोकन' कहा जाता है।[9]

### ८. नियम (नियम)

महाव्रत, व्रत, नियम—ये सभी साधारणतया संवर के वाचक हैं। किन्तु रूढ़िवशात् इनमें अर्थ-भेद भी है। योग-दर्शन सम्मत अष्टांग योग में नियम का दूसरा स्थान है।[10] उसके अनुसार शौच, संतोष, स्वाध्याय, तप और देवताप्रणिधान—ये नियम कहलाते हैं।[11]

जैन व्याख्या के अनुसार जिन व्रतों में जाति, देश, काल, समय आदि का अपवाद नहीं रहता, वे 'महाव्रत' कहलाते हैं। जो व्रत अपवाद सहित होते हैं, वे 'व्रत' कहलाते हैं। ऐच्छिक

---

१. सुखबोधा, पत्र २६०: काननानि—बृहद्वृक्षाश्रयाणि वनानि।

२. वही, पत्र २६०: उद्यानानि—आरामाः क्रीडावनानि वा।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१: बलश्रीः बलश्रीनामा मातापितृविहितनाम्ना लोके च मृगापुत्र इति।

४. कौटिल्य अर्थशास्त्र, १।१२।८, पृ० २१-२३।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१: दमिना—उद्धतदमनशीलास्ते च राजानस्तेषामीश्वरः—प्रभुर्दमीश्वरः, यद्वा दमिनः—उपशमिनस्तेषां सहजोपशमभावत ईश्वरो दमीश्वरः, भाविकालापेक्षं चैतत्।

६. सुखबोधा, पत्र २६०: 'दमीसरि' त्ति दमिनाम्—उपशमिनामीश्वरो दमीश्वरः, भाविकालापेक्षं चैतत्।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१: दोगुन्दगाश्च त्रायस्त्रिंशाः तथा च वृद्धाः "त्रायस्त्रिंशा देवा नित्यं भोगपरायणा दोगुंदगा इति भण्णंति।"

८. वही, पत्र ४५१: मण्यश्च—विशिष्टमाहात्म्याश्चन्द्रकांतादयो, रत्नानि च—गोमेयकादीनि मणिरत्नानि।

९. वही, पत्र ४५१: आलोक्यन्ते दिशोऽस्मिन् स्थितैरित्यालोकनं प्रासादे प्रासादस्य वाऽऽलोकनं प्रासादालोकनं तस्मिन् सर्वोपरिवर्तिचतुरिकारूपे गवाक्षे।

१०. पातंजलयोगदर्शन, २।२९: यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।

११. वही, २।३२: शौचसंतोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रतों को 'नियम' कहा जाता है।

शान्त्याचार्य ने 'अभिग्रहात्मक व्रत' को 'नियम' कहा है।[1]

## ९. शील से समृद्ध (सीलड्ढं)

वृत्तिकार ने शील का अर्थ—अष्टादश सहस्र शीलाङ्ग किया है।[2]

देखें—इसी अध्ययन का १६वां टिप्पण।

## १० अध्यवसान (अज्झवसाणम्मि)

बृहद्वृत्ति में अध्यवसान का अर्थ है—अन्तःकरण का परिणाम।[3] निशीथ चूर्णि में मनःसंकल्प, अध्यवसान और चित्त को एकार्थक माना है।[4] विशेषावश्यकभाष्य में अतिहर्ष और विषाद के कारण चिंतन की जो गहराई होती है उसे अध्यवसान कहा गया है।[5] स्थानांग में अध्यवसान को अकालमृत्यु का एक हेतु माना है।[6] उसका अर्थ है—राग, स्नेह और भय आदि की तीव्रता।

**'अज्झवसाय** और **अज्झवसाण'** (अध्यवसाय और अध्यवसान)—दोनों शब्द एकार्थक हैं। जहां कहीं जाति-स्मृति और अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति का प्रसंग है वहां **'सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं लेसाहिं विसुज्झमाणाहिं'**—पाठ मिलता है।[7] यह उपलब्धि परिणामों की विशुद्धि और सूक्ष्मता से प्राप्त होती है। यह चेतना का सूक्ष्म स्तर है, इसलिए उसका मन के साथ सम्बन्ध नहीं किया जा सकता।

## ११. (मोहं गयस्स)

जैन धर्म में 'जातिस्मृति'—पूर्वजन्म के स्मरण की विशेष पद्धति है। कोई व्यक्ति पूर्व परिचित व्यक्ति को देखता है, तत्काल चैतसिक संस्कारों में एक हलचल होती है। वह सोचता है कि इस प्रकार का आकार मैंने कहीं देखा है। ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा के द्वारा चिन्तन आगे बढ़ता है। मैंने यह कहां देखा? यह कहां है? इस प्रकार की चिंता का एक संघर्ष चलता है। उस समय व्यक्ति संमोहन की स्थिति में चला जाता है। उस स्थिति में उसे पूर्वजन्म की स्मृति हो जाती है।[8]

प्रस्तुत श्लोक में जाति-स्मरण की प्रक्रिया फलित होती है। उसके तीन अंग हैं—

(१) दृश्य वस्तु या व्यक्ति का साक्षात्कार।

(२) अध्यवसान की शुद्धि।

(३) संमोहन।

देखें—६।१७ का टिप्पण।

## १२. (श्लोक ११)

इस श्लोक में भोगों को विषफल से उपमित किया गया है। जिस प्रकार विषफल प्रथम स्वाद में अत्यन्त मधुर होते हैं परन्तु परिणाम काल में अत्यन्त कटुक और दुःखदायी होते हैं, उसी प्रकार भोग भी सेवन-काल में मधुर लगते हैं, परन्तु उनका विपाक कटुक होता है और वे अनवच्छिन्न दुःख देने वाले होते हैं।

## १३. क्लेशों का (...केसाण)

क्लेश शब्द 'क्लिशूश् विबाधने', क्लिशड्च् उपतापे—इन दोनों धातुओं से निष्पन्न है। इसका अर्थ है—बाधा, सन्ताप और पीड़ा। वृत्तिकार ने क्लेश का अर्थ दुःख (अप्रिय संवेदन) के हेतुभूत ज्वरादि रोग किया है।[9]

महर्षि पतञ्जलि ने पांच प्रकार के क्लेश माने हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। उनके अनुसार क्लेश का अर्थ विपर्यय है।[10]

## १४. व्याधि और रोगों का (वाहीरोगाण)

अत्यन्त बाधा उत्पन्न करने वाले कुष्ठ जैसे रोगों को 'व्याधि' कहा जाता है और कदाचित् होने वाले ज्वर आदि को 'रोग' कहा जाता है।[11]

## १५. किंपाकफल (किंपागफलाणं)

जैन साहित्य में स्थान-स्थान पर किंपाकफल का उल्लेख है। वह देखने में अति सुन्दर और खाने में अति स्वादिष्ट होता है। उसको खाने का परिणाम है—प्राणान्त। भोगों की विरसता को बताने के लिए प्रायः इसी की उपमा दी जाती है।

वृत्तिकार ने किम्पाक का अर्थ वृक्ष विशेष किया है।[12] उसके फल अति स्वादिष्ट होते हैं। कोषकारों के अनुसार वह एक लता-विशेष है। इसका दूसरा नाम महाकाल लता है।[13] शालिग्रामनिघण्टुभूषण में कारस्कर, किम्पाक, विषतिंदुक विषद्रुम,

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१-४५२ : नियमश्च—द्रव्याद्यभिग्रहात्मकः।

२. वही, पत्र ४५२ : शीलं—अष्टादशशीलाङ्गसहस्रस्वरूपम्।

३. वही, पत्र ४५२ : अध्यवसाने—इत्यन्तःकरणपरिणामे।

४. निशीथचूर्णि, भाग ३ पृष्ठ ७० : मणसंकप्पेत्ति वा अज्झवसाणं त्ति वा चित्त ति वा एगट्ठं।

५. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २०४१, वृत्ति पृ० ७२० : अतिहर्ष-विषादाभ्याम-धिकमवसानं चिन्तनमध्यवसानम्।

६. ठाणं : ७।७२ : सत्तविधे आउभेदे पण्णत्ते, तं जहा—अज्झवसाणनिमित्ते. ...।

७. भगवई : ११।१७१।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५२ : 'अध्यवसाने इत्यन्तःकरणपरिणामे 'शोभने' प्रधाने क्षायोपशमिकभाववर्त्तिनीति यावत् 'मोहं' क्वेदं मया दृष्टं क्वेदमित्यतिचिन्तातश्चित्तसंघट्टजमूर्च्छात्मकं 'गतस्य' प्राप्तस्य' सतः।

९. वही, पत्र ४५४ : दुःखम् असातं तद्धेतवः, क्लेशाः—ज्वरादयो रोगा दुःखक्लेशाः शाकपार्थिवादिवत्समासः।

१०. पातंजलयोगदर्शनः ३।३ पृ० १३४ : अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः। क्लेशा इति पञ्चच विपर्यया इत्यर्थः।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५४ : व्याधयः—अतीव बाधाहेतवः कुष्ठादयो, रोगाः—ज्वरादयः।

१२. वही, पत्र ४५४ : किम्पाकः—वृक्षविशेषस्तस्य फलान्यतीव सुस्वादूनि।

१३. (क) शब्दकल्पद्रुम, भाग २, पृ० १२८ : किम्पाकः पु० महाकाल लता। इति रत्नमाला। माकाल इति भाषा।

(ख) नानार्थसंग्रह, पृ० ७८ : किम्पाको महाकालफलाज्ञयोः (मेदिनी)।

(ग) वाचस्पत्यम्, भाग ३, पृ० २०५० : किम्पाकः (माखाल) महाकालः।

(घ) वही, भाग ६, पृ० ४०४० : महाकाल लताभेदे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गरद्रुम, रम्यफल, कुपाक, कालकूटक—इन सबको पर्यायवाची माना है।[1] उसमें कारस्कर वृक्ष का जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार किम्पाक कुचले का वृक्ष है। कारस्कर वृक्ष मध्यम आकार का होता है। वह प्रायः वनों में उगता है। उसके पत्ते पान के समान चौड़े और फल नारंगी के समान होते हैं। उसके बीज कुचला कहलाते हैं। उसका पका फल विषद और पाक में मधुर होता है।

वनस्पतिसृष्टि में किम्पाकफल का वर्णन इस प्रकार है—किंपाकफल अपक्व अवस्था में नीले रंग का और पकने पर नारंगी रंग का होता है। उसकी गिरी सहज और मधुर होती है। उसे पक्षी और बन्दर बड़े चाव से खाते हैं। गिरी के अतिरिक्त उसके सब अंग कड़वे होते हैं। उसका सारा फल विषैला होता है। अंग्रेजी में इसके बीजों को स्ट्रिक्नि नक्सवोमिका (Strychnine Nuxvomica) कहते हैं। वे बटन के आकार वाले, मखमल की तरह मुलायम, अति कठोर और बीच में रकाबी जैसे गड्ढे वाले होते हैं।[2]

## १६. हजारों गुण (गुणाणं तु सहस्साइं)

वृत्तिकार ने यहां गुण का अर्थ—मुनि जीवन के उपकारी शीलाङ्ग गुण किया है।[3] उनकी संख्या अठारह हजार है—

***जे णो करंति मणसा, णिज्जिय आहारसन्ना सोइंदिये।***
***पुढविकायारंभं खंतिजुत्ते ते मुणी वंदे।।***

यह एक गाथा है। दूसरी गाथा में 'खंति' के स्थान पर 'मुत्ति' शब्द आएगा शेष ज्यों का त्यों रहेगा। तीसरे में 'अज्जव' आएगा। इस प्रकार १० गाथाओं में दस धर्मों के नाम क्रमशः आएंगे। फिर ग्यारहवीं गाथा में 'पुढवि' के स्थान पर 'आउ' शब्द आएगा। पुढवि के साथ १० धर्मों का परिवर्तन हुआ था उसी प्रकार 'आउ' शब्द के साथ भी होगा। फिर 'आउ' के स्थान पर क्रमशः 'तेउ', 'वाउ', 'वणस्सइ', 'बेइंदिय', तेइंदिय, 'चतुरिन्दिय', 'पंचेंदिय' और अजीव—ये दश शब्द आएंगे। प्रत्येक के साथ दस धर्मों का परिवर्तन होने से (१० X १०) एक सौ गाथाएं हो जाएगी। इस प्रकार पांच इंद्रियों की (१०० X ५) पांच सौ गाथाएं होंगी। फिर ५०१ में 'आहार सन्ना' के स्थान पर 'भयसन्ना' फिर 'मेहुणसन्ना' और 'परिग्गहसन्ना' शब्द आएंगे। एक संज्ञा के ५०० होने में ४ संज्ञा के (५०० X ४) २००० होंगे। फिर 'मणसा' शब्द का परिवर्तन होगा। 'मणसा' के स्थान पर 'वयसा' फिर 'कायसा' आएगा। एक-एक काय का २००० होने से तीन कायों के (२००० X ३) ६००० होंगे। फिर 'करंति' शब्द में परिवर्तन होगा। 'करंति' के स्थान पर 'कारयंति' और 'समणुजाणति' शब्द आएंगे। एक-एक के ६००० होने से तीनों के (६००० X ३) १८,००० हो जाएंगे।

ये अठारह हजार शील के अंग हैं। इन्हें रथ से निम्न प्रकार उपमित किया जाता है—

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जे णो करंति ६.... | जे णो कारयंति ६.... | जे णो समणुजाणंति ६.... | | | | | | | |
| मणसा २.... | वयसा २.... | कायसा २.... | | | | | | | |
| णिज्जिय आहारसन्ना ५०० | णिज्जिय भयसन्ना ५०० | णिज्जिय मेहुणसन्ना ५०० | णिज्जिय परिग्गहसन्ना ५०० | | | | | | |
| श्रोत्रेन्द्रिय १०० | चक्षुरिन्द्रिय १०० | घ्राणेन्द्रिय १०० | रसनेन्द्रिय १०० | स्पर्शनेन्द्रिय १०० | | | | | |
| पृथिवी १० | अप् १० | तेजस् १० | वायु १० | वनस्पति १० | द्वीन्द्रिय १० | त्रीन्द्रिय १० | चतुरिन्द्रिय १० | पंचेन्द्रिय १० | |
| क्षान्ति १ | मुक्ति २ | आर्जव ३ | मार्दव ४ | लाघव ५ | सत्य ६ | संयम ७ | तप ८ | ब्रह्मचर्य ९ | अकिंचनता १० |

१. शालिग्रामनिघण्टुभूषणम् (बृहन्निघण्टु रत्नाकरान्तर्गती, सप्तमाष्टम भाग) पृ० ६००।
कारस्करस्तु किंपाको विषतिन्दुर्विषद्रुमः।
गरद्रुमो रम्यफलः कुपाकः कालकूटकः।।

२. वनस्पतिसृष्टि (गुज०) स्कन्ध बीजो पृ० ६१।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६ : गुणानां—श्रामण्योपकारकाणां शीलाङ्गरूपाणाम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**१७. दतौन जितना वस्तु-खंड भी (दंतसोहणमाइस्स)**

वृत्तिकार ने 'माइस्स' पद में मकार को अलाक्षणिक माना है तथा 'आइ' का संस्कृत रूप 'आदि' किया है।[1] अर्थ की दृष्टि से 'मात्र' शब्द अधिक उपयुक्त है। 'मायस्स'—इसका उच्चारण 'माइस्स' भी हो सकता है। यकार का इकार में परिवर्तन होना सहजगम्य है। इसका संस्कृत रूपान्तरण होगा—दन्तशोधनमात्रस्य।

**१८. (श्लोक २८)**

प्रस्तुत श्लोक में ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करना अति दुष्कर बतलाया गया है। कामभोगों के रस को जानने वालों के लिए अब्रह्मचर्य से विरत होना कितना दुष्कर है, इस प्रसंग में मुनि स्थूलभद्र जैसा कोई विरल ही उदाहरण मिलता है—

चतुर्मास प्रारम्भ होने को था। स्थूलिभद्र सहित चार मुनि आचार्य संभूतविजय के पास आए। सबने गुरु-चरणों में अपना-अपना निवेदन प्रस्तुत किया। एक ने कहा—गुरुदेव! मैं सिंह की गुफा में अपना चतुर्मास बिताना चाहता हूं। दूसरे ने सांप की बांबी पर साधना करने की इच्छा प्रगट की। तीसरे ने पनघट की चाट पर और चौथे ने कोशा वेश्या की चित्रशाला में रहने की अनुमति चाही। गुरु ने उन्हें स्वीकृति दे दी।

चार मास बीते। सभी निर्विघ्न साधना सम्पन्न कर आचार्य के पास आए। आचार्य ने पहले मुनि को 'दुष्कर कार्य करने वाले' के सम्बोधन से सम्बोधित किया। उसी प्रकार दूसरे, तीसरे मुनि के लिए भी यही सम्बोधन प्रयुक्त किया। किन्तु स्थूलिभद्र को देखते ही आचार्य ने उन्हें दुष्कर-दुष्कर, महादुष्कर कहकर संबोधित किया। तीनों मुनियों को गुरु का यह कथन बहुत अखरा। वे अपनी बात कहें उससे पूर्व ही आचार्य ने उनको समाहित करते हुए कहा—शिष्यो! स्थूलिभद्र कोशा वेश्या की चित्रशाला में रहा। सब प्रकार से सुविधाजनक और चिरपरिचित स्थान, अनुकूल वातावरण, प्रतिदिन षड्रस भोजन का आसेवन और फिर कोशा के हाव-भाव। सब कुछ होते हुए भी क्षण भर के लिए मन का विचलित न होना, काम भोगों के रस को जानते हुए भी ब्रह्मचर्य व्रत की कठोर साधना करना कितना महादुष्कर कार्य है? यह वही कोशा है, जिसके साथ ये बारह वर्ष तक रहे थे। वहां रहकर इन्होंने अपनी साधना ही नहीं की है, अपितु कोशा जैसी वेश्या को भी एक अच्छी श्राविका बनाया है। अतः इनके लिए यह सम्बोधन यथार्थ है।

उनमें से एक मुनि ने गुरु वचनों पर विपरीत श्रद्धा करते हुए कहा—कोशा के यहां रहना कौन सा महादुष्कर कार्य है? वहां तो हर कोई साधना कर सकता है। आप मुझे अनुज्ञा दें, मैं अगला चतुर्मास वहीं बिताऊंगा। आचार्य नहीं चाहते थे कि वह मुनि देखा-देखी ऐसा करे। बार-बार गुरु के निषेध करने पर भी उसने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। अन्त में वही हुआ जो होना था। चतुर्मास बिताने के लिए वह कोशा के यहां पहुंच गया।

कुछ दिन बीते। इन्द्रिय विषयों की सुलभता। मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ रस आदि पांचों विषयों ने अपना प्रभाव डाला और उसकी कामवृत्ति जागृत हो गई। अब वह कोशा का सहवास पाने के लिए आतुर था। अवसर देखकर एक दिन उसने अपनी भावना को कोशा के सामने रख दिया। कोशा तो पहले से ही संभली हुई थी। वह नहीं चाहती थी कि कोई मुनि उसके कारण संयम-भ्रष्ट बने। मुनि को सन्मार्ग पर लाने के लिए उसने एक उपाय सोचा। उसने मुनि से कहा—यदि आप मुझे पाना चाहते हैं तो आपको मेरी एक शर्त पूरी करनी होगी। नेपाल से रत्नकम्बल को लाना होगा। काम-भावना की अभीप्सा ने मुनि को नेपाल जाने के लिए विवश कर दिया। बरसात का मौसम। मार्गगत सैकड़ों कठिनाइयां और चतुर्मास के बीच बिहार। जैसे-तैसे अनेक कष्टों को सहकर मुनि नेपाल पहुंचा और रत्नकम्बल लेकर पुनः आ गया। भीतर ही भीतर वह बड़ा प्रसन्न हो रहा था कि आज उसकी मनोभावना सफल होगी। मुनि ने रत्नकम्बल कोशा को दी किन्तु कोशा ने मुनि को देखते-देखते कीचड़ से सने हुए पैरों को रत्नकम्बल से पोंछा और उसे नाली में फेंक दिया। इस घटना को मुनि विस्फारित नेत्रों से देखता रह गया। उसके मन पर एक गहरी प्रतिक्रिया हुई कि कितने कष्टों को सहकर मैं इसे यहां लाया और उसका यह दुरुपयोग! बात कुछ समझ में नहीं आई। अन्त में उसने कोशा से पूछ ही लिया—भद्रे! तुमने यह क्या किया? इस बहुमूल्य कम्बल का क्या यही उपयोग था? कोशा ने व्यंग्य की भाषा में कहा—संयम रत्न से बढ़ कर रत्नकम्बल कौन सी अमूल्य वस्तु है? आपने तो तुच्छ काम-भोगों के लिए संयम रत्न जैसे अनमोल वस्तु को भी छोड़ दिया। फिर रत्नकम्बल है ही क्या? कोशा के इन वाक्यों ने मुनि के अन्तःकरण को बींध दिया। पुनः वह संयम में स्थिर हो गया। उसे आचार्य के महादुष्कर कथन की स्मृति हो आई जिसके कारण उसने यह प्रपंच रचा था। अन्त में वह आचार्य के पास आया और कृतदोष की आलोचना कर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गया।

इस प्रसंग में यह उदाहरण भी मननीय है।

एक संन्यासी गांव से दूर आश्रम बनाकर अपनी साधना कर रहे थे। प्रतिदिन भक्तजन उनके पास आते और प्रवचन सुनकर चले जाते। एक दिन महात्मा अपनी शिष्यमंडली के बीच वाचन करते-करते एक वाक्य पर अटक गए। ग्रंथ में लिखा था—ब्रह्मचर्य का पालन करना महादुष्कर है। वाक्य को पढ़ते ही वे चौंके और फिर अपने भक्तों से बोले—दुष्करता

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६ : दंतसोहणमादिस्स त्ति, मकारोऽलाक्षणिकः,.... दन्तशोधनादेरपि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसी इसमें क्या बात है ? इसमें कौन-सा भूखा-प्यासा रहना पड़ता है। पता नहीं, किस अज्ञानी ने मनगढ़न्त ऐसा लिख दिया ? तत्काल उन्होंने उस पंक्ति को काट दिया।

कुछ दिन बीते। अन्धेरी रात और बरसात का मौसम था। एक नवयुवति अकेली अपने घर चली जा रही थी। संयोगवश वह अन्धेरे और वर्षा के कारण मार्ग के बीच में ही अटक गई। आस-पास में ठहरने के लिए कोई स्थान नहीं था। कुछ ही दूरी पर संन्यासी का आश्रम था। वह वहां पहुंची। दरवाजा खटखटाया। संन्यासी ने भीतर से दरवाजा खोला। युवति ने घबराते हुए संन्यासी से कहा—महात्मन् ! मैं एकाकी हूं और खराब मौसम के कारण अपने घर नहीं जा सकती। रात्री को यहीं विश्राम चाहती हूं। आप मुझे स्थान बताएं। संन्यासी ने उसे आश्रम के भीतर निर्मित मंदिर का स्थान बता दिया। युवती वहां गई और सुरक्षा की दृष्टि से उसने कपाटों को बन्द कर सांकल लगा ली।

तब तक संन्यासी के मन में कोई भी विकार भावना नहीं थी। ज्यों-ज्यों रात बीतने लगी एकाएक उनको काम-भावना सताने लगी। उन्होंने मन ही मन सोचा—आज अलभ्य अवसर आया है और वह नवयुवति भी अकेली है। अब मेरी मनोकामना को पूरी होने में समय नहीं लगेगा। वे अपने आपको रोक नहीं सके। तत्काल वे उठे और उस युवती से कपाट खुलवाने का प्रयत्न करने लगे। युवती भी मन ही मन समझ गई कि अवश्य ही दाल में काला है। लगता है, अब संन्यासी के मन में वह पवित्र भावना नहीं रही। निश्चित ही वे मेरा शील भंग करना चाहते हैं। यह सोचकर उसने किवाड़ों को खोलने से इन्कार कर दिया।

अपने प्रयत्न को असफल होते देख संन्यासी ने इसका दूसरा उपाय निकाला। वे मन्दिर के ऊपर चढ़े और उसके गुम्बज को तोड़कर भीतर घुसने लगे। संकड़ा छिद्र और स्थूल शरीर। उसका परिणाम यह हुआ कि वे अधर में ही लटक गए। न तो वे बाहर निकल सकते थे और न ही भीतर जा सकते थे। इस रस्साकशी में उनका सारा शरीर छिलकर लहूलुहान हो गया। संन्यासी को ब्रह्मचर्य की दुष्करता समझ में आ गई।

## १९. धन (धण)

धन में चल और अचल—दोनों प्रकार की सम्पत्ति का समावेश होता है। विनिमय रूप में मुद्रा के द्वारा जो लेन-देन किया जाता है वह चल सम्पत्ति कहलाती है। भूमि, मकान, खेत, पशु आदि को अचल सम्पत्ति कहा जाता है। मनुष्य में धन की असीम लालसा होती है। उसे संतोष के बिना सीमित नहीं किया जा सकता। "जहा लाहो तहा लोहो" का सूत्र सर्वथा सत्य है।[1] एक कवि ने लिखा है—

***"गोधन गजधन वाजिधन और रतनधन खान।***
***जब आवै संतोषधन सब धन धूलि समान।।"***

## २०. परिग्रहण (परिग्गह)

यहां परिग्गह का अर्थ है परिग्रहण—अपने स्वामित्व में रखना। स्थानांग में परिग्रह के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—शरीर, कर्म-पुद्गल और भण्डोपकरण।[2]

प्रस्तुत श्लोक में अपरिग्रह के तीन रूप प्राप्त हैं—१. धन-धान्य आदि का असंग्रह २. आरम्भ का परित्याग ३. निर्ममत्व। परिग्रह की व्याख्या ममत्व—मूर्छा तथा ममत्व के हेतुभूत पदार्थ—इन दोनों के आधार पर की गई है। दशवैकालिक और तत्त्वार्थसूत्र में वह केवल ममत्व के आधार पर भी की गई है।[3]

## २१. ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन (ताडणा, तज्जणा, वह, बंध)

ताड़ना, तर्जना, वध और बन्धन—ये चारों परीषह हैं—प्रहार और तिरस्कार से उत्पन्न कष्ट हैं—

(१) ताड़ना—हाथ आदि से मारना।[4]
(२) तर्जना—तर्जनी अंगुली दिखा कर या भौंहे चढ़ा कर तिरस्कार करना या डांटना।[5]
(३) वध—लकड़ी आदि से प्रहार करना।[6]
(४) बन्धन—मयूर-बन्ध आदि से बांधना।[7]

## २२. यह जो कापोतीवृत्ति (कावोया जा इमा वित्ती)

वृत्तिकार ने कापोतीवृत्ति का अर्थ किया है—कबूतर की तरह आजीविका का निर्वहण करने वाला। जिस प्रकार कापोत धान्यकण (टीकाकार ने यहां कीट का भी उल्लेख किया है, परन्तु कबूतर कीट नहीं चुगते) आदि को चुगते समय नित्य सशंक रहता है, उसी प्रकार भिक्षाचर्या में प्रवृत्त मुनि एषणा आदि दोषों के प्रति सशंक होता है।[8]

भिक्षु स्वयं भोजन नहीं पकाता। वह गृहस्थ के द्वारा स्वयं के लिए बनाए हुए भोजन में से उसका कुछ अंश लेकर अपनी आजीविका चलाता है। जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य में भिक्षुओं के भिक्षा का नामकरण पशु-पक्षियों के नामों के आधार पर किए गए हैं। जैसे—माधुकरीवृत्ति, कापोतीवृत्ति, अजगरीवृत्ति आदि।

---

१. उत्तरज्झयणाणि : ८।१७।
२. ठाणं : ३।५५।
३. (क) दसवेआलियं : ६।२० : मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।
   (ख) तत्त्वार्थसूत्रः ७।१२ : मूर्च्छा—परिग्रहः।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६ : 'ताडना' करादिभिराहननम्।
५. वही, पत्र ४५६ : तर्जना अंगुलिभ्रमणभ्रूक्षेपादिरूपा।
६. वही, पत्र ४५६ : वधश्च—लकुटादिप्रहारः।
७. वही, पत्र ४५६ : बंधश्च—मयूरबन्धादिः।
८. वही, पत्र ४५६, ४५७ : कपोताः—पक्षिविशेषास्तेषामियं कापोती येयं वृत्तिः—निर्वहणोपायः, यथा हि ते नित्यशंकिताः कणकीटकादिग्रहणे प्रवर्तन्ते, एवं भिक्षुरप्येषणादोषशंक्येव भिक्षादौ प्रवर्तते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाभारत में ब्राह्मण के लिए कापोतीवृत्ति का उल्लेख मिलता है—

*'कुम्भधान्यैरुञ्छशिलैः, कापोतीं चास्थितास्तथा।*
*यस्मिंश्चैते वसन्त्यर्हास्तद् राष्ट्रमभिवर्षते।।'*

कुंडे भर अनाज का संग्रह करके अथवा उञ्छशिल के द्वारा अनाज का संग्रह करके 'कापोती' वृति का आश्रय लेने वाले पूजनीय ब्राह्मण जिस देश में निवास करते हैं उस राष्ट्र की वृद्धि होती है।[1]

गृहस्थ के लिए भी चार वृत्तियों का उल्लेख है। उनमें कापोती चौथी वृत्ति है[2]—

१. कोठे भर अनाज का संगह करना पहली वृत्ति है।
२. कुंडे भर अनाज का संग्रह करना दूसरी वृत्ति है।
३. उतने अन्न का संग्रह करना, जो अगले दिन के लिए शेष न रहे, तीसरी वृत्ति है।
४. कापोतीवृत्ति का आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करना चौथी वृत्ति है।

कापोतीवृत्ति को उञ्छवृत्ति भी कहा गया है।

## २३. दारुण केश-लोच (केसलोओ य दारुणो)

केशलोच—हाथ से नोच कर बालों को उखाड़ना सचमुच बहुत दारुण होता है। लोच क्यों किया जाए? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका तर्क-संगत समाधान देना सम्भवतः कठिन है। यह एक परंपरा है। इसका प्रचलन क्यों हुआ? इसका समाधान प्राचीन साहित्य में ढूंढना चाहिए।

कल्पसूत्र में कहा गया है कि संवत्सरी के पूर्व लोच अवश्य करना चाहिए। उसकी व्याख्या में लोच करने के कुछ हेतु बतलाए गए हैं—

(१) केश होने पर अप्काय के जीवों की हिंसा होती है।
(२) भींगने से जूंएं उत्पन्न होती हैं।
(३) खुजलाता हुआ मुनि उनका हनन कर देता है।
(४) खुजलाने से सिर में नख-क्षत हो जाते हैं।
(५) यदि कोई मुनि क्षुर (उस्तरे) या कैंची से बालों को काटता है तो उसे आज्ञा-भंग का दोष होता है।
(६) ऐसा करने से संयम और आत्मा (शरीर)—दोनों की विराधना होती है।
(७) जूंएं मर जाती हैं।
(८) नाई अपने क्षुर या कैंची को सचित्त जल से धोता है। इसलिए पश्चात्-कर्म दोष होता है।
(९) जैन शासन की अवहेलना होती है।

इन हेतुओं को ध्यान में रखते हुए मुनि केशों को हाथ से ही नोंच डाले, यही उसके लिए अच्छा है। इस लोच-विधि में आपवादिक विधि का भी उल्लेख है।[3]

दिगम्बर-साहित्य में इसके कुछ और हेतु भी बतलाए गए हैं—[4]

(१) राग आदि का निराकरण करने,
(२) अपने पौरुष को प्रगट करने,
(३) सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण और
(४) लिंग आदि के गुण का ज्ञापन करने के लिए।

राग आदि के निराकरण से इसका सम्बन्ध है—यह अन्वेषण का विषय है। शासन की अवहेलना का प्रश्न सामयिक है। जीवों की उत्पत्ति न हो तथा उनकी विराधना न हो—इसकी सावधानी बरती जा सकती है। इन हेतुओं से लोच की अनिवार्यता सिद्ध करना कठिन कार्य है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह कष्ट-सहिष्णुता की बहुत बड़ी कसौटी है। इन हेतुओं को जानने के बाद भी हमें यही मानना पड़ता है कि यह बहुत पुरानी परम्परा है।

दशवैकालिक वृत्ति और मूलाराधना में भी लगभग पूर्वोक्त जैसा ही विवरण मिलता है।

कायक्लेश संसार-विरक्ति का हेतु है। वीरासन, उकडू आसन, लोच आदि उसके मुख्य प्रकार हैं। (१) निर्लेपता, (२) पश्चात्कर्म-वर्जन, (३) पुरःकर्म-वर्जन और (४) कष्ट-सहिष्णुता—ये लोच से प्राप्त होने वाले गुण हैं।[5]

केशों को संसाधित न करने से उनमें जूं, लीख आदि उत्पन्न होते हैं। वहां से उनको हटाना दुष्कर होता है। सोते समय अन्यान्य वस्तुओं से संघट्टन होने के कारण उन जूं-लीखों को पीड़ा हो सकती है। अन्य स्थल से कीटादिक जन्तु भी वहां उनको खाने आते हैं, वे भी दुष्प्रतिहार्य हैं।

लोच से मुण्डत्व, मुण्डत्व से निर्विकारता और निर्विकारता से रत्नत्रयी में प्रबल पराक्रम फोड़ा जा सकता है।

लोच से आत्म-दमन होता है; सुख में आसक्ति नहीं

---

१. महाभारतः शांतिपर्व २४३।२४।
२. महाभारतः शांतिपर्व २४३।२,३।
३. सुबोधिका, पत्र १६०-१६१ : केशेषु हि अप्कायविराधना, तत्संसर्गाच्च यूकाः समूर्च्छन्ति, ताश्च कण्डूयमानो हन्ति शिरसि नखक्षत वा स्यात्, यदि क्षुरेण मुण्डापयति कर्त्तयां वा तदाऽऽज्ञाभंगाद्याः दोषाः संयमात्म-विराधना, यूकाश्छिद्यन्ते नापितश्च पश्चात्कर्म करोति शासनापभ्राजना च, ततो लोच एव श्रेयान्।
४. मूलाचार टीका, पृ० ३७० : जीवसम्मूर्च्छनादिपरिहारार्थं, रागादिनिराकरणार्थं, स्ववीर्यप्रकटनार्थं, सर्वोत्कृष्टतपश्चरणार्थं, लिंगादिगुणज्ञापनार्थं चेति।
५. दशवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र २८-२९ :
वीरासण उक्कुडुगासणाइ लोआइओ य विण्णेओ।
कायकिलेसो संसारवासनिव्वेअहेउन्ति।।
वीरासणाइसु गुणा कायनिरोहो दया अ जीवेसु।
परलोअमई अ तहा बहुमाणो चेव अन्नेसिं।।
णिस्संगया य पच्छापुरकम्मविवज्जणं च लोअगुणा।
दुक्खसहत्तं नरगादिभावणाए य निव्वेओ।।
तथाऽन्यैरप्युक्तम्-
पश्चात्कर्म पुरःकर्मेर्यापथपरिग्रहः।
दोषा ह्येते परित्यक्ताः, शिरोलोचं प्रकुर्वता।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती; स्वाधीनता रहती है (लोच न करने वाला मस्तक को धोने, सुखाने, तेल लगाने में काल व्यतीत करता है, स्वाध्याय आदि में स्वतंत्र नहीं रहता); निर्दोषता की वृद्धि होती है और शरीर से ममत्व हट जाता है। लोच से धर्म के प्रति श्रद्धा होती है, यह उग्र तप है, कष्ट-सहन का उत्कृष्ट उदाहरण है।[1]

## २४. (धारेउं अ महप्पणो)

यहां अ और महप्पणो को पृथक् मानकर अनुवाद किया गया है। इन्हें संयुक्त मानकर भी अनुवाद किया जा सकता है—धोर ब्रह्मचर्य को धारण करना अमहात्माओं के लिए दुष्कर है।

## २५. (सुमज्जिओ)

सुमज्जित का अर्थ है—अच्छी तरह से स्नान किया हुआ। वृत्तिकार ने इसे सौकुमार्य का हेतु बतलाया है।[2] सुमज्जिअ का दूसरा संस्कृत रूप सुमार्जित भी हो सकता है। 'मृजूक् शुद्धौ' से सुमज्जित और 'मृजूषा शौचालंकारयोः' से सुमार्जित रूप निष्पन्न होता है।

## २६. (आगासे गंगसोउव्व)

आकाशगंगा का अर्थ नीहारिका है, ऐसी संभावना की जा सकती है।

## २७. सांप जैसे एकाग्रदृष्टि से (अहीवेगंतदिट्ठीए)

सर्प अपने लक्ष्य पर अत्यन्त निश्चल दृष्टि रखता है, यही कारण है कि उसके द्वारा देखे जाने वाले पदार्थ का उसमें स्थिर प्रतिबिम्ब पड़ता है। उसकी आंखों की रचना ऐसी है कि वह प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लम्बे समय तक उसको अवस्थित रख सकती है। तथा आवश्यकता होने पर उसको पुनः प्रतिबिम्बित कर सकती है, प्रस्तुत कर सकती है। वह प्रतिबिम्ब लम्बे समय तक अमिट रहता है। यही कारण है कि सर्प को मारने वाले हत्यारे का सर्प की आंख में प्रतिबिम्ब अवस्थित हो जाता है। उसी के आधार पर उसका साथी सर्प या सर्पिणी उस हत्यारे का वर्षों तक पीछा कर उसे मार देती है।

आगमों में मुनि के लिए 'अहीव एगंतदिट्ठी'—सांप की भांति एकांतदृष्टि—यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[3] इसका तात्पर्य है कि जैसे सांप लक्ष्य पर ही दृष्टि रखता है, वैसे ही मुनि अपने लक्ष्य—मोक्ष को ही दृष्टि में रखे। जिस मुनि में यह निष्ठा होती है, वह एकांतदृष्टि कहलाता है।

## २८. प्रज्वलित अग्निशिखा को (अग्गिसिहा दित्ता)

इस श्लोक के प्रथम चरण में 'अग्गिसिहा' और 'दित्ता' में द्वितीया के स्थान में प्रथमा विभक्ति है। दूसरे चरण में 'सुदुक्करं' में लिंग-व्यत्यय मान सुदुष्करा किया जाए और 'करोति' धातु सर्व-धात्वर्थवाची होता है, अतः उसे शक्ति के अर्थ में माना जाए तो अग्निशिखा को प्रथमा विभक्ति मान कर भी व्याख्या की जा सकती है।[4]

## २९. वस्त्र के थैले का (कोत्थलो)

हिन्दी में इसे थैला और राजस्थानी में 'कोथला' कहते हैं।

टीकाकार का संकेत है कि यहां वस्त्र, कम्बल आदि का 'थैला' ही ग्राह्य है, क्योंकि वही हवा से नहीं भरा जाता। चर्म आदि का थैला तो भरा जा सकता है।[5]

## ३०. (तं बिंतऽम्मापियरो)

**बिंत**—यह ब्रूते के स्थान पर आर्ष प्रयोग है। बृहद्वृत्ति में 'तं बिंतऽम्मापियरो'—इस पाठ के बिंत पद को अम्मापियरो का विशेषण माना गया है और कर्त्ता का अध्याहार किया गया है। इसके दो पाठांतर उपलब्ध हैं—'सो बेअम्मापियरो' में कर्त्ता और क्रिया का एकवचन प्राप्त है। 'तो बेंतऽम्मापियरो'—इस पाठ में वचनव्यत्यय के आधार पर बिंत का प्रयोग ब्रूते के अर्थ में बतलाया गया है।[6]

## ३१. चार अन्त वाले (चाउरंते)

संसार-रूपी कांतार के चार अन्त होते हैं—(१) नरक, (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य और (४) देव। इसलिए उसे 'चाउरंत' कहा जाता है।[7]

---

१. मूलाराधना, आश्वास २।८८-९२ :
केसा संसज्जंति हु णिप्पडिकारस्स दुपरिहारा य।
सयणादिमु ते जीवा दिट्ठा आगंतुया य तहा।।
जूगाहिं य लिक्खाहिं य बाधिज्जंतस्स संकिलेसो य।
संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो।।
लोचकदे मुण्डत्ते मुण्डत्ते होइ णिब्वियारत्तं।
तो णिव्वियारकरणो पग्गहिददरंपरक्कमदि।।
अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि।
सीधाणदा य णिद्दोसदा य देहे य णिम्ममदा।।
आणक्खिदा य लोचेण अप्पणो होदि धम्मसड्ढा च।
उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च।।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५७ : सुमज्जितः सुष्ठु स्नपितः, सकलनेपथ्योपलक्षणं चैतत्, इह च सुमज्जितत्वं सुकुमारत्वे हेतुः।

३. (क) अंतगडदसाओ ३।७२ : अहीव एगंतदिट्ठीए।
(ख) पण्हावागरणाई १०।११ : जहा अही चेव एगदिट्ठी।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५७ : 'अग्निशिखा' अग्निज्वाला दीप्तेत्युज्ज्वला ज्वालाकराला वा, द्वितीयार्थे चात्र प्रथमा, ततो यथाऽग्निशिखां दीप्तां पातुं सुदुष्करं, नृभिरिति गम्यते, यदि वा लिंगव्यत्ययात् सर्वधात्वर्थत्वाच्च करोतेः 'सुदुष्करा' सुदुःशका यथाऽग्निशिखा दीप्ता पातुं भवतीति योगः, एवमुत्तरत्रापि भावना।

५. वही, पत्र ४५७ : कोत्थल इह वस्त्रकम्बलादिमयो गृह्यते, चर्ममयो हि सुखेनैव ध्मायेतेति।

६. वही, पत्र ४५९ : 'तद्' अनन्तरोक्तं 'बिंति' 'ब्रुवन्तौ' अभिदधती अम्बापितरौ, प्रक्रमान्मृगापुत्र आह, यथा एवमित्यादि, पठ्यते च—'सो बेअम्मापियरो !' त्ति स्पष्टमेव नवरमिह अम्बापितरावित्यामन्त्रणपदं, पठन्ति च—'तो बेंतऽम्मापियरो' त्ति 'बिंति' त्ति वचनव्यत्ययात्ततो ब्रूते अम्बापितरौ मृगापुत्र इति प्रक्रमः।

७. वही, पत्र ४५९ : चत्वारो—देवादिभवा अन्ता—अवयवा यस्यासौ चतुरन्तः—संसारः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ३२. (श्लोक ४७—७३)

इन श्लोकों में नारकीय वेदनाओं का चित्र खींचा गया है। पहले तीन नरकों में परमाधार्मिक देवताओं द्वारा पीड़ा पहुंचाई जाती है और अन्तिम चार में नारकीय जीव स्वयं परस्पर वेदना की उदीरणा करते हैं। परमाधार्मिक देव १५ प्रकार के हैं। उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं—

| नाम | कार्य |
|---|---|
| (१) अंब | हनन करना, ऊपर से नीचे गिराना, बींधना आदि-आदि। |
| (२) अंबर्षि | काटना आदि-आदि। |
| (३) श्याम | फेंकना, पटकना, बींधना आदि-आदि। |
| (४) शबल | आंते, फेफड़े, कलेजा आदि निकालना। |
| (५) रुद्र | तलवार, भाला आदि से मारना, शूली में पिरोना आदि-आदि। |
| (६) उपरुद्र | अंग-उपांगों को काटना आदि-आदि। |
| (७) काल | विविध पात्रों में पचाना। |
| (८) महाकाल | शरीर के विविध स्थानों से मांस निकालना। |
| (९) असिपत्र | हाथ, पैर आदि को काटना। |
| (१०) धनु | कर्ण, ओष्ठ, दांत को काटना। |
| (११) कुम्भ | विविध कुम्भियों में पचाना। |
| (१२) बालुक | भूनना आदि-आदि। |
| (१३) वैतरणि | वशा, लोही आदि की नदी में डालना। |
| (१४) खरस्वर | करवत, परशु आदि से काटना। |
| (१५) महाघोष | भयभीत होकर दौड़ने वाले नैरयिकों का अवरोध करना। |

परमाधार्मिक देवों के ये कार्य इस अध्ययन में वर्णित हैं किन्तु यहां परमाधार्मिकों के नाम उल्लिखित नहीं हैं। विशेष वर्णन के लिए देखें—समवायांग, समवाय १५, वृत्ति पत्र २८; गच्छाचार, पत्र ६४-६५।

### ३३. पकाने के पात्र में (कंदुकुंभीसु)

'कंदुकुंभीसु'—कंदु का अर्थ है—भट्ठा (भाड़)। कुम्भी का अर्थ है—छोटा घड़ा। कंदु—कुम्भी ऐसे पाक-पात्र का नाम है, जो नीचे से चौड़ा और ऊपर से संकरे मुंह वाला हो।

बृहद्वृत्ति में इसका अर्थ लोह आदि धातु से बना हुआ पाक-पात्र किया है।[1] सूत्रकृतांग के चूर्णिकार ने कुम्भी के दो अर्थ किए हैं—१. कुम्भ से बड़ा बर्तन, २. उष्ट्रिका—ऊंट के आकार का बड़ा बर्तन।[2]

### ३४. जलती हुई अग्नि में (हुयासणे)

अग्निकायिक जीव दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और बादर। अग्नि के बादर जीव नरक में नहीं होते।[3] यहां जो अग्नि का उल्लेख है, वह सजीव अग्नि के लिए नहीं किन्तु अग्नि जैसे तापवान् और प्रकाशवान् पुद्गलों के लिए है।[4]

### ३५. वज्रबालुका जैसी कदम्ब नदी की बालू में (वइरवालुए, कलम्बवालुयाए)

नरक में वज्रबालुका तथा कदम्बबालुका नाम की नदियां हैं। इन नदियों की 'चर' को भी 'वज्रबालुका' व 'कदम्बबालुका' कहा गया है।[5]

### ३६. (श्लोक ५०—५१)

तुलना के लिए देखें—सूयगडो : १।५।३४, ३५।

### ३७. शाल्मलि वृक्ष पर (सिंबलिपायवे)

इसके लिए 'कूट शाल्मलि' शब्द का भी प्रयोग होता है। देखिए—उत्तरज्झयणाणि, २०।३६। इसका अर्थ है—सेमल का वृक्ष। इसकी त्वचा पर अगणित कांटे होते हैं।

### ३८. (कोलसुणएहिं, पाडिओ, फालिओ, छिन्नो)

**कोलसुणएहिं**—कोलशुनक का अर्थ 'सूअर' किया गया है।[6] कोल का अर्थ भी 'सूअर है।' इसलिए शुनक का अर्थ 'कुत्ता' किया जा सकता है।

**पाडिओ**—पातित। इसका अर्थ है—ऊपर से नीचे गिराना।

**फालिओ**—फाटित। इसका अर्थ है—वस्त्र की तरह फाड़ना।

**छिन्नो**—छिन्न। इसका अर्थ है—वृक्ष की तरह दो डाल करना।[7]

### ३९. (असीहि, भल्लीहिं, पट्टिसेहि)

**असीहि**—तलवारें तीन प्रकार की होती हैं—असि, खड्ग और ऋष्टि। असि लम्बी, खड्ग छोटी और ऋष्टि दुधारी तलवार को कहा जाता है।

**भल्लीहिं**—भल्ली (बर्छी)। एक प्रकार का भाला।

**पट्टिसेहि**—पट्टिस के पर्यायवाची नाम तीन हैं—खुरोपम, लोहदण्ड और तीक्ष्णधार।[8] इनसे उसकी आकृति की जानकारी मिलती है। उसकी नोकें खुरपा की नोकों के समान तीक्ष्ण होती हैं, यह लोहदण्ड होता है और इसकी धार तीखी होती है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६ : कंदुकुम्भीषु—पाकभाजनविशेषरूपासु लोहादिमयीषु।

२. सूत्रकृतांग १।५।२४ चूर्णि पृ० १३३ : कुंभी महंता कुम्भप्रमाणाधिकप्रमाणः कुम्भी भवति, अथवा कुंभी उट्टिगा।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६ : तत्र च बादराग्नेरभावात् पृथिव्या एव तथाविधः स्पर्श इति गम्यते।

४. वही, पत्र ४५६ : अग्नौ देवमायाकृते।

५. वही, पत्र ४५६ : वज्रवालुकानदीसम्बन्धिपुलिनमपि वज्रवालुका तत्र यद्वा वज्रवद्वालुका यस्मिंस्त (स्मिन् स त) था तस्मिन्नरकप्रदेश इति गम्यते, 'कदम्बवालुकायां च' तथैव कदम्बवालुकानदीपुलिने च महादवाग्निसदृकाश इति योज्यत।

६. वही, पत्र ४६० : 'कोलसुणएहिं' ति सूकरस्वरूपधारिभिः।

७. वही, पत्र ४६० : 'पातितो' भुवि, 'फाटितो' जीर्णवस्त्रवत्, 'छिन्नो' वृक्षवदुभयदंष्ट्राभिरिति गम्यते।

८. शेषनाममाला, श्लोक १४८-१४९ :
...पट्टिसस्तु खुरोपमः।
लोहदण्डस्तीक्ष्णधार...॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ४०. चाबुक और रस्सी के द्वारा (तोत्तजुत्तेहिं)

वृत्तिकार ने तोत्र का अर्थ चाबुक और योक्त्र का अर्थ एक प्रकार का बन्धन किया है।[1]

सूत्रकृतांग (१।५।३०) में 'आरुस्स विज्झंति तुदेण पुट्ठे' पाठ है। इस संदर्भ में 'तुद' का अर्थ है—पशुओं को हांकने का वह साधन, जिसमें नुकीली कील डाली हुई होती है और जो समय-समय पर पशुओं के गुह्य-प्रदेश में चुभाई जाती है, जिससे कि वे पशु गति पकड़ सके।

'तुद' और 'तोत्र' दोनों एकार्थक होने चाहिए।

### ४१. रोझ (रोज्झो)

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—हरिण की एक जाति।[2] संस्कृत में इसका तत्सम अर्थ है—ऋष्यः। टीकाकार ने पशु विशेष कह कर छोड़ दिया है।[3]

### ४२. पाप-कर्मों से घिरा हुआ (पाविओ)

इसके संस्कृत रूप तीन बनते हैं—१. प्रावृतः—घिरा हुआ, २. पापिकः—पापी, ३. प्रापितः—प्राप्त कराया हुआ।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ पापिक किया है।[4] प्रस्तुत प्रसंग में प्रावृतः—घिरा हुआ—यह अर्थ संगत लगता है।

### ४३. भांति (विव)

यह 'इव' अर्थ में अव्यय है। पिव, मिव, विव और वा—ये चारों अव्यय 'इव' अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।[5]

### ४४. कौवा (ढंक)

ढंक का अर्थ है—कौवा। राजस्थानी में इसे 'ढीकड़ा' (बड़ा काग) कहते हैं।[6] नरकों में तिर्यञ्च गति के जीव नहीं होते। वहां पशु-पक्षियों का अवकाश नहीं होता। देवता पशु-पक्षियों का वैक्रिय रूप बनाकर नारकों को संताप देते हैं।

### ४५. पक्षियों के (पक्खिहिं)

नरक में तिर्यंच नहीं होते। यहां जो पक्षियों का उल्लेख है, वह देवताओं द्वारा किए गए वैक्रिय रूप का है।[7]

### ४६. छुरे की धार से (खुरधाराहिं)

इसका शाब्दिक अर्थ है—छुरे की धार की तरह तीक्ष्ण। प्रस्तुत प्रसंग में इसका तात्पर्यार्थ है कि वैतरणी नदी की जल-तरंगें छुरे की तरह तेज धार वाली होती हैं।[8]

### ४७. मुसुण्डियों से (मुसंढीहिं)

यह लकड़ी की बनती थी। इसमें गोल लोहे के कांटे जड़े रहते थे।[9]

### ४८. लोहार के द्वारा (कम्मारेहिं)

जीवाजीवाभिगम आगम में लोहकार के अर्थ में 'कम्मार' शब्द का प्रयोग मिलता है।[10] बृहद्वृत्ति में 'कुमारेहिं' पाठ मान कर उसका अर्थ लोहकार किया है।[11] 'कुमारेहिं' यह अपपाठ प्रतीत होता है। इसके स्थान पर 'कम्मारेहिं' पाठ होना चाहिए।

### ४९. (तिव्वचंडप्पगाढाओ घोराओ)

इसमें तीव्र, चण्ड, प्रगाढ़ और घोर—ये चार समालोच्य शब्द हैं। नारकीय-वेदना को रस-विपाक की दृष्टि से तीव्र कहा गया है। चण्ड का अर्थ है—उत्कट। दीर्घकालीनता की दृष्टि से उसे प्रगाढ़ कहा गया है। घोर का अर्थ है—रौद्र।[12]

### ५०. (श्लोक ७४)

प्रस्तुत श्लोक में मृगापुत्र का अर्थवादपरक वक्तव्य है। अर्थवाद के प्रसंग में किसी विषय पर बल देने के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण कथन भी किया जा सकता है। इस वक्तव्य में दुःख की इतनी प्रचुरता बतला दी कि उसमें सुख के लिए कहीं अवकाश भी नहीं है।

### ५१. रोगों की चिकित्सा नहीं की जाती (निप्पडिकम्मया)

निष्प्रतिकर्मता काय-क्लेश नामक तप का एक प्रकार है।[13] दशवैकालिक (३।४) में चिकित्सा को अनाचार कहा है। उत्तराध्ययन (२।३१, ३३) में कहा गया है—भिक्षु चिकित्सा का अभिनन्दन न करे तथा जो चिकित्सा का परित्याग करता है, वह भिक्षु है (१५।८)। यहां निष्प्रतिकर्मता का जो संवाद है, वह उक्त तथ्यों का समर्थन करता है। निर्ग्रन्थ परम्परा में निष्प्रतिकर्मता (चिकित्सा न कराने) का विधान रहा है किन्तु, सम्भवतः यह विशिष्ट अभिग्रहधारी निर्ग्रन्थों के लिए रहा है।

देखें—दसवेआलियं ३।४ का टिप्पण।

### ५२. हरिण (मिय.....)

मृग का अर्थ हरिण भी है और पशु भी। यहां दोनों अर्थ घटित हो सकते हैं।

विस्तार के लिए देखें—उत्तरज्झयणाणि १।५ का टिप्पण।

### ५३. (श्लोक ७६—८३)

७६वें श्लोक में 'मियपक्खिणं' पाठ आया है। आगे के श्लोकों में केवल 'मृग' का ही बार-बार उल्लेख हुआ है। यह क्यों? इसके समाधान में टीकाकार ने बताया है कि मृग प्रायः

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० : तोत्रयोक्त्रैः—प्राजनकबन्धनविशेषैः।
२. देशीनाममाला, ७।१२।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० : 'रोज्झाः' पशुविशेषः।
४. वही, पत्र ४६० : 'पाविओ' त्ति पापमस्यास्तीति भूम्नि मत्वर्थीयष्ठक् पापिकः।
५. वही, पत्र ४६०।
६. द्रष्टव्य सूयगडो : १।१।६१। का टिप्पण।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० : ऐते च वैक्रिया एव, तत्र तिरश्चामभावात्।
८. वही, पत्र ४६० : 'खुरधाराहिन्ति क्षुरधाराभिरतिच्छेदकतया वैतरणीजलोर्म्मिभिरिति शेषः।
९. शेषनाममाला, श्लोक १५१ : मुसुण्ढी स्याद् दारूमयी, वृत्तायकीलसंचिता।
१०. जीवाजीवाभिगम ३।११९-११६.....कम्मारदारए सिता।
वृत्ति पत्र १२१ : कम्मारदारकः लोहकारदारकः।
११. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६१ : कुमारैः—अयस्कारैः।
१२. वही, पत्र ४६१ : तीव्रा अनुभागतोऽत एव चण्डाः—उत्कटाः प्रगाढाः—गुरुस्थितिकास्तत एव 'घोराः' रौद्राः।
१३. ओवाइयं, सूत्र ३६ : सव्वगायपरिकम्मविभूसविप्पमुक्के।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशम-प्रधान होते हैं। इसलिए बार-बार उन्हीं के उदाहरण से विषय को समझाया गया है।[1]

## ५४. महावन में (महारण्णम्मि)

टीकाकार का कथन है कि यहां 'महा' शब्द विशेष प्रयोजन से ही लिया गया है। साधारण अरण्य में लोगों का आवागमन रहता है। वहां कोई कृपालु व्यक्ति किसी पशु को पीड़ित देख उसकी चिकित्सा कर देता है। जैसे किसी वैद्य ने अरण्य में एक व्याघ्र की आंखों की चिकित्सा की थी। महारण्य में आवागमन न होने से पशुओं की चिकित्सा का प्रसंग ही नहीं आता।[2]

## ५५. देता है (पणामए)

अर्प् धातु को प्राकृत में प्रणाम आदेश होता है।[3] इसका अर्थ है—देना।

## ५६. लता निकुञ्जों (वल्लराणि)

यह देश्य शब्द है। इसके सात अर्थ हैं—अरण्य, महिष, क्षेत्र, युवा, समीर, निर्जल-देश और वन।[4]

टीकाकार ने इसके चार अर्थों का निर्देश किया है—अरण्य, निर्जल-देश, वन और क्षेत्र।[5] यहां वल्लर का अर्थ—गहन (लता-निकुञ्ज) होना चाहिए।

## ५७. मृगचर्या (मिगचारियं)

प्रस्तुत अध्ययन में 'मिगचारियं या मियचारियं' शब्द पांच बार आया है—श्लोक ८१, ८२, ८४ और ८५ में। शान्त्याचार्य ने 'मिगचारिया' के संस्कृत रूप दो दिए हैं[6]—

१. मृगचर्या—हिरणों की इधर-उधर उत्प्लवन की चर्या।
२. मितचारिता—परिमित भक्षणरूप चर्या। हिरण स्वभावतः मिताहारी होते हैं।

'चर्या' का प्राकृत रूप 'चरिया' बनता है, इसलिए 'चारिया' का संस्कृत रूप 'चारिका' या 'चारिता'—दोनों हो सकते हैं। अर्थ-संगति की दृष्टि से 'मितचारिता' की अपेक्षा 'मृगचारिका' अधिक उपयुक्त है।

प्रस्तुत श्लोक (८१) में 'मिगचारियं' शब्द दो बार प्रयुक्त है। दोनों के अर्थ भिन्न हैं-

**१. मिगचारियं चरित्ताणं**—यहां मृगचारिका का अर्थ है—मृगों की भांति इधर-उधर कूदते हुए भ्रमण करना। यह मृगों के चलने का प्रकार है। वृत्तिकार ने विकल्प में इसका संस्कृत रूप 'मितचारितां' देकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है—मृग स्वभावतः परिमितभोजी होते हैं। उनकी परिमित भक्षण की चर्या 'मितचारिता' कहलाती है।

**२. गच्छई मिगचारियं**—यहां मृगचारिका का अर्थ है—मृगों की आश्रयभूमी जहां मृग स्वतंत्र रूप से ऊट-बैठ सकते हैं। तात्पर्य में यह स्वतंत्र विहार की भूमि है।

## ५८. स्वतंत्र विहार (अणेगमो)

जैसे मृग एक वृक्ष से प्रतिबद्ध होकर नहीं रहता, किन्तु अनेक स्थानों पर विचरता है, वैसे ही मुनि भी अनेकगामी होता है। वह किसी एक स्थान से प्रतिबद्ध नहीं रहता, अनियत विहार करता रहता है।[7]

## ५९. गोचर से ही जीवन-यापन करने वाला (धुवगोयरे)

यहां ध्रुव का अर्थ है—सदा और गोचर का अर्थ है—वन की वह भूमी जहां पशुओं को चरने के लिए घास और पीने के लिए पानी उपलब्ध हो जाता है। अरण्य पशु इसी गोचर से अपना जीवन-यापन करते हैं।

## ६०. उपधि (उवहिं)

उपधि का अर्थ है—उपकरण—आभरणादि। मृगापुत्र को माता-पिता के द्वारा प्रव्रजित होने की अनुमति मिल गई। उस समय उसने उपधि को त्यागने का संकल्प किया।

वृत्तिकार ने उपधि के दो प्रकार बतलाये हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य उपधि का अर्थ है—उपकरण और भाव उपधि का अर्थ है—छद्म या कपट। प्रव्रजित होने के लिए इन दोनों का त्याग आवश्यक है।[8]

## ६१. (श्लोक ९१)

प्रस्तुत श्लोक के कुछ शब्दों का विमर्श इस प्रकार है—

१. गारव—गौरव का अर्थ है—अभिमान से उत्तप्त चित्त की अवस्था। वह तीन प्रकार का है[9]—

- ऋद्धि गौरव—ऐश्वर्य का अभिमान।
- रस गौरव—इष्ट वस्तु की प्राप्ति का अभिमान।
- सात गौरव—सुख-सुविधाओं का अभिमान।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६३ : इह च मृगपक्षिणामुभयेषामुपक्षेपे यन्मृगस्यैव पुनः पुनर्दृष्टान्तत्वेन समर्थनं तत्तस्य प्रायः प्रशमप्रधानत्वादिति सम्प्रदायः।

२. वही, पत्र ४६२ : 'महारण्य' इति महाग्रहणममहति ह्यरण्येऽपि कश्चित्कदाचित्पश्येत् दृष्ट्वा च कृपातश्चिकित्सेदपि, श्रूयते हि केनचिद् भिषजा व्याघ्रस्य चक्षुरुद्घाटितमटव्यामिति।

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२ : 'प्रणामयेत्' अर्पयेत्, 'अर्पेः पणाम' इति वचनात्।
(ख) तुलसीमंजरी: सूत्र ८८४ : अर्पेरल्लिव—वच्चुप्पपणामाः।

४. देशीनाममाला, ७।८६ : वल्लरमरण्णमहिसक्खेत्तजुवसमीरणिज्जलवणेसु।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२ : उक्तं च—"गहणमवाणियदेसं रण्णे छेत्तं च वल्लरं जाण।"

६. वही, पत्र ४६२-४६३ : मृगाणां चर्या—इतश्चेतश्चोत्प्लवनात्मकं चरणं मृगचर्या तां, 'मितचारितां' वा परिमितभक्षणात्मिकां 'चरित्वा' आसेव्य परिमिताहार एव हि स्वरूपेणैव मृगा भवन्ति।....मृगाणां चर्या-चेष्टा स्वातन्त्र्योपदेशनादिका यस्यां सा मृगचर्यामृगा—श्रयभूरस्ताम्।

७. वही, पत्र ४६३ : 'अणेगय' त्ति अनेकगो यथा ह्यसौ वृक्षमूले नैकस्मिन्नेवास्ते किन्तु कदाचित्क्वचिदेवमेषोऽप्यनियतस्थानस्थतया।

८. वही, पत्र ४६३ : जहाति—त्यजति उपधिम्—उपकरणभाजरणादि द्रव्यतो भावतस्तु छद्मादि येनात्मा नरक उपधीयते, ततश्च प्रव्रजतीत्युक्तं भवति।

९. ठाणं ३।५०५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. दंड—दंड का अर्थ है—दुष्प्रणिधान। इसके तीन प्रकार हैं—

- मनोदंड—मन का दुष्प्रणिधान।
- वचोदंड—वचन की दुष्प्रयुक्तता।
- कायदंड—शारीरिक दुष्प्रवृत्ति।

३. शल्य—शल्य का अर्थ है—अन्तर में घुसा हुआ दोष। इसके तीन प्रकार हैं—

- मायाशल्य—मायापूर्ण आचरण।
- निदानशल्य—ऐहिक और पारलौकिक उपलब्धि के लिए धर्म का विनिमय।
- मिथ्यादर्शनशल्य—आत्मा का मिथ्यात्वमय दृष्टिकोण।

(दंड और शल्य के विशेष विवरण के लिए देखें-३१।४ का टिप्पण)

४. भय—इसके सात प्रकार हैं[1]—

| | |
|---|---|
| १. इहलोक भय | ५. वेदना भय |
| २. परलोक भय | ६. मरण भय |
| ३. आदान भय | ७. अश्लोक भय |
| ४. अकस्मात् भय | |

## ६२. वसूले से काटने और चंदन लगाने पर...(वासीचंदणकप्पो)

शान्त्याचार्य के अनुसार 'वासी' और 'चन्दन' शब्द के द्वारा उनका प्रयोग करने वाले व्यक्तियों का ग्रहण किया गया है। कोई व्यक्ति वसूले से छीलता है, दूसरा चन्दन का लेप करता है—मुनि दोनों पर समभाव रखे। यहां 'कल्प' शब्द का अर्थ सदृश है।[2] जैन साहित्य में यह साम्ययोग बार-बार प्रतिध्वनित होता है—

***जो चंदणेण बाहुं आलिंपइ वासिणा वि तच्छेइ।***
***संथुणइ जो अ निंदइ महारिसाणो तत्थ समभावा॥***[3]

श्रीमद् जयाचार्य ने भगवान् ऋषभ की स्तुति में इस साम्ययोग की भावना का इन शब्दों में चित्रण किया है—

***वासी चंदण समपणैं, थिर चित्त जिन ध्याया।***
***इम तनसार तजी करी, प्रभु केवल पाया॥***[4]

डॉ० हरमन जेकोबी ने इस पद का अर्थ इस प्रकार किया है—'अनमोज्ञ और मनोज्ञ' वस्तुओं के प्रति। इनके अनुसार 'वासी' शब्द अमनोज्ञ और अप्रीतिकर वस्तुओं के लिए तथा 'चन्दन' शब्द मनोज्ञ या प्रीतिकर वस्तुओं के लिए प्रयुक्त है।

डॉ० जेकोबी अवचूरीकार के अर्थ पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—अवचूरीकार ने 'वास' का अर्थ रहने का स्थान किया है। परन्तु मुझे लगता है कि चन्दन के साथ 'वासी' शब्द का प्रयोग होने से वह कोई दुर्गन्धयुक्त पदार्थ का द्योतक होना चाहिए।[5]

अवचूरीकार तथा जेकोबी का अर्थ यथार्थ नहीं लगता।

## ६३. (अणसणे)

'नञ्' के दो अर्थ होते हैं—अभाव और कुत्सा। यहां 'अणसणे' का अर्थ है 'भोजन न मिलने' अथवा 'खराब भोजन मिलने पर।'[6]

## ६४. अप्रशस्त द्वारों से आने वाले (अप्पसत्थेहिं दारेहिं)

आश्रव के द्वारा कर्म-पुद्गलों का ग्रहण किया जाता है, इसलिए वे द्वार कहलाते हैं। आगम-साहित्य में कहीं-कहीं आश्रव और कहीं-कहीं आश्रवद्वार का प्रयोग मिलता है।[7] हिंसा आदि अप्रशस्त द्वार हैं।

## ६५. अध्यात्म-ध्यानयोग के द्वारा प्रशस्त एवं उपशम प्रधान शासन में रहने वाला (अज्झप्पझाणजोगेहिं पसत्थदमसासणे)

योग शब्द को अध्यात्म और ध्यान दोनों के साथ जोड़ा जा सकता है—अध्यात्मयोग, ध्यानयोग। जैन शासन दम का शासन है। उसमें दम के प्रशस्त साधन ही मान्य हैं। अप्रशस्त साधनों से दम करना जैन साधना पद्धति में वांछनीय नहीं है। अध्यात्मयोग और ध्यानयोग—ये दम के प्रशस्त साधन हैं। अध्यात्मयोग के द्वारा व्यक्ति अपनी अन्तश्चेतना तक पहुंचता है और शुद्ध चेतना की अनुभूति का अभ्यास करता है। वह ध्यान के द्वारा समाधि को सिद्ध कर समय-समय पर उठने वाली तरंगों को शान्त और क्षीण करता है। यह बलप्रयोग से किया जाने वाला दमन नहीं है, किन्तु साधना के द्वारा किया जाने वाला उपशमन है। इस प्रशस्त दम की अवस्था में ही जिनशासन या आत्मानुशासन उपलब्ध होता है।[8]

वृत्तिकार ने अध्यात्म ध्यानयोग का अर्थ—शुभ ध्यान का व्यापार किया है।[9]

---

१. ठाणं ७।२७।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५ : वासीचन्दनशब्दाभ्यां च तद्व्यापारकपुरुषावुपलक्षितौ, ततश्च यदि किलैको वास्या तक्ष्णोति, अन्यश्च गोशीर्षादिना चन्दनेनालिम्पति, तथाऽपि रागद्वेषाभावतो द्वयोरपि तुल्यः, कल्पशब्दस्येह सदृशपर्यायत्वात्।

३. उपदेशमाला, ६।२।

४. चौबीसी १।५।

५. सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, Vol. XLV, Page 11. फुटनोट नं० १ Apparently he gives vasa the meaning dwelling but I think the juxtaposition of Candana calls for a word denoting a bad smelling substance, perhaps 'ordure'.

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५ : नञोऽभावे कुत्सायां वा, ततश्चाशनस्याभोजनस्याभावे कुत्सिताशनभावे वा।

७. (क) दसवेआलियं : ३।११ पंचासवपरिन्नाया... .....
(ख) ठाणं, ५।१०६; समवाओ, ५।४ : पंच आसवदारा पण्णत्ता...।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५ : 'अप्रशस्तेभ्यः' प्रशंसाऽनास्पदेभ्यः 'द्वारेभ्यः' कर्मोपार्जनोपायेभ्यो हिंसादिभ्यः।

९. वही, पत्र ४६५ : अध्यात्मेत्यात्मनि ध्यानयोगाः—शुभध्यानव्यापाराः—अध्यात्मध्यानयोगास्तैः, अध्यात्म ग्रहणं तु परस्थानां तेषामकिञ्चित्करत्वाद्, अन्यथाऽतिप्रसंगात्, प्रशस्तः प्रशंसास्पदो दमश्च—उपशमः शासनं च—सर्वज्ञागमात्मकं यस्य स प्रशस्तदमशासन इति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**६६. भावनाओं के द्वारा (भावणाहि य सुद्धाहिं)**

वृत्तिकार ने भावना शब्द का सम्बन्ध महाव्रत की पच्चीस भावनाओं तथा अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षाओं के साथ स्थापित किया है।[1] ध्यान-शतक में चार भावनाओं का उल्लेख मिलता है।[2]—

१. ज्ञान भावना
२. दर्शन भावना
३. चारित्र भावना
४. वैराग्य भावना

सम्भावना की जा सकती है कि इस भावना शब्द का इस श्लोक में निर्दिष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ सम्बन्ध है।

**६७. मृगापुत्र (मियाइपुत्तस्स)**

मियाइ—यहां मियाए पाठ होना चाहिए था। इसका अर्थ है—मृगा रानी का। किन्तु छन्द की दृष्टि से एकार को इकार किया गया है।

**६८. सुनकर (निसम्म)**

श्रवण और निशमन—दोनों शब्द सुनने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। दोनों के तात्पर्यार्थ में अन्तर है। कानों से शब्द मात्र को ग्रहण करना श्रवण है। गहराई से सुनना, अवधारण करना निशमन है।

**६९. निर्वाण के गुणों को प्राप्त कराने वाली (निव्वाणगुणावहे)**

निर्वाण के चार गुण हैं—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द-सुख। जो इन चारों की प्राप्ति कराती है वह निर्वाणगुणावहा।[3]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५ : 'भावनाभिः' महाव्रतसम्बन्धिनीभिर्वक्ष्यमाणाभिरनित्यत्वादिविषयाभिर्वा। 'विशुद्धिभि' निदानादिदोषरहिताभिर्भाववयित्वा—तन्मयतां नीत्वा 'अप्पयं' ति आत्मानम्।

२. ध्यानशतक, श्लोक ३०।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# विंसइमं अज्झयणं

## महानियंठिज्जं

# बीसवां अध्ययन

## महानिर्ग्रन्थीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

मगध देश का सम्राट् श्रेणिक एक बार विहार-यात्रा के लिए मंडितकुक्षि नामक उद्यान में आया। घूम-फिर कर उसने उद्यान की शोभा निहारी। देखते-देखते उसकी आंखें एक ध्यानस्थ मुनि पर जा टिकीं। राजा पास में गया। वन्दना की। मुनि के रूप-लावण्य को देख वह अत्यन्त विस्मित हुआ। उसने पूछा -'मुने! भोग-काल में संन्यास-ग्रहण की बात समझ में नहीं आती। आप तरुण हैं, भोग भोगने में समर्थ हैं। इस अवस्था में आप मुनि क्यों बने?' मुनि ने कहा—'राजन्! मैं अनाथ हूं। मेरा कोई भी नाथ नहीं है, त्राण नहीं है। इसलिए मैं मुनि बना हूं।' राजा ने मुस्कराते हुए कहा—'शरीर-सम्पदा से आप ऐश्वर्यशाली लगते हैं फिर अनाथ कैसे? कुछ भी हो मैं आपका नाथ बनता हूं। आप मेरे साथ चलें। सुखपूर्वक भोग भोगें। मुने! मनुष्य-भव बार-बार नहीं मिलता।' मुनि ने कहा—'तुम स्वयं अनाथ हो। मेरे नाथ कैसे बन सकोगे?' राजा को यह वाक्य तीर की भांति चुभा। उसने कहा—'मुने! आप झूठ क्यों बोलते हैं। मैं अपार सम्पत्ति का स्वामी हूं। मेरे राज्य में मेरी हर आज्ञा अखण्ड रूप से प्रवर्तित होती है। मेरे पास हजारों हाथी, घोड़े, रथ, सुभट और नौकर-चाकर हैं। सारी सुख-सामग्री उपनीत है। मेरे आश्रय में हजारों व्यक्ति पलते हैं। ऐसी अवस्था में मैं अनाथ कैसे?' मुनि ने कहा—'तुम अनाथ का अर्थ नहीं जानते और नहीं जानते कि कौन व्यक्ति कैसे सनाथ होता है और कैसे अनाथ?'

मुनि ने आगे कहा—'मैं कौशाम्बी नगरी में रहता था। मेरे पिता अपार धन-राशि के स्वामी थे। हमारा कुल सम्पन्न था। मेरा विवाह उच्च कुल में हुआ था। एक बार मुझे असह्य अक्षि-रोग उत्पन्न हुआ। उसको मिटाने के लिए नानाविध प्रयत्न किए गए। पिता ने अपार धन-राशि का व्यय किया। सभी परिवार वालों ने नानाविध प्रयत्न किए, पर सब व्यर्थ। मेरे सगे-सम्बन्धियों ने मेरी वेदना पर अपार आंसू बहाए। पर मेरी वेदना को वे न बंटा सके। यह थी मेरी अनाथता। 'यदि इस पीड़ा से मैं मुक्त हो जाऊं तो मैं मुनि बन जाऊं'—इस संकल्प को साथ ले मैं सो गया। जैसे-जैसे रात बीती वैसे-वैसे रोग शान्त होता गया। सूर्योदय होते-होते मैं स्वस्थ हो गया और माता-पिता की आज्ञा लेकर प्रव्रजित होकर सभी प्राणियों का नाथ बन गया। उन सबको मुझ से त्राण मिल गया। यह है मेरी सनाथता। मैंने आत्मा पर शासन किया—यह है मेरी सनाथता। मैं श्रामण्य का विधिपूर्वक पालन करता हूं—यह है मेरी सनाथता।'

राजा ने सनाथ और अनाथ का यह अर्थ पहली बार सुना। उसके ज्ञान-चक्षु खुले। वह बोला—'महर्षे! आप ही वास्तव में सनाथ और सबान्धव हैं। मैं आपसे धर्म का अनुशासन चाहता हूं।' (श्लोक ५५)

मुनि ने उसे निर्ग्रन्थ धर्म की दीक्षा दी। वह धर्म में अनुरक्त हो गया।

इस अध्ययन में अनेक विषय चर्चित हुए हैं—

१. आत्मकर्तृत्व के लिए ३६, ३७ एवं ४८ श्लोक मननीय हैं।
२. ४४वें श्लोक में विषयोपपन्न धर्म के परिणामों का दिग्दर्शन है। जैसे पीया हुआ कालकूट विष, अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र और अनियन्त्रित वेताल विनाशकारी होता है, वैसे ही विषयों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।
३. द्रव्य-लिंग से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, इसके लिए ४१ से ५० श्लोक मननीय हैं।

(मिलाइए—सुत्तनिपात—'महावग्ग'—पवज्जा सुत्त।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# विंसइमं अज्झयणं : बीसवां अध्ययन
## महानियंठिज्जं : महानिर्ग्रन्थीय

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. सिद्धाणं नमो किच्चा<br>संजयाणं च भावओ।<br>अत्थधम्मगइं तच्चं<br>अणुसट्ठिं सुणेह मे।। | *सिद्धेभ्यो नमः कृत्वा*<br>*संयतेभ्यश्च भावतः।*<br>*अर्थधर्मगतिं तथ्याम्*<br>*अनुशिष्टिं शृणुत मे।।* | सिद्धों और संयत आत्माओं को भाव-भरा नमस्कार कर[1] मैं अर्थ (साध्य) और धर्म का ज्ञान कराने वाली तथ्यपूर्ण[2] अनुशासना का निरूपण करता हूं। वह मुझसे सुनो। |
| २. पभूयरयणो राया<br>सेणिओ मगहाहिवो।<br>विहारजत्तं निज्जाओ<br>मंडिकुच्छिंसि चेइए।। | *प्रभूतरत्नो राजा*<br>*श्रेणिको मगधाधिपः।*<br>*विहारयात्रां निर्यातः*<br>*मण्डिकुक्षौ चैत्ये।।* | प्रचुर रत्नों से[3] सम्पन्न, मगध का अधिपति राजा श्रेणिक मण्डिकुक्षि नामक उद्यान में विहार-यात्रा (क्रीड़ा-यात्रा) के लिए गया। |
| ३. नाणादुमलयाइण्णं<br>नाणापक्खिनिसेवियं।<br>नाणाकुसुमसंछन्नं<br>उज्जाणं नंदणोवमं।। | *नानाद्रुमलताकीर्णं*<br>*नानापक्षिनिषेवितम्।*<br>*नानाकुसुमसंछन्नम्*<br>*उद्यानं नन्दनोपमम्।।* | वह उद्यान नाना प्रकार के द्रुमों और लताओं से आकीर्ण, नाना प्रकार के पक्षियों से आश्रित, नाना प्रकार के कुसुमों से पूर्णतः ढका हुआ नन्दनवन के समान था। |
| ४. तत्थ सो पासई साहुं<br>संजयं सुसमाहियं।<br>निसन्नं रुक्खमूलम्मि<br>सुकुमालं सुहोइयं।। | *तत्र स पश्यति साधुं*<br>*संयतं सुसमाहितम्।*<br>*निषण्णं वृक्षमूले*<br>*सुकुमारं सुखोचितम्।।* | वहां राजा ने संयत, मानसिक समाधि से सम्पन्न, वृक्ष के पास बैठे हुए सुकुमार और सुख भोगने योग्य साधु को देखा। |
| ५. तस्स रूवं तु पासित्ता<br>राइणो तम्मि संजए।<br>अच्चंतपरमो आसी<br>अउलो रूवविम्हओ।। | *तस्य रूपं तु दृष्ट्वा*<br>*राज्ञः तस्मिन् संयते।*<br>*अत्यन्तपरम आसीत्*<br>*अतुलो रूपविस्मयः।।* | उसके रूप को देखकर राजा उस संयत के प्रति आकृष्ट हुआ और उसे अत्यन्त उत्कृष्ट और अतुलनीय विस्मय हुआ। |
| ६. अहो! वण्णो अहो! रूवं<br>अहो! अज्जस्स सोमया।<br>अहो! खंती अहो! मुत्ती<br>अहो! भोगे असंगया।। | *अहो! वर्णः अहो! रूपम्*<br>*अहो! आर्यस्य सौम्यता।*<br>*अहो! क्षान्तिरहो! मुक्तिः*<br>*अहो! भोगेऽसङ्गता।।* | आश्चर्य! कैसा वर्ण और कैसा रूप है।[4]<br>आश्चर्य! आर्य की कैसी सौम्यता है।<br>आश्चर्य! कैसी क्षमा और निर्लोभता है<br>आश्चर्य! भोगों में कैसी अनासक्ति है। |
| ७. तस्स पाए उ वंदित्ता<br>काऊण य पयाहिणं।<br>नाइदूरमणासन्ने<br>पंजली पडिपुच्छई।। | *तस्य पादौ तु वन्दित्वा*<br>*कृत्वा च प्रदक्षिणाम्।*<br>*नातिदूरमनासन्नः*<br>*प्राञ्जलिः प्रतिपृच्छति।।* | उसके चरणों में नमस्कार और प्रदक्षिणा[5] कर, न अतिदूर और न अतिनिकट रह राजा ने हाथ जोड़कर पूछा। |
| ८. तरुणो सि अज्जो! पव्वइओ<br>भोगकालम्मि संजया!।<br>उवट्ठिओ सि सामण्णे<br>एयमट्ठं सुणेमि ता।। | *तरुणोऽस्यार्य! प्रव्रजितः*<br>*भोगकाले संयत!।*<br>*उपस्थितोऽसि श्रामण्ये*<br>*एतमर्थं शृणोमि तावत्।।* | "आर्य! अभी तुम तरुण हो। संयत! तुम भोग-काल में प्रव्रजित हुए हो, श्रामण्य के लिए उपस्थित हुए हो इसका क्या प्रयोजन है मैं सुनना चाहता हूं।" |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. अणाहो मि महाराय!
नाहो मज्झ न विज्जई।
अणुकंपगं सुहिं वावि
कंचि नाभिसमेमहं।।

*अनाथोऽस्मि महाराज!*
*नाथो मम न विद्यते।*
*अनुकम्पकं सुहृदं वापि*
*कंचिन्नाभिसमेम्यहम्।।*

"महाराज! मैं अनाथ हूं, मेरा कोई नाथ[५] नहीं है। मुझ पर अनुकम्पा करने वाला या मित्र कोई नहीं पा रहा हूं।"

१०. तओ सो पहसिओ राया
सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्ढिमंतस्स
कहं नाहो न विज्जई?।।

*ततः स प्रहसितो राजा*
*श्रेणिको मगधाधिपः।*
*एवं ते ऋद्धिमतः*
*कथं नाथो न विद्यते?।।*

यह सुनकर मगधाधिपति राजा श्रेणिक जोर से हंसा और उसने कहा—"तुम ऐसे सहज सौभाग्यशाली हो फिर कोई तुम्हारा नाथ कैसे नहीं होगा?"[७]

११. होमि नाहो भयंताणं!
भोगे भुंजाहि संजया!।
मित्तनाईपरिवुडो
माणुस्सं खु सुदुल्लहं।।

*भवामि नाथो भदन्तानां*
*भोगान् भुङ्क्ष्व संयत!।*
*मित्रज्ञातिपरिवृतः*
*मानुष्यं खलु सुदुर्लभम्।।*

"हे भदन्त! मैं तुम्हारा नाथ होता हूं। संयत! मित्र और ज्ञातियों से परिवृत होकर विषयों का भोग करो। यह मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है।"

१२. अप्पणा वि अणाहो सि
सेणिया! मगहाहिवा!।
अप्पणा अणाहो संतो
कहं नाहो भविस्ससि?।।

*आत्मनाप्यनाथोऽसि*
*श्रेणिक! मगधाधिप!।*
*आत्मनाऽनाथः सन्*
*कथं नाथो भविष्यसि?।।*

"हे मगध के अधिपति श्रेणिक! तुम स्वयं अनाथ हो। स्वयं अनाथ होते हुए भी तुम दूसरों के नाथ कैसे होओगे?"

१३. एवं वुत्तो नरिंदो सो
सुसंभंतो सुविम्हिओ।
वयणं अस्सुयपुव्वं
साहुणा विम्हयन्निओ।।

*एवमुक्तो नरेन्द्रः सः*
*सुसम्भ्रान्त सुविस्मितः।*
*वचनमश्रुतपूर्वं*
*साधुना विस्मयान्वितः।।*

श्रेणिक पहले ही विस्मयान्वित बना हुआ था और साधु के द्वारा—तू अनाथ है—ऐसा अश्रुतपूर्व-वचन कहे जाने पर वह अत्यन्त व्याकुल और अत्यन्त आश्चर्यमग्न हो गया।

१४. अस्सा हत्थी मणुस्सा मे
पुरं अंतेउरं च मे।
भुंजामि माणुसे भोगे
आणाइस्सरियं च मे।।

*अश्वा हस्तिनो मनुष्या मे*
*पुरमन्तःपुरं च मे।*
*भुनज्मि मानुषान् भोगान्*
*आज्ञैश्वर्यं च मे।।*

"मेरे पास हाथी और घोड़े हैं, नगर और अन्तःपुर है, मैं मनुष्य सम्बन्धी भोगों को भोग रहा हूं, आज्ञा और ऐश्वर्य[८] मेरे पास है।"[९]

१५. एरिसे संपयग्गम्मि
सव्वकामसमप्पिए।
कहं अणाहो भवइ?
मा हु भंते! मुसं वए।।

*ईदृशे सम्पदग्रे*
*समर्पितसर्वकामे।*
*कथमनाथो भवामि?*
*मा खलु भदन्त! मृषा वादीत्।।*

"जिसने मुझे सब काम-भोग समर्पित किए हैं वैसी उत्कृष्ट सम्पदा होते हुए मैं अनाथ कैसे हूं? भदंत! असत्य मत बोलो।"

१६. न तुमं जाणे अणाहस्स
अत्थं पोत्थं वा पत्थिवा!।
जहा अणाहो भवई
सणाहो वा नराहिवा?।।

*न त्वं जानीषेऽनाथस्य*
*अर्थं प्रोत्थां वा पार्थिव!।*
*यथाऽनाथो भवति*
*सनाथो नराधिप!?।।*

"हे पार्थिव! तू अनाथ शब्द का अर्थ और उसकी उत्पत्ति[१०]—मैंने तुझे अनाथ क्यों कहा—इसे नहीं जानता, इसलिए जैसे अनाथ या सनाथ होता है, वैसे नहीं जानता।"

१७. सुणेह मे महाराय!
अव्वक्खित्तेण चेयसा।
जहा अणाहो भवई
जहा मे य पवत्तियं।।

*शृणु मे महाराज!*
*अव्याक्षिप्तेन चेतसा।*
*यथाऽनाथो भवति*
*यथा मया च प्रवर्तितम्।।*

"महाराज! तू अव्याकुल चित्त से सुन—जैसे कोई पुरुष अनाथ होता है और जिस रूप में मैंने उसका प्रयोग किया है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८.कोसंबी नाम नयरी
पुराणपुरभेयणी।
तत्थ आसी पिया मज्झ
पभूयधणसंचओ।।

*कौशाम्बी नाम नगरी*
*पुराणपुरभेदिनी।*
*तत्रासीत् पिता मम*
*प्रभूतधनसंचयः।।*

"प्राचीन नगरों में असाधारण सुन्दर[११] कौशाम्बी नाम की नगरी है। वहां मेरे पिता रहते हैं। उनके पास प्रचुर धन का संचय है।"

१९.पढमे वए महाराय!
अउला मे अच्छिवेयणा।
अहोत्था विउलो दाहो
सव्वंगेसु य पत्थिवा!।।

*प्रथमे वयसि महाराज!*
*अतुला मेऽक्षिवेदना।*
*अभूद् विपुलो दाहः*
*सर्वाङ्गेषु च पार्थिव!।।*

"महाराज! प्रथम-वय (यौवन) में मेरी आंखों में असाधारण वेदना उत्पन्न हुई। पार्थिव! मेरा समूचा शरीर पीड़ा देने वाली जलन से जल उठा।"

२०.सत्थं जहा परमतिक्खं
सरीरविवरंतरे।
पवेसेज्ज अरी कुद्धो
एवं मे अच्छिवेयणा।।

*शस्त्रं यथा परमतीक्ष्णं*
*शरीरविवरान्तरे।*
*प्रवेशयेदरिः क्रुद्धः*
*एवं मेऽक्षिवेदना।*

"जैसे कुपित बना हुआ शत्रु शरीर के छेदों में अत्यन्त तीखे शस्त्रों को घुसेड़ता है, उसी प्रकार मेरी आखों में वेदना हो रही थी।"

२१.तियं मे अंतरिच्छं च
उत्तमंगं च पीडई।
इंदासणिसमा घोरा
वेयणा परमदारुणा।।

*त्रिकं मे अन्तरिक्षं च*
*उत्तमांगं च पीडयति।*
*इन्द्राशनिसमा घोरा*
*वेदना परमदारुणा।।*

"मेरे कटि, अन्तश्चेतना[१२] और मस्तक में परम दारुण वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र का वज्र लगने से घोर वेदना होती है।"

२२.उवट्ठिया मे आयरिया
विज्जामंततिगिच्छगा।
अबीया सत्थकुसला
मंतमूलविसारया।।

*उपस्थिता मे आचार्याः*
*विद्यामन्त्रचिकित्सकाः।*
*अद्वितीयाः शास्त्रकुशलाः*
*मंत्रमूलविशारदाः।।*

"विद्या और मन्त्र के द्वारा चिकित्सा करने वाले मन्त्र और औषधियों के विशारद अद्वितीय शास्त्र-कुशल प्राणाचार्य मेरी चिकित्सा करने के लिए उपस्थित हुए।"[१३]

२३.ते मे तिगिच्छं कुव्वंति
चाउप्पायं जहाहियं।
न य दुक्खा विमोयंति
एसा मज्झ अणाहया।।

*ते मे चिकित्सां कुर्वन्ति*
*चतुष्पादां यथाऽऽहृताम्।*
*न च दुःखाद् विमोचयन्ति*
*एषा ममाऽनाथता।।*

"उन्होंने गुरु-परंपरा से प्राप्त[१४] आयुर्विद्या के आधार पर मेरी चतुष्पाद-चिकित्सा[१५] की, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है।"

२४.पिया मे सव्वसारं पि
दिज्जाहि मम कारणा।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा मज्झ अणाहया।।

*पिता में सर्वसारमपि*
*दद्यान् मम कारणात्।*
*न च दुःखाद् विमोचयति*
*एषा ममाऽनाथता।।*

"मेरे पिता ने मेरे लिए उन प्राणाचार्यों को बहुमूल्य वस्तुएं दीं, किन्तु वे (पिता) मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है।"

२५.माया य मे महाराय!
पुत्तसोगदुहट्टिया।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा मज्झ अणाहया।।

*माता च मे महाराज!*
*पुत्रशोकदुःखार्ता।*
*न च दुःखाद् विमोचयति*
*एषा ममाऽनाथता।।*

"महाराज! मेरी माता पुत्र-शोक के दुःख से पीड़ित होती हुई भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है।"

२६.भायरो मे महाराय!
सगा जेट्ठकणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयंति
एसा मज्झ अणाहया।।

*भ्रातरो मे महाराज!*
*सका ज्येष्ठकनिष्ठकाः।*
*न च दुःखाद् विमोचयन्ति*
*एषा ममाऽनाथता।।*

"महाराज! मेरे बड़े-छोटे सगे भाई भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७. भइणीओ मे महाराय!
सगा जेट्ठकणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयंति
एसा मज्झ अणाहया।।

*भगिन्यो मे महाराज!*
*स्वका ज्येष्ठकनिष्ठकाः।*
*न च दुःखाद् विमोचयन्ति*
*एषा ममाऽनाथता।।*

"महाराज! मेरी बड़ी-छोटी सगी बहनें भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकीं—यह मेरी अनाथता है।"

२८. भारिया मे महाराय!
अणुरत्ता अणुव्वया।
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं
उरं मे परिसिंचई।।

*भार्या मे महाराज!*
*अनुरक्ताऽनुव्रता।*
*अश्रुपूर्णाभ्यां नयनाभ्यां*
*उरो मे परिषिंचति।।*

"महाराज! मुझमें अनुरक्त और पतिव्रता[१६] मेरी पत्नी आंसू भरे नयनों से मेरी छाती को भिगोती रही।"

२९. अन्नं पाणं च ण्हाणं च
गंधमल्लविलेवणं।
मए नायमणायं वा
सा बाला नोवभुंजई।।

*अन्नं पानं च स्नानं च*
*गन्धमाल्यविलेपनम्।*
*मया ज्ञातमज्ञातं वा*
*सा बाला नोपभुङ्क्ते।।*

"वह बाला मेरे प्रत्यक्ष और परोक्ष में अन्न, पान, स्नान[१७], गन्ध, माल्य और विलेपन का भोग नहीं कर रही थी।"

३०. खणं पि मे महाराय!
पासाओ वि न फिट्टई।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा मज्झ अणाहया।।

*क्षणमपि मे महाराज!*
*पार्श्वतोपि न भ्रश्यति।*
*न च दुःखाद् विमोचयति*
*एषा ममाऽनाथता।।*

"महाराज! वह क्षण भर के लिए भी मुझसे दूर नहीं हो रही थी[१८], किन्तु वह मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है।"

३१. तओ हं एवमाहंसु
दुक्खमा हु पुणो पुणो।
वेयणा अणुभविउं जे
संसारम्मि अणंतए।।

*ततोऽहमेवमवोचम्*
*दुःक्षमा खलु पुनः पुनः।*
*वेदनाऽनुभवितुं 'जे'*
*संसारेऽनन्तके।।*

"तब मैंने इस प्रकार कहा—इस अनन्त संसार में बार-बार दुस्सह्य[१९] वेदना का अनुभव करना होता है।"

३२. सइं च जइ मुच्चेज्जा
वेयणा विउला इओ।
खंतो दंतो निरारंभो
पव्वए अणगारियं।।

*सकृच्च यदि मुच्ये*
*वेदनायाः विपुलाया इतः।*
*क्षान्तो दान्तो निरारम्भः*
*प्रव्रजेयमनगारिताम्।।*

"इस विपुल वेदना से यदि मैं एक बार ही मुक्त हो जाऊं तो क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगारवृत्ति को स्वीकार कर लूं।"

३३. एवं च चिंतइत्ताणं
पसुत्तो मि नराहिवा!।
परियट्टंतीए राईए
वेयणा मे खयं गया।।

*एवं च चिन्तयित्वा*
*प्रसुप्तोऽस्मि नराधिप!।*
*परिवर्तमानायां रात्रौ*
*वेदना मे क्षयं गता।।*

"हे नराधिप! ऐसा चिन्तन कर मैं सो गया। बीतती हुई रात्रि के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई।"[२०]

३४. तओ कल्ले पभायम्मि
आपुच्छित्ताण बंधवे।
खंतो दंतो निरारंभो
पव्वइओऽणगारियं।।

*ततः कल्यः प्रभाते*
*आपृच्छ्य बान्धवान्।*
*क्षान्तो दान्तो निरारम्भः*
*प्रव्रजितोऽनगारिताम्।।*

"उसके पश्चात् प्रभातकाल से मैं स्वस्थ[२१] हो गया। मैं अपने बन्धु-जनों को पूछ, क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगारवृत्ति में आ गया।"

३५. ततो हं नाहो जाओ
अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं
तसाण थावराण य।।

*ततोऽहं नाथो जातः*
*आत्मनश्च परस्य च।*
*सर्वेषां चैव भूतानां*
*त्रसानां स्थावराणां च।।*

"तब मैं अपना तथा दूसरों का तथा सभी—त्रस और स्थावर जीवों का नाथ हो गया।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६.अप्पा नई वेयरणी
अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू
अप्पा मे नंदणं वणं।।

*आत्मा नदी वैतरणी*
*आत्मा मे कूटशाल्मली।*
*आत्मा कामदुधा धेनुः*
*आत्मा मे नन्दन वनम्।।*

"मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूट शाल्मली[२२] वृक्ष है, आत्मा ही कामदुधा धेनु है और आत्मा ही नन्दन वन है।"

३७.अप्पा कत्ता विकत्ता य
दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च
दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।।

*आत्मा कर्त्ता विकर्त्ता च*
*दुःखानां च सुखानां च।*
*आत्मा मित्रममित्रं च*
*दुष्प्रस्थितः सुप्रस्थितः।।*

"आत्मा ही दुःख-सुख की करने वाली और उनका क्षय करने वाली है। सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है।"

३८.इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा!
तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि।
नियंठधम्मं लहियाण वी जहा
सीयंति एगे बहुकायरा नरा।।

*इयं खलु अन्याप्यनाथता नृप!*
*तामेकचित्तो निभृतः शृणु।*
*निर्ग्रन्थधर्मं लब्ध्वाऽपि यथा*
*सीदन्त्येके बहुकातरा नराः।।*

"हे राजन्! यह एक दूसरी अनाथता ही है। एकाग्र-चित्त, स्थिर-शान्त होकर तुम उसे मुझसे सुनो! जैसे कई एक व्यक्ति बहुत कायर होते हैं। वे निर्ग्रन्थ-धर्म को पाकर भी कष्टानुभव करते हैं—निर्ग्रन्थाचार का पालन करने में शिथिल हो जाते हैं।"[२३]

३९.जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं
सम्मं नो फासयई पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे
न मूलओ छिंदइ बंधणं से।।

*यः प्रव्रज्य महाव्रतानि*
*सम्यक् नो स्पृशति प्रमादात्।*
*अनिग्रहात्मा च रसेषु गृद्धः*
*न मूलतः छिनत्ति बन्धनं सः।।*

"जो महाव्रतों को स्वीकार कर भलीभांति उनका पालन नहीं करता, अपनी आत्मा का निग्रह नहीं करता, रसों में मूर्च्छित होता है, वह बन्धन का मूलोच्छेद नहीं कर पाता।"

४०.आउत्तया जस्स न अत्थि काइ
इरियाए भासाए तहेसणाए।
आयाणनिक्खेवदुगुंछणाए
न वीरजायं अणुजाइ मग्गं।।

*आयुक्तता यस्य नास्ति कापि*
*ईर्यायां भाषायां तथैषणायाम्।*
*आदाननिक्षेपजुगुप्सनायां*
*न वीरयातमनुयाति मार्गम्।।*

"ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उच्चार-प्रस्रवण की परिस्थापना में जो सावधानी[२४] नहीं बर्तता, वह उस मार्ग का अनुगमन नहीं कर सकता जिस पर वीर-पुरुष चले हैं।"[२५]

४१.चिरं पि से मुंडरुई भवित्ता
अथिरव्वए तवनियमेहि भट्ठे।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता
न पारए होइ हु संपराए।।

*चिरमपि स मुण्डरुचिर्भूत्वा*
*अस्थिरव्रतस्तपोनियमेभ्यो भ्रष्टः।*
*चिरमप्यात्मानं क्लेशयित्वा*
*न पारगो भवति खलु संपराये।।*

"जो व्रतों में स्थिर नहीं है, तप और नियमों[२६] से भ्रष्ट है, वह चिरकाल से मुण्डन में रुचि[२७] रखकर भी चिरकाल तक आत्मा को कष्ट देकर भी संसार का पार नहीं पा सकता।"

४२.पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे
अयंतिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे
अमहग्घए होइ य जाणएसु।।

*'पोल्ला' एव मुष्टिर्यथा सोऽसारः*
*अयन्त्रितः कूटकार्षापण इव।*
*राढामणिर्वैडूर्यप्रकाशः*
*अमहार्घको भवति च ज्ञेषु।।*

"जो पोली मुट्ठी की भांति असार है, खोटे सिक्के[२८] की भांति मुद्रा रहित[२९] है, काचमणि होते हुए भी वैडूर्य जैसे चमकता है, वह जानकार व्यक्तियों की दृष्टि में मूल्य-हीन हो जाता है।"

४३.कुसीललिंगं इह धारइत्ता
इसिज्झयं जीविय बूहइत्ता।
असंजए संजयलप्पमाणे
विणिघायमागच्छइ से चिरं पि।।

*कुशीललिंगमिह धारयित्वा*
*ऋषिध्वजं जीविकां बृंहयित्वा।*
*असंयतः संयतं लपन्*
*विनिघातमागच्छति स चिरमपि।।*

"जो कुशील-वेश[३०] और ऋषि-ध्वज (रजोहरण आदि मुनि-चिन्हों) को धारण कर उनके द्वारा जीविका चलाता है, असंयत होते हुए भी अपने आपको संयत कहता है, वह चिरकाल तक विनाश को प्राप्त होता है।"

४४.विसं तु पीयं जह कालकूडं
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसे व धम्मो विसओववन्नो
हणाइ वेयाल इवाविवन्नो।।

*विषं तु पीतं यथा कालकूटं*
*हन्ति शस्त्रं यथा कुगृहीतम्।*
*एष एवं धर्मो विषयोपपन्नः*
*हन्ति वेताल इवाविपन्नः।।*

"पिया हुआ काल-कूट विष, अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र और नियन्त्रण में नहीं लाया हुआ वेताल जैसे विनाशकारी होता है[३१], वैसे ही यह विषयों से युक्त[३२] धर्म भी विनाशकारी होता है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४५.जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे
निमित्तकोऊहलसंपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी
न गच्छई सरणं तम्मि काले।।

*यो लक्षणं स्वप्नं प्रयुञ्जानः*
*निमित्तकुतूहलसंप्रगाढः।*
*कुहेटविद्याश्रवद्वारजीवी*
*न गच्छति शरणं तस्मिन् काले।।*

"जो लक्षण-शास्त्र, स्वप्न शास्त्र का प्रयोग करता है, निमित्त शास्त्र और कौतुक कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्या आश्चर्य उत्पन्न करने वाले[३३] विद्यात्मक, आश्रव द्वार से जीविका चलाता है, वह कर्म का फल भुगतने के समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होता।"

४६.तमंतमेणेव उ से असीले
सया दुही विप्परियासुवेइ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणिं
मोणं विराहेत्तु असाहुरूवे।।

*तमस्तमसैव तु सः अशीलः*
*सदा दुःखी विपर्यासमुपैति।*
*संधावति नरकतिर्यग्योनीः*
*मौनं विराध्याऽसाधुरूपः।।*

"वह शील-रहित साधु अपने तीव्र अज्ञान से सतत दुःखी होकर विपर्यास को प्राप्त हो जाता है।[३४] वह असाधु प्रकृति वाला मुनि धर्म की विराधना कर नरक और तिर्यग्योनि में आता-जाता रहता है।"

४७.उद्देसियं कीयगडं नियागं
न मुंचई किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता
इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं।।

*औद्देशिकं क्रीतकृतं नित्याग्रं*
*न मुञ्चति किञ्चिदनेषणीयम्।*
*अग्निरिव सर्वभक्षी भूत्वा*
*इतश्च्युतो गच्छति कृत्वा पापम्।।*

"जो औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्याग्र[३५] और कुछ भी अनेषणीय को नहीं छोड़ता, वह अग्नि की तरह सर्व-भक्षी होकर, पाप-कर्म का अर्जन करता है और यहां से मरकर दुर्गति में जाता है।"

४८.न तं अरी कंठछेत्ता करेइ
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो।।

*न तमरिः कण्ठच्छेत्ता करोति*
*यं तस्य करोत्यात्मीया दुरात्मता।*
*स ज्ञास्यति मृत्युमुखं तु प्राप्तः*
*पश्चादनुतापेन दयाविहीनः।।*

"अपनी दुष्प्रवृत्ति जो अनर्थ उत्पन्न करती है वह अनर्थ गला काटने वाला शत्रु भी नहीं करता। वह दुष्प्रवृत्ति करने वाला दया[३६] विहीन मनुष्य मृत्यु के मुख में पहुंचने के समय पश्चात्ताप के साथ इस तथ्य को जान जाएगा।"

४९.निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स
जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेई।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए
दुहओ वि से झिज्झइ तत्थ लोए।।

*निरर्थिका नाग्न्यरुचिस्तु तस्य*
*य उत्तमार्थे विपर्यासमेति।*
*अयमपि तस्य नास्ति परोऽपि लोकः*
*द्वयोपि स क्षीयते तत्र लोकः।।*

"जो अन्तिम समय की आराधना[३७] में भी विपरीत बुद्धि रखता है---दुष्प्रवृत्ति को सत् प्रवृत्ति मानता है उसकी संयम-रुचि भी निरर्थक है। इसके लिए यह लोक भी नहीं है, परलोक भी नहीं है। वह दोनों लोकों से भ्रष्ट होकर दोनों लोकों के प्रयोजन की पूर्ति न कर सकने के कारण चिन्ता से छीज जाता है।"

५०.एमेवहाछंदकुसीलरूवे
मग्गं विराहेत्तु जिणुत्तमाणं।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा
निरट्ठसोया परियावमेइ।।

*एवमेव यथाच्छन्कुशीलरूपः*
*मार्गं विराध्य जिनोत्तमानाम्।*
*कुररी इव भोगरसानुगृद्धा*
*निरर्थशोका परितापमेति।।*

"इसी प्रकार यथाछन्द (स्वच्छन्द भाव से विहार करने वाले) और कुशील साधु जिनोत्तम भगवान् के मार्ग की विराधना कर परिताप को प्राप्त होते हैं, जैसे—भोग-रस में आसक्त होकर अर्थ-हीन चिन्ता करने वाली गीध पक्षिणी।"

५१.सोच्चाण मेहावि सुभासियं इमं
अणुसासणं नाणगुणोववेयं।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं
महानियंठाण वए पहेणं।।

*श्रुत्वा मेधावी सुभाषितमिदं*
*अनुशासनं ज्ञानगुणोपेतम्।*
*मार्गकुशीलानां हित्वा सर्वं*
*महानिर्ग्रन्थानां व्रजेत् पथा।।*

"मेधावी पुरुष इस सुभाषित, ज्ञान-गुण से युक्त अनुशासन को सुनकर कुशील व्यक्तियों के सारे मार्ग को छोड़कर महा-निर्ग्रन्थ के मार्ग से चले।"

५२.चरित्तमायारगुणन्निए तओ
अणुत्तरं संजम पालियाणं।
निरासवे संखवियाण कम्मं
उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं।।

*चरित्राचारगुणान्वितस्ततः*
*अनुत्तरं संयमं पालयित्वा।*
*निरास्रवः संक्षपय्य कर्म*
*उपैति स्थानं विपुलोत्तमं ध्रुवम्।।*

"फिर चरित्र के आचरण और ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न निर्ग्रन्थ अनुत्तर संयम का पालन कर, कर्मों का क्षय कर निरास्रव होता है और वह विपुलोत्तम शाश्वत मोक्ष में चला जाता है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५३.एवुग्गदंते वि महातवोधणे
महामुणी महापइन्ने महायसे।
महानियंठिज्जमिणं महासुयं
से काहए महया वित्थरेणं।।

*एवमुग्रदान्तोपि महातपोधनः*
*महामुनिर्महाप्रतिज्ञो महायशाः।*
*महानिर्ग्रन्थीयमिदं महाश्रुतं*
*सोऽचीकथत् महता विस्तरेण।।*

इस प्रकार उग्र-दान्त, महा-तपोधन, महा-प्रतिज्ञ, महान् यशस्वी उस महामुनि ने इस महाश्रुत, महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन को महान् विस्तार के साथ कहा।

५४.तुट्ठो य सेणिओ राया
इणमुदाहु कयंजली।
अणाहत्तं जहाभूयं
सुट्ठु मे उवदंसियं।।

*तुष्टश्च श्रेणिको राजा*
*इदमुदाह कृताञ्जलिः।*
*अनाथत्वं यथाभूतं*
*सुष्ठु मे उपदर्शितम्।।*

श्रेणिक राजा तुष्ट हुआ और दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—"भगवन्! तुमने अनाथ का यथार्थ स्वरूप मुझे समझाया है।"

५५.तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं
लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी!।
तुब्भे सणाहा य सबंधवा य
जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं।।

*तव सुलब्धं खलु मनुष्यजन्म*
*लाभाः सुलब्धाश्च त्वया महर्षे!।*
*यूयं सनाथाश्च सबान्धवाश्च*
*यद् भवन्तः स्थिता मार्गे जिनोत्तमानाम्।।*

"हे महर्षि! तुम्हारा मनुष्य-जन्म सुलब्ध है—सफल है। तुम्हें जो उपलब्धियां हुई हैं वे भी सफल हैं। तुम सनाथ हो, सबान्धव हो, क्योंकि तुम जिनोत्तम (तीर्थंकर) के मार्ग में अवस्थित हो।"

५६.तं सि नाहो अणाहाणं
सव्वभूयाण संजया!।
खामेमि ते महाभाग!
इच्छामि अणुसासिउं।।

*त्वमसि नाथोऽनाथानां*
*सर्वभूतानां संयत!।*
*क्षमयामि त्वां महाभाग!*
*इच्छाम्यनुशासयितुम्।।*

"तुम अनाथों के नाथ हो, तुम सब जीवों के नाथ हो। हे महाभाग! मैं तुमसे क्षमा चाहता हूं और तुमसे मैं अनुशासित होना चाहता हूं।"

५७.पुच्छिऊण मए तुब्भं
झाणविग्घो उ जो कओ।
निमंतिओ य भोगेहिं
तं सव्वं मरिसेहि मे।।

*पृष्ट्वा मया तव*
*ध्यानविघ्नस्तु यः कृतः।*
*निमन्त्रितश्च भोगैः*
*तत् सर्वं मषय मे।।*

"मैंने तुमसे प्रश्न कर जो ध्यान में विघ्न किया और भोगों के लिए निमन्त्रण दिया उन सबको तुम सहन करो—क्षमा करो।"

५८.एवं थुणित्ताण स रायसीहो
अणगारसीहो परमाइ भत्तिए।
सओरोहो य सपरियणो य
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा।।

*एवं स्तुत्वा स राजसिंहः*
*अनगारसिंहं परमया भक्त्या।*
*सावरोधश्च सपरिजनश्च*
*धर्मानुरक्तो विमलेन चेतसा।।*

इस प्रकार राजसिंह—श्रेणिक अनगार-सिंह की परम भक्ति से स्तुति कर अपने विमल चित्त से रनिवास, परिजन और बन्धु-जन सहित धर्म में अनुरक्त हो गया।

५९.ऊससियरोमकूवो
काऊण य पयाहिणं।
अभिवंदिऊण सिरसा
अइयाओ नराहिवो।।

*उच्छ्वसितरोमकूपः*
*कृत्वा च प्रदक्षिणाम्।*
*अभिवन्द्य शिरसा*
*अतियातो नराधिपः।।*

राजा के रोम-कूप उच्छ्वसित हो रहे थे। वह मुनि की प्रदक्षिणा कर, सिर झुका, वन्दना कर चला गया।

६०.इयरो वि गुणसमिद्धो
तिगुत्तिगुत्तो तिदंडविरओ य।
विहग इव विप्पमुक्को
विहरइ वसुहं विगयमोहो।।

*इतरोऽपि गुणसमृद्धः*
*त्रिगुप्तिगुप्तस्त्रिदण्डविरतश्च।*
*विहग इव विप्रमुक्तः*
*विहरति वसुधां विगतमोहः।।*

वह गुण से समृद्ध, त्रिगुप्तियों से गुप्त, तीन दण्डों से विरत और निर्मोह मुनि भी विहग की भांति स्वतन्त्र भाव से भूतल पर विहार करने लगे।

—ति बेमि।।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण

# अध्ययन २० : महानिर्ग्रन्थीय

### १. सिद्धों और संयत आत्माओं को भावभरा नमस्कार कर (सिद्धाणं नमो.....भावओ)

इस अध्ययन का प्रारम्भ नमस्कार के साथ हुआ है। आगम-साहित्य में मंगल-विधि का प्रयोग विरल ही मिलता है। यहां सिद्धों और संयतों को नमस्कार किया गया है।

वृत्तिकार ने 'संयत' शब्द से आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु का ग्रहण किया है।[1]

खारवेल का शिलालेख, जो ईस्वी पूर्व १५२ का है, उसमें 'नमो अरहंताणं', 'नमो सब्ब सिधाणं'—इन दोनों पदों को नमस्कार किया गया है।[2]

इस प्रकार नमस्कार मंगल की परम्पराएं भिन्न-भिन्न रही हैं।

### २. अर्थ और धर्म का ज्ञान कराने वाली तथ्यपूर्ण (अत्थधम्मगइं तच्चं)

यहां **'अत्थधम्मगइं तच्चं'** तथा अध्ययन २८/१ में **'मोक्खमग्गगई तच्चं'**—इन दोनों में 'गइ' का अर्थ ज्ञान होना चाहिए।[3] आप्टे ने 'गइ' का अर्थ ज्ञान किया है।[4] डॉ० हर्मन जेकोबी ने 'गइ' का अर्थ मोक्ष किया है तथा अर्थ, धर्म और मोक्ष—इन तीनों की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं—"मैं सोचता हूं कि 'अत्थधम्मगइं' द्वारा अर्थ, धर्म और मोक्ष की चर्चा की गई है। यद्यपि वृत्तिकार गति का अर्थ ज्ञान करते हैं। 'कामार्थ-धर्ममोक्ष'—इस उक्तिविशेष में से काम को निकाल दिया गया है, क्योंकि साधुओं के लिए काम वर्जनीय है।"[5]

२८ वें अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'गइ' का अर्थ मोक्ष नहीं है। अर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहां इसका प्रयोग पदार्थ, साध्य या लक्ष्य के लिए किया गया प्रतीत होता है। इस प्रकार मोक्ष और धर्म—दो पुरुषार्थ की चर्चा प्रासंगिक है। 'अत्थधम्मगइ' का तात्पर्य होगा—पदार्थ, साध्यभूत मोक्ष और साधनभूत धर्म का ज्ञान।

'तच्चं' शब्द यथार्थवाद का द्योतक है। दर्शन जगत् में दो धाराएं हैं—एक प्रत्ययवाद की, दूसरी यथार्थवाद की। प्रत्ययवाद चेतना के अस्तित्व को मूल मानकर पदार्थ को केवल उसी चेतना के प्रत्यय रूप बताता है, जबकि यथार्थवाद प्रत्येक पदार्थ का वस्तुनिष्ठ अस्तित्व निरूपित करता है। 'तच्चं' तथ्य या यथार्थ के निरूपण का संकेत है। इससे यथार्थवाद फलित होता है।

जैन दर्शन पदार्थ की सत्ता को यथार्थ मानता है। 'अत्थधम्मगइं तच्चं' का तात्पर्य होगा—यथार्थवाद, जहां अर्थ (पदार्थ) और धर्म का निरूपण है।

२८/१ में 'मोक्खमग्गगइं तच्चं' का तात्पर्य होगा—यथार्थवाद, जहां मोक्ष मार्ग का निरूपण है।

'अर्थ तत्त्व का' तात्पर्य है—वस्तु का सही रूप या वास्तविक सत्य।[6]

### ३. रत्नों से (...रयणो)

यहां 'रयण' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) हीरा, पन्ना आदि रत्न तथा (२) विशिष्ट हाथी, घोड़े।[7]

राजाओं की ऋद्धि-सिद्धि में विशिष्ट लक्षणयुक्त हाथी-घोड़ों को भी 'रत्न' माना गया है।

### ४. आश्चर्य ! कैसा वर्ण और कैसा रूप है (अहो ! वण्णो अहो ! रूवं)

प्रस्तुत श्लोक में अनाथी मुनि की शरीर संपदा के लिए दो शब्दों का प्रयोग हुआ है—वर्ण और रूप। वर्ण का अर्थ है—लावण्य और रूप का अर्थ है—शरीर का आकार।[8]

### ५. प्रदक्षिणा (पयाहिणं)

इस श्लोक में वन्दन के पश्चात् 'प्रदक्षिणा' का कथन आया है। वन्दन के साथ ही 'प्रदक्षिणा' की विधि रही है तो यहां वन्दन के बाद प्रदक्षिणा का कथन कैसे—यह प्रश्न हो सकता है।

बृहद् वृत्तिकार ने इसका समाधान यों दिया है कि पूज्य व्यक्तियों के दीखते ही वन्दना करनी चाहिए। इसकी सूचना

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७२ : 'संयतेभ्यश्च' सकलसावद्यव्यापारोपरतेभ्यः आचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः इति यावत्।

२. प्राचीन भारतीय अभिलेख, द्वितीय खंड, पृष्ठ २६।

३. इसी प्रकार ३० तथा ३५ वें अध्ययन का नाम क्रमशः 'तवमग्गगई', 'अणगारमग्गगई' है।

४. आप्टे-संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी।

५. S.B.E. Vol. XLV P. 100 footnote. Atthadhammagaim arthadharmagati. I think this equal to artha dharma moksha, though the Commentators offer a different explanation by making 'gati' mean 'gnana'. The phrase is derived from the typical expression kamartha dharmamoksha by leaving out kama, which of course could not be admitted by ascetics.

६. आप्टे-संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी : अर्थ तत्त्व-The real truth, the fact of the matter. 2. The real nature or cause of anything.

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७२ : रत्नानि-मरकतादीनि प्रवरगजाश्वादिरूपाणि वा।

८. वही, पत्र ४७३ : 'वर्णः' सुस्निग्धो गौरतादिः, 'रूपम्' आकारः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देने के लिए प्रदक्षिणा का उल्लेख बाद में किया गया है।[1] किन्तु यह समाधान हृदय का स्पर्श नहीं करता। क्या इस श्लोक से यह सूचना नहीं मिलती कि वन्दना के बाद प्रदक्षिणा दी जाती थी ?

## ६. नाथ (नाहो)

अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति को 'योग' और प्राप्य वस्तु के संरक्षण को 'क्षेम' कहा जाता है। जो योग-क्षेम करने वाला होता है, वह 'नाथ' कहलाता है।[2] अनाथी मुनि ने श्रेणिक से कहा--"गृहस्थ-जीवन में मेरा कोई नाथ नहीं था। मैं मुनि बना और नाथ हो गया—अपना, दूसरों का और सब जीवों का"[3]

बौद्ध साहित्य में १० नाथ-करण धर्मों का निरूपण इस प्रकार मिलता है—

कौन दस धर्म बहुत उपकारक हैं ? दस नाथ-करण धर्म—

(१) आवुसो ! भिक्षु शीलवान्, प्रातिमोक्ष (भिक्षुनियम)-संवर (कवच) से संवृत (आच्छादित) होता है। थोड़ी सी बुराइयों (वद्य) में भी भय-दर्शी, आचार-गोचर-युक्त हो विहरता है, (शिक्षापदों को) ग्रहण कर शिक्षापदों को सीखाता है। जो यह आवुसो ! भिक्षु शीलवान्०, यह भी धर्म नाथ-करण (न अनाथ करने वाला) है।

(२) भिक्षु बहुश्रुत, श्रुतधर, श्रुत-संचयवान् होता है। जो वह धर्म आदि-कल्याण, मध्य-कल्याण, पर्यवसान-कल्याण, सार्थक=सव्यंजन हैं, (जिसे) केवल, परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य कहते हैं, वैसे धर्म, (भिक्षु) के बहुत सुने, ग्रहण किए, वाणी से परिचित, मन से अनुपेक्षित, दृष्टि से सुप्रतिविद्ध (=अन्तस्तल तक देखे) होते हैं; यह भी धर्म नाथ-करण होता है।

(३) भिक्षु कल्याण-मित्र=कल्याण-सहाय=कल्याण-संप्रवर्तक होता है। जो यह भिक्षु कल्याण-मित्र होता है, यह भी०।

(४) भिक्षु सुवच, सौवचस्य (=मधुरभाषित) वाले धर्मों से युक्त होता है। अनुशासनी (=धर्म-उपदेश) में प्रदक्षिणाग्राही= समर्थ (=क्षम) (होता है), यह भी०।

(५) भिक्षु सुब्रह्मचारियों के जो नाना प्रकार के कर्त्तव्य होते हैं, उनमें दक्ष=आलस्य-रहित होता है, उनमें उपाय= विमर्श से युक्त, करने में समर्थ=विधान में समर्थ होता है, यह भी०।

(६) भिक्षु अभिधर्म (=सूत्र में), अभि-विनय (=भिक्षु-नियमों में), धर्म-काम (=धर्मेच्छु), प्रिय-समुदाहार (=दूसरे के उपदेश को सत्कार पूर्वक सुनने वाला, स्वयं उपदेश करने में उत्साही), बड़ा प्रमुदित होता है, यह भी०।

(७) भिक्षु जैसे तैसे चीवर, पिंडपात, शयनासन, ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य-परिष्कार से सन्तुष्ट होता है०।

(८) भिक्षु अकुशल-धर्मों के विनाश के लिए, कुशल-धर्मों की प्राप्ति के लिए उद्योगी (=आरब्ध-वीर्य), स्थामवान्=दृढ़पराक्रम होता है। कुशल-धर्मों में अनिक्षिप्त=धुर (=भगोड़ा नहीं) होता०।

(९) भिक्षु स्मृतिमान्, अत्युत्तम स्मृति-परिपाक से युक्त होता है; बहुत पुराने किए, बहुत पुराने भाषण किए का भी स्मरण करने वाला, अनुस्मरण करने वाला होता है०।

(१०) भिक्षु प्रज्ञावान् उदय-अस्त-गामिनी, आर्य निर्बेधिक (=अन्तस्तल तक पहुंचने वाली), सम्यक्-दुःखक्षय-गामिनी प्रज्ञा से युक्त होता है०।[4]

## ७. (कहं नाहो न विज्जई)

श्रेणिक ने मुनि अनाथी से कहा—आपका वर्ण और आकार विस्मयकारी है। इस संपदा से युक्त होने पर भी आपके कोई नाथ नहीं हैं, यह कैसे ? क्योंकि यह लौकिक प्रवाद है—'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति'—जहां आकृति है वहां गुणों का निवास है। आप प्रशस्त आकृति के धारक हैं, इसलिए आप गुणों के आकर हैं। और भी कहा है—'गुणवति धनं ततः श्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यमिति'—गुणवान् के प्रति धन आता है। उससे उसकी श्री—शोभा बढ़ती है। उसमें आदेश देने की क्षमता बढ़ती है और अन्ततोगत्वा वह राजा होता है।[5]

## ८. आज्ञा और ऐश्वर्य (आणाइस्सरियं)

आज्ञा का अर्थ है—अस्खलित अनुशासन। वैसी आज्ञा जिसका कोई उल्लंघन करने का साहस न कर सके।

ऐश्वर्य का अर्थ है—अपार संपदा, अमित समृद्धि। इसका दूसरा अर्थ है—प्रभुत्व।[6]

## ९. (श्लोक १४)

मनुष्य के पास तीन शक्तियां होती हैं—संपदा की शक्ति, ऐश्वर्य—सत्ता की शक्ति और अध्यात्म की शक्ति। जिनके पास इन तीनों में से एक भी शक्ति होती है वह इष्टसिद्धि करने में सफल हो जाता है। इसलिए सम्राट् श्रेणिक ने अपने ऐश्वर्य की ओर मुनि का ध्यान आकर्षित किया। ऐश्वर्य के निदर्शन के रूप में एक कथा प्रचलित है—

एक बार राजा और मंत्री में विवाद हो गया कि बड़ा कौन ? अन्त में तय हुआ कि जो अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सके वही बड़ा होगा। कुछ दिन बीते। राज्य सभा जुड़ी हुई थी। सभी सभासद् अपने-अपने स्थान पर बैठे हुए थे। अवसर देखकर मंत्री ने अपने एक परम मित्र सभासद् को राजा के चाटें लगाने का निर्देश दिया। यह सुनते ही वह व्यक्ति सकपकाया और घबराया। मंत्री के द्वारा आश्वत होने पर भी

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७३ : पादवन्दनान्तरं प्रदक्षिणाऽभिधानं पूज्यानामालोक एव प्रणामः क्रियत इति ख्यापनार्थम्।

२. वही, पत्र ४७३ : 'नाथः' योगक्षेमविधाता।

३. उत्तरज्झयणाणि २०।३५ :
तओ हं नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं तसाण थावराण य।।

४. दीघनिकाय ३।११, पृ० ३१२-३१३।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७३।

६. वही, पत्र ४७४ : आज्ञा अस्खलितशासनात्मिका, ऐश्वर्यं च द्रव्यादिसमृद्धिः, यद्वा आज्ञया ऐश्वर्यम्—प्रभुत्वं आज्ञैश्वर्यम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी हिम्मत नहीं हुई कि वह राजा पर प्रहार कर दे। राजा के सामने मंत्री की शक्ति व्यर्थ चली गई।

अब राजा की बारी थी कि वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन करे। एक दिन उसने भी अपने किसी सामन्त को आज्ञापित करने हुए मंत्री को चांटे लगाने का निर्देश दिया। सामन्त ने आव देखा न ताव वह तत्काल उठा और सबके देखते-देखते मंत्री के मुंह पर तमाचा जड़ दिया।

राजा के पास सत्ता की शक्ति थी, जिसके आधार पर वह सब कुछ करा सकता था। मंत्री के पास वैसी शक्ति नहीं थी। यह अन्तर केवल सत्ता और असत्ता का ही था।

## १०. उत्पत्ति (पोत्थं)

'पोत्थं' शब्द के दो संस्कृत रूप होते हैं—प्रोत्थां और पुस्तम्। वृत्तिकार ने प्रोत्थां का अर्थ मूल उत्पत्ति किया है।[1] प्रस्तुत संदर्भ में यही अर्थ संगत लगता है।

## ११. प्राचीन नगरों में असाधारण सुन्दर (पुराणपुरभेयणी)

वृत्तिकार ने इसका शाब्दिक अर्थ—अपने गुणों से असाधारण होने के कारण अन्य नगरों से अपनी भिन्नता दिखाने वाला नगर किया है। उन्होंने एक पाठान्तर—'नगराण पुडभेयण' का उल्लेख किया है। इसका अर्थ है—प्रधान नगरी।[2]

डॉक्टर हर्मन जेकोबी ने मूल में इसका अर्थ इन्द्र किया है तथा इसकी मीमांसा करते हुए लिखा है—उत्तराध्ययन के वृत्तिकार इसका शाब्दिक अर्थ मात्र प्रस्तुत करते हैं। किन्तु यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुरभेदन का अर्थ पुरंदर—इन्द्र या पुरभिद्—शिव होना चाहिए। पुरभिद् का एक अर्थ इन्द्र भी है।[3]

प्रस्तुत प्रसंग में डॉक्टर हर्मन जेकोबी का यह अर्थ उपयुक्त नहीं लगता। 'पुराणपुरभेयणी' यह कोशांबी का विशेषण है और यह उसकी प्रधानता का सूचक मात्र है।

## १२. अन्तश्चेतना (अंतरिच्छं)

'अंतरिच्छं' शब्द के दो संस्कृत रूप बनते हैं—अन्तरेच्छं और अन्तरिक्षम्। वृत्तिकार ने अंतरेच्छं शब्द को मानकर उसका अर्थ मध्यवर्ती इच्छा किया है।[4] प्रस्तुत संदर्भ में अंतरिक्ष शब्द अधिक संगत लगता है। उसका अर्थ है—अंतश्चेतना।[5]

## १३. (श्लोक २२)

प्राचीन काल में चिकित्सा की मुख्यतः दो पद्धतियां थीं—औषध विज्ञान और भेषज विज्ञान। प्राणाचार्य द्रव्यों के रासायनिक विज्ञान के द्वारा शरीर के रोगों का निवारण करते थे। वे द्रव्यगुण परिज्ञान में निष्णात होते थे। यह औषध विज्ञान की चिकित्सा पद्धति है।

इस पद्धति के साथ-साथ मंत्र-तंत्र की चिकित्सा पद्धति का भी विकास हुआ और चिकित्सा की दृष्टि से अनेक मांत्रिक तथा तांत्रिक ग्रन्थों की रचना हुई। इस चिकित्सा पद्धति का नाम भेषज विज्ञान था।[6] इन चिकित्सा पद्धतियों से रोग निवारण करने वाले प्राणाचार्य कहलाते थे।

प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'आयरिअ' शब्द प्राणाचार्य का वाचक है।[7] यहां तीन विशेषण प्रयुक्त हैं—विद्या-मंत्र-चिकित्सक, शस्त्रकुशल या शास्त्रकुशल चिकित्सक तथा मंत्रमूल विशारद।[8] ये तीनों विशेषण भिन्न-भिन्न प्राणाचार्यों के द्योतक हैं। एक ही व्यक्ति इन तीनों में विशारद हो, ऐसा आवश्यक नहीं था। कोई आयुर्वेद में, कोई मंत्र-विद्या में और कोई शल्य-चिकित्सा में निष्णात होता था।

## १४. गुरु परम्परा से प्राप्त (जहाहियं)

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूपों की व्याख्या की है—१. यथाहितं—हित के अनुरूप २. यथाधीतं—गुरु परम्परा से आगत वमन-विरेचन आदि रूप वाली चिकित्सा[9]। इसके दो संस्कृत रूप और हो सकते हैं—१.यथाऽहितं २. यथाहृतं। अधीत का संस्कृत रूप अहिय भी बनता है। अनुवाद यथाधीत के आधार पर किया गया है।

## १५. चतुष्पाद (चाउप्पायं)

चिकित्सा के चार पाद होते हैं—वैद्य, औषध, रोगी और रोगी की शुश्रूषा करने वाले परिचारक। जहां इन चारों का पूर्ण योग होता है, उसे 'चतुष्पाद-चिकित्सा' कहते हैं।[10] स्थानांग में

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५ : प्रोत्थां वा प्रकृष्टोत्थानरूपाम्।

२. वही, पत्र ४७५ : पुराण पुरभेयणि त्ति पुराणपुराणि भिनत्ति—स्वगुणैरसाधारणत्वाद् भेदेन व्यवस्थापयति पुराणपुरभेदिनी।

३. जैन सूत्राज, पार्ट २, डॉ० जेकोबी, पृष्ठ १०२ :
मूल तथा फुटनोट-There is a Town Kausambi by name, which is among towns what Indra is (among the Gods).
Purana Purabhedani. As usual the commentators give a purely etymological explanation. But it is obvious that Purabhedana must have a similar meaning as Purandara=Indra, or Purabhid Siva. The latter word occurs in later literature only, and besides, Siva does not yet seem to have been generally acknowledged as the supreme god, when and where the Jaina Sutras were composed. The Vedic word Purbhid, 'destroyer of castles', also presents itself as an analogy; though it is not yet the exclusive epithet of a god. It is frequently applied to Indra.

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५ : 'अन्तरा' मध्ये इच्छां वा अभिमतवस्त्वभिलाषम्।

५. आप्टे—संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी : अन्तरिक्षं—'शरीरेष्वन्तः अक्षयं न पृथिव्यादिवत् क्षीयते'।

६. काश्यपसंहिता, इन्द्रियस्थान ३।४।५ :
औषधं भेषजं प्रोक्तं, द्विप्रकारं चिकित्सितम्।
औषधं द्रव्यसंयोगं, ब्रुवते दीपनादिकम्।।
हुतव्रततपोदानं, शान्तिकर्म च भेषजम्।
.....।।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५ : 'आचार्याः' इति प्राणाचार्या वैद्य इति यावत्।

८. वही, पत्र ४७५ : 'सत्थकुसल' त्ति शस्त्रेषु शास्त्रेषु वा कुशलाः शस्त्रकुशला शास्त्रकुशला वा।

९. वही, पत्र ४७५ : 'यथाहितं' हितानतिक्रमेण यथा, धीतं वा—गुरुसम्प्रदायागतवमनविरेचनकादिरूपाम्।

१०. वही, पत्र ४७५ : 'चाउप्पायं' त्ति चतुष्पदां भिषग्भैषजातुरप्रतिचारकात्मकचतुर्धा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन चारों अंगों को 'चिकित्सा' कहा गया है।[1]

### १६. पतिव्रता (अणुव्वया)

जिसका व्रत—आचार कुल के अनुरूप होता है वह स्त्री अनुव्रता कहलाती है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ पतिव्रता किया है। अणुव्वया का वैकल्पिक अर्थ अनुवया—तुल्यवयवाली हो सकता है।[2]

### १७. स्नान (ण्हाणं)

स्नान का सामान्य अर्थ है—नहाना। यहां स्नान का अर्थ है—स्नान का साधन, सुगंधित पानी आदि।[3]

देखें—दसवेआलियं ६।६३ का टिप्पण।

### १८. (फिट्टई)

भ्रंश् धातु को प्राकृत में फिट्ट आदेश होता है। इसका अर्थ है—दूर होना या नष्ट होना।[4]

### १९. दुस्सह्य (दुक्खमा हु)

इसके संस्कृत में दो रूप हो सकते हैं—दुःक्षमा खलु, दुःखमाहुः। दुःक्षमा—यह वेदना का विशेषण है इसका अर्थ है—दुस्सह्य। दुक्खमाहु—इसको संयुक्त मानने पर अर्थ होगा—वेदना का अनुभव करना। यहां आहुः क्रियापद है।

### २०. (श्लोक ३२-३३)

प्रस्तुत प्रकरण श्रद्धा चिकित्सा (Faith healing) और संकल्प का स्पष्ट निदर्शन है। अनाथी मुनि आंखों की भयंकर वेदना से पीड़ित थे। सभी प्रकार की चिकित्साएं—औषधोपचार करने पर भी उनका रोग उपशांत नहीं हुआ। जब सारे उपचार और सारे चिकित्सक उनके लिए अकिञ्चित्कर हो गए तब उन्होंने अपने लिए एक चिकित्सा की। वह उनके लिए अचूक सिद्ध हुई। वह थी श्रद्धा चिकित्सा। श्रद्धा, आत्म-विश्वास और दृढ़ संकल्प के द्वारा वे रोग मुक्त हो गये। मन ही मन अनाथी मुनि ने एक संकल्प लिया—यदि मैं इस विपुल वेदना से मुक्त हो जाऊं तो मैं अनगार वृत्ति को स्वीकार कर लूंगा। इस संकल्प के साथ वे कायोत्सर्ग की मुद्रा में सो गये। भावना का अतिरेक श्रद्धा, आस्था और आत्मविश्वास में परिणत हो गया। उस आस्था ने ही संकल्प को अध्यवसाय, सूक्ष्मतम शरीर तक पहुंचा दिया।

ज्यों-ज्यों रात बीती उनका संकल्प फलवान् बनता गया। अब संकल्प संकल्प न रहकर साध्य बन गया। सूर्योदय होने पर वे इस भयंकर बीमारी से सर्वथा मुक्त हो गए।

### २१. स्वस्थ (कल्ले)

यहां कल्ले शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—नीरोग और आने वाला दिन। प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका अर्थ स्वस्थ किया गया है।

### २२. कूटशाल्मली (कूडसामली)

ये वृक्ष विशाल होते हैं और इनकी डालियों पर छोटे-छोटे नुकीले कांटे होते हैं। फलों में से सफेद रूई निकलती है। हिन्दी में इनका नाम सेमल या सेमर है।

भावप्रकाशनिघण्टु में कूटशाल्मली और शाल्मली—इन दोनों का पृथक् उल्लेख मिलता है। इन दोनों वृक्षों में समानताएं अधिक हैं, भेद कम है।[5]

### २३. (श्लोक ३८)

डॉ० हरमन जेकोबी ने ३८ से ५३ तक की गाथाओं को प्रक्षिप्त माना है। उन्होंने इसके दो कारण बताए हैं[6]—

१. इन गाथाओं का प्रतिपाद्य विषय संदर्भ के साथ मेल नहीं खाता।
२. एक से सैंतीस गाथाओं का छन्द एक प्रकार का है और ३८ से ५३ तक की गाथाओं का छन्द भिन्न प्रकार का है।

डॉक्टर हरमन जेकोबी का यह अनुमान उचित लगता है। अनाथता की चर्चा नौवें श्लोक से शुरू होती है और वह ३७वें श्लोक में संपन्न हो जाती है। उसके पश्चात् 'तुट्ठो य सेणियो राया' इस ५४वें श्लोक में सम्राट् श्रेणिक मुनि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है। इस प्रकार यह कथावस्तु सहज प्रासंगिक बन जाती है।

### २४. सावधानी (आउत्तया)

युक्त शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—संबद्ध, उद्युक्त, सहित, समन्वित और समाहित।[7] गीता के शांकरभाष्य में इसका अर्थ समाहित किया है।[8]

उत्तराध्ययन के वृत्तिकार ने इसका अर्थ अवधानता—एकाग्रता किया है। आप्टे में भी यही अर्थ प्राप्त है।[9]

### २५. वीर पुरुष चले हैं (वीरजायं)

यह शब्द मार्ग का विशेषण है। इसके दो अर्थ किये जा सकते हैं—यह मार्ग जिस पर वीर पुरुष चले हैं अथवा वह

---

१. ठाणं, ४।५१६ : चउव्विहा तिगिच्छा पन्नत्ता, तं जहा—विज्जो ओसधाइं आउरे परिचारते।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७६ : 'अणुव्वयत्ति' अन्विति—कुलानुरूपं व्रतं—आचारोऽस्या अनुव्रता पतिव्रतेति यावत्, वयोऽनुरूपा वा।

३. वही, पत्र ४७६ : स्नात्यनेनेति स्नानं—गन्धोदकादि।

४. तुलसीमंजरी, सूत्र ८१२ : भ्रंशेः फिड-फिट्ट-फुड-फुट्ट-चुक्क भुल्लाः।

५. भावप्रकाशनिघण्टु, वटादिवर्ग, श्लोक ५४-५८।

६. जैन सूत्राज, उत्तराध्ययन, पार्ट २, पृ० १०४ :
The verses 34-53 are apparently a later addition because (1) The subject treated in them is not connected with that of the fore going part. and (2) They are composed in a different metre.

७. दसवेआलियं, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ११८।

८. गीता, ६।८ शांकरभाष्य, पृ० १७७ : युक्त इत्युच्यते योगी—युक्तः समाहितः।

९. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४७८ : आयुक्तता—दत्तावधानता।
(ख) आप्टे : To fix or direct (The mind) Towards.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग जिस पर भगवान महावीर ने परिव्रजन किया है। प्रस्तुत संदर्भ में दोनों अर्थ संगत हो सकते हैं।

## २६. (.....नियमेहि)

नियम का अर्थ है—व्यवस्था, मर्यादा। दिगम्बर साहित्य में नियम के चार अर्थ प्राप्त हैं—

१. अनन्त चतुष्टयात्मक चेतना का परिणाम।[1]

२. काल-मर्यादा से किया जाने वाला त्याग।[2]

३. सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र।[3]

४. 'यही तथा ऐसे ही करना है'—इस संकल्प से अन्य पदार्थ की निवृत्ति करना।[4]

दशवैकालिक की जिनदासचूर्णि में प्रतिमा आदि अभिग्रह को नियम कहा है।[5]

यम और नियम—ये दोनों एक ही धातु से निष्पन्न शब्द हैं। निरन्तर सेवनीय व्रत को 'यम' और समय-समय पर आचरणीय अनुष्ठान को 'नियम' कहा जाता है—**'यमास्तु सततं सेव्याः, नियमास्तु कदाचन।'** महर्षि पतंजलि ने शौच, संतोष आदि को नियम कहा है।[6]

## २७. मुंडन में रुचि (मुण्डरुई)

जो केवल सिर मुंडाने में ही श्रेय समझता है और शेष आचार—अनुष्ठानों से पराङ्मुख होता है, वह 'मुंडरुचि' कहलाता है।[7]

## २८. सिक्के (कहावणे)

भारतवर्ष का अत्यधिक प्रचलित सिक्का 'कार्षापण' था। मनुस्मृति में इसे ही 'धरण' और 'राजत-पुराण' (चांदी का पुराण) भी कहा गया है।[8] चांदी के कार्षापण या पुराण का वजन ३२ रत्ती था। सोने और ताम्बे के 'कर्ष' का वजन ८० रत्ती था। ताम्बे के कार्षापण को 'पण' कहते थे।[9] पाणिनीय सूत्र पर वार्तिक लिखते हुए कात्यायन ने 'कार्षापण' को 'प्रति' कहा है और 'प्रति' से खरीदी जाने वाली वस्तु को 'प्रतिक' कहा गया है। पाणिनि ने इन सिक्कों को 'आहत' कहा है।[10] जातकों में 'कहापण' शब्द पाया जाता है। अष्टाध्यायी में 'कार्षापण' और 'पण' ये दोनों पाये जाते हैं।[11] सम्भव है चांदी के सिक्कों का 'कार्षापण' और ताम्बे के कर्ष का नाम 'पण' रहा हो।[12]

## २९. मुद्रारहित है (अयंतिए)

वृत्तिकार ने 'अयंतिए' को मुनि का विशेषण मानकर उसका अर्थ नियंत्रण रहित किया है।[13]

हमने इस शब्द को कूटकार्षापण का विशेषण मानकर इसका अर्थ मुद्रा रहित किया है। पूरे पद का अर्थ होगा—मुद्रा रहित खोटा सिक्का।

## ३०. कुशील-वेश (कुसीललिंगं)

वृत्तिकार ने कुसीललिंग को एक शब्द मानकर उसका अर्थ पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी साधुओं का वेश किया है।[14]

किन्तु कुशील का कोई अपना स्वतन्त्र वेष यहां विवक्षित नहीं है। इसका प्रतिपाद्य यह है कि कुशील होते हुए भी जो मुनि का वेष धारण करता है। इसलिए कुशील को प्रथमा विभक्ति रहित पद मानकर इसका अर्थ किया जाए तो प्रतिपाद्य समीचीन रूप से घटित होता है।

## ३१. (हणाइ वेयाल इवाविवन्नो)

अविपन्न का अर्थ है—अनियन्त्रित, अबाधित। वेताल मंत्रों से नियंत्रित या कीलित होकर ही हित साध सकता है, अन्यथा नहीं। यदि वह अनियंत्रित होता है तो वह विनाश का हेतु बनता है।[15]

## ३२. विषयों से युक्त (विसओववन्नो)

शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये विषय हैं। इन विषयों के साथ जुड़ा हुआ धर्म तारक नहीं, मारक होता है।[16]

भगवान महावीर की यह घोषणा धर्म के क्षेत्र में एक क्रांति का स्वर है।

मार्क्स ने धर्म के विषयोपपन्न स्वरूप अथवा सत्ता और अर्थ से जुड़े हुए धर्म को लक्ष्य में रखकर ही उसे मादक कहा था।

## ३३. (कोऊहल, कुहेडविज्जा)

**'कोऊहल'**—सन्तान प्राप्ति के लिए विशेष द्रव्यों से मिश्रित जल से स्नान आदि करने को 'कौतुक' कहा जाता है।[17]

---

१. नियमसार, १ तात्पर्यवृत्ति : यः....स्वभावानन्तचतुष्टयात्मकः शुद्धज्ञानचेतनापरिणामः स नियमः।

२. रत्नकरंड श्रावकाचार ८७ : नियमः परिमितकालः।

३. नियमसार, १ तात्पर्यवृत्ति : नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते।

४. राजवार्तिक १।७।३।

५. जिनदासचूर्णि, पृ० ३७० : नियमा—पडिमाद्यो अभिग्गहविसेसा।

६. पातंजलयोगदर्शन, २।३२।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७८ : मुण्ड एव—मुण्डन एव केशापनयनात्मनि शेषानुष्ठानपरांगमुखता रुचिर्यस्यासौ मुण्डरुचिः।

८. मनुस्मृति, ८।१३५, १३६ :
पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रूप्यमाषकः।।
ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः।।

९. मनुस्मृति, ८।१३६।

१०. पाणिनि अष्टाध्यायी, ५।२।१२०।

११. (क) पाणिनि अष्टाध्यायी, ५।१।२९।
(ख) पाणिनि अष्टाध्यायी, ५।१।३४।

१२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २५७।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७८ : अयन्त्रितः अनियमितः कूटकार्षापणवत्।

१४. वही, पत्र ४७८ : कुशीललिंगं—पार्श्वस्थादिवेषम्।

१५. वही, पत्र ४७९ : वेताल इवाविवण्ण 'त्ति अविपन्नः अप्राप्तविपत् मन्त्रादिभिरनियन्त्रित इत्यर्थः।'

१६. वही, पत्र ४७९ : शब्दादिविषययुक्तो हन्ति।

१७. वही, पत्र ४७९ : कौतुकं च सपत्न्याद्यर्थं स्नपनादि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'कुहेडविज्जा'—मिथ्या आश्चर्य प्रस्तुत करने वाली मन्त्र-तन्त्रात्मक विद्या को 'कुहेटक' विद्या कहा जाता है।[1] दूसरे शब्दों में इसे 'इन्द्रजाल' कहा जा सकता है।

### ३४. विपर्यास को प्राप्त हो जाता है (विप्परियासुवेइ)

इसका अर्थ है—विपर्यास को प्राप्त हो जाता है—दुःख निवृत्ति के लिए मुनि बनता है, प्रत्युत दुःखी होता है। आयारो (२।१५१) में 'विप्परियासमुवेति' का यही अर्थ मिलता है।[2]

शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ विपरीत दृष्टि को प्राप्त होता है[3]—ऐसा किया है। किन्तु दुही पद के पश्चात् 'विप्परियासुवेइ' पाठ है, इसलिए यह तात्त्विक विपर्यास से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता।

### ३५. (उद्देसियं कीयगडं नियागं)

देखें—दसवेआलियं ३।२ का टिप्पण।

### ३६. दया (दया.....)

वृत्ति में दया का मुख्य अर्थ संयम, सत्य आदि तथा वैकल्पिक अर्थ अहिंसा किया है।[4]

### ३७. अन्तिम समय की आराधना (उत्तमट्ठं)

उत्तमार्थ का अर्थ है—मोक्ष। चार पुरुषार्थों में 'मोक्ष' उत्तम पुरुषार्थ है, इसलिए इसे उत्तमार्थ कहा गया है। प्रस्तुत आगम में दो अन्य स्थानों में भी इस पद का प्रयोग हुआ है—**'उत्तमट्ठगवेसए' (११।३२) और 'उत्तमट्ठगवेसओ' (२५।९)**। दोनों स्थानों पर वृत्तिकार ने 'उत्तमट्ठ' का अर्थ मोक्ष किया है।

प्रस्तुत प्रसंग में वृत्तिकार ने 'उत्तमट्ठ' का अर्थ अंतिम समय की आराधना किया है।[5]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७६ : कुहेटकविद्या—अलीकाश्चर्यविधायिमन्त्रज्ञानात्मिकाः।

२. आचारांगवृत्ति, पत्र १२८ : सुखार्थी.....सुखस्य च विपर्यासो दुःखं तदुपैति, उक्तं च—
'दुःखद्विट् सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वाददृष्टगुणदोषः।
यां यां करोति चेष्टां तया तया दुःखमादत्ते।।'

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७६ : 'विप्परियासुवेइ' त्ति विपर्यासं तत्त्वादिषु वैपरीत्यम्, उपैति—उपगच्छति।

४. वही, पत्र ४७६ : दया—संयमः सत्याद्युपलक्षणमहिंसा वा।

५. वही, पत्र ४७६ : उत्तमर्थेऽपि पर्यन्तसमयाराधनारूपेति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# एगविंसइमं अज्झयणं

## समुद्दपालीयं

# इक्कीसवां अध्ययन

## समुद्रपालीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन का प्रतिपादन 'समुद्दपाल'—'समुद्रपाल' के माध्यम से हुआ है, इसलिए इसका नाम 'समुद्दपालीय'—'समुद्रपालीय' रखा गया है।

चम्पा नाम की नगरी थी। वहां पालित नाम का सार्थवाह रहता था। वह श्रमणोपासक था। निर्ग्रन्थ प्रवचन में उसे श्रद्धा थी। दूर-दूर तक उसका व्यापार फैला हुआ था। एक बार वह सामुद्रिक यात्रा के लिए यानपात्र पर आरूढ़ हो घर से निकला। वह अपने साथ गणिम—सुपारी आदि तथा धरिम—स्वर्ण आदि ले चला। जाते-जाते समुद्र के तट पर पिहुण्ड नगर में रुका। अपना माल बेचने के लिए वह वहां कई दिनों तक रहा। नगरवासियों से उसका परिचय बढ़ा और एक सेठ ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया।

कुछ समय वहां रह कर वह स्वदेश को चला। उसकी नवोढ़ा गर्भवती हुई। समुद्र-यात्रा के बीच उसने एक सुन्दर और लक्षणोपेत पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया। वैभव से उसका लालन-पालन हुआ। वह ७२ कलाओं में प्रवीण हुआ। जब वह युवा बना तब ६४ कलाओं में पारंगत 'रूपिणी' नामक कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। वह उसके साथ देव तुल्य भोगों का उपभोग करता हुआ आनन्द से रहने लगा। एक बार वह प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ नगर की शोभा देख रहा था। उसने देखा कि राजपुरुष एक व्यक्ति को वध-भूमि की ओर ले जा रहे हैं। वह व्यक्ति लाल-वस्त्र पहने हुए था। उसके गले में लाल कनेर की मालाएं थीं। उसे यह समझते देर न लगी कि इसका वध किया जाएगा। यह सब देख कुमार का मन संवेग से भर गया। 'अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा'—इस चिन्तन से उसका मार्ग स्पष्ट हो गया। माता-पिता की आज्ञा ले वह दीक्षित हुआ। उसने साधना की और कर्मों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुआ।

आत्मानुशासन के उपायों के साथ-साथ इस अध्ययन में समुद्र-यात्रा का उल्लेख महत्पूर्ण है। उस काल में भारत के व्यापारी दूर-दूर तक व्यापार के लिए जाते थे। सामुद्रिक व्यापार उन्नत अवस्था में था। व्यापारियों के निजी यान-पात्र होते थे और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल लेकर आते-जाते थे। उस समय अनेक वस्तुओं का भारत से निर्यात होता था। उनमें सुपारी, स्वर्ण आदि-आदि मुख्य थे। यह विशेष उल्लेखनीय है कि उस काल में भारत के पास प्रचुर सोना था। वह उसका दूसरे देशों को निर्यात करता था।

इस अध्ययन में 'ववहार' (श्लोक ३)—'व्यवहार' और 'वज्झमंडलसोभाग' (श्लोक ८)—'वध्य-मंडन-शोभाक'—ये दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। आगम-काल में 'व्यवहार' शब्द क्रय-विक्रय का द्योतक था। आयात और निर्यात इसी के अन्तर्गत थे।[1]

'वध्य-मंडन-शोभाक'—यह शब्द उस समय के दण्ड-विधान की ओर संकेत करता है। उस समय चोरी करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। जिसे वध की सजा दी जाती, उसे कनेर के लाल फूलों की माला पहनाई जाती। उसको लाल कपड़े पहनाए जाते। शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता। सारे नगर में उसके कुकृत्यों की जानकारी दी जाती और उसे नगर के राज-मार्ग से वध-भूमि की ओर ले जाया जाता था।[2]

इस अध्ययन में तात्कालिक राज्य-व्यवस्था का उल्लेख भी हुआ है। ग्रन्थकार कहते हैं—"मुनि उचित काल में एक स्थान से दूसरे स्थान में जाए।" यह कथन साभिप्राय हुआ है। उस समय भारत अनेक इकाइयों में बंटा हुआ था। छोटे-छोटे राष्ट्र होते थे। आपसी कलह सीमा पार कर चुका था। इसीलिए मुनि को गमनागमन में पूर्ण सावधान रहने के लिए कहा है (श्लोक १४)। मौलिक दृष्टि से इस अध्ययन में 'चम्पा' (श्लोक १) और 'पिहुण्ड' (श्लोक ३) नगरों का उल्लेख हुआ है। चौबीस श्लोकों का यह छोटा-सा अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

---

१. सूयगडो, १।११।५।

२. वही, १।६, वृत्ति, पत्र १५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# एगविंसइमं अज्झयणं : इक्कीसवां अध्ययन
## समुद्दपालीयं : समुद्रपालीय

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. चंपाए पालिए नाम<br>सावए आसि वाणिए।<br>महावीरस्स भगवओ<br>सीसे सो उ महप्पणो।। | *चम्पायां पालितो नाम*<br>*श्रावक आसीद् वाणिजः।*<br>*महावीरस्य भगवतः*<br>*शिष्यः स तु महात्मनः।।* | चम्पा नगरी में[1] पालित नामक एक वाणिक्-श्रावक[2] हुआ। वह महात्मा भगवान् महावीर का शिष्य था। |
| २. निग्गंथे पावयणे<br>सावए से विकोविए।<br>पोएण ववहरंते<br>पिहुंडं नगरमागए।। | *नैर्ग्रन्थे प्रवचने*<br>*श्रावकः स विकोविदः।*<br>*पोतेन व्यवहरन्*<br>*पिहुण्डं नगरमागतः।।* | वह श्रावक निर्ग्रन्थ-प्रवचन में कोविद[3] था। वह पोत से व्यापार करता हुआ[4] पिहुण्ड नगर में[5] आया। |
| ३. पिहुंडे ववहरंतस्स<br>वाणिओ देइ धूयरं।<br>तं ससत्तं पइगिज्झ<br>सदेसमह पत्थिओ।। | *पिहुण्डे व्यवहरते*<br>*वाणिजो ददाति दुहितरम्।*<br>*तां ससत्वां प्रतिगृह्य*<br>*स्वदेशमथ प्रस्थितः।।* | पिहुण्ड नगर में व्यापार करते समय उसे किसी वणिक् ने पुत्री दी। कुछ समय ठहरने के पश्चात् वह गर्भवती को लेकर स्वदेश को विदा हुआ। |
| ४. अह पालियस्स घरणी<br>समुद्दंमि पसवई।<br>अह दारए तहिं जाए<br>समुद्दपालि त्ति नामए।। | *अथ पालितस्य गृहिणी*<br>*समुद्रे प्रसूते।*<br>*अथ दारकस्तस्मिन् जातः*<br>*समुद्रपाल इति नामकः।।* | पालित की स्त्री ने समुद्र में पुत्र का प्रसव किया। वह समुद्र में उत्पन्न हुआ, इसलिए उसका नाम समुद्रपाल रखा। |
| ५. खेमेण आगए चंपं<br>सावए वाणिए घरं।<br>संवड्ढई घरे तस्स<br>दारए से सुहोइए।। | *क्षेमेणागतश्चम्पां*<br>*श्रावको वाणिजो गृहम्।*<br>*संवर्धते गृहे तस्य*<br>*दारकः स सुखोचितः।।* | वह वणिक्-श्रावक सकुशल चम्पा नगरी में अपने घर आया। वह सुखोचित[6] पुत्र अपने घर में बढ़ने लगा। |
| ६. बावत्तरिं कलाओ य<br>सिक्खए नीइकोविए।<br>जोव्वणेण य संपन्ने<br>सुरूवे पियदंसणे।। | *द्वासप्ततिं कलाश्च*<br>*शिक्षते नीतिकोविदः।*<br>*यौवनेन च सम्पन्नः*<br>*सुरूपः प्रियदर्शनः।।* | उसने बहत्तर कलाएं[9] सीखीं और वह नीति-कोविद बना। वह पूर्ण यौवन में सुरूप और प्रिय लगने लगा। |
| ७. तस्स रूववइं भज्जं<br>पिया आणेइ रूविणिं।<br>पासाए कीलए रम्मे<br>देवो दोगुंदओ जहा।। | *तस्य रूपवतीं भार्यां*<br>*पिताऽऽनयति रूपिणीम्।*<br>*प्रासादे क्रीडति रम्ये*<br>*देवो दोगुन्दको यथा।।* | उसका पिता उसके लिए रूपिणी नामक सुन्दर स्त्री लाया। वह दोगुन्दक देव की भांति उसके साथ सुरम्य प्रासाद में क्रीड़ा करने लगा। |
| ८. अह अन्नया कयाई<br>पासायालोयणे ठिओ।<br>वज्झमंडणसोभागं<br>वज्झं पासइ वज्झगं।। | *अथान्यदा कदाचित्*<br>*प्रासादालोकने स्थितः।*<br>*वध्यमण्डनशोभाकं*<br>*वध्यं पश्यति बाह्यगम्।।* | वह कभी एक बार प्रासाद के झरोखे में बैठा हुआ था। उसने वध्य-जनोचित मण्डनों से शोभित[7] वध्य को नगर से बाहर ले जाते हुए देखा।[8] |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. तं पासिऊण संविग्गो
समुद्दपालो इणमब्बवी।
अहोसुभाण कम्माणं
निज्जाणं पावगं इमं।।

*तं दृष्ट्वा संविग्नः*
*समुद्रपाल इदमब्रवीत्।*
*अहो अशुभानां कर्मणां*
*निर्याणं पापकमिदम्।।*

उसे देख वैराग्य में भींगा हुआ[10] समुद्रपाल यों बोला—"अहो! यह अशुभ कर्मों का दुःखद निर्याण—अवसान है।"

१०. संबुद्धो सो तहिं भगवं
परं संवेगमागओ।
आपुच्छऽम्मापियरो
पव्वए अणगारियं।।

*संबुद्धः स तत्र भगवान्*
*परं संवेगमागतः।*
*आपृच्छ्याम्बापितरौ*
*प्राव्राजीदनगारिताम्।।*

वह भगवान्[11] परम वैराग्य को प्राप्त हुआ और संबुद्ध बन गया। उसने माता-पिता को पूछकर साधुत्व स्वीकार किया।

११. जहित्तु संगं च महाकिलेसं
महंतमोहं कसिणं भयावहं।
परियायधम्मं चभिरोयएज्जा
वयाणि सीलाणि परीसहे य।।

*हित्वा सङ्गञ्च महाक्लेशं*
*महामोहं कृष्णं भयावहम्।*
*पर्यायधर्मं चाभिरोचयेत्*
*व्रतानि शीलानि परीषहांश्च।।*

मुनि महान् क्लेश और महान् मोह को उत्पन्न करने वाले कृष्ण[12] व भयावह संग (आसक्ति) को छोड़कर पर्याय-धर्म (प्रव्रज्या)[13], व्रत और शील तथा परीषहों में अभिरुचि ले।

१२. अहिंस सच्चं च अतेणगं च
तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ।।

*अहिंसां सत्यं चास्तैन्यकं च*
*ततश्चब्रह्मापरिग्रहं च।*
*प्रतिपद्य पंचमहाव्रतानि*
*चरेद् धर्मं जिनदेशितं विद्वान्।।*

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच महाव्रतों को स्वीकार कर विद्वान् मुनि वीतराग-उपादिष्ट धर्म का आचरण करे।

१३. सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी
खंतिक्खमे संजयबंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो
चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइंदिए।।

*सर्वेषु भूतेषु दयानुकम्पी*
*क्षान्तिक्षमः संयतब्रह्मचारी।*
*सावद्ययोगं परिवर्जयन्*
*चरेद् भिक्षुः सुसमाहितेन्द्रियः।।*

सुसमाहित-इन्द्रिय वाला भिक्षु सब जीवों के प्रति दयानुकम्पी[14] रहे। क्षान्तिक्षम[15], संयत और ब्रह्मचारी हो। वह सावद्य योग का वर्जन करता हुआ विचरण करे।

१४. कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे
बलाबलं जाणिय अप्पणो य।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा
वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु।।

*कालेन कालं विहरेत् राष्ट्रे*
*बलाबलं ज्ञात्वाऽऽत्मनश्च।*
*सिंह इव शब्देन न संत्रस्येत्*
*वचोयोगं श्रुत्वा नासभ्यमाह।।*

मुनि अपने बलावल को तौलकर कालोचित कार्य करता हुआ[16] राष्ट्र में विहरण करे। वह सिंह की भांति भयावह शब्दों से संत्रस्त न हो। वह कुवचन सुन असभ्य वचन न बोले।

१५. अवेहमाणो उ परिव्वएज्जा
पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थभिरोयएज्जा
न यावि पूयं गरहं च संजए।।

*उपेक्षमाणस्तु परिव्रजेत्*
*प्रियमप्रियं सर्वं तितिक्षेत।*
*न सर्वं सर्वत्राभिरोचयेत्*
*न चापि पूजां गर्हां च सजेत्।।*

संयमी मुनि कुवचनों की उपेक्षा करता हुआ[17] परिव्रजन करे। प्रिय और अप्रिय सब कुछ सहे। सर्वत्र सब (जो कुछ देखे उसी)[18] की अभिलाषा न करे तथा पूजा और गर्हा की भी अभिलाषा न करे।[19]

१६. अणेगछंदा इह माणवेहिं
जे भावओ संपगरेइ भिक्खू।
भयभेरवा तत्थ उइंति भीमा
दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा।।

*अनेकच्छन्दः इह मानवेषु*
*यान् भावतः संप्रेकरोति भिक्षुः।*
*भयभैरवास्तत्रोद्यन्ति भीमाः*
*दिव्या मानुष्याः अथवा तैरश्चाः।।*

संसार मे मनुष्यों में जो अनेक अभिप्राय होते हैं वस्तु-वृत्त्या वे भिक्षु में भी होते हैं। किन्तु भिक्षु उन पर अनुशासन करे और साधुपन में देव, मनुष्य अथा तिर्यञ्च सम्बन्धी भय पैदा करने वाले भीषण-भीषणतम उपसर्ग उत्पन्न हों, उन्हें सहन करे।

१७. परीसहा दुव्विसहा अणेगे
सीयंति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू
संगामसीसे इव नागराया।।

*परीषहा दुर्विषहा अनेके*
*सीदन्ति यत्र बहुकातरा नराः।*
*स तत्र प्राप्तो न व्यथेत् भिक्षुः*
*सङ्ग्रामशीर्ष इव नागराजः।।*

जहां अनेक दुस्सह परीषह प्राप्त होते हैं, वहां बहुत सारे कायर लोग खिन्न हो जाते हैं। किन्तु भिक्षु उन्हें प्राप्त होकर व्यथित न बने—जैसे संग्रामशीर्ष (मोर्चे) पर नागराज व्यथित नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. सीओसिणा दंसमसा य फासा
आयंका विविहा फुसंति देहं।
अकुक्कुओ तत्थहियासएज्जा
रयाइं खेवेज्ज पुरेकडाइं।।

*शीतोष्णं दंशमशकाश्च स्पर्शाः*
*आतङ्का विविधाः स्पृशन्ति देहम्।*
*अकुक्कूचस्तत्राधिसहेत*
*रजांसि क्षपयेत् पुराकृतानि।।*

शीत, ऊष्ण, डांस, मच्छर, तृण-स्पर्श और विविध प्रकार के आतङ्क जब देह का स्पर्श करें तब मुनि शान्त भाव से[२०] उन्हें सहन करे, पूर्वकृत रजों (कर्मों) को क्षीण करे।

१९. पहाय रागं च तहेव दोसं
मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो।
मेरु व्व वाएण अकंपमाणो
परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा।।

*प्रहाय रागं च तथैव दोषं*
*मोहं च भिक्षुः सततं विचक्षणः।*
*मेरुरिव वातेनाऽकम्पमानः*
*परीषहान् आत्मगुप्तः सहेत।।*

विचक्षण भिक्षु राग, द्वेष और मोह का सतत त्याग कर, वायु में मेरु की भांति अकम्पमान होकर तथा आत्मगुप्त बनकर[२१] परीषहों को सहन करे।

२०. अणुन्नए नावणए महेसी
न यावि पूयं गरहं च संजए।
स उज्जुभावं पडिवज्ज संजए
निव्वाणमग्गं विरए उवेइ।।

*अनुन्नतो नावनतो महर्षिः*
*न चापि पूजां गर्हां च सजेत्।*
*स ऋजुभावं प्रतिपद्य संयतः*
*निर्वाणमार्गं विरत उपैति।।*

पूजा में उन्नत और गर्हा में अवनत न होने वाला[२२] महैषी मुनि उन (पूजा और गर्हा) में लिप्त न हो।[२३] अलिप्त रहने वाला वह विरत संयमी आर्जव को स्वीकार कर निर्वाण-मार्ग को प्राप्त होता है।

२१. अरइरइसहे पहीणसंथवे
विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई
छिन्नसोए अममे अकिंचणे।।

*अरतिरतिसहः प्रहीणसंस्तवः*
*विरतः आत्महितः प्रधानवान्।*
*परमार्थपदेषु तिष्ठति*
*छिन्नशोकोऽममोऽकिंचनः।।*

जो अरति और रति को सहने वाला, परिचय को[२४] क्षीण करने वाला, अकर्त्तव्य से विरत रहने वाला, आत्म-हित करने वाला तथा प्रधानवान् (संयमवान्)[२५] होता है, वह छिन्न-शोक (अशोक)[२६] ममत्वमुक्त और अकिंचन होकर परमार्थ-पदों में[२७] स्थित होता है।

२२. विवित्तलयणाइ भएज्ज ताई
निरोवलेवाइ असंथडाइं।
इसीहि चिण्णाइ महायसेहिं
काएण फासेज्ज परीसहाइं।।

*विविक्तलयनानि भजेत त्रायी*
*विरुपलेपान्यसंस्तृतानि।*
*ऋषिभिश्चीर्णानि महायशोभिः*
*कायेन स्पृशेत् परीषहान्।।*

त्रायी मुनि महायशस्वी ऋषियों द्वारा आचीर्ण, अलिप्त[२७] और असंस्तृत (बीज आदि से रहित) विविक्त लयनों (एकान्त स्थानों) का[२८] सेवन करे तथा काया से परीषहों को सहन करे।

२३. सण्णाणनाणोवगए महेसी
अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।
अणुत्तरे नाणधरे जसंसी
ओभासई सूरिए वंतलिक्खे।।

*सज्ज्ञानज्ञानोपगतो महर्षिः*
*अनुत्तरं चरित्वा धर्मसंचयम्।*
*अनुत्तरः ज्ञानधरः यशस्वी*
*अवभासते सूर्य इवान्तरिक्षे।।*

सद्ज्ञान से ज्ञान-प्राप्त करने वाला महैषी मुनि अनुत्तर धर्म-संचय का आचरण कर अनुत्तर ज्ञानधारी और यशस्वी होकर अन्तरिक्ष में सूर्य की भांति दीप्तिमान् होता है।

२४. दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं
निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं
समुद्दपाले अपुणागमं गए।।

*द्विविधं क्षपयित्वा च पुण्यपापं*
*निरङ्गणः सर्वतो विप्रमुक्तः।*
*तरित्वा समुद्रमिव महाभवौघं*
*समुद्रपालोऽपुनरागमां गतः।।*

समुद्रपाल संयम में निश्चल[३०] और सर्वतः मुक्त होकर, पुण्य और पाप दोनों को क्षीण कर तथा विशाल संसार प्रवाह को समुद्र की भांति तरकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) में गया है।

—त्ति बेमि।।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण

# अध्ययन २१ : समुद्रपालीय

### १. चंपा नगरी में (चंपाए)

यह अंग जनपद की राजधानी थी। वर्तमान में इसकी पहचान भागलपुर से २४ मील पूर्व में स्थित आधुनिक 'चंपापुर' और 'चम्पानगर' नामक दो गांवों से की जाती है।

विशेष विवरण के लिए देखें—परिशिष्ट १, भौगोलिक परिचय।

### २. श्रावक (सावए)

भगवान् महावीर का संघ चार भागों में विभक्त था—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका।[1] भगवान् ने दो प्रकार का धर्म बताया—अगार-चारित्र-धर्म और अनगार-चारित्र-धर्म।[2] जो अगार-चारित्र-धर्म का पालन करता है, वह श्रावक या श्रमणोपासक कहलाता है।

### ३. कोविद (विकोविए)

बहुत से श्रावक भी निर्ग्रन्थ प्रवचन के विद्वान् होते थे।[3] औपपातिक सूत्र में श्रावकों को लब्धार्थ, पृष्टार्थ, गृहीतार्थ आदि कहा गया है।[4] राजीमती के लिए भी 'बहुश्रुत' विशेषण प्रयुक्त है।[5]

### ४. पोत से व्यापार करता हुआ (पोएण ववहरंते)

भारत में नौका व्यापार करने की परम्परा बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद (१।२५।७; १।४८।३; १।५६।२; १।११६।३; २।४८।३; ७।८८।३-४) में समुद्र में चलने वाली नावों का उल्लेख आता है तथा भुज्युनाविक के बहुत दूर चले जाने पर मार्ग भूल जाने व पूषा की स्तुति करने पर सुरक्षित लौट आने का वर्णन है।

पण्डार जातक (२।१२८, ५।७५) में ऐसे जहाजों का उल्लेख है, जिनमें लगभग पांच सौ व्यापारी यात्रा कर रहे थे; जो कि डूब गए। विनय-पिटक में पूर्ण नामी एक भारतीय व्यापारी के छः बार समुद्र-यात्रा करने का वर्णन है। संयुक्त-निकाय (२।११५, ५।५१) व अंगुत्तर-निकाय (४।२७) में छः छः महीने तक नाव द्वारा की जाने वाली समुद्र-यात्रा का वर्णन है। दीघ-निकाय (१।२२२) में वर्णन आता है कि दूर-दूर देशों तक समुद्र-यात्रा करने वाले व्यापारी अपने साथ पक्षी रखते थे। जब जहाज स्थल से बहुत दूर दूर पहुंच जाता और भूमि के कोई चिन्ह दिखाई नहीं देते, तब उन पक्षियों को छोड़ दिया जाता था। यदि भूमि निकट ही रहती तो वे पक्षी वापस नहीं आते अन्यथा थोड़ी देर तक इधर-उधर उड़कर वापस आ जाते थे।

आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार जल-पोतों का निर्माण भगवान् ऋषभ के काल में हुआ था।[6] जैन-साहित्य में 'जलपत्तन' के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[7] वहां नौकाओं के द्वारा माल आता था।

सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि में दुस्तर-कार्य की समुद्र-यात्रा से तुलना की गई है।[8] नालन्दा के लेप नामक गाहावई के पास अनेक यान-पात्र थे।[9] सिंहलद्वीप, जावा, सुमात्रा आदि में अनेक व्यापारी जाते थे। ज्ञाता-धर्मकथा (१।६) में जिनपालित और जिनरक्षित के बारह बार लवण-समुद्र की यात्रा करने का उल्लेख है। लवण-समुद्र-यात्रा का प्रलम्ब वर्णन ज्ञाता-धर्मकथा (१।१७) में भी है।

### ५. पिहुंड नगर में (पिहुंडं)

यह समुद्र के किनारे पर स्थित एक नगर था। विशेष विवरण के लिए देखें—परिशिष्ट १, भौगोलिक परिचय।

### ६. सुखोचित (सुहोइए)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ सुकुमार किया है।[10] प्रस्तुत आगम में १६।३४ में सुखोचित और सुकुमार—दोनों शब्द का एक साथ प्रयोग है। इसलिए सुखोचित का अर्थ—सुख भोगने के योग्य होना चाहिए।

### ७. बहत्तर कलाएं (बावत्तरिं कलाओ)

बहत्तर कलाओं की जानकारी के लिए देखें—समवाओ, समवाय ७२।

---

१. ठाणं, ४/६०५ : चउव्विहे संघे पं० तं०—समणा समणीओ सावया साविआओ।

२. वही, २/१०६ : चरित्तधम्मे दुविहे पं० तं०—अगारचरित्तधम्मे चेव अणगारचरित्तधम्मे चेव।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२८ 'नैर्ग्रन्थे' निग्रन्थसम्बन्धिनि 'पावयणे' त्ति प्रवचने श्रावकः सः इति पालितो विशेषेण कोविदः—पंडितो विकोविदः।

४. ओवाइयं, सूत्र १२०।

५. उत्तरज्झयणाणि, २२।३२ : सीलवंता बहुस्सुया।

६. आवश्यक निर्युक्ति, २१४ : पोता तह सागरंमि वहणाई।

७. (क) बृहत्कल्प भाष्य, भाग २, पृ० ३४२।
(ख) आचारांग चूर्णि, पृ० २८१।

८. (क) सूयगडो, १।११।५।
(ख) उत्तरज्झयणाणि, ८।६।

९. सूयगडो, २।७।६६।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३ : सुखोचितः—सुकुमारः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ८. वध्यजनोचित मंडनों से शोभित (वज्झमंडणसोभागं)

इन शब्दों में एक प्राचीन परम्परा का संकेत मिलता है। प्राचीन काल में चोरी करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। जिसे वध की सजा दी जाती थी, उसके गले में कणेर के लाल फूलों की माला पहनाई जाती, उसे लाल कपड़े पहनाए जाते, उसके शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता और उसे सारे नगर में घुमाते हुए उसके वध्य होने की जानकारी देते हुए उसे श्मशान की ओर ले जाया जाता था।[1]

### ९. बाहर से जाते हुए देखा (पासइ वज्झगं)

बृहद्वृत्ति के अनुसार इसके संस्कृत रूप दो होते हैं—बाह्यगं, वध्यगं। बाह्यग का अर्थ है—नगर से बाहर ले जाया जाता हुआ तथा वध्यग का अर्थ है—वध्यभूमि में ले जाया जाता हुआ।[2]

### १०. वैराग्य में भीगा हुआ (संविग्गो)

'संविग्गो' यह समुद्रपाल का विशेषण है। बृहद्वृत्ति में 'संवेग' पाठ है और वह चोर के लिए प्रयुक्त है। 'संवेग' का अर्थ है—संसार के प्रति उदासीनता और मोक्ष की अभिलाषा अर्थात् वैराग्य। यहां वैराग्य के हेतुभूत वध्य पुरुष को संवेग माना है।[3]

### ११. भगवन् (भगवं)

'भग' शब्द के अनेक अर्थ हैं। वृत्तिकार ने यहां इसका अर्थ महात्म्य किया है। इसका तात्पर्यार्थ है—ऐश्वर्य सम्पन्न।

### १२. कृष्ण (कसिणं)

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—कृत्स्न और कृष्ण। संग कृष्णलेश्या के परिणाम का हेतु बनता है, इसलिए उसे कृष्ण कहा गया है। यह चूर्णिकार का अभिमत है।[4] वृत्ति में कृत्स्न और कृष्ण—दोनों रूप उपलब्ध है।[5] अर्थ की दृष्टि से कृष्ण रूप अधिक प्रासंगिक है।

### १३. पर्यायधर्म (प्रव्रज्या) (परियायधम्मं)

पर्याय शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। पर्याय का एक अर्थ है—दीक्षा। पर्याय धर्म का अर्थ है—मुनि धर्म।

चूर्णिकार ने पर्याय का अर्थ संयम-पर्याय और धर्म का अर्थ श्रुतधर्त किया है।[6] वृत्ति में पर्याय का अर्थ है—प्रव्रज्या-पर्याय और धर्म का अर्थ है—पर्यायधर्म—प्रव्रज्याधर्म।[7]

### १४. दयानुकम्पी (दयाणुकंपी)

बृहद्वृत्ति के अनुसार दया के दो अर्थ हैं—हितोपदेश देना, रक्षा करना।

जो हितोपदेश और सब प्राणियों की रक्षा—अहिंसा रूप दया—से कम्पन-शील होता है, वह 'दयानुकम्पी' कहलाता है।[8]

### १५. क्षांतिक्षम (खंतिक्खमे)

जो क्षान्ति से कुवचनों को सहन करता है, वह 'क्षान्ति-क्षम' कहलाता है, किन्तु अशक्ति से सहन करने वाला नहीं।[9]

### १६. कालोचित कार्य करता हुआ (कालेण कालं)

यहां 'काल' शब्द समयोचित कार्य करने के अर्थ में प्रयुक्त है। जिस समय में जो कार्य करणीय होता है, उसी काल में उसे सम्पन्न करना, जैसे—स्वाध्याय काल में स्वाध्याय, प्रतिलेखन के समय प्रतिलेखन, वैयावृत्य के समय वैयावृत्य करना आदि। उत्सर्ग और अपवाद—इन दोनों प्रकार के नियमों का अपनी-अपनी मर्यादा में प्रयोग—उत्सर्ग काल में उत्सर्ग के नियमों का और अपवाद काल में अपवाद के नियमों का पालन करना 'कालेण कालं' का तात्पर्यार्थ है।[10]

### १७. उपेक्षा करता हुआ (उवेहमाणो)

उपेक्षा का एक अर्थ है—उप+ईक्षा—निकटता से देखना। इसका दूसरा अर्थ है—उपेक्षा करना, उदासीन रहना। प्रस्तुत श्लोक में यह दूसरा अर्थ ही प्रासंगिक है।

### १८. (न सव्व सव्वत्थभिरोयएज्जा)

शान्त्याचार्य के अभिमत से इसके दो अर्थ हैं[11]—

१. जो कुछ देखे उसी को न चाहे।
२. एक बार विशेष कारण से जिसका सेवन करे, उसका सर्वत्र सेवन न करे।

---

१. (क) सूत्रकृतांग, १।६ वृत्ति, पत्र १५०, चूर्णि, पृ० १८४ : चोरो रक्तकणवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३ : वधमर्हति वध्यस्तस्य मण्डनानि—रक्तचन्दनकरवीरादीनि तैः शोभा—तत्कालोचितपरभागलक्षणा यस्यासौ वध्यमण्डनशोभाकस्तम्।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३ : बाह्यं—नगरबहिर्वर्त्तिप्रदेशं गच्छतीति बाह्यगस्तं, कोऽर्थः?—बहिर्निष्कामन्तं, यद् वा वध्यगम् इह वध्यशब्देनोपचाराद् वध्यभूमिरुक्ता।

३. वही, पत्र ४८३ : संवेग—संसारवैमुख्यतो मुक्त्यभिलाषस्तद् हेतुत्वात् सोऽपि संवेगस्तम्।

४. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २६१ : कृष्णं—कृष्णलेश्यापरिणामि।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८५ : कसिणं ति कृत्स्नं कृष्णं वा कृष्णलेश्यापरिणाम-हेतुत्वेन।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २६१ : संयमपर्याये स्थित्वा श्रुतधर्मे अभिरुचिं करोति।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८५ : परियाय त्ति प्रक्रमात् प्रव्रज्यापर्यायस्तत्र धर्मः पर्यायधर्मः।

८. वही, पत्र ४८५ : दयया—हितोपदेशादिनात्मिकया रक्षणरूपया वाऽनुकम्पनशीलो दयानुकम्पी।

९. वही, पत्र ४८५-४८६ : क्षान्त्या न त्वशक्त्या क्षमते—प्रत्यनीकाद्युदीरित दुर्वचनादिकं सहत इति क्षान्तिक्षमः।

१०. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ट २६२ : कालेण कारणभूतेन यद् यस्मिन् काले कर्त्तव्यं तत् तस्मिन्नेव समाचरति, स्वाध्यायकाले स्वाध्यायं करोति, एवं प्रतिलेखनकाले प्रतिलेखयति, वैयावृत्यकाले वैयावृत्यं, उपसर्गकाले उपसर्ग अपवादकाले अपवादं करोति।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८६ : न सव्वन्ति सर्वं वस्तु सर्वत्रस्थानेऽभ्यरोचयेत न यथादृष्टाभिलाषुकोऽभूदिति भावः, यदि वा यदकेत्र पुष्टालम्बनतः सेवितं न तत् सर्वम्—अभिमताहारादि सर्वत्राभिलषितवान्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### १९. (न यावि पूयं गरहं च संजए)

मुनि पूजा और गर्हा की अभिलाषा न करे। वृत्तिकार ने गर्हा के विषय में एक विमर्श प्रस्तुत किया है। कुछ विचारकों का मत था कि गर्हा (आत्मगर्हा या हीन भावना) से कर्म का क्षय होता है। इस मत से असहमति प्रगट करने के लिए गर्हा का ग्रहण किया गया है—ऐसा वृत्तिकार का अभिमत है। गर्हा का वैकल्पिक अर्थ परापवाद किया गया है।[1] उसकी अभिलाषा न करना स्वाभाविक है।

### २०. शांतभाव से (अकुक्कुओ)

उत्तराध्ययन १।३० में 'अप्पकुक्कुए' शब्द प्रयुक्त है। इसकी वृत्ति में शान्त्याचार्य ने 'कुक्कुए' का अर्थ कौत्कुच अर्थात् चंचल किया है।[2] प्रस्तुत आगम के ३६।२६३ में 'कोक्कुइय' का अर्थ 'कौक्कुच्य' किया है।[3] प्रस्तुत श्लोक में वृत्तिकार ने अकुक्कुओ का अर्थ उक्त दोनों अर्थों से भिन्न किया है। अकुक्कुओ (सं० अकुक्कुजः) अर्थात् आक्रन्दन करने वाला।[4] यहां भी 'कुक्कुय' शब्द 'कौत्कुच' के अर्थ में हो सकता है, फिर भी वृत्तिकार ने इसका अर्थ वह क्यों नहीं किया, यह विमर्शनीय है।

### २१. आत्मगुप्त बनकर (आयगुत्ते)

यहां आत्मा शब्द शरीर के अर्थ में प्रयुक्त है। जो व्यक्ति कूर्म की भांति अपने संपूर्ण अंग को संकुचित कर लेता है, गुप्त कर लेता है, वह आत्मगुप्त कहलाता है।[5]

### २२. पूजा में उन्नत और गर्हा में अवनत न होने वाला (अणुन्नए नावणए)

चूर्णि में इसका अर्थ है—मुनि चलते समय ऊंचा मुंह कर या बहुत नीचा मुंह कर न चले, किन्तु युगान्तरभूमी को देखते हुए चले।[6]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—पूजा के प्रति उन्नत और गर्हा के प्रति अवनत।[7]

### २३. लिप्त न हो (न...संजए)

इस पाठ के विषय में दो कल्पनाएं की जा सकती हैं—

(१) अनुस्वार को अलाक्षणिक माना जाए।

(२) मूल पाठ 'सज्जए' हो।

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'सजेत्' दिया है। इसका अर्थ है—लिप्त होना।

### २४. परिचय को... (...संथवे)

संस्तव का अर्थ है—परिचय। चूर्णि में दो प्रकार का संस्तव माना है—वचन संस्तव और संवाससंस्तव।[8] वृत्ति में पूर्वसंस्तव, ख्यात्संस्तव, वचनसंस्तव तथा संवाससंस्तव—ये चार प्रकार के संस्तवों की चर्चा है। माता-पिता, भाई-बहिन आदि का परिचय पूर्वसंस्तव है। शाश-श्वसुर, साला-साली का परिचय पश्चात्संस्तव है। जिनके साथ बातचीत का अधिक संबंध रहता है वह वचनसंस्तव है। जिनके साथ अधिक रहने का संबंध बनता है वह संवाससंस्तत है।[9]

### २५. प्रधानवान् (संयमवान्) (पहाणवं)

वृत्ति में प्रधान का अर्थ संयम है। संयम मुक्ति का हेतु है, इसलिए उसे प्रधान कहा गया है।[10] बुद्धि और समझ भी इसके अर्थ मिलते हैं।[11] 'प्रधान' शब्द को संज्ञावाची मानने पर ही प्रधानवान् हो सकता है। यहां 'उपहाणवं' पाठ का अनुमान भी किया जा सकता है। उपधान का अर्थ है तपस्या। उपधानवान् अर्थात् तपस्वी।

### २६. छिन्न-शोक (अशोक) (छिन्नसोए)

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—छिन्नस्रोतस् और छिन्नशोकः। चूर्णिकार ने प्रथम रूप को मानकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है—जिस व्यक्ति के मिथ्यादर्शन आदि सारे स्रोत सूख जाते हैं, दूर हो जाते हैं, वह छिन्नस्रोत वाला होता है।[12] वृत्तिकार ने इसको वैकल्पिक अर्थ मानकर इसका अर्थ छिन्नशोक—जिसके सारे शोक दूर हो गए हैं—किया है।[13]

### २७. परमार्थ-पदों में (परमट्ठपएहिं)

परमार्थ का अर्थ है—मोक्ष। जिन साधनों के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, वे परमार्थपद कहलाते हैं। वे तीन हैं—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र।[14]

### २८. अलिप्त (निरोवलेवाइ)

जो स्थान अकृत, अकारित और असंकल्पित हैं तथा जो संयम का उपघात करने वाले तत्त्वों से रहित हैं, वे निरुपलेप होते हैं। यह चूर्णि का अभिमत है।[15] वृत्तिकार ने

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८६ : इह च गर्हातोऽपि कर्मक्षय इति केचिदतस्तन्मतव्यवच्छेदार्थं गर्हाग्रहणं, यद्वा गर्हा-परापवादरूपा।

२. वही, पत्र ५८, ५६ : ...कौत्कुचं—करचरणभ्रूभ्रूक्षणाद्यसच्चेष्टात्मकमस्येति...कौत्कुचः।

३. वही, पत्र ७०६ : कौक्कुच्यं द्विधा—कायकौक्कुच्यं वाक्कौक्कुच्यं च।

४. वही, पत्र ४८६ : अकुक्कुय त्ति आर्षत्वात् कुत्सितं कूजति—पीडितः सन्नाक्रन्दति कुकूजो न तथेत्यकुकूजः।

५. वही, पत्र ४८६ : आत्मना गुप्तः—आत्मगुप्तः—कूर्मवत् संकुचितसर्वांगः।

६. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २६२ : तथा गात्यर्थमुन्नतेन च चात्यर्थमवनतेन, किं? युगान्तरलोकिना गन्तव्यम्।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८७ : उन्नतो हि पूजां प्रति अवनतश्च गर्हां प्रति।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २६२।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८७।

१०. वही, पत्र ४८७ : प्रधानः स च संयमो मुक्तिहेतुत्वात्।

११. आप्टे—संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २६३ : मिथ्यादर्शनादीनि श्रोतांसि छिन्नानि—अपगतानि तस्य।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८७।

१४. वही, पत्र ४८७ : परमार्थो मोक्षः, स पद्यते—गम्यते यैस्तानि परमार्थपदानि—सम्यग्दर्शनादीनि।

१५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २६३ : स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितानि लयनानि सेवति, तान्येव विशेष्यन्ते, अकृतमकारितमसंकल्पितानि संयमोपघातविरहितानि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसक्ति के उपलेप से रहित स्थानों को निरुपलेप माना है।[1]

**२९. विविक्त लयनों—एकान्त स्थानों का (विवित्तलयणाइ)**

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—स्त्री आदि रहित उपाश्रय किया है।[2] लयन का मुख्य अर्थ 'पहाड़ों में कुरेदा हुआ गृह' (गुफा) होता है। 'लेणी' शब्द इसी 'लयण' या 'लेण' का अपभ्रंश है।

**३०. निश्चल (निरंगणे)**

'निरंगण' शब्द के दो संस्कृत रूप किए जा सकते हैं—निरंगण और निरञ्जन। निरंगण का अर्थ है—लेप रहित। निरंजन का एक अर्थ है—गति रहित, निश्चल और दूसरा अर्थ है—देह अथवा अभिव्यक्ति रहित। प्राकृत में 'जकार' को 'गकारादेश' होता है। इसलिए 'निरंजन' का 'निरंगण' रूप बन सकता है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८७ : निरुपलेपानि—अभिष्वंगरूपोपलेपवर्जितानि।

२. वही, पत्र ४८७ : विविक्तलयनानि स्त्र्यादिविरहितोपाश्रयरूपाणि विविक्तत्वादेव च।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# बाइसमं अज्झयणं

## रहनेमिज्जं

# बावीसवां अध्ययन

## रथनेमीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में अन्धक-कुल के नेता समुद्रविजय के पुत्र रथनेमि का वृत्तान्त है, इसलिए इसका नाम 'रहनेमिज्जं'—'रथनेमीय' है।

सोरियपुर नाम का नगर था। वहां वृष्णि-कुल के वसुदेव राज्य करते थे। उनके दो रानियां थीं—रोहिणी और देवकी। रोहिणी के एक पुत्र था। उसका नाम 'बलराम' था और देवकी के पुत्र का नाम 'केशव' था।

उसी नगर में अन्धक-कुल के नेता समुद्रविजय राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा था। उसके चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि। अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थङ्कर हुए और रथनेमि तथा सत्यनेमि प्रत्येक-बुद्ध हुए।[1]

उस समय सोरियपुर में द्वैध-राज्य था। अन्धक और वृष्णि—ये दो राजनैतिक दल वहां का शासन चलाते थे। वसुदेव वृष्णियों के नेता थे और समुद्रविजय अन्धकों के। इस प्रकार की राज्य-प्रणाली को 'विरुद्ध-राज्य' कहा जाता था।

कार्तिक कृष्णा द्वादशी को अरिष्टनेमि का जीव शिवा रानी के गर्भ में आया। माता ने १४ स्वप्न देखे। श्रावण शुक्ला ५ को रानी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया। स्वप्न में रिष्टरत्नमय नेमि देखे जाने के कारण पुत्र का नाम अरिष्टनेमि रखा। वे आठ वर्ष के हुए। कृष्ण ने कंस का वध कर डाला। महाराज जरासंध यादवों पर कुपित हो गया। मरने के भय से सभी यादव पश्चिमी समुद्र तट पर चले गए। वहां द्वारवती नगरी में सुख से रहने लगे। कुछ समय के बाद बलराम और कृष्ण ने जरासंध को मार डाला और वे राजा बन गए। अरिष्टनेमि युवा बने। वे इन्द्रिय-विषयों से पराङ्मुख रहने लगे। एक बार समुद्रविजय ने केशव से कहा—"ऐसा कोई उपक्रम किया जाए जिससे कि अरिष्टनेमि विषयों में प्रवृत्त हो सके।" केशव ने रुक्मणी, सत्यभामा आदि को इस ओर प्रयत्न करने के लिए कहा। अनेक प्रयत्न किए गए। अनेक प्रलोभनों से उन्हें विचलित करने का प्रयास किया गया। पर वे अपने लक्ष्य पर स्थिर रहे। एक बार केशव ने कहा—"कुमार! ऋषभ आदि अनेक तीर्थङ्कर भी गृहस्थाश्रम के भोगों को भोग कर, पश्चिम-वय में दीक्षित हुए थे। उन्होंने भी मोक्ष प्राप्त कर लिया। यह परमार्थ है।" अरिष्टनेमि ने नियति की प्रबलता जान केशव की बात स्वीकार कर ली। केशव ने समुद्रविजय को सारी बात कही। वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और योग्य कन्या की गवेषणा करने लगे। भोज-कुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री राजीमती को अरिष्टनेमि के योग्य समझ विवाह की बातचीत की। उग्रसेन ने इसे अनुग्रह मान स्वीकार कर लिया। दोनों कुलों में वर्द्धापन हुआ। विवाह से पूर्व समस्त कार्य सम्पन्न हुए। विवाह का दिन आया राजीमती अलंकृत हुई। कुमार भी अलंकृत हो मत्त हाथी पर आरूढ़ हुए। सभी दसार एकत्रित हुए। बाजे बजने लगे। मंगल दीप जलाए गए। वर-यात्रा प्रारम्भ हुई। हजारों लोगों ने उसे देखा। वह विवाह-मण्डप के पास आई। राजीमती ने दूर से अपने भावी पति को देखा। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई।

उसी समय अरिष्टनेमि के कानों में करुण शब्द पड़े। उन्होंने सारथी से पूछा—"यह शब्द क्या है?" सारथी ने कहा—"देव! यह करुण शब्द पशुओं का है। वे आपके विवाह में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों के लिए भोज्य बनेंगे। मरण-भय से वे आक्रन्दन कर रहे हैं।" अरिष्टनेमि ने कहा—"यह कैसा आनन्द! जहां हजारों मूक और दीन पशुओं का वध किया जाता है। ऐसे विवाह से क्या जो संसार के परिभ्रमण का हेतु बनता है!" हाथी को अपने निवास की ओर मोड़ दिया। अरिष्टनेमि को मुड़ते देख राजीमती मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़ी। स्वजनों ने ठण्डा जल छिड़का, पंखा झला। मूर्च्छा दूर हुई। चैतन्य प्राप्त कर वह विलाप करने लगी। अरिष्टनेमि ने अपने माता-पिता के पास जा प्रव्रज्या के लिए आज्ञा मांगी। वे तीन सौ वर्ष तक अगारवास में रह श्रावण शुक्ला ५ को सहस्राम्रवन उद्यान की बेले की तपस्या में दीक्षित हो गए।

अब रथनेमि राजीमती के पास आने-जाने लगे। उन्होंने कहा—"देवी! विषाद मत करो। अरिष्टनेमि वीतराग हैं। वे विषयानुबन्ध नहीं करते। तुम मुझे स्वीकार करो। मैं जीवन भर तुम्हारी आज्ञा मानूंगा।" भगवती राजीमती का मन काम-भोगों से निर्विण्ण हो चुका था। उसे रथनेमि की प्रार्थना अयुक्त लगी।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४४३-४४५ :
सोरियपुरंमि नयरे, आसी राया समुद्दविजओत्ति।
तस्सासि अग्गमहिसी, सिवत्ति देवी अणुज्जंगी।।
तेसिं पुत्ता चउरो, अरिट्ठनेमी तहेव रहनेमी।
तइओ अ सच्चनेमी, चउत्थओ होई दढनेमि।।
जो सो अरिट्ठनेमी, बावीसइमो अहेसि सो अरिहा।
रहनेमि सच्चनेमी, एए पत्तेयबुद्धा उ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक बार उसने मधुघृत संयुक्त पेय पीया और जब रथनेमि आए तब मदन फल खा उल्टी की और रथनेमि से कहा—"इस पेय को पीएं।" उसने कहा—"वमन किए गए को कैसे पीऊं?" राजीमती ने कहा—"क्या तुम यह जानते हो?" रथनेमि ने कहा—"इस बात को बालक भी जानता है।" राजीमती ने कहा—"यदि यह बात है तो मैं भी अरिष्टनेमि द्वारा वान्त हूं। मुझे ग्रहण करना क्यों चाहते हो? धिक्कार है तुम्हें जो वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करते हो! इससे तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर है।" इसके बाद राजीमती ने धर्म कहा। रथनेमि जागृत हुए और आसक्ति से उपरत हुए। राजीमती दीक्षाभिमुख हो अनेक प्रकार के तप और उपधानों को करने लगी।

भगवान अरिष्टनेमि केवली हुए। देवों ने केवली-महोत्सव किया रथनेमि प्रव्रजित हुए। राजीमती भी अनेक राजकन्याओं के साथ प्रव्रजित हुई। एक बार भगवान् अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर समवसृत थे। साध्वी राजीमती अनेक साध्वियों के साथ वन्दना करने गई। अचानक ही वर्षा प्रारम्भ हो गई। साथ वाली सभी साध्वियां इधर-उधर गुफाओं में चली गईं। राजीमती भी एक गुफा में गई[1] उसी गुफा में मुनि रथनेमि पहले से ही बैठे हुए थे। राजीमती को यह ज्ञात नहीं था। गुफा में अन्धकार व्याप्त था। उसने अपने कपड़े सूखने के लिए फैलाए। नग्नावस्था में उसे देख रथनेमि का मन विचलित हो गया। अचानक ही राजीमती ने रथनेमि को देख लिया और शीघ्र ही अपनी बाहों से अपने आपको ढकती हुई वह वहीं बैठ गई। रथनेमि ने कहा—"मै। तेरे में अत्यन्त अनुरक्त हूं। तेरे बिना मैं शरीर धारण नहीं कर सकता। तू मुझे स्वीकार कर। अवस्था आने पर हम दोनों संयम-मार्ग को स्वीकार कर लेंगे।" राजीमती ने विषयों के दारुण-विपाक, जीवन की अस्थिरता और व्रत-भंग के फल का निरूपण किया। उसे धर्म कहा। वह संबुद्ध हुआ। राजीमती का अभिनन्द कर वह अपने माण्डलिक साधुओं में चला गया। राजीमती भी आर्यिका के पास चली गई।

निर्युक्तिकार के अनुसार प्रत्येक बुद्ध रथनेमि चार सौ वर्षों तक गृहस्थवास में रहे, एक वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में और पांच सौ वर्ष तक केवली पर्याय में रहे।[2]

संयम को विशुद्ध पालते हुए दोनों—रथनेमि और राजीमती सिद्ध,बुद्ध और मुक्त हो गए। राजीमती का जीवन-काल भी रथनेमि जितना ही रहा।[3]

इस अध्ययन के ४२, ४३, ४४, ४६ और ४६—ये पांच श्लोक दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन में ज्यों-के-त्यों आए हैं।

इस अध्ययन में आए हुए भोज, अन्धक और वृष्णि—ये तीन शब्द प्राचीन कुलों के द्योतक हैं।

पूरे कथानक के लिए देखें—सुखबोधा, पत्र २७७-२८२।

---

१. उस गुफा को आज भी राजीमती गुफा कहा जाता है।—विविध तीर्थकल्प, पृ० ६।

२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा, ४४६।

३. वही, गाथा ४४७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# बाइसमं अज्झयणं : बावीसवां अध्ययन
## रहनेमिज्जं : रथनेमीय

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. सोरियपुरंमि नयरे<br>आसि राया महिड्ढिए।<br>वसुदेवे त्ति नामेणं<br>रायलक्खणसंजुए।। | *सोरियपुरे नगरे*<br>*आसीद्राजा महर्द्धिकः।*<br>*वसुदेव इति नाम्ना*<br>*राजलक्षणसंयुतः।।* | सोरियपुर[1] नगर में राज-लक्षणों से युक्त[2] वसुदेव नामक महान् ऋद्धिमान् राजा था। |
| २. तस्स भज्जा दुवे आसी<br>रोहिणी देवई तहा।<br>तासिं दोण्हं पि दो पुत्ता<br>इट्ठा रामकेसवा।। | *तस्य भार्ये द्वे आस्तां*<br>*रोहिणी देवकी तथा।*<br>*तयोर्द्वयोरपि द्वौ पुत्रौ*<br>*इष्टौ रामकेशवौ।।* | उसके रोहिणी और देवकी नाम दो भार्याएं थीं। उन दोनों के राम और केशव—ये दो प्रिय पुत्र थे। |
| ३. सोरियपुरंमि नयरे<br>आसि राया महिड्ढिए।<br>समुद्दविजए नामं<br>रायलक्खणसंजुए।। | *सोरियपुरे नगरे*<br>*आसीद्राजा महर्द्धिकः।*<br>*समुद्रविजयो नाम*<br>*राजलक्षणसंयुतः।।* | सोरियपुर नगर में राज-लक्षणों से युक्त समुद्रविजय नामक महान् ऋद्धिमान् राजा था। |
| ४. तस्स भज्जा सिवा नाम<br>तीसे पुत्तो महायसो।<br>भगवं अरिट्ठनेमि त्ति<br>लोगनाहे दमीसरे।। | *तस्य भार्या शिवा नाम*<br>*तस्याः पुत्रो महायशाः।*<br>*भगवानरिष्टनेमिरिति*<br>*लोकनाथो दमीश्वरः।।* | उसके शिवा नामक भार्या थी। उसके भगवान् अरिष्टनेमि नामक पुत्र हुआ। वह लोकनाथ एवं जितेन्द्रियों में प्रधान था। |
| ५. सोरिट्ठनेमिनामो उ<br>लक्खणस्सरसंजुओ।<br>अट्ठसहस्सलक्खणधरो<br>गोयमो कालगच्छवी।। | *सोऽरिष्टनेमिनामा तु*<br>*स्वरलक्षणसंयुतः।*<br>*अष्टसहस्रलक्षणधरः*<br>*गौतमः कालकच्छविः।।* | वह अरिष्टनेमि स्वर लक्षणों[3] से युक्त, एक हजार आठ शुभ-लक्षणों का धारक[4], गौतम गोत्री और श्याम वर्ण वाला था। |
| ६. वज्जरिसहसंघयणो<br>समचउरंसो झसोयरो।<br>तस्स राईमइं कन्नं<br>भज्जं जायइ केसवो।। | *वज्रऋषभसंहननः*<br>*समचतुरस्रो झषोदरः।*<br>*तस्य राजीमतीं कन्यां*<br>*भार्यां याचते केशवः।।* | वह वज्रऋषभ संहनन[5] और समचतुरस्र संस्थान वाला[6] था। उसका उदर मछली के उदर जैसा था। केशव ने उसके लिए राजीमती कन्या की मांग की। |
| ७. अह सा रायवरकन्ना<br>सुसीला चारुपेहिणी।<br>सव्वलक्खणसंपुन्ना<br>विज्जुसोयामणिप्पभा।। | *अथ सा राजवरकन्या*<br>*सुशीला चारुप्रेक्षिणी।*<br>*सर्वलक्षणसम्पूर्णा*<br>*विद्युत्सौदामिनीप्रभा।।* | वह राजकन्या सुशील, चारु-प्रेक्षिणी (मनोहर-चितवन वाली), स्त्री-जनोचित सर्व-लक्षणों से परिपूर्ण और चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी।[7] |
| ८. अहाह जणओ तीसे<br>वासुदेवं महिड्ढियं।<br>इहागच्छऊ कुमारो<br>जा से कन्नं दलाम हं।। | *अथाह जनकस्तस्याः*<br>*वासुदेवं महर्द्धिकम्।*<br>*इहागच्छतु कुमारः*<br>*येन तस्मै कन्यां ददाम्यहम्।।* | उसके पिता उग्रसेन[8] ने महान् ऋद्धिमान् वासुदेव से कहा—"कुमार यहां आए तो मैं उसे अपनी कन्या दे सकता हूं।" |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. सव्वोसहीहि ण्हविओ
कयकोउयमंगलो।
दिव्वजुयलपरिहिओ
आभरणेहिं विभूसिओ।।

*सर्वौषधिभिः स्नापितः*
*कृतकौतुकमंगलः।*
*परिहितदिव्ययुगलः*
*आभरणैर्विभूषितः।।*

अरिष्टनेमि को सर्व औषधियों के जल से[६] नहलाया गया, कौतुक और मंगल किए गए,[७] दिव्य वस्त्र-युगल[८] पहनाया गया और आभरणों से विभूषित किया गया।

१०. मत्तं च गंधहत्थिं
वासुदेवस्स जेट्ठगं।
आरूढो सोहए अहियं
सिरे चूडामणी जहा।।

*मत्तं च गन्धहस्तिनं*
*वासुदेवस्य ज्येष्ठकम्।*
*आरूढः शोभतेऽधिकं*
*शिरसि चूडामणिर्यथा।*

वासुदेव के मदवाले ज्येष्ठ गन्धहस्ती पर[९] आरूढ़ अरिष्टनेमि सिर पर चूड़ामणि की भांति बहुत सुशोभित हुआ।

११. अह ऊसिएण छत्तेण
चामराहि य सोहिए।
दसारचक्केण य सो
सव्वओ परिवारिओ।।

*अथोच्छ्रितेन छत्रेण*
*चामराभ्यां च शोभितः*
*दशारचक्रेण च स*
*सर्वतः परिवारितः।।*

अरिष्टनेमि ऊंचे छत्र-चामरों से सुशोभित और दसार-चक्र से[१०] सर्वतः परिवृत था।

१२. चउरंगिणीए सेनाए
रइयाए जहक्कमं।
तुरियाण सन्निनाएण
दिव्वेण गगणं फुसे।।

*चतुरङ्गिण्या सेनया*
*रचितया यथाक्रमम्।*
*तूर्याणां सन्निनादेन*
*दिव्येन गगनस्पृशा।।*

यथाक्रम सजाई हुई चतुरंगिनी सेना और वाद्यों के गगन-स्पर्शी दिव्यनाद—

१३. एयारिसीए इड्ढीए
जुईए उत्तिमाए य।
नियगाओ भवणाओ
निज्जाओ वण्हिपुंगवो।।

*एतादृश्या ऋद्ध्या*
*द्युत्या उत्तमया च।*
*निजकात् भवनात्*
*निर्यातो वृष्णिपुङ्गवः।।*

ऐसी उत्तम ऋद्धि और उत्तम द्युति के साथ वह वृष्णिपुङ्गव[११] अपने भवन से चला।

१४. अह सो तत्थ निज्जंतो
दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पंजरेहिं च
सन्निरुद्धे सुदुक्खिए।।

*अथ स तत्र निर्यन्*
*दृष्ट्वा प्रणान् भयद्रुतान्।*
*वाटैः पञ्जरैश्च*
*सन्निरुद्धान् सुदुःखितान्।।*

वहां जाते हुए उसने भय से संत्रस्त, बाड़ों और पिंजरों में निरुद्ध, सुदुःखित प्राणियों को देखा।[१२]

१५. जीवियंतं तु संपत्ते
मंसट्ठा भक्खियव्वए।
पासेत्ता से महापन्ने
सारहिं इणमब्बवी।।

*जीवितान्तं तु सम्प्राप्तान्*
*मांसार्थं भक्षयितव्यान्।*
*दृष्ट्वा स महाप्रज्ञः*
*सारथिमिदमब्रवीत्।।*

वे मरणासन्न दशा को प्राप्त[१३] थे और मांसाहार के लिए[१४] खाए जाने वाले थे। उन्हें देख कर महाप्रज्ञ[१५] अरिष्टनेमि ने सारथि से[१६] इस प्रकार कहा—

१६. कस्स अट्ठा इमे पाणा
एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहिं पंजरेहिं च
सन्निरुद्धा य अच्छहिं ?।।

*कस्यार्थादिमे प्राणा*
*एते सर्वे सुखैषिणः।*
*वाटैः पञ्जरैश्च*
*सन्निरुद्धाश्च आसते ?।।*

"सुख की चाह रखने वाले ये[२०] सब प्राणी किसलिए इन वाड़ों और पिंजरों में रोके हुए हैं ?"

१७. अह सारही तओ भणइ
एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झं विवाहकज्जंमि
भोयावेउं बहुं जणं।।

*अथ सारथिस्ततो भणति*
*एते भद्रास्तु प्राणिनः।*
*तव विवाहकार्ये*
*भोजयितुं बहुं जनम्।।*

सारथि ने कहा—"ये भद्र[२१] प्राणी तुम्हारे विवाह-कार्य में बहुत जनों को खिलाने के लिए यहां रोके हुए हैं।"

१८. सोऊण तस्स वयणं
बहुपाणिविणासणं
चिंतेइ से महापन्ने
साणुक्कोसे जिएहि उ।।

*श्रुत्वा तस्य वचनं*
*बहुप्राणिविनाशनम्।*
*चिन्तयति स महाप्रज्ञः*
*सानुक्रोशो जीवेषु तु।।*

सारथि का बहुत जीवों के वध का प्रतिपादक वचन सुन कर जीवों के प्रति सकरुण उस महाप्रज्ञ अरिष्टनेमि ने सोचा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. जइ मज्झ कारणा एए
हम्मिहिंति बहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं
परलोगे भविस्सई।।

*यदि मम कारणादेते*
*हनिष्यन्ते बहवो जीवाः।*
*न मे एतत्तु निःश्रेयसं*
*परलोके भविष्यति।।*

"यदि मेरे निमित्त से इन बहुत से जीवों का वध होने वाला है तो यह परलोक में[२२] मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा।"

२०. सो कुंडलाण जुयलं
सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि
सारहिस्स पणामए।।

*स कुण्डलयोर्युगलं*
*सूत्रकं च महायशाः।*
*आभरणानि च सर्वाणि*
*सारथये अर्पयति।।*

उस महायशस्वी अरिष्टनेमि ने दो कुंडल, करधनी और सारे आभूषण उतार कर सारथि को दे दिए।[२३]

२१. मणपरिणामे य कए
देवा य जहोइयं समोइण्णा।
सव्वड्ढीए सपरिसा
निक्खमणं तस्स काउं जे।।

*मनःपरिणामश्च कृतः*
*देवाश्च यथाचितं समवतीर्णाः।*
*सर्वर्द्धया सपरिषदः*
*निष्क्रमणं तस्य कर्तुं 'जे'।।*

अरिष्टनेमि के मन में जैसे ही निष्क्रमण (दीक्षा) की भावना हुई, वैसे ही उसका निष्क्रमण-महोत्सव करने के लिए औचित्य के अनुसार देवता आए। उनका समस्त वैभव और उनकी परिषदें उनके साथ थीं।

२२. देवमणुस्सपरिवुडो
सीयारयणं तओ समारूढो।
निक्खमिय बारगाओ
रेवययंमि ट्ठिओ भगवं।।

*देवमनुष्यपरिवृतः*
*शिविकारत्नं ततः समारूढः।*
*निष्क्रम्य द्वारकातः*
*रैवतके स्थितो भगवान्।।*

देव और मनुष्यों से परिवृत भगवान् अरिष्टनेमि शिविका-रत्न में[२४] आरूढ़ हुआ। द्वारका से[२५] चल कर वह रैवतक (गिरनार) पर्वत पर स्थित हुआ।

२३. उज्जाणं संपत्तो
ओइण्णो उत्तिमाओ सीयाओ।
साहस्सीए परिवुडो
अह निक्खमई उ चित्ताहिं।।

*उद्यानं सम्प्रातः*
*अवतीर्णः उत्तमायाः शिविकातः।*
*साहस्र्या परिवृतः*
*अथ निष्क्रामति तु चित्रायाम्।।*

अरिष्टनेमि सहस्राम्रवन उद्यान में पहुंच कर उत्तम शिविका से नीचे उतरा। उसने एक हजार मनुष्यों के साथ चित्रा नक्षत्र में निष्क्रमण किया।

२४. अह से सुगंधगंधिए
तुरियं मउयकंचिए।
सयमेव लुंचई केसे
पंचमुट्ठीहिं समाहिओ।।

*अथ स सुगन्धिगन्धिकान्*
*त्वरितं मृदुककुंचितान्।*
*स्वयमेव लुंचति केशान्*
*पंचमुष्टिभिः समाहितः।।*

समाहित अरष्टिनेमि ने सुगन्ध से सुवासित सुकुमार और घुंघराले बालों का पंचमुष्टि से अपने आप तुरन्त लोच किया।

२५. वासुदेवो च णं भणइ
लुत्तकेसं जिइंदियं।
इच्छियमणोरहे तुरियं
पावेसू तं दमीसरा!।।

*वासुदेवश्चेमं भणति*
*लुप्तकेशं जितेन्द्रियम्।*
*ईप्सितमनोरथं त्वरितं*
*प्राप्नुहि त्वं दमीश्वर!।।*

वासुदेव ने लुंचितकेश और जितेन्द्रिय अरिष्टनेमि से कहा---दमीश्वर! तुम अपने इच्छित-मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो।

२६. नाणेणं दंसणेणं च
चरित्तेण तहेव य।
खंतीए मुत्तीए
वड्ढमाणो भवाहि य।।

*ज्ञानेन दर्शनेन च*
*चारित्रेण तथैव च।*
*'क्षान्त्या मुक्त्या*
*वर्धमानो भव च।।*

तुम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षान्ति और मुक्ति से बढ़ो।

२७. एवं ते रामकेसवा
दसारा य बहू जणा।
अरिट्ठणेमिं वंदित्ता
अइगया बारगापुरिं।।

*एवं तौ रामकेशवौ*
*दशाराश्च बहवो जनाः।*
*अरिष्टनेमिं वन्दित्वा*
*अतिगता द्वारकापुरीम्।।*

इस प्रकार राम, केशव, दसार तथा दूसरे बहुत से लोग अरिष्टनेमि को वन्दना कर द्वारकापुरी में लौट आए।

२८. सोऊण रायकन्ना
पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
नीहासा य निराणंदा
सोगेण उ समुत्थया।।

*श्रुत्वा राजकन्या*
*प्रव्रज्यां सा जिनस्य तु।*
*निर्हासा च निरानन्दा*
*शोकेन तु समवस्तृता।।*

अरिष्टनेमि ने प्रव्रज्या की बात को सुन कर राजकन्या राजीमती अपनी हंसी-खुशी और आनन्द को खो बैठी। वह शोक से स्तब्ध हो गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९. राईमई विचिंतेइ
धिरत्थु मम जीवियं।
जा हं तेण परिच्चत्ता
सेयं पव्वइउं मम।।

*राजीमती विचिन्तयति*
*धिगस्तु मम जीवितम्।*
*याऽहं तेन परित्यक्ता*
*श्रेयः प्रव्रजितुं मम।।*

राजीमती ने सोचा—मेरे जीवन को धिक्कार है। जो मैं अरिष्टनेमि के द्वारा परित्यक्त हूं। अब मेरे लिए प्रव्रजित होना ही श्रेय है।

३०. अह सा भमरसन्निभे
कुच्चफणगपसाहिए।
सयमेव लुंचई केसे
धिइमंता ववस्सिया।।

*अथ सा भ्रमरसन्निभान्*
*कूर्चफणकप्रसाधितान्।*
*स्वयमेव लुंचति केशान्*
*धृतिमती व्यवसिता।।*

धीर एवं कृत-निश्चय राजीमती ने कूर्च[२६] व कंघी से[२७] संवारे हुए भौंरे जैसे काले केशों का अपने आप लुंचन किया।[२८]

३१. वासुदेवो य णं भणइ
लुत्तकेसं जिइंदियं।
संसारसागरं घोरं
तर कन्ने! लहुं लहुं।।

*वासुदेवश्चेमां भणति*
*लुप्तकेशां जितेन्द्रियाम्।*
*संसारसागरं घोरं*
*तर कन्ये! लघु लघु।।*

वासुदेव ने लुंचित केशवाली और जितेन्द्रिय राजीमती से कहा—हे कन्ये! तू घोर संसार-सागर का अतिशीघ्रता से पार प्राप्त कर।

३२. सा पव्वइया संती
पव्वावेसी तहिं बहुं।
सयणं परियणं चेव
सीलवंता बहुस्सुया।।

*सा प्रव्रजिता सती*
*प्रावीव्रजत् तत्र बहुं।*
*स्वजनं परिजनं चैव*
*शीलवती बहुश्रुता।।*

शीलवती एवं बहुश्रुत राजीमती ने प्रव्रजित हो कर द्वारका में बहुत स्वजन और परिजन को प्रव्रजित किया।

३३. गिरिं रेवययं जंती
वासेणुल्ला उ अंतरा।
वासंते अंधयारम्मि
अंतो लयणस्स सा ठिया।।

*गिरिं रैवतकं यान्ती*
*वर्षेणार्द्रा त्वन्तरा।*
*वर्षत्यन्धकारे*
*अन्तर्लयनस्य सा स्थिता।।*

वह अरिष्टनेमि को वंदना करने रैवतक पर्वत पर जा रही थी। बीच में वर्षा से भींग गई। वर्षा हो रही थी, अन्धेरा छाया हुआ था, उस समय वह लयन (गुफा) में ठहर गई।

३४. चीवराइं विसारंती
जहाजाय त्ति पासिया।
रहनेमी भग्गचित्तो
पच्छा दिट्ठो य तीइ वि।।

*चीवराणि विसारयन्ती*
*यथाजातेति दृष्टा।*
*रथनेमिर्भग्नचित्तः*
*पश्चाद् दृष्टश्च तयाऽपि।।*

चीवरों को सुखाने के लिए फैलाती हुई राजीमती को रथनेमि ने यथाजात (नग्न) रूप में देखा। वह भग्न-चित्त हो गया। बाद में राजीमती ने भी उसे देख लिया।

३५. भीया य सा तहिं दट्ठुं
एगंते संजयं तयं।
बाहाहिं काउं 'संगोफं'
वेवमाणी निसीयई।।

*भीता च सा तत्र दृष्ट्वा*
*एकान्ते संयतं तकम्।*
*बाहुभ्यां कृत्वा 'संगोफं'*
*वेपमाना निषीदति।।*

एकान्त में उस संयति को देख वह डरी और दोनों भुजाओं के गुम्फन से वक्ष को ढांक कर[२९] कांपती हुई बैठ गई।

३६. अह सो वि रायपुत्तो
समुद्दविजयंगओ।
भीयं पवेवियं दट्ठुं
इमं वक्कं उदाहरे।।

*अथ सोऽपि राजपुत्रः*
*समुद्रविजयाऽङ्गजः।*
*भीतां प्रवेपितां दृष्ट्वा*
*इदं वाक्यमुदाहरत्।।*

उस समय समुद्रविजय के अंगज राज-पुत्र रथनेमि ने राजीमती को भीत और प्रकम्पित देख कर यह वचन कहा—

३७. रहनेमी अहं भद्दे
सुरूवे! चारुभासिणि!।
ममं भयाहि सुयणू!
न ते पीला भविस्सई।।

*रथनेमिरहं भद्रे!*
*सुरूपे! चारुभाषिणि!।*
*मां भजस्व सुतनु!*
*न ते पीडा भविष्यति।।*

भद्रे! मैं रथनेमि हूं। सुरूपे! चारुभाषिणि! तू मुझे स्वीकार कर। सुतनु![३०] तुझे कोई पीड़ा नहीं होगी।

३८. एहि ता भुंजिमो भोए
माणुस्सं खु सुदुल्लहं।
भुत्तभोगा तओ पच्छा
जिणमग्गं चरिस्सिमो।।

*एहि तावत् भुंजामहे भोगान्*
*मानुष्यं खलु सुदुर्लभम्।*
*भुक्तभोगास्ततः पश्चाद्*
*जिनमार्गं चरिष्यामः।।*

आ, हम भोग भोगें। निश्चित ही मनुष्य-जीवन बहुत दुर्लभ है। भुक्त-भोगी हो, फिर हम जिन-मार्ग पर चलेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. दट्ठूण रहनेमिं तं
भग्गुज्जोयपराइयं।
राईमई असंभंता
अप्पाणं संवरे तहिं।।

*दृष्ट्वा रथनेमिं तं*
*भग्नोद्योगपराजितम्।*
*राजीमत्यसम्भ्रान्ता*
*आत्मानं समवारीत् तत्र।।*

रथनेमि को संयम में उत्साहहीन और भोगों से पराजित देख कर राजीमती संभ्रान्त नहीं हुई। उसने वहीं अपने शरीर को वस्त्रों से ढंक लिया।

४०. अह सा रायवरकन्ना
सुट्ठिया नियमव्वए।
जाई कुलं च सीलं च
रक्खमाणी तयं वए।।

*अथ सा राजवरकन्या*
*सुस्थिता नियमव्रते।*
*जातिं कुलं च शीलं च*
*रक्षन्ती तकमवदत्।।*

नियम और व्रत में[३१] सुस्थित राजवर-कन्या राजीमती ने जाति, कुल और शील की रक्षा करते हुए रथनेमि से कहा—

४१. जइ सि रूवेण वेसमणो
ललिएण नलकूबरो।
तहा वि ते न इच्छामि
जइ सि सक्खं पुरंदरो।।

*यद्यसि रूपेण वैश्रमणः*
*ललितेन नलकूबरः।*
*तथापि त्वां नेच्छामि*
*यद्यसि साक्षात् पुरन्दरः।।*

यदि तू रूप में वैश्रमण है, लालित्य से नलकूबर है और तो क्या, यदि तू साक्षात् इन्द्र है तो भी मैं तुझे नहीं चाहती।

(पक्खंदे जलियं जोइं
धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं
कुले जाया अगंधणे।।)

*(प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं*
*धूमकेतुं दुरासदम्।*
*नेच्छन्ति वान्तकं भोक्तुं*
*कुले जाता अगन्धने।।)*

(अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प ज्वलित, विकराल, धूमशिख-अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु (जीने के लिए) वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते।)

४२. धिरत्थु ते जसोकामी!
जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं
सेयं ते मरणं भवे।।

*धिगस्तु त्वां यशस्कामिन्!*
*यस्त्वं जीवितकारणात्।*
*वान्तमिच्छस्यापातुं*
*श्रेयस्ते मरणं भवेत्।।*

हे यशःकामिन्![३२] धिक्कार है तुझे। जो तू भोगी-जीवन के लिए वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है।[३३] इससे तो तेरा मरना श्रेय है।

४३. अहं च भोयरायस्स
तं च सि अंधगवण्हिणो।
मा कुले गंधणा होमो
संजमं निहुओ चर।।

*अहं च भोजराजस्य*
*त्वं चाऽसि अन्धकवृष्णेः।*
*मा कुले गन्धनौ भूव*
*संयमं निभृतश्चर।।*

मैं भोज-राज की पुत्री हूं और तू अन्धक-वृष्णि का[३४] पुत्र। हम कुल में गन्धन सर्प[३५] की तरह न हों। तू निभृत हो—स्थिर मन हो—संयम का पालन कर।

४४. जइ तं काहिसि भावं
जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हढो
अट्ठिअप्पा भविस्ससि।।

*यदि त्वं करिष्यसि भावं*
*या या द्रक्ष्यसि नारीः।*
*वाताविद्धः इव हटः।*
*अस्थितात्मा भविष्यसि।।*

यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा तो वायु से आहत हट (जलीय वनस्पति—काई)[३६] की तरह अस्थितात्मा हो जाएगा।

४५. गोवालो भंडवालो वा
जहा तद्दव्व ऽणिस्सरो।
एवं अणिस्सरो तं पि
सामण्णस्स भविस्ससि।।

*गोपालो भाण्डपालो वा*
*यथा तद् द्रव्यानीश्वरः।*
*एवमनीश्वरस्त्वमपि*
*श्रामण्यस्य भविष्यति।।*

जैसे गोपाल और भाण्डपाल[३७] गायों और किराने के स्वामी नहीं होते, इसी प्रकार तू भी श्रामण्य का स्वामी नहीं होगा।

(कोहं माणं निगिण्हित्ता
मायं लोभं च सव्वसो।
इंदियाइं वसे काउं
अप्पाणं उवसंहरे।।)

*(क्रोधं मानं निगृह्य*
*मायां लोभं च सर्वशः।*
*इन्द्रियाणि वशीकृत्य*
*आत्मानमुपसंहरेः।।)*

(तू क्रोध और मान का निग्रह कर। माया और लोभ पर सब प्रकार से विजय पा। इन्द्रियों को अपने अधीन बना। अपने शरीर का उपसंहार कर—उसे अनाचार से निवृत्त कर)।

४६. तीसे सो वयणं सोच्चा
संजयाए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो
धम्मे संपडिवाइओ।।

*तस्याः स वचनं श्रुत्वा*
*संयतायाः सुभाषितम्।*
*अंकुशेन यथा नागो*
*धर्मे सम्प्रतिपादितः।।*

संयमिनी के इन सुभाषित वचनों को सुनकर, रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गया, जैसे अंकुश से हाथी होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४७. मणगुत्तो वयगुत्तो
कायगुत्तो जिइंदिओ।
सामण्णं निच्चलं फासे
जावज्जीवं दढव्वओ।।

*मनोगुप्तो वचोगुप्तः*
*कायगुप्तो जितेन्द्रियः।*
*श्रामण्यं निश्चलमस्प्राक्षीत्*
*यावज्जीवं दृढव्रतः।।*

वह मन, वचन और काया से गुप्त, जितेन्द्रिय तथा दृढ़व्रती हो गया। उसने फिर आजीवन निश्चल भाव से श्रामण्य का पालन किया।

४८. उग्गं तवं चरित्ताणं
जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं।।

*उग्रं तपश्चरित्वा*
*जातौ द्वावपि केवलिनौ।*
*सर्वं कर्म क्षपयित्वा*
*सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम्।।*

उग्र-तप का आचरण कर तथा सब कर्मों को खपा, वे दोनों (राजीमती और रथनेमि) अनुत्तर सिद्ध को प्राप्त हुए।

४९. एवं करेंति संबुद्धा
पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु
जहा सो पुरिसोत्तमो।।

*एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः*
*पण्डिताः प्रविचक्षणाः।*
*विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः*
*यथा स पुरुषोत्तमः।।*

सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते हैं—वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे कि पुरुषोत्तम रथनेमि हुआ।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन २२ : रथनेमीय

### १. सोरियपुर (सोरियपुरंमि)

यह कुशावर्त जनपद की राजधानी थी।

विशेष विवरण के लिए देखें—परिशिष्ट—१, भौगोलिक परिचय।

### २. राज-लक्षणों से युक्त (रायलक्खणसंजुए)

सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार राजा के लक्षण चक्र, स्वस्तिक, अंकुश आदि होते हैं और योग्यता की दृष्टि से त्याग, सत्य, शौर्य आदि गुण।[1] तीसरे श्लोक की वृत्ति में राजा के लक्षण छत्र, चामर, सिंहासन आदि राज-चिन्ह बताए गए हैं।[2]

### ३. स्वर-लक्षणो... (लक्खणस्सर...)

शान्त्याचार्य में सौन्दर्य, गाम्भीर्य आदि को स्वर-लक्षण माना है।[3] आर्ष प्राकृत के अनुसार यहां 'सर' और 'लक्खण' का व्यत्यय है। 'सरलक्खण' के स्थान पर 'लक्खणस्सर' ऐसा प्रयोग है।[4]

### ४. एक हजार आठ शुभ लक्षणों का धारक (अट्ठसहस्स—लक्खणधरो)

शरीर के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले छत्र, चक्र, अंकुश आदि रेखा-जनित आकारों को 'लक्षण' कहा जाता है।[5] साधारण मनुष्यों के शरीर में ३२, बलदेव तथा वासुदेव के १०८, चक्रवर्ती और तीर्थंकर के १००८ लक्षण होते हैं।[6]

### ५. वज्रऋषभ संहनन (वज्जरिसहसंघयणो)

संहनन का अर्थ है—अस्थि-बन्धन—हड्डियों के बन्धन। इसके छह प्रकार हैं—

(१) वज्रऋषभ-नाराच।
(२) ऋषभ-नाराच।
(३) नाराच।
(४) अर्ध नाराच।
(५) कीलिका।
(६) असंप्राप्तसृपाटिका।[7]

जिसमें सन्धि की दोनों हड्डियां आप में आंटी लगाए हुए हों, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो, चौथी हड्डी की कील उन तीनों को भेद कर रही हुई हो, ऐसे सुदृढ़तम अस्थि-बन्धन का नाम 'वज्रऋषभ-नाराच संहनन' है।

### ६. समचतुरस्र संस्थान वाला (समचउरंसो)

संस्थान का अर्थ है—शरीर की आकृति। उसके छह प्रकार हैं—

(१) समचतुरस्र।
(२) न्यग्रोधपरिमण्डल।
(३) स्वाति (सादि)।
(४) वामन।
(५) कुब्ज।
(६) हुण्ड

पालथी मार कर बैठे हुए व्यक्ति के चारों कोण सम होते हैं, वह 'समचतुरस्र संस्थान' है।[8]

### ७. चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी (विज्जुसोया—मणिप्पभा)

शान्त्याचार्य ने 'विद्युत सौदामिनी' का अर्थ 'चमकती हुई बिजली' अथवा 'अग्नि व बिजली' किया है। मतान्तर के अनुसार सौदामिनी का अर्थ 'प्रधानमणि' होता है।[9]

### ८. पिता उग्रसेन (जणओ)

राजीमती के पिता नाम उग्रसेन था।[10] उत्तरपुराण के अनुसार उग्रसेन का वंश इस प्रकार है[11]—

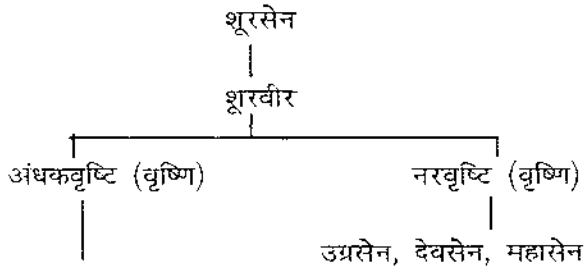


समुद्रविजय आदि दश पुत्र (देखिए—श्लोक ११ का टिप्पण) और दो पुत्रियां—कुन्ती माद्री।

विष्णुपुराण के अनुसार उग्रसेन के ६ पुत्र और ४ पुत्रियां थी।[12] पुत्रों का नाम—कंश, न्यग्रोध, सुनाम, आनकाह, शंकु, सभूमि, राष्ट्रपाल, युद्धतुष्टि और सुतुष्टिमान्।

---

१. वृहद्वृत्ति, पत्र ४८६ : राजेव राजा तस्य लक्षणानि—चक्रस्वस्तिकाङ्कुशादीनि त्यागसत्यशौर्यादीनि वा।
२. वही, पत्र ४८६ : राजलक्षणानि—छत्रचामरसिंहासनादीन्यपि गृह्यन्ते।
३. वही, पत्र ४८६ : लक्षणानि—सौन्दर्यगाम्भीर्यादीनि।
४. वही, पत्र ४८६।
५. प्रवचनसारोद्धार, वृत्ति, पत्र ४१० : जं सरीरेण सह समुप्पन्नं तं लक्खणं।
६. वही, वृत्ति पत्र ४१०-४११।
७. पण्णवणा, २३।४६।
८. वही, २३।४७।
९. वृहद्वृत्ति, पत्र ४९० : विज्जुसोयामणिप्पह त्ति विशेषेण द्योतते—दीप्यत इति विद्युत् सा चासौ सौदामिनी च विद्युत्सौदामिनी, अथवा विद्युदग्निः सौदामिनी च तडित्, अन्ये तु सौदामिनीं प्रधानमणिरित्याहुः।
१०. वही, पत्र ४९० : जनकस्तस्याः—राजीमत्या उग्रसेन इत्युक्तम्।
११. उत्तरपुराण, ७०।९३-१००।
१२. विष्णुपुराण, ४।१४।२०-२१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुत्रियों का नाम—कंसा, कंसवती, सुतनु और राष्ट्रपालिका।

'सुतनु' राजीमती का दूसरा नाम है। देखिए—श्लोक सैंतीस का टिप्पण।

### ९. सर्व औषधियों के जल से (सव्वोसहीहि)

शान्त्याचार्य ने स्नान में प्रयुक्त होने वाली कुछ औषधियां बतलाई हैं—जया, विजया, ऋद्धि, वृद्धि आदि।[1]

### १०. कौतुक और मंगल किए गए (कयकोउयमंगलो)

विवाह के पूर्व वर के ललाट से मूशल का स्पर्श करवाना आदि कार्य 'कौतुक' कहलाते हैं और दही, अक्षत, दूब, चन्दन आदि द्रव्य 'मंगल' कहलाते हैं।[2] इनका विवाह आदि मंगल-कार्य में उपयोग होता है।

बालमीकीय रामायण के अनुसार समारोहों पर घर का अलंकरण किया जाता था, जो 'कौतुक-मंगल' कहलाता था।[3]

### ११. दिव्य वस्त्र-युगल (दिव्वजुयल)

प्राचीन काल में प्रायः दो ही वस्त्र पहने जाते थे—(१) अन्तरीय—नीचे पहनने के लिए धोती और (२) उत्तरीय—ऊपर ओढ़ने के लिए चद्दर।[4]

### १२. गन्धहस्ती पर (गंधहत्थि)

गन्धहस्ती सब हस्तियों में प्रधान होता है, इसलिए इसे ज्येष्ठक (पट्ट-हस्ती) कहा गया है।[5] इसकी गन्ध से दूसरे हाथी भाग जाते हैं या निर्वीय हो जाते हैं।

### १३. दसारचक्र से (दसारचक्केण)

समुद्रविजय आदि दस यादव और उनका समूह 'दसारचक्र' कहलाता था।

शान्त्याचार्य तथा अभयदेव सूरि ने 'दसार' का संस्कृत रूप 'दशार्ह' किया है।[6] दशवैकालिक चूर्णि में 'दसार' शब्द ही प्राप्त है।[7] समुद्रविजय, अक्षोभ्य, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र, वसुदेव—ये दस भाई थे।[8] उत्तरपुराण में 'धरण' के स्थान में 'धारण' और 'अभिचन्द्र' के स्थान में 'अभिनन्दन' नाम मिलता है।[9] सम्भवतः इन्हीं के कारण 'दसार' शब्द चला किन्तु आगे चलकर वह यदुसमूह के अर्थ में रूढ़ हो गया। अन्तकृतदशा में 'दसण्हं दसाराणं' पाठ मिलता है। इसमें दसार के साथ दस शब्द और जुड़ा हुआ है। इससे लगता है कि दूसरा शब्द प्रत्येक भाई या यदुवंशी के लिए प्रयुक्त होने लगा था।

### १४. वृष्णिपुंगव (वण्हिपुंगवो)

अन्धक और वृष्णि ये दो भाई थे। वृष्णि अरिष्टनेमि के दादा थे। उनसे वृष्णि कुल का प्रवर्त्तन हुआ। अरिष्टनेमि वृष्णिकुल में प्रधान पुरुष थे। अतः उन्हें यहां वृष्णिपुङ्गव कहा गया है।[10] दशवैकालिक तथा इस अध्ययन के ४३वें श्लोक में इनका कुल 'अन्धक-वृष्णि' कहा गया है।[11] अन्धक-वृष्णि-कुल दोनों भाइयों के संयुक्त नाम से प्रचलित था।

उत्तरपुराण में 'अन्धक-वृष्टि' शब्द है और यह एक ही व्यक्ति का नाम है। कुशार्थ (कुशार्त ?) देश के सौर्यपुर नगर के स्वामी शूरसेन के शूरवीर नाम का पुत्र था। उसके दो पुत्र हुए—अन्धकवृष्टि और नरवृष्टि। समुद्रविजय आदि अन्धकवृष्टि के पुत्र थे।[12]

देखें—श्लोक ८ का टिप्पण।

### १५. (श्लोक १४-२२)

उत्तराध्ययन के अनुसार अरिष्टनेमि ने बाड़ों में राके हुए जानवरों को देखा, उनके बारे में सारथि से पूछा। सारथि ने बताया—ये आपके विवाह के भोज के लिए हैं। अरिष्टनेमि ने इसे अपने लिए उचित न समझा। उन्होंने अपने सारे आभरण उतार कर सारथि को दे दिए और वे अभिनिष्क्रमण के लिए तैयार हो गए।

वे जानवर कहां रोके हुए थे और किसने रोके थे ? मूल आगम में इसकी कोई चर्चा नहीं है। सुखबोधा के अनुसार वे

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० : सर्वांश्च ता औषधयश्च—जयाविजयाऋद्धिवृद्ध्यादयः सर्वौषधयस्ताभिः।

२. वही, पत्र ४६० : कौतुकानि—ललाटस्य मुशलस्पर्शनादीनि मंगलानि च—दध्यक्षतदूर्वाचन्दनादीनि।

३. रामायणकालीन संस्कृति, पृ० ३२।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० : दिव्ययुगलमिति प्रस्तावाद् दूष्ययुगलम्।

५. वही, पत्र ४६० : ज्येष्ठमेव ज्येष्ठकम्—अतिशयप्रशस्यमतिवृद्धं वा गुणैः पट्टहस्तिनमित्यर्थः।

६. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० : 'दसारचक्केणं' ति दशार्हचक्रेण यदुसमूहेन। (ख) अन्कृद्दशांग १।१, वृत्ति—दश च तेऽर्हाश्च—पूज्या इति दशार्हाः।

७. दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि, पृ० ४१ : जहा दसारा महुराओ जरासिंधुरायभयात् बारवइं गया।

८. अंतगडदसाओ १।१, वृत्ति—
दसण्हं दसाराणं ति तत्रैते दश—
समुद्रविजयोऽक्षोभ्यः, स्तिमितः सागरस्तथा।
हिमवानचलश्चैव, धरणः पूरणस्तथा।।
अभिचन्द्रश्च नवमो, वसुदेवश्च वीर्यवान्।
वसुदेवानुजे कन्ये, कुन्ती माद्री च विश्रुते।।

९. उत्तरपुराण, ७०।९५-९७ :
धर्मावान्धकवृष्टेश्च सुभद्रायाश्च तुग्वराः।
समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्ततः स्तिमितसागरः।।
हिमवान् विजयो विद्वान्, अचलो धारणाह्वयः।
पूरणः पूरितार्थीच्छे, नवमोऽप्यभिनन्दनः।।
वसुदेवोऽन्तिमश्चैवं, दशाभूवन् शशिप्रभाः।
कुन्ती माद्री च सोमे वा, सुते प्रादुर्बभूवतुः।।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० : 'वृष्णिपुंगवः' यादवप्रधानो भगवानरिष्टनेमिरिति यावत्।

११. दशवैकालिक, २।८।

१२. उत्तरपुराण ७०।९२-९४ :
तदा कुशार्थविषये, तद्भंशाम्बरभास्वतः।
अवार्यनिजशौर्येण, निर्जिताशेषविद्विषः।
ख्यातशौर्यपुराधीश-शूरसेनमहीपतेः।।
सुतस्य शूरवीरस्य, धारिण्याश्च तनूद्भवौ।
विख्यातोऽन्धकवृष्टिश्च, पतिर्वृष्टिर्नरादिवाक्।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उग्रसेन के द्वारा विवाह-मण्डप के आस-पास ही बाड़ों में रोके हुए थे।[1]

उत्तरपुराण में इससे भिन्न कल्पना है। उसके अनुसार श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि को विरक्त करने के लिए बाड़ों में हिरनों को एकत्रित करवाया था। श्रीकृष्ण ने सोचा—नेमिकुमार वैराग्य का कुछ कारण पाकर भोगों से विरक्त हो जाएंगे। ऐसा विचार कर वे वैराग्य का कारण जुटाने का प्रयत्न करने लगे। उनकी समझ में एक उपाया आया। उन्होंने बड़े-बड़े शिकारियों से पकड़वा कर अनेक मृगों का समूह बुलाया और उसे एक स्थान पर इकट्ठा कर उसके चारों ओर बाड़ लगवा दी तथा वहां जो रक्षक नियुक्त किए थे उनसे कह दिया कि यदि भगवान् नेमिनाथ दिशाओं का अवलोकन करने के लिए आएं और इन मृगों के विषय में पूछें तो उनसे साफ-साफ कह देना कि आपके विवाह में मारने के लिए चक्रवर्ती ने यह मृगों का समूह बुलवाया है।

एक दिन नेमिकुमार चित्रा नामकी पालकी पर आरूढ़ होकर दिशाओं का अवलोकन करने के लिए निकले। वहां उन्होंने घोर करुण स्वर से चिल्ला-चिल्लाकर इधर-उधर दौड़ते, प्यासे, दीनदृष्टि से युक्त तथा भय से व्याकुल हुए मृगों को देख दयावश वहां के रक्षकों से पूछा कि यह पशुओं का बहुत भारी समूह यहां एक जगह किसलिए रोका गया है? उत्तर में रक्षकों ने कहा—"हे देव! आपके विवाहोत्सव में व्यय करने के लिए महाराज श्रीकृष्ण ने इन्हें बुलाया है।" यह सुनते ही भगवान् नेमिनाथ विचार करने लगे कि ये पशु जंगल में रहते हैं, तृण खाते हैं और कभी किसी का कुछ अपराध नहीं करते हैं फिर भी लोग इन्हें अपने भोग के लिए पीड़ा पहुंचाते हैं। ऐसा विचार कर वे विरक्त हुए और लौट कर अपने घर आ गए। रत्नत्रय प्रकट होने से उसी समय लोकांतिक देवों ने आकर उन्हें समझाया। अपने पूर्व-भवों का स्मरण कर वे भय से कांप उठे। उसी समय उन्होंने आकर दीक्षा-कल्याण का उत्सव किया।[2]

किन्तु इसकी उपेक्षा उत्तराध्ययन का विवरण अधिक हृदयस्पर्शी है।

## १६. मरणासन्न दशा को प्राप्त (जीवियंतं तु संपत्ते)

'जीवियंतं तु संपत्ते'—यहां निकट भविष्य में मारे जाने वाले या जीवन की अन्तिम दशा में होने वाले प्राणियों को 'मृत्यु-सम्प्राप्त' कहा है।[3]

## १७. मांसाहार के लिए (मंसट्ठा)

(१) मांस के लिए या (२) मांस से मांस का उपचय होता है इसलिए अपना मांस बढ़ाने के लिए—ये दोनों 'मंसट्ठा' के अर्थ हो सकते हैं।[4]

## १८. महाप्रज्ञ (माहपन्ने)

इसका प्रकरणगत अर्थ है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान से सम्पन्न।[5]

## १९. सारथि से (सारहिं)

—अरिष्टनेमि राजभवन से गन्ध-हस्ती पर आरूढ़ होकर चले थे परन्तु सम्भवतः विवाह-मण्डप के समीप पहुंचकर वे रथ पर चढ़ गए—यह इस 'सारथि' शब्द से सूचित होता है या 'महावत' के अर्थ में ही सारथि शब्द प्रयुक्त हुआ है।[6]

## २०. ये (इमे...एए)

इन शब्दों का ऊहापोह करते हुए वृत्तिकार ने दो विकल्प प्रस्तुत किए हैं—

१. 'इमे' का अर्थ है—ये सब। इस स्थिति से 'एए' शब्द निरर्थक हो जाता है। किन्तु इसका पुनः कथन, अरिष्टनेमि के करुणाद्रहृदय में वे प्राणी बार-बार उभर रहे हैं—यह बताने के लिए है।[7]

आचार्य नेमिचन्द्र का कथन है कि इसका प्रयोग घबड़ाहट बताने के लिए हुआ है।[8]

२. 'इमे' का अर्थ है—प्रत्यक्ष में दीखने वाले और 'एए' का अर्थ है—निकटवर्ती। कहा भी है—

*'इदमः प्रत्यक्षगतं समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम्।'*[9]

## २१. भद्र (भद्दा)

वे प्राणि 'श्रेष्ट' या 'निरपराध' थे इसलिए उन्हें यहां 'भद्र' कहा गया है। कुत्ते, सियार आदि अभद्र माने जाते हैं।[10]

## २२. परलोक में (परलोगे)

भगवान् अरिष्टनेमि चरम-शरीरी और विशिष्ट-ज्ञानी थे। फिर भी 'परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा'—यह

---

१. सुखबोधा, पत्र २७६।

२. उत्तरपुराण, ७१।१५२-१६८।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० : जीवितस्यान्तो—जीवितान्तो मरणमित्यर्थस्तत्र संप्राप्तानिव संप्राप्तान्, अतिप्रत्यासन्नत्वात्तस्य, यद्वा जीवितस्यान्तः—पर्यन्तवर्त्ती भागस्तमुक्तहेतोः संप्राप्तान्।

४. वही, पत्र ४६०-४६१ : 'मांसार्थं' मांसनिमित्तं च भक्षयितव्यान् मांसस्यैवातिगृद्धिहेतुत्वेन तद्भक्षणनिमित्तत्वादेवमुक्तं, यदि वा 'मांसेनैव मांसमुपचीयते' इति प्रवादतो मांसमुपचितं स्यादिति मांसार्थम्।

५. वही, पत्र ४६१ : महती प्रज्ञा—प्रक्रमान्मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयात्मिका यस्यासौ महाप्रज्ञः।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६१ : 'सारथिं' प्रवर्त्तयितारं प्रक्रमाद्गन्धहस्तिनो हस्तिपकमितियावत् यद्वाऽत एव तदा रथारोहणमनुमीयत इति रथप्रवर्त्तयितारम्।

७. वही, पत्र ४६१ : एते इति पुनरभिधानमतिसार्द्रहृदयतया पुनः पुनस्त एव भगवतो हृदि विपरिवर्त्तन्त इति ख्यापनार्थम्।

८. सुखबोधा, पत्र २६२ : एते इति पुनरभिधानं सम्भ्रमख्यापनार्थम्।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६१।

१०. वही, पत्र ४६१ : 'भद्दा उ' त्ति 'भद्रा एव' कल्याणा एव न तु श्वशृगालादयः एव कुत्सिताः, अनपराधतया वा भद्राः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कहा—उसका तात्पर्य यह है कि यह पापकारी प्रवृत्ति है।[1] किसी भी पापकारी प्रवृत्ति के लिए—'यह परलोक में श्रेयस्कर नहीं होगा'—इस सामान्य उक्ति का प्रयोग किया जाता है।

परलोक का एक अर्थ पशु-जगत् भी है।[2] इस सन्दर्भ में प्रस्तुत चरणों का अर्थ—'यह मेरा कार्य पशु-जगत् के प्रति कल्याणकारी नहीं होगा'—यह भी किया जा सकता है।

## २३. दे दिए (पणामए)

'अर्प' धातु को 'पणाम' आदेश होता है। इसका अर्थ है—देना।[3]

## २४. शिविका रत्न में (सीयारयणं)

इस शिविका का नाम 'उत्तरकुरु' था और इसका निर्माण देवों ने किया था।[4]

## २५. द्वारका से (बारगाओ)

देखें—परिशिष्ट १—भौगोलिक परिचय।

## २६. कूर्च (कुच्च)

उलझे हुए केशों को संवारने के काम आने वाला बांस का बना उपकरण विशेष।[5]

## २७. कंघी से (फणग)

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—कंघी।[6] सूत्रकृतांग में इसी अर्थ में 'फणिह' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[7]

## २८. (श्लोक ३०)

भगवान् अरिष्टनेमि दीक्षा लेकर जनपद में विचरण करने लगे। उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। जब वे विचरण करते हुए पुनः द्वारका आए तब राजीमती ने उनकी देशना सुनी। पहले ही वह विरक्त थी, फिर विशेष विरक्त हुई। तत्पश्चात् उसने जो किया वह इस श्लोक में वर्णित है।[8]

## २९. भुजाओं के गुम्फन से वक्ष को ढांक कर (बाहाहिं काउं संगोफं)

संगोप का अर्थ है—भुजाओं का परस्पर गुम्फन—स्तनों पर मर्कट बन्ध लगाना।[9]

नेमिचन्द्राचार्य ने इसका अर्थ 'पंकुटीबन्ध' किया है। उनके अनुसार इसका संस्कृत रूप 'संगोफ' है।[10]

## ३०. सुतनु ! (सुयणू)

इस शब्द से राजीमती को आमन्त्रित किया गया है। चूर्णि और टीकाओं में इसका कोई विशेष अर्थ नहीं है।

विष्णुपुराण के अनुसार उग्रसेन की चार पुत्रियों में एक का नाम सुतनु था।[11] सम्भव है यह राजीमती का दूसरा नाम हो।

## ३१. नियम और व्रत में (नियमव्वए)

नियम का अर्थ है—पांचों इन्द्रियों तथा मन का नियमन और व्रत का अर्थ है—प्रव्रज्या, दीक्षा।[12] नियम के विस्तृत अर्थ के लिए देखें—१६।५ का टिप्पण।

## ३२. हे यशस्कामिन् (जसोकामी)

वृत्तिकार ने मूल 'अयशःकामिन्' मानकर इसका अर्थ—अकीर्त्ति की इच्छा करने वाला—किया है। इसका वैकल्पिक अर्थ है—यशःकामिन्! महान् कुल में उत्पन्न होने के कारण प्राप्त यश की वाञ्छा करने वाला।[13]

देखें—दसवेआलियं, २।७ का टिप्पण।

## ३३. वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। (वंतं इच्छसि आवेउं)

वृत्ति में एक सुन्दर श्लोक उद्धृत है[14]—

*विज्ञाय वस्तु निन्द्यं, त्यक्त्वा गृह्णन्ति किं क्वचित् पुरुषाः।*
*वान्तं पुनरपि भुंक्ते, न च सर्वः सारमेयोऽपि॥*

## ३४. भोजराज की...और तू अन्धकवृष्णि का (भोयरायस्स अन्धगवण्हिणो)

विष्णुपुराण में कंस को भोजराज कहा है।[15] कीर्तिराज (वि० १४६५ से पूर्ववर्ती) द्वारा रचित नेमिनाथ चरित में उग्रसेन को भोजराज तथा राजीमती को भोज-पुत्री या भोजराज-पुत्री कहा गया है।[16] कुछ प्रतियों में 'भोगरायस्स'

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६१-४६२ : नैव 'निस्सेसं' त्ति 'निःश्रेयसं' कल्याणं परलोके भविष्यति, पापहेतुत्वादस्येति भावः, भवान्तरेषु परलोकभीरुत्वस्यात्यन्तसभ्यस्ततयैवमभिधानमन्यथा चरमशरीरत्वादतिशयज्ञानित्वाच्च भगवतः कुत एवंविधचिन्तावसरः ?

२. आचारांग, २।११, चूर्णि पृ० ३७१।

३. हेमशब्दानुशासन ८।४।३६ : अर्पेल्लिवच्चुप्प पणामाः।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२ : 'शिविकारत्ने' देवनिर्मितमुत्तरकुरुनामकमिति गम्यते।

५. वही, पत्र ४६३ : कूर्चो—गूढमेशोन्मोचको वंशमयः।

६. वही, पत्र ४६३ : फणकः—कङ्कतकः।

७. सूयगडो, १।४।४२ : संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६३ : इत्थं चासौ तावदवस्थिता यावदन्यत्र प्रविहृत्य तत्रैव भगवानाजगाम, तत उत्पन्नकेवलस्य भगवतो निशम्य देशनां विशेषत उत्पन्नवैराग्या किं कृतवतीत्याह—'अहे' त्यादि।

९. वही, पत्र ४६४ : 'संगोपं' परस्परबाहुगुम्फनं स्तनोपरिमर्कटबन्धमितियावत्।

१०. सुखबोधा, पत्र २८३ : 'संगोफं' पंकुटीबन्धनरूपम्।

११. विष्णुपुराण ४।१४।२१ : कंसाकंसवतीसुतनुराष्ट्रपालिकाह्वयश्चोग्रसेनस्य तनूजा' कन्याः।

१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६४ : नियमव्रते—इन्द्रियनोइन्द्रियनियमने प्रव्रज्यायां च।

१३. वही, पत्र ४६५।

१४. वही, पत्र ४६५।

१५. विष्णुपुराण, ३।५।२६।

१६. नेमिनाथ चरितः
इतश्चाऽभोज तुल्याऽक्षो, भोजराजांगभूरभूत्।
उग्रसेनो महीजानिरुग्रसेनासमन्वितः।।६।४३।
स्निग्धां विदग्धां नृपभोजपुत्रीं, साम्राज्यलक्ष्मीं स्वजनं च हित्वा।
पितृमनुज्ञाप्य च माननीयान्, बभूव दीक्षाऽभिमुखोऽथनेमिः।।१०।४४।
अथभोजनरेन्द्रपुत्रिका, प्रविमुक्ता प्रभुणा तपस्विनी।
व्यलपद् गलदश्रुलोचना, शिथिलांगा लुठिता महीतले।।११।१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाठ मिलता है। 'ज' को 'ग' का वर्णादेश होता है। इसलिए 'भोगरायस्स' पाठ भी शुद्ध है। इसका संस्कृत रूप 'भोजराजस्य' ही होगा।

भोज यादवों का एक विभाग था। कृष्ण जिस संघ-राज्य के नेता थे, उसमें यादव, कुकुर, भोज और अन्धक-वृष्णि सम्मिलित थे। अन्धक और वृष्णि—ये दो अलग-अलग राजनीतिक दल थे। इनका उल्लेख पाणिनि ने भी किया है। ये दोनों दल एक ही भूभाग पर शासन करते थे। ऐसी शासनप्रणाली को विरुद्ध-राज्य कहा जाता था। अन्धकों के नेता अक्रूर, वृष्णियों के नेता वासुदेव और भोज के नेता उग्रसेन थे।

देखें—दसवेआलियं २।८ का टिप्पण।

## ३५. गंधन सर्प (गंधणा)

सर्प की दो जातियां हैं—गन्धन और अगन्धन। गंधन जाति के सर्प डसने के बाद मंत्रों से आकृष्ट किए जाने पर, डसे हुए व्यक्ति के व्रण से मुंह लगाकर विष को वापस खींच लेते हैं। वे अग्नि से जलकर मरना नहीं चाहते। अगन्धन जाति के सर्प अग्नि में जलकर भस्म हो जाना पसन्द करते हैं, पर वान्त विष को पुनः चूसना नहीं चाहते।[1]

देखें—दसवेआलियं, २।६ का टिप्पण।

## ३६. हट—जलीय वनस्पति—काई (हढो)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ वनस्पति-विशेष किया है।[2] दशवैकालिक की हारिभद्रीया वृत्ति में इसका अर्थ है—एक प्रकार की अवद्धमूल वनस्पति।[3] इसको सेवाल कहा जाता है।

विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं, २।६ का टिप्पण।

## ३७. भांडपाल (भंडवालो)

भाण्डपाल वह व्यक्ति होता है जो दूसरों की वस्तुओं की किराए (भाडे) पर सुरक्षा करता है।[4]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५ : सप्पाणं किले दो जाईओ—गंधणा य अगंधणा य, तत्थ गंधणा णाम जे डसिए मंतेहिं आकड्ढिया तं विसं वणमुहातो आवियंति। अगंधणा उण अवि मरणमज्झवसंति ण य वंतमाइयंति।

२. वही, पत्र ४६५ : हढो—वनस्पतिविशेषः।

३. वृत्ति, पत्र ६७ : हडो.....अवद्धमूलो वनस्पतिविशेषः।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५ : भाण्डपालो वा यः परकीयानि भाण्डानि भाटकादिना पालयति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तेविंसइमं अज्झयणं

## केसिगोयमिज्जं

# तेवीसवां अध्ययन

## केशि-गौतमीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में पार्श्वापत्यीय कुमार-श्रमण केशी और भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम का संवाद है। इसलिए इसका नाम 'केसिगोयमिज्जं'—'केशि-गौतमीय' है।[1]

भगवान् पार्श्वनाथ जैन परम्परा के तेईसवें तीर्थंकर थे और उनका शासन-काल भगवान् महावीर से ढाई शताब्दी पूर्व का था।[2] भगवान् महावीर के शासन-काल में अनेक पार्श्वापत्यीय श्रमण तथा श्रावक विद्यमान थे। पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों तथा श्रावकों का भगवान् महावीर के शिष्यों से आलाप-संलाप और मिलन हुआ। उसका उल्लेख आगमों तथा व्याख्या-ग्रन्थों में मिलता है। भगवान् महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ की परम्परा को मानने वाले श्रमणोपासक थे।[3]

भगवती सूत्र में 'कालास्यवैशिक पुत्र' पार्श्वापत्यीय श्रमण का उल्लेख है। वे अनेक निर्ग्रन्थ स्थविरों से मिलते हैं। उनसे तात्विक चर्चा कर समाधान पाते हैं और अपनी पूर्व परम्परा का विसर्जन कर भगवान् महावीर की परम्परा को स्वीकार कर लेते हैं।[4]

एक बार भगवान् महावीर राजगृह में समवसृत थे। वहां भगवान् पार्श्व की परम्परा के कई स्थविर आए और भगवान् से तात्विक चर्चा की। उनका मूल प्रश्न यह था—"इस परिमित लोक में अनन्त रात-दिन या परिमित रात-दिन की बात कैसे संगत हो सकती है?" भगवान् महावीर उन्हें समाधान देते हैं और वे सभी स्थविर चातुर्याम-धर्म से पंचयाम-धर्म में दीक्षित हो जाते हैं।[5]

भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम में थे। पार्श्वापत्यीय श्रमण गांगेय भगवान् के पास आया। उसने जीवों की उत्पत्ति और च्युति के बारे में प्रश्न किए। उसे पूरा समाधान मिला। उसने भगवान् की सर्वज्ञता पर विश्वास किया और वह उनका शिष्य बन गया।[6]

उदक पेढाल पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित हुआ था। एक बार जब गणधर गौतम नालन्दा में स्थित थे तब वह उनके पास गया, चर्चा की और समाधान पा उनका शिष्य हो गया।[7]

भगवान् महावीर कालाय सन्निवेश से विहार कर पत्रालय ग्राम से होते हुए कुमार सन्निवेश में आए और चम्पक रमणीय उद्यान में ठहरे। उसी सन्निवेश में पार्श्वापत्यीय स्थविर मुनिचन्द्र अपने शिष्य परिवार के साथ कूपनक नामक कुंभकार की शाला में ठहरे हुए थे। वे जिनकल्प-प्रतिमा की साधना कर रहे थे। वे अपने शिष्य को गण का भार दे स्वयं 'सत्त्व-भावना' में अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते थे।

गोशाला भगवान् के साथ था। उसने गांव में घूमते-घूमते पार्श्वापत्यीय स्थविर मुनिचन्द्र को देखा। उनके पास जा उसने पूछा—तुम कौन हो?

उन्होंने कहा—हम श्रमण निर्ग्रन्थ हैं।

गोशाला ने कहा—अहो! तुम कैसे श्रमण निर्ग्रन्थ? निर्ग्रन्थ होते हुए भी तुम अपने पास इतने ग्रन्थ—परिग्रह क्यों रखते हो?

इतना कह उसने भगवान् की बात उनसे कही और पूछा—क्या तुम्हारे संघ में भी ऐसा कोई महात्मा है?

मुनिचन्द्र ने कहा—जैसे तुम हो वैसे ही तुम्हारे आचार्य होंगे।

इस पर गोशाला कुपित हो गया। उसने क्रोधाग्नि से जलते हुए कहा—यदि मेरे धर्माचार्य के तप का प्रभाव है तो तुम्हारा यह प्रतिश्रय—आश्रय जल कर भस्म हो जाए।

मुनिचन्द्र ने कहा—तुम्हारे कहने मात्र से हम नहीं जलेंगे।

गोशाला भगवान् के पास आया और बोला—भगवन्! आज मैंने सारम्भ, सपरिग्रही साधुओं को देखा है।

भगवान् ने कहा—वे पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु हैं।

रात का समय हुआ। कुंभकार कूपनक विकाल वेला के बाहर से अपने घर पहुंचा। उसने एक ओर एक व्यक्ति को ध्यानस्थ खड़े देखा और यह सोच कर कि 'यह चोर है', उसके गले को पकड़ा। स्थविर मुनिचन्द्र का गला घुटने लगा। असह्य वेदना हो रही थी पर वे अकम्प रहे। ध्यान की लीनता बढ़ी। वे केवली हुए और समस्त कर्मों को क्षीण कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए।[8]

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४५१ :
गोअम-केसीओ आ, संवायसमुट्ठियं तु जम्हेयं।
तो केसिगोयमिज्जं, अज्झयणं होइ नायव्वं।।

२. आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पत्र २४१ :
पासजिणाओ य होइ वीरजिणो।
अड्ढाइज्जसएहिं गएहिं चरिमो समुप्पन्नो।।

३. आयारचूला १५।२५ : समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था।

४. भगवई, १।४२३-४३३।

५. वही, ५।२५४-२५७।

६. वही, ६।१२०-१३४।

७. सूयगडो, दूसरे श्रुतस्कंध का सातवां अध्ययन।

८. आवश्यक निर्युक्ति, वृत्ति पत्र, २७८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक बार भगवान् महावीर 'चोराग' सन्निवेश में गए। गोशाला साथ था। वहां के अधिकारियों ने इन्हें गुप्तचर समझ पकड़ लिया। गोशाले को एक रस्सी से बांध कर कुएं से लटका दिया। वहां उत्पल की दो बहनें—शोभा और जयन्ति रहती थीं। वे दोनों दीक्षित होने में असमर्थ थीं, अतः पार्श्वापत्यीय परिव्राजिकाओं के रूप में रहती थीं। उन्होंने लोगों को महावीर के विषय में यथार्थ जानकारी दी। अधिकारियों ने महावीर तथा गोशाला को बन्धन-मुक्त कर दिया।[1]

एक बार भगवान् 'तम्बाक' ग्राम में गए। वहां पार्श्वापत्यीय स्थविर नन्दीसेण अपने बहुश्रुत मुनियों के बहुत बड़े परिवार के साथ आए हुए थे। आचार्य नन्दीसेण जिनकल्प-प्रतिमा में स्थित थे। गोशाले ने उन्हें देखा और उनका तिरस्कार किया। गांव के अधिकारियों ने भी आचार्य को 'चर' समझकर पकड़ा और भालों से आहत किया। असह्य वेदना को समभाव से सहते हुए उन्हें केवलज्ञान हुआ। वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए।[2]

एक बार भगवान् 'कूविय' सन्निवेश में गए। गोशाला साथ था। वहां के अधिकारियों ने दोनों को 'गुप्तचर' समझ कर पकड़ लिया। वहां पार्श्वापत्यीय परम्परा की दो परिव्राजिकाओं—विजया और प्रगल्भा ने आकर उन्हें छुड़ाया।[3]

इस प्रकार पार्श्वनाथ की परम्परा के साधुओं की जानकारी देने वाले अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं। मूल आगम-साहित्य में अनेक स्थलों पर भगवान् महावीर के मुख से पार्श्व के लिए 'पुरुषादानीय' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह आदर-सूचक शब्द है।

कुमार-श्रमण केशी भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के चौथे पट्टधर थे। प्रथम पट्टधर आचार्य शुभदत्त हुए। उनके उत्तराधिकारी आचार्य हरिदत्तसूरि थे, जिन्होंने वेदान्त-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य 'लोहिय' से शास्त्रार्थ कर उनको ५०० शिष्यों सहित दीक्षित किया। इन नव दीक्षित मुनियों ने सौराष्ट्र, तैलंग आदि प्रान्तों में विहार कर जैन-शासन की प्रभावना की। तीसरे पट्टधर आचार्य समुद्रसूरि थे। इनके काल में विदेशी नामक एक प्रचारक आचार्य ने उज्जैन नगरी में महाराजा जयसेन, उनकी रानी अनंगसुन्दरी और उनके राजकुमार 'केशी' को दीक्षित किया।[4] आगे चल कर मुनि केशी ने नास्तिक राजा परदेशी को समझाया और उसे जैन-धर्म में स्थापित किया।[5]

एक बार कुमार-श्रमण केशी ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए 'श्रावस्ती' में आए और 'तिन्दुक' उद्यान में ठहरे। भगवान् महावीर के शिष्य गणधर गौतम भी संयोगवश उसी नगर में आए और 'कोष्ठक' उद्यान में ठहरे। नगर में आते-जाते दोनों परम्पराओं के शिष्य एक दूसरे से मिले। दोनों के मन जिज्ञासा से भर गए। आपस में ऊहापोह करते हुए वे अपने-अपने आचार्य के पास आए। उनसे पारस्परिक भेदों की चर्चा की।

कुमार-श्रमण केशी और गणधर गौतम विशिष्ट ज्ञानी थे। वे सब कुछ जानते थे। परन्तु अपने शिष्यों के समाधान के लिए वे कुछ व्यावहारिक प्रयत्न करना चाहते थे। कुमार-श्रमण केशी पार्श्व की परम्परा के आचार्य होने के कारण गौतम से ज्येष्ठ थे, इसलिए गौतम अपने शिष्यों को साथ ले 'तिन्दुक' उद्यान में गये। आचार्य केशी ने आसन आदि दे उनका सत्कार किया। कई अन्य मतावलम्बी संन्यासी तथा उनके उपासक भी आए। आचार्य केशी तथा गणधर गौतम में संवाद हुआ। प्रश्नोत्तर चले। उनमें चातुर्याम और पंचयाम धर्म तथा सचेलकत्व और अचेलकत्व के प्रश्न मुख्य थे।

आचार्य केशी ने गौतम से पूछा—"भंते! भगवान् पार्श्व ने चातुर्याम धर्म की प्ररूपणा की और भगवान् महावीर ने पंचयाम धर्म की। दोनों का लक्ष्य एक है। फिर यह भेद क्यों? क्या यह पार्थक्य संदेह उत्पन्न नहीं करता?" (श्लोक २३, २४)।

गौतम ने कहा—"भंते! प्रथम तीर्थङ्कर के श्रमण ऋजु-जड़, अन्तिम तीर्थङ्कर के वक्र-जड़ और मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों के श्रमण ऋजु-प्राज्ञ होते हैं। प्रथम तीर्थङ्कर के श्रमणों के लिए मुनि के आचार को यथावत् ग्रहण करना कठिन है, चरम तीर्थङ्कर के श्रमणों के लिए आचार का पालन करना कठिन है और मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के मुनि उसे यथावत् ग्रहण करते हैं तथा सरलता से उसका पालन भी करते हैं। इन्हीं कारणों से धर्म के ये दो भेद हुए हैं।" (श्लोक २५, २६, २७)

आचार्य केशी ने पुनः पूछा—"भंते! एक ही प्रयोजन के लिए अभिनिष्क्रमण करने वाले इन दोनों परम्पराओं के मुनियों के वेश में यह विविधता क्यों है? एक सवस्त्र हैं और दूसरे अवस्त्र।" (श्लोक २९, ३०)।

गौतम ने कहा—"भंते! मोक्ष के निश्चित साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। वेश तो बाह्य उपकरण है। लोगों को यह प्रतीत हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की है। संयम-जीवन-यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हूं'—ऐसा ध्यान आते रहना—वेश धारण के प्रयोजन हैं।" (श्लोक ३२, ३३)

इन दो विषयों से यह आकलन किया जा सकता है कि किस प्रकार भगवान् महावीर ने अपने संघ में परिष्कार, परिवर्द्धन और सम्वर्द्धन किया था। उन्होंने चार महाव्रतों की परम्परा को बदल पांच महाव्रतों की स्थापना की, सचेल परम्परा के स्थान पर अचेल परम्परा को मान्यता दी, सामायिक चारित्र के साथ-साथ छेदोपस्थापनीय चारित्र की प्ररूपणा की तथा समिति-गुप्ति का पृथक् निरूपण कर उनका महत्व

१. आवश्यक निर्युक्ति, वृत्ति पत्र, २७८, २७९।
२-३ वही, वृत्ति पत्र, २८२।
४. समरसिंह; पृष्ठ ७५, ७६।
५. नाभिनन्दोद्धार प्रबन्ध १३६ :
केशिनामा तद्-विनेयः, यः प्रदेशीनरेश्वरम्।
प्रबोध्य नास्तिकाद् धर्माद्, जैनधर्मेऽध्यरोपयत्।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ाया।[1]

भगवान् महावीर ने सचेल और अचेल—दोनों परम्पराओं के साधकों को मान्यता दी और उनकी साधना के लिए निश्चित पथ निर्दिष्ट किया। दोनों परम्पराएं एक ही छत्र-छाया में पनपीं, फूली-फलीं और उनमें कभी संघट्टन नहीं हुआ। भगवान् प्रारम्भ में सचेल थे। एक देवदूष्य धारण किए हुए थे। तदनन्तर वे अचेल बने और जीवन भर अचेल रहे। किन्तु उन्होंने सचेल और अचेल किसी एक को एकांगी मान्यता नहीं दी। दोनों के अस्तित्व को स्वीकार कर उन्होंने संघ को विस्तार दिया।

इस अध्ययन में आत्म-विजय और मनोनुशासन के उपायों का सुन्दर निरूपण है।

---

१. मूलाचार, ७।३६-३८ :
बावीसं तित्थयरा, सामाइयसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण, भयवं उसहो य वीरो य।।
आचक्खिदुं विभजिदुं, विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु, महव्वदा पंच पण्णत्ता।।
आदीए दुव्विसोधणे, णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु, कप्पाकप्पं ण जाणंति।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तेविंसइमं अज्झयणं : तेवीसवां अध्ययन
## केसिगोयमिज्जं : केशि-गौतमीय

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. जिणे पासे त्ति नामेण<br>अरहा लोगपूइओ।<br>संबुद्धप्पा य सव्वण्णू<br>धम्मतित्थयरे जिणे।। | *जिनः पार्श्व इति नाम्ना*<br>*अर्हन् लोकपूजितः।*<br>*संबुद्धात्मा च सर्वज्ञः*<br>*धर्मतीर्थकरो जिनः।।* | पार्श्व[1] नाम के जिन हुए। वे अर्हन्, लोक-पूजित, संबुद्धात्मा, सर्वज्ञ, धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक और वीतराग थे। |
| २. तस्स लोगपईवस्स<br>आसि सीसे महायसे।<br>केसी कुमारसमणे<br>विज्जाचरणपारगे।। | *तस्य लोकप्रदीपस्य*<br>*आसीच्छिष्यो महायशाः।*<br>*केशी कुमारश्रमणः*<br>*विद्याचरणपारगः।।* | लोक को प्रकाशित करने वाले उन अर्हत् पार्श्व के केशी नामक शिष्य हुए। वे महान् यशस्वी, विद्या और आचार के पारगामी कुमार-श्रमण[2] थे। |
| ३. ओहिनाणसुए बुद्धे<br>सीससंघसमाउले।<br>गामाणुगामं रीयंते<br>सावत्थिं नगरिमागए।। | *अवधिज्ञानश्रुताभ्यां बुद्धः*<br>*शिष्यसंघसमाकुलः।*<br>*ग्रामानुग्रामं रीयमाणः*<br>*श्रावस्तीं नगरीमागतः।।* | वे अवधि-ज्ञान और श्रुत-सम्पदा के तत्त्वों को जानते थे। वे शिष्य-संघ से परिवृत हो कर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी में आए। |
| ४. तिंदुयं नाम उज्जाणं<br>तम्मी नगरमंडले।<br>फासुए सिज्जसंथारे<br>तत्थ वासमुवागए।। | *तिन्दुकं नामोद्यानं*<br>*तस्मिन् नगरमण्डले।*<br>*स्पर्शुके शय्यासंस्तारे*<br>*तत्र वासमुपागतः।।* | उस समय के पार्श्व में[3] 'तिंदुक' उद्यान था। वहां जीव-जन्तु रहित शय्या (मकान) और संस्तार (आसन) लेकर वे ठहर गए। |
| ५. अह तेणेव कालेणं<br>धम्मतित्थयरे जिणे।<br>भगवं वद्धमाणो त्ति<br>सव्वलोगम्मि विस्सुए।। | *अथ तस्मिन्नेव काले*<br>*धर्मतीर्थकरो जिनः।*<br>*भगवान् वर्धमान इति*<br>*सर्वलोके विश्रुतः।।* | उस समय भगवान् वर्धमान विहार कर रहे थे। वे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक, जिन और समूचे लोक में विश्रुत थे। |
| ६. तस्स लोगपईवस्स<br>आसि सीसे महायसे।<br>भगवं गोयमे नामं<br>विज्जाचरणपारगे।। | *तस्य लोकप्रदीपस्य*<br>*आसीच्छिष्यो महायशाः।*<br>*भगवान् गौतमो नाम*<br>*विद्याचरणपारगः।।* | लोक को प्रकाशित करने वाले उन भगवान् वर्धमान के गौतम नाम के शिष्य थे। वे महान् यशस्वी, भगवान् तथा विद्या और आचार के पारगामी थे। |
| ७. बारसंगविऊ बुद्धे<br>सीससंघसमाउले।<br>गामाणुगामं रीयंते<br>से वि सावत्थिमागए।। | *द्वादशांगविद् बुद्धः*<br>*शिष्यसंघसमाकुलः।*<br>*ग्रामानुग्रामं रीयमाणः*<br>*सोऽपि श्रीवस्तीमागतः।।* | वे बारह अंगों को जानने वाले और बुद्ध थे। शिष्य संघ से परिवृत होकर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे भी श्रावस्ती में आ गए। |
| ८. कोट्ठगं नाम उज्जाणं<br>तम्मी नयरमंडले।<br>फासुए सिज्जसंथारे<br>तत्थ वासमुवागए।। | *कोष्ठकं नामोद्यानं*<br>*तस्मिन् नगरमण्डले।*<br>*स्पर्शुके शय्यासंस्तारे*<br>*तत्र वासमुपागतः।।* | उस नगर के पार्श्व-भाग में 'कोष्ठक' उद्यान था। वहां जीव-जन्तु रहित शय्या और संस्तार लेकर वे ठहर गए। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. केसी कुमारसमणे
गोयमे य महायसे।
उभओ वि तत्थ विहरिंसु
उल्लीणा सुसमाहिया।।

*केशी कुमारश्रमणः*
*गौतमश्च महायशाः।*
*उभावपि तत्र व्यहार्ष्टाम्*
*आलीनौ सुसमाहितौ।।*

कुमार-श्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनों वहां विहार कर रहे थे। वे आत्मलीन[४] और मन की समाधि से सम्पन्न थे।[५]

१०. उभओ सीससंघाणं
संजयाणं तवस्सिणं।
तत्थ चिंता समुप्पन्ना
गुणवंताण ताइणं।।

*उभयोः शिष्यसङ्घानां*
*संयतानां तपस्विनाम्।*
*तत्र चिन्ता समुत्पन्ना*
*गुणवतां त्रायिणाम्।।*

उन दोनों का शिष्य-समूह, जो संयत, तपस्वी, गुणवान् और त्रायी था, के मन में एक तर्क[६] उत्पन्न हुआ।

११. केरिसो वा इमो धम्मो ?
इमो धम्मो व केरिसो ?।
आयारधम्मपणिही
इमा वा सा व केरिसी ?।।

*कीदृशो वायं धर्मः ?*
*अयं धर्मो वा कीदृशः ?।*
*आचारधर्मप्रणिधिः*
*अयं वा स वा कीदृशः ?।।*

यह हमारा धर्म कैसा है ? और यह धर्म कैसा है ? आचार-धर्म की व्यवस्था[७] यह हमारी कैसी है ? और वह उनकी कैसी है ?

१२. चाउज्जामो य जो धम्मो
जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महामुणी।।

*चातुर्यामश्च यो धर्मः*
*योऽयं पंचशिक्षितः।*
*देशितो वर्धमानेन*
*पार्श्वेन च महामुनिना।।*

जो चातुर्याम-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है और यह जो पंच-शिक्षात्मक-धर्म[८] है, उसका प्रतिपादन महामुनि वर्धमान ने किया है।[९]

१३. अचेलगो य जो धम्मो
जो इमो संतरुत्तरो।
एगकज्जपवन्नाणं
विसेसे किं नु कारणं ?।।

*अचेलकश्च यो धर्मः*
*योऽयं सान्तरोत्तरः।*
*एककार्यप्रपन्नयोः*
*विशेषे किन्नु कारणम् ?।।*

महामुनि वर्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अचेलक है[१०] और महामुनि पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है, वह सान्तर (अन्तर् वस्त्र) तथा उत्तर (उत्तरीय वस्त्र) है।[११] जबकि हम एक ही उद्देश्य से चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है ?

१४. अह ते तत्थ सीसाणं
विण्णाय पवितक्किय।
समागमे कयमई
उभओ केसिगोयमा।

*अथ तौ तत्र शिष्याणां*
*विज्ञाय प्रवितर्कितम्।*
*समागमे कृतमती*
*उभौ केशिगौतमौ।।*

उन दोनों—केशी और गौतम ने अपने-अपने शिष्यों की वितर्कणा को जान कर परस्पर मिलने का विचार किया।

१५. गोयमे पडिरूवण्णू
सीससंघसमाउले।
जेट्ठं कुलमवेक्खंतो
तिंदुयं वणमागओ।।

*गौतमः प्रतिरूपज्ञः*
*शिष्यसङ्घसमाकुलः।*
*ज्येष्ठं कुलमपेक्षमाणः*
*तिन्दुकं वनमागतः।।*

गौतम ने विनय की मर्यादा का औचित्य देखा।[१२] केशी का कुल ज्येष्ठ था, इसलिए गौतम शिष्य-संघ को साथ लेकर तिंदुक वन में चले आए।

१६. केसी कुमारसमणे
गोयमं दिस्समागयं।
पडिरूवं पडिवत्तिं
सम्मं संपडिवज्जई।।

*केशी कुमारश्रमणः*
*गौतमं दृष्ट्वागतम्।*
*प्रतिरूपां प्रतिपत्तिम्*
*सम्यक् संप्रतिपद्यते।।*

कुमार-श्रमण केशी ने गौतम को आए देख कर सम्यक् प्रकार से उनका उपयुक्त आदर किया।[१३]

१७. पलालं फासुयं तत्थ
पंचमं कुसतणाणि य।
गोयमस्स निसेज्जाए
खिप्पं संपणामए।।

*पलालं स्पर्शुकं तत्र*
*पंचमं कुशतृणानि च।*
*गौतमस्य निषद्यायै*
*क्षिप्रं समर्पयति।।*

उन्होंने तुरन्त ही गौतम को बैठने के लिए प्रासुक पलाल (चार प्रकार के अनाजों के डंठल) और पांचवी कुश नाम की घास[१४] दी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. केसी कुमारसमणे
गोयमे य महायसे।
उभओ निसण्णा सोहंति
चंदसूरसमप्पभा।।

*केशी कुमारश्रमणः*
*गौतमश्च महायशाः।*
*उभौ निषण्णौ शोभेते*
*चन्द्रसूरसमप्रभौ।।*

चन्द्र और सूर्य के समान शोभा वाले कुमार-श्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनों बैठे हुए शोभित हो रहे थे।

१९. समागया बहू तत्थ
पासंडा कोउगामिगा।
गिहत्थाणं अणेगाओ
साहस्सीओ समागया।।

*समागता बहवस्तत्र*
*पाषण्डाः कौतुकामृगाः।*
*गृहस्थानामनेकाः*
*साहस्रयः समागताः।।*

वहां कुतूहल को ढूंढने वाले[१५] दूसरे-दूसरे सम्प्रदायों के अनेक साधु[१६] आए और हजारों-हजारों गृहस्थ आए।

२०. देवादाणवगंधव्वा
जक्खरक्खसकिन्नरा।
अदिस्साणं च भूयाणं
आसी तत्थ समागमो।।

*देवदानवगन्धर्वाः*
*यक्षराक्षसकिन्नराः।*
*अदृश्यनां च भूतानाम्*
*आसीत् तत्र समागमः।।*

देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर और अदृश्य भूतों का वहां मेला-सा हो गया है।

२१. पुच्छामि ते महाभाग!
केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।।

*पृच्छामि त्वां महाभाग!*
*केशी गौतममब्रवीत्।*
*ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।।*

हे महाभाग! मैं तुम्हें पूछता हूं—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—

२२. पुच्छ भन्ते! जहिच्छं ते
केसिं गोयममब्बवी।
तओ केसी अणुन्नाए
गोयमं इणमब्बवी।।

*पृच्छ भदन्त! यथेच्छं ते*
*केशिनं गौतमोऽब्रवीत्।*
*ततः केश्यनुज्ञातः*
*गौतममिदमब्रवीत्।।*

भंते! जैसी इच्छा हो वैसा पूछो। केशी ने प्रश्न करने की अनुज्ञा पाकर गौतम से इस प्रकार कहा[१७]—

२३. चाउज्जामो य जो धम्मो
जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महामुणी।।

*चातुर्यामश्च यो धर्मः*
*योऽयं पंचशिक्षितः।*
*देशितो वर्धमानेन*
*पार्श्वेन च महामुनिना।।*

जो चातुर्याम-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है और यह जो पंचशिक्षात्मक-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि वर्धमान ने किया है।

२४. एगकज्जपवन्नाणं
विसेसे किं नु कारणं?।
धम्मे दुविहे मेहावि!
कहं विप्पच्चओ न ते?।।

*एककार्यप्रपन्नयोः*
*विशेषे किन्नु कारणम्?।*
*धर्मे द्विविधे मेधाविन्!*
*कथं विप्रत्ययो न ते?।।*

एक ही उद्देश्य के लिए हम चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है? मेधाविन्! धर्म के इन दो प्रकारों में तुम्हें सन्देह कैसे नहीं होता?

२५. तओ केसिं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।
पण्णा समिक्खए धम्मं
तत्तं तत्तविणिच्छयं।।

*ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।*
*प्रज्ञा समीक्षते धर्म*
*तत्त्वं तत्त्वविनिश्चयम्।।*

केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—धर्म-तत्त्व[१७] और तत्त्व-विनिश्चय की समीक्षा प्रज्ञा से होती है।

२६. पुरिमा उज्जुजडा उ
वंकजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपण्णा य
तेण धम्मे दुहा कए।।

*पूर्वे ऋजुजडास्तु*
*वक्रजडाश्च पश्चिमाः।*
*मध्यमा ऋजुप्राज्ञाश्च*
*तेन धर्मो द्विधा कृतः।।*

पहले तीर्थंकर के साधु ऋजु और जड़ होते हैं। अंतिम तीर्थंकर के साधु वक्र और जड़ होते हैं। बीच के तीर्थङ्करों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं, इसलिए धर्म के दो प्रकार किए हैं।[१८]

२७. पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ
चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु
सुविसोज्झो सुपालओ।।

*पूर्वेषां दुर्विशोध्यस्तु*
*चरमाणां दुरनुपालकः।*
*कल्पो मध्यमकानां तु*
*सुविशोध्यः सुपालकः।।*

पूर्ववर्ती साधुओं के लिए मुनि के आचार को यथावत् ग्रहण कर लेना कठिन है। चरमवर्ती साधुओं के लिए मुनि के आचार का पालन कठिन है। मध्यवर्ती साधु उसे यथावत् ग्रहण कर लेते हैं और उसका पालन भी वे सरलता से करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८. साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !।।

*साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो मे संशयोऽयम्।*
*अन्योऽपि संशयो मे*
*तं मां कथय गौतम !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

२९. अचेलगो य जो धम्मो
जो इमो संतरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महाजसा।।

*अचेलकश्च यो धर्मः*
*योऽयं सान्तरोत्तरः।*
*देशितो वर्धमानेन*
*पार्श्वेन च महायशसा।*

महामुनि वर्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अचेलक है और महान् यशस्वी पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह सान्तर (अन्तर् वस्त्र) तथा उत्तर (उत्तरीय वस्त्र) है।

३०. एगकज्जपवन्नाणं
विसेसे किं नु कारणं ?।
लिंगे दुविहे मेहावि !
कहं विप्पच्चओ न ते ?।।

*एककार्य-प्रपन्नयोः*
*विशेषे किन्नु कारणम् ?।*
*लिङ्गे द्विविधे मेधाविन् !*
*कथं विप्रत्ययो न ते ?।।*

एक ही उद्देश्य के लिए हम चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है ? मेधाविन् ! वेष के इन प्रकारों में तुम्हें संदेह कैसे नहीं होता ?

३१. केसिमेवं बुवाणं तु
गोयमो इणमब्बवी।
विण्णाणेण समागम्म
धम्मसाहणमिच्छियं।।

*केशिनमेवं ब्रुवाणं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।*
*विज्ञानेन समागम्य*
*धर्मसाधनमिप्सितम्।।*

केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—विज्ञान से यथोचित जान कर ही धर्म के साधनों—उपकरणों की अनुमति दी गई है।

३२. पच्चयत्थं च लोगस्स
नाणाविहविगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च
लोगे लिंगप्पोयणं।।

*प्रत्ययार्थं च लोकस्य*
*नानाविधविकल्पनम्।*
*यात्रार्थं ग्रहणार्थं च*
*लोके लिङ्गप्रयोजनम्।।*

लोगों को यह प्रतीति हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की गई है। जीवन-यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हूं', ऐसा ध्यान आते रहना[२०]—वेष-धारण के इस लोक में ये प्रयोजन हैं।

३३. अह भवे पइण्णा उ
मोक्खसब्भूयसाहणे।
नाणं च दंसणं चेव
चरित्तं चेव निच्छए।।

*अथ भवेत् प्रतिज्ञा तु*
*मोक्षसद्भूतसाधने।*
*ज्ञानं च दर्शनं चैव*
*चारित्रं चैव निश्चये।।*

यदि मोक्ष के वास्तविक साधन की प्रतिज्ञा हो तो निश्चय-दृष्टि में उसके साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं।[२१]

३४. साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !।।

*साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो मे संशयोऽयम्।*
*अन्योऽपि संशयो मम*
*तं मां कथय गौतम !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

३५. अणेगाणं सहस्साणं
मज्झे चिट्ठसि गोयमा !
ते य ते अहिगच्छंति
कहं ते निज्जिया तुमे ?!!

*अनेकेषां सहस्राणां*
*मध्ये तिष्ठसि गौतम !।*
*ते य त्वामभिगच्छन्ति*
*कथं ते निर्जितास्त्वया ?।।*

गौतम ! तुम हजारों-हजारों शत्रुओं (कषायजनित वृत्तियों) के बीच खड़े हो। वे तुम्हें जीतने को तुम्हारे सामने आ रहे हैं। तुमने उन्हें कैसे पराजित किया ?

३६. एगे जिए जिया पंच
पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं
सव्वसत्तू जिणामहं।।

*एकस्मिन् जिते जिताः पंच*
*पंचसु जितेषु जिता दश।*
*दशधा तु जित्वा*
*सर्वशत्रून् जयाम्यहम्।।*

एक (चित्त) को जीत लेने पर पांच जीते गए। पांच को जीत लेने पर दस जीते गए। दसों को जीत कर मैं सब शत्रुओं को जीत लेता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३७. सत्तू य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।।

*शत्रवश्च इति के उक्ताः ?*
*केशी गौतममब्रवीत्।*
*ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।।*

शत्रु कौन कहलाता है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

३८. एगप्पा अजिए सत्तू
कसाया इंदियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं
विहरामि अहं मुणी !।।

*एक आत्माऽजितः शत्रुः*
*कषाया इन्द्रियाणि च।*
*तान् जित्वा यथाज्ञातं*
*विहराम्यहं मुने !।।*

एक न जीती हुई आत्मा (चित्त) शत्रु है। कषाय और इन्द्रियां शत्रु हैं। मुनि ! मैं उन्हें यथाज्ञात उपाय से[२३] जीतकर विहार कर रहा हूं।

३९. साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !।।

*साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो ते संशयोऽयम्।*
*अन्योऽपि संशयो मम*
*तं मां कथय गौतम !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

४०. दीसंति बहवे लोए
पासबद्धा सरीरिणो।
मुक्कपासो लहुब्भूओ
कहं तं विहरसी ? मुणी !।।

*दृश्यन्ते बहवो लोके*
*पाशबद्धाः शरीरिणः।*
*मुक्तपाशो लघुभूतः*
*कथं त्वं विहरसि ? मुने !।।*

इस संसार में बहुत जीव पाश से बन्धे हुए दीख रहे हैं। मुने ! तुम पाश से मुक्त और पवन की तरह प्रतिबंध-रहित होकर कैसे विहार कर रहे हो ?[२४]

४१. ते पासे सव्वसो छित्ता
निहंतूण उवायओ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ
विहारामि अहं मुणी !।।

*तान् पाशान् सर्वशश्छित्त्वा*
*निहत्योपायतः।*
*मुक्तपाशो लघुभूतः*
*विहराम्यहं मुने !।।*

मुने ! इन पाशों को सर्वथा काट कर, उपायों से[२५] विनष्ट कर, मैं पाश-मुक्त और प्रतिबन्ध-रहित होकर विहार करता हूं।

४२. पासा य इइ के वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।।

*पाशाश्चेति के उक्ताः ?*
*केशी गौतममब्रवीत्।*
*केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।।*

पाश किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

४३. रागद्दोसादओ तिव्वा
नेहपासा भयंकरा।
ते छिंदित्तु जहानायं
विहरामि जहक्कमं।।

*रागद्वेषादयस्तीव्राः*
*स्नेहपाशा भयङ्कराः।*
*तान् छित्त्वा यथाज्ञातं*
*विहरामि यथाक्रमम्।।*

प्रगाढ़ राग-द्वेष और स्नेह भयंकर पाश हैं। मैं उन्हें यथाज्ञात उपाय के अनुसार छिन्न कर मुनि-आचार के साथ विहरण करता हूं।

४४. साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !।।

*साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो मे संशयोऽयम्।*
*अन्योऽपि संशयो मम*
*तं मां कथय गौतम !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

४५. अंतोहिययसंभूया
लया चिट्ठइ गोयमा !।
फलेइ विसभक्खीणि
सा उ उद्धरिया कहं ?।।

*अन्तर्हृदयसंभूता*
*लता तिष्ठति गौतम !।*
*फलति विषभक्ष्याणि*
*सा तूद्धृता कथम् ?।।*

गौतम ! अन्तर् हृदय (मन) में उत्पन्न जो लता है जिसके विष-तुल्य[२६] फल लगते हैं, उसे तुमने कैसे उखाड़ा ?

४६. तं लयं सव्वसो छित्ता
उद्धरित्ता समूलियं।
विहरामि जहानायं
मुक्को मि विसभक्खणं।।

*तां लतां सर्वशश्छित्त्वा*
*उद्धृत्य समूलिकाम्।*
*विहरामि यथाज्ञातं*
*मुक्तोऽस्मि विषभक्षणात्।।*

उस लता को यथाज्ञात उपाय के अनुसार सर्वथा छिन्न कर, जड़ से उखाड़ कर विहरण करता हूं, इसलिए मैं विष-फल के खाने से मुक्त हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४७.लया य इइ का वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।।

*लता च इति का उक्ता ?*
*केशी गौतममब्रवीत्।*
*केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।।*

लता किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

४८.भवतण्हा लया वुत्ता
भीमा भीमफलोदया।
तमुद्धरित्तु जहानायं
विहरामि महामुणी !।।

*भवतृष्णा लता उक्ता*
*भीमा भीमफलोदया।*
*तामुद्धृत्य यथाज्ञातं*
*विहरामि महामुने !।।*

भव-तृष्णा को लता कहा गया है। वह भयंकर है और उसमें भयंकर फलों का परिपाक होता है। महामुने ! मैं उसे यथाज्ञात उपाय के अनुसार उखाड़ कर विहरण करता हूं।

४९.साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !।।

*साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो मे संशयोऽयम्।*
*अन्योऽपि संशयो मम*
*तं मां कथय गौतम !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

५०.संपज्जलिया घोरा
अग्गी चिट्ठइ गोयमा !।
जे डहंति सरीरत्था
कहं विज्झाविया तुमे ?।।

*संप्रज्वलिता घोराः*
*अग्नयस्तिष्ठन्ति गौतम !।*
*ये दहन्ति शरीरस्थाः*
*कथं विध्यापितास्त्वया ?।।*

गौतम ! घोर-अग्नियां प्रज्वलित होती रही हैं जो शरीर में रहती हुई मनुष्य को जला रही हैं। उन्हें तुमने कैसे बुझाया ?

५१.महामेहप्पसूयाओ
गिज्झ वारि जलुत्तमं।
सिंचामि सययं देहं
सित्ता नो व डहंति मे।।

*महामेघप्रसूतात्*
*गृहीत्वा वारि जलोत्तमम्।*
*सिंचामि सततं देहं*
*सिक्ता नो वा दहन्ति माम्।।*

महामेघ से उत्पन्न निर्झर से सब जलों में उत्तम जल[२६] लेकर मैं उन्हें सींचता रहता हूं। वे सींची हुई अग्नियां मुझे नहीं जलातीं।

५२.अग्गी य इइ के वुत्ता
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।।

*अग्नयश्चेति के उक्ताः ?*
*केशी गौतममब्रवीत्।*
*केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।।*

अग्नि किन्हें कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

५३.कसाया अग्गिणो वुत्ता
सुयसीलतवो जलं।
सुयधाराभिहया संता
भिन्ना हु न डहंति मे।।

*कषाया अग्नय उक्ताः*
*श्रुतशीलतपो जलम्।*
*श्रुतधाराभिहताः सन्तः*
*भिन्ना 'हु' न दहन्ति माम्।।*

कषायों को अग्नि कहा गया है। श्रुत, शील और तप यह जल है। श्रुत की धारा से आहत किए जाने पर निस्तेज बनी हुई वे अग्नियां मुझे नहीं जलातीं।

५४.साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !।।

*साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो मे संशयोऽयम्।*
*अन्योऽपि संशयो मम*
*तं मां कथय गौतम !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

५५.अयं साहसिओ भीमो
दुट्ठस्सो परिधावई।
जंसि गोयम ! आरूढो
कहं तेण न हीरसि ?।।

*अयं साहसिको भीमः*
*दुष्टाश्वः परिधावति।*
*यस्मिन् गौतम ! आरूढः*
*कथं तेन न ह्रियसे ?।।*

यह साहसिक[२७], भयंकर, दुष्ट-अश्व दौड़ रहा है। गौतम ! तुम उस पर चढ़े हुए हो। वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता ?

५६.पधावंतं निगिण्हामि
सुयरस्सीसमाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं
मग्गं च पडिवज्जई।।

*प्रधावन्तं निगृह्णामि*
*श्रुतरश्मिसमाहितम्।*
*न मे गच्छत्युन्मार्गं*
*मार्गं च प्रतिपद्यते।।*

मैंने इसे श्रुत की लगाम से बांध लिया है। यह जब उन्मार्ग की ओर दौड़ता है तब मैं इस पर रोक लगा देता हूं। इसलिए मेरा अश्व उन्मार्ग को नहीं जाता, मार्ग में ही चलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५७.अस्से य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।।

*अश्वश्चेति क उक्त ?*
*केशी गौतममब्रवीत्।*
*केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।।*

अश्व किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

५८.मणो साहसिओ भीमो
दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं निगिण्हामि
धम्मसिक्खाए कंथगं।।

*मनः साहसिको भीमः*
*दुष्टाश्वः परिधावति।*
*तत् सम्यक् निगृह्णामि*
*धर्मशिक्षया कन्थकम्।।*

यह जो साहसिक, भयंकर, दुष्ट-अश्व दौड़ रहा है, वह मन है। उसे मैं भलीभांति अपने अधीन रखता हूं। धर्म-शिक्षा के द्वारा वह उत्तम-जाति का अश्व हो गया है।

५९.साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !।।

*साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो मे संशयोऽयम्।*
*अन्योऽपि संशयो मम*
*तं मां कथय गौतम !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

६०.कुप्पहा बहवो लोए
जेहिं नासंति जंतवो।
अद्धाणे कह वट्टंते
तं न नस्ससि ? गोयमा !।।

*कुपथा बहवो लोके*
*यैर्नश्यन्ति जन्तवः।*
*अध्वनि कथं वर्तमानः*
*त्वं न नश्यसि ? गौतम !।।*

लोक में कुमार्ग बहुत हैं। उन पर चलने वाले लोग भटक जाते हैं। गौतम ! मार्ग में चलते हुए तुम कैसे नहीं भटकते ?

६१.जे य मग्गेण गच्छंति
जे य उम्मग्गपट्ठिया।
ते सव्वे विइया मज्झं
तो न नस्सामहं मुणी !।।

*ये च मार्गेण गच्छन्ति*
*ये योन्मार्गप्रस्थिताः।*
*ते सर्वे विदिता मया*
*ततो न नश्याम्यहं मुने !।।*

जो मार्ग से चलते हैं और जो उन्मार्ग से चलते हैं, वे सब मुझे ज्ञात हैं। मुने ! इसीलिए मैं नहीं भटक रहा हूं।

६२.मग्गे य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।।

*मार्गश्चेति क उक्तः ?*
*केशी गौतममब्रवीत्।*
*केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।।*

मार्ग किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

६३.कुप्पवयणपासंडी
सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं
एस मग्गे हि उत्तमे।।

*कुप्रवचनपाषण्डिनः*
*सर्वे उन्मार्गप्रस्थिताः।*
*सन्मार्गस्तु जिनाख्यातः*
*एष मार्गो हि उत्तमः।।*

जो कुप्रवचन के दार्शनिक हैं[२१], वे सब उन्मार्ग की ओर चले जा रहे हैं। जो राग-द्वेष को जीतने वाले जिन ने कहा है, वह सन्मार्ग है, क्योंकि यह सबसे उत्तम मार्ग है।

६४.साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !।।

*साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो में संशयोऽयम्।*
*अन्योऽपि संशयो मम*
*तं मां कथय गौतम !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

६५.महाउदगवेगेणं
वुज्झमाणाण पाणिणं।
सरणं गई पइट्ठा य
दीवं कं मन्नसी ? मुणी !।।

*महोदकवेगेन*
*उह्यमानानां प्राणिनाम्।*
*शरणं गतिं प्रतिष्ठां च*
*द्वीपं कं मन्यसे ? मुने !।।*

मुने ! महान् जल के वेग से बहते हुए जीवों के लिए तुम शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप किसे मानते हैं।

६६.अत्थि एगो महादीवो
वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स
गई तत्थ न विज्जई।।

*अस्त्येको महाद्वीपः*
*वारिमध्ये महान्।*
*महोदकवेगस्य*
*गतिस्तत्र न विद्यते।।*

जल के मध्य में एक लम्बा-चौड़ा महाद्वीप है। वहां महान् जल के वेग की गति नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६७.दीवे य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।।

*द्वीपश्चेति क उक्तः ?*
*केशी गौतममब्रवीत्।*
*केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।।*

द्वीप किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

६८.जरामरणवेगेणं
बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य
गई सरणुत्तमं।।

*जरामरणवेगेने*
*उह्यमानानां प्राणिनाम्।*
*धर्मो द्वीपः प्रतिष्ठा च*
*गतिः शरणमुत्तमम्।।*

जरा और मृत्यु के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

६९.साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ?।।

*साधुः गौतमः ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो मे संशयोऽयम्।*
*अन्योऽपि संशयो मम*
*तं मां कथय गौतम !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

७०.अण्णवंसि महोहंसि
नावा विपरिधावई।
जंसि गोयममारूढो
महं पारं गमिस्ससि ?।।

*अर्णवे महौघे*
*नौर्विपरिधावति।*
*यस्यां गौतम ! आरूढः*
*कथं पारं गमिष्यसि ?।।*

महा-प्रवाह वाले समुद्र में नौका तीव्र गति से चली जा रही है। गौतम ! तुम उसमें आरूढ़ हो। उस पार कैसे पहुंच पाओगे ?

७१.जा उ अस्सावि‌णी नावा
न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्सावि‌णी नावा
सा उ पारस्स गामिणी।।

*या त्वाश्रावि‌णी नौः*
*न सा पारस्य गामिनी।*
*या निराश्रावि‌णी नौः*
*सा तु पारस्य गामिनी।।*

जो छेद वाली नौका होती है, वह उस पार नहीं जा पाती। किन्तु जो नौका छेद वाली नहीं होती, वह उस पार चली जाती है।

७२.नावा य इइ का वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।।

*नौश्चेति कोक्ता ?*
*केशी गौतममब्रवीत्।*
*केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।।*

नौका किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

७३.सरीरमाहु नाव त्ति
जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो
जं तरंति महेसिणो।।

*शरीरमाहुनौरिति*
*जीव उच्यते नाविकः।*
*संसारोऽर्णव उक्तः*
*यं तरन्ति महैषिणः।।*

शरीर को नौका, जीव को नाविक और संसार को समुद्र कहा गया है। महान्—मोक्ष की एषणा करने वाले इसे तैर जाते हैं।

७४.साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !।।

*साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो मे संशयोऽयम्।*
*अन्योऽपि संशयो मम*
*तं मां कथय गौतम !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

७५.अंधयारे तमे घोरे
चिट्ठंति पाणिणो बहू।
को करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोगंमि पाणिणं ?।।

*अन्धकारे तमसि घोरे*
*तिष्ठन्ति प्राणिनो बहवः।*
*कः करिष्यत्युद्योतं*
*सर्वलोके प्राणिनाम् ?।।*

लोगों को अन्ध बनाने वाले घोर तिमिर में बहुत लोग रह रहे हैं। इस समूचे लोक में उन प्राणियों के लिए प्रकाश कौन करेगा ?

७६.उग्गओ विमलो भाणू
सव्वलोगप्पभंकरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोगंमि पाणिणं।।

*उद्गतो विमलो भानुः*
*सर्वलोकप्रभाकरः।*
*सः करिष्यत्युद्योतं*
*सर्वलोके प्राणिनाम्।।*

समूचे लोक में प्रकाश करने वाला एक विमल भानु उगा है। वह समूचे लोक में प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७७. भाणू य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।।

*भानुश्चेति क उक्तः ?*
*केशी गौतममब्रवीत्।*
*केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।।*

भानु किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

७८. उग्गओ खीणसंसारो
सव्वण्णू जिणभक्खरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोयंमि पाणिणं।।

*उद्गतः क्षीणसंसारः*
*सर्वज्ञो जिनभास्करः।*
*स करिष्यत्युद्योतं*
*सर्वलोके प्राणिनाम्।।*

जिसका संसार क्षीण हो चुका है, जो सर्वज्ञ है, वह अर्हत्-रूपी भास्कर समूचे लोक के प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।

७९. साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !।।

*साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो में संशयोऽयम्।*
*अन्योऽपि संशयो मम*
*तं मां कथय गौतम !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

८०. सारीरमाणसे दुक्खे
बज्झमाणाण पाणिणं।
खेमं सिवमणाबाहं
ठाणं किं मन्मसी ? मुणी !।।

*शारीरमानसैर्दुःखैः*
*बाध्यमानानां प्राणिनाम्।*
*क्षेमं शिवमनाबाधं*
*स्थानं किं मन्यसे ? मुने !।।*

मुने ! तुम शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित होते हुए प्राणियों के लिए क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान किसे मानते हो ?

८१. अत्थि एगं धुवं ठाणं
लोगग्गंमि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू
वाहिणो वेयणा तहा।।

*अस्त्येकं ध्रुवं स्थानं*
*लोकाग्रे दुरारोहं।*
*यत्र नास्ति जरा मृत्युः*
*व्याधयो वेदनास्तथा।।*

लोक के शिखर में एक वैसा शाश्वत स्थान है, जहां पहुंच पाना बहुत कठिन है और जहां नहीं है—जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना।

८२. ठाणे य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।।

*स्थानं चेति किमुक्तं ?*
*केशी गौतममब्रीत्।*
*केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु*
*गौतम इदमब्रवीत्।।*

स्थान किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

८३. निव्वाणं ति अबाहं ति
सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं
जं चरंति महेसिणो।।

*निर्वाणमित्यबाधमिति*
*सिद्धिर्लोकाग्रमेव च।*
*क्षेमं शिवमनाबाधं*
*यच्चरन्ति महैषिणः।।*

जो निर्वाण है, जो अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है, जिसे महान् की एषणा करने वाले प्राप्त करते है[२९]—

८४. तं ठाणं सासयं वासं
लोगग्गंमि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयंति
भवोहंतकरा मुणी।।

*तत् स्थानं शाश्वतं वासं*
*लोकाग्रे दुरारोहम्।*
*यत्सम्प्राप्ता न शोचन्ति*
*भवौघान्तकराः मुनयः।।*

भव-प्रवाह का अन्त करने वाले मुनि जिसे प्राप्त कर शोक से मुक्त हो जाते हैं, जो लोक के शिखर में शाश्वत-रूप से अवस्थित है, जहां पहुंच पाना कठिन है, उसे मैं स्थान कहता हूं।

८५. साहु गोयम ! पण्णा ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
नमो ते संसयाईय !
सव्वसुत्तमहोयही !।।

*साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते*
*छिन्नो मे संशयोऽयम्।*
*नमस्तुभ्यं संशयातीत !*
*सर्वसूत्रमहोदधे !।।*

गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। हे संशयातीत ! हे सर्वसूत्र महोदधि ! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूं।

८६. एवं तु संसए छिन्ने
केसी घोरपरक्कमे।
अभिवंदित्ता सिरसा
गोयमं तु महायसं।।

*एवं तु संशये छिन्ने*
*केशी घोरपराक्रमः।*
*अभिवन्द्य शिरसा*
*गौतमं तु महायशसम्।।*

इस प्रकार संशय दूर होने पर घोर पराक्रम वाले केशी महान् यशस्वी गौतम का शिर से अभिवन्दन कर—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८७. पंचमहव्वयधम्मं
पडिवज्जइ भावओ।
पुरिमस्स पच्छिमंमी
मग्गे तत्थ सुहावहे।।

*पंचमहाव्रतधर्मं*
*प्रतिपद्यते भावतः।*
*पूर्वस्य पश्चिमे*
*मार्गे तत्र सुखावहे।।*

केशी स्वामी ने गौतम के पास भावपूर्वक पंच महाव्रत धर्म को स्वीकार किया। वे पूर्वमार्ग—भगवान् पार्श्व की परम्परा से पश्चिममार्ग—भगवान् महावीर की सुखावह परम्परा में प्रविष्ट हो गए।[१०]

८८. केसीगोयमओ निच्चं
तम्मि आसि समागमे।
सुयसीलसमुक्करिसो
महत्थत्थविणिच्छओ।।

*केशिगौतमयोर्नित्यं*
*तस्मिन्नासीत् समागमे।*
*श्रुतशीलसमुत्कर्षः*
*महार्थार्थविनिश्चयः।।*

उस उद्यान में होने वाला केशी और गौतम का सतत मिलन श्रुत और शील का उत्कर्ष करने वाला और महान् प्रयोजन वाले अर्थों का विनिश्चय करने वाला था।

८९. तोसिया परिसा सव्वा
सम्मग्गं समुवट्ठिया
संथुया ते पसीयंतु
भयवं केसिगोयमे।।

*तोषिता परिषत् सर्वा*
*सन्मार्गं समुपस्थिता।*
*संस्तुतौ तौ प्रसीदताम्*
*भगवन्तौ केशिगौतमौ।।*

जिनकी गति-विधि से परिषद् को सन्तोष हुआ और वह सन्मार्ग पर उपस्थित हुई, वे परिषद् द्वारा प्रशंसित भगवान् केशी और गौतम प्रसन्न हों।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पण

# अध्ययन २३ : केशि गौतमीय

**१. पार्श्व (पासे)**

आचार्य नेमिचंद्र ने सुखबोधावृत्ति में तीर्थंकर पार्श्व का जीवनवृत्त प्रस्तुत किया है।

देखें—सुखबोधावृत्ति, पत्र २८५-२९५।

**२. कुमार-श्रमण (कुमारसमणे)**

कुमार शब्द का सम्बन्ध 'कुमार श्रमण' और 'केशीकुमार'—इस प्रकार दोनों रूपों में किया जा सकता है। शान्त्याचार्य ने प्रथम रूप मान्य किया है। कुमारश्रमण केशी का एक विशेषण है। वे अविवाहित थे, इसलिए 'कुमार' कहलाते थे और वे तपस्या करते थे, इसलिए वे 'श्रमण' कहलाते थे। यह वृत्ति का अभिमत है।[1]

**३. नगर के पार्श्व में (नगरमंडले)**

नगरमंडल का अर्थ है—नगर के परकोटे का परिसर।[2]

**४. आत्मलीन (अल्लीणा)**

चूर्णि और वृत्ति में आलीन का अर्थ—मन, वचन और काया की गुप्ति से गुप्त किया है।[3] दशवैकालिक में 'अल्लीण' (सं. आलीन) का अर्थ थोड़ा लीन किया है। तात्पर्य की भाषा में जो गुरु के न अति-दूर और न अति-निकट बैठता है, उसे 'आलीन' कहा जाता है।[4]

**५. मन की समाधि से सम्पन्न थे (सुसमाहिया)**

समाधि का अर्थ है—चित्त का स्वास्थ्य। उसके तीन प्रकार हैं—ज्ञान समाधि, दर्शन समाधि और चारित्र समाधि। ये तीनों मानसिक समाधि के हेतु हैं।[5]

**६. तर्क (चिंता)**

चिन्ता शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहां इसका प्रयोग तर्क के अर्थ में हुआ है। तत्त्वार्थ की वृत्ति में चिन्ता का अर्थ तर्क किया गया है।[6]

**७. आचार-धर्म की व्यवस्था (आयारधम्मपणिही)**

यहां 'आचार' का अर्थ है—वेष-धारण आदि बाह्य क्रिया-कलाप और प्रणिधि का अर्थ है—व्यवस्थापन। इसका समग्र अर्थ है—बाह्य क्रिया-कलापरूप धर्म का व्यवस्थापन।[7] बाह्य क्रिया-कलापों को धर्म इसलिए कहा है कि वे भी आत्मिक-विकास के हेतु बनते हैं।

**८. चातुर्याम धर्म....पंचशिक्षात्मक धर्म (चाउज्जामो... पंचसिक्खिओ)**

पहले और अंतिम तीर्थंकर के अतिरिक्त शेष बावीस तीर्थंकरों के शासन में चातुर्याम धर्म की व्यवस्था होती है। दूसरे शब्दों में चार महाव्रतात्मक धर्म हैं—

१. सर्व प्राणातिपात विरति।
२. सर्व मृषावाद विरति।
३. सर्व अदत्तादान विरति।
४. सर्व बाह्य-आदान विरति।

देखें—ठाणं ४।१३६।

'पंचसिक्खिओ'—यह पांच महाव्रतों का सूचक शब्द है। पांच महाव्रतों के नाम इसी आगम के २१।१२ में उपलब्ध है।

**९. (श्लोक १२)**

मिलाएं—ठाणं ४।१३६-१३७।

**१०. अचेलक है (अचेलगो)**

इसके दो अर्थ हैं—

(१) साधना का वह प्रकार जिसमें वस्त्र नहीं रखे जाते।
(२) साधना का वह प्रकार जिसमें श्वेत और अल्प-मूल्य वाले वस्त्र रखे जाते हैं।

यहां अचेलक शब्द के द्वारा इन दोनों अर्थों की सूचना दी गई है।[8]

**११. (संतरुत्तरो)**

शान्त्याचार्य ने 'अंतर' का अर्थ विशेषित (विशेषता युक्त) और 'उत्तर' का अर्थ प्रधान किया है। दोनों की तुलना में इसका अर्थ यह होता है कि भगवान् महावीर ने अचेल या

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९८ : केशिनामा कुमारश्चासावपरिणीतत्वात् श्रमणश्च तपस्वितया कुमारश्रमणो.....।

२. वही, पत्र ४९८ : नगरमण्डले—पुरपरिक्षेपपरिसरे।

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २९४ : द्वावपि अत्यर्थं लीनौ, मनोवाक्कायगुप्तावित्यर्थः।

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९९ : अल्लीण त्ति आलीनौमनोवाक्कायगुप्तावाश्रितौ वा।

४. दसवेआलियं, जिनदास चूर्णि, पृष्ठ २९९।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९९ : सुसमाहितौ—सुष्ठुज्ञानादिसमाधिमन्तौ।

६. स्वार्थसिद्धि, पृ. ३५४।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९९ : आचरणमाचारो—वेषधारणादिको बाह्यःक्रियाकलाप इत्यर्थः स एव सुगतिधारणाद्धर्मः, प्राप्यते हि बाह्यक्रियामात्रादपि नवमग्रैवेयकमितिकृत्वा, तस्य प्राणिधिः—व्यवस्थापनमाचारधर्मप्रणिधिः।

८. वही, पत्र ५००।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुचेल (केवल श्वेत और अल्प-मूल्य वस्त्र वाले) धर्म का निरूपण किया और भगवान् पार्श्वनाथ ने प्रमाण और वर्ण की विशेषता से विशिष्ट तथा मूल्यवान् वस्त्र वाले धर्म का अर्थात् सचेल धर्म का निरूपण किया।[1]

आचारांग (१।८।५१) तथा कल्पसूत्र (सू० २५६) में 'संतरुत्तर' शब्द मिलता है। शीलांकसूरि ने आचारांग के 'संतरुत्तर' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—उत्तर अर्थात् प्रावरणीय, सांतर अर्थात् भिन्न-भिन्न समयों में। मुनि अपनी आत्मा को तोलने के लिए सांतरोत्तर भी होता है। वह वस्त्र को क्वचित् काम में लेता है, क्वचित् पास में रखता है और सर्दी की आशंका से उसका विसर्जन नहीं करता।[2]

कल्पसूत्र के चूर्णिकार और टिप्पणकार ने 'अन्तर' शब्द के तीन अर्थ किए हैं—(१) सूती वस्त्र, (२) रजोहरण और (३) पात्र। उन्होंने उत्तर शब्द के दो अर्थ किए हैं—(१) कम्बल और (२) ऊपर ओढ़ने का वस्त्र—उत्तरीय।[3] वहां प्रकरण प्राप्त अर्थ यह है कि भीतर सूती कपड़ा और ऊपर ऊनी कपड़ा ओढ़कर भिक्षा के लिए जाए। शान्त्याचार्य ने जो अर्थ किया है वह कुचेल शब्द की तुलना में संगत हो सकता है किन्तु अचेल के साथ उसकी पूरी संगति नहीं बैठती। वर्षा के समय भीतर सूती कपड़ा और उसके ऊपर ऊनी कपड़ा ओढ़कर बाहर जाने की परम्परा रही है।[4] शान्त्याचार्य ने भी ३०वें श्लोक में लिंग शब्द का अर्थ वर्षाकल्प आदि रूप—वेष किया है।[5] और ३२वें श्लोक के 'नानाविध-विकल्पन' एवं 'यात्रार्थ' की व्याख्या में भी इसका उल्लेख किया है।[6] यहां अचेल और सचेल का वर्णन है इसलिए अन्तर का अर्थ अंतरीय—अधोवस्त्र और उत्तर का अर्थ उत्तरीय—ऊपर का वस्त्र भी किया जा सकता है।

इस प्रकार सांतरोत्तर के तीन अर्थ प्राप्त होते हैं—

(१) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति—श्वेत और अल्प मूल्य वस्त्र का निरूपण करने वाला धर्म।

(२) आचारांग वृत्ति—वस्त्र को क्वचित् ओढ़ने वाला क्वचित् अपने पास में रखने वाला।

(३) कल्पसूत्र चूर्णि और टिप्पण—सूती वस्त्र को भीतर और ऊनी को ऊपर ओढ़कर भिक्षा के लिए जाने वाला।

ये तीनों अर्थ भिन्न दिशाओं में विकसित हुए हैं।

## १२. (पडिरूवण्णू)

प्रतिरूपज्ञ का अर्थ है—विनय के औचित्य को जानने वाला।[7]

## १३. (पडिरूवं पडिवत्तिं)

इसका अर्थ है—यथायोग्य आदर अथवा विनय की प्रतिपत्ति।[8]

## १४. पांचवीं कुश नाम की घास (पंचमं कुसतणाणि)

यहां पांच प्रकार के तृणों का उल्लेख किया गया है—

(१) शाली—कमल शाली आदि का पलाल।

(२) व्रीहिक—साठी चावल आदि का पलाल।

(३) कोद्रव—कोद्रव धान्य, कोदो का पलाल।

(४) रालक—कंगु का पलाल।

(५) अरण्य-तृण—श्यामाक आदि।[9]

## १५. कुतूहल को ढूंढने वाले (कोउगामिगा)

वृत्तिकार के अनुसार मूलपाठ 'कोउगासिया' है। इसका अर्थ है—कुतूहल को प्रतिपन्न। उन्होंने 'कोउगामिगा' को पाठांतर मानकर इसके दो अर्थ किए हैं—(१) कुतूहल के कारण मृग की भांति अज्ञानी (२) अमित कुतूहल वाले।[10]

दूसरे अर्थ में कौतुक और अमित—इन दो शब्दों का योग स्वीकृत है। हमने 'मृगंगण अन्वेषणे' धातु के आधार पर 'कोउगामिगा' का अर्थ—कौतुक को ढूंढने वाले किया है। इसकी

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५०० : 'अचेलकश्च' उक्तन्यायेनाविद्यमानचेलकः कुत्सितचेलको वा यो धर्मो वर्धमानेन देशित, इत्यपेक्ष्यते, तथा 'जो इमो' त्ति पूर्ववद् यश्चायं सांतराणि—वर्द्धमानस्वामिसत्कयतिलस्त्रापेक्षया कस्यचित्कदाचिन्मानवर्णविशेषतो विशेषितानि उत्तराणि च—महाधनमूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद्वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सांतरोत्तरो धर्मः पार्श्वेन देशित इतीहापेक्ष्यते।

२. आचारांग १।८।५१ वृत्ति, पत्र २५२ : अथवा क्षेत्रादिगुणाद् हिमकणिनि वाते वाति सति आत्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सांतरोत्तरो भवेत्—सांतरमुत्तरं—प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित् प्रावृणोति क्वचित् पार्श्ववर्ति बिभर्त्ति, शीताशंकया नाद्यापि परित्यजति।

३. (क) कल्पसूत्र चूर्णि, सूत्र २५६।
(ख) कल्पसूत्र टिप्पनक, सूत्र २५६।

४. (क) ओघनिर्युक्ति, गाथा ७२६ वृत्ति।
(ख) धर्मसंग्रह वृत्ति, पत्र ६६ : कम्बलस्य च वर्षासु वह्निनिर्गतानां तात्कालिकवृष्टावप्कायरक्षणमुपयोगः, यतो बालवृद्धग्लाननिमित्तं वर्षत्यपि जलधरे भिक्षायै असङ्घोच्चारप्रस्रवणपरिष्ठापनार्थं च निःसरतां कम्बलावृत्तदेहानां न तथाविधाप्कायविराधनेति।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५०३ : लिंगं—वर्षाकल्पादिरूपो वेषः।

६. (क) वही, पत्र ५०३ : 'नानाविधविकल्पनं' प्रक्रमान्नानाप्रकारोपकरणपरिकल्पनं, नानाविधं हि वर्षाकल्पाद्युपकरणं यथावद्यतिष्वेव संभवतीति।
(ख) वही, पत्र ५०३ : यात्रा—संयमनिर्वाहस्तदर्थं विना हि वर्षाकल्पादिकं वृष्ट्यादौ संयमबाधैव स्यात्।

७. वही, पत्र ५०० : पडिरूवन्नु त्ति प्रतिरूपविनयो—यथोचितप्रतिपत्तिरूपस्तं जानातीति प्रतिरूपज्ञः।

८. वही, पत्र ५०० : प्रतिरूपां—उचितां, प्रतिपत्तिम्—अभ्यागतकर्त्तव्यरूपाम्।

९. वही, पत्र ५०० :
गणपणगं पुण भणियं जिणेहिं कम्मट्ठगंठिमहणेहिं।
सालीवीही कोद्दवरालगरण्णे तिणाइं च।।

१०. वही, पत्र ५०१ : कौतुकं—कुतूहलम्, आश्रिताः—प्रतिपन्नाः कौतुकाश्रिताः, पठ्यते च 'कोउगामिग' त्ति, तत्र कौतुकात् मृगा इव मृगा अज्ञत्वात् प्राकृतत्वाद् अमितकौतुका वा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'कोउगासिया' के साथ अर्थ-संगति होती है।

### १६. दूसरे संप्रदायों के....साधु (पासंडा)

पासंड शब्द श्रमण का पर्यायवाची नाम है।[1] जैन और बौद्ध साहित्य में 'पासंड' शब्द श्रमण सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त होता था। आवश्यक (४) में 'परपासंड पसंसा' और 'परपासंड संथवो'—ये प्रयोग मिलते हैं। उत्तराध्ययन १७।१७ में 'परपासंड' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहां पाषण्ड के साथ 'पर' शब्द है, उससे 'आत्म-पाषण्ड' और 'पर-पाषण्ड'—ये दो प्रकार स्वयं फलित हो जाते हैं।

अशोक अपने बारहवें शिलालेख में कहता है—"देवों का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब प्रकार के श्रमणों की (पाषंडियों की), परिव्राजकों की और गृहस्थों की दान-धर्म से तथा अन्य अनेक प्रकारों से पूजा करता है। पर देवों का प्रिय दान और पूजा को उतना महत्त्व नहीं देता जितना सब पाषंडियों की सार-वृद्धि को।" सार-वृद्धि के अनेक प्रकार हैं। उसका मूल है वाचा-गुप्ति। उदाहरणार्थ आत्म-पाषण्डि की भरमार न करे और पर-पाषण्डि की निन्दा न होने दे। यदि कोई झगड़े का कारण उपस्थित हो भी जाए तो उसे महत्व न दे। 'पर-पाषंड' का मान रखना अनेक प्रकार से उचित है। ऐसा करने से वह 'आत्म-पाषंड' की निश्चय से अभिवृद्धि करता है और 'पर-पाषंड' पर भी उपकार करता है।

स्थानांग १०।१३५ में दस धर्मों में चौथा धर्म 'पाषंड-धर्म' है। अभयदेव सूरी ने इसका अर्थ—'पाखंडियों का आचार' किया है।[2] स्थानांग १०।१३६ में दस प्रकार के स्थविर बतलाए गए हैं। उनसे तुलना करने पर पाषंड का अर्थ 'धर्म सम्प्रदाय' होना चाहिए।

| | |
|---|---|
| ग्रामधर्म | ग्रामस्थविर। |
| नगरधर्म | नगरस्थविर। |
| राष्ट्रधर्म | राष्ट्रस्थविर। |
| पाषंडधर्म | प्रशास्तृस्थविर। |
| कुलधर्म | कुलस्थविर। |
| गणधर्म | गणस्थविर। |
| संघधर्म | संघस्थविर। |
| श्रुतधर्म | जातिस्थविर। |
| चारित्रधर्म | श्रुतस्थविर। |
| अस्तिकायधर्म | पर्यायस्थविर। |

संख्याक्रम से प्रशास्तृ-स्थविर चौथा है। इसका अर्थ है—धर्मोपदेशक। दस धर्मों में इसकी संख्याक्रम से पाषंड-धर्म से तुलना होती है, इसलिए इसका अर्थ 'धर्म-सम्प्रदाय' ही होना चाहिए।

शान्त्याचार्य ने यहां[3] और तिरसठवें[4] श्लोक की व्याख्या में पाषण्ड का अर्थ 'व्रती' किया है।

मनुस्मृति में पाषण्ड का प्रयोग गर्हित अर्थ में हुआ है।[5] उसका तात्पर्य श्रमण-परम्परा के अर्चित शब्द का अर्थापकर्ष करना ही हो सकता है।

### १७. (श्लोक २२)

गौतम ने केशी से प्रश्न पूछने के लिए कहा। पूछने पर अनुज्ञा पाकर केशी ने गौतम के समक्ष जो प्रश्न उपस्थित किए उनका संग्रहण निर्युक्तिकार ने तीन गाथाओं में किया है। वे प्रश्न बारह हैं और उनका विषय यह है।[6]—

१. पार्श्व ने चातुर्याम की व्यवस्था की और महावीर ने पांच महाव्रतों की। यह भेद क्यों?
२. दोनों परम्पराओं में लिंग—वेश की द्विविधता क्यों?
३. आत्मा, कषाय और इन्द्रियां—इन शत्रुओं का पराजय कैसे?
४. पाश क्या है? उनका उच्छेद कैसे?
५. भवतृष्णा का उन्मूलन कैसे?
६. अग्नियां कौनसी हैं? उनका निर्वापण कैसे?
७. मनरूपी दुष्ट अश्व का निग्रह कैसे?
८. मार्ग कौन-सा है?
९. इस जल-प्रवाह में द्वीप किसे कहा गया है?
१०. संसाररूपी महासमुद्र का पारगमन कैसे?
११. अंधकार है अज्ञान। उनका विनाश कैसे?
१२. अनाबाध स्थान कौन-सा है?

### १८. धर्मतत्त्व (धम्मं तत्तं)

इसका अर्थ है—धर्म का परमार्थ। वृत्ति में 'धम्मं' शब्द के अनुस्वार को अलाक्षणिक मानकर 'धम्मतत्तं' को एक शब्द माना है।[7]

### १९. (उज्जुजडा, वंकजडा, उज्जुपन्ना)

उज्जुजडा—ऋजु और जड़। प्रथम तीर्थंकर के साधु 'ऋजु-जड़' होते हैं। वे स्वभावतः ऋजु हैं, किन्तु मति से जड़ होते हैं।[8] अतः उन्हें तत्त्व का बोध कराना अत्यन्त दुष्कर होता है।[9]

वंकजडा—वक्र और जड़। अन्तिम तीर्थंकर के मुनि 'वक्र-जड़' होते हैं। वे स्वभावतः वक्र होते हैं, उनके लिए तत्त्व

---

१. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १६४, १६५।
२. ठाणं, १०।१३५, वृत्ति, पत्र ४८६ : पाखण्डधर्मः पाखण्डिनामाचारः;
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५०१ : पाषण्डं—व्रतं तद्योगात् 'पाषण्डाः' शेषव्रतिनः।
४. वही, पत्र ५०८ : कुप्रवचनेषु—कपिलादिप्ररूपितकुत्सितदर्शनेषु पाषण्डिनो—व्रतिनः।
५. मनुस्मृति, ४।३० : पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।।
६. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४५२-४५४ :
सिक्खाए अ लिंगे अ, सत्तूणं च पराजए।
पासावगत्तणे चेव, तंतूद्धरणबंधणे।।
संसारपारगमणे, तमस्स य विघायणे।
ठाणोवसंपया चेव, एवं बारससु कमो।।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र ५०२ : 'धम्मं तत्तं' ति, बिन्दुरलाक्षणिकस्ततः धर्मतत्त्वं—धर्मपरमार्थम्।
८. निशीतसूत्र चूर्णी तीसरा भाग पृ० १७ श्लोक २६८०।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र ५०२ : 'उज्जुजडु' त्ति, ऋजवश्च प्राञ्जलतया जडाश्च तत एव दुष्प्रतिपाद्यतया ऋजुजडाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को समझना और उसका पालन करना अत्यन्त दुष्कर होता है क्योंकि वे अपने ही तर्कजाल में उलझे रहते हैं।[1]

उज्जुपन्ना—ऋजु और प्राज्ञ। मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के मुनि 'ऋजु-प्राज्ञ' होते हैं। वे स्वभावतः सरल, सुबोध्य और आचार-प्रवण होते हैं।[2]

प्रस्तुत प्रकरण में ऋजु, वक्र और जड़ का प्रयोग सापेक्ष है। इसमें युगीन मनोदशा का चित्रण है। जड़ के संदर्भ दो हैं—(१) अव्युत्पन्न व्यक्ति को समझाने में कठिनाई होती है, इसलिए उसे जड़ कहा जा सकता है। (२) अतिव्युत्पन्न व्यक्ति अपने तर्कजाल में उलझा रहता है, इसलिए उसे समझाना भी कठिन होता है।

प्राज्ञ ज्ञानी भी होता है और तर्क से परे सत्य है—इसे स्वीकार करने वाला भी होता है। इसलिए वह सुबोध्य होता है।

ऋषभ का काल, मध्यवर्ती तीर्थंकरों का काल और महावीर का काल—इन तीनों काल-संधियों में मनुष्य की जो चिन्तनधारा रही उसका निदर्शन इस सूत्र में उपलब्ध है।

स्थानाङ्ग में इस स्थिति का चित्रण दुर्गम और सुगम शब्द के द्वारा किया गया है। वहां कहा है कि प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर के शासन में पांच स्थान दुर्गम होते हैं—

(१) धर्म-तत्त्व का आख्यान करना।
(२) तत्त्व का अपेक्षा की दृष्टि से विभाग करना।
(३) तत्त्व का युक्तिपूर्वक निदर्शन करना।
(४) उत्पन्न परीषहों को सहन करना।
(५) धर्म का आचरण करना।[3]

मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के शासन में पांच स्थान सुगम होते हैं—

(१) धर्म-तत्त्व का आख्यान करना।
(२) तत्त्व का अपेक्षा दृष्टि से विभाग करना।
(३) तत्त्व का युक्तिपूर्वक निदर्शन करना।
(४) उत्पन्न परीषहों को सहन करना।
(५) धर्म का आचरण करना।[4]

## २०. 'मैं साधु हूं' ऐसा ध्यान आते रहना (गहणत्थं)

यह शब्द विशेष विमर्शणीय है। ग्रहण का अर्थ है—ज्ञान। गहणत्थं—अर्थात् ज्ञान के लिए। संयम-यात्रा में चलते-चलते कभी परिस्थितिवश मुनि के मन में उच्चावचभाव आ जाए, चित्त की विप्लुति हो जाए तो उसको यह भान हो कि मैं मुनि हूं, मैंने मुनिवेश धारण किया है।[5]

## २१. (श्लोक ३३)

प्रस्तुत श्लोक में वेश की गौणता का प्रतिपादन किया गया है। व्यवहार नय के अनुसार वेश की उपयोगिता पूर्व श्लोक में प्रदर्शित है। निश्चय नय के अनुसार मुक्ति का साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र है, वेश नहीं है। वृत्तिकार ने लिखा है—भरत आदि वेश के बिना ही केवली बन गए।[6]

## २२. यथाज्ञात उपाय से (जहानायं)

वृत्तिकार ने इसका संस्कृतरूप 'यथान्यायं' देकर इसका अर्थ—यथोक्तनीति का अतिक्रमण किया है।[7] इसका संस्कृतरूप 'यथाज्ञातं' भी हो सकता है। तात्पर्य की दृष्टि से यह अधिक प्रासंगिक है।

छत्तीसवें श्लोक में दस को जीतने की बात कही गई है। प्रस्तुत श्लोक के अनुसार वे दस ये हैं—एक आत्मा, चार कषाय और पांच इंद्रियां। ये अजित अवस्था में शत्रु होते हैं। इनको जीतने वाला सब शत्रुओं को जीत लेता है। वृत्तिकार ने आत्मा के दो अर्थ किए हैं—जीव और चित्त। यहां चित्त अर्थ प्रासंगिक है।[8] इसका तात्पर्यार्थ है—निषेधात्मक भाव वाली आत्मा शत्रु होती है।

## २३. (श्लोक ४०)

प्रस्तुत श्लोक के प्रश्न की पृष्ठभूमि यह है कि गृहस्थ गृहवास के पाश से बद्ध रहते हैं और अनेक तपस्वी, परिव्राजक भी आश्रम में निवास करके ही साधना करते हैं। कुमार-श्रमण केशी ने जानना चाहा कि आप 'लघुभूतविहार'—वायु की भांति अप्रतिबद्ध विहार कैसे करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में गौतम ने कहा—राग-द्वेष और स्नेह—ये पाश हैं। अप्रतिबद्ध विहारी इन पाशों से सहज ही बच जाता है। इस संदर्भ में दशवैकालिक चूलिका का यह श्लोक मननीय है—

न पडिन्नवेज्जा, सयणासणाइं, सेज्जं निसेज्जं तह भत्तपाणं।
गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिं चि कुज्जा।।
(चूलिका २।८)

## २४. उपायों से (उवायओ)

वृत्ति में उपाय का अर्थ—सद्भूत भावना का अभ्यास किया है।[9] पाश को छिन्न करने के लिए पृथक्-पृथक् भावनाओं का दीर्घकालीन अभ्यास करना होता है। उदाहरणस्वरूप—राग

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५०२ : 'वक्कजड्डा य' त्ति, वक्राश्च वक्रबोधतया जडाश्च तत एव स्वकानेककुविकल्पतो विवक्षितार्थप्रतिपत्त्यक्षमतया वक्रजडाः।

२. वही, पत्र ५०२ : 'ऋजुप्रज्ञाः' ऋजवश्च ते प्रकर्षेण जानन्तीति प्रज्ञाश्च सुखेनैव विवक्षितमर्थं ग्राहयितुं शक्यन्त इति ऋजुप्रज्ञाः।

३. ठाणं ५।३२।

४. ठाणं, ५।३३।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५०३ : ग्रहणं—ज्ञानं तदर्थं च, कथंचिद् चित्तविप्लवोत्पत्तावपि गृहणातु—यथाऽहं व्रतीत्येतदर्थं।

६. वही, पत्र ५०४ : ज्ञानाद्येव मुक्तिसाधनं न तु लिंगमिति, श्रूयते हि भरतादीनां लिंगं विनाऽपि केवलज्ञानोत्पत्तिः, निश्चये इति निश्चयनये विचार्ये, व्यवहारनये तु लिंगस्यापि कथंचिन् मुक्तिसद्भूतहेतुतेष्यत एव।

७. वही, पत्र ५०५ : यथान्यायं—यथोक्तनीत्यनतिक्रमेण।

८. वही, पत्र ५०४ : आत्मेति—जीवश्चित्तं वा।

९. वही, पत्र ५०५ : उपायतः—सद्भूतभावनाऽभ्यासात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पाश को छिन्न करने के लिए अन्यत्व भावना का अभ्यास और द्वेष के पास को छिन्न करने के लिए मैत्री की भावना का अभ्यास आवश्यक है।

### २५. विष-तुल्य (विसभक्खीणि)

'विसभक्खीणि'—यह विशेषण है। वृत्तिकार ने विशेष्य को गम्य माना है। इसका अर्थ है—वह लता विषतुल्य फलों को उत्पन्न करती है।[1]

### २६. जलों में उत्तम जल (वारि जलुत्तमं)

प्रस्तुत चरण में 'वारि' और 'जल'—दोनों शब्दों का प्रयोग है। 'जलुत्तमं' यह वारि का विशेषण है। इसका अर्थ है—जल में उत्तम जल।[2]

### २७. साहसिक (साहसिओ)

सूत्रकार के समय में इसका अर्थ 'बिना विचारे काम करने वाला' रहा है।[3] तदन्तर इसके अर्थ का उत्कर्ष हुआ और आज इसका अर्थ 'साहस वाला', 'साहसिक'—किया जाता है।

### २८. जो कुप्रवचन के दार्शनिक हैं (कुप्पवयणपासंडी)

प्रवचन शब्द के अनेक अर्थ हैं—शास्त्र, शासन, दर्शन आदि। जो दर्शन एकान्तवादी होता है, उसे कुप्रवचन कहा जाता है।

वृत्तिकार ने 'पासण्डी' का अर्थ व्रती किया है।[4] प्राचीन साहित्य में पाषण्ड का अर्थ—भ्रमण संप्रदाय है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ किसी एक संप्रदाय या विचारधारा को मानने वाला दार्शनिक किया जा सकता है।

### २९. (श्लोक ८०—८३)

प्रस्तुत श्लोकों के स्थान के तीन विशेषण प्रयुक्त हैं—क्षेम, शिव और अनाबाध। क्षेम और शिव—दोनों शब्द कल्याण के पर्यायवाची हैं। यहां आरोग्य अवस्था के लिए क्षेम और उपद्रव-मुक्त अवस्था के लिए शिव का प्रयोग किया गया है। अनाबाध का अर्थ है—वेदनामुक्त।

वृत्तिकार ने व्याधि के अभाव के साथ क्षेमत्व की, जरा और मरण के अभाव के साथ शिवत्व की और वेदना के अभाव के साथ अनाबाधकत्व की संबंध-योजना की है।[5]

### ३०. पूर्वमार्ग.....पश्चिममार्ग (पुरिमस्स पच्छिमंमी)

अर्हत् पार्श्व पूर्ववर्ती हैं और भगवान् महावीर उत्तरवर्ती। इसीलिए पार्श्व के मार्ग के लिए 'पुरिम' शब्द और महावीर के मार्ग के लिए 'पच्छिम' शब्द का प्रयोग किया गया है।

वृत्तिकार ने 'पुरिमस्स' का अर्थ आद्य तीर्थंकर ऋषभ और 'पच्छिमंमी' का अर्थ चरम तीर्थंकर महावीर किया है।[6]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५०६ : आर्षत्वात् फलति विषवद् भक्ष्यन्त इति विषभक्ष्याणि—पर्यन्तदारुणतया विषोपमानि फलानीति गम्यते।

२. वही, पत्र ५०६ : वारि...पानीयं, जलोत्तमं—शेषजलापेक्षया प्रधानं।

३. वही, पत्र ५०७ : सहसा असमीक्ष्य प्रवर्त्तत इति साहसिकः।

४. वही, पत्र ५०८ : पाषण्डिनो—व्रतिनः।

५. वही, पत्र ५१० : व्याध्यभावेन क्षमत्वं, जरामरणाभावेन शिवत्वं, वेदनाऽभावेनानाबाधकत्वमुक्तमिति।

६. वही, पत्र ५११, ५१२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# चउविंसइमं अज्झयणं

## पवयण-माया

# चौवीसवां अध्ययन

## प्रवचन-माता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

जार्ल सरपेन्टियर के अनुसार सभी आदर्शों में इस अध्ययन का नाम 'समिईयो' है।[1] समवायांग में भी इसका यही नाम है।[2] निर्युक्तिकार ने इसका नाम 'प्रवचन-मात' या 'प्रवचन-माता' माना है।[3]

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग—इन पांच समितियों तथा मनो-गुप्ति, वाग्-गुप्ति और काय-गुप्ति—इन तीनों गुप्तियों का संयुक्त नाम 'प्रवचन-माता' या 'प्रवचन-मात' है। (श्लो० १)

रत्नत्रयी (सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चारित्र) को भी प्रवचन कहा जाता है। उसकी रक्षा के लिए पांच समितियां और तीन गुप्तियां माता-स्थानीय हैं। अथवा प्रवचन (मुनि) के समस्त चारित्र के उत्पादन, रक्षण और विशोधन के ये आठों अनन्य साधन हैं अतः इन्हें 'प्रवचन-माता' कहा गया है।[4]

इनमें प्रवचन (गणिपिटक—द्वादशाङ्ग) समा जाता है। इसलिए इन्हें 'प्रवचन-मात' भी कहा जाता है। (श्लो० ३)।

मन, वाणी और शरीर के गोपन, उत्सर्ग या विसर्जन को गुप्ति और सम्यग् गति, भाषा, आहार की एषणा, उपकरणों का ग्रहण-निक्षेप और मल-मूत्र आदि के उत्सर्ग को समिति कहा जाता है। गुप्ति निवर्तन है और समिति सम्यक् प्रवर्तन। प्रथम श्लोक में इनका पृथक-विभाग है किन्तु तीसरे श्लोक में इन आठों को समिति भी कहा गया है।

समिति का अर्थ है सम्यक्-प्रवर्तन। सम्यक् और असम्यक् का मापदण्ड अहिंसा है। जो प्रवृत्ति अहिंसा से संवलित है वह समिति है। समितियां पांच हैं—

१. ईर्या समिति—गमनागमन सम्बन्धी अहिंसा का विवेक।
२. भाषा समिति—भाषा सम्बन्धी अहिंसा का विवेक।
३. एषणा समिति—जीवन-निर्वाह के आवश्यक उपकरणों—आहार, वस्त्र आदि के ग्रहण और उपयोग सम्बन्धी अहिंसा का विवेक।
४. आदान समिति—दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थों के व्यवहरण सम्बन्धी अहिंसा का विवेक।
५. उत्सर्ग समिति—उत्सर्ग सम्बन्धी अहिंसा का विवेक।

इन पांच समितियों का पालन करने वाला मुनि जीवाकुल संसार में रहता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं होता।[5]

जिस प्रकार दृढ़ कवचधारी योद्धा बाणों की वर्षा होने पर भी नहीं बींधा जा सकता, उसी प्रकार समितियों का सम्यग् पालन करने वाला मुनि साधु-जीवन के विविध कार्यों में प्रवर्तमान होता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं होता।[6]

गुप्ति का अर्थ है निवर्तन। वे तीन प्रकार की है—

१. मनोगुप्ति—असत् चिन्तन से निवर्तन।
२. वचनगुप्ति—असत् वाणी से निवर्तन।
३. कायगुप्ति—असत् प्रवृत्ति से निवर्तन।

जिस प्रकार क्षेत्र की रक्षा के लिए बाड़, नगर की रक्षा के लिए खाई या प्राकार होता है, उसी प्रकार श्रामण्य की सुरक्षा के लिए, पाप के निरोध के लिए गुप्ति है।[7]

महाव्रतों की सुरक्षा के तीन साधन हैं—

१. रात्रि-भोजन की निवृत्ति।
२. आठ प्रवचन-माताओं में जागरूकता।
३. भावना (संस्कारपादान—एक ही प्रवृत्ति का पुनः-पुनः अभ्यास)।

इस प्रकार महाव्रतों की परिपालना समिति-गुप्ति-सापेक्ष है। इनके होने पर महाव्रत सुरक्षित रहते हैं और न होने पर असुरक्षित।[8]

---

१. दी उत्तराध्ययन सूत्र, पृष्ठ ३६५।
२. समवायांग, समवाय ३६।
३. (क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४५८ :
जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते अ भायणे दव्वं।
भावंमि अ समिईओ मायं खलु पवयणं जत्थ।।
(ख) वही, गाथा ४५६ :
अट्ठसवि समिईसु अ दुवालसंगं समोअरइ जम्हा।
तम्हा पवयणमाया अज्झयणं होइ नायव्व।।
४. मूलाराधना, आश्वास ६, श्लोक ११८५; मूलाराधना दर्पण, पृष्ठ ११७२ : प्रवचनस्य रत्नत्रयस्य मातर इव पुत्राणां मातर इव सम्यग्दर्शनादीनां अपायनिवारणपरायणास्तिस्रो गुप्तयः, पंचसमितयश्च। अथवा प्रवचनस्य मुनेश्चारित्रमात्रस्योत्पादनरक्षणविशोधनविधानात् तास्तथा व्यपदिश्यन्ते।
५. मूलाराधना, ६।१२००:
एदाहि सदा जुत्तो, समिदीहिं जगम्मि विहरमाणे हु।
हिंसादिहिं न लिप्पइ, जीवणिकायाउले साहू।।
६. वही, ६।१२०२ :
सरवासे वि पंडते, जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पई, साधू काएसु इरियंतो।।
७. वही, ६।११८६ :
छेत्तस्स वदी णयरस्स, खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो, ताओ गुत्तीओ साहुस्स।।
८. वही, ६।११८५ :
तेसिं चेव वदाणं, रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ।।
विजयोदया वृत्ति, पृष्ठ ११७२, : सत्यां रात्रिभोजननिवृत्तौ प्रवचनमातृकासु भावनासु वा सतीषु हिंसादिव्यावृत्तत्वं भवति। न तास्वसतीषु इति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह अध्ययन साधु आचार का प्रथम और अनिवार्य अंग है। कहा गया है कि चौदह पूर्व पढ़ लेने पर भी जो मुनि प्रवचन-माता में निपुण नहीं है, उसका ज्ञान अज्ञान है। जो व्यक्ति कुछ नहीं जानता और प्रवचन-माताओं में निपुण है, सचेत है, वह व्यक्ति स्व-पर के लिए त्राण है।

मुनि क्या खाए ?, कैसे बाले ?, कैसे चले ?, वस्तुओं का व्यवहरण कैसे करे ? उत्सर्ग कैसे करे ?—इसका स्पष्ट विवेचन इस अध्ययन में दिया गया है।

मुनि जब चले तब गमन की क्रिया में उपयुक्त हो जाए, एकतान हो जाए। प्रत्येक चरण पर उसे यह भान रहे कि "मैं चल रहा हूं।" वह चलने की स्मृति को क्षण मात्र के लिए भी न भूले। युग-मात्र भूमि को देख कर चले। चलते समय अन्यान्य विषयों का वर्जन करे। (श्लो० ६, ७, ८)

मुनि झूठ न बाले। झूठ के आठ कारण हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौखर्य और विकथा। मुनि इनका वर्जन करे। यह भाषा समिति का विवेक है।

मुनि शुद्ध एषणा करे। गवेषणा, ग्रहणैषणा और भोगैषणा के दोषों का वर्जन करे। (श्लो० ११, १२)

मुनि को प्रत्येक वस्तु याचित मिलती है। उसका पूर्ण उपयोग करना उसका कर्त्तव्य है। प्रत्येक पदार्थ का व्यवहरण उपयोग-सहित होना चाहिए। वस्तु को लेने या रखने में अहिंसा की दृष्टि होनी चाहिए। (श्लोक० १३, १४)

मुनि के उत्सर्ग करने की विधि भी बहुत विवेक-पूर्ण होनी चाहिए। ज्यों-त्यों, जहां-कहीं वह उत्सर्ग नहीं कर सकता। जहां लोगों का आवागमन न हो, जहां चूहों आदि के बिल न हों, जो त्रस या स्थावर प्राणियों से युक्त न हो—ऐसे स्थान पर मुनि को उत्सर्ग करना चाहिए। यह विधि अहिंसा की पोषक तो है ही किन्तु सभ्यजन-सम्मत भी है। (श्लोक १५, १६, १७, १८)

मानसिक तथा वाचिक संक्लेशों से पूर्णतः निवृत्त होना मनोगुप्ति तथा वचनगुप्ति है।

मनोयोग चार प्रकार का है—

१. सत्य मनोयाग। ३. मिश्र मनोयोग।
२. असत्य मनोयोग। ४. व्यवहार मनोयोग।

वचनयोग चार प्रकार का है—

१. सत्य वचनयोग। ३. मिश्र वचनयोग।
२. असत्य वचनयोग। ४. व्यवहार वचनयोग।

कायायोग—स्थान, निषीदन, शयन, उल्लंघन, गमन और इन्द्रियों के व्यापार में असत् अंश का वर्जन करना कायायोग है, कायगुप्ति है।

सम्पूर्ण दृष्टि से देखा जाए तो यह अध्ययन समूचे साधु-जीवन का उपष्टम्भ है। इसके माध्यम से ही श्रामण्य का शुद्ध परिपालन संभव है। जिस मुनि की प्रवचन-माताओं के पालन में विशुद्धता है उसका समूचा आचार विशुद्ध है। जो इसमें स्खलित होता है वह समूचे आचार में स्खलित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# चउविंसइमं अज्झयणं : चौवीसवां अध्ययन

## पवयण-माया : प्रवचन-माता

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. अट्ठ पवयणमायाओ<br>समिई गुत्ती तहेव य।<br>पंचेव य समिईओ<br>तओ गुत्तीओ आहिया।। | *अष्टौ प्रवचनमातरः*<br>*समितयो गुप्तयस्तथैव च।*<br>*पंचैव य समितयः*<br>*तिस्रो गुप्तय आख्याताः।*[1] | आठ प्रवचन-माताएं[1] हैं—समिति और गुप्ति। समितियां पांच और गुप्तियां तीन आख्यात हैं। |
| २. इरियाभासेसणादाणे<br>उच्चारे समिई इय।<br>मणगुत्ती वयगुत्ती<br>कायगुत्ती य अट्ठमा।। | *ईर्याभाषैषणादाने*<br>*उच्चारे समितिरिति।*<br>*मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः*<br>*कायगुप्तिश्चाष्टमी।।* | ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-समिति, उच्चार-समिति, मनो-गुप्ति, वचन-गुप्ति और आठवीं काय-गुप्ति है। |
| ३. एयाओ अट्ठ समिईओ<br>समासेण वियाहिया।<br>दुवालसंगं जिणक्खायं<br>मायं जत्थ उ पवयणं।। | *एता अष्टौ समितयः*<br>*समासेन व्याख्याताः।*<br>*द्वादशाङ्गं जिनाख्यातं*<br>*मातं यत्र तु प्रवचनम्।।* | ये आठ समितियां[2] संक्षेप में कही गई हैं। इनमें जिन-भाषित द्वादशाङ्ग-रूप प्रवचवन समाया हुआ है।[3] |
| ४. आलंबणेण कालेण<br>मग्गेण जयणाइ य।<br>चउकारणपरिसुद्धं<br>संजए इरियं रिए।। | *आलम्बनेन कालेन*<br>*मार्गेण यतनया च।*<br>*चतुष्कारणपरिशुद्धां*<br>*संयत ईर्यां रीयेत।।* | संयमी मुनि आलम्बन, काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणों से परिशुद्ध ईर्या (गति) से चले। |
| ५. तत्थ आलंबणं नाणं<br>दंसणं चरणं तहा।<br>काले य दिवसे वुत्ते<br>मग्गे उप्पहवज्जिए।। | *तत्रालम्बनं ज्ञानं*<br>*दर्शनं चरणं तथा।*<br>*कालश्च दिवस उक्तः*<br>*मार्ग उत्पथवर्जितः।।* | उनमें ईर्या का आलम्बन ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। उनका काल दिवस है। और उत्पथ का वर्जन करना उसका मार्ग है। |
| ६. दव्वओ खेत्तओ चेव<br>कालओ भावओ तहा।<br>जयणा चउव्विहा वुत्ता<br>तं मे कित्तयओ सुण।। | *द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव*<br>*कालतो भावतस्तथा*<br>*यतना चतुर्विधा उक्ता*<br>*तां मे कीर्तयतः शृणु।।* | द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना चार प्रकार की कही गई है। वह मैं कह रहा हूं, सुनो। |
| ७. दव्वओ चक्खुसा पेहे<br>जुगमित्तं च खेत्तओ।<br>कालओ जाव रीएज्जा<br>उवउत्ते य भावओ।। | *द्रव्यतश्चक्षुषा प्रेक्षेत*<br>*युगमात्रं च क्षेत्रतः।*<br>*कालतो यावद्रीयेत*<br>*उपयुक्तश्च भावतः।।* | द्रव्य से—आंखों से देखे। क्षेत्र से—युग-मात्र (गाड़ी के जुए जितनी)[4] भूमि को देखे। काल से—जब तक चले तब तक देखे। भाव से—उपयुक्त (गमन में दत्तचित्त) रहे। |
| ८. इंदियत्थे विवज्जित्ता<br>संज्झायं चेव पंचहा।<br>तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे<br>उवउत्ते इरियं रिए।। | *इन्द्रियार्थान् विवर्ज्य*<br>*स्वाध्यायं चैव पंचधा।*<br>*तन्मूर्तिः तत्पुरस्कारः*<br>*उपयुक्त ईर्यां रीयेत।।* | इन्द्रियों के विषयों और पांच प्रकार के स्वाध्याय का वर्जन कर, ईर्या में तन्मय हो, उसे प्रमुख बना उपयोग पूर्वक चले।[5] |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. कोहे माणे च मायाए
लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए
विगहासु तहेव च।।

*क्रोधे माने च मायायां*
*लोभे चोपयुक्तता।*
*हासे भये मौखर्ये*
*विकथासु तथैव च।।*

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा के प्रति सावधान रहे—इनका प्रयोग न करे।

१०. एयाइं अट्ठ ठाणाइं
परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले
भासं भासेज्ज पन्नवं।।

*एतान्यष्टौ स्थानानि*
*परिवर्ज्य संयतः।*
*असावद्यां मितां काले*
*भाषां भाषेत प्रज्ञावान्।।*

प्रज्ञावान् मुनि इन आठ स्थानों का वर्जन कर यथा-समय निरवद्य और परिमित वचन बोले।[६]

११. गवेसणाए गहणे य
परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहिसेज्जाए
एए तिन्नि विसोहए।।

*गवेषणायां ग्रहणे च*
*परिभोगैषणा च या।*
*आहारोपधिशय्यायां*
*एतास्तिस्रो विशोधयेत्।।*

आहार, उपधि और शय्या के विषय में गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा—इन तीनों का विशोधन करे।

१२. उग्गमुप्पायणं पढमे
बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयंमि चउक्कं
विसोहेज्ज जयं जई।।

*उद्गमोत्पादनं प्रथमायां*
*द्वितीयायां शोधयेदेषणाम्।*
*परिभोगे चतुष्कं*
*विशोधयेद् यतं यतिः।।*

यतनाशील यति प्रथम एषणा (गवेषणा-एषणा) में उद्गम और उत्पादन दोनों का शोधन करे। दूसरी एषणा (ग्रहण-एषणा) में एषणा (ग्रहण) सम्बन्धी दोषों का शोधन करे और परिभोगैषणा में दोष-चतुष्क[७] (संयोजना, अप्रमाण, अंगार-धूम और कारण) का शोधन करे।

१३. ओहोवहोवग्गहियं
भंडगं दुविहं मुणी।
गिण्हंतो निक्खिवंतो य
पउंजेज्ज इमं विहिं।।

*ओघोपध्यौपग्रहिकं*
*भाण्डकं द्विविधं मुनिः।*
*गृह्णन्निक्षिपंश्च*
*प्रयुंजीतेमं विधिम्।।*

मुनि ओघ-उपधि (सामान्य उपकरण) और औपग्रहिक-उपधि (विशेष उपकरण)[८]—दोनों प्रकार के उपकरणों को[९] लेने और रखने में इस विधि का प्रयोग करे—

१४. चक्खुसा पडिलेहित्ता
पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा
दुहओ वि समिए सया।।

*चक्षुषा प्रतिलिख्य*
*प्रमार्जयेद् यतं यतिः।*
*आददीत निक्षिपेद् वा*
*द्वावपि समितः सदा।।*

सदा सम्यक्-प्रवृत्त यति दोनों प्रकार के उपकरणों का चक्षु से प्रतिलेखन कर[१०] तथा रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर संयमपूर्वक उन्हें ले और रखे।

१५. उच्चारं पासवणं
खेलं सिंघाणजल्लियं।
आहारं उवहिं देहं
अन्नं वावि तहाविहं।।

*उच्चारं प्रस्रवणं*
*श्लेलं सिङ्घाणं जल्लकम्।*
*आहारमुपधिं देहं*
*अन्यद्वापि तथाविधम्।।*

उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक का मैल, मैल, आहार, उपधि, शरीर या उसी प्रकार की दूसरी कोई उत्सर्ग करने योग्य वस्तु का उपयुक्त स्थण्डिल में उत्सर्ग करे।

१६. अणावायमसंलोए
अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए
आवाए चेय संलोए।।

*अनापातमसंलोकम्*
*आनापातं चैव भवति संलोकम्।*
*आपातमसंलोकम्*
*आपातं चैव संलोकम्।।*

स्थण्डिल चार प्रकार के होते हैं—

१. अनापात-असंलोक—जहां लोगों का आवागमन न हो, वे दूर से भी न दीखते हों।
२. अनापात-संलोक—जहां लोगों का आवागमन न हो, किन्तु वे दूर से भी न दीखते हों।
३. आपात-असंलोक—जहां लोगों का आवागमन हो, किन्तु वे दूर से न दीखते हों।
४. आपात-संलोक—जहां लोगों का आवागमन भी हो, और वे दूर से दीखते भी हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. अणावायमसंलोए
परस्सणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि
अचिरकालकयंमि य।।

*अनापातेऽसंलोके*
*परस्याऽनुपघातिके।*
*समेऽशुषिरे चापि*
*अचिरकालकृते च।।*

जो स्थण्डिल अनापात-असंलोक, पर के लिए अनुपघातकारी, सम, अशुषिर (पोल या दरार रहित) कुछ समय पहले ही निर्जीव बना हुआ—

१८. वित्थिण्णे दूरमोगाढे
नासन्ने बिलवज्जिए।
तसपाणबीयरहिए
उच्चारादीणि वोसिरे।।

*विस्तीर्णे दूरमवगाढे*
*नासन्ने बिलवर्जिते।*
*त्रसप्राणबीजरहिते*
*उच्चारादीनि व्युत्सृजेत्।।*

कम से कम एक हाथ विस्तृत तथा नीचे से चार अंगुल की निर्जीव परत वाला, गांव आदि से दूर, बिल रहित और त्रस प्राणी तथा बीजों से रहित हो—उसमें उच्चार आदि का उत्सर्ग करे।[११]

१९. एयाओ पंच समिईओ
समासेण वियाहिया।
एत्तो य तओ गुत्तीओ
वोच्छामि अणुपुव्वसो।।

*एताः पंचसमितयः*
*समासेन व्याख्याताः।*
*इतश्च तिस्रो गुप्तीः*
*वक्ष्याम्यनुपूर्व्वशः।।*

ये पांच समितियां संक्षेप में कही गई हैं। यहां से क्रमशः तीन गुप्तियां कहूंगा।

२०. सच्चा तहेव मोसा य
सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा
मणगुत्ती चउव्विहा।।

*सत्या तथैव मृषा च*
*सत्यामृषा तथैव च।*
*चतुर्थ्यसत्यामृषा*
*मनोगुप्तिश्चतुर्विधा।।*

सत्या, मृषा, सत्यामृषा और चौथी असत्यामृषा—इस प्रकार मनो-गुप्ति के चार प्रकार हैं।

२१. संरंभसमारंभे
आरंभे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु
नियत्तेज्ज जयं जई।।

*संरम्भसमारम्भे*
*आरम्भे च तथैव च।*
*मनः प्रवर्तमानं तु*
*निवर्तयेद् यतं यतिः।।*

यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान मन का संयमपूर्वक निवर्तन करे।

२२. सच्चा तहेव मोसा य
सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा
वइगुत्ती चउव्विहा।।

*सत्या तथैव मृषा च*
*सत्यामृषा तथैव च।*
*चतुर्थ्यसत्यामृषा*
*वचोगुप्तिश्चतुर्विधा।।*

सत्या, मृषा, सत्यामृषा और चौथी असत्यामृषा—इस प्रकार वचन-गुप्ति के चार प्रकार हैं।

२३. संरंभसमारंभे
आरंभे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु
नियत्तेज्ज जयं जई।।

*संरम्भसमारम्भे*
*आरम्भे च तथैव च।*
*वचः प्रवर्तमानं तु*
*निवर्तयेद् यतं यतिः।।*

यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान वचन का संयमपूर्वक निवर्तन करे।

२४. ठाणे निसीयणे चेव
तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघणपल्लंघणे
इंदियाण य जुंजणे।।

*स्थाने निषदने चैव*
*तथैव च त्वग्वर्तने।*
*उल्लङ्घनप्रलङ्घने*
*इन्द्रियाणां च योजने।।*

खड़ा होने, बैठने, लेटने, उल्लंघन-प्रलंघन करने और इन्द्रियों के व्यापार में—

२५. संरंभसमारंभे
आरंभम्मि तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु
नियत्तेज्ज जयं जई।।

*संरम्भसमारम्भे*
*आरम्भे तथैव च।*
*कायं प्रवर्तमानं तु*
*निवर्तयेद् यतं यतिः।।*

संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान काया या यति संयमपूर्वक निवर्तन करे।[१२]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६. एयाओ पंच समिईओ
चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता
असुभत्थेसु सव्वसो।।

*एताः पंच समितयः*
*चरणस्य च प्रवर्तने।*
*गुप्तयो निवर्तने उक्ताः*
*अशुभार्थेभ्यः सर्वशः।।*

ये पांच समितियां चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं और तीन गुप्तियां सब अशुभ विषयों से निवृत्ति करने के लिए हैं।[२१]

२७. एया पवयणमाया
जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा
विप्पमुच्चई पंडिए।।

*एताः प्रवचनमातृः*
*यः सम्यगाचरेन्मुनिः।*
*स क्षिप्रं सर्वसंसारात्*
*विप्रमुच्यते पण्डितः।।*

जो पण्डित मुनि इस प्रवचन-माताओं का सम्यक् आचरण करता है, वह शीघ्र ही भव-परंपरा से मुक्त हो जाता है।

—त्ति बेमि। —*इति ब्रवीमि।* —ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पण

# अध्ययन २४ : प्रवचन-माता

## १. आठ प्रवचन-माताएं (अट्ठ पवयणमायाओ)

'मायाओ' शब्द के 'माताः' और 'मातरः'—ये दो संस्कृत रूप किए जा सकते हैं। पांच समितियों और तीन गुप्तियों—इन आठों में सारा प्रवचन समा जाता है, इसलिए इन्हें 'प्रवचन-माता' कहा जाता है। इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है, इसलिए इन्हें 'प्रवचन-माता' कहा जाता है। पहले में 'समाने' का अर्थ है दूसरे में 'मां' का।[1] इसी अध्ययन के तीसरे श्लोक में 'समाने' के अर्थ में प्रयोग है।[2] 'मां' का अर्थ वृत्ति में ही मिलता है।

भगवती आराधना के अनुसार समिति और गुप्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वैसी ही रक्षा करती है जैसे माता अपने पुत्र की। इसलिए समिति-गुप्ति को माता कहा गया है।[3]

## २. आठ समितियां (अट्ठ समिईओ)

प्रस्तुत श्लोक में 'समितियां' आठ बतलाई गई हैं। प्रश्न होता है कि समितियां पांच ही हैं तो यहां आठ का कथन क्यों?

टीकाकार ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि 'गुप्तियां' केवल निवृत्त्यात्मक ही नहीं होती, किन्तु प्रवृत्त्यात्मक भी होती हैं। इसी अपेक्षा से उन्हें समिति कहा गया है। जो समित होता है वह नियमतः गुप्त होता है और जो गुप्त होता है वह समित होता भी है और नहीं भी।[4]

## ३. (दुवालसंगं...मायं जत्थ उ पवयणं)

आठ प्रवचन माताओं में जिनभाषित द्वादशांगी समाई हुई है। वृत्तिकार ने इसकी संगति इस प्रकार की है—

☆ ईर्या समिति में प्राणातिपातविरमण व्रत का अवतरण होता है। शेष सारे व्रत उसकी रक्षा के लिए हैं। इसलिए उनका भी इसमें अन्तर्भाव हो जाता है।

☆ भाषा समिति में सावद्यवचन का परिहार होता है। वह निरवद्यवचन रूप होती है। इसमें सारा वचनात्मकश्रुत गृहीत हो जाता है। द्वादशांग प्रवचन उससे बहिर्भूत नहीं है।

वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप से यह भी माना है कि पांच समितियां और तीन गुप्तियां चारित्र रूप हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का अविनाभावी संबंध है। इन तीनों के अतिरिक्त द्वादशांगी कुछ है नहीं। इसलिए इन आठों में सारा प्रवचन समाया हुआ है।[5]

## ४. युग-मात्र (गाड़ी के जुए जितनी) (जुगमित्तं)

'युग' का अर्थ है शरीर या गाड़ी का जुआ। चलते समय साधु की दृष्टि युग-मात्र होनी चाहिए अर्थात् शरीर या गाड़ी के जुए जितनी लम्बी होनी चाहिए। जुआ जैसे प्रारंभ में संकड़ा और आगे से विस्तृत होता है वैसे ही साधु की दृष्टि होनी चाहिए।[6] युग-मात्र का दूसरा अर्थ है 'चार हाथ प्रमाण'। इसका तात्पर्य है कि मुनि चार हाथ प्रमाण भूमि को देखता हुआ चले।[7] विशुद्धिमार्ग में भी भिक्षु को युगमात्रदर्शी कहा है—"इसलिए लोलुप स्वभाव को त्याग, आंखें नीची किए, युगमात्रदर्शी—चार हाथ तक देखनेवाला हो। धीर (भिक्षु) संसार में इच्छानुरूप विचरने का इच्छुक सपदानचारी बने।"[8] आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी युगमात्र भूमि को देखकर चलने का विधान है।[9] मिलाइए—दसवेआलियं, ५।१।३ का टिप्पण।

कहीं-कहीं 'युग' के स्थान पर 'कुक्कुट के उड़ान की दूरी जितनी भूमि पर दृष्टि डालकर चलने' की बात मिलती

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५१३-५१४ : ईर्यासमित्यादयो माता अभिधीयन्ते 'मातमू'-अन्तरवस्थितं 'खलु' निश्चितं 'प्रवचनं' द्वादशाङ्गं 'यत्र' इति यासु। तदेवं निर्युक्तिकृता मातशब्दो निक्षिप्तः, यदा तु 'माय' त्ति पदस्य मातर इति-संस्कारस्तदा द्रव्यमातरो जनन्यो भावमातरस्तु समितयः, एताभ्यः प्रवचनप्रसवात्, उक्तं हि-'एया पवयणमाया दुवालसंगं पसूयातो' त्ति।

२. उत्तरज्झयणाणि, २४।३ : दुसावसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं।

३. भगवती आराधना, गाथा १२०५ :
एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं।
रक्खंति सदा मुणिओ माया पुत्तं व पयदाओ।।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५१४ : गुप्तीनामपि 'प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्ग-गमननिवारणं गुप्ति' रिति वचनात्कथंचित्सच्चेष्टात्मकत्वात्समिति-शब्दवाच्यत्वमस्तीत्येवमुपन्यासः, यत्तु भेदेनोपादानं तत्समितीनां प्रवीचाररूपत्वेन गुप्तीनां प्रवीचाराप्रवीचारात्मकत्वेनान्योऽन्यं कथंचिदभेदात्, तथा चागमः-
"समिओ णियमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो।
कुसलवइमुदीरंतो जं बइगुत्तोऽवि समिओऽवि।।"

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५१५।

६. दशवैकालिक, ५।१।३, जिनदास चूर्णि पृ० १६८।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ५१५ : 'युगमात्रं च' चतुर्हस्तप्रमाणं प्रस्तावात्क्षेत्रं प्रेक्षेत।

८. विशुद्धिमार्ग, १, २, पृ० ६८ :
लोलुप्पचारंच पहाय तस्मा ओक्खित्तचक्खू युगमत्तदस्सी।
आकङ्खमानो भुवि सेरिचारं चरेय्य धीरो सपदानचारं।।

९. अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान २।३२ : विचरेद् युगमात्रदृक्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस प्रकार चलने वाले भिक्षु 'कौक्केटिक' कहलाते हैं।[1]

### ५. (श्लोक ८)

प्रस्तुत श्लोक में गमनयोग का निर्देश है। चलते समय भी ध्यान किया जा सकता है। ध्यान का लक्षण है उपयुक्त होना—लक्ष्य के प्रति एकाग्रचित्त, दत्तचित्त अथवा समर्पित होना। उपयुक्त अवस्था में व्यक्ति अपने लक्ष्य के साथ तन्मूर्ति—तन्मय हो जाता है। गमनयोग के समय गमन करने वाला और गति दो नहीं रहते। गमन करने वाला स्वयं गति बन जाता है। उपयुक्त अवस्था में केवल लक्ष्य ही सामने रहता है, शेष विषय गौण हो जाते हैं। इन दोनों अर्थों का बोध कराने के लिए तम्मुत्ति और तप्पुरक्कार—इन दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

वृत्तिकार ने मूर्ति का अर्थ शरीर किया है। उनके अनुसार शरीर और मन—दोनों गमन के प्रति तत्पर हो जाते हैं और उस समय वचन का व्यापार भी नहीं होता।[2]

बौद्धों की भाषा में इसे 'स्मृति-प्रस्थान' कहा जा सकता है।

### ६. (श्लोक ९-१०)

प्रस्तुत दो श्लोकों में वाणी का विवेक बतलाया गया है। चूर्णिकार ने कहा है—पहले देखो, समीक्षा करो, फिर वाणी का प्रयोग करो। समीक्षापूर्वक बोलना ही वाणी का विवेक है—'पुव्वं बुद्धीए पासेत्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे।'[3] क्रोध आदि आठ कारणों से वाणी का विवेक विनष्ट हो जाता है। वे आठ कारण ये हैं—

१. **क्रोध**— क्रोध के आवेश में व्यक्ति झूठ बोल देता है—पिता अपने पुत्र से कह देता है—तू मेरा पुत्र नहीं है।

२. **मान**— मान के आवेश में व्यक्ति झूठ बोल देता है—वह कहता है—जाति, ऐश्वर्य आदि में मेरी बराबरी करने वाला कोई नहीं है।

३. **माया**— माया के आवेश में व्यक्ति अपरिचित स्थान में दूसरों को संशय में डालने के लिए झूठ बोल देता है—वह कह देता है—न यह मेरा पुत्र है और न मैं इसका पिता हूं।

४. **लोभ**— लोभ के आवेश में व्यक्ति दूसरों की वस्तुओं को अपनी बताने लगता है।

५. **हास्य**— हास्य के वशीभूत होकर व्यक्ति मजाक-मजाक में कुलीन व्यक्ति को भी अकुलीन बता देता है।

६. **भय**— भय से वशीभूत होकर व्यक्ति अपने द्वारा आचरित अनाचार के विषय में पूछे जाने पर कहता है—मैं उस समय वहां था ही नहीं।

७. **मौखर्य**— वाचालता के वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरों की निन्दा में मशगूल हो जाता है।

८. **विकथा**— विकथा में लीन व्यक्ति स्त्रियों के सौन्दर्य, लावण्य, कटाक्ष आदि की प्रशंसा करने लग जाता है।[4]

स्थानांग १०/९० में झूठ बोलने के दस कारणों का निर्देश है। उनमें प्रेयस्-निश्रित, द्वेष-निश्रित और उपघात-निश्रित—ये तीन अधिक हैं। मौखर्य का वहां उल्लेख नहीं है।

### ७. परिभोगैषणा में दोष-चतुष्क (परिभोयंमि चउक्कं)

इस चरण में यह बताया गया है कि मुनि परिभोग-एषणा में चार वस्तुओं—(१) पिंड, (२) शय्या—वसति, (३) वस्त्र और (४) पात्र— का विशोधन करे।[5]

दशवैकालिक (६।४७) में अकल्पनीय पिंड आदि चारों को लेने का निषेध किया गया है। प्रकारान्तर से चतुष्क के द्वारा संयोजना आदि दोषों का ग्रहण किया गया है। यद्यपि भोजन के संयोजन, अप्रमाण, अंगार, धूम, कारण आदि पांच दोष हैं, फिर भी शान्त्याचार्य ने अंगार और धूम दोनों को एक-कोटिक मान यहां इनकी संख्या चार मानी है।

### ८. (ओहोवहोवग्गहियं)

उपधि दो प्रकार के होते हैं—ओघ उपधि और औपग्रहिक उपधि।

जो स्थायी रूप से अपने पास रखा जाता है उसे 'ओघ-उपधि' और जो विशेष कारणवश रखा जाता है उसे 'औपग्रहिक-उपधि' कहा जाता है।[6] जिनकल्पिक मुनियों के बारह, स्थविरकल्पिक मुनियों के चौदह और साध्वियों के पच्चीस ओघ-उपधि होते हैं। इससे अधिक उपधि रखे जाते हैं, वे सब औपग्रहिक होते हैं।[7]

---

१. पाणिनि अष्टाध्यायी ४।४।४६।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५१६ : ततश्च तस्यामेवेर्यायां मूर्त्तिः-शरीरमर्थाद्व्यप्रियमाणा यस्यासौ तन्मूर्त्तिः।....अनेन कायमनसोस्तत्परातोक्ता, वचसो हि तत्र व्यापार एव न समस्ति।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २६७।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५१६।

५. वही, पत्र ५१७ : 'परिभोग' इति परिभोगैषणायां चतुष्कं पिण्डशय्यावस्त्रपात्रात्मकम्, उक्तं हि-'पिंडं सेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य' त्ति, विशोधयेत्, इह चतुष्कशब्देन, तद्विषय उपभोग उपलक्षितः, ततस्तं विशोधयेदिति, को ऽर्थः ?-उद्गमादिदोषत्यागतः शुद्धमेव चतुष्कं परिभुञ्जीत्, यदि वोद्गमादीनां दोषोपलक्षणत्वात् 'उग्गम' त्ति उद्गमदोषान् 'उप्पायणं' ति उत्पादनादोषान् 'एसण' त्ति एषणादोषान् विशोधयेत्, 'चतुष्कं च' संयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमकारणात्मकम्, अङ्गारधूमयोर्मोहनीयान्तर्गतत्वेनैकतया विवक्षितत्वात्।

६. ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६७ :
ओहे उवग्गहंमि य दुविहा उवही य होइ नायव्वो

७. वही, गाथा ६७१-६७७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**९. उपकरणों को (भंडगं)**

इसका अर्थ है—उपकरण। ओघनिर्युक्ति के अनुसार उपधि, उपग्रह, संग्रह, प्रग्रह, अवग्रह, भंडक, उपकरण और करण—ये सब पर्यायवाची हैं।[1]

**१०. प्रतिलेखन कर (पडिलेहित्ता)**

यह सामयिक शब्द है। इसका अर्थ है—सूक्ष्मता से निरीक्षण करना। सामान्यतः यह वस्त्र, पात्र, भूमी आदि के निरीक्षण के लिए प्रयुक्त होता है।

**११. (श्लोक १६-१८)**

इन श्लोकों में परिष्ठापन विधि का समुचित निर्देश हुआ है। मुनि कहां और कैसे परिष्ठापन करे, इसकी विधि बतलाते हुए कहा है कि गांव और उद्यानों से दूरवर्ती स्थानों में तथा कुछ समय पूर्व दग्ध स्थानों में मल आदि का विसर्जन करे। क्योंकि स्वल्पकाल पूर्व के दग्ध-स्थान ही सर्वथा अचित्त (जीव-रहित) होते हैं। जो चिरकाल दग्ध होते हैं, वहां पृथ्वीकाय आदि के जीव पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।[2]

पन्द्रह कर्मादानों में 'दव-दाह' एक प्रकार है। यह दो प्रकार का होता है—

(१) व्यसन से—अर्थात् फल की उपेक्षा किये बिना ही वनों को अग्नि से जला डालना।

(२) पुण्य-बुद्धि से—अर्थात् कोई व्यक्ति करते समय यह कहकर मरे की मेरे मरने के बाद इतने धर्म-दीपोत्सव अवश्य करना। ऐसी स्थिति में भी वन आदि जलाये जाते हैं। अथवा धान्य आदि की समृद्धि के लिए खेतों में उगे हुए तृण आदि जलाये जाते थे।[3]

उपर्युक्त प्रवृत्तियां उस समय प्रचलित थीं, अतः मुनियों को दग्ध-स्थान सहज मिल जाते थे।

**१२. (श्लोक २०-२५)**

प्रस्तुत प्रकरण में मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा का सुन्दर चित्रण किया गया है। मनोगुप्ति मानसिक अहिंसा का, वचनगुप्ति वाचिक अहिंसा का और कायगुप्ति कायिक अहिंसा का प्रायोगिक रूप है। संरंभ, समारंभ और आरम्भ—ये मानसिक, वाचिक और कायिक हिंसा के तीन-तीन रूप हैं। असंरंभ, असमारंभ और अनारम्भ—ये मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा के तीन-तीन रूप हैं।

तत्त्वार्थ ६/९ में मन, वचन और काया—इन तीन योगों के सन्दर्भ में संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ की चर्चा है। तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार कषाययुक्त प्रवृत्ति संरम्भ, परितापनायुक्त प्रवृत्ति समारम्भ और प्राणव्यपरोपणयुक्त प्रवृत्ति आरम्भ है।

बृहद्वृत्तिकार के मानसिक, वाचिक और कायिक हिंसा के सन्दर्भ में संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ को इस प्रकार समझाया है—

१. मानसिक हिंसा[4]—

संरंभ—किसी की मृत्यु का मानसिक संकल्प।

समारंभ—पर-पीड़ाकारक उच्चाटन आदि का हेतुभूत चिन्तन।

आरम्भ—अत्यन्त क्लेश के कारण दूसरे के प्राणों का अपहरण करने में समर्थ अशुभ ध्यान।

२. वाचिक हिंसा[5]—

संरंभ—दूसरों को मारने में क्षम क्षुद्रविद्याओं का जाप करने वाली संकल्प सूचक ध्वनि।

समारम्भ—पर पीड़ाकारक मंत्रों का परावर्तन।

आरंभ—दूसरों के प्राणव्यपरोपण करने में समर्थ मन्त्र आदि का जाप करना।

३. कायिक हिंसा[6]—

संरंभ—प्रहार करने की दृष्टि से लाठी, मुष्टि आदि उठाना।

समारंभ—दूसरों के लिए पीड़ादायक मुष्टि आदि का अभिघात।

आरम्भ—प्राणि-वध में शरीर की प्रवृत्ति।

चूर्णिकार ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है[7]—

*संकल्पः संरम्भः, परितापकरो भवेत् समारम्भः।*
*आरम्भः व्यापत्तिकरः, शुद्धनयानां तु सर्वेषाम्॥*

**१३. (श्लोक २६)**

प्रस्तुत श्लोक में प्रसंग में वृत्तिकार ने गुप्ति के विषय में आचार्य गन्धहस्ती का मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है—राग-द्वेष रहित मन की प्रवृत्ति, काया की प्रवृत्ति और वाणी की प्रवृत्ति गुप्ति है। उसका दूसरा अर्थ—मन, वाणी और काया की निर्व्यापार या प्रवृत्तिशून्य अवस्था—किया है।[8]

जीवन यात्रा के लिए प्रवृत्ति अपेक्षित होती है और अशुभ से बचने के लिए निवृत्ति अपेक्षित होती है। मुनि के जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का सन्तुलन होता है। सूत्रकार ने प्रस्तुत श्लोक में इस सन्तुलन का प्रतिपादन किया है।

---

१. ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६६।
उवही उवग्गहे संगहे य तह पग्गहुग्गहे चेव।
भंडगं उवगरणे य करणे वि य हुंति एगट्ठा।।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५१८ : 'अचिरकालकृते च' दाहदिना स्वल्पकालनिर्वर्त्तिते, चिरकालकृते हि पुनः संमूर्छन्त्येव पृथ्वीकायादयः।

३. प्रवचन सारोद्धार, गाथा २६६ वृत्ति, पत्र ६२।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५१८ : संरम्भः संकल्पः स च मानसः, तथाऽहं ध्यास्यामि यथाऽसौ मरिष्यतीत्येवंविधः, समारम्भः-परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनं ध्यानम्....आरम्भः-अत्यन्तक्लेशतः परप्राणापहारक्षममशुभध्यानमेव।

५. वही, पत्र ५१९ : तथा वाचिकः संरम्भः-परव्यापादनक्षमक्षुद्रविद्यादिपरावर्त्तनासंकल्पसूचको ध्वनिरेवोपचारात् संकल्पशब्दवाच्यः सन्, समारम्भः-परपरितापकरमंत्रादिपरावर्त्तनम्, आरम्भः तथाविधसंक्लेशतः प्राणिनां प्राणव्यपरोपणक्षममन्त्रादिजपनमिति।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५१९ : ततः स्थानादिसु वर्त्तमानः संरम्भः-अभिघातो यष्टिमुष्ट्यादिसंस्थानमेवसंकल्पसूचकमुपचारात् संकल्पशब्दवाच्यं सत् समारम्भः-परितापकरो मुष्ट्याद्यभिघातः, ....आरंभे-प्राणिवधात्मनि कार्य प्रवर्त्तमानम्।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २६७।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ५१९, ५२० : उक्तं हि गन्धहस्तिना-सम्यगागमानुसारेणारक्तद्विष्टपरिणतिसहचरितमनोव्यापारः कायव्यापारो वाग्व्यापारश्च निर्व्यापारता वा वाक्काययोर्गुप्तिरिति, तदनेन व्यापाराव्यापारात्मिका गुप्तिरुक्ते ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पंचविंसइमं अज्झयणं

## जन्नइज्जं

# पचीसवां अध्ययन

## यज्ञीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन का नाम 'जन्नइज्जं'—'यज्ञीय' है। इसका मुख्य विवक्षित विषय 'यज्ञ' है।[1] यज्ञ शब्द का अर्थ देव-पूजा है। जीव-वध आदि बाह्य अनुष्ठान के द्वारा किए जाने वाले यज्ञ को जैन परम्परा में द्रव्य (अवास्तविक) यज्ञ कहा है। वास्तविक यज्ञ भाव-यज्ञ होता है। उसका अर्थ है—तप और संयम में यतना—अनुष्ठान करना।[2]

प्रसंगवश इस अध्ययन में (१९वें श्लोक से ३२वें श्लोक तक) ब्राह्मण के मुख्य गुणों का उल्लेख हुआ है।

वाराणसी नगरी में जयघोष और विजयघोष के दो ब्राह्मण रहते थे। वे काश्यप-गोत्रीय थे। वे पूजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह-इन छह कर्मों में रत और चार वेदों के अध्येता थे। वे दोनों युगल रूप में जन्मे हुए थे। एक बार जयघोष स्नान करने नदी पर गया हुआ था। उसने देखा कि एक सर्प मेंढक को निगल रहा है। इतने में एक कुरर पक्षी वहां आया और सर्प को पकड़ कर खाने लगा। मरणकाल आसन्न होने पर भी सर्प मण्डूक को खाने में रत था और इधर कम्पायमान सर्प को खाने में कुरर आसक्त था। इस दृश्य को देख जयघोष उद्विग्न हो उठा। एक दूसरे के उपघात को देख कर उसका मन वैराग्य से भर गया। वह प्रतिबुद्ध हो गया। गंगा को पार कर श्रमणों के पास पहुंचा। अपने उद्वेग का समाधान पा श्रमण हो गया।

एक बार मुनि जयघोष 'एक-रात्रिकी' प्रतिमा को स्वीकार कर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वाराणसी आए। बहिर्भाग में एक उद्यान में ठहरे। आज उनके एक महीने की तपस्या का पारणा था। वे भिक्षा लेने नगर में गए। उसी दिन ब्राह्मण विजयघोष ने यज्ञ प्रारम्भ किया था। दूर-दूर से ब्राह्मण बुलाए गए थे। उनके लिए विविध भोजन-सामग्री तैयार की गई थी। मुनि जयघोष भिक्षा लेने यज्ञ-वाट में पहुंचे। भिक्षा की याचना की। प्रमुख याजक विजयघोष से कहा—'मुने! मैं तुम्हें भिक्षा नहीं दूंगा। तुम कहीं अन्यत्र चले जाओ। जो ब्राह्मण वेदों को जानते हैं, जो यज्ञ आदि करते हैं जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष—वेद के इन छह अंगों के पारगामी हैं तथा जो अपनी और दूसरों की आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं—उन्हीं को यह प्रणीत अन्न दिया जाएगा, तुम जैसे व्यक्तियों को नहीं। (श्लो० ६, ७, ८)

मुनि जयघोष ने यह बात सुनी। प्रतिषिद्ध किए जाने पर रुष्ट नहीं हुए। समभाव का आचरण करते हुए स्थिर-चित्त हो, भोजन पाने के लिए नहीं किन्तु याजकों को सही ज्ञान कराने के लिए कई तथ्य प्रकट किए। ब्राह्मणों के लक्षण बताए। मुनि के वचन सुन विजयघोष ब्राह्मण सम्बुद्ध हुआ और उनके पास दीक्षित हो गया। सम्यक् आराधना कर दोनों सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

मुनि को भोजन के लिए, पान के लिए, वस्त्र के लिए, वसती के लिए आदि-आदि कारणों से धर्मोपदेश नहीं देना चाहिए, किन्तु केवल आत्मोद्धार के लिए ही उपदेश देना चाहिए। इसी तथ्य को स्पष्टता से व्यक्त करते हुए जयघोष मुनि ब्राह्मण विजयघोष से कहते हैं—

"मुनि न अन्न के लिए, न जल के लिए और न किसी अन्य जीवन-निर्वाह के साधन के लिए, लेकिन मुक्ति के लिए धर्मोपदेश देते हैं। मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं। तुम निष्क्रमण कर मुनि-जीवन को स्वीकार करो।" (श्लो० १०, ३८)

"भोग आसक्ति है और अभोग अनासक्ति। आसक्ति संसार है और अनासक्ति मोक्ष। मिट्टी के दो गोले हैं—एक गीला और दूसरा सूखा। जो गीला होता है वह भित्ति से चिपक जाता है और जो सूखा होता है वह नहीं चिपकता। इसी प्रकार जो व्यक्ति आसक्ति से भरा है, कर्म-पुद्गल उसके चिपकते हैं और जो अनासक्त है, कर्म असके नहीं चिपकते।" (श्लो० ३८ से ४१)

"बाह्य-चिन्ह, वेष आदि आंतरिक पवित्रता के द्योतक नहीं हैं। बाह्य-लिंग संप्रदायानुगत अस्तित्व के द्योतक मात्र हैं। मुंडित होने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता। ओंकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, दर्भ—वल्कल आदि धारण करने मात्र से कोई तापस नहीं होता।" (श्लो० २९)

"समभाव से समण होता है, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस होता है" (श्लो० ३१)

"जातिवाद अतात्त्विक है। अपने-अपने कार्य से व्यक्ति ब्राह्मण आदि होता है। जाति कार्य के आधार पर विभाजित है, जन्म के आधार पर नहीं। मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र।" (श्लो० ३१)

वेद, यज्ञ, धर्म और नक्षत्र का मुख क्या है? अपनी तथा दूसरों की आत्मा में सुधार करने में कौन समर्थ है?—इन प्रश्नों का समाधान मुनि जयघोष ने विस्तार से दिया है। (श्लो० १६ से ३३)

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा, ४६२ :
जयघोसा अणगारा विजयघोसस्स जन्नकिच्चंमि।
तत्तो समुट्ठियमिणं अज्झयणं जन्नइज्जन्ति।।

२. वही, गाथा ४६१ : तवसंजमेसु जयणा भावे जन्नो मुणेयव्वो।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पंचविंसइमं अज्झयणं : पचीसवां अध्ययन

## जण्णइज्जं : यज्ञीय

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. माहणकुलसंभूओ<br>आसि विप्पो महायसो।<br>जायाई जमजण्णंमि<br>जयघोसे त्ति नामओ।। | *माहनकुलसंभूतः*<br>*आसीद् विप्रो महायशाः।*<br>*यायायी यमयज्ञे*<br>*जयघोष इति नामतः।।* | ब्राह्मण कुल में उत्पन्न एक महान् यशस्वी विप्र[1] था। वह यजनशील[2] था, यमयज्ञ[3] (जीव-संहारक यज्ञ) में लगा रहता था। उसका नाम था जयघोष। |
| २. इंदियग्गामनिग्गाही<br>मग्गगामी महामुणी।<br>गामाणुगामं रीयंते<br>पत्ते वाणारसिं पुरिं।। | *इन्द्रियग्रामनिग्राही*<br>*मार्गगामी महामुनिः।*<br>*ग्रामानुग्रामं रीयमाणः*<br>*प्राप्तो वाराणसीं पुरीम्।।* | वह (अहिंसा धर्म में प्रतिबुद्ध होकर) इन्द्रिय-समूह का निग्रह करने वाला मार्गगामी[4] महामुनि हो गया। एक गांव से दूसरे गांव जाता हुआ वह वाराणसी पुरी पहुंचा। |
| ३. वाणारसीए बहिया<br>उज्जाणंमि मणोरमे।<br>फासुए सेज्जसंथारे<br>तत्थ वासमुवागए।। | *वाराणस्या बहिः*<br>*उद्याने मनोरमे।*<br>*प्रासुके शय्यासंस्तारे*<br>*तत्र वासमुपागतः।।* | वाराणसी के बाहर मनोरम उद्यान में प्रासुक शय्या और बिछौना लेकर वहां रहा। |
| ४. अह तेणेव कालेणं<br>पुरीए तत्थ माहणे।<br>विजयघोसे त्ति नामेण<br>जण्णं जयइ वेयवी।। | *अथ तस्मिन्नेव काले*<br>*पुर्यां तत्र माहनः।*<br>*विजयघोष इति नाम्ना*<br>*यज्ञं यजति वेदवित्।।* | उसी समय उस पुरी में वेदों को जानने वाला विजयघोष नाम का ब्राह्मण यज्ञ[5] करता था। |
| ५. अह से तत्थ अणगारे<br>मासक्खमणपारणे।<br>विजयघोसस्स जण्णंमि<br>भिक्खमट्ठा उवट्ठिए।। | *अथ स तत्रानगारः*<br>*मासक्षपणपारणे।*<br>*विजयघोषस्य यज्ञे*<br>*भिक्षार्थमुपस्थितः।।* | वह जयघोष मुनि एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए विजयघोष के यज्ञ में भिक्षा लेने को उपस्थित हुआ। |
| ६. समुवट्ठियं तहिं संतं<br>जायगो पडिसेहए।<br>न हु दाहामि ते भिक्खं<br>भिक्खू! जायाहि अन्नओ।। | *समुपस्थितं तत्र सन्तं*<br>*याजकः प्रतिषेधयति।*<br>*न खलु दास्यामि तुभ्यं भिक्षां*<br>*भिक्षो! याचस्वान्यतः।।* | यज्ञकर्त्ता ने वहां उपस्थित हुए मुनि को निषेध की भाषा में कहा—"भिक्षो! तुम्हें भिक्षा नहीं दूंगा, और कहीं याचना करो।" |
| ७.८. जे य वेयविऊ विप्पा<br>जण्णट्ठा य जे दिया।<br>जोइसंगविऊ जे य<br>जे य धम्माण पारगा।।<br><br>जे समत्था समुद्धत्तुं<br>परं अप्पाणमेव य।<br>तेसिं अन्नमिणं देयं<br>भो भिक्खू! सव्वकामियं।। | *ये च वेदविदो विप्राः*<br>*यज्ञार्थाश्च ये द्विजाः।*<br>*ज्योतिषांगविदो ये च*<br>*ये च धर्माणां पारगाः।।*<br><br>*ये समर्थाः समुद्धर्तुं*<br>*परमात्मानमेव च।*<br>*तेभ्योऽन्नमिदं देयं*<br>*भो भिक्षो! सर्वकामितम्।।* | "हे भिक्षो! यह सबके द्वारा अभिलाषित[6] भोजन उन्हीं को देना है जो वेदों को जानने वाले विप्र हैं, यज्ञ के लिए जो द्विज हैं[7], जो ज्योतिष आदि वेद के छहों अंगों को जानने वाले[8] हैं, जो धर्म-शास्त्रों के पारगामी हैं, जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हैं।" |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. सो एवं तत्थ पडिसिद्धो
जायगेण महामुणी।
न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो
उत्तमट्ठगवेसओ।।

*स एवं तत्र प्रतिषिद्धः*
*याजकेन महामुनिः।*
*नापि रुष्टो नापि तुष्टः*
*उत्तमार्थगवेषकः।।*

वह महामुनि यज्ञकर्ता के द्वारा प्रतिषेध किये जाने पर न रुष्ट ही हुआ और न तुष्ट ही हुआ, क्योंकि वह उत्तम-अर्थ—मोक्ष की गवेषणा में लगा हुआ था।[६]

१०. नन्नट्ठं पाणहेउं वा
न वि निव्वाहणाय वा।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए
इमं वयणमब्बवी।।

*नान्नार्थं पानहेतुं वा*
*नापि निर्वाहणाय वा।*
*तेषां विमोक्षणार्थम्*
*इदं वचनमब्रवीत्।।*

न अन्न के लिए, न पानक के लिए और न किसी जीवन-निर्वाह के लिए, किन्तु उनकी विमुक्ति के लिए मुनि ने इस प्रकार कहा[७]—

११. नवि जाणसि वेयमुहं
नवि जण्णाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं जं च
जं च धम्माण वा मुहं।।

*नापि जानासि वेदमुखं*
*नापि यज्ञानां यन्मुखम्।*
*नक्षत्राणां मुखं यच्च*
*यच्च धर्माणां वा मुखम्।।*

"तू वेद के मुख को नहीं जानता। यज्ञ का जो मुख है, उसे भी नहीं जानता। नक्षत्र का जो मुख है और धर्म का जो मुख है, उसे भी नहीं जानता।"[८]

१२. जे समत्था समुद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य।
न ते तुमं वियाणासि
अह जाणासि तो भण।।

*ये समर्थाः समुद्धर्तुं*
*परमात्मानमेव च।*
*न तान् त्वं विजानासि*
*अथ जानासि तदा भण।।*

"जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ है, उन्हें तू नहीं जानता। यदि जानता है तो बता।"

१३. तस्सक्खेवपमोक्खं च
अचयंतो तहिं दिओ।
सपरिसो पंजली होउं
पुच्छई तं महामुणिं।।

*तस्याक्षेपप्रमोक्षं च*
*अशक्नुवन् तत्र द्विजः।*
*सपरिषत् प्रांजलिर्भूत्वा*
*पृच्छति मं महामुनिम्।।*

मुनि के प्रश्न का उत्तर[९] देने में अपने को असमर्थ पाते हुए द्विज ने परिषद् सहित हाथ जोड़ कर उस महामुनि से पूछा—

१४. वेयाणं च मुहं बूहि
बूहि जण्णाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं बूहि
बूहि धम्माण वा मुहं।।

*वेदानां च मुखं ब्रूहि*
*ब्रूहि यज्ञानां यन्मुखम्।*
*नक्षत्राणां मुखं ब्रूहि*
*ब्रूहि धर्माणां वा मुखम्।।*

"तुम कहो वेदों का मुख क्या है? यज्ञ का जो मुख है वह तुम्हीं बतलाओ। तुम कहो नक्षत्रों का मुख क्या है? धर्मों का मुख क्या है, तुम्हीं बतलाओ।"

१५. जे समत्था समुद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य।
एयं मे संसयं सव्वं
साहू कहय पुच्छिओ।।

*ये समर्थाः समुद्धर्तुं*
*परमात्मानमेव च।*
*एतं मे संशयं सर्वं*
*साधो! कथय पृष्टः।।*

"जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हैं (उनके विषय में तुम्हीं कहो)। हे साधु! यह मुझे सारा संशय है, तुम मेरे प्रश्नों का समाधान दो।"

१६. अग्गिहोत्तमुहा वेया
जण्णट्ठी वेयसां मुहं।
नक्खत्ताण मुहं चंदो
धम्माणं कासवो मुहं।।

*अग्निहोत्रमुखा वेदाः*
*यज्ञार्थी वेदसां मुखम्।*
*नक्षत्राणां मुखं चन्द्रः*
*धर्माणां काश्यपो मुखम्।।*

"वेदों का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञों का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है और धर्मों का मुख काश्यप—ऋषभदेव है।"[१०]

१७. जहा चंदं गहाईया
चिट्ठंति पंचलीउडा।
वंदमाणा नमंसंता
उत्तमं मणहारिणो।।

*यथा चन्द्रं ग्रहादिकाः*
*तिष्ठन्ति प्रांजलिपुटाः।*
*वन्दमाना नमस्यन्तः*
*उत्तमं मनोहारिणः।।*

"जिस प्रकार चन्द्रमा के सन्मुख ग्रह आदि हाथ जोड़े हुए, वन्दना-नमस्कार करते हुए और विनीत भाव से मन का हरण करते हुए रहते हैं उसी प्रकार भगवान् ऋषभ के सम्मुख सब लोग रहते थे।"

१८. अजाणगा जन्नवाई
विज्जामाहणसंपया।
गूढा सज्झायतवसा
भासच्छन्ना इवग्गिणो।।

*अज्ञकाः यज्ञवादिनः*
*विद्यामाहनसम्पदाम्।*
*गूढाः स्वाध्यायतपसा*
*भस्मच्छन्ना इवाग्नयः।।*

यज्ञवादी ब्राह्मण की सम्पदा—विद्या से अनभिज्ञ हैं। वे बाहर में स्वाध्याय और तपस्या से गूढ़—उपशांत बने हुए हैं और भीतर में राख से ढकी अग्नि की भांति प्रज्वलित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. जो जोए बंभणो वुत्तो
अग्गी वा महिओ जहा।
सया कुसलसंदिट्ठं
तं वयं बूम माहणं।।

*यो लोके ब्राह्मण उक्तः*
*अग्निर्वा महितो यथा।*
*सदा कुशलसंदिष्टं*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।*

जो ब्राह्मण है वह अग्नि की भांति सदा लोक में पूजित है। उसे हम कुशल पुरुष द्वारा संदिष्ट (कहा हुआ) ब्राह्मण कहते हैं।

२०. जो न सज्जइ आगंतुं
पव्वयंतो न सोयई।
रमए अज्जवयणंमि
तं वयं बूम माहणं।।

*यो न स्वजत्यागत्य*
*प्रव्रजन्न शोचति।*
*रमते आर्यवचने*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।*

"जो आने पर[१४] आसक्त नहीं होता, जाने के समय शोक नहीं करता, जो आर्य-वचन में[१५] रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२१. जायरूवं जहामट्ठं
निद्धंतमलपावगं।
रागद्दोसभयाईयं
तं वयं बूम माहणं।।

*जातरूपं यथामृष्टं*
*पावकनिर्ध्मातमलम्।*
*रागदोषभयातीतं*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।*

"अग्नि में तपा कर शुद्ध किए हुए[१६] और घिसे हुए[१७] सोने की तरह जो विशुद्ध है तथा राग-द्वेष और भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

(तवस्सियं किसं दंतं
अवचियमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं
तं वयं बूम माहणं।।)

*(तपस्विनं कृशं दान्तं*
*अपचितमांसशोणितम्।*
*सुव्रतं प्राप्तनिर्वाणं*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।)*

(जो तपस्वी है, कृश है, दांत है, जिसके मांस और शोणित का अपचय हो चुका है, जो सुव्रत है, जो शांति को प्राप्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।)

२२. तसपाणे वियाणेत्ता
संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं
तं वयं बूम माहणं।।

*त्रसप्राणिनो विज्ञाय*
*संग्रहेण च स्थावरान्।*
*यो न हिनस्ति त्रिविधेन*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।*

"जो त्रस और पिण्डीभूत स्थावर जीवों को[१८] भलीभांति जान कर मन, वाणी और शरीर से उनकी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२३. कोहा वा जइ वा हासा
लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ
त वयं बूम माहणं।।

*क्रोधाद् वा यदि वा हासात्*
*लोभाद् वा यदि वा भयात्*
*मृषां न वदति यस्तु*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।*

"जो क्रोध, हास्य, लोभ या भय के कारण असत्य नहीं बोला, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२४. चित्तमंतमचित्तं वा
अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गेण्हइ अदत्तं जो
तं वयं बूम माहणं।।

*चित्तवदचित्तं वा*
*अल्पं वा यदि वा बहुम्।*
*न गृह्णात्यदत्तं यः*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।*

"जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, थोड़ा या अधिक कितना ही क्यों न हो, उसके अधिकारी के दिए बिना नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२५. दिव्वमाणुसतेरिच्छं
जो न सेवइ मेहुणं।
मणसा कायवक्केणं
तं वयं बूम माहणं।।

*दिव्यमानुषतैरश्चं*
*यो न सेवते मैथुनम्।*
*मनसा कायवाक्येन*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।*

"जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च संबंधी मैथुन का मन, वचन और काया से सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२६. जहा पोमं जले जायं
नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं
तं वयं बूम माहणं।।

*यथा पद्मं जले जातं*
*नोपलिप्यते वारिणा।*
*एवमलिप्तः कामैः*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।*

"जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार काम के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७.अलोलुयं मुहाजीवी
अणगारं अकिंचणं।
असंसत्तं गिहत्थेसु
तं वयं बूम माहणं।।

(जहित्ता पुव्वसंजोगं
नाइसंगे य बंधवे।
जो न सज्जइ एएहिं
तं वयं बूम माहणं।।)

*अलोलुपं मुधाजीविनं*
*अनगारमकिंचनम्।*
*असंसक्तं गृहस्थेषु*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।*

*(हित्वा पूर्वसंयोगं*
*ज्ञातिसंगांश्च बान्धवान्।*
*यो न स्वजति एतेषु*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।)*

"जो लोलुप नहीं है, जो निष्कामजीवी है,[१९] जो गृह-त्यागी है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थों में अनासक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

(जो पूर्व-संयोगों, ज्ञाति-जनों की आसक्ति और बान्धवों को छोड़कर उनमें आसक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।)

२८.पसुबंधा सव्ववेया
जट्ठं च पावकम्मुणा।
न तं तायंति दुस्सीलं
कम्माणि बलवंति ह।।

*पशुबन्धाः सर्ववेदाः*
*इष्टं च पाप-कर्मणा।*
*न तं त्रायन्ते दुःशीलं*
*कर्माणि बलवन्ति इह।।*

"जिनके शिक्षा-पद पशुओं को बलि के लिए यज्ञस्तूपों में बांधे जाने के हेतु बनते हैं, वे सब वेद और पशु-बलि आदि पापकर्म के द्वारा किए जाने वाले यज्ञ दुःशील सम्पन्न उस यज्ञकर्त्ता को त्राण नहीं देते, क्योंकि कर्म बलवान् होते हैं।"

२९.न वि मुंडिएण समणो
न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं
कुसचीरेण न तावसो।।

*नाऽपि मुण्डितेन श्रमणः*
*न ओंकारेण ब्राह्मणः।*
*न मुनिररण्यवासेन*
*कुशचीवरेण न तापसः।।*

"केवल सिर मूंड लेने से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' का जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, केवल अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुश का चीवर पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता।"

३०.समयाए समणो होइ
बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ
तवेणं होइ तावसो।।

*समतया श्रमणो भवति*
*ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।*
*ज्ञानेन च मुनिर्भवति*
*तपसा भवति तापसः।।*

"समभाव की साधना करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना—मनन करने से मुनि होता है, तप का आचरण करने से तापस होता है।"[२०]

३१.कम्मुणा बंभणो होइ
कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ
सुद्दो हवइ कम्मुणा।।

*कर्मणा ब्राह्मणो भवति*
*कर्मणा भवति क्षत्रियः।*
*वैश्यो कर्मणा भवति*
*शूद्रो भवति कर्मणा।।*

"मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।"[२१]

३२.एए पाउकरे बुद्धे
जेहिं होइ सिणायओ।
सव्वकम्मविनिम्मुक्कं
तं वयं बूम माहणं।।

*एतान् प्रादुरकार्षीद् बुद्धः*
*यैर्भवति स्नातकः।*
*सर्वकर्मविनिर्मुक्तः*
*तं वयं ब्रूमो माहनम्।।*

"इन तत्त्वों को अर्हत् ने प्रकट किया है। इनके द्वारा जो मनुष्य स्नातक होता है, जो सब कर्मों से मुक्त[२२] होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

३३.एवं गुणसमाउत्ता
जे भवंति दिउत्तमा।
ते समत्था उ उद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य

*एवं गुणसमायुक्ताः*
*ये भवन्ति द्विजोत्तमाः।*
*ते समर्थास्तूद्धर्तुम्*
*परमात्मानमेव च।।*

"इस प्रकार जो गुण-सम्पन्न द्विजोत्तम होते हैं, वे ही अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हैं।"

३४.एवं तु संसए छिन्ने
विजयघोसे य माहणे।
समुदाय तयं तं तु
जयघोसं महामुणिं।।

*एवं तु संशये छिन्ने*
*विजयघोषश्च माहनः।*
*समुदाय तकां तं तु*
*जयोघोषं महामुनिम्।।*

"इस प्रकार संशय दूर होने पर विजय-घोष ब्राह्मण ने जयघोष की वाणी को भलीभांति समझा और संतुष्ट हो, हाथजोड़ कर महामुनि जयघोष से इस प्रकार कहा—"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. तुट्ठे च विजयघोसे
इणमुदाहु कयंजली।
माहणत्तं जहाभूयं
सुट्ठु मे उवदंसियं।।

*तुष्टश्च विजयघोषः*
*इदमुदाह कृतांजलिः।*
*माहनत्वं यथाभूतं*
*सुष्ठु मे उपदर्शितम्।।*

"तुमने मुझे यथार्थ ब्राह्मणत्व का बहुत ही अच्छा अर्थ समझाया है।"

३६. तुब्भे जइया जण्णाणं
तुब्भे वेयविऊ विऊ
जोइसंगविऊ तुब्भे
तुब्भे धम्माण पारगा।।

*यूयं यष्टारो यज्ञानां*
*यूयं वेदविदो विदः।*
*ज्योतिषांगविदो यूयं*
*यूयं धर्माणां पारगाः।।*

"तुम यज्ञों के यज्ञकर्त्ता हो, तुम वेदों को जानने वाले विद्वान् हो, तुम वेद के ज्योतिष आदि छहों अंगों को जानते हो, तुम धर्मों के पारगामी हो।"

३७. तुब्भे समत्था उद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य।
तमणुग्गहं करेहम्हं
भिक्खेण भिक्खुउत्तमा।।

*यूयं समर्थाः उद्धर्तुम्*
*परमात्मानमेव च।*
*तदनुग्रहं कुरुतास्माकं*
*भैक्ष्येण भिक्षूत्तमाः!।।*

"तुम अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हो, इसलिए हे भिक्षु-श्रेष्ठ! तुम हम पर भिक्षा लेने का अनुग्रह करो।"

३८. न कज्जं मज्झ भिक्खेण
खिप्पं निक्खमसू दिया!।
मा भमिहिसि भयावट्टे
घोरे संसारसागरे।।

*न कार्यं मम भैक्ष्येण*
*क्षिप्रं निष्क्राम द्विज!।*
*मा भ्रमीः भयावर्त्ते*
*घोरे संसारसागरे।।*

"मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं है। हे द्विज! तू तुरन्त ही निष्क्रमण कर मुनि-जीवन को स्वीकार कर। जिससे भय के आवर्त्तों से आकीर्ण इस घोर संसार-सागर में तुझे चक्कर लगाना न पड़े।"

३९. उवलेवो होइ भोगेसु
अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे
अभोगी विप्पमुच्चई।।

*उपलेपो भवति भोगेषु*
*अभोगी नोपलिप्यते।*
*भोगी भ्रमति संसारे*
*अभोगी विप्रमुच्यते।।*

"भोगों में उपलेप होता है। अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में भ्रमण करता है। अभोगी उससे मुक्त हो जाता है।"

४०. उल्लो सुक्को य दो छूढा
गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे
जो उल्लो सो तत्थ लग्गई।।

*आर्द्रः शुष्कश्च द्वौ क्षिप्तौ*
*गोलकौ मृत्तिकामयौ।*
*द्वावप्यापतितौ कुड्ये*
*य आर्द्रः स तत्र लगति।।*

"मिट्टी के दो गोले—एक गीला और एक सूखा—फेंके गए। दोनों भींत पर गिरे। जो गीला था वह वहां चिपक गया।"

४१. एवं लग्गंति दुम्मेहा
जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गंति
जहा सुक्को उ गोलओ।।

*एवं लगन्ति दुर्मेधसः*
*ये नराः कामलालसाः।*
*विरक्तास्तु न लगन्ति*
*यथा शुष्कस्तु गोलकः।।*

"इसी प्रकार जो मनुष्य दुर्बुद्धि और कामभोगों में आसक्त होते हैं, वे विषयों से चिपट जाते हैं। जो विरक्त होते हैं, वे उनसे नहीं चिपटते, जैसे सूखा गोला।"

४२. एवं से विजयघोसे
जयघोसस्स अंतिए।
अणगारस्स निक्खंतो
धम्मं सोच्चा अणुत्तरं।।

*एवं स विजयघोषः*
*जयघोषस्यान्तिके।*
*अनगारस्य निष्क्रान्तः*
*धर्मं श्रुत्वाऽनुत्तरम्।।*

इस प्रकार वह विजयघोष जयघोष अनगार के समीप अनुत्तर धर्म सुनकर प्रव्रजित हो गया।

४३. खवित्ता पुव्वकम्माइं
संजमेण तवेण य।
जयघोसविजयघोसा
सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं।।

*क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि*
*संयमेन तपसा च।*
*जयघोषविजयघोषौ*
*सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम्।।*

जयघोष और विजयघोष ने संयम और तप के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को क्षीण कर अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की।

—ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण

# अध्ययन २५ : यज्ञीय

### १. (माहण.....विप्पो)

'माहण' का अर्थ है—ब्राह्मण। यह कुल के आधार पर किया गया नामकरण है। विप्र वह होता है जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर अध्ययन-अध्यापन तथा आचार-व्यवहार में निरत रहता है।[1]

एक प्रशिद्ध श्लोक है—

*जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः, संस्कारैर्द्विज उच्यते।*
*विद्यया याति विप्रत्वं, त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।।*

विप्र की व्याख्या के लिए देखें—श्लोक ७ का टिप्पण।

### २. यजनशील (जायाई)

इसका संस्कृत रूप है—यायाजी। जो यजनशील होता है, यज्ञ करने में अवश्य प्रवृत्त होता है, वह यायाजी कहलाता है।[2]

### ३. यमयज्ञ (जमजन्नंमि)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ यमयज्ञ—यमतुल्य यज्ञ किया है, क्योंकि इसमें जीववध होता है।[3] वृत्तिकार ने इसको वैकल्पिक अर्थ मानकर इसका मूल अर्थ यमयज्ञ—व्रतयज्ञ किया है।[4] गृहस्थावस्था की अपेक्षा से यमयज्ञ का चूर्णि सम्मत अर्थ किया जा सकता है और मुनि अवस्था की अपेक्षा से वृत्तिकार का मूल अर्थ किया जा सकता है।

वैदिक परम्परा में पांच यज्ञ माने गए हैं—भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ। यमयज्ञ की तुलना भूतयज्ञ से की जा सकती है।

### ४. मार्गगामी (मग्गगामी)

इसके दो अर्थ प्राप्त हैं—

(१) सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इस त्रिपदी मार्ग का अनुगामी।[5]

(२) मुक्तिपथ की अनुगामी।[6]

### ५. यज्ञ (जन्नं)

यज्ञ वैदिक परम्परा का आधार है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को सबसे श्रेष्ठ-कर्म कहा है।[7]

कर्म-काण्डी मीमांसकों का अभिमत है कि जो यज्ञ को छोड़ देता है, वह श्रौत-धर्म से वंचित हो जाता है। भगवान् महावीर के समय यज्ञों का प्रचलन अधिक था। केवल उत्तराध्ययन में ही यज्ञों का विरोध दो स्थलों में पाया जाता है। श्रौत-यज्ञों के बन्द होने में जैन मुनियों के प्रयत्न बहुत महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

लोकमान्य तिलक के अनुसार—"उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान के कारण मोक्ष-दृष्टि से इन कर्मों की गौणता आ चुकी थी (गीता २।४१-४६)। यही गौणता अहिंसा-धर्म का प्रचार होने पर आगे अधिकाधिक बढ़ती गई। भागवत-धर्म में स्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है कि यज्ञ-याग वेद-विहित हैं, तो भी उनके लिए पशु-वध नहीं करना चाहिए। धान्य से ही यज्ञ करना चाहिए। (देखिए—महाभारत शांतिपर्व ३३६।१० और ३३७)। इस कारण (तथा कुछ अंशों में आगे जैनियों के भी ऐसे ही प्रयत्न करने के कारण) श्रौत-यज्ञ मार्ग की आज-कल यह दशा हो गई है कि काशी सरीखे बड़े-बड़े धर्म-क्षेत्रों में भी श्रौताग्निहोत्र पालन करने वाले अग्नि-होत्री बहुत ही थोड़े दीख पड़ते हैं और ज्योतिष्टोम आदि पशु-यज्ञों का होना तो दस-बीस वर्षों में कभी-कभी सुन पड़ता है।"[8]

धर्मानन्द कौशाम्बी के अनुसार यज्ञ के उन्मूलन की दिशा में पहला प्रयत्न भगवान् पार्श्व ने किया : "इस प्रकार के लम्बे-चौड़े यज्ञ लोगों को कितने अप्रिय होते जा रहे थे, इसके और भी बहुत-से उदाहरण बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। इन यज्ञों से ऊब कर जो तापस जंगलों में चले जाते थे वे यदि कभी ग्रामों में आते भी थे तो लोगों को उपदेश देने के फेर में नहीं पड़ते थे। पहले पहल ऐसा प्रयत्न संभवतः पार्श्वनाथ ने किया। उन्होंने जनता को दिखा दिया कि यज्ञ-याग धर्म नहीं, चार याम ही सच्चा धर्म-मार्ग है। यज्ञ-याग से ऊबी हुई सामान्य जनता ने तुरन्त इस धर्म को अपनाया।"[9]

### ६. सब के द्वारा अभिलषित (सव्वकामियं)

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—सर्वकाम्य

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२२।

२. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २६८ : जायाई—जयनशीलः।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५२२ : जायाइ त्ति अवश्यं यायजीति यायाजी।

३. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २६८ : जयजन्नति (यम) तुल्यो यमयज्ञः मारणात्मकः।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२२ : यमाः—प्राणातिपातविरत्यादिरूपाः पञ्च त एव यज्ञो—भावपूजात्मकत्वात् विवक्षितपूजां प्रति यमयज्ञस्तस्मिन्... गार्हस्थ्यापेक्षया वैतद् व्याख्यायते...तथा यम इव प्राण्युपसंहारकारितया यमः स चासौ यज्ञश्च यमयज्ञः अर्थाद् द्रव्ययज्ञस्तस्मिन्।

५. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २६८ : सम्यग्दर्शनादिमार्गगामी।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२२ : मार्गगामी—मुक्तिपथयायी।

७. शतपथ ब्राह्मण १।७।४।५ : यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।

८. गीता रहस्य, पृ० ३०५।

९. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ६१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सर्वकामिक। सर्वकाम्य—ऐसा भोजन जिसमें सारी अभिलषणीय वस्तुएं हों। सर्वकामिक—षड्रसों से युक्त भोजन।[1]

### ७. विप्र...द्विज (विप्पा...दिया)

सामान्यतः 'विप्र' और 'द्विज'—ये दोनों शब्द 'ब्राह्मण' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु इनके निरुक्त भिन्न-भिन्न हैं। जो व्यक्ति ब्राह्मण-जाति में उत्पन्न होते हैं उन्हें 'विप्र' कहा जाता है। यह 'जाति-वाचक' संज्ञा है। जो व्यक्ति ब्राह्मण जाति में उत्पन्न होते हैं और योग्य वय को प्राप्त हो यज्ञोपवीत धारण करते हैं—संस्कारित होते हैं, उन्हें 'द्विज' कहा जाता है। यह एक विशिष्ट संस्कार है जो कि दूसरा जन्म ग्रहण करने के सदृश माना जाता है।[2]

यह भी सम्भव है कि जो वेदों के ज्ञाता होते थे, उन्हें 'विप्र' और जो यज्ञ आदि करने-कराने में निपुण होते थे, उन्हें 'द्विज' कहा जाता था। वह भाव स्वयं प्रस्तुत श्लोक के प्रथम और द्वितीय चरण में स्पष्ट है—जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया।

### ८. ज्योतिष आदि वेद के छहों अंगों को जानने वाले (जोइसंगविऊ)

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष—ये छः वेदांग कहलाते हैं। इनमें शिक्षा वेद की नासिका है, कल्प हाथ, व्याकरण मुख, निरुक्त श्रोत्र, छन्द पैर और ज्योतिष नेत्र हैं। इसीलिए वेद-शरीर के ये अंग कहलाते हैं। इनके द्वारा वेदार्थ को समझने में मूल्यवान् सहायता प्राप्त होती है। वेद के प्रधान प्रतिपाद्य यज्ञों से ज्योतिष का विशिष्ट सम्बन्ध है।

आचार्य ज्योतिष (श्लोक ३६) में कहा गया है—"यज्ञ के लिए वेदों का अवतरण है और काल के उपयुक्त सन्निवेश से यज्ञों का सम्बन्ध है, इसलिए ज्योतिष को 'काल-विधायक-शास्त्र' कहा जाता है। फलतः ज्योतिष जानने वाला ही यज्ञ का ज्ञाता है।"[3] इसीलिए यहां ज्योतिषांग का प्रयोग किया गया है।[4]

### ९. (श्लोक ९)

यह श्लोक दशवैकालिक, अ० ५।२ के २७ और २८ श्लोक के उपदेश की याद दिलाता है :

*बहुं परघरे अत्थि विविहं खाइमसाइमं।*
*न तत्थ पंडिओ कुप्पे इच्छा देज्ज परो न वा।।*
*सयणासण वत्थं वा भत्तपाणं व संजए।*
*अदेंतस्स न कुप्पेज्जा पच्चक्खे वि य दीसओ।।*

### १०. (श्लोक १०)

यह श्लोक सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के निम्न अंश से तुलनीय है :

**'से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे—नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा'** (२।७)

### ११. (श्लोक ११)

इस श्लोक के चारों चरणों में 'मुह' शब्द का प्रयोग हुआ है। पहले और तीसरे चरण में प्रयुक्त 'मुह' का अर्थ 'प्रधान' और दूसरे तथा चौथे चरण में उसका अर्थ 'उपाय' है।[5]

### १२. प्रश्न का उत्तर (तस्सऽक्खेवपमोक्खं)

यहां आपेक्ष का अर्थ है—प्रश्न और प्रमोक्ष का अर्थ है—उत्तर, प्रतिवचन।

देखें—भगवती २।७ का टिप्पण।

### १३. (श्लोक १६)

इस श्लोक में चौदहवें श्लोक में पूछे गए पांच प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं। पहला प्रश्न है—वेदों में प्रधान तत्त्व क्या हैं? इसके उत्तर में कहा गया है-वेदों में प्रधान तत्त्व अग्निहोत्र है। अग्निहोत्र का अर्थ विजयघोष जानता था किन्तु जयघोष उसे अग्निहोत्र का वह अर्थ समझाना चाहते थे जिसका प्रतिपादन आरण्यक-काल में होने लगा था। आत्म-यज्ञ के संदर्भ में जयघोष ने कहा है—"दही का सार जैसे नवनीत होता है वैसे ही वेदों के सार आरण्यक हैं। उनमें सत्य, तप, संतोष, संयम चारित्र, आर्जव, क्षमा, धृति, श्रद्धा और अहिंसा—यह दस प्रकार का धर्म बतलाया गया है। वही सही अर्थ में अग्निहोत्र है।"[6] इससे यह फलित होता है कि जैन-मुनियों की दृष्टि में वेदों की अपेक्षा आरण्यकों का अधिक महत्त्व था। वेदों को वे पशुवन्ध—छाग आदि पशुओं के वध के हेतुभूत मानते थे।[7] आरण्यक-काल में वैदिक-ऋषियों का झुकाव आत्म-यज्ञ की ओर हुआ, इसलिए जयघोष ने वेदों की अपेक्षा आरण्यकों की विशेषता का प्रतिपादन किया। शान्त्याचार्य ने आरण्यक तथा ब्रह्माण्डपुराणात्मक विद्या को ब्राह्मण-सम्पदा माना है।[8]

दूसरा प्रश्न है यज्ञ का उपाय (प्रवृत्ति—हेतु) क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है—यज्ञ का उपाय 'यज्ञार्थी' है। इस बात को विजयघोष भली-भांति जानता था किन्तु जयघोष ने उसे यह बताया कि आत्म-यज्ञ के संदर्भ में इंद्रिय और मन

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२३ : सर्वाणि कामानि—अभिलषणीयवस्तूनि यस्मिन् तत् सर्वकाम्यं, यद् वा सर्वकामैर्निर्वृत्तं तत् प्रयोजनं वा सर्वकामिकं।

२. वही, पत्र ५२३ : विप्रा जातितः, ये 'द्विजाः' संस्कारापेक्षया द्वितीयजन्मानः।

३. वैदिक साहित्य, पृ० २३३।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२३ :अत्र य ज्योतिषस्योपादानं प्राधान्यख्यापकम्।

५. वही, पत्र ५२४।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२५।

७. वही, पत्र ५२८ : पशूनां—छागानां बन्धो—विनाशाय नियमनं यैर्हेतुभिस्तेऽमी पशुबन्धाः, 'श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकाम' इत्यादिवाक्योपलक्षिताः।

८. वही, पत्र ५२६ : विद्यते—ज्ञायत आभिस्तत्त्वमिति—विद्या—आरण्यकब्रह्माण्डपुराणात्मिकास्ता एव ब्राह्मणसम्पदो, विद्या ब्राह्मणसंपदः, तात्विक ब्राह्मणानां हि निष्किंचनत्वेन विद्या एव संपद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का संयम करने वाले याजक की प्रधानता है।

तीसरा प्रश्न है—नक्षत्रों में प्रधान क्या है? इसके उत्तर में कहा गया—नक्षत्रों में प्रधान चन्द्रमा है। इनकी तुलना गीता के—**नक्षत्राणामहं शशी** (१०।२१) से होती है।

चौथा प्रश्न है—धर्मों का उपाय (आदि कारण) कौन है? इसके उत्तर में कहा गया—धर्मों का उपाय काश्यप है। यहां काश्यप शब्द के द्वारा भगवान् ऋषभ का ग्रहण किया गया है। वृत्तिकार ने इसके समर्थन में एक आरण्यक-वाक्य उद्धृत किया है—**"तथा चारण्यकम्—ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा, तेन भगवता ब्रह्मणा स्वयमेव चीर्णानि ब्रह्माणि, यदा च तपसा प्राप्तः पदं यद् ब्रह्मकेवलं तदा च ब्रह्मर्षिणा प्रणीतानि, कानि पुनस्तानि ब्रह्माणि?"**[1] इत्यादि।

किन्तु यह वाक्य किस आरण्यक का है यह हमें ज्ञात नहीं हो सका। वृत्ति-रचनाकाल में हो सकता है, यह किसी आरण्यक में हो और वर्तमान संस्करणों में प्राप्त न हो। या यह भी हो सकता है कि जिन प्रतियों में यह वाक्य प्राप्त था वे आज उपलब्ध न हों।

वृत्तिकार ने अपने प्रतिपाद्य का समर्थन ब्रह्माण्डपुराण के द्वारा भी किया है।[2]

स्थानाङ्ग में सात मूल गोत्र बतलाए गए हैं। उनमें पहला काश्यप है।[3] भगवान् ऋषभ ने वार्षिक तप के पारणा में 'काश्य' अर्थात् रस पिया था, इसलिए वे 'काश्यप' कहलाए। मुनि सुव्रत और नेमिनाथ इन दो तीर्थङ्करों के अतिरिक्त सभी तीर्थंकर काश्यप-गोत्री थे।[4]

धनंजय नाममाला में भगवान् महावीर का नाम 'अन्त्यकाश्यप' है।[5] भगवान् ऋषभ 'आदिकाश्यप' हुए। उनसे धर्म का प्रवाह चला, इसलिए उन्हें धर्मों का आदि-कारण कहा गया है।[6]

सूत्रकृतांग के एक श्लोक से इस तथ्य की पुष्टि होती है। वहां कहा गया है कि अतीत में जो तीर्थंकर हुए तथा भविष्य में जो होंगे वे सब 'काश्यप' के द्वारा प्ररूपित धर्म का अनुसरण करेंगे।[7]

पांचवां प्रश्न है—अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ कौन है? इसका उत्तर श्लोक १८ से ३३ तक विस्तार से दिया गया है।

## १४. आने पर (आगंतुं)

वृत्तिकार ने 'आगंतुं' पद में तुम् प्रत्यय को आधार मान कर इसके दो अर्थ किए हैं—

(१) स्वजन आदि का स्थान प्राप्त करने के लिए

(२) प्रव्रज्या पर्याय से गृहवास के पर्याय में आने के लिए।[8]

## १५. आर्यवचन (अज्जवयणं)

विभिन्न संदर्भों में आर्य शब्द के अनेक अर्थ किए गए हैं। यहां इसका अर्थ—अहिंसा धर्म का प्रतिपादन करने वाला है। तीर्थंकर अहिंसा धर्म का प्रतिपादन करते हैं, इसलिए वृत्तिकार ने 'आर्य' का अर्थ तीर्थंकर किया है। आर्यवचन—तीर्थंकर की वाणी—आगम।[9]

## १६. अग्नि में तपाकर शुद्ध किए हुए (निद्धंतमलपावगं)

बृहद्वृत्ति में 'पावक' के दो अर्थ प्राप्त हैं—पापक—अनिष्ट और पावक—अग्नि।[10] सुखबोधा में इसका एक ही अर्थ प्राप्त है—पावक—अग्नि।[11]

## १७. घिसे हुए (जहामट्ठं)

स्वर्ण की तेजस्विता को बढ़ाने के लिए मनःशिला आदि से उसे घिसा जाता है। इससे स्वर्ण में चमक-दमक आ जाती है। यह आमृष्ट का अर्थ है।

## १८. पिंडीभूत स्थावर जीवों को (संगहेण य थावरे)

वृत्तिकार ने संग्रह शब्द का मुख्य अर्थ संक्षेप और वैकल्पिक अर्थ वर्षाकल्प—वर्षाऋतु में उपयोग में आने वाला मुनि का एक उपकरण—किया है।[12] उन्होंने 'च' शब्द के द्वारा विस्तार का अर्थ ग्रहण किया है। इसका अर्थ होगा—संक्षेप और विस्तार—दोनों दृष्टियों से जानकर।

हमने संग्रह का अर्थ पिण्ड अथवा संहति किया है। स्थावर जीव पिण्डरूप में ही हमारे ज्ञान के विषय बनते हैं। एक-एक शरीर को पृथक्-पृथक् रूप में नहीं जाना जा

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२५।

२. वही, पत्र ५२५ : भवता ब्रह्माण्डपुराणमेव सर्गादिपुराणलक्षणोपेतत्वात् सकलपुराणज्येष्ठम्....तद्वचस्त्विदम्—"इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेव चीर्णः, केवलज्ञानलम्भाच्च महर्षिणो ये परमेष्ठिनो वीतरागाः स्नातका निर्ग्रन्था नैष्ठिकास्तेषां प्रवर्तित आख्यातः प्रणीतस्त्रेतायामादावित्यादि।"

३. ठाणं ७।३० : सत्त मूलगोत्ता पं० तं०—कासवा गोतमा वच्छा कोच्छा कोसिआ मंडवा वासिट्ठा।

४. वही, ७।३० वृत्ति : काशे भवः काश्यः—रसस्तं पीतवानिति काश्यपस्तदपत्यानि काश्यपाः, मुनिसुव्रतनेमिवर्जा जिनाः।

५. धनंजय नाममाला, श्लोक ११५ :
सन्मतिर्महतिवीरो, महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।
नाथान्वयो वर्धमानो, यत्तीर्थमिह साम्प्रतम्।।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२५ : धर्माणां 'काश्यपः' भगवानृषभदेवः मुख्यं उपायः कारणात्मकः तस्यैवादितत्प्ररूपकत्वात्।

७. सूयगडो १।२।७४ :
अभविंसु पुराविं भिक्खवो, आएसा वि भविंसु सुव्वया।
एयाइं गुणाइं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो।।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२६, ५२७।

९. वही, पत्र ५२६ : आर्याणां—तीर्थकृतां वचनमार्यवचनम्—आगमः।

१०. वही, पत्र ५२७।

११. सुखबोधा, पत्र ३०७।

१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता।

### १९. निष्कामजीवी है (मुहाजीवी)

जो प्रतिफल की भावना से शून्य होकर जीवन-यापन करता है, वह मुधाजीवी कहलाता है। बृहद्वृत्ति में इसका अर्थ है—अज्ञातउंछमात्रवृत्ति। जो मुनि जाति, कुल आदि के सहारे नहीं जीता, अज्ञात रहकर उंछ भोजन से अपना जीवन चलाता है, वह मुधाजीवी होता है।

विस्तृत अर्थ के लिए देखें—दसवेआलियं ५।१।९९,१०० का टिप्पण।

### २०. (श्लोक ३०)

१. समन

इसके संस्कृत रूप तीन होते हैं—श्रमण, शमन और समनस्। जो श्रमशील है वह श्रमण, जो कषायों का शमन करता है और समता में रहता है वह शमन और जो अच्छे मन वाला होता है वह समनस् होता है। वृत्ति में 'श्रमण' का निरुक्त इस प्रकार किया है—**'समं मनोऽस्येति निरुक्तविधिना श्रमणः—निर्ग्रन्थः।'**

२. बंभणो

जो ब्रह्म—आत्मा की चर्या में लीन रहता है, वह ब्राह्मण है। जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह ब्राह्मण है। ब्रह्म के दो प्रकार हैं—शब्दब्रह्म और परब्रह्म। जो शब्दब्रह्म में निष्णात होता है, वह परब्रह्म को पा लेता है। परब्रह्म है अहिंसा, सत्य आदि। ब्रह्म शब्द से यहां ये ही गृहीत है।[1]

भर्तृहरि ने शब्द को ब्रह्म माना है। शंकराचार्य अथवा अद्वैत का ब्रह्म परमब्रह्म है।

सूत्रकृतांग १४।१ में 'सुबंभचेरं' शब्द का प्रयोग है। वहां चूर्णिकार ने उसके तीन अर्थ किए हैं—१. सुचारित्र २. नौ गुप्ति-युक्त मैथुन-विरति ३. गुरुकुलवास।[2]

सूत्रकृतांग २।५।१ में 'बंभचेर' की व्याख्या में चूर्णिकार ने आचार, आचरण, संयम, संवर और ब्रह्मचर्य को एकार्थ माना है।[3]

आचारांग ३।४ में ब्रह्म का अर्थ—योगियों का परम पवित्र सुख किया है।[4]

३. मुणी

सामान्यतया मुनि का अर्थ मौन रहने वाला किया जाता है। यहां यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। मुनि कहलाने का आधार है ज्ञान। यह ज्ञानार्थक मुण् धातु से निष्पन्न है।

### २१. (श्लोक ३१)

प्रस्तुत श्लोक में जन्मनाजाति का अस्वीकार और कर्मणाजाति का सिद्धांत प्रतिपादित है। जातियां सामयिक आवश्यकता के अनुसार बनती हैं। वे शाश्वत नहीं होती महावीर ने जन्मना जातिवाद के विरुद्ध क्रांति की और कर्मणाजाति का प्रतिपादन किया। व्यक्ति अपने कर्म—कार्य से अमुक-अमुक होता है। किसी कुल या जाति में जन्म लेने मात्र से वैसा नहीं हो जाता।

### २२. सब कर्मों से मुक्त (सव्वकम्मविनिमुक्कं)

प्रस्तुत चरणों में कर्म शब्द कार्य या प्रवृत्ति का वाचक है। स्नातक पुरुष जीववध वाले यज्ञ की व्यर्थता और जातिवाद की अतात्विकता समझ लेता है। वह यजन-याजन तथा घृणापूर्ण प्रवृत्ति और आसक्तिपूर्ण कार्यों से मुक्त हो जाता है।

केवली की मुक्ति सन्निकट होने के कारण उसे सर्वकर्मविनिर्मुक्त कहा गया है। यह वृत्तिकार की व्याख्या है।[5] किन्तु यहां ब्राह्मण के प्रकरण में केवली का उल्लेख प्रासंगिक नहीं लगता।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२८ : ब्रह्मणश्चरणं ब्रह्मचर्यं, ब्रह्म च द्विधा, यत उक्तम्—'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, शब्दब्रह्मपरं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः, परं ब्रह्माधिगच्छति। एतानि च पराणि ब्रह्माणि वरिष्ठानि यानि प्रागहिंसादीन्युक्तानि, एतद् रूपमेवेह ब्रह्मोच्यते, तेन ब्राह्मणो भवति।

२. सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० २२८।

३. सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० ४०३।

४. आचारांग वृत्ति, पत्र १३९ : ब्रह्म—अशेषमलकलंकविकलयोगिशर्म।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२९ : स्नातकः केवली सर्वकर्मभिर्विनिर्मुक्तः, इह च प्रत्यासन्नमुक्तितया सर्वकर्मविनिर्मुक्तः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# छबीसइमं अज्झयणं

## सामायारी

# छब्बीसवां अध्ययन

## सामाचारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में 'इच्छा' आदि का समाचरण वर्णित है इसलिए इस अध्ययन का नाम 'सामायारी'—'सामाचारी' है।

'णाणस्स सारं आयारो'—ज्ञान का सार है आचार। आचार जीवन-मुक्ति का साधन है। जैन मनीषियों ने जिस प्रकार तत्त्वों की सूक्ष्मतम छानबीन की है उसी प्रकार आचार का सूक्ष्मतम निरूपण भी किया है। आचार दो प्रकार का होता है—व्रतात्मक-आचार और व्यवहारात्मक-आचार। व्रतात्मक-आचार अहिंसा है। वह शाश्वत धर्म है। व्यवहारात्मक-आचार है परस्परानुग्रह। वह अनेकविध होता है। वह अशाश्वत है।

जो मुनि संघीय-जीवन यापन करते हैं उनके लिए व्यवहारात्मक-आचार भी उतना ही उपयोगी है जितना कि व्रतात्मक-आचार। जिस संघ या समूह में व्यवहारात्मक-आचार की उन्नत विधि है और उसकी सम्यक् परिपालना होती है, वह संघ दीर्घायु होता है। उसकी एकता अखण्ड होती है।

जैन आचार-शास्त्र में दोनों आचारों का विशद निरूपण प्राप्त है। प्रस्तुत अध्ययन में व्यवहारात्मक-आचार के दस प्रकारों का स्फुट निदर्शन है। ये दस प्रकार सम्यक्-आचार के आधार हैं इसलिए इन्हें समाचार, सामाचार और सामाचारी कहा है।

सामाचारी के दो प्रकार हैं—ओघ सामाचारी और पद-विभाग सामाचारी।

प्रस्तुत अध्ययन में ओघ सामाचारी का निरूपण है। टीकाकार ने अध्ययन के अन्त में यह जानकारी प्रस्तुत की है कि ओघ सामाचारी का अन्तर्भाव धर्मकथानुपयोग में होता है और पद-विभाग सामाचारी का चरणकरणानुयोग में। उत्तराध्ययन धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत है।[1]

ओघ सामाचारी के दस प्रकार हैं। (श्लो० ३, ४)

| | |
|---|---|
| १. आवश्यकी | ६. इच्छाकार |
| २. नैषेधिकी | ७. मिच्छाकार |
| ३. आपृच्छा | ८. तथाकार |
| ४. प्रतिपृच्छा | ९. अभ्युत्थान |
| ५. छन्दना | १०. उपसंपदा। |

स्थानांग (१०।१०२) तथा भगवती (२५।५५५) में दस सामाचारी का उल्लेख है। इनमें क्रम-भेद के अतिरिक्त एक नाम-भेद भी है—'अभ्युत्थान' के बदले 'निमंत्रणा' है। निर्युक्ति (गाथा ४८२) में भी 'निमंत्रणा' ही दिया है। मूलाचार (गाथा १२५) में स्थानांग में प्रतिपादित क्रम से ओघ सामाचारी का प्रतिपादन हुआ है।

दिगम्बर-साहित्य में सामाचारी के स्थान पर समाचार, सामाचार शब्द का प्रयोग हुआ है और इसके चार अर्थ किए हैं—

१. समता का आचार।
२. सम्यग् आचार।
३. सम (तुल्य) आचार।
४. समान (परिमाण सहित) आचार।[2]

क्वचित् चक्रवाल-समाचारी का भी उल्लेख मिलता है। वर्द्धमान देशना (पत्र १०२) में शिक्षा के दो प्रकार बताये हैं—आसेवना शिक्षा और ग्रहण शिक्षा।

आसेवना शिक्षा के अन्तर्गत दस-विध चक्रवाल सामाचारी का उल्लेख हुआ है[3]—

| | |
|---|---|
| १. प्रतिलेखना | ६. भोजन |
| २. प्रमार्जना | ७. पात्रक धावन |
| ३. भिक्षा | ८. विचारण (बहिर्भूमि-गमन) |
| ४. चर्या | ९. स्थण्डिल |
| ५. आलोचना | १०. आवश्यिकी। |

उपर्युक्त दस सामाचारियों में आवश्यिकी विभाग में सारी औधिक सामाचारियों का ग्रहण हुआ है।

सामाचारी का अर्थ है—मुनि का आचार-व्यवहार या इति-कर्तव्यता। इस व्यापक परिभाषा से मुनि जीवन की दिन-रात की समस्त प्रवृत्तियां 'सामाचारी' शब्द से व्यवहृत हो सकती हैं। दस-विध औधिक सामाचारी के साथ-साथ प्रस्तुत अध्ययन में अन्यान्य कर्त्तव्यों का निर्देश भी हुआ है।

शिष्य के लिए आवश्यक है कि वह जो भी कार्य करे गुरु से आज्ञा प्राप्त कर करे। (श्लोक ८-१०) दिनचर्या की व्यवस्था के लिए दिन के चार भागों और उनमें करणीय कार्यों का उल्लेख श्लोक ११ और १२ में है। श्लोक १२ से १६ तक दैवसिक काल-ज्ञान—दिन के चार प्रहरों को जानने की विधि है। श्लोक १७ और १८ में रात्रि-चर्या के चार भागों और

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४७ : अनन्तरोक्ता सामाचारी दशविधा ओघरूपा च पदविभागात्मिका चेह नोक्ता धर्मकथाऽनुयोगत्वादस्य छेदसूत्रान्तर्गतत्वाच्च तस्या :-।

२. मूलाचार, गाथा १२३ : समदा समाचारो, सम्माचारो सगो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं, समाचारो हु आचारो।।

३. प्रवचन सारोद्धार, गाथा ७६०, ७६१ में 'इच्छा, मिच्छा' आदि को चक्रवाल-सामाचारी के अन्तर्गत माना है और गाथा ७६८ में प्रतिलेखना, प्रमार्जना आदि को प्रकारान्तर से दस-विध सामाचारी माना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनमें करणीय कार्यों का उल्लेख है। श्लोक १६ और २० में रात्रिक काल-ज्ञान—रात के चार प्रहरों को जानने की विधि और प्रथम और चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय करने का निर्देश है। श्लोक २१ में उपधि-प्रतिलेखना और स्वाध्याय का विधान है। ८वें श्लोक में भी यह विषय-प्रतिपादित है। यहां थोड़े परिवर्तन के साथ पुनरुक्त है। श्लोक २२ में पात्र-प्रतिलेखना तथा २३ में उसका क्रम है। श्लोक २४ से २८ तक वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि है। श्लोक २९ और ३० में प्रतिलेखना-प्रमाद के दोष का निरूपण है। श्लोक ३१ से ३५ तक में दिन के तीसरे प्रहर के कर्त्तव्य—भिक्षाचारी, आहार तथा दूसरे गांव में भिक्षार्थ जाने आदि का विधान है। श्लोक ३६ एवं ३७ तथा ३८ के प्रथम दो चरणों तक चतुर्थ प्रहर के कर्त्तव्य—वस्त्र-पात्र-प्रतिलेखन, स्वाध्याय, शय्या और उच्चार-भूमि की प्रतिलेखना का विधान है। श्लोक ३८ के अन्तिम दो चरणों से ४२ के तीन चरणों तक दैवसिक प्रतिक्रमण का विधान है। चतुर्थ चरण में रात्रिक काल-प्रतिलेखना का विधान है। श्लोक ४३वां १८वें का पुनरुक्त है तथा ४४वां २०वें का पुनरुक्त है। श्लोक ४५ से ५१ तक रात्रिक प्रतिक्रमण का विधान है। ५२वें श्लोक में उपसंहार है। २०वें श्लोक तक एक प्रकार से ओघ समाचारी (दिन और रात की चर्या) का प्रतिपादन हो चुका है। श्लोक २१ से ५१ तक प्रतिपादित विषय का ही विस्तार से प्रतिपादन किया है। इसलिए यत्र क्वचित् पूनरुक्तियां भी हैं।

मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षाचर्या और चौथे में पुनः स्वाध्याय। (श्लोक १२)

मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा-मोक्ष (शयन) और चौथे में पुनः स्वाध्याय। (श्लोक १८)

यह मुनि के औत्सर्गिक कर्त्तव्यों का निर्देश है। इसमें कई अपवाद भी हैं।

दैनिक-कृत्यों का विस्तार से वर्णन २१वें से ३८वें श्लोक तक हुआ है और रात्रिक-कृत्यों का ३९वें से ५१वें श्लोक तक।

यह सारा वर्णन सामाचारी के अन्तर्गत आता है। सामाचारी संघीय जीवन जीने की कला है। इससे पारस्परिक एकता की भावना पनपती है और इससे संघ दृढ़ बनता है। दस-विध सामाचारी की सम्यक् परिपालना से व्यक्ति में निम्न विशेष गुण उत्पन्न होते हैं—

१. आवश्यिकी और नैषेधिकी से निष्प्रयोजन गमनागमन पर नियन्त्रण रखने की आदत पनपती है।
२. मिच्छाकार से पापों के प्रति सजगता के भाव पनपते हैं।
३. आपृच्छा और प्रतिपृच्छा से श्रमशील तथा दूसरों के लिए उपयोगी बनने के भाव बनते हैं।
४. छन्दना से अतिथि-सत्कार की प्रवृत्ति बढ़ती है।
५. इच्छाकार से दूसरों के अनुग्रह को सहर्ष स्वीकार करने तथा अपने अनुग्रह में परिवर्तन करने की कला आती है। परस्परानुग्रह संघीय-जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। परन्तु व्यक्ति जब उस अनुग्रह को अधिकार मान बैठता है, वहां स्थिति जटिल बन जाती है। दूसरों के अनुग्रह की हार्दिक स्वीकृति स्वयं में विनय पैदा करती है।
६. उपसंपदा से परस्पर-ग्रहण की अभिलाषा पनपती है।
७. अभ्युत्थान (गुरु-पूजा) से गुरुता की ओर अभिमुखता होती है।
८. तथाकार से आग्रह की आदत छूट जाती है, विचार करने के लिए प्रवृत्ति सदा उन्मुक्त रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# छबीसइमं अज्झयणं : छब्बीसवां अध्ययन

## सामायारी : सामाचारी

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. सामायारिं पवक्खामि<br>सव्वदुक्खविमोक्खणिं।<br>जं चरित्ताण निग्गंथा<br>तिण्णा संसारसागरं।। | *समाचारीं प्रवक्ष्यामि*<br>*सर्वदुःखविमोक्षणीम्।*<br>*यां चरित्वा निर्ग्रन्थाः*<br>*तीर्णाः संसारसागरम्।।* | मैं सब दुःखों से मुक्त करने वाली उस समाचारी (व्यवहारात्मक आचार) का निरूपण करूंगा, जिसका आचरण कर निर्ग्रन्थ संसार-सागर को तिर गए। |
| २. पढमा आवस्सिया नाम<br>बिइया य निसीहिया।<br>आपुच्छणा य तइया<br>चउत्थी पडिपुच्छणा।। | *प्रथमा आवश्यकी नाम्नी*<br>*द्वितीया च निषीधिका।*<br>*आप्रच्छना च तृतीया*<br>*चतुर्थी प्रतिप्रच्छना।।* | पहली आवश्यकी, दूसरी नैषेधिकी, तीसरी आप्रच्छना, चौथी प्रतिप्रच्छना— |
| ३. पंचमा छंदणा नाम<br>इच्छाकारो य छट्ठओ।<br>सत्तमो मिच्छकारो य<br>तहक्कारो य अट्ठमो।। | *पंचमी छन्दना नाम्नी*<br>*इच्छाकारश्च षष्ठः।*<br>*सप्तमः मिथ्याकारश्च*<br>*तथाकरश्च अष्टमः।।* | पांचवी छन्दना, छठी इच्छाकार, सातवीं मिथ्याकार, आठवीं तथाकार— |
| ४. अब्भुट्ठाणं नवमं<br>दसमा उवसंपदा।<br>एसा दसंगा साहूणं<br>सामायारी पवेइया।। | *अभ्युत्थानं नवमं*<br>*दशमी उपसम्पद्।*<br>*एषा दशांगा साधूनां*<br>*सामाचारी प्रवेदिता।।* | नौवीं अभ्युत्थान, दसवीं उपसंपदा। भगवान् ने साधुओं की इस दश अंग वाली समाचारी का निरूपण किया है। |
| ५. गमणे आवस्सियं कुज्जा<br>ठाणे कुज्जा निसीहियं।<br>आपुच्छणा सयंकरणे<br>परकरणे पडिपुच्छणा।। | *गमने आवश्यकीं कुर्यात्*<br>*स्थाने कुर्यान्निषीधिकाम्।*<br>*आप्रच्छना स्वयंकरणे*<br>*परकरणे प्रतिप्रच्छना।।* | (१) स्थान से बाहर जाते समय आवश्यकी करे—आवश्यकी का उच्चारण करे।<br>(२) स्थान में प्रवेश करते समय नैषेधिकी करे—नैषेधिकी का उच्चारण करे।<br>(३) अपना कार्य करने से पूर्व आपृच्छना करे—गुरु से अनुमति ले।<br>(४) एक कार्य से दूसरा कार्य करते समय प्रतिपृच्छा करे—गुरु से पुनः अनुमति ले। |
| ६. छंदणा दव्वजाएणं<br>इच्छाकारो य सारणे।<br>मिच्छाकारो य निंदाए<br>तहक्कारो य पडिस्सुए।। | *छन्दना द्रव्यजातेन*<br>*इच्छाकारश्च सारणे।*<br>*मिथ्याकारश्च निन्दायां*<br>*तथाकारश्च प्रतिश्रुते।।* | (५) पूर्व-गृहीत द्रव्यों से छंदना करे—गुरु आदि को निमन्त्रित करे।<br>(६) सारणा (औचित्य से कार्य करने और कराने) में इच्छाकार का प्रयोग करे—अपनी इच्छा हो तो मै। आपका अमुक कार्य करूं। आपकी इच्छा हो तो कृपया मेरा अमुक कार्य करें।<br>(७) अनाचारित की निन्दा के लिए मिथ्याकार का प्रयोग करे।<br>(८) प्रतिश्रवण (गुरु द्वारा प्राप्त उपदेश की स्वीकृति) के लिए तथाकार (यह ऐसे ही है) का प्रयोग करे। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. अब्भुट्ठाणं गुरुपूया
अच्छणे उवसंपदा।
एवं दुपंचसंजुत्ता
सामायारी पवेइया।।

*अभ्युत्थानं गुरुपूजायां*
*आसने उपसम्पद्।*
*एवं द्विपंचसंयुक्ता*
*सामाचारी प्रवेदिता।।*

(९) गुरु-पूजा (आचार्य, ग्लान, बाल आदि साधुओं) के लिए अभ्युत्थान करे—आहार आदि लाए।
(१०) दूसरे गण के आचार्य आदि के पास रहने के लिए उपसंपदा ले—मर्यादित काल तक उनका शिष्यत्व स्वीकार करे—इस प्रकार दस-विध समाचारी का निरूपण किया गया है।[1]

८. पुव्विल्लंमि चउब्भाए
आइच्चंमि समुट्ठिए।
भंडयं पडिलेहित्ता
वंदित्ता य तओ गुरुं।।

*पूर्वस्मिन् चतुर्भागे*
*आदित्ये समुत्थिते।*
*भाण्डकं प्रतिलिख्य*
*वन्दित्वा च ततो गुरुम्।।*

सूर्य के उदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में[2] भाण्ड—उपकरणों की[3] प्रतिलेखना करे।[4] तदनन्तर गुरु की वन्दना कर—

९. पुच्छेज्जा पंजलिउडो
किं कायव्वं मए इहं?।
इच्छं निओइउं भंते!
वेयावच्चे य सज्झाए।।

*पृच्छेत् प्रांजलिपुटः*
*किं कर्त्तव्यं मया इह?।*
*इच्छामि नियोजयितुं भदन्त!*
*वैयावृत्ये वा स्वाध्याये।।*

हाथ जोड़ कर पूछे—अब मुझे क्या करना चाहिए? भन्ते! मैं चाहता हूं कि आप मुझे वैयावृत्त्य या स्वाध्याय में से किसी एक कार्य में नियुक्त करें।

१०. वेयावच्चे निउत्तेण
कायव्वं अगिलायओ।
सज्झाए वा निउत्तेणं
सव्वदुक्खविमोक्खणे।।

*वैयावृत्त्ये नियुक्तेन*
*कर्त्तव्यमग्लान्या*
*स्वाध्याये वा नियुक्तेन*
*सर्वदुःखविमोक्षणे।।*

वैयावृत्त्य में नियुक्त किए जाने पर अग्लान भाव से वैयावृत्त्य करे अथवा सर्व दुःखों से मुक्त करने वाले स्वाध्याय में नियुक्त किए जाने पर अग्लान भाव से स्वाध्याय करे।

११. दिवसस्स चउरो भागे
कुज्जा भिक्खू वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा
दिणभागेसु चउसु वि।।

*दिवसस्य चतुरो भागान्*
*कुर्याद् भिक्षुर्विचक्षणः।*
*तत उत्तरगुणान् कुर्यात्*
*दिनभागेषु चतुर्ष्वपि।।*

विचक्षण भिक्षु दिन के चार भाग करे। उन चारों भागों में उत्तर-गुणों (स्वाध्याय आदि) की[5] आराधना करे।

१२. पढमं पोरिंसि सज्झायं
बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं
पुणो चउत्थीए सज्झायं।।

*प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं*
*द्वितीयां ध्यानं ध्यायति।*
*तृतीयायां भिक्षाचर्यां*
*पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम्।।*

प्रथम प्रहर[6] में स्वाध्याय और दूसरे में ध्यान करे। तीसरे में भिक्षाचरी और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

१३. आसाढे मासे दुपया
पोसे मासे चउप्पया।
चित्तासोएसु मासेसु
तिपया हवइ पोरिसी।।

*आषाढ़े मासे द्विपदा*
*पौषे मासे चतुष्पदा।*
*चैत्राश्विनयोर्मासयोः*
*त्रिपदा भवति पौरुषी।।*

आषाढ़ मास में दो पाद प्रमाण, पौष मास में चार पाद प्रमाण, चैत्र तथा आश्विन मास में तीन पाद प्रमाण पौरुषी होती है।[7]

१४. अंगुलं सत्तरत्तेणं
पक्खेण य दुअंगुलं।
वड्ढए हायए वावि
मासेणं चउरंगुलं।।

*अंगुलं सप्तरात्रेण*
*पक्षेण च द्वयंगुलम्।*
*वर्धते हीयते वापि*
*मासेन चतुरंगुलम्।।*

सात दिन रात में एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और एक मास में चार अंगुल वृद्धि और हानि (पौरुषी के कालमान में) होती है। श्रावण मास से पौष मास तक वृद्धि और माघ से आषाढ़ तक हानि होती है।[8]

१५. आसाढबहुलपक्खे
भद्दवए कत्तिए य पोसे य।
फग्गुणवइसाहेसु य
नायव्वा ओमरत्ताओ।।

*आषाढबहुलपक्षे*
*भाद्रपदे कार्तिके च पौषे च।*
*फाल्गुनवैशाखयोश्च*
*ज्ञातव्या अवम-रात्रयः।।*

आषाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख—इनके कृष्ण-पक्ष में एक-एक अहोरात्र (तिथि) का क्षय होता है।[9]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. जेट्ठामूले आसाढसावणे
छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा।
अट्ठहिं बीयतियंमी
तइए दस अट्ठहिं चउत्थे।।

*ज्येष्ठामूले आषाढश्रावणे*
*षड्भिरंगुलैः प्रतिलेखा।*
*अष्टाभिर्द्वितीयत्रिके*
*तृतीये दशभिरष्टभिश्चतुर्थे।।*

ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण इस प्रथम-त्रिक में छह, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक इस द्वितीय-त्रिक में आठ, मृगशिर, पौष माघ इस तृतीय-त्रिक में दश और फाल्गुन, चैत्र, वैशाख इस चतुर्थ-त्रिक में आठ आंगुल की वृद्धि करने से प्रतिलेखना का समय होता है।[10-11]

१७. रत्तिं पि चउरो भागे
भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा
राइभाएसु चउसु वि।।

*रात्रिमपि चतुरो भागान्*
*भिक्षुः कुर्याद् विचक्षणः।*
*तत उत्तरगुणान् कुर्यात्*
*रात्रिभागेषु चतुर्ष्वपि।।*

विचक्षण भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे। उन चारों भागों में उत्तर-गुणों की आराधना करे।

१८. पढमं पोरिसिं सज्झायं
बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु
चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं।।

*प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं*
*द्वितीयां ध्यानं ध्यायति।*
*तृतीयायां निद्रामोक्षं तु*
*चतुर्थ्यां भूयोपि स्वाध्यायम्।।*

प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद[12] और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

१९. जं नेइ जया रत्तिं
नक्खत्तं तंमि नहचउब्भाए।
संपत्ते विरमेज्जा
सज्झायं पओसकालम्मि।।

*यन्नयति यदा रात्रिं*
*नक्षत्रं तस्मिन् नभश्चतुर्भागे।*
*सम्प्राप्ते विरमते*
*स्वाध्यायात् प्रदोषकाले।।*

जो नक्षत्र जिस रात्रि की पूर्ति करता हो, वह (नक्षत्र) जब आकाश के चतुर्थ भाग में आए (प्रथम प्रहर समाप्त हो) तब प्रदोष-काल (रात्रि के आरम्भ) में प्रारब्ध स्वाध्याय से विरत हो जाए।

२०. तम्मेव य नक्खत्ते
गयणचउब्भागसावसेसंमि।
वेरत्तियं पि कालं
पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा।।

*तस्मिन्नेव च नक्षत्रे*
*गगनचतुर्भागसावशेषे।*
*वैरात्रिकमपि कालं*
*प्रतिलिख्य मुनिः कुर्यात्।।*

वही नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थ भाग में शेष रहे तब वैरात्रिक काल (रात का चतुर्थ प्रहर) आया हुआ जान फिर स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाए।[13]

२१. पुव्विल्लंमि चउब्भाए
पडिलेहित्ताण भंडयं।
गुरुं वंदित्तु सज्झायं
कुज्जा दुक्खविमोक्खणं।।

*पूर्वस्मिन् चतुर्भागे*
*प्रतिलिख्य भाण्डकम्।*
*गुरुं वन्दित्वा स्वाध्यायं*
*कुर्याद् दुःखविमोक्षणम्।।*

दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में भाण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन कर, गुरु को वन्दना कर, दुःख से मुक्त करने वाला स्वाध्याय करे।

२२. पोरिसीए चउब्भाए
वंदित्ताण तओ गुरुं।
अपडिक्कमित्ता कालस्स
भायणं पडिलेहए।।

*पौरुष्याश्चतुर्भागे*
*वन्दित्वा ततो गुरुम्।*
*अप्रतिक्रम्य कालस्य*
*भाजनं प्रतिलिखेत्।।*

पौन पौरुषी बीत जाने पर गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण—कायोत्सर्ग किए बिना ही भाजन की प्रतिलेखना करे।[14]

२३. मुहपोत्तियं पडिलेहित्ता
पडिलेहिज्ज गोच्छगं।
गोच्छगलइयंगुलिओ
वत्थाइं पडिलेहए।।

*मुखपोतिकां प्रतिलिख्य*
*प्रतिलिखेत् गोच्छकम्।*
*गोच्छकलतिकांगुलिकः*
*वस्त्राणि प्रतिलिखेत्।।*

मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर गोच्छग की प्रतिलेखना करे। गोच्छग को अंगुलियों से पकड़ कर भाजन को ढांकने के पटलों की प्रतिलेखना करे।[15]

२४. उड्ढं थिरं अतुरियं
पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे।
तो बिइयं पप्फोडे
तइयं च पुणो पमज्जेज्जा।।

*ऊर्ध्वं स्थिरमत्वरितं*
*पूर्वं तावद् वस्त्रमेव प्रतिलिखेत्।*
*ततो द्वितीयं प्रस्फोटयेत्*
*तृतीयं च पुनः प्रमृज्यात्।।*

सबसे पहले ऊकडू-आसन पर बैठ, वस्त्र को ऊंचा रखे,[16] स्थिर रखे और शीघ्रता किए बिना उसकी प्रतिलेखना करे—चक्षु से देखे। दूसरे के वस्त्र को झटकारे और तीसरे में वस्त्र की प्रमार्जना करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५. अणच्चावियं अवलियं
अणाणुबंधिं अमोसलिं चेव।
छप्पुरिमा नव खोडा
पाणोपाणविसोहणं।।

*अनर्तितमवलितं*
*अननुबन्ध्यऽमौशली चैव।*
*षट्पूर्वा नव-खोडा*
*पाणिप्राणविशोधनम्।।*

प्रतिलेखना करते समय (१) वस्त्र या शरीर को न नचाए, (२) न मोड़े, (३) वस्त्र के दृष्टि से अलक्षित विभाग न करे,[७७] (४) वस्त्र का भींत आदि से स्पर्श न करे, (५) वस्त्र के छह पूर्व और नौ खोटक करे और (६) जो कोई प्राणी हो उसका हाथ पर नौ बार विशोधन (प्रमार्जन) करे।

२६. आरभडा सम्मद्दा
वज्जेयव्वा य मोसली तइया।
पप्फोडणा चउत्थी।
विक्खित्ता वेइया छट्ठा।।

*आरभटा सम्मर्दा*
*वर्जयितव्या च मौशली तृतीया।*
*प्रस्फोटना चतुर्थी*
*विक्षिप्ता वेदिका षष्ठी।।*

मुनि प्रतिलेखना में छह दोषों का वर्जन करे—
(१) आरभटा—विधि से विपरीत प्रतिलेखन करना अथवा एक वस्त्र का पूरा प्रतिलेखन किए बिना आकुलता से दूसरे वस्त्र को ग्रहण करना।
(२) सम्मर्दा—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस प्रकार पकड़ना कि उसके बीच में सलवटें पड़ जाय अथवा प्रतिलेखनीय उपधि पर बैठ कर प्रतिलेखना करना।
(३) मोसली—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे, तिरछे किसी वस्त्र या पदार्थ से संघट्टित करना।
(४) प्रस्फोटना—प्रतिलेखन करते समय रज-लिप्त-वस्त्र को गृहस्थ की तरह वेग से झटकना।
(५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखित वस्त्रों को अप्रतिलेखित वस्त्रों पर रखना अथवा वस्त्र के अञ्चल को इतना ऊंचा उठाना कि उसकी प्रतिलेखना न हो सके।
(६) वेदिका—प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पार्श्व में हाथ रखना अथवा घुटनों की भुजाओं के बीच रखना।

२७. पसिढिलपलंबलोला
एगामोसा अणेगरूवधुणा।
कुणइ पमाणिक पमायं
संकिए गणणोवगं कुज्जा।।

*प्रशिथिलप्रलम्बलोलाः*
*एकामर्शानेकरूपधूनना।*
*करोति प्रमाणे प्रमादं*
*शंकिते गणनोपगं कुर्यात्।।*

प्रतिलेखना के ये सात दोष और हैं—
(१) प्रशिथिल—वस्त्र को ढीला पकड़ना।
(२) प्रलम्ब—वस्त्र को विषमता से पकड़ने के कारण कोनों को लटकना।
(३) लोल—प्रतिलेख्यमान वस्त्र का हाथ या भूमि से संघर्षण करना।
(४) एकामर्शा—वस्त्र को बीच में से पकड़ कर उसके दोनों पार्श्वों का एक बार में ही स्पर्श करना-एक दृष्टि में ही समूचे वस्त्र को देख लेना।
(५) अनेक रूप धूनना—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) झटकना अथवा अनेक वस्त्रों को एक साथ झटकना।
(६) प्रमाण-प्रमाद—प्रस्फोटन और प्रमार्जन का जो प्रमाण (नौ-नौ बार करना) बतलाया है, उसमें प्रमाद करना।
(७) गणनोपगणना—प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट प्रमाण में शङ्का होने पर उसकी गिनती करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८. अणूणाइरित्तपडिलेहा
अविवच्चासा तहेव य।
पढमं पयं पसत्थं
सेसाणि उ अप्पसत्थाइं।।

*अनूनाऽतिरिक्ता प्रतिलेखा*
*अविव्यत्यासा तथैव च।*
*प्रथमं पदं प्रशस्तं*
*शेषाणि त्वप्रशस्तानि।।*

वस्त्र के प्रस्फोटन और प्रमार्जन के प्रमाण से अन्यून अनतिरिक्त (न कम और न अधिक) और अविपरीत प्रतिलेखना करनी चाहिए। इन तीन विशेषणों के आधार पर प्रतिलेखना के आठ विकल्प बनते हैं। इनमें प्रथम विकल्प (अन्यून अनतिरिक्त और अविपरीत) प्रशस्त है और शेष अप्रशस्त।[२८]

२९. पडिलेहणं कुणंतो
मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा।
देइ व पच्चक्खाणं
वाएइ सयं पडिच्छइ वा।।

*प्रतिलेखनां कुर्वन्*
*मिथःकथां करोति जनपदकथां वा।*
*ददाति वा प्रत्याख्यानं*
*वाचयति स्वयं प्रतीच्छति वा।।*

जो प्रतिलेखना करते समय काम-कथा करता है अथवा जन-पद की कथा करता है अथवा प्रत्याख्यान कराता है, दूसरों को पढ़ाता है अथवा स्वयं पढ़ता है—

३०. पुढवीआउक्काए
तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।
पडिलेहणापमत्तो
छण्हं पि विराहओ होइ।।

*पृथिव्यप्कायययोः*
*तेजो-वायु-वनस्पति-त्रसाणाम्।*
*प्रतिलेखनाप्रमत्तः*
*षण्णामपि विराधको भवति।।*

वह प्रतिलेखना में प्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहों कायों का विराधक होता है।[२९]

(पुढवीआउक्काए
तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।
पडिलेहणाआउत्तो
छण्हं आराहओ होइ।।)

*(पृथिव्यप्कायययोः*
*तेजोवायुवनस्पतित्रसाणाम्।*
*प्रतिलेखनाऽऽयुक्तः*
*षण्णामाराधको भवति।।)*

(प्रतिलेखना में अप्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहों कायों का आराधक होता है।)

३१. तइयाए पोरिसीए
भत्तं पाणं गवेसए।
छण्हं अन्नयरागम्मि
कारणंमि समुट्ठिए।।

*तृतीयायां पौरुष्यां*
*भक्तं पानं गवेषयेत्।*
*षण्णामन्यतरस्मिन्*
*कारणे समुत्थिते।।*

छह कारणों में से किसी एक के उपस्थित होने पर तीसरे प्रहर में भक्त और पान की गवेषणा करे।

३२. वेयणवेयावच्चे
इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए
छट्ठं पुण धम्मचिंताए।।

*वेदनावैयावृत्त्याय*
*ईर्यार्थाय च संयमार्थाय।*
*तथा प्राणप्रत्ययाय*
*षष्ठं पुनः धर्मचिन्तायै।।*

वेदना (क्षुधा) शान्ति के लिए, वैयावृत्त्य के लिए, ईर्या समिति के शोधन के लिए, संयम के लिए तथा प्राण-प्रत्यय (जीवित रहने) के लिए और धर्म-चिन्तन के लिए भक्त-पान की गवेषणा करे।[३०]

३३. निग्गंथो धिइमंतो
निग्गंथी वि न करेज्ज छहिं चेव।
ठाणेहिं उ इमेहिं।
अणइक्कमणा य से होइ।।

*निर्ग्रन्थो धृतिमान्*
*निर्ग्रन्थ्यपि न कुर्यात् षड्भिश्चैव।*
*स्थानैस्त्वेभिः*
*अनतिक्रमणं च तस्य भवति।।*

धृतिमान् साधु और साध्वी इन छह कारणों से भक्त-पान की गवेषणा न करे, जिससे उनके संयम का अतिक्रमण न हो।

३४. आयंके उवसग्गे
तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं
सरीरवोच्छेयणट्ठाए।।

*आतङ्के उपसर्गः*
*तितिक्षया ब्रह्मचर्यगुप्तिषु।*
*प्राणिदया तपोहेतोः*
*शरीरव्यवच्छेदार्थाय।।*

रोग होने पर, उपसर्ग आने पर, ब्रह्मचर्य गुप्ति की तितिक्षा (सुरक्षा) के लिए, प्राणियों की दया के लिए, तप के लिए और शरीर-विच्छेद के लिए मुनि भक्त-पान की गवेषणा न करे।[३१]

३५. अवसेसं भंडगं गिज्झा
चक्खुसा पडिलेहए।
परमद्धजोयणाओ
विहारं विहरए मुणी।।

*अवशेषं भाण्डकं गृहीत्वा*
*चक्षुषा प्रतिलिखेत्।*
*परमर्धयोजनात्*
*विहारं विहरेन्मुनिः।।*

सब (भिक्षोपयोगी) भाण्डोपकरणों को ग्रहण कर[३२] चक्षु से उनकी प्रतिलेखना करे और दूसरे गांव में भिक्षा के लिए जाना आवश्यक हो तो अधिक से अधिक अर्ध-योजन प्रदेश तक[३३] जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. चउत्थीए पोरिसीए
निक्खिवित्ताण भायणं।
सज्झायं तओ कुज्जा
सव्वभावविभावणं।।

*चतुर्थ्यां पौरुष्यां*
*निक्षिप्य भाजनम्।*
*स्वाध्यायं ततः कुर्यात्*
*सर्वभावविभावनम्।।*

चौथे प्रहर में भाजनों को प्रतिलेखन पूर्वक बांध कर रख दे, फिर सर्व भावों को प्रकाशित करने वाला[२४] स्वाध्याय करे।

३७. पोरिसीए चउब्भाए
वंदित्ताण तओ गुरुं।
पडिक्कमित्ता कालस्स
सेज्जं तु पडिलेहए।।

*पौरुष्याश्चतुर्भागे*
*वन्दित्वा ततो गुरुम्।*
*प्रतिक्रम्य कालस्य*
*शय्यां तु प्रतिलिखेत्।।*

चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में पौन पौरुषी बीत जाने पर स्वाध्याय के पश्चात् गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर, (स्वाध्याय-काल से निवृत्त होकर) शय्या की प्रतिलेखना करे।

३८. पासवणुच्चारभूमिं च
पडिलेहिज्ज जयं जई।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं।।

*प्रस्रवणोच्चारभूमिं च*
*प्रतिलिखेद् यतं यतिः।*
*कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्*
*सर्वदुःखविमोक्षणम्।।*

यतनाशील यति पर प्रस्रवण और उच्चार-भूमि की प्रतिलेखना करे। तदनन्तर सर्व-दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

३९. देसियं च अईयारं
चिंतिज्ज अणुपुव्वसो।
नाणे दंसणे चेव
चरित्तम्मि तहेव य।।

*दैवसिकं चातिचारं*
*चिन्तयेदनुपूर्वशः।*
*ज्ञाने दर्शने चैव*
*चरित्रे तथैव च।।*

ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्बन्धी दैवसिक[२५] अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४०. पारियकाउस्सग्गो
वंदित्ताण तओ गुरुं।
देसियं तु अईयारं
आलोएज्ज जहक्कमं।।

*पारितकायोत्सर्गः*
*वन्दित्वा ततो गुरुम्।*
*दैवसिकं त्वतिचारं*
*आलोचयेद् यथाक्रमम्।।*

कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वन्दना करे। फिर अनुक्रम से दैवसिक अतिचार की आलोचना करे।

४१. पडिक्कमित्तु निस्सल्लो
वंदित्ताण तओ गुरुं।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं।।

*प्रतिक्रम्य निःशल्यः*
*वन्दित्वा ततो गुरुम्।*
*कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्*
*सर्वदुःखविमोक्षणम्।।*

प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करे। फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४२. पारियकाउस्सग्गो
वंदित्ताण तओ गुरुं।
थुइमंगलं च काऊण
कालं संपडिलेहए।।

*पारितकायोत्सर्गः*
*वन्दित्वा ततो गुरुम्।*
*स्तुतिमंगलं च कृत्वा*
*कालं संप्रतिलिखेत्।।*

कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे। फिर स्तुति-मंगल[२६] करके काल की प्रतिलेखना करे।

४३. पढमं पोरिसिं सज्झायं
बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु
सज्झायं तु चउत्थिए।।

*प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं*
*द्वितीयां ध्यानं ध्यायति।*
*तृतीयायां निद्रामोक्षं तु*
*स्वाध्यायं तु चतुर्थ्याम्।।*

प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

४४. पोरिसीए चउत्थीए
कालं तु पडिलेहिया।
सज्झायं तओ कुज्जा
अबोहेंतो असंजए।।

*पौरुष्यां चतुर्थ्यां*
*कालं तु प्रतिलिख्य।*
*स्वाध्यायं ततः कुर्यात्*
*अबोधयन्नसंयतान्।।*

चौथे प्रहर के काल की प्रतिलेखना कर असंयत व्यक्तियों को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४५. पोरिसीए चउब्भाए
वंदिऊण तओ गुरुं।
पडिक्कमित्तु कालस्स
कालं तु पडिलेहए।।

*पौरुष्याश्चतुर्भागे*
*वन्दित्वा तो गुरुम्।*
*प्रतिक्रम्य कालस्य*
*कालं तु प्रतिलिखेत्।।*

चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर (स्वाध्याय-काल से निवृत्त होकर) काल की प्रतिलेखना करे।

४६. आगए कायवोस्सग्गे
सव्वदुक्खविमोक्खणे।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं।।

*आगते कायव्युत्सर्गे*
*सर्वदुःखविमोक्षणे।*
*कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्*
*सर्वदुःखविमोक्षणम्।।*

सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला काय-व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) का समय आने पर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४७. राइयं च अईयारं
चिंतिज्ज अणुपुव्वसो।
नाणंमि दंसणंमी
चरित्तंमि तवम्मि य।।

*रात्रिकं चातिचारं*
*चिन्तयेदनुपूर्वशः।*
*ज्ञाने दर्शन*
*चरित्रे तपसि च।।*

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप सम्बन्धी रात्रिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४८. पारियकाउस्सग्गो
वंदित्ताण तओ गुरुं।
राइयं तु अईयारं
आलोएज्ज जहक्कमं।।

*पारितकायोत्सर्गः*
*वन्दित्वा ततो गुरुम्।*
*रात्रिकं त्वतिचारं*
*आलोचयेद् यथाक्रमम्।।*

कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वंदना करे। फिर अनुक्रम से रात्रिक अतिचार की आलोचना करे।

४९. पडिक्कमित्तु निस्सल्लो
वंदित्ताण तओ गुरुं।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं।।

*प्रतिक्रम्य निःशल्यः*
*वन्दित्वा ततो गुरुम्।*
*कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्*
*सर्वदुःखविमोक्षणम्।।*

प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वंदना करे, फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

५०. किं तवं पडिवज्जामि
एवं तत्थ विचिंतए।
काउस्सग्गं तु पारित्ता
वंदई य तओ गुरुं।।

*किं तपः प्रतिपद्ये*
*एवं तत्र चिचिन्तयेत्।*
*कायोत्सर्गं तु पारयित्वा*
*वन्दते च ततो गुरुम्।।*

मैं कौन-सा तप ग्रहण करूं[२७]—कायोत्सर्ग में ऐसा चिन्तन करे। कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वन्दना करे।

५१. पारियकाउस्सग्गो
वंदित्ताण तओ गुरुं।
तवं संपडिवज्जेत्ता
करेज्ज सिद्धाण संथवं।।

*पारितकायोत्सर्गः*
*वन्दित्वा ततो गुरुम्।*
*तपः संप्रतिपद्य*
*कुर्यात् सिद्धानां संस्तवम्।।*

कायोत्सर्ग पारित होने पर मुनि गुरु को वंदना करे। फिर तप को स्वीकार कर सिद्धों का संस्तव[२८] (स्तुति) करे।

५२. एसा सामायारी
समासेण वियाहिया।
जं चरित्ता बहू जीवा
तिण्णा संसारसागरं।।

*एषा समाचारी*
*समासेन व्याख्याता।*
*यां चरित्वा बहवो जीवाः*
*तीर्णाः संसारसागरम्।।*

यह समाचारी मैंने संक्षेप में कही है। इसका आचरण कर बहुत से जीव संसार-सागर को तर गए।

—ति बेमि। —*इति ब्रवीमि।* —ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन २६ : सामाचारी

१. (श्लोक १—७)

दस समाचारी का वर्णन भगवती (२५।५५५), स्थानाङ्ग (१०।१०२) और आवश्यक निर्युक्ति में भी है। उत्तराध्ययन में सामाचारी का क्रम उनसे भिन्न है। उनकी प्रथम तीन समाचारियों को यहां छठा, सातवां और आठवां स्थान प्राप्त है। नौवें सामाचारी का नाम भी भिन्न है। भगवती आदि में उसका नाम 'निमंत्रण' है। यहां उसका नाम 'अभ्युत्थान' है।

आवश्यक निर्युक्ति में सामाचारी तीन प्रकार की बतलाई गई है—(१) ओघ सामाचारी, (२) दस-विध सामाचारी और (३) पद-विभाग सामाचारी।[1]

'ओघ सामाचारी' का प्रतिपादन ओघनिर्युक्ति में है। उसके सात द्वार हैं—(१) प्रतिलेखन (२) पिण्ड, (३) उपधिप्रमाण, (४) अनायतन (अस्थान) वर्जन, (५) प्रतिसेवान—दोषाचरण, (६) आलोचना और (७) विशोधि।[2]

'पद-विभाग समाचारी' छेद सूत्रों में कथित विषय है। 'दस-विध सामाचारी' का वर्णन इस अध्ययन में है। वह इस प्रकार है—

**आवश्यकी, नैषेधिकी**

सामान्य विधि यह है कि मुनि जहां ठहरा हो उस उपाश्रय से बाहर न जाए। विशेष विधि के अनुसार आवश्यक कार्य होने पर वह उपाश्रय से बाहर जा सकता है। किन्तु बाहर जाते समय समाचारी का ध्यान रखते हुए वह आवश्यकी करे—आवश्यकी का उच्चारण करे।[3] 'आवश्यक कार्य के लिए बाहर जा रहा हूं'—इसे निरन्तर ध्यान में रखे, अनावश्यक कार्य में प्रवृत्ति न करे। आवश्यकी का प्रतिपक्ष शब्द है नैषेधिकी। कार्य से निवृत्त होकर जब वह स्थान में प्रवेश करे तो नैषेधिकी का उच्चारण करे। 'मैं आवश्यक कार्य से निवृत्त हो चुका हूं, अब मैं प्रवृत्ति के समय कोई अकरणीय कार्य हुआ हो इसका निषेध करता हूं, उससे अपने आपको दूर करता हूं'—इस भावना के साथ वह स्थान में प्रवेश करता है।[4] यह साधुओं के गमनागमन की सामाचारी है। गमन और आगमन काल में उसका लक्ष्य अबाधित रहे, इसका इन दो सामाचारियों में सम्यक् चिन्तन है।

**आपृच्छा, प्रतिपृच्छा**

सामान्य विधि यह है कि उच्छ्वास और निःश्वास के सिवाय शेष सब कार्यों के लिए गुरु की आज्ञा लेनी चाहिए।[5] यहां आज्ञा के दो स्थान बतलाए गए हैं—स्वयंकरण, परकरण।

प्रथम प्रवृत्ति को 'स्वयंकरण' तथा अपर प्रवृत्ति को 'परकरण' कहा जाता है। स्वयंकरण के लिए आपृच्छा (प्रथम बार पूछने) तथा परकरण के लिए प्रतिपृच्छा (पुनः पूछने) का विधान है।[6]

आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार प्रथम बार या द्वितीय बार किसी भी प्रवृत्ति के लिए गुरु से आज्ञा प्राप्त करने को 'आपृच्छा' कहा जाता है। प्रयोजनवश पूर्व-निषद्ध कार्य करने की आवश्यकता होने पर गुरु से उसकी आज्ञा प्राप्त करने को 'प्रतिपृच्छा' कहा जाता है।[7] गुरु के द्वारा किसी कार्य पर निर्युक्त किए जाने पर उसे प्रारम्भ करते समय पुनः गुरु की आज्ञा लेनी चाहिए—यह भी प्रतिपृच्छा का आशय है।[8]

**छन्दना, अभ्युत्थान**

मुनि को भिक्षा में जो प्राप्त हो उसके लिए अन्य साधुओं को निमंत्रित करना चाहिए तथा जो आहार प्राप्त न हो उसे लाने जाए तब दूसरे साधुओं से पूछना चाहिए—'क्या मैं

---

१. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६६५।

२. ओघनिर्युक्ति, गाथा २ :
पडिलेहणं च पिंडं, उवहिपमाणं अणाययणवज्जं।
पडिसेवण मालोअण, जह य विसोही सुविहियाणं।।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५३४ : 'गमने' तथाविधालम्बनतो बहिर्निःसरणे आवश्यकेषु—अशेषावश्यकर्तव्यव्यापारेषु सत्सु भवाऽवश्यकी, उक्तं हि—"आवास्सिया उ आवस्सएहिं सुव्वेहिं जुत्तजोगस्से" त्यादि तां 'कुर्याद्' विदध्यात्।

४. वही, पत्र ५३४ : स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानम्—उपाश्रयस्तस्मिन् प्रविशन्निति शेषः, कुर्यात्, कां ? 'नैषेधिकी' निषेधनं निषेधः—पापानुष्ठानेभ्य आत्मनो व्यावर्त्तनं, तस्मिन् भवा नैषेधिकी, निषिद्धात्मन एतत्सम्भवात्, उक्तं हि—'जो होइ निसिद्धप्पा निसीहिया तस्स भावओ होइ।'

५. वही, पत्र ५३५ : उच्छ्वासनिःश्वारौ विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वपरसम्बन्धिषु गुरवः प्रष्टव्याः।

६. वही, पत्र ५३४ : आडिति—सकलकृत्याभिव्याप्त्या प्रच्छना आप्रच्छना-इदमहं कुर्यां न वेत्येवंरूपा तां स्वयमित्यात्मनः करणं— कस्यचिद्विवक्षितकार्यस्य निर्वर्त्तनं स्वयंकरण तस्मिन्, तथा 'परकरणे' अन्यप्रयोजनविधाने प्रतिप्रच्छना।

७. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६६७ :
आपुच्छणा उ कज्जे, पुव्वनिसिद्धेण होइ पडिपुच्छा।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ५३४ : गुरुनियुक्तोऽपि हि पुनः प्रवृत्तिकाले प्रतिपृच्छत्येव गुरुं, स हि कार्यान्तरमप्यादिशेत् सिद्धं वा तदन्यतः स्यादिति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपके लिए भोजन लाऊं ?' इन दोनों सामाचारियों को 'छन्दना' और 'अभ्युत्थान' कहा जाता है।[1] अभ्युत्थान के अर्थ में निमंत्रण का भी प्रयोग किया जाता है।[2]

**इच्छाकार**

संघीय व्यवस्था में परस्पर सहयोग लिया-दिया जाता है, किन्तु वह बल-प्रेरित न होकर इच्छा-प्रेरित होना चाहिए।[3] औत्सर्गिक-विधि के अनुसार बल प्रयोग सर्वथा वर्जित है। बड़ा साधु छोटे साधु से और छोटा साधु बड़े साधु से कोई काम कराना चाहे तो उसे 'इच्छाकार' का प्रयोग करना चाहिए—'यदि आपकी इच्छा हो तो मेरा काम आप करें', ऐसा कहना चाहिए।[4] आपवादिक मार्ग में आज्ञा और बलाभियोग का व्यवहार भी किया जा सकता है।[5]

**मिथ्याकार**

साधक के द्वारा भूल होना संभव है किन्तु अपनी भूल का भान होते ही उसे 'मिथ्याकार' का प्रयोग करना चाहिए।[6] जो दुष्कृत को मिथ्या मानकर उससे निवृत्त होता है, उसी का दुष्कृत मिथ्या होता है।

**तथाकार**

जो मुनि कल्प और अकल्प को जानता है, महाव्रत में स्थित होता है, उसे 'तथाकार' का प्रयोग करना चाहिए। गुरु जब सूत्र पढाएं, सामाचारी आदि का उपदेश दें, सूत्र का अर्थ बताएं अथवा कोई बात कहें तब तथाकार का प्रयोग करना चाहिए—'आप जो कहते हैं वह अवितथ है—सच है' यों कहना चाहिए।[7]

**उपसंपदा**

प्राचीन काल में साधुओं के अनेक गण थे। किन्तु व्यवस्था की दृष्टि से एक गण का साधु दूसरे गण में नहीं जा सकता था।[8] इसके कुछ अपवाद भी थे आपवादिक-विधि के अनुसार तीन कारणों से दूसरे गण में जाना विहित था। दूसरे गण में जाने को उपसंपदा कहा जाता था। ज्ञान की वर्त्तना (पुनरावृत्ति या गुणन), संधान (त्रुटित ज्ञान को पूर्ण करने) और ग्रहण (नया ज्ञान प्राप्त करने) के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती उसे 'ज्ञानार्थ उपसंपदा' कहा जाता था। इसी प्रकार दर्शन की वर्त्तना (स्थिरीकरण), संधान और दर्शन विषयक शास्त्रों के ग्रहण के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती, उसे 'दर्शनार्थ उपसंपदा' कहा जाता था। वैयावृत्त्य और तपस्या की विशिष्ट आराधना के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती, उसे 'चारित्रार्थ उपसंपदा कहा जाता था।'[9]

## २. (पुव्विल्लंमि चउब्भाए आइच्चंमि समुट्ठिए)

'पुव्विलंमि चउब्भाए' यह आठवें तथा इक्कीसवें—दोनों श्लोकों का प्रथम चरण है। शान्त्याचार्य ने आठवें श्लोक की व्याख्या में इसका अर्थ 'पौन-पौरुषी'[10] तथा इक्कीसवें की व्याख्या में इसका अर्थ 'प्रथम प्रहर'[11] किया है। किन्तु बाईसवें श्लोक में पात्र-प्रतिलेखना का निर्देश है, वहां पौन-पौरुषी के लिए 'पोरिसीए चउब्भाए' पाठ है और इक्कीसवें श्लोक में जहां वस्त्र-प्रतिलेखना का निर्देश है, वहां 'पुव्विल्लंमि चउब्भाए' पाठ है। अतः आठवें श्लोक में वस्त्र-प्रतिलेखना का ही निर्देश होना चाहिए। स्वाध्याय या वैयावृत्त्य का निर्देश वस्त्र-प्रतिलेखना के पश्चात् आचार्य से लिया जाता है।[12]

शान्त्याचार्य ने 'पुव्विल्लंमि चउब्भाए' का वैकल्पिक अर्थ 'प्रथम-प्रहर' तथा 'भंडयं पडिलेहित्ता' का अर्थ 'वस्त्र-प्रतिलेखना'

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५३४, ५३५ :
(क) छन्दना प्रागगृहीतद्रव्यजातेन शेषयतिनिमन्त्रणात्मिका।
(ख) अभीत्याभिमुख्येनोत्थानम्—उद्यमनमभ्युत्थानं तच्च....आचार्यग्लान-बालादीनां यथोचिताहारपेषजादिसम्पादनम्, इह च सामान्याभिधाने-ऽप्यभ्युत्थानं निमन्त्रणारूपमेव परिगृह्यते।

२. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६६७ :
पुव्वगहिएण छंदण, निमंतणा होइ अगहिएणं।

३. (क) आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६७३ :
अहयं तुब्भं एअं, कज्जं तु करेमि इच्छकारेणं।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५३५ : इच्छा—स्वकीयोऽभिप्रायस्तया करणं—तत्कार्यनिर्वर्त्तनमिच्छाकारः, 'सारणे' इत्यौचित्यत आत्मनः परस्य वा कृत्यं प्रति प्रवर्त्तने, तत्रात्मसारणे यथेच्छाकारेण युष्मच्चिकीर्षितं कार्यमिदमहं करोमीति।

४. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६७७ :
आणा बलाभिओगो, निग्गंथाणं न कप्पए काउं।
इच्छा पउंजिअव्वा, सेहे रायणिए य तहा।।

५. वही, गाथा ६७७ वृत्ति, पत्र ३४४ : अपवादतस्त्वाज्ञाबला- भियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ, तेन च सहोत्सर्गतः संवास एव न कल्पते, बहुस्वजनादिकारणप्रतिबद्धतया त्वपरित्याज्ये अयं विधिः, प्रथममिच्छाकरेण योज्यते, अकुर्वन्नाज्ञया पुनर्बलाभियोगेनेति।

६. वही, गाथा ६८२ :
संजमजोगे अब्भुट्ठिअस्स, जं किंचि वितहमायरिअं।
मिच्छा एअंति विआणिऊण मिच्छत्ति कायव्वं।।

७. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ६८६ :
वायणपडिसुणणाए, उवएसे सुत्तअत्थकहणाए।
अवितहमेअंति तहा, पडिसुणणाए अ तहकारो।।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ५३५ : 'अच्छणे' त्ति आसने प्रक्रमादाचार्यान्तरादिसन्निधौ अवस्थाने उप—सामीप्येन सम्पादनं—गमनं सम्पदादित्वात्त्विवपि उपसंपद्— इयन्तं कालं भवदन्तिके मयाऽऽसितव्यमित्येवंरूपा।

९. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६६८, ६६९ :
उपसंपया य तिविहा, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
दंसणनाणे तिविहा, दुविहा य चरित्तअट्ठाए।।
वत्तणा संधणा चेव, गहणं सुत्तत्थतदुभए।।
वेयावच्चे खमणे, काले आवक्कहाइ अ।।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ५३६ : 'पुव्विल्लंमि' त्ति पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे आदित्ये 'समुत्थिते' समुद्गते, इह च यथा दशाविकलोऽपि पटः पट एवोच्यते, एवं किञ्चिदूनोऽपि चतुर्भागश्चतुर्भाग उक्तः, ततोऽयमर्थः—बुद्ध्या नभश्चतुर्धा विभज्यते, तत्र पूर्वदिक्संबद्धे किञ्चिदूननभश्चतुर्भागे यदादित्यः समुदेति तदा, पादोनपौरुष्यामित्युक्तं भवति।

११. वही, पत्र ५४० : 'पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे' प्रथमपौरुषीलक्षणे प्रक्रमाद् दिनस्य।

१२. ओघनिर्युक्ति वृत्ति, पत्र ११५ : उक्ता वस्त्रप्रत्युपेक्षणा, तत्समाप्तौ च किं कर्त्तव्यमित्यत आह—'समत्तपडिलेहणाए सज्झाओ' समाप्तायां प्रत्युपेक्षणायां स्वाध्यायः कर्त्तव्यः सूत्रपौरुषीत्यर्थः, पादोनप्रहरं यावत्। इदानीं पात्रप्रत्युपेक्षणामाह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है।[1] इक्कीसवें श्लोक के संदर्भ में यह वैकल्पिक अर्थ ही संगत लगता है।

जयाचार्य के अनुसार दिन के प्रथम चतुर्थ भाग का अर्थ 'प्रथम-प्रहर का प्रथम चतुर्थ भाग' है।[2] साधारणतया यह कालमान सूर्योदय के २ घड़ी (४८ मिनट) तक का है। ३ घण्टा १२ मिनट का प्रहर होने से ४७ मिनट का कालमान पूरा चौथा भाग होता है। जब दिन का प्रहर ३ घंटा ३० मिनट का होता है, उस समय चौथा भाग ५२$\frac{1}{2}$ मिनट का होता है। उस समय ४८ मिनट चौथे भाग से कुछ कम होता है।

जयाचार्य का अभिप्राय उत्तरवर्ती साहित्य और परम्परा पर आधारित है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वस्त्र-प्रतिलेखना सूर्योदय के साथ समाप्त हो जाती थी। इसीलिए शान्त्याचार्य ने लिखा है कि बहुत प्रकाश होने से सूर्य के अनुत्थान या अनुदय को ही उत्थान या उदय कहा गया है।[3]

ओघनिर्युक्ति में प्रभातकालीन प्रतिलेखना-काल के चार अभिमतों का उल्लेख मिलता है—

(१) सूर्योदय का समय—प्रभास्फाटन का समय।

(२) सूर्योदय के पश्चात्—प्रभास्फाटन होने के पश्चात्।

(३) परस्पर जब मुख दिखाई दे।

(४) जिस समय हाथ की रेखा दिखाई दे।[4]

ये अनादेश माने गए हैं। निर्णायक पक्ष यह है कि प्रतिक्रमण के पश्चात्—

(१) मुख-वस्त्रिका, (२) रजोहरण, (३-४) दो निषद्याएं—एक सूत्र की आभ्यन्तर निषद्या और दूसरी बाहरी पाद-प्रोञ्छन, (५) चोलपट्टक, (६-८) तीन उत्तरीय, (९) संस्तारक पट्ट और (१०) उत्तर-पट्ट की प्रतिलेखना के अनन्तर ही सूर्योदय हो जाए, वह उस (प्रतिलेखना) का काल है।[5] बहुमान्य अभिमत यही रहा है।

### ३. भाण्ड—उपकरणों की (भंडयं)

पौन-पौरुषी की प्रतिलेखना के प्रकरण में 'भण्डक' का अर्थ 'पात्र आदि उपकरण' तथा प्रभातकालीन प्रतिलेखना के प्रकरण में उसका अर्थ 'पछेवड़ी आदि उपकरण' होता है।

### ४. प्रतिलेखना करे (पडिलेहित्ता)

प्रतिलेखना और प्रमार्जना ये दोनों परस्पर संबंधित हैं। जहां प्रतिलेखना का निर्देश होता है, वहां प्रमार्जना स्वयं आ जाती है और जहां प्रमार्जना का निर्देश होता है, वहां प्रतिलेखना स्वयं प्राप्त होती है। प्रतिलेखना का अर्थ है 'दृष्टि से देखना' और प्रमार्जन का अर्थ है 'झाडकर साफ करना।' पहले प्रतिलेखना और तत्पश्चात् प्रमार्जना की जाती है।

**प्रतिलेखनीय**

शरीर (खड़े होते, बैठते और सोते समय), उपाश्रय, उपकरण, स्थण्डिल (मल-मूत्र के परिष्ठापना की भूमि), अवष्टम्भ और मार्ग—ये प्रतिलेखनीय हैं-इनकी प्रतिलेखना की जाती है।[6] उपकरण-प्रतिलेखना दो प्रकार की होती है—(१) वस्त्र-प्रतिलेखना और (२) पात्र-प्रतिलेखना।[7] पात्र प्रतिलेखना का क्रम और विधि तेईसवें श्लोक में प्रतिपादित है। वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि चौबीस से अठाईसवें श्लोक तक प्रतिपादित है। ओघनिर्युक्ति में गाथा २८८ से २९५ (पत्र ११७-११९) तक पात्र-प्रतिलेखना का विवरण है और गाथा २९४ से २९९ (पत्र १०८-१११) तक वस्त्र-प्रतिलेखना का विवरण है।

**प्रतिलेखना-काल**

वस्त्र-प्रतिलेखना के दो काल हैं—पूर्वाह्न (प्रथम-प्रहर) और अपराह्न (चतुर्थ-प्रहर)[8]। पात्र-प्रतिलेखना का काल भी यही है।[9] काल-भेद से प्रतिलेखना के तीन काल हो जाते हैं—

(१) प्रभात, (२) अपराह्न—तीसरे प्रहर के पश्चात्

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५३६ : यद्वा पूर्वस्मिन्नभश्चतुर्भागे आदित्ये समुत्थिते इव समुत्थिते, बहुतरप्रकाशीभवनात्तस्य, भाण्डमेव भाण्डकं ततस्तदिव धर्मद्रविणोपार्जनाहेतुत्वेन मुखवस्त्रिकावर्षाकल्पादीह भाण्डकमुच्यते, तत्प्रतिलेख्य।

२. उत्तराध्ययन जोड़ पत्र ३७ :
दिवस तणा पहिला पोहर रै मांहि। धुरला चौथा भाग में ताहि।।
एतले दो घड़ी ने विषेह। सूर्य उग्या थी ए लेह।। ३२।।
वस्त्रादिक उपगरण सुमंड। पडिलेही रुडी रीत सुभंड।।
पडिलेहणा किया पछे तिवार। गुरु प्रतिवंदि करी नमस्कार।। ३३।।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५३६।

४. ओघनिर्युक्ति, वृत्ति गा० २६९, २७० :
.....।
अरुणावासग पुव्वं परोप्परं पाणिपडिलेहा।।
एते उ अणाएसा अंधारे उग्गएविहु न दीसे।
.....।।

४. (क) ओघनिर्युक्ति, गा० २७० :
मुहरयनिसिज्जचोले, कप्पतिगदुपट्टथुई सूरो।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५६० वृत्ति, पत्र १६६ :
प्रतिक्रमणकरणानन्तरं अनुद्गते सूरे—सूर्योद्गमादर्वाग्।
(ग) धर्मसंग्रह, पृ० २२ : प्रतिलेखना सूर्येनुद्गते एव कर्त्तव्या।

६. ओघनिर्युक्ति, गाथा २६३ :
ठाणे उवगरणे य थंडिलउवथंभमग्गपडिलेहा।
किंमाई पडिलेहा, पुव्वण्हे चेव अवरण्हे।।

७. ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १५८ :
उवगरण वत्थपाए, वत्थे पडिलेहणं तु वोच्छामि।
पुव्वण्हे अवरण्हे, मुहणंतगमाइ पडिलेहा।।

८. (क) ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १५८ वृत्ति : पूर्वाह्णे वस्त्रप्रत्युपेक्षणा भवत्यपराह्णे च।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५३७ : तृतीयायां भिक्षाचर्यां पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम्, उपलक्षणत्वात्तृतीयायां भोजनबहिर्गमनादीनि, इतरत्र तु प्रतिलेखनास्थण्डिलप्रत्युपेक्षणादीनि गृह्यन्ते।

९. (क) ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १७३ वृत्ति : पात्रप्रत्युपेक्षणामाह—'चरिमाए' चरमायां पादोनपौरुष्यां प्रत्युपेक्षेत 'ताहे' ति 'तदा' तस्मिन् काले स्वाध्यायानन्तरं पात्रकद्वितयं प्रत्युपेक्षेत।
(ख) उत्तरज्झयणाणि २६।२२, ३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और (३) उद्घाट-पौरुषी—पौन-पौरुषी।[1]

मुख-पोतिका आदि दस उपकरणों का प्रतिलेखना-काल प्रभात समय (प्रतिक्रमण के पश्चात्—सूर्योदय से पूर्व) है। तीसरा प्रहर बीतने पर चौदह उपकरणों की प्रतिलेखना का समय आता है। चौदह प्रतिलेखनीय उपकरणों का विवरण निम्न प्रकार पाया जाता है :

| ओघनिर्युक्ति | प्रवचनसारोद्धार |
|---|---|
| (१) पात्र | (१) मुख-पोतिका |
| (२) पात्रबंध | (२) चोलपट्टक |
| (३) पात्र-स्थापन | (३) गोच्छग |
| (४) पात्र-केसरिका | (४) पात्र-प्रतिलेखनिका |
| (५) पटल | (५) पात्र-बंध |
| (६) रजस्त्राण | (६) पटल |
| (७) गुच्छग | (७) रजस्त्राण |
| (८-१०) तीन पछेवड़ी | (८) पात्र-स्थापन |
| (११) रजोहरण | (९) मात्रक |
| (१२) मुख-वस्त्रिका | (१०) पात्र |
| (१३) मात्रक | (११) रजोहरण |
| (१४) चोलपट्टक[2] | (१२-१४) तीन पछेवड़ी[3] |

पौन-पौरुषी के समय ७ उपकरणों की प्रतिलेखना की जाती थी। वे उपकरण ये हैं—

| ओघनिर्युक्ति | प्रवचनसारोद्धार |
|---|---|
| (१) पात्र | (१) मुखपोतिका |
| (२) पात्र-बन्ध | (२) गोच्छग |
| (३) पात्र-स्थापन | (३) पटल |
| (४) पात्र-केसरिका | (४) पात्र-केसरिका |
| (५) पटल | (५) पात्र-बन्ध |
| (६) रजस्त्राण | (६) रजस्त्राण |
| (७) गुच्छग[4] | (७) पात्र-स्थापन[5] |

## ५. उत्तर गुणों (स्वाध्याय आदि) की उत्तरगुणे

पांच महाव्रत मूलगुण हैं। स्वाध्याय, ध्यान आदि उनकी अपेक्षा उत्तरगुण कहलाते हैं। उत्तरगुण का सामान्य काल-विभाग इस प्रकार बतलाया गया है :

प्रथम प्रहर में—स्वाध्याय।

द्वितीय प्रहर में—ध्यान—पढ़े हुए विषय का अर्थ-चिन्तन अथवा मानसिक एकाग्रता का अभ्यास।

तीसरे प्रहर में—भिक्षाचारी, उत्सर्ग आदि।

चतुर्थ प्रहर में—फिर स्वाध्याय।

यह दिनचर्या की स्थूल रूपरेखा है। इसमें मुख्य कार्यों का निर्देश किया गया है। प्रतिलेखना, वैयावृत्त्य आदि आवश्यक विधियों का इसमें उल्लेख नहीं है। प्रतिलेखना का उल्लेख २१-२२ वें श्लोक में स्वतंत्र-रूप से किया गया है।

यह विभाग उस समय का है जब आगम—सूत्र लिखित नहीं थे। उन्हें कंठस्थ रखने के लिए अधिक समय लगाना होता था। संभवतः इसीलिए प्रथम और चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय की व्यवस्था की गई। इन्हें 'सूत्र-पौरुषी' भी कहा जाता था। दूसरे प्रहर में अर्थ समझा जाता था। इसीलिए उसे 'अर्थ-पौरुषी' कहा जाता था। जब भिक्षुओं के लिए एक वक्त भोजन—एक बार खाने की व्यवस्था थी तब भिक्षा के लिए तीसरा प्रहर ही सर्वाधिक उपयुक्त था और उस समय जनता के भोजन का समय भी संभवतः यही था। कुछ आचार्यों के अभिमत में यह अभिग्रहधारी भिक्षुओं की विधि है।[6] अठारहवें श्लोक में कथित नींद लेने की विधि से तुलना करने पर उक्त अभिमत संगत लगता है।

छेद-सूत्रों द्वारा प्रथम एवं चरम प्रहर की भिक्षा का भी समर्थन होता है।[7] ओघनिर्युक्ति में आपवादिक-विधि के अनुसार दो-तीन बार की भिक्षा का भी विधान मिलता है।[8] यह भी हो सकता है कि ये आपवादिक-विधियां छेद-सूत्रों की रचना-काल में मान्य हुई हों।

ओघनिर्युक्ति के अनुसार नींद लेने की विधि विभिन्न व्यक्तियों की अपेक्षा से इस प्रकार है—प्रथम और चतुर्थ प्रहर में सब साधु स्वाध्याय करते हैं, बिचले दो प्रहरों में नींद लेते हैं। वृषभ-साधु दूसरे प्रहर में भी जागते हैं, वे केवल तीसरे प्रहर ही सोते हैं। आचार्य तीसरे प्रहर में स्वाध्याय करते हैं।[9]

---

१. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५६०-५६२ :
पडिलेहणाण गोसावराण्हउग्घाडपोरिसीसु तिगं।
तत्थ पढमा अपुग्गयसूरे पडिक्कमणकरणाओ।।
मुहपोत्ति चोलपट्टो कप्पतिगं दो निसिज्ज रयहरणं।
संथारुत्तरपट्टो दस पेहाऽणुग्गए सूरे।।
उवगरणचउद्दसगं पडिलेहिज्जइ दिणस्स पहरतिगे।
.....।।

२. ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६८-६७० :
पत्तं पत्तबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रयत्ताणं च, गुच्छओ पायनिज्जोगो।।
तिन्नेव च पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती।
एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाणं तु।।
एए चेव दुवालस, मत्तग अइरेग चोलपट्टो य।
एसो चउद्दसविहो, उवही पुण थेरकप्पम्मि।।

३. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५६२ वृत्ति, पत्र १६६।

४. ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६८।

५. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५६२ वृत्ति, पत्र १६६।

६. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५४३।
(ख) उत्तराध्ययन जोड़, ढाल २६।३८-४६।

७. बृहत्कल्प, ५।६।

८. ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १४६ :
एवंपि अपरिचत्ता, काले खवणे अ असहुपुरिसे य।
कालो गिम्हो उ भवे, खमगो वा पढमबिइएहिं।।

९. वही, गाथा ६६० :
सव्वेवि पढमजामे, दोन्नि उ वसभा उ आइमा जामा।
तइओ होइ गुरूणं, चउत्थओ होइ सव्वेसिं।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शयन-विधि के इन विभिन्न प्रकारों को देखते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तीसरे प्रहर में सोने की विधि या तो किसी विशिष्ट साधु-वर्ग के लिए है या ओघनिर्युक्ति का विधान पूर्वकालीन नहीं है।

मुनि के लिए सोने की निर्युक्ति-कालीन-विधि इस प्रकार है—

पहला प्रहर पूरा बीतने पर गुरु के पास जाए। "इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए मत्थएण वंदामि, खमासमणा ! बहु पडिपुण्णा पोरिसी अणुजाणह राइसंसारयं"—यह पाठ बोल कर सोने की आज्ञा मांगे। फिर प्रस्रवण करे। जहां सोने का स्थान हो वहां जाए। उपकरणों पर जो डोर बांधी हुई हो उसे खोले। संस्तार-पट्ट और उत्तर-पट्ट का प्रतिलेखन कर उन्हें उरु (साथल) पर रख दे। फिर सोने की भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन करे। वहां संस्तार-पट्ट बिछाए, उस पर उत्तर-पट्ट बिछाए। मुख-वस्त्रिका से उपरले शरीर का और रजोहरण से निचले शरीर का प्रमार्जन करे। उत्तरीय वस्त्र को बाएं पार्श्व में रख दे। बिछौने पर बैठता हुआ पास में बैठे हुए ज्येष्ठ साधुओं की आज्ञा ले, फिर तीन बार सामायिक पाठ का उच्चारण कर सोए। बांह का सिरहाना करे। बाएं पार्श्व से सोए। पैर पसारे तब मुर्गी की भांति पहले आकाश में पसारे, वैसे न रह सके तब भूमि का प्रमार्जन कर पैर नीचे रख दे। पैरों को समेटे तब उरु-संधि का प्रमार्जन करे।[1]

## ६. प्रहर (पोरिसिं)

पौरुषी में प्रकरण में 'पुरुष' शब्द के दो अर्थ हैं-(१) पुरुष-शरीर और (२) शंकु। पुरुष के द्वारा उसका माप होता है, इसलिए उसे 'पौरुषी' कहा जाता है।[2] शंकु २४ अंगुल प्रमाण का होता है और पैर से जानु तक का प्रमाण भी २४ अंगुल होता है।[3] जिस दिन वस्तु की छाया उसके प्रमाणोपेत होती है, वह दिन दक्षिणायन का प्रथम दिन होता है।[4] युग के प्रथम वर्ष (सूर्य-वर्ष) के श्रावण बदी १ को शंकु की छाया शंकु के प्रमाण २४ अंगुल पड़ती है। १२ अंगुल प्रमाण का एक पाद होने से शंकु की छाया दो पाद होती है।

युग के प्रथम सूर्य-वर्ष में श्रावण बदी १ को दो पग प्रमाण छाया होती है और माघ बदी ७ को चार पग प्रमाण।

दूसरे चन्द्र-वर्ष में श्रावण बदी १३ से वृद्धि प्रारम्भ और माघ सुदी ४ से हानि प्रारम्भ।

तीसरे वर्ष में श्रावण सुदी १० से वृद्धि प्रारम्भ और माघ बदी १ से हानि प्रारम्भ।

चौथे वर्ष में श्रावण बदी ७ से वृद्धि प्रारम्भ और माघ वदी १३ से हानि प्रारम्भ

पांचवे वर्ष में श्रावण सुदी से वृद्धि प्रारम्भ और माघ सुदी १० से हानि प्रारम्भ

### पौरुषी का कालमान

पौरुषी का कालमान एक नहीं है। वह एक दिन सापेक्ष होता है। जब दिन का कालमान बढ़ता है तब पौरुषी का कालमान भी बढ़ता है। दिन का कालमान घटने से वह भी घट जाता है। दिन का $\frac{1}{4}$ भाग पौरुषी (प्रहर) होता है। दिन का कालमान जघन्य १२ मुहूर्त का होता है और उत्कृष्ट में १८ मुहूर्त का। इसलिए प्रहर का कालमान जघन्य $12 \div 4 = 3$ मुहूर्त का उत्कृष्ट में $14 \div 4 = 4\frac{1}{2}$ मुहूर्त का होता है।[5]

प्रतिदिन $\frac{1}{183}$ मुहूर्त पौरुषी बढ़ती व घटती है।[6] और एक अयन में १८३ अहोरात्र होते हैं। इसलिए एक अयन में $\frac{183 \times 1}{122} = \frac{3}{2} = 1\frac{1}{2}$ मुहूर्त कालमान बढ़ता है। जघन्य तीन $+1\frac{1}{2} = 4\frac{1}{2}$ मुहूर्त।

पौरुषी का उत्कृष्ट कालमान एक अयन में $4\frac{1}{2}$ ही होगा। दिन पौरुषी बढ़ने से रात्रि की पौरुषी घटती है। जब दिन का पौरुषी $4\frac{1}{2}$ मुहूर्त की होती है तब रात्रि की पौरुषी का कालमान तीन मुहूर्त का होता है। रात्रि की पौरुषी बढ़ने से दिन की पौरुषी घटती है। जब रात्रि की पौरुषी $4\frac{1}{2}$ मुहूर्त की होती है तब दिन की पौरुषी का कालमान तीन मुहूर्त का होता है।

## ७. (श्लोक १३)

एक वर्ष में दो अयन होते हैं—(१) दक्षिणायन और (२) उत्तरायण। दक्षिणायन श्रावण मास में प्रारम्भ होता है और उत्तरायण माघ मास में।

एक मास में छाया ४ अंगुल प्रमाण बढ़ती है।[7] उत्तरायण

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५३८, ५३९।

२. काललोकप्रकाश, २८।६६२ :
शंकुः पुरुषशब्देन, स्याद् देहः पुरुषस्य वा।
निष्पन्ना पुरुषात् तस्मात्, पौरुषीत्यपि सिद्ध्यति।।

३. वही, २८।१०।११ :
चतुर्विंशत्यंगुलस्य, शंकोश्छाया यथोदिता।
चतुर्विंशत्यंगुलस्य, जानोरपि तथा भवेत्।।

४. वही, २८।६६३ :
स्वप्रमाणं भवेच्छाया, यदा सर्वस्य वस्तुनः।
तदा स्यात् पौरुषी, याम्या-यानस्य प्रथमे दिने।।

५. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २०७० :
पोरिसीमाणमनिययं, दिवस निसा बुड्ढि हाणि भावओ।
हीणं तिन्नि मुहुत्तद्धपंचममाणमुक्कोसं।।

६. वही, गाथा २०७१ :
वुड्ढी वावीसुत्तर-सय भागोपइदिणं मुहुत्तस्स।
एवं हाणी विमया, अयण दिन भागओ नेया।।

७. (क) ओघनियुक्ति, गाथा २८३।
(ख) समवायांग, समवाय ३०।
(ग) चन्द्रप्रज्ञप्ति, प्राभृत १०, ११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रथम दिन वह ४ पाद प्रमाण हो जाती है। उत्तरायण के बाद वह उसी क्रम में घटती हुई दक्षिणायन के प्रथम दिन तक वापस दो पाद प्रमाण हो जाती है। इस गणित से चैत्र और आश्विन में तीन पाद प्रमाण छाया होती है।

**१२ मास की पौरुषी छाया का प्रमाण**

| समय | पाद-अंगुल |
|---|---|
| आषाढ़ पूर्णिमा | २-० |
| सावण पूर्णिमा | २-४ |
| भाद्रपद पूर्णिमा | २-८ |
| आश्विन पूर्णिमा | ३-० |
| कार्तिक पूर्णिमा | ३-४ |
| मृगसर पूर्णिमा | ३-८ |
| पौष पूर्णिमा | ४-० |
| माघ पूर्णिमा | ३-८ |
| फाल्गुन पूर्णिमा | ३-४ |
| चैत्र पूर्णिमा | ३-० |
| वैशाख पूर्णिमा | २-८ |
| ज्येष्ठ पूर्णिमा | २-४ |

## ८. (श्लोक १४)

सात दिनों में एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और मास में चार अंगुल प्रमाण छाया को बढ़ना माना है, वह व्यवहार या स्थूल-दृष्टि से है। यहां पूर्ण दिन ग्रहण किया है। शेष दिन की विवक्षा नहीं की है। जयाचार्य ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययन की जोड़ में लिखा है—"सात दिनों में दो पग से एक अंगुल अधिक छाया तब बढ़ती है जब कि पक्ष १४ दिनों का हो। यदि पक्ष १५ दिनों का हो तो ७$\frac{१}{२}$ दिन-रात में एक अंगुल छाया बढ़ती जाती है।"[१]

सूर्य-वर्ष के एक अयन में १८३ अहोरात्र होते हैं। एक अयन में दो पाद अर्थात् २४ अंगुल छाया बढ़ने से एक अहोरात्र में $\frac{२४}{१८३}$ अंगुल बढ़ती है। एक अंगुल छाया बढ़ने में उसे $\frac{१८३}{२४}$ अर्थात् ७$\frac{५}{८}$ दिन लगते हैं। औघनिर्युक्ति में भी एक दिन में अंगुल के सातवें भाग से कम वृद्धि मानी है।[२] ज्योतिष्करण्डक में एक तिथि में $\frac{४}{३१}$ अंगुल प्रमाण छाया बढ़ती हुई मानी गई है।[३] लोक-प्रकाश में और ज्योतिष्करण्डक के फलित में कोई अन्तर नहीं है केवल विवक्षा का भेद है। पहले में अहोरात्र की अपेक्षा से है और दूसरे में तिथि के अपेक्षा से। अहोरात्र की उत्पत्ति सूर्य से होती है और तिथि की उत्पत्ति चन्द्रमा से।[४]

६१ अहारोत्र से ६२ तिथियां होती है।[५] ६२ तिथियों में ६१ अहोरात्र होने से एक तिथि में $\frac{६१}{६२}$ अहोरात्र होते हैं। प्रत्येक अहोरात्र में अगली तिथि का $\frac{१}{६२}$ भाग प्रवेश करता है। अतः ६१ वें अहोरात्र में ६२ वीं तिथि समा जाती है।

१ अहोरात्र में $\frac{८}{६१}$ अंगुल प्रमाण छाया बढ़ती है। इसलिए ६१ अहोरात्र में $\frac{८}{६१} \times ६१ = ८$ अंगुल।

१ तिथि में $\frac{४}{३१}$ अंगुल प्रमाण छाया बढ़ती है इसलिए ६२ तिथियों में $\frac{४}{३१} \times ६२ = ८$ अंगुल।

इस प्रकार ८ अंगुल छाया बढ़ने में ६१ अहोरात्र या ६२ तिथियों का कालमान लगता है। ६१ अहोरात्र ६२ तिथियों के समान होने से दोनों के फलित होने में कोई अन्तर नहीं है।

## ९. (श्लोक १५)

साधारणतया एक मास में ३० अहरोत्र होते हैं और एक पक्ष में १५ अहरोत्र। किन्तु आषाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास के कृष्ण पक्ष में १ अहोरात्र कम होता है। अतः इनका पक्ष १४ अहोरात्र का ही होता है। एक वर्ष में ६ रात्रियां अवम होती हैं। लोकप्रकाश में भी ऐसा माना है।[६] इसका कारण यह है कि एक अहोरात्र के कालमान से $\frac{१}{६२}$ भाग कम तिथि का कालमान है, अर्थात् $\frac{६१}{६२}$ अहोरात्र में एक तिथि पूरी होती है। इस प्रकार ६१ अहोरात्र में ६२ तिथियां होती हैं। प्रत्येक अहोरात्र में अगली तिथि का $\frac{१}{६२}$ भाग प्रवेश करता है। अतः ६१ वें अहोरात्र में ६२ वीं तिथि समा जाती है।[७] इस गणित से ३६६ अहोरात्रों में ६ तिथियां क्षय हो जाती है।

लौकिक व्यवहार के अनुसार वर्षा ऋतु का प्रारम्भ आषाढ़ मास में होता है। इसे प्रधानता देकर ६१ वें अहोरात्र अर्थात् भाद्रव कृष्ण पक्ष में तिथि का क्षय माना है। इस प्रकार

---

१. उत्तराध्ययन जोड़, २६।५१, ५२ :
तेह थकी दिन सातरे बे पग आंगुल अधिक।
पोहर दिवस तब थात रे, दिन चवदै नो पख तदा।।
जो पनरै दिन नों पक्ष रे, तो साढा सात अहोनिशे।
हुवै पौरिसी लक्ष रे, वे पग इक आंगुल अधिक।।

२. ओघनिर्युक्ति, गाथा २८४ : दिवसे दिवसे अंगुलस्य सप्तमो भागो किंचिप्पूणो वड्ढइ। वृत्ति—

३. काललोकप्रकाश, २९।१०२९ :
यत्तु ज्योतिष्करण्डादौ, वृद्धिरहान्योर्निरूपिताः।
चत्वारोऽत्रांगुलस्यांशा, एकत्रिंशत् समुद्भवा।।

४. वही, २८।७६५, ७६६ :
यद्यदेकोऽप्यहोरात्रः, सूर्यजातो द्विधा कृतः।
दिनरात्रिविभेदेन, संज्ञाभेदप्ररूपणात्।।
तथैव तिथिरेकापि, शशिजाता द्विधा कृता।
दिनरात्रिविभेदेन, संज्ञाभेदप्ररूपणात्।।

५. काललोकप्रकाश, २८।७८३ वृत्ति : द्वाषष्ट्या हि तिथिभिः परिपूर्णा एकषष्टिरहोरात्रा भवन्ति।

६. वही, २८।७८४, ७८५ :
युगेऽथावमरात्राणां, स्वरूपं किंचिदुच्यते।
भवंति ते च षड् वर्षे, तथा त्रिंशद्युगेऽखिले।।
एकेकस्मिन्नहोरात्र, एको द्वाषष्टिकल्पितः।
लभ्यतेऽवमरात्रांश एकवृद्ध्या यथोत्तरम्।।

७. वही, २८।८०० :
एवं च द्वाषष्टितमी प्रविष्टा निखिला तिथिः।
एक षष्टिभागरूपा त्वेकषष्टितमे दिने।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६१-६१ अहोरात्र में होने वाला तिथि-क्षय भाद्रव, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास में होता है। ज्योतिष्करण्डक में भी वर्षा ऋतु का प्रारम्भ आषाढ़ मास से मानकर तिथि-क्षय का वर्णन है।

लोकप्रकाश में युग के प्रथम वर्ष के प्रथम मास श्रावण को प्रधान माना है। उसके अनुसार आसोज, मृगसर, माघ, चैत्र, ज्येष्ठ और श्रावण मास में तिथि-क्षय होता है। युग के पांचों वर्षों का यंत्र इस प्रकार है—

## युग पूर्वार्ध

| वर्ष | प्रथम चन्द्र वर्ष | द्वि. चन्द्र वर्ष | अर्ध अभिवर्धित |
|---|---|---|---|
| मास | आसो मार्ग माघ चैत्र ज्येष्ठ श्रा. आ. मार्ग. | माघ चैत्र ज्येष्ठ श्रा. | आ. मार्ग. पोष दूसरा |
| पक्ष | कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण | शु. शु. शु. शु. | शु. शु. शु. |
| अवम तिथि | १ ३ ५ ७ ९ ११ १३ ० | २ ४ ६ ८ | १० १२ १४ |
| पात तिथि | २ ४ ६ ८ १० १२ १४ १ | ३ ५ ७ ९ | ११ १३ १५ |

## युग पश्चिमार्ध

| वर्ष | अर्ध अभिवर्धित | चन्द्र वर्ष | अभिवर्धित वर्ष |
|---|---|---|---|
| मास | चैत ज्येष्ठ श्रा. | आ. मार्ग. माघ चैत्र ज्येष्ठ श्रा. | आ. मार्ग माघ चैत्र ज्येष्ठ आषाढ़ दूसरा |
| पक्ष | कृ. कृ. कृ. | कृ. कृ. कृ. कृ. कृ. शु. | शु. शु. शु. शु. शु. शुक्ल |
| श्रवण तिथि | १ ३ ५ | ७ ९ ११ १३ ० २ | ४ ६ ८ १० १२ १४ |
| पात तिथि | १ ४ ६ | ८ १० १२ १४ १ ३ | ५ ७ ९ ११ १३ १५ |

### १०. (श्लोक १६)

पौरुषी के बाद अर्थात् ¼ भाग कम को पादोन-पौरुषी कहते हैं। पौरुषी की छाया में यंत्र निर्दिष्ट अंगुल जोड़ने से पादोन-पौरुषी की छाया का मान होता है। सरलता के लिए १२ महीनों के तीन-तीन मास के चार त्रिक किए गए हैं—

पहला त्रिक—ज्येष्ट, आषाढ़ और श्रावण।

दूसरा त्रिक—भाद्रव, आसोज और कार्तिक।

तीसरा त्रिक—गृगसर, पौष और माघ।

चतुर्थ त्रिक—फाल्गन, चैत्र और वैशाख।

प्रथम त्रिक के मासों के पौरुषी प्रमाण में ६ अंगुल जोड़ने से उन मासों के पादोन-पौरुषी का छाया-प्रमाण होता है। इसी प्रकार दूसरे त्रिक के मासों में ८ अंगुल, तीसरे त्रिक के मासों में १० अंगुल और चौथे त्रिक के मासों में ८ अंगुल बढ़ाने से उन-उन मासों का पादोन-पौरूषी छाया-प्रमाण आता है। यंत्र इस प्रकार है—

**पौरुषी छाया-प्रमाण**

| पाद | अंगुल | | अंगुल | | पादोन-पौरुषी छाया-प्रमाण पाद | अंगुल |
|---|---|---|---|---|---|---|
| २ | ४ | + | ६ | = | २ | १० |
| २ | ० | + | ६ | = | २ | ६ |
| २ | ४ | + | ६ | = | २ | १० |
| २ | ८ | + | ८ | = | ३ | ४ |
| ३ | ० | + | ८ | = | ३ | ८ |
| ३ | ४ | + | ८ | = | ४ | ० |
| ३ | ८ | + | १० | = | ४ | ६ |
| ४ | ० | + | १० | = | ४ | १० |
| ३ | ८ | + | १० | = | ४ | ६ |
| ३ | ४ | + | ८ | = | ४ | ० |
| ३ | ० | + | ८ | = | ३ | ८ |
| २ | ८ | + | ८ | = | ३ | ४ |

यह श्लोक ओघनिर्युक्ति का ज्यों का त्यों प्राप्त है।[1]

१. ओघनिर्युक्ति, गाथा २८६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ११. ज्येष्ठ (जेट्ठामूले)

प्रस्तुत श्लोक के 'जेट्ठामूले' शब्द में दो नक्षत्रों का योग है—ज्येष्ठा और मूल। जो नक्षत्र चन्द्रमा को निशी के अन्त तक पहुंचाता है, वह जब आकाश के चतुर्थ भाग में आता है, उस समय प्रथम पौरुषी का कालमान होता है। इसी प्रकार वह नक्षत्र जब सम्पूर्ण क्षेत्र का अवगाहन कर लेता है, तब चारों प्रहर बीत जाते हैं।

जो नक्षत्र पूर्णिमा को उदित होता है और चन्द्रमा को रात्रि के अन्त तक पहुंचाता है, उसी नक्षत्र के नाम पर महीनों के नाम रखे गए हैं। श्रावण और ज्येष्ठ मास इसके अपवाद हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में इसका स्पष्ट व विस्तृत वर्णन है।

श्रावण मास को ४ नक्षत्र पार लगाते हैं—
- उत्तराषाढा नक्षत्र १४ दिन रात।
- अभिजित् नक्षत्र ७ दिन-रात।
- श्रवणा नक्षत्र ८ दिन-रात।
- धनिष्ठा नक्षत्र १ दिन-रात।

भाद्रव मास को ४ नक्षत्र—
- धनिष्ठा १५ दिन-रात।
- शतभिषग् ७ दिन-रात।
- पूर्वाभाद्रपद ८ दिन-रात।
- उत्तराभद्रपद १ दिन-रात।

आसोज मास को ३ नक्षत्र—
- उत्तराभाद्रपद १४ दिन-रात।
- रेवति १५ दिन-रात।
- अश्विनी १ दिन-रात।

कार्तिक मास को ३ नक्षत्र—
- अश्विनी १४ दिन-रात।
- भरणी १५ दिन-रात।
- कृत्तिका १ दिन-रात।

मृगसिर मास को ३ नक्षत्र—
- कृत्तिका १४ दिन-रात।
- रोहिणी १५ दिन-रात।
- मृगसिर १ दिन-रात।

पौष मास को ४ नक्षत्र—
- मृगसिर १४ दिन-रात।
- आर्द्रा ८ दिन-रात।
- पुनर्वसु ७ दिन-रात।
- पुष्य १ दिन-रात।

माघ मास को ३ नक्षत्र—
- पुष्य १४ दिन-रात।
- अश्लेषा १५ दिन-रात।
- मघा १ दिन-रात।

फाल्गुन मास को ६ नक्षत्र—
- मघा १४ दिन-रात।
- पूर्वाफाल्गुनी १५ दिन-रात।
- उत्तराफाल्गुनी १ दिन-रात।

चैत्र मास को ३ नक्षत्र—
- उत्तराफाल्गुनी १४ दिन-रात।
- हस्त १५ दिन-रात।
- चित्रा १ दिन-रात।

वैशाख मास को ३ नक्षत्र—
- चित्रा १४ दिन-रात।
- स्वाति १५ दिन-रात।
- विशाखा १ दिन-रात।

ज्येष्ठ मास को ४ नक्षत्र—
- विशाखा १४ दिन-रात।
- अनुराधा ८ दिन-रात।
- ज्येष्ठा ७ दिन-रात।
- मूल १ दिन-रात।

आषाढ़ मास को ३ नक्षत्र—
- मूल १७ दिन-रात।
- पूर्वाषाढ़ा १५ दिन-रात।
- उत्तराषाढा १ दिन-रात।[1]

### १२. नींद (निद्दमोक्खं)

इसका अर्थ है—जो नींद अमुक समय तक निरुद्ध थी, उसे मुक्त करना—नींद लेना, सोना।[2]

प्राचीन विधि के अनुसार रात्री के पहले प्रहर में सभी मुनि स्वाध्याय में बैठ जाते थे। जब दूसरा प्रहर प्रारम्भ होता तब अन्यान्य मुनि सो जाते, केवल गीतार्थ और वृषभ साधु स्वाध्याय करते रहते। वे पहले और दूसरे—दोनों प्रहरों में स्वाध्यायरत रहते थे। दूसरा प्रहर अतिक्रान्त होने तथा तीसरे प्रहर के प्रारम्भ में वे ही काल की प्रतिलेखना कर उपाध्याय को ज्ञापित कर आचार्य को जगाते। आचार्य स्वाध्याय में लग जाते और वे गीतार्थ तथा वृषभ मुनि सो जाते। तीसरे प्रहर के अतिक्रान्त होने पर तथा चौथे प्रहर के प्रारम्भ होने पर आचार्य सो जाते और शेष सोए हुए सभी साधुओं को जागृत कर दिया जाता और वे सभी वैरात्रिक स्वाध्याय में रत हो जाते।[3]

---

१. जंबुद्दीवपण्णत्ती, वक्ष ७ सूत्र १५६-१६७।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३८ : निद्राया मोक्षः—पूर्वनिरुद्धायामुत्कलना निद्रामोक्षः—स्वाप इत्यर्थः।

३. ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६१ :
सव्वेवि पढमजामे दोन्नि उ वसभाण आइमा जामा।
तइओ होइ गुरूणं, चउत्थओ होइ सव्वेसिं।।
—दोणीयावृत्ति, पत्र ४६४, ४६५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृद्ध, ग्लान, शैक्ष आदि इसके अपवाद थे। विस्तार के लिए देखें—पृष्ठ १०८।

## १३. (श्लोक १९, २०)

इन दो श्लोकों में नक्षत्र के आधार पर काल-ग्रहण की विधि बतलाई गई है। प्रत्येक रात्री का अपना एक नक्षत्र होता है। वह रात्री के प्रारम्भ से अन्त तक आकाश का अवगाहन करता है। मुनि आकाश के चार भाग करे। जब वह नक्षत्र आकाश के इन चार भागों में से एक भाग का अवगाहन कर लेता है, तब समझ लेना चाहिए कि रात्री का एक प्रहर बीत गया है। इसी प्रकार दूसरे-तीसरे और चौथे भाग की संपूर्ति पर दूसरा, तीसरा और चौथा प्रहर बीत जाता है। मुनि की दिन-चर्या का यह प्रमुख सूत्र है कि वह सब कार्य ठीक समय पर करे—'काले कालं समायरे' (दशवैकालिक ५।२।४)। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में काल-विज्ञान का मूल यज्ञ है वैसे ही जैन-परम्परा में उसका मूल साधुओं की दिनचर्या है।

रात के चार भाग हैं—१. प्रादोषिक २. अर्धरात्रिक ३. वैरात्रिक ४. प्राभातिक।[1]

प्रादोषिक और प्रभातिक—इन दो प्रहरों में स्वाध्याय किया जाता है। अर्द्धरात्रि में ध्यान और वैरात्रिक में शयन किया जाता है।

## १४. (श्लोक २१, २२)

'पुव्विल्लंमि चउब्भाए' यहां 'आइच्चंमि समुट्ठिए' इतना शेष है।[2] तथा 'पोरिसीए चउब्भाए' यहां 'अवशिष्यमाण' इतना शेष है।[3] 'अपडिक्कमित्ता कालस्स' यहां कायोत्सर्ग किए बिना ही पात्र-प्रतिलेखना का विधान है। उसका तात्पर्य यह है कि चतुर्थ पौरुषी में फिर स्वाध्याय करना है। कायोत्सर्ग एक कार्य की समाप्ति पर ही किया जाता है।[4]

## १५. (श्लोक २३)

इस श्लोक में पात्र सम्बन्धी तीन उपकरणों (१) मुख-वस्त्रिका, (२) गोच्छग और (३) वस्त्र (पटल) का उल्लेख है। ओघनिर्युक्ति में पात्र सम्बन्धी सात उपकरणों का उल्लेख मिलता है—(१) पात्र (२) पात्र-बन्ध, (३) पात्र-स्थापन, (४) पात्र-केशरिका, (५) पटल, (६) रजस्त्राण और (७) गोच्छग।

इन्हें पात्र-निर्योग (पात्र-परिकर) कहा जाता है।[5] पात्र को बांधने के लिए पात्र-बन्ध, उसे रज आदि से बचाने के लिए पात्र-स्थापन रखा जाता है।[6] पात्र-केशरिका का अर्थ 'पात्र की मुख-वस्त्रिका' है।[7] इससे पात्र की प्रतिलेखना की जाती है।[8]

भिक्षाटन काल में स्कन्ध और आत्र को ढांकने के लिए तथा पुष्प-फल, रज-रेणु आदि से बचाव करने के लिए पटल रखा जाता है।[9] चूहों तथा अन्य जीव-जन्तुओं, बरसात के पानी आदि से बचाव के लिए रजस्त्राण रखा जाता है।[10] पटलों का प्रमार्जन करने के लिए गोच्छग होता है।[11] इनमें पात्र-स्थापन और गोच्छग ऊन के तथा मुख-वस्त्रिका कपास की होती है।[12]

ओघनिर्युक्ति में मुखवस्त्रिका के अनेक प्रयोजन निर्दिष्ट हैं—(१) पात्र की प्रतिलेखना करने का वस्त्र, (२) बोलते समय संपातिम जीव मुंह में प्रवेश न कर जाएं, इस दृष्टि से मुंह पर रखने का वस्त्र, (३) सचित्त पृथ्वी तथा रेणुकण के प्रमार्जन के काम आने वाला वस्त्र, (४) वसति का प्रमार्जन करते समय नाक और मुंह में रजकण प्रवेश न करे, इसलिए नाक और मुंह पर बांधने का वस्त्र।[13]

---

१. (क) ओघनिर्युक्ति, गाथा ६५८ वृत्ति, पत्र २०५ :
कालानां चतुष्कं कालचतुष्कं तत्रैकः प्रादोषिकः द्वितीयोऽर्द्धरात्रिकः तृतीयो वैरात्रिक चतुर्थः प्राभातिकः काल इति, एतस्मिन् कालचतुष्के नानात्वं प्रदर्श्यते, तत्र प्रादोषिककाले सर्व एव समकं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति, शेषेषु तु त्रिषु कालेषु समकं एककालं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति विषमं वा—न युगपद्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्तीति।

(ख) वही, गाथा ६६२, ६६३ :
पाओसियं अड्ढरत्ते, उत्तरदिसि पुव्व पेहए कालं।
वेरत्तियंमि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले।।
सज्झायं काऊणं, पढमबितियासु दोसु जागरणं।
अन्नं वावि गुणंति, सुणंति झायन्ति वाऽसुद्धे।।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४० : पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे प्रथमपौरुषीलक्षणे प्रक्रमाद् दिनस्य प्रत्युपेक्ष्य 'भाण्डकं' प्राग्वद्वर्षाकल्पादि उपधिमादित्योदय-समय इति शेषः।

३. वही, पत्र ५४० : द्वितीयसूत्रे च पौरुष्याश्चतुर्थभागेऽवशिष्यमाण इति गम्यते, ततोऽयमर्थः पादोनपौरुष्यां भाजनं प्रतिलेखयेदिति सम्बन्धः।

४. वही, पत्र ५४० : स्वाध्यायादुपरतश्चेत्कालस्य प्रतिक्रम्यैव कृत्यान्तरमारब्धव्यमित्याशंक्येतात आह—अप्रतिक्रम्य कालस्य, तत्प्रतिक्रमार्थं कायोत्सर्गमविधाय, चतुर्थपौरुष्यामपि स्वाध्यायस्य विधास्यमानत्वात्।

५. ओघनिर्युक्ति गाथा ६७४ :
पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रयत्ताणं च, गोच्छओ पायनिज्जोगो।।

६. वही, गाथा ६६५ : रयमादिरक्खणट्ठा पत्तट्ठवणं जिणेहिं पन्नत्तं।

७. वही, गाथा ६६६ वृत्ति—'केसरिकाऽपि'—पात्रक-मुखवस्त्रिकाऽपि।

८. वही, गाथा ६६६ : पाय-पमज्जणहेउं, केसरिया...।

९. (क) वही, गाथा ७०१ वृत्ति—स्कन्धः पात्रकं चाच्छाद्यते यावता तत्प्रमाणं पटलानामिति।

(ख) वही, गाथा ७०२ :
'पुप्फ-फलोदय-रयरेणु-सउण-परिहार-पाय-रक्खट्ठा।
लिंगस्स य संवरणे, वेदोदयरक्खणे पडला।।'

१०. वही, गाथा ७०४ :
मूसयरजउक्केरे, वासे सिण्हा रए य रक्खट्ठा।
होंति गुणा रयताणे, पादे पादे य एक्केक्कं।।

११. वही, गाथा ६६५ :
होइ पमज्जणहेउं तु, गोच्छओ भाण-वत्थाणं।

१२. वही, गाथा ६६४ :, वृत्ति—अत्र च पात्रस्थापनकं गोच्छकश्च एते द्वे अपि ऊर्णामये वेदितव्ये, मुखवस्त्रिका खोमिया।

१३. ओघनिर्युक्ति, गाथा ७१३ :
संपातिमरयरेणुपमज्जणट्ठा वयंति मुहपोत्तिं।
नासं मुहं च बंधइ तीए वसहिं पमज्जंतो।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन प्रयोजनों के आधार पर कहा जा सकता है कि मुखवस्त्रिका एक वस्त्र खंड है, जो मुनिचर्या का एक उपकरण है।

दशवैकालिक ५।१।८३ में 'हत्थग' (हस्तक) शब्द आया है। वह भी शरीर का प्रमार्जन करने के लिए काम में आने वाला वस्त्र-खंड है। हस्तक, मुखवस्त्रिका और मुखान्तक—ये एकार्थक हैं।

### १६. ऊकडू-आसन में बैठ, वस्त्र को ऊंचा रखे (उड्ढं... वत्थं)

वृत्तिकार ने इसका संबंध शरीर और वस्त्र-दोनों से माना है। शरीर से ऊर्ध्व अर्थात् ऊकडू आसन में स्थित तथा वस्त्र से ऊर्ध्व अर्थात् वस्त्र को तिरछा फैला कर।[1] पुतों को ऊंचा रखकर पैरों के बल पर बैठना ऊकडू आसन है।

यहां 'वस्त्र' शब्द उत्तरीय आदि वस्त्र के अर्थ में प्रयुक्त है। इसके पहले २३वें श्लोक में जो वस्त्र शब्द है वह पात्र के उपकरण—पटल के अर्थ में प्रयुक्त है।[2] इन सबकी प्रतिलेखना का प्रकार एक जैसा ही है।

### १७. वस्त्र के दृष्टि से अलक्षित विभाग न करे (अणाणुबंधि)

अनुबंध का अर्थ है—निरन्तरता। जो निरंतरता से युक्त होता है वह अनुबंधि कहलाता है। जिस वस्त्र का प्रतिलेखन किया जा रहा है, उस पर निरंतरदृष्टि होनी चाहिए। अनानुबंधी का तात्पर्य है—वस्त्र का कोई भी भाग दृष्टि से अलक्षित न रहे।[3]

### १८. (श्लोक २४–२८)

२४ वें श्लोक में प्रतिलेखना के तीन अंग बतलाए हैं—

(१) प्रतिलेखना—वस्त्रों को आंखों से देखना।

(२) प्रस्फोटना—झटकाना।

(३) प्रमार्जना—प्रमार्जना करना, वस्त्र पर जीव-जन्तु हों, उन्हें हाथ में लेकर यतना-पूर्वक एकान्त में रख देना।

२५ वें श्लोक में अनर्तित आदि छह प्रकार बतलाए गए हैं। वे स्थानांग (६।४६) के अनुसार अप्रमाद-प्रतिलेखना के प्रकार हैं। इनमें 'अमोसली' शब्द मुशल से उत्पन्न है। अनाज कूटते समय मुशल जैसे ऊपर, नीचे और तिरछे में जाता है वैसे वस्त्र को नहीं ले जाना चाहिए। 'पुरिम' (पूर्व) शब्द का रूढ़ अर्थ है—'वस्त्र के दोनों ओर तीन-तीन विभाग कर उसे झटकाना।'

'खोटक' का अर्थ है—स्फोटन 'प्रमार्जन'। वे प्रत्येक पूर्व में तीन-तीन बार किए जाते हैं। इस प्रकार एक भाग में नौ खोटक होते हैं, दोनों में अठारह।

२६ वें श्लोक में आरभटा आदि छह प्रकार बतलाए हैं। वे स्थानांग (६।४५) के अनुसार प्रमाद प्रतिलेखना के प्रकार हैं। इनमें वेदिका के पांच प्रकार हैं—

(१) उर्ध्ववेदिका—दोनों जानुओं पर हाथ रखकर प्रतिलेखना करना।

(२) अधोवेदिका—दोनों जानुओं के नीचे हाथ रखकर प्रतिलेखना करना।

(३) तिर्यग्वेदिका—दोनों जानुओं के बीच में हाथ रखकर प्रतिलेखना करना।

(४) उभयवेदिका—दोनों जानुओं को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखना करना।

(५) एक वेदिका—एक जानु को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखना करना।

दृष्टि डालना, छह पूर्व करना—छह बार झटकना और अठारह खोटक करना—अठारह बार प्रमार्जन करना—इस प्रकार प्रतिलेखना के (१+६+१८) २५ प्रकार होते हैं।[4]

### १९. (श्लोक ३०)

प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य है कि जो मुनि प्रतिलेखना में प्रमत्त होता है, वह छह जीव-निकायों का विराधक होता है। वृत्तिकार ने इसकी संगति इस प्रकार बिठाई है—कोई मुनि कुंभकार शाला में ठहरा हुआ है। वह धर्मकथा में संलग्न है। वह स्वयं अध्ययनरत या दूसरों को पढ़ा रहा है और साथ ही साथ प्रतिलेखन भी कर रहा है। उसको अन्यमनस्कता के कारण कुंभकारशाला में पड़ा पानी से भरा घड़ा लुढक जाता है। उस पानी के प्रवाह में मिट्टी, अग्नि आदि के जीवों का तथा बीज, कुन्थु आदि का प्लावन हो सकता है। उससे उन जीवों की विराधना होती है। जहां अग्नि का समारम्भ होता है, वहां वायु अवश्यंभावी है। इस प्रकार छह जीवनिकायों की विराधना होती है। वह प्रमादयुक्त होने के कारण भावनात्मक रूप से भी वह विराधक ही है।[5]

प्रतिलेखना का उद्देश्य है—अहिंसा की आराधना। उस समय परस्पर संलाप आदि करना प्रतिलेखना के प्रति प्रमादयुक्त आचरण है।

आठवीं श्लोक के अनुसार प्रतिलेखना के आठ विकल्प होते हैं। उनमें पहला प्रशस्त है, शेष सभी अप्रशस्त[6]—

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४० : ऊर्ध्वं कायतो वस्त्रतश्च, तत्र कायत उत्कुटुकत्वेन स्थितत्वात्, वस्त्रतश्च तिर्यक्प्रसारितवस्त्रत्वात्, उक्तं हि—उक्कुडुतो तिरियं पेहे जह विलित्तो।

२. वही, पत्र ५४० : वस्त्रं पटलकरूपं जातावेकवचनं, पटलकप्रक्रमेऽपि सामान्यवाचकवस्त्रशब्दाभिधानं वर्षाकल्पादिप्रत्युपेक्षणायामप्ययमेव विधिरिति ख्यापनार्थम्।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४१ : अनुबन्धेन—नैरन्तर्यलक्षणेन युक्तमनुबन्धि न तथा, कोऽर्थः? अलक्ष्यमाणविभागं यथा न भवति।

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५४०-५४२।
(ख) स्थानांग, ६।४५ वृत्ति।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४२।

६. वही, पत्र ५४२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | | |
|---|---|---|---|
| (१) न्यून नहीं | अतिरिक्त नहीं | विपर्यास नहीं | प्रशस्त |
| (२) न्यून नहीं | अतिरिक्त नहीं | विपर्यास है | अप्रशस्त |
| (३) न्यून नहीं | अतिरिक्त है | विपर्यास नहीं | अप्रशस्त |
| (४) न्यून नहीं | अतिरिक्त है | विपर्यास है | अप्रशस्त |
| (५) न्यून है | अतिरिक्त नहीं | विपर्यास नहीं | अप्रशस्त |
| (६) न्यून है | अतिरिक्त नहीं | विपर्यास है | अप्रशस्त |
| (७) न्यून है | अतिरिक्त है | विपर्यास नहीं | अप्रशस्त |
| (८) न्यून है | अतिरिक्त है | विपर्यास है | अप्रशस्त |

## २०. (श्लोक ३२)

इस श्लोक में छह कारणों से मुनि को आहार करना चाहिए, ऐसा कहा गया है—

१. क्षुधा की वेदना उत्पन्न होने पर।
२. वैयावृत्य के लिए।
३. ईर्या-पथ के शोधन के लिए।
४. संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए।
५. अहिंसा के लिए।
६. धर्म-चिन्तन के लिए।

मिलाइए—ठाणं ६।४१।

मूलाचार के तीसरे कारण 'इरियट्ठाए' के स्थान पर 'किरियट्ठाए' पाठ मिलता है।[1] उसका अर्थ 'क्रिया के लिए—षडावश्यक आदि क्रिया का प्रतिलापन करने के लिए' किया गया है।[2]

यह अन्तर यदि लिपि-दोष के कारण न हुआ हो तो यही मानना होगा कि उत्तराध्ययन में प्रतिपादित तीसरे कारण से आचार्य वट्टकेर सहमत नहीं हैं। बौद्ध-ग्रन्थों में आहार लेने या करने की मर्यादा का उल्लेख करते हुए कहा गया है—भिक्खू क्रीड़ा के लिए, मद के लिए, मण्डन करने के लिए, विभूषा के लिए—आहार न करे। परन्तु शरीर को कायम रखने के लिए, रोग के उपशमन के लिए, ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए (शासन-ब्रह्मचर्य और मार्ग-ब्रह्मचर्य के लिए) इस प्रकार आहार करता हुआ मैं भूख से उत्पन्न वेदना को क्षीण करूंगा और नई वेदना को उत्पन्न नहीं करूंगा, ऐसा करने से मेरी यात्रा (संयम-यात्रा या शारीरिक यात्रा) और प्रासु विहार-चर्या भी चलती रहेगी।[3]

मुनि के आहार करने का यह (ईर्यापथ-शोधन) तीसरा उपष्टम्भ है। यदि मुनि आहार नहीं करता है तो अन्यान्य इन्द्रियों के साथ आंखें भी कमजोर हो जाती हैं। इस स्थिति में गमन-आगमन करते समय ईर्यापथ का सम्यक् शोधन नहीं कर पाता।

**वेदना (क्षुधा) शांति के लिए (वेयण)**

भूख के समान कोई कष्ट नहीं है। भूखा आदमी वैयावृत्य (सेवा) नहीं कर सकता; ईर्या का शोधन नहीं कर सकता; प्रेक्षा आदि संयम-विधियों का पालन नहीं कर सकता; उसका बल क्षीण हो जाता है; गुणन और अनुप्रेक्षा करने में वह अशक्त हो जाता है इसलिए भगवान् ने कहा है कि वेदना की शांति के लिए मुनि आहार करे।[4]

**धर्म-चिन्तन के लिए (धम्मचिंताए)**

वृत्ति में धर्म के दो अर्थ हैं—धर्मध्यान और श्रुतधर्म।[5] चार ध्यानों में धर्मध्यान प्रशस्तध्यान है। इसके आधार पर व्यक्ति शुक्लध्यान में प्रवेश कर सकता है। श्रुतधर्म का अर्थ है— ज्ञान का आराधना, आगमों की अविच्छित्ति का प्रयत्न। 'धम्मचिंता' शारीरिक बल और मनोबल के बिना नही होती। अनाहार अवस्था में मन और शरीर क्लांत हो जाते हैं। अतः मुनि धर्मचिंता के लिए आहार की गवेषणा करे।

## २१. (श्लोक ३४)

इस श्लोक में छह कारणों से आहार नहीं करना चाहिए

---

१. मूलाचार, ६।६० :
वेणयवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं।।

२. वही, ६।६० वृत्ति : क्रियार्थं षडावश्यकक्रिया मम भोजनमन्तरेण न प्रवर्तन्ते इति ताः प्रतिपालयामीति भुंक्ते।

३. विशुद्धिमार्ग १।१।३१, पाद टिप्पण ८ : पटिसंखा योनिसो पिण्डपातं पटिसेवति, नेव दवाय, न मदाय, न मण्डनाय, न विभूसनाय, यावदेव इमस्स कायस्स ठितिया यापनाय विहिंसूपरतिया ब्रह्मचर्यानुग्गहाय, इति पुराणं च वेदनं पटिहंखामि, नवं च वेदनं न उप्पादेस्सामि, यात्रा च मे भविस्सति फासुविहारो याति।

४. ओघनिर्युक्तिभाष्य, गाथा २६०, २६१ :
नत्थि छुहाए सरिसया, वेयण भुंजेज्ज तप्पसमणट्ठा।
छाओ वेयावच्चं, न तरइ काउं अओ भुंजे।।
इरियं नवि सोहेइ, पेहाईयं च संजमं काउं।
थामो वा परिहायइ, गुणणुप्पेहासु य असत्तो।।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा कहा गया है।[1]—

(१) आतंक—ज्वर आदि आकस्मिक रोग हो जाने पर।

(२) राजा आदि का उपसर्ग हो जाने पर।

(३) ब्रह्मचर्य की तितिक्षा- सुरक्षा के लिए।

(४) प्राणि-दया के लिए।

(५) तपस्या के लिए।

(६) शरीर का व्युत्सर्ग करने के लिए।

मुनि शरीर के व्युच्छेद की आकांक्षा या मृत्यु की कामना उसी स्थिति में करता है जब वह यह जान लेता कि उसका शरीर और इन्द्रियां क्षीण हो रही हैं और वह अब ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की पर्यायों के विकास में समर्थ नहीं है। वह सबसे पहले संलेखना करता है—विविध तपस्याओं से अपने शरीर और कषायों को क्षीण करता है और अन्त में अनशन करता है। समाधि मरण के लिए मृत्यु की आकांक्षा काम्य है।

## २२. सब भाण्डोपकरणों को ग्रहण कर (अवसेसं भंडगं गिज्झा)

मुनि जब भिक्षा के लिए जाए तब अपने सब उपकरणों को साथ ले जाए—यह 'औत्सर्गिक विधि' है। यदि सब उपकरणों को साथ ले जाने में असमर्थ हो तो आचार-भण्डक लेकर जाए—यह 'आपवादिक विधि' है।

निम्नलिखित छह आचार-भण्डक कहलाते हैं—

(१) पात्र

(२) पटल

(३) रजोहरण

(४) दण्डक

(५) दो कल्प—एक ऊनी और एक सूती पछेवड़ी

(६) मात्रक।[2]

इस श्लोक का निर्युक्ति व भाष्य-काल में जो अर्थ था वह टीका-काल में बदल गया।

शान्त्याचार्य ने अवशेष का अर्थ केवल 'पात्रोपकरण' किया है। वैकल्पिक रूप में अवशेष का अर्थ 'समस्त उपकरण' भी किया है किन्तु उन्हें भिक्षा में साथ ले जाना चाहिए, इसकी मुख्य रूप से चर्चा नहीं की है।[3]

## २३. प्रदेश तक (विहारं)

शान्त्याचार्य ने विहार का अर्थ 'प्रदेश' किया है।[4] व्यवहार-भाष्य की वृत्ति में विहार-भूमि का अर्थ 'भिक्षा-भूमि' मिलता है।[5] 'विहारं विहारए'—इसका अर्थ है—'भिक्षा के निमित्त पर्यटन करे।'

## २४. सर्व भावों को प्रकाशित करने वाला (सव्वभावविभावणं)

स्वाध्याय से इन्द्रियगम्य और अतीन्द्रिगम्य—दोनों विषयों का बोध मिलता है। इसलिए उसे 'सर्वभावविभावन'—जीव आदि सभी तत्त्वों को प्रकाशित करने वाला—किया है। आत्मा, धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य अमूर्त्त हैं। इन्द्रियज्ञानी उन्हें नहीं जान सकता। आगमों का स्वाध्याय करने वाला उन अतीन्द्रिय द्रव्यों को भी जान लेता है। नंदी सूत्र में श्रुतज्ञान का विषय सर्व द्रव्य कहा गया है।[6]

## २५. दैवसिक (देसियं)

यहां 'वकार' का लोप किया गया है। इसका संस्कृत रूप है—दैवसिक और अर्थ है—दिन से संबंधित।

## २६. स्तुति मंगल (थुलमंगलं)

स्तुतिमंगल का अर्थ है—सिद्धों का स्तवन।

देखें—श्लोक ५१ का टिप्पण।

## २७. कौन सा तप ग्रहण करूं (किं तवं पडिवज्जामि)

कायोत्सर्ग में स्थिति मुनि सोचे कि मैं कौनसा तप ग्रहण करूं? भगवान् वर्द्धमान ने छह मास की तपस्या की। क्या मैं भी इतनी दीर्घ तपस्या करने में समर्थ हूं अथवा नहीं? यह सोचते-सोचते एक-एक दिन करते-करते अन्त में उस स्थिति तक पहुंच जाए कि मैं कम से कम एक प्रहर या एक नवकारसी का तप तो अवश्य ही करूं।

## २८. सिद्धों का संस्तव (सिद्धाण संथवं)

प्रतिक्रमण की परिसमाप्ति पर तीन बार 'णमोत्थुणं' कहने की विधि है। वृत्तिकार ने 'स्तुतित्रय' का उल्लेख किया है। प्रचलित विधि में पहली स्तुति सिद्ध की, दूसरी अर्हत् की और तीसरी आचार्य की की जाती है। श्रीमज्जयाचार्य ने भी आचार्य की स्तुति को मान्य किया है।

---

१. मिलाइए—ठाणं ६।४२; ओघनिर्युक्तिभाष्य, गाथा २६३, २६४।

२. ओघनिर्युक्तिभाष्य, गाथा २२७ और वृत्ति : सव्वोवगरणमाया, असहू आयारभडगेण सह।
तत्रोत्सर्गतः सर्वमुपकरणमादाय भिक्षागवेषणां करोति, अथासौ सर्वेण गृहीतेन भिक्षामटितुमसमर्थस्तत आचारभण्डकेन समं, आचारभण्डकं—पात्रकं पटलानि रजोहरणं दण्डकः कल्पद्वयं—और्णिकः क्षौमिकश्च मात्रकं च, एतद्गृहीत्वा याति।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४४ : 'अवशेषं' भिक्षाप्रक्रमात्पात्रनियोगोद्धरितं, च शब्दस्य गम्यमानत्वादवशेषं च पात्रनियोगमेव, यद्वाऽपगतं शेषमपेशषं, कोऽर्थः?—समस्तं, भाण्डकम् उपकरणं 'गिज्झ' त्ति गृहीत्वा चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत, उपलक्षणत्वात्प्रतिलेखयेच्च, इह च विशेषत इति गम्यते, सामान्यतो ह्यप्रत्युपेक्षितस्य ग्रहणमपि न युज्यत एव यतीनाम्, उपलक्षणत्वाच्चास्य तदादायः।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४४ : विहरन्त्यस्मिन् प्रदेश इति विहारस्तम्।

५. व्यवहारभाष्य, ४।४० और वृत्ति :
महती वियारभूमी, विहारभूमी य सुलभवित्ती य।
सुलभा वसही य जहिं, जहण्णयं वासखेत्तं तु।।
—यत्र च महती विहारभूमिर्भिक्षानिमित्तं परिभ्रमणभूमिः.....।

६. नंदी, सूत्र १२७ : दव्वओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# सत्तावीसइमं अज्झयणं

## खलुंकिज्जं

# सत्तावीसवां अध्ययन

## खलुंकीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में खलुंक (दुष्ट बैल) की उद्दण्डता के माध्यम से अविनीत की उद्दण्डता का चित्रण किया गया है, इसलिए इसका नाम 'खलुंकिज्जं'—'खलुंकीय' है।

इस आगम-ग्रन्थ के प्रथम अध्ययन में विनीत और अविनीत के स्वरूप की व्याख्या की गई है। विनीत को पग-पग पर सम्पत्ति मिलती है और अविनीत को विपत्ति। अनुशासन विनय का एक अंग है। भगवान् महावीर के शासन में अनुशासन की शिक्षा-दीक्षा का बहुत महत्त्व रहा है। आत्मानुशासन अध्यात्म का पहला सोपान है। जो आत्म-शासित है, वही मोक्ष-मार्ग के योग्य है। जो शिष्य अनुशासन की अवहेलना करता है, उसका न इहलोक सधता है और न परलोक।

आंतरिक अनुशासन में प्रवीण व्यक्ति ही बाह्य अनुशासन को क्रियान्वित कर सकता है। जिसकी आंतरिक वृत्तियां अनुशासित हैं उसके लिए बाह्य अनुशासन, चाहे फिर वह कितना ही कठोर क्यों न हो, सरल हो जाता है।

यह अध्ययन प्रथम अध्ययन का ही पूरक अंश है। इसमें अविनीत शिष्य के अविनय का यथार्थ चित्रण किया गया है और उसकी 'खलुंक' (दुष्ट बैल) से तुलना की गई है—

"दुष्ट बैल शकट और स्वामी का नाश कर देता है, यत्किंचित् देख कर संत्रस्त हो जाता है, जुए और चाबुक को तोड़ डालता है और विपथगामी हो जाता है।"[1]

"अविनीत शिष्य खलुंक जैसा होता है। वह दंश-मशक की तरह कष्ट देने वाला, जलौक की तरह गुरु के दोष ग्रहण करने वाला, वृश्चिक की तरह वचन-कण्टकों से बींधने वाला, असहिष्णु, आलसी और गुरु के कथन को न मानने वाला होता है।"[2]

"वह गुरु का प्रत्यनीक, चारित्र में दोष लगाने वाला, असमाधि उत्पन्न करने वाला और कलह करने वाला होता है।"[3]

"वह पिशुन, दूसरों को तपाने वाला, रहस्य का उद्घाटन करने वाला, दूसरों का तिरस्कार करने वाला, श्रमण-धर्म से खिन्न होने वाला और मायावी होता है।"[4]

स्थविर गणधर गार्ग्य मृदु, समाधि-सम्पन्न और आचारवान् गणी थे। जब उन्होंने देखा कि उनके सारे शिष्य अविनीत, उद्दण्ड और उच्छृंखल हो गए, तब आत्म-भाव से प्रेरित हो, शिष्य-समुदाय को छोड़, वे अकेले हो गए। आत्म-निष्ठ मुनि के लिए यही कर्त्तव्य है। जो शिष्य-सम्पदा समाधि में सहायक होती है वही गुरु के लिए आदेय है, अनुशासनीय है और जो समाधि में बाधक बनती है वह त्याज्य है, अवांछनीय है।

सामुदायिक साधना की समृद्धि के लिए है। वह लक्ष्य की पूर्ति के लिए सहायक हो तो उसे अंगीकार किया जाता है और यदि वह बाधक बनने लगे तो साधक स्वयं अपने को उससे मुक्त कर लेता है। यह तथ्य सदा से मान्य रहा है। यह अध्ययन उसी परम्परा की ओर संकेत करता है।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४८६ :
अवदाली उत्तसओ जोत्तजुगभंज तुत्तभंजो अ।
उप्पहविप्पहगामी एए खलुंका भवे गोणा।।

२. वही, गाथा ४६२ :
दंसमसगस्समाणा जलुयकविच्छुयसमा य जे हुंति।
ते किर होंति खलुंका तिक्खम्मिउचंडमद्दविआ।।

३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४६३ :
जे किर गुरुपडिणीआ सबला असमाहिकारगा पावा।
अहिगरणकारगऽप्पा जिणवयणे ते किर खलुंका।।

४. वही, गाथा ४६४ :
पिसुणा परोवतावी भिन्नरहस्सा परं परिभवंति।
निव्विअणिज्जा य सढा जिणवयणे ते किर खलुंका।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# सत्तावीसइमं अज्झयणं : सत्तावीसवां अध्ययन
## खलुंकिज्जं : खलुंकीय

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. थेरे गणहरे गग्गे<br>मुणी आसि विसारए।<br>आइण्णे गणिभावम्मि<br>समाहिं पडिसंधए।। | *स्थविरो गणधरो गार्ग्यः,*<br>*मुनिरासीद् विशारदः।*<br>*आकीर्णो गणिभावे*<br>*समाधिं प्रतिसंधत्ते।।* | एक गर्गगोत्रीय[1] मुनि हुआ। वह स्थविर,[2] गणधर[3] और शास्त्र-विशारद[4] था। वह गुणों से आकीर्ण, गणी पद पर स्थित[5] होकर समाधि का प्रतिसंधान करता था।[6] |
| २. वहणे वहमाणस्स<br>कंतारं अइवत्तई।<br>जोए वहमाणस्स<br>संसारो अइवत्तई।। | *वहने वहमानस्य*<br>*कांतारमतिवर्तते।*<br>*योगे वहमानस्य*<br>*संसारोऽतिवर्तते।।* | वाहन को वहन करते हुए बैल के अरण्य स्वयं उल्लंघित हो जाता है। वैसे ही योग के वहन करते हुए मुनि के संसार स्वयं उल्लंघित हो जाता है। |
| ३. खलुंके जो उ जोएइ<br>विहम्माणो किलिस्सई।<br>असमाहिं च वेएइ<br>तोत्तओ य से भज्जई।। | *खलुंकान् यस्तु योजयति*<br>*विधनन् क्लिश्यति।*<br>*असमाधिं च वेदयति*<br>*तोत्रकं च तस्य भज्यते।।* | जो अयोग्य बैलों को[7] जोतता है, वह उनको आहत करता हुआ[8] क्लेश पाता है। उसे असमाधि का संवेदन होता है और उसका चाबुक टूट जाता है। |
| ४. एगं डसइ पुच्छंमि<br>एगं विंधइऽभिक्खणं।<br>एगो भंजइ समिलं<br>एगो उप्पहपट्ठिओ।। | *एकं दशति पुच्छे*<br>*एकं विध्यत्यभीक्ष्णम्।*<br>*एको भनक्ति 'समिलं'*<br>*एक उत्पथप्रस्थितः।।* | वह क्रुद्ध हुआ वाहक किसी एक की पूंछ को काट देता है[9] और किसी एक को बार-बार बींधता है।[10] तब कोई अयोग्य बैल जुए की कील को तोड़ देता है और कोई उत्पथ में प्रस्थान कर जाता है। |
| ५. एगो पडइ पासेणं<br>निवेसइ निवज्जई।<br>उक्कुद्दइ उप्फिडई<br>सढे बालगवी वए।। | *एकः पतति पार्श्वेन*<br>*निविशति निपद्यते।*<br>*उत्कूर्दते उत्प्लवते*<br>*शठः बालगवीं व्रजेत्।।* | कोई एक पार्श्व से गिर पड़ता है, कोई बैठ जाता है तो कोई लेट जाता है। कोई कूदता है, कोई उछलता है[11] तो कोई शठ तरुण गाय की ओर[12] भाग जाता है। |
| ६. माई मुद्धेण पडइ<br>कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं<br>मयलक्खेण चिट्ठई<br>वेगेण य पहावई।। | *मायी मूर्ध्ना पतति*<br>*क्रुद्धो गच्छति प्रतिपथम्।*<br>*मृतलक्षेण तिष्ठति*<br>*वेगेन च प्रधावति।।* | कोई धूर्त्त बैल शिर को निढ़ाल बना कर लुट जाता है तो कोई क्रुद्ध होकर पीछे की ओर चलता है। कोई मृतक-सा बन कर गिर जाता है तो कोई वेग से दौड़ता है। |
| ७. छिन्नाले छिंदइ सेल्लिं<br>दुद्दंतो भंजए जुगं।<br>से वि य सुस्सुयाइत्ता<br>उज्जाहित्ता पलायए।। | *'छिन्नाले' छिनत्ति 'सेल्लिं'*<br>*दुर्दान्तो भनक्ति युगम्।*<br>*सोऽपि च सूत्कृत्य*<br>*उच्चाय (उद्+हाय) पलायते।।* | छिनाल[13] वृषभ रास को[14] छिन्न-भिन्न कर देता है, दुर्दान्त होकर जुए को तोड़ देता है और सों-सों कर वाहन को छोड़ कर भाग जाता है। |
| ८. खलुंका जारिसा जोज्जा<br>दुस्सीसा वि हु तारिसा।<br>जोइया धम्मजाणम्मि<br>भज्जंति धिइदुब्बला।। | *खलुंका यादृशा योज्याः*<br>*दुःशिष्या अपि खलु तादृशाः।*<br>*योजिता धर्मयाने*<br>*भञ्जन्ति धृतिदुर्बलाः।।* | जुते हुए अयोग्य बैल जैसे वाहन को भग्न कर देते हैं, वैसे ही दुर्बल धृति वाले शिष्यों को धर्म-यान में जोत दिया जाता है तो वे उसे भग्न कर डालते हैं। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. इड्ढीगारविए एगे
एगेऽत्थ रसगारवे।
सायागारविए एगे
एगे सुचिरकोहणे।।

*ऋद्धिगौरविक एकः*
*एकोत्र रसगौरवः।*
*सातगौरविक एकः*
*एकः सुचिरक्रोधनः।।*

कोई शिष्य ऋद्धि का गौरव करता है तो कोई रस का गौरव करता है, कोई साता—सुखों का गौरव करता है तो कोई चिर-काल तक क्रोध रखने वाला है।[१५]

१०. भिक्खालसिए एगे
एगे ओमाणभीरुए थद्धे।
एगं च अणुसासम्मी
हेऊहिं कारणेहि य।।

*भिक्षालस्यिक एकः*
*एकोऽवमानभीरुकः स्तब्धः।*
*एकं च अनुशास्ति*
*हेतुभिः कारणैश्च।।*

कोई[१६] भिक्षाचारी में आलस्य करता है तो कोई अपमान-भीरू[१७] और अहंकारी है। किसी को गुरु हेतुओं व कारणों द्वारा अनुशासित करते हैं[१८]—

११. सो वि अंतरभासिल्लो
दोसमेव पकुव्वई।
आयरियाणं तं वयणं
पडिकूलेइ अभिक्खणं।।

*सोप्यन्तरभाषावान्*
*दोषमेव प्रकरोति।*
*आचार्यणां तद् वचनं*
*प्रतिकूलयत्यभीक्ष्णम्।।*

तब वह बीच में बोल उठता है, मन में द्वेष ही[१९] प्रकट करता है तथा बार-बार आचार्य के वचनों के प्रतिकूल आचरण करता है।

१२. न सा ममं वियाणाइ
न वि सा मज्झ दाहिई।
निग्गया होहिई मन्ने
साहू अन्नोऽत्थ वच्चउ।।

*न सा मां विजानाति*
*नापि सा मह्यं दास्यति।*
*निर्गता भविष्यति मन्ये*
*साधुरन्योऽत्र व्रजतु।।*

(गुरु प्रयोजनवश किसी श्राविका से कोई वस्तु लाने को कहे, तब वह कहता है) वह मुझे नहीं जानती, वह मुझे नहीं देगी, मैं जानता हूं, वह घर से बाहर गई होगी। इस कार्य के लिए मैं ही क्यों, कोई दूसरा साधु चला जाए।

१३. पेसिया पलिउंचंति
ते परियंति समंतओ।
रायवेट्ठिं व मन्नंता
करेंति भिउहिं मुहे।।

*प्रेषिताः परिकुंचन्ति*
*ते परियन्ति समन्ततः।*
*राजवेष्टिमिव मन्यमानाः*
*कुर्वन्ति भृकुटिं मुखे।।*

किसी कार्य के लिए उन्हें भेजा जाता है और वह कार्य किए बिना ही लौट आते हैं। पूछने पर कहते हैं—उस कार्य के लिए आपने हमसे कब कहा था?[२०] वे चारों ओर घमते हैं किन्तु गुरु के पास नहीं बैठते। कभी गुरु का कहा कोई काम करते हैं तो उसे राजा की बेगार[२१] की भांति मानते हुए मुंह पर भृकुटि तान लेते हैं—मुंह को मचोट लेते हैं।

१४. वाइया संगहिया चेव
भत्तपाणे य पोसिया।
जायपक्खा जहा हंसा
पक्कमंति दिसोदिसिं।।

*वाचिताः संगृहीताश्चैव*
*भक्तपानेन च पोषिताः।*
*जातपक्षा यथा हंसाः*
*प्रक्रामन्ति दिशो दिशम्।।*

(आचार्य सोचते हैं) मैंने उन्हें पढ़ाया, संगृहीत (दीक्षित) किया, भक्त-पान से पोषित किया, किन्तु कुछ योग्य बनने पर ये वैसे ही बन गए हैं, जैसे पंख आने पर हंस विभिन्न दिशाओं में प्रक्रमण कर जाते हैं—दूर-दूर उड़ जाते हैं।

१५. अह सारही विचिंतेइ
खलुकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं
अप्पा मे अवसीयई।।

*अथ सारथिर्विचिन्तयति*
*खलुंकैः श्रमागतः।*
*किं मम दुष्टशिष्यैः*
*आत्मा मेऽवसीदति।।*

कुशिष्यों द्वारा खिन्न होकर[२२] सारथि (आचार्य)[२३] सोचते हैं—इन दुष्ट शिष्यों से मुझे क्या? इनके संसर्ग से मेरी आत्मा अवसन्न—व्याकुल होती है।

१६. जारिसा मम सीसाउ
तारिसा गलिगद्दहा।
गलिगद्दहे चइत्ताणं
दढं परिगिण्हइ तवं।।

*यादृशा मम शिष्यास्तु*
*तादृशा गलिगर्दभाः।*
*गलिगर्दभान् त्यक्त्वा*
*दृढं परिगृह्णाति तपः।।*

जैसे मेरे शिष्य हैं वैसे ही गली-गर्दभ[२४] होते हैं। इन गली-गर्दभों को छोड़ कर गर्गाचार्य ने दृढ़ता के साथ तपःमार्ग को अंगीकार किया।

१७. मिउ मद्दवसंपन्ने
गंभीरे सुसमाहिए।
विहरइ महिं महप्पा
सीलभूएण अप्पणा।।

*मृदुमार्दवसम्पन्नो*
*गम्भीरः सुसमाहितः।*
*विहरति महीं महात्मा*
*शीलभूतेनात्मना।।*

वह मृदु और मार्दव[२५] से सम्पन्न गम्भीर और सुसमाहित महात्मा शील-सम्पन्न होकर पृथ्वी पर विचरने लगा।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण

# अध्ययन २७ : खलुंकीय

### १. गर्गगोत्रीय (गग्गे)

इसके दो संस्कृत रूप हैं—गर्ग और गार्ग्य। गर्ग व्यक्तिवाची शब्द है और गार्ग्य गोत्र सम्बन्धी। शान्त्याचार्य ने इसका संस्कृत रूप गार्ग्य देकर इसका अर्थ 'गर्गसगोत्रः' किया है। नेमिचन्द्र ने इसे 'गर्ग' शब्द मानकर 'गर्गनामा' ऐसा अर्थ किया है।[1] स्थानांग सूत्र में गौतम-गोत्र के अन्तर्गत गर्ग-गोत्र का उल्लेख हुआ है।[2] इसलिए शान्त्याचार्य वाला अर्थ ही संगत लगता है। सरपेन्टियर ने लिखा है—यह गर्ग शब्द अति प्राचीन है और वैदिक-साहित्य में इसका प्रयोग हुआ है। इसके निकट के शब्द गार्गी और गार्ग्य भी ब्राह्मण युग में सुविदित रहे। संभव है उस समय में गर्ग नाम वाला कोई ब्राह्मण मुनि रहा हो और जैनों ने उस नाम का अनुकरण कर अपने साहित्य में उसका प्रयोग किया हो। उत्तराध्ययन में आए हुए 'कपिल' आदि शब्द के विषय में भी ऐसा ही हुआ है।[3] किन्तु ब्राह्मण लोग जैन-शासन में प्रव्रजित होते थे इसलिए ब्राह्मण मुनि के नाम का अनुकरण कर यह अध्ययन लिखा गया। इस अनुमान के लिए कोई पुष्ट आधार प्राप्त नहीं है।

### २. स्थविर (थेरे)

शान्त्याचार्य ने 'थिरकरणा पुण थेरो' के आधार पर इसका अर्थ 'धर्म में अस्थिर व्यक्तियों को स्थिर करने वाला' किया है।[4] दशवैकालिक (६।४।१) की चूर्णि में स्थविर का अर्थ 'गणधर' किया गया है।[5] परन्तु यहां वह अर्थ नहीं है क्योंकि इसका अगला शब्द 'गणहरे' है। साधारणतः जो मुनि प्रव्रज्या और वय में वृद्ध होते हैं उन्हें 'स्थविर' कहा जाता है। मुनि के लिए 'स्थविर कल्प' नामक आचार विशेष का भी उल्लेख आया है जिसका अर्थ है 'गच्छ में रहने वाले मुनियों का आचार।'

### ३. गणधर (गणहरे)

इसके प्रमुख अर्थ दो हैं—तीर्थंकर के प्रमुख शिष्य और अनुपम ज्ञान आदि के धारक आचार्य।[6]

### ४. विशारद (विसारए)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—उपकरणों का संग्रह और परस्पर उपग्रह करने में कुशल व्यक्ति।[7]

वृहद्वृत्ति में इसका मूल अर्थ है—सभी शास्त्रों में कुशल, बहुश्रुत तथा वैकल्पिक अर्थ चूर्णि के समान है।[8]

### ५. वह गुणों से आकीर्ण, गणीपद पर स्थित (आइण्णे गणिभावम्मि)

चूर्णिकार ने 'आइण्णे गणिभावम्मि' का समन्वित अर्थ किया है—गणिभाव के प्रति आकीर्ण। तात्पर्यार्थ में—आचार्य के गुणों से युक्त।[9]

वृत्तिकार ने दोनों को स्वतंत्र मानकर आकीर्ण का अर्थ—आचारसंपदा, श्रुतसंपदा आदि आचार्य गुणों से परिपूर्ण किया है तथा गणिभाव का अर्थ—आचार्य के रूप में अवस्थित किया है।[10]

### ६. प्रतिसंधान करता था (पडिसंधए)

शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'कर्मोदयसे नष्ट हुई अविनीत शिष्यों की समाधि का पुनः संधान करना—जोड़ना'[11] और नेमिचंद्र ने शिष्यों द्वारा तोड़ी गई समाधि का पुनः अपने आप में संधान करना किया है।[12] इस अध्ययन की दृष्टि से दोनों अर्थ उचित हैं।

### ७. अयोग्य बैलों को (खलुंके)

'खलुंक' और 'खुलुंक'—ये दोनों रूप प्रचलित हैं। नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'दुष्ट बैल' किया है।[13] स्थानांग वृत्ति

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५५० : 'गार्ग्यः' गर्गसगोत्रः।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३१६ : गर्गः गर्गनामा।

२. ठाणं ७।३२ : जे गोयमा ते सत्तविधा पं.तं.—ते गोयमा, ते गग्गा, ते भारद्दा, ते अंगिरसा, ते सक्कराभा, ते भक्खराभा, ते उदत्ताभा।

३. The Uttaradhyayana Sutra, p 372.

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५०।

५. अगस्त्यचूर्णि : थेरो पुण गणहरो।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५० : गणं—गुणसमूहं धारयति—आत्मन्यवस्थापयतीति गणधरः।

७. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २७० : विशारदहेतोः, संग्रहोपग्रहकुशलः इत्यर्थः।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५० : विशारदः—कुशलः सर्वशास्त्रेषु संग्रहोपग्रहयोर्वा।

९. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २७० : गणिभावं प्रति आकीर्णः।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५० : आकीर्णः—आचार्यगुणैराचारश्रुतसम्पदादिभिर्व्याप्तः परिपूर्ण इति यावत्, गणिभावे—आचार्यत्वे स्थित इति गम्यते।

११. वही, पत्र ५५० : प्रतिसंधत्ते कर्मोदयात् त्रुटितमपि संघट्टयति, तथाविधशिष्याणामिति गम्यते।

१२. सुखबोधा, पत्र ३१६ : प्रतिसंधत्ते कुशिष्यैस्त्रोटितमपि संघट्टयति आत्मन इति गम्यते।

१३. वही, पत्र ३१६ : खलुंकान् गलिवृषभान्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में भी खलुंक का अर्थ 'अविनीत' किया गया है।[1] खलुंक का अर्थ 'घोड़ा' भी होता है।[2]

सरपेन्टियर ने लिखा है---संभव है यह शब्द 'खल' से संबंधित रहा हो और प्रारम्भ में 'खल' शब्द के भी ये ही--- वक्र, दुष्ट आदि अर्थ रहे हों। परन्तु इसकी प्रामाणिक व्युत्पत्ति अज्ञात ही है। अनुमानतः यह शब्द 'खलोक्ष' का निकटवर्ती रहा है। जैसे---खल-विहग का दुष्ट पक्षी के अर्थ में प्रयोग होता है, वैसे ही खल-उक्ष का दुष्ट बैल के अर्थ में प्रयोग हुआ हो।[3]

'खलुंक' शब्द के अनेक अर्थ निर्युक्ति की गाथाओं (४८६-४६४) में मिलते हैं—

(१) जो बैल अपने जुए को तोड़कर उत्पथगामी हो जाते हैं, उन्हें खलुंक कहा जाता है---यह गाथा ४८६ का भावार्थ है।

(२) ४६० वीं गाथा में खलुंक का अर्थ वक्र, कुटिल, जो नमाया नहीं जा सकता आदि किया गया है।

(३) ४६१ वीं गाथा में हाथी के अंकुश, करमंदी, गुल्म की लकड़ी और तालवृन्त के पंखे आदि को खलुंक कहा गया है।

(४) ४६२ वीं गाथा में दंस, मशक, जोंक आदि को खलुंक कहा गया है।

(५) ४६३ और ४६५ वीं गाथाओं में गुरु के प्रत्यनीक, शबल, असमाधिकर, पिशुन, दूसरों को संतप्त करने वाले अविश्वस्त शिष्यों को खलुंक कहा गया है।[4]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दुष्ट, वक्र आदि के अर्थ में 'खलुंक' शब्द का प्रयोग होता है। जब यह मनुष्य या पशु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है तब इसका अर्थ होता है—दुष्ट मनुष्य या पशु, अविनीत मनुष्य या पशु और जब यह लता, गुल्म, वृक्ष आदि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है, तब इसका अर्थ वक्र लता या वृक्ष, ठूंठ, गांठों वाली लकड़ी या वृक्ष होता है।

## ८. आहत करता हुआ (विहम्माणो)

शान्त्याचार्य ने इसका संस्कृत रूप 'विघ्नन्'[5], नेमिचन्द ने 'विध्यमान'[6] और सरपेन्टियर ने 'विधूयमान'[7] किया है। उन्होंने टिप्पण करते हुए इस शब्द के स्थान पर 'विहम्ममाण' शब्द को स्वीकार करने का मत प्रगट किया है। 'हन्' धातु का 'हम्मइ' रूप बनता है। 'विहम्माण' को आर्षप्रयोग मानकर उसका संस्कृत रूप 'विघ्नन्' किया जा सकता है। जेकोबी ने भी यही अर्थ दिया है।[8]

## ९. (एगं डसइ पुच्छंमि)

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका सम्बन्ध क्रुद्ध गाड़ी-वाहक—सारथि से किया है।[9] परन्तु प्रकरण की दृष्टि से यह संगत नहीं लगता। डॉ. हरमन जेकोबी ने इसका सम्बन्ध दुष्ट बैल के साथ जोड़ा है।[10] क्योंकि अगला सारा प्रकरण बैलों से सम्बन्धित है। अतः यह ठीक है।

## १०. बींधता है (विंधइ)

इसका संस्कृत रूप है 'विध्यति'। सरपेन्टियर ने इस शब्द के स्थान पर 'छिंदइ, भिंदइ' मानने का मत प्रगट किया है।[11] यह अनावश्यक लगता है। 'विंधइ' शब्द ही यहां ठीक है। क्योंकि जब बैल आपस में लड़ते हैं, तब वे एक दूसरे के सींगों से बींधते हैं।

## ११. उछलता है (उप्फिडई)

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार 'भ्रंश' धातु को 'फिड' आदेश होता है।[12] शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'मण्डूकवत् प्लवते' मंडूक की तरह फुदकना—किया है।[13] स्खलित होना और फुदकना—ये दोनों अर्थ भिन्न अपेक्षाओं से यहां संगत हो सकते हैं।

## १२. तरुण गाय की ओर (बालगवी)

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) युवा गाय और (२) दुष्ट बैल।[14] प्रथम अर्थ संगत लगता है।

## १३. छिनाल (छिन्नाले)

'छिन्नाले' का अर्थ है 'जार'। भारतवर्ष में घोड़ा-गाड़ी-वाहक इसका बहुधा प्रयोग करते हैं यह गाली वाचक शब्द है। इसका स्त्रीलिंग में भी प्रयोग होता है, यथा—छिनाली, छिनाल स्त्री, छिन्ना आदि।[15] पुंश्चली को छिनाल कहते हैं।

छिनालिया-पुत्र की संस्कृत छाया 'पुंश्चलिपुत्रक' दी है—ऐसा सरपेन्टियर ने लिखा है।[16] टीकाकार इसका अर्थ 'तथाविधदुष्टजातिः' करते हैं।[17]

## १४. रास को (सेल्लिं)

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है 'रज्जु'।[18] सम्भव है इस शब्द का संबन्ध अपभ्रंश शब्द 'सेल्लु' से हो, जिसका

---

१. ठाणं, ४।४६८ वृत्ति, पत्र २३८ : खलुंको—गलिरविनीतः

२. अभिधानप्पदीपिका, ३७० : घोटको, (तु) खलुंको (थ)।

३. The Uttaradhyayana Sutra, p. 372

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४८-५५०।

५. वही, पत्र ५५० : विहंमाणो त्ति सूत्रत्वाद् विशेषेण 'घ्नन्' ताडयन्।

६. सुखबोधा, पत्र ३१६ : विहम्माणो त्ति सूत्रत्वाद् 'विध्यमानः' ताडयन्।

७. दी उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० ३७३।

८. दी सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, vol. XLV, उत्तराध्ययन, पृ० १५०।

९. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५५१।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३१७।

१०. The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttaradhyayana p. 150, Foot note 2

११. दी उत्तराध्ययन सूत्र, पृष्ठ ३७३।

१२. हेमशब्दानुशासन, ८।४।१७७ : भ्रंशेः फिड-फिट्ट, फुड-फुट्ट चुक्क-चुल्ला।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५१ : उप्फिउइ त्ति मण्डूकवत् प्लवते।

१४. वही, पत्र ५५१ :
(क) 'बालगवी वए' त्ति 'बालगवीम्' अवृद्धां गाम्।
(ख) यदिवा ऽार्षत्वाद्बालगवीति व्यागवो—दुष्टबलीवर्दः।

१५. देशीनाममाला, ३।२७।

१६. The Uttaradhyayana Sutra, p.373.

१७. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५१ : 'छिन्नालः' तथाविधदुष्टजातिः।

१८. वही, पत्र ५५१ : 'सिल्लिं' ति रश्मिं संयमनरज्जुमिति यावत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख हेमचन्द्राचार्य ने प्राकृत-व्याकरण (४।३८७) में किया है। पिशल ने 'सेल्लु' का अर्थ हल किया है। सरपेन्टियर ने इस अर्थ के आधार पर यह अनुमान किया है कि यह हल का कोई भाग होना चाहिए।[1] देशीनाममाला में 'सेल्लु' के दो अर्थ किए हैं—(१) मृगशिशु और (२) बाण।[2]

## १५. (श्लोक ९)

प्रस्तुत श्लोक में तीन गौरवों का उल्लेख है। गौरव का अर्थ है—अभिमान से उत्तप्त चित्त की अवस्था। वृत्तिकार ने इनका विस्तृत वर्णन किया है। ऐश्वर्य या ऋद्धि का अहं करने वाला शिष्य सोचता है—अनेक धनाढ्य व्यक्ति मेरे श्रावक हैं। वे मुझे यथेष्ट उपकरण आदि लाकर देते हैं। मेरे समान सौभाग्यशाली दूसरा कौन है? यह सोचकर वह गुरु की सेवा-शुश्रूषा में प्रवर्तित नहीं होता। रस गौरव का अर्थ है—जीभ का लोलुप। रस-लोलुप शिष्य बाल, ग्लान आदि को उपयुक्त आहार आदि नहीं देता। वह स्वयं तपस्या भी नहीं करता। सात-गौरव व्यक्ति निरंतर सुख-सुविधाओं में प्रतिबद्ध रहता है। वह अप्रतिबद्ध विहारी नहीं हो सकता। उसे सुख-सुविधा से वंचित हो जाने का भय बना रहता है।[3]

## १६. (श्लोक १०)

डॉ० हरमन जेकोबी ने इस श्लोक के विषय में यह अनुमान किया है कि मूलतः यह श्लोक 'आर्या' छन्द में था परन्तु कालान्तर में इसे 'अनुष्टुप् छन्द' में बदलने का प्रयत्न किया गया।[4] टीकाओं में इस विषयक कोई उल्लेख नहीं है।

## १७. अपमान-भीरू (ओमाणभीरुए)

इसका तात्पर्य है कि जिस किसी के घर में वह भिक्षा के लिए नहीं जाता क्योंकि उसे प्रतिपल अपमानित होने का भय रहता है।[5] शान्त्याचार्य ने 'ओमाणभीरुए' का वैकल्पिक अर्थ 'प्रवेश-भीरु' किया है।[6] ओमाण एक अर्थ अलाभ भी किया जा सकता है।

## १८. अनुशासित करते हैं (अणुसासम्मी)

कई प्रतियों में 'अणुससम्मि' पाठ मिलता है। जेकोबी ने इस पाठ का समर्थन किया है।[7] डॉ० पिशेल ने जेकोबी के मत को भ्रामक कहा है।[8] नेमिचन्द्र इसका संस्कृत रूप 'अनुशास्मि' देते हैं।[9] शान्त्याचार्य ने इसके संस्कृत रूप दो माने हैं—अनुशास्ति और अनुशास्मि।[10] 'अनुशास्ति' रूप प्रकरण संगत लगता है।

## १९. द्वेष ही (दोसमेव)

'दोस' शब्द के दो अर्थ होते हैं—द्वेष और दोष। चूर्णिकार ने 'दोस' का अर्थ 'दोष'[11] तथा वृत्तिकार ने 'अपराध' किया है।[12]

## २०. (पलिउंचंति)

इसका तात्पर्यार्थ समझाते हुए शान्त्याचार्य ने लिखा है कि आदेश के अनुसार कार्य न होने पर गुरु अपने शिष्य को इसका कारण पूछते हैं तब शिष्य कहता है—"आपने हमें इस कार्य के लिए कब कहा था?" अथवा वह यों कह देता है—"हम वहां गए थे परन्तु वह वहां नहीं मिली।" यह अपलाप करना है।[13] डॉ० हरमन जेकोबी ने इस अर्थ को मान्य नहीं किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ है 'आदेशानुसार कार्य नहीं किया।'[14] मूल धातु को देखते हुए परिकुंच का अर्थ मायापूर्ण प्रयोग या अपलाप ही होना चाहिए।

## २१. राजा की बेगार (रायवेट्ठिं)

'रायवेट्ठि' का अर्थ है 'राजा की बेगार'।[15] राजस्थान में इसे 'वेठ' कहते हैं। (विट्ठि वेट्ठि वेठ) यह देशी शब्द है। देशीनाममाला में इसका अर्थ 'प्रेषण' किया है।[16] उपदेशरत्नाकर (६।११) में इसका अर्थ 'बेगार' किया है। प्राचीन समय में यह परम्परा थी कि राजा या जमींदार गांव के प्रत्येक व्यक्ति से बिना पारिश्रमिक दिए ही काम कराते थे। बारी-बारी से सबको कार्य करना पड़ता था। इसी की ओर यह शब्द संकेत करता है। डॉ० हरमन जेकोबी 'विट्ठि' का अर्थ 'भाड़ा'—'किराया' करते हैं।[17] किन्तु यहां यह उपयुक्त नहीं है।

## २२. खिन्न होकर (समागओ)

'समागओ' के अर्थ में नेमिचन्द्र का मत शान्त्याचार्य से भिन्न है। शान्त्याचार्य ने समागत का अर्थ 'श्रमागत' (श्रम-प्राप्त) किया है।[18] और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'संयुक्त' किया है।[19]

---

१. The Uttaradhyayana Sutra, p. 373.

२. देशीनाममाला, ८।५७ : मिगसिसुसरेसु सेल्लो।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५२।

४. The sacred Book of the East, Vol. XLV Uttaradhyayana, p. 151 Foot note 1.

५. सुखबोधा, पत्र ३१७ : अपमानभीरुः भिक्षां भ्रमन्नपि न यस्य तस्यैव गृहे प्रवेष्टुमिच्छति।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५२ : 'ओमाणं' ति प्रवेशः स च स्वपक्षपरपक्षयोस्तद्-भीरुर्गृहिप्रतिबन्धेन मा मां प्रविशन्तमवलोक्यान्ये साधवः सौगतादयो वाऽत्रप्रवेक्ष्यन्तीति।

७. दी सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग ४५, उत्तराध्ययन पृ० १५५, फुटनोट नं० १।

८. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनुवाद डा० हेमचन्द्र जोशी, पृ० ७३२।

९. सुखबोधा, पत्र ३१७ : अणुसासम्मि त्ति अनुशास्मि।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५२ : अणुसासंमि त्ति आर्षत्वादनुशास्ति गुरुरिति गम्यते, यदा त्वाचार्य आत्मनः समाधिं प्रतिसंधत्ते इति व्याख्या तदा ऽनुशास्मीति व्याख्येयम्।

११. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २७१।

१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५३।

१३. वही, पत्र ५५३ : 'पलिउंचंति' त्ति तत्प्रयोजनानिष्पादने पृष्टाः सन्तोऽपह्नुवते—क्व वयमुक्ताः? गता वा तत्र वयं, न त्वसौ दृष्टेति।

१४. The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttaradhyayana, p. 151

१५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५३ : 'राजवेष्टिमिव' नृपतिहलप्रवर्त्तितकृत्यमिव।

१६. देशीनाममाला, २।४३, पृ० ६६।

१७. The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttaradhyayana, p. 151, Foot Note No. 3.

१८. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५३ : श्रमं—खेदमागतः—प्राप्तः श्रमागतः।

१९. सुखबोधा, पत्र ३१७ : समागताः—संयुक्ताः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### २३. सारथि (आचार्य) (सारही)

इसका शाब्दिक अर्थ है—सारथि, रथ को चलाने वाला। प्रस्तुत प्रसंग में इसका लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। यहां इसका अर्थ है—आचार्य। जैसे—सारथि उत्पथगामी या मार्गच्युत बैल या घोड़े को सही मार्ग पर ला देता है, वैसे ही आचार्य भी अपने शिष्यों को मार्ग पर ला देते हैं।[1]

### २४. गली गर्दभ (गलिगद्दहा)

'गलि' देशी शब्द है। इसका अर्थ है—अविनीत, दुष्ट। यहां गर्दभ की उपमा अत्यंत कुत्सा ज्ञापित करने के लिए है। गधा स्वभावतः आलसी होता है। उसको निरंतर प्रेरित करने पर ही वह कार्य में प्रवृत्त होता है। उसको प्रेरित करने में ही सारा समय बीत जाता है।

इसलिए गर्गाचार्य ने सोचा, मेरे सारे शिष्य गलिगर्दभ की भांति अविनीत और आलसी हैं। अब मुझे उनको छोड़कर अपना हित-साधन करना चाहिए।

### २५. मृदु और मार्दव (मिउमद्दव)

वृत्ति में मृदु का अर्थ है—बाह्य विनय और मार्दव का अर्थ है—आन्तरिक विनय।[2]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५३।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५४ : मृदुः—बहिर्वृत्त्या विनयवान्, मार्दव... अन्तःकरणतोपि तादगेव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अट्ठावीसइमं अज्झयणं

## मोक्खमग्गगई

# अट्ठाईसवां अध्ययन

## मोक्ष-मार्ग-गति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन का नाम 'मोक्खमग्गगई'—'मोक्ष-मार्ग-गति' है। मोक्ष प्राप्य है और मार्ग है उसकी प्राप्ति का उपाय। गति व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ है। प्राप्य हो और प्राप्ति का उपाय न मिले तो वह प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार प्राप्य भी हो और प्राप्ति का उपाय भी हो किन्तु उसकी ओर गति नहीं होती तो वह प्राप्त नहीं होता। मार्ग और गति—ये दोनों प्राप्त हों तभी प्राप्य प्राप्त हो सकता है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चारों द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए इनके समवाय को मोक्ष का मार्ग कहा गया है। जैन दर्शन ज्ञान-योग, भक्ति-योग (श्रद्धा) और कर्म-योग (चारित्र और तप)—इन तीनों को संयुक्त रूप में मोक्ष का मार्ग मानता है, किसी एक को नहीं (श्लो० २)। इस चतुरंग मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

चौथे से चौदहवें श्लोक तक ज्ञान-योग का निरूपण है—ज्ञान और ज्ञेय का प्रतिपादन है।

पन्द्रहवें से इकतीसवें श्लोक तक श्रद्धा-योग का निरूपण है।

बत्तीसवें से चौंतीसवें श्लोक तक कर्म-योग का निरूपण है।

पैंतीसवें श्लोक में इन योगों के परिणाम बतलाए गए हैं।

मोक्ष-प्राप्ति का पहला साधन ज्ञान है। ज्ञान पांच हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल। ज्ञान के विषय हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छह द्रव्य हैं। गुण और पर्याय अनन्त हैं।

मोक्ष-प्राप्ति का दूसरा साधन दर्शन है। उसका विषय है तथ्य की उपलब्धि। वे नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। दर्शन को दस रुचियों में विभक्त किया गया है। यह विभाग स्थानांग (१०।१०४) और प्रज्ञापना (प्रथम पद) में भी मिलता है। वह विभाग यह है—

| | |
|---|---|
| १. निसर्गरुचि | ६. अभिगमरुचि |
| २. उपदेशरुचि | ७. विस्ताररुचि |
| ३. आज्ञारुचि | ८. क्रियारुचि |
| ४. सूत्ररुचि | ९. संक्षेपरुचि |
| ५. बीजरुचि | १०. धर्मरुचि। |

मोक्ष-प्राप्ति का तीसरा साधन चारित्र—आचार है। वे पांच हैं:

१. सामायिक चारित्र
२. छेदोपस्थापनीय चारित्र
३. परिहार-विशुद्धि चारित्र
४. सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र
५. यथाख्यात चारित्र

मोक्ष-प्राप्ति का चौथा साधन तप है। वह दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। प्रत्येक के छह-छह विभाग हैं।

दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के बिना चारित्र नहीं आता। चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता। (श्लो० ३०)

ज्ञान से तत्त्व जाने जाते हैं।

दर्शन से उन पर श्रद्धा होती है।

चारित्र से आस्रव का निरोध होता है।

तप से शोधन होता है। (श्लोक ३५)

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में इन चार मार्गों का निरूपण है। जब आत्म-शोध पूर्ण होता है तब जीव सिद्ध-गति को प्राप्त हो जाता है।

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के ग्यारहवें अध्ययन का नाम 'मार्गाध्ययन' है। उसमें भी मोक्ष के मार्गों का निरूपण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अट्ठावीसइमं अज्झयणं : अट्ठाईसवां अध्ययन
## मोक्खमग्गगई : मोक्ष-मार्ग-गति

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. मोक्खमग्गगइं तच्चं<br>सुणेह जिणभासियं।<br>चउकारणसंजुत्तं<br>नाणदंसणलक्खणं।। | *मोक्षमार्गगतिं तथ्यां*<br>*शृणुत जिनभाषिताम्।*<br>*चतुष्कारणसंयुक्तां*<br>*ज्ञानदर्शनलक्षणाम्।।* | चार कारणों से संयुक्त[1], ज्ञान-दर्शन लक्षण वाली जिन-भाषित तथ्यात्मक मोक्ष-मार्ग की गति को सुनो। |
| २. नाणं च दंसणं चेव<br>चरित्तं च तवो तहा।<br>एस मग्गो त्ति पण्णत्तो<br>जिणेहिं वरदंसिहिं।। | *ज्ञानं च दर्शनं चैव*<br>*चरित्रं च तपस्तथा।*<br>*एष मार्ग इति प्रज्ञप्तः*<br>*जिनैर्वरदर्शिभिः।।* | ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मोक्ष-मार्ग है, ऐसा वरदर्शी अर्हतों ने प्ररूपित किया।[2] |
| ३. नाणं च दंसणं चेव<br>चरित्तं च तवो तहा।<br>एयं मग्गमणुप्पत्ता<br>जीवा गच्छंति सोग्गइं।। | *ज्ञानं च दर्शनं चैव*<br>*चरित्रं च तपस्तथा।*<br>*एनं मार्गमनुप्राप्ता*<br>*जीवा गच्छन्ति सुगतिम्।।* | ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव सुगति में जाते हैं। |
| ४. तत्थ पंचविहं नाणं<br>सुयं आभिणिबोहियं।<br>ओहीनाणं तइयं<br>मणनाणं च केवलं।। | *तत्र पंचविधं ज्ञानं*<br>*श्रुतमाभिनिबोधिकम्।*<br>*अवधिज्ञानं तृतीयं*<br>*मनोज्ञानं च केवलम्।।* | उनमें ज्ञान पांच प्रकार का है—श्रुतज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञान, अवधिज्ञान, मनःज्ञान और केवलज्ञान।[3] |
| ५. एयं पंचविहं नाणं<br>दव्वाण य गुणाण य।<br>पज्जवाणं च सव्वेसिं<br>नाणं नाणीहि देसियं।। | *एतत् पंचविधं ज्ञानं*<br>*द्रव्यानां च गुणानां च।*<br>*पर्यवाणां च सर्वेषां*<br>*ज्ञानं ज्ञानिभिर्देशितम्।।* | यह पांच प्रकार का ज्ञान सर्व द्रव्य, गुण और पर्यायों का अवबोधक है—ऐसा ज्ञानियों ने बतलाया है। |
| ६. गुणाणमासओ दव्वं<br>एगदव्वस्सिया गुणा।<br>लक्खणं पज्जवाणं तु<br>उभओ अस्सिया भवे।। | *गुणानामाश्रयो द्रव्यं*<br>*एकद्रव्याश्रिता गुणाः।*<br>*लक्षणं पर्यवाणां तु*<br>*उभयोराश्रिता भवेयुः।।* | जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है।[4] जो एक (केवल) द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण होते हैं।[5] द्रव्य और गुण—दोनों के आश्रित रहना पर्याय का[6] लक्षण है। |
| ७. धम्मो अहम्मो आगासं<br>कालो पुग्गलजंतवो।<br>एस लोगो त्ति पण्णत्तो<br>जिणेहिं वरदंसिहिं।। | *धर्मोऽधर्म आकाशं*<br>*कालः पुद्गलजन्तवः।*<br>*एष लोक इति प्रज्ञप्तः*<br>*जिनैर्वरदर्शिभिः।।* | धर्म, अधर्म[7], आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छह द्रव्य हैं। यह षट्द्रव्यात्मक जो है वही लोक है—ऐसा वरदर्शी अर्हतों ने प्ररूपित किया है।[8] |
| ८. धम्मो अहम्मो आगासं<br>दव्वं इक्किक्कमाहियं।<br>अणंताणि य दव्वाणि<br>कालो पुग्गलजंतवो।। | *धर्मोऽधर्म आकाशं*<br>*द्रव्यमेकैकमाख्यातम्।*<br>*अनन्तानि च द्रव्याणि*<br>*कालः पुद्गलजन्तवः।।* | धर्म, अधर्म, आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनन्त-अनन्त हैं।[9] |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. गइलक्खणो उ धम्मो
अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं
नहं ओगाहलक्खणं।।

*गतिलक्षणस्तु धर्मः*
*अधर्मः स्थानलक्षणः।*
*भाजनं सर्वद्रव्याणां*
*नभोऽवगाहलक्षणम्।।*

धर्म का लक्षण है गति, अधर्म का लक्षण है स्थिति। आकाश सर्व द्रव्यों का भाजन है। उसका लक्षण है अवकाश।

१०. वत्तणालक्खणो कालो
जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च
सुहेण य दुहेण य।।

*वर्तनालक्षणः कालः*
*जीव उपयोगलक्षणः।*
*ज्ञानेन दर्शनेन च*
*सुखेन च दुःखेन च।।*

वर्तना काल का[१७] लक्षण है। जीव का लक्षण है उपयोग[१८]। वह ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख से जाना जाता है।

११. नाणं च दंसणं चेव
चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य
एयं जीवस्स लक्खणं।।

*ज्ञानं च दर्शनं चैव*
*चरित्रं च तपस्तथा।*
*वीर्यमुपयोगश्च*
*एतज्जीवस्य लक्षणम्।।*

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये जीव के लक्षण हैं।

१२. सद्दंधयारउज्जोओ
पहा छायातवे इ वा।
वण्णरसगंधफासा
पुग्गलाणं तु लक्खणं।।

*शब्दान्धकार उद्योतः*
*प्रभाच्छायाऽऽतप इति वा।*
*वर्णरसगन्धस्पर्शाः*
*पुद्गलानां तु लक्षणम्।।*

शब्द[१९], अन्धार[२०], उद्योत, प्रभा, छाया[२१], आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं।

१३. एगत्तं च पुहत्तं च
संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य
पज्जवाणं तु लक्खणं।।

*एकत्वं च पृथक्त्वं च*
*संख्या संस्थानमेव च।*
*संयोगाश्च विभागाश्च*
*पर्यवाणां तु लक्षणम्।।*

एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग—ये पर्यायों के लक्षण हैं।[२२]

१४. जीवाजीवा य बंधो य
पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो
संतेए तहिया नव।।

*जीवाऽजीवाश्च बन्धश्च*
*पुण्यं पापाश्रवौ तथा।*
*सम्वरो निर्जरा मोक्षः*
*सन्त्येते तथ्या नव।।*

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तथ्य (तत्त्व) हैं।[२३]

१५. तहियाणं तु भावाणं
सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स
सम्मत्तं तं वियाहियं।।

*तथ्यानां तु भवानां*
*सद्भावे उपदेशनम्।*
*भावेन श्रद्दधतः*
*सम्यक्त्वं तद् व्याहृतम्।।*

इन तथ्य भावों के सद्भाव (वास्तविक अस्तित्व) के निरूपण में जो अन्तःकरण से श्रद्धा करता है, उसे सम्यक्त्व कहा गया है।

१६. निसग्गुवएसरुई
आणारुइ सुत्तबीयरुइमेव।
अभिगमवित्थाररुई
किरियासंखेवधम्मरुई।।

*निसर्गोपदेशरुचिः*
*आज्ञारुचिः सूत्रबीजरुचिरेव।*
*अभिगमविस्ताररुचिः*
*क्रियासंक्षेपधर्मरुचिः।।*

वह दस प्रकार का है—निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि और धर्मरुचि।[२४]

१७. भूयत्थेणाहिगया
जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
सहसम्मुइयासवसंवरो य
रोएइ उ निसग्गो।।

*भूतार्थेनाधिगताः*
*जीवाऽजीवाश्च पुण्यं पापं च।*
*स्वस्मृत्याऽऽश्रवसंवरौ च*
*रोचते तु निसर्गः।।*

जो परोपदेश के विना केवल पूर्वजन्म की स्मृति आदि[२५] से उपजे हुए भूतार्थ (यथार्थ ज्ञान)[२६] से जीव, अजीव, पुण्य, पाप को जानता है और जो आश्रव और संवर पर श्रद्धा करता है, वह निसर्ग-रुचि है।

१८. जो जिणदिट्ठे भावे
चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेव नन्नह त्ति य
निसग्गरुइ त्ति नायव्वो।।

*यो जिनदृष्टान् भावान्*
*चतुर्विधान् श्रद्दधाति स्वयमेव।*
*एवमेव नान्यथेति च*
*निसर्गरुचिरिति ज्ञातव्यः।।*

जो जिनेन्द्र द्वारा दृष्ट[२७] तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विशेषित पदार्थों पर स्वयं ही—"यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं है"—ऐसी श्रद्धा रखता है, उसे निसर्ग रुचि वाला जानना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. एए चेव उ भावे
उवइट्ठे जो परेण सद्दहई।
छउमत्थेण जिणेण व
उवएसरुइ त्ति नायव्वो।।

*एतान् चैव तु भावान्*
*उपदिष्टान् यः परेण श्रद्दधाति।*
*छद्मस्थेन जिनेन वा*
*उपदेशरुचिरिति ज्ञातव्यः।।*

जो दूसरों—छद्मस्थ या जिन—के द्वारा उपदेश प्राप्त कर, इन भावों पर श्रद्धा करता है, उसे उपदेश-रुचि वाला जानना चाहिए।

२०. रागो दोसो मोहो
अण्णाणं जस्स अवगयं होइ।
आणाए रोयंतो
सो खलु आणारुई नाम।।

*रागो दोषो मोहः*
*अज्ञानं यस्यापगतं भवति।*
*आज्ञायां रोचमानः*
*स खल्वाज्ञारुचिर्नाम।।*

जो व्यक्ति राग, द्वेष, मोह और अज्ञान[२१] के दूर हो जाने पर वीतराग की आज्ञा[२२] में रुचि रखता है, वह आज्ञा-रुचि है।

२१. जो सुत्तमहिज्जंतो
सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं।
अंगेण बाहिरेण व
सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो।।

*यः सूत्रमधीयानः*
*श्रुतेनावगाहते तु सम्यक्त्वम्।*
*अङ्गेन बाह्येन वा*
*स सूत्ररुचिरिति ज्ञातव्यः।।*

जो अंग-प्रविष्ट या अंग-बाह्य सूत्रों को पढ़ता हुआ उनके द्वारा सम्यक्त्व पाता है, वह सूत्र-रुचि है।

२२. एगेण अणेगाइं
पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं।
उदए व्व तेल्लबिंदू
सो बीयरुइ त्ति नायव्वो।।

*एकेनानेकानि*
*पदानि यत् प्रसरति तु सम्यक्त्वम्।*
*उदके इव तैलबिन्दुः*
*स बीजरुचिरिति ज्ञातव्यः।।*

पानी में डाले हुए तेल की बूंद की तरह जो सम्यक्त्व (रुचि) एक पद (तत्त्व) से अनेक पदों में फैलता है, उसे बीज-रुचि जानना चाहिए।

२३. सो होइ अभिगमरुई
सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं।
एक्कारस अंगाइं।
पइण्णगं दिट्ठिवाओ य।।

*स भवति अभिगमरुचिः*
*श्रुतज्ञानं येन अर्थतो दृष्टम्।*
*एकादशाङ्गानि*
*प्रकीर्णकानि दृष्टिवादश्च।।*

जिसे ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान अर्थ सहित प्राप्त है, वह अभिगम-रुचि है।

२४. दव्वाण सव्वभावा
सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा।
सव्वाहि नयविहीहि य
वित्थाररुइ त्ति नायव्वो।।

*द्रव्याणां सर्वभावाः*
*सर्वप्रमाणैर्यस्योपलब्धाः।*
*सर्वैर्नयविधिभिश्च*
*विस्ताररुचिरिति ज्ञातव्यः।।*

जिसे द्रव्यों के सब भाव, सभी प्रमाणों और सभी नय-विधियों से उपलब्ध है, वह विस्तार-रुचि है।

२५. दंसणनाणचरित्ते
तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई
जो खलु किरियारुई नाम।।

*दर्शनज्ञानचरित्रे*
*तपोविनये सत्यसमितिगुप्तिषु।*
*यः क्रियाभावरुचिः*
*स खलु क्रियारुचिर्नाम।।*

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में जिसकी वास्तविक रुचि है, वह क्रिया-रुचि है।

२६. अणभिग्गहियकुदिट्ठी
संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो।
अविसारओ पवयणे
अणभिग्गहिओ य सेसेसु।।

*अनभिगृहीतकुदृष्टिः*
*संक्षेपरुचिरिति भवति ज्ञातव्यः।*
*अविशारदः प्रवचने*
*अनभिगृहीतश्च शेषेषु।।*

जिसमें कुदृष्टि (एकान्तवाद) की पकड़ नहीं है, उसे संक्षेप-रुचि जानना चाहिए। वह जिन-प्रवचन में विशारद नहीं होता और अन्य दर्शनों का भी जानकार नहीं होता।

२७. सो अत्थिकायधम्मं
सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।
सद्दहइ जिणाभिहियं
जो धम्मरुइ त्ति नायव्वो।।

*योऽस्तिकायधर्मं*
*श्रुतधर्मं खलु चरित्रधर्मं च।*
*श्रद्दधाति जिनाभिहितं*
*स धर्मरुचिरिति ज्ञातव्यः।।*

जो जिन-प्ररूपित अस्तिकाय-धर्म, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म में श्रद्धा रखता है, उसे धर्म-रुचि जानना चाहिए।[२३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२८. परमत्थसंथवो वा
सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि।
वावन्नकुदंसणवज्जणा
य सम्मत्तसद्दहणा।।

*परमार्थसंस्तवो वा*
*सुदृष्टपरमार्थसेवनं वापि।*
*व्यापन्नकुदर्शनवर्जनं*
*च सम्यक्त्वश्रद्धानम्।।*

परमार्थ का परिचय, जिन्होंने परमार्थ को देखा है उसकी सेवा, व्यापन्नदर्शनी (सम्यक्त्व से भ्रष्ट) और कुदर्शनी व्यक्तियों का वर्जन, यह सम्यक्त्व का श्रद्धान है।

२९. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं
दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं
जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं।।

*नास्ति चरित्रं सम्यक्त्वविहीनं*
*दर्शने तु भक्तव्यम्।*
*सम्यक्त्वचरित्रे*
*युगपत् पूर्वं वा सम्यक्त्वम्।।*

सम्यक्त्व-विहीन चारित्र नहीं होता। दर्शन (सम्यक्त्व) में चारित्र की भजना (विकल्प) है। इस प्रकार सम्यक्त्व और चारित्र के दो विकल्प बनते हैं। प्रथम विकल्प—सम्यक्त्व और चारित्र युगपत्—एक साथ होते हैं, उनका सहभाव होता है। दूसरा विकल्प—वे युगपत् नहीं होते, वहां पहले सम्यक्त्व होता है।[३५]

३०. नादंसणिस्स नाणं
नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।

*नाऽदर्शनिनो ज्ञानं*
*ज्ञानेन विना न भवन्ति चरणगुणाः।*
*अगुणिनो नास्ति मोक्षः*
*नास्ति अमोक्षस्य निर्वाणम्।।*

अदर्शनी (असम्यक्त्वी) के ज्ञान (सम्यग् ज्ञान) नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नहीं होते। अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती। अमुक्त का निर्वाण नहीं होता।

३१. निस्संकिय निक्कंखिय
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे
वच्छल्ल पभावणे अट्ठ।।

*निःशङ्कितं निष्काङ्क्षितं*
*निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टिश्च।*
*उपबृंहा स्थिरीकरणं*
*वात्सल्यं प्रभावनमष्ट।।*

निःशंका, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़-दृष्टि, उपबृंहण (सम्यक् दर्शन की पुष्टि), स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना—ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं।[३७]

३२. सामाइयत्थ पढमं
छेओवट्ठावणं भवे बीयं।
परिहारविसुद्धीयं
सुहुमं तह संपरायं च।।

*सामायिकमत्र प्रथमं*
*छेदोपस्थापनं भवेद् द्वितीयम्।*
*परिहारविशुद्धिकं*
*सूक्ष्मं तथा सम्परायं च।।*

चारित्र पांच प्रकार के होते हैं—पहला—सामायिक, दूसरा—छोदोपस्थापनीय, तीसरा—परिहार-विशुद्धि, चौथा—सूक्ष्म-सम्पराय और

३३. अकसायं अहक्खायं
छउमत्थस्स जिणस्स वा
एयं चयरित्तकरं
चारित्तं होइ आहियं।।

*अकषायं यथाख्यातं*
*छद्मस्थस्य जिनस्य वा।*
*एतत् चयरिक्तकरं*
*चारित्रं भवत्याख्यातम्।।*

पांचवां—यथाख्यात-चारित्र। यह कषाय रहित होता है। वह छद्मस्थ और केवली दोनों के होता है। ये सभी चारित्र कर्म-संचय को रिक्त करते हैं, इसीलिए इन्हें चारित्र कहा जाता है।[३८]

३४. तवो य दुविहो वुत्तो
बाहिरब्भंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो
एवमब्भंतरो तवो।।

*तपश्च द्विविधमुक्तं*
*बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।*
*बाह्यं षड्विधमुक्तं*
*एवमाभ्यन्तरं तपः।।*

तप दो प्रकार का कहा है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य-तप छह प्रकार का कहा है। इसी प्रकार आभ्यन्तर-तप भी छह प्रकार का है।

३५. नाणेण जाणई भावे
दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ
तवेण परिसुज्झई।।

*ज्ञानेन जानाति भावान्*
*"र्शनेन च श्रद्दत्ते।*
*चरित्रेण निगृह्णाति*
*तपसा परिशुध्यति।।*

जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है।

३६. खवेत्ता पुव्वकम्माइं
संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा
पक्कमंति महेसिणो।।

*क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि*
*संयमेन तपसा च।*
*सर्वदुःखप्रहाणार्थाः*
*प्रक्रामन्ति महर्षयः।।*

सर्व दुःखों से मुक्ति पाने का लक्ष्य रखने वाले महर्षि संयम और तप के द्वारा पूर्व-कर्मों का क्षय कर सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन २८ : मोक्ष-मार्ग-गति

### १. चार कारणों से संयुक्त (चउकारणसंजुत्तं...)

मोक्षगति के चार कारण हैं। वे अगले श्लोक में प्रतिपादित हैं। मोक्षमार्ग की गति उन चार कारणों से संयुक्त होती है। ज्ञान और दर्शन उनके लक्षण बतलाए गए हैं। ज्ञान और दर्शन का कारण के रूप में प्रतिपादन है फिर लक्षण के रूप में उनका प्रतिपादन क्यों ? इसका समाधान यह है कि साधना-काल में ज्ञान और दर्शन मोक्ष के साधन हैं। सिद्धि-अवस्था में वे आत्मा के स्वरूप हैं। चार कारणों में उनका साधन के रूप में उल्लेख है। लक्षण में उनका आत्म-स्वरूप विषयक उल्लेख है।

### २. (श्लोक २)

इस श्लोक में मोक्ष के चार मार्ग—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) चारित्र और (४) तप—का नाम-निर्देश है। 'तप' चारित्र का ही एक प्रकार है किन्तु इसमें कर्म-क्षय करने की विशिष्ट शक्ति होने के कारण इसे यहां स्वतंत्र स्थान दिया गया है।[1] उमास्वाति ने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"[2]—इस सूत्र में तपस्या को स्वतंत्र स्थान नहीं दिया है। इस प्रकार मोक्ष-मार्ग की संख्या के सम्बन्ध में दो परम्पराएं प्राप्त हैं। इनमें केवल अपेक्षा-भेद है। तप को चारित्र के अन्तर्गत मान लेने पर मोक्ष के मार्ग तीन बन जाते हैं और इसे स्वतंत्र मान लेने पर चार।

बौद्ध-साहित्य में अष्टांगिक-मार्ग को मुक्ति का कारण माना गया है। (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि—ये अष्टांगिक-मार्ग कहलाते हैं।[3]

### ३. (श्लोक ४)

इस श्लोक में जैनदर्शनाभिमत पांच ज्ञानों—(१) श्रुतज्ञान, (२) आभिनिबोधिकज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःज्ञान (मनःपर्यवज्ञान) और (५) केवलज्ञान—का उल्लेख हुआ है। इसी ग्रन्थ (३३।४) में ज्ञानावरण के भेदों में इन पांच ज्ञानों का उल्लेख हुआ है। वहां भी यही क्रम है। साधारणतः ज्ञान के उल्लेख का क्रम है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल। परन्तु इस श्लोक में श्रुत के बाद आभिनिबोधिक (मति) का उल्लेख हुआ है। टीकाकारों ने इसका कारण बतलाते हुए कहा है कि शेष सभी ज्ञानों (मति, अवधि, मनःपर्यव और केवल) का स्वरूप-ज्ञान इस श्रुतज्ञान से ही होता है। अतः इसकी प्रधानता दिखाने के लिए ऐसा किया गया है।[4] इसकी पुष्टि अनुयोगद्वार सूत्र से भी होती है।[5] यह भी सम्भव है कि छन्द की दृष्टि से ऐसा किया गया हो।

इन्द्रियां योग्य देश में अवस्थित वस्तु को ही जान सकती हैं, इसका बोध 'अभि' के द्वारा होता है। वे अपने-अपने निश्चित विषय को ही जान सकती हैं, इसका बोध 'नि' के द्वारा होता है। जिस ज्ञान के द्वारा योग्य देश में अवस्थित वस्तु का ज्ञान और निश्चित विषय का बोध होता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है।[6]

'आभिनिबोधिकज्ञान' मतिज्ञान का ही पर्यायवाची है नन्दी सूत्र में दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है।[7] अनुयोगद्वार में केवल 'आभिनिबोधिक' का ही प्रयोग है। नंदी में ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा को आभिनिबोधिक ज्ञान माना है।[8] तत्त्वार्थ (१।१३) में मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोध को एकार्थक माना गया है।

मति और श्रुत अन्योन्याश्रित हैं—**'जत्थाभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थाभिणिबोहियनाणं'**—जहां मति है, वहां श्रुत है और जहां श्रुत है, वहां मति है।[9]

श्रुतज्ञान मति-पूर्वक ही होता है, परन्तु मतिज्ञान श्रुत-पूर्वक नहीं होता।[10] सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में भी इसी मत का समर्थन है।[11] श्रुतज्ञान मति-पूर्वक ही होता है, जबकि मतिज्ञान

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५६ : इह च चारित्रभेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादानमस्यैव क्षपणं प्रत्यसाधारणहेतुत्वमुपदर्शयितुं, तथा च वक्ष्यति—'तवसा (उ) विसुज्झइ'।

२. तत्त्वार्थ सूत्र, १।१।

३. संयुत्तनिकाय (३४।३।५।१), भाग २, पृ० ५०५।

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५५७।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३१६।

५. अणुओगदाराइं, सूत्र २ : तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं—नो उद्दिसंति, नो समुद्दिसंति, नो अणुण्णविज्जंति, सुयनाणस्स उद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५६ : तथाभिमुखो योग्यदेशावस्थितवस्त्वपेक्षया नियतः स्वस्वविषयपरिच्छेदकतयाऽवबोधः—अवगमोऽभिनिबोधः, स एवाभिनिबोधिकम्।

७. नन्दी, सूत्र ३५, ३६।

८. वही, सूत्र ५४, गाथा ६ :
ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा।
सण्णा सई मई पण्णा, सव्वं आभिणिबोहियं।।

९. वही, सूत्र ३५।

१०. वही, सूत्र ३५।

११. सर्वार्थसिद्धि, १।३० : तत्त्वार्थ राजवार्तिक, १।६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह श्रुत-पूर्वक ही हो।[1] जिनभद्र कहते हैं कि जो ज्ञान श्रुतानुसारी है, वह भाव-श्रुत है, शेष मति है।[2]

मतिज्ञान दो प्रकार का है—(१) श्रुत-निश्रित और (२) अश्रुत-निश्रित।[3]

श्रुत-निश्रित के चार भेद हैं—(१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय और (४) धारणा।[4] इन्हें सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष भी कहा गया है।[5]

अश्रुत-निश्रित के चार भेद हैं—(१) औत्पत्तिकी, (२) वैनयिकी, (३) कर्मजा और (४) पारिणामिकी।[6]

पांच इन्द्रिय और मन के साथ अवग्रह आदि का गुणन करने से मतिज्ञान २८ प्रकार का होता है। चक्षु और मन का व्यंजनावग्रह नहीं होता।[7] तालिका इस प्रकार होती है :

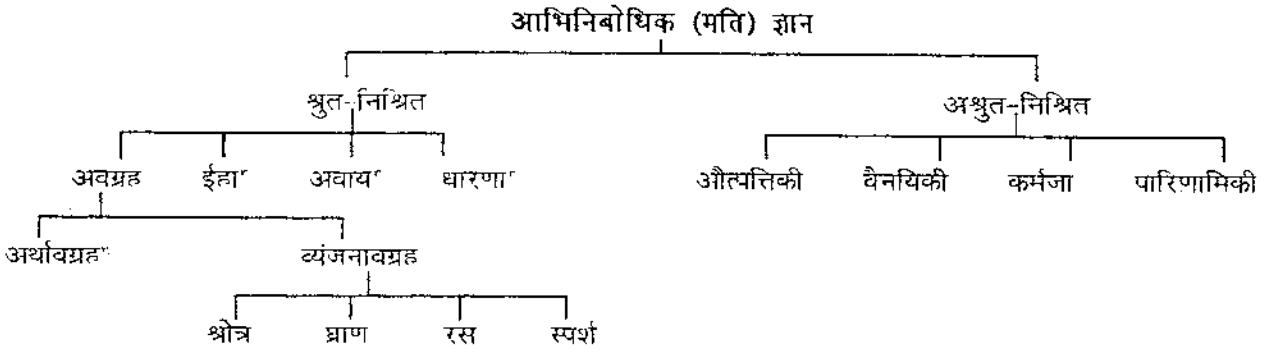


सिद्धसेन दिवाकर श्रुतज्ञान को मतिज्ञान से भिन्न नहीं मानते। उनके अनुसार इसको भिन्न मानने से वैयर्थ्य और अतिप्रसंग दोष आते हैं।[6]

सिद्धसेन दिवाकर की यह मान्यता निराधार नहीं है। क्योंकि मतिविज्ञान और श्रुतज्ञान—दोनों की कारण-सामग्री एक है। इन्द्रिय और मन दोनों के साधन हैं तथा श्रुतज्ञान मति के ही आगे की एक अवस्था है। श्रुत मति-पूर्वक ही होता है—इन सभी अपेक्षाओं से श्रुत को अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। श्रुत 'शाब्द-ज्ञान' है। इसकी अपनी विशेषता है। कारण-सामग्री एक होने पर भी मतिज्ञान केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है। परन्तु श्रुतज्ञान का विषय 'त्रैकालिक' है। इसका विशेष सम्बन्ध 'मन' से रहता है। सारा आगम-ज्ञान श्रुतज्ञान है। इस अपेक्षा से इसका भिन्न निरूपण भी युक्ति-संगत है।

प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—इन दोनों का परोक्ष में समावेश किया गया है और शेष तीनों—अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान का प्रत्यक्ष में।[10]

परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।[11]

इनमें प्रथम चार मतिज्ञान के प्रकार हैं और आगम श्रुतज्ञान है। वस्तुतः ज्ञान एक ही है—केवलज्ञान। शेष सभी ज्ञान की अविकसित अवस्था के द्योतक हैं। सभी का अन्तर्भाव केवलज्ञान में सहज ही हो जाता है।

एक अपेक्षा से ज्ञान दो प्रकार का है—इन्द्रिय-ज्ञान और अतीन्द्रिय-ज्ञान। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान हैं। अवधि, मनःपर्यव और केवल—अतीन्द्रिय-ज्ञान हैं।

अथवा ज्ञान तीन हैं—(१) मति-श्रुत, (२) अवधि-मनःपर्यव, (३) केवलज्ञान।

मति-श्रुत की एकात्मकता के बारे में पहले लिखा जा चुका है। अवधि और मनःपर्यव भी विषय की दृष्टि से एक हैं, इसीलिए इस अपेक्षा से उन्हें एक विभाग में मान लेना अयुक्त नहीं है। केवलज्ञान की अपनी स्वतंत्र सत्ता है ही।

### श्रुतज्ञान

आप्त पुरुष द्वारा प्रणीत आगम या अन्य शास्त्रों से जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं अथवा शब्द, संकेत आदि से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है अथवा वाच्य और वाचक के सम्बन्ध से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान साक्षर होने

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र १।३१ भाष्य : श्रुतज्ञानस्य मतिज्ञानेन नियतः सहभावः तत्पूर्वकत्वात्। यस्य श्रुतज्ञानं तस्य नियतं मतिज्ञानं, यस्य तु मतिज्ञानं तस्य श्रुतज्ञानं स्याद् वा न वेति।

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १०० :
इंदिय मणो निमित्तं, जं विण्णाणं सुयाणुसारेण।
निययत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई इयरा।।

३. नन्दी, सूत्र ३७।

४. वही, सूत्र ३६।

५. जैन तर्कभाषा, पृ० २।

६. नन्दी, सूत्र ३८।

७. वही, सूत्र ४०-४२।

८. प्रत्येक के श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रस, स्पर्श और नोइन्द्रिय—(मन) ये छह भेद हैं।

९. वैयर्थ्यातिप्रसंगाभ्यां, न मत्यभ्यधिकं श्रुतम्।

१०. नन्दी, सूत्र ३, ६, ३३।

११. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३।२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साथ-साथ वचनात्मक होता है। मतिज्ञान साक्षर हो सकता है, वचनात्मक नहीं। श्रुतज्ञान त्रैकालिक होता है, उसका विषय प्रत्यक्ष नहीं होता। शब्द के द्वारा उसके वाच्यार्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को फिर से प्रतिपादित करना--यही इसकी समर्थता है। मति और श्रुत में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है। मति कारण है और श्रुत कार्य। श्रुतज्ञान का वास्तविक कारण श्रुत-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है। मतिज्ञान उसका बहिरंग कारण है।

श्रुतज्ञान के दो प्रकार हैं—अंग-बाह्य और अंग-प्रविष्ट।

तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट और गणधरों द्वारा प्रणीत शास्त्र अंग-प्रविष्ट कहलाते हैं। स्थविर या आचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्र अंग-बाह्य कहलाते हैं। अंग-प्रविष्ट के बारह भेद हैं।[1] अंग-बाह्य के कालिक, उत्कालिक आदि अनेक भेद हैं।[2]

आवश्यक निर्युक्ति में कहा गया है कि जितने अक्षर हैं और उनके जितने विविध संयोग हैं, उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं।[3] इसके मुख्य भेद १४ हैं—

| | |
|---|---|
| (१) अक्षर श्रुत | (८) अनादि श्रुत |
| (२) अनक्षर श्रुत | (९) सपर्यवसित श्रुत |
| (३) संज्ञी श्रुत | (१०) अपर्यवसित श्रुत |
| (४) असंज्ञी श्रुत | (११) गमिक श्रुत |
| (५) सम्यक् श्रुत | (१२) अगमिक श्रुत |
| (६) मिथ्या श्रुत | (१३) अंग-प्रविष्ट श्रुत |
| (७) सादी श्रुत | (१४) अनंग-प्रविष्ट श्रुत।[4] |

विशेष विवरण के लिए देखें—नंदी, सूत्र ५५-१२७।

पांच ज्ञानों में चार ज्ञान स्थाप्य हैं—केवल स्वार्थ हैं। परार्थज्ञान केवल एक है। वह है—श्रुतज्ञान।[5] उसी के माध्यम से सारा विचार-विनिमय और प्रतिपादन होता है।

## अवधिज्ञान

यह नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष-ज्ञान का एक प्रकार है।[6] यह मूर्त द्रव्यों को साक्षात् जानता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवधियों से यह बंधा रहता है, अतः इसे अवधिज्ञान कहते हैं।

इसके दो प्रकार हैं---भव-प्रत्ययिक और क्षायोपशमिक।

देव और नारक को होने वाला अवधिज्ञान 'भव-प्रत्ययिक' कहलाता है। यह जन्म-जात होता है अर्थात् देवगति और नरकगति से उत्पन्न होते ही यह ज्ञान हो जाता है। तिर्यंच और मनुष्य को उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान 'क्षायोपशमिक' कहलाता है। दोनों में आवरण का क्षयोपशम तो होता ही है।[7] अन्तर केवल प्राप्ति के प्रकार में होता है। भव-प्रत्ययिक में जन्म ही प्रधान निमित्त होता है और क्षायोपशमिक में वर्तमान साधना ही प्रधान निमित्त होती है। अवधिज्ञान के छह प्रकार हैं--

(१) अनुगामी---जो सर्वत्र अवधिज्ञानी का अनुगमन करे।
(२) अननुगामी---उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र में जो न रहे।
(३) वर्द्धमान---उत्पत्ति-काल से जो क्रमशः बढ़ता रहे।
(४) हीयमान—जो क्रमशः घटता रहे।
(५) प्रतिपाती—उत्पन्न होकर जो वापस चला जाए।
(६) अप्रतिपाती—जो आजीवन रहे अथवा केवलज्ञान उत्पन्न होने तक रहे।[8]

विस्तृत वर्णन के लिए देखिए...नंदी, सूत्र ७-२२।

## मनःपर्यवज्ञान

यह मन के पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति।

यह द्रव्य की अपेक्षा से मन रूप में परिणत पुद्गल को, क्षेत्र की अपेक्षा से मनुष्य क्षेत्र तक, काल की अपेक्षा से असंख्य काल तक के अतीत और भविष्य को और भाव की अपेक्षा से मनोवर्गणा की अनन्त अवस्थाओं को जानता है।[9]

मनःपर्यव के विषय में दो परम्पराएं हैं। एक परम्परा यह मानती है कि मनःपर्यवज्ञानी चिंतित अर्थ का प्रत्यक्ष कर लेता है।[10] दूसरी परम्परा यह मानती है कि मनः पर्यवज्ञानी मन की विविध अवस्थाओं को तो प्रत्यक्ष करता है, किन्तु उनके अर्थ को अनुमान से जानता है।[11] आधुनिक भाषा में इसे मनोविज्ञान का विकसित रूप कहा जा सकता है।

## अवधि और मनःपर्यव

दोनों ज्ञान रूपी द्रव्य तक सीमित हैं, अपूर्ण हैं। इन्हें विकल-प्रत्यक्ष कहा जाता है। चार दृष्टियों से दोनों में भिन्नता है—

(१) विषय की दृष्टि से—मनःपर्यवज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा सूक्ष्मता से और विशदता से जानता है। अवधिज्ञान का विषय सभी रूपी द्रव्य हैं, मनःपर्यवज्ञान का विषय केवल मन है।

(२) क्षेत्र की दृष्टि से—अवधिज्ञान का विषय अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सारा लोक है, मनःपर्यव का विषय

---

१. नन्दी, सूत्र ७३, ८०।
२. वही, सूत्र ७३-७८।
३. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १७ :
पत्तेयमक्खराइं, अक्खरसंजोग जाणिया लोए।
एवइया सुयनाणे, पयडीओ होंति नायव्वा।।
४. नन्दी, सूत्र ५५।
५. अणुओगदाराइं, सूत्र २।
६. नन्दी, सूत्र ६।
७. वही, सूत्र ७, ८।
८. वही, सूत्र ९।
९. वही, सूत्र २४, २५।
१०. सर्वार्थसिद्धि, १।९।
११. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१७, वृत्ति पत्र २६४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य लोक पर्यन्त है।

(३) स्वामी की दृष्टि से—अवधिज्ञान का स्वामी देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंच—कोई भी हो सकता है, मनःपर्यवज्ञान का अधिकारी केवल मुनि ही हो सकता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों एक ही ज्ञान की दो अवस्थाएं हैं। मति-श्रुत की तरह इन्हें भी कथंचित् एक मान लेना अयुक्त नहीं है।

**केवलज्ञान**

यह पूर्ण ज्ञान है। इसे सकल-प्रत्यक्ष कहा जाता है। इसका विषय है—सर्व द्रव्य और सर्व पर्याय। केवलज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञान एक ही रह जाता है।

## ४. जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है (गुणाणमासओ दव्वं)

जो गुणों का आश्रय—अनन्त गुणों का पिण्ड है, वह द्रव्य है। यह उत्तराध्ययन-कालीन परिभाषा है।

उत्तरवर्ती साहित्य में द्रव्य की जो परिभाषा हुई, उसमें कुछ अधिक जुड़ा है। वह दो प्रकार से प्राप्त होती है—

(१) जो गुण-पर्यायवान् है, वह द्रव्य है।[1]

(२) जो सत् है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है वह द्रव्य है।[2]

वाचक उमास्वाति ने 'पर्याय' शब्द और अधिक जोड़ा है। उसकी तुलना महर्षि कणाद के 'क्रिया' शब्द से होती है।[3] दूसरी परिभाषा जैन-परम्परा की अपनी मौलिक है।

जैन-साहित्य में 'द्रव्य' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

द्रव्य—जिसमें पूर्व रूप का प्रलय और उत्तर रूप का निर्माण होता रहता है।
द्रव्य—सत्ता का अवयव।
द्रव्य—सत्ता का विकार।
द्रव्य—गुण-समूह।
द्रव्य—भावी पर्याय के योग्य।
द्रव्य—भूत पर्याय के योग्य।[4]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जिसमें 'क्रिया और गुण हों और जो समवायी कारण हो', उसे द्रव्य कहते हैं।[5] उनके द्वारा सम्मत छह पदार्थों में 'द्रव्य' एक पदार्थ है। 'द्रव्य' आश्रय है; गुण और कर्म उस पर आश्रित हैं। वैशेषिकों ने द्रव्य नौ माने हैं[6] और उनको तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—

(१) प्राकृत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।।
(२) अप्राकृत—अचेतन—काल और देश।
(३) चेतन—आत्मा और मन।[7]

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो ने पांच परम जातियां मानी हैं—(१) द्रव्य, (२) अन्यत्व, (३) विभिन्नता, (४) गति और (५) अगति।[8] इनकी संगति जैन परिभाषिक शब्दों में इस प्रकार है—अन्यत्व अस्तित्व का सूचक है। विभिन्नता नास्तित्व का सूचक है। गति उत्पाद और व्यय की तथा अगति ध्रौव्य की सूचक है।

अरस्तू ने दस परम जातियां मानी हैं—(१) द्रव्य,(२) गुण, (३) मात्रा, (४) सम्बन्ध, (५) क्रिया, (६) आक्रान्ता, (७) देश, (८) काल, (९) स्वामित्व और (१०) स्थिति।[9]

स्पिनोजा ने कहा—सारी सत्ता एक द्रव्य ही है। उसमें अनन्त गुण हैं, परन्तु हम अपनी सीमाओं के कारण केवल दो गुणों—चिन्तन और विस्तार से परिचित हैं। चिन्तन क्रिया है और विस्तार गुण।[10] इस तरह यह वैशेषिक दर्शन के निकट आ जाता है। द्रव्य के लिए स्पिनोजा ने 'सब्सटेन्स' (Substance) शब्द का प्रयोग किया है।[11] इसका अर्थ है—नीचे खड़ा होने वाला, सहारा देने वाला। आशय यह है कि सब्सटेन्स गुणों का सहारा या आलम्बन है। उसके अनुसार द्रव्य या सत् के लिए बहुवचन का प्रयोग अनुचित है। सत् या द्रव्य एक ही है और जो कुछ भी है इसके अन्तर्गत आ जाता है।

कुमारिल के अनुसार 'जिसमें क्रिया और गुण हो', वह द्रव्य है। उनके अनुसार द्रव्य के ११ भेद हैं—(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) दिग्, (७) काल, (८) आत्मा, (९) मन और (१०) अन्धकार तथा (११) शब्द।

डेकार्ट ने दो द्रव्य माने हैं—आत्मा और प्रकृति।[12] इन्हीं को उन्होंने सत् की दो परम जातियां कहा है। आत्मा—चेतन है और विस्तार रहित है। प्रकृति—अचेतन है और विस्तार इसका तत्त्व है।

## ५. जो एक (केवल) द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण होते हैं (एगदव्वस्सिया गुणा)

'जो एक मात्र दव्य आश्रित होते हैं, वे गुण कहलाते हैं'—यह गुण की उत्तराध्ययन-कालीन परिभाषा है। तत्त्वार्थ-

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र, ५।३७ : गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।
२. (क) तत्त्वार्थ सूत्र, ५।२९ : उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।
(ख) पंचास्तिकाय, १० :
दव्वं सल्लक्खणियं, उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा, तं जं भण्णंति सव्वण्हू।।
३. वैशेषिक दर्शन, १।१।१५।
४. विशेषावश्यकभाष्य, गा० २८।
५. वैशेषिक दर्शन, १।१।१५ : क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।
६. वैशेषिक दर्शन, १।१।१५।
७. दर्शन संग्रह, पृ० १६३।
८. वही, पृ० १६०।
९. वही, पृ० १६१।
१०. वही, पृ० १६१।
११. तत्त्वज्ञान, पृ० ४७।
१२. वही, पृ० ४७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकार ने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'[1] जो द्रव्य में रहते हों तथा स्वयं निर्गुण हों, वे गुण हैं—ऐसी परिभाषा की है। इसमें 'निर्गुण' शब्द अधिक आया है। इसकी तुलना महर्षि कणाद के 'अगुणवान्' शब्द से की जा सकती है।[2] द्रव्य के आश्रय में रहने वाला वही 'गुण' गुण है जिसमें दूसरे गुणों का सद्भाव न हो अथवा जो निर्गुण हो। अन्यथा घट में रहा हुआ पानी भी घट द्रव्य का गुण बन जाता है।

यह माना जाता है कि प्राचीन युग में 'द्रव्य' और 'पर्याय'—ये दो शब्द ही प्रचलित थे। तार्किक युग में 'गुण' शब्द पर्याय के भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ ऐसा जान पड़ता है। कई आगम-ग्रन्थों में गुण और पर्याय शब्द भी मिलते हैं। परन्तु गुण 'पर्याय' का ही एक भेद है। अतः दोनों का अभेद मानना भी अयुक्त नहीं है। सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजयजी आदि मनीषी विद्वानों ने गुण और पर्याय के अभेद का समर्थन किया है। उनका तर्क है कि आगमों में गुण-पद का यदि पर्याय-पद से भिन्न अर्थ अभिप्रेत होता तो जैसे भगवान् ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो प्रकार से देशना की है, वैसे ही तीसरी गुणार्थिक देशना भी करते। किन्तु ऐसा नहीं किया गया, इसलिए प्राचीनतम परम्परा में 'गुण' पर्याय का अर्थ-वाची रहा है। उत्तराध्ययन में पर्याय का लक्षण गुण से पृथक् किया गया है। इसे उत्तरकालीन विकास माना जा सकता है। द्रव्य के दो प्रकार के धर्म होते हैं—(१) सहभावी और (२) क्रमभावी।

सहभावी धर्म 'गुण' कहलाता है और क्रमभावी धर्म 'पर्याय'। 'गुण' द्रव्य का व्यवच्छेदक धर्म होता है, अन्य द्रव्यों से पृथक् सत्ता स्थापित करता है। वह दो प्रकार का होता है—(१) सामान्य और —(२) विशेष।

सामान्य गुण छह हैं—(१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५) प्रदेशत्व और (६) अगुरुलघुत्व।

विशेष गुण सोलह हैं—(१) गति-हेतुत्व, (२) स्थिति-हेतुत्व, (३) अवगाह-हेतुत्व, (४) वर्तना-हेतुत्व, (५) स्पर्श, (६) रस, (७) गन्ध, (८) वर्ण, (९) ज्ञान, (१०) दर्शन, (११) सुख, (१२) वीर्य, (१३) चेतनत्व, (१४) अचेतनत्व, (१५) मूर्त्तत्व और (१६) अमूर्त्तत्व।

द्रव्य छह हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय (४) काल, (५) पुद्गलास्तिकाय और (६) जीवास्तिकाय। इन छहों में द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, नित्यत्व आदि सामान्य धर्म पाए जाते हैं। ये इनके सामान्य गुण हैं। ये द्रव्य के लक्षण नहीं बनते। छहों द्रव्यों में एक-एक व्यवच्छेदक-धर्म—विशेष-धर्म भी है। जैसे—धर्मास्तिकाय का—गति-हेतुत्व गुण, अधर्मास्तिकाय का—स्थिति-हेतुत्व गुण, आकाशास्तिकाय का—अवगाहना-हेतुत्व गुण आदि-आदि।

वैशेषिक मत में संसार की सब वस्तुएं सात विभागों में बांटी गई हैं। उनमें 'गुण' का एक विभाग है। उनका मत है कि कार्य का असमवायि कारण 'गुण' है अर्थात् अनपेक्ष होने पर भी जो कारण नहीं बनता, वह 'गुण' है। ये गुण चौबीस हैं—(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिणाम, (७) पृथक्त्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व, (१३) द्रव्यत्व, (१४) स्नेह, (१५) शब्द, (१६) ज्ञान, (१७) सुख, (१८) दुःख, (१९) इच्छा, (२०) द्वेष, (२१) प्रयत्न, (२२) धर्म, (२३) अधर्म और (२४) संस्कार।

गुण द्रव्य ही में रहते हैं। वे दो प्रकार के हैं—(१) विशेष और (२) साधारण। रूप, रस, गन्ध, शब्द, ज्ञान, सुख आदि विशेष गुण हैं।

प्रभाकर २१ गुण मानते हैं। वैशेषिक मत के २४ गुणों में से संख्या, विभाग, पृथक्त्व तथा द्वेष के स्थान पर 'वेग' का समावेश किया गया है।

भट्ट मत में १३ गुण माने गए हैं—(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) परिणाम, (६) पृथक्त्व, (७) संयोग, (८) विभाग, (९) परत्व, (१०) गुरुत्व, (११) अपरत्व, (१२) द्रवत्व और (१३) स्नेह।[3]

सांख्य मत में सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण माने गए हैं। उनका मत है कि इन्हीं तीन गुणों के संस्थान-भेद से वस्तुओं में भेद होता है। सत्त्व का स्वरूप है—प्रकाश तथा हलकापन, तमस् का धर्म है—अवरोध, गौरव, आवरण आदि और 'रजस्' का धर्म है—सतत क्रियाशील रहना।

### ६. पर्याय का (पज्जवाणं) :

जो द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित होता है, उसे 'पर्याय' कहा जाता है। विशेष के दो भेद हैं—गुण और पर्याय। द्रव्य का जो 'सहभावी-धर्म' है, वह 'गुण' है और जो 'क्रमभावी-धर्म' है, वह 'पर्याय' है।[4] इसे 'पर्यव' भी कहा जाता है। न्यायालोक की तत्त्वप्रभा विवृत्ति में पर्याय की परिभाषा करते हुए लिखा है—"जो उत्पन्न होता है, विपत्ति (विनाश) को प्राप्त होता है अथवा जो समग्र द्रव्य को व्याप्त करता है उसे 'पर्याय' (पर्यव) कहते हैं।"[5] नयप्रदीप में भी यही व्याख्या दी गई है।[6] वादिवेताल शान्तिसूरि के अनुसार समस्त द्रव्यों और समस्त गुणों में जो व्याप्त होते हैं, उन्हें 'पर्यव' कहा जाता है।[7]

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र, ५।४०।

२. वैशेषिक दर्शन, १।१।१६ : द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।

३. गंगानाथ झा, पूर्व मिमांसा, पृ० ६५।

४. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ५।७-८।

५. न्यायालोक, तत्त्वप्रभा विवृत्ति, पत्र २०३ : पर्येत्युत्पत्तिं विपत्तिं चाप्नोति, पर्यवति वा व्याप्नोति समस्तमपि द्रव्यमिति पर्यायः पर्यवो वा।

६. नयप्रदीप, पत्र ६६ : पर्येति उत्पादमुत्पत्तिं विपत्तिं च प्राप्नोतीति पर्यायः।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५७ : परि—सर्वतः—द्रव्येषु गुणेषु सर्वेष्ववन्ति—गच्छन्तीति पर्यवाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्यायालोक की परिभाषा का प्रथम अंश 'क्रमभावी-धर्म' की अपेक्षा से है और द्वितीय अंश 'सहभावी-धर्म' की अपेक्षा से है। परिवर्तन जीव में भी होता है और अजीव में भी। इसके आधार पर परिवर्तन के दो रूप बनते हैं---(१) जीव-पर्याय और (२) अजीव-पर्याय।

परिवर्तन स्थूल भी होता है और सूक्ष्म भी। इसके आधार पर परिवर्तन के दो रूप बनते हैं---(१) व्यञ्जन-पर्याय और (२) अर्थ-पर्याय। स्थूल और कालान्तरस्थायी पर्याय को 'व्यञ्जन-पर्याय' कहते हैं तथा सूक्ष्म और वर्तमानकालवर्ती पर्याय को 'अर्थ-पर्याय' कहते हैं।

परिवर्तन स्वभाव से भी होता है और पर-निमित्त से भी। इसके आधार पर परिवर्तन के दो रूप बनते हैं---(१) स्वभाव-पर्याय और (२) विभाव-पर्याय। अगुरुलघुत्व आदि पर्याय स्वाभाविक हैं और मनुष्य, देव, नारक आदि वैभाविक पर्याय हैं। इन प्रत्येक का अनन्त, असंख्यात और संख्यात भाग गुण-वृद्धि से तीन, तथा अनन्त, असंख्यात और अनन्त भाग गुण-हानि से तीन---यों छह-छह प्रकार करने से पर्याय के बारह भेद हो जाते हैं।

प्रथम कोटि के दो रूप परिवर्तन की सीमा का सूचन करते हैं। परिवर्तन जीव और अजीव दोनों में होता। यह विश्व जीव-अजीवमय है। इसलिए कहना होगा कि समूचा विश्व परिवर्तन का क्षेत्र है।

द्वितीय कोटि के दो रूप परिवर्तन के स्वरूप का बोध कराने वाले हैं। परिवर्तन व्यक्त और अव्यक्त---दोनों प्रकार का होता है।

तृतीय कोटि के दो रूपों में परिवर्तन के दो कारणों का निर्देश है।

एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग, विभाग आदि पर्याय पर्याय के लक्षण हैं।[1]

## ७. धर्म, अधर्म (धम्मो अहम्मो)

जैन साहित्य में जहां धर्म-अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ-अशुभ के अर्थ में होता है, वहां दो स्वतंत्र द्रव्यों के अर्थ में भी होता है। यहां उनका प्रयोग द्रव्य के अर्थ में है। धर्म अर्थात् गति-तत्त्व, अधर्म अर्थात् स्थिति-तत्त्व। नौवें श्लोक में इनकी परिभाषा करते हुए कहा है—धर्म का लक्षण है गति और अधर्म का लक्षण है स्थिति।[2] भगवती में भी यह संक्षिप्त परिभाषा मिलती है।[3] वहां इनके कार्य पर प्रकाश डालने वाला एक संवाद भी है—

गौतम ने भगवान् से पूछा---"भगवन्! धर्मास्तिकाय से क्या होता है?"

भगवान् ने कहा---"गौतम! जीवों के गमन, आगमन, भाषा, उन्मेष, मन-वचन और काया के योगों की प्रवृत्ति तथा इसी प्रकार के दूसरे चल-भाव धर्मास्तिकाय से ही होते हैं।"[4]

जीवों की स्थिति, निषीदन, शयन, मन का एकत्व-भाव तथा इसी प्रकार के अन्य स्थिर-भाव अधर्मास्तिकाय से होते हैं।[5]

सिद्धसेन दिवाकर इन्हें स्वतंत्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं समझते। वे लिखते हैं---

*प्रयोगविस्रसाकर्म, तदभावस्थितिस्थता।*
*लोकानुभाववृत्तान्तः, किं धर्माधर्मयोः फलम्।।*[6]

इसका तात्पर्यार्थ है---गति दो प्रकार की होती है---(१) प्रायोगिक और (२) स्वाभाविक। जीव और पुद्गल में दोनों प्रकार की गति होती है। अतः गति के लिए धर्मास्तिकाय की कोई उपयोगिता नहीं रहती। उसी प्रकार गति का अभाव ही स्थिति है। उसमें भी अधर्मास्तिकाय का कोई उपयोग नहीं है। यहां यह भी प्रश्न होता है कि यदि गति-स्थिति स्वतन्त्र है तो फिर जीव या पुद्गल अलोक में क्यों नहीं जा सकते? इसका समाधान भी उक्त श्लोक में आ गया है।

कहा है कि लोक का सामर्थ्य ही ऐसा है कि उसके अन्त तक पहुंचते ही जीव-पुद्गल की गति स्खलित हो जाती है। अतः धर्म और अधर्म का फल ही क्या है?

आचार्य सिद्धसेन की उक्ति में तार्किकता है पर लोक-अलोक की विभाजन-रेखा का निर्देश नहीं है। उन्होंने इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत नहीं किया कि धर्म और अधर्म को माने बिना लोक और अलोक का विभाजन कैसे होगा? वस्तुतः ये दो ही द्रव्य लोक-अलोक की सीमा-रेखाएं हैं।

ये द्रव्य की दृष्टि से एक द्रव्य हैं; क्षेत्र की दृष्टि से समूचे लोक में व्याप्त हैं; काल की दृष्टि से अनादि-अनन्त हैं;भाव की दृष्टि से अमूर्त हैं; गुण की दृष्टि से धर्म---गति-सहायक है और अधर्म—स्थिति-सहायक।

वैज्ञानिकों में सबसे पहले न्यूटन ने गति-तत्त्व (medium of motion) को स्वीकार किया। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलबर्ट आइंस्टीन ने भी गति-तत्त्व स्थापित किया है। उन्होंने कहा—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति—द्रव्य का अभाव है जो गति में सहायक होता है।"[7] वैज्ञानिक गति-तत्त्व को 'ether' (ईथर) कहते हैं। इस ईथर के स्वरूप और उसकी

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २८।१३।
२. वही, २८।९ : गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
३. भगवई, १३।५६, ५७ :
गइलक्खणेणं धम्मत्थिकाए।
ठाणलक्खणेणं अधम्मत्थिकाए।।
४. वही, १३।५६।
५. वही, १३।५७।
६. निश्चयद्वात्रिंशिका, श्लो० २४।
७. Cosmology Old and New, pp. 43-44

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपयोगिता के विषय में सभी वैज्ञानिक एक मत नहीं हैं।[1]

## ८. (श्लोक ७)

इस श्लोक में 'लोक' क्या है, इसका समाधान दिया गया है। जैन-दृष्टि से जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीवमय है, वह लोक है। इसी आगम में अन्य स्थलों में तथा दूसरों आगमों में भी 'लोक' की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं आई हैं। कहीं धर्मास्तिकाय को लोक कहा गया है,[2] तथा कहीं जीव और अजीव को लोक कहा गया है।[3] कहीं कहा है—लोक पंचास्तिकायमय है।[4] इन परिभाषाओं का निरूपण अपेक्षा-भेद से किया गया है, अतः इन सबमें कोई विरोध नहीं है।

## ९. (श्लोक ८)

संख्या की दृष्टि से द्रव्यों के दो वर्गीकरण हैं—(१) एक संख्या वाला और (२) अनेक संख्या वाला। धर्म, अधर्म और आकाश संख्या से एक हैं और पुद्गल और जीव संख्या से अनेक। यह विभाग निष्कारण नहीं है। जो व्यापक होता है वह एक ही होता है, उसमें विभाग नहीं होते। 'एकं ब्रह्म' मानने वाले ब्रह्म को व्यापक मानते हैं। उसी प्रकार धर्म-अधर्म सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं तथा आकाश लोक और अलोक दोनों में। अतः व्यक्तिशः ये एक द्रव्य हैं।

## १०. काल का (कालो)

काल छह द्रव्यों में एक द्रव्य भी है और जीव-अजीव की पर्याय भी है।[5] ये दोनों कथन सापेक्ष हैं, विरोधी नहीं। निश्चय-दृष्टि में काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार-दृष्टि में वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने के कारण उसकी उपयोगिता है। वह परिणाम का हेतु है, यही उसका उपकार है। इसी कारण वह द्रव्य माना जाता है। काल के समय (अविभाज्य-विभाग) अनन्त हैं।[6]

काल को जीव-अजीव की पर्याय या स्वतन्त्र द्रव्य मानना—ये दोनों मत आगम-ग्रन्थों में तथा उत्तरवर्ती-साहित्य में पाए जाते हैं। प्रस्तुत श्लोक के अनुसार काल का लक्षण वर्तना है—'वत्तणालक्खणो कालो।' उमास्वाति ने काल का लक्षण—'वर्तनापरिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' (तत्त्वार्थ ५।२२) दिया है। इसकी आंशिक तुलना वैशेषिक दर्शन के 'अपरस्मिन्नपरं, युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि' (२।२।२६)—इस सूत्र से की जा सकती है।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार व्यावहारिक-काल मनुष्य-क्षेत्र प्रमाण है और औपचारिक द्रव्य है। नैश्चयिक-काल लोक-अलोक प्रमाण है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार 'काल' लोकव्यापी और अणुरूप है।[7] काल को स्वतन्त्र न मानने की परम्परा प्राचीन मालूम पड़ती है। क्योंकि लोक क्या है? इस प्रश्न का उत्तर श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में एक-सा ही है कि 'लोक पंचास्तिकायमय है।'[8] जैनेतर दर्शनों में काल के सम्बन्ध में नैश्चयिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष मिलते हैं। नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्वव्यापी और स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं।[9] सांख्य, योग तथा वेदांत आदि दर्शन काल को स्वतंत्र द्रव्य न मान कर उसे प्रकृति-पुरुष का ही रूप मानते हैं। पहला पक्ष व्यवहार मूलक है और दूसरा निश्चय-दृष्टि मूलक।

श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल के उपकार या लिंग पांच हैं—(१) वर्तना, (२) परिणाम, (३) क्रिया, (४) परत्व और (५) अपरत्व।[10]

नैयायिकों के अनुसार परत्व, अपरत्व आदि काल के लिंग हैं[11] और वे वैशेषिकों द्वारा प्रस्तुत काल सम्बन्धी वर्णन को मान्य करते हैं।[12] वैशेषिक दर्शन के पूर्व, अपर, युगपत्, चिर और क्षिप्र—ये काल के लिंग माने हैं।[13] काल सम्बन्धी यह पहला सूत्र है। इसके द्वारा वे काल-तत्त्व को स्वतंत्र स्थापित करते हैं और आगे के तीन सूत्रों से इसको द्रव्य, नित्य, एक और समस्त कार्यों के निमित्त रूप से वर्णित करते हैं।[14]

नैयायिकों ने काल को नित्य माना है परन्तु मध्वाचार्य ने काल का प्रकृति से उत्पन्न होना और उसी में लय होना माना है।[15] प्रलय-काल में भी काल की उत्पत्ति मानी जाती है और

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखिए (1) The Short History of Science (by Dempiyon), (2) The Nature of the Physicon World (by Sir Eddington) and (3) Mysterious Universe (by Sir James Jeons).

२. भगवई, २।१४१।

३. (क) उत्तरज्झयणाणि, ३६।२।
   (ख) ठाणं, २।४९७।

४. (क) भगवई, १३।५५।
   (ख) लोकप्रकाश, २।३।

५. ठाणं, २।३८७ : समयाति वा, आवलियाति वा, जीवाति वा, अजीवाति वा पवुच्चति।

६. तत्त्वार्थ सूत्र, ५।४० : सोऽनन्तसमयः।

७. द्रव्यसंग्रह, २२ :
   लोगागासपदेसे, एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का।
   रयणाणं रासी इव, ते कालाणू असंखदव्वाणि।।

८. (क) भगवई, १३।५५।
   (ख) पंचास्तिकाय, गाथा ३।
   (ग) तत्त्वार्थ, भाष्य ३।६।

९. (क) न्यायकारिका, ४५ :
   जन्यानां जनकः कालो, जगतामाश्रयो मतः।
   (ख) वैशेषिक दर्शन, २।२।६-१०।

१०. तत्त्वार्थ सूत्र, ५।२२।

११. न्यायकारिका, ४६ :
   परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः।

१२. पंचाध्यायी, पृ० २५४ : दिग्देशकालाकाशेष्वथैवं प्रसंग।

१३. वैशेषिक, सूत्र २।२।६।

१४. वही, सूत्र २:२।७,८,९।

१५. पदार्थसंग्रह, पृ० ६३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिए काल का आठवां हिस्सा 'प्रलय-काल' कहलाता है।[1] काल में भी काल होता है—जैसे, 'इदानीं प्रातः कालः'। यहां इदानीं काल-वाचक है।[2] काल सबका आधार है। अनित्य होने पर भी काल का प्रवाह नित्य है। यह सब कार्यों की उत्पत्ति का कारण भी है।[3]

पूर्व मीमांसा के समर्थ व्याख्याकार पार्थसार्थमिश्र शास्त्रदीपिका की युक्तिस्नेहप्रपूरणी सिद्धांतचन्द्रिका में काल तत्त्व विषयक मान्यता को स्पष्ट करते हुए वैशेषिक दर्शन की मान्यता को स्वीकार करते हैं। केवल एक बात में भेद है—वैशेषिक काल को परोक्ष मानते हैं, मीमांसक प्रत्यक्ष मानते हैं।

सांख्य दर्शन में 'काल' नामक कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। उनके अनुसार काल प्राकृतिक परिणमन मात्र है। जड़ जगत् प्रकृति का विकार है। इस विकार और परिणाम के आधार पर ही सांख्यों ने विश्वगत समस्त काल-साध्य व्यवहारों की उत्पत्ति मानी है।[4]

डॉ० आईंसटीन के अनुसार आकाश और काल कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं हैं। ये द्रव्य या पदार्थ के धर्म मात्र हैं। उन्होंने वस्तु का अस्तित्व चार दिशाओं में—लम्बाई, चौड़ाई, गहराई और ऊंचाई—माना है। वस्तु का रेखागणित (ऊंचाई, लम्बाई, चौड़ाई) में प्रसार आकाश है और उनका क्रमानुगत प्रसार काल है। काल और आकाश दो भिन्न तथ्य नहीं हैं। ज्यों-ज्यों काल बीतता है, त्यों-त्यों वह लम्बा होता जा रहा है। काल आकाश-सापेक्ष है। काल की लम्बाई के साथ-साथ आकाश का भी प्रसार हो रहा है। इस प्रकार काल और आकाश दोनों वस्तु-धर्म हैं।[5] काल अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि उसका स्कन्ध या तिर्यक् प्रचय नहीं होता। काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं, अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं इसलिए उनका स्कन्ध नहीं होता। वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक्-प्रचय नहीं होता।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के तुल्य है।[6]

### काल के विभाग

काल चार प्रकार का होता है—

(१) प्रमाणकाल—पदार्थ मापने का काल।

(२) यथायुर्निवृत्तिकाल—
(३) मरणकाल— } जीवन के अवस्थान को यथायुर्निवृत्तिकाल और उसके 'अन्त' को मरणकाल कहते हैं।

(४) अध्वाकाल—सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्धित काल।[7]

काल के अन्य विभागों की जानकारी के लिए देखिए—अनुयोगद्वार, सूत्र ४१३-४३३।

### ११. जीव का लक्षण है उपयोग (जीवो उवओगलक्खणो)

संक्षेप में जीव का लक्षण 'उपयोग है'। उपयोग का अर्थ है—चेतना की प्रवृत्ति। चेतना के दो भेद हैं—(१) ज्ञान और (२) दर्शन। इनके आधार पर उपयोग के दो रूप होते हैं—(१) साकार और (२) अनाकार।

विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—(१) जड़ और (२) चेतन। इन दोनों में भेद करने वाला गुण 'उपयोग' है। जिसमें उपयोग है... ज्ञान, दर्शन की प्रवृत्ति है, वह जीव है और जिसमें यह नहीं है, वह अजीव है।

इसके अगले श्लोक में जीव के लक्षण का विस्तार से निरूपण हुआ है। उसमें कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये जीव के लक्षण हैं। इन सबको हम दो भागों में बांट सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि जीव के लक्षण दो हैं—(१) वीर्य और (२) उपयोग। ज्ञान और दर्शन का उपयोग में समावेश हो जाता है तथा चारित्र और तप का वीर्य में। इस प्रकार अपेक्षा-भेद से दोनों श्लोकों में जीव के लक्षण का निरूपण किया गया है।

गति करना, घटना, बढ़ना, फैलना आदि चेतन के लक्षण नहीं बन सकते। वे सभी क्रियाएं चेतन और अचेतन दोनों में होती हैं। ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति ही उनकी भेद-रेखा हो सकती है।

### १२. शब्द (सद्द)

बारहवें श्लोक में पुद्गल के १० लक्षण गिनाए गए हैं। उनमें चार—वर्ण, रस, गंध और स्पर्श—पुद्गल के गुण हैं और शेष छह—शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप—पुद्गल के परिणाम या कार्य हैं। लक्षण दोनों ही बनते हैं। गुण सदा साथ ही रहते हैं, कार्य निमित्त मिलने पर अभिव्यक्त होते हैं। ये चारों गुण परमाणु और स्कंध—दोनों में विद्यमान रहते हैं परन्तु शब्द आदि कार्य स्कंधों के ही होते हैं।[8]

जैन-दर्शन के अनुसार शब्द पौद्गलिक, मूर्त और अनित्य है।[9] यह पुद्गल का लक्षण या परिणाम माना जाता है।[10] शब्द का अर्थ है—पुद्गलों के संघात और विघात से होने वाले ध्वनि-परिणाम।[11]

काय-योग के द्वारा शब्द-प्रायोग्य पुद्गलों का ग्रहण

---

१. मध्यसिद्धान्तसार, पृ० ६३।
२. वही, पृ० ६५।
३. पदार्थसंग्रह, पृ० ६५।
४. सांख्यप्रवचन, २।१२ : दिक्कालाकाशादिभ्यः।
५. मानव की कहानी, पृ० १२४५।
६. द्रव्यसंग्रह, २२।
७. ठाणं, ४।१३४।
८. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ० २३४ : स्पर्शादयः परमाणूनां स्कन्धानां च भवन्ति, शब्दादयस्तु स्कंधानामेव व्यक्तिरूपेण भवन्ति।
९. भगवई, १३।१२४ : रूवी भंते! भासा? अरूवी भासा? गोयमा! रूवी भासा नो अरूवी भासा।
१०. नवतत्त्व-साहित्य संग्रह, भाग २, पृ० २२ : शब्दान्धकारोद्योतप्रभाच्छायाऽऽतपवर्णगन्धरसस्पर्शा एते पुद्गलपरिणामाः पुद्गललक्षणं वेति भावः।
११. ठाणं, २।२२०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है और वे शब्द-रूप में परिणत होते हैं। परन्तु जब वे वाक्-प्रयत्न द्वारा मुख से बोले जाते हैं तभी उन्हें 'शब्द' संज्ञा से व्यवहृत किया जाता है। जब तक उनका वचन-योग के द्वारा विसर्जन नहीं हो जाता तब तक उन्हें शब्द नहीं कहा जाता।

शब्द के तीन प्रकार हैं—(१) जीव शब्द, (२) अजीव शब्द और (३) मिश्र शब्द। जीव शब्द आत्म-प्रयत्न का परिणाम है और वह भाषा या संकेतमय होता है। अजीव-शब्द केवल अव्यक्त ध्वन्यात्मक होता है। मिश्र शब्द दोनों के संयोग से होता है।

तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार शब्द के छह प्रकार हैं—(१) तत, (२) वितत, (३) घन, (४) शुषिर, (५) संघर्ष और (६) भाषा।[1]

शब्द के दस प्रकार हैं—(१) निर्हारी, (२) पिंडिम, (३) रूक्ष, (४) भिन्न, (५) जर्जरित, (६) दीर्घ, (७) ह्रस्व, (८) पृथक्त्व (९) काकिणी और (१०) किंकिणीस्वर।[2]

शब्द जीव के द्वारा भी होता है और अजीव के द्वारा भी होता है। अजीव का शब्द अनक्षरात्मक ही होता है। जीव का शब्द साक्षर और निरक्षर—दोनों प्रकार का होता है। इनके वर्गीकरण के लिए निम्न यंत्र देखिए—

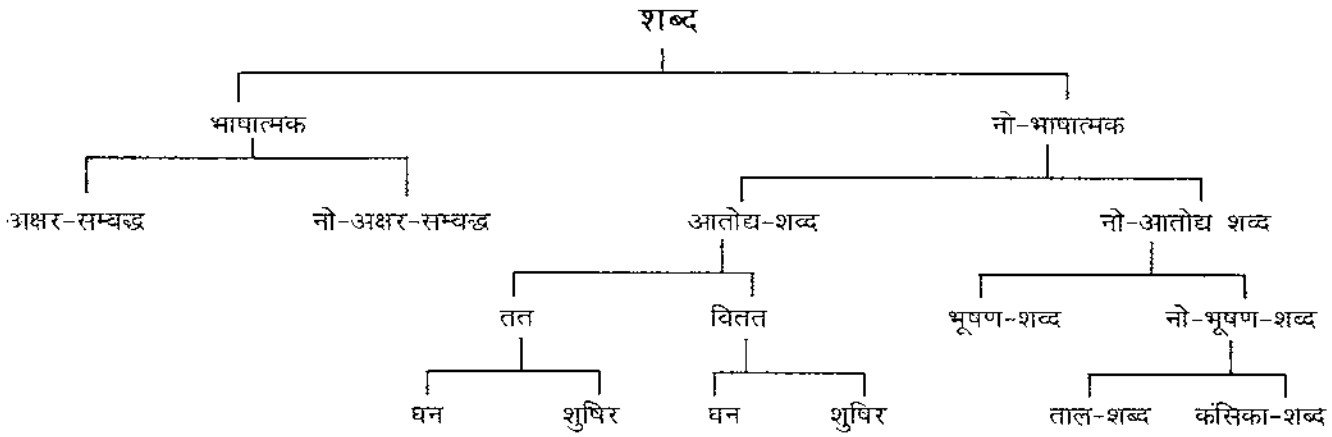


शब्द की उत्पत्ति पुद्गलों के संघात-विघात और जीव के प्रयत्न—इन दोनों हेतुओं से होती है। इसलिए प्रकारांतर से इसके दो वर्ग बनते हैं—(१) वैस्रसिक और (२) प्रायोगिक।

(१) वैस्रसिक—पुद्गलों के संघात-विघात से होने वाला।

(२) प्रायोगिक—जीव के प्रयत्न से होने वाला।

शब्द प्रसरणशील है। उससे दो व्यक्ति सम्बन्धित होते हैं—वक्ता और श्रोता। इसलिए इन दोनों की मीमांसा आवश्यक होती है कि वक्ता कैसे बोलता है और श्रोता उसे कैसे सुनता है? पुद्गलों की अनेक वर्गणाएं हैं। उसमें एक भाषा-वर्गणा है। कोई भी प्राणी जब बोलने का प्रयत्न करता है, तब वह सबसे पहले भाषा-वर्गणा के परमाणु-स्कंधों को ग्रहण करता है, उन्हें भाषा के रूप में परिणत करता है और उसके पश्चात् उनका विसर्जन करता है। इस विसर्जन को 'भाषा' कहा जाता है।[3]

शब्द गतिशील है, इसलिए वह वक्ता के मुंह से निकलते ही लोक में फैलने लगता है। वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो शब्द के परमाणु-स्कन्ध भिन्न होकर फैलते हैं और यदि उसका प्रयत्न मन्द होता है तो शब्द के परमाणु-स्कन्ध अभिन्न होकर फैलते हैं। जो भिन्न होकर फैलते हैं, वे सूक्ष्म हो जाते हैं और दूसरे-दूसरे अनन्त परमाणु-स्कन्धों को प्रभावित कर लोकांत तक फैल जाते हैं। जो अभिन्न होकर फैलते हैं, वे असंख्य योजन तक पहुंच कर नष्ट हो जाते हैं—भाषा रूप से च्युत हो जाते हैं।[4]

### १३. अन्धकार (अंधयार)

जैन-दृष्टि के अनुसार अन्धकार पुद्गल द्रव्य है, क्योंकि इसमें गुण है। जो-जो गुणवान् होता है वह-वह द्रव्य होता है, जैसे आलोक आदि।[5] वह प्रकाश की तरह भावात्मक द्रव्य है, अभावात्मक नहीं। जिस प्रकार प्रकाश का भास्वर रूप और ऊष्ण स्पर्श प्रसिद्ध है, उसी प्रकार अंधकार का कृष्ण रूप और शीत स्पर्श प्रसिद्ध है।

गणधर गौतम ने भगवान से पूछा—"भगवन्! क्या दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है?"

भगवान् ने कहा—"हां गौतम! दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है।"

"ऐसा क्यों होता है भगवन्?" गौतम ने पूछा।

भगवान् ने कहा—"गौतम! दिन में शुभ-पुद्गल शुभ-पुद्गल-परिणाम में परिणत होते हैं और रात्रि में अशुभ-पुद्गल अशुभ-पुद्गल-परिणाम में परिणत होते हैं। इसलिए दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है।"[6]

अन्धकार पुद्गल का लक्षण है—कार्य है, इसलिए वह

१. तत्त्वार्थ, सूत्र ५।२४, भाष्य पृ० ३५६।
२. ठाणं, १०।२।
३. भगवई, १३।१२४ : भासिज्जमाणी भासा।
४. पन्नवणा, पद ११।
५. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ६६६।
६. भगवई, ५।२३७,२३८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पौद्गलिक है।[1] वह पुद्गल का एक पर्याय है।[2] वैद्यक शास्त्र में भी अन्धकार को स्वतन्त्र मान कर उसके गुण का उल्लेख किया है। अन्धकार समस्त रोगों को करने वाला होता है।[3] अन्धकार भयावह, तिक्त और दृष्टि के तेज का आवारक होता है।[4] वैयाकरणों में अंधकार को अणुरूप माना है।[5] कई अन्य दार्शनिक भी अंधकार को द्रव्य मानते हैं।[6]

मध्वाचार्य ने अंधकार को स्वतंत्र द्रव्य माना है। वे कहते हैं—यह तेज का अभाव नहीं है। यह प्रकाश का नाशक है। नील रूप तथा चलन रूप क्रिया के आश्रय होने के कारण 'अन्धकार' मूर्त्त द्रव्य है।[7]

अंधकार जड़ प्रकृति रूप उपादान से उत्पन्न होता है और वह इतना घनीभूत हो जाता है[8] कि दूसरे कठोर द्रव्य के समान वह भी हथियार से काटा जाता है।[9] महाभारत के युद्ध में जब सूर्य चमक रहा था, उसी समय श्रीकृष्ण ने अंधकार को उत्पन्न किया। भाव रूप द्रव्य होने के कारण ही ब्रह्मा ने इसका पान किया था। स्वतन्त्र रूप से इसकी उपलब्धि लोगों को होती है और वह अन्य वस्तुओं को ढांक देता है, इसलिए इसका भाव रूप होना निश्चित है।[10]

कुमारिल भट्ट ने अंधकार को 'अभावात्मक' माना है।[11]

संक्षेप में नैयायिक, वैशेषिक[12] और प्रभाकर दर्शन-प्रणाली में अंधकार को अभावात्मक माना गया है। जैन, भर्तृहरि, भाट्ट और सांख्य-दर्शन उसे भावात्मक मानते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र सांख्य से प्रभावित है, इसलिए उसके प्रणेताओं ने अंधकार को भावात्मक माना है। विज्ञान में मानी जाने वाली इन्ट्रा अल्ट्रा रेज (Intra ultra rays) और अंधकार में कुछ साम्य संभव है।

## १४. छाया (छाया)

प्रत्येक स्थूल पौद्गलिक पदार्थ चय-उपचयधर्मक और रश्मिवान् होता है। इसका तात्पर्य है कि पौद्गलिक वस्तु का प्रति समय चय-उपचय होता रहता है और उसमें से तदाकार रश्मियां निकलती रहती हैं। यथायोग्य निमित्त मिलने पर ये रश्मियां प्रतिबिम्बित होती हैं। इस प्रतिबिम्ब को 'छाया' कहते हैं।

छाया के दो प्रकार हैं—(१) तद्वर्णादिविकार और (२) प्रतिबिम्ब। दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में जो ज्यों का त्यों आकार देखा जाता है, उसे तद्वर्णादिविकार छाया कहते हैं और अन्य द्रव्यों पर अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र पड़ना प्रतिबिम्ब रूप छाया है।

मीमांसाकार यह मानते हैं—दर्पण में छाया नहीं पड़ती, किन्तु नेत्र की किरणें दर्पण से टकरा कर वापिस आती हैं और अपने मुख को देखती हैं।[13]

राजवल्लभकोष (५।२२) में 'छाया दाहश्रमस्वेदहरा मधुरशीतला' कहा गया है। यही बात राजनिघण्टुकोष में भी कही गई है।

न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका (पृ० ३४५) में छाया को 'अभावरूप' माना गया है। विशेष विवरण के लिए देखिए—न्याय-कुमुदचन्द्र, पृ० ६६७-६७२।

कुमारिल भट्ट प्रतिबिम्ब को अभावरूप मानते हैं।[14]

## १५. (श्लोक १३)

प्रस्तुत श्लोक में पर्याय के छह लक्षण बतलाए गए हैं। उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

---

१. (क) स्याद्वादमंजरी (कारिका ५) : न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्, चाक्षुषत्वाऽन्यथानुपपत्तेः प्रदीपालोकवत्...रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्।
(ख) रत्नाकरावतारिका, पृ० ६६ : तमः स्पर्शवत्, रूपवत्त्वात्, पृथिवीवत्, न च रूपवत्त्वमसिद्धं अंधकारः कृष्णोऽयमिति कृष्णाकारप्रतिभासात्।

२. द्रव्यसंग्रह, गाथा १६।

३. राजनिघण्टुकोष, सत्तादिरेकविंशवर्गः, ३८ :
आतपः कटुकोरूक्षः, छाया मधुरशीतला।
त्रिदोषशमनी ज्योत्स्ना, सर्वव्याधिकरं तमः।।

४. राजवल्लभकोष ५।२२ :
तमो भयावहं तिक्तं, दृष्टितेजोवरोधनम्।

५. वाक्यपदीय, १।१११ :
अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः।।

६. (क) विधिविवेकन्यायकणिका, टीका, पृ० ६६-७६।
(ख) मानमेयोदय, पृ० १५२ :
गुणकर्मादिसद्भावादस्तीति प्रतिभासतः।
प्रतियोग्यस्मृतश्चैव भावरूपं ध्रुवं तमः।।
(ग) तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी, ५५।२८ :
तमाल श्यामल ज्ञाने निर्बाध जागृति स्फुटे।
द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते।।
(घ) प्रशस्तपाद भाष्य की व्योमवती टीका, पृ० ४०।
(ङ) स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ८५१-८५५।

७. मध्व सिद्धांतसार पृ० ६०।

८. वही, पृ० ६१।

९. पदार्थसंग्रह, पृ० ६२।

१०. वही, पृ० ६१।

११. मीमांसा श्लोकवार्तिक न्यायरत्नाकराख्या टीका, पृ० ७४० :
किमिदं तमो नाम ? द्रव्यगुणनिष्पत्तिवैधर्म्याद् अभावस्तमः इति।

१२. (क) वैशेषिक, सूत्र ५।२।१६ : द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः।
(ख) वैशेषिक सूत्रोपस्कार, ५।२।२० : उद्भूतरूपवद्द्रव्यावतेजःसंसर्गाभावस्तमः।

१३. मीमांसा श्लोकवार्तिक, १८०-१८१ :
अत्र ब्रूमो यदा तावज्ज्वाले सौरेण तेजसा।
स्फुरता चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतःप्रवर्तितम्।।
स्वदेशमेव गृह्णाति सवितारमनेकधा।
भिन्नमूर्तिर्यथापात्रं तद्वास्यानेकता कुतः।।

१४. तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ४१८, ६६७ : ...अतो नास्त्येव किञ्चिद् वस्तु भूतं प्रतिबिम्बकं नाम।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. एकत्व—प्रत्येक स्कन्ध के परमाणु भिन्न-भिन्न होते हैं, फिर भी उनके संघात में एकत्व की अनुभूति होती है, यह एकत्व लक्षण है। जैसे—प्रत्येक घट के परमाणु पृथक्-पृथक् होते हैं, परन्तु 'यह घट है' यह एकत्व का वाचक बनता है।

२. पृथक्त्व—'यह इससे पृथक् है' इस अनुभूति का हेतु पर्याय का पृथक्त्व लक्षण है।

३. संख्या—एक, दो, तीन आदि की प्रतीति का हेतुभूत पर्याय।

४. संस्थान—आकार-विशेष में संस्थित होना। यह वर्तुल है—इस बुद्धि का हेतुभूत पर्याय।

५. संयोग—दो वस्तुओं का संयोग—इस प्रकार के व्यपदेश का हेतुभूत पर्याय।

६. विभाग—'यह इससे विभक्त है'—इस बुद्धि का हेतुभूत पर्याय।

पृथक्त्व और विभाग—एक नहीं है। विभाग संयोग की उत्तरकालीन पर्याय है और पृथक्त्व दो वस्तुओं में भेद करने वाला पर्याय है, जैसे—घट और पट। दो अंगुलियों को मिलाया। यह संयोग है। उन्हें अलग किया। यह विभाग है। घट और पट में मूलतः भिन्नता है, इसलिए उनमें पृथक्त्व पर्याय है, विभाग पर्याय नहीं।[1]

वैशेषिक दर्शन में गुण के चौबीस प्रकार माने हैं। उनमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग—ये पांच गुण हैं। इनकी परिभाषा इस प्रकार है।[2]—

१. संख्या—'एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या'—जिस गुण के कारण एक-दो आदि शब्दों का व्यवहार किया जाता है, उसे संख्या कहते हैं।

२. परिमाण—'मानव्यवहारकारणं परिमाणम्' जिस गुण के आधार पर मान किया जाता है, उसे परिमाण कहते हैं।

३. पृथक्त्व—'पृथग्व्यवहारकारणं पृथक्त्वम्'—'यह उससे अलग है'—ऐसा ज्ञान जिस आधार पर होता है, उसे पृथक्त्व कहते हैं।

४. संयोग—'संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः'—'यह पदार्थ उसके साथ संयुक्त है'—ऐसा प्रयोग जिस आधार पर होता है, वह संयोग है।

५. विभाग—'संयोगनाशको गुणो विभागः'—जिसके द्वारा संयोग का नाश होता है, उसे विभाग कहते हैं।

## १६. (श्लोक १४)

स्थानांग में तथ्य के स्थान पर 'सद्भावपदार्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] तथ्य, पदार्थ और तत्त्व—ये सब पर्यायवाची हैं। वृत्तिकार ने तथ्य का अर्थ अवितथ किया है। अवितथ वे होते हैं जिनका अस्तित्व वास्तविक होता है। ये नौ तथ्य काल्पनिक नहीं हैं, किंतु वास्तविक हैं।[4]

इस श्लोक में नौ तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। वस्तुवृत्या तत्त्व दो ही हैं—(१) जीव और (२) अजीव।

नौ तत्त्व इन दो विभागों में समाविष्ट हो जाते हैं। यथा—जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—जीव में। अजीव, पुण्य, पाप और बन्ध—अजीव में।

आस्रव आदि आत्मा के ही विशेष परिणाम हैं और पुण्य, पाप आदि पौद्गलिक कर्म अजीव के ही विशेष परिणाम हैं। जिस प्रकार लोक की व्यवस्था के लिए छह द्रव्य आवश्यक हैं, उसी प्रकार आत्मा के आरोह और अवरोह को जानने के लिए नौ तत्त्व उपयोगी हैं। इनके बिना आत्मा के विकास या ह्रास की प्रक्रिया बुद्धिगम्य नहीं हो सकती।

दिगम्बर-ग्रंथों में नौ तत्त्वों के स्थान पर सात तत्त्व माने गए हैं। पुण्य-पाप को बंध के अंतर्गत माना गया है। दोनों मान्यताएं आपेक्षिक हैं, उनमें स्वरूप-भेद कुछ भी नहीं है।

### नौ तत्त्व तथा उनके भेद–प्रभेद

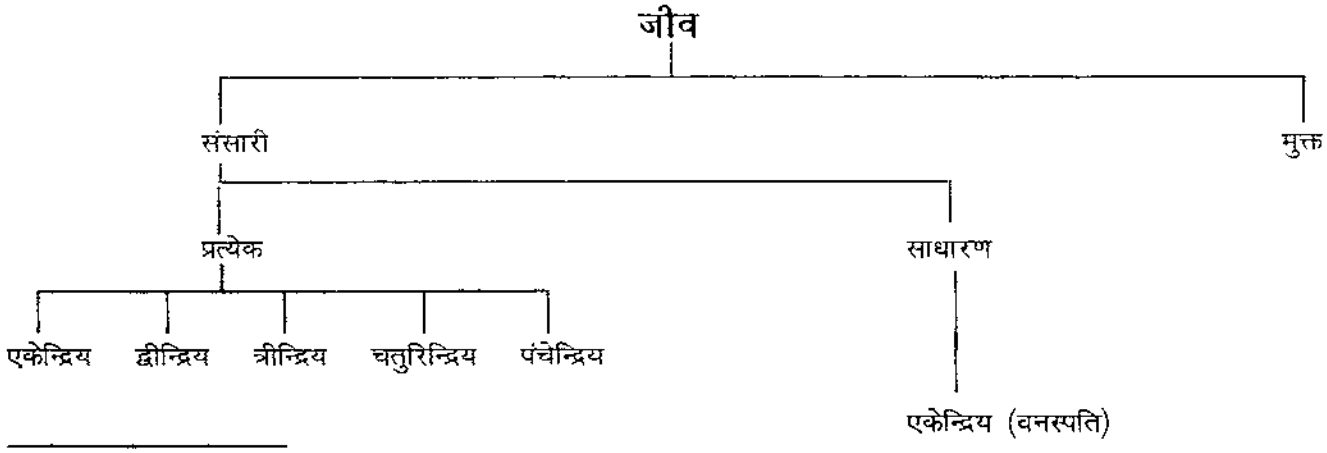


१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६२।
२. भारतीय दर्शन परिचय, खंड २, पृ० ६६-७०।
३. ठाणं, ६।६।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६२ : तथ्याः अवितथाः निरुपचरितवृत्तयः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

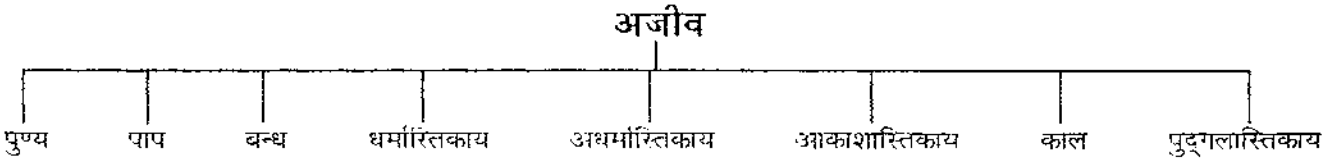


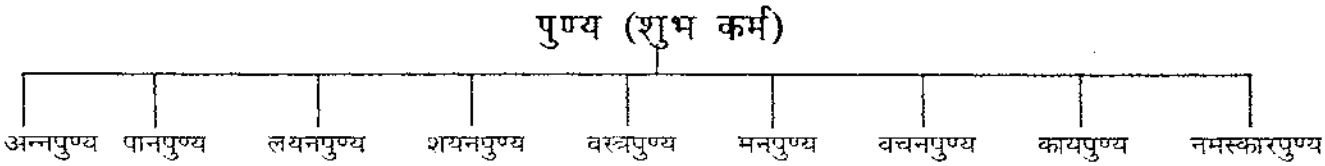


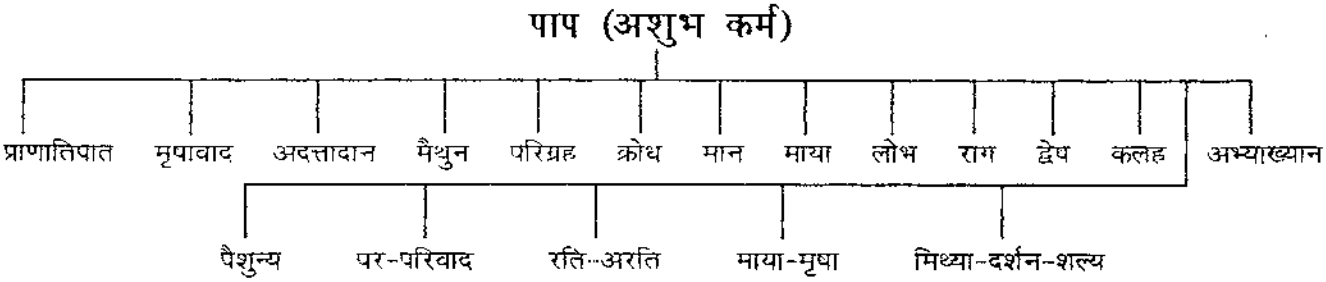


## आस्रव

**आस्रव**—शुभ-अशुभ कर्म को ग्रहण करने वाला जीव का अध्यवसाय, परिणाम एवं प्रवृत्ति को 'आस्रव' कहा जाता है।

सांख्य-योग में वर्णित 'क्लेश' आस्रव के अति निकट है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—'कर्म वासना का मूल क्लेश है।'[1] बौद्ध-दर्शन में अविद्या को अनादि दोष माना है। इस अविद्या के जो निमित्त आत्म-परिणामों के प्रेरक बनते हैं, उन्हें 'आसव' कहा जाता है। आसव का अर्थ है—मद उत्पन्न करने वाला रस। ये आसव चार हैं—(१) काम-आसव, (२) भव-आसव, (३) दृष्टि-आसव और (४) अविद्या-आसव।

(१) काम-आसव—शब्दादि विषयों को प्राप्त करने की इच्छा-वासना या राग।

(२) भव-आसव—जीवन की अभिलाषा।

(३) दृष्टि-आसव—बौद्ध-दृष्टि से विपरीत दृष्टि का सेवन।

(४) अविद्या-आसव—अनित्य पदार्थों में नित्यता की बुद्धि।

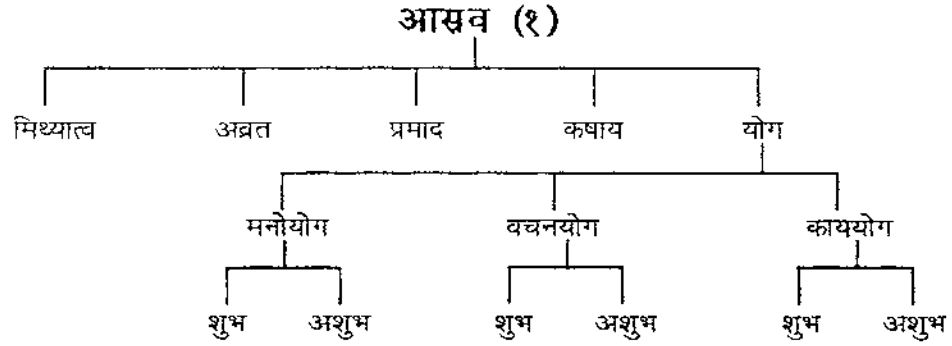


१. पातंजल योगदर्शन, २।१२ : क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

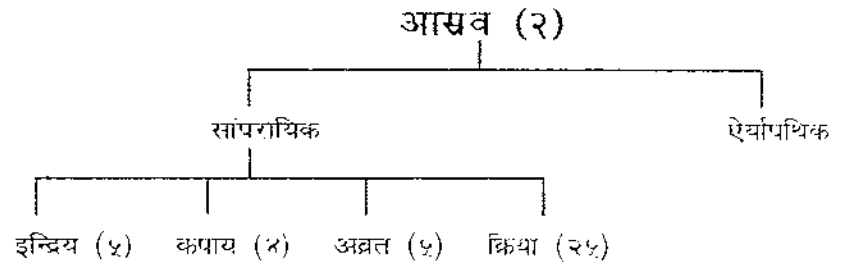


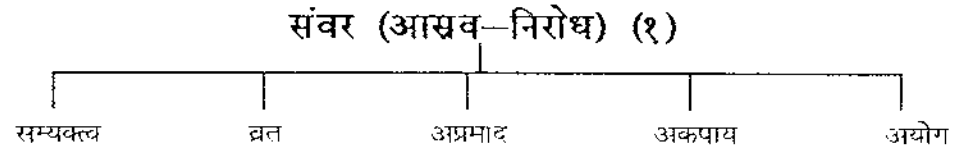


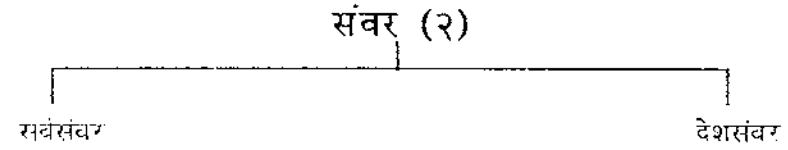


## निर्जरा (तप)

निर्जरा—तपस्या के द्वारा कर्मों का विच्छेद होने पर जो आत्मा की निर्मलता होती है, उसे 'निर्जरा' कहते हैं। निर्जरा के साधन को भी निर्जरा कहा जाता है। उसके आधार पर इसके बारह भेद होते हैं—

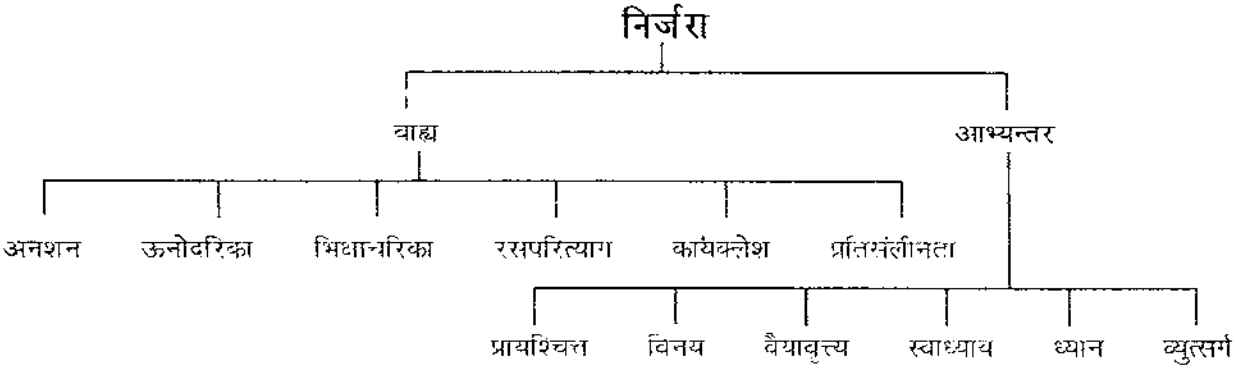


**मोक्ष**—जैन-दृष्टि के अनुसार 'समस्त कर्मों का क्षय कर अपने आत्म-स्वभाव में रमण करना' मोक्ष है। आत्मा का स्वभाव है—ज्ञान, दर्शन और पवित्रता। इन तीनों की पूर्णता ही मोक्ष है। जैन-दृष्टि के अनुसार मुक्त-जीवों के वास-स्थान को भी मोक्ष कहा गया है। सिद्धालय, मुक्ति, ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी आदि उसके अपर नाम हैं। यह स्थान मनुष्य-क्षेत्र के बराबर लम्बा-चौड़ा है। इसके मध्य भाग की मोटाई आठ योजन की है और अन्तिम भाग मक्खी के पंख से भी अधिक पतला है और वह लोक के अग्रभाग में स्थित है। इसका आकार सीधे छत्ते जैसा है और यह श्वेत स्वर्णमयी है।

बौद्ध-दर्शन में तृष्णा के आत्यन्तिक क्षय को 'मोक्ष' कहा है। धम्मदिन्ना नामक भिक्षुणी ने निर्वाण के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर विशाख को इस प्रकार उत्तर दिया—

विशाख—आर्ये! विद्या का क्या प्रतिभाग है?

धम्मदिन्ना—विमुक्ति०।

विशाख—विमुक्ति का क्या प्रतिभाग है?

धम्मदिन्ना—निर्वाण०।

विशाख—और निर्वाण का क्या प्रतिभाग है?

धम्मदिन्ना—विशाख! ब्रह्मचर्य निर्वाण पर्यन्त है, निर्वाण-परायण है, निर्वाण-पर्यवसान है।[1]

भाट्टमत के अनुसार भोगायतन—शरीर, भोग-साधन—इन्द्रियां और भोग्य-विषय—इन तीनों के आत्यन्तिक नाश को मोक्ष कहा गया है।[2] अथवा 'प्रपञ्च सम्बन्ध के विलय' को मोक्ष कहा गया है। मोक्षावस्था में जीव में न सुख है, न

१. मज्झिमनिकाय, चूलवेदल्ल सुत्त (१।५।४), पृ० ४८३।

२. शास्त्रदीपिका, पृ० १२५ : त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द है और न ज्ञान है—'तस्मात् निःसम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः'।[1] मुक्तावस्था में आत्मा में 'ज्ञानशक्तिमात्र' ज्ञान रहता है। साथ ही साथ उसकी सत्ता तथा द्रष्टव्य आदि धर्म तो उसमें रहते ही हैं। यही आत्मा का निजी-स्वरूप है, जिससे वह मोक्ष में स्थित रहता है—'यदस्य स्वं नैजं रूपं ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठेत।'[2]

प्रभाकर धर्म तथा अधर्म का सम्पूर्ण नाश होने से देह के आत्यन्तिक उच्छेद को 'मोक्ष' कहते हैं।[3] इनका मत है कि आत्म-ज्ञान के द्वारा धर्माधर्म का नाश होता है और वही मुक्ति है। मुक्तावस्था में जीव की सत्ता मात्र रहती है।[4]

भास्कर वेदान्त के अनुसार उपाधियों से मुक्त होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप को धारण करना मोक्ष है। इसके दो भेद हैं—(१) सद्योमुक्ति और (२) क्रममुक्ति। जो साक्षात् कारण-स्वरूप-ब्रह्म की उपासना करने पर मुक्ति पाते हैं, वह 'सद्योमुक्ति' है और जो कार्य-स्वरूप-ब्रह्म के द्वारा मुक्ति पाते हैं, उनकी मुक्ति 'क्रममुक्ति' है अर्थात् वे देवयान मार्ग से अनेक लोकों में घूमते हुए मुक्त होते हैं।[5] मुक्त-जीव मन के द्वारा मुक्ति में आनन्द का अनुभव करता है। मुक्त-दशा में 'सम्बोध' या 'ज्ञान' आत्मा में रहता ही है। ध्यान, धारणा और समाधि मुक्ति के साधन हैं।

रामानुजाचार्य ने तीन प्रकार की जीवात्माएं मानी हैं—(१) बद्ध, (२) मुक्त और (३) नित्य। उनके अभिमतानुसार सत्प्रवृत्तियों के द्वारा जीव ईश्वर के पास जाता है, तब उसमें सब तरह के, सभी अवस्था के उपयुक्त भगवान् के प्रति सेवक-भाव तथा स्नेह आविर्भूत हो जाता है और इन सबका अनुभव जीव को होने लगता है। ऐसे 'जीव' मुक्त कहलाते हैं। ये 'मुक्त जीव' ब्रह्म के समान भोग करते हैं। ये भी अनेक हैं तथा सब लोकों में अपनी इच्छा से विचरण करते हैं।[6] मुक्तावस्था में मुक्त-पुरुषों का ज्ञान कभी-कभी व्यापक रहता है।[7]

निम्बार्काचार्य ने दो प्रकार के मुक्त-जीव माने हैं—नित्य-मुक्त और दूसरे वे जो सत्कर्म करते हुए पूर्व जन्म के कर्मों का भोग सम्पन्न कर संसार के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होने पर ये सब अर्चिरादि मार्ग से 'परःज्योतिः' स्वरूप को पा कर अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकट हो जाते हैं और पुनः संसार में नहीं जाते। इनमें से कई केवल आत्म-साक्षात्कार करके ही तृप्त हो जाते हैं और कई ईश्वर-तुल्य बन जाते हैं। इनके अनुसार मुक्त-जीव भी भोग भोगते हैं।[8]

मध्वाचार्य के अनुसार मुक्त-जीव अपनी इच्छा से शुभ सत्त्वमय देह धारण कर यथेष्ट भोग का अनुभव करते हैं और पुनः स्वेच्छा से उसे त्याग देते हैं। किसी-किसी के मत में मुक्त-जीव पांच भौतिक शरीर के द्वारा भी भोग कर सकता है। यह शरीर उसका 'स्वेच्छा-स्वीकृत शरीर' कहलाता है।[9] इसके अनुसार संसार तथा मोक्ष—दोनों ही अवस्था में जीवों में भी परस्पर भेद है। परमात्मा इन सबसे भिन्न है।[10] ज्ञान की तरतमता के कारण परम आनन्द की अनुभूति में भी तारतम्य रहता है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति का वियोग हो जाना ही मोक्ष है अथवा विवेक-ख्याति या विवेक-बुद्धि को प्राप्त करना मुक्ति है। मोक्षावस्था में भी प्रकृति का सात्त्विक अंश रहता है। मुक्ति में मुक्त-जीवों की संख्या अनन्त है।[11]

### वैष्णव तंत्र

मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को भगवन्-भक्ति द्वारा शरणागति प्राप्त करनी चाहिए।[12] मुक्त-दशा में जीव ब्रह्म से एकाकार हो जाता है और उसका पुनरावर्तन नहीं होता।[13] 'ब्रह्मभावापत्ति' मुक्ति का अपर नाम है।

### शैव तंत्र

'क्रिया' मुक्ति का साधन है, 'ज्ञान' नहीं। अनुग्रह शक्ति द्वारा जीव संसार के बंधन से छूट सकता है।[14]

### शाक्त तंत्र

'भोगात्मक-साधन' से मुक्ति प्राप्त होती है।[15] भोग और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं है। इस मत में माता, भगिनी और पुत्री का भोग करने वालों को भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है, ऐसा विधान है।[16]

### वैशेषिक

द्रव्य, गुण आदि षट्पदार्थों में ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[17] 'धर्म' मोक्ष का साधन है, इससे तत्त्व-ज्ञान और

---

१. शास्त्रदीपिका, पृ० १२५-१३०।
२. वही, पृ० १३०।
३. प्रकरणपंचिका, पृ० १५६ : आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्षः।
४. वही, पृ० १५६-१५७।
५. भास्कर भाष्य।
६. यतिपतिमतदीपिका, पृ० ३२-३६।
७. तत्त्वत्रयभाष्य, पृ० ३५-३६।
८. वेदान्तपारिजातसौरभ, ४।४।१३,१५।
९. मध्वसिद्धान्तसार, पृ० ३६-३७।
१०. पदार्थसंग्रह, पृ० ३२।
११. सांख्यकारिका, ७० की माठर वृत्ति।
१२. अहिर्बुध्न्यसंहिता, ३७।२७-३१।
१३. वही, ६।२७-२८।
१४. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १७४-१८६।
१५. श्री गुह्यसमाजतंत्र, पृ० २७ :
दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः, सेव्यमानो न सिद्धचति।
सर्वकामोपभोगैस्तु, सेवयंश्चाशु सिद्धचति।।
१६. श्री गुह्यसमाजतंत्र, अध्याय ५।
१७. वैशेषिक सूत्र, १।१।४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष की प्राप्ति होती है।

**न्याय-दर्शन**

प्रमाण-प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के ज्ञान से मिथ्या-ज्ञान नष्ट हो जाता है। तदनन्तर राग-द्वेष और मोह का नाश होता है। इससे धर्म-अधर्म रूप प्रवृत्ति का नाश होता है। इससे जन्म का क्षय होता है और इससे दुःख क्षय होता है। दुःख का अत्यन्त क्षय ही मुक्ति है—अपवर्ग है।[1] मुक्तावस्था में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार का मूलोच्छेद हो जाता है।[2]

इस प्रकार भारतीय तत्त्व-चिन्तन में मोक्ष विषयक अनेक मान्यताएं प्राप्त होती हैं।

**१७. (श्लोक १६)**

इस श्लोक में दस रुचियों का उल्लेख हुआ है। रुचि का अर्थ है—सत्य की श्रद्धा, अभिलाषा।[3] इन दस रुचियों में विभिन्न अपेक्षाओं से होने वाले सम्यक्त्व के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण किया गया है। स्थानांग में इन्हें 'सराग सम्यग्-दर्शन' कहा है।[4] तत्त्वार्थ राजवार्तिक में दस प्रकार के दर्शन-आर्य बतलाए गए हैं।[5] ये दस दर्शन-आर्य दस रुचियों से कुछ समान और कुछ भिन्न हैं—

| उत्तराध्ययन | तत्त्वार्थ राजवार्तिक |
|---|---|
| (१) निसर्गरुचि | आज्ञारुचि दर्शन-आर्य—<br>वीतराग की आज्ञा में विश्वास होने के कारण जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो। |
| (२) उपदेशरुचि | मार्गरुचि दर्शन-आर्य—<br>मोक्ष-मार्ग सुनने से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो। |
| (३) आज्ञारुचि | उपदेशरुचि दर्शन-आर्य—<br>तीर्थंकर आदि के पवित्र आचरण के उपदेश को सुन कर जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो। |
| (४) सूत्ररुचि | सूत्ररुचि दर्शन-आर्य—<br>आचारांग आदि सूत्रों को सुनने से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो। |
| (५) बीजरुचि | बीजरुचि दर्शन-आर्य—<br>बीज पदों के निमित्त से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो। |
| (६) अभिगमरुचि | संक्षेपरुचि दर्शन-आर्य—<br>जीव आदि पदार्थों के संक्षिप्त निरूपण से बोध प्राप्त कर जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो। |
| (७) विस्ताररुचि | विस्ताररुचि दर्शन-आर्य—<br>जीव आदि पदार्थों के विस्तृत निरूपण से बोध प्राप्त कर जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो। |
| (८) क्रियारुचि | अर्थरुचि दर्शन-आर्य—<br>बचन विस्तार के बिना केवल अर्थ-ग्रहण से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो। |
| (९) संक्षेपरुचि | अवगाढ़रुचि दर्शन-आर्य—<br>आचारांग आदि बारह अंगों (द्वादशांगी) में जिनका श्रद्धान अति दृढ़ हो। |
| (१०) धर्मरुचि | परम-अवगाढ़ दर्शन-आर्य—<br>परमअवधि, केवलज्ञान, केवलदर्शन से प्रकाशित जीव आदि पदार्थों के ज्ञान से जिनकी आत्मा निर्मल हो। |

**१८. पूर्वजन्म की स्मृति आदि (सहसम्मुइ.....)**

'सहसम्मुइ' का अर्थ है—स्वस्मृति, जातिस्मृति, पूर्वजन्म की स्मृति। 'सह' का अर्थ है—स्व और 'सम्मुइ' का अर्थ है—स्मृति। वृत्तिकार ने इसका अर्थ—सहसम्मति—आत्मा के साथ होने वाली सम्मति—किया है। तात्पर्य में दोनों अर्थ एक हो जाते हैं।[7]

**१९. भूतार्थ (यथार्थ ज्ञान) (भूयत्थ.....)**

वृत्तिकार ने 'भूत' का अर्थ अवितथ किया है। उनके अनुसार भूतार्थ का अर्थ है—यथार्थ विषय वाला।[8] यह अर्थ स्पष्ट नहीं है। समयसार ग्रन्थ में मूलस्पर्शी अर्थ प्राप्त है। वहां व्यवहार नय के लिए अभूतार्थ और निश्चय नय के लिए भूतार्थ शब्द प्रयुक्त हुआ है।[9]

प्रस्तुत श्लोक १७ से समयसार की निम्न गाथा की तुलना की जा सकती है—

*भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।*
*आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥१।१३॥*

**२०. जिनेन्द्र द्वारा दृष्ट (जिणदिट्ठे)**

इसके संस्कृतरूप दो बन सकते हैं—'जिनदृष्टान्' और 'जिनादिष्टान्'। पहले का अर्थ होगा—अर्हत् के द्वारा देखा

---

१. वैशेषिक सूत्र, १।१।२।
२. न्यायसूत्र, १।१।२२।
३. जयन्त न्यायमंजरी पृ० ५०८।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६३।
५. ठाणं, १०।१०४।
६. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ३।३६, पृ० २०१।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६४ : सहसंमुइअ त्ति सोपस्कारत्वात् सूत्रत्वाच्च सहात्मना या संगता मतिः सं (सहसं) मतिः, कोर्थः परोपदेशनिरपेक्षतया जातिस्मरणप्रतिभादिरूपया।
८. वही, पत्र ५६४।
९. समयसार १।११ : भूदत्थो—शुद्ध नय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ, साक्षात् किया हुआ और दूसरे का अर्थ होगा—अर्हत् द्वारा उपदिष्ट।

**२१. (रागो.....)**

राग, द्वेष, मोह और अज्ञान—यह चतुष्क आज्ञारुचि का बाधक है। यहां मोह का अर्थ मूर्च्छा या मूढ़ता है। राग, द्वेष और मोह—इन तीनों का सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है। इस चतुष्क का उल्लेख ३२।२ में भी हुआ है।

**२२. वीतराग की आज्ञा (आणाए)**

इसके संस्कृत रूप तीन हो सकते हैं—आज्ञाय, आज्ञायां और आज्ञया। वृत्तिकार ने 'आज्ञया' रूप मानकर इसका अर्थ आचार्य आदि की आज्ञा से—किया है।[1]

स्थानांग में सरागसम्यग्दर्शन के दस प्रकारों से इन्हीं दस रुचियों का उल्लेख है। वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने आज्ञारुचि को 'आज्ञाया रुचिः' ऐसा मानकर आज्ञा का अर्थ सर्वज्ञ का वचन किया है तथा तात्पर्यार्थ में आचार्य आदि की आज्ञा को आज्ञा का वाचक माना है।[2]

हमने इसका संस्कृतरूप 'आज्ञायां' मानकर इसका अर्थ वीतराग की आज्ञा में किया है। यहां आज्ञा का अर्थ आदेश-निर्देश नहीं है। उसका अर्थ आगम अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा दृष्ट अतीन्द्रिय विषयों का प्रतिपादन है। आज्ञा विचय में आज्ञा का जो अर्थ है, वही यहां प्रासंगिक है।

**२३. (श्लोक २७)**

प्रस्तुत श्लोक में तीन पदों के साथ धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। अस्तिकाय पांच हैं—धर्मास्किाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्किाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। अस्तिकाय के साथ धर्म शब्द का प्रयोग स्वभाव अर्थ में किया गया है। श्रुत और चारित्र—ये दोनों धर्म साधना के लिए निरूपित हैं।

**२४. (श्लोक २९)**

सम्यक्त्वविहीन चारित्र नहीं होता, यह नियम है। सम्यक्त्व के साथ चारित्र हो ही, यह नियम नहीं है। इन दो नियमों के आधार पर दो विकल्प बनते हैं। पहले दो चरणों के नियम का निर्देश है। उत्तरवर्ती दो चरणों में दो विकल्पों का निर्देश है। पहला विकल्प—सम्यक्त्व और चारित्र का सहभाव होता है। दूसरा विकल्प—जहां दोनों का सहभाव न हो वहां पहले सम्यक्त्व होता है। वृत्तिकार ने 'उत्पद्येते' इस क्रिया को शेष मानकर व्याख्या की है। उसके आधार पर उत्तरवर्ती दो चरणों का अनुवाद इस प्रकार होगा—सम्यक्त्व और चारित्र युगपत् (एक साथ) उत्पन्न होते हैं और जहां वे युगपत् उत्पन्न नहीं होते, वहां पहले सम्यक्त्व होता है।[3]

सम्यक्त्व और चारित्र युगपत्—एक साथ कैसे होते हैं—इस प्रश्न पर जयाचार्य ने विमर्श किया है। उसका सार यह है—कोई मुनि छठे गुणस्थान में विद्यमान है। वह किसी तत्त्व के विषय में संशयशील हो गया। उस संशयशीलता के कारण उसका सम्यक्त्व और चारित्र—दोनों नष्ट हो गए। वह प्रथम गुणस्थान में चला गया। अंतर्मुहूर्त्त में उसके संशय का निवारण हो गया। वह फिर सम्यक्त्व और चारित्र-युक्त हो गया। व्याख्या का यह एक नय है। इस नय की अपेक्षा सम्यक्त्व और चारित्र के युगपत् उत्पाद अथवा सहभाव को समझा जा सकता है।[4]

**२५. (श्लोक ३१)**

सम्यग्-दर्शन का अर्थ है—सत्य की आस्था, सत्य की रुचि। वह दो प्रकार का होता है—(१) नैश्चयिक और (२) व्यावहारिक। नैश्चयिक-सम्यग्-दर्शन का सम्बन्ध केवल आत्मा की आंतरिक शुद्धि या सत्य की आस्था से होता है। व्यावहारिक-सम्यग्-दर्शन का संबन्ध संघ, गण और संप्रदाय से भी होता है।

सम्यग्-दर्शन के आठ अंगों का निरूपण इन दोनों दृष्टियों को सामने रख कर किया गया है। सम्यग्-दर्शन के आठ अंग ये हैं—(१) निःशंकित, (२) निष्कांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टि, (५) उपबृंहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

सम्यग्-दर्शन के पांच अतिचार हैं—(१) शंका, (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा, (४) पर-पाषण्ड-प्रशंसा और (५) पर-पाषण्ड-संस्तव।

आचार का उल्लंघन अतिचार होता है और 'अतिचार' का वर्जन आचार। आचार के आठ अंग हैं और अतिचार के पांच। इस संख्या-भेद पर सहज ही प्रश्न होता है।

श्रुतसागरसूरि ने इसका समाधान किया है। उनके अनुसार व्रत और शीलों के पांच-पांच अतिचार बतलाए हैं। अतः अतिचारों के वर्णन में सम्यग्-दर्शन के पांच ही अतिचार बतलाए गए हैं। शेष तीन अतिचारों का मिथ्यादृष्टि-प्रशंसा

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६४ : आज्ञयैव आचार्यादिसम्बन्धिन्या...।

२. ठाणं १०।१०४, वृत्ति पत्र ४७७ : आज्ञा—सर्वज्ञवचनात्मिका तया रुचिर्यस्य स तथा, यो हि प्रतनुरागद्वेषमिथ्याज्ञानतया ऽऽचार्यादीनामाज्ञयैव।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६६ : सम्यक्त्वचारित्रे 'युगपत्' एककालमुत्पद्येते इति शेषः। ...पूर्वं चारित्रोत्पादात् सम्यक्त्वमुत्पद्यते ततो यदा युगपदुत्पादस्तदा तयोः सहभावः।

४. उत्तराध्ययन की जोड़, २८।२६ का वार्तिक—
इहां कह्यो, पहिला सम्यक्त्व आवै अने पछै चारित्र पावै एतो प्रत्यक्ष दीसेज छै। पिण सम्यक्त्व चारित्र साथै आवै कह्यो ते किम। तेहनों उत्तर। एक मुनि छठे गुणठाणें हुंतो। तिणनै किणही बोलनीं शंका पडी। तिवारे समकित चारित्र दोनूं ही गया। पहिलै गुणठाणै आयो। पछै अन्तर्मुहूर्त्त में शंका मिट्यां पाछो छठे गुणठाणे आयां सम्यक्त्व चारित्र सहित थयो। इम सम्यक्त्व चारित्र साथै आवै। एहवूं न्याय संभवै।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और मिथ्यादृष्टि-संस्तव में अन्तर्भाव हो जाता है। जो मिथ्या-दृष्टियों की प्रशंसा और स्तुति करता है, वह मूढ़-दृष्टि तो है ही। वह उपबृंहण नहीं करता, स्थिरीकरण नहीं करता। उससे वात्सल्य और प्रभावना भी संभव नहीं है।[1] इस भावना के अनुसार सम्यग्-दर्शन के आठ आचारात्मक और आठ अतिचारात्मक अंग होते हैं—

### (१) निःशंकित और शंका

शंका का अर्थ सन्देह भी होता है और भय भी। इन दोनों अर्थों के आधार पर इसकी व्याख्या हुई है। शान्त्याचार्य, हरिभद्रसूरि, अभयदेवसूरि, हेमचन्द्राचार्य, नेमिचंद्राचार्य, स्वामी समंतभद्र और शिवकोट्याचार्य ने शंका का अर्थ 'सन्देह' किया है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने शंका का अर्थ 'भय' किया है।[3] श्रुतसागरसूरि ने दोनों अर्थ किये हैं।[4] संक्षेप में—

(१) जिन भाषित-तत्त्व के प्रति जो सन्देह होता है, वह शंका है।

(२) जिसका मन सात प्रकार के भयों से व्यथित होता है, वह शंका है। यह सम्यग्-दर्शन का अतिचार है। निश्शंकित सम्यग्-दर्शन का आचार है। सम्यग्-दृष्टि को असंदिग्ध और अभय होना चाहिए।

### (२) निष्कांक्षित और कांक्षा

कांक्षा के दो अर्थ मिलते हैं—(१) एकांत-दृष्टि वाले दर्शनों को स्वीकार करने की इच्छा[5] और (२) धर्माचरण के द्वारा सुख-समृद्धि पाने की इच्छा।[6]

विजयोदया के अनुसार भोग और सुख-संपदा की जो इच्छा है, वह सम्यग्-दर्शन का अतिचार नहीं है किंतु दर्शन, व्रत आदि के द्वारा भोग-प्राप्ति की इच्छा करना अतिचार है।[7] निष्कांक्षित सम्यग्-दर्शन का आचार है।

### (३) निर्विचिकित्सा और विचिकित्सा

विचिकित्सा के भी दो अर्थ मिलते हैं—(१) धर्म के फल में संदेह[8] और (२) जुगुप्सा—घृणा।[9]

आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि नाना प्रकार के भावों तथा मल आदि पदार्थों में घृणा नहीं करनी चाहिए।[10]

स्वामी समंतभद्र के शब्दों में स्वभावतः अपवित्र किन्तु रत्नत्रयी से पवित्र शरीर में ग्लानि न करना, गुणों में प्रीति करने का नाम निर्विचिकित्सा है।[11]

अमितगति श्रावकाचार में तीसरा अतिचार निन्दा है।[12] हेमचन्द्राचार्य ने भी विचिकित्सा का वैकल्पिक अर्थ 'निन्दा' किया है।[13]

### (४) अमूढ़-दृष्टि और पर-पाषण्ड-प्रशंसा, पर-पाषण्ड-संस्तव—

मूढ़ता का अर्थ है—मोहमयी दृष्टि। स्वामी समन्तभद्र ने उसे तीन भागों में विभक्त किया है—

(१) लोक-मूढ़ता—नदी-स्नान आदि में धार्मिक विश्वास।

(२) देव-मूढ़ता—राग-द्वेष-वशीभूत देवों की उपासना।

(३) पाषण्ड-मूढ़ता—हिंसा में प्रवृत्त साधुओं का पुरस्कार।[14]

---

१. तत्त्वार्थ, ७।२३, श्रुतसागरीय वृत्ति, पृ० २४६।

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५६७ : शङ्कनं शङ्कितं—देशसर्वशङ्कात्मकं तस्याभावो निःशङ्कितम्।
(ख) श्रावकधर्मप्रकरण, वृत्ति पत्र २० : भगवदर्हत्प्रणीतेषु धर्माधर्माकाशादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिमान्द्यादिभ्योऽनवधार्यमाणेषु संशय इत्यर्थः किमेवं स्यात् ? नैवम् इति।
(ग) ठाणं, ३।५२३ वृत्ति पत्र १६६ : शंकितो—देशतः सर्वतो वा संशयवान्
(घ) योगशास्त्र, २।१७।
(ङ) प्रवचनसारोद्धार, पत्र ६६।
(च) रत्नकरंडक श्रावकाचार, १।११।
(छ) मूलाराधना, १।४४ विजयोदया : शंका—संशयप्रत्ययः किंस्विदित्यनवधारणात्मकः।

३. समयसार, गाथा २२८ :
सम्मद्दिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका।।

४. तत्त्वार्थ, ७।२३, वृत्ति : तत्र शंका—यथा निर्ग्रन्थानां मुक्तिरुक्ता तथा सग्रन्थानामपि गृहस्थादीनां किं मुक्तिर्भवति इति शंका। अथवा, भयप्रकृतिः शंका

५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २४ :
इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकांतवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत्।।

६. तत्त्वार्थ, ७।२३, वृत्ति : इहपरलोकभोगाकांक्षणं कांक्षा।

७. मूलाराधना, १।४४ विजयोदया : न कांक्षामात्रमतीचारः किंतु दर्शनाद् व्रताद्दानादेवपूजायास्तपसश्च जातेन पुण्येन ममेदं कुलं, रूपं, वित्तं, स्त्रीपुत्रादिकं, शत्रुगृहनं, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा सातिशयं स्यादिति कांक्षा इह गृहीता, एषा अतिचारो दर्शनस्य।

८. प्रवचनसारोद्धार, २६८, पत्र ६४ : विचिकित्सा—मतिविभ्रमः युक्त्यागमोपपन्नेऽप्यर्थे फलं प्रति सम्मोहः।

९. वही, २६८, पत्र ६४ : यद्वा विद्वज्जुगुप्सा—मलमलिना एते इत्यादिसाधुजुगुप्सा।

१०. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २५ :
क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु, विचिकित्सा नैव करणीया।।

११. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १।१३ :
स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
द्रव्येषु पुरीषादिषु, विचिकित्सा नैव करणीया।।

१२. अमितगति श्रावकाचार, ७।१६ :
शंका कांक्षा निंदा, परशंसासंस्तवा मला पंच।
परिहर्तव्याः सद्भिः, सम्यक्त्वविशोधिभिः सततम्।।

१३. योगशास्त्र २।१७ वृत्ति पत्र ६७ : यद्वा विचिकित्सा निंदा सा च सदाचारमुनिविषया यथा अस्नानेन प्रस्वेदजलक्लिन्नमलत्वाद् दुर्गन्धिवपुष एत इति।

१४. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १।२२,२३,२४ :
आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते।।
वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसा।
देवता यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते।।
सग्रन्थारम्भहिंसानां, संसाराव्वर्तवर्तिनाम्।
पाषाण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिभद्र के अनुसार एकांतवादी तीर्थिकों की विभूति देखकर जो मोह उत्पन्न होता है, उसे 'मूढ़ता' कहा जाता है।[1] मिथ्या-दृष्टि की प्रशंसा और उसका संस्तव—ये दोनों मूढ़ता के ही परिणाम है।

स्वामी समंतभद्र ने मूढ़ता का अर्थ कुपथगामियों का सम्पर्क और उनकी स्तुति किया है।[2]

मूलाराधना में 'पर-पाषण्ड-संस्तव' के स्थान पर 'अनायतन-सेवा' का प्रयोग किया गया है। अनायतन के छह प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) मिथ्या-दृष्टि, (३) मिथ्या-ज्ञान, (४) मिथ्या-ज्ञानी, (५) मिथ्या-चारित्र और (६) मिथ्या-चारित्र। इनकी सेवा को 'अनायतन-सेवा' कहा जाता है।[3] प्रवचन सारोद्धार में इसे 'परतीर्थिकोपसेवन' कहा है।[4]

आचार्य हेमचन्द्र ने संस्तव का अर्थ परिचय किया है।[5] परिचय और सेवा ये लगभग समान हैं।

श्रुतसागरसूरि में संस्तव का अर्थ स्तुति किया है। उनके अनुसार मानसिक श्लाघा—प्रशंसा और वाचिक श्लाघा—संस्तव है।[6]

### (५) उपबृंहण

सम्यग्-दर्शन की पुष्टि करने को 'उपबृंहण' कहा जाता है। वसुनन्दि ने 'उपबृंहण' के स्थान पर 'उपगूहन' माना है। उसका अर्थ है—प्रमादवश हुए दोषों का प्रचार न करना व अपने गुणों का गोपन करना।[7]

आचार्य अमृतचन्द्र ने उपगूहन को उपबृंहण का ही एक प्रकार माना है। उनके अनुसार अपने आत्म-गुणों (मृदुता आदि) की वृद्धि करना तथा पराए दोषों का निगूहन करना—ये दोनों उपबृंहण के अंग हैं।[8]

### (६) स्थिरीकरण

धर्म-मार्ग या न्याय-मार्ग से विचलित हो रहे व्यक्तियों को पुनः उसी मार्ग में स्थिर करना यह 'स्थिरीकरण' है।[9]

### (७) वात्सल्य

मोक्ष के कारणभूत धर्म, अहिंसा और साधर्मिकों में वत्सल-भाव रखना, उनकी यथोयोग्य प्रतिपत्ति रखना, साधर्मिक साधुओं को आहार, वस्त्र आदि देना, गुरु, ग्लान, तपस्वी, शैक्ष, पाहुने साधुओं की विशेष सेवा करना—यह वात्सल्य है।[10]

### (८) प्रभावना

तीर्थ की उन्नति हो वैसी चेष्टा करना, रत्नत्रयी—सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र से अपनी आत्मा को प्रभावित करना, जिन-शासन की महिमा बढ़ाना—यह 'प्रभावना' है।[11] आठ प्रकार के व्यक्ति प्रभावक माने जाते हैं—

(१) प्रवचनी—द्वादशांगीधर, युगप्रधान आगम-पुरुष।
(२) धर्मकथी—धर्म-कथा-कुशल।
(३) वादी—वाद-विद्या में निपुण।
(४) नैमित्तिक—निमित्तविद्।
(५) तपस्वी—तपस्या करने वाला।
(६) विद्याधर—प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं का पारगामी।
(७) सिद्ध—सिद्धिप्राप्त।
(८) कवि—कवित्व-शक्ति-सम्पन्न।[12]

---

१. श्रावकधर्मविधि प्रकरण, ५८-६० :
इड्ढीओ पेगविहा, विज्जाजणिया तवोमयाओ य।
वेउव्वियलद्धिकया नहगमणाई य दट्ठूणं।।
पूयं च असणपाणाइवत्थपत्ताइणेहिं विविहेहिं।
परपासंडत्थाणं सक्कोलुयाइणं दट्ठूणं।।
धिज्जाईयगिहीणं, पासत्थाईण वापि दट्ठूणं।
यस्स न मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठि तयं बिंति।।

२. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १।१४ :
कापथे पथि दुःखानां, कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते।।

३. मूलाराधना, १।४४ :
सम्मत्तादीचारा, संका कंखा तहेव विदिगिंछा।
परदिट्ठीण पसंसा, अणायदणसेवणा चेव।।
विजयोदया—
अणायदणसेवणा चेव—अनायतनं षड्विधं—मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टयः, मिथ्याज्ञानं, तद्वन्तः, मिथ्याचारित्रं मिथ्याचारित्रवन्त इति।

४. प्रवचनसारोद्धार, २७३ वृत्ति, पत्र ७० :
संका कंखा व तहा, वितिगिच्छा अन्नतित्थियपसंसा।
परितित्थिओवसेवणमइयारा पंचे सम्मत्ते।।
'परतीर्थिकोपसेवनं'—परतीर्थिकैः सह एकत्र संवासात् परस्परालापादिजनितः परिचयः।

५. योगशास्त्र, २।१७ वृत्ति ६७ : तैर्मिथ्यादृष्टिभिरेकत्र संवासात्परस्परालापादिजनितः परिचयः संस्तवः।

६. तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुतसागरी), ७।२३ : मिथ्यादृष्टीनां मनसा ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, विद्यमानानामविद्यमानानां मिथ्यादृष्टिगुणानां वचनेन प्रकटनं संस्तव उच्यते।

७. वसुनन्दि श्रावकाचार, ४८ :
णिस्संका णिक्कंखा, णिव्विदिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
अवगूहण ठिदियरणं, वच्छल्ल पहावणा चेव।

८. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २७ :
धर्मोऽभिवर्द्धनीयः, सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्।।

९. (क) प्रवचनसारोद्धार, २६८ वृत्ति, पत्र ६४ : स्थिरीकरणं तु धर्माद्विषीदतां तत्रैव चाटुवचनयातुर्यादवस्थापनम्।
(ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २८।
कामक्रोधमदादिषु, चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्याय्यात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च, युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्।।
(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ५६७ : वत्सलभावो वात्सल्यं—साधर्मिकजनस्य भक्तपानादिनोचितप्रतिपत्तिकरणम्।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६७ : वत्सलभावो वात्सल्यं—साधर्मिकजनस्य भक्तपानादिनोचितप्रतिपत्तिकरणम्।

११. वही, पत्र ५६७ : प्रभावना च—तथा तथा स्वतीर्थोन्नतिहेतुचेष्टासु प्रवर्त्तनात्मिका।

१२. योगशास्त्र, २।१६ वृत्ति, पत्र ६५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिभद्र ने सिद्ध के स्थान में अतिशय-ऋद्धि-सम्पन्न और कवि के स्थान में राजाओं द्वारा सम्मत व्यक्ति को प्रभावक माना है।[1]

सम्यक्त्व के पांच भूषण माने जाते हैं---(१) स्थैर्य, (२) प्रभावना, (३) भक्ति, (४) जिन-शासन में कौशल और (५) तीर्थ-सेवा।[2]

स्थैर्य, प्रभावना और भक्ति क्रमशः स्थिरीकरण, प्रभावना और वात्सल्य हैं। जिन-शासन में कौशल और तीर्थ-सेवा भी वात्सल्य के विविध रूपों का स्पर्श करते हैं।

सम्यग्-दर्शन के आठों अंग सत्य की आस्था के परम अंग हैं। कोई भी व्यक्ति शंका (भय या संदेह), कांक्षा (आसक्ति या वैचारिक अस्थिरता), विचिकित्सा (घृणा या निन्दा), मूढ़-दृष्टि (अपनी नीति के विरोधी विचारों के प्रति सहमति) से मुक्त हुए बिना सत्य की आराधना कर नहीं सकता और उसके प्रति आस्थावान् रह नहीं सकता। स्व-सम्मत धर्म या साधर्मिकों का उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना किए बिना कोई व्यक्ति सत्य की आराधना करने में दूसरों का सहायक नहीं बन सकता। इस दृष्टि से ये आठों अंग बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

## २६. (श्लोक ३२—३३)

जिससे कर्म का चय रिक्त होता है, वह चारित्र है। यह 'चारित्र' शब्द का निरुक्त है। ३५ वें श्लोक में बताया गया है---चारित्र से निग्रह होता है। रिक्त करना और निग्रह करना वस्तुतः एक नहीं है। प्रश्न होता है यह भेद क्यों?

शान्त्याचार्य ने इसके समाधान में लिखा है—तपस्या भी चारित्र के अन्तर्गत है, इसलिए चारित्र के दो कार्य होते हैं—(१) कर्म का निग्रह और (२) कर्म-चय का रिक्तीकरण।[3]

### (१) सामायिक और (२) छेदोपस्थापनीय

चारित्र के पांच प्रकार बतलाए गए हैं---सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात। वस्तुतः वह एक ही है। ये भेद विशेष दृष्टियों से किए गए हैं। सर्व सावद्य प्रवृत्ति का त्याग किया जाता है, वह सामायिक चारित्र है। छेदोपस्थापनीय आदि चारित्र इसी के विशेष रूप हैं।[4] बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक चारित्र का उपदेश दिया था। छेदोपस्थापनीय का उपदेश भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर ने दिया था।[5]

सामायिक-चारित्र दो प्रकार का होता है---

(क) इत्वर---भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर के शिष्यों के यह इत्वर---अल्पकाल के लिए होता है। इसकी स्थिति सात दिन, चार मास या छह मास है। तत्पश्चात् इसके स्थान पर छेदोपस्थापनीय चारित्र स्वीकार किया जाता है।

(२) यावत्कथिक—शेष बाईस तीर्थंकरों के शिष्यों के सामायिक-चारित्र यावज्जीवन के लिए होता है।[6]

श्रुतसागरसूरि ने तत्त्वार्थ वृत्ति में सामायिक के दो भेद---परिमित-काल और अपरिमित-काल---किए हैं। स्वाध्याय आदि के समय जो सामायिक किया जाता है, वह परिमित-काल-सामायिक होता है। ईर्यापथ आदि में अपरिमित-काल-सामायिक होता है।[7]

पूर्व पर्याय (सामायिक-चारित्र) का छेद कर महाव्रतों में उपस्थित करने को 'छेदोपस्थापनीय' कहा जाता है।[8] सामायिक-चारित्र स्वीकार करते समय सर्व सावद्य योग का त्याग किया जाता है, सावद्य योग का विभागशः त्याग नहीं किया जाता। छेदोपस्थापनीय में विभागशः त्याग किया जाता है। पांच महाव्रतों का पृथक्-पृथक् त्याग किया जाता है, इसलिए आचार्य वीरनन्दि ने छेद का अर्थ भेद या विभाग किया है।[9] पूज्यपाद के अनुसार तीन गुप्ति (मनो-वाक्-काय), पांच समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग) तथा पांच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह)---इन तेरह भेद वाले चारित्र का निरूपण भगवान् महावीर ने किया था। उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने ऐसे विभागात्मक चारित्र का निरूपण नहीं किया था।[10]

---

१. श्रावकधर्मविधि प्रकरण, श्लोक ६७ :
अइसेसइड्ढि धम्मकहिवाइआयरियखवगनेमित्ती।
विज्जारायागणसम्मया य तित्थं पभावेंति।।

२. योगशास्त्र, २।१६ :
स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः कौशलं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पंचास्य, भूषणानि प्रचक्षते।।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६६ : 'एतद्' अनन्तरोक्तं सामायिकादि चयस्य---राशेः प्रस्तावात्कर्मणां रिक्तं---विरेकोऽभाव इति यावत् तत्करोतीत्येवंशीलं चयरिक्तकरं चारित्रमिति नैरुक्तो विधिः आह---वक्ष्यति---"चरिंतेण णिगिण्हाति तवेण य वि (परि) सुज्झति त्ति" कथं न तेनास्य विरोधः?, उच्यते, तपसोऽपि तत्त्वतश्चारित्रान्तर्गतत्वात्।

४. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६।१८ : सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, भेदपरतंत्रच्छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधं व्रतम्।

५. (क) मूलाचार, ७।३६ :
बावीसं तित्थयरा, सामाइयं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुण, भयवं उसहो य वीरो य।।
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, १२४६।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६८ : एतच्च द्विधा—इत्वरं यावत्कथिकं च, तत्रेत्वरं भरतैरावतयोः प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थयोरुपस्थापनाया छेदोपस्थापनीयचारित्रभावेन तत्र तद्व्यपदेशाभावात्, यावत्कथिकं च तयोरेव मध्यमतीर्थकरतीर्थेषु महाविदेहेषु चोपस्थापनाया अभावेन तद्व्यपदेशस्य यावज्जीवमपि सम्भवात्।

७. तत्त्वार्थ, ६।१८ वृत्ति : तत्र सामायिकं द्विप्रकारम्---परिमितकालमपरिमितकालञ्चेति। स्वाध्यायादौ सामयिकग्रहणं परिमितकालम्। ईर्यापथादावपरिमितकालं वेदितव्यम्।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६८।

९. आचारसार, ५।६-७ :
व्रत-समिति-गुप्तिभैः, पंच पंच त्रिभिर्मतैः।
छेदैर्भेदैरुपेत्यार्थं, स्थापनं स्वस्थितिक्रिया।।
छेदोपस्थापनं प्रोक्तं, सर्वसावद्यवर्जने।
व्रतं हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मसंगेष्वसंगमः।।

१०. चारित्रभक्ति, श्लोक ७ :
तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः।
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि।।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै-
राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरान् नमामो वयम्।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतसागरसूरि ने संकल्प-विकल्प के त्याग को भी छेदोपस्थापनीय माना है।[1] छेदोपस्थापनीय के दो प्रकार होते हैं—सातिचार और निरतिचार

दोष सेवन करने वाले मुनि को पुनः महाव्रतों का आरोपण कराया जाता है, वह सातिचार-छेदोपस्थापनीय होता है।

शैक्ष (नव-दीक्षित) मुनि सामायिक चारित्र के पश्चात् अथवा एक तीर्थंकर के तीर्थ से दूसरे तीर्थंकर के तीर्थ में दीक्षित होने वाले मुनि, जो छेदोपस्थापनीय चारित्र स्वीकार करते हैं, वह निरतिचार होता है।[2]

### (३) परिहार विशुद्धि

ये दो प्रकार का होता है—निर्विशमानक और निर्विष्टकायिक।

इसकी आराधना नौ साधु मिलकर करते हैं। इसका काल-मान अठारह मास का है। प्रथम छह माही में चार साधु तपस्या करते हैं, चार साधु सेवा करते हैं और एक वाचनाचार्य (गुरुस्थानीय) रहता है। दूसरी छह माही में तपस्या करने वाले सेवा और सेवा करने वाले तपस्या में संलग्न हो जाते हैं। तीसरी छह माही में वाचनाचार्य तप करते हैं, एक साधु वाचनाचार्य हो जाता है, शेष सेवा में संलग्न होते हैं। तपस्या में संलग्न होते हैं वे 'निर्विशमानक' और जो कर चुकते हैं वे 'निर्विष्टकायिक' कहलाते हैं। उनकी तपस्या का क्रम इस प्रकार है—

| | जघन्य | मध्यम | उत्कृष्ट |
|---|---|---|---|
| (१) ग्रीष्म | उपवास | बेला | तेला |
| (२) शिशिर | बेला | तेला | चौला |
| (३) वर्षा | तेला | चौला | पंचौला |

पारणा में आचामाम्ल (आम्ल-रस के साथ एक अन्न व जल लेकर) तप किया जाता है। जो तप में संलग्न नहीं होते, वे सदा आचामाम्ल करते हैं। उनकी चारित्रिक विशुद्धि विशिष्ट होती है। परिहार का अर्थ 'तप' है। तप से विशेष शुद्धि प्राप्त की जाती है।[3]

श्रुतसागरसूरि ने परिहार का अर्थ 'प्राण-वध की निवृत्ति' किया है। जिसमें अहिंसा की विशिष्ट साधना हो, वह परिहार-विशुद्धि चारित्र है। उनके अनुसार जिस मुनि की आयु बत्तीस वर्ष की हो, जो बहुत काल तक तीर्थंकरों के चरणों में रह चुका हो, प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्व में कहे गए सम्यक् आचार को जानने वाला हो, प्रमाद-रहित हो और तीनों संध्याओं को छोड़कर केवल दो गव्यूति (चार मील) गमन करने वाला हो, उस मुनि के परिहार-विशुद्धि-चारित्र होता है। तीर्थंकर के पाद-मूल में रहने का काल वर्ष-पृथक्त्व (तीन वर्ष से अधिक और नौ वर्ष से कम) है।[4]

### ४,५ सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात

सामायिक या छेदोपस्थापनीय चारित्र की आराधना करते-करते क्रोध, मान और माया के अणु उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, लोभाणुओं का सूक्ष्म रूप में वेदन होता है, उस समय की चारित्र-स्थिति को 'सूक्ष्म-संपराय चारित्र' कहा जाता है।[5] चौदह गुण-स्थानों में सूक्ष्म संपराय नामक दसवां गुणस्थान यही है। जब क्रोध, मान, माया और लोभ सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, उस समय की चारित्र-स्थिति को 'यथाख्यात चारित्र' कहा जाता है। यह वीतराग-चारित्र है। गुणस्थानों में यह चारित्र दो भागों में विभक्त है। 'उपशमात्मक-यथाख्यात चारित्र' उपशान्त-मोह नामक ग्यारहवें और 'क्षयात्मक-यथाख्यात चारित्र' क्षीण-मोह नामक बारहवें आदि गुणस्थान में समाते हैं।

---

१. तत्त्वार्थ, ६।१८ वृत्ति : संकल्पविकल्पनिषेधो वा छेदोपस्थापना भवति।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६८ : छेदः—सातिचारस्य यतेर्निरतिचारस्य वा शैक्षकस्य तीर्थान्तरसम्बन्धिनो वा तीर्थान्तरं प्रतिपद्यमानस्य पूर्वपर्यायव्यवच्छेदरूप-स्तद्युक्तोपस्थापना महाव्रतारोपणरूपा यस्मिंस्तच्छेदोपस्थापनम्।

३. (क) स्थानांग ५।१३६, वृत्ति, पत्र ३०८।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, ६०२-६१०।

४. तत्त्वार्थ, ६।१८ वृत्ति : परिहरणं परिहारः प्राणिवधनिवृत्तिरित्यर्थः। परिहारेण विशिष्टा शुद्धिः कर्ममलकलङ्कप्रक्षालनं यस्मिन् चारित्रे तत्परिहार-विशुद्धिः चारित्रमिति वा विग्रहः। तल्लक्षणं यथा—द्वात्रिंशद्वर्षजातस्य बहुकालतीर्थकरपादसेविनः प्रत्याख्याननामधेयनवम-पूर्वप्रोक्तसम्यगाचारवेदिनः प्रमादरहितस्य अतिपुष्कचर्यानुष्ठायिनस्तिस्रः सन्ध्या वर्जयित्वा द्विगव्यूतिगामिनो मुनेः परिहारविशुद्धिचारित्रं भवति। ...त्रिवर्षादुपरि नववर्षाभ्यन्तरे वर्षपृथक्त्वमुच्यते।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६८ : सूक्ष्मः—किट्टीकरणतः संपर्येति—पर्यटति अनेन संसारमिति संपरायो—लोभाख्यः कषायो यस्मिंस्तत्सूक्ष्मसम्परायम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# एगूणतीसइमं अज्झयणं

## सम्मत्तपरक्कमे

# उनतीसवां अध्ययन

## सम्यक्त्व-पराक्रम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन का नाम 'सम्मत्तपरक्कमे'—'सम्यक्त्व-पराक्रम' है। इससे सम्यक्त्व में पराक्रम करने की दिशा मिलती है, इसलिए यह 'सम्यक्त्व-पराक्रम' गुण-निष्पन्न नाम है। निर्युक्तिकार के अनुसार 'सम्यक्त्व-पराक्रम' आदि-पद में है, इसलिए इसका नाम 'सम्यक्त्व-पराक्रम' हुआ है।[1] उनके अभिमत में इसका गुण-निष्पन्न नाम 'अप्रमाद-श्रुत' है।[2] कुछ आचार्य इसे 'वीतराग-श्रुत' भी कहते हैं।[3]

प्रस्तुत अध्ययन में ७१ प्रश्न और उत्तर हैं। उनमें साधना-पद्धति का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। साधना के सूत्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. संवेग (२)[4]
२. निर्वेद (३)
३. धर्म-श्रद्धा (४)
४. शुश्रूषा—सेवा (५), वैयावृत्त्य (४४)
५. आलोचना (६)
६. निन्दा (७)
७. गर्हा (८)
८. आवश्यक-कर्म—
   सामायिक (९), चतुर्विंशतिस्तव (१०), वन्दना (११), प्रतिक्रमण (१२), कायोत्सर्ग (१३), प्रत्याख्यान (१४), स्तव-स्तुति (१५)
९. प्रायश्चित्त (१७)
१०. क्षमा-याचना (१८)
११. स्वाध्याय (१९)—
   वाचना (२०), प्रतिप्रश्न (२१), परिवर्तना (२२), अनुप्रेक्षा (२३), धर्म-कथा (२४), श्रुताराधना (२५), काल-प्रतिलेखना (१६)
१२. मानसिक अनुशासन—
   एकाग्र-मन-सन्निवेश (२६), मनो-गुप्ति (५४), मन-समाधारणता (५७), भाव-सत्यता (५१)
१३. वाचिक अनुशासन—
   वचो-गुप्ति (५५), वचन-समाधारणता (५८)
१४. कायिक अनुशासन—
   करण-सत्यता (५२), काय-गुप्ति (५६), काय-समाधारणता (५९)
१५. योग-सत्य (५३)
१६. कषाय-विजय—
   क्रोध-विजय (६८), मान-विजय (६९), माया-विजय (७०), लोभ-विजय (७१), क्षान्ति (७७), मुक्ति (४८), आर्जव (४९), मार्दव (५०), वीतरागता (४६), राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन-विजय (७२)
१७. सम्पन्नता—
   सर्वगुण-सम्पन्नता (४५), ज्ञान-सम्पन्नता (६०), दर्शन-सम्पन्नता (६१), चारित्र-सम्पन्नता (६२)
१८. इन्द्रिय-निग्रह—
   श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह (६३), चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह (६४), घ्राणेन्द्रिय-निग्रह (६५), रसनेन्द्रिय-निग्रह (६६), स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह (६७)।
१९. प्रत्याख्यान—
   सम्भोज-प्रत्याख्यान (३४), उपधि-प्रत्याख्यान (३५), आहार-प्रत्याख्यान (३६), कषाय-प्रत्याख्यान (३७), योग-प्रत्याख्यान (३८), शरीर-प्रत्याख्यान (३९), सहाय-प्रत्याख्यान (४०), भक्त-प्रत्याख्यान (४१), सद्भाव-प्रत्याख्यान (४२)
२०. संयम (२७)
२१. तप (२१)
२२. विशुद्धि (२९)
२३. सुखासक्ति का त्याग (३०)
२४. अप्रतिबद्धता (३१)
२५. विविक्तशयनासन (३२)
२६. विनिवर्तना (३३)
२७. प्रतिरूपता (४३)

जिस प्रकार पातञ्जल योग-दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, ईश्वर-प्रणिधान, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और संयम के परिणाम बतलाए गए हैं,[5] उसी प्रकार यहां संवेग आदि के परिणाम बतलाए गए हैं।

संवेग के परिणाम :

(१) अनुत्तर धर्म-श्रद्धा की प्राप्ति।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५०३ :
   आयाणपएणेयं, सम्मत्तपरक्कमंति अज्झयणं।
२. वही, गाथा ५०९ :
   सम्मत्तमप्पमाओ, इहमज्झयणंमि वण्णिओ जेणं।
   तम्हेयं अज्झयणं, णायव्वं अप्पमायसुअं।।
३. वही, गाथा ५०३ :
   .....एगे पुण वीयरागसुयं।
४. कोष्ठकों के अन्दर के अंक सूत्र-संख्या के सूचक हैं।
५. पातञ्जल योग-दर्शन २।३५-४३,४५,४७-४९,५३,५५; ३।५, १६-५५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से तीव्र संवेग की प्राप्ति।
(३) तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय।
(४) मिथ्यात्व-कर्म का अपुनर्बन्ध।
(५) मिथ्यात्व-विशुद्धि।
(६) उसी जन्म में या तीसरे जन्म में मुक्ति। (सू० २)

निर्वेद के परिणाम :
(१) काम-भोगों के प्रति अनासक्त-भाव।
(२) इन्द्रियों के विषयों में विरक्ति।
(३) आरम्भ-परित्याग।
(४) संसार-मार्ग का विच्छेद और मोक्ष-मार्ग का स्वीकरण। (सू० ३)

धर्म-श्रद्धा के परिणाम :
(१) सुख-सुविधा के प्रति विरक्ति।
(२) अनगार-धर्म का स्वीकरण।
(३) छेदन-भेदन आदि शारीरिक और संयोग-वियोग आदि मानसिक दुःखों का उच्छेद।
(४) निर्बाध-सुख की प्राप्ति। (सू० ४)

गुरु और साधर्मिकों की सेवा के परिणाम :
(१) विनय-प्रतिपत्ति—आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन।
(२) अनाशातनशीलता—गुरुजनों की अवज्ञा आदि से दूर रहने की मनोवृत्ति।
(३) दुर्गति का निरोध।
(४) गुण-ग्राहिता, गुण-प्रकाशन, भक्ति और बहुमान की मनोवृत्ति का विकास।
(५) सुगति की ओर प्रयाण।
(६) विनय-हेतुक ज्ञान आदि की प्राप्ति।
(७) दूसरों को सेवा-धर्म में प्रवृत्त करना। (सू० ५)

आलोचना के परिणाम :
(१) आन्तरिक शल्यों की चिकित्सा।
(२) सरल मनोभाव की विशेष उपलब्धि।
(३) तीव्रतर विकारों से दूर रहने की क्षमता और पूर्व-संचित विकार के संस्कारों का विलय। (सू० ६)

आत्म-निन्दा के परिणाम :
(१) पश्चात्ताप-पूर्ण मनोभाव।
(२) अभूत-पूर्व विशुद्धि की परिणाम-धारा का प्रादुर्भाव।
(३) मोह का विलय। (सू० ७)

आत्म-गर्हा के परिणाम :
(१) अपने लिए अवज्ञा-पूर्ण वातावरण का निर्माण।
(२) अप्रशस्त आचरण से निवृत्ति।
(३) ज्ञान आदि के आवरण का विलय। (सू० ८)

सामायिक का परिणाम :
(१) विषमता-पूर्ण मनोभाव (सावद्य प्रवृत्ति) की विरति। (सू० ६)

चतुर्विंशति-स्तव का परिणाम :
(१) दर्शन की विशुद्धि। (सू० १०)

वन्दना के परिणाम :
(१) नीच गोत्र-कर्म का क्षय और उच्च गोत्र-कर्म का अर्जन।
(२) सौभाग्य—लोक-प्रियता।
(३) अनुल्लंघनीय आज्ञा की प्राप्ति।
(४) अनुकूल परिस्थिति। (सू० ११)

प्रतिक्रमण के परिणाम :
(१) व्रत में होने वाले छेदों का निरोध।
(२) चारित्र के धब्बों का परिमार्जन।
(३) आठ प्रवचन-माताओं के प्रति जागरूकता।
(४) अपृथक्त्व—संयमलीनता।
(५) मानसिक निर्मलता। (सू० १२)

कायोत्सर्ग के परिणाम :
(१) अतिचार का विशोधन।
(२) हृदय की स्वस्थता और भार-हीनता।
(३) प्रशस्त-ध्यान की उपलब्धि। (सू० १३)

प्रत्याख्यान का परिणाम :
(१) आश्रव-निरोध। (सू० १४)

स्तव-स्तुति-मंगल के परिणाम :
(१) बोधि-लाभ।
(२) अन्त-क्रिया—मुक्ति।
(३) स्वर्ग-गमन। (सू० १५)

काल-प्रतिलेखना का परिणाम :
(१) ज्ञानावरण कर्म का विलय। (सू० १६)

प्रायश्चित्तकरण के परिणाम :
(१) पाप-कर्म का विशोधन।
(२) दोष-विशुद्धि।
(३) मार्ग और मार्ग-फल—ज्ञान की प्राप्ति।
(४) आचार और आचार-फल—आत्म-स्वतंत्रता की आराधना। (सू० १६)

क्षमा-याचना के परिणाम :
(१) आह्लाद-पूर्ण मनोभाव।
(२) सबके प्रति मैत्रीभाव।
(३) मन की निर्मलता।
(४) अभय। (सू० १८)

स्वाध्याय का परिणाम :
(१) ज्ञानावरण कर्म का विलय। (सू० १६)

वाचना—अध्यापन के परिणाम :
(१) निर्जरा—संस्कार-क्षय।
(२) श्रुत की अनाशातना—ज्ञान का विनय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) तीर्थ-धर्म का अवलम्बन—धर्म-परम्परा की अविच्छिन्नता।
(४) चरम साध्य की उपलब्धि। (सू० २०)

प्रतिप्रश्न के परिणाम :
(१) सूत्र, अर्थ और तदुभय की विशुद्धि—संशय, विपर्यय आदि का निराकरण।
(२) काङ्क्षा-मोहनीय कर्म का विच्छेद। (सू० २१)

परावर्त्तन के परिणाम :
(१) स्मृत की पुष्टि और विस्मृत की याद।
(२) व्यंजन-लब्धि—पदानुसारिणी बुद्धि का विकास। (सू० २२)

अनुप्रेक्षा के परिणाम :
(१) दृढ़ कर्म का शिथिलीकरण, दीर्घकालीन कर्म-स्थिति का संक्षेपीकरण और तीव्र अनुभाव का मन्दीकरण।
(२) असातवेदनीय कर्म का अनुपचय।
(३) संसार से शीघ्र मुक्ति। (सू० २३)

धर्म-कथा के परिणाम :
(१) निर्जरा।
(२) प्रवचन—धर्म-शासन की प्रभावना।
(३) कुशल कर्मों का अर्जन। (सू० २४)

श्रुताराधना के परिणाम :
(१) अज्ञान का क्षय।
(२) क्लेश-हानि। (सू० २४)

मन को एकाग्र करने का परिणाम :
(१) चित्त-निरोध। (सू० २६)

संयम का परिणाम :
(१) अनाश्रव—आश्रव-निरोध। (सू० २७)

तप का परिणाम :
(१) व्यवदान—कर्म-निर्जरा (सू० २८)

व्यवदान के परिणाम :
(१) अक्रिया—प्रवृत्ति-निरोध।
(२) सर्व-दुःख-मुक्ति। (सू० २६)

सुख-स्पृहा त्यागने के परिणाम :
(१) अनुत्सुक मनोभाव।
(२) अनुकम्पा-पूर्ण मनोभाव।
(३) प्रशांतता।
(४) शोक-रहित मनोभाव।
(५) चारित्र को विकृत करने वाले मोह का विलय। (सू० ३०)

अप्रतिबद्धता—मानसिक अनासक्ति के परिणाम :
(१) निःसंगता—निर्लेपता।
(२) चित्त की एकाग्रता।
(३) प्रतिपल अनासक्ति। (सू० ३१)

विविक्त शयनासन के परिणाम :
(१) चारित्र की सुरक्षा।
(२) विविक्त-आहार—विकृति-रहित भोजन।
(३) निस्पृहता।
(४) एकांत रमण।
(५) कर्म-ग्रन्थि का मोक्ष। (सू० ३२)

विनिवर्त्तना—विषयों से मन को संहृत करने के परिणाम :
(१) पापाचरण के प्रति अनुत्साह।
(२) अशुभ संस्कारों के विलय का प्रयत्न।
(३) संसार की पार-प्राप्ति। (सू० ३३)

संभोज (मंडली-भोजन) प्रत्याख्यान के परिणाम :
(१) परावलम्बन से मुक्ति।
(२) प्रवृत्तियों का मोक्ष की ओर केन्द्रीकरण।
(३) अपने लाभ में सन्तुष्टि और परलाभ की ओर निस्पृहता।
(४) दूसरी सुख-शय्या की प्राप्ति। (सू० ३४)

उपधि-प्रत्याख्यान के परिणाम :
(१) प्रतिलेखना आदि के द्वारा होने वाली स्वाध्याय की क्षति से बचाव।
(२) वस्त्र की अभिलाषा से मुक्ति।
(३) उपधि के बिना होने वाले संक्लेश का अभाव। (सू० ३५)

आहार-प्रत्याख्यान के परिणाम :
(१) जीने के मोह से मुक्ति।
(२) आहार के बिना होने वाले संक्लेश का अभाव (सू० ३६)

कषाय-प्रत्याख्यान के परिणाम :
(१) वीतरागता।
(२) सुख-दुःख में सम रहने की स्थिति की उपलब्धि। (सू० ३७)

योग-प्रत्याख्यान के परिणाम :
(१) स्थिरता।
(२) नवीन कर्म का अग्रहण और पूर्वार्जित कर्म का विलय। (सू० ३८)

शरीर-प्रत्याख्यान के परिणाम :
(१) आत्मा का पूर्णोदय।
(२) लोकाग्र-स्थिति।
(३) परम सुख की प्राप्ति। (सू० ३६)

सहाय-प्रत्याख्यान के परिणाम :
(१) अकेलेपन की प्राप्ति।
(२) कलह आदि से मुक्ति।
(३) संयम, संवर और समाधि की विशिष्ट उपलब्धि। (सू० ४०)

भक्त-प्रत्याख्यान—अनशन का परिणाम :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) जन्म-परम्परा का अल्पीकरण। (सू० ४१)

सद्भावना-प्रत्याख्यान—पूर्ण संवर के परिणाम :

(१) अनिवृत्ति—मन-वचन और काया की प्रवृत्ति का सर्वथा और सर्वदा अभाव।

(२) अघाति-कर्म का विलय।

(३) सर्व दुःख-मुक्ति। (सू० ४२)

प्रतिरूपता—अचेलकता के परिणाम :

(१) लाघव।

(२) अप्रमाद।

(३) प्रकट लिंग होना।

(४) प्रशस्त लिंग होना।

(५) विशुद्ध सम्यक्त्व।

(६) सत्त्व और समिति को प्राप्त करना।

(७) सर्वत्र विश्वसनीय होना।

(८) अप्रतिलेखना।

(९) जितेन्द्रियता।

(१०) विपुल तप सहित होना—परीषह-सहिष्णु होना। (सू० ४३)

वैयावृत्त्य का परिणाम :

(१) धर्म-शासन के सर्वोच्च पद तीर्थंकरत्व की प्राप्ति। (सू० ४४)

सर्व-गुण सम्पन्नता के परिणाम :

(१) अपुनरावृत्ति—मोक्ष की प्राप्ति।

(२) शारीरिक और मानसिक दुःखों से पूर्ण मुक्ति। (सू० ४५)

वीतरागता के परिणाम :

(१) स्नेह और तृष्णा के बन्धन का विच्छेद।

(२) प्रिय शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों में विरक्ति। (सू० ४६)

क्षांति—सहिष्णुता का परिणाम :

(१) परीषह-विजय। (सू० ४७)

मुक्ति के परिणाम :

(१) आकिंचन्य।

(२) अर्थ-लुब्ध व्यक्तियों के द्वारा अस्पृहणीयता। (सू० ४८)

ऋजुता के परिणाम :

(१) काया की सरलता।

(२) भावों की सरलता।

(३) भाषा की सरलता।

(४) अविसंवादन—अवंचना-वृत्ति। (सू० ४९)

मृदुता के परिणाम :

(१) अनुद्धत मनोभाव।

(२) आठ मद-स्थानों पर विजय। (सू० ५०)

भाव-सत्य के परिणाम :

(१) भाव-विशुद्धि।

(२) अर्हद्-धर्म की आराधना।

(३) परलोक धर्म की आराधना। (सू० ५१)

करण-सत्य के परिणाम :

(१) कार्यजा-शक्ति की प्राप्ति।

(२) कथनी और करनी का सामंजस्य। (सू० ५२)

योग-सत्य का परिणाम :

(१) मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति की विशुद्धि। (सू० ५३)

मनो-गुप्ति के परिणाम :

(१) एकाग्रता।

(२) संयम की आराधना। (सू० ५४)

वचन-गुप्ति के परिणाम :

(१) विकार-शून्यता या विचार-शून्यता।

(२) अध्यात्म-योग और ध्यान की प्राप्ति। (सू० ५५)

काय-गुप्ति के परिणाम :

(१) संवर

(२) पापाश्रव का निरोध। (सू० ५६)

मन-समाधारणा के परिणाम :

(१) एकाग्रता।

(२) ज्ञान की विशिष्ट क्षमता।

(३) सम्यक्त्व की विशुद्धि और मिथ्यात्व का क्षय। (सू० ५७)

वचन-समाधारणा के परिणाम :

(१) वाचिक सम्यग्-दर्शन की विशुद्धि।

(२) सुलभ-बोधिता की प्राप्ति और दुर्लभ-बोधिता का क्षय। (सू० ५८)

काय-समाधारणा के परिणाम :

(१) चारित्र-विशुद्धि।

(२) वीतराग-चारित्र की प्राप्ति।

(३) भवोपग्राही कर्मों का क्षय।

(४) सर्व-दुःखों से मुक्ति। (सू० ५९)

ज्ञान-सम्पन्नता के परिणाम :

(१) पदार्थ-बोध।

(२) पारगामिता।

(३) विशिष्ट विनय आदि की प्राप्ति।

(४) प्रामाणिकता। (सू० ६०)

दर्शन-सम्पन्नता के परिणाम :

(१) भव-मिथ्यात्व का छेदन।

(२) सतत प्रकाश।

(३) ज्ञान और दर्शन की उत्तरोत्तर विशुद्धि। (सू० ६१)

चारित्र-सम्पन्नता के परिणाम :

(१) अप्रकम्प-दशा की प्राप्ति।

(२) भवोपग्राही कर्मों का विलय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) मुक्ति। (सू० ६२)

श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम :

(१) प्रिय और अप्रिय शब्दों में राग और द्वेष का निग्रह।

(२) शब्द-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित कर्म का क्षय। (सू० ६३)

चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह के परिणाम :

(१) प्रिय और अप्रिय रूपों में राग और द्वेष का निग्रह।

(२) रूप-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित कर्म का क्षय। (सू० ६४)

घ्राणेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम :

(१) प्रिय और अप्रिय गंधों में राग और द्वेष का निग्रह।

(२) गंध-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित कर्म का क्षय। (सू० ६५)

रसनेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम :

(१) प्रिय और अप्रिय रसों में राग और द्वेष का निग्रह।

(२) रस-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित कर्म का क्षय। (सू० ६६)

स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम :

(१) प्रिय और अप्रिय स्पर्शों में राग और द्वेष का निग्रह।

(२) स्पर्श-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित कर्म का क्षय। (सू० ६७)

क्रोध-विजय के परिणाम :

(१) क्षमा।

(२) क्रोध-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित क्रोध-वेदनीय कर्म का विलय। (सू० ६८)

मान-विजय के परिणाम :

(१) मार्दव।

(२) मान-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित मान-वेदनीय कर्म का विलय। (सू० ६९)

माया-विजय के परिणाम :

(१) आर्जव।

(२) माया-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित माया-वेदनीय कर्म का विलय। (सू० ७०)

लोभ-विजय के परिणाम :

(१) सन्तोष

(२) लोभ-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित लोभ-वेदनीय कर्म का विलय। (सू० ७१)

प्रेम, द्वेष और मिथ्या-दर्शन विजय के परिणाम :

(१) ज्ञान, दर्शन और चारित्र-आराधना की तत्परता।

(२) मुक्ति। (सू० ७२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# एगूणतीसइमं अज्झयणं : उनतीसवां अध्ययन

## सम्मत्तपरक्कमे : सम्यक्त्व-पराक्रम

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु सम्मत्त-परक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए, जं सम्मं सद्दहित्ता पत्तियाइत्ता रोयइत्ता फासइत्ता पालइत्ता तीरइत्ता किट्टइत्ता सोहइत्ता आराहइत्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति। तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ तं जहा— | *श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगव-तैवमाख्यातम्—इह खलु सम्य-क्त्वपराक्रमं नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदितम्, यत् सम्यक् श्रद्धाय, प्रतीत्य, रोचयित्वा, स्पृष्ट्वा, पाल-यित्वा, तीरयित्वा, कीर्तयित्वा, शोधयित्वा, आराध्य आज्ञया अनुपाल्य बहवो जीवा सिध्यन्ति, 'बुज्झंति' मुच्यन्ते, परिनिर्वान्ति, सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति। तस्य अयमर्थः एवमाख्यायते, तद् यथा—* | आयुष्मन् ! मैंने सुना है भगवान् ने इस प्रकार कहा है—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर ने सम्यक्त्व-पराक्रम नाम का अध्ययन कहा है, जिस पर भलीभांति श्रद्धा कर, प्रतीति कर, रुचि रख कर, जिसके विषय का स्पर्श कर, स्मृति में रख कर, समग्ररूप में हस्तगत कर गुरु को पठित पाठ का निवेदन कर, गुरु के समीप उच्चारण की शुद्धि कर, सही अर्थ का बोध प्राप्त कर और अर्हत् की आज्ञा के अनुसार अनुपालन कर बहुत जीव सिद्ध होते हैं, प्रशांत होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वृत होते हैं और सब दुःखों का अन्त करते हैं। सम्यक्त्व-पराक्रम का अर्थ इस प्रकार कहा गया है। जैसे— |
| संवेगे १ | *संवेगः १* | संवेग १ |
| निव्वेए २ | *निर्वेदः २* | निर्वेद २ |
| धम्मसद्धा ३ | *धर्मश्रद्धा ३* | धर्मश्रद्धा ३ |
| गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ४ | *गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणम् ४* | गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा ४ |
| आलोयणया ५ | *आलोचनम् ५* | आलोचना ५ |
| निंदणया ६ | *निन्दनम् ६* | निन्दा ६ |
| गरहणया ७ | *गर्हणम् ७* | गर्हा ७ |
| सामाइए ८ | *सामायिकम् ८* | सामायिक ८ |
| चउव्वीसत्थए ९ | *चतुर्विंशतिस्तवः ९* | चतुर्विंशतिस्तव ९ |
| वंदणए १० | *वन्दनम् १०* | वन्दन १० |
| पडिक्कमणे ११ | *प्रतिक्रमणम् ११* | प्रतिक्रमण ११ |
| काउस्सग्गे १२ | *कायोत्सर्गः १२* | कायोत्सर्ग १२ |
| पच्चक्खाणे १३ | *प्रत्याख्यानम् १३* | प्रत्याख्यान १३ |
| थवथुइमंगले १४ | *स्तवस्तुतिमङ्गलम् १४* | स्तवस्तुतिमंगल १४ |
| कालपडिलेहणया १५ | *कालप्रतिलेखनम् १५* | कालप्रतिलेखन १५ |
| पायच्छित्तकरणे १६ | *प्रायश्चित्तकरणम् १६* | प्रायश्चित्तकरण १६ |
| खमावणया १७ | *क्षमापनम् १७* | क्षामणा १७ |
| सज्झाए १८ | *स्वाध्यायः १८* | स्वाध्याय १८ |
| वायणया १९ | *वाचनम् १९* | वाचना १९ |
| पडिपुच्छणया २० | *प्रतिप्रच्छनम् २०* | प्रतिप्रच्छना २० |
| परियट्टणया २१ | *परिवर्तनम् २१* | परावर्त्तना २१ |
| अणुप्पेहा २२ | *अनुप्रेक्षा २२* | अनुप्रेक्षा २२ |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्मकहा २३
सुयस्स आराहणया २४
एगग्गमणसन्निवेसणया २५
संजमे २६
तवे २७
वोदाणे २८
सुहसाए २९
अप्पडिबद्धया ३०
विवित्तसयणासणसेवणया ३१
विणियट्टणया ३२
संभोगपच्चक्खाणे ३३
उवहिपच्चक्खाणे ३४
आहारपच्चक्खाणे ३५
कसायपच्चक्खाणे ३६
जोगपच्चक्खाणे ३७
सरीरपच्चक्खाणे ३८
सहायपच्चक्खाणे ३९
भत्तपच्चक्खाणे ४०
सब्भावपच्चक्खाणे ४१
पडिरूवया ४२
वेयावच्चे ४३
सव्वगुणसंपण्णया ४४
वीयरागया ४५
खंती ४६
मुत्ती ४७
अज्जवे ४८
मद्दवे ४९
भावसच्चे ५०
करणसच्चे ५१
जोगसच्चे ५२
मणगुत्तया ५३
वइगुत्तया ५४
कायगुत्तया ५५
मणसमाधारणया ५६
वयसमाधारणया ५७
कायसमाधारणया ५८
नाणसंपन्नया ५९
दंसणसंपन्नया ६०
चरित्तसंपन्नया ६१
सोइंदियनिग्गहे ६२
चक्खिंदियनिग्गहे ६३
घाणिंदियनिग्गहे ६४
जिब्भिंदियनिग्गहे ६५

*धर्मकथा २३*
*श्रुतस्य आराधना २४*
*एकाग्रमनःसन्निवेशनम् २५*
*संयमः २६*
*तपः २७*
*व्यवदानम् २८*
*सुख-शातम् २९*
*अप्रतिबद्धता ३०*
*विविक्तशयनासनसेवनम् ३१*
*विनिवर्तनम् ३२*
*सम्भोजप्रत्याख्यानम् ३३*
*उपधिप्रत्याख्यानम् ३४*
*आहारप्रत्याख्यानम् ३५*
*कषायप्रत्याख्यानम् ३६*
*योगप्रत्याख्यानम् ३७*
*शरीरप्रत्याख्यानम् ३८*
*सहायप्रत्याख्यानम् ३९*
*भक्तप्रत्याख्यानम् ४०*
*सद्भावप्रत्याख्यानम् ४१*
*प्रतिरूपता ४२*
*वैयावृत्त्यम् ४३*
*सर्वगुणसम्पन्नता ४४*
*वीतरागता ४५*
*क्षान्तिः ४६*
*मुक्तिः ४७*
*आर्जवम् ४८*
*मार्दवम् ४९*
*भावसत्यम् ५०*
*करणसत्यम् ५१*
*योगसत्यम् ५२*
*मनोगुप्तता ५३*
*वचोगुप्तता ५४*
*कायगुप्तता ५५*
*मनःसमाधारणम् ५६*
*वाक्समाधारणम् ५७*
*कायसमाधारणम् ५८*
*ज्ञानसम्पन्नता ५९*
*दर्शनसम्पन्नता ६०*
*चरित्रसम्पन्नता ६१*
*श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहः ६२*
*चक्षुरिन्द्रियनिग्रहः ६३*
*घ्राणेन्द्रियनिग्रहः ६४*
*जिह्वेन्द्रियनिग्रहः ६५*

धर्मकथा २३
श्रुताराधना २४
एकाग्रमन की स्थापना २५
संयम २६
तप २७
व्यवदान २८
सुख की स्पृहा का त्याग २९
अप्रतिबद्धता ३०
विविक्तशयनासनसेवन ३१
विनिवर्त्तना ३२
सम्भोजप्रत्याख्यान ३३
उपधिप्रत्याख्यान ३४
आहारप्रत्याख्यान ३५
कषायप्रत्याख्यान ३६
योगप्रत्याख्यान ३७
शरीरप्रत्याख्यान ३८
सहायप्रत्याख्यान ३९
भक्तप्रत्याख्यान ४०
सद्भावप्रत्याख्यान ४१
प्रतिरूपता ४२
वैयावृत्त्य ४३
सर्वगुणसम्पन्नता ४४
वीतरागता ४५
क्षांति ४६
मुक्ति ४७
आर्जव ४८
मार्दव ४९
भावसत्य ५०
करणसत्य ५१
योगसत्य ५२
मनोगुप्तता ५३
वाक्गुप्तता ५४
कायगुप्तता ५५
मनःसमाधारणा ५६
वाक्समाधारणा ५७
कायसमाधारणा ५८
ज्ञानसम्पन्नता ५९
दर्शनसम्पन्नता ६०
चारित्रसम्पन्नता ६१
श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह ६२
चक्षुरिन्द्रियनिग्रह ६३
घ्राणेन्द्रियनिग्रह ६४
जिह्वेन्द्रियनिग्रह ६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| फासिंदियनिग्गहे ६६ | *स्पर्शेन्द्रियनिग्रहः ६६* | स्पर्शनेन्द्रियनिग्रह ६६ |
| कोहविजए ६७ | *क्रोधविजयः ६७* | क्रोधविजय ६७ |
| माणविजए ६८ | *मानविजयः ६८* | मानविजय ६८ |
| मायाविजए ६९ | *मायाविजयः ६९* | मायाविजय ६९ |
| लोहविजए ७० | *लोभविजयः ७०* | लोभविजय ७० |
| पेज्जदोसमिच्छादंसणविजए ७१ | *प्रेयोदोषमिथ्यादर्शनविजयः ७१* | प्रेयोद्वेषमिथ्यादर्शनविजय ७१ |
| सेलेसी ७२ | *शैलेशी ७२* | शैलेशी ७२ |
| अकम्मया ७३ | *अकर्मता ७३* | अकर्मता ७३ |

२. संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ। अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ, अणंताणुबंधिकोहमाणमायालोभे खवेइ, कम्मं न बंधइ, तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ। दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ। सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ।।

*संवेगेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*संवेगेनानुत्तरां धर्मश्रद्धां जनयति। अनुत्तरया धर्मश्रद्धया संवेगं शीघ्रमागच्छति, अनन्तानुबन्धि क्रोधमानमायालोभान् क्षपयति, कर्म न बध्नाति, तत् प्रत्ययिकं च मिथ्यात्वविशोधिं कृत्वा दर्शनाराधको भवति। दर्शनविशोध्या च विशुद्धोऽस्त्येकेकः तेनैव भवग्रहणेन सिध्यति। विशोध्या च विशुद्धः तृतीयं पुनर्भवग्रहणं नातिक्रामति।।*

भंते ! संवेग (मोक्ष की अभिलाषा) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

संवेग से वह अनुत्तर धर्म-श्रद्धा को प्राप्त होता है। अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से तीव्र संवेग को प्राप्त करता है, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है, नये कर्मों का संग्रह नहीं करता, कषाय के क्षीण होने से प्रकट होने वाली मिथ्यात्वविशुद्धि कर दर्शन (सम्यक् श्रद्धान) की आराधना करता है। दर्शन-विशोधि के विशुद्ध होने पर कई एक जीव उसी जन्म से सिद्ध हो जाते हैं और कुछ उसके विशुद्ध होने पर तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करते—उसमें अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं।

३. निव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

निव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ, सव्वविसएसु विरज्जइ। सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिच्चायं करेइ। आरंभपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गे पडिवन्ने य भवइ।।

*निर्वेदेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*निर्वेदेन दिव्यमानुषतैरश्चकेषु कामभोगेषु निर्वेदं शीघ्रमागच्छति, सर्वविषयेषु विरज्यति। सर्वविषयेषु विरज्यमानः आरम्भपरित्यागं करोति। आरम्भ परित्यागं कुर्वाणः संसारमार्गं व्युच्छिनत्ति, सिद्धिमार्गं प्रतिपन्नश्च भवति।।*

भंते ! निर्वेद (भव-वैराग्य) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

निर्वेद से वह देव, मनुष्य और तिर्यंच संबंधी काम-भोगों में तीव्र ग्लानि को प्राप्त होता है, सब विषयों में विरक्त हो जाता है। सब विषयों से विरक्त होता हुआ वह आरम्भ का परित्याग करता है। आरम्भ का परित्याग करता हुआ संसारमार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धि-मार्ग को प्राप्त होता है।[1]

४. धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, अगारधम्मं च णं चयइ। अणगारे णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयणसंजोगाईणं वोच्छेयं करेइ अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ।।

*धर्मश्रद्धया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*धर्मश्रद्धया सातसौख्येषु रज्यमानः विरज्यति, अगारधर्मं च त्यजति। अनगारो जीवः शरीरमानसानां दुःखानां छेदनभेदनसंयोगादीनां व्युच्छेदं करोति अव्याबाधं च सुखं निर्वर्तयति।।*

भंते ! धर्मश्रद्धा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

धर्मश्रद्धा से[2] वह वैषयिक सुखों की[3] आसक्ति को छोड़ विरक्त हो जाता है, अगार-धर्म—गृहस्थी[4] को त्याग देता है। वह अनगार होकर छेदन-भेदन आदि शारीरिक दुःखों तथा संयोग-वियोग आदि मानसिक दुःखों का विच्छेद करता है और निर्बाध (बाधा-रहित) सुख को प्राप्त करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

*गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

भंते ! गुरु और साधर्मिक (समान आचार और समान सामाचारी वाला मुनि) की शुश्रूषा (पर्युपासना) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ। विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदोग्गईओ निरुंभइ, वण्णसंजलणभत्तिबहुमाणयाए मणुस्सदेवसोग्गईओ निबंधइ, सिद्धिं सोग्गइं च विसोहेइ। पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ।।

*गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणया विनयप्रतिपत्तिं जनयति। विनयप्रतिपन्नश्च जीवः अनत्याशातनशीलो नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवदुर्गतीः निरुणद्धि, वर्णसंज्वलनभक्तिबहुमानेन मनुष्यदेवसुगतीः निबध्नाति, सिद्धिं सुगतिं च विशोधयति। प्रशस्तानि च विनयमूलानि सर्वकार्याणि साधयति। अन्यांश्च बहून् जीवान् विनेता भवति।।*

गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से वह विनय को प्राप्त होता है। विनय को प्राप्त करने वाला व्यक्ति गुरु का अविनय या परिवाद करने वाला नहीं होता[1], इसलिए वह नैरयिक, तिर्यग्-योनिक, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति का निरोध करता है। गुरु की श्लाघा, गुण-प्रकाशन, भक्ति और बहुमान के द्वारा[2] मनुष्य और देव-सम्बन्धी सुगति से सम्बन्ध जोड़ता है[3] तथा सिद्धि सुगति का मार्ग[4] प्रशस्त करता है। वह विनय-मूलक सब प्रशस्त कार्यों को सिद्ध करता है और दूसरे बहुत व्यक्तियों को विनय के पथ पर ले आता है।

६. आलोयणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

*आलोचनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

भंते ! आलोचना (गुरु के सम्मुख अपनी भूलों का निवेदन करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

आलोयणाए णं मायानियाणमिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारवद्धणाणं उद्धरणं करेइ, उज्जुभावं च जणयइ। उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेयनपुंसगवेयं च न बंधइ पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ।।

*आलोचनया मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यानां मोक्षमार्गविघ्नानामनन्तसंसारवर्द्धनानामुद्धरणं करोति, ऋजुभावं च जनयति। प्रतिपन्नर्जुभावश्च जीवोऽमायी स्त्रीवेदं नपुंसकवेदं च न बध्नाति पूर्वबद्धं च निर्जरयति।।*

आलोचना से वह अनन्त संसार को बढ़ाने वाले, मोक्ष-मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले, माया, निदान तथा मिथ्या-दर्शन-शल्य को[5] निकाल फेंकता है और ऋजु-भाव को प्राप्त होता है। ऋजु-भाव को प्राप्त हुआ व्यक्ति अमायी होता है, इसलिए वह स्त्री-वेद और नपुंसक-वेद कर्म का बन्ध नहीं करता और यदि वे पहले बन्धे हुए हों तो उनका क्षय कर देता है।

७. निंदणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

*निन्दनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

भंते ! निन्दा (अपनी भूलों के प्रति अनादर का भाव प्रकट करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

निंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ। करणगुणसेढिं पडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ।।

*निन्दनेन पश्चादनुतापं जनयति। पश्चादनुतापेन विरज्यमानः करणगुणश्रेणिं प्रतिपद्यते। करणगुणश्रेणिं प्रतिपन्नश्चानगारो मोहनीयं कर्मोद्घातयति।।*

निन्दा से वह पश्चात्ताप को प्राप्त होता है। उसके द्वारा विरक्त होता हुआ मोह को क्षीण करने में समर्थ परिणाम धारा—करण गुणश्रेणी (क्षपकश्रेणी) को[10] प्राप्त करता है। वैसी परिणाम-धारा को प्राप्त हुआ अनगार मोहनीय कर्म को क्षीण कर देता है।

८. गरहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

*गर्हणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

भंते ! गर्हा (दूसरों के समक्ष अपनी भूलों को प्रकट करने से) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

गरहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ। पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ।।

*गर्हणेनापुरस्कारं जनयति। अपुरस्कारगतो जीवोऽप्रशस्तेभ्यो योगेभ्यो निवर्तते। प्रतिपन्नप्रशस्तयोगश्च अनगारोऽनन्तघातिपर्यवान् क्षपयति।।*

गर्हा से वह अनादर को[11] प्राप्त होता है। अनादर को प्राप्त हुआ वह अप्रशस्त प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है और प्रशस्त प्रवृत्तियों को अंगीकार करता है। वैसा अनगार आत्मा के अनन्त-विकास का घात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों की परिणतियों को[12] क्षीण करता है।[13]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ।।

*सामायिकेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*सामायिकेन सावद्ययोगविरतिं जनयति ।।*

भंते ! सामायिक (समभाव की साधना) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सामायिक से वह असत् प्रवृत्ति की विरति[१४] को प्राप्त होता है।

१०. चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ।।

*चतुर्विंशतिस्तवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*चतुर्विंशतिस्तवेन दर्शनविशोधिं जनयति ।।*

भंते ! चतुर्विंशति-स्तव (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चतुर्विंशति-स्तव से वह दर्शन (दर्शनाचार) की विशुद्धि[१५] को प्राप्त होता है।

११. वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चगोयं निबंधइ। सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ।।

*वन्दनकेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*वन्दनकेन नीचगोत्रं कर्म क्षपयति, उच्चगोत्रं निबध्नाति। सौभाग्यं चाऽप्रतिहतं आज्ञाफलं निर्वर्तयति, दक्षिणभावं च जनयति ।।*

भंते ! वन्दना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वन्दना से वह नीच-कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों को क्षीण करता है, ऊंचे-कुल में उत्पन्न होने वाले कर्म का अर्जन करता है।[१६] जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त होता है।

१२. पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ।

*प्रतिक्रमणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*प्रतिक्रमणेन व्रतच्छिद्राणि पिदधाति। पिहितव्रतच्छिद्रः पुनर्जीवो निरुद्धाश्रवोऽशबलचरित्रः अष्टसु प्रवचनमातृषु उपयुक्तोऽपृथक्त्वः सुप्रणिहितो विहरति ।।*

भंते ! प्रतिक्रमण से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिक्रमण से[१७] वह व्रत के छेदों को ढंक देता है। जिसने व्रत के छेदों को भर दिया वैसा जीव आश्रवों को रोक देता है, चारित्र के धब्बों को मिटा देता है, आठ-प्रवचन माताओं में सावधान हो जाता है, संयम में एकरस हो जाता है और भलीभांति समाधिस्थ होकर विहार करता है।

१३. काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारो व्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहंसुहेणं विहरइ ।।

*कायोत्सर्गेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*कायोत्सर्गेण अतीतप्रत्युत्पन्नं प्रायश्चित्तं विशोधयति। विशुद्धप्रायश्चित्तश्च जीवो निर्वृतहृदयोऽपहृतभार इव भारवहः प्रशस्तध्यानोपगतः सुखं सुखेन विहरति ।।*

भंते ! कायोत्सर्ग से जीव क्या प्राप्त करता है ?

कायोत्सर्ग से[१८] वह अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्तोचित कार्यों का विशोधन करता है।[१९] ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भार-वाहक की भांति स्वस्थ हृदय वाला—हल्का हो जाता है और प्रशस्त-ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विहार करता है।

१४. पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ ।।

*प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*प्रत्याख्यानेनाश्रवद्वाराणि निरुणद्धि ।।*

भंते ! प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रत्याख्यान से वह आश्रव-द्वारों (कर्म-बन्धन के हेतुओं) का निरोध करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. थवथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ।

थवथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ। नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ।।

*स्तवस्तुतिमङ्गलेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*स्तवस्तुतिमङ्गलेन ज्ञानदर्शनचरित्रबोधिलाभं जनयति। ज्ञानदर्शनचरित्रबोधिलाभसम्पन्नश्चजीवोऽन्तक्रियां कल्पविमानोपपत्तिकामाराधनामाराधयति।*

भंते ! स्तव व स्तुति रूप मंगल से जीव क्या प्राप्त करता है ?

स्तव और स्तुति[२०] रूप मंगल से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की बोधि का लाभ करता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बोधि-लाभ से सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति[२१] या वैमानिक देवों में[२२] उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है।

१६. कालपडिलेहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।।

*कालप्रतिलेखनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*कालप्रतिलेखनेन ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति।।*

भंते ! काल-प्रतिलेखना (स्वाध्याय आदि के उपयुक्त समय का ज्ञान करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काल-प्रतिलेखना से[२३] वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

१७. पायच्छित्तकरणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ, निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयारं च आयारफलं च आराहेइ।।

*प्रायश्चित्तकरणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*प्रायश्चित्तकरणेन पापकर्मविशोधिं जनयति, निरतिचारश्चापि भवति। सम्यक् च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यमानो मार्गं च मार्गफलं च विशोधयति, आचारञ्चाचारफलञ्चाराधयति।।*

भंते ! प्रायश्चित्त करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रायश्चित्त करने से वह पाप-कर्म की विशुद्धि करता है और निरतिचार हो जाता है। सम्यक्-प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला मार्ग (सम्यक्त्व)[२४] और मार्ग-फल (ज्ञान) को निर्मल करता है और आचार (चारित्र) और आचार-फल (मुक्ति) की आराधना करता है।

१८. खमावणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ।।

*क्षमणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*क्षमणया प्रह्लादनभावं जनयति। प्रह्लादनभावमुपगतश्च सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु मित्रीभावमुत्पादयति। मित्रीभावमुपगतश्चापि जीवः भावविशोधिं कृत्वा निर्भयो भवति।।*

भंते ! क्षमा करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्षमा करने से वह मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त होता है। मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त हुआ व्यक्ति सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के साथ मैत्री-भाव उत्पन्न करता है। मैत्री-भाव को प्राप्त हुआ जीव भावना को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।[२५]

१९. सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सज्झाएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

*स्वाध्यायेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*स्वाध्यायेन ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति।।*

भंते ! स्वाध्याय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

स्वाध्याय से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।[२६]

२०. वायणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वायणाए णं निज्जरं जणयइ, सुयस्स य अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ। तित्थधम्मं अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।।

*वाचनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*वाचनया निर्जरां जनयति, श्रुतस्य चानाशातनायां वर्तते। श्रुतस्य अनाशातनायां वर्तमानः तीर्थधर्ममवलम्बते। तीर्थधर्ममवलम्बमानो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति।।*

भंते ! वाचना (अध्यापन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाचना से वह कर्मों को क्षीण करता है। श्रुत की उपेक्षा के दोष से बच जाता है। इस उपेक्षा के दोष से बचने वाला तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है[२७]—श्रुत देने में प्रवृत्त होता है। तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करने वाला कर्मों और संसार का अन्त करने वाला[२८] होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१. पडिपुच्छणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थ-तदुभयाइं विसोहेइ। कंखा-मोहणिज्जं कम्मं वोच्छिंदइ।

*प्रतिप्रच्छनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*प्रतिप्रच्छनेन सूत्रार्थत-दुभयानि विशोधयति। काङ्क्षा-मोहनीयं कर्म व्युच्छिनत्ति।*

भंते ! प्रतिप्रश्न करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिप्रश्न करने से वह सूत्र, अर्थ और उन दोनों से सम्बन्धित[२६] सन्देहों का निवर्तन करता है और कांक्षा-मोहनीय[२७] कर्म का विनाश करता है।

२२. परियट्टणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

परियट्टणाए णं वंजणाइं जणयइ वंजणलद्धिं च उप्पाएइ।।

*परिवर्तनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*परिवर्तनया व्यंजनानि जनयति व्यंजनलब्धिं चोत्पादयति।।*

भंते ! परावर्त्तना (पठित-पाठ के पुनरावर्तन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

परावर्त्तना से वह अक्षरों को उत्पन्न करता है—स्मृत को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यंजन-लब्धि (वर्ण विद्या) को[२८] प्राप्त होता है।

२३. अणुप्पेहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबंधण-बद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुपएसग्गाओ अप्प-पएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय नो बंधइ। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचि-णाइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं खिप्पामेव वीइवयइ।।

*अनुप्रेक्षया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*अनुप्रेक्षया आयुष्कवर्जाः सप्तकर्मप्रकृतीः दृढबन्धनबद्धाः शिथिलबन्धनबद्धाः प्रकरोति, दीर्घकालस्थितिकाः ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति, तीव्रानुभावाः मन्दानुभावाः प्रकरोति। बहुप्रदेशाग्राः अल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति। आयुष्कञ्च कर्म स्याद् बध्नाति स्यान्नो बध्नाति। असा-तवेदनीयञ्च कर्म नो भूयोभूय उपचिनोति। अनादिकं च अनवदग्रं दीर्घाध्वं चतुरन्तं संसारकान्तारं क्षिप्रमेव व्यतिव्रजति।।*

भंते ! अनुप्रेक्षा (अर्थ-चिन्तन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

अनुप्रेक्षा से[२९] वह आयुष्-कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों की गाढ-बन्धन से बन्धी हुई प्रकृतियों को शिथिल-बन्धन वाली कर देता है, उनकी दीर्घ-कालीन स्थिति को अल्पकालीन कर देता है, उनके तीव्र अनुभव को मन्द कर देता है। उनके बहु-प्रदेशाग्र में बदल देता है। आयुष्-कर्म का बन्ध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता। असात-वेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता और अनादि-अनन्त लम्बे-मार्ग वाली[३३] तथा चतुर्गति-रूप चार अन्तों वाली[३४] संसार अटवी को तुरन्त ही पार कर जाता है।

२४. धम्मकहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ। धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ। पवयणपभावे णं जीवे आगमि-स्सस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ।

*धर्मकथया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*धर्मकथया निर्जरां जनयति। धर्मकथया प्रवचनं प्रभावयति। प्रवचनप्रभावको जीवः आगमिष्यतः भद्रतया कर्म निबध्नाति।।*

भंते ! धर्म-कथा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

धर्म-कथा से वह कर्मों को क्षीण करता है और प्रवचन[३७] की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में कल्याणकारी फल देने वाले कर्मों का अर्जन करता है ?

२५. सुयस्स आराहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सुयस्स आराहणयाएणं अण्णाणं खवेइ न य संकिलिस्सइ।।

*श्रुतस्य आराधनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*श्रुतस्य आराधनया अज्ञानं क्षपयति, न च संक्लिश्यते।।*

भंते ! श्रुत की आराधना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

श्रुत की आराधना से अज्ञान का क्षय करता है और राग-द्वेष आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक संक्लेशों से बच जाता है।[३६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६. एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ ।।

*एकाग्रमनःसंनिवेशनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*एकाग्रमनःसंनिवेशनेन चित्तनिरोधं करोति ।।*

भंते ! एक अग्र (आलम्बन) पर मन को स्थापित करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

एकाग्रमन की स्थापना से वह चित्त का निरोध करता है।[७७]

२७. संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ।।

*संयमेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*संयमेन अनास्नवत्वं जनयति ।।*

भंते ! संयम से जीव क्या प्राप्त करता है ?

संयम से वह आश्रव का निरोध करता है।

२८. तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

तवेणं वोदाणं जणयइ ।।

*तपसा भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*तपसा व्यवदानं जनयति ।।*

भंते ! तप से जीव क्या प्राप्त करता है ?

तप से वह व्यवदान—पूर्वसंचित कर्मों को क्षीण कर विशुद्धि को प्राप्त होता है।

२९. वोदाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ।।

*व्यवदानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*व्यवदानेन अक्रियां जनयति। अक्रियाको भूत्वा ततः पश्चात् सिध्यति, 'बुज्झइ' मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ।।*

भंते ! व्यवदान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

व्यवदान से वह अक्रिया (मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति के पूर्ण निरोध) को प्राप्त होता है, वह अक्रियावान् होकर सिद्ध होता है, प्रशान्त होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वृत होता है और दुःखों का अन्त करता है।[७८]

३०. सुहसाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ। अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ।।

*सुखशातेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*सुखशातेन अनुत्सुकत्वं जनयति। अनुत्सुको जीवोऽनुकम्पको ऽनुद्भटो विगतशोकश्चरित्रमोहनीयं कर्म क्षपयति ।।*

भंते ! सुख की स्पृहा का निवारण करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सुख की स्पृहा का निवारण करने से वह विषयों के प्रति अनुत्सुक-भाव को प्राप्त करता है। विषयों के प्रति अनुत्सुक जीव अनुकम्पा करने वाला, प्रशांत और शोक-मुक्त होकर चरित्र को विकृत करने वाले मोह-कर्म का क्षय करता है।[७९]

३१. अप्पडिबद्धयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अप्पडिबद्धयाए णं निस्संगत्तं जणयइ। निस्संगत्तेणं जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ।।

*अप्रतिबद्धतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*अप्रतिबद्धतया निस्सङ्गत्वं जनयति। निस्सङ्गत्वेन जीवः एकः एकाग्रचित्तो दिवा च रात्रौ चाऽसजन्नप्रतिबद्धश्चापि विहरति ।।*

भंते ! अप्रतिबद्धता (मन की अनासक्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

अप्रतिबद्धता से वह असंग हो जाता है—बाह्य संसर्गों से मुक्त हो जाता है। असंगता से जीव अकेला (राग-द्वेष रहित), एकाग्रचित्त वाला, दिन और रात बाह्य-संसर्गों को छोड़ता हुआ प्रतिबन्ध रहित होकर विहार करता है।[८०]

३२. विवित्तसयणासणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

विवित्तसयणासणयाए णं चरित्तगुत्तिं जणयइ। चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे

*विविक्तशयनासनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*विविक्तशयनासनेन चरित्रगुप्तिं जनयति चरित्रगुप्तश्च जीवः विविक्ताहारः दृढचरित्रः एकान्तरतः*

भंते ! विविक्त-शयनासन के सेवन से जीव क्या प्राप्त करता है ?

विविक्त-शयनासन[८१] के सेवन से वह चारित्र की रक्षा को प्राप्त होता है। चारित्र की सुरक्षा करने वाला जीव पौष्टिक आहार का वर्जन करने वाला,[८२]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभाव-पडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ।।

*मोक्षभावप्रतिपन्नः अष्टविध-कर्मग्रन्थिं निर्जरयति।।*

दृढ़ चारित्र वाला, एकांत में रत,[43] अन्तःकरण से मोक्ष-साधना में लगा हुआ आठ प्रकार के कर्मों की गांठ को तोड़ देता है।

३३. विणियट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

विणियट्टणयाए णं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ, पुव्व-बद्धाण य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयइ।।

*विनिवर्तनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*विनिवर्तनेन पापकर्मणां अकरणेन अभ्युत्तिष्ठते, पूर्वबद्धानां च निर्जरणेन तत् निवर्तयति, ततः पश्चात् चतुरन्तं संसारकांतारं व्यतिव्रजति।।*

भंते ! विनिवर्तना (इन्द्रिय और मन को विषयों से दूर रखने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

विनिवर्तना से वह नए सिरे से पाप-कर्मों को नहीं करने के लिए तत्पर रहता है और पूर्व-बद्ध कर्म की निर्जरा के द्वारा उसका निवर्तन कर देता है। इस प्रकार वह पाप-कर्म का विनाश कर देता है। उसके पश्चात् चार गति रूप चार अन्तों वाली संसार अटवी को पार कर जाता है।[44]

३४. संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ। निरालंबणस्स य आय-यट्ठियाजोगा भवंति। सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसाएइ नो तक्केइ नो पीहेइ नो पत्थेइ नो अभिलसइ। परलाभं अणासायमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अण-भिलसमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।।

*संभोजप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*संभोजप्रत्याख्यानेन आ-लंबनानि क्षपयति। निरालम्बनस्य च आयतार्थिकायोगाः भवन्ति। स्वकेन लाभेन सन्तुष्यति। परलाभं नो आस्वादयति, नो तर्कयति, नो स्पृहयति, नो प्रार्थयति, नो अभिलषति। परलाभमनास्वादयन्, अतर्कयन्, अस्पृहयन्, अप्रार्थयन्, अनभिलषन्, द्वितीयां सुखशय्या-मुपसम्पद्य विहरति।।*

भंते ! सम्भोज-प्रत्याख्यान (मंडली-भोजन) का त्याग[45] करने वाला जीव क्या प्राप्त करता है ?

सम्भोज-प्रत्याख्यान से वह परावलम्बन को छोड़ता है। उस परावलम्बन को छोड़ने वाले मुनि के सारे प्रयत्न मोक्ष की सिद्धि के लिए[46] होते हैं। वह भिक्षा में स्वयं को जो कुछ मिलता है उसी में संतुष्ट हो जाता है। दूसरे मुनियों को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद नहीं लेता, उसकी ताक नहीं करता, स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभिलाषा नहीं करता। दूसरे को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद न लेता हुआ, उसकी ताक न रखता हुआ, स्पृहा न करता हुआ, प्रार्थना न करता हुआ और अभिलाषा न करता हुआ वह दूसरी सुख शय्या को प्राप्त कर विहार करता है।

३५. उवहिपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ। निरुवहिए णं जीवे निक्कंखे उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सइ।।

*उपधिप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*उपधिप्रत्याख्यानेन अपरिमन्थं जनयति। निरुपधिको जीवो निष्काङ्क्षः उपधिमन्तरेण च न संक्लिश्यति।।*

भंते ! उपाधि (वस्त्र आदि उपकरणों) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उपधि के प्रत्याख्यान से[47] वह स्वाध्याय-ध्यान में होने वाले क्षति से बच जाता है। उपधि रहित मुनि अभिलाषा से मुक्त होकर उपधि के अभाव में मानसिक संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

३६. आहारपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

आहारपच्चक्खाणेणं जीविया-संसप्पओगं वोच्छिंदइ। जीवि-यासंसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेण न संकिलिस्सइ।।

*आहारप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*आहारप्रत्याख्यानेन जीविता-शंसाप्रयोगं व्युच्छिनत्ति। जीविता-शंसाप्रयोगं व्यवच्छिद्य जीवः आहारमन्तरेण न संक्लिश्यति।।*

भंते ! आहार प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

आहार-प्रत्याख्यान से[48] वह जीवित रहने की अभिलाषा के प्रयोग का विच्छेद कर देता है। जीवित रहने की अभिलाषा का विच्छेद कर देने वाला व्यक्ति आहार के बिना (तपस्या आदि में) संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३७. कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

कसायपच्चक्खाणेणं वीयराग-भावं जणयइ। वीयरागभाव-पडिवन्ने वि य णं जीवे समसुह-दुक्खे भवइ।।

*कषायप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*कषायप्रत्याख्यानेन वीतराग-भावं जनयति वीतरागभावप्रतिपन्नोपि च जीवः समसुखदुःखो भवति।।*

भंते ! कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

कषाय-प्रत्याख्यान से[४६] वह वीतराग भाव को प्राप्त करता है। वीतराग-भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दुःख में सम हो जाता है।

३८. जोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ।।

*योगप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*योगप्रत्याख्यानेन अयोगत्वं जनयति। अयोगी जीवो नवं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं निर्जरयति।।*

भंते ! योग (शरीर, वचन और मन की प्रवृत्ति) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

योग-प्रत्याख्यान से वह अयोगत्व (सर्वथा अप्रकम्प भाव) को प्राप्त होता है। अयोगी जीव नये कर्मों का अर्जन नहीं करता और पूर्वार्जित कर्मों को क्षीण कर देता है।

३९. सरीरपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसय-गुणतणं निव्वत्तेइ। सिद्धाइसय-गुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्ग-मुवगए परमसुही भवइ।।

*शरीरप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*शरीरप्रत्याख्यानेन सिद्धातिशय-गुणत्वं निर्वर्तयति। सिद्धातिशय-गुणसम्पन्नश्च जीवो लोकाग्रमु-पगतः परमसुखी भवति।।*

भंते ! शरीर के प्रत्याख्यान (देह-मुक्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

शरीर के प्रत्याख्यान से वह मुक्त-आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करता है। मुक्त-आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करने वाला जीव लोक के शिखर में पहुंचकर परम सुखी हो जाता है।[४७]

४०. सहायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्प-सद्दे अप्पझंझे अप्पकलहे अप्प-कसाए अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ।।

*सहायप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*सहायप्रत्याख्यानेन एकीभावं जनयति। एकीभावभूतोऽपि च जीवः एकाग्रयं भावयन् अल्पशब्दः अल्पझञ्झः अल्पकलहः अल्प-कषायः अल्प-त्वंत्वः संयमबहुलः संवरबहुलः, समाहितश्चापि भवति।।*

भंते ! सहाय-प्रत्याख्यान (दूसरों का सहयोग न लेने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सहाय-प्रत्याख्यान से[४८] वह अकेलेपन को प्राप्त होता है। अकेलेपन को प्राप्त हुआ जीव एकत्व के आलंबन का अभ्यास करता हुआ कोलाहल पूर्ण शब्दों से मुक्त, वाचिक-कलह से मुक्त, झगड़े से मुक्त, कषाय से मुक्त, तू-तू से मुक्त, संयम-बहुल, संवर-बहुल और समाधिस्थ हो जाता है।

४१. भत्तपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ।।

*भक्तप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*भक्तप्रत्याख्यानेन अनेकानि भवशतानि निरुणद्धि।।*

भंते ! भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

भक्त-प्रत्याख्यान से[४९] वह अनेक सैकड़ों जन्म-मरणों का निरोध करता है।

४२. सब्भावपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सब्भावपच्चक्खाणेणं अनियट्टिं जणयइ। अनियट्टिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तं जहा—वेयणिज्जं

*सद्भावप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*सद्भावप्रत्याख्यानेन अनिवृत्तिं जनयति। अनिवृत्तिप्रतिपन्नश्-चानगारः चतुरः केवलिकर्मांशान् क्षपयति, तद् यथा—वेदनीयं,*

भंते ! सद्भाव-प्रत्याख्यान (पूर्ण संवर रूप शैलेशी) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सद्भाव-प्रत्याख्यान से[५०] वह अनिवृत्ति—शुक्लध्यान को प्राप्त करता है। अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अनगार केवलि-सत्क (केवली के विद्यमान) चार कर्मों, जैसे—वेदनीय, आयुष्, नाम और गोत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आउयं नामं गोयं। तओ पच्छा सिज्झई बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।।

*आयुः नाम गोत्रम्। ततः पश्चात् सिध्यति, 'बुज्झइ' मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति।।*

को क्षीण कर देता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, प्रशान्त होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वृत होता है और सब दुःखों का अंत करता है।

४३. पडिरूवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ। लहुभूए णं जीवे अप्पमत्ते पागडलिंगे पसत्थलिंगे विसुद्धसम्मत्ते सत्तसमिइसमत्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे अप्पडिलेहे जिइंदिए विउलतवसमिइसमन्नागए यावि भवइ।।

*प्रतिरूपतया भदन्त! जीवः किं जनयति?*

*प्रतिरूपतया लाघवितां जनयति। लघुभूतो जीवः अप्रमत्तः प्रकटलिंगः प्रशस्तलिंगः विशुद्धसम्यक्त्वः समाप्तसत्त्वसमितिः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु विश्वसनीयरूपोऽप्रतिलेखो जितेन्द्रियो विपुलतपःसमितिसमन्वागतश्चापि भवति।।*

भंते! प्रतिरूपता (जिनकल्पिक जैसे आचार का पालन करने) से जीव क्या प्राप्त करता है?

प्रतिरूपता से वह हल्केपन को प्राप्त होता है। उपकरणों के अल्पीकरण से हल्का बना हुआ जीव अप्रमत्त, प्रकटलिंग वाला, प्रशस्तलिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व वाला, पराक्रम और समिति से परिपूर्ण, सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए विश्वसनीय रूप वाला, अप्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय तथा विपुल तप और समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला होता है।[५४]

४४. वेयावच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ।।

*वैयावृत्त्येन भदन्त! जीवः किं जनयति?*

*वैयावृत्त्येन तीर्थङ्करनामगोत्रं कर्म निबध्नाति।।*

भंते! वैयावृत्य (साधु-संघ की सेवा करने) से जीव क्या प्राप्त करता है?

वैयावृत्य से वह तीर्थङ्कर-नाम-गोत्र कर्म का अर्जन करता है।[५५]

४५. सव्वगुणसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावत्तिं जणयइ। अपुणरावत्तिं पत्तए य णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ।।

*सर्वगुणसम्पन्नतया अपुनरावृत्तिं जनयति। अपुनरावृत्तिं प्राप्तश्च जीवः शारीरमानसानां दुःखानां नो भागी भवति।।*

भंते! सर्व-गुण-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है?

सर्व-गुण सम्पन्नता से[५६] वह अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है। अपुनरावृत्ति को प्राप्त करने वाला जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता।

४६. वीयरागयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ मणुन्नेसु सद्दफरिसरसरूवगंधेसु चेव विरज्जइ।।

*वीतरागतया भदन्त! जीवः किं जनयति?*

*वीतरागतया स्नेहानुबंधनानि तृष्णानुबंधनानि च व्युच्छिनत्ति। मनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु चैव विरज्यते।।*

भंते! वीतरागता से जीव क्या प्राप्त करता है?

वीतरागता से वह स्नेह के अनुबन्धनों और तृष्णा के अनुबन्धनों का विच्छेद करता है। तथा मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध से विरक्त हो जाता है।[५७]

४७. खंतीए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

खंतीए णं परीसहे जिणइ।।

*क्षान्त्या भदन्त! जीवः किं जनयति?*

*क्षान्त्या परीषहान् जयति।।*

भंते! क्षांति (सहिष्णुता) से जीव क्या प्राप्त करता है?

क्षांति से[५८] वह परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

४८. मुत्तीए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं अपत्थणिज्जो भवइ।।

*मुक्त्या भदन्त! जीवः किं जनयति?*

*मुक्त्या आकिंचन्यं जनयति। अकिंचनश्च जीवो अर्थलोलानां अप्रार्थनीयो भवति।।*

भंते! मुक्ति (निर्लोभलता) से जीव क्या प्राप्त करता है?

मुक्ति से वह अकिंचनता[५९] को प्राप्त होता है। अकिंचन जीव अर्थ-लोलुप पुरुषों के द्वारा अप्रार्थनीय होता है—उसके पास कोई याचना नहीं करता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४९. अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ।।

*आर्जवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*आर्जवेन कायर्जुकतां भावर्जुकतां भाषर्जुकतां अविसंवादनं जनयति। अविसंवादनसम्पन्नतया जीवो धर्मस्याराधको भवति।।*

भंते ! ऋजुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ऋजुता से वह काया की सरलता, भाव की सरलता, भाषा की सरलता और कथनी करनी की समानता को प्राप्त होता है। कथनी करनी की समानता से सम्पन्न जीव धर्म का आराधक होता है।[५०]

५०. मद्दवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्तेणं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठवेइ।।

*मार्दवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*मार्दवेन अनुत्सिक्तत्वं जनयति। अनुत्सिक्तत्वेन जीवो मृदुमार्दवसम्पन्नः अष्ट मदस्थानानि निष्ठापयति।।*

भंते ! मृदुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मृदुता से वह अनुद्धत मनोभाव को प्राप्त करता है। अनुद्धत मनोभाव वाला जीव मृदु-मार्दव से[५१] सम्पन्न होकर मद के आठ स्थानों का विनाश कर देता है।[५२]

५१. भावसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए हवइ।।

*भावसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*भावसत्येन भावविशोधिं जनयति। भावविशोधौ वर्तमानो जीवोऽर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनायै अभ्युत्तिष्ठते, अभ्युत्थाय परलोकधर्मस्याराधको भवति।।*

भंते ! भाव-सत्य (अन्तर्-आत्मा की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

भाव-सत्य से वह भाव की विशुद्धि को प्राप्त होता है। भाव-विशुद्धि में वर्तमान जीव अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए तत्पर होता है, आराधना में तत्पर होकर वह परलोक-धर्म का आराधक होता है।

५२. करणसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ।।

*करणसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*करणसत्येन करणशक्तिं जनयति। करणसत्येन वर्तमानो जीवो यथावादी तथाकारी चापि भवति।।*

भंते ! करण-सत्य (कार्य की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

करण-सत्य से वह करण-शक्ति (अपूर्व कार्य करने के सामर्थ्य) को प्राप्त होता है। करण-सत्य में वर्तमान जीव जैसा कहता है वैसा करता है।

५३. जोगसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ।।

*योगसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*योगसत्येन योगान् विशोधयति।।*

भंते ! योग-सत्य (मन, वाणी और काया की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

योग-सत्य से वह मन, वाणी और काया की प्रवृत्ति को विशुद्ध करता है।[५३]

५४. मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ।।

*मनोगुप्ततया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*मनोगुप्ततया ऐकाग्र्यं जनयति। एकाग्रचित्तो जीवो मनोगुप्तः संयमाराधको भवति।।*

भंते ! मनोगुप्तता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मनो-गुप्तता से वह एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्र-चित्त वाला जीव अशुभ संकल्पों से मन की रक्षा करने वाला और संयम की आराधना करने वाला होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५५. वइगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वइगुत्तयाए णं निव्वियारं जणयइ। निव्वियारेणं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगज्झाणगुत्ते यावि भवइ।।

*वाग्गुप्ततया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*वाग्गुप्ततया निर्विचारं जनयति। निर्विचारो जीवो वाग्गुप्तोऽध्यात्मयोगध्यानगुप्तश्चापि भवति।।*

भंते ! वाग्-गुप्तता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाग्-गुप्तता से वह निर्विचार भाव को प्राप्त होता है। निर्विचार जीव सर्वथा वाग्-गुप्त और अध्यात्म-योग के साधन—चित्त की एकाग्रता आदि से युक्त हो जाता है।

५६. कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ।।

*कायगुप्ततया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*कायगुप्ततया संवरं जनयति। संवरेण कायगुप्तः पुनः पापाश्रवनिरोधं करोति।।*

भंते ! काय-गुप्तता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काय-गुप्तता से वह संवर (अशुभ प्रवृत्ति के निरोध) को प्राप्त होता है। संवर के द्वारा कायिक स्थिरता को प्राप्त करने वाला जीव फिर पाप-कर्म के उपादान-हेतुओं (आश्रवों) का निरोध कर देता है।[६४]

५७. मणसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मणसमाहारणयाए णं एगग्गं जणयइ, जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ, जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ मिच्छत्तं च निज्जरेइ।।

*मनःसमाधारणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*मनःसमाधारणेन ऐकाग्र्यं जनयति, जनयित्वा ज्ञानपर्यवान् जनयति, जनयित्वा सम्यक्त्वं विशोधयति मिथ्यात्वञ्च निर्जरयति।।*

भंते ! मन-समाधारणा—मन को आगम-कथित भावों में भली-भांति लगाने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मन-समाधारणा से वह एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्रता को प्राप्त होकर ज्ञान-पर्यवों—ज्ञान के विविध आयामों को प्राप्त होता है। ज्ञान-पर्यवों को प्राप्त कर सम्यक्-दर्शन को विशुद्ध और मिथ्यात्व को क्षीण करता है।

५८. वइसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वइसमाहारणयाए णं वइसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ, विसोहेत्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ।।

*वाक्समाधारणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*वाक्समाधारणेन वाक्समाधारणदर्शनपर्यवान् विशोधयति, विशोध्य सुलभबोधिकत्वं निर्वर्तयति, दुर्लभबोधिकत्वं निर्जरयति।।*

भंते ! वाक्-समाधारणा—वाणी को स्वाध्याय में भलीभांति लगाने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाक्-समाधारणा से वह वाणी के विषय-भूत दर्शन-पर्यवों—सम्यक्-दर्शन के विविध आयामों को विशुद्ध करता है। वाणी के विषयभूत दर्शन-पर्यवों को विशुद्ध कर बोधि की सुलभता को प्राप्त होता है और बोधि की दुर्लभता को क्षीण करता है।[६५]

५९. कायसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

कायसमाहारणयाए णं चरित्तपज्जवे विसोहेइ, विसोहेत्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ, विसोहेत्ता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।।

*कायसमाधारणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*कायसमाधारणेन चरित्रपर्यवान् विशोधयति, विशोध्य यथाख्यातचरित्रं विशोधयति, विशोध्य चतुरः केवलिकर्मांशान् क्षपयति। ततः पश्चात् सिध्यति, 'बुज्झइ' मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति।।*

भंते ! काय-समाधारणा—संयम-योगों में काय को भलीभांति लगाने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काय-समाधारणा से वह चरित्र-पर्यवों—चरित्र के विविध आयामों को विशुद्ध करता है। चरित्र-पर्यवों को विशुद्ध कर यथाख्यात चरित्र (वीतरागभाव) को प्राप्त करने योग्य विशुद्धि करता है। यथाख्यात चरित्र को विशुद्ध कर केवलि-सत्क (केवली के विद्यमान) चार कर्मों—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र को क्षीण करता है। उसके पश्चात् सिद्ध होता है, प्रशांत होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वृत्त होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।[६६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६०. नाणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरंते संसारकंतारे न विणस्सइ।

जहा सूई ससुत्ता
पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते
संसारे न विणस्सइ।।

नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ, ससमयपरसमयसंघायणिज्जे भवइ।।

*ज्ञानसम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*ज्ञानसम्पन्नतया जीवः सर्वभावाभिगमं जनयति। ज्ञानसम्पन्नो जीवश्चतुरन्ते संसारकांतारे न विनश्यति।*

*यथा सूची ससूत्रा, पतिताऽपि न विनश्यति। तथा जीवः ससूत्रः संसारे न विनश्यति।।*

*ज्ञानविनयतपश्चरित्रयोगान् सम्प्राप्नोति, स्वसमयपरसमयसंघातनीयो भवति।।*

भंते ! ज्ञान-सम्पन्नता (श्रुत ज्ञान की सम्पन्नता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ज्ञान-सम्पन्नता से वह सब पदार्थों को जान लेता है। ज्ञान-सम्पन्न जीव चार गति-रूप चार अन्तों वाली संसार-अटवी में विनष्ट नहीं होता।

जिस प्रकार ससूत्र (धागे में पिरोई हुई) सुई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत सहित) जीव संसार में रहने पर भी विनष्ट नहीं होता।

(ज्ञान-सम्पन्न) अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों को प्राप्त करता है तथा स्वसमय और परसमय की व्याख्या या तुलना के लिए प्रामाणिक पुरुष माना जाता है।

६१. दंसणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं न विज्झायइ। अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ।।

*दर्शनसम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*दर्शनसम्पन्नतया भवमिथ्यात्वछेदनं करोति। परं न विध्यायति। अनुत्तरेण ज्ञानदर्शनेनात्मानं संयोजयन् सम्यग् भावयन् विहरति।।*

भंते ! दर्शन-सम्पन्नता (सम्यक्-दर्शन की सम्प्राप्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

दर्शन-सम्पन्नता से वह संसार-पर्यटन के हेतु-भूत मिथ्यात्व का उच्छेद करता है—क्षायिक सम्यक्-दर्शन को प्राप्त होता है। उससे आगे उसकी प्रकाश-शिखा बुझती नहीं। वह अनुत्तर ज्ञान और दर्शन से अपने आपको संयोजित करता हुआ, उन्हें सम्यक् प्रकार से आत्मसात् करता हुआ विहरण करता है।

६२. चरित्तसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।।

*चरित्रसम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*चरित्रसम्पन्नतया शैलेशीभावं जनयति। शैलेशीं प्रतिपन्नश्च अनगारः चतुरः केवलिकर्मांशान् क्षपयति। ततः पश्चात् सिध्यति, 'बुज्झइ' मुच्यते, परिनिर्वाति सर्वदुःखानामन्तं करोति।।*

भंते ! चारित्र-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चारित्र-सम्पन्नता से वह शैलेशी-भाव को प्राप्त होता है। शैलेशी-दशा को प्राप्त करने वाला अनगार चार केवलि-सत्क कर्मों को क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, प्रशांत होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वृत होता है और सब दुःखों का अंत करता है।[६७]

६३. सोइंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सोइंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।।

*श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु रागदोषनिग्रहं जनयति, तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति।।*

भंते ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह शब्द सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।[६८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६४. चक्खिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

चक्खिंदियनिग्गहेणं मणुण्णा-मणुण्णेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

*चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रूपेषु रागदोषनिग्रहं जनयति, तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ।।*

भंते ! चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रूप सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

६५. घाणिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

घाणिंदियनिग्गहेणं मणुण्णा-मणुण्णेसु गंधेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

*घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु गन्धेषु रागदोषनिग्रहं जनयति, तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ।।*

भंते ! घ्राण-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह गन्ध सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

६६. जिब्भिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

जिब्भिंदियनिग्गहेणं मणुण्णा-मणुण्णेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

*जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु रागदोषनिग्रहं जनयति, तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ।।*

भंते ! जिह्वा-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रस सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

६७. फासिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

फासिंदियनिग्गहेणं मणुण्णा-मणुण्णेसु फासेसु रागदोस-निग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

*स्पर्शेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*स्पर्शेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु स्पर्शेषु रागदोषनिग्रहं जनयति, तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ।।*

भंते ! स्पर्श-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह स्पर्श सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।[६६]

६८. कोहविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

कोहविजएणं खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

*क्रोधविजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*क्रोधविजयेन क्षांतिं जनयति, क्रोधवेदनीयं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ।।*

भंते ! क्रोध-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्रोध-विजय से वह क्षमा को उत्पन्न करता है। वह क्रोध-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

६९. माणविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

*मानविजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*मानविजयेन मार्दवं जनयति, मानवेदनीयं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ।।*

भंते ! मान-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मान-विजय से वह मृदुता को उत्पन्न करता है। वह मान-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७०. मायाविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ, मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

*मायाविजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*मायाविजयेन ऋजुभावं जनयति, मायावेदनीयं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ।।*

भंते ! माया-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

माया-विजय से वह ऋजुता को उत्पन्न करता है। वह माया-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

७१. लोभविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

लोभविजएणं संतोसीभावं जणयइ, लोभवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

*लोभविजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*लोभविजयेन सन्तोषीभावं जनयति, लोभवेदनीयं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ।।*

भंते ! लोभ-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

लोभ-विजय से वह संतोष को उत्पन्न करता है। वह लोभ-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

७२. पेज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पेज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं नाणदंसणचरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्विं अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दंसणावरणिज्जं पंचविहं अंतरायं एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ। तओ पच्छा अणुत्तरं अणंतं कसिणं पडिपुण्णं निरावरणं वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्पभावगं केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेइ। जाव सजोगी भवइ ताव य इरियावहियं कम्मं बंधइ सुहफरिसं दुसमयठिइयं। तं पढमसमए बद्धं बिइयसमए वेइयं तइयसमए निज्जिण्णं तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ ।।

*प्रेयोदोषमिथ्यादर्शनविजयनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?*

*प्रेयोदोषमिथ्यादर्शनविजयेन ज्ञानदर्शनचरित्राराधनायां अभ्युत्तिष्ठते। अष्टविधस्य कर्मणः कर्मग्रन्थिविमोचनाय तत्प्रथमतया यथानुपूर्वि अष्टाविंशतिविधं मोहनीयं कर्मोद्घातयति। पंचविधं ज्ञानावरणीयं नवविधं दर्शनावरणीयं पंचविधमन्तरायं एतान् त्रीनपि कर्मांशान् युगपत् क्षपयति। ततः पश्चादनुत्तरं अनन्तं कृत्स्नं प्रतिपूर्णं निरावरणं वितिमिरं विशुद्धं लोकालोकप्रभावकं केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पादयति। यावत् सयोगी भवति तावद् च ऐर्यापथिकं कर्म बध्नाति सुखस्पर्शं द्विसमयस्थितिकम्। तत् प्रथमसमये बद्धं द्वितीयसमये वेदितं तृतीयसमये निर्जीर्णं तद् बद्धं स्पृष्टमुदीरितं वेदितं निर्जीर्णं एष्यत्काले चाकर्म चापि भवति ।।*

भंते ! प्रेम, द्वेष और मिथ्या-दर्शन के विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रेम, द्वेष और मिथ्या-दर्शन के विजय से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। आठ कर्मों में जो कर्म ग्रंथि है, उसे खोलने के लिए वह उद्यत होता है। वह जिसे पहले कभी भी पूर्णतः क्षीण नहीं कर पाया उस अट्ठाईस प्रकार वाले मोहनीय कर्म को क्रमशः सर्वथा क्षीण करता है, फिर वह पांच प्रकार वाले ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार वाले दर्शनावरणीय और पांच प्रकार वाले अंतराय—इन तीनों विद्यमान कर्मों को एक साथ क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह अनुत्तर, अनंत, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरावरण, तिमिर रहित, विशुद्ध, लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन को उत्पन्न करता है। जब तक वह सयोगी होता है तब तक उसके ईर्या-पथिक-कर्म का बंध होता है। वह बंध सुख-स्पर्श (पुण्यमय) होता है। उसकी स्थिति दो समय की होती है। वह प्रथम समय में बंधता है, दूसरे समय में उसका वेदन होता है और तीसरे समय में वह निर्जीर्ण हो जाता है। वह कर्म बद्ध होता है, स्पृष्ट होता है, उदय में आता है, भोगा जाता है, नष्ट हो जाता है और अंत में अकर्म भी हो जाता है।[७०]

७३. आहाउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तद्धावसेसाउए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइ सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं निरुंभइ, निरुंभित्ता वइजोगं निरुंभइ,

*यथायुःपालयित्वाऽन्तर्मुहूर्ताध्वावशेषायुष्कः योगनिरोधं कुर्वाणः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् तत्प्रथमतया मनोयोगं निरुणद्धि, निरुध्य वाग्योगं निरुणद्धि, निरुध्य*

केवली होने के पश्चात् वह शेष आयुष्य[७१] का निर्वाह करता है। जब अंतर्-मुहूर्त्त परिमाण आयु शेष रहती है, तब वह योग-निरोध करने में प्रवृत्त होता है। उस समय सूक्ष्म-क्रिया अप्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान में लीन बना हुआ वह सबसे पहले मनोयोग का निरोध करता है, फिर वचन-योग का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरुंभित्ता आणापाणुनिरोहं करेइ, करेत्ता ईसिं पंचरहस्सक्खरुच्चारद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ।।

*आनापान-निरोधं करोति, कृत्वा ईषत् पंच ह्रस्वाक्षरोच्चाराध्वनि च अनगारः समुच्छिन्नक्रियं अनिवृत्तिशुक्लध्यानं ध्यायन् वेदनीयमायुष्कं नाम गोत्रञ्चैतान् चतुरः कर्मांशान् युगपत् क्षपयति।।*

निरोध करता है, उसके पश्चात् आनापान (उच्छ्वास-निश्वास) का निरोध करता है। उसके पश्चात् स्वल्पकाल तक—पांच ह्रस्वाक्षरों अ इ उ ऋ लृ का उच्चारण किया जाए उतने काल तक—समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान में लीन बना हुआ अनगार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—इन चारों विद्यमान कर्मों को एक साथ क्षीण करता है।

७४. तओ ओरालियकम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।।

*ततः औदारिककार्मणे च सर्वाभिः विप्रहाणिभिः विप्रहाय ऋजुश्रेणिप्राप्तोऽस्पृशद्गतिरूर्ध्वं एक समयेन अविग्रहेण तत्र गत्वा साकारोपयुक्तः सिध्यति 'बुज्झइ' मुच्यते परिनिर्वाति सर्वदुःखानामन्तं करोति।।*

उसके अनन्तर ही औदारिक और कार्मण शरीर को पूर्ण अनस्तित्व के रूप में छोड़ कर वह मोक्ष स्थान में पहुंच साकारोपयुक्त (ज्ञान-प्रवृत्तिकाल) में सिद्ध होता है, प्रशांत होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वृत होता है और सब दुःखों का अंत करता है। सिद्ध होने से पूर्व वह ऋजुश्रेणी (आकाश-प्रदेशों की सीधी पंक्ति) से गति करता है। उसकी गति अस्पृशद् (मध्यवर्ती आकाश का स्पर्श किए बिना) तथा ऊपर को होती है। वह एक समय की होती है—ऋजु होती है।

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए पण्णविए परूविए दंसिए उवदंसिए।।

*एष खलु सम्यक्त्वपराक्रमस्याध्ययनस्यार्थः श्रमणेन भगवता महावीरेणाख्यातः प्रज्ञापितः प्ररूपितः दर्शितः उपदर्शितः।।*

सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा आख्यात, प्रज्ञापित, प्ररूपित, दर्शित और उपदर्शित है।[७१]

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन २९ : सम्यक्त्व-पराक्रम

**१. (संवेगेणं.....निव्वेएणं)**

सम्यग्-दर्शन के पांच लक्षणों में संवेग दूसरा और निर्वेद तीसरा है। संवेग का अर्थ है 'मोक्ष की अभिलाषा'[1] और निर्वेद का अर्थ है 'संसार-त्याग की भावना या काम-भोगों के प्रति उदासीन-भाव।'[2]

श्रुतसागरसूरि ने निर्वेद के तीन अर्थ किए हैं—(१) संसार-वैराग्य, (२) शरीर-वैराग्य और (३) मोक्ष-वैराग्य।[3]

प्रस्तुत दो सूत्रों में कहा गया है कि संवेग से धर्म-श्रद्धा उत्पन्न होती है और निर्वेद से विषय-विरक्ति। इन परिणामों के अनुसार संवेग और निर्वेद की उक्त परिभाषाएं समीचीन हैं। कई आचार्य संवेग का अर्थ 'भव-वैराग्य' और निर्वेद का अर्थ 'मोक्षाभिलाषा' भी करते हैं। किन्तु इस प्रकरण से वे फलित नहीं होते।

पातंजल योगदर्शन के व्याख्याकारों ने 'संवेग' शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। मिश्रजी के अनुसार संवेग का अर्थ वैराग्य है। विज्ञानभिक्षु 'उपाय के अनुष्ठान में शीघ्रता' को संवेग कहते हैं। भोजदेव के अनुसार क्रिया का हेतुभूत संस्कार ही संवेग है।[4]

विशुद्धिमग्ग दीपिका के अनुसार जो मनोभाव उत्तम-वीर्य वाली आत्मा को वेग के साथ कुशलाभिमुख करता है, वह 'संवेग' कहलाता है।[5] इसका अभिप्राय भी मोक्षाभिलाषा से भिन्न नहीं है।

संवेग और धर्म-श्रद्धा का कार्य-कारण-भाव है। मोक्ष की अभिलाषा होती है तब धर्म में रुचि उत्पन्न होती है और जब धर्म में रुचि उत्पन्न हो जाती है तब मोक्ष की अभिलाषा विशिष्टतर हो जाती है। जब संवेग तीव्र होता है तब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ क्षीण हो जाते हैं, दर्शन विशुद्ध हो जाता है।

जिसका दर्शन विशुद्ध हो जाता है, उसके कर्म का बन्ध नहीं होता। वह उसी जन्म में या तीसरे जन्म में अवश्य ही मुक्त हो जाता है। 'कम्मं न बंधई' इस पर शान्त्याचार्य ने लिखा है कि अशुभ-कर्म का बन्ध नहीं होता।[6] सम्यग्-दृष्टि के अशुभ-कर्म का बंध नहीं होता, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अशुभ-योग की प्रवृत्ति छठे गुणस्थान तक हो सकती है और कषाय जनित अशुभ-कर्म का बन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है। इसलिए इसे इस रूप में समझना चाहिए कि जिसका दर्शन विशुद्ध हो जाता है, अनन्तानुबन्धी चतुष्क सर्वथा क्षीण हो जाता है, उसके नये सिरे से मिथ्या-दर्शन के कर्म-परमाणुओं का बन्ध नहीं होता क्योंकि मिथ्यात्व की विशोधि हो जाती है, उसका क्षय हो जाता है। तात्पर्यार्थ में वह व्यक्ति क्षायक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। क्षायक सम्यक्त्वी दर्शन का आराधक होता है। वह उसी जन्म में या तीसरे जन्म में अवश्य ही मुक्त हो जाता है। इसका सम्बन्ध दर्शन की उत्कृष्ट आराधना से है। जघन्य और मध्यम आराधना वाले अधिक जन्मों तक संसार में रह सकते हैं। किन्तु उत्कृष्ट आराधना वाले तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करते। यह तथ्य भगवती (८।४५६) से भी समर्थित है। गौतम ने पूछा—"भगवन्! उत्कृष्ट दर्शनी कितने जन्म में सिद्ध होता है?" भगवान् ने कहा—"गौतम! वह उसी जन्म में सिद्ध हो जाता है और यदि उस जन्म में न हो तो तीसरे जन्म में अवश्य हो जाता है।"

जैन साधना-पद्धति का पहला सूत्र है—मिथ्यात्व-विसर्जन या दर्शन-विशुद्धि। दर्शन की विशुद्धि का हेतु संवेग है, जो नैसर्गिक भी होता है और अधिगमिक भी। साधना का दूसरा सूत्र है—प्रवृत्ति-विसर्जन या आरम्भ-परित्याग। उसका हेतु निर्वेद है। जब तक निर्वेद नहीं होता, तब तक विषय-विरक्ति नहीं होती और उसके बिना आरम्भ का परित्याग नहीं होता। दशवैकालिक निर्युक्ति में भिक्षु में सतरह लिङ्ग बताए गए हैं, वहां संवेग और निर्वेद को प्रथम स्थान दिया गया है।

*'यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।*
*तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।।*
*यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा आदि।*
*तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।'*[7]

**२. धर्मश्रद्धा से (धम्मसद्धाए)**

निर्वेद का फल है—कामभोग अथवा इन्द्रिय-विषयों के प्रति वैराग्य। धर्मश्रद्धा का फल है—पौद्गलिक सुख के प्रति वैराग्य। इन दोनों परिभाषाओं से वैराग्य के दो अर्थ फलित

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७७ : संवेगो—मुक्त्यभिलाषः।

२. वही, पत्र ५७८ : 'निर्वेदेन' सामान्यतः—संसारविषयेण कदाऽसौ त्यक्ष्यामीत्येवंरूपेण।

३. षट् प्राभृत, पृ० ३६३; मोक्ष प्राभृत ८२ टीका : निर्वेदः संसार-शरीर-भोग-विरागता।

४. पातंजलयोगदर्शन, १।२१, पृ० ६०।

५. विशुद्धिमग्ग दीपिका ८, पृ० ६८ : 'संवेगो' ति उत्तमविरियं यं पुग्गलं वेगेन कुशलाभिमुखं करोति।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७७ : 'कर्म' प्रस्तावादशुभप्रकृतिरूपं न बध्नाति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं—(१) शब्द, रूप आदि के प्रति होने वाला विकर्षण, पदार्थ के प्रति अनासक्तभाव, (२) सुखात्मक संवेदन के प्रति विकर्षण। पहला वस्तुगत (ऑब्जेक्टिव) वैराग्य है और दूसरा अनुभूतिगत (सब्जेक्टिव) वैराग्य है।

### ३. वैषयिक सुखों की (सायासोक्खेसु)

सुख और साता—ये दो शब्द हैं। सुख शब्द व्यापक है। यह पौद्गलिक और आत्मिक—दोनों प्रकार का होता है। साता पौद्गलिक होती है।

वृत्ति में साता का अर्थ है—सातवेदनीय कर्म। उससे उत्पन्न या प्राप्त सुखों को सातासौख्य कहा गया है। तात्पर्य में यह समस्त वैषयिक सुखों का वाचक है।[1]

### ४. अगारधर्म—गृहस्थी (अगारधम्मं)

इसके दो अर्थ हैं—

(१) गृहस्थ का बारह व्रत रूप धर्म—दुवालसविहे अगारधम्मे पण्णत्ते।

(२) गृहस्थ का आचार या कर्त्तव्य।

प्रस्तुत प्रसंग में दूसरा अर्थ ही संगत है।

### ५. गुरु का अविनय या परिवाद करने वाला नहीं होता (अणच्चासायणसीले)

आशातना का अर्थ है—अवज्ञा या अवमानना। अनत्याशातन का अर्थ है—गुरु की अवज्ञा न करने वाला, गुरु का परिवाद न करने वाला।

### ६. (वण्णसंजलणभत्तिबहुमाणयाए)

वर्ण, संज्वलन, भक्ति और बहुमान—ये चारों विनय-प्रतिपत्ति के अंग हैं। वर्ण का अर्थ है 'श्लाघा'[2]। कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक—ये चारों पर्याय-शब्द हैं। इनमें कुछ अर्थ-भेद भी हैं।[3]

संज्वलन का अर्थ है 'गुण-प्रकाशन'।[4]

भक्ति का अर्थ है 'हाथ जोड़ना, गुरु के आने पर खड़ा होना, आसन देना आदि-आदि।'[5]

बहुमान का अर्थ है 'आन्तरिक अनुराग।'[6]

दशवैकालिक चूर्णि में भक्ति और बहुमान में जो आन्तर है, उसे एक उदाहरण द्वारा समझाया है।[7]

### ७. (मणुस्सदेवदोग्गईओ...मणुस्सदेवसोग्गईओ)

अपराधपूर्ण आचरण करने वाला व्यक्ति मनुष्य की दुर्गति का जीवन जीता है और सदाचार का पालन करने वाला व्यक्ति मनुष्य की सुगति का जीवन जीता है।

देवता की दुर्गति का अर्थ है—देवताओं में किल्विषिक आदि होना और देवता की सुगति का अर्थ है—देवलोक में इन्द्र आदि बनना।

### ८. सिद्धि सुगति का मार्ग (सिद्धिं सोग्गइं)

सुगति सिद्धि का विशेषण है। वृत्तिकार ने 'सिद्धिसोग्गइ' को एक पद माना है।[8]

स्थानांग में चार सुगतियों का उल्लेख है—सिद्ध सुगति, देव सुगति, मनुष्य सुगति और सुकुल में जन्म।[9]

### ९. माया, निदान और मिथ्या-दर्शन-शल्य को (मायानियाणमिच्छादंसणसल्लाणं)

जो मानसिक वृत्तियां और अध्यवसाय शल्य (अन्तर्व्रण) की तरह क्लेशकर होते हैं, उन्हें 'शल्य' कहा जाता है। वे तीन हैं—

(१) माया।

(२) निदान—तप के फल की आकांक्षा करना, भोग की प्रार्थना करना।[10]

(३) मिथ्या-दर्शन—मिथ्या दृष्टिकोण।

ये तीनों मोक्ष-मार्ग के विघ्न और अनन्त संसार के हेतु हैं। स्थानांग (१०।७१) में कहा है—आलोचना (अपना दोष-प्रकाशन) वही व्यक्ति कर सकता है, जो मायावी नहीं होता।

### १०. मोह को क्षीण करने में समर्थ परिणाम-धारा को (करणगुणसेढिं)

संक्षेप में 'करण-सेढि' का अर्थ है 'क्षपक-श्रेणि'। मोह-विलय की दो प्रक्रियाएं हैं—जिसमें मोह का उपशम होते-होते वह सर्वथा उपशान्त हो जाता है, उसे 'उपशम-श्रेणि' कहा जाता है। जिसमें मोह क्षीण होते-होते पूर्ण क्षीण हो जाता है, उसे 'क्षपक-श्रेणि' कहा जाता है। उपशम-श्रेणि से मोह का सर्वथा उद्घात नहीं होता, इसलिए यहां क्षपक-श्रेणि ही प्राप्त है।[11] करण का अर्थ 'परिणाम' है। क्षपक-श्रेणि का प्रारम्भ आठवें गुणस्थान से होता है। वहां परिणाम-धारा वैसी शुद्ध होती है, जैसे पहले कभी नहीं होती। इसीलिए आठवें गुणस्थान को 'अपूर्व-करण' कहा जाता है। अपूर्व-करण से जो गुण-श्रेणि प्राप्त होती है, उसे 'करण-गुण-श्रेणि' कहा जाता है।[12] यह जब प्राप्त होती है तब मोहनीय कर्म के परमाणुओं की स्थिति

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७८ : सातं—सातवेदनीयं तज्जनितानि सौख्यानि सातसौख्यानि प्राग्वत् मध्यपदलोपी समासस्तेषु वैषयिकसुखोपेक्षेति यावत्।

२. वही, पत्र ५७९ : वर्णः—श्लाघा।

३. दसवेआलियं, ९।४।६,७।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७९ : सञ्ज्वलनं—गुणोद्भासनम्।

५. वही, पत्र ५७९ : भक्तिः—अञ्जलिप्रग्रहादिका।

६. वही, पत्र ५७९ : बहुमानम्—आन्तरप्रीतिविशेषः।

७. दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि, पृ० ६६।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७९ : सिद्धिंसोग्गइं ति सिद्धिसुगतिं।

९. ठाणं, ४।३३६।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७९ : निदानं—यावत्तपःप्रभृत्यादेरिदं स्यादहं इति प्रार्थनात्मकम्।

११. वही, पत्र ५८० : प्रक्रमात्क्षपकश्रेणिरेव गृह्यते।

१२. वही, पत्र ५७९ : करणेन—अपूर्वकरणेन गुणहेतुका श्रेणिः करणगुणश्रेणिः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अल्प हो जाती है और उनका विपाक मन्द हो जाता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म निर्वीर्य बन जाता है।

### ११. अनादर को (अपुरक्कारं)

यहां 'अपुरक्कार'—अपुरस्कार का अर्थ 'अनादर' या 'अवज्ञा' है। यह व्यक्ति गुणवान् है, कभी भूल नहीं करता—इस स्थिति का नाम पुरस्कार है। अपने प्रमादाचरण को दूसरों के सामने प्रस्तुत करने वाला इससे विपरीत स्थिति को प्राप्त होता है, वही अपुरस्कार है।

### १२. अनन्त विकास का घात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों की परिणतियों को (अणंतघाइपज्जवे)

आत्मा के चार गुण अनन्त हैं—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) वीतरागता और (४) वीर्य। इनके आवारक परमाणुओं को ज्ञानावरण और दर्शनावरण, सम्मोहक परमाणुओं को मोह तथा विघातक परमाणुओं को अन्तराय कर्म कहा जाता है। वीतरागता का बाधक है मोह और वीर्य का बाधक है अन्तराय कर्म। उनकी अनन्त-परिणतियों से आत्मा के अनन्त गुण आवृत, सम्मोहित और प्रतिहत होते हैं।

### १३. (सूत्र ८)

आलोचना, निन्दा और गर्हा—ये तीनों प्रायश्चित्त सूत्र हैं। इनके द्वारा प्रमादजनित आचरण का विशोधन किया जाता है। आलोचना का मूल आधार है—ऋजुता। माया, निदान (पौद्गलिक सुख का संकल्प) और मिथ्यादर्शनशल्य—ये तीनों साधना के विघ्न हैं। ये साधक को मोहासक्ति की ओर ले जाते हैं। आलोचना साधक को आत्मा की ओर ले जाती है, इसलिए उससे मायात्रिक के कांटे निकल जाते हैं। निन्दा अकृत के प्रति पश्चात्ताप की भावना है। उससे अकरणीय के प्रति विरक्ति पैदा होती है। गर्हा से व्यक्ति के अहंकार का विलय होता है। अहंकार से ग्रस्त व्यक्ति उद्धतभाव से अनाचरण का आसेवन कर लेता है। अहंकार का विलय होने पर आचरण संयत हो जाता है।

### १४. सामायिक से असत्प्रवृत्ति की विरति (सामाइएणं सावज्जजोगविरइं)

सामायिक और सावद्ययोगविरति में कार्य-कारण संबंध हैं। सावद्ययोगविरति कारण है, सामायिक कार्य है। कार्य और कारण एक साथ कैसे हो सकते हैं, इसके समाधान में वृत्तिकार ने बतलाया है कि वृक्ष कारण है और छाया कार्य है, फिर भी दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं।[1]

### १५. दर्शन (दर्शनाचार) की विशुद्धि (दंसणविसोहिं)

दर्शन का अर्थ है—सम्यक्त्व। प्रस्तुत प्रकरण में दर्शन की विशुद्धि का तात्पर्य दर्शन के आचार का अनुपालन होना चाहिए। यह भक्तियोग का सूत्र है। दर्शन के आठ आचार २८।३१ में निर्दिष्ट हैं। उनका संबंध दर्शन-विशुद्धि से है। स्तुति से तीर्थंकर के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। उससे दर्शनाचार के प्रति आस्था सुदृढ़ बनती है।

वृत्तिकार ने विशुद्धि का अर्थ निर्मल होना किया है। स्तुति के द्वारा दर्शन के उपघाती कर्म दूर होते हैं। फलतः सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है।[2] क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के लिए यह अर्थ घटित किया जा सकता है, किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व के लिए यह अर्थ घटित नहीं होता, क्योंकि सम्यक्त्व के उपघाती कर्म पहले ही नष्ट हो जाते हैं।

### १६. (वंदणएणं...निबंधइ)

वंदना एक प्रवृत्ति है। उससे दो कार्य निष्पन्न होते हैं—नीच गोत्र का क्षय—यह निर्जरा है तथा उच्च गोत्र का बंध—यह पुण्य का बंध है। वंदना का मुख्य फल है—निर्जरा और प्रासंगिक फल है—पुण्य कर्म का बंध। इनसे यह सिद्धान्त फलित होता है—जहां-जहां शुभ प्रवृत्ति है वहां-वहां निर्जरा है। एक भी शुभ प्रवृत्ति ऐसी नहीं है जिससे केवल पुण्य का बंध हो और निर्जरा न हो। पुण्य का बंध निर्जरा का सहचारी कार्य है।

### १७. प्रतिक्रमण से (पडिक्कमणेणं)

अकलंक ने प्रतिक्रमण का अर्थ—अतीत के दोषों से निवृत्त होना किया है।[3] हरिभद्रसूरी के अनुसार अशुभ प्रवृत्ति से फिर शुभ प्रवृत्ति में वापस आना प्रतिक्रमण है।[4] अशुभ योग से व्रत में छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं। प्रतिक्रमण से व्रत के छिद्र पुनः निरुद्ध हो जाते हैं। सूत्रकार ने व्रत-छिद्र के निरोध के पांच काम बतलाए हैं—

(१) आस्रव का निरोध हो जाता है।
(२) अशुभ प्रवृत्ति से होने वाले चरित्र के धब्बे समाप्त हो जाते हैं।
(३) आठ प्रवचन माताओं (पांच समितियों और तीन गप्तियों) में जागरूकता बढ़ जाती है।
(४) संयम के प्रति एकरसता या समापत्ति सध जाती है।
(५) समाधि की उपलब्धि होती है।

### १८. कायोत्सर्ग से (काउस्सग्गेणं)

सामाचारी-अध्ययन में कायोत्सर्ग को 'सर्व-दुःख विमोचक' कहा है।[5] शान्त्याचार्य ने कायोत्सर्ग का अर्थ—'आगमोक्त नीति के अनुसार शरीर को त्याग देना' किया है।[6] क्रिया-विसर्जन और ममत्व-विसर्जन—ये दोनों आगमोक्त नीति के अंग हैं।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८० : विरतिसहितस्यैव सम्भवात्, न चैव तुल्यकालत्वेनानयोः कार्यकारणभावासम्भव इति वाच्यं, केषुचित् तुल्यकालेष्वपि वृक्षच्छायादिवत् कार्यकारणभावदर्शनाद्।

२. वही, पत्र ५८० : दर्शनं सम्यक्त्वं, तस्य विशुद्धिः—तदुपघातिकर्मापगमतो निर्मलीभवनं दर्शनविशुद्धिः।

३. राजवार्तिक, ६।२४।

४. आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति।

५. उत्तरज्झयणाणि, २६।३८,४१,४६,४६।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८१ : कायः—शरीरं तस्योत्सर्गः—आगमोक्तनीत्या परित्यागः कायोत्सर्गः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक निर्युक्ति में कायोत्सर्ग के पांच काम निर्दिष्ट हैं[1]—

(१) देह की जड़ता का विशोधन
(२) मति की जड़ता का विशोधन
(३) सुख-दुःख की तितिक्षा
(४) अनुप्रेक्षा
(५) ध्यान।

### १९. (तीयपडुप्पन्नं)

यहां अतीत और प्रत्युत्पन्न—ये दो पद हैं। प्रत्युत्पन्न का अभिप्राय वर्तमान क्षण से नहीं है। अतीत का तात्पर्यार्थ है दूर का अतीत और प्रत्युत्पन्न का अर्थ है निकटवर्ती अतीत। वर्तमान क्षण में प्रायश्चित्तार्ह प्रवृत्ति की विशोधि की जा रही है, इसलिए प्रत्युत्पन्न का अर्थ निकटवर्ती अतीत करना उचित है।[2]

यहां प्रायश्चित्त के द्वारा प्रायश्चित्तार्ह प्रवृत्ति विवक्षित है।[3]

### २०. स्तव और स्तुति (थवथुइ)

सामान्यतः 'स्तुति' और 'स्तव' इन दोनों का अर्थ 'भक्ति और बहुमानपूर्ण श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना' है। किन्तु साहित्य-शास्त्र की विशेष परम्परा के अनुसार एक, दो या तीन श्लोक वाली श्रद्धाञ्जलि को 'स्तुति' और तीन से अधिक श्लोक वाली श्रद्धाञ्जलि को 'स्तव' कहा जाता है। कुछ लोग सात श्लोक तक की श्रद्धाञ्जलि को भी स्तुति मानते हैं।[4]

### २१. मोक्ष-प्राप्ति (अंतकिरियं)

अन्त का तात्पर्य है—भव या कर्मों का विनाश। उसको फलित करने वाली क्रिया अन्तक्रिया कहलाती है। तात्पर्यार्थ में इसका अर्थ है—मोक्ष। अन्तक्रिया फलित होती है सूक्ष्म शरीर के छूट जाने पर।

स्थानांग में चार प्रकार की अन्तक्रिया का निर्देश प्राप्त है।[5] उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. कुछ मनुष्य अल्पकर्मों के साथ मनुष्य जीवन में आते हैं, पर दीर्घकालीन मुनि-पर्याय का पालन कर मुक्त हो जाते हैं, जैसे—चातुरंत चक्रवर्ती सम्राट् भरत। यह प्रथम प्रकार की अन्तक्रिया है।
२. कुछ मनुष्य महाकर्म के साथ मनुष्य भव में आते हैं और अल्पकालीन मुनि-पर्याय का पालन कर मुक्त हो जाते हैं, जैसे—गजसुकुमाल अनगार। यह दूसरे प्रकार की अन्तक्रिया है।
३. कुछ पुरुष महाकर्म के साथ मनुष्य भव में आते हैं और दीर्घकालीन मुनि-पर्याय का पालन कर मुक्त हो जाते हैं, जैसे—चक्रवर्ती सनत्कुमार। यह तीसरे प्रकार की अन्तक्रिया है।
४. कुछ पुरुष अल्पकर्म के साथ मनुष्य भव में आते हैं और अल्पकालीन मुनि-पर्याय का पालन कर मुक्त हो जाते हैं, जैसे—भगवती मरुदेवा। यह चौथे प्रकार की अन्तक्रिया है।

इन कथाओं के लिए देखें—ठाणं ४।१ का टिप्पण।

### २२. वैमानिक देवों में (कप्पविमाणो...)

वृत्तिकार ने कल्प का अर्थ—बारह देवलोक और विमान का अर्थ—ग्रैवेयक और अनुत्तरविमान—किया है।[6]

### २३. काल-प्रतिलेखना...से (कालपडिलेहणयाए)

श्रमण की दिन-चर्या में काल-मर्यादा का बहुत बड़ा स्थान रहा है। दशवैकालिक में कहा है—"वह सब काम ठीक समय पर करे।"[7] यही बात सूत्रकृतांग में कही गई है।[8] व्यवहार में बताया गया है—अस्वाध्याय में स्वाध्याय न किया जाए।[9] काल-ज्ञान के प्राचीन साधनों में 'दिक्-प्रतिलेखन' और 'नक्षत्र-अवलोकन' प्रमुख थे। मुनि स्वाध्याय से पूर्व काल की प्रतिलेखना करते थे। जिन्हें नक्षत्र-विद्या का कुशल ज्ञान होता, वे इस कार्य के लिए नियुक्त होते थे। यांत्रिक घड़ियों के अभाव में इस कार्य को बहुत महत्त्व दिया जाता था। विशेष विवरण के लिए देखिए—ओघनिर्युक्ति, गा० ६४१-६५४।

### २४. मार्ग (सम्यक्त्व) (मग्गं)

शान्त्याचार्य ने मार्ग के तीन अर्थ किए हैं—(१) सम्यक्त्व[10], (२) सम्यक्त्व एवं ज्ञान[11] और (३) मुक्ति-मार्ग।[12]

मार्ग-फल का अर्थ 'ज्ञान' किया गया है।[13] उत्तराध्ययन (२८।२) में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चारों को 'मार्ग' कहा है। प्रायश्चित्त के प्रकरण में मार्ग का अर्थ

---

१. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४६२ :
देहमइजड्डसुद्धी सुहदुक्खतितिक्खा य अणुप्पेहा।
झायइ य सुहं झाणं, एयग्गो काउसग्गम्मि।।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८१ : अतीतं चेह चिरकालभावित्वेन प्रत्युत्पन्नमिव प्रत्युत्पन्नं चासन्नकालभावितया ऽतीतप्रत्युत्पन्नम्।

३. वही, पत्र ५८१ : प्रायश्चित्तं उपचारात् प्रायश्चित्तार्हमतिचारं।

४. वही, पत्र ५८१ :
एगदुगतिसिलोगा (थुइओ) अन्नेसिं जाव हुंति सत्तेव।
देविंदत्थवमाई तेण परं थुत्तया होंति।।

५. ठाणं, ४।१।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८२ : कल्पा—देवलोका विमानानि—ग्रैवेयकानुत्तर-विमानरूपाणि।

७. दसवेआलियं, ५।२।४ : काले कालं समायरे।

८. सूयगडो, २।१।१५ : अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले।

९. व्यवहार सूत्र, ७।१०६ : नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असज्झाए सज्झायं करित्तए।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८३ : मार्गः—इह ज्ञानप्राप्तिहेतुः सम्यक्त्वम्।

११. वही, पत्र ५७३ : यद्वा मार्ग—चारित्रप्राप्तिनिबन्धनतया दर्शनज्ञानाख्यम्।

१२. वही, पत्र ५८३ : अथवा 'मार्गं च' मुक्तिमार्गं क्षायोपशमिकदर्शनादि।

१३. वही, पत्र ५८३ : तत्फलं च ज्ञानम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्व अधिक उपयुक्त है। प्रायश्चित्त तपस्यामय होता है, इसलिए तप उसका परिणाम नहीं हो सकता।[1] चारित्र (आचार-शुद्धि) इसी सूत्र में आगे प्रतिपादित है। शेष ज्ञान और दर्शन (सम्यक्त्व) दो रहते हैं। उनमें दर्शन 'मार्ग' है और उसकी विशुद्धि से ज्ञान विशुद्ध होता है, इसलिए वह 'मार्ग-फल' है।

आचार्य वट्टकेर ने श्रद्धान (दर्शन) को प्रायश्चित्त का एक प्रकार माना है।[2] वृत्तिकार वसुनन्दि ने उसके दो अर्थ किए हैं—(१) तत्त्वरुचि का परिणाम और (२) क्रोध आदि का परित्याग।[3]

सूत्रकार का आशय यह है कि प्रायश्चित्त से दर्शन की विशिष्ट विशुद्धि होती है। इसलिए ज्ञान और दर्शन को प्रायश्चित्त भी माना जा सकता है और परिणाम भी।

## २५. (सूत्र १८)

सत्य की प्राप्ति उसी व्यक्ति को होती है, जो अभय होता है। भय के हेतु हैं—राग और द्वेष। उनसे वैर-विरोध बढ़ता है। वैर-विरोध होने पर आत्मा की सहज प्रसन्नता नष्ट हो जाती है। सब जीवों के साथ मैत्री-भाव नहीं रहता। मन भय से भर जाता है। इस प्रकार व्यक्ति सत्य से दूर हो जाता है।

जो सत्य को पाना चाहता है, उसके मन में राग-द्वेष की गांठ तीव्र नहीं होती। वह सबके साथ मैत्री-भाव रखता है। उसकी आत्मा सहज प्रसन्नता से परिपूर्ण होती है।[4] उससे प्रमादवश कोई अनुचित व्यवहार हो जाता है तो वह तुरंत उसके लिए अनुताप प्रकट कर देता है—क्षमा मांग लेता है। जिस व्यक्ति में अपनी भूल के लिए अनुताप व्यक्त करने की क्षमता होती है, उसी में सहज प्रसन्नता, मैत्री और अभय—ये सभी विकसित होते हैं।

## २६. (सूत्र १९)

स्वाध्याय[5] के पांच प्रकार हैं—

(१) वाचना—अध्यापन करना।[6]

(२) प्रतिपृच्छा—अज्ञात विषय की जानकारी या ज्ञात विषय की विशेष जानकारी के लिए प्रश्न करना।

(३) परिवर्तना—परिचित विषय को स्थिर रखने के लिए बार-बार दोहराना।[7]

(४) अनुप्रेक्षा—परिचित और स्थिर विषय पर चिन्तन करना।[8]

(५) धर्मकथा—स्थिरीकृत और चिन्तित विषय का उपदेश करना।

२०वें से २४वें सूत्र तक स्वाध्याय के इन्हीं पांच प्रकारों के परिणाम बतलाए गए हैं।

## २७. तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है (तित्थधम्मं अवलंबइ)

शान्त्याचार्य ने तीर्थ के दो अर्थ किए हैं—गणधर और प्रवचन। भगवती में चतुर्विध संघ को 'तीर्थ' कहा गया है।

गौतम ने कहा—"भंते! तीर्थ को तीर्थ कहा जाता है या तीर्थंकर को तीर्थ कहा जाता है?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! अर्हत् तीर्थ नहीं होते, वे तीर्थंकर होते हैं। चतुर्वर्ण श्रमण संघ—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं का संघ—तीर्थ कहलाता है।"[9]

आवश्यक निर्युक्ति में प्रवचन का एक नाम तीर्थ है।[10] इस प्रकार तीर्थ के तीन अर्थ हुए। इनके आधार पर तीर्थ धर्म के तीन अर्थ होते हैं—

(१) गणधर का धर्म—शास्त्र-परम्परा को अविच्छिन्न रखना।[11]

(२) प्रवचन का धर्म—स्वाध्याय करना।[12]

(३) श्रमण-संघ का धर्म।

यहां अध्यापन के प्रकरण में प्रथम अर्थ ही उपयुक्त लगता है।

तीर्थ शब्द की विशेष जानकारी के लिए देखिए—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १०३२-१०५१।

## २८. कर्मों और संसार का अन्त करने वाला (महानिज्जरे महापज्जवसाने)

यह वाक्यांश आत्मा की प्रकृष्ट विशुद्धि का द्योतक है। कर्मों का विपुल मात्रा में क्षीण होना महानिर्जरा है। महापर्यवसान के दो अर्थ हैं—समाधिमरण और अपुनर्मरण। जिस व्यक्ति के महानिर्जरा होती है, वह समाधिमरण को प्राप्त होता है। यदि संपूर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाती है तो वह अपुनर्मरण को

---

१. मूलाचार, पंचाचाराधिकार, गाथा १६४ :
पायच्छित्तं ति तवो, जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।

२. वही, गाथा १६५।

३. वही, गाथा १६५ वृत्ति : श्रद्धानं तत्त्वरुचौ परिणामः क्रोधादिपरित्यागो वा।

४. तुलना—योग-दर्शन, समाधि-पाद ३३ : मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

५. उत्तरज्झयणाणि, ३०।३४।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८४ : वाचना—पाठनम्।

७. वही, पत्र ५८४ : परावर्त्तना—गुणनम्।

८. वही, पत्र ५८४ : अनुप्रेक्षा—चिन्तनिका।

९. भगवई, २०।७४ : तित्थं भंते! तित्थं? तित्थगरे तित्थं? गोयमा! अरहा ताव नियमं तित्थकरे, तित्थं पुण चाउवण्णे समणसंघे, तं जहा—समणा समणीओ सावया सावियाओ।

१०. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १२४ :
सुय धम्म तित्थ मग्गो, पावयणं पवयणं च एगट्ठा।
सुत्तं तंतं गंथो, पाढो सत्थं च एगट्ठा।।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८४ : तीर्थमिह गणधरस्तस्य धर्मः—आचारः श्रुतधर्मप्रदानलक्षणस्तीर्थधर्मः।

१२. वही, पत्र ५८४ : यदि वा तीर्थं—प्रवचनं श्रुतमित्यर्थस्तद्धर्मः—स्वाध्यायः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त होता है, जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है।

स्थानांग सूत्र के अनेक प्रसंगों पर इसका प्रयोग प्राप्त होता है—

१. मनोरथत्रयी करने वाला श्रमण तथा श्रमणोपासक महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।
(ठाणं ३।४६६,४६७)।

२. अग्लानवृत्ति से सेवा करने वाला श्रमण महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।
(ठाणं ५।४४,४५)

## २९. सूत्र, अर्थ और उन दोनों से संबंधित (सुत्तत्थ तदुभयाइं)

आगम तीन प्रकार के होते हैं—सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम। यह तीसरा प्रकार सूत्रागम और अर्थागम का संयुक्त उच्चारण ही है। जिस आगम की रचना में सूत्र और वृत्ति—दोनों का समावेश होता है, उस आगम को तदुभयागम कहा गया है।

## ३०. कांक्षा मोहनीय कर्म (कंखामोहणिज्जं कम्मं)

शान्त्याचार्य ने कांक्षा मोहनीय का अर्थ 'अनाभिग्रहिक-मिथ्यात्व' किया है।[1] अभयदेव सूरि के अनुसार इसका अर्थ है—मिथ्यात्व मोहनीय।[2]

सत्य की व्याख्या करने वाले अनेक मतवाद हैं। उनके जाल में फंसकर मनुष्य मिथ्या दृष्टिकोणों की ओर झुक जाता है। इस झुकाव का मुख्य कारण कांक्षा मोहनीय कर्म होता है। विशद जानकारी के लिए देखिए—भगवती, १।३।

## ३१. व्यंजनलब्धि को (वंजणलद्धिं)

बृहद्वृत्ति में व्यंजनलब्धि की कोई व्याख्या नहीं है। 'वंजण-लद्धिं च'—इस 'च' कार को वहां 'पदानुसारिता-लब्धि' का सूचक बतलाया गया है।[3] एक पद के अनुसार शेष पदों की प्राप्ति हो जाए, उस शक्ति का नाम 'पदानुसारिता-लब्धि' है। इसी प्रकार एक व्यंजन के आधार पर शेष व्यंजनों को प्राप्त करने वाली क्षमता का नाम 'व्यंजनलब्धि' होना चाहिए।

## ३२. अनुप्रेक्षा (अर्थ-चिन्तन) से (अणुप्पेहाए)

अनुप्रेक्षा के अनेक अर्थ हैं—(१) तत्त्व का चिन्तन करना, (२) ज्ञात अर्थ का अभ्यास करना, (३) अर्थ का चिंतन करना, (४) वस्तु के स्वभाव का बार-बार चिंतन करना।

वृत्तिकार ने अनुप्रेक्षा का अर्थ इस प्रकार किया है।[4]—अर्थ का विस्मरण न हो इसलिए अर्थ का बार-बार चिन्तन करना।

अनुप्रेक्षा के छह लाभ निर्दिष्ट हैं—

१. कर्म के गाढ बंधन का शिथिलीकरण।
२. दीर्घकालीन स्थिति का अल्पीकरण।
३. तीव्र विपाक का मंदीकरण।
४. प्रदेश-परिमाण का अल्पीकरण।
५. आगत वेदनीय कर्म का उपचय न होना।
६. संसार का अल्पीकरण।

असातवेदनीय कर्म के बंध का कारण है—दूसरों को दुःख देना, सताना अथवा दूसरों के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करना। तत्त्व, पदार्थ के स्वभाव और अनित्यत्व आदि की अनुप्रेक्षा करने से करुणा की चेतना जागती है, आत्मौपम्य दृष्टि का निर्माण होता है, किसी भी प्राणी को दुःख देने की वृत्ति समाप्त हो जाती है। इसलिए अनुप्रेक्षा करने वाले व्यक्ति के असातवेदनीय कर्म का बंध पुनः-पुनः नहीं होता।[5]

## ३३. लंबे मार्ग वाली (दीहमद्धं)

यहां 'मकार' अलाक्षणिक है। मूल शब्द है—दीहद्धं-दीर्घाद्धं। इसके दो अर्थ हैं—दीर्घकाल तथा लंबा मार्ग।[6] आगमों में 'अद्धा' शब्द के दोनों अर्थ प्राप्त हैं—काल और मार्ग।

## ३४. चार अन्तों वाली (चाउरंतं)

वृत्तिकार ने अन्त का अर्थ—अवयव किया है। संसार-रूपी अटवी के चार अवयव हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव।[7]

## ३५. प्रवचन (पवयणं)

प्रवचन का अर्थ है—आगम। संघ अथवा तीर्थ आगम के आलम्बन से चलता है, इसलिए उपचार से आगम को भी प्रवचन कहा गया है।

विशेष विवरण के लिए देखें—२८।३१ का टिप्पण।

## ३६. (सूत्र २५)

श्रुत की आराधना के दो फल बतलाए गए हैं—अज्ञान का क्षय और संक्लेश का अभाव। व्यक्ति जब श्रुत की आराधना करता है तब उसके सारे संशय मिट जाते हैं, अज्ञान नष्ट हो जाता है। क्योंकि निरन्तर स्वाध्याय करते रहने से तथा शब्दों की मीमांसा और विमर्श करते रहने से विशिष्ट तत्त्वों की उपलब्धि होती है, जानकारियां बढ़ती हैं।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८४ : काङ्क्षामोहनीयं कर्म अनभिग्रहिकमिथ्यात्वरूपम्।
२. भगवती, १।३ वृत्ति : मोहयतीति मोहनीयं कर्म, तच्च चारित्रमोहनीयमपि भवतीति विशेष्यते—काङ्क्षा—अन्यान्यदर्शनग्रहः उपलक्षणत्वाच्चास्य शंकादिपरिग्रहः, ततः काङ्क्षाया मोहनीयं काङ्क्षामोहनीयम्—मिथ्यात्वमोहनीयमित्यर्थः।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८४ : चशब्दाद् व्यञ्जनसमुदायात्मकत्वाद्वा पदस्य तल्लब्धिं च पदानुसारितालक्षणामुत्पादयति।
४. वही, पत्र ५८५ : सूत्रवदर्थऽपि संभवति विस्मरणभतः सोऽपि परिभावनीय इत्यनुप्रेक्षा।
५. भगवई, ८।४२३।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८५ : दीहमद्धं ति मकारोऽलाक्षणिकः दीर्घाद्धं दीर्घकालं, दीर्घोवाऽध्वा—तत्परिभ्रमणहेतुः कर्मरूपो मार्गो यस्मिन्।
७. वही, पत्र ५८५ : चत्वारः—चतुर्गतिलक्षणा अन्ताः—अवयवा यस्मिंस्तच्चतुरन्तं संसारकांतारम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञान के कारण आग्रह और राग-द्वेष बढ़ता है। इससे चित्त संक्लिष्ट रहता है। जब व्यक्ति को तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है तब सारा संक्लेश मिट जाता है। वृत्तिकार ने एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है—

*जह जह सुयमो (भव) गाहइ अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं।*
*तह तह पल्हाइ मुणी णवणवसंवेगसद्धाए।।*

साधक जैसे-जैसे श्रुत का अवगाहन करता है, ज्ञान की गहराइयों में जाता है वैसे-वैसे उसे अतिशय रस आता है और उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। उसमें संवेग के नए-नए आयाम खुलते हैं और उसकी मानसिक प्रसन्नता अत्यधिक बढ़ जाती है।[1]

## ३७. (सूत्र २६)

इस सूत्र में एकाग्र मन की स्थापना (मन को एक अग्र—आलम्बन पर स्थित करने) का परिणाम 'चित्त-निरोध' बतलाया गया है। तिरपनवे सूत्र में बतलाया गया है कि मन-गुप्ति से एकाग्रता प्राप्त होती है। इससे मन की तीन अवस्थाएं फलित होती हैं—(१) गुप्ति, (२) एकाग्रता और (३) निरोध।

मन को चंचल बनाने वाले हेतुओं से उसे बचाना—सुरक्षित रखना 'गुप्ति' कहलाती है। ध्येय-विषयक ज्ञान की एकतानता 'एकाग्रता' कहलाती है। मन की विकल्प-शून्यता को 'निरोध' कहा जाता है।

महर्षि पतंजलि ने चित्त के चार परिणाम बतलाए हैं—(१) व्युत्थान, (२) समाधि-प्रारम्भ, (३) एकाग्रता और (४) निरोध।[2] यहां एकाग्रता और निरोध तुलनीय हैं।

## ३८. (सूत्र २७—२९)

स्थानांग में उपासना के दस फल बताए गए हैं।[3] उनमें से संयम और अनास्रव (अनाश्रव), तप और व्यवदान तथा अक्रिया और सिद्धि का कार्य-कारण-माला के रूप में उल्लेख है। बौद्ध-दर्शन में बाईस इन्द्रियां मानी गयी हैं। उनमें श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा इन पांच इन्द्रियों तथा अज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय और अज्ञातावीन्द्रिय—इन तीन अन्तिम इन्द्रियों से विशुद्धि का लाभ होता है, इसलिए इन्हें व्यवदान का हेतु माना गया है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के बल से क्लेश का विष्कम्भन और आर्य-मार्ग का आवहन होता है। अन्तिम तीन इन्द्रिय-अनास्रव हैं। निर्वाणादि के उत्तरोत्तर प्रतिलम्भ में इनका आधिपत्य है।[4] व्यवदान का अर्थ 'कर्म-क्षय' या 'विशुद्धि' है। यहां निर्जरा के स्थान में इसका प्रयोग हुआ है।

## ३९. (सूत्र ३०)

उत्सुकता, निर्दयता, उद्धत मनोभाव, शोक और चारित्र-विकार—इन सबका मूल सुख की आकांक्षा है। उसे छोड़ कर कोई भी व्यक्ति अनुत्सुक, दयालु, उपशांत, अशोक और पवित्र आचरण वाला हो सकता है। उत्सुकता आदि सुख की आकांक्षा के परिणाम हैं। वे कारण के रहते परित्यक्त नहीं होते। आवश्यक यह है कि कारण के त्याग का प्रयत्न किया जाए, परिणाम अपने आप त्यक्त हो जाएंगे।

## ४०. (सूत्र ३१)

संग और असंग—ये दो शब्द समाज और व्यक्ति के सूचक हैं। अध्यात्म की भाषा में समुदाय-जीवी वह होता है, जिसका मन संगसक्त (अनेकता में लिप्त) होता है और व्यक्ति-जीवी या अकेला वह होता है, जिसका मन असंग होता है—किसी भी वस्तु या व्यक्ति में लिप्त नहीं होता। इसी तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि असंग मन वाला समुदाय में रहकर भी अकेला रहता है और संग-लिप्त मन वाला अकेले में रह कर भी समुदाय में रहता है।

कहा जाता है चित्त चंचल है, अनेकाग्र है। वह किसी एक अग्र (लक्ष्य) पर नहीं टिकता। किन्तु इस मान्यता में थोड़ा परिवर्तन करने की आवश्यकता है। चित्त अपने आप में चंचल या अनेकाग्र नहीं है। उसे हम अनेक विषयों में बांध देते हैं, तब वह संग-लिप्त बन जाता है और यह संग-लिप्तता ही उसकी अनेकाग्रता का मूल है। अनासक्त मन कभी चंचल नहीं होता और आसक्ति के रहते हुए कभी उसे एकाग्र नहीं किया जा सकता। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि जितनी आसक्ति उतनी अनेकाग्रता, जितनी अनासक्ति उतनी एकाग्रता, पूर्ण अनासक्ति मन का अस्तित्व समाप्त।

जैन आगमों में मुनि का एक विशेषण है—अप्रतिबद्ध विहारी। मुनि की सारी जीवनचर्या अप्रतिबद्ध होती है, व्यक्ति-विशेष या स्थान-विशेष से प्रतिबद्ध नहीं होती। प्रस्तुत सूत्र की यही प्रतिध्वनि है। प्रतिबद्धता आसक्ति है। वह व्यक्ति को बांधती है, मन को व्यग्र बनाती है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—"गामे कुले वा नगरे व देसे। ममत्तभावं न कहिं चि कुज्जा।" (चूलिका २।८)।

## ४१. विविक्त-शयनासन (विवित्तसयणासण)

बाह्य-तप का छठा प्रकार विविक्त-शयनासन है। तीसवें अध्ययन में बताया गया है—एकांत, आवागमन-रहित और स्त्री-पशु-वर्जित स्थान में शयनासन करने का नाम विविक्त-शयनासन है।[5] बौद्ध-साहित्य में विविक्त-स्थान के नौ प्रकार बतलाए गए हैं—(१) अरण्य, (२) वृक्षमूल, (३) पर्वत,

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५०६।
२. पातञ्जलयोगदर्शन, ३।९; ३।१२।
३. ठाणं, ३।४७८।
४. बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० ३२८-३२९।
५. उत्तरज्झयणाणि, ३०।२८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) कन्दरा, (५) गिरि-गुहा, (६) श्मशान, (७) वन-प्रस्थ, (८) अभ्यवकाश और (९) पलाल-पुञ्ज।[1]

एकांत शयनासन करने वाले का मन आत्म-लीन हो जाता है, इसलिए इसे 'संलीनता' भी कहा जाता है।[2] बौद्ध-पिटकों में एकांतवास के लिए 'प्रति-संलयन' शब्द भी प्रयुक्त होता है।[3] औपपातिक में विविक्त शयनासन के लिए 'प्रतिसंलीनता' का प्रयोग हुआ है।[4] इस प्रकार प्राचीन-साहित्य में एकांत स्थान या कामोत्तेजक इन्द्रिय-विषयों से वर्जित स्थान के लिए विविक्त-शयनासन-संलीनता, प्रतिसंलयन और प्रति-संलीनता—ये शब्द प्रयुक्त होते रहते हैं।

### ४२. पौष्टिक आहार का वर्जन करने वाला (विवित्ताहारे)

घी, दूध, मक्खन आदि विकृतियां हैं। इनसे रहित आहार विविक्त आहार है। तात्पर्यार्थ में यह पौष्टिक आहार का निषेध है।[5]

### ४३. एकांत में रत (एगंतरए)

इसका अर्थ है—एकांत स्थान में रत रहने वाला। प्राचीन परम्परा के अनुसार एकांत स्थान तीन माने जाते हैं—श्मशान, वृक्षमूल और निसीहिया—निषद्या। ये स्थान ध्यान-स्वाध्याय के लिए बाधारहित होते थे। खारवेल के शिलालेख में भी 'निसीहिया' शब्द का प्रयोग है। उसने श्रमणों के लिए अनेक चैत्य और निसीहियाओं का निर्माण करवाया था।

वृत्तिकार ने 'एगंतरए' का अर्थ निश्चय से रत किया है। तात्पर्यार्थ में इसे संयम का वाचक माना है।[6] यह अर्थ प्रासंगिक नहीं लगता।

### ४४. (सूत्र ३३)

प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दो सापेक्ष शब्द हैं। प्रवर्तन का अर्थ है 'करना' और निवर्तन का अर्थ है 'करने से दूर होना'। जो नहीं करता—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति नहीं करता, वही व्यक्ति पाप-कर्म नहीं करने के लिए तत्पर होता है। जहां पाप-कर्म का कारण नहीं होता, वहां पूर्व-अर्जित कर्म स्वयं क्षीण हो जाते हैं। बन्धन आश्रव के साथ ही टिकता है। संवर होते ही वह टूट जाता है। इसीलिए पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा—ये दोनों सहवर्ती होते हैं।

### ४५. सम्भोज—प्रत्याख्यान (मण्डली—भोजन) का त्याग (संभोगपच्चक्खाणेणं)

श्रमण-संघ में सामान्य प्रथा मण्डली-भोजन (सह-भोजन) की रही है। किन्तु साधना का अग्रिम लक्ष्य है—आत्म-निर्भरता। मुनि प्रारम्भिक दशा में सामुदायिक-जीवन में रहे और दूसरों का आलम्बन भी प्राप्त करे। फिर भी उसे इस बात की विस्मृति नहीं होनी चाहिए कि उसका अग्रिम लक्ष्य स्वावलम्बन है। स्थानांग में इस जीविका-सम्बन्धी स्वावलम्बन को 'सुख-शय्या' कहा है। उसका संकेत इस सूत्र में प्राप्त है। चार सुख-शय्याओं में यह दूसरी सुख-शय्या है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित होकर अपने लाभ से सन्तुष्ट होता है, दूसरे के लाभ का आस्वाद नहीं करता, स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता, अभिलाषा नहीं करता; वह दूसरे के लाभ का आस्वाद नहीं करता हुआ, स्पृहा नहीं करता हुआ, प्रार्थना नहीं करता हुआ, अभिलाषा नहीं करता हुआ, मन में समता को धारण करता हुआ धर्म में स्थिर हो जाता है।[7]

'जकार' को 'गकार' वर्णादेश होने पर सम्भोज का प्राकृत में संभोग शब्द निष्पन्न होता है।

### ४६. मोक्ष की सिद्धि के लिए (आययट्ठिया)

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—आयतार्थिका और आत्मार्थिका। वृत्तिकार ने 'आयत' शब्द का अर्थ मोक्ष अथवा संयम किया है।[8] आयतार्थिक का अर्थ है—मोक्षार्थी अथवा संयमार्थी। आत्मार्थी का अर्थ है—स्वावलम्बी अथवा स्वतन्त्र।

### ४७. उपधि (वस्त्र आदि उपकरणों) के प्रत्याख्यान से (उवहिपच्चक्खाणेणं)

मुनि के लिए वस्त्र आदि उपधि रखने का विधान किया गया है। किन्तु विकास-क्रम की दृष्टि से उपधि-परित्याग को अधिक महत्त्व दिया गया है। उपधि रखने में दो बाधाओं की संभावना है—(१) परिमंथ और (२) संक्लेश। उपधि-प्रत्याख्यान से ये दोनों सम्भावनाएं समाप्त हो जाती हैं। परिमंथ—उपधि की प्रतिलेखना से जो स्वाध्याय-ध्यान की हानि होती है, वह उपधि के परित्याग से समाप्त हो जाती है।[9] संक्लेश—जो उपधि का प्रत्याख्यान करता है उसके मन में 'मेरा वस्त्र पुराना हो गया है, फट गया है, सूई मांग कर लाऊं, उसे सांधूं'—ऐसा कोई संक्लेश नहीं होता। असंक्लेश का यह रूप आचारांग में प्रतिपादित है।[10] मूलाराधना में इसे 'परिकर्म-वर्जन' कहा गया है।[11]

### ४८. आहार-प्रत्याख्यान से (आहारपच्चक्खाणेणं)

आहार-प्रत्याख्यान के दो अर्थ हो सकते हैं—

१. विशुद्धिमग्ग दीपिका, पृ० १५५ : 'विवित्तमासनं' ति अरञ्ञं रुक्खमूलं ति आदि नवविधं सेनासनं।
२. उत्तरज्झयणाणि, ३०।८।
३. बुद्धचर्या, पृ० ४६६।
४. औपपातिक, सूत्र १९।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८७ : विविक्तो—विकृत्यादिरहित आहारः।
६. वही, पत्र ५८७ : एकान्तेन—निश्चयेन रतः—अभिरतिमानेकान्तरतः संयम इति गम्यते।
७. ठाणं, ४।४५१।
८. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८७ : आयतो—मोक्षः संयमो वा, स एवार्थः—प्रयोजनं विद्यते येषामित्यायतार्थिकाः।
९. वही, पत्र ५८८ : परिमन्थः—स्वाध्यायादिक्षतिस्तदभावोऽपरिमन्थः।
१०. आयारो ६।६० : जे अचेले परिवुसिए, तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ—परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि।
११. मूलाराधना, २।८३ विजयोदया : याचनसीवनशोषणप्रक्षालनादिरनेको हि व्यापारः स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी अचेलकस्य तन्न तथेति परिकर्मविवर्जनम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) जीवन-पर्यन्त अनशन और (२) निश्चित अवधि-पर्यन्त अनशन।

शांत्याचार्य ने आहार-प्रत्याख्यान का अर्थ 'अनेषणीय (अयोग्य) भक्त-पान का परित्याग' किया है।[1] किन्तु इसके परिणामों को देखते हुए इसका अर्थ और अधिक व्यापक हो सकता है।

आहार-प्रत्याख्यान के दो परिणाम हैं—(१) जीवन की आकाङ्क्षा का विच्छेद और (२) आहार के बिना संक्लेश प्राप्त न होना—बाधा का अनुभव न करना। ये परिणाम आहार-त्याग की साधना से ही प्राप्य हैं। एषणीय आहार नहीं मिलने पर उसका जो प्रत्याख्यान किया जाता है, उसमें भी आत्मा का स्वतंत्र भाव है। किन्तु वह योग्य आहार की अप्राप्ति से होने वाला तप है। ममत्व-हानि तथा शरीर और आत्मा के भेद-ज्ञान को विकसित करने के लिए जो आहार-प्रत्याख्यान किया जाता है, वह योग्य आहार की प्राप्ति की स्थिति में किया जाने वाला तप है। उससे जीवन के प्रति निर्ममत्व और आहार के अभाव में संक्लेश रहित मनोभाव—ये दोनों सहज ही सध जाते हैं। इसलिए आहार-प्रत्याख्यान का मुख्य अर्थ 'साधना के विशेष दृष्टिकोण से तप करना' होना चाहिए।

### ४९. कषाय-प्रत्याख्यान से (कसायपच्चक्खाणेणं)

आत्मा विजातीय रंग में रंगी हुई होती है। उसी का नाम 'कषाय' है। कषाय के प्रत्याख्यान का अर्थ है 'आत्मा से विजातीय रंग का धुल जाना।' आत्मा की कषाय-मुक्त स्थिति का नाम है 'वीतरागता'। कषाय और विषमता—इन्हें पर्यायवाची कहा जा सकता है। कषाय से विषमता उत्पन्न होती है, इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उचित है कि कषाय और विषमता दोनों साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार वीतरागता और समता भी एक साथ उत्पन्न होती हैं। सुख-दुःख आदि बाहरी स्थितियों में आत्मा की जो विषम अनुभूति होती है, उसका हेतु कषाय है। उसके दूर होते ही आत्मा में बाह्य-स्थिति विषमता उत्पन्न नहीं करती। इस स्थिति को 'वीतरागता' या 'आत्मा की बाह्य वातावरण से मुक्ति' कहा जा सकता है।

### ५०. (सूत्र ३८–३९)

इन दोनों सूत्रों में 'अयोगि-दशा' और 'मुक्त-दशा' का निरूपण है। पहले प्रवृत्ति-मुक्ति (योग-प्रत्याख्यान) होती है फिर शरीर-मुक्ति (शरीर-प्रत्याख्यान)। यहां 'योग' शब्द समाधि का वाचक नहीं किन्तु मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का वाचक है। मुक्त होने के क्रम में पहले अयोगि-दशा प्राप्त होती है। उससे नये कर्मों का बन्ध समाप्त हो जाता है—पूर्ण संवर हो जाता है और पूर्व-संचित कर्म क्षीण हो जाते हैं। कर्म के अभाव में आत्मा शरीर-मुक्त हो जाती है और शरीर-मुक्त आत्मा में अतिशय गुणों का विकास हो जाता है। वह सर्वथा अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श हो जाती है—अरूपी सत्ता में अवस्थित हो जाती है। अगुरु-लघु, स्थिर-अवगाहना और अव्याबाध सुख (सहज सुख)—ये गुण प्रकट हो जाते हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शुद्धि और अनन्त वीर्य—ये पहले ही प्राप्त हो चुके होते हैं। प्रवृत्ति और शरीर के बन्धन से बन्धी हुई आत्मा इतस्ततः भ्रमण करती है। किंतु उन बन्धनों से मुक्त होने पर वह ऊर्ध्व-लोक के अन्तिम छोर पर पहुंच कर अवस्थित हो जाती है, फिर उसके पास गति का माध्यम नहीं होता।

प्रस्तुत सूत्र (३९) में 'सिद्धाइसयगुणत्तणं' पाठ है। समवायांग (३१।१) में 'सिद्धाइगुण'—ऐसा पाठ है और उत्तराध्ययन (३१।२०) में 'सिद्धाइगुणजोगेसु'—ऐसा उल्लेख है। आदिगुण का अर्थ मूल गुण और अतिशयगुण का अर्थ विशिष्ट गुण है। तात्पर्यार्थ में दोनों निकट आ जाते हैं।

### ५१. सहाय-प्रत्याख्यान से (सहायपच्चक्खाणेणं)

जो साधु 'गण' या 'संघ' में दीक्षित होते हैं, उनके लिए दूसरे साधुओं से सहयोग लेना वर्जित नहीं है। सहाय-प्रत्याख्यान का जो विधान है, वह एक विशेष साधना है। उसे स्वीकार करने के पीछे दो प्रकार का मानस हो सकता है। एक वह जो अपने पराक्रम से ही अपनी जीवन-चर्या का निर्वाह करना चाहता है, दूसरे सहायक का सहारा लेना नहीं चाहता—परावलम्बी होना नहीं चाहता। दूसरा वह जो सामुदायिक जीवन के झंझावातों में अपनी समाधि को सुरक्षित नहीं पाता। सामुदायिक जीवन में कलह, क्रोध आदि कषाय और तुमंतुम—थोड़ा-सा अपराध होने पर 'तूने पहले भी ऐसा किया था, तू सदा ऐसा ही करता है', इस प्रकार बार-बार टोकना—ये हो जाते हैं। साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए, फिर भी प्रमादवश वह ऐसा कर लेता है। इस स्थिति में मानसिक असमाधि उत्पन्न हो जाती है। जो मुनि संघ में रहते हुए भी स्वावलम्बी हो जाता है, किसी भी कार्य के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं होता, वह समुदाय में रहते हुए भी अकेले का जीवन जीता है। उसे कलह, क्रोध आदि कषाय और तुमंतुम आदि से सहज ही मुक्ति मिल जाती है। इससे संयम और संवर बढ़ता जाता है। मानसिक समाधि अभंग हो जाती है। सामुदायिक जीवन में रहते हुए भी अकेला रहने की साधना बहुत बड़ी साधना है।

### ५२. भक्त प्रत्याख्यान से (भत्तपच्चक्खाणेणं)

भक्त प्रत्याख्यान आमरण-अनशन का एक प्रकार है। इसका परिणाम जन्म-परम्परा और अल्पीकरण है। इसका हेतु आहार-त्याग का दृढ़ अध्यवसाय है।[2] देह का आधार आहार और आहार-विषयक आसक्ति है। आहार की आसक्ति और आहार—दोनों के त्याग से केवल स्थूल देह का ही नहीं, अपितु सूक्ष्म देह का भी बन्धन शिथिल हो जाता है। फलतः

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८८।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८९ : तथाविधदृढाध्यवसायतया संसारालपत्वापादनात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहज ही जन्म-मरण की परम्परा अल्प हो जाती है।

## ५३. सद्भाव-प्रत्याख्यान से (सब्भावपच्चक्खाणेणं)

सद्भाव-प्रत्याख्यान का अर्थ 'परमार्थ रूप में होने वाला प्रत्याख्यान' है।[1] इस अवस्था को पूर्ण संवर या शैलेशी, जो चौदहवें गुणस्थान में अयोगी केवली के होती है, कहा जाता है। इससे पूर्ववर्ती सब प्रत्याख्यान इसलिए अपूर्ण होते हैं कि उनमें और प्रत्याख्यान करने की आवश्यकता शेष रहती है। इस भूमिका में परिपूर्ण प्रत्याख्यान होता है। उसमें फिर किसी प्रत्याख्यान की अपेक्षा नहीं रहती। इसीलिए इसे 'पारमार्थिक-प्रत्याख्यान' कहा गया है। इस भूमिका को प्राप्त आत्मा का फिर से आस्रव, प्रवृत्ति या बन्धन की भूमिका में प्रवेश नहीं होता, इसलिए इसके परिणाम को 'अनिवृत्ति' कहा गया है। 'अनिवृत्ति' अर्थात् जिस स्थिति से निवर्तन नहीं होता—लौटना नहीं पड़ता।[2] यह शुक्ल-ध्यान का चतुर्थ चरण है। इस अनिवृत्ति ध्यान की दशा में केवली के जो चार अघात्यकर्म विद्यमान रहते हैं, वे क्षीण हो जाते हैं—यह 'चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ' का भावार्थ है। 'केवलिकम्मंसे' शब्द का प्रयोग इस सूत्र के अतिरिक्त अट्ठावनवें और इकसठवें सूत्र में भी हुआ है। 'कम्मंसे' शब्द इकहत्तरवें और बहत्तरवें सूत्र में प्रयुक्त हुआ है। 'कम्मंस' में जो 'अंस' शब्द है, उसका अर्थ कर्म-ग्रन्थ की परिभाषा के अनुसार 'सत्'—विद्यमान है।[3]

## ५४. (सूत्र ४३)

शांत्याचार्य के अनुसार 'प्रतिरूप' वह होता है, जिसका वेश स्थविर-कल्पिक मुनि के सरीखा हो और 'प्रतिरूपता' का अर्थ है 'अधिक उपकरणों का त्याग।'[4] इस सूत्र में अप्रमत्त, प्रकट-लिङ्ग, प्रशस्त-लिङ्ग, विशुद्ध-सम्यक्त्व, समाप्त-सत्व-समिति, सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्वों में विश्वसनीय रूप अप्रतिलेख, जितेन्द्रिय और विपुलतपःसमिति-समन्वागत—ये महत्त्वपूर्ण पद हैं। बताया गया है कि प्रतिरूपता का परिणाम लाघव है। जो लघुभूत होता है, वह अप्रमत्त आदि हो जाता है। शांत्याचार्य के अनुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ इस प्रकार है—

अप्रमत्त—प्रमाद के हेतुओं का परिहार करने वाला।

प्रकट-लिङ्ग—स्थविर-कल्पिक मुनि के रूप में समझा जाने वाला।

प्रशस्त-लिङ्ग—जीव-रक्षा के हेतुभूत रजोहरण आदि को धारण करने वाला।

विशुद्ध-सम्यक्त्व—सम्यक्त्व की विशुद्धि करने वाला।

समाप्त-सत्त्व-समिति—सत्त्व (पराक्रम) और समिति (सम्यक् प्रवृत्ति) को प्राप्त करने वाला।

सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वों में विश्वसनीय रूप—किसी को भी पीड़ा नहीं देने के कारण सबका विश्वास प्राप्त करने वाला।

अप्रतिलेख—उपकरणों की अल्पता के कारण अल्प प्रतिलेखन वाला।

जितेन्द्रिय—इन्द्रियों को वश में रखने वाला।

विपुलतपःसमिति-समन्वागत—विपुलतप और समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला।[5]

प्रतिरूपता के परिणामों को देखते हुए 'प्रतिरूप' का अर्थ 'स्थविर-कल्पिक के सदृश वेश वाला' और 'प्रतिरूपता' का अर्थ 'अधिक उपकरणों का त्याग' सही नहीं लगता। मूलाराधना में अचेलत्व को 'जिन-प्रतिरूप' कहा है।[6] 'जिन' अर्थात् तीर्थङ्कर अचेल होते हैं।

'जिन' के समान रूप (लिङ्ग) धारण करने वाले को 'जिन-प्रतिरूप' कहा जाता है। प्रवचनसारोद्धार के अनुसार गच्छ में रहते हुए भी जिन-कल्पिक जैसे आचार का पालन करने वाला 'जिन-कल्पिक-प्रतिरूप' कहलाता है।[7] यहां भी प्रतिरूप का अर्थ यही—'जिन के समान वेष वाला' यानि जिन-कल्पिक होना चाहिए। अप्रमत्त आदि सारे विशेषणों पर विचार किया जाए तो यही अर्थ संगत लगता है। मूलाराधना में अचेलकता के जो गुण बतलाए हैं वे इस सूत्र के अप्रमत्त आदि विशेषणों के बहुत निकट हैं—

| उत्तराध्ययन | मूलाराधना |
|---|---|
| (१) प्रतिरूपता का फल —लाघव | अचेलकता का एक गुण —लाघव[8] |
| (२) अप्रमत्त | विषय और देह सुखों में अनादर[9] |

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८६ : तत्र सद्भावेन—सर्वथा पुनःकरणासंभवात्परमार्थेन प्रत्याख्यानं सद्भावप्रत्याख्यानं सर्वसंवररूपा शैलेशीति यावत्।

२. वही, पत्र ५८६ : न विद्यते निवृत्तिः—मुक्तिमप्राप्य निवर्तनं यस्मिंस्तद् अनिवृत्ति शुक्लध्यानं चतुर्थभेदरूपं जनयति।

३. वही, पत्र ५८६ : 'कम्मंस' त्ति कार्मग्रन्थिकपरिभाषयाऽंशशब्दस्य सत्पर्यायत्वात् सत्कर्माणि केवलिसत्कर्माणि—भवोपग्राहिणि क्षपयति।

४. वही, पत्र ५८६ : प्रतिः—सादृश्ये, ततः प्रतीति—स्थविरकल्पिकादिसदृशं रूपं—वेषो यस्य स तथा तद्भावस्तत्ता तया—अधिकोपकरण-परिहाररूपया।

५. वही, पत्र ५८६-५९० : 'अप्रमत्तः' प्रमादहेतूनां परिहारत इतरेषां चांगीकरणतः, तथा 'प्रकटलिङ्गः' स्थविरादिकल्परूपेण वर्तीति विज्ञायमानत्वात्, 'प्रशस्तलिङ्गः' जीवरक्षणहेतुः रजोहरणादिधारकत्वाद्, 'विशुद्धसम्यक्त्वः' तथाप्रतिपत्त्या सम्यक्त्वविशोधनात्, तथा 'सत्वं च'—आपत्स्ववैकल्यकरमध्यवसानकरं च, 'समितयश्च'—उक्तरूपाः, 'समाप्ताः'—परिपूर्णा यस्य स समाप्तसत्त्वसमितिः, रूढ्या निष्ठान्तस्य प्राकृतत्वात्परनिपातः, तत एव सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु विश्वसनीयरूपः, तत्पीडापरिहारित्वात्, 'अपडिलेह' त्ति अल्पार्थे नञ् ततोऽल्पप्रत्युपेक्षः इत्यल्पीकरणात्प्रशस्यप्रत्युपेक्षः, पठ्यते च—'अप्पपडिलेहे' त्ति जितानि—वशीकृतानि यतिरहगतिप्रत्ययत्वात्तत्परिणामान्यथात्वे ऽनीन्द्रियाणि येन स तथा, विपुलेन—अनेकभेदतया विस्तीर्णेन तपसा समितिभिश्च सर्वविषयानुगतत्वेन विपुलाभिश्च समन्तागतो—युक्तो विपुलतपःसमितिसमन्वागतश्चापि भवति।

६. मूलाराधना, २।८५ : जिण पडिरूवं तं होदि।

७. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४०, वृत्ति पत्र ९२७ : जिनकल्पिकप्रतिरूपं गच्छे

८. मूलाराधना, २।८३।

९. वही, २।८४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | |
|---|---|
| (३) प्रकट-लिङ्ग | नग्नता-प्राप्त[1] |
| (४) प्रशस्त-लिङ्ग | प्रशस्त-लिङ्ग[2] (अचेलकता उसी के लिए विहित है जिसका लिंग प्रशस्त है) |
| (५) विशुद्ध-सम्यक्त्व | रागादि दोष-परिहरण।[3] |
| (६) समाप्त-सत्त्व-समिति | वीर्याचार[4] |
| (७) सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वों में विश्वसनीय रूप | विश्वासकारी रूप[5] |
| (८) अप्रतिलेख | अप्रतिलेखन[6] |
| (९) जितेन्द्रिय | सर्व-समित-करण (इन्द्रिय)[7] |
| (१०) विपुलतपःसमिति-समन्वागत | परीषह-सहन[8] |

उक्त तुलना से प्रतिरूपता का अर्थ 'अचेलता' ही प्रमाणित होता है। अचेल को सचेल की अपेक्षा बहुत अप्रमत्त रहना होता है। उसके पास विकार को छिपाने का कोई साधन नहीं होता। जो अचेल होता है, उसका लिङ्ग सहज ही प्रकट होता है। अचेल उसी को होना चाहिए, जिसका लिङ्ग प्रशस्त हो—विकृत आदि न हो। अचेल व्यक्ति का सम्यक्त्व—देह और आत्मा का भेद ज्ञान—विशुद्ध होता है। समाप्त-सत्त्व-समिति—अचेल सत्त्व प्राप्त होता है अर्थात् अभय होता है। इसकी तुलना मूलाराधना (२।८३) में 'गत-भयत्व' शब्द से भी हो सकती है। समिति का अर्थ 'विविध प्रकार के आसन करने वाला' हो सकता है। अचेल की निर्विकारता प्रशस्त होती है, इसलिए वह सबका विश्वासपात्र होता है। अप्रतिलेखन अचेलता का सहज परिणाम है। अचेलता से जितेन्द्रिय होने की प्रबल प्रेरणा मिलती है। अचेल होना एक प्रकार का तप है। नग्नता, शीत, उष्ण, दंश-मशक—ये परीषह सचेल की अपेक्षा अचेल को अधिक सहने होते हैं; इसलिए उसके विपुल तप होता है। इस प्रकार सारे पदों में एक श्रृंखला है। उससे अचेलकता के साथ उनकी कड़ी जुड़ जाती है। यहां मूलाराधना (२।७७ से ८६ तक) की गाथाएं और उनकी विजयोदया वृत्ति मननीय है।

स्थानांग के पांच कारणों से अचेलक को प्रशस्त कहा है[9]—(१) अल्प प्रतिलेखन, (२) प्रशस्त लाघव, (३) वैश्वासिक रूप, (४) अनुज्ञात तप और (५) महान् इन्द्रिय-निग्रह।

ये पांचों कारण प्रतिरूपता के परिणामों में आए हुए हैं। अतः प्रतिरूपता का अर्थ 'अचेलकता' करने में बहुत बड़ा आधार प्राप्त होता है।

१. मूलाराधना, २।८६।
२. वही, २।७७।
३. वही, २।८५।
४. वही, २।८५।
५. वही, २।८४।
६. वही, २।८३।
७. वही, २।८६।
८. वही, २।८५।

## ५५. (सूत्र ४४)

तीर्थंकर-पद-प्राप्ति के बीस हेतु बतलाए गए हैं।[10] उनमें एक वैयावृत्त्य—सेवा भी है। साधु-सन्तों की सेवा करना महान् निर्जरा का हेतु है। उसके साथ पुण्य का भी प्रकृष्ट बन्ध होता है। इसीलिए उसका फल तीर्थंकर नामगोत्र का बन्ध बतलाया है।

## ५६. सर्वगुण-सम्पन्नता से (सव्वगुणसंपन्नायाए)

आत्म-मुक्ति के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये तीन गुण प्रयोजनीय होते हैं। जब तक निरावरण ज्ञान, पूर्ण दर्शन (क्षायिक सम्यक्त्व) और पूर्ण चारित्र (सर्व संवर) की प्राप्ति नहीं होती, तब तक सर्वगुण-सम्पन्नता उपलब्ध नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि कोरे ज्ञान, दर्शन या चारित्र की पूर्णता से मुक्ति नहीं होती। किन्तु जब तीनों परिपूर्ण होते हैं, तभी वह होती है। पुनरावर्तन, शारीरिक और मानसिक दुःख—ये सब गुण-विकलता के परिणाम हैं। सर्वगुण-सम्पन्नता होने पर ये नहीं होते।

## ५७. (सूत्र ४६)

'वीतराग' स्नेह और तृष्णा की बन्धन-परम्परा का विच्छेद कर देता है। पुत्र आदि में जो प्रीति होती है, उसे स्नेह और धन आदि के प्रति जो लालसा होती है, उसे 'तृष्णा' कहा जाता है। स्नेह और तृष्णा की परम्परा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, इसलिए इसके बन्धन को अनुबन्ध कहा गया है।

वीतरागता के तीन फल निर्दिष्ट हैं—(१) स्नेहानुबन्ध का विच्छेद, (२) तृष्णानुबन्ध का विच्छेद और (३) मनोज्ञ शब्द आदि विषयों के प्रति विराग।

वृत्तिकार ने प्रश्न उपस्थित किया है—कषाय-प्रत्याख्यान से वीतरागभाव उत्पन्न होता है—यह पहले बताया जा चुका है। फिर प्रस्तुत सूत्र की पृथक् रचना क्यों? उनका अभिमत है कि तृष्णा और स्नेह का मूल है राग और वही समस्त अनर्थों का मूल है। उसकी ओर विशेष ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रस्तुत सूत्र की रचना की गई है।[11]

## ५८. क्षांति से (खंतीए)

शांत्याचार्य ने क्षांति का अर्थ 'क्रोध-विजय' किया है।[12] इस अर्थ के अनुसार यहां उन्हीं परीषहों पर विजय पाने की स्थिति प्राप्त है जो क्रोध-विजय से सम्बन्धित है।[13] क्रोधी मनुष्य गाली, वध आदि को नहीं सह सकता। क्रोध पर विजय

९. ठाणं, ५।२०१ : पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तं जहा—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुण्णाते, विउले इंदियनिग्गहे।
१०. नायाधम्मकहाओ ८।
११. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६०।
१२. वही, पत्र ५६० : क्षान्तिः—क्रोधजयः।
१३. वही, पत्र ५६० : 'परीषहान्' अर्थात् वधादीन् जयति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाने वाला उन्हें सह लेता है। क्षांति का अर्थ यदि 'सहिष्णुता' किया जाए तो परीषह-विजय का अर्थ व्यापक हो जाता है। सहिष्णुता से सभी परीषहों पर विजय पाई जा सकती है। केवल गाली और वध पर ही नहीं।

### ५९. अकिंचनता (अकिंचणं)

जो भावना या संकल्पपूर्वक पदार्थ समूह को त्याग देता है वह अकिंचन है। अकिंचन का एक अर्थ दरिद्र होता है, वह यहां विवक्षित नहीं है। जो त्यागपूर्वक अकिंचन बनता है, वह तीन लोक का अधिपति बनता है—

*अकिञ्चनोऽहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवे।*
*योगिगम्यमिदं प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः॥*

### ६०. (सूत्र ४९)

माया और असत्य तथा ऋजुता और सत्य का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। इस सूत्र में ऋजुता के चार परिणाम बतलाए गए हैं—(१) काया की ऋजुता, (२) भाव की ऋजुता, (३) भाषा की ऋजुता और (४) अविसंवादन।

ऋजुता का परिणाम ऋजुता कैसे हो सकता है, सहज ही यह प्रश्न होता है। उसका समाधान स्थानांग के एक सूत्र में मिलता है। वहां कहा गया है—सत्य के चार प्रकार हैं।—(१) काया की ऋजुता, (२) भाषा की ऋजुता, (३) भाव की ऋजुता और (४) अविसंवादन योग।[1]

काया की ऋजुता—यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली काया की प्रवृत्ति। वेष-परिवर्तन, अंग-विकार आदि का अकरण।

भाषा की ऋजुता—यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली वाणी की प्रवृत्ति। उपहास आदि के निमित्त वाणी में विकार न लाना।

भाव की ऋजुता—जैसा आन्तरिक भाव हो वैसा ही प्रकाशित करना। भाव का शाब्दिक अर्थ है—होना, परिणमन होना। यहां भाव शब्द का अर्थ—चेतना का परिणाम, कर्मावृत चैतन्य की एक प्रकाश-रश्मि। जिसमें भाव-ऋजुता होती है उसकी वाणी और काया की प्रवृत्ति अन्तश्चेतना के अनुरूप होती है।

अविसंवादन योग—किसी कार्य का संकल्प कर उसे करना। दूसरों को न ठगना।

इस सूत्र के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋजुता का परिणाम सत्य है।

### ६१. मृदु-मार्दव से (मिउमद्दव)

मृदु का अर्थ है—विनम्र। मार्दव का अर्थ है—विनम्र स्वभाव अथवा विनम्रतापूर्ण आचरण। जिस व्यक्ति का आचरण मृदुतापूर्ण होता है वही मृदु कहलाता है। अतिशय मृदुता को द्योतित करने के लिए 'मृदु-मार्दव' दोनों का संयुक्त प्रयोग किया गया है।

### ६२. (सूत्र ५०)

क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव—ये चारों क्रमशः क्रोध, लोभ, माया और मान की विजय के परिणाम हैं। देखिए—सूत्र ६८-७१।

जिसमें मार्दव का विकास होता है, वह जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य—इन आठ मद-हेतुओं पर विजय पा लेता है।

### ६३. (सूत्र ५१-५३)

भाव-सत्य का अर्थ अन्तरात्मा की सचाई है। सत्य और शुद्धि में कार्य-कारण-भाव है। भाव की सचाई से भाव की विशुद्धि होती है। तिरेपनवें सूत्र में योग-सत्य का उल्लेख है। उसका एक प्रकार मनः-सत्य है। सहज ही भाव और मन का भेद समझने की जिज्ञासा होती है। इन्द्रिय से सूक्ष्म मन और मन से सूक्ष्म भाव (आत्मा का आन्तरिक अध्यवसाय) होता है। मन के परिणाम को भी भाव कहा जाता है, किन्तु प्रकरण के अनुसार यहां इसका अर्थ अन्तर्-आत्मा ही संगत है।

करण-सत्य का सम्बन्ध भी योग-सत्य से है। करने का अर्थ है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। फिर भी करने की विशेष स्थिति को लक्ष्य कर उसे योग-सत्य से पृथक् बतलाया गया है। करण-सत्य का अर्थ है विहित कार्य को सम्यक् प्रकार से और तन्मय होकर करना। योग-सत्य का अर्थ है—मन, वचन और काया को अवितथ स्थिति में रखना।

इन तीन सूत्रों में विशेष चर्चनीय पद 'परलोगधम्मस्स आराहए' और 'करणसत्ति' हैं। परलोक-धर्म की आराधना का अर्थ यह है कि भाव-सत्य से आगामी जन्म में भी धर्म की प्राप्ति सुलभ होती है।

करण-शक्ति का अर्थ है—वैसा कार्य करने का सामर्थ्य जिसका पहले कभी अध्यवसाय या प्रयत्न भी न किया गया हो। करण-सत्यता और करण-शक्ति के अभाव में ही कथनी और करनी में अन्तर होता है। उन दोनों के विकसित होने पर व्यक्ति 'यथावादी तथाकारी' बन जाता है।

### ६४. (सूत्र ५४-५६)

इन तीन सूत्रों में गुप्ति के परिणामों का निरूपण है। गुप्तियां तीन हैं—(१) मन-गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति और (३) काय-गुप्ति।

जो समित (सम्यक्-प्रवृत्त) होता है, वह नियमतः गुप्त होता है और जो गुप्त होता है वह समित हो भी सकता है और नहीं भी। अकुशल मन का निरोध करने वाला मनोगुप्त ही होता है और कुशल मन की प्रवृत्ति करने वाला मनोगुप्त भी होता है और समित भी। इसी प्रकार अकुशल वचन और

१. ठाणं, ४।१०२ : चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा—काउज्जुययया, भासुज्जुययया भावुज्जुययया, अविसंवायणाजोगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काया का निरोध करने वाला वचो-गुप्त और काय-गुप्त होता है तथा कुशल वचन और काया की प्रवृत्ति करने वाला वचन-गुप्त और काय-गुप्त भी होता है और समित भी।

अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की प्रवृत्ति का परिणाम एकाग्रता है। एकाग्रता में चित्त का निरोध नहीं होता किन्तु उसकी प्रवृत्ति अनेक आलम्बनों से हटकर एक आलम्बन पर टिक जाती है। जब एकाग्रता का अभ्यास पूर्ण परिपक्व हो जाता है तब चित्त का निरोध होता है। देखिए—सूत्र २६।

अकुशल वचन का निरोध और कुशल वचन की प्रवृत्ति का परिणाम निर्विकार—विकथा से मुक्त होना है। 'निव्वियार' का अर्थ यदि निर्विचार किया जाए तो वचन-गुप्ति का अर्थ मौन करना चाहिए। बोलने की इच्छा से विचार उत्तेजित होते हैं और मौन से विचार-शून्यता प्राप्त होती है और आत्म-लीनता बढ़ती है।

काय-गुप्ति का परिणाम संवर बतलाया गया है। यहां प्रकरण के अनुसार संवर का अर्थ 'अकुशल कायिक प्रवृत्ति से समुत्पन्न आस्रव का निरोध' होना चाहिए। जब अकुशल आस्रव का संवर होता है तब हिंसा आदि पापास्रव निरुद्ध होने लग जाते हैं। प्रवृत्ति का मुख्य केन्द्र काया है। इसलिए आस्रव और संवर का भी उनके साथ गहरा सम्बन्ध है।

जिनभद्रगणि के अनुसार मुख्य योग एक ही है। वह है काय-योग।[1] वचन-योग और मनोयोग के योग्य-पुद्गलों (भाषा वर्गणा और मनोवर्गणा) का ग्रहण काय-योग से ही होता है। उसके स्थिर होने पर सहज ही संवर हो जाता है। काया की चंचलता या आस्रवाभिमुखता के बिना वचन-व्यापार और मन की चंचलता स्वयं समाप्त हो जाती है।

## ६५. (सूत्र ५७)

प्रस्तुत अध्ययन में मन से संबंधित तीन सूत्र हैं—एकाग्रमनसन्निवेशन का संबंध ध्यान के साथ है। एक आलंबन पर मन के सन्निवेश का परिणाम है—चित्तनिरोध। मन-गुप्ति का संबंध मन के निग्रह से है। उसका साक्षात् परिणाम है—एकाग्रता और व्यवहित परिणाम है—संयम की आराधना। मन-समाधारणा का सम्बन्ध श्रुत के स्वाध्याय में मन के नियोजन से है। उसका साक्षात् परिणाम है—एकाग्रता और व्यवहित परिणाम दो हैं—

१. ज्ञान के पर्यवों—विविध आयामों का विकास।

२. सम्यक्त्व का विशोधन एवं मिथ्यात्व का निर्जरण।

## ६६. (सूत्र ५७—५९)

इन तीन सूत्रों में समाधारणा का निरूपण है। समाधारणा का अर्थ है—सम्यग्-व्यवस्थापन या सम्यग्-नियोजन। उसके तीन प्रकार हैं—(१) मनःसमाधारणा—मन का श्रुत में व्यवस्थापन या नियोजन,[2] (२) वचःसमाधारणा—वचन का स्वाध्याय में व्यवस्थापन या नियोजन[3] और (३) काय-समाधारणा—काया का चारित्र की आराधना में व्यवस्थापन या नियोजन।[4]

मन को ज्ञान (तत्त्वोपासना) में लीन करने से एकाग्रता उत्पन्न होती है। उससे ज्ञान-पर्यव (ज्ञान के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर रूप) उदित होते हैं। उन ज्ञान-पर्यवों के उदय से सम्यग् दृष्टिकोण प्राप्त होता है और मिथ्या दृष्टिकोण समाप्त होता है। वचन को स्वाध्याय (शब्दोपासना) में लगाने से प्रज्ञापनीय दर्शन-पर्यव विशुद्ध बनते हैं—अन्यथा निरूपण नहीं हो पाता। दर्शन की विशुद्धि ज्ञान-पर्यवों के उदय से हो जाती है। इसीलिए यहां वाक् साधारण अर्थात् वचन के द्वारा प्रतिपादनीय-दर्शन-पर्यवों की विशुद्धि ही अभिप्रेत है। वाक्-साधारण दर्शन-पर्यवों की विशुद्धि से सुलभ-बोधिता प्राप्त होती है और दुर्लभ-बोधिता क्षीण होती है।

काया को संयम की विविध प्रवृत्तियों (चारित्रोपासना) में लगाने से चारित्र के पर्यव विशुद्ध होते हैं। उनकी विशुद्धि होते-होते वीतराग-चारित्र प्राप्त होता है और अन्त में मुक्ति।

## ६७. (सूत्र ६०—६२)

पूर्ववर्ती तीन सूत्रों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्यवों की शुद्धि को समाधारणा का परिणाम बतलाया गया है और इन तीन सूत्रों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्पन्न होने का परिणाम बतलाया गया है।

ज्ञान-सम्पन्नता—यहां ज्ञान का अर्थ 'श्रुत (शास्त्रीय) ज्ञान' है। श्रुत-ज्ञान से सब भावों का अधिगम (ज्ञान) होता है। इसका समर्थन नंदी से भी होता है।[5]

अहिगम के संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—अभिगम और अधिगम।

'संघायणिज्जे'—जो श्रुतज्ञान-सम्पन्न होता है, उसके पास स्व-समय और पर-समय के विद्वान् व्यक्ति आते हैं और उससे प्रश्न पूछकर अपने संशय उच्छिन्न करते हैं। इसी दृष्टि से श्रुतज्ञानी को 'संघातनीय'—जन-मिलन का केन्द्र कहा गया है।[6]

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३५६ :
किं पुण तणुसरंभेण जेण मुंचइ स वाइओ जोगो।
मण्णइ च स माणसिओ, तणुजोगो चेव य विभत्तो।।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६२ : मनसः समिति—सम्यग् आडिति—मर्यादयाऽऽगमाभिहितभावाभिव्याप्त्या ऽवधारणा—व्यवस्थापनं मनःसमाधारणा तया।

३. वही, पत्र ५६२ : 'वाक्समाधारणया' स्वाध्याय एव वाग्निवेशनात्मिकया।

४. वही, पत्र ५६२ : 'कायसमाधारणया' संयमयोगेषु शरीरस्य सम्यग्व्यवस्थापनरूपया।

५. नंदी, सूत्र १२७ : तत्थ दव्वओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ, खेत्तओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ, कालओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ पासइ, भावओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६३ : स्वसमयपरसमययोः संघातनीयः—प्रमाणपुरुषतया मीलनीयः स्वसमयपरसमयसंघातनीयो भवति, इह च स्वसमयपरसमयशब्दाभ्यां तद्वेदिनः पुरुषा उच्यन्ते, तेष्वेव संशयादिव्यवच्छेदाय मीलनसंभवात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शैलेशी—शैलेशी शब्द शिला और शील इन दो रूपों से व्युत्पन्न होता है :

(१) 'शिला' से शैल और 'शैल+ईश' से शैलेश होता है। शैलेश अर्थात् मेरु-पर्वत। शैलेश की भांति अत्यन्त स्थिर अवस्था को शैलेशी कहा जाता है। 'सेलेसी' का एक संस्कृत रूप शैलर्षि भी किया गया है। जो ऋषि शैल की तरह सुस्थिर होता है, वह शैलर्षि कहलाता है।

(२) शील का अर्थ समाधान है। जिस व्यक्ति को पूर्ण समाधान मिल जाता है—पूर्ण संवर की उपलब्धि हो जाती है, वह 'शील का ईश' होता है। शील+ईश=शीलेश। शीलेश की अवस्था को शैलेशी कहा जाता है।[1]

## ६८. (सूत्र ६३—७१)

इन्द्रिय-निग्रह के आलापक के दो पद विशेष मननीय हैं—'तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ' तथा 'पुव्वबद्धं च निज्जरेइ'। ये पद स्वभाव-परिवर्तन के सूत्र हैं। इन्द्रियां राग-द्वेष की उत्पत्ति के हेतु हैं। राग और द्वेष मोहकर्म की प्रकृतियां हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का असंयम मनोज्ञ शब्द के प्रति राग उत्पन्न करता है और अमनोज्ञ शब्द के प्रति द्वेष उत्पन्न करता है। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय कर्म-बंध का हेतु बन जाती है। यह परम्परा निरंतर चालू रहती है। श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने पर 'तप्पच्चइयं'—श्रोत्रेन्द्रिय के निमित्त से होने वाला कर्म बंध रुक जाता है और अतीत श्रोत्रेन्द्रिय के निमित्त से जो कर्मबन्ध हुआ है उसकी निर्जरा हो जाती है।

प्रस्तुत आलापक में 'तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ' इतना पाठ है। कषाय विजय के आलापक में संबद्ध कषाय का नामोल्लेख मिलता है—'कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ', 'माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ,' 'मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ', 'लोभवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ'।

क्रोध-विजय से क्षान्ति उत्पन्न होती है तथा क्रोध वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं होता और पूर्वबद्ध क्रोधवेदनीय कर्म की निर्जरा होती है।

## ६९. (सूत्र ६७)

इन्द्रिय चेतना मन से सर्वथा प्रतिबद्ध नहीं होती। उसकी स्वतंत्रता भी है। इसीलिए किसी व्यक्ति में संगीत सुनने की अधिक रुचि होती है, किसी में रसास्वादन की और किसी में दृश्यों को देखने की। यह रुचि की विचित्रता इन्द्रिय चेतना की स्वतंत्रता का प्रमाण है। यदि इन्द्रिय चेतना मन से सर्वथा प्रतिबद्ध होती तो वह समान रूप से कार्य करती।

## ७०. (सूत्र ७२)

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विराधना राग, द्वेष और मिथ्या-दर्शन से होती है। इन पर विजय प्राप्त करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना स्वयं प्राप्त हो जाती है। जो व्यक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करता है, वह आठ कर्मों में जो कर्म-ग्रन्थि—घाति कर्म का समुदय है, उसे तोड़ डालता है। वह सर्वप्रथम मोहनीयकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों को क्षीण करता है। क्षीण करने का क्रम इस प्रकार है—वह सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के बहुत भाग को अन्तर्मुहूर्त में एक साथ क्षीण करता है और उसके अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व के पुद्गलों में प्रक्षिप्त कर देता है। फिर उन प्रक्षिप्त पुद्गलों के साथ मिथ्यात्व के बहुल भाग को क्षीण करता है और उसके अंश को सम्यग्-मिथ्यात्व में प्रक्षिप्त कर देता है। फिर उन प्रक्षिप्त पुद्गलों के साथ सम्यक्-मिथ्यात्व को क्षीण करता है। इसी प्रकार सम्यक-मिथ्यात्व के अंश सहित सम्यक्त्व-मोह के पुद्गलों को क्षीण करता है। तत्पश्चात् सम्यक्त्व-मोह के अवशिष्ट पुद्गलों सहित अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान-चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) को क्षीण करना शुरू कर देता है। उसके क्षय-काल में वह दो गति (नरक गति और तिर्यंच गति), दो आनुपूर्वी (नरकानुपूर्वी और तिर्यंचानुपूर्वी), जाति-चतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) आतप, उद्योत, स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, साधारण, अपर्याप्त, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि को क्षीण करता है। फिर इनके अवशेष को नपुंसक-वेद में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। उसके अवशेष को स्त्री-वेद में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। उसके अवशिष्ट अंश को हास्यादि-षट्क (हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुत्सा) में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। मोहनीय कर्म को क्षीण करने वाला यदि वह पुरुष होता है तो पुरुष-वेद के दो खण्डों को और स्त्री या नपुंसक होता है तो वह अपने-अपने वेद के दो-दो खण्डों को हास्यादि षट्क के अवशिष्ट अंश सहित क्षीण करता है। फिर वेद के तृतीय खण्ड सहित संज्वलन क्रोध को क्षीण करता है। इसी प्रकार पूर्वांश सहित संज्वलन, मान, माया और लोभ को क्षीण करता है।[2]

यंत्र देखिए—

| क्षय | अवशिष्ट अंश का प्रक्षेप |
|---|---|
| (१) अनन्तानुबन्धी चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) | मिथ्यात्व के पुद्गलों में |
| (२) पूर्वांश सहित मिथ्यात्व | सम्यग्-मिथ्यात्व के पुद्गलों में |
| (३) पूर्वांश सहित सम्यग्-मिथ्यात्व | सम्यक्त्व के पुद्गलों में |
| (४) पूर्वांश सहित सम्यक्त्व | अप्रत्याख्यान-चतुष्क और प्रत्याख्यान-चतुष्क में |

१. (क) विशेषावश्यक भाष्य, ३६८३-३६८५।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५९३।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५९४-५९६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| (५) | पूर्वांश सहित अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान चतुष्क | नपुंसक-वेद में |
| (६) | पूर्वांश सहित नपुंसक-वेद | स्त्री वेद में |
| (७) | पूर्वांश सहित स्त्री-वेद | हास्यादि षट्क (हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा) में |
| (८) | पूर्वांश सहित हास्यादि षट्क | पुरुष-वेद के दो खण्डों में |
| (९) | पूर्वांश सहित पुरुष-वेद के दो खण्ड | तृतीय खण्ड के संज्वलन क्रोध में |
| (१०) | पूर्वांश सहित संज्वलन क्रोध | संज्वलन मान में |
| (११) | पूर्वांश सहित संज्वलन मान | संज्वलन माया में |
| (१२) | पूर्वांश सहित संज्वलन माया | संज्वलन लोभ में |
| (१३) | पूर्वांश सहित संज्वलन लोभ | ० |

संज्वलन लोभ के फिर संख्येय खण्ड किए जाते हैं। उनमें से प्रत्येक खण्ड को एक-एक अन्तर्मुहूर्त में क्षीण किया जाता है। उनका क्षय होते-होते उनमें से जो चरम खण्ड बचता है उसके फिर असंख्य सूक्ष्म खण्ड होते हैं। उनमें से प्रत्येक खण्ड को एक-एक समय में क्षीण किया जाता है। उनका चरम खण्ड भी फिर असंख्य सूक्ष्म खण्डों की रचना करता है। उनमें से प्रत्येक खण्ड को एक-एक समय में क्षीण किया जाता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है। उसके क्षीण होने पर यथाख्यात या वीतराग-चारित्र की प्राप्ति होती है। वह अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। उसके अन्तिम दो समय जब शेष होते हैं, तब पहले समय में निद्रा, प्रचला, देव-गति, आनुपूर्वी, वैक्रिय-शरीर, वज्र-ऋषभ को छोड़कर शेष सब संहनन, संस्थान, तीर्थङ्कर-नाम कर्म और आहारक- नाम कर्म क्षीण होते हैं। चरम समय में जो क्षीण होता है वह सूत्र में प्रतिपादित है, जैसे--पंच-विध ज्ञानावरणीय, नव-विध दर्शनावरणीय और पंच-विध अन्तराय--ये सारे एक ही साथ क्षीण होते हैं। इस प्रकार चारों घातिकर्मों के क्षीण होते ही निरावरण ज्ञान--केवलज्ञान और केवलदर्शन का उदय हो जाता है।

केवली होने के पश्चात् भवोपग्राही (जीवन धारण के हेतुभूत) कर्म शेष रहते हैं, तब तक वह इस संसार में रहता है। इसकी कालमर्यादा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः देश-ऊन (नौ वर्ष कम) करोड़ पूर्व की है। इस अवधि में केवली जब तक सयोगी (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति युक्त) रहता है, तब तक उसके ईर्यापथिक-कर्म[1] का बन्धन होता है। उसकी स्थिति दो समय की होती है। उसका बन्ध गाढ़ नहीं होता--निधत्त और निकाचित अवस्थाएं नहीं होतीं। इसीलिए उसे 'बद्ध और स्पृष्ट' कहा है। जिस प्रकार घड़ा आकाश से स्पृष्ट होता है, उसी प्रकार ईर्यापथिक-कर्म केवली की आत्मा से बद्ध-स्पृष्ट होता है। जिस प्रकार चिकनी भित्ति पर फेंकी हुई धूलि उससे स्पृष्ट मात्र होती है, उसी प्रकार ईर्यापथिक-कर्म केवली की आत्मा से स्पृष्ट मात्र होता है। प्रथम समय में वह बद्ध-स्पृष्ट होता है और दूसरे समय में वह उदीरित[2]--उदय-प्राप्त और वेदित--अनुभव प्राप्त होता है। तीसरे समय में वह निर्जीर्ण हो जाता है और चौथे समय में वह अकर्म बन जाता है--फिर वह उस जीव के कर्म-रूप में परिणत नहीं होता।

सेयाले--यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है--अन्त में अर्थात् भविष्य काल में, अन्तिम समय--चौथे समय में।

### ७१. शेष आयुष्य का (अहाउयं)

यथायुः का अर्थ--पूर्ण आयुष्य-काल है। स्थानांग २।२६६, ३।१२२, ४।१३४ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसके आयुष्य का अपवर्तन नहीं होता, उसे यथायुः कहा जाता है प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ केवली होने के पश्चात् बचे आयुष्य से है।

### ७२. (सूत्र ७३--७४)

केवली का जीवन-काल जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहत है, तब वह योग-निरोध (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति क पूर्ण निरोध) करता है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है--शुक्ल-ध्यान के तृतीय चरण (सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति) में वर्तत हुआ वह सर्व प्रथम मनोयोग का निरोध करता है। प्रति समय मन के पुद्गल और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्य समयों में उसका पूर्ण निरोध कर पाता है। फिर वचनयोग का निरोध करता है। प्रति समय वचन के पुद्गल और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्य समयों में उसका पूर्ण निरोध कर पाता है। फिर उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करता है। प्रति समय काय-योग के पुद्गल और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्य समयों में उसका पूर्ण (उच्छ्वास-निश्वास सहित) निरोध कर पाता है। औपपातिक में उच्छ्वास-निश्वास-निरोध के स्थान पर काय-योग के निरोध का उल्लेख है।[3]

मुक्त होने वाला जीव शरीर की अवगाहना का तीसरा भाग जो पोला होता है, उसे पूरित कर देता है[4] और आत्मा की शेष दो भाग जितनी अवगाहना रह जाती है।[5] यह क्रिया काय-योग-निरोध के अन्तराल में ही निष्पन्न होती है।[6]

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखिए--सूयगडो, २।२, तेरहवां क्रियास्थान।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६६ : उदीरित का अर्थ उदय-प्राप्त है। किन्तु उदीरणा के द्वारा उदय-प्राप्त नहीं है। क्योंकि वहां उदीरणा होती ही नहीं--'उदीरणायास्तत्रासंभवात्'।

३. ओवाइयं, सूत्र १८२।

४. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३६३६ :
देहतिभागो सुसिरं, तप्पूरणओ तिभागहीणोत्ति।
से जोगनिरोहेच्चिय, जाओ सिद्धोवि तदवत्थो।।

५. (क) उत्तरज्झयणाणि, ३६।६४।
(ख) ओवाइयं, सूत्र १६५।

६. (क) विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३६८१ : 'देह तिभागं च मुंचंतो'।
(ख) वही, गाथा ३६८२ : 'सम्मई स कायजोग'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग-निरोध होते ही अयोगी या शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है। उसे 'अयोगी गुणस्थान' भी कहा जाता है। न विलम्ब से और न शीघ्रता से, किन्तु मध्यम-भाव से पांच ह्रस्व-अक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, लृ) का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय तक अयोगी-अवस्था रहती है। उस अवस्था में शुक्ल-ध्यान का चतुर्थ चरण—'समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति' नामक ध्यान होता है। वहां चार अघाति या भवोपग्राही-कर्म एक साथ क्षीण हो जाते हैं। उसी समय औदरिक, तैजस और कार्मण शरीर को सर्वथा छोड़कर वह ऊर्ध्व-लोकान्त तक चला जाता है।

यहां मूलपाठ में 'ओरालिय-कम्माइं' इतना ही है। तैजस का उल्लेख नहीं है। बृहद्वृत्तिकार ने उपलक्षण से उसका स्वीकार किया है।[1] औपपातिक में तैजस-शरीर का प्रत्यक्ष ग्रहण है।[2]

गति दो प्रकार की होती है—(१) ऋजु और (२) वक्र। मुक्त-जीव का ऊर्ध्व-गमन ऋजु श्रेणी (ऋजु आकाश प्रदेश की पंक्ति) से होता है, इसलिए उसकी गति ऋजु होती है। वह एक क्षण में ही सम्पन्न हो जाती है।

गति के पांच भेद बतलाए गए हैं—(१) प्रयोग गति, (२) तत गति, (३) बन्धन-छेदन गति, (४) उपपात गति और (५) विहायो गति। विहायो गति १७ प्रकार की होती है। उसके प्रथम दो प्रकार हैं—(१) स्पृशद् गति और (२) अस्पृशद् गति।[3] एक परमाणु पुद्गल दूसरे परमाणु पुद्गलों व स्कंधों का स्पर्श करते हुए गति करता है, उस गति को 'स्पृशद् गति' कहा जाता है। एक परमाणु दूसरे परमाणु पुद्गलों व स्कंधों का स्पर्श न करते हुए गति करता है, उस गति को 'अस्पृशद् गति' कहा जाता है।[4]

मुक्त-जीव अस्पृशद् गति से ऊपर जाता है। शांत्याचार्य के अनुसार अस्पृशद् गति का अर्थ यह नहीं है कि वह आकाश-प्रदेशों का स्पर्श नहीं करता, किन्तु उसका अर्थ यह है कि वह मुक्त-जीव जितने आकाश-प्रदेशों में अवगाढ़ होता है, उतने ही आकाश-प्रदेशों का स्पर्श करता है। उनसे अतिरिक्त प्रदेशों का नहीं[5], इसलिए उसे 'अस्पृशद् गति' कहा गया है।

अभयदेव सूरि के अनुसार मुक्त-जीव अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशों का स्पर्श किए बिना ही ऊपर चला जाता है। यदि अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशों का स्पर्श करता हुआ वह ऊपर जाए तो एक समय में वह वहां पहुंच ही नहीं सकता।[6] इसके आधार पर अस्पृशद् गति का अर्थ होगा—'अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशों का स्पर्श किए बिना मोक्ष तक पहुंचने वाला।'

आवश्यक चूर्णि के अनुसार अस्पृशद् गति का अर्थ यह होगा कि मुक्त-जीव दूसरे समय का स्पर्श नहीं करता, एक समय में ही मोक्ष स्थान तक पहुंच जाता है।[7] किन्तु 'एग समएणं अविग्गहेणं' पाठ की उपस्थिति में यह अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है।

शांत्याचार्य और अभयदेव सूरि द्वारा कृत अर्थ इस प्रकार है—(१) मुक्त-जीव स्वावगाढ़ आकाश-प्रदेशों से अतिरिक्त प्रदेशों का स्पर्श नहीं करता हुआ गति करता है और (२) अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशों का स्पर्श किए बिना ही गति करता है। ये दोनों ही अर्थ घटित हो सकते हैं।

उपयोग दो प्रकार का होता है—(१) साकार और (२) अनाकार। जीव साकार-उपयोग अर्थात् ज्ञान की धारा में ही मुक्त होता है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५९७ : औदारिककार्मणे शरीरे उपलक्षणत्वात्तैजसं च।
२. ओवाइयं, सूत्र १८२ : .....खवेत्ता ओरालियतेयकम्माइं.....।
३. पण्णवणा, पद १६।१७,३७।
४. वही, पद १६।३९,४०।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ५९७ : अस्पृशद्गतिरिति, नायमर्थो यथा नायमाकाश-प्रदेशान्न स्पृशति अपि तु यावत्तु जीवोऽवगाढ़स्तावत एव स्पृशति न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि प्रदेशम्।
६. औपपातिक, सूत्र १८२, वृत्ति पृ० २१६ : अस्पृशन्ती—सिद्ध्यन्तरालप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृशद्गतिः, अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धिः, इष्यते च तत्रैक एव समयः, य एव चायुष्कादिकर्मणां क्षयसमयः स एव निर्वाणसमयः, अतोऽन्तराले समयान्तरस्यामावादन्तरालप्रदेशानामसंस्पर्शनमिति।
७. आवश्यकचूर्णि : अफुसमाणगती बितियं समयं ण फुसति (अभिधान राजेन्द्र, भाग १, पृ० ६७५)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तीसइमं अज्झयणं

## तवमग्गगई

# तीसवां अध्ययन

## तपो-मार्ग-गति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

तपस्या मोक्ष का मार्ग है। उससे तपस्वी की मोक्ष की ओर गति होती है—यह इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है। इसलिए इस अध्ययन का नाम 'तवमग्गगई'—'तपो-मार्ग-गति' है।[1]

प्रत्येक संसारी जीव प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति अवश्य करता है। जब वह अक्रिय होता है तब वह मुक्त हो जाता है। जहां प्रवृत्ति है वहां कर्म-पुद्गलों का आकर्षण और निर्जरण होता है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—शुभ और अशुभ। शुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्मों का निर्जरण और शुभ-कर्म (पुण्य) का बन्ध होता है। अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ-कर्म (पाप) का बन्ध होता है।

तपस्या कर्म-निर्जरण का मुख्य साधन है। इससे आत्मा पवित्र होती है।

भारतीय साधना-पद्धति में तपस्या का प्रमुख स्थान रहा है। जैन और वैदिक मनीषियों ने उसे साधना का अपरिहार्य अंग माना है। बौद्ध तत्त्व-द्रष्टा उससे उदासीन रहे हैं।

महात्मा बुद्ध अपनी साधना के प्रथम चरण में उग्र तपस्वी थे। उन्होंने कई वर्षों तक कठोर तपस्या की थी, परन्तु जब उन्हें सफलता नहीं मिली तब उन्होंने उसे अपनी साधना में स्थान नहीं दिया।

जैन-साधना के अनुसार तपस्या का अर्थ काय-क्लेश या उपवास ही नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि सब तपस्या के विभाग हैं।

काय-क्लेश और उपवास अकरणीय नहीं हैं और उनकी सबके लिए कोई समान मर्यादा भी नहीं है। अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार जो जितना कर सके उसके लिए उतना ही विहित है।

जैन-दृष्टि से तपस्या दो प्रकार की है—बाह्य और आभ्यंतर।

बाह्य तप के छह प्रकार हैं—

| | |
|---|---|
| १. अनशन | ४. रस-परित्याग |
| २. अवमोदरिका | ५. कायक्लेश |
| ३. भिक्षाचर्या | ६. प्रतिसंलीनता। |

इनके आचरण से देहाध्यास छूट जाता है। देहासक्ति साधना का विघ्न है। इसीलिए मनीषियों ने देह के ममत्व-त्याग का उपदेश दिया है। शरीर धर्म-साधना का साधन है इसलिए उसकी नितांत उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। देहासक्ति विलासिता और प्रमाद को जन्म देती है। परन्तु धर्म-साधना के लिए देह की सुरक्षा करना भी नितांत अपेक्षित है। जैन मुनि का 'वोसट्ठचत्तदेहे'—यह विशेषण देहासक्ति के त्याग का परिचायक है।

१-२ अनशन और अवमोदरिका से भूख और प्यास पर विजय पाने की ओर गति होती है।

३-४ भिक्षाचर्या और रस-परित्याग से आहार की लालसा सीमित होती है, जिह्वा की लोलुपता मिटती है और निद्रा, प्रमाद, उन्माद आदि को प्रोत्साहन नहीं मिलता।

५. कायक्लेश से सहिष्णुता का विकास होता है, देह में उत्पन्न दुःखों को समभाव से सहने की वृत्ति बनती है।

६. प्रतिसंलीनता से आत्मा की सन्निधि में रहने का अभ्यास बढ़ता है।

आभ्यंतर तप के छह भेद हैं—

| | |
|---|---|
| १. प्रायश्चित्त | ४. स्वाध्याय |
| २. विनय | ५. ध्यान |
| ३. वैयावृत्त्य | ६. व्युत्सर्ग। |

१. प्रायश्चित्त से अतिचार-भीरुता और साधना के प्रति जागरूकता विकसित होती है।

२. विनय से अभिमान-मुक्ति और परस्परोग्रह का विकास होता है।

३. वैयावृत्त्य से सेवाभाव पनपता है।

४. स्वाध्याय से विकथा त्यक्त हो जाती है।

५. ध्यान से एकाग्रता, एकाग्रता से मानसिक विकास एवं मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण पाने की क्षमता बढ़ती है और अंत में उनका पूर्ण निरोध हो जाता है।

६. व्युत्सर्ग से शरीर, उपकरण आदि पर होने वाले ममत्व का विसर्जन होता है।

अथवा तप दो प्रकार का है—सकाम और अकाम। एकमात्र मोक्ष-साधना की दृष्टि से किया जाने वाला तप सकाम होता है और इसके अतिरिक्त अन्यान्य उपलब्धियों के लिए किया जाने वाला अकाम। जैन साधना-पद्धति में सकाम तप

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५१३ :
दुविहतवोमग्गगई, वन्निज्जइ जम्ह अज्झयणे।
तम्हा एअज्झयणं, तवमग्गगइत्ति नायव्वं।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की उपादेयता है और उसे ही पूर्ण पवित्र माना गया है।

तप के तीन प्रकार भी किए गए हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करना कायिक तप है। प्रिय, हितकर, सत्य और अनुद्विग्न वचन बोलना, स्वाध्याय में रत रहना वाचिक तप हैं। आत्म-निग्रह, मौन-भाव, सौम्यता आदि मानसिक तप हैं।

शिष्य ने पूछा—"भंते! तप से जीव क्या प्राप्त करता है?"

भगवान् ने कहा—"तप से वह पूर्व-संचित कर्मों का क्षय कर विशुद्धि को प्राप्त होता है। इस विशुद्धि से वह मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति के पूर्ण निरोध को प्राप्त होता है। अक्रियावान् होकर वह सिद्ध होता है, प्रशान्त होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और दुःखों का अंत करता है।"[1]

भगवान् ने कहा—"इहलोक के निमित्त तप मत करो। परलोक के लिए तप मत करो। श्लाघा-प्रशंसा के लिए तप मत करो। केवल निर्जरा के लिए—आत्म-विशुद्धि के लिए तप करो।"[2]

तपस्या के अवांतर भेदों का निरूपण आगमों तथा व्याख्या ग्रंथों में प्रचुरता से हुआ है।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २६। सू० २८, २६।

२. दशवैकालिक, ६।४। सू० ६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तीसइमं अज्झयणं : तीसवां अध्ययन
## तवमग्गगई : तपो-मार्ग-गति

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. जहा उ पावगं कम्मं<br>रागदोससमज्जियं।<br>खवेइ तवसा भिक्खू<br>तमेगग्गमणो सुण।। | *यथा तु पापकं कर्म*<br>*रागदोषसमर्जितम्।*<br>*क्षपयति तपसा भिक्षुः*<br>*तमेकाग्रमनाः शृणु।।* | राग-द्वेष से अर्जित पाप-कर्म को भिक्षु तपस्या से जिस प्रकार क्षीण करता है, उसे एकाग्र-मन होकर सुन। |
| २. पाणवहमुसावाया<br>अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।<br>राईभोयणविरओ<br>जीवो भवइ अणासवो।। | *प्राणवधमृषावाद-*<br>*अदत्तमैथुनपरिग्रहेभ्यो विरतः।*<br>*रात्रिभोजनविरतो*<br>*जीवो भवति अनाश्रवः।।* | प्राणवध, मृषावाद, अदत्त-ग्रहण, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से विरत जीव अनाश्रव होता है। |
| ३. पंचसमिओ तिगुत्तो<br>अकसाओ जिइंदिओ।<br>अगारवो य निस्सल्लो<br>जीवो होइ अणासवो।। | *पंचसमितस्त्रिगुप्तः*<br>*अकषायो जितेन्द्रियः।*<br>*अगौरवश्च निःशल्यः*<br>*जीवो भवत्यनाश्रवः।।* | पांच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, अकषाय, जितेन्द्रिय, अगौरव (गर्व रहित) और निःशल्य जीव अनाश्रव होता है। |
| ४. एएसिं तु विवच्चासे<br>रागद्दोससमज्जियं।<br>जहा खवयइ भिक्खू<br>तं मे एगमणो सुण।। | *एतेषां तु विव्यत्यासे*<br>*रागदोषसमर्जितम्।*<br>*यथा क्षपयति भिक्षुः*<br>*तन्मे एकमनाः शृणु।।* | इनसे विपरीत आचरण में राग-द्वेष से जो कर्म उपार्जित होता है, उसे भिक्षु जिस प्रकार क्षीण करता है, उसे एकाग्र-मन होकर सुन। |
| ५. जहा महातलायस्स<br>सन्निरुद्धे जलागमे।<br>उस्सिंचणाए तवणाए<br>कमेणं सोसणा भवे।। | *यथा महातडागस्य*<br>*सन्निरुद्धे जलागमे।*<br>*उत्सेचनेन तपनेन*<br>*क्रमेण शोषणं भवेत्।।* | जिस प्रकार कोई बड़ा तालाव जल आने के मार्ग का निरोध करने से, जल को उलीचने से, सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है— |
| ६. एवं तु संजयस्सावि<br>पावकम्मनिरासवे।<br>भवकोडीसंचियं कम्मं<br>तवसा निज्जरिज्जइ।। | *एवं तु संयतस्यापि*<br>*पापकर्मनिराश्रवे।*<br>*भवकोटिसंचितं कर्म*<br>*तपसा निर्जीर्यते।।* | उसी प्रकार संयमी पुरुष के पाप-कर्म आने के मार्ग का निरोध होने से करोड़ों भवों के संचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं। |
| ७. सो तवो दुविहो वुत्तो<br>बाहिरब्भंतरो तहा।<br>बाहिरो छव्विहो वुत्तो<br>एवमब्भंतरो तवो।। | *तत्तपो द्विविधमुक्तं*<br>*बाह्यमाभ्यंतरं तथा।*<br>*बाह्यं षड्विधमुक्तं*<br>*एवमाभ्यन्तरं तपः।।* | वह तप दो प्रकार का कहा है—बाह्य और आभ्यंतर।<br>बाह्य तप छह प्रकार का है, उसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है। |
| ८. अणसणमूणोयरिया<br>भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।<br>कायकिलेसो संलीणया य<br>बज्झो तवो होइ।। | *अनशनमूनोदरिका*<br>*भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः।*<br>*कायक्लेशः संलीनता च*<br>*बाह्यं तपा भवति।।* | (१) अनशन, (२) ऊनोदरिका, (३) भिक्षाचर्या, (४) रस- परित्याग, (५) काय-क्लेश और (६) संलीनता— यह बाह्य तप है। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. इत्तिरिया मरणकाले
दुविहा अणसणा भवे।
इत्तिरिया सावकंखा
निरवकंखा बिइज्जिया।।

*इत्वरिकं मरणकालं*
*द्विविधं अनशनं भवेत्।*
*इत्वरिकं सावकांक्षं*
*निरवकांक्षं द्वितीयम्।।*

अनशन दो प्रकार का होता है—इत्वरिक[२] मरण-काल। इत्वरिक सावकांक्ष (अनशन के पश्चात् भोजन की इच्छा से युक्त) और दूसरा निरवकांक्ष (भोजन की इच्छा से मुक्त) होता है।

१०. जो सो इत्तरियतवो
सो समासेण छव्विहो।
सेढितवो पयरतवो
घणो य तह होई वग्गो य।।

*यत् तद् इत्वरिकं तपः*
*तत्समासेन षड्विधम्।*
*श्रेणितपः प्रतरतपः*
*घनश्च तथा भवति वर्गश्च।।*

जो इत्वरिक तप है, वह संक्षेप में छह प्रकार का है—(१) श्रेणि-तप, (२) प्रतर-तप, (३) धन-तप, (४) वर्ग-तप, (५) वर्ग-वर्ग-तप और (६) प्रकीर्ण-तप।

११. तत्तो य वग्गवग्गो उ
पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो।
मणइच्छियचित्तत्थो
नायव्वो होइ इत्तरिओ।।

*ततश्च वर्गवर्गस्तु*
*पंचमं षष्ठकं प्रकीर्णतपः।*
*मनईप्सितचित्रार्थं*
*ज्ञातव्यं भवति इत्वरिकम्।।*

इत्वरिक तप नाना प्रकार के मनोवांछित फल देने वाला[३] होता है।

१२. जा सा अणसणा मरणे
दुविहा सा वियाहिया।
सवियारअवियारा
कायचिट्ठं पई भवे।।

*यत्तदनशनं मरणे*
*द्विविधं तद् व्याख्यातम्।*
*सविचारमविचारं*
*कायचेष्टां प्रति भवेत्।।*

मरण-काल अनशन के काय-चेष्टा के आधार पर सविचार और अविचार—ये दो भेद होते हैं।

१३. अहवा सपरिकम्मा
अपरिकम्मा य आहिया।
नीहारिमणीहारी
आहारच्छेओ य दोसु वि।।

*अथवा सपरिकर्म*
*अपरिकर्म चाख्यातम्।*
*निर्हारि अनिर्हारि*
*आहारच्छेदश्च द्वयोरपि।।*

अथवा इसके दो भेद होते हैं—सपरिकर्म और अपरिकर्म।[४] अविचार अनशन के निर्हारी और अनिर्हारी—ये दो भेद होते हैं। आहार का त्याग दोनों (सविचार और अविचार तथा सपरिकर्म और अपरिकर्म) में होता है।

१४. ओमोयरियं पंचहा
समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्तकालेणं
भावेणं पज्जवेहि य।।

*अवमौदर्यं पंचधा*
*समासेन व्याख्यातम्।*
*द्रव्यतः क्षेत्रकालेन*
*भावेन पर्यवैश्च*

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की दृष्टि से अवमौदर्य (ऊनोदरिका)[५] संक्षेप में पांच प्रकार हैं।

१५. जो जस्स उ आहारो
तत्तो ओमं तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई
एवं दव्वेण ऊ भवे।।

*यो यस्य त्वाहारः*
*ततोऽवमं तु यः कुर्यात्।*
*जघन्येन एकसिक्थादि*
*एवं द्रव्येण तु भवेत्।।*

जिसका जितना आहार है उससे जो जघन्यतः एक सिक्थ (धान्य कण) और उत्कृष्टतः एक कवल कम खाता है, वह द्रव्य से अवमौदर्य तप होता है।

१६. गामे नगरे तह रायहाणि-
निगमे य आगरे पल्ली।
खेडे कब्बडदोणमुह-
पट्टणमडंबसंवाहे।।

*ग्रामे नगरे तथा राजधान्यां*
*निगमे च आकरे पल्ल्याम्।*
*खेटे कर्वटद्रोणमुख-*
*पत्तनमडंबसम्बाधे।।*

ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली,[६] खेड़ा, कर्वट, द्रोणमुख, पत्तन, मंडप, संवाध,

१७. आसमपए विहारे
सन्निवेसे समायघोसे य।
थलिसेणाखंधारे
सत्थे संवट्टकोट्टे य।।

*आश्रमपदे विहारे*
*सन्निवेशे समाजघोषे च।*
*स्थलीसेनास्कन्धावारे*
*सार्थे संवर्तकोट्टे च।।*

आश्रम-पद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थली, सेना का शिविर, सार्थ, संवर्त, कोट,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. वाडेसु व रच्छासु व
घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं।
कप्पइ उ एवमाई
एवं खेत्तेण ऊ भवे।।

*वाटेषु वा रथ्यासु वा*
*गृहेषु वैवमेतावत् क्षेत्रम्।*
*कल्पते त्वेवमादि*
*एवं क्षेत्रेण तु भवेत्।।*

पाड़ा, गलियां, घर—इनमें अथवा इस प्रकार के अन्य क्षेत्रों में से पूर्व निश्चय के अनुसार निर्धारित क्षेत्र में भिक्षा के लिए जा सकता है। इस प्रकार यह क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है।

१९. पेडा य अद्धपेडा
गोमुत्तिपयंगवीहिया चेव।
संबुक्कावट्टायय-
गंतुंपच्चागया छट्ठा।।

*पेटा चार्धपेटा*
*गोमूत्रिका पतंगवीथिका चैव।*
*शम्बूकावर्तआयतं-*
*गत्वाप्रत्यागता षष्ठी।।*

(प्रकारांतर से) पेटा, अर्द्ध-पेटा, गोमूत्रिका, पतंग-वीथिका, सम्बूकावर्ता और आयतं-गत्वा-प्रत्यागता—यह छह प्रकार का क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है।

२०. दिवसस्स पोरुसीणं
चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एवं चरमाणो खलु
कालोमाणं मुणेयव्वो।।

*दिवसस्य पौरुषीणां*
*चतसृणामपि तु यावान् भवेत् कालः।*
*एवं चरतः खलु*
*कालावमानं ज्ञातव्यम्।।*

दिवस के चार प्रहरों में जितना अभिग्रह-काल हो उसमें भिक्षा के लिए जाऊंगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के काल से अवमौदर्य तप होता है।

२१. अहवा तइयाए पोरिसीए
ऊणाइ घासमेसंतो।
चउभागूणाए वा
एवं कालेण ऊ भवे।।

*अथवा तृतीयायां पौरुष्यां*
*ऊनायां ग्रासमेषयन्।*
*चतुर्भागोनायां वा*
*एवं कालेन तु भवेत्।।*

अथवा कुछ न्यून तीसरे प्रहर (चतुर्थ भाग आदि न्यून प्रहर) में जो भिक्षा की एषणा करता है, उसे (इस प्रकार) काल से अवमौदर्य तप होता है।

२२. इत्थी वा पुरिसो वा
अलंकिओ वाणलंकिओ वा वि।
अन्नयरवयत्थो वा
अन्नयरेणं व वत्थेणं।।

*स्त्री वा पुरुषो वा*
*अलंकृतो वाऽनलंकृतो वापि*
*अन्यतरवयस्थो वा*
*अन्यतरेण वा वस्त्रेण।।*

स्त्री अथवा पुरुष, अलंकृत अथवा अनलंकृत अमुक वय वाले, अमुक वस्त्र वाले,

२३. अन्नेण विसेसेणं
वण्णेणं भावमणुमुयंते उ।
एवं चरमाणो खलु
भावोमाणं मुणेयव्वो।।

*अन्येन विशेषेण*
*वर्णेन भावमनुन्मुंचन् तु।*
*एवं चरतः खलु*
*भावावमानं ज्ञातव्यम्।।*

अमुक विशेष प्रकार की दशा, वर्ण या भाव से युक्त दाता से भिक्षा ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के भाव से अवमौदर्य तप होता है।

२४. दव्वे खेत्ते काले
भावम्मि य आहिया उ जे भावा।
एएहिं ओमचरओ
पज्जवचरओ भवे भिक्खू।।

*द्रव्ये क्षेत्रे काले*
*भावे चाख्यातास्तु ये भावाः।*
*एतैरवमचरकः*
*पर्यवचरको भवेद् भिक्षुः।।*

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो भाव (पर्याय) कहे गए हैं, उन सबके द्वारा अवमौदर्य करने वाला भिक्षु पर्यवचरक होता है।

२५. अट्ठविहगोयरग्गं तु
तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने
भिक्खायरियमाहिया।।

*अष्टविधाग्रगोचरस्तु*
*तथा सप्तैवैषणाः।*
*अभिग्रहाश्च ये अन्ये*
*भिक्षाचर्या आख्याता।।*

आठ प्रकार के अग्र-गोचर (गोचराग्र) तथा सात प्रकार की एषणाएं और जो अन्य अभिग्रह हैं, उन्हें भिक्षाचर्या[9] कहा जाता है।

२६. खीरदहिसप्पिमाई
पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु
भणियं रसविवज्जणं।।

*क्षीरदधिसर्पिरादि*
*प्रणीतं पानभोजनं।*
*परिवर्जनं रसानां तु*
*भणितं रसविवर्जनम्।।*

दूध, दही, घृत आदि तथा प्रणीत पान-भोजन और रसों के वर्जन को रस-विवर्जन तप[10] कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७. ठाणा वीरासणाईया
जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जंति
कायकिलेसं तमाहियं।।

*स्थानानि वीरासनादिकानि*
*जीवस्य तु सुखावहानि।*
*उग्राणि यथा धार्यन्ते*
*कायक्लेशः स आख्यातः।।*

आत्मा के लिए सुखकर वीरासन आदि उत्कट आसनों का जो अभ्यास किया जाता है, उसे कायक्लेश कहा जाता है।[८]

२८. एगंतमणावाए
इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया
विवित्तसयणासणं।।

*एकांते अनापाते*
*स्त्रीपशुविवर्जिते।*
*शयनासनसेवनं*
*विविक्तशयनासनम्।।*

एकांत, अनापात (जहां कोई आता-जाता न हो) और स्त्री-पशु आदि से रहित शयन और आसन का सेवन करना विविक्त-शयनासन (संलीनता) तप है।[९०]

२९. एसो बाहिरगतवो
समासेण वियाहिओ।
अब्भिंतरं तवं एत्तो
वुच्छामि अणुपुव्वसो।।

*एतद् बाह्यकं तपः*
*समासेन व्याख्यातम्।*
*आभ्यंतरं तप इतो*
*वक्ष्याम्यनुपूर्वशः।।*

यह बाह्य तप संक्षेप में कहा गया है। अब मैं अनुक्रम से आभ्यंतर तप को कहूंगा।

३०. पायच्छित्तं विणओ
वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो
एसो अब्भिंतरो तवो।।

*प्रायश्चित्तं विनयः*
*वैयावृत्त्यं तथैव स्वाध्यायः।*
*ध्यानं च व्युत्सर्गः*
*एतदाभ्यंतरं तपः।।*

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—यह आभ्यंतर तप है।

३१. आलोयणारिहाईयं
पायच्छित्तं तु दसविहं।
जे भिक्खू वहई सम्मं
पायच्छित्तं तमाहियं।।

*आलोचनार्हादिकं*
*प्रायश्चित्तं तु दशविधम्।*
*यद् भिक्षुर्वहति सम्यक्*
*प्रायश्चित्तं तदाख्यातम्।।*

आलोचनार्ह आदि जो दस प्रकार का प्रायश्चित्त है, जिसका भिक्षु सम्यक् प्रकार से पालन करता है, उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है।[९१]

३२. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं
तहेवासणदायणं।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा
विणओ एस वियाहिओ।।

*अभ्युत्थानमञ्जलिकरणं*
*तथैव आसनदानम्।*
*गुरुभक्तिः भावशुश्रूषा*
*विनय एष व्याख्यातः।।*

अभ्युत्थान (खड़े होना), हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति करना और भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनय कहलाता है।

३३. आयरियमाइयम्मि य
वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवणं जहाथामं
वेयावच्चं तमाहियं।।

*आचार्यादिके च*
*वैयावृत्त्ये दशविधे।*
*आसेवनं यथास्थाम*
*वैयावृत्त्यं तदाख्यातम्।।*

आचार्य आदि सम्बन्धी दस प्रकार के वैयावृत्त्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्त्य कहा जाता है।[९२]

३४. वायणा पुच्छणा चेव
तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा
सज्झाओ पंचहा भवे।।

*वाचना प्रच्छना चैव*
*तथैव परिवर्तना।*
*अनुप्रेक्षा धर्मकथा*
*स्वाध्यायः पञ्चधा भवेत्।।*

स्वाध्याय पांच प्रकार का होता है[९४]—
१. वाचना (अध्यापन)
२. पृच्छना
३. परिवर्तना (पुनरावृत्ति)
४. अनुप्रेक्षा (अर्थ-चिंतन)
५. धर्मकथा।

३५. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता
झाएज्झा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं
झाणं तं तु बुहा वए।।

*आर्त्तरौद्रे वर्जयित्वा*
*ध्यायेत् सुसमाहितः।*
*धर्मशुक्ले ध्याने*
*ध्यानं तत्तु बुधा वदन्ति।।*

सुसमाहित मुनि आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करे। बुध-जन उसे ध्यान कहते हैं।[९५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. सयणासणठाणे वा
जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो
छट्ठो सो परिकित्तिओ।।

*शयनासनस्थाने वा*
*यस्तु भिक्षुर्न व्याप्रियते।*
*कायस्य व्युत्सर्गः*
*षष्ठः स परिकीर्तितः।।*

सोने, बैठने या खड़े रहने के समय जो भिक्षु व्यापृत नहीं होता (काया को नहीं हिलाता-डुलाता) उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता है। वह आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है।[५५]

३७. एयं तवं तु दुविहं
जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा
विप्पमुच्चइ पंडिए।।

*एवं तपस्तु द्विविधं*
*यत्सम्यगाचरेन्मुनिः।*
*स क्षिप्रं सर्वसंसारात्*
*विप्रमुच्यते पण्डितः।।*

इस प्रकार जो पण्डित मुनि दोनों प्रकार के तपों का सम्यक् रूप से आचरण करता है, वह शीघ्र ही समस्त संसार से मुक्त हो जाता है।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन ३० : तपो-मार्ग-गति

## १. बाह्य और आभ्यन्तर (बाहिरब्भंतरो)

स्वरूप और सामग्री के आधार पर तप को दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य-तप—अनशन आदि निम्न कारणों से बाह्य-तप कहलाते हैं :

(१) इनमें बाहरी द्रव्यों की अपेक्षा होती है; अशन, पान आदि द्रव्यों का त्याग होता है,
(२) ये सर्वसाधारण के द्वारा तपस्या के रूप में स्वीकृत होते हैं,
(३) इनका प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर अधिक होता है और
(४) ये मुक्ति के बहिरंग कारण होते हैं।[1]

मूलाराधना के अनुसार जिसके आचरण से मन दुष्कृत के प्रति प्रवृत्त न हो, आंतरिक-तप के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो और पूर्व-गृहीत योगों—स्वाध्याय आदि योगों या व्रत विशेषों की हानि न हो, वह 'बाह्य-तप' होता है।[2]

आभ्यन्तर-तप—प्रायश्चित्त आदि निम्न कारणों से आभ्यंतर तप कहलाते हैं :

१. इनमें बाहरी द्रव्यों की अपेक्षा नहीं होती,
२. ये विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा ही तप-रूप में स्वीकृत होते हैं,
३. इनका प्रत्यक्ष प्रभाव अन्तःकरण में होता है और
४. ये मुक्ति के अन्तरंग कारण होते हैं।[3]

महर्षि पतञ्जलि ने भी योग के अंगों को अन्तरंग और बहिरंग—इन दो भागों में विभक्त किया है। धारणा, ध्यान और समाधि—ये पूर्ववर्ती यम आदि पांच साधनों की अपेक्षा अन्तरंग हैं। निर्बीज-योग की अपेक्षा ये बहिरंग भी हैं।[4] इसका फलितार्थ यह है कि यम आदि पांच अंग बहिरंग हैं और धारणा आदि तीन अंग अन्तरंग और बहिरंग—दोनों हैं। निर्बीज-योग केवल अन्तरंग हैं।

### बाह्य—तप के प्रकार

बाह्य-तप के छह प्रकार हैं—(१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्ति-संक्षेप, (४) रस-परित्याग, (५) काय-क्लेश और (६) विविक्त शय्या।

### बाह्य—तप के परिणाम

बाह्य-तप के निम्न परिणाम होते हैं—

१. सुख की भावना स्वयं परित्यक्त हो जाती है।
२. शरीर कृश हो जाता है।
३. आत्मा संवेग में स्थापित होती है।
४. इन्द्रिय-दमन होता है।
५. समाधि-योग का उपयोग होता है।
६. वीर्य-शक्ति का उपयोग होता है।
७. जीवन की तृष्णा विच्छिन्न होती है।
८. संक्लेश-रहित दुःख-भावना (कष्ट-सहिष्णुता) का अभ्यास होता है।
९. देह, रस और सुख का प्रतिबन्ध नहीं रहता।
१०. कषाय का निग्रह होता है।
११. विषय-भोगों के प्रति अनादर (उदासीन भाव) उत्पन्न होता है।
१२. समाधि-मरण का स्थिर अभ्यास होता है।
१३. आत्म-दमन होता है। आहार आदि का अनुराग क्षीण होता है।
१४. आहार-निराशता—आहार की अभिलाषा के त्याग का अभ्यास होता है।
१५. अगृद्धि बढ़ती है।
१६. लाभ और अलाभ में सम रहने का अभ्यास सधता है।
१७. ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है।
१८. निद्रा-विजय होती है।
१९. ध्यान की दृढ़ता प्राप्त होती है।
२०. विमुक्ति (विशिष्ट त्याग) का विकास होता है।
२१. दर्प का नाश होता है।
२२. स्वाध्याय-योग की निर्विघ्नता प्राप्त होती है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६००।
२. मूलाराधना, ३।२३६ :
सो णाम बाहिरतवो, जेण मणो दुक्कडं ण उट्टेदि।
जेण य सड्ढा जायदि, जेण य जोगा ण हायंति।।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६०० : 'बाह्यं' बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् प्रायो मुक्त्यवाप्तिबहिरङ्गत्वाच्च 'अभ्यन्तरं' तद्विपरीतं, यदिवा 'लोकप्रतीतत्वात्कुतीर्थिकैश्च' स्वाभिप्रायेणासेव्यमानत्वाद्बाह्यं तदितरत्त्वाभ्यन्तरम्, उक्तञ्च—
"लोके परसमयेषु च यत्प्रथितं तत्तपो भवति बाह्यम्।
आभ्यन्तरमप्रथितं कुशलजनैव तु ग्राह्यम्।।"
अन्ये त्वाहुः—"प्रायेणान्तःकरणव्यापाररूपमेवाभ्यन्तरं, बाह्यं त्वन्यथे" ति।
४. पातञ्जलयोगदर्शन, ३।७, ८ : त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३. सुख-दुःख में सम रहने की स्थिति बनती है।
२४. आत्मा, कुल, गण, शासन—सबकी प्रभावना होती है।
२५. आलस्य त्यक्त होता है।
२६. कर्म-मल का विशोधन होता है।
२७. दूसरों को संवेग उत्पन्न होता है।
२८. मिथ्या-दृष्टियों में भी सौम्यभाव उत्पन्न होता है।
२९. मुक्ति-मार्ग का प्रकाशन होता है।
३०. तीर्थङ्कर की आज्ञा की आराधना होती है।
३१. देह-लाघव प्राप्त होता है।
३२. शरीर-स्नेह का शोषण होता है।
३३. राग आदि का उपशम होता है।
३४. आहार की परिमितता होने से नीरोगता बढ़ती है।
३५. संतोष बढ़ता है।[1]

**बाह्य-तप का प्रयोजन—**

१. अनशन के प्रयोजन : १. संयम-प्राप्ति २. राग-नाश ३. कर्म-मल-विशोधन ४. सद्ध्यान की प्राप्ति और ५. शास्त्राभ्यास।

२. अवमौदर्य के प्रयोजन : १. संयम में सावधानता २. बात, पित्त, श्लेष्म आदि दोषों का उपशमन और ३. ज्ञान, ध्यान आदि की सिद्धि।

३. वृत्ति-संक्षेप के प्रयोजन : १. भोजन-सम्बन्धी आशा पर अंकुश और २. भोजन-सम्बन्धी संकल्प-विकल्प तथा चिंता का नियंत्रण।

४. रस-परित्याग के प्रयोजन : १. इन्द्रिय-निग्रह २. निद्रा-विजय और ३. स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि।

५. विविक्त-शय्या के प्रयोजन : १. बाधाओं से मुक्ति २. ब्रह्मचर्य-सिद्धि और ३. स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि।

६. काय-क्लेश के प्रयोजन : १. शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता का स्थिर अभ्यास २. शारीरिक सुख की वाञ्छा से मुक्ति और ३. जैन-धर्म की प्रभावना।[2]

**आभ्यन्तर-तप के प्रकार—**

आभ्यन्तर-तप के छह प्रकार हैं—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्त्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।

**आभ्यन्तर-तप के परिणाम—**

भाव-शुद्धि, चंचलता का अभाव, शल्य-मुक्ति, धार्मिक-दृढ़ता आदि प्रायश्चित्त के परिणाम हैं।[3]

ज्ञान-लाभ, आचार-विशुद्धि, सम्यक्-आराधना आदि विनय के परिणाम हैं।[4]

चित्त-समाधि का लाभ, ग्लानि का अभाव, प्रवचन-वात्सल्य आदि वैयावृत्त्य के परिणाम हैं।[5]

प्रज्ञा का अतिशय, अध्यवसाय की प्रशस्तता, उत्कृष्ट संवेग का उदय, प्रवचन की अविच्छिन्नता, अतिचार-विशुद्धि, सन्देह-नाश, मिथ्यावादियों के भय का अभाव आदि स्वाध्याय के परिणाम हैं।[6]

कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से बाधित न होना तथा सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि शरीर को प्रभावित करने वाले कष्टों से बाधित न होना ध्यान के परिणाम हैं।[7]

निर्ममत्व, निर्भयता, जीवन के प्रति अनासक्ति, दोषों का उच्छेद, मोक्ष-मार्ग में तत्परता आदि व्युत्सर्ग के परिणाम हैं।[8]

## २. इत्वरिक (इत्तरिया)

औपपातिक (सूत्र १९) में इत्वरिक के चौदह प्रकार बतलाए गए हैं—

१. चतुर्थ भक्त—उपवास।
२. षष्ट-भक्त—२ दिन का उपवास।
३. अष्टम-भक्त—३ दिन का उपवास।
४. दशम-भक्त—४ दिन का उपवास।
५. द्वादश-भक्त—५ दिन का उपवास।
६. चतुर्दश-भक्त—६ दिन का उपवास।
७. षोडश-भक्त—७ दिन का उपवास।
८. अर्धमासिक-भक्त—१५ दिन का उपवास।
९. मासिक-भक्त—१ मास का उपवास।
१०. द्वैमासिक-भक्त—२ मास का उपवास।
११. त्रैमासिक-भक्त—३ मास का उपवास।
१२. चतुर्मासिक-भक्त—४ मास का उपवास।
१३. पंचमासिक-भक्त—५ मास का उपवास।
१४. छहमासिक-भक्त—६ मास का उपवास।

इत्वरिक-तप कम से कम एक दिन और अधिक से अधिक ६ मास तक का होता है।

प्रस्तुत प्रकरण में इत्वरिक-तप छह प्रकार का बतलाया गया है—(१) श्रेणि तप, (२) प्रतर तप, (३) घन तप, (४) वर्ग तप, (५) वर्ग-वर्ग तप और (६) प्रकीर्ण तप।

(१) श्रेणि तप—उपवास से लेकर छह मास तक क्रमपूर्वक जो तप किया जाता है, उसे श्रेणि तप कहा जाता है। इसकी अनेक अवान्तर श्रेणियां होती हैं। जैसे—उपवास, बेला—यह दो पदों का श्रेणि तप है। उपवास, बेला, तेला, चोला—यह चार पदों का श्रेणि तप है।

(२) प्रतर तप—यह श्रेणि तप को जितने क्रम—प्रकारों से किया जा सकता है, उन सब क्रमों—प्रकारों को मिलाने से

१. मूलाराधना, ३।२३७-२४४।
२. तत्त्वार्थ, ९।२०, श्रुतसागरीयवृत्ति।
३. वही, ९।२२, श्रुतसागरीयवृत्ति।
४. वही, ९।२३, श्रुतसागरीयवृत्ति।
५. वही, ९।२४, श्रुतसागरीयवृत्ति।
६. वही, ९।२५, श्रुतसागरीयवृत्ति।
७. ध्यानशतक, १०५-१०६।
८. तत्त्वार्थ, ९।२६, श्रुतसागरीयवृत्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतर तप होता है। उदाहरण स्वरूप उपवास, बेला, तेला और चोला—इन चार पदों की श्रेणि लें। इसके निम्नलिखित चार क्रम—प्रकार बनते हैं—

| क्रम—प्रकार | १ | २ | ३ | ४ |
|---|---|---|---|---|
| १ | उपवास | बेला | तेला | चोला |
| २ | बेला | तेला | चोला | उपवास |
| ३ | तेला | चोला | उपवास | बेला |
| ४ | चोला | उपवास | बेला | तेला |

यह प्रतर तप है। इसके कुल पदों की संख्या १६ हैं। इस तरह यह तप श्रेणि को श्रेणि-पदों से गुणा करने से बनता है।

(३) घन तप—जितने पदों की श्रेणि है, प्रतर को उतने पदों से गुणा करने से घन तप बनता है। यहां चार पदों की श्रेणि है। अतः उपर्युक्त प्रतर तप को चार से गुणा करने से अर्थात् उसे चार बार करने से घन तप होता है। घन तप के ६४ पद बनते हैं।

(४) वर्ग तप—घन को घन से गुणा करने पर वर्ग तप बनता है अर्थात् घन तप को ६४ बार करने से वर्ग तप बनता है। इसके ६४ X ६४ = ४०९६ पद बनते हैं।

(५) वर्ग-वर्ग तप—वर्ग को वर्ग से गुणा करने पर वर्ग-वर्ग तप बनता है अर्थात् वर्ग तप को ४०९६ बार करने से वर्ग-वर्ग तप बनता है। इसके ४०९६ X ४०९६ = १६७७७२१६ पद बनते हैं।

(६) प्रकीर्ण तप—यह पद श्रेणि आदि निश्चित पदों की रचना बिना ही अपनी शक्ति के अनुसार किया जाता है। यह अनेक प्रकार का है।

शान्त्याचार्य ने नमस्कार-संहिता आदि तथा यवमध्य, वज्रमध्य, चन्द्र-प्रतिमा आदि तपों को प्रकीर्ण तप के अन्तर्गत माना है।

### ३. नाना प्रकार के मनोवांछित फल देने वाला (मणइच्छियचित्तत्थो)

टीकाकार ने इसका अर्थ 'मनो वाञ्छित विचित्र प्रकार का फल देने वाला' किया है।[१] फल-प्राप्ति के लिए तप नहीं करना चाहिए, टीकाकार का अर्थ इस मान्यता का विरोधी नहीं है। 'मणइच्छियचित्तत्थो' यह वाक्य तप के गौण फल का सूचक है। आगम-साहित्य में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इसका अर्थ 'मन इच्छित विचित्र प्रकार से किया जाने वाला तप' भी हो सकता है।

### ४. (श्लोक १२–१३)

इन दो श्लोकों में मरण-काल-भावी अनशन का निरूपण है। औपपातिक में उसके दो प्रकार निर्दिष्ट हैं—पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान।[३]

पादपोपगमन नियमतः अप्रतिकर्म है और उसके दो प्रकार हैं—व्याघात और निर्व्याघात।

भक्त-प्रत्याख्यान नियमतः सप्रतिकर्म है और उसके भी दो प्रकार हैं—व्याघात और निर्व्याघात।

समवायांग में इस अनशन के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं—भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और पादपोपगमन।[४]

प्रस्तुत अध्ययन में मरण-काल भावी अनशन के प्रकारों (भक्त-प्रत्याख्यान आदि) का उल्लेख नहीं है। केवल उनका सात विधाओं से विचार किया गया है।

(१) सविचार—हलन-चलन सहित।
(२) सपरिकर्म[५]—शुश्रूषा या संलेखना-सहित।
(३) निर्हारि—उपाश्रय से बाहर गिरी-कंदरा आदि एकान्त स्थानों से किया जाने वाला।
(४) अविचार—स्थिरता युक्त।
(५) अपरिकर्म—शुश्रूषा या संलेखना-रहित।
(६) अनिर्हारि—उपाश्रय में किया जाने वाला।
(७) आहारच्छेद।

भक्त-प्रत्याख्यान में जल-वर्जित त्रिविध आहार का भी प्रत्याख्यान किया जाता है और चतुर्विध आहार का भी। इंगिनी और पादपोपगमन—इन दोनों में चतुर्विध आहार का परित्याग किया जाता है।

भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार आ-जा सकता है। इंगिनी अनशन करने वाला नियत प्रदेश में इधर-उधर आ-जा सकता है, किन्तु उससे बाहर नहीं जा सकता है। पादपोपगमन अनशन करने वाला वृक्ष के समान निश्चेष्ट होकर लेटा रहता है या जिस आसन में अनशन प्रारम्भ करता है, उसी आसन में स्थिर रहता है—हलन-चलन नहीं करता।

भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने वाला स्वयं भी अपनी शुश्रूषा करता है और दूसरों से भी करवाता है। इंगिनी अनशन करने वाला दूसरों से शुश्रूषा नहीं करवाता, किन्तु स्वयं अपनी शुश्रूषा कर सकता है। पादपोपगमन अनशन

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६०१ : तच्च नमस्कारसहितादि पूर्वपुरुषाचरितं यवमध्यवज्रमध्यचन्द्रप्रतिमादि च।

२. वही, पत्र ६०१ : मनसः—चित्तस्य ईप्सितं—इष्टश्चित्रः—अनेकप्रकारोऽर्थः—स्वर्गापवर्गादिस्तेजोलेश्यादिर्वा यस्मात्तन्मनईप्सितचित्रार्थं ज्ञातव्यं भवति।

३. ओवाइयं, सूत्र ३२ : .....आवकहिए (अणसणे) दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।

४. समवाओ, समवाय १७।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ६०२-६०३ : सह परिकर्मणा—स्थाननिषदनत्वग्वर्त्तनादि विश्रामणादिना च वर्त्तते यत्तत्सपरिकर्म, अपरिकर्म च तद्विपरीतम्—यद्वा परिकर्म—संलेखना सा यत्रास्ति तत्सपरिकर्म, तद्विपरीतं त्वपरिकर्म।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाला अपने शरीर की शुश्रूषा न स्वयं करता है और न किसी दूसरे से करवाता है।

शान्त्याचार्य ने निर्हारि और अनिर्हारि—ये दोनों पादपोपगमन के प्रकार बतलाए हैं।[1] किन्तु स्थानांग में ये दो प्रकार भक्त-प्रत्याख्यान के भी किए गए हैं।[2]

## दिगम्बर आचार्य शिवकोटि और अनशन

**१. भक्त प्रत्याख्यान :**

उनके अनुसार भक्त-प्रत्याख्यान अनशन के दो प्रकार हैं—(१) सविचार और (२) अविचार।[3]

जो उत्साह—बलयुक्त है, जिसकी मृत्यु तत्काल होने वाली नहीं है, उस मुनि के भक्त-प्रत्याख्यान को 'सविचार भक्त-प्रत्याख्यान' कहा जाता है।[4] इसका अर्ह, लिंग आदि ४० प्रकरणों द्वारा विचार किया गया है।[5]

मृत्यु की आकस्मिक संभावना होने पर भक्त-प्रत्याख्यान किया जाता है, उसे 'अविचार भक्त-प्रत्याख्यान' कहा जाता है।[6] उसके तीन प्रकार हैं :

**१. निरुद्ध :** जो रोग और आतंक से पीड़ित हो, जिसका जंघाबल क्षीण हो और जो दूसरे गण में जाने में असमर्थ हो, उस मुनि के भक्त-प्रत्याख्यान को 'निरुद्ध अविचार भक्त-प्रत्याख्यान' कहा जाता है।[7]

जब तक उसमें बल-वीर्य होता है, तब तक अपना काम स्वयं करता है और जब वह असमर्थ हो जाता है, तब दूसरे मुनि उसकी परिचर्या करते हैं।[8] जंघाबल क्षीण होने पर अन्य गण में जाने में असमर्थ होने के कारण जो मुनि अपने गण में ही निरुद्ध रहता है, उसके भक्त-प्रत्याख्यान को 'अनिर्हारि' भी कहा जाता है।[9] इसमें अनियत विहार आदि की विधि नहीं होती, इसलिए उसे 'अविचार' कहा जाता है।[10]

निरुद्ध दो प्रकार का होता है—(१) जन-ज्ञात और (२) जन-अज्ञात।[11]

**२. निरुद्धतर :** मृत्यु का तात्कालिक कारण (सर्प-दंश, अग्नि आदि) उपस्थित होने पर तत्काल भक्त-प्रत्याख्यान किया जाता है, उसका नाम निरुद्धतर है। बल-वीर्य की तत्काल हानि होने पर वह पर-गण में जाने में अत्यन्त असमर्थ होता है, इसलिए उसका अनशन 'निरुद्धतर' कहलाता है। यह अनिर्हारि होता है।[12]

**३. परमनिरुद्ध :** सर्प-दंश आदि कारणों से जब वाणी रुक जाती है, उस स्थिति में भक्त-प्रत्याख्यान को 'परमनिरुद्ध' कहा जाता है।[13]

**२. इंगिनी :**

इस अनशन की अधिकांश विधि भक्त-प्रत्याख्यान के समान होती है। केवल इतना विशेष होता है कि इंगिनी अनशन करने वाला दूसरे मुनियों से सेवा नहीं लेता, अपना काम स्वयं करता है।[14] उपसर्ग होने पर भी निष्प्रतिकर्म होता है—प्रतिकार-रहित उन्हें सहता है।[15]

**३. प्रायोपगमन :**

इसमें तृणसंस्तर (घास का बिछौना) नहीं किया जाता, स्वयं परिचर्या करना भी वर्जित होता है, यह सर्वथा अपरिकर्म होता है।[16]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६०३ : एतच्च प्रकारद्वयमपि पादपोपगमनविषयं, तत्प्रस्ताव एवागमेऽस्याभिधानात्।

२. ठाणं, २।४१५, ४१६ : पाओवगमणे दुविहे पं० तं०—णीहारिमे चेव अणीहारिमते चेव णियमं अपडिक्कमे। भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पं० तं०—णीहारिमे चेव अणीहारिमे चेव णियमं सपडिक्कमे।

३. मूलाराधना, २।६५ : दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं।

४. वही, २।६५ : सविचारमणागाढे, मरणे सपरक्कमस्स हवे।

५. वही, २।६६ :
सविचारभत्तपच्चक्खाणस्सिणमो उवक्कमो होई।
तत्थ य सुत्तपदाइं, चत्तालं होंति णेयाइं।।

६. वही, ७।२०११ :
तत्थ अविचारभत्त-पइण्णा मरणम्मि होइ अगाढो।
अपरक्कम्मस्स मुणिणो, कालम्मि असंपुहुत्तम्मि।।

७. वही, ७।२०१३ :
तस्स णिरुद्धं भणिदं, रोगादंकेहिं जो समभिभूदो।
जंघाबलपरिहीणो, परगणगमणम्मि ण समत्थो।।

८. वही, ७।२०१४ :
जावय बलविरियं से, सो विहरदि ताव णिप्पडीयारो।
पच्छा विहरति पडिजग्गिज्जंतो तेण समणेण।।

९. वही, ७।२०१५ :
इय सण्णिरुद्धमरणं, भणियं अणिहारिमं अवीचारं।
सो चेव जधाजोग्गं, पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स।।

१०. मूलाराधना, ७।२०१५।

११. वही, ७।२०१६, १७ :
दुविधं तं पि अणीहारिम, पगासं च अप्पगासं च।
जण्णादं च पगासं, इदरं च जणेण अण्णादं।।
खवयस्स चित्तसारं, खित्तं कालं पडुच्च सज्जणं वा।
अण्णम्मि य तारिसयम्मि, कारणे अप्पगासं तु।।

१२. वही, ७।२०२१ :
एवं णिरुद्धदरयं, विदिमं अणिहारियं अवीचारं।
सो चेव जधाजोग्गो, पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स।।

१३. वही, ७।२०२२ :
वालादिएहिं जइया, अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया।
तइया परमणिरुद्धं मणिदं मरणं अविचारं।।

१४. वही, ८।२०४२ :
सयमेव अप्पणो सो, करेदि आउंटणादि किरियाओ।
उच्चारादीणि तधा, सयमेव विकिंचिदे विधिणा।।

१५. वही, ८।२०४३ :
जाधे पुण उवसग्गे, देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा।
ताधे णिप्पडियम्मो, ते अधियासेदि विगदभओ।।

१६. वही, ८।२०६४ :
णवरिं तणसंथारो, पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण, य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्त-प्रत्याख्यान में शारीरिक परिचर्या स्वयं की जाती है, दूसरों से कराई भी जाती है। इंगिनी में वह स्वयं की जाती है, दूसरों से नहीं कराई जाती। प्रायोपगमन में वह न स्वयं की जाती है और न दूसरों से कराई जाती है।[1]

प्रायोपगमन अनशन करने वाला शरीर को इतना कृश कर लेता है कि उसके मल-मूत्र होते ही नहीं।[2] वह अनशन करते समय जहां अपना शरीर टिका देता है, वहीं स्थिर-भाव से टिकाए रहता है। इस प्रकार वह निष्प्रतिकर्म होता है। वह अचल होता है, इसलिए अनिर्हार होता है। दूसरा कोई व्यक्ति उसे उठा कर किसी दूसरे स्थान में डाल देता है तो पर-कृत चालन की अपेक्षा वह निर्हार भी हो जाता है।[4]

श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा में अनशन के तीनों प्रकार और अनेक नाम समान हैं। 'पाओअगमण' का संस्कृत रूप श्वेताम्बर आचार्यों ने 'पादपोपगमन'[5] किया है, वहां दिगम्बर आचार्यों ने 'प्रायोपगमन'।[6] अर्थ की दृष्टि से 'पादपोपगमन' अधिक उपयुक्त है किन्तु संस्कृत छाया की दृष्टि से 'प्रायोपगमन' होना चाहिए। महाभारत में अनशनकर्त्ता के अर्थ में 'प्रायोपविष्ट' शब्द का प्रयोग मिलता है।[6] काश्मीर में अनशन के प्रबन्ध के लिए एक पदाधिकारी नियुक्त था, जो 'प्रायोपवेश' कहलाता था।[7]

| | श्वेताम्बर | दिगम्बर |
|---|---|---|
| १. | सविचार—गमनागमन-सहित[8] | अर्ह लिंग आदि विकल्प-सहित।[9] |
| २. | अविचार—गमनागमन-सहित[10] | अर्ह लिंग आदि विकल्प-रहित।[11] |
| ३. | निर्हारि—उपाश्रय के एक देश में, जिससे मृत्यु के पश्चात् शरीर का निर्हरण किया जाए—बाहर ले जाया जाए।[12] | स्व-गण का त्याग कर पर-गण में जा सके, वह। |
| ४. | अनिर्हारि—गिरि-गुफा आदि में, जिससे मृत्यु के पश्चात् निर्हरण करना आवश्यक न हो।[14] | स्व-गण का त्याग कर पर-गण में न जा सके, वह।[13] |

प्रायोपगमन के वर्णन में आचार्य शिवकोटि ने अनिर्हार और निर्हार का अर्थ 'अचल' और 'चल' भी किया है।[15] मूलाराधना के भक्त-प्रत्याख्यान के निरुद्धतर ओर परमनिरुद्ध की तुलना औपपातिक के पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान के एक प्रकार—व्याघात-सहित से होती है। औपपातिक के अनुसार पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान दोनों अनशनों के दो-दो प्रकार होते हैं—व्याघात-सहित और व्याघात रहित। व्याघात-सहित का अर्थ है—सिंह, दावानल आदि का व्याघात उत्पन्न होने पर किया जाने वाला अनशन।[16]

इनसे यह फलित होता है कि अनशन व्याघात उत्पन्न होने पर भी किया जाता है और व्याघात न होने पर भी किया

---

१. मूलाराधना, ८।२०६४ : विजयोदया—स्वपरसंपाद्यप्रतीकारापेक्षः भक्तप्रत्याख्यानविधिः, परनिरपेक्षमात्मसंपाद्यप्रतीकारमिंगिणीमरणं, सर्वप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनमित्यमीषांभेदः।

२. वही, ८।२०६५ :
सो सल्लेहिददेहो, जम्हा पाओवगमणमुवज्जादि।
उच्चारादिविकिंचण, भवि णत्थि पवोगदो तम्हा।।

३. वही, ८।२०६८-६९-७० :
वोसट्ठचत्तदेहो, दु णिक्खेवेज्जो जहिं जधा अंगं।
जावज्जीवं तु सयं, तहिं तमंगं ण चालेज्ज।।
एवं णिप्पडियम्मं, भणंति पाओवगमणमरहंता।
णियमा अणिहारं तं, सिया य णीहारमुवसग्गे।।
उवसग्गेण य साहारेदो, सो अण्णत्थ कुणदि जं कालं।
तम्हा वुत्तं णीहार, मदो अण्णं अणीहारं।।

४. औपपातिक वृत्ति, पृ० ७१ : पादपस्येवोपगमनम्—अस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनम्।

५. मूलाराधना, ८।२०६३ : पाओवगमणमरणस्स।
विजयोदया—प्रायोपगमनमरणम्।

६. महाभारत, शान्तिपर्व, २७।२४ :
प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम्।

७. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० १०४।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ६०२ : 'कायचेष्टाम्' उद्वर्त्तनपरिवर्त्तनादिककायप्रवीचारं 'प्रती' ति आश्रित्य 'भवेत्' स्यात्, तत्र सविचारं भक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनीमारणं च।

९. मूलाराधना, २।६५, विजयोदया वृत्ति : विचरणं नानागमनं विचारः। विचारेण वर्तते इति सविचारं एतदुक्तं भवति। वक्ष्यमाणार्हलिंगादिविकल्पेन सहितं भक्तप्रत्याख्यानं इति।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ६०२ : अविचारं तु पादपोपगमनं, तत्र हि सव्याघाताव्याघातभेदतो द्विभेदेऽपि पादपवन्निश्चेष्टतयैव स्थीयते।

११. (क) मूलाराधना, २।६५ विजयोदया वृत्ति : अविचारं वक्ष्यमाणार्हादिनानाप्रकाररहितम्।
(ख) मूलाराधना दर्पण, ७।२०१५ : अवीचारं अनियतविहारादिविचारणाविरहात्।

१२. स्थानांग २।४१५ वृत्ति : यद्वसतेरेकदेशे विधीयते तत्ततःशरीरस्य निर्हरणात्—निस्सारणान्निर्हारिमम्।

१३. मूलाराधना दर्पण, ७।२०१५ : अणिहारिमं सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तस्वगणपरित्यागाभावात्।
अर्थ—सविचार भक्त के प्रत्याख्यान में स्व-गण का परित्याग कर पर-गण में जाने की विधि बतलाई है, वह इसमें नहीं है इसलिए इसको 'अणिहारिम' कहते हैं।

१४. मूलाराधना दर्पण, २।४१५, वृत्ति : यत्पुनर्गिरिकन्दरादौ तदनिर्हरणाद-निर्हारिमम्।

१५. मूलाराधना ८।२०६६ :
एवं णिप्पडियम्मं, भणंति पाओवगमणमरहंता।
णियमा अणिहारं तं, सिया य णीहारमुवसग्गे।।
विजयोदया—तत्प्रायोपगमनमनतिहारमचलं स्याच्चलमपि उपसर्गे परकृतचलमनपेक्ष्य।

१६. औपपातिक, सूत्र ३२ वृत्ति, पृ० ७१ : व्याघातवत्—सिंहदावानलाद्यभिभूतो यत् प्रतिपद्यते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। सूत्रकृतांग के अनुसार शारीरिक बाधा उत्पन्न होने या न होने पर भी अनशन किया जाता है।[1]

अनशन का हेतु शरीर के प्रति निर्ममत्व है। जब तक शरीर-ममत्व होता है, तब तक मनुष्य मृत्यु से भयभीत रहता है और जब वह शरीर-ममत्व से मुक्त होता है, तब मृत्यु के भय से भी मुक्त हो जाता है। अनशन को देह-निर्ममत्व या अभय की साधना का विशिष्ट प्रकार कहा जा सकता है। मृत्यु अनशन का उद्देश्य नहीं, किंतु उसका गौण परिणाम है। उसका मुख्य परिणाम है—आत्म-लीनता। इसी प्रकार महात्मा गांधी का एक अनुभव है—"मुझे मालूम होता है कि किसी कारण से आदमी को मरना ही हो अथवा मालूम हो जाए कि मरना है, तो खाए हुए से उपवास करके मरना कहीं बढ़कर है अथवा इन दोनों का मुकाबला ही उचित नहीं है। मैं नहीं जानता कि खाए हुए मरने से वृत्ति कैसी रहती होगी पर जान पड़ता है कि अच्छी तो नहीं रहती होगी और उपवास में वृत्ति का क्या पूछना है? जान पड़ता है ब्रह्मानन्द में लीन है।"[2]

तात्कालिक व्याघात या बाधा उत्पन्न न होने पर किया जाने वाला अनशन संलेखना-पूर्वक होता है।

आगम-सूत्रों में मरण एवं अनशन के भेद इस प्रकार हैं—

**(१) उत्तरज्झयणाणि, ३०।९—१३ :**

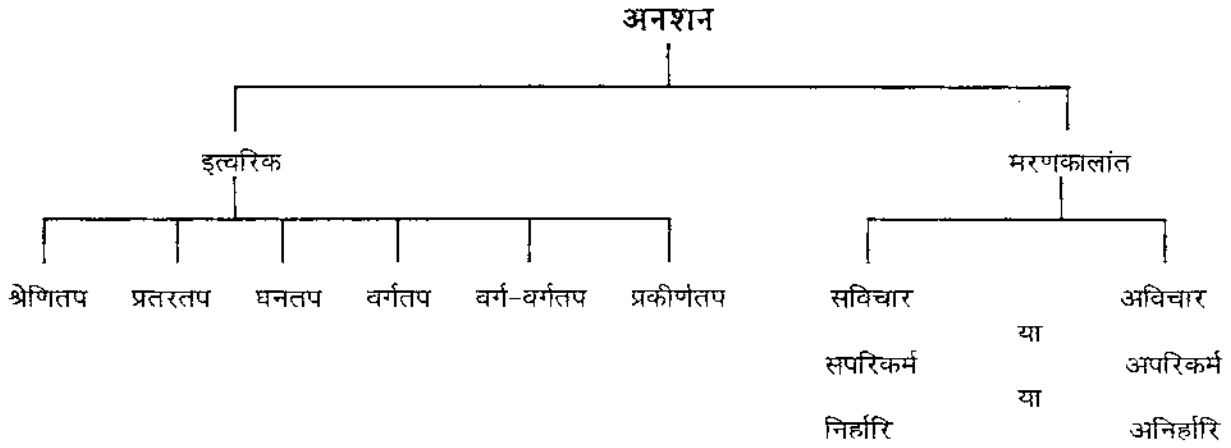


**(२) ओवाइयं, सूत्र ३२—**

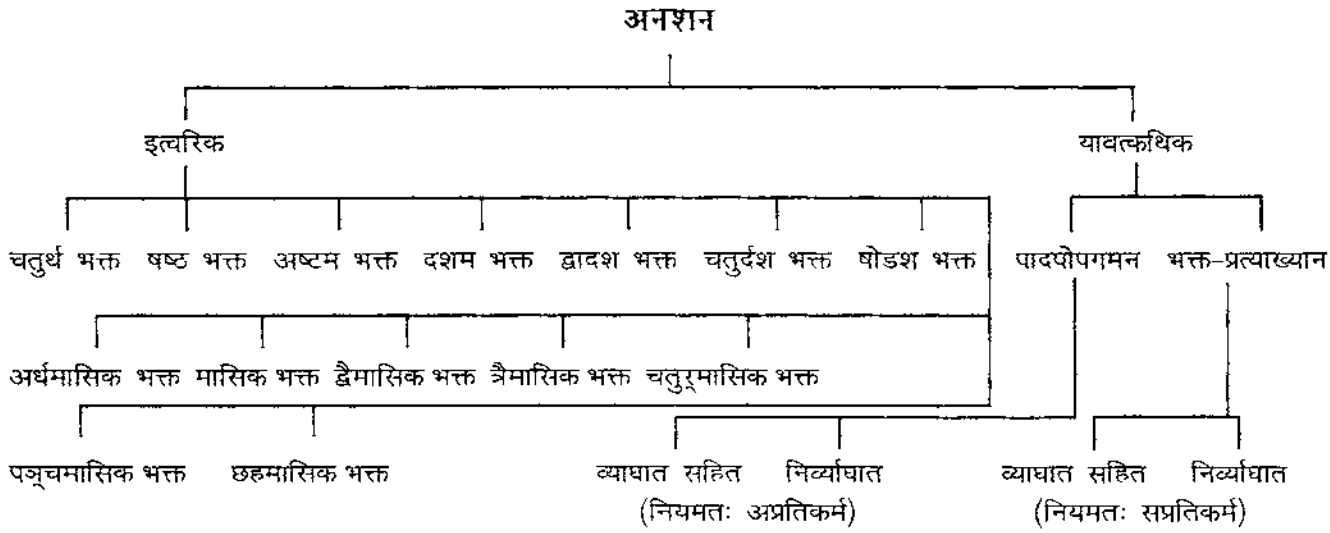


---

१. (क) सूयगडो, २।२।६७ : ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता, आबाहंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खंति, पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति।

(ख) वही, २।२।७३ : ते णं एयारूवेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता आबाहंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खंति, पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति।

२. उपवास से लाभ, पृ० ११७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) ठाणं, २।४११-४१६—

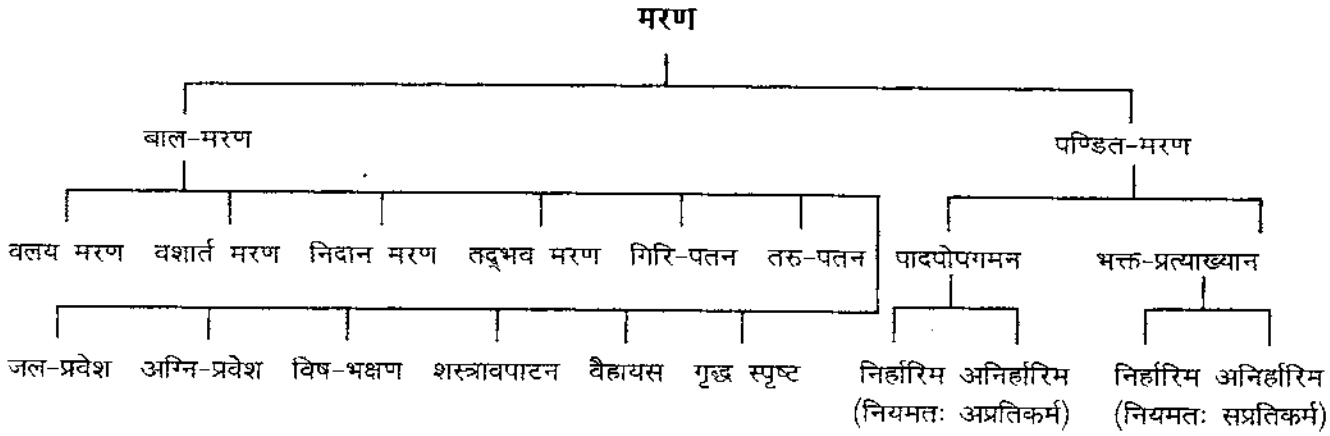


(४) भगवई, २।१—

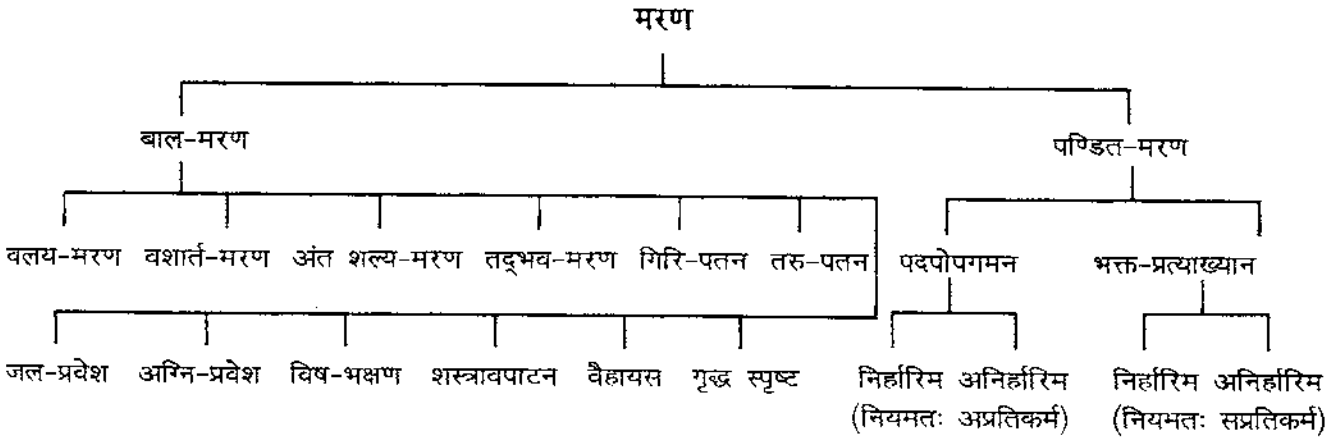


(५) भगवई, २५।५५९-५६३—

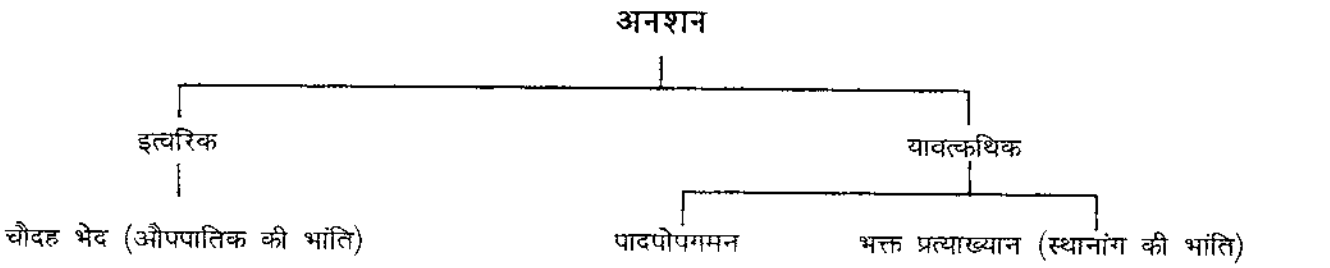


(६) समवाओ, १७—

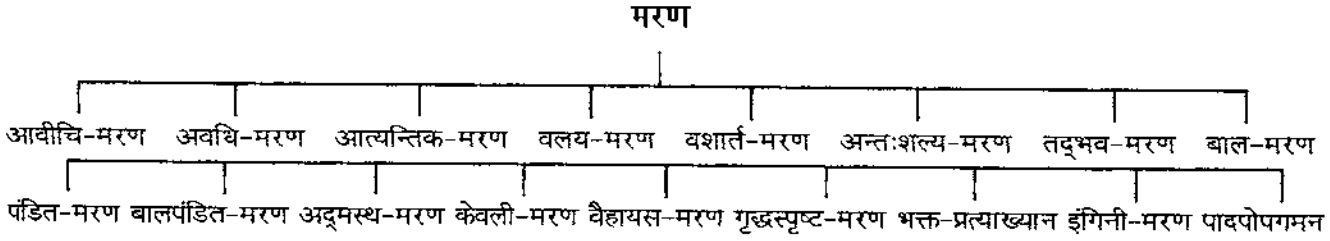


उपर्युक्त नाम स्थानांग और भगवती से कुछ भिन्न हैं। २. इंगिनी और ३. पादपोपगमन।
इनमें अनशन के तीन प्रकार हैं—१. भक्त-प्रत्याख्यान, मूलाराधना में अनशन के अधिकारी का वर्णन है। इसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिकारी वे होते हैं—

१. जो दुश्चिकित्स्य व्याधि (संयम को छोड़े बिना जिसका प्रतिकार करना संभव न हो) से पीड़ित हो।
२. जो श्रामण्य-योग की हानि करने वाली जरा से अभिभूत हो।
३. जो देव, मनुष्य या तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों से उपद्रुत हो।
४. जिसके चारित्र-विनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग किए जा रहे हों।
५. दुष्काल में जिसे शुद्ध भिक्षा न मिले।
६. जो गहन अटवी में दिग्मूढ़ हो जाए और मार्ग हाथ न लगे।
७. जिसके चक्षु और श्रोत्र दुर्बल तथा जंघाबल क्षीण हो जाए और जो विहार करने में समर्थ न हो।

उक्त व इन जैसे अन्य कारण उपस्थित होने पर व्यक्ति अनशन का अधिकारी होता है।[1]

जिस मुनि का चारित्र निरतिचार पल रहा हो, संलेखना कराने वाले आचार्य (निर्णायक आचार्य) भविष्य में सुलभ हों, दुर्भिक्ष का भय न हो, वैसी स्थिति में वह अनशन का अनधिकारी है। विशिष्ट स्थिति उत्पन्न हुए बिना जो अनशन करे तो समझना चाहिए कि वह चारित्र से खिन्न है।[2]

**संलेखना**

आचारांग में बताया गया है कि जब मुनि को यह अनुभव हो कि इस शरीर को धारण करने में मैं ग्लान हो रहा हूं, तब वह क्रम से आहार का संकोच करे, संलेखना करे—आहार संकोच के द्वारा शरीर को कृश करे।[3]

**संलेखना के काल**

संलेखना के तीन काल हैं—(१) जघन्य—छह मास का काल (२) मध्यम—एक वर्ष का काल और (३) उत्कृष्ट—१२ वर्ष का काल।

उत्कृष्ट संलेखना के काल में प्रथम चार वर्षों में दूध, घी आदि विकृतियों का त्याग अथवा आचाम्ल किया जाता है। सूत्र के प्रथम चार वर्षों में विचित्र तप करने का उल्लेख नहीं है। किन्तु शान्त्याचार्य ने निशीथ चूर्णि के आधार पर इसका अर्थ यह किया है कि संलेखना करने वाला विचित्र तप के पारण में विकृतियों का परित्याग करे।[4] प्रवचनसारोद्धार में भी यही क्रम है। प्रथम चार वर्षों में विचित्र तप किया जाता है और उसके पारण में यथेष्ट भोजन किया जाता है। दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप किया जाता है, किन्तु पारण में विकृति का परित्याग किया जाता है।[5] आगे का क्रम समान है।

उत्तराध्ययन (३६।२५१-२५५) के अनुसार इस संलेखना का पूर्ण क्रम इस प्रकार है—

प्रथम चार वर्ष—विकृति का परित्याग अथवा आचाम्ल।

द्वितीय चार वर्ष—विचित्र तप—उपवास, बेला, तेला आदि और पारण में यथेष्ट भोजन।[6]

नौवें और दसवें वर्ष—एकान्तर उपवास और पारण में आचाम्ल

ग्यारहवें वर्ष की प्रथम छमाही—उपवास या बेला।

ग्यारहवें वर्ष की द्वितीय छमाही—विकृष्ट[7] तप—तेला, चोला आदि तप।

समूचे ग्यारहवें वर्ष में पारण के दिन—आचाम्ल। प्रथम छमाही में आचाम्ल के दिन ऊनोदरी की जाती है और दूसरी छमाही में उस दिन पेट भर भोजन किया जाता है।[8]

बारहवें वर्ष में—कोटि-संहित आचाम्ल अर्थात् निरन्तर आचाम्ल अथवा प्रथम दिन आचाम्ल, दूसरे दिन कोई दूसरा तप और तीसरे दिन फिर आचाम्ल।[9]

बारह वर्ष के अन्त में—अर्द्ध-मासिक या मासिक अनशन, भक्त-परिज्ञा आदि।[10] निशीथ चूर्णि के अनुसार बारहवें वर्ष में क्रमशः आहार की इस प्रकार कमी की जाती है जिससे आहार और आयु एक साथ ही समाप्त हो। उस वर्ष के अन्तिम चार महीनों में मुंह में तैल भरकर रखा जाता है। मुखयंत्र विसंवादी न हो—नमस्कार मंत्र आदि का उच्चारण करने में असमर्थ न हो, यह उसका प्रयोजन है।[11]

---

१. मूलाराधना, २।७१-७४।
२. वही, २।७५-७६।
३. आयारो, ८।१०५, १०६।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ७०६।
५. प्रवचनसादोद्धार, गाथा ८७५-८७७।
६. बृहद्वृत्ति, पत्र ७०६ : द्वितीये वर्षचतुष्के 'विचित्रं तु' इति विचित्रमेव चतुर्थषष्ठाष्टमादिरूपं तपश्चरेत्, अत्र च पारणके सम्प्रदायः—"उग्गमविसुद्धं सव्वं कप्पणिज्जं पारेति।"
७. प्रवचनसारोद्धार, वृत्ति पत्र २५४ : विकृष्टं—अष्टमदशमद्वादशादिकं तपःकर्म भवति।
८. वही, वृत्ति पत्र २५४ : पारणके तु परिमितं—किंचिदूनोदरतासम्पन्नमाचाम्लं करोति।
९. वही, वृत्ति पत्र २५४ : पारणके तु मा शीघ्रमेव मरणं यासिषमितिकृत्वा परिपूर्णधान्या आचाम्लं करोति, न पुनरूनोदरतयेति।
१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ७०६ : कोट्यौ—अग्रे प्रत्याख्यानाद्यन्तकोणरूपे सहिते—मिलिते यस्मिंस्तत्कोटीसहितं, किमुक्तं भवति ?—विवक्षितदिने प्रातराचाम्लं प्रत्याख्याय तच्चाहोरात्रं प्रतिपाल्यं, पुनर्द्वितीयेऽह्नि आचाम्लमेव प्रत्याचष्टे, ततो द्वितीयस्यारम्भकोटिराद्यस्य तु पर्यन्तकोटिरुभे अपि मिलिते भवत इति तत्कोटीसहितमुच्यते, अन्ये त्वाहुः—आचाम्लमेकस्मिन् दिने कृत्वा द्वितीयदिने च तपोऽन्तरमनुष्ठाय पुनस्तृतीयदिने आचाम्लमेव कुर्वतः कोटीसहितमुच्यते।
११. वही, पत्र ७०६-७०७ : 'संवत्सरे' वर्षे प्रक्रमाद् द्वादशे 'मुनिः' साधुः 'मास' त्ति सूत्रत्वान्मासं भूतो मासिकस्तेनैवमार्द्धमासिकेन 'आहारेणन्ति' उपलक्षणत्वादाहारत्यागेन, पाठान्तरतश्च क्षपणेन 'तपः' इति प्रस्तावाद्भक्तपरिज्ञानादिकमनशनं 'चरेत्'।
१२. सभाष्य निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० २६४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संलेखना का अर्थ है छीलना—कृश करना। शरीर को कृश करना—यह द्रव्य (बाह्य) संलेखना है। कषाय को कृश करना—यह भाव (आन्तरिक) संलेखना है।[1]

आचार्य शिवकोटि ने छह प्रकार के बाह्य-तप को बाह्य-संलेखना का साधन माना है।[2] संलेखना का दूसरा क्रम एक दिन उपवास और दूसरे दिन वृत्ति-परिसंख्यान तप है।[3] बारह भिक्षु-प्रतिमाओं को भी संलेखना का साधन माना है।[4] शरीर-संलेखना के इन अनेक विकल्पों में आचाम्ल तप उत्कृष्ट साधन है। संलेखना करने वाला, तेला, चोला, पंचोला आदि तप करके पारण में मित और हल्का आहार (बहुधा आचाम्ल अर्थात् कॉजी का आहार—'आयंबिलं—कांजिकाहारं' मूलाराधना ३।२५१, मूलाराधना दर्पण) करता है।[5]

भक्त-परिज्ञा का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का है।[6] उसका क्रम इस प्रकार है—

(१) प्रथम चार वर्षों में विचित्र अर्थात् अनियत काय-क्लेशों के द्वारा शरीर कृश किया जाता है।

(२) दूसरे चार वर्षों में विकृतियों का परित्याग कर शरीर को सुखाया जाता है।[7]

(३) नौवें और दसवें वर्ष में आचाम्ल और विकृति-वर्जन किया जाता है।

(४) ग्यारहवे वर्ष में केवल आचाम्ल किया जाता है।

(५) बारहवें वर्ष की प्रथम छमाही में अविकृष्ट तप—उपवास, बेला आदि किया जाता है।[8]

(६) बारहवें वर्ष की दूसरी छमाही में विकृष्ट तप—तेला, चोला आदि किया जाता है।

दोनों परम्पराओं में संलेखना के विषय में थोड़ा क्रम-भेद है, किन्तु यह विचारणीय नहीं है। आचार्य शिवकोटि के शब्दों में संलेखना के लिए वही तप या उसका वही क्रम अंगीकार करना चाहिए जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और शरीर-धातु के अनुकूल हो।[9] संलेखना का जो क्रम बतलाया गया है, वही क्रम है ऐसा नियम नहीं है। जिस प्रकार शरीर का क्रमशः संलेखन (तनूकरण) हो, वही प्रकार अंगीकरणीय है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार में उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और असाध्य रोग उत्पन्न होने पर धर्म की आराधना के लिए शरीर त्यागने को 'संलेखना' कहा गया है।[10]

## ५. अवमौदर्य (ऊनोदरिका) (ओमोयरियं)

यह बाह्य-तप का दूसरा प्रकार है। इसका अर्थ है 'जिस व्यक्ति की जितनी आहार-मात्रा है, उससे कम खाना।' यहां इसके पांच प्रकार किए गए हैं—(१) द्रव्य की दृष्टि से अवमौदर्य, (२) क्षेत्र की दृष्टि से अवमौदर्य, (३) काल की दृष्टि से अवमौदर्य, (४) भाव की दृष्टि से अवमौदर्य और (५) पर्यव की दृष्टि से अवमौदर्य।

औपपातिक में इसका विभाजन भिन्न प्रकार से है—(१) द्रव्यतः अवमौदर्य और (२) भावतः अवमौदर्य। द्रव्यतः अवमौदर्य के दो प्रकार हैं—(१) उपकरण अवमौदर्य और (२) भक्त-पान अवमौदर्य। भक्त-पान अवमौदर्य के अनेक प्रकार हैं—(१) आठ ग्रास खाने वाला अल्पाहारी होता है, (२) बारह ग्रास खाने वाला अपार्द्ध अवमौदर्य होता है, (३) सोलह ग्रास खाने वाला अर्द्ध अवमौदर्य होता है, (४) चौबीस ग्रास खाने वाला पौन अवमौदर्य होता है और (५) इकतीस ग्रास खाने वाला किंचित् अवमौदर्य होता है।[11]

यह कल्पना भोजन की पूर्ण मात्रा के आधार पर की गई है। पुरुष के आहार की पूर्ण मात्रा बत्तीस ग्रास और स्त्री के पूर्ण आहार की मात्रा अट्ठाईस ग्रास है।[12] ग्रास का परिमाण मुर्गी के अण्डे[13] अथवा हजार चावल जितना[14] बतलाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जितनी भूख हो, उससे एक कवल कम खाना भी अवमौदर्य है। क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि को कम करना भावतः अवमौदर्य है।[15] निद्रा-विजय, समाधि, स्वाध्याय, परम-संयम और इन्द्रिय-विजय—ये अवमौदर्य के फल हैं।[16]

## ६. (ग्रामे.....पल्ली)

ग्राम—जो गुणों को ग्रसित करे अथवा जहां १८ प्रकार के कर लगते हों, वह 'ग्राम' कहलाता है।[17] ग्राम का अर्थ 'समूह' है। जहां-जहां जन-समूह रहता है, उसका नाम ग्राम

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ७०६ : संलेखनं—द्रव्यतः शरीरस्य भावतः कषायाणां कृशताऽऽपादनं संलेखा, संलेखनेति।
(ख) मूलाराधना, ३।२०६।

२. (क) मूलाराधना, ३।२०८।
(ख) मूलाराधना दर्पण, ३।२०८, पृ० ४३५।
(ग) मूलाराधना, ३।२४६।

३. वही, ३।२४७।

४. वही, ३।२४६।

५. वही, ३।२५०-२५१।

६. वही, ३।२५३।

७. (क) मूलाराधना, ३।२५३।
(ख) मूलाराधना दर्पण, ३।२५४, पृ० ४७५ : निर्विकृतिः रसव्यंजनादिवर्जितमव्यतिकीर्णमोदनादि भोजनम्।

८. मूलाराधना, ३।२५४।

९. वही, ३।२५५।

१०. रत्नकरण्डक श्रावकाचार: १२२ :
उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।।

११. ओवाइयं, सूत्र ३३।

१२. मूलाराधना, ३।२११।

१३. ओवाइयं, सूत्र ३३।

१४. मूलाराधना दर्पण, पृ० ४२७।

१५. ओवाइयं, सूत्र ३३।

१६. मूलाराधना, ३।२११, अमितगति, पृ. ४२८।

१७. बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५ : ग्रसति गुणान् गम्यो वाऽष्टादशानां कराणामिति ग्रामः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो गया।

नगर—जहां किसी प्रकार का कर न लगता हो, उसे 'नगर' कहा जाता है।[1] अर्थ-शास्त्र में राजधानी के लिए 'नगर' या 'दुर्ग' और साधारण कस्बों के लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है। किन्तु प्रस्तुत श्लोक में राजधानी का प्रयोग भी हुआ है, इससे जान पड़ता है कि नगर बड़ी बस्तियों का नाम है, भले फिर वे राजधानी हों या न हों।

निगम—व्यापारियों का गांव; वह बस्ती जहां बहुत व्यापारी रहते हैं।[2]

आकर—खान का समीपवर्ती गांव।[3]

पल्ली—बीहड़ स्थान में होने वाली बस्ती, चोरों का गांव।[4]

## ७. भिक्षाचर्या (भिक्खायरियं)

यह बाह्य-तप का तीसरा प्रकार है। इसका दूसरा नाम 'वृत्ति-संक्षेप'[5] या 'वृत्ति-परिसंख्यान' है।[6] अष्ट प्रकार के गोचराग्रों, सात एषणाओं तथा अन्य विविध प्रकार के अभिग्रहों के द्वारा भिक्षा-वृत्ति को संक्षिप्त किया जाता है। गोचराग्र के आठ प्रकार हैं—

(१) पेटा—पेटा की भांति चतुष्कोण घूमते हुए (बीच के घरों को छोड़ चारों दिशाओं में समश्रेणि स्थित घरों में जाते हुए), 'मुझे भिक्षा मिले तो लूं अन्यथा नहीं'—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम पेटा है।[7]

(२) अर्द्ध-पेटा—अर्द्ध-पेटा की भांति द्विकोण घूमते हुए (दो दिशाओं में स्थित गृह-श्रेणि में जाते हुए), 'मुझे भिक्षा मिले तो लूं अन्यथा नहीं'—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम अर्द्ध-पेटा है।[8]

(३) गो-मूत्रिका—गो-मूत्रिका की तरह बलखाते हुए (बाएं पार्श्व के घर से दाएं पार्श्व के घर और दाएं पार्श्व से बाएं पार्श्व के घर में जाते हुए), 'मुझे भिक्षा मिले तो लूं अन्यथा नहीं'—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम गो-मूत्रिका है।[9]

(४) पतंग-वीथिका—पतिंगा जैसे अनियत क्रम से उड़ता है, वैसे अनियत क्रम से (एक घर से भिक्षा ले फिर कई घर छोड़ फिर किसी घर में) मुझे भिक्षा मिले तो लूं नहीं तो नहीं—इस प्रकार संकल्प से भिक्षा करने का नाम पतंग-वीथिका है।[10]

(५) शंबूकावर्त्ता—शंख के आवर्त्तों की तरह भिक्षाटन करने को शंबूकावर्त्ता कहा जाता है। इसके दो प्रकार हैं—(१) आभ्यन्तर शंबूकावर्त्ता और (२) बाह्य शंबूकावर्त्ता।

(क) शंख के नाभि-क्षेत्र से प्रारम्भ हो बाहर आने वाले आवर्त्त की भांति गांव के भीतरी भाग से भिक्षाटन करते हुए बाहरी भाग से आने को 'आभ्यन्तर शंबूकावर्त्ता' कहा जाता है।

(ख) बाहर से भीतर जाने वाले शंख के आवर्त्त की भांति गांव के बाहरी भाग से भिक्षाटन करते हुए भीतरी भाग में आने को 'बाह्य शंबूकावर्त्ता' कहा जाता है।[11]

स्थानांग वृत्ति के अनुसार (क) बाह्य शंबूकावर्त्ता की व्याख्या है और (ख) आभ्यन्तर शंबूकावर्त्ता की व्याख्या है।[12]

किन्तु इन दोनों व्याख्याओं की अपेक्षा पंचाशकवृत्ति की व्याख्या अधिक हृदय-स्पर्शी है। उसके अनुसार दक्षिणावर्त शंख की भांति दांई ओर आवर्त्त करते हुए 'भिक्षा मिले तो लूं नहीं तो नहीं'—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम आभ्यन्तर शंबूकावर्त्ता है। इसी प्रकार वामावर्त शंख की भांति बांई ओर आवर्त करते हुए 'भिक्षा मिले तो लूं नहीं तो नहीं'—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम बाह्य शंबूकावर्त्ता है।[13]

(६) आयतं-गत्वा-प्रत्यागता—सीधी सरल गली के अन्तिम घर तक जाकर वापिस आते हुए भिक्षा लेने का नाम आयतं-गत्वा-प्रत्यागता है।[14]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५ : नात्र करोऽस्तीति नकरम्।

२. वही, पत्र ६०५ : निगमयन्ति तस्मिन्ननेकविधमाण्डानीति निगमः—प्रभूततरवणिजां निवासः।

३. वही, पत्र ६०५ : आकुर्वन्ति तस्मिन्नित्याकरो—हिरण्याद्युत्पत्तिस्थानम्।

४. वही, पत्र ६०५ : 'पल्लि' त्ति सुव्यत्ययात् पाल्यन्तेऽनया दुष्कृतविधायिनो जना इति पल्ली, नैरुक्तो विधिः, वृक्षगहनाद्याश्रितः प्रान्तजननिवासः।

५. समवाओ, समवाय ६।

६. मूलाराधना, ३।२१७।

७. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५ : 'पेडा' पेडिका इव चउकोणा।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४८ :
चउदिसि सेणीभमणे, मज्झे मुक्कंमि भन्नए पेडा।

८. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५ : 'अद्धपेडा' इमीए चेव अद्धसंठिया घरपरिवाडी।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४८ :
दिसिदुगसंबद्धस्सेणिभिक्खणे अद्धपेडत्ति।

९. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५ : 'गोमुत्तिया' वंकावलिया।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४७ :
वामाओ दाहिणगिहे भिक्खिज्जइ दाहिणाओ वाममि।
जोए सा गोमुत्ती.....॥

१०. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५ : 'पयंगविही' अणियया पयंगुड्डाणसरिसा।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४७ : अड्ढवियड्ढा पयंगविही।

११. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५ : 'संबुक्कावट्टं' ति शम्बूकः—शङ्खस्तस्यावर्त्तः शम्बूकावर्त्तस्तद्वदावर्त्तो यस्यां सा शम्बूकावर्त्ता, सा च द्विविधा—यतः सम्प्रदायः—'अब्भिंतरसंबुक्का बाहिरसंबुक्का य, तत्थ अब्भंतरसंबुक्काए संखनाभिखेत्तोवमाए आगिइए अंतो आढवति बाहिरओ संणियट्टइ, इयरीए विवज्जओ।'
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४६।

१२. स्थानांग, ६।६६ वृत्ति, पत्र ३४७ : यस्यां क्षेत्रबहिर्भागाच्छङ्खवृत्तत्वगत्या-ऽटन् क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽभ्यन्तरसंबुक्का, यस्यां तु मध्यभागाद् बहिर्याति सा बहिःसंबुक्केति।

१३. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४६ वृत्ति, पत्र २१७ : पञ्चाशकवृत्तौ तु शम्बूकावृत्ता—"शङ्खवद्वृत्ततागमनं, सा च द्विविधा—प्रदक्षिणतोऽप्रदक्षिणतश्चे" त्युक्तम्।

१४. बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५ : अत्रायतं—दीर्घं प्राञ्जलमित्यर्थः तथा च सम्प्रदायः—"तत्थ उज्जुयं गंतूण नियट्टइ"।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्नीसवीं गाथा में ये छह प्रकार निर्दिष्ट हैं और प्रस्तुत श्लोक में गोचराग्र के आठ प्रकारों का उल्लेख है। वे आयतं-गत्वा-प्रत्यागता से पृथक् मानने पर तथा शंबूकावर्त्ता के उक्त दोनों प्रकारों को पृथक्-पृथक् मानने पर बनते हैं।[1]

मूलाराधना में गोचराग्र के छह प्रकार हैं—(१) गत्वा प्रत्यागता, (२) ऋजु-वीथि, (३) गो-मूत्रिका, (४) पेलविया, (५) शंबूकावर्त्ता और (६) पतंगवीथि।[2]

जिस मार्ग से भिक्षा लेने जाए उसी मार्ग से लौटते समय भिक्षा मिले तो वह ले सकता है अन्यथा नहीं—यह गत्वा (गत) प्रत्यागत का अर्थ है।[3]

प्रवचनसारोद्धार के अनुसार गली की एक पंक्ति में भिक्षा करता हुआ जाता है और लौटते समय दूसरी पंक्ति से भिक्षा करता है।[4]

सरल मार्ग से जाते समय यदि भिक्षा मिले तो वह ले सकता है अन्यथा नहीं—यह ऋजु-वीथि का अर्थ है।[5]

प्रवचनसारोद्धार के अनुसार ऋजु मार्ग से भिक्षाटन करते हुए जाता है, वापस आते समय भिक्षा नहीं करता।[6]

इन गोचराग्र की प्रतिमाओं से ऊनोदरी होती है, इसलिए इन्हें 'क्षेत्रतः अवमौदर्य' भी कहा गया है।[7]

सात एषणाएं—

(१) संसृष्टा—खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

(२) असंसृष्टा—भोजन-जात से अलिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

(३) उद्धृता—अपने प्रयोजन के लिए रांधने के पात्र से दूसरे पात्र से निकला हुआ आहार लेना।

(४) अल्पलेपा—अल्पलेप वाली अर्थात् चना, चिउड़ा आदि रूखी वस्तु लेना।

(५) अवगृहीता—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

(६) प्रगृहीता—परोसने के लिए कड़छी या चम्मच से निकला हुआ आहार लेना।

(७) उज्झितधर्मा—जो भोजन अमनोज्ञ होने के कारण परित्याग करने योग्य हो, उसे लेना।[8]

मूलाराधना में वृत्ति-संक्षेप के प्रकार भिन्न रूप से प्राप्त होते हैं—

(१) संसृष्ट—शाक, कुल्माष आदि धान्यों से संसृष्ट आहार।

(२) फलिहा—मध्य में ओदन और उसके चारों ओर शाक रखा हो, ऐसा आहार।

(३) परिखा—मध्य में अन्न और उसके चारों ओर व्यंजन रखा हो, वैसा आहार।

(४) पुष्पोपहित—व्यंजनों के मध्य में पुष्पों के समान अन्न की रचना किया हुआ आहार।

(५) शुद्धगोपहित—निष्पाव आदि धान्य से अमिश्रित शाक, व्यंजन आदि।

(६) लेपकृत—हाथ के चिपकने वाला आहार।

(७) अलेपकृत—हाथ के न चिपकने वाला आहार।

(८) पानक—द्राक्षा आदि से शोधिक पानक—चाहे वह सिक्थ-सहित हो या सिक्थ-रहित।[6]

अमुक द्रव्य, अमुक क्षेत्र में, अमुक काल में व अमुक अवस्था में मिले तो लूं अन्यथा नहीं—इस प्रकार अनेक अभिग्रहों के द्वारा वृत्ति का संक्षेप किया जाता है।[10]

औपपातिक में वृत्ति-संक्षेप के तीस प्रकार बतलाए हैं[11]—

| | |
|---|---|
| (१) द्रव्याभिग्रहचरक | (११) उपनीतचरक |
| (२) क्षेत्राभिग्रहचरक | (१२) अपनीतचरक |
| (३) कालभिग्रहचरक | (१३) उपनीत-अपनीतचरक |
| (४) भावाभिग्रहचरक | (१४) अपनीत-उपनीतचरक |
| (५) उक्षिप्तचरक | (१५) संसृष्टचरक |
| (६) निक्षिप्तचरक | (१६) असंसृष्टचरक |
| (७) उत्क्षिप्त-निक्षिप्तचरक | (१७) तज्जातसंसृष्टचरक |
| (८) निक्षिप्त-उत्क्षिप्तचरक | (१८) अज्ञातचरक |
| (९) परिवेष्यमाणचरक | (१९) मौनचरक |
| (१०) संहियमाणचरक | (२०) दृष्टलाभिक |

---

१. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४५।

२. मूलाराधना, ३।२१८।

३. वही, ३।२१८, विजयोदया : गत्तापच्चागदं। यया वीथ्यागतः पूर्वं तयैव प्रत्यागमनं कुर्वन् यदि लभते भिक्षां गृह्णाति नान्यथा।

४. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४६।

५. मूलाराधना, ३।२१८ विजयोदया : उज्जुवीहिं ऋज्व्या वीथ्या गतो यदि लभते गृह्णाति नेतरथा।

६. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४६।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५-६०६ : नन्वत्र गोचररूपत्वाद्भिक्षाचर्यात्वमेवासां तत्कथमिह क्षेत्रावमौदार्यरूपतोक्ता ? उच्यते, अवमौदार्य ममास्त्वित्यभिसम्बन्धिना विधीयमानत्वादवमौदार्यव्यपदेशोऽप्यदुष्ट एव, दृश्यते हि निमित्तभेदादेकत्रापि देवदत्तादौ पितृपुत्राद्यनेकव्यपदेशः, एवं पूर्वत्र ग्रामादिविषयस्योक्तरत्र कालादिविषयस्य च नैयतस्याभिग्रहत्वेन भिक्षाचर्यात्वप्रसंगेन इदमेवोत्तरं वाच्यम्।

८. (क) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७३९-७४३।
(ख) स्थानांग, ७।८, वृत्ति पत्र ३८६।

९. मूलाराधना, ३।२२०, विजयोदया : संसिट्ठं—शाककुल्माषादिसंसृष्टमेव। फलिहा—समंतादवस्थितशाकं मध्यावस्थितौदनं। परिखा—व्यंजनमध्यावस्थितान्नं। पुप्फोवहिदं, च व्यंजनमध्ये पुष्पबलिरिव अवस्थितसिक्थं। सुद्धगोवहिदं—शुद्धेन निष्पावादिभिर्मिश्रेणान्नेव उवहिदं संसृष्टं शाकव्यंजनादिकं। लेवडं—हस्तलेपकारि। अलेवडं—यच्च हस्ते न सज्जति। पाणगं—पानं च कीदृक् ? णिसित्थगमसित्थं सिक्थरहितं पानं तत्सहितं च।

१०. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०७।
(ख) मूलाराधना, ३।२२१।

११. ओवाइयं, सूत्र ३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२१) अदृष्टलाभिक (२६) अन्नग्लायक
(२२) पृष्टलाभिक (२७) औपनिधिक
(२३) अपृष्टलाभिक . (२८) परिमितपिण्डपातक
(२४) भिक्षालाभिक (२९) शुद्धएषणिक
(२५) अभिक्षालाभिक (३०) संख्यादत्तिक।

मूलाराधना में पाटक, निवसन, भिक्षा-परिमाण और दातृ-परिमाण भी वृत्ति-संक्षेप के प्रकार बतलाए गए हैं।[1]

## ८. रस-विवर्जन तप (रसविवज्जणं)

रस-विवर्जन या रस-परित्याग बाह्य-तप का चतुर्थ प्रकार है। मूलाराधना में वृत्ति-परिसंख्या चतुर्थ और रस-परित्याग तृतीय प्रकार है।[2] उत्तराध्ययन में रस-विवर्जन का अर्थ है—दूध, दही, घी आदि का त्याग और प्रणीत (स्निग्ध) पान-भोजन का त्याग।

औपपातिक में इसका विस्तार मिलता है। वहां इसके निम्नलिखित प्रकार उपलब्ध हैं—

(१) निर्विकृति—विकृति का त्याग।
(२) प्रणीत रस-परित्याग—स्निग्ध व गरिष्ट आहार का त्याग।
(३) आचामाम्ल—अम्ल-रस मिश्रित अन्न का आहार।
(४) आयाम-सिक्थ-भोजन—ओसामण से मिश्रित अन्न का आहार।
(५) अरस आहार—हींग आदि से असंस्कृत आहार।
(६) विरस आहार—पुराने धान्य का आहार।
(७) अन्त्य आहार—वल्ल आदि तुच्छ धान्य का आहार।
(८) प्रान्त्य आहार—ठण्डा आहार।
(९) रूक्ष आहार—रूखा आहार।[3]

इस तप का प्रयोजन है 'स्वाद-विजय'। इसीलिए रस-परित्याग करने वाला विकृति, सरस व स्वादु भोजन नहीं खाता।

विकृतियां नौ हैं—(१) दूध, (२) दही, (३) नवनीत (४) घृत, (५) तैल, (६) गुड़, (७) मधु, (८) मद्य और (९) मांस।[4] इनमें मधु, मद्य, मांस और नवनीत—ये चार महाविकृतियां हैं।[5]

जिन वस्तुओं से जीभ और मन विकृत होते हैं—स्वाद-लोलुप या विषय-लोलुप बनते हैं, उन्हें 'विकृति' कहा जाता है। पंडित आशाधरजी ने इसके चार प्रकार बतलाए हैं—

(१) गोरस विकृति—दूध, दही, घृत, मक्खन आदि।
(२) इक्षु-रस विकृति—गुड़, चीनी आदि।
(३) फल-रस विकृति—अंगूर, आम आदि फलों का रस।
(४) धान्य-रस विकृति—तैल, मांड आदि।[6]

स्वादिष्ट भोजन को भी विकृति कहा जाता है।[7] इसलिए रस-परित्याग करने वाला शाक, व्यंजन, नमक आदि का भी वर्जन करता है। मूलाराधना के अनुसार दूध, दही, घृत, तैल और गुड़—इनमें से किसी एक का अथवा इन सबका परित्याग करना 'रस-परित्याग' है तथा 'अवगाहिम विकृति' (मिठाई) पूड़े पत्र-शाक, दाल, नमक आदि का त्याग भी रस-परित्याग है।[8]

रस-परित्याग करने वाले मुनि के लिए निम्न प्रकार के भोजन का विधान है—

(१) अरस आहार—स्वाद-रहित भोजन।
(२) अन्यवेलाकृत—ठंडा भोजन।
(३) शुष्कौदन—शाक आदि से रहित कोरा भात।
(४) रूखा भोजन—घृत-रहित भोजन।
(५) आचामाम्ल—अम्ल-रस-सहित भोजन।
(६) आयामौदन—जिसमें थोड़ा जल और अधिक अन्न-भाग हो, ऐसा आहार अथवा ओसामण-सहित भात।
(७) विकटौदन—बहुत पका हुआ भात अथवा गर्म-जल मिला हुआ भात।[9]

जो रस-परित्याग करता है, उसके तीन बातें फलित होती हैं—(१) संतोष की भावना, (२) ब्रह्मचर्य की आराधना और (३) वैराग्य।[10]

## ९. श्लोक (२७)

'काय-क्लेश' बाह्य-तप का पांचवां प्रकार है। प्रस्तुत अध्ययन में काय-क्लेश का अर्थ 'वीरासन आदि कठोर आसन' किया गया है। स्थानांग में काय-क्लेश के ७ प्रकार निर्दिष्ट हैं—(१) स्थान—कायोत्सर्ग, (२) ऊकडू आसन, (३) प्रतिमा आसन, (४) वीरासन, (५) निषद्या, (६) दण्डायत आसन और (७) लगण्ड-शयनासन।[11] इनकी सूचना 'वीरासणाईया' इस वाक्यांश में है।

औपपातिक में काय-क्लेश के दस प्रकार बतलाए गए—(१) स्थान—कायोत्सर्ग, (२) ऊकडू आसन, (३) प्रतिमा आसन, (४) वीरासन, (५) निषद्या, (६) आतापना, (७) वस्त्र-त्याग, (८) उकण्डूयन—खाज न करना, (९) अनिष्ठीवन—थूकने का

---

१. मूलाराधना, ३।२१६।
२. वही, ३।२०८।
३. ओवाइयं, सूत्र ३५।
४. ठाणं, ९।२३।
५. (क) ठाणं, ४।१८५।
(ख) मूलाराधना, ३।२१३।
६. सागारधर्मामृत, ५।३५, टीका।
७. सागारधर्मामृत, ५।३५, टीका।
८. मूलाराधना, ३।२१५।
९. वही, ३।२१६।
१०. वही, ३।२१७, अमितगति :
संतोषो भावितः सम्यग्, ब्रह्मचर्यं प्रपालितम्।
दर्शितं स्वस्य वैराग्यं, कुर्वाणेन रसोज्झनम्।।
११. ठाणं, ७।४९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्याग और (१०) सर्व गात्र परिकर्म विभूषा का वर्जन—देह परिकर्म की उपेक्षा।[1]

आचार्य वसुनन्दि के अनुसार आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, उपवास, बेला आदि के द्वारा शरीर को कृश करना 'काय-क्लेश' है।[2]

यह व्याख्या उक्त व्याख्याओं से भिन्न है। वैसे तो उपवास आदि करने में काया को क्लेश होता है, किन्तु भोजन से संबंधित—अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप और रस-परित्याग—चारों बाह्य-तपों से काय-क्लेश का लक्षण भिन्न होना चाहिए। इस दृष्टि से काय-क्लेश की व्याख्या उपवास-प्रधान न होकर अनासक्ति-प्रधान होनी चाहिए। शरीर के प्रति निर्ममत्व-भाव रखना तथा उसे प्राप्त करने के लिए आसन आदि साधना, उसको संवारने से उदासीन रहना—यह काय-क्लेश का मूल-स्पर्शी अर्थ होना चाहिए।

द्वितीय अध्ययन में जो परीषह बतलाए गए हैं, उनसे यह भिन्न है। काय-क्लेश स्वयं इच्छानुसार किया जाता है और परीषह समागत कष्ट होता है।[3]

श्रुतसागर गणि के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में धूप में, शीत ऋतु में खुले स्थान में और वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे सोना, नाना प्रकार की प्रतिमाएं और आसन करना 'काय-क्लेश' है।[4]

मूलाराधना में काय-क्लेश के पांच विभाग किए गए हैं—

**(१) गमन योग**

(क) अनुसूर्य गमन—कड़ी धूप में पूर्व से पश्चिम की ओर जाना।
(ख) प्रतिसूर्य गमन—पश्चिम से पूर्व की ओर जाना।
(ग) ऊर्ध्वसूर्य गमन—मध्याह्न सूर्य में गमन करना।
(घ) तिर्यक्सूर्य गमन—सूर्य तिरछा हो तब गमन करना।
(ङ) उद्भ्रमक गमन—अवस्थित ग्राम से भिक्षा के लिए दूसरे गांव में जाना।
(च) प्रत्यागमन—दूसरे गांव जाकर पुनः अवस्थित गांव में लौट आना।[5]

**(२) स्थान योग**

श्वेताम्बर-साहित्य में 'ठाणाइय' पाठ मिलता है और कहीं-कहीं 'ठाणायत' की अपेक्षा 'ठाणाइय' अधिक अर्थ-सूचक है। बृहत्कल्प भाष्य की वृत्ति में स्थान के साथ लगे आदि शब्द को निषीदन व शयन का ग्राहक बताया गया है।[6]

औपपातिक में भी तप के प्रकरण में 'ठाणाइय' है। उसका भी स्पष्ट अर्थ लब्ध नहीं है। मूलाराधना को देखने से सहज ही यह प्राप्त होता है कि आदि शब्द स्थान के प्रकारों का संग्राहक है। उसके अनुसार स्थान या ऊर्ध्वस्थान के सात प्रकार हैं—

(क) साधारण—स्तम्भ या भित्ति का सहारा लेकर खड़े होना।
(ख) सविचार—पूर्वावस्थित स्थान से दूसरे स्थान में जाकर प्रहर, दिवस आदि तक खड़े रहना।
(ग) सनिरुद्ध—स्व-स्थान में खड़े रहना।
(घ) व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग करना।
(ङ) समपाद—पैरों को सटा कर खड़े रहना।
(च) एकपाद—एक पैर से खड़े रहना।
(छ) गृध्रोड्डीन—आकाश में उड़ते समय गीध जैसे अपने पंख फैलाता है, वैसे अपनी बाहों को फैला कर खड़े रहना।[7]

**(३) आसन योग**

(क) पर्यंक—दोनों जंघाओं के अधोभाग को दोनों पैरों पर टिका कर बैठना।
(ख) निषद्या—विशेष प्रकार से बैठना।
(ग) समपद—जंघा और कटि भाग को समान कर बैठना।
(घ) गोदोहिका—गाय को दुहते समय जिस आसन में बैठते हैं, उस आसन में बैठना।
(ङ) उत्कुटिका—ऊकडू बैठना—एड़ी और पुत्तों को ऊंचा रख कर बैठना।
(च) मकरमुख—मगर के मुंह के समान पावों की आकृति बना कर बैठना।
(छ) हस्तिशुंडि—हाथी की सूंड की भांति एक पैर को फैला कर बैठना।
(ज) गो-निषद्या—दोनों जंघाओं को सिकोड़ कर गाय की तरह बैठना।
(झ) अर्धपर्यंक—एक जंघा के अधोभाग को एक पैर पर टिका कर बैठना।
(ञ) वीरासन—दोनों जंघाओं को अन्तर से फैला कर बैठना।
(ट) दण्डायत—दण्ड की तरह पैरों को फैला कर बैठना।[8]

---

१. ओवाइयं, सूत्र ३६।
२. वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक ३५१ :
आयंबिल णिव्वियडी, एगट्ठाणं छट्ठमाइखवणेहिं।
जं कीरइ तणुतावं, कायकिलेसो मुणेयव्वो।।
३. तत्त्वार्थ, ९।१९, श्रुतसागरीय वृत्ति : यदृच्छया समागतः परीषहः, स्वयमेव कृतः काय-क्लेशः इति परीषहकायक्लेशयोर्विशेषः।
४. वही, ९।१९, श्रुतसागरीय वृत्ति।
५. मूलाराधना, ३।२२२।
६. वही, ३।२२३।
७. बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५६५३, वृत्ति : स्थानायतं नाम ऊर्ध्वस्थानरूपमायतं स्थानं तद् यस्यामस्ति सा स्थानायतिका। केचित्तु 'ठाणाइयाए' इति पठन्ति, तत्रायमर्थः सर्वेषां निषीदनादीनां स्थानानां आदिभूतमूर्ध्वस्थानम्, अतः स्थानानामादौ गच्छतीति व्युत्पत्त्या स्थानादिगं तद् उच्यते।
८. मूलाराधना, ३।२२४-२५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) शयन योग—

(क) ऊर्ध्व शयन—ऊंचा होकर सोना।

(ख) लगंड शयन—वक्र काष्ठ की भांति एड़ियों और शिर को भूमि से सटा कर शेष शरीर को ऊपर उठा कर सोना अथवा पीठ को भूमि से सटा कर शेष शरीर को ऊपर उठा कर सोना।

(ग) उत्तान शयन—सीधा लेटना।

(घ) अवमस्तक शयन—औंधा लेटना।

(ङ) एकपार्श्वशयन—दाईं या बाईं करवट लेटना।

(च) मृतक शयन—शवासन।

(५) अपरिकर्म योग—

(क) अभ्रावकाश शयन—खुले आकाश में सोना।

(ख) अनिष्ठीवन—नहीं थूकना।

(ग) अकण्डूयन—नहीं खुजलाना।

(घ) तृण-फलक-शिला-भूमि-शय्या—घास, काठ के फलक, शिला और भूमि पर सोना।

(ङ) केश लोच—बालों को हाथ से नोंचना।

(च) अभ्युत्थान—रात को जागना।

(छ) अस्नान—स्नान नहीं करना।

(ज) अदन्तधावन—दतौन नहीं करना।

(झ) शीत-उष्ण, आतापना, गर्मी और धूप सहन करना।[1]

**स्थान (आसन) तालिका**

उत्तराध्ययन, स्थानांग और औपपातिक के स्थान-शब्द का विवरण मूलाराधना के स्थान-योग में मिलता है। स्थानांग में ७, औपपातिक में ८, बृहत्कल्प में १२ और दशाश्रुतस्कन्ध में १० आसनों का उल्लेख मिलता है। मूलाराधना में इक्कीस, ज्ञानर्णव में सात, योगशास्त्र में नौ, प्रवचनसारोद्धार में दस तथा अमितगति श्रावकाचार में पांच आसनों का उल्लेख है—

**स्थानांग, (७।४९)**

कायोत्सर्ग, उत्कटुकासन, प्रतिमासन, वीरासन, निषद्या, दण्डायतासन और लगण्डशयनासन।

**औपपातिक, (३६)**

कायोत्सर्ग, उत्कटुकासन, प्रतिमासन, वीरासन, निषद्या, दण्डायत, लगण्डशयन और आतापनासन।

**बृहत्कल्प, (५१९–३०)**

समपादिका, कायोत्सर्ग, प्रतिमासन, निषद्या, उत्कटुकासन, वीरासन, दण्डासन, लगण्डशयन, अधोमुखासन, उत्तानशयन, आम्रकुब्जिका और एकपार्श्वशयन।

**दशाश्रुतस्कन्ध, (७)**

उत्तानशयन, पार्श्वशयन, निषद्या, दण्डायतासन, लगण्डशयन, उत्कटुकासन, कायोत्सर्ग, गो-दोहिकासन, वीरासन और आम्रकुब्जासन।

**मूलाराधना**

व्युत्सर्ग, समपाद, एकपाद, गृद्धोड्डीन, पर्यङ्क, निषद्या, समपद, गो-दोहिका, उत्कुटिका, मकरमुख, हस्तिशुंडि, गो-निषधा, अर्धपर्यङ्क, वीरासन, दण्डायतशयन, ऊर्ध्वशयन, लगण्डशयन, उत्तानशयन, अवमस्तकशयन, एकपार्श्वशयन और मृतकशयन—शवासन।

**ज्ञानार्णव, (२८।१०)**

पर्यङ्कासन, अर्द्धपर्यङ्कासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, पद्मासन और कायोत्सर्ग।

**योगशास्त्र (४।१२४)**

पर्यङ्कासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रसन, दण्डासन, उत्कटुकासन, गोदोहिकासन और कायोत्सर्ग।

**प्रवचनसारोद्धार, (५८३–५८५)**

उत्तानशयन, पार्श्वशयन, निषद्या, कायोत्सर्ग, उत्कटुक, लगण्डशयन, दण्डायतासन, गोदोहिकासन, वीरासन और आम्रकुब्ज।

**अमितगति श्रावकाचार (८।४५–४८)**

पद्मासन, पर्यङ्कासन, वीरासन, उत्कटुकासन और गवासन।

निषद्या के भेद निम्न प्रकार उपलब्ध हैं :

| स्थानङ्ग (५।५०) | बृहत्कल्प भाष्य (गाथा ५६५३) |
|---|---|
| उत्कटुका | समपादपुता |
| गो-दोहिका | गो-निषधिका |
| समपादपुता | हस्तिशुण्डिका |
| पर्यङ्का | पर्यङ्का |
| अर्धपर्यङ्का | अर्धपर्यङ्का |

औपपातिक (सूत्र ३६, वृत्ति पृ० ७५, ७६) में आतापनासन के भेदोपभेद इस प्रकार मिलते हैं :

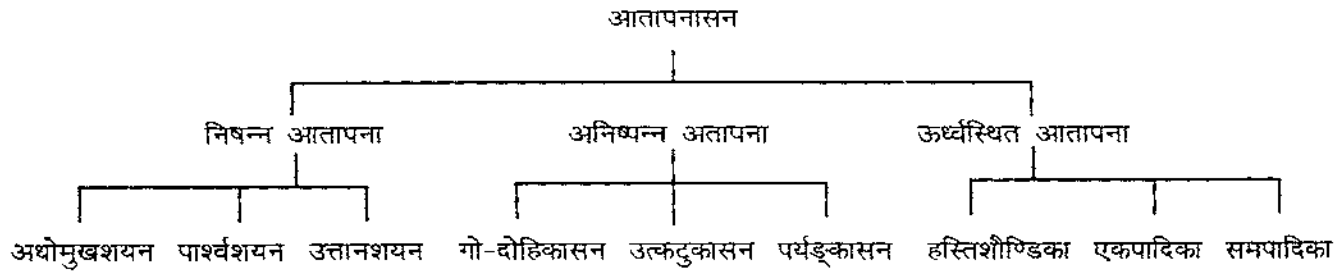


१. मूलाराधना, ३।२२६।२२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## १०. (श्लोक २८)

इस श्लोक में छटे बाह्य-तप की परिभाषा की गई है। आठवे श्लोक में बाह्य-तप का छट्ठा प्रकार 'संलीनता' बतलाया गया है और इस श्लोक में उसका नाम 'विविक्त-शयनासन' है। भगवती (२५।५५८) में छट्ठा प्रकार 'प्रतिसंलीनता' है। तत्त्वार्थ सूत्र (९-१९) में विविक्त-शयनासन बाह्य-तप का पांचवां प्रकार है। मूलाराधना (३।२०८) में विविक्त-शय्या बाह्य-तप का छट्ठा प्रकार है। इस प्रकार कुछ ग्रन्थों में संलीनता या प्रतिसंलीनता और कुछ ग्रन्थों में विविक्त-शय्यासन या विविक्त-शय्या का प्रयोग मिलता है। किन्तु औपपातिक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल शब्द 'प्रतिसंलीनता' है। विविक्त-शयनासन उसी का एक अवांतर भेद है।

प्रतिसंलीनता चार प्रकार की होती है—(१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, (२) कषाय-प्रतिसंलीनता, (३) योग-प्रतिसंलीनता और (४) विविक्त-शयनासन-सेवन।[1]

प्रस्तुत अध्ययन में संलीनता की परिभाषा केवल विविक्त-शयनासन के रूप में की गई, यह आश्चर्य का विषय है। हो सकता है सूत्रकार इसी को महत्त्व देना चाहते हों।

तत्त्वार्थ सूत्र आदि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में इसी का अनुसरण है।[2] विविक्त-शयनासन का अर्थ मूलपाठ में स्पष्ट है।

मूलाराधना के अनुसार शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श के द्वारा चित्त-विक्षेप नहीं होता, स्वाध्याय और ध्यान में व्याघात नहीं होता, वह 'विविक्त-शय्या' है। जहां स्त्री-पुरुष और नपुंसक न हों, वह विविक्त-शय्या है। भले फिर उसके द्वार खुले हों या बन्द, उसका प्रांगण सम हो या विषम, वह गांव के बाह्य-भाग में हो या मध्य भाग में शीत हो या ऊष्ण।

विविक्त-शय्या के कुछ प्रकार ये हैं—शून्य-गृह, गिरि-गुफा, वृक्ष-मूल, आगन्तुक-आगार (विश्राम-गृह), देव-कुल, अकृत्रिम-शिला-गृह और कूट-गृह।

विविक्त-शय्या में रहने से इतने दोषों से सहज ही बचाव हो जाता है—(१) कलह, (२) बोल (शब्द बहुलता), (३) झंझा (संक्लेश), (४) व्यामोह, (५) सांकर्य (असंयिमों के साथ मिश्रण),(६) ममत्व और (७) ध्यान और स्वाध्याय का व्याघात।[3]

## ११. (श्लोक ३१)

प्रायश्चित्त आभ्यन्तर-तप का पहला प्रकार है। उसके दस भेद हैं—

(१) आलोचना-योग्य—गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना।

(२) प्रतिक्रमण-योग्य—किए हुए पापों से निवृत्त होने के लिए 'मिथ्या में दुष्कृतम्' 'मेरे सब पाप निष्फल हों'—ऐसा कहना, कायोत्सर्ग आदि करना तथा भविष्य में पाप-कार्यों से दूर रहने के लिए सावधान रहना।

(३) तदुभय-योग्य—पाप से निवृत्त होने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण—दोनों करना।

(४) विवेक-योग्य—आए हुए अशुद्ध-आहार आदि का उत्सर्ग करना।

(५) व्युत्सर्ग-योग्य—चौवीस तीर्थङ्करों की स्तुति के साथ कायोत्सर्ग करना।

(६) तप-योग्य—उपवास, बेला आदि करना।

(७) छेद-योग्य—पाप-निवृत्ति के लिए संयम-काल को छेद कर कम कर देना।

(८) मूल-योग्य—पुनः व्रतों में आरोपित करना—नई दीक्षा देना।

(९) अनवस्थापना-योग्य—तपस्या पूर्वक नई दीक्षा देना।

(१०) पारांचिक-योग्य—भर्त्सना एवं अवहेलना पूर्वक नई दीक्षा देना।[4]

## १२. (श्लोक ३२)

विनय आभ्यन्तर-तप का दूसरा प्रकार है। प्रस्तुत श्लोक में उसके प्रकारों का निर्देश नहीं है। स्थानांग (७।१३०), भगवती (२५।५८२) और औपपातिक (सूत्र ४०) में विनय के सात भेद बतलाए गए हैं—

(१) ज्ञान-विनय—ज्ञान के प्रति भक्ति, बहुमान आदि करना।

(२) दर्शन-विनय—गुरु की शुश्रूषा करना, आशातना न करना।

(३) चरित्र-विनय—चारित्र का यथार्थ प्ररूपण और अनुष्ठान करना।

(४) मनो-विनय—अकुशल-मन का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति।

(५) वचन-विनय—अकुशल-वचन का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति।

(६) काय-विनय—अकुशल-काय का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति।

---

१. ओवाइयं, सूत्र ३७ : से किं तं पडिसंलीणया ? पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—इंदियपडिसंलीणया कसायपडिसंलीणया जोगपडिसंलीणया विवित्तसयणासणसेवणया।

२. तत्त्वार्थ, सूत्र ९।१९ : अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।

३. मूलाराधना, ३।२२८-२९, ३१, ३२।

४. (क) ठाणं, १०।७३।
(ख) भगवई, २५।५५६।
(ग) ओवाइयं, ३९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(७) लोकोपचार-विनय—लोक-व्यवहार के अनुसार विनय करना।

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२३) में विनय के प्रकार चार ही बतलाए गए हैं—(१) ज्ञान-विनय, (२) दर्शन-विनय, (३) चारित्र-विनय और (४) उपचार-विनय।

**१३. (श्लोक ३३)**

वैयावृत्त्य आभ्यन्तर-तप का तीसरा प्रकार है। स्थानांग (१०।१७) के आधार पर उसके दस प्रकार हैं—(१) आचार्य का वैयावृत्त्य, (२) उपाध्याय का वैयावृत्त्य, (३) स्थविर का वैयावृत्त्य, (४) तपस्वी का वैयावृत्त्य, (५) ग्लान का वैयावृत्त्य, (६) शैक्ष (नव-दीक्षित) का वैयावृत्त्य, (७) कुल का वैयावृत्त्य, (८) गण का वैयावृत्त्य, (९) संघ का वैयावृत्त्य और (१०) साधर्मिक का वैयावृत्त्य।[1]

भगवती (२५।५६८) और औपपातिक (सूत्र ४१) के वर्गीकरण का क्रम उपर्युक्त क्रम से कुछ भिन्न है। वह इस प्रकार है : (१) आचार्य का वैयावृत्त्य, (२) उपाध्याय का वैयावृत्त्य, (३) शैक्ष का वैयावृत्त्य, (४) ग्लान का वैयावृत्त्य, (५) तपस्वी का वैयावृत्त्य, (६) स्थविर का वैयावृत्त्य, (७) साधर्मिक का वैयावृत्त्य, (८) कुल का वैयावृत्त्य, (९) गण का वैयावृत्त्य, (१०) संघ का वैयावृत्त्य।

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२४) में ये कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं—(१) आचार्य का वैयावृत्त्य, (२) उपाध्याय का वैयावृत्त्य, (३) तपस्वी का वैयावृत्त्य, (४) शैक्ष का वैयावृत्त्य, (५) ग्लान का वैयावृत्त्य, (६) गण का वैयावृत्त्य (गण—श्रुत-स्थविरों की परम्परा का संस्थान)[2], (७) कुल का वैयावृत्त्य (एक आचार्य का साधु-समुदाय 'गच्छ' कहलाता है। एक जातीय अनेक गच्छों को 'कुल' कहा जाता है।)[3], (८) संघ का वैयावृत्त्य (संघ अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका)[4], (९) साधु का वैयावृत्त्य और (१०) समनोज्ञ का वैयावृत्त्य। (समान सामाचारी वाले तथा एक मण्डली में भोजन करने वाले साधु 'समनोज्ञ' कहलाते हैं)।[5]

इस वर्गीकरण में स्थविर और साधर्मिक—ये दो प्रकार नहीं हैं। उनके स्थान पर साधु और समनोज्ञ—ये दो प्रकार हैं। गण और कुल की भांति संघ का अर्थ भी साधु-परक ही होना चाहिए। ये दसों प्रकार केवल साधु-समूह के विविध पदों या रूपों से सम्बद्ध हैं।

**१४. (श्लोक ३४)**

स्वाध्याय आभ्यन्तर-तप का चौथा प्रकार है। उसके पांच भेद हैं—(१) वाचना, (२) प्रच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा। देखें—२९।१८ का टिप्पण।

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२५) में इनका क्रम और एक नाम भी भिन्न है—(१) वाचना, (२) प्रच्छना, (३) अनुप्रेक्षा, (४) आम्नाय और (५) धर्मोपदेश।

इनमें परिवर्तना के स्थान में 'आम्नाय' है। आम्नाय का अर्थ है 'शुद्ध उच्चारण पूर्वक बार-बार पाठ करना'।[6]

परिवर्तना या आम्नाय को अनुप्रेक्षा से पहले रखना अधिक उचित लगता है। स्वाध्याय के प्रकारों में एक क्रम है—आचार्य शिष्यों को पढ़ाते हैं, यह वाचना है। पढ़ते समय या पढ़ने के बाद शिष्य के मन में जो जिज्ञासाएं उत्पन्न होती हैं, उन्हें वह आचार्य के सामने प्रस्तुत करता है, यह प्रच्छना है। आचार्य से प्राप्त श्रुत को याद रखने के लिए वह बार-बार उसका पाठ करता है, यह परिवर्तना है। परिचित श्रुत का मर्म समझने के लिए वह उसका पर्यालोचन करता है, यह अनुप्रेक्षा है। पठित, परिचित और पर्यालोचित श्रुत का उपदेश करता है, यह धर्मकथा है। इस क्रम में परिवर्तना का स्थान अनुप्रेक्षा से पहले प्राप्त होता है।

सिद्धसेन गणि के अनुसार अनुप्रेक्षा का अर्थ है 'ग्रन्थ और अर्थ का मानसिक अभ्यास करना।' इसमें वर्णों का उच्चारण नहीं होता और आम्नाय में वर्णों का उच्चारण होता है, यही इन दोनों में अन्तर है।[7] अनुप्रेक्षा के उक्त अर्थ के अनुसार उसे आम्नाय से पूर्व रखना भी अनुचित नहीं है।

आम्नाय, घोषविशुद्ध, परिवर्तन, गुणन और रूपादान—ये आम्नाय या परिवर्तना के पर्यायवाची शब्द हैं।[8]

अर्थोपदेश, व्याख्यान, अनुयोग-वर्णन, धर्मोपदेश—ये धर्मोपदेश या धर्मकथा के पर्यायवाची शब्द हैं।[9]

---

१. औपपातिक, सूत्र ४१ की वृत्ति में निम्न परिभाषाएं हैं :
कुल—गच्छों का समुदाय (कुलं गच्छसमुदायः)।
गण—कुलों का समुदाय (गणं कुलानां समुदायः)।
संघ—गणों का समुदाय (संघो गणसमुदायः)।
साधर्मिक—समान धर्मा—समान धर्म वाले साधु-साध्वी (साधर्मिकः साधुः साध्वी वा)।

२. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, ९।२४, भाष्यानुसारीटीका :
गणः—स्थविरसन्ततिसंस्थितिः। स्थविरग्रहणेन श्रुतस्थविरपरिग्रहः, न वयसा पर्यायेण वा, तेषां सन्ततिः—परंपरा तस्याः संस्थानं—वर्तनं अद्यापि भवनं संस्थितिः।

३. वही, ९।२४ : कुलमाचार्यसन्ततिसंस्थितिः एकाचार्यप्रणेय- साधुसमूहो गच्छः। बहूनां गच्छानां एकजातीयानां समूहः कुलम्।

४. वही, ९।२४ : सङ्घःश्चतुर्विधः—साधु-साध्वी-श्रावक- श्राविकाः

५. वही, ९।२४ : द्वादशविधसम्भोगभाजः समनोज्ञादर्शन- चारित्राणि मनोज्ञानि सह मनोज्ञैः समनोज्ञाः।

६. वही, ९।२५, श्रुतसागरीय वृत्ति : अष्टस्थानोच्चारविशेषेण यच्छुद्धं घोषणं पुनः पुनः परिवर्तनं स आम्नायः कथ्यते।

७. वही, ९।२५, भाष्यानुसारी टीका : सन्देहे सति ग्रन्थार्थयोर्मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। न तु वर्णोच्चारणमनुश्रावणीयम्। आम्नायोऽपि परिवर्तनं उदात्तादिपरिशुद्धमनुश्रावणीयमभ्यासविशेषः।

८. तत्त्वार्थ सूत्र, ९।२५, भाष्य : आम्नायो घोषविशुद्धं परिवर्तनं गुणनं, रूपादानमित्यर्थः।

९. वही, ९।२५ : अर्थोपदेशो व्याख्यानं अनुयोगवर्णनं धर्मोपदेश इत्यनर्थान्तरम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## १५. (श्लोक ३५)

ध्यान आभ्यन्तर-तप का पांचवां प्रकार है। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार व्युत्सर्ग पांचवा और ध्यान छठा प्रकार है।[1] ध्यान से पूर्व व्युत्सर्ग किया जाता है, इस दृष्टि से यह क्रम उचित है और व्युत्सर्ग ध्यान के बिना भी किया जाता है।[2] उसका स्वतंत्र महत्त्व भी है, इसलिए उसे ध्यान के बाद भी रखा जाता है।

### ध्यान की परिभाषा

चेतना की दो अवस्थाएं होती हैं—चल और स्थिर। चल चेतना को 'चित्त' कहा जाता है। उसके तीन प्रकार हैं—

(१) भावना—भाव्य विषय पर चित्त को बार-बार लगाना।

(२) अनुप्रेक्षा—ध्यान से विरत होने पर भी उससे प्रभावित मानसिक चेष्टा।

(३) चिन्ता—सामान्य मानसिक चिन्ता।

स्थिर चेतना को 'ध्यान' कहा जाता है।[3] जैसे अपरिस्पंदमान अग्नि-ज्वाला 'शिखा' कहलाती है, वैसे ही अपरिस्पन्दमान ज्ञान 'ध्यान' कहलाता है।[4]

एकाग्र-चिन्तन को भी ध्यान कहा जाता है। चित्त अनेक वस्तुओं या विषयों में प्रवृत्त होता रहता है, उसे अन्य वस्तुओं या विषयों से निवृत्त कर एक वस्तु या विषय में प्रवृत्त करना भी ध्यान है।[5]

मन, वचन और काया की स्थिरता को भी ध्यान कहा जाता है। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर ध्यान के तीन प्रकार होते हैं—

(१) मानसिक-ध्यान—मन की निश्चलता—मनो-गुप्ति।

(२) वाचिक-ध्यान—मौन—वचन-गुप्ति

(३) कायिक-ध्यान—काया की स्थिरता—काय-गुप्ति।[6]

छद्मस्थ व्यक्ति के एकाग्र-चिन्तनात्मक-ध्यान होता है और प्रवृत्ति-निरोधात्मक-ध्यान केवली के होता है। छद्मस्थ के प्रवृत्ति-निरोधात्मक-ध्यान केवली जितना विशिष्ट भले ही न हो, किन्तु अंशतः होती ही है।

### ध्यान के प्रकार

एकाग्र-चिन्तन को 'ध्यान' कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर उसके चार प्रकार हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म्य और (४) शुक्ल।

### (१) आर्त्तध्यान

(क) कोई पुरुष अमनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उस (अमनोज्ञ विषय) के वियोग का चिन्तन करता है—यह पहला प्रकार है।

(ख) कोई पुरुष मनोज्ञ संयोग से संयुक्त है, वह उस (मनोज्ञ विषय) के वियोग न होने का चिन्तन करता है—यह दूसरा प्रकार है।

(ग) कोई पुरुष आतंक (सद्योघाती रोग) के संयोग से संयुक्त होने पर उस (आतंक) के वियोग का चिन्तन करता है—यह तीसरा प्रकार है।

(घ) कोई पुरुष प्रीतिकर काम-भोग के संयोग से संयुक्त है, वह उस (काम-भोग) के वियोग न होने का चिन्तन करता है—यह चौथा प्रकार है।

आर्त्तध्यान के चार लक्षण हैं—आक्रन्द करना, शोक करना, आंसू बहाना, विलाप करना।

### (२) रौद्रध्यान

चेतना की क्रूरतामय एकाग्र-परिणति को 'रौद्रध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं—

(क) हिंसानुबन्धी—जिसमें हिंसा का अनुबन्ध—हिंसा में सतत प्रवर्तन हो।

(ख) मृषानुबन्धी—जिसमें मृषा का अनुबन्ध—मृषा में सतत प्रवर्तन हो।

(ग) स्तेतानुबन्धी—जिसमें चोरी का अनुबन्ध—चोरी में सतत प्रवर्तन हो।

(घ) संरक्षणानुबन्धी—जिसमें विषय के साधनों के संरक्षण का अनुबन्ध—विषय के साधनों के संरक्षण में सतत प्रवर्तन हो।

रौद्रध्यान के चार लक्षण हैं—

(क) अनुपरत दोष—प्रायः हिंसा आदि से उपरत न होना।

(ख) बहु दोष—हिंसा आदि की विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहना।

(ग) अज्ञान दोष—अज्ञानवश हिंसा आदि में प्रवृत्त होना।

(घ) आमरणान्त दोष—मरणान्त तक हिंसा आदि करने

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र, ६।२०।

२. वही, सूत्र, ६।२२।

३. ध्यानशतक, श्लोक २ :
जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं हुज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता।।

४. तत्त्वार्थ सूत्र, ६।२७, श्रुतसागरीयवृत्ति : अपरिस्पन्दमानं ज्ञानमेव ध्यानमुच्यते। किं तत्? अपरिस्पन्दमानाग्निज्वालावत्। यथा अपरिस्पन्दमानाग्निज्वाला शिखा इत्युच्यते तथा अपरिस्पन्देनावभासमानं ज्ञानमेव ध्यानमिति तात्पर्यार्थः।

५. ध्यानशतक, श्लोक ३ :
अंतोमुहुत्तमित्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु।।

६. लोकप्रकाश, ३०।४२१-४२२ :
यथा मानसिकं ध्यानमेकाग्र्यं निश्चलं मनः।
यथा च कायिकं ध्यानं, स्थिरः कायो निरेजनः।।
तथा यतनया भाषां भाषमाणस्य शोभनाम्।
दृष्टां वर्जयतो ध्यानं वाचिकं कथितं जिनैः।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अनुताप न होना।

ये दोनों ध्यान पापाश्रव के हेतु हैं, इसलिए इन्हें 'अप्रशस्त-ध्यान' कहा जाता है। इन दोनों को एकाग्रता की दृष्टि से ध्यान की कोटि में रखा गया है, किन्तु साधना की दृष्टि से आर्त्त और रौद्र परिणतिमय एकाग्रता विघ्न ही है।

मोक्ष के हेतुभूत ध्यान दो ही हैं—(१) धर्म्य और (२) शुक्ल।[1] इनसे आश्रव का निरोध होता है, इसलिए इन्हें 'प्रशस्त-ध्यान' कहा जाता है।

**(३) धर्म्यध्यान**

वस्तु-धर्म या सत्य की गवेषणा में परिणत चेतना की एकाग्रता को 'धर्म्य-ध्यान' कहा जाता है। इसके चार प्रकार हैं—

(क) आज्ञा-विचय—प्रवचन के निर्णय में संलग्न चित्त।
(ख) अपाय-विचय—दोषों के निर्णय में संलग्न चित्त।
(ग) विपाक-विचय—कर्म-फलों के निर्णय में संलग्न चित्त।
(घ) संस्थान-विचय—विविध पदार्थों के आकृति-निर्णय में संलग्न चित्त।

धर्म्यध्यान के चार लक्षण हैं—
(क) आज्ञा-रुचि—प्रवचन में श्रद्धा होना।
(ख) निसर्ग-रुचि—सहज ही सत्य में श्रद्धा होना।
(ग) सूत्र-रुचि—सूत्र-पठन के द्वारा श्रद्धा उत्पन्न होना।
(घ) अवगाढ़-रुचि—विस्तार से सत्य की उपलब्धि होना।

धर्म्यध्यान के चार आलम्बन हैं—
(क) वाचना—पढ़ाना।
(ख) प्रतिप्रच्छना—शंका-निवारण के लिए प्रश्न करना।
(ग) परिवर्तना—पुनरावर्तन करना।
(घ) अनुप्रेक्षा—अर्थ का चिन्तन करना।

धर्म्यध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं—
(क) एकत्व-अनुप्रेक्षा—अकेलेपन का चिन्तन करना।
(ख) अनित्य-अनुप्रेक्षा—पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना।
(ग) अशरण-अनुप्रेक्षा—अशरण-दशा का चिन्तन करना।
(घ) संसार-अनुप्रेक्षा—संसार-परिभ्रमण का चिन्तन करना।

**(४) शुक्लध्यान**

चेतना की सहज (उपाधि-रहित) परिणति को 'शुक्लध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं—
(क) पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी,
(ख) एकत्व-वितर्क-अविचारी,
(ग) सूक्ष्म-क्रिय-अनिवृत्ति,
(घ) समुच्छिन्न-क्रिय-अप्रतिपाति।

ध्यान के विषय द्रव्य और उसके पर्याय हैं। ध्यान दो प्रकार का होता है—सालम्बन और निरालम्बन। ध्यान में सामग्री का परिवर्तन भी होता है और नहीं भी होता है—भेद-दृष्टि से और अभेद-दृष्टि से।

जब एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक दृष्टियों—नयों से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में एवं मन, वचन और काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, शुक्लध्यान की उस स्थिति को 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी' कहा जाता है।

जब एक द्रव्य या किसी एक पर्याय का अभेद-दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहां शब्द, अर्थ एवं मन, वचन और काया में से एक दूसरे से संक्रमण किया जाता है, शुक्लध्यान की उस स्थिति को 'एकत्व-वितर्क-अविचारी' कहा जाता है।

जब मन और वाणी के योग का पूर्ण निरोध हो जाता है और काया के योग का पूर्ण निरोध नहीं होता—श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म-क्रिया शेष रहती है, उस अवस्था को 'सूक्ष्म-क्रिय' कहा जाता है। इसका निवर्तन (ह्रास) नहीं होता, इसलिए यह अनिवृत्ति है।

जब सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है, उस अवस्था को 'समुच्छिन्न-क्रिय' कहा जाता है। इसका पतन नहीं होता, इसलिए यह अप्रतिपात है।

**शुक्लध्यान के चार लक्षण—**
(क) अव्यथ—क्षोभ का अभाव।
(ख) असम्मोह—सूक्ष्म-पदार्थ-विषयक मूढ़ता का अभाव।
(ग) विवेक—शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान।
(घ) व्युत्सर्ग—शरीर और उपधि में अनासक्त-भाव।

**शुक्लध्यान के चार आलंबन—**
(१) क्षान्ति—क्षमा, (२) मुक्ति—निर्लोभता, (३) मार्दव—मृदुता और (४) आर्जव—सरलता।

**शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं—**
(क) अनन्तवृत्तिता-अनुप्रेक्षा—संसार-परम्परा का चिन्तन करना।
(ख) विपरिणाम-अनुप्रेक्षा—वस्तुओं के विविध परिणामों का चिन्तन करना।
(ग) अशुभ-अनुप्रेक्षा—पदार्थों की अशुभता का चिन्तन करना।
(घ) अपाय-अनुप्रेक्षा—दोषों का चिन्तन करना।

**१६. विनुस्सग्गो (श्लोक ३६)**

व्युत्सर्ग आभ्यन्तर-तप का छठा प्रकार है। भगवती (२५।६१३) और औपपातिक (सू० ४४) के अनुसार व्युत्सर्ग

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र, ९।२९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो प्रकार का होता है—द्रव्य-व्युत्सर्ग और भाव-व्युत्सर्ग।

**द्रव्य-व्युत्सर्ग के चार प्रकार**—

(क) शरीर-व्युत्सर्ग—शारीरिक चंचलता का विसर्जन।

(ख) गण-व्युत्सर्ग—विशिष्ट साधना के लिए गण का विसर्जन।

(ग) उपधि-व्युत्सर्ग—वस्त्र आदि उपकरणों का विसर्जन।

(घ) भक्त-पान-व्युत्सर्ग—भोजन और जल का विसर्जन।

**भाव-व्युत्सर्ग के तीन प्रकार**—

(क) कषाय-व्युत्सर्ग—क्रोध आदि का विसर्जन।

(ख) संसार-व्युत्सर्ग—परिभ्रमण का विसर्जन।

(ग) कर्म-व्युत्सर्ग—कर्म-पुद्गलों का विसर्जन।

प्रस्तुत श्लोक में केवल काय-व्युत्सर्ग की परिभाषा दी गई है। इसका दूसरा नाम 'कायोत्सर्ग' है। कायोत्सर्ग का अर्थ है 'काया का उत्सर्ग—त्याग'।

प्रश्न होता है कि आयु पूर्ण होने से पहले काया का उत्सर्ग कैसे हो सकता है? यह सही है, जब तक आयु शेष रहती है, तब तक काया का उत्सर्ग—त्याग नहीं किया जा सकता। किन्तु यह काया अशुचि है, अनित्य है, दोषपूर्ण है, असार है, दुःख-हेतु है, इसमें ममत्व रखना दुःख का मूल है—इस बोध से भेद-ज्ञान प्राप्त होता है। जिसे भेद-ज्ञान प्राप्त होता है, वह सोचता है कि यह शरीर मेरा नहीं है, मैं इसका नहीं हूं। मैं भिन्न हूं, शरीर भिन्न है। इस प्रकार का संकल्प करने से शरीर के प्रति आदर घट जाता है। इस स्थिति का नाम है 'कायोत्सर्ग'। एक घर में रहने पर भी पति द्वारा अनादृत पत्नी 'परित्यक्ता' कहलाती है। जिस वस्तु के प्रति जिस व्यक्ति के हृदय में अनादर-भाव होता है, वह उसके लिए परित्यक्त होती है। जब काया में ममत्व नहीं रहता, आदर-भाव नहीं रहता तब काया परित्यक्त हो जाती है।

**कायोत्सर्ग—विधि**

जो कायोत्सर्ग करना चाहे, वह काया से निस्पृह होकर खम्भे की भांति सीधा खड़ा हो जाए। दोनों बाहों को घुटनों की ओर फैला दे, प्रशस्त ध्यान में निमग्न हो जाए। काया को न अकड़ा कर खड़ा हो और न झुका कर भी। परीषह और उपसर्गों को सहन करे। जीव-जन्तु-रहित एकांत स्थान में खड़ा रहे और कायोत्सर्ग मुक्ति के लिए करे।[1]

कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य है आत्मा का काया से वियोजन। काया के साथ आत्मा का जो संयोग है, उसका मूल है प्रवृत्ति। जो इनका विसंयोग चाहता है अर्थात् आत्मा के सान्निध्य में रहना चाहता है, वह स्थान, मौन और ध्यान के द्वारा "स्व" का व्युत्सर्ग करता है।

स्थान—काया की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण—काय-गुप्ति।

मौन—वाणी की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण—वाक्-गुप्ति।

ध्यान—मन की प्रवृत्ति का एकाग्रीकरण—मनो-गुप्ति।

कायोत्सर्ग में श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म प्रवृत्ति होती है, शेष प्रवृत्ति का निरोध किया जाता है।[2]

**कायोत्सर्ग के प्रकार**

कायोत्सर्ग चार प्रकार का होता है—

(१) उत्थित-उत्थित—जो खड़ा-खड़ा कायोत्सर्ग करता है और धर्म्य या शुक्ल ध्यान में लीन होता है, वह काया से भी उन्नत होता है और ध्यान से भी उन्नत होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उत्थित-उत्थित' कहा जाता है।

(२) उत्थित-उपविष्ट—जो खड़ा-खड़ा कायोत्सर्ग करता है, किन्तु आर्त्त और रौद्र ध्यान से अवनत होता है, वह काया से खड़ा हुआ होता है और ध्यान से बैठा हुआ होता है, इसलिए उसके ध्यान को 'उत्थित-उपविष्ट' कहा जाता है।

(३) उपविष्ट-उत्थित—जो बैठकर कायोत्सर्ग करता है और धर्म्य या शुक्ल ध्यान में लीन होता है, वह काया से बैठा हुआ होता है और ध्यान से खड़ा होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उपविष्ट-उत्थित' कहा जाता है।

(४) उपविष्ट-उपविष्ट—जो बैठकर कायोत्सर्ग करता है और आर्त्त या रौद्र ध्यान में लीन होता है, वह काया और ध्यान—दोनों से बैठा हुआ होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उपविष्ट-उपविष्ट' कहा जाता है।[3]

इसमें प्रथम और तृतीय अंगीकरणीय हैं और शेष दो त्याज्य हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार कायोत्सर्ग खड़े, बैठे और

---

१. मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८ : कायः, शरीरं तस्य उत्सर्गस्त्यागः...। तत्र शरीरनिःस्पृहः, स्थाणुरिवोर्द्ध्वकायः प्रलंबितभुजः, प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुन्नमितानतकायः, परीषहानुपसर्गांश्च सहमानः तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देशे।

२. योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५० : कायस्स शरीरस्य स्थानमौनध्यानक्रिया-व्यतिरेकेण अन्यत्र उच्छ्वसितादिभ्यः क्रियांतराध्यासमधिकृत्य य उत्सर्गस्त्यागो 'नमो अरहंताणं' इति वचनात् प्राक् स कायोत्सर्गः।

३. (क) अमितगति-श्रावकाचार, ८।५७-६१ :
त्यागो देहममत्वस्य, तनूत्सृतिरुदाहृता।
उपविष्टोपविष्टादि-विभेदेन चतुर्विधा।।
आर्त्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते।
उपविष्टोपविष्टाख्या, कथ्यते सा तनूत्सृतिः।।
धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते।
उपविष्टोत्थितां संतस्तां वदंति तनुत्सृतिम्।।
आर्त्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
तामुत्थितोपविष्टाहां निगदंति महाधियः।।
धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
उत्थितोत्थितनामानं, तं भाषंते विपश्चितः।।

(ख) आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४५६-१४६० :
उसिउस्सिओ अ तह, उस्सिओ अ उस्सियनिसन्नओ चेव।
निसनुस्सिओ निसन्नो, निस्सन्नगनिसन्नओ चेव।
निवणुस्सिओ निवन्नो, निवन्ननिवन्नगो अनायव्वो।।

(ग) मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, प० २७८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोते—इन तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है।[1] इस भाषा में 'कायोत्सर्ग' और 'स्थान' दोनों एक बन जाते हैं। प्रयोजन की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो प्रकार हैं—

(१) चेष्टा-कायोत्सर्ग—अतिचार शुद्धि के लिए जो किया जाता है।

(२) अभिभव-कायोत्सर्ग—विशेष विशुद्धि या प्राप्त कष्ट को सहने के लिए जो किया जाता है।[2]

चेष्टा-कायोत्सर्ग का काल उच्छ्वास पर आधृत है। विभिन्न प्रयोजनों से वह आठ, पच्चीस, सत्ताईस, तीन सौ, पांच सौ और एक हजार आठ उच्छ्वास तक किया जाता है।

अभिभव-कायोत्सर्ग का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः एक वर्ष का है। बाहुबलि ने एक वर्ष का कायोत्सर्ग किया था।

अतिचार-शुद्धि के लिए किए जाने वाले कायोत्सर्ग के अनेक विकल्प होते हैं—

(१) दैवसिक-कायोत्सर्ग।

(२) रात्रिक-कायोत्सर्ग।

(३) पाक्षिक-कायोत्सर्ग।

(४) चातुर्मासिक-कायोत्सर्ग।

(५) साम्वत्सरिक-कायोत्सर्ग।

कायोत्सर्ग आवश्यक का पांचवां अंग है। ये उक्त कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण के साथ किए जाते हैं। इन (कायोत्सर्ग) से चतुर्विंशि-स्तव का ध्यान किया जाता है। उसके सात श्लोक और अट्ठाईस चरण हैं। एक उच्छ्वास में एक चरण का ध्यान किया जाता है। कायोत्सर्ग-काल में सातवें श्लोक के प्रथम चरण 'चन्देसु निम्मलयरा' तक ध्यान किया जाता है।[3] इस प्रकार एक 'चतुर्विंशस्त्व' का ध्यान पच्चीस उच्छ्वासों में सम्पन्न होता है। प्रवचनसारोद्धार और विजयोदया के अनुसार इनके ध्येय-परिमाण और काल-मान इस प्रकार हैं—

**प्रवचनसारोद्धार[4]**

| | चतुर्विंशस्तव | श्लोक | चरण | उच्छ्वास |
|---|---|---|---|---|
| (१) दैवसिक | ४ | २५ | १०० | १०० |
| (२) रात्रिक | २ | १२½ | ५० | ५० |
| (३) पाक्षिक | १२ | ७५ | ३०० | ३०० |
| (४) चातुर्मासिक | २० | १२५ | ५०० | ५०० |
| (५) साम्वत्सरिक | ४० | २५२ | १००८ | १००८ |

**विजयोदया[5]**

| | चतुर्विंशस्तव | श्लोक | चरण | उच्छ्वास |
|---|---|---|---|---|
| (१) दैवसिक | ४ | २५ | १०० | १०० |
| (२) रात्रिक | २ | १२½ | ५० | ५० |
| (३) पाक्षिक | १२ | ७५ | ३०० | ३०० |
| (४) चातुर्मासिक | १६ | १०० | ४०० | ४०० |
| (५) साम्वत्सरिक | २० | १२५ | ५०० | ५०० |

अमितगति-श्रावकाचार के अनुसार देवसिक-कायोत्सर्ग में १०८ तथा रात्रिक-कायोत्सर्ग में ५४ उच्छ्वास तक ध्यान किया जाता है और अन्य कायोत्सर्ग में २७ उच्छ्वास तक। २७ उच्छ्वासों में नमस्कार-मंत्र की नौ आवृत्तियां की जाती हैं अर्थात् तीन उच्छ्वासों में एक नमस्कार-मंत्र पर ध्यान किया जाता है—संभव है प्रथम दो-दो वाक्य एक-एक उच्छ्वास में और पांचवां वाक्य एक उच्छ्वास में। अथवा 'ऐसो पंच णमोक्कारो' सहित नौ पदों की तीन आवृत्तियां भी हो सकती हैं—प्रत्येक पद की एक-एक उच्छ्वास में आवृत्ति होने से सत्ताईस उच्छ्वास होते हैं।[6] अमितगति ने एक दिन-रात के कायोत्सर्गों की सारी संख्या अट्ठाईस मानी है।[7] वह इस प्रकार

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश ३ पत्र २५० : स च कायोत्सर्ग उच्छ्रितनिषण्णशयितभेदेन त्रेधा।

२. (क) आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४५२ :
सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठाए अभिभवे य नायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुंजणे बिइओ।।
(ख) बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५६५८ :
इह द्विधा कायोत्सर्गः—चेष्टायामभिभवे च।
(ग) योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५० :
तत्र चेष्टा कायोत्सर्गोष्ट-पंचविंशति-सप्तविंशति—त्रिशती-पंचशती अष्टोत्तरसहस्रोच्छ्वासान् यावद् भवति। अभिभवकायोत्सर्गस्तु मुहूर्त्तादारभ्य संवत्सरं यावद् बाहुबलेरिव भवति।
(घ) मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८ : अन्तर्मुहूर्त्तः कायोत्सर्गस्य जघनयः कालः, वर्षमुत्कृष्टः। अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गा बहुप्रकारा भवन्ति। रात्रिदिन-पक्ष-मासचतुष्टय-संवत्सरादिकाल-गोचरातिचारभेदापेक्षया। सायाह्नेउच्छ्वासशतकं, प्रत्यूषसि पंचाशत्, पक्षे त्रिशतानि, चतुर्षु मासेषु चतुःशतानि, पंच शतानि संवत्सरे उच्छ्वासानां। प्रत्यूषसिप्राणिवधादिषु पंचस्वतिचारेषु अष्टशतोच्छ्वासमात्रः कालः कायोत्सर्गः।

३. योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २१५ : पंचविंशत्युच्छ्वासाश्च चतुर्विंशतिस्तवेन चन्देसु निम्मलयरा इत्यन्तेन चिन्तितेन पूर्यन्ते, पायसमा ऊसासा इति वचनात्

४. प्रवचनसारोद्धार, गाथा १८३-१८५ :
चत्तारि दो दुवालस वीस चत्ता य हुंति उज्जोया।
देसिय राइय पक्खिय चउम्मासे य वरिसे य।।
पणवीस अद्धतेरस सलोग पन्नत्तरी य बोद्धव्वा।
सयमेगं पणवीसं बे बावण्णा य वरिसंमि।।
साय सयं गोसद्धं तिन्नेव सया हवंति पक्खम्मि।
पंच य चउम्मासे वरिसे अट्ठोत्तरसहस्सा।।

५. मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८।

६. अमितगति श्रावकाचार, ८।६८-६६ :
अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे।
सान्ध्ये प्राभातिके वार्द्धमन्यस्तत् सप्तविंशतिः।।
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः, संसारोन्मूलनक्षमे।
संति पंचनमस्कारे, नवधा चिन्तिते सति।।

७. वही, ८।६६-६७ :
अष्टविंशतिसंख्यानाः, कायोत्सर्गा मता जिनैः।
अहोरात्रगताः सर्वे, षडावश्यककारिणाम्।।
स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैर्वन्दनायां षडीरिताः।
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है—

| | |
|---|---|
| (१) स्वाध्याय-काल में— | १२ |
| (२) वन्दना-काल में— | ६ |
| (३) प्रतिक्रमण-काल में— | ८ |
| (४) योग-भक्ति-काल में— | २ |
| | २८ |

पांच महाव्रतों में अतिक्रमणों के लिए १०८ उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए।[1]

कायोत्सर्ग करते समय यदि उच्छ्वासों की संख्या विस्मृत हो जाए अथवा मन विचलित हो जाए तो आठ उच्छ्वास का अतिरिक्त कायोत्सर्ग करना चाहिए।[2]

कायोत्सर्ग के दोष प्रवचनसारोद्धार में १९[3], योगशास्त्र में २१[4] और विजयोदया में १६[5] बतलाए गए हैं।

१. मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८।
२. वही, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८ : कायोत्सर्गे कृते यदि शक्यत उच्छ्वासस्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमधिकं स्थातव्यम्।
३. प्रवचनसारोद्धार, गाथा २४७-२६२।
४. योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५०-२५१।
५. मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# एगतीसइमं अज्झयणं

## चरणविही

# इकतीसवां अध्ययन

## चरण-विधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में मुनि की चरण-विधि का निरूपण हुआ है, इसलिए इसका नाम 'चरणविही'—'चरणविधि' है। चरण का प्रारम्भ यतना से होता है और उसका अन्त पूर्ण निवृत्ति (अक्रिया) में होता है। निवृत्ति के इस उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए जो मध्यवर्ती साधना की जाती है, वह चरण है। मोक्ष प्राप्ति की चार साधनाओं में यह तीसरी साधना है।[1]

प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दोनों साधना के अंग हैं। मन, वचन और काया की गुप्ति का अर्थ है निवृत्ति। मन, वचन और काया के सम्यक् प्रयोग का अर्थ है प्रवृत्ति। चौबीसवें अध्ययन (श्लोक २६) में बतलाया गया है कि समितियों से चरण का प्रवर्तन होता है और गुप्तियों से अशुभ अर्थों का निवर्तन होता है—

*एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।*
*गुत्ती नियत्तणे, वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो।।*

प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष शब्द हैं। निवृत्ति का अर्थ पूर्ण निषेध नहीं है और प्रवृत्ति का अर्थ पूर्ण विधि नहीं है। प्रत्येक निवृत्ति में प्रवृत्ति और प्रत्येक प्रवृत्ति में निवृत्ति रहती है। इसके अनुसार निवृत्ति का अर्थ होता है—एक कार्य का निषेध और दूसरे कार्य की विधि तथा प्रवृत्ति का अर्थ होता है—एक कार्य की विधि और दूसरे कार्य का निषेध। इसी तथ्य को प्रस्तुत अध्ययन के दूसरे श्लोक में प्रतिपादित किया गया है—

*एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।*
*असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।।*

इससे एक यह तथ्य निष्पन्न होता है कि प्रत्येक प्रवृत्ति सम्यक् नहीं होती। किन्तु निवृत्ति में से जो प्रवृत्ति फलित होती है, वही सम्यक् होती है। उसी का नाम चरण-विधि है। इसे साधना-पद्धति भी कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर की चरण-विधि का प्रारम्भ संयम से होता है। उसका आचरण करते हुए जिन विषयों को स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए, उन्हीं का इस अध्ययन में सांकेतिक उल्लेख है। किन्तु कुछ विषय ऐसे भी हैं, जिनका संयम-पालन से सम्बन्ध नहीं किन्तु वे ज्ञेयमात्र हैं। जैसे—परमाधार्मिकों के पन्द्रह प्रकार (श्लोक १२) तथा देवताओं के चौबीस प्रकार (श्लोक १६)।

ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं का भी मुनि के चरण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। सम्भव है संख्या-पूर्ति की दृष्टि से इन्हें सम्मिलित किया गया हो।

छेद-सूत्रों के सत्रहवें और अठारहवें श्लोक में नामोल्लेख हुआ है। उनकी रचना श्रुत-केवली भद्रबाहु ने की। इससे दो सम्भावनाओं की ओर ध्यान जाता है—

१. उत्तराध्यन की रचना छेद-सूत्रों की रचना के पश्चात् हुई है।

२. उत्तराध्ययन की रचना एक साथ नहीं हुई है।

दूसरा विकल्प ही अधिक सम्भव है।

इस अध्ययन के आदि के दो श्लोकों तथा अन्त के एक श्लोक को छोड़कर शेष १८ श्लोकों में "जे भिक्खू...निच्चं, से न अच्छइ मंडले"—ये दो चरण समान हैं। इनके अध्ययन से भिक्षु के स्वरूप का सहज ज्ञान हो जाता है। साथ-साथ संसार-मुक्ति के साधनों का भी ज्ञान होता है।

इस अध्ययन में एक से तेईस तक की संख्या में अनेक विषयों का ग्रहण हुआ है। उनमें से कुछ शब्दों का विस्तार अन्य अध्ययनों से प्राप्त होता है। जैसे—कषाय का २६।६७-७० में, ध्यान का ३०।३५ में, व्रत का २१।१२ में, इन्द्रिय-अर्थ का ३२।२३,३६,४६,६२,७५ में, समिति का २४।२ में, लेश्या का ३४।३ में, छह जीवनिकाय का ३६।६६,१०७ में, आहार के छह कारण का ३६।३२-३४ में और ब्रह्मचर्य गुप्ति का १६वें अध्ययन में।

इसे पन्द्रहवें अध्ययन 'सभिक्खु' का परिशेष भी माना जा सकता है। समवायांग (३३) तथा आवश्यक (४) में भी इस अध्ययन में वर्णित विषयों का उल्लेख हुआ है।

सातवें श्लोक से २१वें श्लोक तक 'जयई'—'यतते' का प्रयोग हुआ है। इसका सामान्य अर्थ 'यत्न करता है' होता है। प्रसंगानुसार यत्न का अर्थ है—पालनीय का पालन, परिहरणीय का परिहार, ज्ञेय का ज्ञान और उपदेष्टव्य का उपदेश।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २८।२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# एगतीसइमं अज्झयणं : इकतीसवां अध्ययन
## चरणविही : चरण-विधि

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. चरणविहिं पवक्खामि<br>जीवस्स उ सुहावहं।<br>जं चरित्ता बहू जीवा<br>तिण्णा संसारसागरं।। | *चरणविधिं प्रवक्ष्यामि*<br>*जीवस्य तु सुखावहम्।*<br>*यं चरित्वा बहवो जीवाः*<br>*तीर्णाः संसारसागरम्।।* | अब मैं जीव को सुख देने वाली उस चरण-विधि का कथन करूंगा जिसका आचरण कर बहुत से जीव संसार-सागर को तर गए। |
| २. एगओ विरइं कुज्जा<br>एगओ य पवत्तणं।<br>असंजमे नियत्तिं च<br>संजमे य पवत्तणं।। | *एकतो विरतिं कुर्यात्*<br>*एकतश्च प्रवर्तनम्।*<br>*असंयमान्निवृत्तिं च*<br>*संयमे च प्रवर्तनम्।।* | भिक्षु एक स्थान से निवृत्ति करे और एक स्थान में प्रवृत्ति करे। असंयम से निवृत्ति करे और संयम से प्रवृत्ति करे। |
| ३. रागदोस य दो पावे<br>पावकम्मपवत्तणे।<br>जे भिक्खू रुंभई निच्चं<br>से न अच्छइ मंडले।। | *रागदोषौ च द्वौ पापौ*<br>*पापकर्मप्रवर्तकौ।*<br>*यो भिक्षुः रुणद्धि नित्यं*<br>*स न आस्ते मण्डले।।* | राग और द्वेष—ये दो पाप-कर्म के प्रवर्तक हैं। जो भिक्षु सदा इनका निरोध करता है, वह संसार में नहीं रहता। |
| ४. दंडाणं गारवाणं च<br>सल्लाणं च तियं तियं।<br>जे भिक्खू चयई निच्चं<br>से न अच्छइ मंडले।। | *दण्डानां गौरवाणां च*<br>*शल्यानां च त्रिकं त्रिकम्।*<br>*यो भिक्षुस्त्यजति नित्यं*<br>*स न आस्ते मण्डले।।* | जो भिक्षु तीन-तीन दण्डों[1], गौरवों[2] और शल्यों का[3] सदा त्याग करता है, वह संसर में नहीं रहता। |
| ५. दिव्वे य जे उवसग्गे<br>तहा तेरिच्छमाणुसे।<br>जे भिक्खू सहई निच्चं<br>से न अच्छइ मंडले।। | *दिव्यांश्च यानुपसर्गान्*<br>*तथा तैरश्चमानुषान्।*<br>*यो भिक्षुः सहते नित्यं*<br>*स न आस्ते मण्डले।।* | जो भिक्षु देव, तिर्यञ्च और मनुष्य सम्बन्धी उपसर्गों को सदा सहता है, वह संसार में नहीं रहता।[4] |
| ६. विगहाकसायसन्नाणं<br>झाणाणं च दुयं तहा।<br>जे भिक्खू वज्जई निच्चं<br>से न अच्छइ मंडले।। | *विकथाकषायसंज्ञानां*<br>*ध्यानयोश्च द्विकं तथा।*<br>*यो भिक्षुर्वर्जयति नित्यं*<br>*स न आस्ते मण्डले।।* | जो भिक्षु विकथाओं[5], कषायों, संज्ञाओं[6] तथा आर्त्त और रौद्र[7]—इन दो ध्यानों का सदा वर्जन करता है, वह संसार में नहीं रहता। |
| ७. वएसु इंदियत्थेसु<br>समिईसु किरियासु य।<br>जे भिक्खू जयई निच्चं<br>से न अच्छइ मंडले।। | *व्रतेष्विन्द्रियार्थेषु*<br>*समितिषु क्रियासु च।*<br>*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*<br>*स न आस्ते मण्डले।।* | जो भिक्षु व्रतों[8] और समितियों के पालन में, इन्द्रिय-विषयों और क्रियाओं के[9] परिहार में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता। |
| ८. लेसासु छसु काएसु<br>छक्के आहारकारणे।<br>जे भिक्खू जयई निच्चं<br>से न अच्छइ मंडले।। | *लेश्यासु षट्सु कायेषु*<br>*षट्के आहारकारणे।*<br>*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*<br>*स न आस्ते मण्डले।।* | जो भिक्षु छह लेश्याओं[10], छह कायों और आहार के (विधि-निषेध के) छह कारणों में[11] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. पिंडोग्गहपडिमासु
भयट्ठाणेसु सत्तसु।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*पिण्डावग्रहप्रतिमासु*
*भयस्थानेषु सप्तसु।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु, आहार-ग्रहण की सात प्रतिमाओं में[१२] और सात भय-स्थानों में[१३] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१०. मयेसु बंभगुत्तीसु
भिक्खुधम्मंमि दसविहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*मदेषु ब्रह्मगुप्तिषु*
*भिक्षुधर्मे दशविधे।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु आठ मद-स्थानों में[१४], ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में[१५] और दस प्रकार के भिक्षु-धर्म में[१६] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

११. उवासगाणं पडिमासु
भिक्खूणं पडिमासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*उपासकानां प्रतिमासु*
*भिक्षूणां प्रतिमासु च।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु उपासकों की ग्यारह प्रतिमाओं[१७] तथा भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं में[१८] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१२. किरियासु भूयगामेसु
परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*क्रियासु भूतग्रामेषु*
*परमाधार्मिकेषु च।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु तेरह क्रियाओं[१९], चौदह जीव-समुदाओं[२०] और पन्द्रह परमाधार्मिक देवों में सदा यत्न करत है, वह संसार में नहीं रहता।

१३. गाहासोलसएहिं
तहा अस्संजमम्मि य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*गाथाषोडशकेषु*
*तथा असंयमे च।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु गाथा-षोडशक (सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों)[२२] और सतरह प्रकार के असंयम में[२३] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता

१४. बंभम्मि नायज्झयणेसु
ठाणेसु यऽसमाहिए।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*ब्रह्मणि ज्ञाताध्ययनेषु*
*स्थानेषु च असमाधेः।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य[२४], उन्नीस ज्ञात-अध्ययनों[२५] और बीस असमाधि-स्थानों में[२६] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१५. एगवीसाए सबलेसु
बावीसाए परीसहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*एकविंशतौ शबलेषु*
*द्वाविंशतौ परीषहेषु।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु इक्कीस प्रकार के शबल-दोषों[२७] और बाईस परीषहों में[२८] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१६. तेवीसइ सूयगडे
रूवाहिएसु सुरेसु अ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*त्रयोविंशतौ सूत्रकृतेषु*
*रूपाधिकेषु सुरेषु च।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों[२९] और चौबीस प्रकार के देवों में[३०] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१७. पणवीसभावणाहिं
उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*पंचविंशतिभावनासु*
*उद्देशेषु दशादीनाम्।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु पचीस भावनाओं[३१] और दशाश्रुत-स्कंध, व्यवहार और बृहत्कल्प के छब्बीस उद्देशों में[३२] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. अणगारगुणेहिं च
पकप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*अनगारगुणेषु च*
*प्रकल्पे तथैव च।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु साधु के सत्ताईस गुणों[३३] और अठाईस आचार-प्रकल्पों में[३४] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१९. पावसुयपसंगेसु
मोहट्ठाणेसु चेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*पापश्रुतप्रसंगेषु*
*मोहस्थानेषु चैव च।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु उनतीस पाप-श्रुत प्रसंगों[३५] और तीस मोह के स्थानों में[३६] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

२०. सिद्धाइगुणजोगेसु
तेत्तीसासायणासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मंडले।।

*सिद्धादिगुणयोगेषु*
*त्रयस्त्रिंशदाशातनासु च।*
*यो भिक्षुर्यतते नित्यं*
*स न आस्ते मण्डले।।*

जो भिक्षु सिद्धों के इकतीस आदि-गुणों[३७], बत्तीस योग-संग्रहों[३८] तथा तेतीस आशातनाओं में[३९] सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

२१. इइ एएसु ठाणेसु
जे भिक्खू जयई सया।
खिप्पं से सव्वसंसारा
विप्पमुच्चइ पंडिओ।।

*इत्येतेषु स्थानेषु*
*यो भिक्षुर्यतते सदा।*
*क्षिप्रं स सर्वसंसाराद्*
*विप्रमुच्यते पण्डितः।।*

जो पण्डित भिक्षु इस प्रकार इन स्थानों में सदा यत्न करता है, वह शीघ्र ही समस्त संसार से मुक्त हो जाता है।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन ३१ : चरण-विधि

## १. दण्डों का (दंडाणं)

दण्ड दो प्रकार के होते हैं—(१) द्रव्य-दण्ड और (२) भाव-दण्ड।

कोई अपराध करने पर राजा या अन्य निर्धारित व्यक्तियों के द्वारा वध, बन्धन, ताड़ना आदि के द्वारा दण्डित करने को 'द्रव्य दण्ड' कहा जाता है।

जिन अध्यवसायों या प्रवृत्तियों से आत्मा दण्डित होती है, उसे 'भाव-दण्ड' कहा जाता है। वे तीन हैं—

(१) मनोदण्ड—मन का दुष्प्रणिधान।

(२) वचो-दण्ड—वचन की दुष्प्रयुक्तता।

(३) काय-दण्ड—शारीरिक दुष्प्रवृत्ति।

भगवान् महावीर मन, वाणी और काया—इन तीनों को ही दण्ड मानते थे, केवल काया को नहीं। फिर भी इस विषय को लेकर मज्झिमनिकाय में एक लम्बा प्रकरण लिखा गया है। बौद्ध-साहित्य की शैली के अनुसार उसमें बुद्ध का उत्कर्ष और महावीर का अपकर्ष दिखाने का प्रयत्न किया गया है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् नालन्दा में प्रावारिक में आम्र-वन में विहार करते थे। उस समय निगंठ नात-पुत्त निगंठों (=जैन साधुओं) की बड़ी परिषद् (=जमात) के साथ नालन्दा में विहार करते थे। तब दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रन्थ (=जैन-साधु) नालन्दा में भिक्षाचार कर, पिंडपात खतम कर, भोजन के पश्चात्, जहां प्रावारिक आम्र-वन में भगवान् थे, वहां गया। जाकर भगवान् के साथ संमोदन (कुशल-प्रश्न पूछ) कर, एक ओर खड़ा हो गया। एक ओर खड़े दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रन्थ को भगवान् ने कहा—

"तपस्वी! आसन मौजूद है, यदि इच्छा हो तो बैठ जाओ।"

ऐसा कहने पर दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रन्थ एक नीचा आसन ले एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रन्थ से भगवान् बोले—

"तपस्वी! पाप-कर्म के लिए, पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र कितने कर्मों का विधान करते हैं?"

"आवुस! गौतम! 'कर्म' 'कर्म' विधान करना निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र का कायदा (=आचिण्ण) नहीं है। आवुस! गौतम! 'दण्ड' 'दण्ड' विधान करना निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र का कायदा है।"

"तपस्वी! गौतम! पाप-कर्म के हटाने के लिए ० निगंठ नात-पुत्त तीन दण्डों का विधान करते हैं—काय-दण्ड, वचन-दण्ड, मन दण्ड।"

"तपस्वी! तो क्या काय-दण्ड दूसरा है, वचन-दण्ड दूसरा ही है, मन-दण्ड दूसरा है?"

"आवुस! गौतम! (हां)? काय-दण्ड दूसरा ही है, वचन-दण्ड दूसरा ही है, मन-दण्ड दूसरा ही है।"

"तपस्वी! इस प्रकार भेद किए, इस प्रकार विभक्त, इन तीनों दण्डों में निगंठ नात-पुत्त, पाप-कर्म करने के लिए, पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए, किस दण्ड को महादोष-युक्त विधान करते हैं। काय-दण्ड को, या वचन-दण्ड को, या मन-दण्ड को?"

"आवुस! गौतम! इस प्रकार भेद किए, इस प्रकार विभक्त, इन तीनों दण्डों में निगंठ नात-पुत्त, पाप-कर्म के लिए काय-दंड को महादोष-युक्त विधान करते हैं, वैसा वचन-दंड को नहीं, वैसा मन-दंड को नहीं।"

"तपस्वी! काय-दंड कहते हो?"

"आवुस! गौतम! काय-दंड कहता हूं।"

"तपस्वी! काय-दंड कहते हो?"

"आवुस! गौतम! काय-दंड कहता हूं।"

"तपस्वी! काय-दंड कहते हो?"

"आवुस! गौतम! काय-दंड कहता हूं।"

इस प्रकार भगवान् ने दीर्घ-तपस्वी निगंठ को इस कथा-वस्तु (=बात) में तीन बार प्रतिष्ठापित किया।

ऐसा कहने पर दीर्घ-तपस्वी निगंठ ने कहा—

"तुम आवुस! गौतम! पाप-कर्म के करने के लिए० कितने दंड-विधान करते हो?"

"तपस्वी! 'दंड' 'दंड' कहना तथागत का कायदा नहीं है, 'कर्म' 'कर्म' कहना तथागत का कायदा है।"

"आवुस! गौतम! तुम० कितने कर्म विधान करते हो?"

"तपस्वी! मैं० तीन कर्म बतलाता हूं—जैसे काय-कर्म, वचन-कर्म, मन-कर्म।"

"आवुस! गौतम! काय-कर्म दूसरा ही है, वचन-कर्म दूसरा ही है, मन-कर्म दूसरा ही है।"

"तपस्वी! काय-कर्म दूसरा ही है, वचन-कर्म दूसरा ही है, मन-कर्म दूसरा ही है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"आवुस ! गौतम ! ० इस प्रकार विभक्त० इन तीन कर्मों में, पाप-कर्म करने के लिए० किसको महादोषी ठहराते हो—काय-कर्म को या वचन-कर्म को या मन-कर्म को ?"

"तपस्वी ! ० इस प्रकार विभक्त० इन तीनों कर्मों में मन-कर्म को मैं० महादोषी बतलाता हूं।"

"आवुस ! गौतम ! मन-कर्म बतलाते हो ?"

"तपस्वी ! मन-कर्म बतलाता हूं।"

"आवुस ! गौतम ! मन-कर्म बतलाते हो ?"

"तपस्वी ! मन-कर्म बतलाता हूं।"

"आवुस ! गौतम ! मन-कर्म बतलाते हो ?"

"तपस्वी ! मन-कर्म बतलाता हूं।"

"आवुस ! गौतम ! मन-कर्म बतलाते हो ?"

"तपस्वी ! मन-कर्म बतलाता हूं।"

इस प्रकार दीर्घ-तपस्वी निगंठ भगवान् को इस कथा-वस्तु (=विवाद विषय) में तीन बार प्रतिष्ठापित कर, आसन से उठ जहां निगंठ नात-पुत्त थे, वहां चला गया।[1]

## २. गौरवों का (गारवाणं)

गौरव का अर्थ है—'अभिमान से उत्तप्त चित्त की अवस्था।' वह तीन प्रकार का है—

(१) ऋद्धि-गौरव—ऐश्वर्य का अभिमान।

(२) रस-गौरव—रसों का अभिमान।

(३) सात-गौरव—सुखों का अभिमान।

## ३. शल्यों का (सल्लाणं)

जैसे कांटा चुभने पर मनुष्य सर्वाङ्ग वेदना का अनुभव करता है और उसके निकल जाने पर वह सुख की सांस लेता है, वैसे ही दोष रूपी कांटा चुभ जाता है, तब साधक की आत्मा दुःखित हो जाती है और उसके निकलने पर उसे आनन्द का अनुभव होता है।[2] शल्य का अर्थ है 'अन्तर में घुसा हुआ दोष' अथवा 'जिससे विकास बाधित होता है, उसे शल्य कहते हैं।'[3] वे तीन हैं—

(१) माया-शल्य—माया-पूर्ण आचरण।

(२) निदान-शल्य—ऐहिक या पारलौकिक उपलब्धि के लिए धर्म का विनिमय।

(३) मिथ्यादर्शन-शल्य—आत्मा का मिथ्यात्वमय दृष्टिकोण।

जो निःशल्य होता है, वही व्यक्ति व्रती या महाव्रती बन सकता है।[4]

## ४. (श्लोक ५)

इस श्लोक में तीन प्रकार के उपसर्गों (कष्टों) का कथन है :

(१) दिव्य—देवताओं द्वारा दिए जाने वाले कष्ट। देवता हास्यवश, प्रद्वेषवश या परीक्षा के निमित्त दूसरों को कष्ट देते हैं।

(२) तैरश्च—पशुओं द्वारा दिए जाने वाले कष्ट। पशु भय, प्रद्वेष या आहार के लिए तथा अपनी सन्तान या स्थान के संरक्षण के लिए दूसरों को कष्ट देते हैं।

(३) मानुष—मनुष्यों द्वारा दिए जाने वाले कष्ट। मनुष्य हास्य, प्रद्वेष, विमर्श या कुशील का सेवन करने के लिए दूसरों को कष्ट देते हैं।

## ५. विकथाओं (विगहा)

यहां कथा का अर्थ 'चर्चा' या 'आलोचना' है। वर्जनीय कथा को 'विकथा' कहा जाता है। वह चार प्रकार की है—

(१) स्त्री-कथा—स्त्री सम्बन्धी कथा करना।

(२) भक्त-कथा—भोजन सम्बन्धी कथा करना।

(३) देश-कथा—देश सम्बन्धी कथा करना।

(४) राज-कथा—राज्य सम्बन्धी कथा करना।

मूलाराधना में कथा के कुछ और अधिक प्रकार बतलाए गए हैं—(१)भक्त-कथा, (२) स्त्री-कथा, (३) राज-कथा, (४) जनपद-कथा, (५) काम-कथा, (६) अर्थ-कथा, (७) नाट्य-कथा और (८) नृत्य-कथा।[5]

## ६. संज्ञाओं (सन्नाणं)

संज्ञा का अर्थ है 'आसक्ति' या 'मूर्च्छना'। वह चार प्रकार की है—

(१) आहार-संज्ञा (३) मैथुन-संज्ञा

(२) भय-संज्ञा (४) परिग्रह-संज्ञा

विशेष विवरण के लिए देखिए—स्थानांग, ४।५७८।

## ७. आर्त्त और रौद्र—इन दो ध्यानों का (झाणाणं च दुयं)

ध्यान चार हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म्य और (४) शुक्ल।

चार की संख्या का प्रकरण है, इसलिए यहां इनका उल्लेख है। किन्तु इनमें वर्जनीय ध्यान दो ही हैं, इसलिए 'झाणाणं च दुयं' कहा गया है।[6]

---

१. मज्झिमनिकाय, २।१।६, पृ० २२२।

२. मूलाराधना, ४।५३६-५३७ :
जह कंटएण विद्धो, सव्वंगे वेदणुद्दुदो होदि।
तम्हि दु समुद्धिदेसो, णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि।।
एवमणुद्धुददोसो, माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ।
सो चेव वंददोसो, सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ।।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१२ : शल्यते—अनेकार्थत्वाद्बाध्यते जन्तुरेभिरिति शल्यानि।

४. (क) तत्त्वार्थ, सूत्र ७।१३ : निःशल्यो व्रती।

(ख) मूलाराधना, ६।१२१०:
णिस्सल्लस्सेव पुणो, महव्वदाइं हवंति सव्वाइं।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं।।

५. मूलाराधना, ४।६५१ : भत्तित्थिरायजणवद-कंदप्पत्थउणट्ठियकहाओ।
वज्जित्ता बिकहाओ, अज्झप्पविराधणकरीओ।।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१३ : 'झाणाणं च' त्ति प्राकृतत्वाद् ध्यानयोश्च द्विकमार्त्तरौद्ररूपं तथा यो भिक्षुः 'वर्जयति' परिहरति, चतुर्विधत्वाच्च ध्यानस्यात्र प्रस्तावेऽभिधानम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष विवरण के लिए देखिए—३०।३५ का टिप्पण। मिलाइए—३४।३१।

### ८. व्रतों के (वएसु)

यहां व्रत का प्रयोग 'महाव्रत' के अर्थ में हुआ है। वे पांच हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, और (५) अपरिग्रह। देखिए—२१।१२।

### ९. क्रियाओं के (किरियासु)

स्थानांग (२।२-३७) में अनेक प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख है। यहां उनमें से पांच क्रियाओं का ग्रहण किया गया है। वे इस प्रकार हैं—(१) कायिकी, (२) अधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी, (४) पारितापनिकी और (५) प्राणातिपातिकी।[1]

### १०. छह लेश्याओं...में (लेसासु)

देखिए—अध्ययन ३४।

### ११. आहार के (विधि-निषेध के) छह कारणों में (छक्के आहारकारणे)

साधु को छह कारणों से आहार करना चाहिए और छह कारणों से नहीं करना चाहिए। देखिए—२६।३२,३४।

### १२. (पिंडोग्गहपडिमासु)

विशेष प्रतिमाधर मुनि आहार और अवग्रह (स्थान) सम्बन्धी सात प्रकार के अभिग्रह धारण करते थे। जैसे—

आहार-ग्रहण सम्बन्धी अभिग्रह—सात एषणाएं। देखिए—३०।२५ का टिप्पण।

अवग्रह (स्थान) सम्बन्धी अभिग्रह। अवग्रह-प्रतिमा का अर्थ है 'स्थान के लिए प्रतिज्ञा या संकल्प'। वे सात हैं—

(१) मैं अमुक प्रकार के स्थान में रहूंगा, दूसरे में नहीं।

(२) मैं दूसरे साधुओं के लिए स्थान की याचना करूंगा। दूसरों के द्वारा याचित-स्थान में मैं रहूंगा। यह गच्छान्तरगत साधुओं के होती है।

(३) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना करूंगा, किन्तु दूसरों के द्वारा याचित-स्थान में नहीं रहूंगा। यह यथालन्दिक साधुओं के होती है।

(४) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना नहीं करूंगा, परन्तु दूसरों के द्वारा याचित-स्थान में रहूंगा। यह जिनकल्पदशा का अभ्यास करने वाले साधुओं के होती है।

(५) मैं अपने लिए स्थान की याचना करूंगा, दूसरों के लिए नहीं। यह जिनकल्पिक साधुओं के होती है।

(६) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूंगा, उसी के यहां पलाल आदि का संस्तारक प्राप्त हो तो लूंगा अन्यथा ऊकडू या नैषधिक-आसन में बैठे-बैठे रात बिताऊंगा। यह जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओं के होती है।

(७) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूंगा, उसी के यहां ही सहज बिछे हुए सिलापट्ट या काष्ठपट्ट प्राप्त हो तो लूंगा अन्यथा ऊकडू या नैषधिक-आसन में बैठे-बैठे रात बिताऊंगा। यह जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओं के होती है।[2]

### १३. (भयट्ठाणेसु सत्तसु)

भय के स्थान सात हैं—

(१) इहलोक-भय—सजातीय से भय—जैसे मनुष्य को मनुष्य से भय, देव को देव से भय।

(२) परलोक-भय—विजातीय से भय—जैसे मनुष्य को देव, तिर्यंच आदि का भय।

(३) आदान-भय—धन आदि पदार्थों के अपहरण करने वाले से होने वाला भय।

(४) अकस्मात्-भय—किसी बाह्य निमित्त के बिना ही उत्पन्न होने वाला भय, अपने ही विकल्पों से होने वाला भय।

(५) वेदना-भय[3]—पीड़ा आदि से उत्पन्न भय।

(६) मरण-भय—मृत्यु का भय।

(७) अश्लोक-भय—अकीर्ति का भय।

देखिए—ठाणं, ७।२७।

### १४. आठ मद-स्थानों में (मएसु)

आठ मद-स्थान इस प्रकार हैं—

(१) जाति-मद,
(२) कुल-मद,
(३) बल-मद,
(४) रूप-मद,
(५) तपो-मद,
(६) श्रुत-मद,
(७) लाभ-मद,
(८) ऐश्वर्य-मद।

देखिए—ठाणं, ८।२१, । समवाओ, समवाय ८।

### १५. ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में (बंभगुत्तीसु)

ब्रह्मचर्य की रक्षा के साधन को 'गुप्ति' कहते हैं। देखिए—सोलहवां अध्ययन; स्थानांग, ९।६६३; समवायांग, समवाय ९।

### १६. दस प्रकार के भिक्षु-धर्म में (भिक्खुधम्मंमि दसविहे)

देखिए—२।२६ का टिप्पण।

### १७. उपासकों की ग्यारह प्रतिमाओं (उवासगाणं पडिमासु)

उपासक—श्रावक की प्रतिमाएं ग्यारह हैं—

(१) दर्शन-श्रावक,
(२) कृत-व्रत श्रावक,
(३) कृत-सामायिक,

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१३ : क्रियासु—कायिक्याधिकरणिकीप्राद्वेषिकीपारितापनिकीप्राणातिपातरूपासु।

२. स्थानांग, ७।१०, वृत्ति, पत्र ३८६-३८७।

३. समवायांग (समवाय ७) में वेदना-भय के स्थान पर आजीव-भय का उल्लेख है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) पोषधोपवास निरत,
(५) दिन में ब्रह्मचारी और रात्रि में परिमाण करने वाला,
(६) दिन और रात में ब्रह्मचारी, स्नान न करने वाला, दिन में भोजन करने वाला और कच्छ न बांधने वाला।
(७) सचित्त-परित्यागी,
(८) आरम्भ-परित्यागी,
(९) प्रेष्य-परित्यागी,
(१०) उद्दिष्ट-भक्त-परित्यागी,
(११) श्रमण-भूत।

देखिए—समवाओ, समवाय ११।

## १८. भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं में (भिक्खूणं पडिमासु)

भिक्षु की प्रतिमाएं बारह हैं

(१) एक मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(२) दो मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(३) तीन मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(४) चार मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(५) पांच मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(६) छह मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(७) सात मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(८) तत्पश्चात् प्रथम सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा,
(९) दूसरी सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा,
(१०) तीसरी सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा,
(११) एक अहोरात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(१२) एकरात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा।

देखिए—समवाओ, समवाय १२।

## १९. तेरह क्रियाओं....में (किरियासु)

कर्म-बन्ध की हेतुभूत चेष्टा को 'क्रिया' कहा जाता है। वे तेरह हैं—

(१) अर्थ-दण्ड—शरीर, स्वजन, धर्म आदि प्रयोजन से की जाने वाली हिंसा।
(२) अनर्थ-दण्ड—बिना प्रयोजन मौज-शौक के लिए की जाने वाली हिंसा।
(३) हिंसा-दण्ड—इसने मुझे मारा था, मारता है, मारेगा—इस प्रणिधान से हिंसा करना।
(४) अकस्मात्-दण्ड—एक के वध की प्रवृत्ति करते हुए अकस्मात् दूसरे की हिंसा कर डालना।
(५) दृष्टि-विपर्यास-दण्ड—मति-भ्रम से होने वाली हिंसा अथवा मित्र आदि को अमित्र बुद्धि से मारना।
(६) मृषावाद-प्रत्यय—स्व, पर या उभय के लिए मृषावाद से होने वाली हिंसा।
(७) अदत्तादान-प्रत्यय—स्व, पर या उभय के लिए अदत्तादान से होने वाली हिंसा।
(८) आध्यात्मिक—बाह्य निमित्त के बिना, मन में स्वतः उत्पन्न होने वाली हिंसा।
(९) मान-प्रत्यय—जाति आदि के भेद से होने वाली हिंसा।
(१०) मित्र-द्वेष-प्रत्यय—माता-पिता या दास-दासी के अल्प अपराध में भी बड़ा दण्ड देना।
(११) माया-प्रत्यय—माया से होने वाली हिंसा।
(१२) लोभ-प्रत्यय—लोभ से होने वाली हिंसा।
(१३) ऐर्यापथिक—केवल योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) से होने वाला कर्म-बन्धन।

विशेष विवरण के लिए देखिए—सूयगडो, २।२; समवाओ, समवाय १३।

## २०. चौदह जीव समुदायों....में (भूयगामेसु)

प्राणियों के समूह १४ हैं। जैसे—

| | | |
|---|---|---|
| १,२ सूक्ष्म एकेन्द्रिय | —अपर्याप्त | —पर्याप्त |
| ३,४ बादर एकेन्द्रिय | —अपर्याप्त | —पर्याप्त |
| ५,६ द्वीन्द्रिय | —अपर्याप्त | —पर्याप्त |
| ७,८ त्रीन्द्रिय | —अपर्याप्त | —पर्याप्त |
| ९,१० चतुरिन्द्रिय | —अपर्याप्त | —पर्याप्त |
| ११,१२ असंज्ञीपंचेन्द्रिय | —अपर्याप्त | —पर्याप्त |
| १३,१४ संज्ञीपंचेन्द्रिय | —अपर्याप्त | —पर्याप्त |

देखिए—समवाओ, समवाय १४।

## २१. पन्द्रह परमाधार्मिक देवों....में (परमाहम्मिएसु)

सम्पूर्ण रूप में जो अधार्मिक हैं, उन्हें 'परमाधार्मिक' कहा जाता है। इसी कारण देवों की एक जाति की संज्ञा भी यही हो गई है। परमाधार्मिक देव १५ हैं।

देखिए—१६।४७ का टिप्पण।

## २२. गाथा-षोडशक (सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों)....में (गाहासोलसएहिं)

सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कंध हैं। पहले श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं। सोलहवें अध्ययन का नाम 'गाथा' है। जिसका सोलहवां अध्ययन गाथा है उसे 'गाथा-षोडशक' कहा जाता है।[1] यह प्रथम श्रुतस्कन्ध का वाचक है।

देखिए—३१।१६ का टिप्पण; समवाओ, समवाय १६।

## २३. सतरह प्रकार के असंयम में (अस्संजमम्मि)

असंयम के १७ प्रकार ये हैं—

(१) पृथ्वीकाय-असंयम
(२) अप्काय-असंयम
(३) तेजस्काय-असंयम
(४) वायुकाय-असंयम
(५) वनस्पतिकाय-असंयम

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१४ : गाथाध्ययनं षोडशं येषु तानि गाथाषोडशकानि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) द्वीन्द्रिय-असंयम
(७) त्रीन्द्रिय-असंयम
(८) चतुरिन्द्रिय-असंयम
(९) पंचेन्द्रिय-असंयम
(१०) अजीवकाय-असंयम
(११) प्रेक्षा-असंयम—अप्रतिलेखन या अविधि प्रतिलेखन से होने वाला असंयम।
(१२) उपेक्षा-असंयम—संयम की उपेक्षा और असंयम में व्यापार।
(१३) अपहृत्य-असंयम—उच्चार आदि का अविधि से परिष्ठान करने से होने वाला असंयम।
(१४) अप्रमार्जन-असंयम—पात्र आदि का अप्रमार्जन या अविधि से प्रमार्जन करने से होने वाला असंयम।
(१५) मन-असंयम—अकुशल मन की उदीरणा।
(१६) वचन-असंयम—अकुशल वचन की उदीरणा।
(१७) काय-असंयम—अकुशल काया की उदीरणा।
देखिए—समवाओ, समवाय १७।

## २४. अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य....में (बंभम्मि)

ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार ये हैं—

औदारिक (मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी) काम-भोगों का : (१) मन से सेवन न करे, (२) मन से सेवन न कराए और (३) सेवन करने वाले का मन से अनुमोदन भी न करे।

औदारिक काम-भोगों का : (४) वचन से सेवन न करे, (५) वचन से सेवन न कराए और (६) सेवन करने वाले का वचन से अनुमोदन भी न करे।

औदरिक काम-भोगों का : (७) काया से सेवन न करे, (८) काया से सेवन न कराए और (९) सेवन करने वाला का काया से अनुमोदन भी न करे।

दिव्य (देव-सम्बन्धी) काम-भोगों का : (१०) मन से सेवन न करे, (११) मन से सेवन न कराए और (१२) सेवन करने वाले का मन से अनुमोदन भी न करे।

दिव्य काम-भोगों का : (१३) वचन से सेवन न करे, (१४) वचन से सेवन न कराए और (१५) सेवन करने वाले का वचन से अनुमोदन भी न करे।

दिव्य काम-भोगों का : (१६) काया से सेवन न करे, (१७) काया से सेवन न कराए और (१८) सेवन करने वाले का काया से अनुमोदन भी न करे।

देखिए—समवाओ, समवाय १८।

## २५. उन्नीस ज्ञाता अध्ययनों....में (नायज्झयणेसु)

ज्ञाता के १९ अध्ययन ये हैं—

(१) उत्क्षिप्त-ज्ञाता,
(२) संघाट,
(३) अण्ड,
(४) कूर्म,
(५) सेलक,
(६) तुम्ब,
(७) रोहिणी,
(८) मल्ली,
(९) माकन्दी,
(१०) चन्द्रिका,
(११) दावद्रव,
(१२) उदक-ज्ञात,
(१३) मंडूक,
(१४) तेत्तली,
(१५) नन्दी-फल,
(१६) अवरकंका,
(१७) आकीर्ण,
(१८) सुंसमा,
(१९) पुण्डरीक-ज्ञात।

देखिए—समवाओ, समवाय १९।

## २६. बीस असमाधि-स्थानों में (ठाणेसु य समाहिए)

बीस असमाधि-स्थान ये हैं—

(१) धम-धम करते चलना।
(२) प्रमार्जन किए बिना चलना।
(३) अविधि से प्रमार्जन कर चलना।
(४) प्रमाण से अधिक शय्या, आसन आदि रखना।
(५) रात्निक साधुओं का पराभव—तिरस्कार करना, उनके सामने मर्यादा-रहित बोलना।
(६) स्थविरों का उपघात करना।
(७) प्राणियों का उपघात करना।
(८) प्रतिक्षण क्रोध करना।
(९) अत्यन्त क्रोध करना।
(१०) परोक्ष में अवर्णवाद बोलना।
(११) बार-बार निश्चयकारी भाषा बोलना।
(१२) अनुत्पन्न नए-नए कलहों को उत्पन्न करना।
(१३) अपशमित और क्षमित पुराने कलहों की उदीरणा करना।
(१४) सरजस्क हाथ-पैरों का व्यापार करना।
(१५) अकाल में स्वाध्याय करना।
(१६) कलह करना।
(१७) रात्रि में जोर से बोलना।
(१८) झंझा (खटपट) करना।
(१९) सूर्योदय से सूर्यास्त तक बार-बार भोजन करना।
(२०) एषणा-समिति रहित होना।

देखिए—समवाओ, समवाय २०; दशाश्रुतस्कन्ध, दशा १।

## २७. इक्कीस प्रकार के शबल दोषों...में (एगवीसाए सबले)

शबल (चारित्र को धब्बों से युक्त करने वाले) दोष इक्कीस हैं—

(१) हस्त-कर्म करना।
(२) मैथुन का प्रतिसेवन करना।
(३) रात्रि-भोजन करना।
(४) आधा-कर्म आहार करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) सागारिक (शय्यातर) पिंड खाना।
(६) औद्देशिक, क्रीत या सामने लाकर दिया जाने वाला भोजन करना।
(७) बार-बार प्रत्याख्यान कर खाना।
(८) एक महीने के अन्दर एक गच्छ से दूसरे गच्छ में जाना।
(९) एक महीने के अन्दर तीन उदक-लेप लगाना।
(१०) एक महीने में तीन बार माया का सेवन करना।
(११) राज-पिण्ड का भोजन करना।
(१२) जान-बूझ कर प्राणातिपात करना।
(१३) जान-बूझ कर मृषावाद बोलना।
(१४) जान-बूझ कर अदत्तादान लेना।
(१५) जान-बूझ कर अन्तर-रहित (सचित्त) पृथ्वी पर स्थान या निषद्या करना।
(१६) जान-बूझ कर सचित्त पृथ्वी पर तथा सचित्त शिला पर, घुण वाले काष्ठ पर, शय्या अथवा निषद्या करना।
(१७) जीव सहित, प्राण सहित, बीज सहित, हरित सहित, उत्तिंग सहित, लीलन-फूलन, कीचड़ तथा मकड़ी के जाल वाली तथा इसी प्रकार की अन्य पृथ्वी पर बैठना, सोना और स्वाध्याय करना।
त्वक् का भोजन, प्रवाल का भोजन, पुष्प का भोजन, फूल का भोजन करना।
(१८) जान-बूझ कर मूल का भोजन, कन्द का भोजन, हरित का भोजन करना।
(१९) एक-वर्ष में दस उदक-लेप लगाना।
(२०) एक वर्ष में दस बार माया-स्थान का सेवन करना।
(२१) सचित्त जल से लिप्त हाथों से बार-बार अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को लेना तथा उन्हें खाना।

देखिए—समवाओ, समवाय २१; दशाश्रुतस्कन्ध, दशा २।

## २८. बाई परीषहों (बावीसाए परीसहे)

देखिए—अध्ययन २।

## २९. सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों...में (तेवीसइ सूयगडे)

सूत्रकृतांग के दो विभाग हैं—(१) प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं और (२) दूसरे श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन हैं। तेईस अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) समय,
(२) वैतालिक,
(३) उपसर्ग-परिज्ञा,
(४) स्त्री-परिज्ञा,
(५) नरक-विभक्ति,
(६) महावीर-स्तुति,
(७) कुशील-परिभाषित,
(८) वीर्य,
(९) धर्म,
(१०) समाधि,
(११) मार्ग,
(१२) समवसरण,
(१३) यथातथ्य,
(१४) ग्रन्थ,
(१५) यमक,
(१६) गाथा,
(१७) पुंडरीक,
(१८) क्रिया-स्थान,
(१९) आहार-परिज्ञा,
(२०) अप्रत्याख्यान-परिज्ञा,
(२१) अनगार-श्रुत,
(२२) आर्द्रकुमारीय,
(२३) नालंदीय।

देखिए—समवाओ, समवाय २३।

## ३०. चौबीस प्रकार के देवों में (रूवाहिएसु सुरेसु)

यहां रूप का अर्थ 'एक' है। रूपाधिक अर्थात् पूर्वोक्त संख्या से एक अधिक। पूर्व कथन में सूत्रकृतांग सूत्र के २३ अध्ययन ग्रहण किए गए हैं। अतः यहां २४ की संख्या प्राप्त है।[1] वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या दो प्रकार से की है। प्रथम व्याख्या के अनुसार २४ प्रकार के देव ये हैं[2]—

१० प्रकार के भवनपति देव।
८ प्रकार के व्यन्तर देव।
५ प्रकार के ज्योतिष देव।
१ वैमानिक देव। (समस्त वैमानिक देवों को एक ही प्रकार में गिना है, भिन्नता की विवक्षा नहीं की है)

दूसरी व्याख्या के अनुसार यहां ऋषभदेव आदि २४ तीर्थङ्करों का ग्रहण किया गया है।[3] समवायांग में द्वितीय व्याख्या मान्य रही है—

(१) ऋषभ,
(२) अजित,
(३) शम्भव,
(४) अभिनन्दन,
(५) सुमति,
(६) पद्मप्रभु,
(७) सुपार्श्व,
(८) चन्द्रप्रभ,
(९) सुविधि,
(१०) शीतल,
(११) श्रेयांस,
(१२) वासुपूज्य,
(१३) विमल,
(१४) अनन्त,
(१५) धर्म,
(१६) शान्ति,
(१७) कुन्थु,
(१८) अर,
(१९) मल्लि,
(२०) मुनिसुव्रत,
(२१) नमि,
(२२) नेमि,
(२३) पार्श्व,
(२४) वर्द्धमान।

देखिए—समवाओ, समवाय २४।

## ३१. पच्चीस भावनाओं....में (पणवीसभावणाहिं)

भावना का अर्थ है—'वह क्रिया जिससे आत्मा को संस्कारित, वासित या भावित किया जाता है'। वे २५ हैं,

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६ : तथा रूपम्—एकस्तेनाधिकाः प्रक्रमात् सूत्रकृताध्ययनेभ्यो रूपाधिकाश्चतुर्विंशतिरित्यर्थस्तेषु।

२. वही, पत्र ६१६ :
भवणवणजोइवेमाणिया य दस अट्ठ पंच एगविहा।
इति चउवीसं देवा केई पुण बेंति अरहंता।।

३. वही, पत्र ६१६ : ऋषभादितीर्थकरेषु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग, समवायांग तथा प्रश्न व्याकरण में उनका वर्णन है। उनके क्रम तथा नामों में भेद हैं। जैसे—

| आचारचूला (२।१५) के अनुसार | समवायांग (समवाय २५) के अनुसार | प्रश्नव्याकरण (संवरद्वार) के अनुसार |
|---|---|---|
| | (1) अहिंसा महाव्रत की भावनाएं | |
| (१) ईर्या-समिति | ईर्या-समिति | ईर्या-समिति |
| (२) मन-परिज्ञा | मनो-गुप्ति | अपाप-मन (मन-समिति) |
| (३) वचन-परिज्ञा | वचन-गुप्ति | अपाप-वचन (वचन-समिति) |
| (४) आदान-निक्षेप समिति | आलोक-भाजन-भोजन | एषणा-समिति |
| (५) आलोकित-पान भोजन | आदान-भांडामत्र-निक्षेपणा-समिति | आदान-निक्षेप-समिति |
| | (2) सत्य महाव्रत की भावनाएं | |
| (६) अनुवीचि-भाषण | अनुवीचि-भाषणता—विचार पूर्वक बोलना | अनुवीचि-भाषण |
| (७) क्रोध-प्रत्याख्यान | क्रोध-विवेक—क्रोध का प्रत्याख्यान | क्रोध-प्रत्याख्यान |
| (८) लोभ-प्रत्याख्यान | लोभ-विवेक—लोभ का त्याग | लोभ-प्रत्याख्यान |
| (९) अभय (भय-प्रत्याख्यान) | भय-विवेक—भय का त्याग | अभय-(भय-प्रत्याख्यान) |
| (१०) हास्य-प्रत्याख्यान | हास्य-विवेक—हास्य का त्याग | हास्य-प्रत्याख्यान |
| | (3) अचौर्य महाव्रत की भावनाएं | |
| (११) अनुवीचि-मितावग्रह-याचन | अवग्रहानुज्ञापना | विविक्त-वास-वसति |
| (१२) अनुज्ञापित-पान-भोजन | अवग्रहसीमा परिज्ञान | अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन |
| (१३) अवग्रह का अवधारण | स्वयं ही अवग्रह की अनुग्रहणता | शय्या-समिति |
| (१४) अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन | साधर्मिकों के अवग्रह की याचना तथा परिभोग | साधारण-पिण्ड-पात्र लाभ |
| (१५) साधर्मिक के पास से अवग्रह-याचन | साधारण भोजन का आचार्य आदि को बता कर परिभोग करना | विनय-प्रयोग |
| | (4) ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएं | |
| (१६) स्त्रियों में कथा का वर्जन | स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का वर्जन करना | असंसक्त-वास-वसति |
| (१७) स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों के अवलोकन का वर्जन | स्त्री-कथा का विवर्जन करना | स्त्री-जन में कथा वर्जन |
| (१८) पूर्व-भुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन | स्त्रियों के इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन करना | स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग और चेष्टाओं के अवलोकन का वर्जन |
| (१९) अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन | पूर्व-भुक्त तथा पूर्व-क्रीडित काम-भोग का स्मरण नहीं करना | पूर्व-भुक्त भोग की स्मृति का वर्जन |
| (२०) स्त्री आदि से संसक्त शयनासन का वर्जन | प्रणीत-आहार का विवर्जन करना | प्रणीत-रस-भोजन का वर्जन |
| | (5) अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएं | |
| (२१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव | श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति | मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव |
| (२२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव | चक्षुइन्द्रिय रागोपरति | मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव |
| (२३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गंध में समभाव | घ्राणेन्द्रिय रागोपरति | मनोज्ञ और अमनोज्ञ गंध में समभाव |
| (२४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में समभाव | रसनेन्द्रिय रागोपरति | मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में समभाव |
| (२५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव | स्पर्शनेन्द्रिय रागोपरति | मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ३२. (उद्देसेसु दसाइणं)

यहां दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार—इन तीनों सूत्रों के २६ उद्देशों का उल्लेख किया गया है। यहां 'उद्देश' शब्द उद्देशन-काल का सूचक है।[1] एक दिन में जितने श्रुत की वाचना (अध्यापन) दी जाती है, उसे 'एक उद्देशन-काल' कहा जाता है। इन तीन सूत्रों के २६ उद्देशन-काल हैं—

दशाश्रुतस्कन्ध के १० उद्देशन-काल।
कल्प (बृहत्कल्प) के ६ उद्देशन-काल।
व्यवहार-सूत्र के १० उद्देशन-काल।

### ३३. साधु के सत्ताईस गुणों...में (अणगारगुणेहिं)

साधु के २७ गुण हैं। जैसे—

(१) प्राणितिपात से विरमण,
(२) मृषावाद से विरमण,
(३) अदत्तादान से विरमण,
(४) मैथुन से विरमण,
(५) परिग्रह से विरमण,
(६) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह,
(७) चक्षु-इन्द्रिय-निग्रह,
(८) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह,
(९) रसनेन्द्रिय-निग्रह,
(१०) स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह
(११) क्रोध-विवेक,
(१२) मान-विवेक,
(१३) माया-विवेक,
(१४) लोभ-विवेक,
(१५) भाव-सत्य,
(१६) करण-सत्य,
(१७) योग-सत्य,
(१८) क्षमा,
(१९) विरागता,
(२०) मन-समाधारणता,
(२१) वचन-समाधारणता,
(२२) काय-समाधारणता,
(२३) ज्ञान-सम्पन्नता,
(२४) दर्शन-सम्पन्नता,
(२५) चारित्र-सम्पन्नता,
(२६) वेदना-अधिसहन,
(२७) मारणान्तिक-अधिसहन।

देखिए—समवाओ, समवाय २७।

वृत्तिकार ने २७ गुण भिन्न प्रकार से माने हैं—

(१) अहिंसा,
(२) सत्य,
(३) अचौर्य,
(४) ब्रह्मचर्य,
(५) अपरिग्रह,
(६) रात्रि-भोजन-विरति,
(७) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह,
(८) चक्षु-इन्द्रिय-निग्रह,
(९) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह,
(१०) रसनेन्द्रिय-निग्रह,
(११) स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह,
(१२) भाव-सत्य,
(१३) करण-सत्य,
(१४) क्षमा,
(१५) विरागता,
(१६) मनो-निरोध,
(१७) वचन-निरोध,
(१८) काय-निरोध,
(१९) पृथ्वीकाय-संयम,
(२०) अप्काय-संयम,
(२१) तेजस्काय-संयम,
(२२) वायुकाय-संयम,
(२३) वनस्पतिकाय-संयम,
(२४) त्रसकाय-संयम,
(२५) योगयुक्तता,
(२६) वेदना-अधिसहन,
(२७) मारणान्तिक-अधिसहन।[2]

### ३४. अठाईस आचार-प्रकल्पों...में (पकप्पम्मि)

प्रकल्प का अर्थ है 'वह शास्त्र जिसमें मुनि के कल्प-व्यवहार का निरूपण हो।' आचारांग का दूसरा नाम 'प्रकल्प' है।[3]

निशीथ सूत्र सहित आचारांग को 'आचार-प्रकल्प' कहा जाता है। मूल आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा आदि नौ अध्ययन हैं और दूसरा श्रुतस्कन्ध उसकी चूड़ा (शिखा) है। उसके १६ अध्ययन हैं। निशीथ के तीन अध्ययन हैं और वह भी आचारांग की ही चूड़ा है।

आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन—

(१) शस्त्र-परिज्ञा,
(२) लोक-विचय,
(३) शीतोष्णीय,
(४) सम्यक्त्व,
(५) आवंती,
(६) धुत,
(७) विमोह,
(८) उपधान-श्रुत,
(९) महापरिज्ञा।

आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन—

(१) पिंडैषणा,
(२) शय्या,
(३) ईर्या,
(४) भाषा,
(५) वस्त्रैषणा,
(६) पात्रैषणा,
(७) अवग्रह-प्रतिमा,
(१४) सप्तसप्तिका,
(१५) भावना,
(१६) विमुक्ति।

निशीथ के तीन अध्ययन—

(१) उद्घात (२) अनुद्घात और (३) आरोपण।

समवायांग में आचार-प्रकल्प के अठाईस प्रकार इस प्रकार है—

(१) एक महीने की आरोपणा
(२) एक महीने और पांच दिन की आरोपणा
(३) एक महीने और दस दिन की आरोपणा
(४) एक महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(५) एक महीने और बीस दिन की आरोपणा
(६) एक महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(७) दो महीने की आरोपणा
(८) दो महीने और पांच दिन की आरोपणा
(९) दो महीने और दस दिन की आरोपणा

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६ : 'उद्देशेष्वि' व्युपलक्षणत्वादुद्देशन-कालेषु दशादीनां—दशाश्रुतस्कन्धकल्पव्यवहाराणां षड्विंशतिसङ्ख्येष्वित्ति शेषः, उक्तं हि—
"दस उद्देसणकाला दसाण कप्पस्स होंति छच्चेव।
दस चेव य ववहारस्स हुंति सव्वेऽवि छव्वीसं।।"

२. वही, पत्र ६१६ :
"वयछक्कमिंदियाणं च, निग्गहो भाव करणसच्चं च।
खमया विरागयावियं, मणमाईणं निरोहो य।।
कायाणछक्कजोगम्मि, जुत्तया वेयणाहियासणया।
तह मारणंतिय हियासणया एए ऽणगारगुणा।।"

३. वही, पत्र ६१६ : प्रकृष्टः कल्पो—यतिव्यवहारो यस्मिन्नसौ प्रकल्पः स चेहाचाराङ्गमेव शस्त्रपरिज्ञाद्यष्टाविंशत्यध्ययनात्मकम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१०) दो महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(११) दो महीने और बीस दिन की आरोपणा
(१२) दो महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(१३) तीन महीने की आरोपणा
(१४) तीन महीने और पांच दिन की आरोपणा
(१५) तीन महीने और दस दिन की आरोपणा
(१६) तीन महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(१७) तीन महीने और बीस दिन की आरोपणा
(१८) तीन महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(१९) चार महीने की आरोपणा
(२०) चार महीने और पांच दिन की आरोपणा
(२१) चार महीने और दस दिन की आरोपणा
(२२) चार महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(२३) चार महीने और बीस दिन की आरोपणा
(२४) चार महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(२५) उपघातिकी आरोपणा।
(२६) अनुपघातिकी आरोपणा।
(२७) कृत्स्ना आरोपणा।
(२८) अकृत्स्ना आरोपणा।[1]

## ३५. उनतीस पाप-श्रुत प्रसंगों...में (पावसुयपसंगेसु)

पाप के उपादानकारणभूत जो शास्त्र हैं, उन्हें 'पापश्रुत' कहते हैं। उन शास्त्रों का प्रसंग अर्थात् अभ्यास—पापश्रुत प्रसंग है। वे २९ हैं—

(१) भौम—भूकम्प आदि के फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(२) उत्पात—स्वाभाविक उत्पातों का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(३) स्वप्न—स्वप्न के शुभाशुभ फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(४) अंतरिक्ष—आकाश में उत्पन्न होने वाले नक्षत्रों के युद्ध का फला फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(५) अंग—अंग-स्फुरण का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(६) स्वर—स्वर के शुभाशुभ फल का निरूपण करने वाला निमित्त-शास्त्र।
(७) व्यञ्जन—तिल, मसा आदि के फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(८) लक्षण—अनेक प्रकार के लक्ष्णों का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

इन आठों के तीन-तीन प्रकार होते हैं—(१) सूत्र, (२) वृत्ति और (३) वार्त्तिका। इस तरह २४ पापश्रुत प्रसंग हुए। अवशेष निम्न प्रकार हैं—

(२५) विकथानुयोग—अर्थ और काम के उपायों के प्रतिपादक ग्रन्थ। जैसे—कामन्दक, वात्स्यायन, भारत आदि।
(२६) विद्यानुयोग—रोहणी आदि विद्या की सिद्धि बताने वाला शास्त्र।
(२७) मन्त्रानुयोग—मंत्र-शास्त्र।
(२८) योगानुयोग—वशीकरण-शास्त्र, हर-मेखलादि शास्त्र।
(२९) अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग—अन्यतीर्थिकों द्वारा प्रवर्तित शास्त्र।

देखिए—समवाओ, समवाय २९।

बृहद्वृत्ति (पत्र ६१७) में ये कुछ भिन्न प्रकार से मिलते हैं।

## ३६. तीस मोह के स्थानों में (मोहट्ठाणेसु)

मोहकर्म के परमाणु व्यक्ति को मूढ़ बनाते हैं। उनका संग्रह व्यक्ति अपनी ही दुष्प्रवृत्तियों से करता है। यहां महामोह उत्पन्न करने वाली तीस प्रवृत्तियों का उल्लेख है। वह इस प्रकार है :—

(१) त्रस-प्राणी को पानी में डुबो कर मारना।
(२) सिर पर चर्म आदि बांध कर मारना।
(३) हाथ से मुख बन्द कर सिसकते हुए प्राणी को मारना।
(४) मण्डप आदि में मनुष्यों को घेर, वहां अग्नि जला, धुंए की घुटन से उन्हें मारना।
(५) संक्लिष्ट चित्त से सिर पर प्रहार करना, उसे फोड़ डालना।
(६) विश्वासघात कर मारना।
(७) अनाचार को छिपाना, माया को माया से पराजित करना, की हुई प्रतिज्ञाओं को अस्वीकार करना।
(८) अपने द्वारा कृत हत्या आदि महादोष का दूसरे पर आरोप लगाना।
(९) यथार्थ को जानते हुए भी सभा के समक्ष मिश्र-भाषा बोलना—सत्यांश की ओट में बड़े झूठ को छिपाने का यत्न करना और कलह करते ही रहना।
(१०) अपने अधिकारी की स्त्रियों या अर्थ-व्यवस्था को अपने अधीन बना उसे अधिकार और भोग-सामग्री से वंचित कर डालना, रूखे शब्दों में उसकी भर्त्सना करना।
(११) बाल-ब्रह्मचारी न होने पर भी अपने आपको बाल-ब्रह्मचारी कहना।
(१२) अब्रह्मचारी होते हुए भी अपने आपको ब्रह्मचारी कहना।
(१३) जिसके सहारे जीविका चलाए, उसी के धन को हड़पना।

१. समवाओ, समवाय २८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१४) जिस ऐश्वर्यशाली व्यक्ति या जन-समूह के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया, उसी के भोगों का विच्छेद करना।

(१५) सर्पिणी का अपने अण्डे को निगलना; पोषण देने वाले व्यक्ति, सेनापति और प्रशास्ता को मार डालना।

(१६) राष्ट्र-नायक, निगम-नेता (व्यापारी-प्रमुख), सुप्रसिद्ध सेठ को मार डालना।

(१७) जो जनता के लिए द्वीप और त्राण हो, वैसे जन-नेता को मार डालना।

(१८) संयम के लिए तत्पर मुमुक्षु और संयमी साधु को संयम से विमुख करना।

(१९) अनन्त ज्ञानी का अवर्णवाद बोलना—सर्वज्ञता के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना।

(२०) मोक्ष-मार्ग की निन्दा कर जनता को उससे विमुख करना।

(२१) जिन आचार्य और उपाध्याय से शिक्षा प्राप्त की हो उन्हीं की निन्दा करना।

(२२) आचार्य और उपाध्याय की सेवा और पूजा न करना।

(२३) अबहुश्रुत होते हुए भी अपने आपको बहुश्रुत कहना।

(२४) अतपस्वी होते हुए भी अपने आपको तपस्वी कहना।

(२५) ग्लान साधर्मिक की 'उसने मेरी सेवा नहीं की थी' इस कलुषित भावना से सेवा न करना।

(२६) ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विनाश करने वाली कथाओं का बार-बार प्रयोग करना।

(२७) अपने मित्र आदि के लिए बार-बार निमित्त, वशीकरण आदि का प्रयोग करना।

(२८) मानवीय या पारलौकिक भोगों की लोगों के सामने निंदा करना और छिपे-छिपे उनका सेवन करते जाना।

(२९) देवताओं की ऋद्धि, द्युति, यश, बल और वीर्य का मखौल करना।

(३०) देव-दर्शन न होने पर भी मुझे देव-दर्शन हो रहा है—ऐसा कहना।

उक्त विवरण समवायांग (समवाय ३०) के आधार पर है। दशाश्रुतस्कन्ध (दशा ९) में प्रथम पांच स्थान कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं—

| समवाय | दशाश्रुतस्कन्ध |
|---|---|
| १ | १ |
| २ | ५ |
| ३ | २ |
| ४ | ३ |
| ५ | ४ |

**३७. सिद्धों के इकतीस आदि-(अतिशायी) गुणों...में (सिद्धाइगुण)**

सिद्धों के ३१ आदि-गुण इस प्रकार हैं—

(१) आभिनिबोधिक ज्ञानावरण का क्षय,
(२) श्रुत ज्ञानावरण का क्षय,
(३) अवधि ज्ञानावरण का क्षय,
(४) मनःपर्यव ज्ञानावरण का क्षय,
(५) केवल ज्ञानावरण का क्षय,
(६) चक्षु ज्ञानावरण का क्षय,
(७) अचक्षु दर्शनावरण का क्षय,
(८) अवधि दर्शनावरण का क्षय,
(९) केवल दर्शनावरण का क्षय,
(१०) निद्रा का क्षय,
(११) निद्रा-निद्रा का क्षय,
(१२) प्रचला का क्षय,
(१३) प्रचला-प्रचला का क्षय,
(१४) सत्यानर्द्धि का क्षय
(१५) सातावेदनीय का क्षय,
(१६) असातावेदनीय का क्षय,
(१७) दर्शन-मोहनीय का क्षय,
(१८) चारित्र-मोहनीय का क्षय,
(१९) नैरयिक आयुष्य का क्षय,
(२०) तिर्यञ्च आयुष्य का क्षय,
(२१) मनुष्य आयुष्य का क्षय,
(२२) देव आयुष्य का क्षय,
(२३) उच्च गोत्र का क्षय,
(२४) नीच गोत्र का क्षय,
(२५) शुभ नाम का क्षय,
(२६) अशुभ नाम का क्षय,
(२७) दानान्तराय का क्षय,
(२८) लाभान्तराय का क्षय,
(२९) भोगान्तराय का क्षय,
(३०) उपभोगान्तराय का क्षय,
(३१) वीर्यान्तराय का क्षय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखिए—समवाओ, समवाय ३१।

आचारांग के सिद्धों के गुण इस प्रकार बतलाए गए हैं।[1]

पांच संस्थान से रहित। संस्थान ये हैं—(१) दीर्घ-ह्रस्व, (२) वृत्त, (३) त्र्यस्र, (४) चतुरस्र और (५) परिमण्डल।

पांच वर्ण से रहित। वर्ण ये हैं—(६) कृष्ण, (७) नील, (८) लोहित, (९) हारिद्र और (१०) शुक्ल।

दो गंध से रहित। गंध ये हैं—(११) सुरभि गंध और (१२) दुरभि गंध

पांच रस से रहित। रस ये हैं—(१३) तिक्त, (१४) कटुक, (१५) कषाय, (१६) आम्ल और (१७) मधुर।

आठ स्पर्श से रहित। स्पर्श ये हैं—(१८) कर्कश, (१९) मृदु, (२०) लघु, (२१) गुरु, (२२) शीत, (२३) ऊष्ण, (२४) स्निग्ध, (२५) रूक्ष।

(२६) अकाय, (२७) अरुह और (२८) असङ्ग।

तीन वेद से रहित। वेद ये हैं—(२९) स्त्री वेद, (३०) पुरुष वेद और (३१) नपुंसक वेद।

शान्त्याचार्य ने दोनों प्रकार मान्य किए हैं।[2]

## ३८. बत्तीस योग-संग्रहों...में (जोगेसु)

मन, वचन और काया के व्यापार को 'योग' कहते हैं। यहां प्रशस्त योगों का ही ग्रहण किया गया है। योग-संग्रह का अर्थ है 'प्रशस्त योगों का एकत्रीकरण'। ये बत्तीस हैं—

(१) आलोचना—शिष्य द्वारा गुरु के पास अपने दोषों को निवेदन करना।

(२) शिष्य द्वारा आलोचित दोषों को प्रकट न करना।

(३) आपत्ति में दृढ़-धर्मिता।

(४) अनिश्रितोपधान—दूसरों की सहायता के बिना ही तपःकर्म करना।

(५) शिक्षा—शास्त्रों का पठन-पाठन।

(६) निष्प्रतिकर्मता—शरीर की सार संभाल नहीं करना।

(७) अज्ञातता—अपनी तपस्या आदि को गुप्त रखना।

(८) अलोभता।

(९) तितिक्षा—परीसह आदि पर विजय।

(१०) आर्जव—ऋजुभाव।

(११) शुचि—सत्य और संयम।

(१२) सम्यग्-दृष्टि—सम्यग्-दर्शन की शुद्धि।

(१३) समाधि—चित्त-स्वास्थ्य।

(१४) आचारोपगत—माया-रहित होना।

(१५) विनयोपगत—मान-रहित होना।

(१६) धृतिमति—अदीनता।

(१७) संवेग—मोक्ष की अभिलाषा।

(१८) प्रणिधि—मायाशल्य से रहित होना।

(१९) सुविधि—सद्-अनुष्ठान।

(२०) संवर—आश्रव-निरोध।

(२१) आत्मदोषोपसंहार—अपने दोषों का निरोध।

(२२) सर्वकाम-विरक्तता—समस्त विषयों से विमुखता।

(२३) प्रत्याख्यान—मूल गुण विषयक।

(२४) प्रत्याख्यान—उत्तर गुण विषयक।

(२५) व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग।

(२६) अप्रमाद।

(२७) लवालव—क्षण-क्षण सामाचारी का पालन करना।

(२८) ध्यान-संवर-योग।

(२९) मारणान्तिक उदय—मरण के समय अक्षुब्ध रहना।

(३०) संग का त्याग—ज्ञ-प्रतिज्ञा और प्रत्याख्यान-प्रतिज्ञा से त्याग करना।

(३१) प्रायश्चित्त करना।

(३२) मारणान्तिक आराधना—शरीर और कषाय को क्षीण करने के लिए तपस्या करना।

देखिए—समवाओ, समवाय ३२।

## ३९. तेतीस आशातनाओं में (तेत्तीसासायणासु)

आशातना का अर्थ है—अविनय, अशिष्टता या अभद्र व्यवहार। दैनिक व्यवहारों के आधार पर उसके तेतीस विभाग किए गए हैं—

(१) छोटे साधु का बड़े साधु के आगे चलना।

(२) छोटे साधु का बड़े साधु के समश्रेणी में (बराबर) चलना।

(३) छोटे साधु का बड़े साधु से सट कर चलना।

(४) छोटे साधु का बड़े साधु के आगे खड़ा रहना।

(५) छोटे साधु का बड़े साधु के समश्रेणि में खड़ा रहना।

(६) छोटे साधु का बड़े साधु से सट कर खड़ा रहना।

(७) छोटे साधु का बड़े साधु के आगे बैठना।

(८) छोटे साधु का बड़े साधु के समश्रेणि में बैठना।

(९) छोटे साधु का बड़े साधु से सट कर बैठना।

---

१. आयारो, ५।१२७-१३५ :
से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले।
ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले।
ण सुब्भिगंधे, ण दुरभिगंधे।
ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे।
ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए।
ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे।
ण काऊ। ण रुहे। ण संगे।
ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१०) छोटे साधु का बड़े साधु से पहले (एक जल-पात्र हो, उस स्थिति में) आचमन करना—शुचि लेना।
(११) छोटे साधु द्वारा स्थान में आकर बड़े साधु से पहले गमनागमन की आलोचना करना।
(१२) जिस व्यक्ति के साथ बड़े साधु को वार्तालाप करना है, उसके साथ छोटे साधु का पहले ही वार्तालाप करना।
(१३) बड़े साधु द्वारा यह पूछने पर कि कौन जागता है, कौन सो रहा है, छोटे साधु का जागते हुए भी उत्तर नहीं देना।
(१४) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु के पास आलोचना करना—कहां से क्या, कैसे प्राप्त हुआ—यह बतलाना।
(१५) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु को दिखान फिर बड़े साधु को।
(१६) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु को निमंत्रित करना फिर बड़े साधु को।
(१७) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला बड़े साधु को पूछे बिना अपने प्रिय-प्रिय साधुओं को प्रचुर-प्रचुर दे देना।
(१८) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला बड़े साधु के साथ भोजन करते हुए सरस आहार खाने की उतावल करना।
(१९) बड़े साधु द्वारा आमंत्रित होने पर सुना अनसुना करना।
(२०) बड़े साधु द्वारा आमंत्रित होने पर अपने स्थान पर बैठे हुए उत्तर देना।
(२१) बड़े साधु को अनादर-भाव में 'क्या कह रहे हो'—इस प्रकार कहना।
(२२) बड़े साधु को तू कहना।
(२३) बड़े साधु को या उसके समक्ष अन्य किसी को रूखे शब्द से आमन्त्रित करना या जोर-जोर से बोलना।
(२४) बड़े साधु की—उसी का कोई शब्द पकड़—अवज्ञा करना।
(२५) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय 'यह ऐसे नहीं किन्तु ऐसे है'—इस प्रकार कहना।
(२६) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय 'आप भूल रहे हैं'—इस प्रकार कहना।
(२७) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय अन्यमनस्क होना।
(२८) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय बीच में ही परिषद् को भंग करना।
(२९) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय में बीच में ही कथा का विच्छेद करना—विघ्न उपस्थित करना।
(३०) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय उसी विषय में अपनी व्याख्या देने का बार-बार प्रयत्न करना।
(३१) बड़े साधु के उपकरणों के पैर लग जाने पर विनम्रता पूर्वक क्षमा-याचना न करना।
(३२) बड़े साधु के बिछौने पर खड़े रहना, बैठना या सोना।
(३३) बड़े साधु से ऊंचे या बराबर के आसन पर खड़े रहना, बैठना या सोना।

आशातनाओं का यह विवरण दशाश्रुतस्कन्ध (दशा ३) के आधार पर दिया गया है। समवायांग (समवाय ३३) में ये कुछ क्रमभेद से प्राप्त हैं। आवश्यक (चतुर्थ आवश्यक) में ३३ आशातनाएं भिन्न प्रकार से प्राप्त हैं—

(१) अर्हन्तों की आशातना।
(२) सिद्धों की आशातना।
(३) आचार्यों की आशातना।
(४) उपाध्यायों की आशातना।
(५) साधुओं की आशातना।
(६) साध्वियों की आशातना।
(७) श्रावकों की आशातना।
(८) श्राविकाओं की आशातना।
(९) देवों की आशातना।
(१०) देवियों की आशातना।
(११) इहलोक की आशातना।
(१२) परलोक की आशातना।
(१३) केवलीप्रज्ञप्त धर्म की आशातना।
(१४) देव, मनुष्य और असुर सहित लोक की आशातना।
(१५) सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की आशातना।
(१६) काल की आशातना।
(१७) श्रुत की आशातना।
(१८) श्रुत-देवता की आशातना।
(१९) वाचनाचार्य की आशातना।
(२०) व्याविद्ध—व्यत्यासित वर्ण-विन्यास करना—कहीं के अक्षरों को कहीं बोलना।[1]
(२१) व्यत्याम्रेडित—उच्चार्यमाण पाठ में दूसरे पाठों का मिश्रण करना।[2]
(२२) हीनाक्षर—अक्षरों को न्यून कर उच्चारण करना।

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८५६ : वाइद्धक्खरमेयं, वच्चासियवण्णचिण्णासं।
२. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८५६ : विविहसत्थपल्लवविमिस्सं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२३) अत्यक्षर—अक्षरों को अधिक कर उच्चारण करना।
(२४) पदहीन—पदों को कम कर उच्चारण करना।
(२५) विनयहीन—विराम-रहित उच्चारण करना।
(२६) घोषहीन—उदात्त आदि घोष-रहित उच्चारण करना।
(२७) योगहीन—सम्बन्ध-रहित उच्चारण करना।
(२८) सुष्ठुदत्त—योग्यता से अधिक ज्ञान देना।
(२९) दुष्ठु-प्रतीच्छित—ज्ञान को सम्यग्भाव से ग्रहण न करना।
(३०) अकाल में स्वाध्याय करना।
(३१) काल में स्वाध्याय न करना।
(३२) अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करना।
(३३) स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# बत्तीसइमं अज्झयणं

## पमायट्ठाणं

# बत्तीसवां अध्ययन

## प्रमादस्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में प्रमाद के कारण तथा उनके निवारण के उपायों का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इसका नाम 'पमायट्ठाणं'—'प्रमादस्थान' है। प्रमाद साधना का विघ्न है। उसका निवारण कर साधक जितेन्द्रिय बनता है। प्रमाद के प्रकारों का विभिन्न क्रमों में संकलन हुआ है :

१. प्रमाद के पांच प्रकार[1]—

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा।

२. प्रमाद के छह प्रकार[2]—

मद्य, निद्रा, विषय, कषाय, द्यूत और प्रतिलेखना।

३. प्रमाद के आठ प्रकार[3]—

अज्ञान, संशय, मिथ्या-ज्ञान, राग, द्वेष, स्मृति-भ्रंश, धर्म में अनादर, मन, वचन और काया का दुष्प्रणिधान।

मानसिक, वाचिक और कायिक—इन सभी दुःखों का मूल है विषयों की सतत आकांक्षा।

विषय आपात-भद्र (सेवन काल में सुखद) होते हैं किन्तु उनका परिणाम विरस होता है। शास्त्रकारों ने उन्हें 'किंपाक फल' की उपमा से उपमित किया है। (श्लोक १६,२०)

आकांक्षा के मूल हैं—राग और द्वेष। वे संसार-भ्रमण के हेतु हैं। उनकी विद्यमानता में वीतरागता नहीं आती। वीतराग-भाव के बिना जितेन्द्रियता सम्पन्न नहीं होती।

जितेन्द्रियता का पहला साधन है—आहार-विवेक। साधक को प्रणीत आहार नहीं करना चाहिए। अतिमात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए। बार-बार नहीं खाना चाहिए। प्रणीत या अति-मात्रा में किया हुआ आहार उद्दीपन करता है, उससे वासनाएं उभरती हैं और मन चंचल हो जाता है।

इसी प्रकार एकांतवास, अल्पभोजन, विषय में अननुरक्ति, दृष्टि-संयम, मन, वाणी और काया का संयम, चिन्तन की पवित्रता—ये भी जितेन्द्रिय बनने के साधन हैं।

प्रथम २१ श्लोकों में इन उपायों का विशद निरूपण हुआ है। पांच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने से क्या-क्या दोष उत्पन्न होते हैं? उनके उत्पादन, संरक्षण और व्यापरण से क्या-क्या दुःख उत्पन्न होते हैं?—इन प्रश्नों का स्पष्ट समाधान मिलता है।

जब तक व्यक्ति इन सब उपायों को जानकर अपने आचरण में नहीं उतार लेता तब तक वह दुःखों के दारुण परिणामों से नहीं छूट सकता।

विषय अपने आप में अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं है। वह व्यक्ति के राग-द्वेष से सम्मिश्रित होकर अच्छा या बुरा बनता है। इन्द्रिय तथा मन के विषय वीतराग के लिए दुःख के हेतु नहीं हैं, राग-ग्रस्त व्यक्ति के लिए वे परम दारुण परिणाम वाले हैं। इसलिए बन्धन और मुक्ति अपनी ही प्रवृत्ति पर अवलम्बित है।

जो साधक इन्द्रियों के विषयों के प्रति विरक्त है, उसे उनकी मनोज्ञता या अमनोज्ञता नहीं सताती। उसमें समता का विकास होता है। साम्य के विकास से काम-गुणों की तृष्णा का नाश हो जाता है और साधक उत्तरोत्तर गुणस्थानों में आरोह करता हुआ लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। (श्लोक १०६,१०७,१०८)

साधना की दृष्टि से इस अध्ययन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अप्रमाद ही साधना है। साधक को प्रतिपल अप्रमत्त या जागरूक रहना चाहिए। निर्युक्तिकार ने बताया है कि भगवान् ऋषभ साधना में प्रायः अप्रमत्त रहे। उनका साधना-काल हजार वर्ष का था। उसमें प्रमाद-काल एक दिन-रात का था। भगवान् महावीर ने बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक साधना की। उसमें प्रमाद-काल एक अन्तर्मुहूर्त का था। दोनों तीर्थंकरों के प्रमाद-काल को निर्युक्तिकार ने 'संकलित-काल' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि एक दिन-रात और एक अन्तर्मुहूर्त का प्रमाद एक साथ नहीं हुआ था। किन्तु उनके साधना-काल में जो प्रमाद हुआ, उसे संकलित किया जाए तो वह एक दिन-रात और एक अन्तर्मुहूर्त का होता है।[4]

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२०।

२. ठाणं, ६।४४ : छव्विहे पमाए पण्णत्ते—तं जहा—मज्जपमाए, णिद्दपमाए, विसयपमाए, कसायपमाए, जूतपमाए, पडिलेहणापमाए।

३. प्रवचन सारोद्धार, द्वार २०७, गाथा ११२२,११२३ :
पमाओ य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ।
अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहेव य।।
रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणायरो।।
जोगाणं दुप्पणीहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ।।

४. (क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२३,५२४ :
वाससहस्सं उग्गं तवमाइगरस्स आयरंतस्स।
जो किर पमायकालो अहोरत्तं तु संकलिअं।।
बारसवासे अहिए, तवं चरंतस्स वद्धमाणस्स।
जो किर पमायकालो, अंतमुहुत्तं तु संकलिअं।।

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२० : किमयमेकावस्थाभाविनः प्रमादस्य काल उतान्यथेत्याशंकयाह—संकलितः, किमुक्तं भवति?—अप्रमादगुणस्थानस्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वेनानेकशोऽपि प्रमादप्राप्तौ तदवस्थितिविषयभूतस्यान्तर्मुहूर्त्तस्याद्यखेयभेदत्वात्तेषामतिसूक्ष्मतया सर्वकालसङ्कलनायामप्यहोरात्रमेवाभूत्। तथा द्वादश वर्षाण्यधिकानि तपश्चरतो वर्द्धमानस्य यः किल प्रमादकालः प्राग्वत्सोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव सङ्कलितः, इहाप्यन्तर्मुहूर्त्तानामसङ्खयेयभेदत्वात्प्रमादस्थितिविषयान्तर्मुहूर्त्तानां सूक्ष्मत्वं, संकलनान्तर्मुहूर्त्तस्य च बृहत्तरत्वमिति भावनीयम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्त्याचार्य ने बताया है कि कुछ आचार्य अनुपपत्ति के भय से भगवान् ऋषभ और महावीर के प्रमाद को केवल निद्रा-प्रमाद मानते हैं।[1] किन्तु निर्युक्तिकार और शान्त्याचार्य का यह अभिमत नहीं है और वह संगत भी है। निर्युक्तिकार के निरूपण का उद्देश्य यह है कि जिस प्रकार भगवान ऋषभ और महावीर अधिक से अधिक अप्रमत्त रहे हैं, उसी प्रकार सब श्रमण भी अधिक से अधिक अप्रमत्त रहें।

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२० : अन्ये त्वेतदनुपपत्तिभीत्या निद्राप्रमाद एवायं विवक्षित इति व्याचक्षते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# बत्तीसइमं अज्झयणं : बत्तीसवां अध्ययन

## पमायट्ठाणं : प्रमादस्थान

| मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. अच्चंतकालस्स समूलगस्स<br>सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो।<br>तं भासओ मे पडिपुण्णचित्ता<br>सुणेह एगग्गहियं हियत्थं।। | *अत्यन्तकालस्य समूलकस्य*<br>*सर्वस्य दुःखस्य तु यः प्रमोक्षः।*<br>*तं भाषमाणस्य मे प्रतिचूर्णचित्ताः*<br>*शृणुतैकाग्र्यहितं हितार्थम्।।* | अनादिकालीन सब दुःखों और उनके कारणों (कषाय आदि) के[1] मोक्ष का जो उपाय है वह मैं कह रहा हूं। वह एकाग्र्यहित (ध्यान के लिए हितकर) है, अतः तुम प्रतिपूर्ण चित्त होकर हित (मोक्ष) के लिए सुनो। |
| २. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए<br>अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।<br>रागस्स दोसस्स य संखएणं<br>एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं।। | *ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया*<br>*अज्ञानमोहस्य विवर्जनया।*<br>*रागस्य दोषस्य च संक्षयेण*<br>*एकांतसौख्यं समुपैति मोक्षम्।।* | सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश, अज्ञान और मोह का[2] नाश तथा राग और द्वेष का क्षय होने से आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है। |
| ३. तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा<br>विवज्जणा बालजणस्स दूरा।<br>सज्झायएगंतनिसेवणा य<br>सुत्तत्थसंचिंतणया धिई य।। | *तस्यैष मार्गो गुरुवृद्धसेवा*<br>*विवर्जना बालजनस्य दूरात्।*<br>*स्वाध्यायैकान्तनिषेवणा च*<br>*सूत्रार्थसंचिन्तना धृतिश्च।।* | गुरु और वृद्धों (स्थविर मुनियों) की[3] सेवा करना, अज्ञानी-जनों का दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना तथा धैर्य[4] रखना, यह मोक्ष का मार्ग है। |
| ४. आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं<br>सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं।<br>निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं<br>समाहिकामे समणे तवस्सी।। | *आहारमिच्छेन्मितमेषणीयं*<br>*सहायमिच्छेन्निपुणार्थबुद्धिम्।*<br>*निकेतमिच्छेद् विवेकयोग्यं*<br>*समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी।।* | समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण परिमित और एषणीय आहार की इच्छा करे। जीव आदि पदार्थ के प्रति निपुण बुद्धि वाले गीतार्थ को सहायक बनाये और विविक्त—एकांत घर में रहे। |
| ५. न वा लभेज्जा निउणं सहायं<br>गुणाहियं वा गुणओ समं वा।<br>एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो<br>विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो।। | *न वा लभेत निपुणं सहायं*<br>*गुणाधिकं वा गुणतः समं वा।*<br>*एकोऽपि पापानि विवर्जयन्*<br>*विहरेत् कामेष्वसजन्।।* | यदि[5] अपने से अधिक गुणवान् या अपने समान निपुण सहायक न मिले तो वह पापों का वर्जन करता हुआ, विषयों में अनासक्त रह कर अकेला ही विहार करे।[6] |
| ६. जहा य अंडप्पभवा बलागा<br>अंडं बलागप्पभवं जहा य।<br>एमेव मोहाययणं खु तण्हं<br>मोहं च तण्हाययतं वयंति।। | *यथा च अण्डप्रभवा बलाका*<br>*अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च।*<br>*एवमेव मोहायतनं खलु तृष्णा*<br>*मोहं च तृष्णायतनं वदन्ति।।* | जैसे बलाका अंडे से उत्पन्न होती है और अंडा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तृष्णा मोह[7] से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है। |
| ७. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं<br>कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।<br>कम्मं च जाईमरणस्स मूलं<br>दुक्खं च जाईमरणं वयंति।। | *रागश्च दोषोऽपि च कर्मबीजं*<br>*कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति।*<br>*कर्म च जातिमरणस्य मूलं*<br>*दुःखं च जातिमरणं वदन्ति।।* | राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दुःख कहा गया है।[8] |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं।।

*दुःखं हतं यस्य न भवति मोहो*
*मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा।*
*तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः*
*लोभो हतो यस्य न किंचनानि।।*

जिसके मोह नहीं है, उसने दुःख का नाश कर दिया। जिसके तृष्णा नहीं है, उसने मोह का नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया। जिसके पास कुछ नहीं है, उसने लोभ का नाश कर दिया।[8]

९. रागं च दोसं च तहेव मोहं
उद्धत्तुकामेण समूलजालं।
जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा
ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं।।

*रागं च दोषं च तथैव मोहं*
*उद्धर्तुकामेन समूलजालम्।*
*ये ये उपायाः प्रतिपत्तव्याः*
*तान् कीर्तयिष्यामि यथानुपूर्वि।।*

राग, द्वेष और मोह का मूल सहित उन्मूलन चाहने वाले मनुष्य को जिन-जिन उपायों का आलम्बन लेना चाहिए उन्हें मैं क्रमशः कहूंगा।

१०. रसा पगामं न निसेवियव्वा
पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति
दुमं जहा साउफलं व पक्खी।।

*रसाः प्रकामं न निषेवितव्याः*
*प्रायो रसा दृप्तिकरा नराणाम्।*
*दृप्तं च कामाः समभिद्रवन्ति*
*द्रुमं यथा स्वादुफलमिव पक्षिणः।।*

रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। वे प्रायः मनुष्य की धातुओं को उद्दीप्त करते हैं। जिसकी धातुएं उद्दीप्त होती हैं उसे काम-भोग सताते हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।[9]

११. जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे
समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई।।

*यथा दवाग्निः प्रचुरेन्धने वने*
*समारुतो नोपशममुपैति।*
*एवमिन्द्रियाग्निरपि प्रकामभोजिनो*
*न ब्रह्मचारिणो हिताय कस्यचित्।।*

जैसे पवन के झोंकों के साथ प्रचुर इन्धन वाले वन में लगा हुआ दावानल उपशान्त नहीं होता, उसी प्रकार अतिमात्र खाने वाले की इन्द्रियाग्नि—कामाग्नि शान्त नहीं होती। इसलिए अतिमात्र भोजन किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होता।

१२. विवित्तसेज्जासणजंतियाणं
ओमासणाणं दमिइंदियाणं।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं।

*विविक्तशय्यासननयन्त्रितानां*
*अवमाशनानां दमितेन्द्रियाणाम्।*
*न रागशत्रुर्धर्षयति चित्तं*
*पराजितो व्याधिरिवौषधैः।।*

जो एकान्त वस्ती और एकान्त आसन से नियंत्रित होते हैं, जो कम खाते हैं और जितेन्द्रिय होते हैं, उनके चित्त को राग-शत्रु वैसे ही आक्रान्त नहीं कर सकता जैसे औषध से पराजित रोग देह को।

१३. जहा बिरालावसहस्स मूले
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे
न बंभयारिस्स खमो निवासो।।

*यथा बिडालावसथस्य मूले*
*न मूषकाणां वसतिः प्रशस्ता।*
*एवमेव स्त्रीनिलयस्य मध्ये*
*न ब्रह्मचारिणः क्षमो निवासः।।*

जैसे बिल्ली की वस्ती के पास चूहों का रहना अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार स्त्रियों की वस्ती के पास ब्रह्मचारी का रहना अच्छा नहीं होता।

१४. न रूवलावण्णविलासहासं
न जंपियं इंगियपेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी।।

*न रूपलावण्यविलासहासं*
*न जल्पितमिंगितं प्रेक्षितं वा।*
*स्त्रीणां चित्ते निवेश्य*
*द्रष्टुं व्यवस्येत् श्रमणस्तपस्वी।।*

तपस्वी श्रमण स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर आलाप, इङ्गित और चितवन को चित्त में रमा कर उन्हें देखने का संकल्प न करे।

१५. अदंसणं चेव अपत्थणं च
अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं
हियं सया बंभवए रयाणं।।

*अदर्शनं चैवाप्रार्थनं च*
*अचिन्तनं चैवाकीर्तनं च।*
*स्त्रीजनस्य आर्यध्यानयोग्यं*
*हितं सदा ब्रह्मव्रते रतानाम्।।*

जो सदा ब्रह्मचर्य में रत हैं, उनके लिए स्त्रियों को न देखना, न चाहना, न चिन्तन करना और न वर्णन करना हितकर है तथा आर्य-ध्यान—धर्म-ध्यान के लिए उपयुक्त है।

१६. कामं तु देवीहि विभूसियाहिं
न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा
विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो।।

*कामं तु देवीभिर्विभूषिताभिः*
*न शक्ताः क्षोभयितुं त्रिगुप्ताः।*
*तथाप्येकान्तहितमिति ज्ञात्वा*
*विविक्तवासो मुनीनां प्रशस्तः।।*

यह ठीक है कि तीन गुप्तियों से गुप्त मुनियों को विभूषित देवियां भी विचलित नहीं कर सकतीं, फिर भी भगवान् ने एकान्त हित की दृष्टि से उनके विविक्त-वास को प्रशस्त कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए
जहित्थिओ बालमणोहराओ।।

*मोक्षाभिकांक्षिणोपि मानवस्य*
*संसारभीरो स्थितस्य धर्मे।*
*नैतादृशं दुस्तरमस्ति लोके*
*यथा स्त्रियो बालमनोहराः।।*

मोक्ष चाहने वाले संसार-भीरु एवं धर्म में स्थित मनुष्य के लिए लोक में और कोई वस्तु ऐसी दुस्तर नहीं है, जैसे दुस्तर अज्ञानियों के मन को हरने वाली स्त्रियां हैं।

१८. एए य संगे समइक्कमित्ता
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता
नई भवे अवि गंगासमाणा।।

*एतांश्च सङ्गान् समतिक्रम्य*
*सुखोत्तराश्चैव भवन्ति शेषाः।*
*यथा महासागरमुत्तीर्य*
*नदी भवेदपि गंगासमाना।।*

जो मनुष्य इन स्त्री-विषयक आसक्तियों का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सारी आसक्तियां वैसे ही सुतर (सुख से पार पाने योग्य) हो जाती है जैसे महासागर का पार पाने वाले के लिए गंगा जैसे बड़ी नदी।

१९. कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो।।

*कामानुगृद्धिप्रभवं खलु दुःखं*
*सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य।*
*यत्कायिकं मानसिकं च किंचित्*
*तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः।।*

सब जीवों के, और क्या देवताओं के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है, वह काम-भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है। वीतराग उस दुःख का अंत पा जाता है।

२०. जहा य किंपागफला मणोरमा
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा
एओवमा कामगुणा विवागे।।

*यथा च किम्पाकफलानि मनोरमाणि*
*रसेन वर्णेन च भुज्यमानानि।*
*तानि 'खुड्डए' जीविते पच्यमानानि*
*एतदुपमाः कामगुणाः विपाके।।*

जैसे किंपाक फल खाने के समय रस और वर्ण से मनोरम होते हैं और परिपाक के समय जीवन का अन्त कर देते हैं,[११] कामगुण भी विपाक काल में ऐसे ही होते हैं।

२१. जे इंदियाणं विसया मणुण्णा
न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न यामणुण्णेसु मणं पि कुज्जा
समाहिकामे समणे तवस्सी।।

*ये इन्द्रियाणां विषया मनोज्ञाः*
*न तेषु भावं निसृजेत् कदापि।*
*न चामनोज्ञेषु मनोऽपि कुर्यात्*
*समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी।।*

समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं उनकी ओर भी मन न करे—राग न करे और जो अमनोज्ञ विषय है उनकी ओर भी मन न करे—द्वेष न करे।

२२. चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो।।

*चक्षुषो रूपं ग्रहणं वदन्ति*
*तद् रागहेतु तु मनोज्ञमाहुः।*
*तद् दोषहेतु अमनोज्ञमाहुः*
*समश्च यस्तयोः स वीतरागः।।*

रूप चक्षु का ग्राह्य—विषय है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में सम्मान रहता है, वह वीतराग होता है।

२३. रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति
चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

*रूपस्य चक्षुर्ग्रहणं वदन्ति*
*चक्षुषो रूपं ग्रहणं वदन्ति।*
*रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः*
*दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः।।*

चक्षु रूप का ग्रहण करता है। रूप चक्षु का ग्राह्य है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ[१२] कहा जाता है और जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।[१३]

२४. रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं।।

*रूपेषु या गृद्धिमुपैति तीव्रां*
*अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।*
*रागातुरः स यथा वा पतङ्गः*
*आलोकलोलः समुपैति मृत्युम्।।*

जो मनोज्ञ रूपों में तीव्र आसक्ति[१४] करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे प्रकाश-लोलुप पतंगा रूप में आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

२५. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं
तंसिक्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू
न किंचि रूवं अवरज्झई से।।

*यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं*
*तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।*
*दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः*
*न किंचिद्रूपमपराध्यति तस्य।।*

जो अमनोज्ञ रूपों में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। रूप उसका कोई अपराध नहीं करता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६. एगंतरत्ते रुइरंसि रूवे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो।।

*एकान्तरक्तो रुचिरे रूपे*
*अतादृशे स करोति प्रदोषम्।*
*दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः*
*न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः।।*

जो मनोहर रूप में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर रूप में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

२७. रूवाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे।।

*रूपानुगाशानुगतश्च जीवान्*
*चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।*
*चित्रैस्तान्परितापयति बालः*
*पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः।।*

मनोज्ञ रूप की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

२८. रूवाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे।।

*रूपानुपातेन परिग्रहेण*
*उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।*
*व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?*
*सम्भोगकाले च अतृप्तिलाभः।।*

रूप में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सब में उसे सुख कहां है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे अतृप्ति ही होती है।

२९. रूवे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं।।

*रूपे अतृप्तश्च परिग्रहे च*
*सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।*
*अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य*
*लोभाविल आदत्ते अदत्तम्।।*

जो रूप में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे सन्तुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभग्रस्त होकर दूसरों की वस्तुएं चुरा लेता है।

३०. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

*तृष्णाभिभूतस्य अदत्तहारिणः*
*रूपे अतृप्तस्य परिग्रहे च।*
*मायामृषा वर्द्धते लोभदोषात्*
*तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः।।*

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप तथा परिग्रह में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

३१. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो
रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो।।

*मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च*
*प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।*
*एवमदत्तानि समाददानः*
*रूपे अतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः।।*

असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह रूप में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रय-हीन हो जाता है।

३२. रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं।।

*रूपानुरक्तस्य नरस्यैवं*
*कुतः सुखं भवेत्कदापि किंचित्?*
*तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं*
*निर्वर्त्तयति यस्य कृते दुःखम्।।*

रूप में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहां से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है—कष्ट झेलता है—वह उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

३३. एमेव रूवम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।

*एवमेव रूपे गतः प्रदोषं*
*उपैति दुःखौघपरम्पराः।*
*प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म*
*यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके।।*

इसी प्रकार जो रूप में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

३४. रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि संतो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

*रूपे विरक्तो मनुजो विशोकः*
*एतेन दुःखौघपरम्परेण।*
*न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्*
*जलेनेव पुष्करिणीपलाशम्।।*

रूप से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. सोयस्स सद्दं गहणं वयंति
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो।।

*श्रोत्रस्य शब्दं ग्रहणं वदन्ति*
*तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।*
*तं दोषहेतुममनोज्ञमाहुः*
*समश्च यस्तेषु स वीतरागः।।*

शब्द श्रोत्र का ग्राह्य—विषय है। जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

३६. सद्दस्स सोयं गहणं वयंति
सोयस्स सद्दं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

*शब्दस्य श्रोत्रं ग्रहणं वदन्ति*
*श्रोत्रस्य शब्दं ग्रहणं वदन्ति।*
*रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः*
*दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः।।*

श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है। शब्द श्रोत्र का ग्राह्य है। जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

३७. सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं।।

*शब्देषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां*
*अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।*
*रागातुरः हरिणमृग इव मुग्धः*
*शब्दे अतृप्तः समुपैति मृत्युम्।।*

जो मनोज्ञ शब्दों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे—शब्द में अतृप्त बना हुआ रागातुर मुग्ध हरिण नामक पशु[५५] मृत्यु को प्राप्त होता है।

३८. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू
न किंचि सद्दं अवरज्झई से।।

*यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं*
*तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।*
*दुर्दन्तदोषेण स्वकेन जन्तुः*
*न किंचिच्छब्दोऽपराध्यति तस्य।।*

जो मनोज्ञ शब्द में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है, शब्द उसका कोई अपराध नहीं करता।

३९. एगंतरत्ते रुइरंसि सद्दे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो।।

*एकान्तरक्तो रुचिरे शब्दे*
*अतादृशे स कुरुते प्रदोषम्।*
*दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः*
*न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः।।*

जो मनोहर शब्द में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर शब्द में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

४०. सद्दाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइणेगरूवे।
चित्तेहि ते परियावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे।।

*शब्दानुगाशानुगतश्च जीवः*
*चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।*
*चित्रैस्तान् परितापयति बालः*
*पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः।।*

मनोहर शब्द की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

४१. सद्दाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे।।

*शब्दानुपातेन परिग्रहेण*
*उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।*
*व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?*
*सम्भोगकाले च अतृप्तिलाभः।।*

शब्द में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है, इन सबमें उसे सुख कहां है? और क्या, उसके उपभोग-काल में उसे अतृप्ति ही होती है।

४२. सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं।।

*शब्दे अतृप्तश्च परिग्रहे च*
*सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।*
*अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य*
*लोभाविल आदत्ते अदत्तम्।।*

जो शब्द में अतृप्त होता है, उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभग्रस्त होकर दूसरे की शब्दवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

४३. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

*तृष्णाभिभूतस्य अदत्तहारिणः*
*शब्देऽतृप्तस्य परिग्रहे च।*
*मायामृषा वर्द्धते लोभदोषात्*
*तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः।।*

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और शब्द परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो
सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो।।

*मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च*
*प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।*
*एवमदत्तानि समाददानः*
*शब्दे अतृप्तो दुखितोऽनिश्रः।।*

असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह शब्द में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

४५. सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं।।

*शबदानुरक्तस्य नरस्यैवं*
*कुतः सुखं भवेत् कदापि किंचित् ?।*
*तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं*
*निर्वर्त्तयति यस्य कृते दुःखम्।।*

शब्द में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहां से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

४६. एमेव सद्दम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।

*एवमेव शब्दे गतः प्रदोषं*
*उपैति दुःखौघपरम्पराः।*
*प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म*
*यत्तस्य पुनर्भवति दुखं विपाके।।*

इसी प्रकार जो शब्द में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्तवाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है, वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

४७. सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि संतो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

*शब्दे विरक्तो मनुजो विशोकः*
*एतेन दुःखौघपरम्परेण।*
*न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्*
*जलेनेव पुष्करिणीपलाशम्।*

शब्द से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

४८. घाणस्स गंधं गहणं वयंति
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो।।

*घ्राणस्य गन्धं ग्रहणं वदन्ति*
*तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।*
*तं दोषहेतुममनोज्ञमाहुः*
*समश्च यस्तेषु स वीतरागः।।*

गन्ध-घ्राण का ग्राह्य—विषय है। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

४९. गंधस्स घाणं गहणं वयंति
घाणस्स गंधं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

*गन्धस्य घ्राणं ग्रहणं वदन्ति*
*घ्राणस्य गन्धं ग्रहणं वदन्ति।*
*रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः*
*दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः।।*

घ्राण गन्ध का ग्रहण करता है। गन्ध घ्राण का ग्राह्य है। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

५०. गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते।।

*गन्धेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां*
*अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।*
*रागातुर औषधिगन्धगृद्धः*
*सर्पो बिलादिव निष्कामन्।।*

जो मनोज्ञ गन्ध में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे नाग-दमनी आदि औषधियों[५५] के गन्ध में गृद्ध बिल से निकलता हुआ रागातुर सर्प।

५१. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू
न किंचि गंधं अवरज्झई से।।

*यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं*
*तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।*
*दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः*
*न किंचिद् गन्धोऽपराध्यति तस्य।।*

जो अमनोज्ञ गन्ध में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दभ दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। गन्ध उसका कोई अपराध नहीं करता।

५२. एगंतरत्ते रुईरंसि गंधे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो।।

*एकान्तरक्तो रुचिरे गन्धे*
*अतादृशे स करोति प्रदोषम्।*
*दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः*
*न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः।।*

जो मनोहर गन्ध में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर गन्ध में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५३. गंधाणुगासाणुगए च जीवे
चराचरे हिंसइणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे।।

*गन्धानुगाशानुगतश्च जीवः*
*चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।*
*चित्रैस्तान् परितापयति बालः*
*पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः।।*

मनोज्ञ गन्ध की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

५४. गंधाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे।।

*गन्धानुपातेन परिग्रहेण*
*उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।*
*व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?*
*सम्भोगकाले च अतृप्तिलाभः।।*

गन्ध में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य, उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहां है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे अतृप्ति ही होती है।

५५. गंधे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं।।

*गन्धे अतृप्तश्च परिग्रहे च*
*सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।*
*अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य*
*लोभाविल आदत्ते अदत्तम्।।*

जो गन्ध में अतृप्त होता है, उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की गन्धवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

५६. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
गंधे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

*तृष्णाभिभूतस्य अदत्तहारिणः*
*गन्धे अतृप्तस्य परिग्रहे च।*
*माया-मृषा वर्धते लोभदोषात्*
*तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः।।*

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और गन्ध-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

५७. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो
गंधे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो।।

*मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च*
*प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।*
*एवमदत्तानि समाददानः*
*गन्धे अतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः।।*

असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह गन्ध से अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

५८. गंधाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं।।

*गन्धानुरक्तस्य नरस्यैवं*
*कुतः सुखं भवेत् कदापि किंचित्?।*
*तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं*
*निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम्।।*

गन्ध में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहां से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

५९. एमेव गंधम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्म
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।

*एवमेव गन्ध गतः प्रदोषं*
*उपैति दुःखौघपरम्पराः।*
*प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म*
*यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके।।*

इसी प्रकार जो गन्ध में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेषयुक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

६०. गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

*गन्धे विरक्तो मनुजो विशोकः*
*एतेन दुःखौघपरम्परेण।*
*न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्*
*जलेनेव पुष्करिणीपलाशम्।।*

गन्ध से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रहकर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

६१. जिहाए रसं गहणं वयंति
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो।।

*जिह्वायाः रसं ग्रहणं वदन्ति*
*तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।*
*तं दोषहेतुममनोज्ञमाहुः*
*समश्च यस्तेषु स वीतरागः।।*

रस रसना का ग्राह्य—विषय है। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६२. रसस्स जिब्भं गहणं वयंति
जिब्भाए रसं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

*रसस्य जिह्वां ग्रहणं वदन्ति*
*जिह्वाया रसं ग्रहणं वदन्ति।*
*रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः*
*दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः।।*

रसना रस का ग्रहण करती है। रस रसना का ग्राह्य है। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

६३. रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे।।

*रसेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां*
*अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।*
*रागातुरो बडिशविभिन्नकायः*
*मत्स्यो यथा आमिषभोगगृद्धः।।*

जो मनोज्ञ रसों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे मांस खाने में गृद्ध बना हुआ रागातुर मत्स्य कांटे से बींधा जाता है।

६४. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू
रसं न किंचि अवरज्झई से।।

*यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं*
*तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।*
*दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः*
*रसो न किंचिद् अपराध्यति तस्य।।*

जो मनोज्ञ रस से तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। रस उसका कोई अपराध नहीं करता।

६५. एगंतरत्ते रुइरे रसम्मि
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो।।

*एकान्तरक्तो रुचिरे रसे*
*अतादृशे स करोति प्रदोषम्।*
*दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः*
*न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः।।*

जो मनोहर रसों में एकान्त अनुरक्त रहता है और अमनोहर रस में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

६६. रसाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे।।

*रसानुगाशानुगतश्च जीवः*
*चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।*
*चित्रैस्तान् परितापयति बालः*
*पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः।।*

मनोहर रस की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

६७. रसाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे।।

*रसानुपातेन परिग्रहेण*
*उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।*
*व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?*
*सम्भोगकाले च अतृप्तिलाभः।।*

रस में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहा है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे अतृप्ति ही होती है।

६८. रसे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं।।

*रसे अतृप्तश्च परिग्रहे च*
*सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।*
*अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य*
*लोभाविल आदत्ते अदत्तम्।।*

जो रस में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की रसवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

६९. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
रसे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

*तृष्णाभिभूतस्य अदत्तहारिणः*
*रसे अतृप्तस्य परिग्रहे च।*
*मायामृषा वर्द्धते लोभदोषात्*
*तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः।।*

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रस-परिग्रह में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

७०. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो
रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो।।

*मृषा पश्चाच्च परस्ताच्च*
*प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।*
*एवमदत्तानि समाददानः*
*रसे अतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः।।*

असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह रस में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रय-हीन हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७१. रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं ?।।

*रसानुरक्तस्य नरस्यैवं*
*कुतः सुखं भवेत् कदापि किंचित् ?।*
*तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं*
*निर्वर्त्तयति यस्य कृते दुःखम्।।*

रस में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहां से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है

७२. एमेव रसम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।

*एवमेव रसे गतः प्रदोषम्*
*उपैति दुःखौघपरम्पराः।*
*प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म*
*यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके।।*

इसी प्रकार जो रस में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

७३. रसे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

*रसे विरक्तो मनुजो विशोकः*
*एतेन दुःखौघपरम्परेण।*
*न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्*
*जलेनेव पुष्करिणीपलाशम्।।*

रस से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

७४. कायस्स फासं गहणं वयंति
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो।।

*कायस्य स्पर्शं ग्रहणं वदन्ति*
*तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।*
*तं दोषहेतुममनोज्ञमाहुः*
*समश्च यस्तेषु स वीतरागः।।*

स्पर्श काय का ग्राह्य—विषय है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

७५. फासस्स कायं गहणं वयंति
कायस्स फासं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

*स्पर्शस्य कायं ग्रहणं वदन्ति*
*कायस्य स्पर्शं ग्रहणं वदन्ति।*
*रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः*
*दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः।।*

काय स्पर्श का ग्रहण करता है। स्पर्श काय का ग्राह्य है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

७६. फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने
गाहग्गहीए महिसे वरण्णे।।

*स्पर्शेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां*
*अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।*
*रागातुरः शीतजलावसन्नः*
*ग्राहगृहीतो महिष इवारण्ये।।*

जो मनोज्ञ स्पर्शों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे घड़ियाल के द्वारा पकड़ा हुआ, अरण्य-जलाशय के शीतल जल में स्पर्श में मग्न बना, रागातुर भैंसा।

७७. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू
न किंचि फासं अवरज्झई से।।

*यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं*
*तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।*
*दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः*
*न किंचित् स्पर्शोऽपराध्यति तस्य।।*

जो अमनोज्ञ स्पर्श में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। स्पर्श उसका कोई अपराध नहीं करता।

७८. एगंतरत्ते रुइरंसि फासे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो।।

*एकान्तरक्तो रुचिरे स्पर्शे*
*अतादृशे स करोति प्रदोषम्।*
*दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः*
*न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः।।*

जो मनोहर स्पर्श में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर स्पर्श से द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

७९. फासाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे।।

*स्पर्शानुगाशानुगतश्च जीवः*
*चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।*
*चित्रैस्तान् परितापयति बालः*
*पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः।।*

मनोहर स्पर्श की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८०. फासाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे।।

*स्पर्शानुपातेन परिग्रहेण*
*उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।*
*व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?*
*सम्भोगकाले चातृप्तिलाभः।।*

स्पर्श में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहां है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

८१. फासे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेई तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं।।

*स्पर्शे अतृप्तश्च परिग्रहे च*
*सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।*
*अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य*
*लोभाविल आदत्ते अदत्तम्।।*

जो स्पर्श में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की स्पर्शवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

८२. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
फासे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

*तृष्णाभिभूतस्य अदत्तहारिणः*
*स्पर्शेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।*
*मायामृषा वर्धते लोभदोषात्*
*तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः।।*

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और स्पर्श-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

८३. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो
फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो।।

*मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च*
*प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।*
*एवमदत्तानि समाददानः*
*स्पर्शे अतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः।।*

असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह स्पर्श में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

८४. फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं।।

*स्पर्शानुरक्तस्य नरस्यैवं*
*कुतः सुखं भवेत् कदापि किंचित्?*
*तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुखं*
*निर्वर्त्तयति यस्य कृते दुःखम्।।*

स्पर्श में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहां से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

८५. एमेव फासम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।

*एवमेव स्पर्शे गतः प्रदोषम्*
*उपैति दुःखौघपरम्पराः।*
*प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म*
*यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके।।*

इसी प्रकार जो स्पर्श में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेषयुक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

८६. फासे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

*स्पर्शे विरक्तो मनुजो विशोकः*
*एतेन दुःखौघपरम्परेण।*
*न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्*
*जलेनेव पुष्करिणीपलाशम्।।*

स्पर्श से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

८७. मणस्स भावं गहणं वयंति
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं तु अमणुण्णमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो।।

*मनसो भावं ग्रहणं वदन्ति*
*तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः।*
*तं दोषहेतुममनोज्ञमाहुः*
*समश्च यस्तेषु स वीतरागः।।*

भाव मन का[16] ग्राह्य—विषय है। जो भाव राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ भावों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

८८. भावस्स मणं गहणं वयंति
मणस्स भावं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु।।

*भावस्य मनो ग्रहणं वदन्ति*
*मनसः भावं ग्रहणं वदन्ति।*
*रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः*
*दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः।।*

मन भाव का ग्रहण करता है। भाव मन का ग्राह्य है। जो भाव राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८९. भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे
करेणुमग्गावहिए व नागे।।

*भावेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां*
*अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।*
*रागातुरः कामगुणेषु गृद्धः*
*करेणुमार्गापहृत इव नागः।।*

जो मनोज्ञ भावों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे हथिनी के पथ में आकृष्ट काम-गुणों में गृद्ध बना हुआ रागातुर हाथी।

९०. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू
न किंचि भावं अवरज्झई से।।

*यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं*
*तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।*
*दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः*
*न किंचिद् भावोऽपराध्यति तस्य।।*

जो मनोज्ञ भाव में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। भाव उसका कोई अपराध नहीं करता।

९१. एगंतरत्ते रुइरंसि भावे
अतालिसे से कुणइ पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो।।

*एकान्तरक्तो रुचिरे भावे*
*अतादृशे स कुरुते प्रदोषम्।*
*दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः*
*न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः।।*

जो मनोहर भाव में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर भाव में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

९२. भावाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे।।

*भावानुगाशानुगतश्च जीवः*
*चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान्।*
*चित्रैस्तान् परितापयति बालः*
*पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः।।*

मनोहर भाव की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों को हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

९३. भावाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे।।

*भावानुपातेन परिग्रहेण*
*उत्पादने रक्षणसन्नियोगे।*
*व्यय वियोगे च क्व सुखं तस्य?*
*सम्भोगकाले च अतृप्तिलाभः।।*

भाव में अनुरक्त और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहां है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

९४. भावे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं।।

*भावे अतृप्तश्च परिग्रहे च*
*सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।*
*अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य*
*लोभाविल आदत्ते अदत्तम्।।*

जो भाव में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की वस्तुएं चुरा लेता है।

९५. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
भावे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से।।

*तृष्णाभिभूतस्य अदत्तहारिणः*
*भावे अतृप्तश्च परिग्रहे च।*
*मायामृषा वर्धते लोभदोषात्*
*तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः।।*

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और भाव-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

९६. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो
भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो।।

*मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च*
*प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः।*
*एवमदत्तानि समाददानः*
*भावे अतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः।।*

असत्य बोलेने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह भाव में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

९७. भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं।।

*भावानुरक्तस्य नरस्यैवं*
*कुतः सुखं भवेत् कदापि किंचित्?*
*तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं*
*निर्वर्त्तयति यस्य कृते दुःखम्।।*

भाव में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहां से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९८. एमेव भावम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।।

*एवमेव भावे गतः प्रदोषम्*
*उपैति दुःखौघपरम्पराः।*
*प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म*
*यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके।।*

इसी प्रकार जो भाव में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है, वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

९९. भावे विरत्तो मणुओ विसोगे
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।

*भावे विरक्तो मनुजो विशोकः*
*एतेन दुःखौघपरम्परेण।*
*न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्*
*जलेनेव पुष्करिणीपलाशम्।।*

भाव में विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

१००. एविंदियत्था य मणस्स अत्था
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं
न वीयरागस्स करेंति किंचि।।

*एवमिन्द्रियार्थाश्च मनसोऽर्थाः*
*दुःखस्य हेतवो मनुजस्य रागिणः।*
*ते चैव स्तोकमपि कदापि दुःखं*
*न वीतरागस्य कुर्वन्ति किंचित्।।*

इस प्रकार इन्द्रिय और मन के विषय रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु होते हैं। वे वीतराग के लिए कभी किंचित् भी दुःखदायी नहीं होते।

१०१. न कामभोगा समयं उवेंति
न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ।।

*न कामभोगाः समतामुपयन्ति*
*न चापि भोगा विकृतिमुपयन्ति।*
*यस्तत्प्रदोषी च परिग्रही च*
*स तेषु मोहाद् विकृतिमुपैति।।*

काम-भोग समता के हेतु भी नहीं होते और विकार के हेतु भी नहीं होते। जो पुरुष उनके प्रति द्वेष या राग करता है, वह तद्विषयक मोह के कारण विकार को प्राप्त होता है।

१०२. कोहं च माणं च तहेव मायं
लोहं दुगुंछं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं
नपुंसवेयं विविहे य भावे।।

*क्रोधं च मानं च तथैव मायां*
*लोभं जुगुप्सामरतिं रतिं च।*
*हासं भयं शोकपुंस्त्रीवेदं*
*नपुंसकवेदं विविधांश्च भावान्।।*

जो काम-गुणों में आसक्त होता है, वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री-वेद, नपुंसक-वेद तथा हर्ष, विषाद आदि विविध भावों को—

१०३. आवज्जई एवमणेगरूवे
एवंविहे कामगुणेसु रत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे
कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से।।

*आपद्यते एवमनेकरूपान्*
*एवं विधान् कामगुणेषु रक्तः।*
*अन्यांश्चैतत् प्रभवान् विशेषान्*
*कारुण्यदीनो ह्रीमान् द्वेष्यः।।*

इसी प्रकार अनेक प्रकार के विकारों को और उनसे उत्पन्न अन्य परिणामों को प्राप्त होता है और वह करुणास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय बन जाता है।

१०४. कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू
पच्छाणुतावे य तवप्पभावं।
एवं वियारे अमियप्पयारे
आवज्जई इंदियचोरवस्से।।

*कल्पं नेच्छेत् सहायलिप्सुः*
*पश्चात्तापश्च तपःप्रभावम्।*
*एवं विकारानमितप्रकारान्*
*आपद्यते इन्द्रियचोरवश्यः।।*

'यह मेरी शारीरिक सेवा करेगा'—इस लिप्सा से कल्प (योग्य शिष्य) की भी इच्छा न करे। तपस्या के प्रभाव (लब्धि आदि) की इच्छा न करे और तप का प्रभाव न होने पर पश्चात्ताप न करे। जो ऐसी इच्छा करता है वह इन्द्रियरूपी चोरों का[७७] वशवर्ती बना हुआ अपरिमित प्रकार के विकारों को[७८] प्राप्त होता है।

१०५. तओ से जायंति पओयणाइं
निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा
तप्पच्चयं उज्जमए य रागी।।

*ततस्तस्य जायन्ते प्रयोजनानि*
*निमज्जितुं मोहमहार्णवे।*
*सुखैषिणो दुःखविनोदनार्थं*
*तत्प्रत्ययमुद्यच्छति च रागी।।*

विकारों की प्राप्ति के पश्चात् उसके समक्ष उसे मोह-महार्णव में डुबोने वाले विषय-सेवन के प्रयोजन उपस्थित होते हैं। फिर वह सुख की प्राप्ति और दुःख के विनाश के लिए अनुरक्त बनकर उन प्रयोजनों की पूर्ति के लिए उद्यम करता है।

१०६. विरज्जमाणस्स य इंदियत्था
सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुण्णयं वा
निव्वत्तयंती अमणुण्णयं वा।।

*विरज्यमानस्य चेन्द्रियार्थाः*
*शब्दाद्यास्तावत्प्रकाराः।*
*न तस्य सर्वेऽपि मनोज्ञतां वा*
*निर्वर्त्तयन्ति अमनोज्ञतां वा।।*

जितने प्रकार के शब्द आदि इन्द्रिय-विषय हैं, वे सब विरक्त मनुष्य के मन में मनोज्ञता या अमनोज्ञता उत्पन्न नहीं करते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०७. एवं ससंकप्पविकप्पणासो
संजायई समयमुवट्ठियस्स।
अत्थे असंकप्पयतो तओ से
पहीयए कामगुणेसु तण्हा।।

*एवं स्व-संकल्प-विकल्पनाशः
संजायते समतामुपस्थितस्य।
अर्थान् असंकल्पयतस्ततस्तस्य
प्रहीयते कामगुणेषु तृष्णा।।*

इस प्रकार जो समता को प्राप्त हो जाता है, उसके संकल्प और विकल्प नष्ट हो जाते हैं। जो अर्थों—इन्द्रिय-विषयों का संकल्प नहीं करता, उसके कामगुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।[१६]

१०८. स वीयरागो कयसव्वकिच्चो
खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ
जं चंतरायं पकरेइ कम्मं।।

*स वीतरागः कृतसर्वकृत्यः
क्षपयति ज्ञानावरणं क्षणेन।
तथैव यत् दर्शनमावृणोति
यदन्तरायं प्रकरोति कर्म।।*

फिर वह वीतराग सब दिशाओं में कृतकृत्य होकर क्षण भर में ज्ञानावरण को क्षीण कर देता है। उसी प्रकार जो कर्म दर्शन का आवरण करता है और जो कर्म अन्तराय (विघ्न) करता है, उस दर्शनावरण और अंतराय कर्म को क्षीण कर देता है।

१०९. सव्वं तओ जाणइ पासए य
अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे।।

*सर्वं ततो जानाति पश्यति च
अमोहनो भवति निरन्तरायः।
अनाश्रवो ध्यानसमाधियुक्तः
आयुःक्षये मोक्षमुपैति शुद्धः।।*

तत्पश्चात् वह सब कुछ जानता और देखता है तथा मोह और अन्तराय रहित हो जाता है। अन्त में वह आश्रव रहित और ध्यान के द्वारा समाधि में लीन और शुद्ध होकर आयुष्य का क्षय होते ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

११०. सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को
जं बाहई सययं जंतुमेयं।
दीहामयविप्पमुक्को पसत्थो
तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो।।

*स तस्मात् सर्वस्मात् दुःखाद् मुक्तः
यद् बाधते सततं जन्तुमेनम्।
दीर्घामयविप्रमुक्तः प्रशस्तः
ततो भवत्यत्यन्तसुखी कृतार्थः।।*

जो इस जीव को निरन्तर पीड़ित करता है, उस अशेष दुःख और दीर्घकालीन कर्म-रोग से वह मुक्त हो जाता है। इसलिए वह प्रशंसनीय, अत्यन्त सुखी और कृतार्थ हो जाता है।

१११. अणाइकालप्पभवस्स एसो
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता
कमेण अच्चंतसुही भवंति।।

*अनादिकालप्रभवस्यैषः
सर्वस्य दुःखस्य प्रमोक्षमार्गः।
व्याख्यातः यं समुपेत्य सत्त्वाः
क्रमेण अत्यन्तसुखिनो भवन्ति।।*

मैंने अनादिकालीन सब दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बताया है, उसे स्वीकार कर जीव क्रमशः अत्यंत सुखी हो जाते हैं।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पण

# अध्ययन ३२ : प्रमादस्थान

### १. (अच्चंतकालस्स समूलगस्स)

अन्त का अर्थ है 'छोर'। वस्तु के दो छोर होते हैं—आरम्भ और समाप्ति। यहां आरम्भ क्षण का ग्रहण किया गया है। इसका शब्दार्थ है—जिनका आरम्भ न हो वैसा काल अर्थात् अनादि-काल।[1]

'समूलगस्स' का अर्थ है—मूल-सहित। दुःख का मूल कषाय और अविरति है। इसलिए उसे 'समूलक' अर्थात् कषाय-अविरति मूलक कहा गया है।[2]

### २. अज्ञान और मोह का (अण्णाण मोहस्स)

अज्ञान और मोह में एक आन्तरिक संबंध है। ज्ञान मोह के कारण ही अज्ञान बनता है। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ज्ञान और अज्ञान—दोनों में होता है। जिस ज्ञान के साथ दर्शनमोह के परमाणुओं का प्रवाह मिल जाता है वह ज्ञान अज्ञान बन जाता है। उससे तत्त्वश्रद्धा विपरीत हो जाती है। ज्ञान को अज्ञान बनाने वाला दर्शनमोह है। उसका विलय मोक्ष का पहला सोपान है।

### ३. गुरु और वृद्धों की (गुरुविद्ध)

गुरु का अर्थ है 'शास्त्र को यथावत् बताने वाला'। वृद्ध तीन प्रकार के होते हैं (१) श्रुत-वृद्ध, (२) पर्याय-वृद्ध और (३) वयो-वृद्ध।[3]

### ४. धैर्य (धिई)

धृति का अर्थ है—मन का नियमन करने वाली शक्ति। आयुर्वेद में यही अर्थ प्राप्त है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ चित्त की स्वस्थता, चित्त की अनुद्विग्नता किया है।[4] प्रस्तुत सूत्र में निगमन है कि चित्त की स्वस्थता के बिना ज्ञान का लाभ नहीं हो सकता। कहा है—'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति'।

### ५. (श्लोक ५)

मिलाइए—दशवैकालिक चूलिका, २।१०।

### ६. अकेला ही विहार करे (एक्को वि....विहरेज्ज)

सामान्य स्थिति में मुनि के लिए एकलविहार विहित नहीं है। स्थानांग में एकलविहार करने वाले की योग्यता का निर्देश है।[5] निर्दिष्ट योग्यता वाला मुनि ही आचार्य की अनुमति प्राप्त कर एकलविहार प्रतिमा को स्वीकार कर सकता है। प्रस्तुत श्लोक में एकलविहार प्रतिमा का प्रतिपादन नहीं है। इसमें आपवादिक स्थिति का उल्लेख है। यदि ऐसी स्थिति आ जाए कि अपने से अधिक गुणवाला और समान गुणवाला कोई मुनि न मिले, उस अवस्था में मुनि अकेला रहता हुआ अपनी साधना करे।

वृत्तिकार का कथन है कि यह विधान गीतार्थ मुनि के लिए है।[6]

### ७. मोह.... (मोह....)

मोह का शाब्दिक अर्थ है—मूर्च्छा, मूढता, चैतन्य की विकृति। प्रवचनसार में मोह के तीन चिन्ह बतलाए गए हैं[7]—(१) तत्त्व का अयथार्थ ग्रहण, (२) तिर्यञ्च और मनुष्य में होने वाली करुणा, (३) विषय का प्रसंग। क्रोध, मान आदि मोह के प्रकार हैं। उन सबके समूह का नाम मोह है।[8]

### ८. (श्लोक ७)

प्रस्तुत श्लोक में जन्म और मरण को दुःख कहा गया है। इसका सामान्य अर्थ है कि जन्म और मरण एक चक्र है। वह निरंतर चलता रहता है। उसमें अनेक दुःख भोगे जाते हैं, इस अपेक्षा से जन्म-मरण दुःख है।

वृत्तिकार ने दुःख की व्याख्या को एक नया आयाम दिया है। उनके अनुसार जन्म और मृत्यु के क्षण दुःखद होते हैं। उन क्षणों में प्राणी संतप्त होता है, तनाव से भर जाता है। उस तनाव के कारण अपने जन्म की स्मृति को विसार देता है। उस तनाव की अपेक्षा से ही जन्म और मरण को दुःख कहा गया है।[9]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२१ : अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तो,....अनादिः कालो यस्य सोऽयमत्यन्तकालस्तस्य।

२. वही, पत्र ६२१ : सह मूलेन—कषायाविरतिरूपेण वर्त्तत इति समूलकः (कः) प्राग्वत्तस्य, उक्तं हि—"मूलं संसारस्स उ हुंति कसाया अविरती य।"

३. वही, पत्र ६२२ : गुरवो—यथावच्छास्त्रभिधायका वृद्धाश्च—श्रुतपर्यायादिवृद्धाः।

४. वही, पत्र ६२२ : धृतिश्च चित्तस्वास्थ्यमनुद्विग्नत्वमित्यर्थः।

५. ठाणं, ८।१।

६. वृहद्वृत्ति, पत्र ६२३ : ....तथाविधगीतार्थयतिविषयं चैतद्, अन्यथैकाकिविहारस्यागमे निषिद्धत्वात्।

७. प्रवचनसार ८५ :
अट्ठे अजदागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु च पसंगो, मोहस्सेदाणि लिंगाणि।।

८. धवला १२।४।२।८ : क्रोध मानमायालोभहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्री-पुंनपुंसकवेदमिथ्यात्वानां समूहो मोहः।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२४ : जातिमरणस्यैवातिशयदुःखोत्पादकत्वात्, उक्तं हि—
मरमाणस्स जं दुक्खं, जायमाणस्स जंतुणो।
तेण दुक्खेण संतत्तो, न सरति जातिमप्पणो।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

### ९. (श्लोक ८)

मोह चेतना की मूर्च्छा है। वह तृष्णा—प्यास, अविरति उत्पन्न करता है। तृष्णा लोभ—पदार्थ संग्रह की वृत्ति को उत्पन्न करती है। उससे प्रेरित व्यक्ति पदार्थ का संग्रह करता है। यह एक चक्रक है। इसको वही तोड़ सकता है जो सबसे पहले मोह पर प्रहार करता है। मोह के टूटते ही तृष्णा टूट जाती है। तृष्णा के टूटते ही लोभ टूट जाता है। और लोभ के टूटते ही व्यक्ति पदार्थ-संग्रह से विरत हो जाता है, अकिंचन हो जाता है।

### १०. (श्लोक १०)

इस श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्मचारी को घी, दूध, दही आदि रसों का अतिमात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। यहां रस-सेवन का आत्यन्तिक निषेध नहीं है, किन्तु अतिमात्रा में उनके सेवन का निषेध है।

जैन आगम भोजन के सम्बन्ध में ब्रह्मचारी को जो निर्देश देते हैं, उनमें दो ये हैं—

(१) वह रसों को अतिमात्रा में न खाए और

(२) वह रसों को बार-बार या प्रतिदिन न खाए।

इसका फलित यह है कि वह वायु आदि के क्षोभ का निवारण करने के लिए रसों का सेवन कर सकता है। अकारण उनका सेवन नहीं कर सकता।

एक मुनि ने अपने प्रश्नकर्त्ता को यही बताया था—"मैं अति आहार नहीं करता हूं, अतिस्निग्ध आहार से विषय उद्दीप्त होते हैं, इसलिए उनका भी सेवन नहीं करता हूं। संयमी-जीवन की यात्रा चलाने के लिए खाता हूं, वह भी अतिमात्रा में नहीं खाता।"[1]

दूध आदि का सर्वथा सेवन न करने से शरीर शुष्क हो जाता है, बल घटता है और ज्ञान, ध्यान या स्वाध्याय की यथेष्ट प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उनका प्रतिदिन व अतिमात्रा में सेवन करने से विषय की वृद्धि होती है, इसलिए आचार्य को चाहिए कि वह अपने शिष्य को कभी स्निग्ध और कभी रूखा आहार दे।

### ११. (खड्डुए)

यह देशी धातु है। इसका अर्थ है—अन्त करना।[2]

### १२. (श्लोक २३)

चक्षु रूप का ग्रहण करता है। चक्षु का विषय है रूप। चक्षु और रूप—इन दोनों में ग्राह्य-ग्राहक भाव है। रूप है ग्राह्य और चक्षु है ग्राहक। इससे यह स्पष्ट होता है कि राग-द्वेष की उत्पत्ति में दोनों का सहकारी भाव है। जैसे रूप राग-द्वेष का कारण है वैसे ही चक्षु भी राग-द्वेष का कारण है।

प्रस्तुत श्लोक में मनोज्ञ के स्थान पर 'समनोज्ञ' का प्रयोग किया गया है—समणुन्नमाहु। वृत्तिकार ने इसकी अर्थ-संगति करने का प्रयास किया है।

ईर्ष्या, रोष, द्वेष—ये सारे द्वेष के पर्याय हैं। जिस अमनोज्ञ रूप के प्रति ईर्ष्या, रोष होता है वह सारा द्वेष ही है।[3]

### १३. आसक्ति (गिद्धि....)

वृत्तिकार ने गृद्धि का अर्थ राग किया है तथा 'वाचक' प्रवर का एक श्लोक उद्धृत कर राग के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख किया है। राग के पर्यायवाची ये हैं—इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गार्ध्य, ममत्व, अभिनन्द, अभिलाष आदि।[4]

### १४. (मिगे)

'मृग' शब्द के अनेक अर्थ हैं—पशु, मृगशीर्ष नक्षत्र, हाथी की एक जाति, कुरंग आदि। यहां मृग का अर्थ 'पशु' है।[5]

### १५. औषधियों (ओसहि)

वृत्तिकार ने औषधि को 'नागदमनी' आदि औषधियों का सूचक माना है।[6]

### १६. भाव मन का (मणस्स भावं)

कर्म के उदय अथवा क्षयोपशम से निष्पन्न चित्त की अवस्था का नाम है भाव। मनोवर्गणा के आलंबन से किया जाने वाला चित्त का व्यापार है—मन।

### १७. इन्द्रिय रूपी चोरों का (इंदिय चोर.....)

इन्द्रियां ज्ञान के स्रोत हैं। ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षायोपशमिक भाव हैं। उन्हें चोर सापेक्षदृष्टि से कहा गया है। जब वे राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति में लिप्त हो जाती हैं तब मनुष्य का धर्मरूपी सर्वस्व छिन जाता है। इस अपेक्षा से उन्हें चोर कहा गया है।[7]

### १८. विकारों को.....(वियारे....)

'वियार' के संस्कृत रूप दो बन सकते हैं—विकार और विचार। इन्द्रियवशवर्ती मनुष्य नाना प्रकार के विकारों अथवा नाना प्रकार के विचारों को प्राप्त होता है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२५ : 'रसाः' क्षीरादिविकृतयः 'प्रकामम्' अत्यर्थं 'न निषेवितव्याः' नोपभोक्तव्याः, प्रकामग्रहणं तु वातादिक्षोभनिवारणाय रसा अपि निषेवितव्या एव, निष्कारणनिषेवणस्य तु निषेध इति ख्यापनार्थम् उक्तं च—
"अव्वाहारो न सहे, अतिनिद्धेण विसया उदिज्जंति।
जायामायाहारो, तंपि पगामं ण भुंजामि।।"

२. वही, पत्र ६२८ : खुंदति—आर्षत्वात् क्षोदयन्ति—विनाशयन्ति।

३. वही, पत्र ६३०।

४. वही, पत्र ६३० : गृद्धि—गार्ध्यं रागमित्यर्थः। उक्तं हि वाचकैः—
इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि।।

५. वही, पत्र ६३४ : मृगः सर्वोऽपि पशुरुच्यते, युक्तम्—"मृगशीर्षे हस्तिजातौ, मृगः पशुकुरङ्गयोः।"

६. वही, पत्र ६३४ : तथौषधयो—नागदमन्यादिकाः।

७. वही, पत्र ६३६ : इंद्रियाणि चौरा इव धर्मसर्वस्वापहरणाद् इन्द्रियचौराः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. (श्लोक १०७)

महावीर की साधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—समता, इन्द्रियों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों के प्रति राग-द्वेष न करने का अभ्यास। समता की साधना के बिना ध्यान भी सफल नहीं होता। ध्यानकाल में वीतराग की स्थिति का-सा अनुभव होता है। ध्यान संपन्न करने पर इन्द्रियों के विषय सामने आते हैं। तब राग-द्वेष के संकल्प और विकल्प उभरते हैं। समता की साधना जैसे-जैसे आगे बढ़ती है वैसे-वैसे संकल्प-विकल्प का नाश होता चला जाता है। इन्द्रियों के अर्थों—विषयों का संकल्प-विकल्प नहीं होता, उस अवस्था में कामगुण विषयक तृष्णा अपने आप क्षीण हो जाती है। संकल्प और विकल्प तृष्णा का पोषण देते हैं। जैसे ही उनका पोषण बन्द होता है, तृष्णा अपने-आप प्रतनु बन जाती है।

वृत्तिकार ने 'समयं' शब्द के दो संस्कृत रूप ओर दिए हैं—'समकं'—एक साथ और 'समयं'—सिद्धान्त। किन्तु ये यहां प्रासंगिक नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तेतीसइमं अज्झयणं

## कम्मपयडी

# तेतीसवां अध्ययन

## कर्मप्रकृति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में कर्म की प्रकृतियों का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'कम्मपयडी'—'कर्मप्रकृति' है।

'कर्म' शब्द भारतीय दर्शन का बहुत परिचित शब्द है। जैन, बौद्ध और वैदिक—सभी दर्शनों ने इसे मान्यता दी है। यह क्रिया की प्रतिक्रिया है, अतः इसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। वैदिक आदि दर्शन कर्म को संस्कार रूप में स्वीकार करते हैं। जैन-दर्शन की व्याख्या उनसे विलक्षण है। उसके अनुसार कर्म पौद्गलिक है। जब-जब जीव शुभ या अशुभ प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है तब-तब वह अपनी प्रवृत्ति से पुद्गलों का आकर्षण करता है। वे आकृष्ट पुद्गल आत्मा के परिपार्श्व में अपने विशिष्ट रूप और शक्ति का निर्माण करते हैं। उन्हें कर्म कहा जाता है।

कर्म की मूल प्रवृत्तियां आठ हैं—

१. ज्ञानावरण—जो पुद्गल ज्ञान को आवृत करते हैं।
२. दर्शनावरण—जो पुद्गल दर्शन को आवृत करते हैं।
३. वेदनीय—जो पुद्गल सुख-दुःख के हेतु बनते हैं।
४. मोहनीय—जो पुद्गल दृष्टिकोण और चारित्र में विकार उत्पन्न करते हैं।
५. आयुष्य—जो पुद्गल जीवन-काल को निष्पन्न करते हैं।
६. नाम—जो पुद्गल शरीर आदि विविध रूपों की प्राप्ति के हेतु होते हैं।
७. गोत्र—जो पुद्गल उच्चता या नीचता की अनुभूति में हेतु होते हैं।
८. अन्तराय—जो पुद्गल शक्ति-विकास में बाधक होते हैं।

१. ज्ञानावरण पांच प्रकार का है—
(१) आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरण,
(२) श्रुतज्ञानावरण,
(३) अवधि ज्ञानावरण,
(४) मनःपर्यव ज्ञानावरण
(५) केवल ज्ञानावरण।

२. दर्शनावरण नौ प्रकार का है—
(१) निद्रा,
(२) प्रचला,
(३) निद्रा-निद्रा,
(४) प्रचला-प्रचला,
(५) स्त्यानर्द्धि,
(६) चक्षुदर्शनावरण,
(७) अचक्षुदर्शनावरण,
(८) अवधिदर्शनावरण,
(९) केवलदर्शनावरण।

३. वेदनीय दो प्रकार का है—(१) सात वेदनीय और (२) असात वेदनीय।

४. मोहनीय दो प्रकार का है—

(१) दर्शन मोहनीय। इसके तीन भेद हैं—सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय।

(२) चारित्र मोहनीय। यह दो प्रकार का है—कषाय मोहनीय और नो-कषाय मोहनीय।

कषाय मोहनीय १६ प्रकार का है—
अनन्तानुबन्धी चतुष्क— क्रोध, मान, माया, लोभ।
अप्रत्याख्यान चतुष्क— क्रोध, मान, माया, लोभ।
प्रत्याख्यान चतुष्क— क्रोध, मान, माया, लोभ।
संज्वलन चतुष्क— क्रोध, मान, माया, लोभ।

नो-कषाय मोहनीय नौ प्रकार का है—

हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद।

५. आयुष्य चार प्रकार का है—नैरयिक आयु, तिर्यग् आयु, मनुष्य आयु और देव आयु।

६. नाम दो प्रकार का है—शुभ और अशुभ।
इन दोनों के अनेक अवान्तर भेद हैं।

७. गोत्र दो प्रकार का है—उच्च गोत्र और नीच गोत्र।

उच्च गोत्र-कर्म के आठ भेद हैं—
(१) प्रशस्त जाति,
(२) प्रशस्त कुल,
(३) प्रशस्त बल,
(४) प्रशस्त रूप,
(५) प्रशस्त तपस्या,
(६) प्रशस्त श्रुत (ज्ञान),
(७) प्रशस्त लाभ,
(८) प्रशस्त ऐश्वर्य।

नीच गोत्र-कर्म के आठ भेद हैं—
(१) अप्रशस्त जाति,
(२) अप्रशस्त कुल,
(३) अप्रशस्त बल,
(४) अप्रशस्त रूप,
(५) अप्रशस्त तपस्या,
(६) अप्रशस्त श्रुत (ज्ञान),
(७) अप्रशस्त लाभ,
(८) अप्रशस्त ऐश्वर्य।

८. अन्तराय-कर्म पांच प्रकार का है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

## १. कर्मों की प्रकृति

कर्म की मूल प्रकृतियां उपर्युक्त आठ ही हैं। शेष सब उनकी उत्तर प्रकृतियां हैं। इनका विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना (पद २३) में है।

## २. कर्मों की स्थिति—

प्रत्येक कर्म की स्थिति होती है। स्थिति-काल के पूर्ण होने पर वह कर्म नष्ट हो जाता है। कई निमित्तों में स्थिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्यून या अधिक भी होती है।

(१) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस क्रोडाक्रोड सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

(२) मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० क्रोडाक्रोड सागर तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

(३) आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

(४) नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० क्रोडाक्रोड सागर तथा जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है।

### ३. कर्मों का अनुभाव

कर्म के विपाक को अनुभाग, अनुभाव, फल या रस कहा जाता है। विपाक दो प्रकार का है—तीव्र और मन्द। तीव्र परिणामों से बन्धे हुए कर्म का विपाक तीव्र तथा मन्द परिणामों से बन्धे हुए कर्म का विपाक मन्द होता है। विशेष प्रयत्न के द्वारा तीव्र मन्द और मन्द तीव्र हो जाता है।

### ४. कर्मों का प्रदेशाग्र

कर्म प्रायोग्य पुद्गल जीव की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के प्रदेशों के साथ चिपक जाते हैं। कर्म अनन्त-प्रदेशी पुद्गल-स्कन्ध होते हैं और आत्मा के असंख्य प्रदेशों के साथ एकीभाव हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# तेतीसइमं अज्झयणं : तेतीसवां अध्ययन
## कम्मपयडी : कर्मप्रकृति

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. अट्ठ कम्माइं वोच्छामि<br>आणुपुव्वि जहक्कमं।<br>जेहिं बद्धो अयं जीवो<br>संसारे परिवत्तए।। | *अष्ट कर्माणि वक्ष्यामि*<br>*आनुपूर्व्या यथाक्रमम्।*<br>*यैर्बद्धोऽयं जीवः*<br>*संसारे परिवर्तते।।* | मैं अनुपूर्वी से क्रमानुसार (पूर्वानुपूर्वी से) आठ कर्मों का निरूपण करूंगा, जिनसे बन्धा हुआ यह जीव संसार में परिवर्तन करता है। |
| २. नाणस्सावरणिज्जं<br>दंसणावरणं तहा।<br>वेयणिज्जं तहा मोहं<br>आउकम्मं तहेव य।। | *ज्ञानस्यावरणीयं*<br>*दर्शनावरणं तथा।*<br>*वेदनीयं तथा मोहः*<br>*आयुःकर्म तथैव च।।* | ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इस प्रकार संक्षेप में ये आठ कर्म हैं। |
| ३. नामकम्मं च गोयं च<br>अंतरायं तहेव य।<br>एवमेयाइ कम्माइं<br>अट्ठेव उ समासओ।। | *नामकर्म च गोत्रं च*<br>*अन्तरायस्तथैव च।*<br>*एवमेतानि कर्माणि*<br>*अष्टैव तु समासतः।।* | |
| ४. नाणावरणं पंचविहं<br>सुयं आभिणिबोहियं।<br>ओहिनाणं तइयं<br>मणनाणं च केवलं।। | *ज्ञानावरणं पंचविधं*<br>*श्रुतमाभिनिबोधिकम्।*<br>*अवधिज्ञानं तृतीयं*<br>*मनोज्ञानं च केवलम्।।* | ज्ञानावरण पांच प्रकार का है—(१) श्रुत-ज्ञानावरण, (२) आभिनिबोधिक-ज्ञानवरण, (३) अवधि-ज्ञानावरण, (४) मनोज्ञानावरण और (५) केवल-ज्ञानावरण। |
| ५. निद्दा तहेव पयला<br>निद्दानिद्दा य पयलपयला य।<br>तत्तो य थीणगिद्धी उ<br>पंचमा होइ नायव्वा।। | *निद्रा तथैव प्रचला*<br>*निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला च।*<br>*ततश्च स्त्यानगृद्धिस्तु*<br>*पंचमी भवति ज्ञातव्या।।* | (१) निद्रा, (२) प्रचला, (३) निद्रा-निद्रा, (४) प्रचला-प्रचला, (५) स्त्यानगृद्धि, |
| ६. चक्खुमचक्खुओहिस्स<br>दंसणे केवले य आवरणे।<br>एवं तु नवविगप्पं<br>नायव्वं दंसणावरणं।। | *चक्षुरचक्षुरवधेः*<br>*दर्शने केवले चावरणे।*<br>*एवं तु नवविकल्पं*<br>*ज्ञातव्यं दर्शनावरणम्।।* | (६) चक्षु-दर्शनावरण, (७) अचक्षु-दर्शनावरण, (८) अवधि-दर्शनावरण और (९) केवल-दर्शनावरण —इस प्रकार दर्शनावरण नौ प्रकार का है। |
| ७. वेयणीयं पि य दुविहं<br>सायमसायं च आहियं।<br>सायस्स उ बहू भेया<br>एमेव असायस्स वि।। | *वेदनीयमपि च द्विविधं*<br>*सातमसातं चाख्यातम्।*<br>*सातस्य तु बहवो भेदाः*<br>*एवमेव असातस्यापि।।* | वेदनीय दो प्रकार का है—(१) सात-वेदनीय और (२) असात-वेदनीय। इन दोनों वेदनीयों के अनेक प्रकार हैं।* |
| ८. मोहणिज्जं पि दुविहं<br>दंसणे चरणे तहा।<br>दंसणे तिविहं वुत्तं<br>चरणे दुविहं भवे।। | *मोहनीयमपि द्विविधं*<br>*दर्शने चरणे तथा।*<br>*दर्शने त्रिविधमुक्तं*<br>*चरणे द्विविधं भवेत्।।* | मोहनीय भी दो प्रकार का है—(१) दर्शन-मोहनीय और (२) चारित्र-मोहनीय। दर्शन-मोहनीय तीन प्रकार का और चारित्र-मोहनीय दो प्रकार का होता है। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं
सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ
मोहणिज्जस्स दंसणे।।

*सम्यक्त्वं चैव मिथ्यात्वं*
*सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च।*
*एतास्तिस्रः प्रकृतयः*
*मोहनीयस्य दर्शने।।*

(१) सम्यक्त्व, (२) मिथ्यात्व और (३) सम्यग्-मिथ्यात्व —दर्शन-मोहनीय की ये तीन प्रकृतियां हैं।

१०. चरित्तमोहणं कम्मं
दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु
नोकसायं तहेव य।।

*चरित्रमोहनं कर्म*
*द्विविधं तु व्याख्यातम्।*
*कषायमोहनीयं च*
*नोकषायं तथैव च।।*

चारित्र-मोहनीय दो प्रकार है—(१) कषाय-मोहनीय और (२) नोकषाय-मोहनीय।

११. सोलसविहभेएणं
कम्मं तु कासयजं।
सत्तविहं नवविहं वा
कम्मं नोकसायजं।।

*षोडशविधभेदेन*
*कर्म तु कषायजम्।*
*सप्तविधं नवविधं वा*
*कर्म च नोकषायजम्।।*

कषाय-मोहनीय कर्म के सोलह भेद होते हैं और नोकषाय-मोहनीय कर्म के सात या नौ भेद होते हैं।[२]

१२. नेरइयतिरिक्खाउ
मणुस्साउ तहेव य।
देवाउयं चउत्थं तु
आउकम्मं चउव्विहं।।

*नैरयिकतिर्यगायुः*
*मनुष्यायुस्तथैव च।*
*देवायुश्चतुर्थं तु*
*आयुःकर्म चतुर्विधम्।।*

आयु-कर्म चार प्रकार का है—(१) नैरयिक-आयु, (२) तिर्यग्-आयु, (३) मनुष्य-आयु और (४) देव-आयु।

१३. नामं कम्मं तु दुविहं
सुहमसुहं च आहियं।
सुहस्स उ बहू भेया
एमेव असुहस्स वि।।

*नाम कर्म द्विविधं*
*शुभमशुभं चाख्यातम्।*
*शुभस्य बहवो भेदाः*
*एवमेव अशुभस्यापि।*

नाम-कर्म दो प्रकार का है—(१) शुभ-नाम और (२) अशुभनाम। इन दोनों के अनेक प्रकार हैं।[३]

१४. गोयं कम्मं दुविहं
उच्चं नीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ
एवं नीयं पि आहियं।।

*गोत्रं कर्म द्विविधं*
*उच्चं नीचं चाख्यातम्।*
*उच्चमष्टविधं भवति*
*एवं नीचमप्याख्यातम्।।*

गोत्र-कर्म के दो प्रकार हैं—(१) उच्च गोत्र और (२) नीच गोत्र। इन दोनों के आठ-आठ प्रकार हैं।[४]

१५. दाणे लाभे य भोगे य
उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमंतरायं
समासेण वियाहियं।।

*दाने लाभे च भोगे च*
*उपभोगे वीर्ये तथा।*
*पंचविधोन्तरायः*
*समासेन व्याख्यातः।।*

अन्तराय-कर्म संक्षेप में पांच प्रकार का है—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।[५]

१६. एयाओ मूलपयडीओ
उत्तराओ य आहिया।
पएसग्गं खेत्तकाले य
भावं चादुत्तरं सुण।।

*एता मूलप्रकृतयः*
*उत्तराश्चाख्याताः।*
*प्रदेशाग्रं क्षेत्रकालौ च*
*भावं चोत्तरं शृणु।।*

कर्मों की ये ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियां और श्रुत-ज्ञानावरण आदि सत्तावन उत्तर प्रकृतियां कही गई हैं। इसके आगे तू उनके प्रदेशाग्र (परमाणुओं के परिमाण) क्षेत्र काल और भाव (अनुभाग-पर्याय) को सुन।

१७. सव्वेसिं चेव कम्माणं
पएसग्गमणंतगं।
गंठियसत्ताईयं
अंतो सिद्धाण आहियं।।

*सर्वेषां चैव कर्मणां*
*प्रदेशाग्रमनन्तकम्।*
*ग्रन्थिकसत्त्वातीतम्*
*अन्तः सिद्धानामाख्यातम्।।*

एक समय में ग्राह्य सब कर्मों का प्रदेशाग्र अनन्त है। वह अभव्य जीवों से अनन्त गुना अधिक और सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितना होता है।[६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. सव्वजीवाण कम्मं तु
संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु
सव्वं सव्वेण बद्धगं।।

*सर्वजीवानां कर्म तु*
*संग्रहे षड्दिशागतम्।*
*सर्वेष्वपि प्रदेशेषु*
*सर्वसर्वेण बद्धकम्।।*

सब जीवों के संग्रह-योग्य पुद्गल छहों दिशाओं - आत्मा से संलग्न सभी आकाश प्रदेशों में स्थित हैं। वे सब कर्म-परमाणु बन्ध-काल में एक आत्मा के सभी प्रदेशों के साथ सम्बद्ध होते हैं।[७]

१९. उदहीसरिनामाणं
तीसई कोडिकोडिओ।
उक्कोसिया ठिई होइ
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*उदधिसदृग्नाम्नां*
*त्रिंशत् कोटिकोट्यः।*
*उत्कृष्टा स्थितिर्भवति*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका।।*

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।[८]

२०. आवरणिज्जाण दुण्हं पि
वेयणिज्जे तहेव य।
अंतराए य कम्मम्मि
ठिई एसा विहाहिया।।

*आवरणयोर्द्वयोरपि*
*वेदनीये तथैव च।*
*अन्तराये च कर्मणि*
*स्थितिरेषा व्याख्याता।।*

२१. उदहीसरिनामाणं
सत्तरिं कोडिकोडिओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा
अंतोमुहूत्तं जहन्निया।।

*उदधिसदृग्नाम्नां*
*सप्ततिः कोटिकोट्यः।*
*मोहनीयस्योत्कृष्टा*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका।।*

मोहनीय-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

२२. तेत्तीस सागरोवमा
उक्कोसेण वियाहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*स्थितिरत्वायुःकर्मणः*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका।।*

आयु-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

२३. उदहीसरिनामाणं
वीसई कोडिकोडिओ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा
अट्ठ मुहुत्ता जहन्निया।।

*उदधिसदृग्नाम्नां*
*विंशतिः कोटिकोट्यः।*
*नामगोत्रयोरुत्कृष्टा*
*अष्ट मुहूर्त्ता जघन्यिका।।*

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की होती है।

२४. सिद्धाणणंतभागो य
अणुभागा हवंति उ।
सव्वेसु वि पएसग्गं
सव्वजीवेसुइच्छियं।।

*सिद्धानामनन्तभागश्च*
*अनुभागा भवन्ति तु।*
*सर्वेष्वपि प्रदेशाग्रं*
*सर्वजीवेभ्योऽतिक्रान्तम्।।*

कर्मों के अनुभाग सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितने होते हैं। सब अनुभागों का प्रदेश-परिमाण—रसविभाग का परिमाण सब जीवों से अधिक होता है।[९]

२५. तम्हा एएसि कम्माणं
अणुभागे वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव
खवणे य जए बुहे।।

*तस्मादेतेषां कर्मणाम्*
*अनुभागान् विज्ञाय।*
*एतेषां सम्वरे चैव*
*क्षपणे च यतेत बुधः।।*

इन कर्मों के अनुभागों को जानकर बुद्धिमान् इनका निरोध और क्षय करने का यत्न करे।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पण

# अध्ययन ३३ : कर्मप्रकृति

**१. (श्लोक ७)**

सातवेदनीय और असातवेदनीय के अनेक प्रकार हैं। प्रज्ञापना के अनुसार प्रत्येक के आठ-आठ प्रकार हैं। जिनके आधार पर सात और असात का वेदन होता है, उनके आधार पर ये भेद किए हैं। सातवेदनीय के आठ प्रकार—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ गंध ओर मनोज्ञ स्पर्श तथा कायसुखता, वाणीसुखता और मनःसुखता। इनसे विपरीत असातवेदनीय के भेद हैं।[1]

**२. (श्लोक ११)**

चारित्र-मोहनीय कर्म के दो रूप हैं—(१) कषाय-मोहनीय और (२) नो-कषाय-मोहनीय। कषाय-मोहनीय कर्म के १६ प्रकार हैं—

अनन्तानुबन्धी—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।

अप्रत्याख्यानी—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।

प्रत्याख्यानी—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।

संज्वलन—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।

जो साधन मूलभूत कषायों को उत्तेजित करते हैं, वे 'नो-कषाय' कहलाते हैं। उनकी गणना दो प्रकार से हुई है। एक गणना के अनुसार वे नौ हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा, (७) पुरुष-वेद, (८) स्त्री-वेद और (९) नपुंसक-वेद।[2] दूसरी गणना के अनुसार वे सात हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा और (७) वेद।[3]

**३. (श्लोक १३)**

शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म के अनेक प्रकार हैं। प्रज्ञापना में नामकर्म के बयालीस प्रकार निर्दिष्ट हैं और प्रत्येक भेद के अनेक अवान्तर भेद प्रतिपादित हैं।[4] इसमें शुभ-अशुभ का भेद निर्दिष्ट नहीं है। उत्तराध्ययन के वृत्तिकार ने शुभ नामकर्म के ३७ भेद तथा अशुभ नामकर्म के ३३ भेद उल्लिखित किए हैं।[5]

**४. (श्लोक १४)**

गोत्र का अर्थ है 'कुलक्रमागत आचरण।' उच्च आचरण को 'उच्च गोत्रकर्म' और नीच आचरण को 'नीच गोत्रकर्म' कहा जाता है।[6] वे आठ प्रकार के हैं। ये प्रकार उनके बंधनों के आधार पर माने गए हैं।

उच्च गोत्रकर्म बंध के आठ कारण हैं[7]—

| | |
|---|---|
| (१) जाति का अमद, | (५) ऐश्वर्य का अमद, |
| (२) कुल का अमद, | (६) श्रुत का अमद, |
| (३) बल का अमद, | (७) लाभ का अमद और |
| (४) तपस्या का अमद, | (८) रूप का अमद। |

नीच गोत्रकर्म बंध के आठ कारण हैं[8]—

| | |
|---|---|
| (१) जाति का मद, | (५) ऐश्वर्य का मद, |
| (२) कुल का मद, | (६) श्रुत का मद, |
| (३) बल का मद, | (७) लाभ का मद और |
| (४) तपस्या का मद, | (८) रूप का मद। |

**५. (श्लोक १५)**

प्रस्तुत श्लोक में अन्तराय कर्म के पांच प्रकार निर्दिष्ट हैं। बृहद्वृत्ति में उनकी व्याख्या इस प्रकार है[9]—

१. दानान्तराय—दान लेने वाला भी विशिष्ट है, देय वस्तु भी विशिष्ट है और दाता दान के फल से अभिज्ञ है, किन्तु वह दान दे नहीं पाता।

२. लाभान्तराय—दाता भी विशिष्ट है और याचक भी निपुण है किन्तु याचक की उपलब्धि में वह उपघात पैदा करता है।

३. भोगान्तराय—सम्पदा होने पर भी व्यक्ति के भोग में बाधा आती है। जो पदार्थ एक बार काम में आते हैं वे भोग कहलाते हैं, जैसे—पुष्प, आहार आदि।

४. उपभोगान्तराय—वस्त्र, अलंकरण की प्राप्ति होने

---

१. पण्णवणा, २३।३०,३१।
२. वही, २३।३४-३६।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६४३।
४. पण्णवणा, २३।३८-५६।
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ६४४।
६. गोम्मटसार, कर्मकांड, १३ :
सन्ताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं नीचं हवे गोदं।।
७. पण्णवणा, २३।५८।
८. वही, २३।५८।
९. बृहद्वृत्ति, पत्र ६४५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर भी व्यक्ति उनका उपभोग नहीं कर पाता। जो बार-बार काम में आते हैं वे उपभोग कहलाते हैं। जैसे—भवन, स्त्री आदि।

५. वीर्यान्तराय—व्यक्ति बलवान् है, स्वस्थ है, तरुण है फिर भी वह एक तिनके को भी तोड़ नहीं सकता।

तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी टीका में इनकी व्याख्या इस प्रकार है[1]—

१. दानान्तराय—जब समस्त दानान्तराय कर्म का क्षय हो जाता है तब दाता याचक को यथेप्सित वस्तु देने में समर्थ हो सकता है।

२. लाभान्तराय—जब इस कर्म का सर्वथा क्षय होता है तब व्यक्ति धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग की समस्त सामग्री प्राप्त कर सकता है और उसे अचिन्त्य माहात्म्य की शक्ति भी प्राप्त हो जाती है, जिससे वह जो चाहे वह लाभ प्राप्त कर सकता है।

३. भोगान्तराय—इसके क्षीण होने पर वस्तु का भोग निर्बाध हो जाता है।

४. उपभोगान्तराय—इसके क्षीण होने पर उपभोग की सामग्री की उपलब्धि में कोई बाधा नहीं रहती।

५. वीर्यान्तराय—इसके क्षय से अप्रतिहत शक्ति प्रगट होती है।

## ६. (श्लोक १७)

इस श्लोक में एक समय में बंधने वाले कर्म-स्कंधों का प्रदेशाग्र (परमाणु-परिमाण) बतलाया गया है। आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म-वर्गणाएं चिपकी रहती हैं। किन्तु जो कर्म-वर्गणाएं एक क्षण में आत्म-प्रदेशों से आश्लिष्ट होती हैं, उनका परिमाण यहां विवक्षित है।

ग्रंथिक-सत्त्व का अर्थ है 'अभव्य जीव'। इनकी राग-द्वेषात्मक ग्रंथि अभेद्य होती है, इसलिए इन्हें 'ग्रन्थिक' कहा जाता है। सिद्ध अर्थात् मुक्त जीव जघन्य-युक्तानन्त (अनन्त का चौथा प्रकार) होते हैं और सिद्ध अनन्तानन्त होते हैं। एक समय में बंधने वाले कर्म-परमाणु ग्रन्थिक जीवों से अनन्त गुण अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भाग जितने होते हैं। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में इसकी संवादी गाथा जो है, वह इस प्रकार है—

*सिद्धणंतियभागं, अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।*
*समयपबद्धं बंधदि, जोगवसादो दु विसरित्थं।।४।।*

## ७. (श्लोक १८)

आत्मा का अवगाहन पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व तथा अधस्—इन छहों दिशाओं में होता है। इन दिशाओं में जो आत्मा से अन्तरावगाढ़ कर्म-प्रायोग्य पुद्गल हैं, उनका आत्मा ग्रहण करती है। यहां जो छह दिशाओं का विधान किया गया है वह द्वीन्द्रिय आदि जीवों की अपेक्षा से है। एकेन्द्रिय जीव तीन, चार, पांच या छह दिशाओं से भी कर्म-पुद्गल ग्रहण करते हैं। द्वीन्द्रिय आदि जीव नियमतः छह दिशाओं से ही कर्म-पुद्गल ग्रहण करते हैं। इन छह दिशाओं में स्थित कर्म-प्रायोग्य पुद्गल आत्मा के सभी प्रदेशों से सम्बद्ध होते हैं। ऐसा नहीं होता कि आत्मा के कुछेक प्रदेश ही कर्मों से संबद्ध होते हों।

कर्मबन्ध का एक नियम है—आत्मा सब कर्म प्रकृतियों के प्रायोग्य पुद्गलों का ग्रहण सामान्य रूप से करती है और अध्यवसाय की भिन्नता के आधार पर उन्हें ज्ञानावरण आदि विभिन्न रूपों में परिणत करती है।

कर्मबन्ध का दूसरा नियम है—कर्म-पुद्गल आत्मा के सभी प्रदेशों के साथ सम्बद्ध होते हैं, कुछेक प्रदेशों से नहीं।

## ८. (श्लोक १९-२०)

सूत्रकार ने वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की बतलाई है। तत्त्वार्थ ८।१६ में उसकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की निरूपित है। शान्त्याचार्य ने लिखा है कि इस मतान्तर का आधार ज्ञात नहीं है।[2] यह अन्वेषणीय है।

## ९. (श्लोक २४)

सबसे पहले अल्परस वाले कर्म-परमाणुओं की प्रथम वर्गणा होती है। उसमें कर्म-परमाणु सबसे अधिक होते हैं। उसकी अपेक्षा द्वितीय वर्गणा के कर्म-परमाणु विशेषहीन हो जाते हैं और तृतीय वर्गणा में उससे भी हीन हो जाते हैं। सर्वोत्कृष्ट वर्गणा सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण होती है। इन वर्गणाओं में रस-विभाग की क्रमशः वृद्धि होती है और कर्म-वर्गणाओं की क्रमशः हानि होती है।[3]

कर्म-ग्रहण के समय जीव कर्म-परमाणुओं के अनुभाग—विपाकशक्ति अथवा रसविभाग-उत्पन्न करता है। कर्म-परमाणुओं में होने वाले अनुभाग का अविभाज्य अंश रसविभाग कहलाता है। एक-एक कर्म-परमाणु में सब जीवों से अनन्तगुण अधिक रस-विभाग होते हैं।[4]

---

१. तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी टीका, पृ० १४३।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६४७ : द्वादशमुहूर्त्तमानामेवैतामिच्छन्ति, तदभिप्रायं न विद्मः।

३. कर्मप्रकृति, बंधनकरण ३० :
सव्वप्पगुणा ते पढम वग्गणा सेसिया विसेसूणा।
अविभागुत्तरियाओ सिद्धाणमणंतभागसमा।।

४. वही, बंधनकरण २६ :
गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएइ गुणं सपच्चयओ।
सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसुं।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# चउतीसइमं अज्झयणं

## लेसज्झयणं

# चौतीसवां अध्ययन

## लेश्या-अध्ययन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन का नाम 'लेसज्झयणं'—'लेश्या-अध्ययन' है। इसका अधिकृत विषय कर्म-लेश्या है।[1] इसमें कर्म-लेश्या के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य का निरूपण किया गया है। इसका विशद वर्णन प्रज्ञापना (पद १७) में मिलता है।

लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। इसकी खोज जीव और पुद्गल के स्कंधों का अध्ययन करते समय हुई है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक वर्ग हैं। उनमें एक वर्ग का नाम लेश्या है। लेश्या शब्द का अर्थ आणविक-आभा, कांति, प्रभा या छाया है।[2] छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव-परिणामों को भी लेश्या कहा गया है।[3] प्राचीन साहित्य में शरीर के वर्ण, आणविक-आभा और उससे प्रभावित होने वाले विचार—इन तीनों अर्थों में लेश्या की मार्गणा की गई है।

शरीर के वर्ण और आणविक-आभा को द्रव्य-लेश्या[4] (पौद्गलिक-लेश्या) और विचार को भाव-लेश्या[5] (मानसिक-लेश्या) कहा गया है।

प्रस्तुत अध्ययन में कृष्ण, नील और कापोत—इस प्रथम त्रिक को 'अधर्म-लेश्या' और तेजस्, पद्म और शुक्ल—इस द्वितीय त्रिक को 'धर्म-लेश्या' कहा गया है। (श्लो० ५६,५७)

अध्ययन के आरम्भ में छहों लेश्याओं को 'कर्म-लेश्या' कहा गया है। (श्लो० १)

आणविक-आभा कर्म-लेश्या का ही नामान्तर है। आठ कर्मों में छठा कर्म नाम है। उसका सम्बन्ध शरीर-रचना सम्बन्धी पुद्गलों से है। उसकी एक प्रकृति शरीर-नामकर्म है। शरीर-नामकर्म के पुद्गलों का ही एक वर्ग 'कर्म-लेश्या' कहलाता है।[6]

लेश्या की अनेक परिभाषाएं मिलती हैं। जैसे—

१. योग-परिणाम।[7]

२. कषायोदयरंजित योग-प्रवृत्ति।[8]

३. कर्म-निस्यन्द।[9]

४. कार्मण शरीर की भांति कर्म-वर्गणा निष्पन्न कर्म-द्रव्य।[10]

इन शास्त्रीय परिभाषाओं के अनुसार लेश्या से जीव और कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध होता है, कर्म की स्थिति निष्पन्न होती है और कर्म का उदय होता है। इन सारे अभिमतों से इतनी निष्पत्ति तो निश्चित है कि आत्मा की शुद्धि और अशुद्धि के साथ लेश्या जुड़ी हुई है।

प्रभाववाद की दृष्टि से दोनों परम्पराएं प्राप्त होती हैं—

१. पौद्गलिक लेश्या का मानसिक विचारों पर प्रभाव।

२. मानसिक विचारों का लेश्या पर प्रभाव।

*कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः।*
*स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्तते।।*

इस प्रसिद्ध श्लोक की ध्वनी यही है—कृष्ण आदि लेश्या-पुद्गल जैसे होते हैं, वैसे ही मानसिक परिणति होती है। दूसरी धारा यह है—कषाय की मंदता से अध्यवसाय की शुद्धि होती है और अध्यवसाय की शुद्धि से लेश्या की शुद्धि होती है।[11] प्रस्तुत अध्ययन से भी यही ध्वनित होता है।

पांच आश्रवों में प्रवृत्त मनुष्य कृष्ण-लेश्या में परिणत होता है अर्थात् उसकी आणविक-आभा (पर्यावरण) कृष्ण होती है। लेश्या के लक्षण गोम्मटसार (जीवकांड ५०८-५१६) तथा तत्त्वार्थ-वार्तिक (४।२२) में मिलते हैं।

मनुस्मृति (१२।२६-३८) में सत्त्व, रजस् और तमस् के जो लक्षण और कार्य बतलाए गए हैं, वे लेश्या के लक्षणों से तुलनीय हैं।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५४१ : अहिगारो कम्मलेसाए।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५० : लेश्यातिं—श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या—अतीव चक्षुराक्षिप्तिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया।

३. मूलाराधना, ७।१९०७ :
जह बाहिरलेस्साओ, किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स।
अब्भन्तरलेस्साओ, तह किण्हादीय पुरिसस्स।।

४. (क) गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा, ४९४ :
वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वओ लेस्सा।
सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण।।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५३९।

५ उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५४० :
दुविहा उ भावलेसा विसुद्धलेसा तहेव अविसुद्धा।
दुविहा विसुद्धलेसा, उवसमखइआ कसायाणं।।

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५० : इह च कर्मद्रव्यलेश्येति सामान्याभिधानेपि शरीरनामकर्मद्रव्याण्येव कार्मद्रव्यलेश्या।

७. वही, पत्र ६५० : यदुक्तं प्रज्ञापनावृत्तिकृता—योगपरिणामो लेश्या...।

८. गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा ४९० :
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ।

९. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५० : गुरवस्तु व्याचक्षते—कर्मनिस्यन्दो लेश्या।

१०. वही, पत्र ६५१ : अन्ये त्वाहुः—कार्मणशरीरवत् पृथगेव कर्माष्टकात् कर्मवर्गणानिष्पन्नानि कर्मलेश्याद्रव्याणीति, तत्त्वं तु पुनः केवलिनो विदन्ति।

११. (क) मूलाराधना, ७।१९११ :
लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जनस्स।
अज्झवसाणविसोधी, मंदलेसायस्स णादव्वा।।
(ख) मूलाराधना (अमितगति), ७।१९९७ :
अन्तर्विशुद्धितो जन्तोः, शुद्धिः सम्पद्यते बहिः।
बाह्यो हि शुध्यते दोषः सर्वमन्तरदोषतः।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# चउतीसइमं अज्झयणं : चौतीसवां अध्ययन
## लेसज्झयणं : लेश्या-अध्ययन

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. लेसज्झयणं पवक्खमि<br>आणपुव्विं जहक्कमं।<br>छण्हं पि कम्मलेसाणं<br>अणुभावे सुणेह मे।। | *लेश्याध्ययनं प्रवक्ष्यामि*<br>*आनुपूर्व्या यथाक्रमम्।*<br>*षण्णामपि कर्मलेश्यानां*<br>*अनुभावान् शृणुत मे।।* | मैं अनुपूर्वी के क्रमानुसार (पूर्वानुपूर्वी से) लेश्या-अध्ययन का निरूपण करूंगा। छहों कर्म-लेश्याओं के अनुभावों को तुम मुझ से सुनो।[1] |
| २. नामाइं वण्णरसगंध-<br>फासपरिणामलक्खणं।<br>ठाणं ठिइं गइं चाउं<br>लेसाणं तु सुणेह मे।। | *नामानि वर्णरसगन्ध-*<br>*स्पर्शपरिणामलक्षणानि।*<br>*स्थानं स्थितिं गतिं चायुः*<br>*लेश्यानां तु शृणुत मे।।* | लेश्याओं के नाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य को तुम मुझ से सुनो। |
| ३. किण्हा नीला य काऊ य<br>तेऊ पम्हा तहेव य।<br>सुक्कलेसा य छट्ठा उ<br>नामाइं तु जहक्कमं।। | *कृष्णा नीला च कापोती च*<br>*तैजसी पद्मा तथैव च।*<br>*शुक्ललेश्या च षष्ठी तु*<br>*नामानि तु यथाक्रमम्।।* | यथाक्रम से लेश्याओं के ये नाम हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेजस्, (५) पद्म[2] और (६) शुक्ल। |
| ४. जीमूयनिद्धसंकासा<br>गवलरिट्ठगसन्निभा।<br>खंजणंजणनयणनिभा<br>किण्हलेसा उ वण्णओ।। | *स्निग्धजीमूतसंकाशा*<br>*गवलारिष्टकसन्निभा।*<br>*खंजनाञ्जननयननिभा*<br>*कृष्णलेश्या तु वर्णतः।।* | कृष्ण लेश्या का वर्ण स्निग्ध मेघ, महिष[3] द्रोण-काक,[4] खञ्जन, अंजन व नयन-तारा के समान होता है। |
| ५. नीलासोगसंकासा<br>चासपिच्छसमप्पभा।<br>वेरुलियनिद्धसंकासा<br>नीललेसा उ वण्णओ।। | *नीलाऽशोकसंकाशा*<br>*चापपिच्छसमप्रभा।*<br>*स्निग्धवैडूर्यसंकाशा*<br>*नीललेश्या तु वर्णतः।।* | नील लेश्या का वर्णन नीलअशोक, चाष पक्षी के परों व स्निग्ध वैडूर्य मणि के समान होता है। |
| ६. अयसीपुप्फसंकासा<br>कोइलच्छदसन्निभा।<br>पारेवयगीवनिभा<br>काउलेसा उ वण्णओ।। | *अतसी पुष्पसंकाशा*<br>*कोकिलच्छदसन्निभा।*<br>*पारापतग्रीवानिभा*<br>*कापोतलेश्या तु वर्णतः।।* | कापोत लेश्या का वर्ण अलसी के पुष्प, तैल-कण्टक[5] व कबूतर की ग्रीवा के समान होता है। |
| ७. हिंगुलुयधाउसंकासा<br>तरुणाइच्चसन्निभा।<br>सुयतुंडपईवनिभा<br>तेउलेसा उ वण्णओ।। | *हिंगुलुकधातुसंकाशा*<br>*तरुणादित्यसन्निभा।*<br>*शुकतुण्डप्रदीपनिभा*<br>*तेजोलेश्या तु वर्णतः।।* | तेजो लेश्या का वर्ण हिंगुल, धातु—गेरु, नवोदित सूर्य, तोते की चोंच, प्रदीप की लौ के समान होता है। |
| ८. हरियालभेयसंकासा<br>हलिद्दाभेयसंनिभा।<br>सणासणकुसुमनिभा<br>पम्हलेसा उ वण्णओ।। | *हरितालभेदसंकाशा*<br>*हरिद्राभेदसन्निभा।*<br>*सणासनकुसुमनिभा*<br>*पद्मलेश्या तु वर्णतः।।* | पद्म लेश्या का वर्ण भिन्न-हरिताल, भिन्न-हल्दी, सण और असन के पुष्प के समान होता है। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | |
|---|---|---|
| ९. संखंककुंदसंकासा<br>खीरपूरसमप्पभा।<br>रययहारसंकासा<br>सुक्कलेसा उ वण्णओ।। | *शङ्खाङ्ककुन्दसंकाशा*<br>*क्षीरपूरसमप्रभा।*<br>*रजतहारसंकाशा*<br>*शुक्ललेश्या तु वर्णतः।।* | शुक्ल लेश्या का वर्ण शंख, अंकमणि, कुंद-पुष्प, दुग्ध-प्रवाह, चांदी व मुक्ताहार के समान होता है। |
| १०. जह कडुयतुंबगरसो<br>निंबरसो कडुयरोहिणिरसो वा।<br>एत्तो वि अणंतगुणो<br>रसो उ किण्हाए नायव्वो।। | *यथा कटुकतुम्बकरसः*<br>*निम्बरसः कटुकरोहिणीरसो वा।*<br>*इतोऽप्यनन्तगुणः*<br>*रसस्तु कृष्णाया ज्ञातव्यः।।* | कडुवे तूम्बे, नीम व कटुक रोहिणी का रस जैसा कडुवा होता है, उससे भी अनन्त गुना कडुवा रस कृष्ण लेश्या का होता है। |
| ११. जह तिगडुयस्स य रसो<br>तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा।<br>एत्तो वि अणंतगुणो<br>रसो उ नीलाए नायव्वो।। | *यथा त्रिकटुकस्य च रसः*<br>*तीक्ष्णः यथा हस्तिपिप्पल्या वा।*<br>*इतोऽप्यनन्तगुणः*<br>*रसस्तु नीलाय ज्ञातव्यः।।* | त्रिकटु[६]—सूंठ, पिप्पल और कालीमिर्च तथा गजपीपल का रस जैसा तीखा होता है, उससे भी अनन्त गुना तीखा रस नील लेश्या का होता है। |
| १२. जह तरुणअंबगरसो<br>तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ।<br>एत्तो वि अणंतगुणो<br>रसो उ काऊए नायव्वो।। | *यथा तरुणाम्रकरसः*<br>*तुवरकपित्थस्य वापि यादृशः।*<br>*इतोऽप्यनन्तगुणः*<br>*रसस्तु कापोताया ज्ञातव्यः।।* | कच्चे आम और कच्चे[७] कपित्थ का रस जैसा कसैला होता है, उससे भी अनंत गुना कसैला रस कापोत लेश्या का होता है। |
| १३. जहपरिणयंबगरसो<br>पक्वकविट्ठस्स वावि जारिसओ।<br>एत्तो वि अणंतगुणो<br>रसो उ तेऊए नायव्वो।। | *यथा परिणताम्रकरसः*<br>*पक्वकपित्थस्य वापि यादृशः।*<br>*इतोऽप्यनन्तगुणः*<br>*रसस्तु तेजोलेश्याया ज्ञातव्यः।।* | पके हुए आम और पके हुए कपित्थ का रस जैसा खट-मीठा होता है, उससे भी अनंत गुना खट-मीठा रस तेजो लेश्या का होता है। |
| १४. वरवारुणीए व रसो<br>विविहाण व आसवाण जारिसओ<br>महुमेरगस्स व रसो<br>एत्तो पम्हाए परएणं।। | *वरवारुण्या इव रसः*<br>*विविधानामिव आसवानां यादृशः।*<br>*मधुमैरेयकस्येवरसः*<br>*इतः पद्मायाः परकेण।।* | प्रधान सुरा, विविध आसवों, मधु और मैरेयक मदिरा का रस जैसा अम्ल—कसैला होता है, उससे भी अनन्त गुना[८] मीठा, मधुर और अम्ल—कसैला रस पद्म लेश्या का होता है। |
| १५. खज्जूरमुद्दियरसो<br>खीररसो खंडसक्कररसो वा।<br>एत्तो वि अणंतगुणो<br>रसो उ सुक्काए नायव्वो।। | *खर्जूरमृद्वीकारसः*<br>*क्षीररसः खण्डशर्करारसो वा।*<br>*इतोऽप्यनन्तगुणः*<br>*रसस्तु शुक्लाया ज्ञातव्यः।।* | खजूर, दाख, क्षीर, खांड और शक्कर का रस जैसा मीठा होता है, उससे भी अनंत गुना मीठा रस शुक्ल लेश्या का होता है। |
| १६. जह गोमडस्स गंधो<br>सुणगमडगस्स व जहा अहिमडस्स।<br>एत्तो वि अणंतगुणो<br>लेसाणं अप्पसत्थाणं।। | *यथा गोमृतकस्य गंधः*<br>*शुनकमृतकस्य वा यथाऽहिमृतकस्य*<br>*इतोऽप्यनंतगुणो*<br>*लेश्यानामप्रशस्तानाम्।।* | गाय, श्वान और सर्प के मृत कलेवर की जैसी गन्ध होती है, उससे भी अनन्त गुना गन्ध तीनों अप्रशस्त लेश्याओं की होती है। |
| १७. जह सुरहिकुसुमगंधो<br>गंधवासाण पिस्समाणाणं।<br>एत्तो वि अणंतगुणो<br>पसत्थलेसाण तिण्हं पि।। | *यथा सुरभिकुसुमगंधः*<br>*गन्धवासानां पिष्यमाणानाम्।*<br>*इतोऽप्यनंतगुणः*<br>*प्रशस्तलेश्यानां तिसृणामपि।।* | सुगन्धित पुष्पों और पीसे जा रहे सुगन्धित पदार्थों की जैसी गंध होती है, उससे भी अनन्त गुना गंध तीनों प्रशस्त लेश्याओं की होती है। |
| १८. जह करगयस्स फासो<br>गोजिब्भाए व सागपत्ताणं।<br>एत्तो वि अणंतगुणो<br>लेसाणं अप्पसत्थाणं।। | *यथा क्रकचस्य स्पर्शः*<br>*गोजिह्वायाश्च शाकपत्राणाम्।*<br>*इतोऽप्यनंतगुणो*<br>*लेश्यानामप्रशस्तानाम्।।* | करवत, गाय की जीभ और शाक वृक्ष के पत्रों का स्पर्श जैसा कर्कश होता है, उससे भी अनंत गुना कर्कश स्पर्श तीनों अप्रशस्त लेश्याओं का होता है। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. जह बूरस्स व फासो
नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।
एत्तो वि अणंतगुणो
पसत्थलेसाण तिण्हं पि।।

*यथा बूरस्य वा स्पर्शः*
*नवनीतस्य वा शिरीषकुसुमानाम्।*
*इतोऽप्यनंतगुणः*
*प्रशस्तलेश्यानां तिसृणामपि।।*

बूर, नवनीत और सिरीष के पुष्पों का स्पर्श जैसा मृदु होता है, उससे भी अनन्त गुना मृदु स्पर्श तीनों प्रशस्त लेश्याओं का होता है।

२०. तिविहो व नवविहो वा
सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा।
दुसओ तेयालो वा
लेसाणं होइ परिणामो।।

*त्रिविधो वा नवविधो वा*
*सप्तविंशतिविधि एकाशीतिविधो वा*
*त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशतविधो वा*
*लेश्यानां भवति परिणामः।।*

लेश्याओं के तीन, नौ, सत्ताईस, इक्यासी या दो सौ तेंतालीस प्रकार के परिणाम होते हैं।

२१. पंचासवप्पवत्तो
तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य।
तिव्वारंभपरिणाओ
खुद्दो साहसिओ नरो।।

*पंचाश्रवप्रवृत्तः*
*तिसृभिरगुप्तः षट्स्वविरतश्च।*
*तीव्रारम्भपरिणतः*
*क्षुद्रः साहसिको नरः।।*

जो मनुष्य पांचों आश्रवों में प्रवृत्त है, तीन गुप्तियों से अगुप्त है, षट्काय में अविरत है, तीव्र आरम्भ (सावद्य-व्यापार) में संलग्न है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करने वाला है,

२२. निद्धंधसपरिणामो
निस्संसो अजिइंदिओ।
एयजोगसमाउत्तो
किण्हलेसं तु परिणमे।।

*निश्शङ्कपरिणामः*
*नृशंसोऽजितेन्द्रियः।*
*एतद्योगसमायुक्तः*
*कृष्णलेश्यां तु परिणमेत्।।*

लौकिक और पारलौकिक दोषों की शंका से रहित[10] मन वाला है, नृशंस है,[11] अजितेन्द्रिय है—जो इन सभी से युक्त है, वह कृष्ण लेश्या में परिणत होता है।

२३. इस्साअमरिसअतवो
अविज्जमाया अहीरिया।
गेद्धी पओसे य सढे पमत्ते
रसलोलुए सायगवेसए य।।

*ईर्ष्याऽमर्षातपः*
*अविद्या माया ऽह्रीकता च।*
*गृद्धिः प्रदोषश्च शठः प्रमत्तो*
*रसलोलुपः सातगवेषकश्च।।*

जो मनुष्य ईर्ष्यालु है, कदाग्रही है, अतपस्वी है, अज्ञानी है, मायावी है, निर्लज्ज है, गृद्ध है, प्रद्वेष करने वाला है, शठ है, प्रमत्त है, रस-लोलुप है, सुख का गवेषक है,

२४. आरंभाओ अविरओ
खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो
नीललेसं तु परिणमे।।

*आरम्भादविरतः*
*क्षुद्रः साहसिको नरः।*
*एतद्योगसमायुक्तो*
*नीललेश्यां तु परिणमेत्।।*

आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करने वाला है—जो इन सभी से युक्त है, वह नील लेश्या में परिणत होता है।

२५. वंके वंकसमायारे
नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचग ओवहिए
मिच्छदिट्ठी अणारिए।।

*वक्रो वक्रसमाचारः*
*निकृतिमान् अनृजुकः।*
*परिकुंचक औपधिकः*
*मिथ्यादृष्टिरनार्यः।।*

जो मनुष्य वचन से वक्र है, जिनका आचरण वक्र है, माया करता है, सरलता से रहित है, अपने दोषों को छुपाता है, छद्म का आचरण करता है, मिथ्या-दृष्टि है, अनार्य है,

२६. उप्फालगदुट्ठवाई य
तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो
काउलेसं सु परिणमे।।

*उत्प्रासकदुष्टवादी च*
*स्तेनश्चापि च मत्सरी।*
*एतद्योगसमायुक्तः*
*कापोतलेश्यां तु परिणमेत्।।*

हंसोड़ है, दुष्ट वचन बोलने वाला है, चोर है, मत्सरी है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह कापोत लेश्या में परिणत होता है।

२७. नीयावित्ती अचवले
अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दंते।
जोगवं उवहाणवं।।

*नीवृत्तिरचपलः*
*अमायी अकुतूहलः।*
*विनीतविनयः दान्तः*
*योगवानुपधानवान्।।*

जो मनुष्य नम्रता से वर्ताव करता है, अचपल है, माया से रहित है, अकुतूहली है, विनय करने में निपुण है, दान्त है, समाधि-युक्त है, उपधान (श्रुत अध्ययन करते समय तप) करने वाला है,

२८. पियधम्मे दढधम्मे
वज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो
तेउलेसं तु परिणमे।।

*प्रियधर्मा दृढधर्मा*
*वर्ज्यभीरुर्हितैषकः।*
*एतद्योगसमायुक्तः*
*तेजोलेश्यां तु परिणमेत्।।*

धर्म में प्रेम रखता है, धर्म में दृढ़ है,[12] पाप-भीरु है,[13] हित चाहने वाला है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह तेजोलेश्या में परिणत होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९. पयणुक्कोहमाणे य
मायालोभे य पयणुए।
पसंतचित्ते दंतप्पा
जोगवं उवहाणवं।।

*प्रतनुक्रोधमानश्च*
*मायालोभश्च प्रतनुकः।*
*प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा*
*योगवानुपधानवान्।।*

जिस मनुष्य के क्रोध, मान, माया और लोभ अत्यन्त अल्प हैं, जो प्रशान्त-चित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समाधि-युक्त है, उपधान करने वाला है,

३०. तहा पयणुवाई य
उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो
पम्हलेसं तु परिणमे।।

*तथा प्रतनुवादी च*
*उपशान्तो जितेन्द्रियः।*
*एतद्योगसमायुक्तः*
*पद्मलेश्यां तु परिणमेत्।।*

अत्यल्प भाषी है,[14] उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह पद्म लेश्या में परिणत होता है।

३१. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता
धम्मसुक्काणि झायए।
पसंतचित्ते दंतप्पा
समिए गुत्ते य गुत्तिहिं।।

*आर्त्तरौद्रे वर्जयित्वा*
*धर्म्यशुक्ले ध्यायेत्।*
*प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा*
*समितो गुप्तश्च गुप्तिभिः।।*

जो मनुष्य आर्त्त और रौद्र—इन दोनों ध्यानों को छोड़कर धर्म्य और शुक्ल—इन दो ध्यानों में लीन रहता है, प्रशान्त-चित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समितियों से समित है, गुप्तियों से गुप्त है,

३२. सरागे वीयरागे वा
उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो
सुक्कलेसं तु परिणमे।।

*सरागो वीतरागो वा*
*उपशान्तो जितेन्द्रियः।*
*एतद्योगसमायुक्तः*
*शुक्ललेश्यां तु परिणमेत्।।*

उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह सराग हो या वीतराग, शुक्ल लेश्या में परिणत होता है।

३३. असंखिज्जाणोसप्पिणीण
उस्सप्पिणीण जे समया।
संखाईया लोगा
लेसाण हुंति ठाणाइं।।

*असंख्येयानामवसर्पिणीनां*
*उत्सर्पिणीनां ये समयाः।*
*संख्यातीता लोका*
*लेश्यानां भवन्ति स्थानानि।।*

असंख्येय अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के जितने समय होते हैं, असंख्यात लोकों के जितने आकाश-प्रदेश होते हैं, उतने ही लेश्याओं के स्थान (अध्यवसाय-परिमाण) होते हैं।

३४. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा किण्हलेसाए।।

*मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या*
*त्रयस्त्रिंशत्सागरा मुहूर्त्ताधिकाः।*
*उत्कृष्टा भवति स्थितिः*
*ज्ञातव्या कृष्णलेश्यायाः।।*

कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त[15] और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त अधिक[16] तेतीस सागर की होती है।

३५. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
दस उदही पलियमसंखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा नीललेसाए।।

*मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या*
*दशोदधिपल्यासंख्यभागाधिका।*
*उत्कृष्टा भवति स्थितिः*
*ज्ञातव्या नीललेश्यायाः।।*

नील लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर की होती है।

३६. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
तिण्णुदही पलियमसंखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा काउलेसाए।।

*मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या*
*त्र्युदधिपल्यासंख्यभागाधिका।*
*उत्कृष्टा भवति स्थितिः*
*ज्ञातव्या कापोतलेश्यायाः।।*

कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर की होती है।

३७. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
दोउदही पलियमसंखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा तेउलेसाए।।

*मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या*
*द्व्युदधिपल्यासङ्ख्यभागाधिका।*
*उत्कृष्टा भवति स्थितिः*
*ज्ञातव्या तेजोलेश्यायाः।।*

तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है।

३८. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
दस होंति सागरा मुहुत्तहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा पम्हलेसाए।।

*मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या*
*दश भवन्ति सागरा मुहूर्त्ताधिकाः।*
*उत्कृष्टा भवति स्थितिः*
*ज्ञातव्या पद्मलेश्यायाः।।*

पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक दश सागर की होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३९. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
तेत्तीस सागरा मुहुत्तहिया
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा सुक्कलेसाए।।

*मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या*
*त्रयस्त्रिंशत्सागरा मुहूर्त्ताधिकाः।*
*उत्कृष्टा भवति स्थितिः*
*ज्ञातव्या शुक्ललेश्यायाः।।*

शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर की होती है।

४०. एसा खलु लेसाणं
ओहेण ठिई उ वण्णिया होइ।
चउसु वि गईसु एत्तो
लेसाण ठिइं तु वोच्छामि।।

*एषा खलु लेश्यानां*
*ओघेन स्थितिस्तु वर्णिता भवति।*
*चतसृष्वपि गतिषु अतः*
*लेश्यानां स्थितिं तु वक्ष्यामि।।*

लेश्याओं की यह स्थिति ओघरूप (अपृथग्-भाव) से कही गई है। अब आगे पृथग्-भाव से चारों गतियों में लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूंगा।

४१. दस वाससहस्साइं
काऊए ठिई जहन्निया होइ।
तिण्णुदही पलिओवम
असंखभागं च उक्कोसा

*दशवर्षसहस्राणि*
*कापोतायाः स्थितिर्जघन्यका भवति।*
*त्र्युदधिपल्योपम-*
*असङ्ख्यभागं चोत्कृष्टा।।*

नारकीय जीवों के कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर की होती है।

४२. तिण्णुदही पलिय-
मसंखभागा जहन्नेण नीलठिई।
दस उदही पलिओवम
असंखभागं च उक्कोसा।।

*त्र्युदधिपल्य-*
*असङ्ख्यभागा जघन्येन नीलस्थितिः।*
*दशोदधिपल्योपम-*
*असङ्ख्यभागं चोत्कृष्टा।।*

नील लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर की होती है।

४३. दस उदही पलिय-
मसंखभागं जहन्निया होइ।
तेत्तीससागराइं
उक्कोसा होइ किण्हाए।।

*दशोदधिपल्य-*
*असङ्ख्यभागं जघन्यका भवति।*
*त्रयस्त्रिंशत्सागराः*
*उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः।।*

कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की होती है।

४४. एसा नेरइयाणं
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण परं वोच्छामि
तिरियमणुस्साण देवाणं।।

*एषा नैरयिकाणां*
*लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति।*
*ततः परं वक्ष्यामि*
*तिर्यङ्मनुष्याणां देवानाम्।।*

यह नैरयिक जीवों की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया गया है। इससे आगे तिर्यंच, मनुष्य और देवों की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूंगा।

४५. अंतोमुहुत्तमद्धं
लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ।
तिरियाण नराणं वा
वज्जित्ता केवलं लेसं।।

*अन्तर्मुहूर्त्ताध्वानं*
*लेश्यानां स्थितिः यस्मिन् यस्मिन् या तु।*
*तिरश्चां नराणां वा*
*वर्जयित्वा केवलां लेश्याम्।।*

तिर्यञ्च और मनुष्य में जितनी लेश्याएं होती हैं, उनमें से शुक्ल लेश्या को छोड़कर शेष सब लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति[१७] अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।[१८]

४६. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ।
नवहि वरिसेही ऊणा
नायव्वा सुक्कलेसाए।।

*मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या*
*उत्कृष्टा भवति पूर्वकोटी तु।*
*नवभिर्वर्षैरूना*
*ज्ञातव्या शुक्ललेश्यायाः।।*

शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व की होती है।[१९]

४७. एसा तिरियनराणं
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण परं वोच्छामि
लेसाण ठिई उ देवाणं।।

*एषा तिर्यङ्नराणां*
*लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति।*
*ततः परं वक्ष्यामि*
*लेश्यानां स्थितिस्तु देवानाम्।।*

यह तिर्यञ्च और मनुष्य के लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया गया है। इससे आगे देवों की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूंगा।

४८. दस वाससहस्साइं
किण्हाए ठिई जहन्निया होइ।
पलियमसंखिज्जइमो
उक्कोसा होइ किण्हाए।।

*दशवर्षसहस्राणि*
*कृष्णायाः स्थितिर्जघन्यका भवति।*
*पल्यासंख्येयतमः*
*उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः।।*

भवनपति और वाणव्यन्तर देवों के कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है।[२०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४९. जा किण्हाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया
जहन्नेणं नीलाए
पलियमसंखं तु उक्कोसा।।

*या कृष्णायाः स्थितिः खलु*
*उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।*
*जघन्येन नीलायाः*
*पल्यासङ्ख्यं तूत्कृष्टा।।*

कृष्ण लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह नील लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है।[२१]

५०. जा नीलाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं काऊए
पलियमसंखं च उक्कोसा।।

*या नीलायाः स्थितिः खलु*
*उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।*
*जघन्येन कापोतायाः*
*पल्यासङ्ख्यं चोत्कृष्टा।।*

नील लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है।

५१. तेण परं वोच्छामि
तेउलेसा जहा सुरगणाणं।
भवणवइवाणमंतर-
जोइसवेमाणियाणं च

*ततः परं वक्ष्यामि*
*तेजोलेश्यां यथा सुरगणानाम्।*
*भवनपतिवाणव्यन्तर-*
*ज्योतिर्वैमानिकानां च।।*

इससे आगे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की तेजोलेश्या की स्थिति का निरूपण करूंगा।

५२. पलिओवमं जहन्ना
उक्कोसा सागरा उ दुण्हहिया।
पलियमसंखेज्जेणं
होई भागेण तेऊए।।

*पल्योपमं जघन्या*
*उत्कृष्टा सागरौ तु द्व्यधिकौ।*
*पल्यासङ्ख्येयेन*
*भवति भागेन तैजस्याः।।*

तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्योपम और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है।[२२]

५३. दस वाससहस्साई
तेऊए ठिई जहन्निया होइ।
दुण्णुदही पलिओवम
असंखभागं च उक्कोसा।।

*दशवर्षसहस्राणि*
*तैजस्याः स्थितिः जघन्यका भवति।*
*द्व्युदधिपल्योपम-*
*असङ्ख्यभागं चोत्कृष्टा।।*

तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है।

५४. जा तेऊए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं पम्हाए दस उ
मुहुत्तहियाइं च उक्कोसा।।

*या तैजस्याः स्थितिः खलु*
*उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।*
*जघन्येन पद्मायाः दश तु*
*मुहूर्ताधिकानि चोत्कृष्टा।*

जो तेजोलेश्या की स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दश सागर की होती है।

५५. जा पम्हाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं सुक्काए
तेत्तीसमुहुत्तमब्भहिया।।

*या पद्मायाः स्थितिः खलु*
*उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।*
*जघन्येन शुक्लायाः*
*त्रयस्त्रिंशत् मुहूर्त्ताभ्यधिका।।*

जो पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर की होती है।

५६. किण्हा नीला काऊ
तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो
दुग्गइं उववज्जई बहुसो।।

*कृष्णा नीला कापोताः*
*तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः।*
*एताभिस्तिसृभिरपि जीवो*
*दुर्गतिमुपपद्यते बहुशः।।*

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों अधर्म-लेश्याएं हैं। इन तीनों से जीव प्रायः दुर्गति को प्राप्त होता है।

५७. तेऊ पम्हा सुक्का
तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो
सुग्गइं उववज्जई बहुसो।।

*तैजसी पद्मा शुक्ला*
*तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्याः।*
*एताभिस्तिसृभिरपि जीवः*
*सुगतिमुपपद्यते बहुशः।।*

तैजस, पद्म और शुक्ल—ये तीनों धर्म-लेश्याएं हैं। इन तीनों से जीव प्रायः सुगति को प्राप्त होता है।

५८. लेसाहिं सव्वाहिं
पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न वि कस्सवि उववाओ
परे भवे अत्थि जीवस्स।।

*लेश्याभिः सर्वाभिः*
*प्रथमे समये परिणताभिस्तु।*
*नापि कस्याप्युपपादः*
*परे भवेऽस्ति जीवस्य।।*

पहले समय में परिणत सभी लेश्याओं में कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५९. लेसाहिं सव्वाहिं
चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न वि कस्सवि उववाओ
परे भवे अत्थि जीवस्स।।

*लेश्याभिः सर्वाभिः*
*चरमे समये परिणताभिस्तु।*
*नापि कस्याप्युपपादः*
*परे भवेऽस्ति जीवस्य।।*

अन्तिम समय में परिणत सभी लेश्याओं में कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता।

६०. अंतमुहुत्तम्मि गए
अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं
जीवा गच्छंति परलोयं।।

*अन्तर्मुहूर्ते गते*
*अन्तर्मुहूर्ते शेषके चैव।*
*लेश्याभिः परिणताभिः*
*जीवा गच्छन्ति परलोकम्।।*

लेश्याओं की परिणति होने पर अन्तमुहूर्त्त बीत जाता है, अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहता है, उस समय जीव परलोक में जाते हैं।[२३]

६१. तम्हा एयाण लेसाणं
अणुभागे वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता
पसत्थाओ अहिट्ठेज्जासि।।

*तस्मादेतासां लेश्यानां*
*अनुभागान् विज्ञाय।*
*अप्रशस्ता वर्जयित्वा*
*प्रशस्ता अधितिष्ठेत्।।*

इसलिए इन लेश्याओं के अनुभागों को जान कर मुनि अप्रशस्त लेश्याओं का वर्जन करे और प्रशस्त लेश्याओं को स्वीकार करे।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अध्ययन ३४ : लेश्या-अध्ययन

**१. (लेसज्झयणं...कम्मलेसाणं)**

देखें- इसी अध्ययन का आमुख।

**२. पद्म (पम्हा)**

'पद्म' शब्द के प्राकृतरूप दो होते हैं—'पउम' और 'पम्म'। दिगम्बर साहित्य में पद्मलेश्या के लिए 'पउम', 'पम्म' और 'पम्ह'—ये तीनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'पम्ह' का संस्कृत रूप 'पक्ष्म' होता है, पद्म नहीं। यह संभव है कि उच्चारणभेद के कारण 'पम्म' का 'पम्ह' रूप बन गया।

**३. महिष (गवल)**

वृत्तिकार ने इसका महिषशृंग किया है।[1] शब्दकोश में इसका अर्थ जंगली भैंसा प्राप्त होता है।[2]

**४. द्रोण—काक (रिट्ठग)**

वृत्तिकार ने रिष्ठ का मुख्य अर्थ—द्रोणकाक और वैकल्पिक अर्थ—फल विशेष किया है।[3] यह 'रीठा' फल है।

**५. तैल—कंटक (कोइलच्छद)**

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—तैलकंटक किया है और उन्होंने इसकी पुष्टि में वृद्धसंप्रदाय का अभिमत उद्धृत किया है।[4]

इसका एक अर्थ 'कोयल की पांख' भी हो सकता है।

**६. त्रिकटु का (तिगडुयस्स)**

त्रिकटु में तीन वस्तुओं का मिश्रण होता है—सूंठ, पिप्पल और कालीमिर्च। इस के दो पर्यायवाची नाम हैं—व्योष, त्र्यूषण।[5]

**७. कच्चे (तुवर....)**

प्रस्तुत श्लोक में 'तरुण' शब्द आम्र के साथ प्रयुक्त है। इसका अर्थ है—अपक्व, कच्चा। 'तुवर' शब्द का प्रयोग 'कपित्थ' के साथ हुआ है। इसके दो अर्थ हैं—सकषाय—कषैला तथा अपक्व।[6] नाममाला—में 'कषायस्तुवरो रसः'—तुवर का अर्थ कषाय है।[7] हमने इसका अर्थ—अपक्व किया है।

**८. अनन्तगुना (परकेणं)**

वृत्तिकार ने 'परएणं' का अर्थ इस प्रकार किया है—पद्मलेश्या का रस आसवों से अनन्तानन्तगुण मधुर तथा अम्ल—कषाय होता है। इसका तात्पर्य है—उन आसवों से अत्यधिक मधुर रस वाला।[8]

आज वैज्ञानिक प्रत्येक पदार्थ का औसतन मिठास ज्ञात कर लेते हैं। सूत्रकार का कथन है कि इसमें अनन्तगुना मिठास होता है। यह कैसे ? इसका समाधान है कि अनन्तज्ञानी अपने ज्ञान के द्वारा उसके मिठास को जान लेते हैं। वह यंत्रों के द्वारा नापा नहीं जा सकता। प्रज्ञापना में अनन्तगुन का अर्थ—अत्यधिक किया है।[9]

**९. (श्लोक २०)**

प्रस्तुत श्लोक में लेश्याओं के परिणामों की चर्चा है। वृत्तिकार ने तारतम्य की अपेक्षा से उनको इस प्रकार उल्लिखित किया है[10]—

- तीन परिणाम—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट
- नौ परिणाम—तीनों के तीन-तीन प्रकार (३ X ३=९)
- सत्तावीस परिणाम—नौ के तीन-तीन प्रकार (९ X ३=२७)
- इक्यासी परिणाम—सत्ताईस के तीन-तीन प्रकार (२७ X ३=८१)
- दो सौ तयालीस परिणाम—इक्यासीके तीन-तीन प्रकार (८१ X ३=२४३)

प्रज्ञापना में ही छहों लेश्यों के परिणामों की यही संख्या उल्लिखित है।[11]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५२ : गवलं—महिषशृंगं।

२. अभिधान चिन्तामणि ४।३४६ : अरण्यजेस्मिन् गवलः।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५२ : रिष्ठो—द्रोणकाकः 'स एव रिष्ठकः, यद् वा रिष्टको नाम फलविशेषः।

४. वही, पत्र ६५३ : कोकिलच्छदः—तैलकण्टकः, तथा च वृद्धसंप्रदायः 'दण्णाहिगारे जो एत्थ कोइलच्छदो सो तेलकंटतो भण्णइ' त्ति।

५. कैयदेवनिघण्टु, औषधिवर्ग, श्लोक ११७० :
पिप्पलीशुण्ठिमरिचैर्व्योष त्रिकटुकं कटु।
कटुत्रयं त्र्यूषणञ्च.....॥

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५३ : तुवरं—सकषायं.....उभयत्र चार्धादपक्वम्।

७. अभिधान चिन्तामणि, ६।२५।

८. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५४ : परकेणं ति अनन्तानन्तगुणत्वात् तद अतिक्रमेण वर्तते इति गम्यते।

९. प्रज्ञापना पद १७।१३४,१३५।

१०. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५५ : इह च त्रिविधः—जघन्य मध्यमउत्कृष्टभेदेन, नवविधः—यदैषामपि जघन्यादीनां स्वस्थानतारतम्यचिन्तायां प्रत्येकं जघन्यादित्रयेण गुणना एवं पुनस्त्रिकगुणनया सप्तविंशतिविधत्वमेकाशीतिविधत्वं त्रिचत्वारिंशद् द्विशतविधत्वं च भावनीयम्। आह—एवं तारतम्यचिन्तायां कः संख्यानियमः ? उच्यते, एवमेतत्, उपलक्षणं चैतत्।

११. पन्नवणा २०।१३९ : कण्हलेस्सा णं भंते ! कतिविधं परिणामं परिणमति ? गोयमा ! तिविहं वा नवविहं वा सत्तावीसतिविहं वा एकासीतिविहं वा बेतेयालसतविहं वा बहुं वा बहुविहं वा परिणामं परिणमति। एवं जाव सुक्कलेस्सा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**१०. शंका से रहित (निद्धंधस)**

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—अकृत्यसेवी।[1] वृत्ति में इसका अर्थ है—लौकिक और पारलौकिक अपायों की शंका से अत्यंत विकल। इसका वैकल्पिक अर्थ है—हिंसा के अध्यवसायों से अत्यंत अनपेक्ष।[2]

**११. नृशंस है (निस्संसो)**

इसके संस्कृतरूप दो होते हैं—नृशंसः तथा निःशंसः। नृशंस का अर्थ है—जीव हिंसा करने में निःशंक तथा निःशंस का अर्थ है—दूसरों की प्रशंसा से रहित।[3]

**१२. धर्म से दृढ़ है (दढधम्मे)**

स्थानांग सूत्र में चार प्रकार के पुरुष उल्लिखित हैं[4]—

(१) कुछ पुरुष प्रियधर्मा होते हैं, दृढ़धर्मा नहीं।

(२) कुछ पुरुष दृढ़धर्मा होते हैं, प्रियधर्मा नहीं।

(३) कुछ पुरुष प्रियधर्मा भी होते हैं और दृढ़धर्मा भी।

(४) कुछ पुरुष न प्रियधर्मा होते हैंऔर न दृढ़धर्मा।

बृहद्वृत्ति में दृढ़धर्मा का अर्थ—'स्वीकृत व्रतों का निर्वहन करने वाला'—किया है।[5]

**१३. पापभीरु है (वज्जभीरू)**

वज्ज और अवज्ज—ये दो शब्द हैं। वज्ज का संस्कृत रूप 'वर्ज्य' और अवज्ज का 'अवद्य' है। दोनों का अर्थ एक-सा है। वृत्तिकार ने वज्ज को अवज्ज मानकर उसके अकार का लोप माना है।[6] किन्तु यह आवश्यक नहीं है। वज्ज (वर्ज्य) ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति में सक्षम है।

**१४. अत्यल्पभाषी है (पयणुवाई)**

इसके दो अर्थ होते हैं—मितभाषी तथा धीमे बोलने वाला। वृत्ति में इसका अर्थ मितभाषी किया है।[7]

**१५. अन्तर्मुहूर्त (मुहुत्तद्धं)**

यहां 'अद्ध'—आधे का अर्थ—एक का समप्रविभाग आधा नहीं है। इसका अर्थ मुहूर्त्त का एक भाग, दो भाग या तीन भाग भी हो सकता है। तात्पर्य है—अपूर्ण, मुहूर्त्त, अन्तर्, मुहूर्त्त।[8]

**१६. अन्तर्मुहूर्त्त अधिक (मुहुत्तहिया)**

मुहूर्त्त अधिक का तात्पर्यार्थ है अन्तमुहूर्त्त अधिक। जो शब्द 'समुदाय' के अर्थ में व्यवहृत होता है, उसका प्रयोग एक-एक अवयव के लिए भी किया जा सकता है।[9]

**१७. स्थिति (काल) (अद्धा)**

'अध्वा' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—काल और क्षेत्र। यहां इसका काल अर्थ विवक्षित है।

**१८. (श्लोक ४५—४६)**

४५ वें श्लोक में शुक्ललेश्या का वर्जन और ४६ वें श्लोक में शुक्ललेश्या का प्रतिपादन—दोनों केवली की अपेक्षा से हैं।

**१९. (श्लोक ४६)**

प्रस्तुत श्लोक में शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व की बतलाई गई है। वृत्तिकार का मत है कि एक करोड़ पूर्व की आयुष्य वाला कोई पुरुष आठ वर्ष की अवस्था में ही मुनि बन जाता है। उस वय में शुक्ल लेश्या संभव नहीं होती। एक वर्ष के मुनि-पर्याय के पश्चात् ही उसका उदय होता है। इसलिए यहां नौ वर्ष न्यून की बात कही गई है।[10]

प्रव्रज्या नौवें वर्ष में प्राप्त होती है इसका समर्थन भगवती से होता है। वहां दीक्षा-पर्याय का कालमान देशून नौ वर्ष न्यून करोड पूर्व बतलाया गया है।[11] इससे फलित होता है कि दीक्षा कुछ कम नौ वर्ष की अवस्था में प्राप्त होती है, आठवें वर्ष में नहीं। बृहत्कल्प भाष्य में दीक्षा की न्यूनतम आयु साधिक आठ वर्ष की है। इसका तात्पर्य है कि जब मुमुक्षु सवा आठ वर्ष का हो जाता है तब गर्भ के नौ मास मिलाने पर नौंवें वर्ष में उसे दीक्षा प्राप्त हो सकती है।

**२०. (श्लोक ४८)**

भवनपति और व्यन्तर देवों के कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग की कही गई है। इसका तात्पर्य यह है कि इन देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की होती है, इसलिए कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति भी इतनी ही होगी। उत्कृष्ट स्थिति का जो उल्लेख है वह मध्यम आयुष्य वाले इन देवों की अपेक्षा से है।[12]

---

१. देशीशब्दकोश—णिद्धंधसो—देशीवचनमेतत् अकृत्यं प्रतिसेवमानः (व्यभा १ टी प १२)

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५६ : णिद्धंधस त्ति अत्यन्तमैहिकामुष्मिकापायशंकाविकलोऽत्यन्तं जन्तुबाधानपेक्षो वा।

३. वही, पत्र ६५६ : णिस्संसो त्ति नृशंसः निस्तृंशो जीवान् विहिंसन् मनागपि न शंकते, निःशंसो वा—परप्रशंसारहितः।

४. ठाणं ४।४२१।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५६ : दृढधर्मा—अंगीकृतव्रतादिनिर्वाहकः।

६. वही, पत्र ६५६-६५७ : वज्जत्ति वर्ज्यं प्राकृतत्वाद् अकारलोपे अवद्यं, द्वौ भयत्र पापं....।

७. वही, पत्र ६५७ : प्रतनुवादी—स्वल्पभाषकः।

८. वही, पत्र ६५८ : इह च समप्रविभागस्य अविवक्षितत्वाद् अन्तर्मुहूर्त्तमित्युक्तं भवति।

९. वही, पत्र ६५८ : मुहुत्तहियं ति इहोत्तरत्र च मुहूर्त्तशब्देन मुहूर्त्तैकदेश एवोक्तः, समुदायेषु हि प्रवृत्ता शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते यथा ग्रामो दग्धः पटो दग्ध इति।

१०. वही, पत्र ६६० : इह च यद्यपि कश्चित् पूर्वकोट्यायुरष्टवार्षिक एव व्रतपरिणाममाप्नोति तथापि नैतावद् वयःस्थस्य वर्षपर्यायाद् अर्वाक् शुक्ललेश्यायाः सम्भव इति नवभिर्वर्षैर्न्यूना पूर्वकोटिरुच्यते।

११. भगवई २५।५३३ : सामाइयसंजए णं भंते! कालओ केवच्चिरं होइ? गोयमा! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणएहिं नवहिं वासेहिं ऊणिया पुव्वकोडी। एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

१२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६६० : एवंविधविमध्यमायुषामेव भवनपतिव्यन्तराणामियं द्रष्टव्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञापना में भवनपति देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति सातिरेक एक सागर की बताई है। वानव्यंतर देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की बताई है।[1] अतः प्रस्तुत श्लोक में जो उत्कृष्ट स्थिति है वह मध्यम आयु वाले भवनपति और वानव्यंतर देवों की अपेक्षा से है।

## २१. (श्लोक ४९)

नीललेश्या का कथन भी सापेक्ष है। यहां जो असंख्यातवां भाग कहा गया है वह वृहत्तर असंख्येय भाग गृहीत है।[2] कृष्ण लेश्या के प्रसंग में असंख्येय भाग छोटा है और यहां वह बड़ा है।

## २२. (श्लोक ५२)

यहां मूलपाठ में श्लोक-व्यत्यय है। ५२ वें श्लोक के स्थान पर ५३ वां और ५३ वें के स्थान पर ५२ वां श्लोक होना चाहिए। क्योंकि ५१ वें श्लोक में आगमकार भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की तेजोलेश्या के कथन की प्रतिज्ञा करते हैं, किन्तु ५२ वें श्लोक में निरूपित तेजोलेश्या केवल वैमानिक देवों की अपेक्षा से है, जब कि ५३ वें श्लोक में प्रतिपादित लेश्या का कथन चारों प्रकार के देवों की अपेक्षा से है।

## २३. (श्लोक ६०)

प्राणी जिस लेश्या में मरता है, उसी लेश्या में उत्पन्न होता है।[3] इसका तात्पर्य है कि वर्तमान भव का आयुष्य जब अन्तर्मुहूर्त्त परिमाण शेष रहता है, उस समय परभव की लेश्या का परिणाम आरब्ध हो जाता है। वह परिणाम अन्तर्मुहूर्त्त तक वर्तमान जीव में रहता है और अन्तर्मुहूर्त्त तक परभव में उत्पन्न होने के पश्चात् रहता है। दो अन्तर्मुहूर्त्तों तक लेश्या की अवस्थिति एक सामान्य नियम है।[4]

नारक और देवों के लिए कुछ विशेष नियम हैं। दो अन्तर्मुहूर्त्तों का नियम उन पर भी लागू होता है, किन्तु वे जिस लेश्या में उत्पन्न होते हैं उस लेश्या के परिणाम उनके आयुष्य पर्यन्त रहते हैं।[5]

लेश्या की विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य-प्रज्ञापना, पद १७।

श्री भिक्षु आगम विषय कोश पृ० ५५५-५६४।

विशेष जानकारी के लिए प्रज्ञापना के मूलपाठ के कुछ अंश तथा उनकी वृत्ति यहां उद्धृत की जा रही है—

लेस्सा-पद—

१४७. कति णं भंते ! लेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा।।

परिणमणभाव-पदं

१४८. से णूणं भंते ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमति ? इतो आढतं जहा चउत्थुद्देसए तहा भाणियव्वं जाव वेरुलियमणिदिट्ठंतो त्ति।।

१४९. से णूणं भंते ! कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए णो तावण्णत्ताए णो तागंधत्ताए णो तारसत्ताए णो ताफासताए भुज्जो-भुज्जो परिणमति ? हंता गोयमा ! कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए णो तावण्णत्ताए णो तागंधत्ताए णो तारसत्ताए णो ताफासत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमति।।

१५०. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो-भुज्जो परिणमति ? गोयमा ! आगारभावमातए वा से सिया पलिभागभावमातए वा से सिया कण्हलेस्सा णं सा, णो खलु सा णीललेसा, तत्थ गता उस्सक्कति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति—कण्हलेस्सा णीललेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो-भुज्जो परिणमति।।

१५१. से णूणं भंते ! णीललेस्सा काउलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो-भुज्जो परिणमति ? हंता गोयमा ! णीललेस्सा काउलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो-भुज्जो परिणमति।।

१५२. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—णीललेस्सा काउलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो-भुज्जो परिणमति ? गोयमा ! आगारभावमातए वा से सिया पलिभागभावमातए वा सिया णीललेस्सा णं सा, णो खलु सा काउलेस्सा, तत्थ गता उस्सक्कति 'वा ओसक्कति वा' से तेणट्ठेणं गोयमा। एवं वुच्चइ—णीललेस्सा काउलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो-भुज्जो परिणमति।।

१५३. एवं काउलेस्सा तेउलेस्सं पप्प, तेउलेस्सा पम्हलेस्सं पप्प, पम्हलेस्सा सुक्कलेस्सं पप्प।।

१५४. से णूणं भंते ! सुक्कलेस्सा पम्हलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो-भुज्जो परिणमति ? हंता गोयमा ! सुक्कलेस्सा पम्हलेस्सं पप्प णो तारूवत्ताए जाव भुज्जो-भुज्जो परिणमति।।

---

१. पन्नवणा, ४।३१ तथा १६५।

२. वृहद्वृत्ति, पत्र ६६० : ....बृहत्तरोऽयमसंख्येयभागो गृह्यते।

३. वही, पत्र ६६२ : उक्तं हि प्रज्ञापनायाम्—'जल्लेसाइं दव्वाइं आयतित्ता कालं करेति तल्लेसेसु उववज्जइ।' वृत्तिकार ने इसको प्रज्ञापना का पाठ मानकर उद्धृत किया है। प्रज्ञापना में यह पाठ प्राप्त नहीं है।

४. वही, पत्र ६६२ : अन्तर्मुहूर्त्ते गत एव अतिक्रांत एव, तथा अन्तर्मुहूर्त्ते शेषके चैव—अवतिष्ठमान एव लेश्याभिः परिणताभिरुपलक्षिता जीवा गच्छन्ति परलोकं—भवांतरम् इत्थं चैतन्मृतिकाले भाविभवलेश्याया उत्पत्तिकाले वा अतीतभवलेश्याया अन्तर्मुहूर्त्तमवश्यम्भावात्।

५. वही, पत्र ६६२ : देवनारकाणां स्वस्वलेश्यायाः प्रागुत्तरभवांतर्मुहूर्त्त-द्वयसहितनिजायुःकालं यावद् अवस्थितत्वात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५५. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—सुक्कलेस्सा जाव णो परिणमति ? गोयमा ! आगारभावमाताए वा जाव सुक्कलेस्सा णं सा, णो खलु सा पम्हलेस्सा, तत्थ गता ओसक्कति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव णो परिणमति ।।

पण्णवणा वृत्ति, पत्र ३७१, ३७२—

देवनैरयिका हि पूर्वगतचरमान्तर्मुहूर्त्तादारभ्य यावत् परभवगतमाद्यमन्तर्मुहूर्त्तं तावदवस्थितलेश्याकाः ततोऽमीषां कृष्णादिलेश्याद्रव्याणां परस्परसम्पर्केऽपि न परिणम्यपरिणामकभावो घटते ततः सम्यगधिगमाय प्रश्नयति—

से नूणं भंते ! इत्यादि, सेशब्दोऽथशब्दार्थः, स च प्रश्ने, अथ नूनं—निश्चितं भदन्त ! कृष्णलेश्या-कृष्णलेश्याद्रव्याणि नीललेश्या—नीललेश्याद्रव्याणि प्राप्य, प्राप्तिरिह प्रत्यासन्नत्वमात्रं गृह्यते नतु परिणम्यपरिणामकभावेनान्योऽन्यसंश्लेषः, तद्रूपतया—तदेव—नीललेश्याद्रव्यगतं रूपं—स्वभावो यस्य कृष्णलेश्यास्वरूपस्य तत्तद्रूपं तद्भावस्तद्रूपता तया, एतदेवव्याचष्टे—न तद्वर्णतया न तद्गन्धतया न तद्रसतया न तत्स्पर्शतया भूयो भूयः परिणमते ।

भगवानाह—हन्तेत्यादि, हन्त गौतम ! कृष्णलेश्येत्यादि, तदेव ननु यदि न परिणमते तर्हि कथं सप्तमनरकपृथिव्यामपि सम्यक्त्वलाभः स हि तेजोलेश्यादि परिणामे भवति सप्तमनरकपृथिव्यां च कृष्णलेश्येति, कथं चैतत् वाक्यं घटते ? भावपरावत्तीए पुण सुरनेरइयाणंपि छल्लेसा इति (भावपरावृत्तेः पुनः सुरनैरयिकाणामपि षड् लेश्याः) लेश्यान्तरद्रव्यसम्पर्कतस्तद्रूपतया परिणामासंभवेन भावपरावृत्तेरेवायोगात्,

अत एव तद्विषये प्रश्ननिर्वचनसूत्रे आह—

से केणट्ठेणं भंते ! इत्यादि, तत्र

प्रश्नसूत्रं सुगमं निर्वचनसूत्रं—आकारः—तच्छायामात्रं आकारस्य भावः—सत्ता आकारभावः स एव मात्रा आकारभावमात्रा तयाऽऽकारभावमात्रया मात्राशब्द आकारभावातिरिक्तपरिणामान्तरप्रतिपत्तिव्युदासार्थः, 'से' इति सा कृष्णलेश्या नीललेश्यारूपतया स्यात् यदि वा प्रतिभागः—प्रतिबिम्बमादर्शादाविव विशिष्टः प्रतिबिम्ब्यवस्तुगत आकारः प्रतिभाग एव प्रतिभागमात्रा तया, अत्रापि मात्रा शब्दः प्रतिबिम्बातिरिक्तपरिणामन्तरव्युदासार्थः स्यात् । कृष्णलेश्या नीललेश्यारूपतया, परमार्थतः पुनः कृष्णलेश्यैव नो खलु नीललेश्या सा स्वस्वरूपापरित्यागात्, न खल्वादर्शादयो जपाकुसुमादिसन्निधानतस्तत्प्रतिबिम्बमात्रामादधाना नादर्शादय इति परिभावनीयमेतत्, केवलं सा कृष्णलेश्या तत्र—स्वस्वरूपे गता—अवस्थिता सती उत्ष्वष्कते तदाकारभावमात्रधारणतस्तत्प्रतिबिम्बमात्रधारणतो वोत्सर्पतीत्यर्थः, कृष्णलेश्यातो हि नीललेश्या विशुद्धा ततस्तदाकारभावं तत्प्रतिबिम्बमात्रं वा दधाना सती मनाक् विशुद्धा भवतीत्युत्सर्पतीति व्यपदिश्यते,

उपसंहारवाक्यमाह—'से एएणट्ठेण' मित्यादि, सुगमं । एवं नीललेश्यायाः कापोतलेश्यामधिकृत्य कापोतलेश्यायास्तेजोलेश्यामधिकृत्य तेजोलेश्यायाः पद्मलेश्यामधिकृत्य पद्मलेश्यायाः शुक्ललेश्यामधिकृत्य सूत्राणि भावनीयानि

सम्प्रति पद्मलेश्यामधिकृत्य शुक्ललेश्याविषयं सूत्रमाह—

'से नूणं भंते ! सुक्कलेसा पम्हलेसं पप्प' इत्यादि, एतच्च प्राग्वद् भावनीयं, नवरं शुक्ललेश्यापेक्षया पद्मलेश्या हीनपरिणामा ततः शुक्ललेश्या पद्मलेश्याया आकारभावं तत्प्रतिबिम्बमात्रं वा भजन्ती मनागविशुद्ध भवति ततोऽवष्वष्कते इत व्यपदिश्यते, एवं तेजः कापोतनीलकृष्णलेश्याविषयाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि, ततः पद्मलेश्यामधिकृत्य तेजः कापोतनीलकृष्णलेश्याविषयाणि तेजोलेश्यामधिकृत्य कापोतनीलकृष्णविषयाणि कापोतलेश्यामधिकृत्य नीलकृष्णलेश्याविषये नीललेश्यामधिकृत्य कृष्णलेश्याविषयमिति, अमूनि च सूत्राणि साक्षात् पुस्तकेषु न दृश्यन्ते केवलमर्थतः प्रतिपत्तव्यानि, तथा मूलटीकाकारेण व्याख्यानात्, तदेवं यद्यपि देवनैरयिकाणामवस्थितानि लेश्याद्रव्याणि तथापि तत्तदुपादीयमानलेश्यान्तरद्रव्यसम्पर्कतः तान्यपि तदाकारभावमात्रां भजन्त इति भावपरावृत्तियोगतः षडपि लेश्या घटन्त, ततः सप्तनरकपृथिव्यामपि सम्यक्त्वलाभ इति न कश्चिद्दोषः ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पणतीसइमं अज्झयणं

## अणगारमग्गगई

# पैंतीसवां अध्ययन

## अनगार-मार्ग-गति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

अठाईसवें अध्ययन में मोक्ष-मार्ग की गति (अवबोध) दी गई है और इस अध्ययन में अनगार-मार्ग की। इसीलिए उसका नाम—'मोक्खमग्गगई' और इसका नाम—'अणगारमग्गगई'—'अनगार-मार्ग-गति' है।

अनगार मुमुक्षु होता है, अतः उसका मार्ग मोक्ष-मार्ग से भिन्न कैसे होगा? यदि नहीं होगा तो इसके प्रतिपादन का फिर क्या अर्थ है?

इस प्रश्न को हम इस भाषा में सोचें—मोक्ष-मार्ग व्यापक शब्द है। उसके चार अंग हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपः

*नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।*
*एस मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहि वरदंसिहिं।। (२८।२)*

अनगार-मार्ग मोक्ष-मार्ग की तुलना में सीमित है। ज्ञान, दर्शन और तप की आराधना गृहवास में भी हो सकती है। उसके जीवन में केवल अनगार—चारित्र की आराधना नहीं होती। प्रस्तुत अध्ययन में उसी का प्रतिपादन है। इस तथ्य को इस भाषा में भी रखा जा सकता है कि प्रस्तुत अध्ययन में मोक्ष-मार्ग के तीसरे अंग (चारित्र) के द्वितीय अंश—अनगार-चारित्र—का कर्त्तव्य-निर्देश है।

इस अध्यन का मुख्य प्रतिपाद्य संग-विज्ञान है। संग का अर्थ लेप या आसक्ति है। उसके १३ अंग बतलाए गए हैं—

| | |
|---|---|
| १. हिंसा, | ८. गृह-निर्माण, |
| २. असत्य, | ९. अन्न-पाक, |
| ३. चौर्य, | १०. धनार्जन की वृत्ति, |
| ४. अब्रह्म-सेवन, | ११. प्रविद्ध-भिक्षा, |
| ५. इच्छा-काम, | १२. स्वाद-वृत्ति, |
| ६. लोभ, | १३. पूजा की अभिलाषा। |
| ७. संसक्त-स्थान, | |

इक्कीसवें अध्ययन में पांचवा महाव्रत अपरिग्रह है। इस अध्ययन में उसके स्थान पर इच्छा-काम व लोभ-वर्जन है:

*अहिंस सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।*
*पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ।।*
*(२१।१२)*

*तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अबंभसेवणं।*
*इच्छाकामं च लोभं च, संजओ परिवज्जए।। (३५।३)*

चौंतीसवें अध्ययन (श्लोक ३१) में बतलाया गया है—'धम्मसुक्काणि झायए'—मुनि धर्म्य और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करे।

इस अध्ययन (श्लोक १९) में केवल शुक्लध्यान के अभ्यास की विधि बतलाई गई है—'सुक्कझाणं झियाएज्जा'।

इसमें मृत्यु-धर्म की ओर भी इंगित किया गया है। मुनि जब तक जीए तब तक असंग जीवन जीए और जब काल-धर्म उपस्थित हो, तब वह आहार का परित्याग कर दे (श्लोक २०)। आगमकार को अनशनपूर्वक मृत्यु अधिक अभीप्सित है।

जीवन-काल में देह-व्युत्सर्ग के अभ्यास का निर्देश दिया गया है (श्लोक १९)। देह-व्युत्सर्ग का अर्थ देह-मुक्ति नहीं, किंतु देह के प्रतिबन्ध से मुक्ति है। मनुष्य के लिए देह तब तक बन्धन रहता है, जब तक वह देह से प्रतिबद्ध रहता है। देह के प्रतिबन्ध से मुक्त होने पर वह मात्र साधन रहता है, बन्धन नहीं।

देह-व्युत्सर्ग असंग का मुख्य हेतु है। यही अनगार का मार्ग है। इससे दुःखों का अंत होता है (श्लोक १)। अनगार का मार्ग दुःख-प्राप्ति के लिए नहीं, किन्तु दुःख-मुक्ति के लिए है। अनगार दुःख को स्वीकार नहीं करता, किन्तु उसके मूल को विनष्ट करने का मार्ग चुनता है और उसमें चलता है। उस पर चलने में जो दुःख प्राप्त होते हैं, उन्हें वह झेलता है।

मनोहर गृह का त्याग और श्मशान, शून्यगार व वृक्ष-मूल में निवास कष्ट है पर यह कष्ट झेलने के लक्ष्य से निष्पन्न कष्ट नहीं है, किन्तु इंद्रिय-विजय (श्लोक ४,५) के मार्ग में प्राप्त कष्ट है। इसी प्रकार अन्न-पाक न करना और भिक्षा लेना कष्ट है पर यह भी अहिंसा-धर्म के अनुपालन में प्राप्त कष्ट है। (श्लोक १०,११,१२,१६)

इस प्रकार इस लघु-काय अध्ययन में अनेक महत्त्वपूर्ण चर्या-अंगों की प्ररूपणा हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पणतीसइमं अज्झयणं : पैंतीसवां अध्ययन
## अणगारमग्गगई : अनगार-मार्ग-गति

| मूल | *संस्कृत छाया* | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|
| १. सुणेह मेगग्गमणा<br>मग्गं बुद्धेहि देसियं<br>जमायरंतो भिक्खू<br>दुक्खाणंतकरो भवे।। | *शृणुत मे एकाग्रमनसः*<br>*मार्गं बुद्धैर्देशितम्।*<br>*यमाचरन् भिक्षुः*<br>*दुःखानामन्तकरो भवेत्।।* | तुम एकाग्र मन होकर बुद्धों (तीर्थंकरों) के द्वारा उपदिष्ट उस मार्ग को मुझ से सुनो, जिसका आचरण करता हुआ भिक्षु दुःखों का अन्त कर देता है। |
| २. गिहवासं परिच्चज्ज<br>पवज्जं अस्सिओ मुणी।<br>इमे संगे वियाणिज्जा<br>जेहिं सज्जंति माणवा।। | *गृहवासं परित्यज्य*<br>*प्रव्रज्यामाश्रितो मुनिः।*<br>*इमान् संगान् विजानीयात्*<br>*येषु सज्यन्ते मानवाः।।* | जो मुनि गृह-वास को छोड़ कर प्रव्रज्या को अंगीकार कर चुका, वह उन संगों (लेपों) को जाने, जिनसे मनुष्य सक्त (लिप्त) होता है। |
| ३. तहेव हिंसं अलियं<br>चोज्जं अबंभसेवणं।<br>इच्छाकामं च लोभं च<br>संजओ परिवज्जए।। | *तथैव हिंसामलीकं*<br>*चौर्यमब्रह्मसेवनम्।*<br>*इच्छाकामं च लोभं च*<br>*संयतः परिवर्जयेत्।।* | संयमी मुनि हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य-सेवन, इच्छा-काम (अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा) और लोभ इन—सबका परिवर्जन करे। |
| ४. मणोहरं चित्तहरं<br>मल्लधूवेण वासियं।<br>सकवाडं पंडुरुल्लोयं<br>मणसा वि न पत्थए।। | *मनोहरं चित्रगृहं*<br>*माल्यधूपेन वासितम्।*<br>*सकपाटं पाण्डुरोल्लोचं*<br>*मनसाऽपि न प्रार्थयेत्।।* | जो स्थान मनोहर चित्रों से आकीर्ण, माल्य और धूप से सुवासित, किवाड़ सहित[1], श्वेत चन्दवा से युक्त हो वैसे स्थान की मन से भी अभिलाषा न करे। |
| ५. इंदियाणि उ भिक्खुस्स<br>तारिसम्मि उवस्सए।<br>दुक्कराइं निवारेउं<br>कामरागविवड्ढणे।। | *इन्द्रियाणि तु भिक्षोः*<br>*तादृशे उपाश्रये।*<br>*दुष्कराणि निवारयितुं*<br>*कामरागविवर्धने।।* | काम-राग को बढ़ाने वाले वैसे उपाश्रय में इन्द्रियों का निवारण करना—उन पर नियन्त्रण पाना भिक्षु के लिए दुष्कर होता है। |
| ६. सुसाणे सुन्नगारे वा<br>रुक्खमूले व एक्कओ।<br>पइरिक्के परकडे वा<br>वासं तत्थभिरोयए।। | *श्मशाने शून्यागारे वा*<br>*वृक्षमूले वा एककः।*<br>*प्रतिरिक्ते परकृते वा*<br>*वासं तत्राभिरोचयेत्।।* | इसलिए एकाकी भिक्षु श्मशान में, शून्यगृह में, वृक्ष के मूल में अथवा परकृत एकान्त स्थान में रहने की इच्छा करे।[2] |
| ७. फासुयम्मि अणाबाहे<br>इत्थीहिं अणभिद्दुए।<br>तत्थ संकप्पए वासं<br>भिक्खू परमसंजए।। | *प्रासुके अनाबाधे*<br>*स्त्रीभिरनभिद्रुते।*<br>*तत्र संकल्पयेद् वासं*<br>*भिक्षुः परमसंयतः।।* | परम संयत भिक्षु प्रासुक, अनाबाध और स्त्रियों के उपद्रव से रहित स्थान में रहने का संकल्प करे। |
| ८. न सयं गिहाइं कुज्जा<br>णेव अन्नेहिं कारए।<br>गिहकम्मसमारंभे<br>भूयाणं दीसई वहो।। | *न स्वयं गृहाणि कुर्वीत*<br>*नैव अन्यैः कारयेत्।*<br>*गृहकर्मसमारम्भे*<br>*भूतानां दृश्यते वधः।।* | भिक्षु न स्वयं घर बनाए और न दूसरों से बनवाए। गृह-निर्माण के समारम्भ (प्रवृत्ति) में जीवों—त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर—का वध देखा जाता है। इसलिए संयत भिक्षु गृह-समारम्भ का |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. तसाणं थावराणं च
सुहुमाणं बायराण य।
तम्हा गिहसमारंभं
संजओ परिवज्जए।।

*त्रसानां स्थावराणां च*
*सूक्ष्माणां बादराणां च*
*तस्माद् गृहसमारम्भं*
*संयतः परिवर्जयेत्।।*

परित्याग करे।

१०. तहेव भत्तपाणेसु
पयण पयावणेसु य।
पाणभूयदयट्ठाए
न पये न पयावए।।

*तथैव भक्तपानेषु*
*पचनापाचनेषु च।*
*प्राणभूतदयार्थं*
*न पचेत् न पाचयेत्।।*

भक्त-पान के पकाने और पकवाने में हिंसा होती है, अतः प्राणों और भूतों की दया के लिए भिक्षु न पकाए और न पकवाए।

११. जलधन्ननिस्सिया जीवा
पुढवीकट्ठनिस्सिया।
हम्मंति भत्तपाणेसु
तम्हा भिक्खू न पायए।।

*जल-धान्य-निश्रिता जीवाः*
*पृथिवीकाष्ठनिश्रिताः।*
*हन्यन्ते भक्तपानेषु*
*तस्माद् भिक्षुर्न पाचयेत्।।*

भक्त और पान के पकाने में जल और धान्य के आश्रित तथा पृथ्वी और काष्ठ के आश्रित जीवों का हनन होता है, इसलिए भिक्षु न पकवाए।

१२. विसप्पे सव्वओधारे
बहुपाणविणासणे।
नत्थि जोइसमे सत्थे
तम्हा जोइं न दीवए।।

*विसर्पत् सर्वतोधारं*
*बहुप्राणिविनाशनम्।*
*नास्ति ज्योतिःसमं शस्त्रं*
*तस्माज्ज्योतिर्न दीपयेत्।।*

अग्नि फैलने वाली, सब ओर से धार वाली और बहुत जीवों का विनाश करने वाली होती है, उसके समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं होता, इसलिए भिक्षु उसे न जलाए।

१३. हिरण्णं जायरूवं च
मणसा वि न पत्थए।
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू
विरए कयविक्कए।।

*हिरण्यं जातरूपं च*
*मानसाऽपि न प्रार्थयेत्।*
*समलेष्टुकांचनो भिक्षुः*
*विरतः क्रयविक्रयात्।।*

क्रय और विक्रय से विरत, मिट्टी के ढेले और सोने को समान समझने वाला भिक्षु सोने और चांदी की मन से भी इच्छा न करे।

१४. किणंतो कइओ होइ
विक्किणंतो य वाणिओ।
कयविक्कयम्मि वट्टंतो
भिक्खू न भवइ तारिसो।।

*क्रीणन् क्रयिको भवति*
*विक्रीणन् च वाणिजः।*
*क्रयविक्रये वर्तमानः*
*भिक्षुर्न भवति तादृशः।।*

वस्तु को खरीदने वाला क्रयिक होता है और बेचने वाला वणिक्। क्रय और विक्रय में वर्तन करने वाला भिक्षु वैसा नहीं होता—उत्तम भिक्षु नहीं होता।

१५. भिक्खियव्वं न केयव्वं
भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा।
कयविक्कओ महादोसो
भिक्खावत्ती सुहावहा।।

*भिक्षितव्यं न क्रेतव्यं*
*भिक्षुणा भैक्षवृत्तिना।*
*क्रयविक्रयो महान् दोषो*
*भिक्षावृत्तिः सुखावहा।।*

भिक्षा-वृत्ति वाले भिक्षु को भिक्षा ही करनी चाहिए, क्रय-विक्रय नहीं। क्रय-विक्रय महान् दोष है। भिक्षा-वृत्ति सुख को देने वाली है।

१६. समुयाणं उंछमेसिज्जा
जहासुत्तमणिंदियं।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे
पिंडवायं चरे मुणी।।

*समुदानमुञ्छमेषयेत्*
*यथासूत्रमनिन्दितम्।*
*लाभालाभे सन्तुष्टः*
*पिण्डपातं चरेत् मुनिः।।*

मुनि सूत्र के अनुसार[३], अनिन्दित और सामुदायिक उञ्छ की एषणा करे। वह लाभ और अलाभ से सन्तुष्ट रहकर पिण्ड-पात (भिक्षा) की चर्या करे।

१७. अलोले न रसे गिद्धे
जिब्भादंते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा
जवणट्ठाए महामुणी।।

*अलोलो न रसे गृद्धो*
*दान्तजिह्वोऽमूर्च्छितः।*
*न रसार्थं भुंजीत*
*यापनार्थं महामुनिः।।*

अलोलुप, रस में अगृद्ध, जीभ का दमन करने वाला और अमूर्च्छित महामुनि रस (स्वाद) के लिए[४] न खाए, किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए[५] खाए।

१८. अच्चणं रयणं चेव
वंदणं पूयणं तहा।
इड्ढीसक्कारसम्माणं
मणसा वि न पत्थए।।

*अर्चनां रचनां चैव*
*वन्दनं पूजनं तथा।*
*ऋद्धिसत्कारसम्मानं*
*मनसाऽपि न प्रार्थयेत्।।*

मुनि अर्चना, रचना (अक्षत, मोती आदि का स्वस्तिक बनाना), वन्दना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी प्रार्थना (अभिलाषा) न करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. सुक्कझाणं झियाएज्जा
अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा
जाव कालस्स पज्जओ।।

*शुक्लध्यानं ध्यायेत्*
*अनिदानोऽकिंचनः।*
*व्युत्सृष्टकायो विहरेत्*
*यावत्कालस्य पर्ययः।।*

मुनि शुक्ल ध्यान ध्याए। अनिदान और अकिंचन रहे। वह जीवन भर व्युत्सृष्टकाय (देहाध्यास से मुक्त) होकर विहार करे।

२०. निज्जूहिऊण आहारं
कालधम्मे उवट्ठिए।
जहिऊण माणुसं बोंदिं
पहू दुक्खे विमुच्चई।।

*निर्यूह्य आहारं*
*कालधर्मे उपस्थिते।*
*त्यक्त्वा मानुषं शरीरं*
*प्रभुर्दुःखैर्विमुच्यते।।*

समर्थ मुनि काल-धर्म में उपस्थित होने पर आहार का परित्याग करके, मनुष्य शरीर को छोड़ कर दुःखों से विमुक्त हो जाता है।[९]

२१. निम्ममो निरहंकारो
वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवलं नाणं
सासयं परिणिव्वुए।।

*निर्ममो निरहंकारो*
*वीतरागोऽनाश्रवः*
*सम्प्राप्तः केवलं ज्ञानं*
*शाश्वतं परिनिर्वृतः।।*

ममकार से शून्य और निरहंकार, वीतराग और आश्रवों से रहित मुनि शाश्वत केवलज्ञान को प्राप्त कर परिनिर्वृत हो जाता है—सर्वथा आत्मस्थ हो जाता है।

—त्ति बेमि।

*—इति ब्रवीमि।*

—ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## टिप्पण

# अध्ययन ३५ : अनगार-मार्ग-गति

**१. किवाड सहित (सकवाडं)**

महात्मा बुद्ध ने किवाड़ वाले कोठों में न रहने को अपनी पूजा का कारण मानने से इनकार किया है। उन्होंने कहा है—"उदायी! '० जैसे तैसे शयनासन से सन्तुष्ट, सन्तुष्टता-प्रशंसक ०' इससे यदि मुझे श्रावक ० पूजते ०; तो उदायी! मेरे श्रावक वृक्ष-मूलिक (=वृक्ष के नीचे सदा रहने वाले), अब्भोकाशिक (=अध्यवकाशिक=सदा चौड़े में रहने वाला) भी हैं, वह आठ मास (वर्षा के चार मास छोड़) छत के नीचे नहीं आते। मैं तो उदायी! कभी-कभी लिपे-पोते वायु-रहित, किवाड़ खिड़की-बन्द कोठों (=कूटागारों) में भी विहरता हूं।०"[1]

**२. (श्लोक ६)**

बौद्ध-भिक्षुओं के लिए तेरह धुताङ्गों का विधान है। उनमें नौवां धुताङ्ग वृक्ष-मूलिकांग और ग्यारहवां धुताङ्ग श्मशानिकांग है। विशुद्धि मार्ग में कहा है—

वृक्ष-मूलिकांग भी—"छाये हुए को त्यागता हूं, वृक्ष के नीचे रहने को ग्रहण करता हूं" इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस वृक्षमूलिक को (संघ—) सीमा के वृक्ष, (देवी-देवताओं के) चैत्य पर के वृक्ष, गोंद के पेड़, फले हुए पेड़, चमगीदड़ों वाला पेड़, धोंधड़ वाला पेड़, विहार के बीच खड़े पेड़—इन पेड़ों को छोड़कर विहार से दूर वाले पेड़ को ग्रहण करना चाहिए। यह इसका विधान है।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमें उत्कृष्ट रुचि के अनुसार पेड़ ग्रहण करके साफ-सुथरा नहीं करा सकता। गिरे हुए पत्तों को पैरों से हटा कर उसे रहना चाहिए। मध्यम उस स्थान को आए हुए आदमियों से साफ-सुथरा करा सकता है। मृदु को मठ के श्रामणेरों को बुला कर साफ करवा, बराबर करके बालू छिंटवा, चहारदिवारी से घरा बनवा कर, दरवाजा लगवा रहना चाहिए। पूजा के दिन वृक्षमूलिक को वहां न बैठ कर, दूसरी जगह आड़ में बैठना चाहिए। इन तीनों की धुतांग छाये हुए (स्थान) में वास करने के क्षण टूट जाता है। "जान कर छाये हुए (स्थान) में अरुणोदय उगाने पर" अंगुत्तर-भाणक कहते हैं। यह भेद (=विनाश) है।

यह गुण है—"वृक्ष मूल वाले शयनासन के सहारे प्रव्रज्या है।" इस वाक्य से निश्चय के अनुसार प्रतिपत्ति का होना। "वे थोड़े किन्तु सुलभ और निर्दोष हैं।" भगवान् द्वारा प्रशंसित होने का प्रत्यय, हर समय पेड़ की पत्तियों के विकारों को देखने से अनित्य का ख्याल पैदा होना, शयनासन की कंजूसी और (नाना) काम जुटे रहने का अभाव, देवताओं के साथ रहना, अल्पेच्छता आदि के अनुसार वृत्ति।

*वण्णितो बुद्धसेट्ठेन निस्सयोति च भासितो।*
*निवासो पविवित्तस्स रुक्खमूल समो कुतो।।*

(श्रेष्ठ भगवान बुद्ध द्वारा प्रशंसित और निश्रय कहे गए एकांत निवास के लिए वृक्षमूल के समान दूसरा क्या है?)

*आवासमच्छेर हरे देवता परिपालिते।*
*पविविते वसन्तो हि रुक्खमूलम्हि सुव्वतो।।*
*अभिरत्तानि नीलानि पण्डूदि पतितानि च।*
*पस्सन्तो तरुपण्णानि निच्चसञ्ञं पनूदति।।*

(मठ 'सम्बन्धी') कंजूसी दूर हो जाती है। देवताओं द्वारा प्रतिपालित एकांत में वृक्ष के नीचे रहता हुआ, शीलवान् (भिक्षु) लाल, नीले और गिरे हुए, पेड़ के पत्तों को देखते, नित्य (होने) के ख्याल को छोड़ देता है।

*तस्मा हि बुद्धदायज्जं भावनाभिरतालयं।*
*विवित्तं नातिमञ्ञेय्य रुक्खमूलं विचक्खणो।।*

(इसलिए बुद्ध-दायाद, भावना में लगे रहने के आलय और एकांत वृक्षमूल की बुद्धिमान (भिक्षु) अवहेलना न करे)।[2]

निदान कथा (जातकट्ठकथा, पृष्ठ १३,१४) में वृक्ष-मूल में रहने के दस गुण बतलाए हैं।

श्मशानिकांग भी—"श्मशान को नहीं त्यागूंगा, श्मशानिकांग को ग्रहण करता हूं", इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस श्मशानिक को, जो कि आदमी गांव बसाते हुए "यह श्मशान है" मानते हैं, वहां नहीं रहना चाहिए। क्योंकि विना मुर्दा जलाया हुआ (स्थान) श्मशान नहीं होता। जलाने के समय से लेकर यदि बारह वर्ष भी छोड़ा गया रहता है, तो (वह) श्मशान ही है।

उसमें रहने वाले को चंक्रमण, मंडप आदि बनवा, चारपाई-चौकी बिछा कर, पीने के लिए पानी रख धर्म वांचते हुए नहीं रहना चाहिए। यह धुतांग बहुत कठिन है। इसलिए उत्पन्न उपद्रव को मिटाने के लिए संघ-स्थविर (=संघ के बूढ़े भिक्षु) या राज-कर्मचारी को जना कर अप्रमाद के साथ रहना

१. मज्झिमनिकाय, २।३।७, पृ० ३०७।

२. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृ० ७३-७४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। चंक्रमण करते समय, आधी आंख से मुर्दा-घाटी (=मुर्दा जलाने के स्थान) को देखते हुए चंक्रमण करना चाहिए। श्मशान में जाते हुए भी महामार्ग से उतरकर, बे-राह जाना चाहिए। दिन में ही आलम्बन को भलीभांति देखकर (मन में) बैठा लेना चाहिए। इस प्रकार (करने से) उसके लिए वह रात्रि भयानक न होगी। अमनुष्यों के शोर करके घूमते हुए भी किसी चीज से मारना नहीं चाहिए। श्मशान नित्य जाना चाहिए। (रात्री के) बिचले प्रहर को श्मशान में बिता कर पिछले पहर में लौटना चाहिए। ऐसा अंगुत्तर भाणक कहते हैं। अमनुष्यों के प्रिय तिल की पिट्ठी (=तिल का कसार), उर्द से मिलाकर बनाया भात (=खिचड़ी), मछली, मांस, दूध, तेल, गुड़ आदि खाद्य भोज्य को नहीं खाना चाहिए। (लोगों के) घरों में नहीं जाना चाहिए। यह इसका विधान है।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है। उत्कृष्ट को जहां हमेशा मुर्दे जलाए जाते हैं, हमेशा मुर्दे पड़े रहते हैं, हमेशा रोना-पीटना (लगा) रहता है, वहीं बसना चाहिए। मध्यम के लिए तीनों में से एक के भी होने पर ठीक है। मृदु के लिए उक्त प्रकार से श्मशान को पाने मात्र पर। इन तीनों का भी धुतांग अ-श्मशान (=जो श्मशान न हो) में वास करने से टूट जाता है। 'श्मशान को नहीं जाने के दिन' (ऐसा) अंगुत्तर-भाणक कहते हैं। यह भेद (=बनाश) है।

यह गुण है—मरने का ख्यान बने रहना, अप्रमाद के साथ विहरना, अशुभ निमित्त का लाभ, कामराग का दूरीकरण, हमेशा शरीर के स्वभाव को देखना, संवेग की अधिकता, आरोग्यता, आदि घमण्डों का त्याग, भय और भयानकता की सहनशीलता, अमनुष्यों का गौरवनीय होना, अल्पेच्छ आदि के अनुसार वृत्ति का होना।

*सोसानिकं हि मरणानुसतिप्पभावा।*
*निद्दागतम्पि न फुसन्ति पमाददोसा।।*
*सम्पस्सतो च कुणपानि बहूनि तस्स।*
*कामानुराग वसगम्पि न होति चित्त।।*

(श्मशानिक को मरणानुस्मृति के प्रभाव से सोते हुए भी प्रमाद से प्राप्त होने वाले दोष नहीं छू पाते और बहुत से मुर्दों को देखते हुए, उसका चित्त कामराग के भी वशीभूत नहीं होता।)

*संवेगमेति विपुलं न मदं उपेति।*
*सम्मा अथो घटति निब्बुतिमेसमानो।।*
*सोसानिकङ्गमिति नेकगुणावहत्ता।*
*निब्बाननिन्न हृदयेन निसेवितब्बं।।*

(बहुत संवेग उत्पन्न होता है। घमंड नहीं आता। वह शांति (=निर्वाण) को खोजते हुए भलीभांति उद्योग करता है, इसलिए अनेक गुणों को लाने वाले श्मशानिकांग का निर्वाण की ओर झुके हुए हृदय से सेवा करना चाहिए।[1]

### ३. सूत्र के अनुसार (जहासुत्तं)

'यथासूत्र' का अर्थ है—आगम-निर्दिष्ट एषणा के दोषों से रहित भिक्षा।[2] इसकी संपूर्ण विधि के लिए देखें—दसवेआलियं का पांचवां अध्ययन।

### ४. रस (स्वाद) के लिए (रसट्ठाए)

रस का एक अर्थ है—स्वाद। वृत्तिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ—धातुविशेष किया है। शरीर की प्रधान धातुएं सात हैं—रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र। 'इन धातुओं के उपचय के लिए'—रस का यह अर्थ भी हो सकता है।[3]

### ५. जीवन-निर्वाह के लिए (जवणट्ठाए)

इसका अर्थ है—संयम जीवन के निर्वाह के लिए। इसके संस्कृत रूप दो हो सकत हैं—यापनार्थ, यमनार्थ। 'यापनार्थ'—का अर्थ है संयम जीवन के निर्वाह के लिए। 'यमनार्थ' का अर्थ है—इन्द्रियों पर नियंत्रण के लिए अथवा इन्द्रिय-विजय की साधना करने के लिए। ये दोनों अर्थ प्रासंगिक हैं।

### ६. (श्लोक २०)

मुनि जब यह देखे कि आयुक्षय निकट है—मृत्यु सन्निकट है—तब वह आहार का परित्याग कर अनशन करे। वृत्तिकार ने यहां एक सुन्दर शिक्षापद प्रस्तुत किया है। अनशन करने वाला तत्काल अनशन न करे। वह अनशन से पूर्व 'संलेखना' के क्रम को स्वीकार करे। तत्काल अनशन करने से अनेक बाधाएं उपस्थिति हो सकती हैं—

*'देहम्मि असंलिहिए सहसा धाऊहि खिज्जमाणाहिं।*
*जायइ अट्टज्झाणं सरीरिणो चरमकालंमि।।'*[4]

जो साधक संलेखना के क्रम से गुजरने से पूर्व ही अनशन कर लेता है, उसके मृत्यु के समय आर्त्तध्यान हो सकता है, क्योंकि भोजन न करने की अवस्था में शरीर की धातुओं का क्षय होता है और तब शरीर में अनेक उपद्रव खड़े हो जाते हैं। यह आर्त्त-ध्यान का एक कारण बनता है।[5]

---

१. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृ० ७५-७६।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६६७ : सूत्रम्—आगमस्तदनतिक्रमेण यथासूत्रम्—आगमाभिहित उद्गमैषणाद्यबाधित इत्युक्तं भवति।
३. वही, पत्र ६६७ : रसट्ठाए त्ति रसार्थं सरसमिदमहमास्वादयामीति धातुविशेषो वा रसः स चाशेषधातूपलक्षणं ततस्तद् उपचयः स्यादित्येतदर्थं.....।
४. वही, पत्र ६६८।

# छत्तीसइमं अज्झयणं

## जीवाजीवविभत्ती

# छत्तीसवां अध्ययन

## जीवाजीवविभक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आमुख

इस अध्ययन में जीव और अजीव के विभागों का निरूपण किया गया है। इसलिए इसका नाम 'जीवाजीवविभत्ती'—'जीवाजीवविभक्ति' है।

जैन तत्त्वविद्या के अनुसार मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। शेष सब तत्त्व इनके अवान्तर विभाग हैं। प्रस्तुत अध्ययन में लोक की परिभाषा इसी आधार पर की गई है: "जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए"। (श्लो० २)

प्रज्ञापना के प्रथम पद में जीव और अजीव की प्रज्ञापना की गई है। उसकी जीव-प्रज्ञापना का क्रम प्रस्तुत अध्ययन की जीव-विभक्ति से कुछ भिन्न है। यहां संसारी जीवों के दो प्रकार किए गए हैं—त्रस और स्थावर। स्थावर के तीन प्रकार हैं—पृथ्वी, जल और वनस्पति (श्लो० ६८-६९) त्रस के भी तीन प्रकार हैं—अग्नि, वायु और उदार (श्लो० १०७)। उदार के चार प्रकार हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय (श्लो० १२६)।

प्रज्ञापना में संसारी जीवों के पांच प्रकार किए गए हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचनेन्द्रिय।[1]

प्रस्तुत अध्ययन के जीव-विभाग में एकेन्द्रिय का उल्लेख नहीं है और प्रज्ञापना में त्रस-स्थावर का विभाग नहीं है। आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) सबसे प्राचीन आगम माना जाता है। उसमें जीव-विभाग छह जीव-निकाय के रूप में प्राप्त है। छह जीव-निकाय का क्रम इस प्रकार है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति, त्रस और वायु।[2] आचारांग के नौवें अध्ययन में छह जीव-निकाय का क्रम भिन्न प्रकार से मिलता है—पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस।[3] वहां त्रस और स्थावर ये दो विभाग भी मिलते हैं।[4]

आचारांग के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि जीवों का प्राचीनतम विभाग छह जीवनिकाय के रूप में रहा है। त्रस और स्थावर का विभाग भी प्राचीन है, किन्तु स्थावर के तीन प्रकार और त्रस के तीन प्रकार—यह विभाग आचारांग में नहीं मिलता। स्थानांग में यह प्राप्त है।[5] सम्भव है स्थानांग से उत्तराध्ययन में यह गृहीत हुआ है।

प्रज्ञापना का यह विभाग और भी उत्तरवर्ती जान पड़ता है।

जीव और अजीव का विशद वर्णन जीवाजीवाभिगम सूत्र में मिलता है।[6] यह उत्तरवर्ती आगम है, इसलिए इसमें जीव-विभाग सम्बन्धी अनेक मतों का संग्रहण किया गया है:

(१) दो प्रकार के जीव—त्रस और स्थावर।

(२) तीन प्रकार के जीव—स्त्री, पुरुष और नपुंसक।

(३) चार प्रकार के जीव—नैरयिक, तिर्यंच-योनिक, मनुष्य और देव।

(४) पांच प्रकार के जीव—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

(५) छह प्रकार के जीव—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक।

(६) सात प्रकार के जीव—नैरयिक, तिर्यंच, तिर्यंची, मनुष्य, स्त्री, देव और देवी।

(७) आठ प्रकार के जीव—

प्रथम समय के नैरयिक, अप्रथम समय के नैरयिक।
" " तिर्यंच, " " तिर्यंच।
" " मनुष्य, " " मनुष्य।
" " देव, " " देव।

(८) नौ प्रकार के जीव—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

(९) दस प्रकार के जीव—

प्रथम समय के एकेन्द्रिय, अप्रथम समय के एकेन्द्रिय।
" " द्वीन्द्रिय, " " द्वीन्द्रिय।
" " त्रीन्द्रिय, " " त्रीन्द्रिय।
" " चतुरिन्द्रिय, " " चतुरिन्द्रिय।
" " पंचेन्द्रिय, " " पंचेन्द्रिय।

इस प्रकार आगम-ग्रन्थों में अनेक विवक्षाओं से जीवों के अनेक विभाग प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में अजीव के दो भेद किए हैं—रूपी और अरूपी (श्लो० ४)।

अरूपी अजीव के दस भेद हैं (श्लो० ४,५,६):

(१) धर्मास्तिकाय,

(२) धर्मास्किाय का देश,

(३) धर्मास्तिकाय का प्रदेश,

(४) अधर्मास्किाय,

---

१. पण्णवणा, प्रथम पद, सूत्र १४।

२. देखें—आयारो, प्रथम अध्ययन।

३. आयारो, ६।१।१२।

४. वही, ६।१।१४।

५. ठाणं, ३।३२६,३२७:
तिविहा तसा पं० तं०—तेउकाइया वाउकाइया उराला तसा पाणा,
तिविहा थावरा, तं०—पुढविकाइया आउकाइया वणस्सइकाइया।

६. जीवाजीवाभिगम, प्रतिपत्ति १-९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) अधर्मास्तिकाय का देश,
(६) अधर्मास्तिकाय का प्रदेश,
(७) आकाशास्तिकाय,
(८) आकाशास्तिकाय का देश,
(९) आकाशास्तिकाय का प्रदेश और
(१०) अद्धा-समय।

रूपी अजीव के चार भेद हैं (श्लो० १०):
(१) स्कन्ध,
(२) स्कन्ध-देश,
(३) स्कन्ध-प्रदेश और
(४) परमाणु।

प्रज्ञापना और जीवाजीवाभिगम सूत्र में भी अजीव का यही विभाग मान्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# छत्तीसइमं अज्झयणं : छत्तीसवां अध्ययन
## जीवाजीवविभत्ती : जीवाजीवविभक्ति

| | मूल | संस्कृत छाया | हिन्दी अनुवाद |
|---|---|---|---|
| १. | जीवाजीवविभत्तिं<br>सुणेह मे एगमणा इओ।<br>जं जाणिऊण समणे<br>सम्मं जयइ संजमे।। | *जीवाजीवविभक्तिं*<br>*शृणुत मम एकमनसः इतः।*<br>*यां ज्ञात्वा श्रमणः*<br>*सम्यग् यतत संयमे।।* | तुम एकाग्र-मन होकर मेरे पास जीव और अजीव का वह विभाग[1] सुनो, जिसे जानकर श्रमण संयम में सम्यक् प्रयत्न करता है। |
| २. | जीवा चेव अजीवा य<br>एस लोए वियाहिए।<br>अजीवदेसमागासे<br>अलोए से वियाहिए।। | *जीवाश्चैवाजीवाश्च*<br>*एष लोको व्याख्यातः।*<br>*अजीवदेश आकाशः*<br>*अलोकः स व्याख्यातः।।* | यह लोक जीव और अजीवमय है।[2] जहां अजीव का देश आकाश ही है,[3] उसे अलोक कहा गया है। |
| ३. | दव्वओ खेत्तओ चेव<br>कालओ भावओ तहा।<br>परूवणा तेसि भवे<br>जीवाणमजीवाण य।। | *द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव*<br>*कालतो भावतस्तथा।*<br>*प्ररूपणा तेषां भवेत्*<br>*जीवनामजीवानां च।।* | जीव और अजीव की प्ररूपणा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार दृष्टियों से होती है।[4] |
| ४. | रूविणो चेवरूवी य<br>अजीवा दुविहा भवे।<br>अरूवी दसहा वुत्ता<br>रूविणो वि चउव्विहा।। | *रूपिणश्चैवाऽरूपिणश्च*<br>*अजीवा द्विविधा भवेयुः।*<br>*अरूपिणो दशधोक्ताः*<br>*रूपिणोऽपि चतुर्विधाः।।* | अजीव दो प्रकार का है—रूपी और अरूपी। अरूपी के दस और रूपी के चार प्रकार हैं।[5] |
| ५. | धम्मत्थिकाए तद्देसे<br>तप्पएसे य आहिए।<br>अहम्मे तस्स देसे य<br>तप्पएसे य आहिए।। | *धर्मास्तिकायस्तद्देशः*<br>*तत्प्रदेशश्चाख्यातः।*<br>*अधर्मस्तस्य देशश्च*<br>*तत्प्रदेशश्चाख्यातः।।* | धर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश, अधर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश,[6] |
| ६. | आगासे तस्स देसे य<br>तप्पएसे य आहिए।<br>अद्धासमए चेव<br>अरूवी दसहा भवे।। | *आकाशस्तस्य देशश्च*<br>*तत्प्रदेशश्चाख्यातः।*<br>*अध्वासमयश्चैव*<br>*अरूपिणो दशधा भवेयुः।।* | आकाशास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश तथा एक अध्वासमय (काल)[9]—ये दस भेद अरूपी अजीव के होते हैं। |
| ७. | धम्माधम्मे य दोवेए<br>लोगमित्ता वियाहिया।<br>लोगालोगे य आगासे<br>समए समयखेत्तिए।। | *धर्माधर्मौ च द्वावप्येतौ*<br>*लोकमात्रौ व्याख्यातौ।*<br>*लोकालोके चाकाशः*<br>*समयः समय-क्षेत्रिकः।।* | धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—ये दोनों लोकप्रमाण हैं। आकाश लोक और अलोक दोनों में व्यापत है। समय समय-क्षेत्र (मनुष्य लोक) में[7] ही होता है। |
| ८. | धम्माधम्मागासा<br>तिन्नि वि एए अणाइया।<br>अपज्जवसिया चेव<br>सव्वद्धं तु वियाहिया।। | *धर्माऽधर्माऽऽकाशानि*<br>*त्रीण्यप्येतान्यनादीनि।*<br>*अपर्यवसितानि चैव*<br>*सर्वाध्वं तु व्याख्यातानि।।* | धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य अनादि-अनन्त और सर्वकालिक होते हैं। |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. समए वि संतइ पप्प
एवमेव वियाहिए।
आएस पप्प साईए
सपज्जवसिए वि य।।

*समयोऽपि संततिं प्राप्य*
*एवमेव व्याख्यातः।*
*आदेशं प्राप्य सादिकः*
*सपर्यवसितोऽपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा समय अनादि-अनन्त है। एक-एक क्षण की अपेक्षा से वह सादि-सान्त है।

१०. खंधा य खंधदेसा य
तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोद्धव्वा
रूविणो य चउव्विहा।।

*स्कन्धाश्च स्कन्धदेशाश्च*
*तत्प्रदेशास्तथैव च।*
*परमाणवश्च बोद्धव्याः*
*रूपिणश्च चतुर्विधा।।*

रूपी पुद्गल के चार भेद होते हैं—१. स्कन्ध, २. स्कन्ध-देश, ३. स्कन्ध-प्रदेश और ४. परमाणु।

११. एगत्तेण पुहत्तेण
खंधा य परमाणुणो।
लोएगदेसे लोए य
भइयव्वा ते उ खेत्तओ।।

*एकत्वेन पृथक्त्वेन*
*स्कन्धाश्च परमाणवः।*
*लोकैकदेशे लोके च*
*भक्तव्यास्ते तु क्षेत्रतः।।*

अनेक परमाणुओं में एकत्व से स्कन्ध बनता है और उसका पृथक्त्व होने से परमाणु बनते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से वे (स्कन्ध) लोक के एक देश और समूचे लोक में भाज्य है—असंख्य विकल्प युक्त है।[९]

१२. संतइं पप्प तेणाई
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्य ते अनादयः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

वे (स्कन्ध और परमाणु) प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं तथा स्थिति (एक क्षेत्र में रहने) की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१३. असंखकालमुक्कोसं
एगं समयं जहन्निया।
अजीवाण य रूवीणं
ठिई एसा वियाहिया।।

*असङ्ख्यकालमुत्कर्षं*
*एकं समयं जघन्यका।*
*अजीवानां च रूपिणां*
*स्थितिरेषा व्याख्याता।।*

रूपी अजीवों (पुद्गलों) की स्थिति जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की होती है।

१४. अणंतकालमुक्कोसं
एगं समयं जहन्नयं।
अजीवाण य रूवीण
अंतरेयं वियाहियं।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*एकं समयं जघन्यकम्।*
*अजीवानां च रूपिणां*
*अन्तरमिदं व्याख्यातम्।।*

उनका अन्तर (स्वस्थान में स्खलित होकर वापिस नहीं आने तक का काल) जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अनन्त काल का होता है।[१०]

१५. वण्णओ गंधओ चेव
रसओ फासओ तहा।
संठाणओ य विन्नेओ
परिणामो तेसि पंचहा।।

*वर्णतो गन्धतश्चैव*
*रसतः स्पर्शतस्तथा।*
*संस्थानतश्च विज्ञेयः*
*परिणामस्तेषां पंचधा।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनका परिणमन पांच प्रकार का होता है।[११]

१६. वण्णओ परिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया।
किण्हा नीला य लोहिया
हालिद्दा सुक्किला तहा।।

*वर्णतः परिणता ये तु*
*पंचधा ते प्रकीर्तिताः।*
*कृष्णा नीलाश्च लोहिताः*
*हारिद्राः शुक्लास्तथा।।*

वर्ण की अपेक्षा से उनकी परिणति पांच प्रकार की होती है—१. कृष्ण, २. नील, ३. रक्त, ४. पीत और ५. शुक्ल।

१७. गंधओ परिणया जे उ
दुविहा ते वियाहिया।
सुब्भिगंधपरिणामा
दुब्भिगंधा तहेव य।।

*गन्धतः परिणता ये तु*
*द्विविधास्ते व्याख्याताः।*
*सुरभिगन्धपरिणामाः*
*दुर्गन्धास्तथैव च।।*

गन्ध की अपेक्षा से उनकी परिणति दो प्रकार की होती है—१. सुगन्ध और २. दुर्गन्ध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. रसओ परिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया।
तित्तकडुयकसाया
अंबिला महुरा तहा।।

*रसतः परिणता ये तु*
*पंचधा ते प्रकीर्तिताः।*
*तिक्तकटुककषायाः*
*अम्ला मधुरास्तथा।।*

रस की अपेक्षा से उनकी परिणति पांच प्रकार की होती है—१. तिक्त, २. कटु, ३. कसैला, ४. खट्टा और ५. मधुर।

१९. फासओ परिणया जे उ
अट्ठहा ते पकित्तिया।
कक्खडा मउया चेव
गरुया लहुया तहा।।

*स्पर्शतः परिणता ये तु*
*अष्टधा ते प्रकीर्तिताः।*
*कर्कशा मृदुकाश्चैव*
*गुरुका लघुकास्तथा।।*

स्पर्श की अपेक्षा से उनकी परिणति आठ प्रकार की होती है—१. कर्कश, २. मृदु, ३. गुरु, ४. लघु, ५. शीत, ६. उष्ण, ७. स्निग्ध और ८. रूक्ष।

२०. सीया उण्हा य निद्धा य
तहा लुक्खा य आहिया।
इइ फासपरिणया एए
पुग्गला समुदाहिया।।

*शीता उष्णाश्च स्निग्धाश्च*
*तथा रूक्षाश्च व्याख्याताः।*
*इति स्पर्शपरिणता एते*
*पुद्गलाः समुदाहृताः।।*

२१. संठाणपरिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया।
परिमंडला य वट्टा
तंसा चउरंसमायया।।

*स्थानपरिणता ये तु*
*पंचधा ते प्रकीर्तिताः।*
*परिमण्डलाश्च वृत्ताः*
*त्र्यस्राश्चतुरस्रा आयताः।।*

संस्थान की अपेक्षा से उनकी परिणति पांच प्रकार की होती है—१. परिमण्डल, २. वृत्त, ३. त्रिकोण, ४. चतुष्क और ५. आयत।

२२. वण्णओ जे भवे किण्हे
भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*वर्णतो यो भवेत् कृष्णः*
*भाज्यः स तु गन्धतः।*
*रसतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल वर्ण से कृष्ण है वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य (अनेक विकल्प युक्त) होता है।

२३. वण्णओ जे भवे नीले
भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*वर्णतो यो भवेन् नीलः*
*भाज्यः स तु गन्धतः।*
*रसतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल वर्ण से नील है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२४. वण्णओ लोहिए जे उ
भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*वर्णतो लोहितो यस्तु*
*भाज्यः स तु गन्धतः।*
*रसतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल वर्ण से रक्त है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२५. वण्णओ पीयए जे उ
भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*वर्णतः पीतको यस्तु*
*भाज्यः स तु गन्धतः।*
*रसतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल वर्ण से पीत है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२६. वण्णओ सुक्किले जे उ
भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*वर्णतः शुक्लो यस्तु*
*भाज्यः स तु गन्धतः।*
*रसतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल वर्ण से श्वेत है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७. गंधओ जे भवे सुब्भी
भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*गन्धतो यो भवेत् सुरभिः*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*रसतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल गन्ध से सुगन्ध वाला है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२८. गंधओ जे भवे दुब्भी
भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*गन्धतो यो भवेत् दुर्गन्धः*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*रसतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल गन्ध से दुर्गन्ध वाला है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२९. रसओ तित्तए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*रसतस्तिक्तो यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल रस से तिक्त है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३०. रसओ कडुए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*रसतः कटुको यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल रस से कडुवा है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३१. रसओ कसाए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*रसतः कषायो यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल रस से कसैला है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३२. रसओ अंबिले जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*रसतः अम्लो यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल रस से खट्टा है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३३. रसओ महुरए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*रसतो मधुरको यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतः स्पर्शतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल रस से मधुर है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३४. फासओ कक्खडे जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*स्पर्शतः कर्कशो यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल स्पर्श से कर्कश है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३५. फासओ मउए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*स्पर्शतो मृदुको यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल स्पर्श से मृदु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. फासओ गुरुए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*स्पर्शतो गुरुको यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल स्पर्श से गुरु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३७. फासओ लहुए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*स्पर्शतो लघुको यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल स्पर्श से लघु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३८. फासओ सीयए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*स्पर्शतः शीतको यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल स्पर्श से शीत है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३९. फासओ उण्हए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*स्पर्शतः उष्णको यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल स्पर्श से उष्ण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४०. फासओ निद्धए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*स्पर्शतः स्निग्धको यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल स्पर्श से स्निग्ध है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४१. फासओ लुक्खए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य।।

*स्पर्शतो रूक्षको यस्तु*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः संस्थानतोऽपि च।।*

जो पुद्गल स्पर्श से रूक्ष है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४२. परिमंडलसंठाणे
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य।।

*परिमण्डल-संस्थानः*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः स्पर्शतोऽपि च।।*

जो पुद्गल संस्थान से परिमण्डल है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४३. संठाणओ भवे वट्टे
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य।।

*संस्थानतो भवेद् वृत्तः*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः स्पर्शतोऽपि च।।*

जो पुद्गल संस्थान से वृत्त है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४४. संठाणओ भवे तंसे
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य।।

*संस्थानतो भवेत् त्र्यस्रः*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः स्पर्शतोऽपि च।।*

जो पुद्गल संस्थान से त्रिकोण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४५. संठाणओ भवे चउरंसे
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य।।

*संस्थानतो भवेच्चतुरस्रः*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः स्पर्शतोऽपि च।।*

जो पुद्गल संस्थान से चतुष्कोण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४६. जे आययसंठाणे
भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य।।

*य आयतसंस्थानः*
*भाज्यः स तु वर्णतः।*
*गन्धतो रसतश्चैव*
*भाज्यः स्पर्शतोऽपि च।।*

जो पुद्गल संस्थान से आयत है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४७. एसा अजीवविभत्ती
समासेण वियाहिया।
इत्तो जीवविभत्तिं
वुच्छामि अणुपुव्वसो।।

*एषा अजीवविभक्तिः*
*समासेन व्याख्याताः*
*इतो जीवविभक्तिं*
*वक्ष्याम्यनुपूर्वशः।।*

यह अजीव-विभाग संक्षेप में कहा गया है। अब अनुक्रम से जीव-विभाग का निरूपण करूंगा।

४८. संसारत्था य सिद्धा य
दुविहा जीवा वियाहिया।
सिद्धा णेगविहा वुत्ता
तं मे कित्तयओ सुण।।

*संसारस्थाश्च सिद्धाश्च*
*द्विविधाः जीवा व्याख्याताः।*
*सिद्धा अनेकविधा उक्ताः*
*तान् मे कीर्तयतः शृणु।।*

जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) संसारी और (२) सिद्ध। सिद्ध अनेक प्रकार के होते हैं। मैं उनका निरूपण करता हूं, तुम मुझ से सुनो।

४९. इत्थी पुरिससिद्धा य
तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य
गिहिलिंगे तहेव य।।

*स्त्री-पुरुष-सिद्धाश्च*
*तथैव च नपुंसकाः।*
*स्वलिंगा अन्यलिंगाश्च*
*गृहलिंगास्तथैव च।।*

स्त्रीलिंग, सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध, गृहलिंग सिद्ध आदि अनेक प्रकार के सिद्ध होते हैं।

५०. उक्कोसोगाहणाए य
जहन्नमज्झिमाइ य।
उड्ढं अहे य तिरियं य
समुद्दम्मि जलम्मि य।।

*उत्कर्षावगाहनायां च*
*जघन्यमध्यमयोश्च।*
*ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च*
*समुद्रे जले च।।*

उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम अवगाहना में और ऊंचे, नीचे और तिरछे लोक में तथा समुद्र व अन्य जलाशयों में भी जीव सिद्ध होते हैं।[१२]

५१. दस चेव नपुंसेसुं
वीसं इत्थियासु य।
पुरिसेसु य अट्ठसयं
समएणेगेण सिज्झई।।

*दश चैव नपुंसकेषु*
*विंशतिः स्त्रीषु च।*
*पुरुषेषु चाष्टशतं*
*समयेनैकेन सिध्यति।।*

दश नपुंसक, बीस स्त्रियां और एक सौ आठ पुरुष एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।

५२. चत्तारि य गिहिलिंगे
अन्नलिंगे दसेव य।
सलिंगेण य अट्ठसयं
समएणेगेण सिज्झई।।

*चत्वारश्च गृहलिंगे*
*अन्यलिंगे दशैव च।*
*स्वलिंगेन चाष्टशतं*
*समयेनैकेन सिध्यति।।*

गृहस्थ वेश में चार, अन्यतीर्थिक वेश में दस और निर्ग्रन्थ वेश में एक सौ आठ जीव एक साथ सिद्ध हो सकते हैं।

५३. उक्कोसोगाहणाए य
सिज्झंते जुगवं दुवे।
चत्तारि जहन्नाए
जवमज्झट्ठुत्तरं सयं।।

*उत्कर्षावगाहनायां च*
*सिध्यतो युगपद् द्वौ।*
*चत्वारो जघन्यायाम्*
*यवमध्यायामष्टोत्तरं शतम्।।*

उत्कृष्ट अवगाहना में दो, जघन्य अवगाहना में चार और मध्यम अवगाहना में एक सौ आठ जीव एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५४. चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे
तओ जले वीसमहे तहेव।
सयं च अट्ठुत्तर तिरियलोए
समएणेगेण उ सिज्झई उ।।

*चत्वार ऊर्ध्वलोके च द्वौ समुद्रे*
*त्रयो जले विंशतिरधस्तथैव।*
*शतं चाष्टोत्तरं तिर्यग्लोके*
*समयेनैकेन तु सिध्यति।।*

ऊंचे लोक में चार, समुद्र में दो, अन्य जलाशयों में तीन, नीचे लोग में बीस, तिरछे लोक में एक सौ आठ जीव एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।

५५. कहिं पडिहया सिद्धा ?
कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?।
कहिं बोंदिं चइत्ताणं ?
कत्थ गंतूण सिज्झई ?।।

*क्व प्रतिहताः सिद्धाः ?*
*क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः ?।*
*क्व शरीरं त्यक्त्वा ?*
*कुत्र गत्वा सिध्यन्ति ?।।*

सिद्ध कहां रुकते हैं ? कहां स्थित होते हैं ? कहां शरीर को छोड़ते हैं ? और कहां जाकर सिद्ध होते हैं ?

५६. अलोए पडिहया सिद्धा
लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं
तत्थ गंतूण सिज्झई।।

*अलोके प्रतिहताः सिद्धाः*
*लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः।*
*इह शरीरं त्यक्त्वा*
*तत्र गत्वा सिध्यन्ति।।*

सिद्ध आलोक से प्रतिहत होते हैं। लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं। मनुष्य लोक में शरीर को छोड़ते हैं और लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते हैं।[१३]

५७. बारसहिं जोयणेहिं
सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।
ईसीपब्भारनामा उ
पुढवी छत्तसंठिया।।

*द्वादशभिर्योजनैः*
*सर्वार्थस्योपरि भवेत्।*
*ईषत्प्राग्भारनाम्नी तु*
*पृथ्वी छत्रसंस्थिता।।*

सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भारा[१४] नामक पृथ्वी है। वह छत्राकार में अवस्थित है।

५८. पणयालसयसहस्सा
जोयणाणं तु आयया।
तावइयं चेव वित्थिण्णा
तिगुणो तस्सेव परिरओ।।

*पंचचत्वारिंशत् शतसहस्राणि*
*योजनानां त्वायता।*
*तावन्ति चैव विस्तीर्णा*
*त्रिगुणस्तस्मादेव परिरयः।।*

उसकी लम्बाई और चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन की है। उसकी परिधि उस (लम्बाई-चौड़ाई) से तिगुनी है।

५९. अट्ठजोयणबाहल्ला
सा मज्झम्मि वियाहिया।
परिहायंती चरिमंते
मच्छियपत्ता तणुयरी।।

*अष्टयोजनबाहल्या*
*सा मध्ये व्याख्याता।*
*परिहीयमाणा चरमान्ते*
*मक्षिकापत्रात् तनुतरा।।*

मध्य भाग में उसकी मोटाई आठ योजन की है। वह क्रमशः पतली होती-होती अंतिम भाग में मक्खी की पांख से भी अधिक पतली हो जाती है।

६०. अज्जुणसुवण्णगमई
सा पुढवी निम्मला सहावेणं।
उत्ताणगछत्तगसंठिया य
भणिया जिणवरेहिं।।

*अर्जुनसुवर्णकमयी*
*सा पृथिवी निर्मला स्वभावेन।*
*उत्तानकच्छत्रकसंस्थिता च*
*भणिता जिनवरैः।।*

वह श्वेत-स्वर्णमयी, स्वभाव से निर्मल और उत्तान (सीधे) छत्राकार वाली है—ऐसा जिनवर ने कहा है।

६१. संखंककुंदसंकासा
पंडुरा निम्मला सुहा।
सीयाए जोयणे तत्तो
लोयंतो उ वियाहिओ।।

*शङ्खाङ्ककुन्दसंकाशा*
*पाण्डुरा निर्मला शुभा।*
*सीताया योजने ततः*
*लोकान्तस्तु व्याख्यातः।।*

वह शंख, अंक-रत्न और कुन्द पुष्प के समान श्वेत, निर्मल और शुद्ध है। उस सीता नाम की ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त (अग्रभाग) है।

६२. जोयणस्स उ जो तस्स
कोसो उवरिमो भवे।
तस्स कोसस्स छब्भाए
सिद्धाणोगाहणा भवे।।

*योजनस्य तु यस्तस्य*
*क्रोश उपरिवर्ती भवेत्।*
*तस्य क्रोशस्य षड्भागे*
*सिद्धानामवगाहना भवेत्।।*

उस योजन के उपरिवर्ती कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना (अवस्थिति) होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६३. तत्थ सिद्धा महाभागा
लोयग्गम्मि पइट्ठिया।
भवप्पवंच उम्मुक्का
सिद्धिं वरगइं गया।।

*तत्र सिद्धा महाभागाः*
*लोकाग्रे प्रतिष्ठिताः।*
*भवप्रपञ्चोन्मुक्ताः*
*सिद्धिं वरगतिं गताः।।*

भव-प्रपंच से उन्मुक्त और सर्वश्रेष्ठ गति (सिद्धि) को प्राप्त होने वाले अनन्त शक्तिशाली सिद्ध वहां लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं।

६४. उस्सेहो जस्स जो होइ
भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणा तत्तो य
सिद्धाणोगाहणा भवे।।

*उत्सेधो यस्य यो भवति*
*भवे चरमे तु।*
*त्रिभागहीना ततश्च*
*सिद्धानामवगाहना भवेत्।।*

अन्तिम भव में जिसकी जितनी ऊंचाई होती है, उससे त्रिभागहीन (एक तिहाई कम) अवगाहना सिद्ध होने वाले की होती है।

६५. एगत्तेण साईया
अपज्जवसिया वि य।
पुहुत्तेण अणाईया
अपज्जवसिया वि य।।

*एकत्वेन सादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*पृथुत्वेनानादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।।*

एक-एक की अपेक्षा से सिद्ध सादि-अनन्त और पृथुता (बहुत्व) की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है।

६६. अरूविणो जीवघणा
नाणदंसणसण्णिया।
अउलं सुहं संपत्ता
उवमा जस्स नत्थि उ।।

*अरूपिणो जीवघनाः*
*ज्ञानदर्शनसंज्ञिताः।*
*अतुलं सुखं सम्प्राप्ता*
*उपमा यस्य नास्ति तु।।*

वे सिद्ध-जीव अरूप, सघन (एक-दूसरे से सटे हुए) और ज्ञान-दर्शन में सतत उपयुक्त होते हैं। उन्हें वैसा सुख प्राप्त होता है, जिसके लिए संसार में कोई उपमा नहीं है।

६७. लोएगदेसे ते सव्वे
नाणदंसणसण्णिया।
संसारपारनिच्छिन्ना
सिद्धिं वरगइं गया।।

*लोकैकदेशे ते सर्वे*
*ज्ञानदर्शनसंज्ञिताः।*
*संसारपारनिस्तीर्णाः*
*सिद्धिं वरगतिं गताः।।*

ज्ञान और दर्शन में सतत उपयुक्त, संसार-समुद्र से निस्तीर्ण और सर्वश्रेष्ठ गति (सिद्धि) को प्राप्त होने वाले सब सिद्ध लोक के एक देश में अवस्थित हैं।

६८. संसारत्था उ जे जीवा
दुविहा ते वियाहिया।
तसा य थावरा चेव
थावरा तिविहा तहिं।।

*संसारस्थास्तु ये जीवाः*
*द्विविधास्ते व्याख्याताः।*
*त्रसाश्च स्थावराश्चैव*
*स्थावरास्त्रिविधास्तत्र।।*

संसारी जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर। स्थावर तीन प्रकार के हैं—

६९. पुढवी आउजीवा य
तहेव य वणस्सई।
इच्चेए थावरा तिविहा
तेसिं भेए सुणेह मे।।

*पृथिवी अब्जीवाश्च*
*तथैव च वनस्पतिः।*
*इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः*
*तेषां भेदान् शृणुत मे।*

पृथ्वी, जल और वनस्पति। ये स्थावर के तीन मूल भेद हैं। इनके उत्तर भेद मुझसे सुनो।

७०. दुविहा पुढवीजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो।।

*द्विविधा पृथिवीजीवास्तु*
*सूक्ष्मा बादरास्तथा।*
*पर्याप्ता अपर्याप्ताः*
*एवमेते द्विधा पुनः।।*

पृथ्वीकाय के जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

७१. बायरा जे उ पज्जत्ता
दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोद्धव्वा
सण्हा सत्तविहा तहिं।।

*बादरा ये तु पर्याप्ताः*
*द्विविधास्ते व्याख्याताः।*
*श्लक्ष्णाः खराश्च बोद्धव्याः*
*श्लक्ष्णाः सप्तविधास्तत्र।।*

बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों के दो भेद हैं—मृदु और कठोर। मृदु के सात भेद हैं :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७२. किण्हा नीला य रुहिरा य
हालिद्दा सुक्किला तहा।
पंडुपणगमट्टिया
खरा छत्तीसईविहा।।

*कृष्णा नीलाश्च रुधिराश्च*
*हारिद्राः शुक्लास्तथा।*
*पाण्डु-पनक-मृत्तिका*
*खराः षट्त्रिंशद्विधाः।।*

(१) कृष्ण, (२) नील, (३) रक्त, (४) पीत, (५) श्वेत, (६) पांडु (भूरीमिट्टी) और (७) पनक (अति सूक्ष्म रज)। कठोर पृथ्वी के छत्तीस प्रकार हैं :

७३. पुढवी य सक्करा वालुया य
उवले सिला य लोणूसे।
अयतंबतउयसीसग-
रुप्पसुवण्णे य वइरे य।।

*पृथिवी च शर्करा बालुका च*
*उपलः शिला च लवणोषौ।*
*अयस्ताम्रत्रपुकसीसक-*
*रूप्यसुवर्णं च वज्रं च।।*

(१) शुद्धपृथ्वी, (२) शर्करा, (३) बालू, (४) उपल, (५) शिला, (६) लवण, (७) नौनी मिट्टी, (८) लोहा, (९) ताम्बा, (१०) रांगा, (११) शीशा, (१२) चांदी, (१३) सोना, (१४) वज्र,

७४. हरियाले हिंगुलुए
मणोसिला सासगंजणपवाले।
अब्भपडलब्भवालुय
बायरकाए मणिविहाणा।।

*हरितालं हिंगुलकः*
*मनःशिला सस्यकांजनप्रवालानि।*
*अभ्रपटलमभ्रबालुका*
*बादरकाये मणिविधानानि।।*

(१५) हरिताल, (१६) हिंगुल, (१७) मैनसिल, (१८) सस्यक, (१९) अंजन, (२०) प्रवाल, (२१) अभ्रपटल, (२२) अभ्रबालुका। मणियों के भेद, जैसे—

७५. गोमेज्जए य रुयगे
अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगयमसारगल्ले
भुयमोयगइंदनीले य।

*गोमेदकश्च रुचकः*
*अंकः स्फटिकश्च लोहिताक्षश्च।*
*मरकतमसारगल्लः*
*भुजमोचक इन्द्रनीलश्च।।*

(२३) गोमेदक, (२४) रुचक, (२५) अंक, (२६) स्फटिक और लोहिताक्ष, (२७) मरकत एवं मसारगल्ल, (२८) भुजमोचक, (२९) इन्द्रनील,

७६. चंदणगेरुयहंसगब्भ
पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे।
चंदप्पहवेरुलिए
जलकंते सूरकंते य।।

*चन्दनगैरिकहंसगर्भः*
*पुलकः सौगन्धिकश्च बोद्धव्यः।*
*चन्द्रप्रभो वैडूर्यः*
*जलकान्तः सूर्यकान्तश्च।।*

(३०) चन्दन, गेरुक एवं हंसगर्भ, (३१) पुलक, (३२) सैगन्धिक, (३३) चन्द्रप्रभ, (३४) वैडूर्य, (३५) जलकान्त और (३६) सूर्यकान्त।

७७. एए खरपुढवीए
भेया छत्तीसमाहिया।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया।।

*एते खरपृथिव्याः*
*भेदाः षट्त्रिंशदाख्याताः।*
*एकविधा अनानात्वाः*
*सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।।*

कठोर पृथ्वी के ये छत्तीस प्रकार होते हैं। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं। उनमें नानात्व नहीं होता।[५५]

७८. सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं।।

*सूक्ष्माः सर्वलोके*
*लोकदेशे च बादराः।*
*इतः कालविभागं तु*
*तेषां वक्ष्ये चतुर्विधम्।।*

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव समूचे लोक में और बादर पृथ्वीकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। इनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

७९. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*संततिं प्राप्य अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

८०. बावीससहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई पुढवीणं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*द्वाविंशतिसहस्राणि*
*वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत्।*
*आयुःस्थितिः पृथिवीनां*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः बाईस हजार वर्ष की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८१. असंखकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायठिई पुढवीणं
तं कायं तु अमुंचओ।।

*असंख्यकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*कायस्थितिः पृथिवीनां*
*तं कायं त्वमुंचताम्।।*

उनकी काय-स्थिति—निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः असंख्यातकाल की है।

८२. अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
पुढवीजीवाण अंतरं।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*वित्यक्ते स्वके काये*
*पृथिवीजीवानामन्तरम्।।*

उनका अन्तर—पृथ्वीकाय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने का काल—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।[१६]

८३. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

८४. दुविहा आउजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो।।

*द्विविधा अब्जीवास्तु*
*सूक्ष्मा बादरास्तथा।*
*पर्याप्ता अपर्याप्ताः*
*एवमेते द्विधा पुनः।।*

अप्कायिक जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो भेद होते हैं।

८५. बायरा जे उ पज्जत्ता
पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से
हरतणू महिया हिमे।।

*बादरा ये तु पर्याप्ताः*
*पंचधा ते प्रकीर्तिताः।*
*शुद्धोदकं चावश्यायः*
*हरतनुर्महिका हिमम्।।*

बादर पर्याप्त अप्कायिक जीवों के पांच भेद होते हैं—(१) शुद्धोदक, (२) ओस, (३) हरतनु, (४) कुहासा और (५) हिम।[१७]

८६. एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा।।

*एकविधा अनानात्वाः*
*सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।*
*सूक्ष्माः सर्वलोके*
*लोकदेशे च बादराः।।*

सूक्ष्म अप्कायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें नानात्व नहीं होता। वे समूचे लोक में तथा बादर अप्कायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

८७. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्य अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

८८. सत्तेव सहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई आऊणं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*सप्तैव सहस्राणि*
*वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत्।*
*आयुः स्थितिरपां*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

उनकी आयुस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः सात हजार वर्ष की है।

८९. असंखकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
कायट्ठिई आऊणं
तं कायं तु अमुंचओ।।

*असंख्यकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।*
*कायस्थितिरपां*
*तं कायं त्वमुंचताम्।।*

उनकी काय-स्थिति—निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यातकाल की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६०. अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
आऊजीवाण अंतरं।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*वित्यक्ते स्वके काये*
*अब्जीवानामन्तरम्।।*

उनका अन्तर—अप्काय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्तकाल का है।

६१. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

६२. दुविहा वणस्सईजीवा
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो।।

*द्विविधा वनस्पतिजीवाः*
*सूक्ष्मा बादरास्तथा।*
*पर्याप्ता अपर्याप्ताः*
*एवमेते द्विविधा पुनः।।*

वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। इन दोनों में पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो भेद होते हैं।

६३. बायरा जे उ पज्जत्ता
दुविहा ते वियाहिया।
साहारणसरीरा य
पत्तेगा य तहेव य।।

*बादरा ये तु पर्याप्ताः*
*द्विविधास्ते व्याख्याताः।*
*साधारणशरीराश्च*
*प्रत्येकाश्च तथैव च।।*

बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीवों के दो भेद हैं—(१) साधारण-शरीर और (२) प्रत्येक-शरीर।

६४. पत्तेगसरीरा उ
णेगहा ते पकित्तिया।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य
लया वल्ली तणा तहा।।

*प्रत्येकशरीरास्तु*
*अनेकधा ते प्रकीर्तिताः।*
*रुक्षा गुच्छाश्च गुल्माश्च*
*लता वल्ली तृणानि तथा।।*

प्रत्येक-शरीर वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार हैं—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली और तृण।

६५. लयावलय पव्वगा कुहुणा
जलरुहा ओसहीतिणा।
हरियकाया य बोद्धव्वा
पत्तेया इति आहिया।।

*लतावलयानि पर्वजाः*
*कुहणा जलरुहा औषधितृणानि।*
*हरितकायाश्च बोद्धव्याः*
*प्रत्येका इति आख्याताः।।*

लता-वलय (नारियल आदि), पर्वज (ईख आदि), कुहण ( भूंफोड़ आदि), जलरुह (कमल आदि), औषधि-तृण ( अनाज) और हरित-काय—ये सब प्रत्येक शरीर हैं।

६६. साहारणसरीरा उ
णेगहा ते पकित्तिया।
आलुए मूलए चेव
सिंगबेरे तहेव य।।

*साधारणशरीरास्तु*
*अनेकविधा ते प्रकीर्तिता।*
*आलुको मूलकश्चैव*
*शृङ्गबेरं तथैव च।।*

साधारण-शरीर वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार हैं—आलू, मूली, अदरक,

६७. हिरिली सिरिली सिस्सिरिली
जावई केवकंदली।
पलंदूलसणकंदे य
कंदली य कुडुंबए।।

*हिरली सिरिली सिस्सिरिली*
*जावई केवकन्दली।*
*पलाण्डुलशुनकन्दश्च*
*कन्दली च कुस्तुम्बकः।।*

हिरलीकन्द, सिरिलीकन्द, सिस्सिरिलीकन्द, जावईकन्द, केद-कंदलीकन्द, प्याज, लहसुन, कन्दली, कुस्तुम्बक,

६८. लोहि णीहू य थिहू य
कुहगा य तहेव य।
कण्हे य वज्जकंदे य
कंदे सूरणए तहा।।

*लोही स्निहुश्च स्तिभुश्च*
*कुहकाश्च तथैव च।*
*कृष्णश्च वज्रकन्दश्च*
*कन्दः सूरणकस्तथा।।*

लोही, स्निहु, स्तिभु, कुहक, कृष्ण, वज्रकन्द, सुरणकन्द,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९९. अस्सकण्णी य बोद्धव्वा
सीहकण्णी तहेव य।
मुसुंढी य हलिद्दा य
णेगहा एवमायओ।।

*अश्वकर्णी च बोद्धव्या*
*सिंहकर्णी तथैव च।*
*मुष्णुण्ढी च हरिद्रा च*
*अनेकधा एवमादयः।।*

अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंढी और हरिद्रा आदि। ये सब साधारण शरीर हैं।[१]

१००. एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा।।

*एकविधा अनानात्वाः*
*सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।*
*सूक्ष्माः सर्वलोके*
*लोकदेशे च बादराः।।*

सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें नानात्व नहीं होता। वे समूचे लोक में तथा बादर वनस्पतिकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

१०१. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्यानादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१०२. दस चेव सहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
वणप्फईण आउं तु
अंतोमुहुत्तं जहन्नगं।।

*दश चैव सहस्राणि*
*वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत्।*
*वनस्पतीनामायुस्तु*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।।*

उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः दस हजार वर्ष की है।

१०३. अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायठिई पणगाणं
तं कायं तु अमुंचओ।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*कायस्थितिः पनकानां*
*तं कायं तु अमुंचताम्।।*

उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल की है।

१०४. असंखकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
पणगजीवाण अंतरं।।

*असङ्ख्यकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्*
*वित्यक्ते स्वके काये।*
*पनकजीवानामन्तरम्।।*

उनका अन्तर—वनस्पतिकाय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल का है।

१०५. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थनादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१०६. इच्चेए थावरा तिविहा
समासेण वियाहिया।
इत्तो उ तसे तिविहे
वुच्छामि अणुपुव्वसो।।

*इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः*
*समासेन व्याख्याताः।*
*इतस्तु त्रसान् त्रिविधान्*
*वक्ष्याम्यनुपूर्वशः।।*

यह तीन प्रकार के स्थावर जीवों का संक्षिप्त वर्णन है। अब तीन प्रकार के त्रस जीवों का क्रमशः निरूपण करूंगा।

१०७. तेऊ वाऊ य बोद्धव्वा
उराला य तसा तहा।
इच्चेए तसा तिविहा
तेसिं भेए सुणेह मे।।

*तेजो वायुश्च बोद्धव्याः*
*उदाराश्च त्रसास्तथा।*
*इत्येते त्रसास्त्रिविधाः*
*तेषां भेदान् शृणुत मे।।*

तेजस्काय, वायुकाय और उदार त्रसकाय—ये तीन भेद त्रसकाय के हैं। अब इनके भेदों को मुझसे सुनो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०८. दुविहा तेउजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो।।

*द्विविधास्तेजोजीवास्तु*
*सूक्ष्मा बादरास्तथा।*
*पर्याप्ता अपर्याप्ताः*
*एवमेते द्विधा पुनः।।*

तेजस्कायिक जीवों के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और बादर। उन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

१०९. बायरा जे उ पज्जत्ता
णेगहा ते वियाहिया।
इंगाले मुम्मुरे अगणी
अच्चिं जाला तहेव य।।

*बादरा ये तु पर्याप्ताः*
*अनेकधा ते व्याख्याताः।*
*अंगारो मुमुरोऽग्निः*
*अर्चिर्ज्वाला तथैव च।।*

बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीवों के अनेक भेद हैं—अंगार, मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला,

११०. उक्का विज्जू य बोद्धव्वा
णेगहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा ते वियाहिया।।

*उल्का विद्युच्च बोद्धव्याः*
*अनेकधा एवमादयः।*
*एकविधा अनानात्वाः*
*सूक्ष्मास्ते व्याख्याताः।।*

उल्का, विद्युत् आदि। सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं।, उनमें नानात्व नहीं होता।[१६]

१११. सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं।।

*सूक्ष्माः सर्वलोके*
*लोकदेशे च बादराः।*
*इतः कालविभागं तु*
*तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम्।।*

वे (सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव) समूचे लोक में और बादर तेजस्कायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त है। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

११२. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्यः अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

११३. तिण्णेव अहोरत्ता
उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई तेऊणं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*त्रीण्येवाहोरात्राणि*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*आयुःस्थितिस्तेजसाम्*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः तीन दिन-रात की है।

११४. असंखकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायट्ठिई तेऊणं
तं कायं तु अमुंचओ।।

*असंख्यकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*कायस्थितिस्तेजसाम्*
*तं कायं तु अमुंचताम्।।*

उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल की है।

११५. अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
तेउजीवाण अंतरं।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*वित्यक्ते स्वके काये*
*तेजोजीवानामन्तरम्।।*

उनका अन्तर—तेजस्काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

११६. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११७. दुविहा वाउजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो।।

*द्विविधा वायुजीवास्तु*
*सूक्ष्मा बादरास्तथा।*
*पर्याप्ता अपर्याप्ता*
*एवमेते द्विधा पुनः।।*

वायुकायिक जीवों के दो प्रकार हैं—सूक्ष्म और बादर। उन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

११८. बायरा जे उ पज्जत्ता
पंचहा ते पकित्तिया
उक्कलियामंडलिया
घणगुंजा सुद्धवाया य।।

*बादरा ये तु पर्याप्ताः*
*पंचधा ते प्रकीर्तिताः।*
*उत्कलिका मण्डलिका*
*घनगुंजाः शुद्धवाताश्च।।*

बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवों के पांच भेद होते हैं—(१) उत्कालिका, (२) मण्डलिका, (३) घनवात, (४) गुंजावात और (५) शुद्धवात।

११९. संवट्टगवाते य
णेगविहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा ते वियाहिया।।

*संवर्त्तकवाताश्च*
*अनेकधा एवमादयः।*
*एकविधा अनानात्वाः*
*सूक्ष्मास्ते व्याख्याताः।।*

उनके संवर्तक-वात आदि और भी अनेक प्रकार हैं। सूक्ष्म वायुकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें नानात्व नहीं होता।[२०]

१२०. सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं।।

*सूक्ष्माः सर्वलोके*
*लोकदेशे च बादराः।*
*इतः कालविभागं तु*
*तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम्।।*

वे (सूक्ष्म-वायुकायिक जीव) समूचे लोक में और बादर वायुकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

१२१. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्य अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१२२. तिण्णेव सहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई वाऊणं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*त्रीण्येव सहस्राणि*
*वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत्।*
*आयुःस्थितिर्वायूनाम्*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।।*

उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः तीन हजार वर्षों की है।

१२३. असंखकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायट्ठिई वाऊणं
तं कायं तु अमुंचओ।।

*असंख्यकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*कायस्थितिर्वायूनां*
*तं कायं तु अमुंचताम्।।*

उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है।

१२४. अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
वाउजीवाण अंतरं।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*वित्यक्ते स्वके काये*
*वायुजीवानामन्तरम्।।*

उनका अन्तर—वायुकाय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१२५. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वाऽपि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२६. ओराला तसा जे उ
चउहा ते पकित्तिया।
बेइंदियतेइंदिय
चउरोपंचिंदिया चेव।।

*'ओराला' त्रसा ये तु*
*चतुर्धा ते प्रकीर्तिताः।*
*द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः*
*चतुष्पंचेन्द्रियाश्चैव।।*

स्थूल त्रस-कायिक जीव चार प्रकार के हैं—(१) द्वीन्द्रिय, (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय और (४) पंचेन्द्रिय।

१२७. बेइंदिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे।।

*द्वीन्द्रियास्तु ये जीवाः*
*द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।*
*पर्याप्ता अपर्याप्ताः*
*तेषां भेदान् शृणुत मे।।*

द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१२८. किमिणो सोमंगला चेव
अलसा माइवाहया।
वासीमुहा य सिप्पीया
संखा संखणगा तहा।।

*कृमयः सौमङ्गलाश्चैव*
*अलसा मातृवाहकाः।*
*वासीमुखाश्च शुक्तयः*
*शङ्खा शङ्खनकास्तथा।।*

कृमि, सौमंगल, अलस, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शंख, शंखनक,

१२९. पल्लोयाणुल्लया चेव
तहेव य वराडगा।
जलूगा जालगा चेव
चंदणा य तहेव य।।

*'पल्लोया' 'अणुल्लया' चैव*
*तथैव च वराटकाः।*
*जलौका जालकाश्चैव*
*चन्दनाश्च तथैव च।।*

पल्लोय, अणुल्लक, कोडी, जौंक, जालक, चन्दनिया,

१३०. इइ बेइंदिया एए
णेगहा एवमायओ।
लोगगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया।।

*इति द्वीन्द्रिया एते*
*अनेकधा एवमादयः।*
*लोकैकदेशे ते सर्वे*
*न सर्वत्र व्याख्याताः।।*

आदि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्य होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

१३१. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्यानादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१३२. वासाइं बारसे व उ
उक्कोसेण वियाहिया।
बेइंदियआउट्ठिई
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*वर्षाणि द्वादशैव तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*द्वीन्द्रियायुःस्थितिः*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः बारह वर्ष की है।

१३३. संखिज्जकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं पहन्नयं।
बेइंदियकायट्ठिई
तं कायं तु अमुंचओ।।

*संख्येयकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*द्वीन्द्रियकायस्थितिः*
*तं कायं तु अमुंचताम्।।*

उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः संख्यात काल की है।

१३४. अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
बेइंदियजीवाणं
अंतरेयं वियाहियं।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*द्वीन्द्रिय-जीवानां*
*अन्तरं च व्याख्यातम्।।*

उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३५. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानदेशतो वापि*
*विधनानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१३६. तेइंदिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे।।

*त्रीन्द्रियास्तु ये जीवाः*
*द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।*
*पर्याप्ता अपर्याप्ताः*
*तेषां भेदान् शृणुत मे।।*

त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१३७. कुंथुपिवीलिउड्डंसा
उक्कलुद्देहिया तहा।
तणहारकट्ठहारा
मालुगा पत्तहारगा।।

*कुन्थुपिपीलिकोद्दंशाः*
*उक्कलोपदेहिकास्तथा।*
*तृणहारकाष्ठहाराः*
*'मालुगा' पत्रहारकाः।।*

कुंथु, चींटी, खटमल, मकड़ी, दीमक, तृणाहारक, काष्ठाहारक (घुन), मालुक, पत्राहारक,

१३८. कप्पासट्ठिमिंजा य
तिंदुगा तउसमिंजगा।
सदावरी य गुम्मी य
बोद्धव्वा इंदकाइया।।

*कर्पासास्थिमिंजाश्च*
*तिन्दुकाः त्रपुषमिञ्जकाः।*
*शतावरी च गुल्मी च*
*बौद्धव्या इन्द्रकायिकाः।।*

कर्पासास्थि-मिंजक, तिन्दुक, त्रपुष-मिंजक, शतावरी कानखजूरी, इन्द्रकायिक,

१३९. इंदगोवगमाईया
णेगहा एवमायओ।
लोएगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया।।

*इन्द्रगोपकादिकाः*
*अनेकधा एवमादयः।*
*लोकैकदेशे ते सर्वे*
*न सर्वत्र व्याख्याताः।।*

इन्द्रगोपक आदि अनेक प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

१४०. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्य अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१४१. एगूणपण्णहोरत्ता
उक्कोसेण वियाहिया।
तेइंदियआउठिई
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*एकोनपंचाशदहोरात्राणि*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*त्रीन्द्रियायुःस्थितिः*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः उनचास दिनों की है।

१४२. संखिज्जकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
तेइंदियकायठिई
तं कायं तु अमुंचओ।।

*संख्येयकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*त्रीन्द्रियकायस्थितिः*
*तं कायं तु अमुंचताम्।।*

उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः संख्यात-काल की है।

१४३. अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
तेइंदियजीवाणं
अंतरेयं वियाहियं।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*त्रीन्द्रिय जीवानां*
*अन्तरमेतद् व्याख्यातम्।।*

उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्तकाल का है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४४. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१४५. चउरिंदिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे।।

*चतुरिन्द्रियास्तु ये जीवाः*
*द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।*
*पर्याप्ता अपर्याप्ताः*
*तेषां भेदान् शृणुत मे।।*

चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१४६. अंधिया पोत्तिया चेव
मच्छिया मसगा तहा।
भमरे कीडपयंगे य
ढिंकुणे कुंकुणे तहा।।

*अन्धिकाः पोत्तिकाश्चैव*
*मक्षिका मशकास्तथा।*
*भ्रमराः कीटपतंगाश्च*
*ढिंकुणा कुंकणास्तथा।।*

अन्धिका, पोत्तिका, मक्षिका, मच्छर, भ्रमर, कीट, पतंग, ढिंकुण, कुंकुण,

१४७. कुक्कुडे सिंगिरीडी य
नंदावत्ते य विंछिए।
डोले भिंगारी य
विरली अच्छिवेहए।।

*कुक्कुटाः शृङ्गरीटयश्च*
*नन्दावर्त्ताश्च वृश्चिकाः।*
*'डोल' भृङ्गारिणश्च*
*विरल्योऽक्षिवेधकाः।।*

कुक्कुड़, शृंगिरीटी, नन्दावर्त, बिच्छु, डोल, भृंगरीटक, विरली, अक्षिवेधक,

१४८. अच्छिले माहए अच्छिरोडए
विचित्ते चित्तपत्तए।
ओहिंजलिया जलकारी य
नीया तंतवगाविय।।

*अक्षिला मागधा अक्षिरोडका*
*विचित्राश्चित्रपत्रकाः।*
*ओहिंजलिया जलकार्यश्च*
*नीचास्तन्तवका अपि च।।*

अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक, विचित्र-पत्रक, चित्र-पत्रक, ओहिंजलिया, जलकारी, नीचक, तन्तवक—

१४९. इइ चउरिंदिया एए
जेगहा एवमायओ।
लोगस्स एग देसम्मि
ते सव्वे परिकित्तिया।।

*इति चतुरिन्द्रिया एते*
*अनेकधा एवमादयः।*
*लोकस्यैकदेशे*
*ते सर्वे परिकीर्तिताः।।*

आदि अनेक प्रकार के चतुरिन्द्रिय जीव हैं।[१९] वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

१५०. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्य अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१५१. छच्चेव य मासा उ
उक्कोसेण वियाहिया।
चउरिंदियआउठिई
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*षट् चैव च मासास्तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*चतुरिन्द्रियायुः स्थितिः*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः छह मास की है।

१५२. संखिज्जकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं
चउरिंदियकायठिई
तं कायं तु अमुंचओ।।

*संख्येयकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*चतुरिन्द्रियकायस्थितिः*
*तं कायं तु अमुंचताम्।।*

उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः संख्यात काल की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५३. अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
अंतरेयं वियाहियं।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*वित्यक्ते स्वके काये*
*अन्तरमेतद् व्याख्यातम्।।*

उनका अन्तर—चतुरिन्द्रिय के काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१५४. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानप की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१५५. पंचिंदिया उ जे जीवा
चउव्विहा ते वियाहिया।
नेरइयतिरिक्खा य
मणुया देवा य आहिया।।

*पंचेन्द्रियास्तु ये जीवाः*
*चतुर्विधास्ते व्याख्याताः।*
*नैरयिकास्तिर्यञ्चश्च*
*मनुजा देवाश्च आख्याताः।।*

पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं—(१) नैरयिक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य और (४) देव।

१५६. नेरइया सत्तविहा
पुढवीसु सत्तसू भवे।
रयणाभसक्कराभा
वालुयाभा य आहिया।।

*नैरयिकाः सप्तविधाः*
*पृथिवीषु सप्तसु भवेयुः।*
*रत्नाभा शर्कराभा*
*वालुकाभा च आख्याता।।*

नैरयिक जीव सात प्रकार के हैं वे सात पृथ्वियों में उत्पन्न होते हैं। वे सात पृथ्वियां ये हैं—(१) रत्नाभा, (२) शर्कराभा, (३) वालुकाभा,

१५७. पंकाभा धूमाभा
तमा तमतमा तहा।
इइ नेरइया एए
सत्तहा परिकित्तिया।।

*पंकाभा धूमाभा*
*तमा तमस्तमा तथा।*
*इति नैरयिका एते*
*सप्तधा परिकीर्तिताः।।*

(४) पंकाभा, (५) धूमाभा, (६) तमा और (७) तमस्तमा। इन सात पृथ्वियों में उत्पन्न होने के कारण ही नैरयिक सात प्रकार के हैं।

१५८. लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे उ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं।।

*लोकस्यैकदेशे*
*ते सर्वे तु व्याख्याताः।*
*इतः कालविभागं तु*
*वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्।।*

वे लोक के एक भाग में हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल विभाग का निरूपण करूंगा।

१५९. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्य अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१६०. सागरोवममेगं तु
उक्कोसेण वियाहिया।
पढमाए जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया।।

*सागरोपममेकं तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*प्रथमायां जघन्येन*
*दशवर्षसहस्रिका।।*

पहली पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः एक सागरोपम की है।

१६१. तिण्णेव सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
दोच्चाए जहन्नेणं
एगं तु सागरोवमं।।

*त्रय एव सागरास्तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*द्वितीयायां जघन्येन*
*एकं तु सागरोपमम्।।*

दूसरी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः एक सागरोपम और उत्कृष्टतः तीन सागरोपम की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६२. सत्तेव सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
तइयाए जहन्नेणं
तिण्णेव उ सागरोवमा।।

*सप्तैव सागरास्तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*तृतीयायां जघन्येन*
*त्रीणि एव तु सागरोपमाणि।।*

तीसरी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः तीन सागरोपम और उत्कृष्टतः सात सागरोपम की है।

१६३. दस सागरोवमा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
चउत्थीए जहन्नेणं
सत्तेव उ सागरोवमा।।

*दश सागरोपमाणि तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*चतुर्थ्यां जघन्येन*
*सप्तैव तु सागरोपमाणि।।*

चौथीपृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः सात सागरोपम और उत्कृष्टतः दस सागरोपम की है।

१६४. सत्तरस सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
पंचमाए जहन्नेणं
दस चेव उ सागरोवमा।।

*सप्तदश सागरास्तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*पंचम्यां जघन्येन*
*दश चैव तु सागरोपमाणि।।*

पांचवीं पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस सागरोपम और उत्कृष्टतः सतरह सागरोपम की है।

१६५. बावीस सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
छट्ठीए जहन्नेणं
सत्तरस सागरोवमा।।

*द्वाविंशतिः सागरास्तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*षष्ठ्यां जघन्येन*
*सप्तदश सागरोपमाणि।।*

छठी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः सतरह सागरोपम और उत्कृष्टतः बाईस सागरोपम की है।

१६६. तेत्तीस सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
सत्तमाए जहन्नेणं
बावीसं सागरोवमा।।

*त्रयस्त्रिंशत् सागरास्तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*सप्तम्यां जघन्येन*
*द्वाविंशतिः सागरोपमाणि।।*

सातवीं पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः बाईस सागरोपम और उत्कृष्टतः तेतीस सागरोपम की है।

१६७. जा चेव उ आउठिई
नेरइयाणं वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई
जहन्नुक्कोसिया भवे।।

*या चैव तु आयुःस्थितिः*
*नैरयिकाणां व्याख्याता।*
*सा तेषां कायस्थितिः*
*जघन्योत्कर्षिता भवेत्।।*

नैरयिक जीवों की जो आयु-स्थिति है, वही उनकी जघन्यतः या उत्कृष्टतः कायस्थिति है।

१६८. अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
नेरइयाणं तु अंतरं।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*वित्यक्ते स्वके काये*
*नैरयिकाणां तु अन्तरम्।।*

उनका अन्तर—नैरयिक के काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

१६९. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१७०. पंचिंदियतिरिक्खाओ
दुविहा ते वियाहिया।
सम्मुच्छिमतिरिक्खाओ
गब्भवक्कंतिया तहा।

*पंचेन्द्रियतिर्यञ्चः*
*द्विविधास्ते व्याख्याताः।*
*सम्मूर्च्छिमतिर्यञ्चः*
*गर्भाव्यक्रान्तिकास्तथा।।*

पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च जीव दो प्रकार के हैं—
(१) सम्मूर्च्छिम- तिर्यञ्च और (२) गर्भ-उत्पन्न-तिर्यञ्च।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७१. दुविहावि ते भवे तिविहा
जलयरा थलयरा तहा।
खहयरा य बोद्धव्वा
तेसिं भेए सुणेह मे।।

*द्विविधा अपि ते भवेयुः त्रिविधाः*
*जलचराः स्थलचरास्तथा।*
*खचराश्च बोद्धव्याः*
*तेषां भेदान् शृणुत मे।।*

ये दोनों ही जलचर, स्थलचर और खेचर के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१७२. मच्छा य कच्छभा य
गाहा य मगरा तहा।
सुंसुमारा य बोद्धव्वा
पंचहा जलयराहिया।।

*मत्स्याश्च कच्छपाश्च*
*ग्राहाश्च मकरास्तथा।*
*सुंसुमाराश्च बोद्धव्याः*
*पंचधा जलचरा आख्याताः।।*

जलचर जीव पांच प्रकार के हैं—(१) मत्स्य, (२) कच्छप, (३) ग्राह, (४) मकर और (५) सुंसुमार।

१७३. लोएगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं।।

*लोकैकदेशे ते सर्वे*
*न सर्वत्र व्याख्याताः।*
*इतः कालविभागं तु*
*वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्।।*

वे लोक के एक भाग में ही होते हैं, समूचे लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

१७४. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्य अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१७५. एगा य पुव्वकोडीओ
उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई जलयराणं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*एका च पूर्वकोटी*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*आयुःस्थितिर्जलचराणां*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः एक करोड़ पूर्व की है।

१७६. पुव्वकोडीपुहत्तं तु
उक्कोसेण वियाहिया।
कायट्ठिई जलयराणं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*पूर्वकोटिपृथक्त्वं तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*कायस्थितिर्जलचराणां*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

उनकी काय-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः दो से नौ करोड़ पूर्व की है।

१७७. अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
जलयराणं तु अंतरं।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*वित्यक्ते स्वके काये*
*जलचराणं तु अन्तरम्।।*

उनका अन्तर—जलचर के काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१७८. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१७९. चउप्पया य परिसप्पा
दुविहा थलयरा भवे।
चउप्पया चउविहा
ते मे कित्तयओ सुण।।

*चतुष्पदाश्च परिसर्पाः*
*द्विविधाः स्थलचरा भवेयुः।*
*चतुष्पदाश्चतुर्विधाः*
*तान् मे कीर्तयतः शृणु।।*

स्थलचर जीव दो प्रकार के हैं—(१) चतुष्पद और (२) परिसर्प। चतुष्पद चार प्रकार के हैं। वे तुम मुझसे सुनो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८०. एगखुरा दुखुरा चेव
गंडीपयसणप्पया।
हयमाइगोणमाइ-
गयमाइसीहमाइणो।।

*एकखुरा द्विखुराश्चैव*
*गण्डीपदाः सनखपदाः।*
*हयादयो गवादयः*
*गजादयः सिंहादयः।।*

(१) एक खुर—घोड़े आदि, (२) दो खुर—बैल आदि, (३) गंडीपद—हाथी आदि। (४) सनखपद—सिंह आदि।

१८१. भुओरगपरिसप्पा य
परिसप्पा दुविहा भवे।
गोहाई अहिमाई य
एक्केक्का णेगहा भवे।।

*भुजउरगपरिसर्पाश्च*
*परिसर्पा द्विविधा भवेयुः।*
*गोधादयो अहयादयश्च*
*एकैके अनेकधा भवेयुः।।*

परिसर्प के दो प्रकार हैं—(१) भुजपरिसर्प—हाथों के बल चलने वाले गोह आदि, (२) उरःपरिसर्प—पेट के बल चलने वाले सांप आदि। ये दोनों अनेक प्रकार के होते हैं।

१८२. लोएगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं।।

*लोकैकदेशे ते सर्वे*
*न सर्वत्र व्याख्याताः।*
*इतः कालविभागं तु*
*वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्।।*

वे लोक के एक भाग में होते हैं, समूचे लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

१८३. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्य अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१८४. पलिओवमाउ तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई थलयराणं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*पल्योपमानि तु त्रीणि तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*आयुःस्थितिः स्थलचराणां*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः तीन पल्योपम पूर्व की है।

१८५. पलिओवमाउ तिण्णि उ
उक्कोसेण तु साहिया।
पुव्वकोडीपुहत्तेणं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*पल्योपमानि तु त्रीणि तु*
*उत्कर्षेण तु साधिका।*
*पूर्वकोटिपृथक्त्वेन*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम—एक स्थलचर जीवों की काय-स्थिति है। उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

१८६. कायट्ठिई थलयराणं
अंतरं तेसिमं भवे।
कालमणंतमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।।

*कायस्थितिः स्थलचराणां*
*अन्तरं तेषामिदं भवेत्।*
*कालमनन्तमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।।*

१८७. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१८८. चम्मे उ लोमपक्खी य
तइया समुग्गपक्खिया।
वियपक्खी य बोद्धव्वा
पक्खिणो य चउव्विहा।।

*चर्म (पक्षिणः) तु रोमपक्षिणश्च*
*तृतीयाः समुद्गपक्षिणः।*
*विततपक्षिणश्च बोद्धव्याः*
*पक्षिणश्च चतुर्विधाः।।*

खेचर जीव चार प्रकार के हैं—(१) चर्म-पक्षी, (२) रोमपक्षी, (३) समुद्गपक्षी और (४) विततपक्षी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८६. लोगेगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया।
इत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं।।

*लोकैकदेशे ते सर्वे*
*न सर्वत्र व्याख्याताः।*
*इतः कालविभागं तु*
*वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्।।*

वे लोक के एक भाग में होते हैं, समूचे लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

१९०. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्य अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१९१. पलिओवम्मस भागो
असंखेज्जइमो भवे।
आउट्ठिई खहयराणं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*पल्योपमस्य भागः*
*असंख्येयतमो भवेत्।*
*आयुःस्थितिः खेचराणां*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग की है।

१९२. असंखभागो पलियस्स
उक्कोसेण उ साहिओ।
पुव्वकोडीपुहत्तेणं
अंतोमुहुत्तं जहन्नियं।।

*असंख्यभागः पलस्य*
*उत्कर्षेण तु साधिका।*
*पूर्वकोटीपृथक्त्वेन*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक पल्योपम का असंख्यातवां भाग—

१९३. कायठिई खहयराणं
अंतरं तेसिमं भवे।
कालं अणंतमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*कायस्थितिः खेचराणां*
*अन्तरं तेषामिदं भवेत्।*
*कालमनन्तमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।।*

यह खेचर जीवों की काय-स्थिति है। उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

१९४. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१९५. मणुया दुविहभेया उ
ते मे कित्तयओ सुण।
संमुच्छिमा य मणुया
गब्भवक्कंतिया तहा।।

*मनुजा द्विविधभेदास्तु*
*तान् मे कीर्तयतः शृणु।*
*सम्मूर्च्छिमाश्च मनुजाः*
*गर्भावक्रान्तिकास्तथा।।*

मनुष्य दो प्रकार के हैं—(१) सम्मूर्च्छिम[२२] और (२) गर्भ-उत्पन्न।

१९६. गब्भवक्कंतिया जे उ
तिविहा ते वियाहिया।
अकम्मकम्मभूमा य
अंतरद्दीवया तहा।।

*गर्भावक्रान्तिका ये तु*
*त्रिविधास्ते व्याख्याताः।*
*अकर्मकर्मभूमाश्च*
*अन्तरद्वीपकास्तथा।।*

गर्भ-उत्पन्न मनुष्य तीन प्रकार के हैं[२३]—(१) अकर्म-भूमिक, (२) कर्म-भूमिक और (३) अन्तर्द्वीपक।

१९७. पन्नरस तीसइ विहा
भेया अट्ठवीसइं।
संखा उ कमसो तेसिं
इइ एसा वियाहिया।।

*पंचदशत्रिंशद्विधाः*
*भेदा अष्टाविंशतिः।*
*सङ्ख्या तु क्रमशस्तेषां*
*इत्येषा व्याख्याता।।*

कर्म-भूमिक मनुष्यों के पन्द्रह, अकर्म-भूमिक मनुष्यों के तीस तथा अन्तर्द्वीपक मनुष्यों के अट्ठाईस भेद होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९८. संमुच्छिमाण एसेव
भेओ होइ आहिओ।
लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे वि वियाहिया।।

*सम्मूर्च्छिमाणामेष एव*
*भेदो भवति आख्यातः।*
*लोकस्यैकदेशे*
*ते सर्वेऽपि व्याख्याताः।।*

सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के भी उतने ही भेद हैं जितने गर्भ-उत्पन्न मनुष्यों के हैं। वे लोक के एक भाग में ही होते हैं।

१९९. संतइं पप्पणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्य अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

२००. पडिओवमाइं तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई मणुयाणं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*पल्योपमानि त्रीणि तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*आयुःस्थितिर्मनुजानां*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः तीन पल्योपम की है।

२०१. पलिओवमाइं तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया।
पुव्वकोडीपुहत्तेणं
अंतोमुहुत्तं जहन्निया।।

*पल्योपमानि त्रीणि तु*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*पूर्वकोटिपृथक्त्वेन*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम—

२०२. कायट्ठिई मणुयाणं
अंतरं तेसिमं भवे।
अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।।

*कायस्थितिर्मनुजानां*
*अन्तरं तेषामिदं भवेत्।*
*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका।।*

यह मनुष्यों की काय-स्थिति है। उनका अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

२०३. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाई सहस्ससो।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो स्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

२०४. देवा चउव्विहा वुत्ता
ते मे कित्तयओ सुण।
भोमिज्जवाणमंतर-
जोइसवेमाणिया तहा।।

*देवाश्चतुर्विधा उक्ताः*
*तान् मे कीर्तयतः शृणु।*
*भौमेया वाणव्यन्तराः*
*ज्योतिष्काः वैमानिकास्तथा।।*

देव चार प्रकार के हैं—(१) भवन-वासी, (२) व्यन्तर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

२०५. दसहा उ भवणवासी
अट्ठहा वणचारिणो।
पंचविहा जोइसिया
दुविहा वेमाणिया तहा।।

*दशधा तु भवनवासिनः*
*अष्टधा वनचारिणः।*
*पंचविधा ज्योतिष्काः*
*द्विविधा वैमानिकास्तथा।।*

भवनवासी देव दस प्रकार के हैं। व्यन्तर आठ प्रकार के हैं।[२४] ज्योतिष्क पांच प्रकार के हैं। वैमानिक दो प्रकार के हैं।

२०६. असुरा नागसुवण्णा
विज्जू अग्गी य आहिया।
दीवोदहिदिसा वाया
थणिया भवणवासिणो।।

*असुरा नागसुपर्णाः*
*विद्युदग्निश्च आख्याताः।*
*द्वीपोदधिदिशो वाताः*
*स्तनिता भवनवासिनः।।*

(१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुपर्णकुमार, (४) विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) दधिकुमार, (८) दिक्कुमार, (९) वायुकुमार, (१०) स्तनितकुमार—ये भवनवासी देवों के दस प्रकार हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०७. पिसायभूय जक्खा य
रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा।
महोरगा य गंधव्वा
अट्ठविहा वाणमंतरा।।

*पिशाचभूतयक्षाश्च*
*राक्षसाः किन्नराश्च किंपुरुषाः।*
*महोरगाश्च गन्धर्वाः*
*अष्टविधा वाणव्यन्तराः।।*

(१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर, (६) किंपुरुष, (७) महोरग और (८) गन्धर्व—ये व्यंतर देवों के आठ प्रकार हैं।

२०८. चंदा सूरा य नक्खत्ता
गहा तारागणा तहा
दिसाविचारिणो चेव
पंचहा जोइसालया।।

*चन्द्राः सूर्याश्च नक्षत्राणि*
*ग्रहास्तारागणास्तथा।*
*दिशाविचारिणश्चैव*
*पंचधा ज्योतिषालयाः।।*

(१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) नक्षत्र, (४) ग्रह और (५) तारा—ये पांच भेद ज्योतिष्क देवों के हैं। ये दिशाविचारी—मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए विचरण करने वाले हैं।

२०९. वेमाणिया उ जे देवा
दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा
कप्पाईया तहेव य।।

*वैमानिकास्तु ये देवाः*
*द्विविधास्ते व्याख्याताः।*
*कल्पोपगाश्च बोद्धव्याः*
*कल्पातीतास्तथैव च।।*

वैमानिक देवों के दो प्रकार हैं—(१) कल्पोपग और (२) कल्पातीत।

२१०. कप्पोवगा बारसहा
सोहम्मीसाणगा तहा।
सणंकुमारमाहिंदा
बंभलोगा य लंतगा।।

*कल्पोपगा द्वादशधा*
*सौधर्मेशानगास्तथा।*
*सनत्कुमारमाहेन्द्राः*
*ब्रह्मलोकाश्च लान्तकाः।।*

कल्पोपग बारह प्रकार के हैं—(१) सौधर्म, (२) ईशानक, (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्मलोक, (६) लान्तक,

२११. महासुक्का सहस्सारा
आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव
इइ कप्पोवगा सुरा।।

*महाशुक्राः सहस्राराः*
*आनताः प्राणतास्तथा।*
*आरणा अच्युताश्चैव*
*इति कल्पोपगाः सुराः।।*

(७) महाशुक्र, (८) सहस्रार, (९) आनत, (१०) प्राणत, (११) आरण और (१२) अच्युत—ये कल्पोपग देव हैं।

२१२. कप्पाईया उ जे देवा
दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाणुत्तरा चेव
गेविज्जा नवविहा तहिं।।

*कल्पातीतास्तु ये देवाः*
*द्विविधास्ते व्याख्याताः।*
*ग्रैवेयानुत्तराश्चैव*
*ग्रैवेया नवविधास्तत्र।।*

कल्पातीत देवों के दो प्रकार हैं—(१) ग्रैवेयक और (२) अनुत्तर। ग्रैवेयकों के निम्नोक्त नौ प्रकार हैं :

२१३. हेट्ठिमाहेट्ठिमा चेव
हेट्ठिमामज्झिमा तहा।
हेट्ठिमाउवरिमा चेव
मज्झिमाहेट्ठिमा तहा।।

*अधस्तनाधस्तनाश्चैव*
*अधस्तनमध्यमास्तथा।*
*अधस्तनोपरितनाश्चैव*
*मध्यमाधस्तनास्तथा।।*

(१) अधः-अधस्तन, (२) अधः-मध्यम, (३) अधः-उपरितन, (४) मध्य-अधस्तन,

२१४. मज्झिमामज्झिमा चेव
मज्झिमाउवरिमा तहा।
उवरिमाहेट्ठिमा चेव
उवरिमामज्झिमा तहा।।

*मध्यममध्यमाश्चैव*
*मध्यमोपरितनास्तथा।*
*उपरितनाधस्तनाश्चैव*
*उपरितनमध्यमास्तथा।।*

(५) मध्य-मध्यम, (६) मध्य-उपरितन, (७) उपरि-अधिस्तन, (८) उपरि-मध्यम,

२१५. उवरिमाउवरिमा चेव
इय गेविज्जगा सुरा।
विजया वेजयंता य
जयंता अपराजिया।।

*उपरितनोपरितनाश्चैव*
*इति ग्रैवेयकाः सुराः।*
*विजया वैजयन्ताश्च*
*जयन्ता अपराजिताः।।*

और (९) उपरि-उपरितन—ये ग्रैवेयक देव हैं। (१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त, (४) अपराजित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१६. सव्वट्ठसिद्धगा चेव
पंचहाणुत्तरा सुरा।
इइ वेमाणिया देवा
णेगाहा एवमायओ।।

*सर्वार्थसिद्धकाश्चैव*
*पंचधा अनुत्तराः सुराः।*
*इति वैमानिका देवाः*
*अनेकधा एवमादयः।।*

और (५) सर्वार्थसिद्धक—ये अनुत्तर देवों के पांच प्रकार हैं। इस प्रकार वैमानिक देवों के अनेक प्रकार हैं।

२१७. लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे परिकित्तिया।
इत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं।।

*लोकस्यैकदेशे*
*ते सर्वे परिकीर्तिताः।*
*इतः कालविभागं तु*
*वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्।।*

वे सब लोक के एक भाग में रहते हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

२१८. संतइं पप्पाणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य।।

*सन्ततिं प्राप्य अनादिकाः*
*अपर्यवसिता अपि च।*
*स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः*
*सपर्यवसिता अपि च।।*

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

२१९. साहियं सागरं एक्कं
उक्कोसेण ठिई भवे।
भोमेज्जाणं जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया।।

*साधिकः सागर एकः*
*उत्कर्षेण स्थितिः भवेत्*
*भौमेयानां जघन्येन*
*दशवर्षसहस्रिका।।*

भवनवासी देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः किंचित् अधिक एक सागरोपम की है।

२२०. पलिओवममेगं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
वंतराणं जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया।।

*पल्योपममेकं तु*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*व्यन्तराणां जघन्येन*
*दशवर्षसहस्रिका।।*

व्यन्तर देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः एक पल्योपम की है।

२२१. पलिओवमं एगं तु
वासलक्खेण साहियं।
पलिओवमट्ठभागो
जोइसेसु जहन्निया।।

*पल्योपममेकं तु*
*वर्षलक्षेण साधिकम्।*
*पल्योपमाष्टभागः*
*ज्योतिष्केषु जघन्यका।।*

ज्योतिष्क देवों की आयु स्थिति जघन्यतः पल्योपम के आठवें भाग और उत्कृष्टतः एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है।

२२२. दो चेव सागराइं
उक्कोसेण वियाहिया।
सोहम्मंमि जहन्नेणं
एगं च पलिओवमं।।

*द्वौ चैव सागरौ*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*सौधर्मे जघन्येन*
*एकं च पल्योपमम्।।*

सौधर्म देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः एक पल्योपम और उत्कृष्टतः दो सागरोपम की है।

२२३. सागरा साहिया दुन्नि
उक्कोसेण वियाहिया।
ईसाणम्मि जहन्नेणं
साहियं पलिओवमं।।

*सागरौ साधिकौ द्वौ*
*उत्कर्षेण व्याख्याता।*
*ईशाने जघन्येन*
*साधिकं पल्योपमम्।।*

ईशान देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः किंचित् अधिक एक पल्योपम और उत्कृष्टतः किंचित् अधिक दो सागरोपम की है।

२२४. सागराणि य सत्तेव
उक्कोसेण ठिई भवे।
सणंकुमारे जहन्नेणं
दुन्नि ऊ सागरोवमा।।

*सागराश्च सप्तैव*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*सनत्कुमारे जघन्येन*
*द्वे तु सागरोपमे।।*

सनत्कुमार देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दो सागरोपम और उत्कृष्टतः सात सागरोपम की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२५. साहिया सागरा सत्त
उक्कोसेण ठिई भवे।
माहिंदम्मि जहन्नेणं
साहिया दुन्नि सागरा।।

*साधिकाः सागराः सप्त*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*माहेन्द्रे जघन्येन*
*साधिकौ द्वौ सागरौ।।*

माहेन्द्रकुमार देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः किंचित् अधिक दो सागरोपम और उत्कृष्टतः किंचित् अधिक सात सागरोपम की है।

२२६. दस चेव सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
बंभलोए जहन्नेणं
सत्त ऊ सागरोवमा।।

*दश चैव सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*ब्रह्मलोके जघन्येन*
*सप्त तु सागरोपमाणि।।*

ब्रह्मलोक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः सात सागरोपम और उत्कृष्टतः दस सागरोपम की है।

२२७. चउद्दस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
लंतगम्मि जहन्नेणं
दस ऊ सागरोवमा।।

*चतुर्दश सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*लान्तके जघन्येन*
*दश तु सागरोपमाणि।।*

लान्तक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस सागरोपम और उत्कृष्टतः चौदह सागरोपम की है।

२२८. सत्तरस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
महासुक्के जहन्नेणं
चउद्दस सागरोवमा।।

*सप्तदश सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*महाशुक्रे जघन्येन*
*चतुर्दश सागरोपमाणि।।*

महाशुक्र देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः चौदह सागरोपम और उत्कृष्टतः सतरह सागरोपम की है।

२२९. अट्ठारस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
सहस्सारे जहन्नेणं
सत्तरस सागरोवमा।।

*अष्टादश सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*सहस्त्रारे जघन्येन*
*सप्तदश सागरोपमाणि।।*

सहस्रार देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः सतरह सागरोपम और उत्कृष्टतः अठारह सागरोपम की है।

२३०. सागरा अउणवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
आणयम्मि जहन्नेणं
अट्ठारस सागरोवमा।।

*सागरा एकोनविंशतिस्तु*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*आनते जघन्येन*
*अष्टादश सागरोपमाणि।।*

आनत देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः अठारह सागरोपम और उत्कृष्टतः उन्नीस सागरोपम की है।

२३१. वीसं तु सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
पाणयम्मि जहन्नेणं
सागरा अउणवीसई।।

*विंशतिस्तु सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*प्राणते जघन्येन*
*सागरा एकोनविंशतिः।।*

प्राणत देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः उन्नीस सागरोपम और उत्कृष्टतः बीस सागरोपम की है।

२३२. सागरा इक्कवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
आरणम्मि जहन्नेणं
वीसई सागरोवमा।।

*सागरा एकविंशतिस्तु*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*आरणे जघन्येन*
*विंशतिः सागरोपमाणि।।*

आरण देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः बीस सागरोपम और उत्कृष्टतः इक्कीस सागरोपम की है।

२३३. बावीसं सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
अच्चुयम्मि जहन्नेणं
सागरा इक्कवीसई।।

*द्वाविंशतिः सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*अच्युते जघन्येन*
*सागरा एकविंशतिः।।*

अच्युत देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः इक्कीस सागरोपम और उत्कृष्टतः बाईस सागरोपम की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३४. तेवीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
पढमम्मि जहन्नेणं
बावीसं सागरोवमा।।

*त्रयोविंशतिः सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*प्रथमे जघन्येन*
*द्वाविंशतिः सागरोपमाणि।।*

प्रथम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः बाईस सागरोपम और उत्कृष्टतः तेईस सागरोपम की है।

२३५. चउवीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
बिइयम्मि जहन्नेणं
तेवीसं सागरोवमा।।

*चतुर्विंशतिः सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*द्वितीये जघन्येन*
*त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि।।*

द्वितीय ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः तेईस सागरोपम और उत्कृष्टतः चौबीस सागरोपम की है।

२३६. पणवीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
तइयम्मि जहन्नेणं
चउवीसं सागरोवमा।।

*पंचविंशतिः सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*तृतीये जघन्येन*
*चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि।।*

तृतीय ग्रैवेयक की आयु-स्थिति जघन्यतः चौबीस सागरोपम और उत्कृष्टतः पच्चीस सागरोपम की है।

२३७. छव्वीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
चउत्थम्मि जहन्नेणं
सागरा पणुवीसई।।

*षड्विंशतिः सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*चतुर्थे जघन्येन*
*सागराः पंचविंशतिः।।*

चतुर्थ ग्रैवेयक की आयु-स्थिति जघन्यतः पच्चीस सागरोपम और उत्कृष्टतः छब्बीस सागरोपम की है।

२३८. सागरा सत्तवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
पंचमम्मि जहन्नेणं
सागरा उ छवीसई।।

*सागराः सप्तविंशतिस्तु*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*पंचमे जघन्येन*
*सागराः तु षड्विंशतिः।।*

पंचम ग्रैवेयक की आयु-स्थिति जघन्यतः छब्बीस सागरोपम और उत्कृष्टतः सत्ताईस सागरोपम की है।

२३९. सागरा अट्ठवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेणं
सागरा सत्तवीसई।।

*सागरा अष्टाविंशतिस्तु*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*षष्ठे जघन्येन*
*सागराः सप्तविंशतिः।।*

षष्ठ ग्रैवेयक की आयु-स्थिति जघन्यतः सत्ताईस सागरोपम और उत्कृष्टतः अट्ठाईस सागरोपम की है।

२४०. सागरा अउणतीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
सत्तमम्मि जहन्नेणं
सागरा अट्ठवीसई।।

*सागरा एकोनत्रिंशत् तु*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*सप्तमे जघन्येन*
*सागराः अष्टाविंशतिः।।*

सप्तम ग्रैवेयक की आयु-स्थिति जघन्यतः अट्ठाईस सागरोपम और उत्कृष्टतः उनतीस सागरोपम की है।

२४१. तीसं तु सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
अट्ठमम्मि जहननेणं
सागरा अउणतीसइ।।

*त्रिंशत् तु सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*अष्टमे जघन्येन*
*सागराः एकोनत्रिंशत्।।*

अष्टम ग्रैवेयक की आयु-स्थिति जघन्यतः उनतीस सागरोपम और उत्कृष्टतः तीस सागरोपम की है।

२४२. सागरा इक्कतीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
नवमम्मि जहन्नेणं
तीसई सागरोवमा।।

*सागरा एकत्रिंशत् तु*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*नवमे जघन्येन*
*त्रिंशत् सागरोपमाणि।।*

नवम ग्रैवेयक की आयु-स्थिति जघन्यतः तीस सागरोपम और उत्कृष्टतः इकत्तीस सागरोपम की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४३. तेत्तीस सागराउ
उक्कोसेण ठिई भवे।
चउसुं पि विजयाईसुं
जहन्नेणेक्कतीसई।।

*त्रयस्त्रिंशत् सागराः*
*उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।*
*चतुर्ष्वपि विजयादिषु*
*जघन्येनैकत्रिंशत्।।*

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः इकतीस सागरोपम और उत्कृष्टतः तेतीस सागरोपम की है।

२४४. अजहन्नमणुक्कोसा
तेत्तीसं सागरोवमा।
महाविमाण सव्वट्ठे
ठिई एसा वियाहिया।।

*अजघन्यानुत्कर्षा*
*त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि।*
*महाविमानसर्वार्थे*
*स्थितिरेषा व्याख्याता।।*

महाविमान वासी सर्वार्थसिद्धक देवों की जघन्यतः और उत्कृष्टतः आयु-स्थिति तेतीस सागरोपम की है।

२४५. जा चेव उ आउठिई
देवाणं तु वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई
जहन्नुक्कोसिया भवे।।

*या चैव तु आयुःस्थितिः*
*देवानां तु व्याख्याता।*
*सा तेषां कायस्थितिः*
*जघन्योत्कर्षिता भवेत्।।*

सारे ही देवों की जितनी आयु-स्थिति है उतनी ही उनकी जघन्य या उत्कृष्ट काय-स्थिति है।

२४६. अणंतकालमुक्कोसं
अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
देवाणं हुज्ज अंतरं।।

*अनन्तकालमुत्कर्षं*
*अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।*
*वित्यक्ते स्वके काये*
*देवानां भवेदन्तरम्।।*

उनका अन्तर—अपने-अपने काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

२४७. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्सओ।।

*एतेषां वर्णतश्चैव*
*गन्धतो रसस्पर्शतः।*
*संस्थानादेशतो वापि*
*विधानानि सहस्रशः।।*

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

२४८. संसारत्था य सिद्धा य
इइ जीवा वियाहिया।
रूविणो चेवरूवी य
अजीवा दुविहा वि य।।

*संसारस्थाश्च सिद्धाश्च*
*इति जीवा व्याख्याताः।*
*रूपिणश्चैव अरूपिणश्च*
*अजीवं द्विविधा अपि च।।*

संसारी और सिद्ध—इन दोनों प्रकार के जीवों की व्याख्या की गई है। इसी प्रकार रूपी और अरूपी—इन दोनों प्रकार के अजीवों की व्याख्या की गई है।

२४९. इइ जीवमजीवे य
सोच्चा सद्दहिऊण य।
सव्वनयाण अणुमए
रमेज्जा संजमे मुणी।।

*इति जीवानजीवांश्च*
*श्रुत्वा श्रद्धाय च।*
*सर्वनयानामनुमते*
*रमेत संयमे मुनिः।।*

इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप को सुनकर, उसमें श्रद्धा उत्पन्न कर मुनि ज्ञान-क्रिया आदि सभी नयों के द्वारा अनुमत संयम में रमण करे।

२५०. तओ बहूणि वासाणि
सामण्णमणुपालिया।
इमेण कमजोगेण
अप्पाणं संलिहे मुणी।।

*ततो बहूनि वर्षाणि*
*श्रामण्यमनुपाल्य।*
*अनेन क्रमयोगेन*
*आत्मानं संलिखेन् मुनिः।।*

मुनि अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन कर इस क्रमिक प्रयत्न से आत्मा को कसे—संलेखना करे।[३५]

२५१. बारसेव उ वासाइं
संलेहुक्कोसिया भवे।
संवच्छरं मज्झिमिया
छम्मासा य जहन्निया।।

*द्वादशैव तु वर्षाणि*
*संलेखोत्कर्षिता भवेत्।*
*संवत्सरं मध्यमिका*
*षण्मासा च जघन्यका।।*

संलेखना उत्कृष्टतः—बारह वर्षों, मध्यमतः एक वर्ष तथा जघन्यतः छह मास की होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५२. पढमे वासचउक्कम्मि
विगईनिज्जूहणं करे।
बिइए वासचउक्कम्मि
विचित्तं तु तवं चरे।।

*प्रथमे वर्षचतुष्के*
*विकृतिनिर्यूहणं कुर्यात्।*
*द्वितीये वर्षचतुष्के*
*विचित्रं तु तपश्चरेत्।।*

संलेखना करने वाला मुनि पहले चार वर्षों में विकृतियों (रसों) का परित्याग करे। दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप (उपवास, बेला, तेला आदि) का आचरण करे।

२५३. एगंतरमायामं
कट्टु संवच्छरे दुवे।
तओ संवच्छरद्धं तु
नाइविगिट्ठं तवं चरे।।

*एकान्तरमायामं*
*कृत्वा संवत्सरौ द्वौ।*
*ततः संवत्सरार्द्धं तु*
*नातिविकृष्टं तपश्चरेत्।।*

फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास तथा एक दिन भोजन) करे। भोजन के दिन आचाम्ल करे। ग्यारहवें वर्ष के पहले छह महीनों तक कोई भी विकृष्ट तप (तेला, चोला आदि) न करे।

२५४. तओ संवच्छरद्धं तु
विगिट्ठं तु तवं चरे।
परिमियं चेव आयामं
तंमि संवच्छरे करे।।

*ततः संवत्सरार्द्धं तु*
*विकृष्टं तु तपश्चरेत्।*
*परिमितश्चैवायामं*
*तस्मिन् संवत्सरे कुर्यात्।।*

ग्यारहवें वर्ष के पिछले छह महीनों में विकृष्ट तप करे। इस पूरे वर्ष में परिमित (पारणा के दिन) आचाम्ल करे।

२५५. कोडीसहियमायामं
कट्टु संवच्छरे मुणी।
मासद्धमासिएणं तु
आहारेण तवं चरे।।

*कोटिसहितमायामं*
*कृत्वा संवत्सरे मुनिः।*
*मासिकेनार्द्धमासिकेन तु*
*आहारेण तपश्चरेत्।।*

बारहवें वर्ष में मुनि कोटि-सहित (निरन्तर) आचाम्ल करे। फिर पक्ष या मास का आहर-त्याग (अनशन) करे।[२६]

२५६. कंदप्पमाभिओगं
किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च।
एयाओ दुग्गईओ
मरणम्मि विराहिया होंति।।

*कान्दर्पीं आभियोगी*
*किल्बिषिकी मोही आसुरत्वं च।*
*एता दुर्गतयः*
*मरणे विराधिक भवन्ति।।*

कांदर्पी भावना, आभियोगी भावना, किल्बिषिकी भावना, मोही भावना तथा आसुरी भावना—ये पांच भावनाएं दुर्गति की हेतुभूत हैं। मृत्यु के समय ये सम्यग्-दर्शन आदि की विराधना करती हैं।[२७]

२५७. मिच्छादंसणरत्ता
सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा
तेसिं पुण दुल्लहा बोही।।

*मिथ्यादर्शनरक्ताः*
*सनिदानाः खलु हिंसकाः।*
*इति ये म्रियन्ते जीवाः*
*तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः।।*

मिथ्या-दर्शन में रक्त, सनिदान और हिंसक दशा में जो मरते हैं, उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२५८. सम्मद्दंसणरत्ता
अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा
सुलहा तेसिं भवे बोही।।

*सम्यग्दर्शनरक्ताः*
*अनिदानाः शुक्ललेश्यामवगाढाः।*
*इति ये म्रियन्ते जीवाः*
*सुलभा तेषां भवेद् बोधिः।।*

सम्यग्-दर्शन में रक्त, अनिदान और शुक्ल-लेश्या में प्रवर्तमान जो जीव मरते हैं, उनके लिए बोधि सुलभ है।

२५९. मिच्छादंसणरत्ता
सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा
तेसिं पुण दुल्लहा बोही।।

*मिथ्यादर्शनरक्ताः*
*सनिदानाः कृष्णलेश्यामवगाढाः।*
*इति ये म्रियन्ते जीवाः*
*तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः।।*

मिथ्यादर्शन में रक्त, सनिदान और कृष्ण-लेश्या में प्रवर्तमान जो जीव मरते हैं, उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२६०. जिणवयणे अणुरत्ता
जिणवयणं जे करेंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा
ते होंति परित्तसंसारी।।

*जिनवचने अनुरक्ताः*
*जिनवचनं ये कुर्वन्ति भावेन।*
*अमला असंक्लिष्टाः*
*ते भवन्ति परीतसंसारिणः।।*

जो जिनवचन में अनुरक्त हैं तथा जिनवचनों का भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असंक्लिष्ट होकर परीत-संसारी (अल्प जन्म-मरण वाले) हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६१. बालमरणाणि बहुसो
अकाममरणाणि चेव य बहूणि।
मरिहिंति ते वराया
जिणवयणं जे न जाणंति।।

*बालमरणानि बहुशः*
*अकाममरणानि चैव च बहूनि।*
*मरिष्यन्ति ते वराकाः*
*जिनवचनं ये न जानन्ति।।*

जो प्राणी जिनवचनों से परिचित नहीं हैं, वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अकाम-मरण करते रहेंगे।

२६२. बहुआगमविण्णाणा
समाहिउप्पायगा य गुणगाही।
एएण कारणेणं
अरिहा आलोयणं सोउं।।

*बहागमविज्ञानाः*
*समाध्युत्पादकाश्च गुणग्राहिणः।*
*एतेन कारणेन*
*अर्हा आलोचनां श्रोतुम्।।*

जो अनेक शास्त्रों के विज्ञाता, आलोचना करने वाले के मन में समाधि उत्पन्न करने वाले और गुणग्राही होते हैं, वे अपने इन्हीं गुणों के कारण आलोचना सुनने के अधिकारी होते हैं।

२६३. कंदप्पकोक्कुइयाइं
तह सीलसहावहासविगहाहिं।
विम्हावेंतो य परं
कंदप्पं भावणं कुणइ।।

*कन्दर्पकौत्कुच्ये*
*तथा शीलस्वभावहास्यविकथाभिः।*
*विस्मापयन् च परं*
*कान्दर्पीं भावनां कुरुते।।*

जो कामकथा करता है, दूसरों को हंसाने की चेष्टा करता है तथा शील—आचरण, स्वभाव, हास्य और विकथाओं के द्वारा दूसरों को विस्मित करता है, वह कांदर्पी भावना का आचरण करता है।

२६४. मंताजोगं काउं
भूईकम्मं च जे पउंजंति।
सायरसइड्ढिहेउं
अभिओगं भावणं कुणइ।।

*मंत्रयोगं कृत्वा*
*भूतिकर्म च यः प्रयुङ्क्ते।*
*सातरसर्द्धिहेतोः*
*आभियोगीं भावनां कुरुते।।*

जो सुख, रस और समृद्धि के लिए मंत्र, योग और भूति-कर्म का प्रयोग करता है, वह आभियोगी भावना का आचरण करता है।

२६५. नाणस्स केवलीणं
धम्मायरियस्स संघसाहूणं
माई अवण्णवाई
किब्बिसियं भावणं कुणइ।।

*ज्ञानस्य केवलिनां*
*धर्माचार्यस्य सङ्घसाधूनाम्।*
*मायी अवर्णवादी*
*किल्बिषिकीं भावनां कुरुते।।*

जो ज्ञान, केवल-ज्ञानी, धर्माचार्य, संघ तथा साधुओं की निन्दा करता है, वह मायावी पुरुष किल्बिषिकी भावना का आचरण करता है।

२६६. अणुबद्धरोसपसरो
तह य निमित्तंमि होइ पडिसेवि।
एएहि कारणेहिं
आसुरियं भावणं कुणइ।।

*अनुबद्धरोषप्रसरः*
*तथा च निमित्ते भवति प्रतिसेवी।*
*एताभ्यां कारणाभ्यां*
*आसुरिकीं भावनां कुरुते।।*

जो क्रोध को सतत बढ़ावा देता है और निमित्त बताता है, वह अपनी इन प्रवृत्तियों के कारण आसुरी भावना का आचरण करता है।

२६७. सत्थग्गहणं विसभक्खणं च
जलणं च जलप्पवेसो य।
अणायारभंडसेवा
जम्मणमरणाणि बंधंति।।

*शस्त्रग्रहणं विषभक्षणं च*
*ज्वलनं च जलप्रवेशश्च।*
*अनाचारभाण्डसेवा*
*जन्ममरणानि बध्नन्ति।।*

जो शस्त्र के द्वारा, विष-भक्षण के द्वारा अग्नि में प्रविष्ट होकर या पानी में कूद कर आत्म-हत्या करता है और जो मर्यादा से अधिक उपकरण रखता है, वह जन्म-मरण की परम्परा को पुष्ट करता है—मोही भावना का आचरण करता है।

२६८. इइ पाउकरे बुद्धे
नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए
भवसिद्धीयसंमए।।

*इति प्रादुरकरोद् बुद्धः*
*ज्ञातकः परिनिर्वृतः।*
*षट्त्रिंशदुत्तराध्यायान्*
*भव्यसिद्धिकसम्मतान्।।*

इस प्रकार भव्य जीवों द्वारा सम्मत छत्तीस उत्तराध्ययनों का तत्त्ववेत्ता, ज्ञातवंशीय उपशान्त भगवान् महावीर ने प्रज्ञापन किया है।

—त्ति बेमि। —*इति ब्रवीमि।* —ऐसा मैं कहता हूं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पण

# अध्ययन ३६ : जीवाजीवविभक्ति

## १. जीव और अजीव का विभाग (जीवाजीविभत्ति)

जीव और अजीव के अनेक प्रकार हैं। आगम साहित्य में उनका विशद विवेचन प्राप्त है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—

*जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणई।*
*जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहिइ संजमं।।*

जो जीव और अजीव को नहीं जानता—उनके भेद-प्रभेद और लक्षणों को नहीं जानता—वह संयम को नहीं जानता। संयम को जानना मोक्ष तक पहुंचने का प्रथम सोपान है। और वह अवबोध जीव-अजीव के संज्ञान से ही होता है। जीव और अजीव के आधार पर संयम के सतरह प्रकार प्रतिपादित हैं।[1]

## २. यह लोक जीव और अजीवमय है (जीवा चेव अजीवा य)

जैन-आगमों में 'लोक' की परिभाषा कई प्रकार से मिलती है—धर्मास्तिकाय लोक है। लोक पञ्चास्तिकायमय है। जो आकाश षड्द्रव्यात्मक है, वह लोक है। यहां जीव और अजीव को लोक कहा गया है। इन सब में कोई विरोध नहीं है। केवल अपेक्षा-भेद से इनका प्रतिपादन हुआ है। धर्म द्रव्य लोक-परिमित है इसलिए उसे लोक कहा गया है। काल समूचे लोक में व्याप्त नहीं अथवा वह वास्तविक द्रव्य नहीं, इसलिए लोक को पञ्चास्तिकायमय बताया गया है।

द्रव्य छह हैं। उनमें आकाश सब का आधार है। इसलिए उसके आश्रय पर ही दो विभाग किए गए हैं—(१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश। अलोकाकाश में आकाश के सिवाय कुछ भी नहीं है। लोकाकाश में सभी द्रव्य हैं। व्यावहारिक काल सिर्फ मनुष्य लोक में है किन्तु वह है लोक में ही, इसलिए 'अंशस्यापि क्वचित् पूर्णत्वेन व्यपदेशः' के अनुसार लोक को षड्द्रव्यात्मक मानना ही युक्ति-सिद्ध है। कहा भी है—'द्रव्याणि षट् प्रतीतानि, द्रव्यलोकः स उच्यते।' संक्षिप्त दृष्टि के अनुसार जहां पदार्थ को चेतन और अचेतन उभयरूप माना गया है वहां लोक का भी चेतनाचेतनात्मक स्वरूप बताया गया है।

## ३. जहां अजीव का देश है—आकाश ही है (अजीवदेसमागासे)

अजीव के चार भेद हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय और (४) पुद्गलास्तिकाय। अलोक में जीव तो होते ही नहीं, अजीव में भी केवल आकाश ही होता है। इसलिए अलोक को आकाशमय कहा गया है। इसी आशय से बृहद्वृत्ति (पत्र ६७१) में कहा है—

*धर्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम्।*
*तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद् विपरीतं ह्यलोकाख्यम्।।*

जहां धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य होते हैं वह लोक है। जो इससे विपरीत केवल आकाशमय है, वह अलोक है।

वह आकाश भी अखंड नहीं है। आकाश के दो विभाग हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। इसलिए अलोकाकाश को अजीव का एक देश कहा गया है।

## ४. (श्लोक ३)

भगवान् महावीर का दर्शन अनेकान्त-दर्शन है। अनेकान्त का अर्थ है 'वस्तु में अनन्त स्वभावों का होना।' सारे स्वभाव अपनी-अपनी दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं। जितने स्वभाव हैं उतने ही कथन-प्रकार हैं। अतः उनका एक साथ कथन असंभव है। भगवान् ने प्रमुख रूप से पदार्थ-ज्ञान की चार दृष्टियां दीं—(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल और (४) भाव।

(१) द्रव्य-दृष्टि—इससे द्रव्य का परिमाण जाना जाता है।

(२) क्षेत्र-दृष्टि—इससे वस्तु कहां पाई जाती है, यह जाना जाता है।

(३) काल-दृष्टि—इससे द्रव्य की काल-मर्यादा जानी जाती है।

(४) भाव-दृष्टि—इससे द्रव्य के पर्याय—रूपपरिवर्तन—जाने जाते है।

चार दृष्टियों से द्रव्य विचार—

| द्रव्य | द्रव्य-दृष्टि | क्षेत्र-दृष्टि | काल-दृष्टि | भाव-दृष्टि |
|---|---|---|---|---|
| धर्म— | एक | लोक-व्यापी | अनादि-अनन्त | अरूपी |
| अधर्म— | एक | लोक-व्यापी | अनादि-अनन्त | अरूपी |
| आकाश— | एक | लोक-अलोक-व्यापी | अनादि-अनन्त | अरूपी |
| काल— | अनन्त | समयक्षेत्र-व्यापी | अनादि-अनन्त | अरूपी |
| पुद्गल— | अनन्त | लोक-व्यापी | अनादि-अनन्त | रूपी |
| जीव— | अनन्त | लोक-व्यापी | अनादि-अनन्त | अरूपी |

## ५. (श्लोक ४)

रूपी अथवा मूर्त द्रव्य इन्द्रियगम्य हो सकता है। अरूपी

---

१. दसवेआलियं, ४/श्लोक १२।

२. समवाओ १७।२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा अमूर्त द्रव्य इन्द्रिय का विषय नहीं है। जो इन्द्रिय का विषय नहीं है वह वास्तव में हेतु अथवा अनुमान का विषय भी नहीं बनता। अवधि और मनःपर्यव—दोनों प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। उनके द्वारा भी अरूपी द्रव्य को नहीं जाना जा सकता। इस दृष्टि से अरूपी द्रव्य और सर्वज्ञता—दोनों में गहरा सम्बन्ध है।

## ६. (श्लोक ५)

पदार्थ दो रूप से ग्राह्य होता है—खंड-रूप और अखंड-रूप से। वस्तु के सबसे छोटे भाग को, जिसके फिर दो टुकड़े न हो सकें, परमाणु कहते हैं। परमाणु सूक्ष्म और किसी एक रस, गंध, वर्ण तथा दो स्पर्शों सहित होता है। वे परमाणु जब एकत्रित हो जाते हैं तब उन्हें स्कंध कहा जाता है। दो परमाणुओं से बनने वाले स्कंध को द्वि-प्रदेशी स्कंध कहते हैं। इसी प्रकार स्कंध के त्रि-प्रदेशी, दश-प्रदेशी, संख्येय-प्रदेशी, असंख्येय-प्रदेशी, अनन्त-प्रदेशी आदि अनंत भेद होते हैं। स्कंध के बुद्धि-कल्पित अंश को देश कहते हैं। वह जब तक स्कंध से संलग्न रहता है तब तक देश कहलाता है। अलग हो जाने के बाद वह स्वयं स्कंध बन जाता है। स्कंध के उस छोटे से छोटे भाग को प्रदेश कहते हैं, जिसके फिर दो भाग न हो सकें। प्रदेश भी तब तक ही प्रदेश कहलाता है जब तक वह स्कंध के साथ जुड़ा रहता है। अलग हो जाने के बाद वह परमाणु कहलाता है।

धर्मास्तिकाय आदि चार अस्तिकाओं के स्कंध, देश तथा प्रदेश—ये तीन ही भेद होते हैं। केवल पुद्गलास्तिकाय के ही स्कंध, देश, प्रदेश तथा परमाणु—ये चार भेद होते हैं। ये रूपी हैं। धर्मास्तिकाय आदि की स्वरूप-चर्चा उत्तराध्ययन के अठाईसवें अध्ययन के आठवें और नौवें श्लोक की टिप्पणियों में की गई है।

## ७. अध्वासमय (काल) (अद्धासमए)

स्थानांग में काल चार प्रकार का बताया गया है। वहां एक नाम 'अद्धा-काल' भी आया है। वृत्तिकार ने बताया है कि काल शब्द, रंग, प्रमाण, काल आदि कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। समय-वाची काल शब्द को रंग और प्रमाण-वाची काल शब्द से पृथक् करने के लिए उससे पीछे 'अद्धा' विशेषण जोड़ा गया है।[1] यहां उसी अर्थ में अद्धा समय है।

यह सूर्य की गति से सम्बद्ध रहता है। दिन-रात आदि का काल-मान केवल मनुष्य-क्षेत्र में ही होता है। उससे बाहर ये भेद नहीं होते। अतः अद्धा-काल केवल मनुष्य-क्षेत्र (अढ़ाई द्वीप) में ही होता है।[2]

## ८. समयक्षेत्र (मनुष्य लोक) में (समयखेत्तिए)

समयक्षेत्र वह क्षेत्र है, जहां समय, आवलिका, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि का काल-विभाग परिज्ञात होता है। समयक्षेत्र से बाहर उपर्युक्त काल-विभाग नहीं होता। समयक्षेत्र का दूसरा नाम मनुष्यक्षेत्र भी है। क्योंकि जन्मतः मनुष्य केवल समयक्षेत्र में ही पाये जाते हैं। क्षेत्र-फल की दृष्टि से इनकी व्याख्या यह है—जम्बूद्वीप, धातकीखंड तथा अर्धपुष्कर—इन अढाई द्वीपों की संज्ञा मनुष्यक्षेत्र या समयक्षेत्र है।

सूर्य और चन्द्रमा मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए घूमते हैं, अतः उनकी गति समयक्षेत्र तक ही सीमित रह जाती है। उससे आगे यद्यपि असंख्य सूर्य और चन्द्रमा हैं पर वे अपने स्थान पर अवस्थित हैं अतः उनसे काल का विभाग नहीं होता।

## ९. (श्लोक ११)

परमाणु आकाश के एक प्रदेश में ही अवगाहन करते हैं। इसलिए 'भजना' अथवा विकल्प केवल स्कंध का ही होता है। स्कंध की परिणति नाना प्रकार की होती है। कुछ स्कंध आकाश के एक प्रदेश में भी अवगाहन कर लेते हैं, कुछ आकाश के संख्येय प्रदेशों में अवगाहन करते हैं और कुछ स्कंध पूर्ण लोकाकाश में फैल जाते हैं। इसलिए क्षेत्रावगाहन की दृष्टि से इसके अनेक विकल्प बन जाते हैं।[3]

## १०. (श्लोक १३—१४)

संख्या आठ प्रकार की बतलाई हैं। उनमें एक भेद है गणना। गणना के मुख्य तीन भेद हैं—संख्य, असंख्य और अनन्त। इनके अवान्तर भेद बीस होते हैं। यथा—

संख्य के तीन भेद हैं—(१) जघन्य, (२) मध्यम और (३) उत्कृष्ट।

असंख्य के नौ भेद हैं—(१) जघन्य परीत असंख्येय, (२) मध्यम परीत असंख्येय, (३) उत्कृष्ट परीत असंख्येय, (४) जघन्य युक्त असंख्येय, (५) मध्यम युक्त असंख्येय, (६) उत्कृष्ट युक्त असंख्येय, (७) जघन्य असंख्येय-असंख्येय, (८) मध्यम असंख्येय-असंख्येय एवं (९) उत्कृष्ट असंख्येय-असंख्येय।

अनन्त के आठ भेद हैं—(१) जघन्य परीत अनन्त, (२) मध्यम परीत अनन्त, (३) उत्कृष्ट परीत अनन्त, (४) जघन्य युक्त अनन्त, (५) मध्यम युक्त अनन्त, (६) उत्कृष्ट युक्त अनन्त, (७) जघन्य अनन्त-अनन्त तथा मध्यम अनन्त-अनन्त

---

१. स्थानांग, ४।१३४, वृत्ति पत्र १९० : कालशब्दो हि वर्णप्रमाणकालादिष्वपि वर्त्तते, ततोऽद्धाशब्देन विशिष्यत इति, अयं च सूर्यक्रियाविशिष्टो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्ती समयादिरूपोऽवसेयः।

२. वही, ४।१३४, वृत्ति पत्र १९०।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६७४ : अत्र चाविशेषोक्तावपि परमाणूनामेकप्रदेशावस्थानात् स्कन्धविषयैव भजना द्रष्टव्या, ते हि विचित्रत्वात् परिणतेर्बहुतरप्रदेशोपचिता अपि केचिदेकप्रदेशे तिष्ठन्ति, यदुक्तम्—'एगेणवि से पुण्णे दोहिवि पुण्णे सयंपि माइज्जा' इत्यादि, अन्ये तु संख्येयेषु च प्रदेशेषु यावत् सकललोकेऽपि तथाविधपरिणामाक्रान्तस्कन्धवद् भवेयुरिति भजनीया उच्यन्ते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं (८) उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त। असद्भाव होने से यह भेद गणना में नहीं लिया गया है।

जघन्य संख्येय संख्या दो हैं। एक संख्या गणना संख्या में नहीं आती। क्योंकि लेनदेन के व्यवहार में अल्पतम होने के कारण एक की गणना नहीं होती। 'संख्यायते इति संख्या' अर्थात् जो विभक्त हो सके, वह संख्या है। इस दृष्टि से जघन्य संख्या दो से प्रारम्भ होती है।

जघन्य संख्या दो है और अन्तिम संख्या अनन्त है। संख्या के सारे विकल्पों को कल्पना के माध्यम से इस प्रकार समझ सकते हैं—

चार प्याले हैं—अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका। चारों प्याले एक लाख योजन लम्बे, एक लाख योजन चौड़े, एक हजार योजन गहरे, गोलाकार और जंबूद्वीप की जगति प्रमाण ऊंचे हैं। पहले अवस्थित प्याले को सरसों के दाने से इतना भरें कि एक दाना उसमें और डालें तो वह न ठहर सके। उस प्याले का पहला दाना जंबूद्वीप में, दूसरा लवणसमुद्र में, तीसरा धातकीखंड में—इस प्रकार द्वीप और समुद्र में क्रमशः दाने गिराते चले जाएं। (जम्बूद्वीप एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा है, लवणसमुद्र उससे दूना और धातकीखंड उससे दूना है, इस प्रकार द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप एक-दूसरे से दूना है)। असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं। अन्तिम दाना जिस समुद्र या द्वीप में गिराएं, उस प्रमाण का दूसरी बार अनवस्थिति प्याला बनाएं। फिर उससे आगे उसी प्रकार अनवस्थित प्याले का एक-एक दाना गिराते जाएं। (एक बार अवस्थिति प्याला खाली हो जाए तो एक दाना शलाका प्याले में डालें)। इस क्रम में एक-एक दाना डाल कर शलाका प्याले को भरें। शलाका प्याला इतना भर जाए कि उसमें एक दाना भी और डालें तो वह न टिक सके। एक बार शलाका प्याला भरने पर प्रतिशलाका में एक दाना डालें। जब इस क्रम से प्रतिशलाका प्याला भर जाए तो एक दाना महाशलाका प्याले में डालें। इस क्रम से महाशलाका प्याला भरने के बाद प्रतिशलाका प्याला भरें, फिर शलाका प्याला भरें, फिर अनवस्थित प्याला भरें। दूसरे रूप में इसे सरलता से इस प्रकार समझ सकते हैं—

अनवस्थित प्याला— एक दाना शलाका
शलाका प्याला— एक दाना प्रतिशलाका
प्रतिशलाका प्याला— एक दाना महाशलाका

चारों प्यालों के भर जाने के बाद सब दानों का एक ढेर करें। उस राशि में से दो दानें हाथ में लें। शेष ढेर मध्यम संख्यात है। हाथ का एक दाना मिलाने से उत्कृष्ट संख्यात होता है। हाथ का दूसरा दाना मिलाने से जघन्य परीत असंख्यात होता है।

जघन्य परीत असंख्येय की राशि को जघन्य परीत असंख्येय की राशि से जघन्य परीत असंख्येय बार गुणा करें। जो राशि आए, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम परीत असंख्येय होता है। एक और मिलाने से उत्कृष्ट परीत असंख्येय होता है। एक और मिलाने से जघन्य युक्त असंख्येय होता है। जघन्य युक्त असंख्येय की राशि को, जघन्य युक्त असंख्येय राशि से जघन्य युक्त असंख्येय राशि से जघन्य युक्त असंख्येय बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकालने पर शेष राशि मध्यम परीत असंख्येय होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट परीत असंख्येय होता है।

जघन्य असंख्येय असंख्येय राशि को इसी राशि से उतनी बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम असंख्येय होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट असंख्येय होती है। एक और मिलाने से जघन्य असंख्येय असंख्येय होता है।

जघन्य असंख्येय असंख्येय राशि को इसी राशि से उतनी बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम असंख्येय असंख्येय होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट असंख्येय असंख्येय होती है। एक और मिलाने से जघन्य परीत अनन्त होता है।

जघन्य परीत अनन्त राशि को इसी राशि से उतनी बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम परीत अनन्त होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट परीत अनन्त होती है। एक और मिलाने से जघन्य युक्त अनन्त होती है।

जघन्य युक्त अनन्त राशि को इसी राशि से उतनी बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम परीत अनन्त होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट परीत अनन्त होती है। एक और मिलाने से जघन्य अनन्त अनन्त होती है। जघन्य अनन्त अनन्त से आगे की संख्या सब मध्यम अनन्त अनन्त होती है। क्योंकि उत्कृष्ट अनन्त अनन्त नहीं होता।

### ११. संस्थान की अपेक्षा से (संठाणओ)

पुद्गल के जो असाधारण धर्म हैं, उनमें से संस्थान भी एक है। उसके दो भेद हैं—(१) इत्थंस्थ और (२) अनित्थंस्थ।

जिसका त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकार नियत हो, उसे 'इत्थंस्थ' कहा जाता है तथा जिसका कोई निर्णीत आकार न हो, उसे 'अनित्थंस्थ' कहते हैं।

इत्थंस्थ के पांच प्रकार हैं—(१) परिमंडल—चूड़ी की तरह गोल, (२) वृत्त—गेंद की तरह वर्तुलाकार, (३) त्र्यस्र—त्रिकोण, (४) चतुरस्र—चौकोन और (५) आयत—रस्सी की तरह लम्बा।

### १२. (श्लोक ४८—५०)

सिद्ध होने के बाद सब जीव समान स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं, उनमें कोई उपाधि-जनित भेद नहीं रहता। फिर भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्व-अवस्था की दृष्टि से उनके भेद किए गए है—

(१) स्त्री सिद्ध
(२) पुरुष सिद्ध
(३) नपुंसक सिद्ध
(४) स्व-लिङ्ग सिद्ध
(५) अन्य-लिङ्ग सिद्ध
(६) गृहि-लिङ्ग सिद्ध
(७) उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध
(८) जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध
(९) मध्यम अवगाहना वाले सिद्ध
(१०) ऊंची दिशा में होने वाले सिद्ध
(११) नीची दिशा में होने वाले सिद्ध
(१२) तिरछी दिशा में होने वाले सिद्ध
(१३) समुद्र में होने वाले सिद्ध
(१४) नदी आदि में होने वाले सिद्ध

ये चौदह प्रकार हैं। इनमें पहले तीन प्रकार लिङ्ग की अपेक्षा से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि स्त्री, पुरुष और नपुंसक (कृत नपुंसक) ये तीनों सिद्ध हो सकते हैं।

अगले तीन प्रकार वेश की अपेक्षा से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जैन-साधुओं के वेश में, अन्य साधुओं के वेश में और गृहस्थ के वेश में भी जीव सिद्ध हो सकते हैं।

तीसरे त्रिक के तीन प्रकार के शरीर की लम्बाई की अपेक्षा से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि निर्दिष्ट अवगाहना वाले जीव ही सिद्ध होते हैं।

**ओगाहणा**—शरीर की ऊंचाई को 'अवगाहना' कहते हैं। सिद्ध होने वाले जीवों की अधिक से अधिक ऊंचाई ५०० धनुष की होती है। कम से कम ऊंचाई २ हाथ की होती है। दो हाथ से अधिक और ५०० धनुष से कम की ऊंचाई को 'मध्यम अवगाहना' कहते हैं। सिद्धों की अवगाहना जघन्य, उत्कृष्ट तथा मध्यम—तीनों ही प्रकार की होती है।

अन्तिम पांच प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जीव कदाचित् विशेष संयोगों में ऊंचे लोक (नौ सौ योजन से ऊपर), नीचे लोक (नौ सौ योजन से नीचे) और जलाशय आदि में भी सिद्ध हो सकते हैं।

**उड्ढं**—जैन-साहित्य में लोक को तीन भागों में विभक्त किया गया है—ऊर्ध्व-लोक, अधो-लोक और तिर्यक्-लोक। यद्यपि मूल पाठ में 'ऊर्ध्व' शब्द का ही प्रयोग किया गया है, पर प्रकरण से उसका अर्थ 'ऊर्ध्व-लोक' होता है। ऊंचाई की दृष्टि से सारा लोक १४ रज्जू-प्रमाण है। ऊर्ध्व-लोक की ऊंचाई ७ रज्जू से कुछ कम है। साधारणतया जीव तिर्यक्-लोक में सिद्ध होते हैं, पर यदा कदा मेरुपर्वत की चूलिका पर से भी जीव सिद्ध हो जाते हैं। मेरुपर्वत की ऊंचाई एक लाख योजन परिमाण है अतः वह ऊर्ध्व-लोक की सीमा में आ जाता है। इसीलिए वहां पर से मुक्त होने वाले जीवों का 'सिद्धि-क्षेत्र' ऊर्ध्व-लोक ही होता है।[1]

**अहे**—अधो-लोक के क्षेत्र की लम्बाई सात रज्जू से कुछ अधिक है। साधारणतया वहां मुक्ति नहीं होती, पर महाविदेह की दो विजय मेरु के रुचक प्रदेशों से हजार योजन नीचे तक चली जाती है। तिर्यक्-लोक की सीमा नौ सौ योजन है। उससे आगे अधोलोक की सीमा आ जाती है। उस सौ योजन की भूमि में जीव कर्म-मुक्त होते हैं।[2]

**तिरियं**—तिर्यक्-लोक 'मनुष्य-क्षेत्र' को ही कहते हैं। अढ़ाई द्वीप प्रमाण तिरछे और अठारह सौ योजन प्रमाण लम्बे इस भू-भाग में कहीं से भी जीव सिद्ध हो सकते हैं।

नंदी (सूत्र २१) में सिद्धों के पन्द्रह प्रकार निर्दिष्ट हैं—

(१) तीर्थ सिद्ध—अरिहंत के द्वारा तीर्थ की स्थापना होने के बाद मुक्त होने वाले।
(२) अतीर्थ सिद्ध—तीर्थ-स्थापना से पहले मुक्त होने वाले।
(३) तीर्थङ्कर सिद्ध—तीर्थङ्कर-अवस्था से पहले मुक्त होने वाले।
(४) अतीर्थङ्कर सिद्ध—तीर्थङ्कर के अतिरिक्त मुक्त होने वाले।
(५) स्वयंबुद्ध सिद्ध—अपने आप—किसी बाहरी निमित्त की प्रेरणा के बिना—दीक्षित होकर मुक्त होने वाले।
(६) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध—किसी एक निमित्त से दीक्षित होकर मुक्त होने वाले।
(७) बुद्धबोधित सिद्ध—उपदेश से प्रतिबोध पाकर, दीक्षित हो, मुक्त होने वाले।
(८) स्त्रीलिङ्ग सिद्ध—स्त्रीलिङ्ग में मुक्त होने वाले।
(९) पुरुषलिङ्ग सिद्ध—पुरुषलिङ्ग में मुक्त होने वाले।
(१०) नपुंसकलिङ्ग सिद्ध—जो जन्म से नपुंसक नहीं, किन्तु किसी कारणवश नपुंसक बने हों, उस स्थिति में मुक्त होने वाले।
(११) स्वलिङ्ग सिद्ध—जैन-साधुओं के वेश में मुक्त होने वाले।
(१२) अन्यलिङ्ग सिद्ध—अन्य-साधुओं के वेश में मुक्त होने वाले।
(१३) गृहलिङ्ग सिद्ध—गृहस्थ के वेश में मुक्त होने वाले।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६८३ : 'ऊर्ध्व' मित्यूर्ध्वलोके मेरुचूलिकादौ सिद्धाः।
२. वही, पत्र ६८३ : 'अधश्च' अधोलोकेऽर्धादधोलौकिकग्रामरूपेऽपि सिद्धाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१४) एक सिद्ध—एक समय में एक जीव सिद्ध होता है, वह।

(१५) अनेक सिद्ध—एक समय में अनेक जीव सिद्ध होते हैं, (उत्कृष्टतः १०८ हो सकते हैं), वे।

सिद्ध अवस्था में आत्म-विकास की दृष्टि से सिद्ध जीव सर्वथा समान होते हैं, केवल उनकी अवगाहना में भेद होता है। सिद्ध जीव समूचे लोक में व्याप्त नहीं होते, किन्तु उनकी आत्मा एक परिमित क्षेत्र में अवस्थित होती है। पूर्वावस्था की उत्कृष्ट—पांच सौ धनुष्य की अवगाहना वाले जीवों की आत्मा तीन सौ तैंतीस धनुष्य और एक हाथ आठ अंगुल परिमित क्षेत्र में अवस्थित होती है।[1] पूर्वावस्था की मध्यम—दो हाथ से अधिक और पांच सौ धनुष्य से कम अवगाहना[2] वाले जीवों की आत्मा अपने अन्तिम शरीर की अवगाहना से त्रिभागहीन क्षेत्र में अवस्थित होती है। पूर्वावस्था की जघन्य दो हाथ की अवगाहना वाले जीवों की आत्मा एक हाथ आठ अंगुल परिमित क्षेत्र में अवस्थित होती है।[3]

सिद्धों के विषय में विशेष जानकारी के लिए देखिए—औपपातिक, सूत्र १६५, गाथा १-२२ तथा आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा ६५८-६८८।

## १३. (श्लोक ५५-५६)

ये दोनों श्लोक विशेषावश्यक भाष्य में गाथा ३१५८-३१५९ के रूप में उल्लिखित हैं। मलधारी हेमचन्द ने टीका में इन्हें निर्युक्ति गाथा माना है।[4]

## १४. ईषत्-प्राग्भारा (ईसीपब्भार)

औपपातिक (सूत्र १६३) में सिद्धशिला के बारह नाम बतलाए गए हैं। उनमें यह दूसरा नाम है।

## १५. (श्लोक ७१-७७)

इन श्लोकों व गाथाओं में मृदु पृथ्वी के सात और कठिन पृथ्वी के ३६ प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें से कुछ एक विशेष शब्दों के अर्थ और कुछ विशेष ज्ञातव्य बातें यहां प्रस्तुत की जा रही हैं—

**पणगमट्टिया**—अत्यन्त सूक्ष्म रजोमयी मृत्तिका।[5] कुछ आचार्य इसका मरुपर्पटिका (पपडी) अर्थ करते हैं।[6] लोक प्रकाश के अनुसार नदी आदि के प्रवाह के चले जाने पर पीछे जो कीचड़ के रूप में कोमल और चिकनी मिट्टी रहती है, वह 'पनक-मृत्तिका' है।[7]

**उवले**—वृत्त पाषाण, गोल पत्थर।

**वइरे**—वज्रमणि, हीरा। उत्पत्ति स्थान के आधार पर इसके अनेक भेद होते हैं। जैसे—

(१) सभा राष्ट्रक—विदर्भ—बरार देश में उत्पन्न होने वाला।

(२) मध्यम राष्ट्रक—कौशल देश में उत्पन्न होने वाला।

(३) काश्मीर राष्ट्रक—काश्मीर में उत्पन्न होने वाला।

(४) श्रीकटनक—श्रीकटन नामक पर्वत पर उत्पन्न होने वाला।

(५) मणिमन्तक—उत्तर की ओर के मणिमन्तक नामक पर्वत पर उत्पन्न होने वाला।

(६) इन्द्रवानक—कलिंग देश में उत्पन्न होने वाला।[8]

इन उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त और भी अनेक स्थान हैं, जहां पर हीरा उत्पन्न होता है, जैसे—खान, विशेष जल-प्रवाह और हाथी दान्त की जड़ आदि।[9]

हीरा अनेक रंगों का होता है, जैसे—

(१) मार्जाराक्षक—मार्जार की आंख के समान।

(२) शिरीषपुष्पक—शिरीष के फूल के समान।

(३) गोमूत्रक—गोमूत्र के समान।

(४) गोमेदक—गोरोचना के समान।

(५) शुद्ध स्फटिक—अत्यन्त श्वेत वर्ण स्फटिक के समान।

(६) मुलाटीपुष्पक वर्ण—मुलाटी के फूल के समान।[10]

उत्तम हीरा निम्नोक्त गुणों वाला होता है—मोटा, चिकना, भारी चोट को सहने वाला, बराबर कोनों वाला, पानी से भरे हुए पीतल आदि के बर्तन में हीरा डाल कर उस बर्तन के हिलाए जाने पर बर्तन में लकीर डालने वाला, तकवे की तरह घूमने वाला और चमकदार। ऐसा हीरा प्रशस्त माना जाता है।[11]

**नष्टकोण**—अर्थात् शिखर-रहित (कोनों से रहित), अश्रि-रहित (तीक्ष्ण कोनों से रहित) तथा एक ओर अधिक

---

१. ओवाइयं, सूत्र १६५, गाथा : ५
तिण्णि सया तेत्तीसा, धणूत्तिभागो य होइ बोद्धव्वो।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया।।

२. आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरीय वृत्ति, पत्र ५४५ : हस्तद्वयादूर्ध्वं पञ्चधनुःशतेभ्योऽर्वाक् सर्वत्रापि मध्यमावगाहनाभावात्।

३. ओवाइयं, सूत्र १६५, गाथा ७ :
एक्का य होइ रयणी, साहीया अंगुलाइं अट्ठ भवे।
एसा खलु सिद्धाणं, जहण्णओगाहणा भणिया।।

४. विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति, पृ० १२१६ : एतद् निर्युक्तिश्लोकद्वयं सुबोधम्।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ६८६।

६. वही, पत्र ६८६।

७. लोकप्रकाश सर्ग ७।५ :
नद्यादिपूरागते देशे, तत्रातिपिच्छिले वरे।
मृदुश्लक्ष्णा पंकरूपा, सप्तमी पनका त्रिधा।।

८. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२६ : सभाराष्ट्रकं मध्यमराष्ट्रकं कश्मीरराष्ट्रकं श्रीकटनकं मणिमन्तकमिन्द्रवानकं च वज्रम्।

९. वही, २।११।२६ : खनिः स्रोतः प्रकीर्णकं च योनयः।

१०. वही, २।११।२६ : मार्जाराक्षकं च शिरीषपुष्पकं गोमूत्रकं गोमेदकं शुद्धस्फटिकं मूलाटीपुष्पकवर्णं मणिवर्णानामन्यतमवर्णमितियज्रवर्णाः।

११. वही, २।११।२६ : स्थूलं स्निग्धं गुरु प्रहारसहं समकोटिकं भाजनलेखितं कुभ्रामि भ्राजिष्णु च प्रशस्तम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकले हुए कोनों वाला हीरा अप्रशस्त माना जाता है।[1]

**सासग**—हरित वर्ण वाला धातु।[2]

**पवाले**—प्रवाल, विद्रुम, मूंगा। इसे नौ रत्नों में एक रत्न माना है, पर जंतु-विशेषज्ञों के अन्वेषण के आधार पर 'प्रवाल' (मूंगा) एक समुद्री वनस्पति-जीव है, जिसके कंकाल के टुकड़े करके आभूषण बनाए जाते हैं।[3] मूंगों की अनेक जातियां हैं, जिनकी शक्ल-सूरत में काफी भेद रहता है। उनके शरीर की भीतरी बनावट एक जैसी ही होती है और सबके ऊपरी हिस्से पर इनका खुला हुआ मुख-छिद्र रहता है। मुख-छिद्र के चारों ओर अंगुलियों की शक्ल के पतले-पतले अङ्गक रहते हैं, जो इनके स्पर्श-इन्द्रियों, हाथ तथा आत्मरक्षा के लिए डंक हैं। ये अपने शरीर के चारों ओर कड़ी खोल की रचना करते हैं, जिसके भीतर इनका नरम शरीर सुरक्षित रहता है। इनमें कुछ नली के आकार के होते हैं तो कुछ पेड़-पौधों की तरह अपनी टेढ़ी शाखाएं फैलाए रहते हैं। कुछ की बनावट मनुष्य के भेजे जैसी होती है तो कुछ कुकुरमुत्ते की शक्ल के होते हैं। कुछ देखने में पंखी से लगते हैं तो कुछ अंगुलियों से और इन्हीं में कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने लाखों अरबों वर्षों में निरन्तर संगठन से बड़ी-बड़ी चट्टानों तथा मीलों लम्बे प्रवाल-द्वीपों का रूप ग्रहण कर लिया है। संभव है इन द्वीपों से खुदाई के द्वारा प्राप्त होने के कारण इसे पृथ्वीकाय के भेदों में सम्मिलित किया गया हो।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रवाल के पर्यायवाची नाम 'रक्त-कंद' और 'हेम-कंदल' दिए हैं।[4] उत्पत्ति स्थान के आधार पर इसके दो भेद किए जाते हैं—(१) आलकंदक—आलकंद नाम का म्लेच्छ देशों में समुद्र के किनारे एक स्थान है, वहां पर उत्पन्न होने वाला और (२) वैवर्णिक—यूनान देश के समीप विवर्ण नामक समुद्र का एक भाग है, वहां पर उत्पन्न होने वाला।[5] मूंगा (प्रवाल) लाल तथा पद्म के समान रंग वाला होता है।

**अंजण**—समीरक।

**गोमेज्जए**—गोमेदक माणक की उपजातियों में गिना जाता है। माणक केवल लाल रंग का होता है, पर इसमें लाल के साथ पीत रंग का भी आभास होता है।[6] किन्तु कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार यह 'वैडूर्य' का एक प्रकार है।[7] मूलाचार में 'गोमज्झग' (सं० गोमध्यक) शब्द है। इसका अर्थ कर्केतन मणि किया गया है।[8] किन्तु 'गोमध्यक' शब्द मूल से कुछ दूर हो गया, ऐसा प्रतीत होता है।

**रुयगे**—रुचक—राजवर्तक।

**फलिहे**—स्फटिक मणि। रयणपरिक्खा के अनुसार स्फटिक मणि नेपाल, कश्मीर, चीन, कावेरी और यमुना तट पर तथा विंध्य पर्वत में उत्पन्न होता है।[9] कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार वह चार प्रकार का होता है—

(१) शुद्धस्फटिक—अत्यन्त शुक्ल वर्ण वाला,
(२) मूलाटवर्ण—मक्खन निकाले हुए दही (तक्र) के समान रंग वाला,
(३) शीतवृष्टि—चन्द्रकान्त—चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से पिघल जाने वाला और
(४) सूर्य की किरणों का स्पर्श होने पर आग उगलने वाला।[10]

**लोहियक्खे**—किनारे की ओर लाल रंग वाला और बीच में काला। इसका एक नाम 'लोहितक' भी मिलता है।[11] मूलाचार में इसका नाम 'लोहितांक' मिलता है।[12]

**मरगय**—मरकत। श्री रत्नपरीक्षा ग्रन्थ में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त है।[13]

**मसारगल्ले**—मसृण पाषाण मणि (चिकनी धातु)। इसका वर्ण विद्रुम जैसा होता है।

**भुयमोयग**—मूलाचार में केवल 'मोय' शब्द है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'कदली वर्णाकार नील मणि' किया है।[14] सरपेन्टियर ने इसका अर्थ 'सर्प के विष से रक्षा करने वाला मणि विशेष' किया है।[15]

---

१. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२६ : नष्टकोणं निरश्रि पार्श्वापवृत्तं चाप्रशस्तम्।
२. मूलाचार, ५।१०, वृत्ति : सस्यकं हरितरूपम्।
३. समुद्र के जीव-जन्तु, पृ० १४।
४. अभिधान चिन्तामणि, ४।१३२ : रक्तांकोरक्तकंदश्च, प्रवालं हेमकंदलः।
५. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२६ : प्रवालकमालकन्दकं वैवर्णिकं च रक्तं पद्मरागं च....।
६. सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ५३ :
सिरिनाय कुलपरे वम देसे तह जम्मल नई मज्झे।
गोमय इंदगोवं, सुसणेहं पंडुरं पीयं।।
७. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२६।
८. मूलाचार, ५।११, वृत्ति।
९. सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ५४ :
नयवालेक समीरे, चीणे कावेरी जउण नइकूले।
विंझनगे उप्पज्जइ, फलिहं अइनिम्मलं सेयं।।
१०. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२६ : शुद्धस्फटिकः मूलाटवर्णः शीतवृष्टिः सूर्यकान्तश्चेति मणयः।
११. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२६।
१२. मूलाचार, ५।११।
१३. सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ३८-४२ :
अवणिंद-मलय-पव्वय-वब्बरदेसेसु उयहितीरे य।
गरुडस्स य कण्ठ उरे हवंति मरगय-महामणिणो।।
गरुडोदगार पढमा, कीरउठी बीय तइअ भुंगडनी।
वाभवई अ चउत्थी, धूलि मरीई य पणजाई।।
गरुडोदगार रम्मा, नीला अइकोमला य विसहरणा।
कीडउठि सुह सुहमच्चा, सुनइड कीडस्स पंखसमा।।
मुंगडनी सु सणेहा नील हरिय कीरकंठ सारिच्छा।
कढिया अमला हरिया, वासवई होई विसहरणा।।
धूलि मराइ गरुया, रुक्खा धणनीलकच्च सारिच्छा।
मुल्ले वीरुविसोवा दुहट्ठ वह पंच दुन्निकमे।।
१४. मूलाचार, ५।१२, वृत्ति।
१५. The Uttaradhyayan Sutra, p. 402

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**इंदनीले**—इन्द्रनील (नीलम)। इसका वर्ण नीला (हरा) होता है। कहीं-कहीं इसकी उत्पत्ति सिंघल द्वीप में बताई गई है।[1] यह आठ प्रकार का होता है[2]—

(१) नीलावलीय—रंग सफेद होने पर भी जिसमें नीले रंग की धाराएं हों।
(२) इन्द्रनील—मोर के पेंच की तरह नीले रंग वाला।
(३) कलायपुष्पक—मटर के फूल सदृश रंग वाला।
(४) महानील—भौंरे के समान गहरे काले रंग वाला।
(५) जाम्बवाभ—जामुन के समान रंग वाला।
(६) जीमूतप्रभ—मेघ के समान रंग वाला।
(७) नंदक—भीतर से सफेद और बाहर से नीला।
(८) स्रवन्मध्य—जिसमें से जल-प्रवाह के समान किरणें बहती हों।[3]

**चन्दन**—चन्दन जैसी गंध वाला मणि।[4]

**गेरुय**—इसका अर्थ 'रुधिराक्ष' है। इसका वर्ण गेरु जैसा होता है।[5]

**हंसगब्भ**—मूलाचार में 'बक' नामक मणि का उल्लेख है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'बक के रंग का पुष्पराग' किया है।[6] कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार 'पुष्पराग' वैडूर्य का एक प्रकार है।[7] 'बक' बगुले का रंग भी हंस जैसा होता है, इसलिए हंसगर्भ का यही अर्थ संभव है। सरपेन्टियर ने 'हंस' का अर्थ सूर्य कर इसको 'सूर्यगर्भ' नाम का मणि माना है।[8]

**पुलए**—पुलक। यह बीच में काला होता है। कौटलीय अर्थशास्त्र (२।११।२६) में मणियों की अठारह अवान्तर जातियां बताई गई हैं—

(१) विमलक—सफेद और हरे रंग से मिश्रित।
(२) सस्यक—नीला।
(३) अञ्जनमूलक—नीला और काला मिश्रित।
(४) गोपित्तक—गाय के पित्त के समान रंग वाला।
(५) सुलमक—सफेद।
(६) लोहिताक्ष—किनारों की ओर लाल रंग वाला और बीच में काला।
(७) मृगाश्मक—सफेद और काला मिला हुआ।
(८) ज्योतिरसक—सफेद और लाल मिला हुआ।
(९) मैलेयक—शिंगरफ के समान रंग वाला।
(१०) अहिच्छत्रक—फीके रंग वाला।
(११) कूर्म—खुरदरा—जिसके ऊपर छोटी-छोटी बूंद-सी उठी हुई हो।
(१२) प्रतिकूर्प—दागी—जिस पर धब्बे लगे हुए हों।
(१३) सुगंधिकूर्प—मूंग के समान रंग वाला।
(१४) क्षोरपक—दूध के समान वर्ण वाला।
(१५) शुक्तिचूर्णक—चित्रित—मिले हुए कई रंगों वाले।
(१६) शिला-प्रवालक—प्रवालक—अर्थात् मूंगे के समान रंग वाला।
(१७) पुलक—जो बीच में काला हो।
(१८) शुक्रपुलक—जो बीच में सफेद हो।

**सोगंधिए** (सं० सौगन्धिक)—माणिक्य। कौटलीय अर्थशास्त्र में माणिक्य की पांच जातियां बतलाई गई हैं। उनमें यह प्रथम जाति का है। सौगन्धिक नामक कमल के समान कुछ नीलेपन को लिए हुए लाल रंग का होने के कारण इसे 'सौगन्धिक' कहा जाता है।[9]

**वेरुलिए**—वैडूर्य। यह आठ प्रकार का होता है[10]—

(१) उत्पलवर्ण—लाल कमल के समान रंग वाला,
(२) शिरीषपुष्पक—सिरीस के फूल के समान रंग वाला,
(३) उदकवर्ण—जल के समान स्वच्छ रंग वाला,
(४) वंशराग—बांस के पत्ते के समान रंग वाला,
(५) शुकपत्रवर्ण—तोते के पंखों की तरह हरे रंगों वाला,
(६) पुष्यराग—हल्दी के समान पीले रंग वाला,
(७) गोमूत्रक—गोमूत्र के समान रंग वाला,
(८) गोमेदक—गोरोचन के समान रंग वाला।

रयणपरिक्खा में भी इसकी उत्पत्ति की चर्चा की गई है।[11] पाणिनि भाष्य के अनुसार यह बालवाय पर्वत में होता था। विदूरनगर में मणिकार उसे तराशते थे, इसलिए वह 'वैदूर्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ।[12]

**जलकंते**—जलकान्त। इसका अर्थ 'उदक वर्ण' है।[13] कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार यह वैडूर्य का एक प्रकार है।[14]

**सूरकंते**—सूर्यकान्त। सूर्य की किरणों का स्पर्श होने पर आग उगलने वाला मणि। कौटलीय अर्थशास्त्र में इसे स्फटिक

---

१. सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ४६ :
नीलघण मोरकण्ठः अलसीगिरिकन्नि कुसुम संकासा।
ऐतेया सुमणेहा सिंघलदीवम्मि नीलमणी।।

२. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२६ : नीलावलीय इन्द्रनीलः कलायपुष्पको महानीलो जाम्बवाभो जीमतप्रभो नन्दकः स्रवन्मध्यः।

३. मूलाचार, ५।१२, वृत्ति।

४. वही, ५।१२, वृत्ति।

५. वही, ५।१२, वृत्ति।

६. वही, ५।१२, वृत्ति।

७. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२६।

८. The Uttaradhyayan Sutra, p 403.

९. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२६ : सौगन्धिकः प्ररागोऽनवद्यरागः परिजातपुष्पको बालसूर्यकः।

१०. वही, २।११।२६ : वैडूर्य उत्पलवर्णः शिरीषपुष्पक उदकवर्णो वंशरागः शुकपत्रवर्णः पुष्यरागो गोमूत्रको गोमेदकः।।

११. सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ५१ :
रयणायरस्स मज्झे, कुवियगयनामजण चउतत्थ।
चइमुरनगे जायइ, बइडुज्जं वंसपत्तासं।।

१२. पाणिनि भाष्य, ४।३।८४।

१३. मूलाचार, ५।११।

१४. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का ही एक भेद माना गया है।[1]

प्रज्ञापना में कठिन पृथ्वी को चालीस श्रेणियों में विभक्त किया गया है।[2] उत्तराध्ययन में उसकी छत्तीस श्रेणियां बतलाई गई हैं। शान्त्याचार्य के अनुसार लोहिताक्ष और वसारगल्ल, क्रमशः स्फटिक और मरकत तथा गेरुक और हंसगर्भ चन्दन के उपभेद हैं।[3] वृत्तिकार ने शुद्ध पृथ्वी से लेकर वज्र तक के चौदह प्रकार तथा हरिताल से लेकर आम्रबालुका तक के आठ प्रकार स्पष्ट माने हैं। गोमेदक से लेकर शेष सब चौदह प्रकार होने चाहिए, किन्तु अठारह होते हैं। इनमें से चार वस्तुओं का दूसरों में अन्तर्भाव होता है। वृत्तिकार इस विषय में पूर्णरूपेण असंदिग्ध नहीं है कि किसमें किसका अन्तर्भाव होना चाहिए।[4]

## १६. (कायठिइं.....अंतरं)

कायस्थिति—एक ही जीवनिकाय में निरन्तर जन्म ग्रहण करते रहने की काल-मर्यादा।[5]

अंतरकाल—एक काल का परित्याग कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल 'अन्तर-काल' कहलाता है।[6]

कायस्थिति के नियम के अनुसार एक ही काय में निरन्तर भव-परिवर्तन होता रहता है। अन्तर-काय के नियमों में काय का परिवर्तन हो जाता है।

## १७. (श्लोक ८५)

इस श्लोक में अप्काय के पांच प्रकार बतलाए गए हैं। प्रज्ञापना (पद १) में इसके अधिक प्रकार प्राप्त हैं—

**उत्तराध्ययन**

(१) शुद्धोदक
(२) अवश्याय
(३) हरतनु—भूमि को भेद कर निकला हुआ जल-बिन्दु
(४) महिका—कुहासा
(५) हिम

**प्रज्ञापना**

| | |
|---|---|
| (१) अवश्याय | (१०) खट्टोदक |
| (२) हिम | (११) अम्लोदक |
| (३) माहिका | (१२) लवणोदक |
| (४) करक—ओला | (१३) वारुणोदक |
| (५) हरतनु | (१४) क्षीरोदक |
| (६) शुद्धोदक | (१५) घृतोदक |
| (७) शीतोदक | (१६) क्षोदोदक |
| (८) ऊष्णोदक | (१७) रसोदक |
| (९) क्षारोदक | |

## १८. (श्लोक ९३–९९)

वनस्पति के मुख्य वर्ग दो हैं—

(१) साधारण-शरीर—जिसके एक शरीर में अनंत जीव होते हैं, उसे 'साधारण-शरीर' कहा जाता है।
(२) प्रत्येक-शरीर—जिसके एक-एक शरीर में एक-एक जीव होता है, उसे 'प्रत्येक-शरीर' कहा जाता है।

सूत्रकार ने साधारण-शरीर से पूर्व प्रत्येक-शरीर वनस्पति के बारह प्रकार बतलाए हैं—

(१) वृक्ष—एक बीज वाले नीम आदि; अनेक बीज वाले बेल आदि।
(२) गुच्छ—जिसमें केवल पत्तियां या पतली टहनियां फैली हों, वह पौधा। जैसे—बैंगन, तुलसी आदि।
(३) गुल्म—जो एक जड़ से कई तनों के रूप में निकले, वह पौधा। जैसे—कटसरैया, कबैर आदि।
(४) लता—पृथ्वी पर या किसी बड़े पेड़ पर लिपट कर ऊपर फैलने वाला पौधा। जैसे—माधवी, अति-मुक्तक आदि।
(५) बल्ली—ककड़ी आदि की बेल।
(६) तृण—घास।
(७) लता-वलय—नारियल, खजूर, केला आदि। इनके दूसरी शाखा नहीं होती। इसलिए इन्हें 'लता' और इनकी डाल वलयाकार होती है, इसलिए इन्हें 'वलय' (संयुक्त रूप में लता-वलय) कहा गया है।
(८) पर्वज—ईख आदि।
(९) कुहुण—भूमि को फोड़ कर निकलने वाला पौधा। जैसे—सर्पच्छत्र, कुकुरमुत्ता आदि।
(१०) जलरुह—जलज वनस्पति—कमल आदि।
(११) औषधि तृण—एक फसला पौधा—गेहूं आदि।
(१२) हरितकाय—पालक, बथुवा आदि।

जहां पर एक शरीर में अनन्त जीव निवास करते हों, उसे 'साधारण वनस्पतिकाय' कहते हैं। सभी प्रकार के कंद, मूल तथा अनन्तकायिक साधारण वनस्पति जीव हैं। आलू, मूली, अदरक आदि सब इस श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

कंदली (९७।४) लता विशेष। यह वर्षा ऋतु में होती है। इसका कंद स्निग्ध, पुष्प लाल और पत्ते हरे होते हैं; इसे 'भूकदली' और 'द्रोणपर्णी' भी कहा जाता है।[7]

---

१. कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२६।
२. पण्णवणा, पद १।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६८६।
४. वही, पत्र ६८६ : इह च पृथिव्यादयश्चतुर्दश हरितालादयोऽष्टौ-गोमेज्जकादयश्च क्वचित्कस्यचित्कथंचिदन्तर्भावाच्चतुर्दशेत्यमीमीलिताः षट्त्रिंशद् भवंति।
५. वही, पत्र ६९० : ततोऽनुद्वर्तनेनावस्थानं कायस्थितिः।
६. वही, पत्र ६९० : यत् पृथिवीकायाद् उद्वर्त्तनं या च पुनः तत्रैव उत्पत्तिरनयोर्व्यवधानमिति।
७. शब्दार्णव : द्रोणपर्णी स्निग्धकन्दा कन्दली भूकदल्यपि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कंद (९८।३) बिना रेसे वाली गुद्देदार जड़। भूमि में रहने वाला वृक्ष का अवयव।[1]

हलिद्दा (९९।३) (सं० हरिद्रा) हल्दी पीत और सोने के रंग की होती है।[2] इसका नाम है—'वरवर्णिनी' अर्थात् अच्छा वर्ण करने वाली। प्राचीन समय में हल्दी का तेल बहुतायत से लगाया जाता था। मद्रास की तरफ अब भी अपना वर्ण सुधारने के लिए स्त्रियां इसका प्रयोग करती हैं। यह वात-रोग, हृदय-रोग, प्रमेय आदि रोगों के लिए अति उत्तम मानी जाती है। सुश्रुत (चि०, अ० ९) में तो कहा है कि इससे कुष्ठ रोग भी नष्ट हो जाता है। वस्तुतः यह रक्त शुद्ध करने वाली है, इसी दृष्टि से पीठी तथा आहार में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।[3]

## १९. (श्लोक १०९—११०)

उत्तराध्ययन की अपेक्षा प्रज्ञापना (पद १) में अग्नि के प्रकार अधिक प्राप्त हैं—

**उत्तराध्ययन**

(१) अंगार—जलता हुआ कोयला
(२) मुर्मुर—भस्म मिश्रित अग्नि-कण
(३) अग्नि—लोहपिंड में प्रविष्ट तेजस्
(४) अर्चि—प्रदीप्त अग्नि से विच्छिन्न अग्नि-शाखा
(५) ज्वाला—प्रदीप्त अग्नि से प्रतिबद्ध अग्नि-शाखा
(६) उल्का
(७) विद्युत्

**प्रज्ञापना**

(१) अंगार
(२) ज्वाला
(३) मुर्मुर
(४) अर्चि
(५) आलात—जलता हुआ ठंठ
(६) शुद्धाग्नि
(७) उल्का
(८) अशनि—वज्रपात की अग्नि
(९) निर्घात
(१०) संघर्ष समुत्थित
(११) सूर्यकान्त मणि निस्तृत

## २०. (श्लोक ११९—११९)

यहां वायु के पांच प्रकारों का निर्देश तथा अन्य प्रकारों का संकेत किया गया है। प्रज्ञापना (पद १) में इसके उन्नीस प्रकार प्राप्त हैं—

**उत्तराध्ययन**

(१) उत्कलिकावात—मिश्रित पवन
(२) मण्डलिकावात—बवंडर
(३) घनवात—ठोस पवन
(४) गुंजावात—गुंजने वाला पवन
(५) शुद्धवात—मन्द पवन
(६) संवर्तकवात—प्रलयकारी पवन

**प्रज्ञापना**

(१) प्राचीनवात—पूर्वी पवन
(२) प्रतीचीनवात—पश्चिमी पवन
(३) दक्षिणवात—दक्षिणी पवन
(४) उदीचीनवात—उत्तरी पवन
(५) ऊर्ध्ववात—ऊर्ध्वमुखी पवन
(६) अधोवात—अधोमुखी पवन
(७) तिर्यग्वात—क्षैतिज पवन
(८) विदिग्वात—चौवाई
(९) वातोद्भ्रम—अनियमित पवन
(१०) वातोत्कलिका—समुद्री पवन
(११) वातमण्डली—अनिर्धार्य पवन
(१२) उत्कलिकावात
(१३) मण्डलिकावात
(१४) गुंजावात
(१५) झंझावात—वर्षायुक्त पवन
(१६) संवर्तकवात
(१७) घनवात
(१८) तनुवात—विरल पवन
(१९) शुद्धवात

## २१. (श्लोक १२७—१४९)

सूत्रकार ने इन श्लोकों में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवों के अनेक उदाहरण दिए हैं। वृत्तिकार ने कुछेक शब्दों की पहचान दी है। शेष के लिए उन्होंने लिखा है—'शेषास्तु यथासम्प्रदायं वाच्याः',[4] 'एवमन्येऽपि यथासम्प्रदायं वाच्याः'[5]। इसका फलितार्थ है कि वृत्तिकार के समय में ये शब्द अपना अर्थबोध खो चुके थे।

चतुरिन्द्रिय के भेद-प्रभेदों के विषय में वृत्तिकार का कथन है कि कुछेक जीवों के अर्थ अज्ञात हैं। वे अन्यान्य देशों में ज्ञात हो सकते हैं। उनसे इनका अर्थबोध किया जा सकता है तथा विशिष्ट परम्परा से भी ये ज्ञात हो सकते हैं।[6]

## २२. सम्मूर्च्छिम मनुष्य (संमुच्छिमा य मणुया)

गर्भ और उपपात के बिना जहां कहीं भी उत्पन्न होने वाले, चारों ओर से पुद्गलों का ग्रहण कर शरीर की रचना करने वाले जीव सम्मूर्च्छिम या सम्मूर्च्छनज कहलाते हैं।

१. प्रवचनसारोद्धार, पृ० ५७।
२. अभिधान चिन्तामणि कोश, ३ : हरिद्रा कांचनी पीता निशाख्या वरवर्णिनी।
३. संस्कृत साहित्या मा वनस्पति, पृ० ४५१।
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ६६५।
५. वही, पत्र ६६६।
६. वही, पत्र ६६६ : एतद्भेदाश्च केचिद् अप्रतीता एव, अन्ये तु तत् तद् देशप्रसिद्धितो विशिष्टसम्प्रदायाच्च अभिधेयाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो जीव मनुष्य के मल, मूत्र, श्लेष्म आदि में उत्पन्न होते हैं, उन्हें उपचार से सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहा जाता है।

## २३. (श्लोक १८६)

प्रस्तुत श्लोक में तीन प्रकार के गर्भज मनुष्यों का निर्देश है—

१. **कर्मभूमिज**—जहां असि, मषि, कृषि, पशुपालन, शिल्पकर्म, वाणिज्य आदि कर्मों से आजीविका प्राप्त की जाती है, उस भूमि को कर्मभूमि कहा जाता है। ढाई द्वीप में वैसी भूमियां पन्द्रह हैं—पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच विदेह। इन्हीं भूमियों के मनुष्य मोक्ष की साधना कर पाते हैं।

२. **अकर्मभूमिज**—जहां मनुष्य युगलरूप में (एक लड़की एक लड़का) उत्पन्न होते हैं और जहां जीवन की आवश्यकताएं कल्पवृक्षों से पूरी होती हैं, उस भूमि को अकर्मभूमि कहा जाता है। यहां के स्त्री-मनुष्य अपनी प्रकृतिभद्रता तथा मन्द कषाय के कारण मृत्यु के पश्चात् देवलोक में उत्पन्न होते हैं। अकर्मभूमियां तीस हैं—पांच हैमवत, पांच हरिवर्ष, पांच रम्यकवर्ष, पांच हैरण्यवत, पांच देवकुरु तथा पांच उत्तरकुरु।

३. **अन्तर्द्वीपज**—लवणसमुद्र के तीन सौ योजन भीतर हिमवत् के पाद में स्थित २८ अन्तर्द्वीप तथा शिखरी के पाद में स्थित २८ अन्तर्द्वीप हैं। इस प्रकार ५६ अन्तर्द्वीप हैं।[1] गाथा १९७ में सूत्रकार केवल २८ अन्तर्द्वीपों का उल्लेख करते हैं। यह हिमवत् के पाद में प्रतिष्ठित अन्तर्द्वीपों का ही कथन है। उन द्वीपों में एकोरुक्, हयकर्ण, गजकर्ण आदि युगलधर्मी मनुष्य रहते हैं। उनके शरीरमान आदि इस प्रकार हैं—

*'अंतरदीवेसु णरा धणुसय अट्ठूसिया सया मुइया।*
*पालंति मिहुणभावं, पल्लस्स असंखभागाऊ।।'*
*'चउसट्ठी पिट्ठकरंडयाण मणुयाण तेसिमाहारो।*
*मत्तस्स चउत्थस्स अउणसीइदिणाण पालणया।।'*

*(बृहद्वृत्ति, पत्र ७००)*

## २४. वणचारिणो

यह देवताओं की एक जाति है। इनका अपर नाम—वाणव्यंतर, व्यंतर भी है। ये आठ प्रकार के हैं।[2] ये विचित्र प्रकार के उपवनों तथा गिरिकंदराओं, वृक्षों पर रहते हैं। ये विशेष कुतूहलप्रिय और क्रीडारसिक होते हैं। ये ऊर्ध्व, अधो तथा तिर्यग्—तीनों लोकों का स्पर्श करते हैं तथा स्वतंत्र रूप से अथवा दूसरों के द्वारा नियुक्त होकर अनियत गति से संचरण करते हैं। ये मनुष्यों की एक सेवक की भांति सेवा करते हैं।[3]

## २५. (अप्पाणं संलिहे मुणी)

संलेखना का अर्थ है—कृश करना। जैन परम्परा में अनशन से पूर्व की जाने वाली विशेष तपस्या को संलेखना कहा गया है। इसकी पूरी विधि गाथा २५० से २५५ तक वर्णित है।

विशेष विवरण के लिए देखें—तीसवें अध्ययन का १२-१३ श्लोक का टिप्पण

## २६. (श्लोक २५२—२५५)

प्रस्तुत चार श्लोकों में तपस्या के प्रकारों का नामोल्लेख है—

१. विचित्र तप—उपवास, बेला, तेला आदि तप।

२. विकृष्ट तप—तेला, चोला आदि तप।

३. कोटिसहित तप—कोटि का अर्थ है—कोण। पहले दिन आयंबिल का प्रत्याख्यान कर, उसका अहोरात्र पालन कर, दूसरे दिन पुनः आचाम्ल करने से—दूसरे दिन के आचाम्ल का आरम्भ-कोण तथा प्रथम दिन के आचाम्ल का पर्यंत-कोण—दोनों कोणों के मिलने से इसको कोटि सहित तप कहा जाता है।

विशेष विवरण के लिए देखें—३०।१२,१३ का टिप्पण।

## २७. (श्लोक २५६)

इस श्लोक में पांच संक्लिष्ट भावनाओं का उल्लेख है। उनके लक्षण और प्रकार २६३ से २६७ तक के श्लोकों में बतलाए गए हैं। उत्तरवर्ती साहित्य में भी इसका निरूपण होता रहा है। यहां हम उत्तराध्ययन के साथ-साथ मूलाराधना और प्रवचनसारोद्धार में चर्चित इन भावनाओं का अध्ययन करेंगे। वे उत्तराध्ययन से पूर्णतः प्रभावित हैं।

| उत्तराध्ययन | मूलाराधना | प्रवचनसारोद्धार |
|---|---|---|
| भावना नाम— | | |
| (१) कान्दर्पी, | (१) कान्दर्पी, | (१) कान्दर्पी, |
| (२) आभियोगी, | (२) कल्विषिकी, | (२) कल्विषिकी, |
| (३) किल्विषिकी, | (३) आभियोगी, | (३) आभियोगी, |
| (४) आसुरी और | (४) आसुरी और | (४) आसुरी और |
| (५) सम्मोहा। | (५) सम्मोहा।[4] | (५) सम्मोहा।[5] |

**१. कान्दर्पी भावना के प्रकार—**

उत्तराध्ययन

(१) कन्दर्प,

(२) कौत्कुच्य,

---

१. नंदी वृत्ति, पृ० ३३ : त्रीणि योजनशतानि लवणजलधिजलमध्यमधिलंघ्य हिमवच्छिखरिपादप्रतिष्ठिता एकोरुकाद्याः षट्पञ्चाशदन्तर्द्वीपा भवन्ति।

२. उत्तरज्झयणाणि ३६।२०७।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ७०१।

४. मूलाराधना, ३।१७९ :
कंदप्पदेवखिब्भिस, अभिओगा आसुरी य सम्मोहा।
एदा हु संकिलिट्ठा, पंचविहा भावणा भणिद।।

५. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४१ :
कंदप्पदेव किब्बिस, अभिओगा आसुरी य सम्मोहा।
एसा हु अप्पसत्था, पंचविहा भावणा तत्थ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) तथा-प्रकार के शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओं से दूसरों को विस्मित करना।

**मूलाराधना**

(१) कन्दर्प,
(२) कौत्कुच्य,
(३) चल-शीलता,
(४) हास्य-कथा और
(५) दूसरों को विस्मित करना।[1]

**प्रवचनसारोद्धार**

(१) कन्दर्प,
(२) कौत्कुच्य,
(३) दुःशीलता,
(४) हास्य-करण और
(५) दूसरों को विस्मित करना।[2]

**कन्दर्प**—वाणी का असभ्य प्रयोग।[3] उत्तराध्ययन और प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति के अनुसार इसके पांच अर्थ होते हैं—(१) ठहाका मार कर हंसना, (२) गुरु आदि के साथ व्यंग में बोलना, (३) काम-कथा करना, (४) काम का उपदेश देना और (५) काम की प्रशंसा करना।[4]

**कौत्कुच्य**—काया का असभ्य प्रयोग।[5] उत्तराध्ययन और प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति के अनुसार इसके दो प्रकार हैं—(१) काय-कौत्कुच्य—भौं, आंख, मुंह आदि अवयवों को इस प्रकार बनाव करना जिससे दूसरे लोग हंस पड़े। (२) वाक्-कौत्कुच्य—विविध जीव-जन्तुओं की, ऐसी बोली बोलना, सिट्टी बजाना, जिससे दूसरे लोग हंस पड़े।[6] उत्तराध्ययन में तथाप्रकार के शील-स्वभाव, हास्य तथा विकथा से दूसरों को विस्मित करना यह एक ही प्रकार है।[7]

मूलाराधना और प्रवचनसारोद्धार में इसके स्थान पर तीन-तीन प्रकार हैं—

(१) चलशीलता—कन्दर्प और कौत्कुच्य का बार-बार प्रयोग करना।[8]
(२) दुःशीलता—बिना विचारे तत्काल बोलना, शरत्-काल में दर्प से उद्धत बैल की तरह शीघ्र चलना, बिना सोचे समझे काम करना।[9]
(३) हास्य-कथा या हास्य-करण—वेश परिवर्तन आदि के द्वारा दूसरों को हंसाना।

दूसरों को विस्मित करना—इन्द्रजाल, मन्त्र, प्रहेलिका आदि कुतूहलों के द्वारा विस्मय उत्पन्न करना।[10]

**२. आभियोगी भावना के प्रकार—**

| उत्तराध्ययन | मूलाराधना | प्रवचनसारोद्धार |
|---|---|---|
| (१) मन्त्रयोग और (२) भूति-कर्म। | (१) मन्त्राभियोग, (२) कौतुक और (३) भूति-कर्म।[11] | (१) कौतुक, (२) भूति-कर्म, (३) प्रश्न (४) प्रश्नाप्रश्न और (५) निमित्त।[12] |

मन्त्रयोग—मन्त्र तथा उससे संबंधित द्रव्यों का प्रयोग करना।[13]

मन्त्राभियोग—कुमारी आदि पात्रों में भूत का आवेश उत्पन्न करना।[14]

भूति-कर्म—राख, मिट्टी अथवा धागे के द्वारा मकान, शरीर आदि का परिवेष्टन करना।[15] बच्चों की रक्षा के लिए भूति का प्रयोग करना अथवा भूतों की क्रीड़ा दिखाना भी

---

१. मूलाराधना, ३।१८०:
कंदप्पकुक्कुआइय, चलसीला णिच्चहासणकहो य।
विभाविंतो य परं, कदप्पं भावणं कुणइ।।

२. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४२ :
कंदप्पे कुक्कुइए, दोसीलत्ते य हासकरणे य।
परिविम्हियजणणो, ऽवि य कन्दप्पोऽणेगहा तह य।।

३. मूलाराधना विजयोदया, पृ० ३६८ : रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्रोऽशिष्ट-वाक्प्रयोगः कन्दर्पः।

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ७०६ : कन्दर्प—अट्टट्टहासहसनम् अनिभृतालापाश्च गुर्वादिनाऽपि सह निष्ठुरवक्रोक्त्यादिरूपाः कामकथोपदेशप्रशंसाश्च कन्दर्पः।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, वृत्ति, पत्र १८०।

५. मूलाराधना, विजयोदया, पृ० ३६८ : अशिष्टकायप्रयोगः कौत्कुच्यम्।

६. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ७०६ : कौकुच्यं द्विधा—कायकौकुच्यं वाक्कौकुच्यं च, तत्र कायकौकुच्यं यत्स्वयमहसन्नेव भ्रूनयनवदनादि तथा करोति यथाऽन्यो हसति....तज्जल्पति येनान्यो हसति तथा नानाविधा-जीवविरुतानि मुखातोद्यवादितां च विधत्ते तद्वाक्कौकुच्यम्।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, वृत्ति, पत्र १८०।

७. बृहद्वृत्ति, पत्र ७०६ : तथा यच्छीलं च—फलनिरपेक्षा वृत्तिः स्वभावश्च—परविस्मयोत्पादनाभिसन्धिनैव तत्तन्मुखविकारादिक हसनं च—अट्टट्टहासादि विकथाश्चपरिविस्मापकविविधोल्लापरूपाः शीलस्वभावहसनविकथास्ताभिः 'विस्मापयन्' सविस्मयं कुर्वन्।

८. मूलाराधना, विजयोदया, पृ० ३६८ : भवतो मातरं करोमीति कंदर्पकौत्कुच्याभ्यां चलशीलः।

९. प्रवचनसारोद्धार, वृत्ति, पत्र १८०।

१०. (क) मूलाराधना दर्पण, पृ० ३६८ : विभाविंतो मंत्रेंद्रजालादिकुहकप्रदर्शनेन विस्मयनयनम्।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, वृत्ति, पत्र १८० : इन्द्रजालप्रभृतिभिः कुतूहलैः प्रहेलिकाकुहेटिकादिभिश्च तथाविधग्राम्यलोकप्रसिद्धैर्यात्स्वय-मविस्मयमानो बालिशप्रायस्य जनस्य मनोविभ्रममुत्पादयति तत्परविस्मयजननम्।

११. मूलाराधना, ३।१८२ :
मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउंजदे जो हु।
इड्ढिरससादहेदुं, अभिओगं भावणं कुणइ।।

१२. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४४ :
कोउय भूईकम्मे पसिणेहिं तह य पसिणपसणेहिं।
तहय निमित्तेणं, चिय पंचवियप्पा भवे सा य।।

१३. बृहद्वृत्ति, पत्र ७१० : 'मंतायोगं' ति सूत्रत्वान् मन्त्राश्च योगाश्च—तथाविधद्रव्यसम्बन्धा मंत्रयोगं।

१४. मूलाराधना दर्पण, पृ ४०० : मत्राभियोगः कुमार्यादिपात्रे भूतावेशकरणम्।

१५. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ७१० : 'भूत्या' भस्मनोपलक्षणत्वान्मृदा सूत्रेण वा कर्म—रक्षार्थं वसत्यादेः परिवेष्टनं भूतिकर्म।
(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूति-कर्म कहलाता है।[1]

कौतुक—अकाल-वृष्टि आदि आश्चर्यकारी करतब दिखलाना अथवा वशीकरण आदि का प्रयोग करना।[2] बच्चों तथा अन्य किसी की रक्षा के लिए स्नान, हाथ फेरना आदि क्रियाएं करना।[3]

प्रश्न—दूसरों के पास लाभ-अलाभ आदि के विषय में प्रश्न करना अथवा स्वयं अंगुष्ठ, दर्पण आदि में भूत या भविष्य को जानने का यत्न करना।[4]

प्रश्नाप्रश्न—स्वप्न में विद्या द्वारा कथित शुभाशुभ दूसरों को बतलाना।[5]

निमित्त—निमित्त का प्रयोग करना।

**३. किल्बिषिकी भावना के प्रकार—**

**उत्तराध्ययन**

(१) ज्ञान का अवर्णवाद,
(२) केवली का अवर्णवाद,
(३) धर्माचार्य का अवर्णवाद,
(४) संघ का अवर्णवाद और
(५) माया।

**मूलाराधना**

(१) ज्ञान की वञ्चना और अवर्णवाद,
(२) केवली की वञ्चना और अवर्णवाद,
(३) धर्माचार्य की वञ्चना और अवर्णवाद और
(४) सर्वसाधुओं की वञ्चना और अवर्णवाद।[6]

**प्रवचनसारोद्धार**

(१) ज्ञान का अवर्णवाद,
(२) केवली का अवर्णवाद,
(३) धर्माचार्य का अवर्णवाद,
(४) संघ का अवर्णवाद और
(५) माया।[7]

विजयोदया में 'मायी' का अवर्णवादी की तरह ज्ञान, केवली, धर्माचार्य और सर्व साधु इन सबके साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है।[8]

**४. आसुरी भावना के प्रकार—**

**उत्तराध्ययन**

(१) अनुबद्ध रोष प्रसर और
(२) निमित्त प्रतिसेवना।

**मूलाराधना**

(१) अनुबन्ध रोष विग्रह संसक्त तप,
(२) निमित्त प्रतिसेवना,
(३) निष्कृपता और
(४) निरनुताप।[9]

**प्रवचनसारोद्धार**

(१) सदा विग्रहशीलता,
(२) संसक्त तप,
(३) निमित्त कथन,
(४) निष्कृपता और
(५) निरनुकम्पता।[10]

अनुबद्ध रोष प्रसर—सदा विग्रह करते रहना, प्रमाद हो जाने पर भी अनुताप न करना, क्षमा-याचना कर लेने पर भी प्रसन्न न होना।[11]

निमित्त प्रतिसेवना—निमित्त का प्रयोग करना।

अनुबंध रोष विग्रह संसक्त तप—अव्यवच्छिन्न क्रोध और कलह से संयुक्त तप करना।[12]

संसक्त तप—आहार आदि में प्रतिबद्ध होकर उनकी प्राप्ति के लिए तप करना।[13]

**५. सम्मोहा भावना के प्रकार—**

---

१. मूलाराधना दर्पण, पृ ४०० : भूदीकम्मं बालादीनां रक्षार्थं भूतिकर्म भूतिक्रीडनकं वा।

२. वही, पृ ४०० : तत्र बालादीनां रक्षादिकरणनिमित्तं स्नपनकरभ्रमणाभिमन्त्रणधुक्करणधूपदानादि यत्क्रियते तत्कौतुकम्।

३. प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८१ : तत्र बालादीनां रक्षादिकरणनिमित्तं स्नपनकरभ्रमणाभिमन्त्रणधुक्करणधूपदानादि यत्क्रियते तत्कौतुकम्।

४. वही, पत्र १८१ : यत् परस्य पार्श्वे लाभालाभादि पृच्छ्यते स्वयं वा अंगुष्टदर्पणखड्गतोयादिषु दृश्यते स प्रश्नः।

५. वही, पत्र १८१, १८२ : स्वप्ने स्वयं विद्यया कथितं घण्टिकाद्यवतीर्णदेवतया वा कथितं सत् यदन्यस्मै शुभाशुभजीवितमरणादि परिकथयति स प्रश्नाप्रश्नः।

६. मूलाराधना, ३।१८१ :
णाणस्स केवलीणं, धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं।
माइय अवण्णवादी, खिब्भिसियं भावणं कुणइ।।

७. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४३ :
सुयनाण केवलीणं, धम्मायरियाण संघ साहूणं।
माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ।।

८. मूलाराधना, विजयोदया पृ० ३६६ :
माई अवण्णवादी इत्येताभ्यां प्रत्येकं संबन्धनीयम्।

९. वही, ३।१८३ :
अणुबंधरोसविग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी।
णिक्किविणणिरणुतावी, आसुरिअं भावणं कुणदि।।

१०. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४५ :
सइविग्गहसीलत्तं, संसत्ततवो निमित्तकहणं च।
निक्किवयावि य अवरा, पंचमगं पिरणुकंपत्तं।।

११. बृहद्वृत्ति, पत्र ७११ : अनुबद्धः—सन्ततः, कोर्थः ?—अव्यवच्छिन्नो रोषस्य क्रोधस्य प्रसरो—विस्तारोऽस्येति अनुबद्धरोषप्रसरः, सदा विरोधशीलतया पश्चादननुतापितया क्षमणादावपि प्रसत्यप्राप्त्या वेत्यभिप्रायः।

१२. मूलाराधना, विजयोदया पृ० ४०१ : रोषश्च विग्रहश्च रोषविग्रहौ अनुबंधेन रोषविग्रहौ अनुबंधरोषविग्रहाभ्यां संसक्तं संबद्धं अनुबंधरोषविग्रहसंसक्तं तपो यस्य स तथोक्तः।

१३. प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८२ : संसक्तस्य—आहारोपधिशय्यादिषु सदा प्रतिबद्धभावस्य आहाराद्यर्थमेव च तपः—अनशनादितपश्चरणं संसक्ततपः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**उत्तराध्ययन**

(१) शस्त्र-ग्रहण,
(२) विष-भक्षण,
(३) स्वयं को अग्नि में जलाना,
(४) जल में डूब मरना और
(५) मर्यादा से अतिरिक्त उपकरण रखना।

**मूलाराधना**

(१) उन्मार्ग-देशना,
(२) मार्ग-दूषण और
(३) मार्ग-विप्रतिपत्ति।[1]

**प्रवचनसारोद्धार**

(१) उन्मार्ग-देशना,
(२) मार्ग-दूषण,
(३) मार्ग-विप्रतिपत्ति,
(४) मोह और
(५) मोह-जनन।[2]

शस्त्र-ग्रहण—शस्त्र-ग्रहण आदि कार्यों से उन्मार्ग की प्राप्ति और मार्ग की हानि होती है। यह सम्मोहा भावना है।[3]

उन्मार्ग-देशना—मिथ्या दर्शन व अव्रत का उपदेश।

मार्ग-दूषण—मार्ग में दोष दिखलाना, जैसे—ज्ञान से ही मोक्ष होता है, दर्शन और चारित्र से क्या? चारित्र से मोक्ष होता है, ज्ञान से क्या?[4]

मार्ग-विप्रतिपत्ति—ज्ञान, दर्शन और चारित्र मोक्ष के मार्ग नहीं—ऐसा मानना या उन तीनों के प्रतिकूल आचरण करना।[5]

मोह—गूढ़तम तत्त्वों में मूढ़ हो जाना अथवा चारित्र-शून्य तीर्थिकों का ऐश्वर्य देखकर ललचा जाना।[6]

मोह-जनन—स्वभाव की विचित्रता या कपटवश दूसरे व्यक्तियों में मोह उत्पन्न करना।[7]

उत्तराध्ययन में इन पांच भावनाओं के प्रकार कुछ कम हैं, मूलाराधना में उनसे अधिक हैं और प्रवचनसारोद्धार में पूरे पच्चीस हैं अर्थात् प्रत्येक भावना के पांच-पांच प्रकार हैं।

पाद-टिप्पण में उद्धृत मूलाराधना की गाथाओं से यह बहुत स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ-काल में श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में अत्यधिक सामीप्य रहा है।

---

१. मूलाराधना ३।१८४ :
उम्मग्गदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य।
मोहेण य मोहिंतो, समोहं भावणं कुणइ।।

२. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४६ :
उम्मग्गदेसणा, मग्गदूसणं मग्गविप्पडिवत्ती य।
मोहो य मोहजणणं, एवं सा हवइ पंचविहा।।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ७११ : संक्लेशजनकत्वेन शस्त्रग्रहणादीनामनन्तभवहेतुत्वात्, अनेन चोन्मार्गप्रतिपत्त्या मार्गविप्रतिपत्तिराक्षिप्ता, तथा चार्थतो मोही भावनोक्ता।

४. मूलाराधना, विजयोदया, पृ० ४०२ : मार्गस्य दूषणं नाम ज्ञानादेव मोक्षः किं दर्शनाचारित्राभ्यां? चारित्रमेवोपयः किं ज्ञानेनेति कथयन्मार्गस्य दूषको भवति।

५. वही, पृ० ४०२ : मार्गे रत्नत्रयात्मके विप्रतिपन्नः एष न मुक्तेर्मार्ग इति यस्तद्विरुद्धाचरणः।

६. प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८३ : निकाममुपहतमतिः सन्नतिगहनेषु ज्ञानादिविचारेषु यन्मुह्यति यच्च परतीर्थिकसम्बन्धिनीं नानाविधां समृद्धिमालोक्य मुह्यति स संमोहः।

७. वही, पत्र १८३ : तथा स्वभावेन कपटेन वा दर्शनान्तरेषु परस्य मोहमुत्पादयति तन्मोहजननम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# पदानुक्रम


| पद | स्थल |
|---|---|
| **(अ)** | |
| अइगया बारगापुरिं | २२-२७ |
| अइतिक्खकंटगाइण्णे | १६-५२ |
| अइमायं पाणभेयणं | १६-१२ |
| अइयाओ नराहिवो | २०-५६ |
| अउलं सुहं संपत्ता | ३६-६६ |
| अउला मे अच्छिवेयणा | २०-१६ |
| अउला हवइ वेयणा | २-३५ |
| अउलो रूवविम्हओ | २०-५ |
| अंकुसेण जहा नागो | २२-४६ |
| अंके फलिहे य लोहियक्खे य | ३६-७५ |
| अंगपच्चंगसंठाणं | १६-४ |
| अंगविज्जं च जे पउंजंति | ८-१३ |
| अंगवियारं सरस्स विजयं | १५-७ |
| अंगुलं सत्तरत्तेणं | २६-१४ |
| अंगेण बाहिरेण व | २८-२१ |
| अंडं बलागप्पभवं जहा य | ३२-६ |
| अंतमुहुत्तम्मि गए | ३४-६० |
| अंतमहुत्तम्मि सेसए चेव | ३४-६० |
| अंतरं तेसिमं भवे | ३६-१८६,१६३,२०२ |
| अंतरद्दीवया तहा | ३६-१६६ |
| अंतराए य कम्मम्मि | ३३-२० |
| अंतरायं तहेव य | ३३-३ |
| अंतरेयं वियाहियं | ३६-१४,१३४,१४३,१५३ |
| अंतेउरवरगओ वरे भोए | ६-३ |
| अंतोमुहुत्तं जहन्नगं | ३६-१०२ |
| अंतोमुहुत्तं जहन्नयं | ३६-८१,८२,६०,१०३, १०४,११४,११५,१२३,१२४,१३३,१३४, १४२,१४३,१५२,१५३,१६८,१७७,१८६, १६३,२०२,२४६ |
| अंतोमुहुत्तं जहन्निया | ३३-१६,२१,२२; ३६-८०,८८,८६,११३,१२२,१३२,१४१, १५१,१७५,१७६,१८४,१८५,१६१,१६२, २००,२०१ |
| अंतोमुहुत्तमद्धं | ३४-४५ |
| अंतो लयणस्स सा ठिया | २२-३३ |
| अंतो सिद्धाण आहियं | ३३-१७ |
| अंतोहियसंभूया | २३-४५ |
| अंधयारे तमे घोरे | २३-७५ |
| अंधिया पोत्तिया चेव | ३६-१४६ |
| अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं | २०-२८ |
| अकडं नो कडेत्तिय | १-११ |
| अकम्मकम्मभूमा य | ३६-१६६ |
| अकलेवरसेणिमुस्सिया | १०-३५ |
| अकसाओ जिइंदिओ | ३०-३ |
| अकसायं अहक्खायं | २८-३३ |
| अकाममरणं चेव | ५-२ |
| अकाममरणं मरई | ५-१६ |
| अकाममरणाणि चेव य बहूणि | ३६-२६१ |
| अकामा जंति दोग्गइं | ६-५३ |
| अकारिणोत्थ बज्झंति | ६-३० |
| अकालं च विवज्जित्ता | १-३१ |
| अकालियं पावइ से विणासं | ३२-२४,३७, ५०,६३, ७६, ८६ |
| अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा | १४-४१ |
| अकिरियं परिवज्जए | १८-३३ |
| अकुक्कुओ तत्थहियासएज्जा | २१-१८ |
| अकुक्कुओ निसीएज्जा | २-२० |
| अकोहणे सच्चरए | ११-५ |
| अक्कोसवहं विइत्तु धीरे | १५-३ |
| अक्कोसा दुक्खसेज्जा य | १६-३१ |
| अक्कोसा य वहा य मे | १-३८ |
| अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं | २-२४ |
| अक्खाया मारणंतिया | ५-२ |
| अक्खाहि णे संजय ! जक्खपूइया ! | १२-४० |
| अक्खे भग्गंमि सोयई | ५-१४ |
| अक्खे भग्गे व सोयई | ५-१५ |
| अगणिं व पक्खंद पयंगसेणा | १२-२७ |
| अगारवो य निस्सल्लो | ३०-३ |
| अगारिं च वियाणिया | ७-२२ |
| अगारिसामाइयंगाइं | ५-२३ |
| अगुणिस्स नत्थि मोक्खो | २८-३० |
| अग्गिवण्णाइं णेगसो | १६-६६ |
| अग्गिहोत्तमुहा वेया | २५-१६ |
| अग्गी चिट्ठइ गोयमा | २३-५० |
| अग्गी य इइ के वुत्ता | २३-५२ |
| अग्गी वा महिओ जहा | २५-१६ |
| अग्गी विवव सव्वभक्खी भवित्ता | २०-४७ |
| अचक्किया केणइ दुप्पहंसया | ११-३१ |
| अचयंतो तहिं दिओ | २५-१३ |
| अचिंतणं चेव अकित्तणं च | ३२-१५ |
| अचिरकालकयंमि य | २४-१७ |
| अचिरेणेव कालेण | १४-५२ |
| अचेलगस्स लूहस्स | २-३४ |
| अचेलगो ये जो धम्मो | २३-१३-२६ |
| अच्चणं रयणं चेव | ३५-१८ |
| अच्चंतकालस्स समूलगस्स | ३२-१ |
| अच्चंतनियाणखमा | १८-५२ |
| अच्चंतपरमो आरी | २०-५ |
| अच्चि जाला तहेव य | ३६-१०६ |
| अच्चुयम्मि जहन्नेणं | ३६-२३३ |
| अच्चेइ कालो तूरंति राइओ | १३-३१ |
| अच्चेमु ते महाभाग ! | १२-३४ |
| अच्छणे उवसंपदा | २६-७ |
| अच्छंतं रुक्खमूलम्मि | १६-७८ |
| अच्छिले माहए अच्छि रोडए | ३६-१४८ |
| अच्छेरगमब्भुदए | ६-५१ |
| अजहन्नमणुक्कोसा | ३६-२४४ |
| अजाणगा जण्णवाई | २५-१८ |
| अजीवदेसमागासे | ३६-२ |
| अजीवाण य रूवीणं | ३६-१३ |
| अजीवाण य रूवीण | ३६-१४ |
| अजीवा दुविहा भवे | ३६-४ |
| अजीवा दुविहा विय | ३६-२४८ |
| अज्जवयाए णं भंते !.... | २६ सू० ४६ |
| अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं ! | १३-३२ |
| अज्जुणसुवण्णगमई | ३६-६० |
| अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो | १४-२८ |
| अज्जेवाहं न लब्भामि | २-३१ |
| अज्झत्थं सव्वओ सव्वं | ६-६ |
| अज्झत्थहेउं नियस्स बंधो | १४-१६ |
| अज्झप्पज्झाणजोगेहिं | १६-६३ |
| अज्झवसाणम्मि सोहणे | १६-७ |
| अज्झावयाणं पडिकूलभासी | १२-१६ |
| अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता | १२-१६ |
| अज्झावया वा सह खंडिएहिं | १२-१८ |
| अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता | ३०-३५; ३४-३१ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए १२-१५
अट्ठ कम्माइं वोच्छामि ३३-१
अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा १-८
अट्ठजोयणबाहल्ला ३६-५६
अट्ठ पवयणमायाओ २४-१
अट्ठमम्मि जहन्नेणं ३६-२४१
अट्ठ मुहुत्ता जहन्निया ३३-२३
अट्ठविहगोयरग्गं तु ३०-२५
अट्ठविहा वाणमंतरा ३६-२०७
अट्ठसहस्सलक्खणधरो २२-५
अट्ठहा ते पकित्तिया ३६-१६
अट्ठहा वणचारिणो ३६-२०५
अट्ठहिं बीयतियंमी २६-१६
अट्ठाए य अणट्ठाए ५-८
अट्ठारस सागराई ३६-२२६
अट्ठारस सागरोवमा ३६-२३०
अट्ठिअप्पा भविस्ससि २२-४४
अट्ठेव उ समासओ ३३-३
अणइक्कमणा य से होइ २६-३३
अणंतकालमुक्कोसं ३६-१४, ८२,९०
१०३, ११५, १२४, १३४, १४३,
१५३, १६८, १७७, २०२, २४६,
अणंताणि य दव्वाणि २८-८
अणगारं अकिंचणं २-१४; २५-२७
अणगारं तत्थ पासई १८-६
अणगारगुणेहिं च ३१-१८
अणगारसीहं परमाइ भत्तिए २०-५८
अणगारस्स अंतिए १८-१८,१६
अणगारस्स निक्खंतो २५-४२
अणगारस्स भिक्खुणो १-१; २-२८;
६-१६; ११-१
अणगारस्स सो निवो १८-८
अणगारे झाणमस्सिए १८-६
अणगारे तवोधणे १८-४
अणगारो मणाहओ १८-७
अणच्चावियं अवलियं २६-२५
अणट्ठाकित्ति पव्वए १८-४६
अणट्ठा ये ज सव्वत्था १८-३०
अणभिग्गहिओ य सेसेसु २८-२६
अणभिग्गहिय कुदिट्ठी २८-२६
अणवज्जेसणिज्जस्स १६-१७
अणसणमूणोयरिया ३०-८
अणाइकालप्पभवस्स एसो ३२-१११
अणागयं नेव य अत्थि किंचि १४-२८
अणाढियस्स देवस्स ११-१७
अणाणुबंधिं अमोसलिं चेव २६-२५
अणायारभंडसेवा ३६-२६७
अणावाए चेव होइ संलोए २४-१६
अणावायमसंलोए २४,१६,१७
अणाविले अत्तपसन्नलेसे १२-४६
अणासवा थूलवया कुसीला १-१३
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते ३२-१०६
अणाहत्तं जहाभूयं २०-५६
अणाहो मि महाराय ! २०-६
अणिएओ परिव्वए २-१६
अणिच्चे जीवलोगम्मि १८-११,१२
अणियाणे अकिंचणे ३५-१६
अणिस्सिओ इह लोए १६-६२
अणुकंपओ तस्स महामुणिस्स १२-८
अणुकंपगं सुहिं वावी २०-६
अणुक्कसाई अप्पिच्छे २-३६
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी १५-१६
अणुच्चे अकुए थिरे १-३०
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो ! १९-१०
अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं २१-२३
अणुत्तरं संजम पालइत्ता १३-३५
अणुत्तरं संजम पालियाणं २०-५२
अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ १३-३५
अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे ६-१७
अणुत्तरे नाणधरे जसंसी २१-२३
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे १३-३४
अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो १३-३४
अणुन्नए नावणाए महेसी २१-२०
अणुप्पेहाएणं भन्ते ! २९ सू० २३
अणुप्पेहा धम्मकहा ३०-३४
अणुबद्धरोसपसरो ३६-२६६
अणुबंधदुहावहा १९-११
अणुभागा हवंति उ ३३-२४
अणुभागे वियाणिया ३३-२५; ३४-६१
अणुभावे सुणेह मे ३४-१
अणुमाणित्ताण बहुविहं १९-८६
अणुरत्ता अणुव्वया २०-२८
अणुसट्ठिं सुणेह मे २०-१
अणुसासणं नाणगुणोववेयं २०-५१
अणुसासणमोवायं १-२८
अणुसासिओ न कुप्पेज्जा १-६
अणूणाइरित्तपडिलेहा २६-२८
अणेगछंदा इह माणवेहिं २१-१६
अणेग रूवा समणं चरंतं ४-११
अणेगवासानउया ७-१३
अणेगवासे धुवगोयरे य १९-८३
अणेगविहा एवमायओ ३६-११९
अणेगहा एवमायओ ३६-६९, ११०,
१३०,१३९,१४९,२१६
अणेगहा ते पकित्तिया ३६-६४,६६
अणेगहा ते वियाहिया ३६-१०९
अणेगाणं सहस्साणं २३-३५
अण्णवंसि महोहंसि ५-१; २३-७०
अतरिंसु तरंतेगे १८-५२
अतालिसे से कुणई पओसं ३२-२६,३९
५२,६५,७८,९१
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स ३२-२९,४२,५५
६९,८१,९६
अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं १२-११
अत्तट्ठे अवरज्झई ७-२५
अत्तट्ठे नावरज्झई ७-२६
अत्ताणं परियावसे ? १८-५३
अत्थं च धम्मं च वियाणमाण १२-३३
अत्थंतम्मि य सूरम्मि १७-१६
अत्थं पोत्थं व पत्थिवा ! २०-१६
अत्थधम्मगइं तच्चं २०-१
अत्थधम्मोवसोहियं १८-३४
अत्थि एगं धुवं ठाणं २३-८१
अत्थि एगो महादीवो २३-६६
अत्थि वा नत्थि वा पुणो ? ५-६
अत्थे य संकप्पयओ तओ से ३२-१०७
अत्थेहिं कामेहि य उत्तमेहिं १३-१०
अथिरव्वए तवनियमेहि भट्ठे २०-४१
अथिरासणे कुक्कुईए १७-१३
अदए पडिसेहिए नियंठे १५-११
अदंसणं चेव अपत्थणं च ३२-१५
अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ ३०-२
अदत्तस्स विवज्जणं १९-२७
अदिंतस्स वि किंचण ६-४०
अदिस्साणं च भूयाणं २३-२०
अदीणमणसो चरे २-३
अदीणे थावए पन्नं २-३२
अदुवा वंचिओ मि त्ति २-४४
अदुवावि भविस्सई २-४५
अदुवा सचेलए होक्खं २-१२
अदु वुक्कसं पुलागं वा ८-१२
अद्दाय सिरसा सिरं १८-५०
अद्दीणा जंति देवयं ७-२१
अद्धाए सुइरादवि ७-१८
अद्धाणं जो महंतं तु १९-१८,२०
अद्धाणंमि विलोवए ७-५
अद्धाणे कह वट्टंते २३-६०
अद्धासमए चेव ३६-६
अधुवे असासयंमि ८-१
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे २०-३६
अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ३६-२५८
अनियाणो अबंधणो १९-९१
अन्नं पत्थेसि आसमं ९-४२
अन्नं पभूयं भवयाणमेयं १२-१०


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्नं पाणं च ण्हाणं च २०-२६
अन्नं वावि तहाविहं २४-१५
अन्नदत्तहरे तेणे ७-५
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे १४-१४
अन्नमन्नमणूरत्ता १३-५
अन्नमन्नवसाणुगा १३-५
अन्नमन्नाहिएसिणो १३-५
अन्नमन्नेण जा विणा १३-७
अन्नयरवयत्थो वा ३०-२२
अन्नयरेणं व वत्थेणं ३०-२२
अन्नलिंगे दसेव य ३६-५२
अन्नस अट्ठा इहमागओ मि १२-६
अन्नाएसी अलोलुए २-३६
अन्नाणं च महामुणी ! १८-२३
अन्नाणं जस्स अवगयं होइ २८-२०
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ३२-२
अन्नायएसी परिव्वए जे स भिक्खू १५-१
अन्निओ रायसहस्सेहिं १८-४३
अन्नेण विसेसेणं ३०-२३
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे ३२-१०३
अन्ने सत्ता पमोयंति १४-४२
अन्नो वि संसओ मज्झं २३-२८,३४,३६, ४४,४६,५४,५६,६४,६६,७४,७६
अपज्जवसिया चेव ३६-८
अपज्जवसिया वि य ३६-१२,६५,७६,८७ १०१,११२,१२१,१३१,१४०,१५०, १५६,१७४,१८३,१६०,१६६,२१८
अपडिक्कमित्ता कालस्स २६-२२
अपत्थं अंबगं भोच्चा ७-११
अपरिकम्मा य आहिया ३०-१३
अपाहेओ पवज्जई १६-१८
अप्पं चाहिक्खिवई ११-११
अप्पं वा जइ वा बहुं २५-२४
अप्पकम्मे अवेयणे १६-२१
अप्पच्चक्खाय पावगं ६-८
अप्पडिपूयए थद्धे १७-५
अप्पडिबद्धयाए णं भंते ! २६ सू० ३१
अप्पडिरूवे अहाउयं ३-१६
अप्पडिहयबले जोहे ११-२१
अप्पणट्ठा परट्ठा वा १-२५
अप्पणा अणाहो संतो २०-१२
अप्पणा वि अणाहो सि २०-१२
अप्पणा सच्चमेसेज्जा ६-२
अप्पणो य परस्स य २०-३५
अप्पणो य परेसिं च १८-२६
अप्पणो वसहिं वए १४-४८
अप्पपाणेप्पबीयंमि १-३५
अप्पमज्जियमारुहइ १७-७
अप्पमत्तो पमत्तेहिं ६-१६
अप्पमत्तो परिव्वए ६-१२
अप्पपव्वइएण व संथुया हविज्जा १५-१०
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता ३४-६१
अप्पसत्थेहिं दारेहिं १६-६३
अप्पा कत्ता विकत्ता य २०-३७
अप्पा कामदुहा धेणू २०-३६
अप्पा चेव दमेयव्वो १-१५
अप्पाणं तारइस्सामि १६-२३
अप्पाणं पि न कोवए १-४०
अप्पाणं संलिहे मुणी ३६-२५०
अप्पाणं संवरे तहिं २२-३६
अप्पाणमेव अप्पाणं ६-३५
अप्पाणमेव जुज्झाहि ६-३५
अप्पाणरक्खी चरमप्पमत्तो ४-१०
अप्पा दंतो सुही होइ १-१५
अप्पा नई वेयरणी २०-३६
अप्पा मित्तममित्तं च २०-३७
अप्पा मे अवसीयई २७-१५
अप्पा मे कूडसामली २०-३६
अप्पा मे नंदणं वणं २०-३६
अप्पायंके महापन्ने ३-१८
अप्पा हु खलु दुद्दमो १-१५
अप्पाहेओ पवज्जई १६-१८
अप्पियं पि न विज्जए ६-१५
अप्पियस्सावि मित्तस्स ११-१२
अप्पिया देवकामाणं ३-१५
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई १-३०
अप्फोवमंडवम्मि १८-५
अफला जंति राइओ १४-२४
अबंभचारिणो बाला १२-५
अबले जह भारवाइए १०-३३
अबालं चेव पंडिए ७-३०
अबालं सेवए मुणि ७-३०
अबीया सत्थकुसला २०-२२
अबोहेंतो असंजए २६-४४
अब्भपडलऽब्भवालुय ३६-७४
अब्भाहयंमि लोगंमि १४-२१
अब्भितरं तवं एत्तो ३०-२६
अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं ३०-३२
अब्भुट्ठाणं गुरुपूया २६-७
अब्भुट्ठाणं नवमं २६-४
अब्भुट्ठियं रायरिसिं ६-६
अभओ पत्थिवा ! तुब्भं १८-११
अभयदाया भवाहि य १८-११
अभिओगं भावणं कुणई ३६-२६४
अभिक्खणं उल्लवई ११-२
अभिक्खणं कोही हवइ ११-७
अभिगमवित्थाररुई २८-१६
अभिग्गहा य जे अन्ने ३०-२५
अभिजाए जसोबले ३-१८
अभिणिक्खमई नमी राया ६-२
अभितुर पारं गमित्तए १०-३४
अभिभूय परीसहे २-१८
अभिवंदिऊण सिरसा २०-५६
अभिवंदित्ता सिरसा २३-८६
अभिवायणमब्भुट्ठाणं २-३८
अभू जिणा अत्थि जिणा २-४५
अभोगी नोवलिप्पई २५-३६
अभोगी विप्पमुच्चई २५-३६
अमला असंकिलिट्ठा ३६-२६०
अमहग्घए होइ य जाणएसु २०-४२
अमाई अकुऊहले ११-१०; ३४-२७
अमाणुसासु जोणीसु ३-६
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो १४-१६
अमोहणे होइ निरंतराए ३२-१०६
अमोहा रयणी वुत्ता १४-२३
अमोहाहिं पडंतीहिं १४-२१
अम्बिला महुरा तहा ३६-१८
अम्मताय ! मए भोगा १६-११
अम्मापिऊण दइए १६-२
अम्मापिऊहिं अणुन्नाओ १६-८४
अम्मापियरं उवागम्म १६-६
अयंतिए कूड कहावणे वा २०-४२
अयं दंतेहिं खायइ १२-२६
अयं साहसिओ भीमो २३-५५
अयंसि लोए अमयं व पूइए १७-२१
अयंसि लोए अमयं व पूइए १७-२१
अयंसि लोए विसमेव गरहिए १७-२०
अयकक्करभोई य ७-७
अयतंबतउयसीसग ३६-७३
अय व्व आगयाएसे ७-६
अयसीपुप्फसंकासा ३४-६
अरइं पिट्ठओ किच्चा २-१५
अरइरइसहे पहीणसंथवे २१-२१
अरई अणुव्विसे २-१४
अरई गंडं विसूइया १०-२७
अरए य तवो कम्मे १७-१५
अरण्णे मियपक्खिणं ? १६-७६
अरहा नायपुत्ते ६-१७
अरहा लोगपूइओ २३-१
अरिट्ठणेमिं वंदित्ता २२-२७
अरिहा आलोयणं सोउं ३६-२६२
अरूविणो जीवघणा ३६-६६
अरूवी दसहा भवे ३६-६
अरूवी दसहा वुत्ता ३६-४


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरो य अरयं पत्तो १८-४०
अलंकिओ वाणलंकिओ वा वि ३०-२२
अलसा माइवाहया ३६-१२८
अलाभो तं न तज्जए २-३१
अलोए पडिहया सिद्धा ३६-५६
अलोए से विहाहिए ३६-२
अलोलुयं मुहाजीवी २५-२७
अलोले न रसे गिद्धे ३५-१७
अल्लीणा सुसमाहिया २३-६
अवउज्झइ पायकंबलं १७-६
अवउज्झिऊण माहणरूवं ६-५५
अवउज्झिय मित्तबंधवं १०-३०
अवधियमंससोणियं २५-२१
अवसेसं भंडगं गिज्झा २६-३५
अवसो लोहरहे जुत्तो १६-५६
अवसोहिय कंटगापहं १०-३२
अवहेडिय पिट्ठिसउत्तमंगे १२-२६
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं १२-१६
अविज्जमाया अहीरिया य ३४-२३
अविणीए अबहुस्सुए ११-२
अविणीए त्ति वुच्चई १-३; ११-६
अविणीए वच्चई सो उ ११-६
अवि पावपरिक्खेवी ११-८
अवि मित्तेसु कुप्पई ११-८
अवि लाभो सुए सिया २-३१
अविवच्चासा तहेव य २६-२८
अविसारओ पवयणे २८-२६
अव्वक्खित्तेण चेयसा १८-५०; २०-१७
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे १५-३
असइं तु मणुस्सेहिं ६-३०
असइं दुक्खभयाणि य १६-४५
असंखकालमुक्कोसं ३६-१३,
८१,८६,१०४,११४,१२३
असंखभागं च उक्कोसा ३४,४१,४२,५३
असंखभागो पलियस्स ३६-१६२
असंखयं जीविय मा पमायए ४-१
असंखिज्जाणोसप्पिणीण ३४ ३३
असंखेज्जइमो भवे ३६-१६१
असंजए संजयमन्नमाणे १७-६
असंजए संजयलप्पमाणे २०-४३
असंजमे नियत्तिं च ३१-२
असंते कामे पत्थेसि ६-५३
असंविभागी अचियत्ते ११-६; १७-११
असंसत्तं गिहत्थेसु २५-२७
असंसत्तो गिहत्थेहिं २-१६
असणे अणसणे तहा १६-६२
असमाणो चरे भिक्खू २-१६
असमाहिं च वेएइ २७-३
असावज्जं मियं काले २४-१०
असारं अवउज्झइ १६-२२
असासए सरीरम्मि १६-१३
असासयं दट्टु इमं विहारं १४-७
असासयावासमिणं १६-१२
असिणेह सिणेहकरेहिं ८-२
असिधारागमणं चेव १६-३७
असिपत्तं महावणं १६-६०
असिपत्तेहिं पडंतेहिं १६-६०
असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते १५-१६
असीलाणं च जा गई ५-१२
असीहि अयसिवण्णाहिं १६-५५
असुइं असुइसंभवं १६-१२
असुभत्थेसु सव्वसो २४-२६
असुरा तहिं तं जणं तालयंति १२-२५
असुरा नागसुवण्णा ३६-२०६
अस्सकण्णी य बोद्धव्वा ३६-६६
अस्साया वेइया मए १६-४७
अस्सा हत्थी मणुस्सा मे २०-१३
आरिस लोए परत्थ य १-१५
अस्से य इइ के वुत्ते ? २३-५७
अह अट्ठहिं ठाणेहिं ११-४
अह अन्नया कयाई २१-८
अह आसगओ राया १८-६
अह ऊसिएण छत्तेण २२-११
अहं च भोयरायस्स २२-४३
अहं तु अग्गिं सेवामि २-७
अहं पि जाणामि जहेह साहू ! १३-२७
अह कालंमि संपत्ते ५-३२
अह केसरम्मि उज्जाणे १८-४
अह चउदसहिं ठाणेहिं ११-६
अह जाणासि तो भण २५-१२
अह जे संवुडे भिक्खू २-२५
अह तत्थ अइच्छंतं १६-५
अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं १४-८
अह तेणेव ,लेणं २३-५; २५-४
अह ते तत्थ सीसाणं २३-१४
अह दारए तहिं जाए २१-४
अह निक्खमई उ चित्ताहिं २२-२३
अह पंचहिं ठाणेहिं ११-३
अह पच्छा उइज्जंति २-४१
अह पत्तंमि आसरे ७-२
अह पन्नरसहिं ठाणेहिं ११-१०
अह पालियस्स घरणो २१-४
अह भवे पइन्ना उ २३-३३
अहमासी महापाणे १८-२८
अह मोणेण सो भगवं १८-६
अहम्मं कुणमाणस्स १४-२४
अहम्मं पडिवज्जिया ५-१५;७-२८
अहम्मे अत्तपन्नहा १७-१२
अहम्मे तस्स देसे य ३६-५
अहम्मो ठाणलक्खणो २८-६
अह राया तत्थ संभंतो १८-७
अहवा तइयाए पोरिसीए ३०-२१
अहवा सपरिकम्मा ३०-१३
अह संति सुव्वया साहू ८-६
अह सा भमरसन्निभे २२-३०
अह सारही तओ भणइ २२-१७
अह सारही विचिंतेइ २७-१५
अह सा रायवरकन्ना २२-७,४०
अह से तत्थ अणगारे २५-५
अह से सुगंधगंधिए २२-२४
अह सो तत्थ निज्जंतो २२-१४
अह सो वि रायपुत्तो २२-३६
अहस्सिरे सया दंते ११-४
अहाउयं पालइत्ता अन्तो० २६ सू० ७३
अहाह जणओ तीसे २२-८
अहिंस सच्चं च अतेणगं च २१-१२
अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे १४-६
अहिवेगंतदिट्ठीए १६-३८
अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे १०-१८
अहीणपंचिंदियया हु दुल्लहा १०-१७
अहुणोववन्नसंकासा ५-२७
अहे वयइ कोहेणं ६-५४
अहो ! अज्जस्स सोमया २०-६
अहो उट्ठिए अहोरायं १८-३१
अहो ! खंती अहो ! मुत्ती २०-६
अहो ! ते अज्जवं साहु ६-५७
अहो ! ते उत्तमा खंती ६-५७
अहो ! ते निज्जिओ कोहो ६-५६
अहो ! ते निरक्किया माया ६-५६
अहो ! ते माणो पराजियो ६-५६
अहो ! ते मुत्ति उत्तमा ६-५७
अहो ! ते लोभो वसीकओ ६-५६
अहो ! ते साहु मद्दवं ६-५७
अहोत्था विउलो दाहो २०-१६
अहो ! दुक्खो हु संसारो १६-१५
अहो ! भोगे असंगया २०-६
अहो य राओ परितप्पमाणे १४-१४
अहो ! वण्णो अहो ! रूवं २०-६
अहोसुभाण कम्माणं २१-६

(आ)

आइए निक्खिवेज्जा वा २४-१४
आइक्ख णे संजय ! जक्खपूइया ! १२-४५
आइच्चंमि समुट्ठिए २६-१


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आइण्णे कंथए सिया ११-१६
आइण्णे गणिभावम्मि २७-१
आउं कामा य दिव्विया ७-१२
आउं जाणे जहा तहा १८-२६
आउं सुहमणत्तरं ७-२७
आउकम्मं चउव्विहं ३३-१२
आकउम्मं तहेव य ३३-२
आउक्कायमइगओ १०-६
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ३२-१०६
आउट्टिई आऊणं ३६-८८
आउट्टिई खहयराणं ३६-१६१
आउट्टिई जलयराणं ३६-१७५
आउट्टिई तेऊणं ३६-११३
आउट्टिई थलयराणं ३६-१८४
आउट्टिई पुढवीणं ३६-८०
आउट्टिई मणुयाणं ३६-२००
आउट्टिई वाऊणं ३६-१२२
आउत्तया जस्स न अत्थि काइ २०-४०
आउयं नरए कंखे ७-७
आउरे सरणं तिगिच्छियं च १५-८
आउरे सुपिवासिए २-५
आऊजीवाण अन्तरं ३६-६०
आएसं पप्प साईए ३६-६
आएसं परिकंखए ७-२
आएसाए समीहिए ७-४
आगए कायवोस्सग्गे २६-४६
आगओ तत्थ वाणिओ ७-१५
आगम्मुक्कुडुओ संतो १-२२
आगासे अहो दाणं च घुट्ठं १२-३६
आगासे गंगसोउ व्व १६-३६
आगासेणुप्पइओ ६-६०
आगासे तस्स देसे य ३६-६
आधायाय समुस्सयं ५-३२
आणयम्मि जहन्नेणं ३६-२३०
आणया पणया तहा ३६-२११
आणाइस्सरियं च मे २०-१४
आणाए रोयंतो २८-२०
आणानिद्देसकरे १-२
आणानिद्देसकरे १-३
आणारुई सुत्तबीयरुइमेव २८-१६
आणुपुव्वि जहक्कमं ३१-१;३४-१
आणुपुव्वि सुणेह मे १-१; २-१; ११-१
आणुपुव्वी कयाइ उ ३-७
आपुच्छणा य तइया २६-२
आपुच्छणा सयंकरणे २६-५
आपुच्छऽम्मापियरो २१-१०
आपुच्छित्ताण बंधवे २०-३४
आभरणाणि य सव्वाणि २२-२०
आभरणेहिं विभूसिओ २२-६
आमंतयामो चरिस्सामु मोणं १४-७
आमिसं सव्वमुज्झित्ता १४-४६
आमोयमाणा गच्छंति १५-४४
आमोसे लोमहारे य ६-२८
आयंका विविहा फुसंति ते १०-२७
आयंका विविहा फुसंति देहं २१-१८
आयंके उवसग्गे २६-३४
आययंति मणुस्सयं ३-७
आयरिएहिं वाहिंतो १-२०
आयरियं कुवियं नच्चा १-४१
आयरियं विदित्ताणं ६-८
आयरियउवज्झाएहिं १७-४
आयरियउवज्झायाणं १७-५
आयरियपरिच्चाई १७-१७
आयरियमाइयम्मि य ३०-३३
आयरियाणं तं वयणं २७-११
आयवस्स निवाएणं २-३५
आयाणं नरयं दिस्स ६-७
आयाणनिक्खेवदुगुंछणाए २०-४०
आयाणहेउं अभिणिक्खमाहि १३-२०
आयामगं चेव जवोदणं च १५-१३
आया ममं पुण्णफलोववेए १३-१०
आयारं पाउकरिस्सामि ११-१
आयारधम्मपणिही २३-११
आरंभम्मि तहेव य २४-२५
आरंभाओ अविराओ ३४-२४
आरंभेय तहेव य २४-११,२३
आरण्णम्मि जहन्नेणं ३६-२३२
आरणा अच्चुया चेव ३६-२११
आरण्णगा होह मुणी पसत्था १४-६
आरभडा सम्मद्दा २६-२६
आरसन्तो सुभेरवं १६-५३,६८
आराहए दुहओ लोगमिणं १७-२१
आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं १२-१२
आरियं धम्मऽणुत्तरं २-३७
आरियत्तं पुणरावि दुल्लहं १०-१६
आरूढो सोहए अहियं २२-१०
आलओ थीजणाइण्णो १६-११
आलंबणेण कालेण २४-४
आलयं तु निसेवए १६-१
आलवंते लवंते वा १-२१
आलुए मूलए चेव ३६-६६
आलोएइ नगरस्स १६-४
आलोएज्ज जहक्कमं २६-४०,४८
आलोयणाए णं भंते ! ... २६ सू० ६
आलोयणारिहाईयं ३०-३१
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ३१-२६
आवई वहमूलिया ७-१७
आवज्जई इंदियचोरवस्से ३२-१०४
आवज्जई एवमणेगरूवे ३२-१०३
आवन्ना दीहमद्धाणं ६-१२
आवरणिज्जाण दुण्हं पि ३३-२०
आवाए चेय संलोए २४-१६
आवायमसंलोए २४-१६
आवासाइं जसंसिणो ५-२६
आवी वा जइ वा रहस्से १-१७
आसं विसज्जइत्ताणं १८-८
आसणं सयणं जाणं ७-८
आसणगओ न पुच्छेज्जा १-२२
आसणम्मि अणाउत्ते १७-१३
आसणे उवचिट्ठेज्जा १-३०
आसमपए विहारे ३०-१७
आसाढ बहुलपक्खे २६-१५
आसाढे मासे दुपया २६-१३
आसि अम्मे महिड्ढिया १३-७
आसि भिक्खू जिइंदिओ १२-१
आसिमो भायरा दो वि १३-५
आसि राया महिड्ढिए २२-१,३
आसि विप्पो महायसो २५-१
आसि सीसे महायसे २३-२,६
आसी तत्थ समागमो २३-२०
आसी मिहिलाए पव्वयंतंमि ६-५
आसीविसो उग्गतवो महेसी १२-२७
आसुरियं दिसं बाला ७-१०
आसुरियं भावणं कुणइ ३६-२६६
आसे जवेण पवरे ११-१६
आसे जहा सिक्खिय वम्मधारी ४-८
आसेवणं जहाथामं ३०-३३
आहच्च चंडालियं कट्टु १-११
आहच्च सवणं लद्धुं ३-६
आहरित्तु पणामए ? १६-७६
आहाकम्मेहिं गच्छई ३-३
आहाकम्मेहिं गच्छंतो ५-१३
आहारं उवहिं देहं २४-१५
आहारच्छेओ य दोसु वि ३०-१३
आहारपच्चक्खाणेणं भंते ! २६ सू० ३६
आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं ३२-४
आहारेइ अभिक्खणं १७-१५,१६
आहारेण तवं चरे ३६-२५५
आहारोवहिसेज्जाए २४-११

इ

इइ इत्तरियम्मि आउए १०-३
इइ एएसु ठाणेसु ३१-२१
इइ एस धम्मे अक्खाए ८-२०


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इइ एसा वियाहिया ३६-१६७
इइ कप्पोवगा सुरा ३६-२११
इइ चउरिंदिया एए ३६-१४६
इइ जीवमजीवे य ३६-२४६
इइ जीवा वियाहिया ३६-२४८
इइ दुप्पूरए इमे आया ८-१६
इइ नेरइया एए ३६-१५७
इइ पाउकरे बुद्धे १८-२४; ३६-२६८
इइ फासपरिणया एए ३६-२०
इइ बाले पगब्भई ५-७
इइ बेइंदिया एए ३६-१३०
इइ भिक्खू न चिंतए २-७,१२,२६,४४,४५
इइ विज्जा तवं चरे ६-४६;१८-३१
इइ विज्जामणुसंचरे १८-३०
इइ वेमाणिया देवा ३६-२१६
इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं २०-४७
इंगाले मुम्मुरे अगणी ३६-१०६
इंगियागारसंपन्ने १-२
इंदगोवगमाईया ३६-१३६
इंदासणिसमा घोरा २०-२१
इंदियग्गामनिग्गाही २५-२
इंदियत्थे विवज्जित्ता २४-८
इंदियाण य जुंजणे २४-२४
इंदियाणि उ भिक्खुस्स ३५-५
इक्किक्कभवग्गहणे १०-१४
इक्खागरायवसभो १८-३६
इच्चेए तसा तिविहा ३६-१०७
इच्चेए थावरा तिविहा ३६-६६;१०६
इच्छंतो हियमप्पणो १-६
इच्छं निओइउं भंते ! २६-६
इच्छा उ आगाससमा अणंतिया ६-४८
इच्छाकामं च लोभं च ३५-३
इच्छाकारो य छट्ठओ २६-३
इच्छाकारो य सारणे २६-६
इच्छामि अणुसासिउं २०-५६
इच्छामो नाउं भवओ सगासे १२-४५
इच्छियमणोरहे तुरियं २२-२५
इट्ठा रामकेसवा २२-२
इड्ढिं वित्तं च मित्ते य १६-५७
इड्ढीगारविए एगे २७-६
इड्ढी जुई जसो वण्णो ७-२७
इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया १३-११
इड्ढी वावि तवस्सिणो २-४४
इड्ढीसक्कारसम्माणं ३५-१८
इणमुदाहु कयंजली २०-५४; २५-३५
इत्तिरिया मरणकाले ३०-६
इत्तिरिया सावकंखा ३०-६
इत्तो उ तसे तिविहे ३६-१०६
इत्तो कालविभागं तु ३६-११,७८,१११, १२०,१८६,२१७
इत्तो जीवविभत्तिं ३६-४७
इत्थीविसयगिद्धे य ७-६
इत्थीहिं अणभिद्दुए ३५-७
इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं ३२-१५
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता ३२-१४
इत्थीपसुविवज्जिए ३०-२८
इत्थी पुरिससिद्धा य ३६-४६
इत्थी वा पुरिसो वा ३०-२२
इत्थी विप्पजहे अणगारे ८-१६
इमं एयारिसं फलं १३-२६
इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं १३-१३
इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि १४-१५
इमं च मे पभूयमन्नं १२-३५
इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं १४-१५
इमं देहं समुद्धरे ६-१३
इमं पट्ठमुदाहरे ५-१
इमंमि लोए अदुवा परत्था ४-५
इमं वक्कं उदाहरे २२-३६
इमं वयं वेयविओ वयंति १४-८
इमं वयणमब्बवी ६-६; १२-५; १३-४; १६-६; २५-१०
इमं सरीरं अणिच्चं १६-१२
इमाइं वयणाइमुदाहरित्था १२-८
इमा नो छट्ठिया जाई १३-७
इमा वा सा व केरिसी ? २३-११
इमाहि महुराहिं वग्गूहिं ६-५५
इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा ! २०-३८
इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं १६ सू० ३
इमे ते खलु बावीसं परीसहा० २ सू० ३
इमेण कमजोगेण ३६-२५०
इमे य बद्धा फंदंति १४-४५
इमे वि से नत्थि परे वि लोए २०-४६
इमे संगे वियाणिज्जा ३५-२
इमो धम्मो व केरिसो ? २३-११
इय गेविज्जगा सुरा ३६-१२५
इय जे मरंति जीवा ३६-२५७,२५८,२५६
इयरो वि गुणसमिद्धो २०-६०
इरिएसणभासाए १२-२
इरियट्ठाए य संजमट्ठाए २६-३२
इरियाए भासाए तहेसणाए २०-४०
इरियाभासेसणादाणे २४-२
इसिं पसाएइ सभारियाओ १२-३०
इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता २०-४३
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए १२-२४
इसीहि चिण्णाइ महायसेहिं २१-२२
इस्सरियं केवलं हिच्चा १८-३५
इस्साअमरिसअतवो ३४-२३
इहं तु कम्माइं पुरेकडाइं १३-१६
इहं वोंदिं चइत्ताणं ३६-५६
इहं सि उत्तमो भंते ! ६-५८
इह कामगुणेहि मुच्छिया १०-२०
इह कामणियट्ठस्स ७-२६
इह कामाणियट्ठस्स ७-२५
इह जीविए राय ! असासणम्मि १३-२१
इह जीवियं अणवकंखमाणो १२-४२
इह जीवियं अणियमेत्ता ८-१४
इहज्जयंते समणो म्हि जाओ १३-१२
इहमेगे उ मन्नंति ६-८
इह लोए निप्पिवासस्स १६-४४
इहागच्छऊ कुमारो २२-८
इहेव पोसहरओ ६-४२
ईसाणम्मि जहन्नेणं ३६-२२३
ईसीपब्भारनामा उ ३६-५७
ईहई नरयाउयं ७-४

## उ

उक्कत्तो य अणेगसो १६-६२
उक्कलियामंडलिया ३६-११८
उक्कलुद्दहिया तहा ३६-१३७
उक्का विज्जू य बोद्धव्वा ३६-११०
उक्कुद्दइ उप्फिडई २७-५
उक्कोसं जीवो उ संवसे १०-५ से १४
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ३४-४६,५० ५४,५५
उक्कोसा सागरा उ दुण्हऽहिया ३४-५२
उक्कोसा होइ किण्हाए ३४-४८
उक्कोसा होइ ठिई ३४-३४ से ३६
उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ ३४-४६
उक्कोसिया ठिई होइ ३३-१६
उक्कोसेण उ साहिओ ३६-१६२
उक्कोसेण ठिई भवे ३६-२१६,२२०,२२४ से २४३
उक्कोसेण तु साहिया ३६-१८५
उक्कोसेण वियाहिया ३३-२२;३६-११३, १३२,१४१,१५१,१६० से १६६,१७५ १७६,१८४,२००,२०१,२२२,२२३
उक्कोसेण सइं भवे ५-३
उक्कोसोगाहणाए य ३६-५०,५३
उग्गओ खीणसंसारो २३-७८
उग्गमो विमलो भाणू २३-७६
उग्गं तव चरित्ताणं २२-४८
उग्गं महव्वयं बंभं १६-२८
उग्गमुप्पायणं पढमे २४-१२


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उग्गा जहा धरिज्जंति ३०-२७
उच्चं अट्ठविहं होइ ३३-१४
उच्चं नीयं च आहियं ३३-१४
उच्चागोए य वण्णवं ३-१८
उच्चारं पासवणं २४-१५
उच्चारसमिईसु य १२-२
उच्चाराईणि वोसिरे २४-१८
उच्चारे समिई इय २४-२
उच्चावयाइं मुणिणो चरंति १२-१५
उच्चावयाहिं सेज्जाहिं २-२२
उच्चोयए महु कक्के य बंभे १३-१३
उज्जहित्ता पलाय २७-७
उज्जाणं नंदणोवमं २०-३
उज्जाणंमि मणोरमे २५-३
उज्जाणं संपत्तो २२-२३
उट्ठित्ता अन्नमासणं २-२१
उड्ढं अहे य तिरियं च ३६-५०
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति ३-१५
उड्ढं थिरं अतुरियं २६-२४
उड्ढं पक्कमई दिसं ३-१३; १९-८२
उड्ढपाओ अहोसिरो १९-४६
उड्ढं बद्धो अबंधवो १९-५१
उड्ढमुहे निग्गयजीहनेत्ते १२-२६
उण्हाभितत्तो संपत्तो १९-६०
उण्हाहितत्ते मेहावी २-६
उत्तमंगं च पीडई २०-२१
उत्तमं मणहारिणो २५-१७
उत्तमट्ठगवेसए ११-३२
उत्तमट्ठगवेसओ २५-६
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा १०-१८
उत्तराइं विमोहाइं ५-२६
उत्तराओ य आहिया ३३-१६
उत्ताणगछत्तगसंठिया य ३६-६०
उत्तिट्ठंते दिवायरे ११-२४
उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा ? १२-३८
उदए व्व तेल्लबिंदू २८-२२
उदग्गचारित्ततवो महेसी १३-३५
उदग्गे दुप्पहंसए ११-२०
उदही अक्खओदए ११-३०
उदही सरिनामाणं ३३-१९,२१,२३
उदिण्णबलवाहणे १८-१
उद्दायणो पव्वइओ १८-४७
उद्देसियं कीयगडं नियागं २०-४७
उद्देसेसु दसाइणं ३१-१७
उद्धत्तुकामेण समूलजालं ३२-६
उद्धरित्ता समूलियं २३-४६
उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा १२-१६
उप्पज्जई भोत्तुं तहेव पाउं १७-२
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ३२-२८,४१,५४, ६७,८०,९३
उप्फालगदुट्ठवाई य ३४-२६
उभओ अरिसया भवे २८-६
उभओ केसिगोयमा २३-१४
उभओ नंदिघोसेणं ११-१७
उभओ निसण्णा सोहंति २३-१८
उभओ वि तत्थ विहरिंसु २३-६
उभओ सीससंघाणं २३-१०
उभयस्संतरेण वा १-२५
उम्मत्तो व्व महिं चरे ? १८-५१
उरं मे परिसिंचई २०-२८
उरगो सुवण्णपासेव १४-४७
उराला य तसा तहा ३६-१०७
उल्लंघणपल्लंघणे २४-२४
उल्लघणे य चंडे य १७-८
उल्लियो फालिओ गहिओ १९-६४
उल्लो सुक्को य दो छूढा २५-४०
उवइट्ठे जो परेण सद्दहई २८-१६
उवउत्ते इरियं रिए २४-८
उवउत्ते य भावओ २४-७
उवएसरुइ त्ति नायव्वो २८-१६
उवक्खडं भोयण माहणाणं १२-११
उवचिट्ठे गुरुं सया १-२०
उविहओ सि सामण्णे २०-८
उवट्ठिया मे आयरिया २०-२२
उवणिज्जई जीवियमप्पमायं १३-२६
उवभोगे वीरिए तहा ३३-१५
उवमा जस्स नत्थि उ ३६-६६
उवरिमाउवरिमा चेव ३६-२१५
उवरिमामज्झिमा तहा ३६-२१४
उवरिमाहेट्ठिमा चेव ३६-२१४
उवलेवो होइ भोगेसु २५-३९
उवले सिला य लोणूसे ३६-७३
उववज्जंति आसुरे काए ८-१४
उववन्नो पउमगुम्माओ १३-१
उववन्नो माणुसंमि लोगंमि ६-१
उववूह थिरीकरणे २८-३१
उवसंतमोहणिज्जो ६-१
उवसंते अविहेडए स भिक्खू १५-१५
उवसंते जिइंदिए ३४-३०,३२
उवसंते मुणी चरे १२-५
उवसग्गाभिधारए २-२१
उवहसंति अणारिया १२-४
उवहिपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे··· २९ सू० ३५
उवासगाणं पडिमासु ३१-११
उविच्च भोगा पुरिसं चयंति १३-३१
उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं २०-५२
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ३२-३३,४६,५६ ७२,८५,९८
उवेंति माणुसं जोणिं ३-१६;७-२०
उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा २१-१५
उवेहे न हणे पाणे २-११
उसिणपरियावेणं २-८
उस्सिचणाए तवणाए ३०-५
उसुयारि त्ति मे सुयं १४-४८
उस्सप्पिणीण जे समया ३४-३३
उस्सूलगसयग्घीओ ९-१८
उस्सेहो जस्स जो होइ ३६-६४
ऊणाइ घासमेसंतो ३०-२१
ऊणे वाससयाउए ७-१३
ऊससियरोमकूवो २०-५९

ए

एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो ४-१३
एए कंदंति भो ! खगा ९-१०
एए खरपुढवीए ३६-७७
एए चेव उ भावे २८-१६
एएण कारणेणं ३६-२६२
एएण दुक्खोहपरंपरेण ३२-३४,४७,६०,७३ ८६,९९
एए तिन्नि विसोहए २४-११
एए नरिंदवसभा १८-४६
एए परीसहा सव्वे २-४६
एए पउकरे बुद्धे २५-३२
एए भद्दा उ पाणिणो २२-१७
एए य संगे समइक्कमित्ता ३२-१८
एए विसेसमादाय १८-५१
एए सव्वे सुहेसिणो २२-१६
एएसिं तु विवच्चासे ३०-४
एएसिं वण्णओ चेव ३६-८३,९१,१०५,११६, १२५,१३५,१४४,१५४,१६९,१७८, १८७,१९४,२०३,२४७
एएसिं संवरे चेव ३३-२५
एएहिं चउहिं ठाणेहिं १८-२३
एएहि ओमचरओ ३०-२४
एएहि कारणेहिं ३६-२६६
एओवमा कामगुणा विवागे ३२-२०
एक्कारस अंगाइं २८-२३
एक्केक्का णेगहा भवे ३६-१८१
एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो ३२-५
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं १३-२३
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं १४-४०
एग एव चरे लाढे २-१८


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एगओ य पवत्तणं ३१-२
एगओ विरई कुज्जा ३१-२
एगओ संवसित्ताणं १४-२६
एगं च अणुसासम्मी २७-१०
एगं च पलिओवमं ३६-२२२
एगं जिणेज्ज अप्पाणं ६-३४
एगं डसइ पुच्छंमि २७-४
एगंतमणावाए २०-२८
एगंतमणुपस्सओ ६-१६
एगंतमहिट्ठिओ भयवं ६-४
एगंतरत्ते रुइरंसि गंधे ३२-५२
एगंतरत्ते रुइरंसि फासे ३२-७८
एगंतरत्ते रुइरंसि भावे ३२-६१
एगंतरत्ते रुइरंसि रूवे ३२-२६
एगंतरत्ते रुइरंसि सद्दे ३२-३६
एगंतरत्ते रुइरे रसम्मि ३२-६५
एगंतरमायामं ३६-२५३
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ३२-२
एगं तु सागरोवमं ३६-१६१
एगं ते संजयं तयं २२-३५
एगं विंधइभिक्खणं २७-४
एगं समयं जहन्नियं ३६-१४
एगं समयं जहन्निया ३६-१३
एगकज्जपवन्नाणं २३-१३,२४,३०
एगखुरा दुखुरा चेव ३६-१८०
एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भंते ! २९ सू० २६
एगच्छत्तं पसाहित्ता १८-४२
एगत्तं च पुहत्तं च २८-१३
एगत्तेण पुहत्तेण ३६-११
एगत्तेण साईया ३६-६५
एगदव्वस्सिया गुणा २८-६
एगप्पा अजिए सत्तू २३-३८
एगभूओ अरण्णे वा १९-७७
एगयाचेलए होइ २-१३
एगया आसुरं कायं ३-३
एगया खत्तिओ होइ ३-४
एगया देवलोएसु ३-३
एगरायं न हावए ५-२३
एगविहमणाणत्ता ३६-७७,८६,१००,११०, ११६
एगवीसाए सबलेसु ३१-१५
एगासीसा अणेगरूवधुणा २६-२७
एगा य पुव्वकोडीओ ४६-१७५
एगूणपण्णहोरत्ता ३६-१४१
एगे ओमाणभीरुए थद्धे २७-१०
एगे कूडाय गच्छई ५-५
एगे जिए जिया पंच २३-३६
एगेण अणेगाइं २८-२२
एगे तिण्णे दुरुत्तरं ५-१
एगेत्थ रसगारवे २७-६
एगे सुचिरकोहणे २७-६
एगो उप्पहपट्ठिओ २७-४
एगो एगित्थिए सद्धिं १-२६
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा १-३३
एगोत्थ लहई लाहं ७-१४
एगो पडइ पासेणं २७-५
एगो भंजइ समिलं २७-४
एगो मूलं पि हारित्ता ७-१५
एगो मूलेण आगओ ७-१४
एत्तो अणन्तगुणं तहिं १९-४८
एत्तो अणंतगुणिया १९-७३
एत्तो कालविभागं तु ३६-१५८,१७३,१८२
एत्तोणंतगुणे तहिं १९-४७
एत्तो पम्हाए परएणं ३४-१४
एत्तो य तओ गुत्तीओ २४-१९
एत्तो वि अणंतगुणो ३४-१० से १३, १५ से १९
एत्तो सकाममरणं ५-१७
एमेव असायस्स वि ३३-७
एमेव असुहस्स वि ३३-१३
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे ३२-१३
एमेव गंधम्मि गओ पओसं ३२-५९
एमेव जाया पयहंति भोए १४-३४
एमेव जाया ! सरीरंसि सत्ता १४-१८
एमेव नन्नह त्ति य २८-१८
एमेव फासम्मि गओ पओसं ३२-८५
एमेव भावम्मि गओ पओसं ३२-९८
एमेव मोहायतणं खु तण्हं ३२-६
एमेव रसम्मि गओ पओसं ३२-७२
एमेव रूवम्मि गओ पओसं ३२-३३
एमेव सद्दम्मि गओ पओसं ३२-४६
एमेवहाछंदकुसीलरूवे २०-५०
एयं अकाममरणं ५-१७
एयं चयरित्तकरं २८-३३
एयं जीवस्स लक्खणं २८-११
एयं डज्झइ मंदिरं ९-१२
एयं तवं तु दुविहं ३०-३७
एयं दंडेण फलेण हंता १२-१८
एयं धम्महियं नच्चा २-१३
एयं पंचविहं नाणं २८-५
एयं पत्थं महारायं ! १४-४८
एयं परिन्नाय चरंति दंता १२-४१
एयं पुण्णपयं सोच्चा १८-३४
एयं मग्गमणुपत्ता २८-३
एयं मे संसयं सव्वं २५-१५
एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं १२-४७
एयजोगसमाउत्तो ३४-२२,२४,२६, २८,३०,३२
एयमट्ठं निसामित्ता ९-८,११,१३,१७,१९, २३,२५,२७,२९,३१,३३,३७,३९,४१, ४३,४५,५०,५२
एयमट्ठं सपेहाए ६-४
एयमट्ठं सुणेमि ता २०-८
एयाइं अट्ठ ठाणाइं २४-१०
एयाइं तीसे वयणाइ सोच्चा १२-२४
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं १२-१२
एयाओ अट्ठ समिईओ २४-३
एयाओ तिन्नि पयडीओ ३३-९
एयाओ दुग्गईओ ३६-२५६
एयाओ पंच समिईओ २४-१९,२६
एयाओ मूलपयडीओ ३३-१६
एयाणि वि न तायंति ५-२१
एया पवयणमाया २४-२७
एयारिसीए इड्ढीए २२-१३
एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे १७-२०
एयाहि तिहि वि जीवो ३४-५६
एरिसे संपयग्गम्मि २०-१५
एवं अणिस्सरो तं पि २२-४५
एवं अदत्ताणि समाययंतो ३२-३१,४४,५७, ७०,८३,९६
एवं अभित्थुणंतो ९-५९
एवं अलित्तो कामेहिं २५-२६
एवं आयरिएहिं अक्खायं ८-१३
एवं करंति संबुद्धा १९-९६
एवं करेंति संबुद्धा ९-६२; २२-४६
एवं कालेण ऊ भवे ३०-२१
एवं खु तस्स सामण्णं २-३३
एवं खेत्तेण ऊ भवे ३०-१८
एवं गुणसमाउत्ता २५-३३
एवं च चिंतइत्ताणं २०-३३
एवं चरमाणो खलु ३०-२०,२३
एवं जियं सपेहाए ७-१९
एवं तत्थऽहियासए २-२३
एवं तत्थ विचिंतए २६-५०
एयं तवं तु दुविहं ३०-३७
एवं ताय ! वियाणाह १४-२३
एवं तु नवविगप्पं ३३-६
एवं तु संजयस्सावि ३०-६
एवं तु संसए छिन्ने २३-८६; २५-३४
एवं ते इड्ढिमंतस्स २०-१०
एवं ते कमसो बुद्धा १४-५१
एवं ते रामकेसवा २२-२७
एवं थुणित्ताण स रायसीहो २०-५८


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं दव्वेण ऊ भवे ३०-१५
एवं दुपंचसंजुत्ता २६-७
एवं दुस्सीलपडिणीए १-४
एवं धम्मं अकाऊणं १६-१६
एवं धम्मं चरिस्सामि १६-७७
एवं धम्मं पि काऊणं १६-२१
एवं धम्मं विउक्कम्म ५-१५
एवं धम्मं वियाणह ७-१५
एवं नच्चा न सेवंति २-३५
एवं नाणेण चरणेण १६-६४
एवं नीयं पि आहियं ३३-१४
एवं पया पेच्च इहं च लोए ४-३
एवं पि विहरओ मे २-४३
एवं पुत्ता ! जहासुहं १६-८४
एवं पेहेज्ज संजए २-२७
एवं बाले अहम्मिट्ठे ७-४
एवं भवसंसारे १०-१५
एवं भुत्ताण भोगाणं १६-१७
एवं मणुयाण जीवियं १०-१,२
एवं माणुस्सगा कामा ७-१२,२३
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे १६-८३
एवं मे अच्छिवेयणा २०-२०
एवं लग्गंति दुम्मेहा २५-४१
एवं लोए पलित्तम्मि १६-२३
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा १३-३०
एवं विणयजुत्तस्स १-२३
एवं वियाणहि जणे पमत्ते ४-१
एवं वियारे अमियप्पयारे ३२-१०४
एवंविहे कामगुणेसु सत्तो ३२-१०३
एवं वुत्तो नरिंदो सो २०-१३
एवं समुट्ठिओ भिक्खू १६-८२
एवं ससंकप्पविकप्पणासुं ३२-१०७
एवं सिक्खासमावन्ने ५-२४
एवं सीलं चइत्ताणं १-५
एवं से विजयघोसे २५-४२
एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी ६-१७
एवं सो अम्मापियरो १६-८६
एवं हवइ बहुस्सुए ११-१६ से ३०
एवमद्दीणवं भिक्खुं ७-२२
एवमब्भंतरो तवो २८-३४; ३०-७
एवमस्सामि अप्पाणं २-४१
एवमादाय मेहावी २-१७
एवमावट्टजोणीसु ३-५
एवमेए दुहा पुणो ३६-७०,८४,९२
१०८,११७
एवमेयं जहाफुडं १६-४४,७६
एवमेयाइ कम्माइं ३३-३
एवमेव अणेगओ १६-८२
एवमेव वयं मूढा १४-४३
एवमेव वियाहिए ३६-६
एवारिएहिं अक्खायं ८-८
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो ३२-११
एविंदियत्था य मणस्स अत्था ३२-१००
एवुग्गदंते वि महातवोधणे २०-५३
एस अग्गी य वाऊ य ६-१२
एसणासमिओ लज्जू ६-१६
एस धम्मे धुवे निअए १६-१७
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो २८-२
एस मग्गे हि उत्तमे २३-६३
एस लोए वियाहिए ३६-२
एस लोगो त्ति पन्नत्तो २८-७
एस से परमो जओ ६-३४
एसा अजीवविभत्ती ३६-४७
एसा खलु लेसाणं ३४-४०
एसा तिरियनराणं ३४-४७
एसा दसंगा साहूणं २६-४
एसा नेरइयाणं ३४-४४
एसा मज्झ अणाहया २०-२३ से २७,३०
एसा सामायारी २६-५२
एसे व धम्मो विसओववन्नो २०-४४
एसो अब्भिंतरो तवो ३०-३०
एसो बाहिरगतवो ३०-२६
एसोवमा सासयवाइयाणं ४-६
एसो हु सो उग्गतवो महप्पा १२-२२
एहा य ते कयरा संति ? भिक्खू ! १२-४३
एहि ता भुंजिमो भोए २२-३८

(ओ)

ओइण्णो उत्तमाओ सीयाओ २२-२३
ओइण्णो पावकम्मुणा १६-५५
ओइण्णो सि पहं महालयं १०-३२
ओभासई सूरिए वंतलिक्खे २१-२३
ओमचेलए पंसुपिसायभूए १२-६
ओमचेलगा पंसुपिसायभूया १२-७
ओमासणाणं दमिइंदियाणं ३२-१२
ओमोयरियं पंचहा ३०-१४
ओयणं जवसं देज्जा ७-१
ओराला तसा जे उ ३६-१२६
ओरुज्झमाणा परिरक्खियंता १४-२०
ओहिजलिया जलकारी य ३६-१४८
ओहिनाणं तइयं ३३-४
ओहिनाणसुए बुद्धे २३-३
ओहिनाणं तइयं २८-४
ओहेण ठिई उ वण्णिया होइ ३४-४०
ओहोवहोवग्गहियं २४-१३

(क)

कओ विज्जाणुसासणं ? ६-१०
कंखे गुणे जाव सरीरभेओ ४-१३
कंचि नाभिसमेमऽहं २०-६
कंठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ? १२-१८
कंतारं अइवत्तई २७-२
कंदंतो कंदुकुम्भीसु १६-४६
कंदप्पं भावणं कुणइ ३६-२६३
कंदप्पकोक्कुइयाइं तह ३६-२६३
कंदप्पमाभिओगं ३६-२५६
कंदली य कुडुंबए ३६-९७
कंदे सूरणए तहा ३६-९८
कंपिल्लम्मि य नयरे १३-३
कंपिल्लुज्जाणकेसरे १८-३
कंपिल्ले नयरे राया १८-१
कंपिल्ले संभूओ १३-२
कंसं दूसं च वाहणं ६-४६
कक्खडा मउया चेव ३६-१६
कट्टु संवच्छरे दुवे ३६-२५५
कट्टु संवच्छरे मुणी ३६-२५५
कडं कडे त्ति भासेज्जा १-११
कडं लद्धूण भक्खए ६-१४
कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ४-३; १३-१०
कट्ठोकट्ठाहिं दुक्करं १६-५२
कणकुंडगं चइत्ताणं १-५
कण्णू विहिंसा अजया गहिंति ४-१
कण्हे य वज्जकंदे य ३६-९८
कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं १३-२३
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ? ३२-३२
४५,५८,७१,८४,९७
कत्थ गंतूण सिज्झई ? ३६-५५
कप्पइ उ एवमाई ३०-१८
कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू ३२-१०४
कप्पाईया उ जे देवा ३६-२१२
कप्पाईया तहेव य ३६-२०६
कप्पासट्ठिमिंजा य ३६-१३८
कप्पिओ फालिओ छिन्नो १६-६२
कप्पो मज्झिमगाणं तु २३-२७
कप्पोवगा बारसहा ३६-२१०
कप्पोवगा य बोद्धव्वा ३६-२०६
कमेण अच्चंतसुही भवंति ३२-१११
कमेण सोसणा भवे ३०-५
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं ३२-७
कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति ३२-७
कम्मं तु कसायजं ३३-११
कम्मं नोकसायजं ३३-११
कम्म एहा संजमजोगसंती १२-४४


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ १३-२४
कम्मसंगेहिं सम्मूढा ३-६
कम्मसच्चा हु पाणिणो ७-२०
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले ४-४
कम्माणं तु पहाणाए ३-७
कम्माणि बलवंति ह २५-२८
कम्माणुणेहि अप्पणो ५-११
कम्माणाणफला कडा २-४०
कम्मा नाणाविहा कट्टु ३-२
कम्मा नियाणप्पगडा १३-८
कम्मा मए पुरा कडा १३-६
कम्मुणा उववायए १-४३
कम्मुणा तेण संजुत्तो १८-१७
कम्मुणा बंभणो होइ २५-३१
कम्मुणा होइ खत्तिओ २५-३१
कयकोउयमंगलो २२-६
कयरे आगच्छइ दित्तरूवे १२-६
कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं १६ सू० २
कयरेण होमेण हुणासि जोइं ? १२-४३
कयरे ते खलु बावीसं परीसहा... २ सू० २
कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे १२-७
कायविक्कओ महादोसो ३५-१५
कयविक्कयम्मि वट्टंतो ३५-१४
करकण्डू कलिंगेसु १८-४५
करणसच्चेणं भंते ! जीवे किं.... २९ सू० ५२
करवत्तकरकयाईहिं १६-५१
करेज्ज सिद्धाण संथवं २६-५१
करेणुमग्गावहिए व नागे ३२-८६
करेंति भिउडिं मुहे २७-१३
कलं अग्घइ सोलसिं ६-४४
कलंववालुया य १६-५०
कलहडमरवज्जए ११-१३
कल्लाणं अदुव पावगं २-२३
कल्लाणमणुसासंतो १-३८
कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं ८-२०
कसं व दट्ठुमाइण्णे १-१२
कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे... २९ सू० ३७
कसायमोहणिज्जं तु ३३-१०
कसाया अग्गिणो वुत्ता २३-५३
कसाया इंदियाणि य २३-३८
कसिणं पि जो इमं लोयं ८-१६
कस्स अट्ठा इमे पाणा २२-१६
कस्सट्ठाए व माहणे ? १८-२१
कस्स हेउं पुराकाउं ७-२४
कहं अणाहो भवइ ? २०-१५
कहं चरे ? भिक्खु ! वयं जयामो ? १२-४०
कहं तं विहरसी ? मुणी ! २३-४०
कहं तेण न हीरसि ? २३-५५
कहं ते निज्जिया तुमे ? २३-३५
कहं धीरे अहेऊहिं १८-५३
कहं धीरो अहेऊहिं १८-५१
कहं नाहो न विज्जई ? २०-१०
कहं नाहो भविस्ससि ? २०-१२
कहं पडियरसी बुद्धे ? १८-२१
कहं पारं गमिस्ससि ? २३-७०
कहं विज्झाविया तुमे ? २३-५०
कहं विणीए त्ति वुच्चसि ? १८-२१
कहं विप्पच्चओ न ते ? २३-२४,३०
कहं सुजट्ठं कुसला वयंति ? १२-४०
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं ७-२२
कहिं पडिहया सिद्धा ? ३६-५५
कहिं बोदिं चइत्ताणं ? ३६-५५
कहिं मन्नेरिसिं रूवं १६-६
कहिंसि ण्हाओ व रयं जहासि ? १२-४५
कहिं सिद्धा पइट्ठिया ? ३६-५५
कहेति ते एक्कमेक्कस्स १३-३
काउलेसं तु परिणमे ३४-२६
काउलेसा उ वण्णओ ३४-६
काउस्सग्गं तओ कुज्जा २६-३८,४१,४६,४९
काउस्सग्गं तु पारित्ता २६-५०
काउसग्गेणं भंते ! जीवे.... २९ सू० १३
काऊए ठिई जहन्निया होई ३४-४१
काऊण य पयाहिणं २०-७,५९
काएण फासेज्ज परीसहाइं २१-२२
काए व आसा इहमागओ सि १२-७
काणणुज्जाणसोहिए १९-१
का ते सुया ? किं व ते कारिसंगं १२-४३
कामं तु देवीहि विभूसियाहिं ३२-१६
कामगिद्धे जहा वाले ५-४
कामभोगरसन्नुणा १९-२८
कामभोगाणुराएणं ५-७
कामभोगा य दुज्जया १६-१३
कामभोगे परिच्चज्ज १८-४८
कामभोगे य दुच्चए १४-४९
कामभोगेसु गिद्धेणं १३-२८
कामभोगेसु मुच्छिओ १३-२९
कामभोगेसु मुच्छिया १४-४३
कामरागविवड्ढणिं १६-२
कामरागविवड्ढणे ३५-५
कामरूवविउव्विणो ३-१५
कामरूवी भविस्ससि ६-५
कामा आसीविसोवमा ९-५३
कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं ३२-१९
कामे पत्थेमाणा ९-५३
कामे संसारवड्ढणे १४-४७
कायं पवत्तमाणं तु २४-२५
कायकिलेसं तमाहियं ३०-२७
कायकिलेसो संलीणया य ३०-८
कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं... २९ सू० ५६
कायगुत्ती य अट्ठमा २४-२
कायगुत्तो जिइंदिओ १२-३; २२-४७
कायचिट्ठं परं भवे ३०-१२
कायट्ठिई आउणं ३६-८९
कायट्ठिई जलयराणं ३६-१७६
कायट्ठिई तेउणं ३६-११४
कायट्ठिई थलयराणं ३६-१८६
कायट्ठिई मणुयाणं ३६-२०२
कायट्ठिई वाउणं ३६-१२३
कायठिई खहयराणं ३६-१९३
कायठिई पणगाणं ३६-१०३
कायठिई पुढवीणं ३६-८१
कायव्वं अगिलायओ २६-१०
कायसमाहारणयाए णं भंते ! २९ सू० ५०
कायसा वयसा मत्ते ५-१०
कायस्स फासं गहणं वयंति ३२-७४,७५
कायस्स विउस्सग्गो ३०-३६
कारणंमि समुट्ठिए २६-३१
कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से ३२-१०३
कालओ जाव रीएज्जा २४-७
कालओ भावओ तहा २४-६; ३६-३
कालं अणंतमुक्कोसं ३६-१९३
कालं तु पडिलेहए २६-४५
कालं तु पडिलेहिया २६-४४
कालं संखाईयं १०-५ सं ८
कालं संखिज्जसन्नियं १०-१०,११,१२
कालं संपडिलेहए २६-४२
कालकंखी परिव्वए ६-१४
कालधम्मे उवट्ठिए ३५-२०
कालपडिलेहणयाए णं भंते !... २९ सू० १६
कालमणंतदुरंतं १०-६
कालमणंतमुक्कोसं ३६-१८६
कालम्मि तम्मिसहरा भवंति १३-२२
कालिया जे अणागया ५-६
कालीपव्वंगसंकासे २-३
काले कालं समायरे १-३१
कालेण काल विहरेज्ज रट्ठे २१-१४
कालेण निक्खमे भिक्खू १-३१
कालेण य अहिज्जित्ता १-१०
कालेण य पडिक्कमे १-३१
काले य दिवसे वुत्ते २४-५
काले विगराले फोक्कनासे १२-६
कालो पुग्गलजंतवो २८-७,८
कालोमाणं मुणेयव्वो ३०-२०
कालोवणीए सरीरस्स भेए ४-६


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का वा अमोहा वुत्ता ? १४-२२
काओया जा इमा वित्ती १९-३३
कासवेणं पवेइया २-१
कासवेण पवेइया २-४६
कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि १३-१
किं कायव्वं मए इहं ? २६-६
किं तवं पडिवज्जामि २६-५०
किं ते जुज्झेण बज्झओ ६-३५
किं नाम काहामि सुएण भंते ! १७-२
किं नाम होज्ज तं कम्मयं ८-१
किंनामे ? किंगोत्ते ? १८-२१
किं नु चित्ते वि से तहा ? १३-६
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ १०-३४
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं २७-१५
किं माहणा ! जोइसमारभंता १२-३८
किं रज्जम्मि पसज्जसि ? १८-१२
किं हिंसाए पसज्जसि ? १८-११
किच्चाइं कुव्वइ सया १-४४
किण्हतो काइओ होइ ३५-१४
किण्णु भो ! अज्ज मिहिलाए ६-७
किण्हलेसं तु परिणमे ३४-२२
किण्हलेसा उ वण्णओ ३४-४
किण्हाए ठिई जहन्निया होई ३४-४८
किण्हा नीला काऊ ३४-५६
किण्हा नीला उ काऊ य ३४-३
किण्हा नीला य रुहिरा य ३६-७२
किण्हा नीला य लोहिया ३६-१६
किब्बिसियं भावणं कुणई ३६-२६५
किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च ३६-२५६
किमज्ज जन्नाण लहित्थ लाहं ? १२-१७
किमिणो सोमंगला चेव ३६-१२८
किमेगरायं करिस्सइ २-२३
किरियं अकिरियं विणयं १८-३३
किरियं च रोयए धीरे १८-२३
किरियासंखेवधम्मरुई २८-१६
किरियासु भूयगामेसु ३१-१२
किलिन्नगाए मेहावी २-३६
किसे थमणिसंतए २-३
कीलए सह इत्थिहिं १६-३
कीलंतन्ने नरा रायं ! १८-१६
कीवेणं समणत्तणं १६-४०
कीस णं नावपेक्खसि ? ६-१२
कुइयं रुइयं गीयं १६-५,१२
कुंजरे सट्ठिहायणे ११-१८
कुंथुपिवीलिउड्डंसा ३६-१३७
कुंथूनाम नराहिवो १८-३६
कुक्कुडे सिंगिरीडी य ३६-१४७
कुच्चफणगपसाहिए २२-३०
कुज्जा दुक्खविमोक्खणं २६-२१
कुट्ठिओ फालिओ छिन्नो १९-६६
कुडुंबसारं विउलुत्तमं तं १४-३७
कुणइ पमाणि पमायं २६-२७
कुतित्थिनिसेवए जणे १०-१८
कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ १२-२०
कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं २७-६
कुद्धे तेएण अणगारे १८-१०
कुप्पवयणपासंडी २३-६३
कुप्पहा बहवो लोए २३-६०
कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं १४-११
कुमारेहिं अयं पिव १९-६७
कुमुयं सारइयं व पाणियं १०-२८
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा २०-५०
कुलेसु दग्गेसु य ते पसूया १४-२
कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गि १२-३६
कुसग्गमेत्ता इमे कामा ७-२४
कुसग्गेण जह ओसबिंदुए १०-२
कुसग्गेण तु भुंजए ६-४४
कुसचीरेण न तावसो २५-२९
कुसीललिंगं इह धारइत्ता २०-४३
कुहाडफरसुमाईहिं १९-६६
कुहगा य तहेव य ३६-६८
कुहेडविज्जासवदारजीवी २०-४५
कूवंतो कोलसुणएहिं १९-५४
के एत्थ खत्ता उवजोइया वा १२-१८
केई चुया एगविमाणवासी १४-१
केण अब्भाहओ लोगो ? १४-२२
केण वा परिवारिओ ? १४-२२
के ते जोई ? के व ते जोइठाणे ? १२-४३
के ते हरए ? के य ते संतितित्थे ? १२-४५
केरिसो वा इसो धम्मो ? २३-११
केवलं बोहि बुज्झिया ३-१९
केसं संपडिवज्जई ५-७
केसलोओ य दारुणो १९-३३
केसा पंडुरया हवंति ते १०-२१ से ३६
केसिं गोयममब्बवी २३-२२
केसिमेवं बुवंतं तु २३-४२,४७,५२,५७, ६२,६७,७२,७७,८२
केसिमेवं बुवाणं तु २३-३१
केसीकुमारसमणे २३-२,६,१६,१८
केसीगोयमओ निच्चं २३-८८
केसी गोयममब्बवी २३-२१,३७,४२,४७, ५२,५७,६२,६७,७२,७७,८२
केसी घोरपरक्कमे २३-८६
कोइ पोसेज्ज एलयं ७-१
कोइलच्छदसन्निभा ३४-६
को करिस्सइ उज्जोयं २३-७५
को जाणइ परे लोए ५-६
कोट्ठगं नाम उज्जाणं २३-८
कोट्ठागारे सुरक्खिए ११-२६
कोडीए वि न निट्ठियं ८-१७
कोडीसहियमायामं ३६-२५५
को णं ताहे तिगिच्छई ? १९-७८
को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं १४-१२
कोलाहलगभूयं ६-५
कोलाहलगसंकुला ६-७
को वा से ओसहं देई ? १९-७९
को वा से पुच्छई सुहं ? १९-७९
कोसं वहावइत्ताणं ६-४६
कोसंबी नाम नयरी २०-१८
को से भत्तं च पाणं च १९-७९
कोसो उदरिमो भवे ३६-६२
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा १-१४
कोहं च माणं च तहेव मायं ३२-१०२
कोहविजएणं भंते ! जीवे.... २९ सू० ६८
कोहा वा जइ वा हासा २५-२३
कोहे माणे य मायाए २४-६
कोहो य माणो य वहो य जेसिं १२-१४

## (ख)

खंजणंजणनयणनिभा ३४-४
खंडाइं सोल्लगाणि य १९-६६
खंतिं निउणपागारं ६-२०
खंति सेविज्ज पंडिए १-६
खंतिक्खमे संजयबंभयारी २१-१३
खंतिसोहिकरं पयं १-२६
खंतीए णं भंते ! जीवे किं २९-४७
खंतीए मुत्तीए २२-२६
खंतो दंतो निरारंभो २०-३२,३४
खंधा य खंधदेसा य ३६-१०
खंधा य परमाणुणो ३६-११
खज्जूरमुद्दियरसो ३४-१५
खड्डुया मे चवेडा मे १-३८
खणं पि न रमामहं १९-१४
खणं पि मे महाराय ! २०-३०
खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा १४-१३
खत्तिए परिभासइ १८-२०
खत्तियगणउग्गरायपुत्ता १५-६
खमावणयाए णं भंते जीवे किं २९सू. १८
खरा छत्तीसईविहा ३६-७२
खलुंका जारिसा जोज्जा २७-८
खलुंके जो उ जोएइ २७-३
खलुंकेहिं समागओ २७-१५
खवणे य जए बुहे ३३-२५
खवित्ता पुव्वकम्माइं २५-४३


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खवित्तु कम्मं गइमुत्तम गमा ११-३१
खवेइ तवसा भिक्खू ३०-१
खवेइ नाणावरणं खणेणं ३२-१०८
खवेत्ता पुव्वकम्माइं २८-३६
खहयरा या बोद्धव्वा ३६-१७१
खाइत्ता पाणियं पाउं १६-८१
खाइमसाइमं परेसि लद्धुं १५-१२
खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे १४-१
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा १४-१३
खामेमि ते महाभाग ! २०-५६
खाविओ मि समंसाइं १६-६६
खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं ४-१०
खिप्पं निक्खमसू दिया २५-३८
खिप्पं मयविवड्ढणं १६-७
खिप्पं संपणामए २३-१७
खिप्पं से सव्वसंसारा ३१-२१
खिप्पं हवइ सुचोइए १-४४
खिप्पमागम्म सो तहिं १८-६
खीरदहिसप्पिमाई ३०-२६
खीरपूरसमप्पभा ३४-६
खीररसो खंडसक्कररसो वा ३४-१५
खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु १४-१८
खुड्डेहिं सह संसग्गिं १-६
खुद्दो साहसिओ नरो ३४-२१,२४
खुरधाराहिं विवाइओ १६-५६
खुरेहिं तिक्खधारेहिं १६-६२
खेडे कब्बडदोणमुह ३०-१६
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं १३-२४
खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च ३-१७,१६-१६
खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए १२-१३
खेमं च सिवं अणुत्तरं १०-३५
खेमं सिवं अणाबाहं २३-८३
खेमं सिवमणाबाहं २३-८०
खेमेण आगए चंपं २१-५
खेलं सिंघाणजल्लियं २४-१५
खेल्लंति जहा व दासेहिं ८-१८
खेवियं पासबद्धेणं १६-५२

## ग

गइप्पहाणं च तिलोयविस्सुयं १६-६७
गइलक्खणो उ धम्मो २८-६
गई तत्थ न विज्जई २३-६६
गई सरणमुत्तमं २३-६८
गंठिभेए य तक्करे ६-२८
गंठियसत्ताईयं ३३-१७
गंडवच्छासु ऽणेगचित्तासु ८-१८
गंडीमयसणप्पया ३६-१८०
गंतव्वमवसस्स ते १८-१२
गंतव्वमवसस्स मे १६-१६
गंधओ जे भवे दुब्भी ३६-२८
गंधओ जे भवे सुब्भी ३६-२७
गंधओ परिणया जे उ ३६-१७
गंधओ फासओ चेव ३६-२६ से ३३
गंधओ रसओ चेव ३६-३४ से ४६
गंधओ रसफासओ ३६-८३,९१,१०५,११६, १२५,१३५,१४४,१५४,१६६, १७८,१८७,१९४,२०३,२४७
गंधमल्लविलेवणं २०-२६
गंधवासाण पिस्समाणाणं ३४-१७
गंधस्स घाणं गहणं वयंति ३२-४६
गंधाणुगासाणुगए य जीवे ३२-५३
गंधाणुरत्तस्स नरस्स एवं ३२-५८
गंधाणुवाएण परिग्गहेण ३२-५४
गंधारेसु य नग्गई १८-४५
गंधे अतित्तस्स परिग्गहे य ३१-५६
गंधे अतित्ते य परिग्गहे य ३२-५५
गंधे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ३२-५७
गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो ३२-६०
गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं ३२-५०
गंभीरे सुसमाहिए २७-१७
गच्छई उ परं भवं १८-१७
गच्छई मिगचारियं १६-८१
गच्छंति अवसा तमं ७-१०
गच्छंतो सो दुही होई १६-१८,१९
गच्छंतो सो सुही होई १६-२०,२१
गच्छ क्खलाहि किमिहं ठिओसि ? १२-७
गच्छ पुत्त ! जहासुहं १६-८५
गच्छसि मग्गं विसोहिया १०-३२
गच्छामि रायं ! आमंतिओ सि १३-३३
गच्छे जक्खसलोगयं ५-२४
गत्तभूसणमिट्ठं च १६-१३
गद्दभालिस्स भगवओ १८-१६
गद्दभाली ममायरिया १८-२२
गब्भवक्कंतिया जे उ ३६-१६६
गब्भवक्कंतिया तहा ३६-१७०,१६५
गमणे आवस्सियं कुज्जा २६-५
गयण चउब्भागसावसेसंमि २६-२०
गयमाइ सीहमाइणो ३६-१८०
गयासं भग्गगत्तेहिं १६-६१
गरहं नाभिगच्छई १-४२
गरहणयाए णं भंते ! जीवे किं २९ सू. ८
गरुया लहुया तहा ३६-१६
गलिगद्दहे चइत्ताणं २७-१७
गलियस्सं व वाहए १-३७
गलेहिं मगरजालेहिं १६-६४
गवलरिट्ठगसन्निभा ३४-४
गवासं मणिकुंडलं ६-५
गवेसणाए गहणे य २४-११
गहा तारागणा तहा ३६-२०८
गद्दिओ लग्गो बद्धो य १६-६५
गाढा य विवाग कम्मुणो १०-४
गाणंगणिए दुब्भूए १७-१७
गामगए नगरे व संजए १०-३६
गामाणुगामं रीयंतं २-१४
गामाणुगामं रीयंते २३-३,७;२५-२
गामे अणियओ चरे ६-१६
गामे नगरे तह रायहाणि ३०-१६
गामे वा नगरे वावि २-१८
गायं नो परिसिंचेज्जा २-६
गारत्था संजमुत्तरा ५-२०
गारत्थेहि य सव्वेहिं ५-२०
गारवेसु कसाएसु १६-६१
गाहग्गहीए महिसे वरन्ने ३२-७६
गाहाणुगीया नरसंघमज्झे १३-१२
गाहा य मगरा तहा ३६-१७२
गाहासोलसएहिं ३१-१३
गिज्झ वारि जलुत्तमं २३-५१
गिण्हंतो निक्खिवंतो य २४-१३
गिद्धोवमे उ नच्चाणं १४-४७
गिद्धो सि आरंभपरिग्गहेसु १३-३३
गिरिं रेवययं जंती २२-३३
गिरिं नहेहिं खणह १२-२६
गिलाणो परितप्पई ५-११
गिहंसि न रइं लभे १४-२१
गिहकम्मसमारंभे ३५-८
गिहत्थाणं अणेगाओ २३-१६
गिहवासं परिच्चज्ज ३५-२
गिहवासे वि सुव्वए ५-२४
गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा १५-१०
गिहिनिसेज्जं च वाहेइ १७-१६
गिहिलिंगे तहेव य ३६-४६
गुणवंताण ताइणं २३-१०
गुणाणं तु महाभरो १६-३५
गुणाणं तु सहस्साइं १६-२४
गुणाणमासओ दव्वं २८-६
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ३२-५
गुणुत्तरधरो मुणी १२-१
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता २४-२६
गुत्तीहि गुत्तस्स जिइंदियस्स १२-१७
गुरुओ लोहभारो व्व १६-३५
गुरुं वंदित्तु सज्झायं २६-२१
गुरुपरिभावए निच्चं १७-१०
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा ३०-३२
गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं भंते ! २९ सू. ५


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरूणमणुववायकारए १-३
गुरूणमुववायकारए १-२
गूढा सज्झायतवसा २५-८
गेण्हणा अवि दुक्करं १६-२७
गेद्धी पओसे य सढे ३४-२३
गेविज्जाऽणुत्तरा चेव ३६-२१२
गेविज्जा णवविहा तहिं ३६-२१२
गोच्छगलइयंगुलिओ २६-२३
गोजिब्भाए व सागपत्ताणं ३४-१८
गोपुरट्टालगाणि च ६-१८
गोमुत्तिपयंगवीहिया चेव ३०-१६
गोमेज्जए य रुयगे ३६-७५
गोयं कम्मं दुविहं ३३-१४
गोयमं इणमब्बवी २३-२२
गोयमं तु महायसं २३-८६
गोयमं दिस्समागयं २३-१६
गोयमस्स निसेज्जाए २३-१७
गोयमे पडिरूवन्नू २३-१५
गोयमे य महायसे २३-६,१८
गोयमो इणमब्बवी २३-२१,२५,३१,३७,४२,४७,५२,५७,६२,६७,७२,७७,८२
गोयमो कालगच्छवी २२-५
गोयरग्गपविट्ठस्स २-२६
गोलया मट्टियामया २५-४०
गोवालो भंडवालो वा २२-४५
गोहाई अहिमाई य ३६-१८१

## (घ)

घणगुंजा सुद्धवाया य ३६-११८
घणो य तह होइ वग्गो य ३०-१०
घयसित्त व्व पावए ३-१२
घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं ३०-१८
घाणस्स गंधं गहणं वयंति ३२-४८,४६
घाणिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे २६ सू. ६५
घिंसु वा परियावेणं २-८,३६
घोरं घोरपरक्कमा १४-५०
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य १२-२३,२७
घोराओ अइदुस्सहा १६-७२
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं ४-६
घोरासमं चइत्ताणं ६-४२
घोरे संसारसागरे २५-३८

## (च)

चइऊण गेहं वइदेही ६-६१
[चइऊण गेहं वइदेही] १८-४४
चइऊण देवलोगाओ ६-१
चइऊण बालभावं ७-३०
चइऊणमासणं धीरो १-२१
चइत्ता उत्तमे भोए १८-४१
चइत्ताणं इमं देहं १६-१६
चइत्ताणं मुणी चरे १८-४४
चइत्ता भारहं वासं १८-३६,३८,४१
चइत्ता विउलं रज्जं १४-४६
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं १-४८
चइत्तु भोगाइ असासयाइं १३-२०
चउकारणपरिसुद्धं २४-४
चउक्कतियचच्चरे १६-४
चउक्कारणसंजुत्तं २८-१
चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ३०-२०
चउत्थम्मि जहन्नेणं ३६-२६७
चउत्थी असच्चमोसा २४-२०,२२
चउत्थी जहन्नेणं ३६-१६३
चउत्थीए पोरिसीए २६-३६
चउत्थी पडिपुच्छणा २६-२
चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं २६-१८
चउदसरयणाहिवई ११-२२
चउद्दस सागराइं ३६-२२७
चउद्दस सागरोवमा ३६-२२८
चउप्पया चउव्विहा ३६-१७६
चउप्पया य परिसप्पा ३६-१७६
चउभागूणाए वा ३०-२१
चउरंगं दुल्लहं मत्ता ३-२०
चउरंगिणीए सेनाए २२-१२
चउरिंदियआउठिई ३६-१५१
चउरिंदियकायठिई ३६-१५२
चउरिंदियकायमइगओ १०-१२
चउरिंदिया उ जे जीवा ३६-१४५
चउरुड्ढलोए ए दुवे समुद्दे ३६-५४
चउरोपंचिंदिया चेव ३६-१२६
चउविया ते वियाहिया ३६-१५५
चउवीसं सागरोवमा ३६-२३६
चउवीसं सागराइं ३६-२३५
चउवीसत्थएणं भंते ! जीवे किं २६ सू० १०
चउव्विहे वि आहारे १६-३०
चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव २८-१८
चउसुं पि विययाईसुं ३६-२४३
चउसु वि गईसु एत्तो ३४-४०
चउहा उ ते पकित्तिया ३६-१२६
चंदणगेरुयहंसगब्भ ३६-७३
चंदणा य तहेव य ३६-१२६
चंदप्पहवेरुलिए ३६-७६
चंदसूरसमप्पभा २३-१८
चंदा सूरा य नक्खत्ता ३६-२०८
चंपाए पालिए नाम २१-१
चक्कंकुस लक्खणे मुणिवरस्स ६-६०
चक्कवट्टी नराहिओ १८-४१
चक्कवट्टी महिड्ढिए ११-२२
चक्कवट्टी महिड्ढिओ १३-४, १८-३६ से ३८
चक्खिंदियनिग्गहेणं भन्ते ! जीवे २६ सू० ६४
चक्खुगिज्झं विवज्जए १६-४
चक्खुदिट्ठा इमा रई ५-५
चक्खुमचक्खुओहिस्स ३३-६
चक्खुसा पडिलेहए ३६-३५
चक्खुसा पडिलेहित्ता २४-१४
चक्खुस्सरूवं गहणं वयंति ३२-२२,२३
चत्तपुत्तकलत्तस्स ६-१५
चत्तारि कामखंधाणि ३-१७
चत्तारि जहन्नाए ३६-५३
चत्तारि परमंगाणि ३-१
चत्तारि य गिहिलिंगे ३६-५२
चम्मे उ लोमपक्खी य ३६-१८८
चरंतं विरयं लूहं २-६
चरणविहिं पवक्खामि ३१-१
चरणस्स य पवत्तणे २४-२६
चरणे दुविहं भवे ३३-८
चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु ३४-५६
चराचरे हिंसइणेगरूवे ३२-२७,४०,५३,६६,७६,६२
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ २१-२१
चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइंदिए २१-१२
चरित्तं च तवो तहा २८-२,३,११
चरित्तं चेव निच्छाए २३-३३
चरित्तंमि तवंमि य २६-४७
चरित्तमायारगुणन्निए तओ २०-५२
चरित्तमोहणं कम्मं ३३-१०
चरित्तम्मि तहेव य २६-३६
चरित्तसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे २६ सू. ६२
चरित्ताण धम्ममारियं १८-२५
चरित्तेण तहेव य २२-२६
चरित्तेण निगिण्हाइ २८-३५
चरित्ते पुत्त दुच्चरे १६-३८
चरिमाणं दुरणुपालओ २३-२७
चरेज्जत्तगवेसए २-१७
चरे पयाइं परिसंकमाणो ४-७
चवेडमुट्ठिमाईहिं १६-६७
चाउज्जामो य जो धम्मो २३-१२,२३
चाउप्पायं जहाहियं २०-२३
चाउरंते भयागरे १६-४६
चामराहि य सोहिए २२-११
चारित्तं होइ आहियं २८-३३
चारुल्लवियपेहियं १६-४
चावेयव्वा सुदुक्करं १६-३८
चासपिच्छसमप्पभा ३४-५


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिईगयं डहिय उ पावगेणं १३-२५
चिंतिज्ज अणुपुव्वसो २६-३६,४७
चिंतेइ से महापन्ने २२-१८
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे ७-२६
चिच्चा अभिनिक्खंतो ६-४
चिच्चाण धणं च भारियं १०-२६
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे ७-२८
चिच्चा रट्ठं पव्वइए १८-२०
चिट्ठंती पंजलीउडा २५-१७
चिट्ठंति पाणिणो बहू २३-७५
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं ! १३-११
चित्तमंतमचित्तं वा २५-२४
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया १-१३
चित्तासोएसु मासेसु २६-१३
चित्तेहि ते परितावेइ बाले ३२-२७, ४०,५३,६६,७६,६२
चित्तो इमं वयणमुदाहरित्था १३-१५
चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि १३-२
चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो १३-३५
चियासु महिसो विव १६-५७
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता २०-४१
चिरं पि से मुंडरुई भवित्ता २०-४१
चिरकालेण वि सव्वपाणिणं १०-४
चीराजिणं नगिणिणं ५-२१
चीवराइं विसारंती २२-३४
चुण्णिओ य अणंतसो १६-६७
चुया देहा विहिंसगा ७-१०
चुलणीए बंभदत्तो १३-१
चेइयंमि मणोरमे ६-१०
चेच्चा कामगुणे परे १४-५०
चेच्चा कामाइ पव्वए १८-३४
चेच्चागिहं एगचरे स भिक्खू १५-१६
चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च १३-२४
चेच्चा रज्जं मुणी चरे १८-४७
चोइओ तोत्तजुत्तेहिं १६-५६
चोइओ पइचोएइ १७-१६
चोज्जं अबंभसेवणं ३५-३

## छ

छउमं न नियट्टई २-४३
छउमत्थस्स जिणस्स वा २८-३३
छउमत्थेण जिणेण व २८-१६
छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं ४-८
छंदणा दव्वजाएणं २६-६
छंदेण पुत्त ! पव्वया १६-७५
छक्के आहारकारणे ३१-८
छच्चेव य मासा उ ३६-१५१
छज्जीवकाए असमारभंता १२-४१
छट्ठं पुण धम्मचिंताए २६-३२
छट्ठम्मि जहन्नेणं ३६-२३६
छट्ठीए जहन्नेणं ३६-१६५
छट्ठो सो परिकित्तिओ ३०-३६
छण्हं अन्नयरागम्मि २६-३१
छण्हं पि कम्मलेसाणं ३४-१
छण्हं पि विराहओ होइ २६-३०
छतीसं उत्तरज्झाए ३६-२६८
छण्णुरिमा नव खोडा २६-२५
छम्मासा य जहन्निया ३६-२५१
छवित्ताणं न विज्जई २-७
छव्वीस सागराइं ३६-२३७
छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा २६-१६
छिंद गेहिं सिणेहं च ६-४
छिंदित्तु जालं अबलं व रोहिया १४-३५
छिन्नं सरं भोमं अंतलिक्खं १५-७
छिन्नपुव्वो अणंतसो १६-५१
छिन्नपुव्वो अणेगसो १६-६०
छिन्नसोए अममे अकिंचणे २१-२१
छिन्नाले छिंदइ सेल्लिं २७-७
छिन्नावाएसु पंथेसु २-५
छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं १४-२६
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य १६-५५
छिन्नो मे संसओ इमो २३-२८,३४, ३६,४४,४६,५४,५६,६४,६६,७४, ७६,८५
छुरियाहिं कप्पणीहि य १६-६२
छुहातण्हाए पीडिओ १६-१८
छुहातण्हा य सीउण्हं १६-३१
छुहातण्हाविवज्जिओ १६-२०
छेओवट्ठावणं भवे बीयं २८-३२

## ज

जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा १२-२८
जइ तं काहिसि भावं २२-४४
जइ ता सि भोगे चइउं असत्तो १३-३२
जइत्ता विउले जन्ने ६-३८
जइत्ता सुहमेहए ६-३५
जइ मज्झ कारणा एए २२-१६
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं १२-१७
जइ सि रूवेण वेसमणो २२-४१
जइ सि सक्खं पुरंदरो २२-४१
जओ आयाण निक्खेवे १२-२
जओ जत्तं पडिस्सुणे १-२१
जं काइयं माणसियं च किंचि ३२-१६
जं किंचि आहारपाणं विविहं १५-१२
जं किंचि पास इह मण्णमाणो ४-७
जं चन्तरायं पकरेइ कम्मं ३२-१०८
जं च धम्माण वा मुहं २५-११
जं च मे पुच्छसी काले १८-३२
जं चरंति महेसिणो २३-८३
जं चरित्ताण निग्गंथा २६-१
जं चरित्ता बहू जीवा २६-५२; ३१-१
जं जाणिऊण समणे ३६-१
जं जिए लोलयासढे ७-१७
जं तरंति महेसिणो २३-७३
जं न कुज्जा न कारवे २-३३
जं नेइ जया रत्तिं २६-१६
जं बाहई सययं जंतुमेयं ३२-११०
जंबू नाम सुदंसणा १३-२७
जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं १३-१७
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया १३-१२
जं भुज्जो परिभस्सई ७-२५
जं भे टिया मग्गे जिणुत्तमाणं २०-५५
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं १२-३८
जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं १३-२७
जं मे बुद्धाणुसासंति १-२७
जं विवित्त मणाइण्णं १६-१
जं संपत्ता न सोयंति २३-८४
जं साया नत्थि वेयणा १६-७४
जंसि गोयम ! आरूढो २३-५५
जंसि गोयममारूढो २३-७०
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा २०-४८
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ३२-३३, ४६,५६,७२,८५,६८
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति ३-८
जं हीलिया तस्स खमाह भंते ! १२-३१
जक्खरक्खसकिन्नरा १६-१६; २३-२०
जक्खा आउक्खए चुया ३-१६
जक्खा उत्तरउत्तरा ३-१४
जक्खा कुमारे विणिवाडयंति १२-२४
जक्खा हु वेयावडियं करेंति २२-३२
जक्खो तहिं तिंदुयरुक्खवासी १२-८
जगनिस्सिएहिं भूएहिं ८-१०
जट्ठं च पावकम्मुणा २५-२८
जडीसंघाडिमुंडिणं ५-२१
जणेण सद्धिं होक्खामि ५-७
जत्तत्थं गहणत्थं च २३-३२
जत्तत्थं पणिहाणवं १६-८
जत्थ कीसंति जंतवो १६-१५
जत्थ तं मुज्झसी रायं १८-१३
जत्थ तत्थ निसीयई १७-१३
जत्थ नत्थि जरा मच्चू २३-८१
जत्थेव गंतुमिच्छेजा ६-२६
जन्नं जयइ वेयवी २५-४
जन्नट्ठा य जे दिया २५-७


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्नट्ठा वयसा मुह २५-१६
जन्नवाडं उवट्ठिओ १२-३
जमायरंतो भिक्खू ३५-१
जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं १९-१५
जम्मणमरणाणि बंधंति ३६-२६७
जम्ममच्चुभउव्विग्गा १४-५१
जम्माणि मरणाणि य १९-४६
जयं अपरिसाडियं १-३५
जयंता अपराजिया ३६-२१५
जयघोसं महामुणिं २५-३४
जयघोसविजयघोसा २५-४३
जयघोसस्स अंतिए २५-४२
जयघोसे त्ति नामओ २५-१
जयणा चउव्विहा वुत्ता २४-६
जयनामो जिणक्खायं १८-४३
जया मिगस्स आयंको १९-७८
जया य से सुही होइ १९-८०
जया सव्वं परिच्चज्ज १८-१२
जराए परिवारिओ १४-२३
जराए मरणेण य १९-२३
जरामरणकंतारे १९-४६
जरामरणघत्थम्मि १९-१४
जरामरणवेगेण २३-६८
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ४-१
जलंते इव तेएण ११-२४
जलंते सामिलाजुए १९-५६
जलं पाहिं ति चिंतंतो १९-५६
जलकन्ते सूरकंते य ३६-७६
जलणं च जलप्पवेसो य ३६-२६७
जलधन्ननिस्सिया जीवा ३५-११
जलयराणं तु अन्तरं ३६-१७७
जलयरा थलयरा तहा ३६-१७१
जलरुहाओसहीतिणा ३६-९५
जलूगा जालगा चेव ३६-१२९
जलेण वा पोक्खरिणी पलासं ३२-३४,
४७,६०,७३,८६,९६
जल्लं कारण धारए २-३७
जवणट्ठाए निसेवए मंथु ८-१२
जवणट्ठाए महामुणी ३५-१७
जवमज्झट्ठुत्तर सयं ३६-५३
जवा लोहमया चेव १९-३८
जसं संचिणु खंतिए ३-१३
जस्स एया परिन्नाया २-१६
जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं १४-२७
जस्स वत्थि पलायणं १४-२७
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा १२-३७
जह कडुयतुंबगरसो ३४-१०
जह करगयस्स फासो ३४-१८
जहक्कम कम्मगुणाह चेव १४-११
जह गोमडस्स गंधो ३४-१६
जह तरुणअंबगरसो ३४-१२
जह तिगडुयस्स य रसो ३४-११
जहन्नमज्झिमाइ य ३६-५०
जहन्नुक्कोसिया भवे ३६-१६७, २४५
जहन्नेणं काऊए ३४-५०
जहन्नेणं नीलाए ३४-४९
जहन्नेणं पम्हाए दसउ ३४-५४
जहन्नेणं सुक्काए ३४-५५
जहन्नेणेक्कतीसई ३६-२४३
जहन्नेणेगसित्थाई ३०-१५
जहपरिणयंबगरसो ३४-१३
जह वूरस्स व फासो ३४-१९
जह सुरहिकुसुमगंधो ३४-१७
जहा अग्गिसिहा दित्ता १९-३९
जहा अणाहो भवई २०-१६,१७
जहाइण्णसमारूढे ११-१७
जहा इमं इहं सीयं १९-४८
जहाइ उवहिं तओ १९-८४
जहा इहं उ अगणी उण्हो १९-४७
जहा उ चरई मिगो १९-७७
जहा उ पावगं कम्मं ३०-१
जहाएसं व एलए ७-७
जहाएसं समुद्दिस्स ७-१
जहा करेणुपरिकिण्णे ११-१८
जहा कागिणिए हेउं ७-११
जहा किंपागफलाणं १९-१७
जहा कुसग्गे उदगं ७-२३
जहा कुसग्गे उदगं ७-४
जहा खलु ते उरब्भे ३०-४
जहा खवयइ भिक्खू ३०-४
जहा गेहे पलित्तम्मि १९-२२
जहा चंदं गहाईया २५-१७
जहा जाय त्ति पासिया २२-३४
जहा तहव्वणिस्सरो २२-४५
जहा तुलाए तोलेउं १९-४१
जहा ते दीसई रूवं १८-२०
जहा दव्वग्गी पउरिंधणे वणे ३२-११
जहा दुक्खं भरेउं जे १९-४०
जहा न होई असुयाण लोगो १४-८
जहा पोमं जले जायं २५-२६
जहा बिरालावसहस्स मूले ३२-१३
जहा भुयाहिं तरिउं १९-४२
जहा महातलायस्स ३०-५
जहा महासागरमुत्तरित्ता ३२-१८
जहा मिगे एग अणेगचारी १९-८३
जहा मे य पवत्तियं २०-१७
जहा मेयमणुस्सुयं ५-१३,१८
जहा य अग्गी अरणीउसंतो १४-१८
जहा य अंडप्पभवा बलागा ३२-६
जहा य किंपागफला मणोरमा ३२-२०
जहा य तिन्नि वणिया ७-१४
जहा य भोई ! तणुयं भुयंगी १४-३४
जहा लाहो तहा लोहो ८-१७
जहा वयं धम्ममजाणमाणा १४-२०
जहा संखम्मि पयं ११-१५
जहा सागडिओ जाणं ५-१४
जहा सा दुमाण पवरा ११-२७
जहा सा नईण पवरा ११-२८
जहा सुक्को उ गोलओ २५-४१
जहा सुणी पूइकण्णी १-४
जहासुत्तमणिंदियं ३५-१६
जहा से उडुवई चंदे ११-२५
जहा से कंबोयाणं ११-१६
जहा खलु से उरब्भे ७-४
जहा से चाउरंते ११-२२
जहा से तिक्खदाढे ११-२०
जहा से तिक्खसिंगे ११-१६
जहा से तिमिरविद्धंसे ११-२४
जहा से नगाण पवरे ११-२६
जहा से नमी रायरिसि ९-६२
जहा से वासुदेवे ११-२१
जहा से सयंभूरमणे ११-३०
जहा से सहस्सक्खे ११-२३
जहा से सामाइयाणं ११-२६
जहा सो पुरिसोत्तमो २२-४९
जहिऊण माणुसं बोंदिं ३५-२०
जहिं पकिण्णा विरुहंति पुण्णा १२-१३
जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो १४-२८
जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा १३-१८
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो १२-४६
जहिंसि ण्हाओ विमला विसुद्धा १२-४७
जहित्तु संगं च महाकिलेसं २१-११
जहित्थिओ बालमणोहराओ ३२-१७
जहेह सीहो व मियं गहाय १३-२२
जहोवइट्ठं सुकयं १-४४
जाइं सरित्तु भयवं ९-२
जाई कुलं च सीलं च २२-४०
जाईजरामच्चुभयाभिभूया १४-४
जाईपराजिओ खलु १३-१
जाईमयपडिथद्धा १२-५
जाईसरणं समुप्पन्नं १९-७
जाईसरणे समुप्पन्ने १९-८
जा उ अस्साविणी नावा २३-७१
जाओ पुरिसं पलोभित्ता ८-१८
जाओ लोगंमि इत्थिओ २-१६


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा किण्हाए ठिई खलु ३४-४६
जा चेव उ आउठिई ३६-१६७,२४५
जा जा दिच्छसि नारिओ २२-४४
जा जा वच्चइ रयणी १४-२४,२५
जाणमाणो वि जं धम्मं १३-२६
जाणामि जं वट्टइ आउसु ! त्ति १७-२
जाणासि संभूय ! महाणुभागं १३-११
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति १२-१०
जाणि जीयंति दुम्मेहा ७-१३
जाणित्तायरियस्स उ १-४३
जा तेऊए ठिई खलु ३४-५४
जा निरस्साविणी नावा २३-७१
जा नीलाए ठिई खलु ३४-५०
जा पम्हाए ठिई खलु ३४-५५
जायखंधे विरायई ११-१६
जायगो पडिसेहए २५-६
जायगेण महामुणी २५-६
जायणा य अलाभया १६-३२
जायतेयं पाएहि हणह २-२६
जायपक्खा जहा हंसा २७-१४
जायमेए महोदरे ७-२
जायरूवं जहामट्ठं २५-२१
जायाई जमजन्नंमि २५-१
जायाए घासमेसेज्जा ८-११
जाया ! चिंतावरो हुमि १४-२२
जाया दोण्णि वि केवली २२-४८
जाया य पुत्ता न हवंति ताणं १४-१२
जारिसा मम सीसा उ २७-१६
जारिसा माणुसे लोए १६-७३
जावई केदकंदली ३६-६७
जावंतविज्जापुरिसा ६-१
जाव कालस्स पज्जवो ३५-१६
जावज्जीवं दढव्वओ २२-४७
जावज्जीवाए दुक्करा १६-२५
जावज्जीवमविस्सामो १६-३५
जाव न एइ आएसे ७-३
जाव सरीरभेउ त्ति २-३७
जा सा अणसणा मरणे ३०-१२
जा सा पन्नवओ ठिई ७-१३
जा सा पाणी महापाली १८-२८
जा से कन्नं दलाम हं २२-८
जा हं तेण परिच्चत्ता २२-२६
जिइंदिए सव्वओ विप्पमुक्के १५-१६
जिइंदिओ संजओ बंभयारी १२-२२
जिच्चमाणे न संविदे ? ७-२२
जिणमग्गं चरिस्सिमो २२-३८
जिणवयणं जे करेंति भावेण ३६-२६०
जिणवयणं जे न जाणंति ३६-२६१
जिणवयणे जे अणुरत्ता ३६-२६०
जिणिंदमग्गं सरणं पवन्ना १४-२
जिणे पासे त्ति नामेण २३-१
जिणेहिं वरदंसिहिं २८-२,७
जिब्भाए रसं गहणं वयंति ३२-६२
जिब्भादंते अमुच्छिए ३२-१७
जिब्भिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं २९-६६
जिब्भाए रसं गहणं वयंति ३२-६१
जीमूयनिद्धसंकासा ३४-४
जीवं च इरियं सया ६-२१
जीवंतमणुजीवंति १८-१४
जीवस्स उ सुहावहं ३१-१
जीवस्स उ सुहावहा ३०-२७
जीवा गच्छंति परलोयं ३४-६०
जीवा गच्छंति सोग्गइं २८-३
जीवा चेव अजीवा य ३६-२
जीवाजीवविभत्तिं ३६-१
जीवाजीवा य पुण्णपावं च २८-१७
जीवाजीवा य बंधो य २८-१४
जीवाणमजीवाण य ३६-३
जीवा सोहिमणुप्पत्ता ३-७
जीविए मरणे तहा १६-६०
जीवियए बहुपच्चवायए १०-३
जीवियं चेव रूवं उ १८-१३
जीवियंतं तु संपत्ते २२-१५
जीवो उवओगलक्खणो २८-१०
जीवो पमायबहुलो १०-१५
जीवो भवइ अणासवो ३०-२
जीवो वुच्चइ नाविओ २३-७३
जीवो होइ अणासवो ३०-३
जुइमं वरिससओवमे १८-२८
जुइमंताणुपुव्वसो ५-२६
जुईए उत्तिमाए य २२-१३
जुगमित्तं च खेत्तओ २४-७
जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं २८-२६
जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी १४-३३
जुवराया दमीसरे १६-२
जे आययासंठाणे ३६-४६
जे इंदियाणं विसया मणुन्ना ३२-२१
जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेई २०-४६
जे उ भिक्खू न वावरे ३०-३६
जे कम्हिचि न मुच्छिए स भिक्खू १५-२
जे किसिणं अहियासए स भिक्खू १५-३,४
जे केइ पत्थिवा तुब्भं ६-३२
जे के इमे पव्वइए १७-३
जे के इमे पव्वइए नियंठे १७-१
जे केइ सरीरे सत्ता ६-११
जे गिद्धे कामभोगेसु ५-५
जे जे उवाया पडिवज्जिव्वा ३२-६
जेट्ठं कुलमवेक्खंतो २३-१५
जेट्ठामूले आसाढसावणे २६-१६
जे डहंति सरीरत्था २३-५०
जेणप्पाणं परं चेव ११-३२
जेण पुण जहाइ जीवियं १५-६
जेणम्हि वंता इसिणा स एसो १२-२१
जेणाहं दोग्गइं न गच्छेज्जा ८-१
जेणाहं नाभिजाणामि २-४०
जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू १५-११
जे तप्पओसी य परिग्गही य ३२-१०१
जे तरंति अतरं वणिया व ८-६
जे ताइं पडिसेवंति २-३८
जे दुज्जया अज्जो अम्हारिसेहिं १३-२७
जे नरा काम लालसा २५-४१
जे नरा गिहिसुव्वया ७-२०
जे नरा पावकारिणो १८-२५
जे पावकम्मेहि धणं मणूसा ४-२
जे भवंति दिउत्तमा २५-३३
जे भावओ संपगरेइ भिक्खू २१-१६
जे भिक्खुं अवमन्नह १२-२६
जे भिक्खुयं भत्तकाले वहेइ १२-२७
जे भिक्खू चयई निच्चं ३१-४
जे भिक्खू जयई निच्चं ३१-७ से २०
जे भिक्खू जयई सया ३१-२१
जे भिक्खू न विहन्नेज्जा २-४६
जे भिक्खू वज्जई निच्चं ३१-६
जे भिक्खू रुंभई निच्चं ३१-३
जे भिक्खू वहई सम्मं ३०-३१
जे भिक्खू सहई निच्चं ३१-५
जे माहणा जाइविज्जोववेया १२-१३
जे य उम्मग्गपट्ठिया २३-६१
जे य धम्माण पारगा २५-७
जे य मग्गेण गच्छंति २३-६१
जे ये वेयविऊ विप्पा २५-७
जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं ३२-२५,३८, ५१,६४,७७,६०
जे यावि होइ निव्विज्जे ११-२
जे लक्खणं च सुविणं च ८-१३
जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे २०-४५
जे वज्जए एए सया उ दोसे १७-२१
जे संखया तुच्छ परप्पवाई ४-१३
जे संति परिनिव्वुडा ५-२८
जे संति सुव्वया साहू ५-२
जे समत्था समुद्धत्तुं २५-८,१२,१५
जे सम्मं आयरे मुणी २४-२७;३०-३७
जेसिं तु विउला सिक्खा ७-२१
जेसिं मो नत्थि किंचण ६-१४


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ८-८
जेहिं नासंति जंतवो २३-६०
जेहिं बद्धो अयं जीवो ३३-१
जेहिं सज्जन्ति माणवा ३५-२
जेहिं सिक्खा न लब्भई ११-३
जेहिं होइ सिणायओ २५-३२
जो अत्थिकायधम्मं २८-२७
जो इमो पंचसिक्खिओ २३-१२,२३
जो इमो संतरुत्तरो २३-१३,२६
जोइयो धम्मजाणम्मि २७-८
जोइसंगविऊ ज य २५-७
जोइसंगविऊ तुब्भे २५-३६
जोइसवेमाणियाणं च ३४-५१
जोइसवेमाणिया तहा ३६-२०४
जोइसेसु जहन्निया ३६-२२१
जो उल्लो सो तत्थ लग्गई २५-४०
जो एवं पडिसंविक्खे २-३१
जोए वहमाणस्स २७-२
जो किरियाभावरुई २८-२५
जोगक्खेमं न संविदे ? ७-२४
जो गच्छइ परं भवं १६-१६,२१
जोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं... २९ सू० ३८
जोगवं उवहाणवं ११-१४;३४-२७,२६
जोगसच्चेणं भंते ! जीवे किं... २९ सू० ५३
जोग सुया सरीरं कारिसंगं १२-४४
जो जस्स उ आहारो ३०-१५
जो जाणे न मरिस्सामि १४-२७
जो जिणदिट्ठे भावे २८-१८
जो तं जीवियकारणा २२-४२
जो तं तिविहेण नाणुकंपे १५-१२
जो धम्मं सोच्च सद्दहे ३-११
जो न सज्जइ आगंतुं २५-२०
जो न सेवइ मेहुणं २५-२५
जो न हिंसइ तिविहेणं २५-२२
जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं २०-३९
जो पुत्ता ! होइ दुव्वहो १९-३५
जो मग्गे कुणई घरं ९-२६
जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणिं १२-२२
जोयणस्स उ जो तस्स ३६-६२
जोयणाणं तु आयया ३६-५८
जो लोए बंभणो वुत्तो २५-१९
जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू १५-७
जोव्वणेण य संपन्ने २१-६
जो संथवं न करेइ स भिक्खू १५-१०
जो सक्खं नाभिजाणामि २-४२
जो सहस्सं सहस्साणं ९-३४,४०
जो सुत्तमहिज्जंतो २८-२१
जो सो इत्तरियतवो ३०-१०
जो सोच्चा न वहिज्जई स भिक्खू १५-१४

(झ)

झाएज्जा सुसमाहिए ३०-३५
झाणं च विउस्सग्गो ३०-३०
झाणं तं तु बुहा वए ३०-३५
झाणविग्घो उ जो कओ २०-५७
झाणाणं च दुयं तहा ३१-६
झायई झवियासवे १८-५

(ठ)

ठाणं किं मन्नसी मुणी ? २३-८०
ठाणं ठिइं गइं चाउं ३४-२
ठाणा वीणासणाईया ३०-२७
ठाणे कुज्जा निसीहियं २६-५
ठाणे निसीयणे चेव २४-२४
ठाणे य इइ के वुत्ते ? २३-८२
ठाणेसु यसमाहिए ३१-१४
ठाणेहिं उ इमेहिं २६-३३
ठिई उ आउकम्मस्स ३३-२२
ठिई एसा वियाहिया ३३-२०;३६-१३,२४४
ठिई पडुच्च साईया ३६-१२,७६,८७,१०१,
११२,१२१,१३१,१४०,१५०,१५६,१७४,
१८३,१६०,१६६,२१८

(ड)

डज्झमाणं न बुज्झामो १४-४३
डज्झमाणेसु जंतुसु १४-४२
डहेज्ज नरकोडिओ १८-१०
डोले भिंगारी य ३६-१४७

(ढ)

ढंकगिद्धेहिणंतसो १९-५८
ढिंकुणे कुंकणे तहा ३६-१४६

(ण)

णेव अन्नेहिं कारए ३५-८

(त)

तइए दस अट्ठहिं चउत्थे २६-१६
तइयं च पुणो पमज्जेज्जा २६-२४
तइयम्मि जहन्नेणं ३६-२३६
तइयाए जहन्नेणं ३६-१६२
तइयाए निद्दमोक्खं तु २६-१८,४३
तइयाए पोरिसीए २६-३१
तइयाए भिक्खायरियं २६-१२
तइया रायरिसिंमि ९-५
तइया समुग्गपक्खिया ३६-१८८
तउयाइं सीसयाणि य १९-६८
तओ आउपरिक्खीणे ७-१०
तओ उत्तरगुणे कुज्जा २६-११,१७
तओ ओरालियकम्माइं० २९ सू० ७४
तओ कम्मगुरू जंतू ७-९
तओ कल्ले पभायम्मि २०-३४
तओ काले अभिप्पेए ५-३१
तओ कीडपयंगो य ३-४
तओ कुंथुपिवीलिया ३-४
तओ केसिं बुवंतं तु २३-२१,२५,३७
तओ केसी अणुन्नाए २३-२२
तओ गच्छसि खत्तिया ! ९-१८,२४,२८
३२,३८,४६
तओ गुत्तीओ आहिया २४-१
तओ चंडालवोक्कसो ३-४
तओ जले दीसमहे तहेव ३६-५४
तओ जिए सई होइ ७-१८
तओ झाएज्ज एगगो १-१०
तओ तेणज्जिए दव्वे १८-१६
तओ नमिं रायरिसिं ९-११,१७,२३
२७,३१,३७,४१,४५,५०
तओ नमी रायरिसी ९-८,१३,१६,२५,
२९,३३,३९,४३,४७,५२
तओ पुट्ठो आयंकेणं ५-११
तओ पुट्ठो पिवासाए २-४
तओ बहूणि वासाणि ३६-२५०
तओ राया भयद्दुओ १८-९
तओ संवच्छरद्धं तु ३६-२५३,२५४
तओ से जायंति पओयणाइं ३२-१०५
तओ से दंडं समारभई ५-८
तओ से पावयं कम्मं ८-९
तओ से पुट्ठे परिवूढे ७-२
तओ से मरणंतंमि ५-१६
तओ सो पहसिओ राया २०-१०
तओ हं एवमाहंसु २०-३१
तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से १३-२५
तं एवमेवं लालप्पमाणं १४-१५
तं कायं तु अमुंचओ ३६-८१,८९,१०३,
११४,१२३,१३३,१४२,१५२
तं च सि अंधगवण्हिणो २२-४३
तं ठाणं सासयं वासं २३-८४
तं तितिक्खे परीसहं २-५,१४
तं देहई मियापुत्ते १९-६
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु ३२-२२,३५,४८,
६१,७४,८७
तं न नस्ससि ? गोयमा ! २३-६०
तं नाणं जिणसासणे १८-३२
तं नेव भुज्जो वि समायरामो १४-२०
तं परिगिज्झ वायाए १-४३


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू १५-८,६
तं पासिऊणमेज्जंतं १२-४
तं पासिऊण संविग्गो २१-६
तं पासिया संजय हम्ममाणं १२-२०
तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं १३-१५
तं बिंतम्मापियरो १६-२४,४४,७५
तं भासओ मे पडिपुण्णचित्ता ३२-१
तं भुंजसू अम्ह अणुग्गहट्ठा १२-३५
तं भे उदाहरिस्सामि २-१
तंमि संवच्छरेकरे ३६-२५४
तं मे एगमणो सुण ३०-४
तं मे कहसु गोयमा ! २३-२८,३४,३६, ४४,४६,५४,५६,६४,६६,७४,७६
तं मे कित्तयओ सुण २४-६; ३६-३८
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु ३२-२२,३५, ४८,६१,७४,८७
तं लयं सव्वसो छित्ता २३-४६
तं वयं बूम माहणं २५-१६ से २७,३२
तं सम्मं निगिण्हामि २३-५८
तं सव्वं मरिसेहि मे २०-५७
तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं १४-१६
तं ससत्तं पइगिज्झ २१-३
तंसा चउरंसमायया ३६-२१
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ३२-२५ ३८,५१,६४,७७,६०
तं सि नाहो अनाहाणं २०-५६
तच्छिओ य अणंतसो १६-६६
तणफासा जल्लमेव य १६-३१
तणहारकट्ठहारा ३६-१३७
तणेसु सयमाणस्स २-३४
तण्हाकिलंतो धावंतो १६-५६
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो ३२-३०, ४३,५६,६६,८२,६५
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो ३२-८
ततो हं नाहो जाओ २०-३५
तत्तं तत्तविणिच्छयं २३-२५
तत्ताइं तंबलोहाहिं १६-६८
तत्तो ओमं तु जो करे ३०-१५
तत्तो य थीणगिद्धी उ ३३-५
तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च २१-१२
तत्तो य वग्गवग्गो उ ३०-११
तत्तो वि य उवट्टित्ता ८-१५
तत्थ आलंबणं नाणं २४-५
तत्थ आसि पिया मज्झ २०-१८
तत्थ एगे महापन्ने ५-१
तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ६-२६
तत्थ गंतूण सिज्झई ३६-५६
तत्थ चिंता समुप्पन्ना २३-१०
तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ८-११,१६
तत्थ ठिच्चा जहाठाणं ३-१६
तत्थ पंचविहं नाणं २८-४
तत्थ वासमुवागए २३-४,८;२५-३
तत्थ संकप्पए वासं ३५-७
तत्थ सिद्धा महाभागा ३६-६३
तत्थ से उववज्जई ७-२७
तत्थ से चिट्ठमाणस्स २-२१
तत्थ सो पासई साहुं २०-४
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ३२-३०, ४३,५६,६६,८२,६५
तत्थिमं पढमं ठाणं ५-४
तत्थोववाइयं ठाणं ५-१३
तन्तुजं तणतज्जिया २-३५
तप्पएसा तहेव य ३६-१०
तप्पएसे य आहिए ३६-५,६
तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ३२-१०५
तमंतमेणेव उ से असीले २०-४६
तमणुग्गहं करेहम्हं २५-३७
तमा तमतमा तहा ३६-१५७
तमायंरतो ववहारं १-४२
तमुद्धरित्तु जहानायं २३-४८
तमेगग्गमणो सुण ३०-१
तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि २०-३८
तम्मि आसि समागमे २३-८८
तम्मी नगरमंडले २३-४
तम्मी नयरमंडले २३-८
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे २४-८
तम्मेव य नक्खत्ते २६-२०
तम्हा एएसि कम्माणं ३३-२५
तम्हा एयाण लेसाणं ३४-६१
तम्हा गिहंसि न रइं लहामो १४-७
तम्हा गिहसमारंभं ३५-६
तम्हा जोइं न दीवए ३५-१२
तम्हा भिक्खू न पायए ३५-११
तम्हा भिक्खू न संजले २-२४
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ४-८
तम्हा विणयमेसेज्जा १-७
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ४-१०
तम्हा सव्वदिसं पस्स ६-१२
तम्हा सुयमहिट्ठेज्जा ११-३२
तम्हा हु एए निहया कुमारा १२-३२
तया गच्छइ गोयरं १६-८०
तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा १४-३६
तर कन्ने ! लहुं लहुं २२-३१
तरित्ता समुद्दं वा महाभवोघं २१-२४
तरियव्वो गुणोयही १६-३६
तरिस्संति अणागया १८-५२
तरिहिंति जे उ काहिंति ८-२०
तरुणाइच्चसन्निभा ३४-७
तरुणो सि अज्जो ! पव्वइओ २०-८
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो १४-१६
तवं खंतिमहिंसयं ३-८
तवं पगिज्झऽहक्खायं १४-५०
तवं संपडिवज्जेत्ता २६-५१
तवनारायजुत्तेण ६-२२
तवनियमसंजमधरं १६-५
तवप्पहाणं चरियं च उत्तमं १६-६७
तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु २८-२५
तवसंवरमग्गलं ६-२०
तवसा धुयकम्मंसे ३-२०
तवसा निज्जरिज्जइ ३०-६
तवस्स वाघायकरं वयासी १४-८
तवस्सी भिक्खु थामवं २-२,२३
तवस्सी वीरियं लद्धुं ३-११
तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? २६ सू० २८
तवेणं होइ तावसो २५-३०
तवेण परिसुज्झई २८-३५
तवेण परिसोसियं १२-४
तवोकम्मंसि उज्जुओ १६-८८
तवो जोई जीवो जोइठाणं १२-४४
तवो य दुविहो वुत्तो २८-३४
तवोवहाणमादाय २-४३
तवोसमायारिसमाहिसंवुडे १-४७
तसनामेहिं थावरेहिं च ८-१०
तसपाणबीयरहिए २४-१८
तसपाणे वियाणेत्ता २५-२२
तसाणं थावराणं च ३५-६
तसाण थावराण य २०-३५
तसा य थावरा चेव ३६-६८
तसेसु थावरेसु य ५-८; १६-८६
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ३२-१६
तस्सक्खेवपमोक्खं च २५-१३
तस्स कोसस्स छब्भाए ३६-६२
तस्स गेहस्स जो पहू १६-२२
तस्स पाए उ वंदित्ता २०-७
तस्स भज्जा दुवे आसी २२-२
तस्स भज्जा सिवा नाम २२-४
तस्स मे अपडिक्कंतस्स १३-२६
तस्स राईमई कन्नं २२-६
तस्स रूवं तु पासित्ता २०-५
तस्स रूववई भज्जं २१-७
तस्स लोगपईवस्स २३-२,६
तस्सगए मिए पासं १८-५


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरसावि संजमो सेओ ६-४०
तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा ३२-३
तहक्कारो य अट्ठमो २६-३
तहक्कारो य पडिस्सुए २६-६
तह दुक्करं करेउं जे १६-३६
तह पाणवत्तियाए २६-३२
तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ४-१२
तह य निमित्तंमि होइ पडिसेवि ३६-२६६
तहा अणुवसंतेणं १६-४२
तहा असंजमम्मि य ३१-१३
तहा गोत्तेण गोयमे १८-२२
तहा तेरिच्छमाणुसे ३१-५
तहा दुक्ख करेउं जे १६-४०
तहा निहुयं नीसंकं १६-४१
तहा पयणुवाई य ३४-३०
तहाभूएण अप्पणा ५-३०
तहा माणावमाणओ १६-६०
तहा लुक्खा य आहिया ३६-२०
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा ३२-१६
तहा वि ते न इच्छामि २२-४१
तहा सत्तेव एसणा ३०-२५
तहा सुचिण्णं तवसंजम च १४-५
तहियं गंधोदयपुप्फवासं १२-३६
तहियाणं तु भावाणं २८-१५
तहेव कासीराया १८-४८
तहेव जं दंसणमावरेइ ३२-१०८
तहेव निन्नेसु य आससाए १२-१२
तहेव परियट्टणा ३०-३४
तहेव भत्तपाणेसु ३५-१०
तहेव य तुयट्टणे २४-२४
तहेव य नपुंसगा ३६-४६
तहेव य वणस्सई ३६-६६
तहेव य वराडगा ३६-१२६
तहेव विजओ राया १८-४६
तहेव हिंसं अलियं ३५-३
तहेवासणदायणं ३०-३२
तहेवुग्गं तवं किच्चा १८-५०
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं १२-१४
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं १२-१३,१५
ताइं पाउकरे बुद्धे १८-३२
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो १६-६७
ताणि ठाणाणि गच्छंति ५-२८
तायं उवागम्म इमं उदाहु १४-६
ताया! दीसंति वेयणा १६-७३
तारिसम्मि उवस्सए ३५-५
तारिसा गलिगद्दहा २७-१६
तारुण्णे समणत्तणं १६-३६
तालणा तज्जणा चेव १६-३२
तावइयं चेव वित्थिण्णा ३६-५८
ताव जीवइ से दुही ७-३
तासि इंदियदरिसणं १६-११
तासिं दोण्हं पि दो पुत्ता २२-२
तिंदुगा तउसमिंजगा ३६-१३८
तिंदुयं नाम उज्जाणं २३-४
तिदुयं वणमागओ २३-१५
तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा ३४-११
तिगुणो तस्सेव परिरओ ३६-५८
तिगुत्तं दुप्पधंसयं ६-२०
तिगुत्तिगुत्तो तिदंडविरओ य २०-६०
तिण्णा संसारसागरं २६-१,५२; ३१-१
तिण्णुदही पलिओवम ३४-४१
तिण्णुदही पलिय ३४-४२
तिण्णुदही पलियमसंखभागमब्भहिया ३४-३६
तिण्णेव अहोरत्ता ३६-११३
तिण्णेव उ सागरोवमा ३६-१६२
तिण्णेव सहस्साइं ३६-१२२
तिण्णेव सागरा ऊ ३६-१६१
तिण्णो हु सि अण्णवं महं १०-३४
तिण्हमन्नयरं मुणी ५-३२
तितिक्खं परमं नच्चा २-३६
तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु २६-३४
तित्तकडुयकसाया ३६-१८
तिन्नि वि एय अणाइया ३६-८
तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ३४-५६
तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ३४-५७
तिपया हवइ पोरिसी २६-१३
तिभागहीणा तत्तो य ३६-६४
तियं मे अंतरिच्छ च २०-२१
तिरियमणुस्साण देवाणं ३४-४४
तिरियाण नराणं वा ३४-४५
तिविहा ते वियाहिया ३६-११६
तिविहो व नवविहो वा ३४-२०
तिव्वचंडप्पगाढाओ १६-७२
तिव्वारंभपरिणओ ३४-२१
तीसई कोडिकोडिओ ३३-१६
तीसई सागरोवमा ३६-२४२
तीसं तु सागराइं ३६-२४१
तीसे पुत्तो महायसो २२-४
तीसे य जाईइ उ पावियाए १३-१६
तीसे सो वयणं सोच्चा २२-४६
तीसे अगुत्तो छसु अविरओ य ३४-२१
तुंगे सिवलिं पायवे १६-५२
तुंदिल्ले चियलोहिए ७-७
तुज्झं विवाहकज्जंमि २२-१७
तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं २०-५५
तुट्ठे य विजयघोसे २५-३५
तुट्ठो ये सेणियो राया २०-५४
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो १२-३३
तुब्भे जइया जन्नाणं २५-३६
तुब्भेत्थ भो! भारधरा गिराणं १२-१५
तुब्भे धम्माण पारगा २५-३६
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना १२-३३
तुब्भे वेयविऊ विऊ २५-३६
तुब्भे सणाहा य सबंधवा य २०-५५
तुब्भे समत्था उद्धत्तुं २५-३७
तुब्भेहिं अणुमन्निओ १६-२३
तुब्भेहिं अब्भणुण्णाओ १६-८५
तुमे राय विचिंतिया १३-८
तुरियं मउयकुंचिए २२-२४
तुरियाण सन्निनाएण २२-१२
तुलियाण बालभावं ७-३०
तुलिया बालं च पंडियं ७-१६
तुलिया विसेसमादाय ५-३०
तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ ३४-१२
तुसिणीओ उवेहेज्जा २-२५
तुसिणीओ न कयाइ वि १-२०
तुहं पियाइं मंसाइं १६-६६
तुहं पिया सुरा सीहू १६-७०
ते अज्ज परिभुंजामो १३-६
तेइंदियआनुठिई ३६-१४१
तेइंदियकायठिई ३६-१४२
तेइंदियकायमइगओ १०-११
तेइंदिय जीवाणं ३६-१४३
तेइंदिया उ जे जीवा ३६-१३६
तेउक्कायामइगओ १०-७
तेउजीवाण अंतरं ३६-११५
तेउलेसं तु परिणमे ३४-२८
तेअलेसा उ वण्णओ ३४-७
तेउलेसा जहा सुरगणाणं ३४-५१
तेऊ पम्हा तहेव य ३४-३
तेऊ पम्हा सुक्का ३४-५७
तेऊए ठिई जहन्निया होइ ३४-५३
तेऊ वाऊ स बोद्धव्वा ३६-१०७
तेऊवाऊवणस्सइतसाणं २६-३०
ते कामभोगरसगिद्धा ८-१४
ते कामभोगेसु असज्जमाणा १४-६
ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ३२-६
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा ३२-२०
तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा २-३३
ते घोररूवा ठिय अंतलिक्खे १२-२५
ते चेव खिंसई बाले १७-४
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं ३२-१००
ते छिंदित्तु जहानायं २३-४३
ते जिणित्तु जहानायं २३-३८


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेण धम्मे दुहा कए २३-२६
तेण परं वोच्छामि ३४-४४,४७,५१
तेणावि जं कयं कम्मं १८-१७
तेणावि से न संतुस्से ८-१६
तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए ४-३
तेणे यावि य मच्छरी ३४-२६
तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया ३४-३४,३६
तेत्तीसं सागरोवमा ३६-२४४
तेत्तीसमुहुत्तमब्भहिया ३४-५५
तेत्तीससागराइं ३४-४३
तेत्तीस सागरा उ ३६-२४३
तेत्तीस सागरा ऊ ३६-१६६
तेत्तीसं सागरोवमा ३३-२२
तेत्तीसासायणासु य ३१-२०
ते परियंति समंतओ २७-१३
ते पासिया खण्डियकट्ठभूए १२-३०
ते पासे सव्वसो छित्ता २३-४१
ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा ४-१३
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमंते १२-२५
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा १२-१४
ते मे कित्तयओ सुण ३६-१७६,१६५,२०४
ते मे तिगिच्छं कुव्वंति २०-२३
ते य ते अहिगच्छंति २३-३५
तेवीस सागरोवमा ३६-२३५
तेवीसइ सूयगडे ३१-१६
तेवीस सागराइं ३६-२३४
ते समत्था उ उद्धत्तुं २५-३३
ते सव्वे उ वियाहिया ३६-१५८
ते सव्वे परिकित्तिया ३६-१४६,२१७
ते सव्वे विइया मज्झं २३-६१
ते सव्वे वि वियाहिया ३६-११८
तेसिं अन्नमिणं देयं २५-८
तेसिं इहलोइयफलट्ठा १५-१०
तसिं पुण दुल्लहा बोही ३६-२५७,२५६
तसिं पुत्ते बलसिरी १६-२
तसिं फलविवागेण १३-८
तेसिं भेए सुणेह मे ३६-६६,१०७,
१२७,१३६,१४५,१७१
तेसिं विमोक्खणट्ठाए ८-३; २५-१०
तेसिं वुच्छं चउव्विहं ३६-११,७८,१११,१२०
तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं ५-२६
ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्का? १४-३६
ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्को? १४-३४
तेहिं आराहिया दुवे लोग ८-२०
ते होंति परित्तसंसारी ३६-२६०
तोत्तओ य से भज्जई २७-३
तो न नस्सामहं मुणी २३-६१
तो नाणदंसणसमग्गो ८-३
तो विइयं पप्फोडे २६-२४
तो वंदिऊण पाए ६-६०
तोसिया परिसा सव्वा २३-८६
तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ३२-११०
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी १३-२२

## थ

थंभा कोहा पमाएणं ११-३
थणिया भवणवासिणो ३६-२०६
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ११-२; १७-११
थलिसेणाखंधारे ३०-१७
थलेसु बीयाइ ववंति कासगा १२-१२
थवथुइमंगलेणं भंते! जीवे किं... २६ सू० १५
थावरा तिविहा तहिं ३६-६८
थीकहं तु विवज्जए १६-२
थीकहा य मणोरमा १६-११
थुई मंगलं च काऊणं २६-४२
थेरे गणहरे गग्गे २७-१
थोवं चिट्ठइ लंबमाणए १०-२

## द

दंउसल्लभएसु य १६-६१
दंडाणं गारवाणं च ३१-४
दंडेहि वित्तेहि कसेहि चेव १२-१६
दंतसोहणमाइस्स १६-२७
दंसणं चरणं तहा २४-५
दंसणनाणचरित्ते २८-२५
दंसणसम्पन्नयाए णं भंते!जीवे किं..
२६ सू० ६१
दंसणावरणं तहा ३३-२
दंसणे उ भइयव्वं २८-२६
दंसणे केवले य आवरणे ३३-६;३६-६
दंसणे चरणे तहा ३३-८
दंसणेण तवेण य १६-१४
दंसणेण य सद्दहे २८-३५
दंसणे तितिहं वुत्तं ३३-८
दंसमसगवेयणा १६-३१
दच्चा भोच्चा य जट्ठा य ६-३८
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं १३-३०
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ३२-१४
दट्ठूणं नरवइं महिड्ढियं १३-२८
दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता १४-४
दट्ठूण रहनेमिं तं २२-३६
दड्ढपुव्वो अणंतसो १६-५०
दड्ढो पक्को य अवसो १६-५७
दढं परिगिण्हई तवं २७-१६
दयाए परिनिव्वुडे १८-३५
दयाधम्मस्स खंतिए ५-३०
दवग्गिणा जहा रण्णे १४-४२
दवदवस्स चरई १७-८
दव्वओ खेत्तकालेणं ३०-१४
दव्वओ खेत्तओ चेव २४-६;३६-३
दव्वोओ चक्खुसा पेहे २४-७
दव्वं इक्किक्कमाहियं २८-८
दव्वाण य गुणाण य २८-५
दव्वाण सव्वभावा २८-२४
दव्वे खेत्ते काले ३०-२४
दस उदही पलिओवम ३४-४२
दस उदही पलिय ३४-४३
दस उदही पलियमसंखभागमब्भहिया ३४-३५
दस ऊ सागरोवमा ३६-२२७
दस चेव उ सागरोवमा ३६-१६४
दस चेव नपुंसेसुं ३६-५१
दस चेव सहस्साइं ३६-१०२
दस चेव सागराइं ३६-२२६
दसण्णभद्दो निक्खतो १८-४४
दसण्णरज्जं मुइयं १८-४४
दसमा उवसंपदा २६-४
दस वास सहस्साइं ३४-४१,४८,५३
दसवाससहस्सिया ३६-१६०,२१६,२२०
दस सागरोवमा ऊ ३६-१६३
दसहा उ जिणित्ताणं २३-३६
दसहा उ भवणवासी ३६-२०५
दस होंति सागरा मुहुत्ताहिया ३४-३८
दसारचक्केण य सो २२-११
दसारा य बहू जणा २२-२७
दाणे लाभे य भोगे य ३३-१५
दायारमन्नं अणुसंकमंति १३-२५
दारए से सुहोइए २१-५
दाराणि य सुया चेव १८-१४
दारुणा गामकंटगा २-२५
दारे य परिरक्खए १८-१६
दासा दसण्णे आसी १३-६
दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओ सि? १२-११
दिगिंछापरिगए देहे २-२
दिज्जाहि मम कारणा २ -२४
दिट्ठपुव्वं मए पुरा १६-६
दिट्ठीए अणिमिसाए उ १६-६
दिट्ठीए दिट्ठिसंपन्ने १८-३३
दिणभागेसु चउसु वि २६-११
दित्तं च कामा समभिद्दवंति ३२-१०
दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं ६-७
दिन्ना मु रन्ना मणसा न झाया १२-२१
दिया कामकमा इव १४-४४
दिवसस्स चउरो भागे २६-११
दिवसस्स पोरुसीणं ३०-२०


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिव्वं च गइं गच्छंति १८-२५
दिव्वजुयलपरिहिओ २२-६
दिव्वमाणुसतेरिच्छं २५-२५
दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा १२-३६
दिव्वा मणुस्सगा सहा तिरिच्छा २१-१६
दिव्वा वरिससओवमा १८-२८
दिव्वेण गगणं फुसे २२-१२
दिव्वे य जे उवसग्गे ३१-५
दिसाविचारिणो चेव ३६-२०८
दिस्स पाणे पियायए ६-६
दिस्स पाणे भयद्दुए २२-१४
दीवं कं मन्नसी? मुणी! २३-६५
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे ४-५
दीवे य इइ के वुत्ते? २३-६७
दीवोदहिदिसा वाया ३६-२०६
दीसंति बहवे लोए २३-४०
दीहाउया इड्ढिमंता ५-२७
दीहामयविप्पमुक्को मसत्थो ३२-११०
दुक्कडस्स य चोयणं १-२८
दुक्करं खलु भो निच्चं २-२८
दुक्करं चरिउं तवो १९-३७
दुक्करं जे करंति तं १६-१६
दुक्करं दमसागरो १९-४२
दुक्करं मंदरो गिरी १९-४१
दुक्करं रयणागरो १९-४२
दुक्करं समणत्तणं १९-४१
दुक्कराइं निवारेउं ३५-५
दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो १४-३३
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ३२-७
दुक्खं निप्पडिकम्मया १९-७५
दुक्खं बंभवयं घोर १९-३३
दुक्खं भिक्खायरिया १९-३२
दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो ३२-८
दुक्खकेसाण भायणं १९-१२
दुक्खमा हु पुणो पुणो २०-३१
दुक्खस्संतगवेसिणो १४-५१
दुक्खस्संतमुवागया १४-५२
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले ३२-२६,३९, ५२,६५,७८,९१
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ३२-१००
दुक्खाणंतकरो भवे ३५-१
दुक्खिया बहुवेयणा ३-६
दुग्गइं उववज्जई बहुसो ३४-५६
दुज्जए कामभोगे य १६-१४
दुज्जयं चेव अप्पाणं ९-३६
दुट्ठस्सो परिधावई २३-५५,५८
दुण्णुदही पलिओवम ३४-५३
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू ३२-२५,३८,५१, ६४,७७,९०
दुद्दंतो भंजए जुगं २७-७
दुद्धदहीविगईओ १७-१५
दुन्नि ऊ सागरोवमा ३६-२२४
दुप्पडियसुपडिओ २०-३७
दुप्परिच्चया इमे कामा ८-६
दुब्भिगन्धा तहेव य ३६-१७
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी १३-३१
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ३२-१०
दुमपत्तए पंडुयए जहा १०-१
दुलहे खलु माणुसे भवे १०-४
दुल्लहया कामेसु फासया १०-२०
दुल्लहाणीह जंतुणो ३-१
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा ७-१८
दुवालसंगं जिणक्खायं २४-३
दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं २१-२४
दुविहं तु वियाहियं ३३-१०
दुविहं दोग्गइं गए ७-१८
दुविहा अणसणा भवे ३०-९
दुविहा आउजीवा उ ३६-८४
दुविहा जीवा वियाहिया ३६-४८
दुविहा तेउजीवा उ ३६-१०८
दुविहा ते पकित्तया ३६-१२७,१३६,१४५
दुविहा ते वियाहिया ३६-१७,६८,७१, ९३,१७०,२०९,२१२
दुविहा थलयरा भवे ३६-१७९
दुविहा पुढवीजीवा उ ३६-७०
दुविहा वणस्सईजीवा ३६-९२
दुविहा वाउजीवा उ ३६-११७
दुविहावि ते भवे तिविहा ३६-१७१
दुविहा वेमाणिया तहा ३६-२०५
दुविहा सा वियाहिया ३०-१२
दुसओ तेयालो वा ३४-२०
दुस्साहडं धणं हिच्चा ७-८
दुस्सीलं परियागयं ५-२१
दुस्सीले रमई मिए १-५
दुस्सीसा वि हु तारिसा २७-८
दुहओ गई बालस्स ७-१७
दुहओ मलं संचिणइ ५-१०
दुहओ वि समिए सया २४-१४
दुहओ वि से झिज्जइ तत्थ लोए २०-४९
दुहओ सम्मत्तसंजुया १४-२६
दुहाण य सुहाण य २०-३७
दुहिएण वहिएण य १९-७१
दुहिया असरणा अत्ता ९-१०
देइ व पच्चक्खाणं २६-२९
देवकामाण अंतिए ७-१२,२३
देवत्तं माणुसत्तं च ७-१७
देवदाणवगंधव्वा १६-१६;२३-२०
देवमणुस्सपरिवुडो २२-२२
देवाउयं चउत्थं तु ३३-१२
देवा चउव्विहा वुत्ता ३६-२०४
देवाणं तु वियाहिया ३६-२४५
देवाणं हुज्ज अंतरं ३६-२४६
देवा भवित्ताण पुरे भवम्मी १४-१
देवाभिओगेण निओइएणं १२-२१
देवा य जहाइयं समोइण्णा २२-२१
देवा य देवलोगम्मि १३-७
देविंदं इणमब्बवी ९-९,१३,१९,२५,२९,३३, ३९,४३,४७,५२
देविंदो इणमब्बवी ९-११,१७,२३,२७,३१, ३७,४१,४५,५०
देवो दोगुंदगो चेव १९-३
देवे नेरइए अ अइगओ १०-१४
देवे वा अप्परए महिड्ढिए १-४८
देवे वावि महिड्ढिए ५-२५
देवेसु उववज्जई ७-२९
देवो दोगुंदओ जहा २१-७
देसिओ वद्धमाणेण २३-१२,२३,२९
देसियं च अईयारं २९-३९
देसियं तु अईयारं २९-४०
दोउदही पलियमसंखभागमब्भहिया ३४-३७
दोगुंछी अप्पणो पाए ६-७
दोगुंछी लज्जसंजए २-४
दो चेव सागराइं ३६-२२२
दोच्चाए जहन्नेणं ३६-१६१
दोण्हं अन्नयरे सिया ५-२५
दोमासकयं कज्जं ८-१७
दो वि आवडिया कुड्डे २५-४०
दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू ८-२
दोसमेव पकुव्वई २७-११
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ३२-२३,३६, ४९,६२,७५,८८


## ध


धणं आदाउमिच्छसि १४-३८
धणं पभूयं सह इत्थियाहिं १४-१६
धणधन्नपेसवग्गेसु १९-२९
धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो १३-२१
धणुं परक्कमं किच्चा ९-२१
धणेण किं धम्मधुराहिगारे १४-१७
धम्मं अकाऊण परंसि लोए १३-२१
धम्मं कल्लाण पावगं २-४२
धम्मं च कुणमाणस्स १४-२५
धम्मं च पेसलं नच्चा ८-१९
धम्मं चर सुदुच्चरं १८-३३
धम्मं पि हु सद्दहंतया १०-२०


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने १७-१
धम्मं सोऊण पव्वइओ १३-२
धम्मं सोच्चा अणुत्तरं २५-४२
धम्मकहाए णं भंते!जीवे... २९ सू० २४
धम्मज्जियं च ववहारं १-४२
धम्मज्झाणं झियायई १८-४
धम्मतित्थयरे जिणे २३-१,५
धम्मत्थिकाए तद्देसे ३६-५
धम्मलद्धं मियं काले १६-८
धम्मसद्धाए णं भंते!जीवे... २९ सू०४
धम्मसाहणमिच्छियं २३-३१
धम्मसिक्खाए कंथगं २३-५८
धम्मसुक्काइं झाणाइं ३०-३५
धम्मसुक्काणि झायए ३४-३१
धम्मरिसओ तस्स हियाणुपेही १३-१५
धम्माणं कासवो मुहं २५-१६
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा २०-५८
धम्माधम्मागासा ३६-८
धम्माधम्मे य दोवेए ३६-७
धम्मायरियस्स संघसाहूणं ३६-२६५
धम्मारामरए दंते १६-१५
धम्मारामे चरे भिक्खू १६-१५
धम्मारामे निरारंभे २-१५
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकंपी १३-३२
धम्मे दुविहे मेहावि! २३-२४
धम्मे संपडिवाइओ २२-४६
धम्मे हरए बंभे संतितित्थे १२-४६
धम्मो अहम्मो आगासं २८-७,८
धम्मो कित्ती तहा सुयं ११-१५
धम्मो दीवो पइट्ठा य २३-६८
धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ३-१२
धारेउं अ महप्पणे १९-३३
धारेज्जा पियमप्पियं १-१४
धारेयव्वं सुदुक्करे १९-२८
धारेयव्वाइं भिक्खुणो १९-२४
धारेह निव्वाणगुणावहं महं १९-९८
धिइं च केयणं किच्चा ९-२१
धिइमंता ववस्सिया २२-३०
धिइमं धम्मसारही १६-१५
धिरत्थु ते जसोकामी ! २२-४२
धिरत्थु मम जीवियं २२-२९
धीरस्स पस्सं धीरत्तं ७-२९
धीरा हु भिक्खायरियं चरंति १४-३५
धुत्ते व कलिना जिए ५-१६
धोरेयसीला तवसा उदारा १४-३५

(न)

न इमं सव्वेसुगारिसु ५-१६
न इमं सव्वेसु भिक्खूसु ५-१६
नई भवे अवि गंगासमाणा ३२-१८
न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं १२-११
न ओंकारेण बंभणो २५-२९
नंदणे सो उ पासाए १९-३
नंदावत्ते य विंछिए ३६-१४७
न कंखे पुव्वसंथवं ६-४
न कज्जं मज्झ भिक्खेण २५-३८
न कामभोगा समयं उवेंति ३२-१०१
न किंचि गंधं अवरज्झाई से ३२-५१
न किंचि फासं अवरज्झई से ३२-७७
न किंचि भासं अवरज्झई से ३२-९०
न किंचि रूवं अवरज्झई से ३२-२५
न किंचि सद्दं अवरज्झई से ३२-३८
न कोवए आयरियं १-४०
नक्खत्तं तंमि नहचउब्भाए २६-१९
नक्खत्तपरिवारिए ११-२५
नक्खत्ताण मुहं चंदो २५-१६
नक्खत्ताणं मुहं जं च २५-११
नक्खत्ताण मुहं बूहि २५-१४
न गच्छई सरणं तम्मि काले २०-४५
नगरस्स खेमं काऊणं ९-२८
न गेण्हइ अदत्तं जो २५-२४
न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ३२-१६
न चिट्ठे गुरुणंतिए १-१९
न चित्ता तायए भासा ६-१०
नच्चा उप्पइयं दुक्खं २-३२
नच्चा कम्मविवागयं २-४१
नच्चा नमइ मेहावी १-४५
न छिंदे न छिंदावए २-२
न जंपियं इंगियपेहियं वा ३२-१४
न जीवियट्ठा पजहामि भोए १४-३२
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं १-१९
नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं १३-१४
न तं अरी कंठछेत्ता करेइ २०-४८
न तं तायंति दुस्सीलं २५-२८
न तं सुदिट्ठं कुसला वयंति १२-३८
न तं सुहं कामगुणेसु रायं १३-१७
न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ १३-२३
न तस्स माया व पिया व भाया १३-२२
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा ३२-१०६
न ताओ मणसीकरे २-२५
न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी १३-३३
न तुमं जाणे अणाहस्स २०-१६
न ते किंचि न अच्छिमो १२-३४
न ते तुमं वियाणासि २५-१२
न ते पीला भविस्सई २२-३७
न तेसिं पडिसंजले २-२४
न तेसिं पीहए मुणी २-३८
न तेसु भावं निसिरे कयाइ ३२-२१
न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से ४-११
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं २८-३०
नत्थि किंचि अजाइयं २-२८
नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं २८-२९
नत्थि जीवस्स नासुत्ति २-२७
नत्थि जोइसमे सत्थे ३५-१२
नत्थि नूणं परे लोए २-४४
न दीसई जाइविसेस कोई १२-३७
न निक्करिसज्जइ कण्हुई १-७
न निण्हविज्ज कयाइ वि १-११
न निरट्ठं न मम्मयं १-२५
न निविज्जंति संसारे ३-५
न निसीएज्ज कयाइ वि १-२१
नन्नट्ठं पाणहेउं वा २५-१०
नन्नेसिं चक्खुफासओ १-३३
न पए न पयावए २-२
न पक्खओ न पुरओ १-१८
न पये न पयावए ३५-१०
न पारए होइ हु संपराए २०-४१
नपुंसवेयं विविहे य भावे ३२-१०२
न बंधवा बंधवयं उवेंति ४-४
न बंभयारिस्स खमो निवासो ३२-१३
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ३२-११
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो १३-३०
नमिमि अभिणिक्खमंतंमि ९-५
न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा १३-२३
नमी नमेइ अप्पाणं ९-६१
नमी राया विदेहेसु १८-४५
न मुंचई किंचि अणेसणिज्जं २०-४७
न मुणी रण्णवासेणं २५-२९
न मूलओ छिंदइ बंधणं से २०-३९
न मूसगाणं वसही पसत्था ३२-१३
न मे एयं तु निस्सेसं २२-१९
न मे गच्छइ नुम्मग्गं २३-५६
न मे डज्झइ किंचण ९-१४
न मे दिट्ठे परे लोए ५-५
न मे निवारणं अत्थि २-७
नमो ते संसयाईय! २३-८५
न य ओहारिणिं वए १-२४
न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू १५-६
न य णं दाहामु तुमं नियंठा! १२-१६
न य दुक्खा विमोएइ २०-२४,२५,३०
न य दुक्खा विमायंति २०-२३,२६,२७
न य पावपरिक्खेवी ११-१२
न य मम्ममुदाहरे ११-४
न य मित्तेसु कुप्पई ११-१२


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न य वित्तासए परं २-२०
न यामणुन्नेसु मणं पि कुज्जा ३२-२१
न यावि पूयं गरहं च संजए २१-१५,२०
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा १३-३१
न यावि भोगा विगइं उवेंति ३२-१०१
नरए उववज्जइं ७-२८
नरए दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु १६-१०
नरएसु दुक्खवेयणा १६-७३
नरएसु वि एगया ३-३
नरएसु वेइया मए १६-७२
नरएसु वेयणा उण्हा १६-४७
नरएसु वेयणा सीया १६-४८
नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ७-१६
नरगाओ न मुच्चई ५-२२
नरनारिं पजहे सया तवस्सी १५-६
न रसट्ठाए भुंजिज्जा ३५-१७
नरस्सत्तगवेसिस्स १६-१३
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि ६-४८
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं ३२-१२
नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं १३-१५
नरिंद ! जाई अहमा नराणं १३-१८
नरिंददेविंदभवंदिएणं १२-२१
न रूवलावण्णविलासहासं ३२-१४
न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं १-२५
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ३२-२६,३६, ५२,६५,७८,६१
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो ३२-६०,७३ ८६,६६
न लिप्पए भवमज्झे वि संतो ३२-३४,४७
नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं ३४-१६
नवमम्मि जहन्नेणं ३६-२४२
नवरं पुण समाणे १६-७५
नवहि वरिसेहि ऊणा ३४-४६
न वा लभेज्जा निउणं सहायं ३२-५
न वि कस्सवि उववाओ ३४-५८,५६
नवि जन्नाण जं मुहं २५-११
नवि जाणसि वेयमुहं २५-११
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि १४-४०
न वि निव्वाहणाय वा २५-१०
न वि मुंडिएण समणो २५-२६
न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो २५-६
न वि सा मज्झ दाहिई २७-१२
न वीएज्जा य अप्पयं २-६
न वीयरागस्स करेंति किंचि ३२-१००
न वीरजायं अणुजाइ मग्गं २०-४०
न वीरसे पंडिए आसुपन्ने ४-६
न संतसंति मरणंते ५-२६
न संतसे न वारेज्जा २-११
न सयं गिहाइं कुज्जा ३५-८
न सव्वत्थ वियाहिया ३६-१३०,१३६, १७३,१८२,१८६
न सव्वत्थभिरोयएज्जा २१-१५
न सा पडिनियत्तई १४-२४,२५
न सा पारस्स गामिणी २३-७१
न सा ममं वियाणाइ २७-१२
न सिगेहं कहिंचि कुव्वेज्जा ८-२
न सिया अइलोलुए ११-५
न सिया तोत्तगवेसए १-४०
न से इहं नेव परत्थ लोए १७-२०
न सो सुयक्खायधम्मस्स ६-४४
न सो होइ पसंसिओ १४-३८
नहं ओगाहलक्खणं २८-६
न हणे पाणिणो पाणे ६-६
न हु जिणे अज्ज दिस्सई १०-३१
न हु ते समणा वुच्चंति ८-१३
न हु दाहामि ते भिक्खं २५-६
न हु पाणवहं अणुजाणे ८-८
न हु मुणी कोवपरा हवंति १२-३१
न हु सो पभू तुमं पुत्ता! १६-३४
नहेव कुंचा समइक्कमंता १४-३६
नाइउच्चे व नीए वा १-३४
नाइदूरमणासन्ने १-३३;२०-७
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा १६-८
नाइविगिट्ठं तवं चरे ३६-२५३
नाइवेलं मुणी गच्छे २-६
नाइवेलं विहन्नेज्जा २-२२
नागो जहा पंकजलावसन्नो १३-३०
नागो व्व बंधणं छित्ता १४-४८
नागो संगामसीसे वा २-१०
नाणं च दंसणं चेव २३-३३;२८-२,३,११
नाणं नाणीहि देसियं २८-५
नाणंमि दंसणंमी २६-४७
नाणदंसणलक्खणं २८-१
नाणदंसणसन्निया ३६-६६,६७
नाणसंपन्नयाए णं भंते! जीवे...२६ सू०६०
नाणस्स केवलीणं ३६-२६५
नाणस्स सव्वस्स पगासणाए ३२-२
नाणस्सावरणिज्जं ३३-२
नाणाकुसुमंछन्नं २०-३
नाणागोत्तासु जाइसु ३-२
नाणादुमलयाइण्णं २०-३
नाणाधन्नपडिपुण्णे ११-२६
नाणापक्खिनिसेवियं २०-३
नाणारयणपडिपुण्णे ११-३०
नाणारुइं च छंदं च १८-३०
नाणावंजणसंजुयं १२-३४
नाणावरणं पंचविहं ३३-४
नाणाविहविगप्पणं २३-३२
नाणासीला अगारत्था ५-१६
नाणी नो परिदेवए २-१३
नाणुचिंते कयाइ वि १६-६
नाणुतप्पेज्ज पन्नवं २-३६
नाणुतप्पेज्ज संजए २-३०
नाणेणं दंसणेणं च २२-२६; २८-१०
नाणेण जाणई भावे २८-३५
नाणेण य मुणी होइ २५-३०
नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा २८-३०
नाणे दंसणे चेव २६-३६
नाणोसहिपज्जलिए ११-२६
नादंसणिस्स नाणं २८-३०
नानमंति नराहिवा! ६-३२
नापुट्ठो वागरे किंचि १-१४
नामं कम्मं तु दुविहं ३३-१३
नामकम्मं च गोयं च ३३-३
नामगोत्ताणं उक्कोसा ३३-२३
नामाइं तु जहक्कमं ३४-३
नामाइं वण्णरसगंध ३४-२
नामेण संजए नाम १८-१
नायएज्ज तणामवि ६-७
नायए परिनिव्वुए ३६-२६८
नायए परिनिव्वुडे १८-२४
नायव्वं दंसणावरणं ३३-६
नायव्वा अमोरत्ताओ २६-१५
नायव्वा काउलेसाए ३४-३६
नायव्वा किण्हलेसाए ३४-३४
नायव्वा तेउलेसाए ३४-३७
नायव्वा नीललेसाए ३४-३५
नायव्वा पम्हलेसाए ३४-३८
नायव्वा सुक्कलेसाए ३४-३६,४६
नायव्वो होइ इत्तरिओ ३०-११
नारीजणाइं परिवारयंतो १३-१४
नारीसु नोपगिज्झेज्जा ८-१६
नालं ते मम ताणाए ६-३
नावकंखे कयाइ वि ६-१३
नावा य इइ का वुत्ता? २३-७२
नावा विपरिधावई २३-७०
नासन्ने नाइदूरओ १-३४
नासन्ने विलवज्जिए २४-१८
नासीले न विसीले ११-५
नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा १४-४१
नाहो मज्झ न विज्जई २०-६
निंबरसो कडुयरोहिणीरसो वा ३४-१०
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं ३२-४
निक्कसिज्जइ सव्वसो १-४


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निक्खंता जिणसासणे १८-४६
निक्खंतो जिणसासणे १८-१६
निक्खमणं तस्स काउं जे २२-२१
निक्खमिय बारगाओ २२-२२
निक्खित्तविसाणं भायणं २६-३६
निगमे य आगरे पल्ली ३०-१६
निगमे वा रायहाणिए २-१८
निग्गंथो वि न करेज्ज छहिं चेव २६-३३
निग्गंथे पावयणे २१-२
निग्गंथो धिइमंतो २६-३३
निग्गया होहिई मन्ने २७-१२
निच्चं भीएण तत्थेण १६-७१
निच्चं मुइयमाणसो १६-३
निच्चकालप्पमत्तेणं १६-२६
निच्चसो परिवज्जए १६-३,७,१०,१४
निच्चाउत्तेण दुक्करं १६-२६
निज्जाइ उदगं व थलाओ ८-६
निज्जाओ वण्हिपुंगवो २२-१३
निज्जाणं पावगं इमं २१-६
निज्जूहिऊण आहारं ३५-२०
निद्दा तहेव पयला ३३-५
निद्दानिद्दा य पयलपयला य ३३-५
निद्दासीले पगामसो १७-३
निद्धंतमलपावगं २५-२१
निद्धंधसपरिणामो ३४-२२
निद्धुणित्ताण निग्गओ १६-८७
निंदणयाए णं भंते! जीवे किं २६ सू० ७
निन्नेहा निप्परिग्गहा १४-४६
निब्भेरिच्छे रुहिरं वमंते १२-२६
निमंतयंतं च सुए धणेणं १४-११
निमंतिओ य भोगेहि २०-५०
निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि ३२-१०५
निमित्त कोऊहल संपगाढे २०-४५
निमित्तेण य ववहरई १७-१८
निमेसंतरमित्तं पि १६-७४
निम्ममत्तं सुदुक्करं १६-२६
निम्ममो निरहंकारो १६-८६;३५-२१
निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो १४-३४
नियगाओ भवणाओ २२-१३
नियडिल्ले अणुज्जुए ३४-२५
नियंठधम्मं लहियाण वी जहा २०-३८
नियत्तेज्ज जयं जई २४-२१,२३,२५
नियत्तो हाससोगाओ १६-६१
नियाणमसुहं कडं १३-२८
निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के २१-२४
निरट्ठगम्मि विरओ १-४२
निरट्ठसोया परियावमेइ २०-५०
निरट्ठाणि उ वज्जए १-८
निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स २०-४६
निरवकंखा बिइज्जिया ३०-६
निरवेक्खो परिव्वए ६-१५
निरस्साए उ संजमे १६-३७
निरासवे संखविया ण कम्मं २०-५२
निरोवलेवाइ असंथडाइं २१-२२
निवडइ राइगणाण अच्चए १०-१
निवेसइ निवज्जई २७-५
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ३२-३२,४५
५८,७१,८४,६७
निव्वत्तयंती अमुणम्नयं वा ३२-१०६
निव्वाणं च न गच्छइ ११-६
निव्वाणं ति अबाहंति २३-८३
निव्वाणं परमं जाइ ३-१२
निव्वाणमग्गं विरए उवेइ २१-२०
निव्वावारस्स भिक्खुणो ६-१५
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ १६-१०
निव्विण्णसंसारभया जहाय १४-२
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य २८-३१
निव्विसया निरामिसा १४-४६
निव्वेएण भंते! जीवे किं २६ सू० ३
निसंते सियाऽमुहरी १-८
निसग्गुरुइ त्ति नायव्वो २८-१८
निसग्गुवएसरुई २८-१६
निसन्नं रुक्खमूलम्मि २०-४
निसीएज्जप्पकुक्कए १-३०
निसेज्जं पायकंबलं १७-७
निस्संकिय निक्कंखिय २८-३१
निस्संगो चत्तगारवो १६-८६
निस्संसो अजिइंदिओ ३४-२२
निहंतूण उवायओ २३-४१
निहियं दुहओ वि विरायइ ११-१५
नीया तंतवगावियं ३६-१४८
नीयावित्ती अचवले १५-१०
नीयावित्ती अचवले ३४-२७
नीललेसं तु परिणमे ३४-२४
नीललेसा उ वण्णओ ३४-५
नीलासोगसंकासा ३४-५
नीहरंति मयं पुत्ता १८-१५
नीहारिमणीहारी ३०-१३
नीहासा य निराणंदा २२-२८
नेच्छई सामुदाणियं १७-१६
नेयाउयं दट्ठमदट्ठुमेव ४-५
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए ३२-१७
नेरइयतिरिक्खाउ ३३-१२
नेरइयतिरिक्खा य ३६-१५५
नेरइयाणं तु अंतरं ३६-१६८
नेरइयाणं वियाहिया ३६-१६७
नेरइया सत्तविहा ३६-१५६
नेव किच्चाण पिट्ठओ १-१८
नेव कुज्जा कयाइ वि १-१७
नेव कुज्जा परिग्गहं २-१६
नेव चिट्ठे न संलवे १-२६
नेव ताणाय तं तव १४-३६
नेव पल्हत्थियं कुज्जा १-१६
नेव सेज्जागओ कया १-२२
नेहपासा भयंकरा २३-४३
नो अइमायाए पाणभोयणं आहरेत्ता १६सू० १०
नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा १४-१६
नो इत्थीणं इंदियाइं १६-सू०६
नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ १६ सू० ४
नो इत्थीणं कुडुंतरंसि वा १६ सू० ७
नो इत्थीहिं सद्धिं १६ सू०५
नो एणं पडिवज्जए ३-१०
नोकसायं तहेव य ३३-१०
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा २-१७
नो तेसिं वयइ सिलोगपूयं १५-६
नो तेसिमारभे दंडं ८-१०
नो निग्गंथे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ... १६ सू० ८
नो पणीयं आहारं आहरित्ता हवइ... १६ सू० ६
नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा ८-१८
नोवलिप्पइ वारिणा २५-२६
नो विभूसाणुवाई हवइ, से निग्गंथे १६सू० ११
नो वि य वंदणगं कुओ पसंसं १५-५
नो सक्किमिच्छई न पूयं १५-५
नो सद्दरूवरसगंधफासाणुवाई हवइ..... १६सू० १२
नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ८-६
नो हीलए नो वि य खिसएज्जा १६-८३
नो हीलए पिंडं निरसं तु १५-१३

(प)

पइण्णगं दिट्ठिवाओ य २८-२३
पइण्णवाई दुहिले ११-६
पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं २-२३
पइरिक्के परकडे वा ३५-६
पउंजेज्ज इमं विहिं २४-१३
पएसग्गं खेत्तकाले य ३३-१६
पएसग्गमणंतगं ३३-१७
पओगकाले य दुही दुरंते ३२-३१,४४, ५७,७०,८३,६६
पंकभूया उ इत्थिओ २-१७
पंकाभा धूमाभा ३६-१५७


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंकेण व रएण व २-३६
पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी १४-३०
पंच जिए जिया दस २३-३६
पंचमं कुसतणाणि य २३-१७
पंचमम्मि जहन्नेणं ३६-२३८
पंचमहव्वयजुत्तो १६-८८
पंचमहव्वयधम्मं २३-८७
पंचमाए जहन्नेणं ३६-१६४
पंचमा छंदणा नाम २६-३
पंचमा होइ नायव्वा ३३-५
पंचमुट्ठीहिं समाहिओ २२-२४
पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो ३०-११
पंचलक्खणए तुमं १६-४३
पंचविहमंतरायं ३३-१५
पंचविहा जोइसिया ३६-२०५
पंचविहे कामगुणे १६-१०
पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य १६-८८
पंचसमिओ तिगुत्तो ३०-३
पंचहाणुत्तरा सुरा ३६-२१६
पंचहा जलयराहिया ३६-१७२
पंचहा जोइसालया ३६-२०८
पंचहा ते पकित्तिया ३६-१६-१८,२१, ८५,११८
पंचालराया! वयणं सुणाहि १३-२६
पंचालराया वि य बंभदत्तो १३-३४
पंचालेसु य दुम्मुहो १८-४५
पंचासवप्पवत्तो ३४-२१
पंचिंदियकायमइगओ १०-१३
पंचिंदियतिरिक्खाओ ३६-१७०
पंचिंदिया उ जे जीवा ३६-१५५
पंचिंदियाणि कोहं ६-३६
पंचेव समिइओ २४-१
पंजली पडिपुच्छई २०-७
पंडिया पवियक्खणा ६-६२;१६-६६;२२-४६
पंडियाणं सकामं तु ५-३
पंडियाणं सुणेह मे ५-१७
पंडुपणगमट्टिया ३६-७२
पंडुरा निम्मला सुहा ३६-६१
पंतं सयणासणं भइत्ता १५-४
पंतमुलाइं परिव्वए स भिक्खू १५-१३
पंताणि चेव सेवेज्जा ८-१२
पंतोवहि उवगरणं १२-४
पकप्पम्मि तहेव य ३१-१८
पक्कविट्ठस्स वावि जारिसओ ३४-१३
पक्कपुव्वो अणंतसो १६-४६
पक्कमंति दिसोदिसिं २७-१४
पक्कमंति महेसिणो २८-३६
पक्खपिंडं व संजए १-१६
पक्खिणो य चउव्विहा ३६-१८८
पक्खी पत्तं समादाय ६-१५
पक्खेण य दुअंगुलं २६-१४
पगाढा जत्थ वेयणा ५-१२
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा १४-१३
पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं... २९सू० १४
पच्चयत्थं च लोगस्स २३-३२
पच्चागया छड्डा ३०-१६
पच्चुप्पन्नपरायणे ७-६
पच्छा कडुयविवागा १६-११
पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं १४-३१
पच्छा जाया! गमिस्सामो १४-२६
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो २०-४८
पच्छाणुतावे य तवप्पभावं ३२-१०४
पच्छा दिट्ठो य तीइ वि २२-३४
पच्छा धम्मं चरिस्सासि १६-४३
पच्छा पच्छाणुतावए १०-३३
पच्छा परिन्नाय ४-७
पच्छा पुरा न चइयव्वे १६-१३
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं १२-८
पज्जत्तमज्जत्ता ३६-७०,८४,९२,१०८, ११७,१२७,१३६,१४५
पज्जवचरओ भवे भिक्खू ३०-२४
पज्जवाणं च सव्वेसिं २८-५
पज्जवाणं तु लक्खणं २८-१३
पट्टणमडंबसंवाहे ३०-१६
पडंति नरए घोरे १८-२५
पडिकम्मं को कुणई १६-७६
पडिकूलेइ अभिक्खणं २७-११
पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं... २९ सू० १२
पडिक्कमामि पसिणाणं १८-३१
पडिक्कमित्ता कालस्स २६-३७
पडिक्कमित्तु कालस्स २६-४५
पडिक्कमित्तु निस्सल्लो २६-४१,४६
पडिगाहेज्ज संजए १-३४
पडिच्छन्नंमि संवुडे १-३५
पडिणीए असंबुद्धे १-३
पडिणीयं च बुद्धाणं १-१७
पडिपुच्छणयाए णं भंते! जीवे... २९ सू० २१
पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स ८-१६
पडिपुण्णं नालमेगस्स ६-४६
पडिपुण्णे पुण्णमासीए ११-२५
पडिमं पडिवज्जओ २-४३
पडिरूवं पडिवत्तिं २३-१६
पडिरूवयाए णं भंते! जीवे किं... २९ सू० ४३
पडिरूवेण एसित्ता १-३२
पडिलेहणं कुणंतो २६-२९
पडिलेहणाअणाउत्ते १७-६
पडिलेहणापमत्तो २६-३०
पडिलेहिज्ज गोच्छगं २६-२३
पडिलेहिज्ज जयं जई २६-३८
पडिलेहित्ताण भंडयं २६-२१
पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा २६-२०
पडिलेहेइ पमत्ते १७-६,१०
पडिवज्जइ भावओ २३-८७
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि २१-१२
पडिसोओ व्व दुत्तरो १६-३६
पढमं पयं पसत्थं २६-२८
पढमं पोरिसिं सज्झायं २६-१२,१८,४३
पढमम्मि जहन्नेणं ३६-२३४
पढमा आवस्सिया नाम २६-२
पढमाए जहन्नेणं ३६-१६०
पढमे वए महाराया! २०-१९
पढमे वासचउक्कम्मि ३६-२५२
पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु ३४-५८
पणगजीवाण अंतरं ३६-१०४
पणयालसयसहस्सा ३६-५८
पणवीसभावणाहिं ३१-१७
पणवीस सागराइं ३६-२३६
पणीयं पाणभोयणं ३०-२६
पणीयं भत्तपाणं च १६-१२
पणीयं भत्तपाणं तु १६-७
पत्तं दुक्खं अणंतसो १९-६१
पत्तपुप्फफलोवेए ६-६
पत्तिएण पसायए १-४१
पत्तीइ भद्दाइ सुहासियाइं १२-२४
पत्तेगसरीरा उ ३६-९४
पत्तेगा य तहेव य ३६-९३
पत्तेया इति आहिया ३६-९५
पत्ते वाणारसिं पुरिं २५-२
पत्तो गइमणुत्तरं १८-३८,४०,४२,४३,४७
पत्तो वेयरणिं नदिं १९-५९
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं ३२-३३,४६, ५७,७२,८५,९८
पधावंतं निगिण्हामि २३-५६
पन्नरस तीसइ विहा ३६-१९७
पन्ना समिक्खए धम्मं २३-२५
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी १५-२,१५
पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च १४-१४
पप्फोडणा चउत्थी २६-२६
पबंधं च न कुव्वई ११-११
पबंधं च पकुव्वई ११-७
पब्भट्ठा समाहिजोएहिं ८-१४
पभाससे किं तु सगासि अम्हं १२-१६
पभीओ परलोगस्स ५-११
पभूयधणसंचओ २०-१८


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पभूयरयणो राया २०-२
पमज्जेज्ज जयं जई २४-१४
पमत्ते य अभिक्खणं १७-८
पमत्ते रसलोलुए साय गवेसए य ३४-२३
पम्हलेसं तु परिणमे ३४-३०
पम्हलेसा उ वण्णओ ३४-८
पयओ तं पडिस्सुणे १-२७
पयण पयावणेसु य ३५-१०
पयणुकोहमाणे य ३४-२६
पयहित्तु महाजसो १८-४६
पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं २८-२२
पयाहिणं करेंतो ६-५६
परं अप्पाणमेव य २५-८,१२,१५,३३,३७
परं भवं सुंदर पावगं वा १३-२४
परं संवेगमागओ २१-१०
पर करणे पडिपुच्छणा २६-५
परगेहंसि वावडे १७-१८
परपासंड सेवए १७-१७
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले १२-६
परमट्ठपएहिं चिट्ठई २१-२१
परमत्थसंथवो वा २८-२८
परमद्धजोयणाओ २६-३५
परमंतेहिं वा पुणो १८-३१
परमाणुगो य बोद्धव्वा ३६-१०
परमा दुहसंबद्धा १६-७१
परमाहम्मिएसु य ३१-१२
परलोए अणिस्सिओ १६-६२
परलोगे भविस्सई २२-१६
परस्सणुवघाइए २४-१७
पराईओ वाहिरिवोसहेहिं ३२-१२
परिग्गहं इत्थिओ माणमायं १२-४१
परिग्गहविवज्जणं १६-२६
परिग्गहारंभनियत्तदोसा १४-४१
परिजुण्णेहि वत्थेहिं २-१२
परिजूरइ ते सरीर यं १०-२६
परिणामो तेसि पंचहा ३६-१५
परिणामो न सुंदरो १६-१७
परिदाहेण तज्जिए २-८
परिभोगेसणा य जा २४-११
परिभोयंमि चउक्कं २४-१२
परिमंडलसंठाणे ३६-४२
परिमंडला य वट्टा ३६-२१
परिमियं चेव आयामं ३६-२५४
परियट्टणयाए णं भंते ! जीवे...२६ सू० २२
परियट्टंतीए राईए २०-३३
परियायधम्मं चभिरोयएज्जा २१-११
परिवज्जणं रसाणं तु ३०-२६
परिवज्जित्तु संजए २४-१०
परिवज्जेज्ज संजए १८-३०
परिवाडीए न चिट्ठेज्जा १-३२
परिवूढे परंदमे ७-६
परिव्वयंते अणियत्तकामे १४-१४
परिसप्पा दुविहा भवे ३६-१८१
परिसुक्कमुहेदीणे २-५
परिहायंति चरिमंते ३६-५६
परिहारविसुद्धीयं २८-३२
परीसहाणं पविभत्ती २-१
परीसहा दुव्विसहा अणेगे २१-१७
परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा २१-१६
परूवणा तेसि भवे ३६-३
परे भवे अत्थि जीवस्स ३४-५८,५६
परेसु घासमेसेज्जा २-३०
पलंडूलसणकंदे य ३६-६७
पलालं फासुयं तत्थ २३-१७
पलिउंचग ओवहिए ३४-२५
पलिओवमऽट्ठभागो ३६-२२१
पलिओवमं जहन्ना ३४-५२
पलिओवमं तु एगं ३६-२२१
पलिओवमस्स भागो ३६-१६१
पलिओवमाइं तिण्णि उ ३६-२००,२०१
पलिओवमाउ तिण्णि उ ३६-१८४,१८५
पलिओवममेगं तु ३६-२२०
पलियमसंखं च उक्कोसा ३४-५०
पलियमसंखं तु उक्कोसा ३४-४६
पलियमसंखिज्ज इमो ३४-४८
पलियमसंखेज्जेणं ३४-५२
पलेंति पुत्ता य पई य मज्झं १४-३६
पल्लोयाणुल्लया चेव ३६-१२६
पवज्जं अस्सिओ मुणी ३५-२
पवेइया आवसहा य रम्मा १३-१३
पवेसेज्ज अरी कुद्धो २०-२०
पव्वइओऽणगारियं २०-३४
पव्वइओ हि सि अणगारियं १०-२६
पव्वए अणगारियं २०-३२;२१-१०
पव्वज्जं सा जिणस्स उ २२-२८
पव्वज्जमब्भुवगओ १८-३६
पव्वज्जाछाणमुत्तमं ६-६
पव्वयंतो न सोयइ २५-२०
पव्वावेसो तहि बहुं २२-३२
पसत्थदमसासणे १६-६३
पसत्थलेसाण तिण्हं पि ३४-१७,१६
पसत्थाओ अहिट्ठेज्जासि ३४-६१
पसंतचित्ते दंतप्पा ३४-२६,३१
पसन्नं ते तहा मणो १८-२०
पसन्ना लाभइस्संति १-४६
पसवो दासपोरुसं ३-१७;६-५
पसायए ते हु दुरासयं पि १-१३
पसायपेही नियागट्ठी १-२०
पसारिया बाहु अकम्मचेट्ठे १२-२६
पसाहि पंचाल गुणोववेयं १३-१३
पसिढिलपलंबलोला २६-२७
पसुत्तो मि नराहिवा! २०-३३
पसुबंधा सव्ववेया २५-२८
पहणे कम्ममहाणवं १८-४८
पहयाओ दंदुहीओ सुरेहिं १२-३६
पहा छायातवे इ वा २८-१२
पहाय ते पास पयट्ठिए नरे ४-२
पहाय रागं च तहेव दोसं २१-१६
पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो १४-२६
पहीणपुत्तो मि तहा अहं पि १४-३०
पहीयए कामगुणेसु तण्हा ३२-१०७
पहू दुक्खे विमुच्चई ३५-२०
पाइओ कलकलंताइं १६-६८
पाइओ मि जलंतीओ १६-७०
पाउं होई सुदुक्करं १६-३६
पाए पसारिए वावि १-१६
पागारं कारइत्ताणं ६-१८
पाडिओ फालियो छिन्नो १६-५४
पाढवं सरीरं हिच्चा ३-१३
पाणभूयदयट्ठाए ३५-१०
पाणयम्मि जहन्नेणं ३६-२३१
पाणवहं मिया अयाणंता ८-७
पाणवहमुसावाया ३०-२
पाणाइ भूयाइ विहेडयंता १२-३६
पाणाइवयाविरई १६-२५
पाणिणो कम्मकिब्बिसा ३-५
पाणिदया तवहेउं २६-३४
पाणी नो सुप्पसारए २-२६
पाणीपाणविसोहणं २६-२५
पाणे य नाइवाएज्जा ८-६
पायं रसा दित्तिकरा नराणं ३२-१०
पायच्छित्तं तमाहियं ३०-३१
पायच्छित्तं दसविहं ३०-३१
पायच्छित्तं विणओ ३०-३०
पायच्छित्तकरणेणं भंते!जीवे...२६ सू०१७
पायत्ताणीए महया १८-२
पारियकाउस्सग्गो २६-४०,४२,४८,५१
पारेवयगीवनिभा ३४-६
पावं पुरा कम्ममकासि मोहा १४-२०
पावकम्मनिरासवे ३०-६
पावकम्मपवत्तणे ३१-३
पावकम्मेहिं पाविओ १६-५७
पावकम्मो अणंतसो १६-५३
पावगं परिवज्जए १-१२


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पावदिट्ठि त्ति मन्नई १-३८
पावदिट्ठि उ अप्पाणं १-३६
पावदिट्ठि विहन्नई २-२२
पावसमणि त्ति वुच्चई १७-३ से १६
पावसुयपसंगेसु ३१-१६
पावाइ कम्माइ पुणेल्लयामो? १२-१४
पावेसु तं दमीसरा! २२-२५
पासइ समण संजयं १६-५
पासंडा कोउगा मिगा २३-१६
पासजाईपहे बहू ६-२
पासबद्धा सरीरिणो २३-४०
पासमाणो न लिप्पई ताई ८-४
पासवणुच्चारभूमिं च २६-३८
पासाए कारइत्ताणं ६-२४
पासाए कीलए रम्मे २१-७
पासाएसु गिहेसु य ६-७
पासाओ वि न फिट्टई २०-३०
पासा य इइ के वुत्ता? २३-४२
पासायलोयणट्ठिओ १६-४
पासायलोयणे ठिओ २१-८
पासित्ता से महापन्ने २२-१५
पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो १२-२५
पासेण य महाजसा २३-२६
पासेण य महामुणी २३-१२,२३
पासे समियदंसणे ६-४
पासेहिं कूडजालेहिं १६-६३
पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना १२-२२
पिंडवायं गवेसए ६-१६
पिंडवायं चरे मुणी ३५-१६
पिंडोग्गहपडिमासु ३१-६
पिडोलए व दुस्सीले ५-२२
पियंकरे पियंवाई ११-१४
पियं न विज्जई किंचि ६-१५
पियधम्मे दढधम्मे ३४-२८
पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स १४-५
पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा २१-१५
पियरं परमदुक्खिया १८-१५
पियरो वि तहा पुत्ते १८-१५
पिया आणेइ रूविणिं २१-७
पिया मे सव्वसारं पि २०-२४
पिसायभूय जक्खा य ३६-२०७
पिहुंडं नगरमागए २१-२
पिहुंडे ववहरंतस्स २१-३
पीणिए विउले देहे ७-२
पीलिओ मि सकम्मेहिं १६-५३
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ३२-२७,४०,५३
६३,७६,६२
पुग्गलाणं तु लक्खणं २८-१२
पुग्गला समुदाहिया ३६-२०
पुच्छई तं महामुणिं २५-१३
पुच्छ भंते! जहिच्छं ते २३-२२
पुच्छमाणस्स सीसस्स १-२३
पुच्छामि ते महाभाग! २३-२१
पुच्छिऊण मए तुब्भं २०-५७
पुच्छिज्जा पंजलिउडो १-२२
पुच्छेज्जा पंजलिउडो २६-६
पुज्जा जस्स पसीयंति १-४६
पुट्ठो केणइ कण्हुई २-४०,४६
पुट्ठो तत्थहियासए २-३२
पुट्ठो य दंसमसएहिं २-१०
पुट्ठो वा नालियं वए १-१४
पुढविक्कायमइगओ १०-५
पुढवीआउक्काए २६-३०
पुडवी आउजीवा य ३६-६६
पुढवीकट्ठनिस्सिया ३५-११
पुढवी छत्तसंठिया ३६-५७
पुढवीजीवाण अन्तरं ३६-८२
पुढवी य सक्करा वालुया य ३६-७३
पुढवी साली जवा चेव ६-४६
पुढवीसु सत्तसू भवे ३६-१५६
पुढो विस्संभिया पया ३-२
पुणो चउत्थीए सज्झायं २६-१२
पुणो पुणो वंदई सक्को ६-५६
पुण्णं पावासवो तहा २८-१४
पुत्तं ठवेत्तु रज्जे ६-२
पुत्तं दारं च नायओ १६-८७
पुत्तं रज्जे ठवित्ताणं १८-३७,४६
पुत्तदारं च बंधवा १६-१६
पुत्तसोगदुहट्टिया २०-२५
पुत्ते पडिटप्प गिहंसि जाया! १४-६
पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं १८-४६
पुत्तो मे भाय नाइ त्ति १-३६
पुमत्तमागम्म कुमार दो वी १४-३
पुरं अंतेउरं च मे २०-१४
पुराणपुरभेयणी २०-१८
पुरिमस्स पच्छिमंमी २३-८७
पुरिमा उज्जुजडा उ २३-२६
पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ २३-२७
पुरिसेसु य अट्ठसयं ३६-५१
पुरीए तत्थ माहणे २५-४
पुरे पुराणे उसुयारनामे १४-१
पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती १४-३
पुरोहियं तं कमसोणुणंतं १४-११
पुरोहियं तं ससुयं सदारं १४-३७
पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे ३६-७६
पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे २६-२४
पुव्वं विसुद्धसद्धम्मे ३-१६
पुव्वकम्मखयट्ठाए ६-१३
पुव्वकोडीपुहत्तं तु ३६-१७६
पुव्वकोडीपुहत्तेणं ३६-१८५,१६२,२०१
पुव्वाइं वासाइं चरप्पमत्तो ४-८
पुव्वा वाससया बहू ३-१५
पुव्विं च अणागयं च १२-३२
पुव्विं भावणभाविया १४-५२
पुव्विल्लंमि चउब्भाए २६-८,२१
पुहुत्तेण अणाईया ३६-६५
पूइदेहनिरोहेणं ७-२६
पेच्चत्थं नावबुज्झसे १८-१३
पेच्चा होहिसि उत्तमो ६-५८
पेज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भंते! २६ सू० ७२
पेडा य अद्धपेडा ३०-१६
पेसिया पलिउंचंति २७-१३
पोएण ववहरंते २१-२
पोरिसीए चउत्थीए २६-४४
पोरिसीए चउब्भाए २६-२२,३७,४५
पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे २०-४२
पोसहं दुहओ पक्खं ५-२३
पोसेज्जा वि सयंगणे ७-१

(फ)

फग्गुणवइसाहेसु य २६-१५
फरुसं पि अणुसासणं १-२८
फलेइ विसभक्खीणि २३-४५
फासओ उण्हए जे उ ३६-३६
फासओ कक्खडे जे उ ३६-३४
फासओ गुरुए जे उ ३६-३६
फासओ निद्धए जे उ ३६-४०
फासओ परिणया जे उ ३६-१६
फासओ मउए जे उ ३६-३५
फासओ लहुए जे उ ३६-३७
फासओ लुक्खए जे उ ३६-४१
फासओ सीयए जे उ ३६-३८
फासपरिणामलक्खणं ३४-२
फासस्स कायं गहणं वयंति ३२-७५
फासाणुगासाणुगए य जीवे ३२-७६
फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं ३२-८४
फासाणुवाएण परिग्गहेण ३२-८०
फासा फुसंती असमंजसं च ४-११
फासिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे २६ सू० ६७
फासुए सिज्जसंथारे २३-४,८
फासुए सेज्जसंथारे २५-३
फासुयं परकडं पिंडं १-३४


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फासुयम्मि अणवाहे ३५-७
फासे अतित्तसस परिग्गहे य ३२-८२
फासे अतित्ते य परिग्गहे य ३२-८१
फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ३२-८३
फासे विरत्तो मणुओ विसोगो ३२-८६
फासेसु जो गिद्धिमुवेई तिव्वं ३२-७६
फेणबुब्बुयसन्निभे १९-१३

(ब)

बंधणे हि वहेहि य १-१६
बंधमोक्खपइण्णिणो ६-६
बंधू रायं ! तवं चरे १८-१५
बंभचेररओ थीणं १६-४,५,६
बंभचेररओ भिक्खू १६-२,३,७,६
बंभचेररओ सया १६-८
बंभचेरसमाहिए १६-१५
बंभचेरस्स रक्खट्ठा १६-१
बंभचेरेण बंभणो २५-३०
बंभदत्तो महायसो १३-४
बंभम्मि नायज्झयणेसु ३१-१४
बंभयारिं नमंसंति १६-१६
बंभलोए जहन्नेणं ३६-२२६
बंभलोगा य लंतगा ३६-२१०
बज्झई मच्छिया व खेलंमि ८-५
बज्झमाणं निरामिसं १४-४६
बज्झमाणाण पाणिणं २३-८०
बज्झो तवो होइ ३०-८
बलमोरोहं च परियणं सव्वं ६-४
बलवंते अप्पडिहए ११-१८
बलाबलं जाणिय अप्पणो य २१-१४
बला संडासतुंडेहिं १९-५८
बहवे दसुया मिलक्खुया १०-१६
बहवे परिभस्सई ३-६
बहवे रोयमाणा वि ३-१०
बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं १४-१७
बहिंविहाराभिनिविट्ठचित्ता १४-४
बहिया उड्ढमादाय ६-१३
बहुअंतरायं न य दीहमाउं १४-७
बहुआगमविण्णाणा ३६-२६२
बहुं खु मुणिणो भद्दं ६-१६
बहुं संचिणियारयं ७-८
बहु कम्मलेवलित्ताणं ८-१५
बहुपाणविणासणे ३५-१२
बहुपाणिविणासणं २२-१८
बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए १०-३१
बहुमाई पमुहरे १७-११
बहुयं मा य आलवे १-१०
बहुयाणि उ वासाणि १९-६५
बहुसो चेव विवाइओ १९-६३
बहूणं बहुगुणे सया ६-६
बाढं ति पडिच्छइ भत्तपाणं १२-३५
बायरकाए मणिविहाणा ३६-७४
बायरा जे उ पज्जत्ता ३६-७१,८५,६३, १०६,११८
बारसंगविऊ बुद्धे २३-७
बारसहिं जोयणेहिं ३६-५७
बारसेव उ वासाइं ३६-२५१
बालं सम्मइ सासंतो १-३७
बालग्गपोइयाओ य ६-२४
बालमरणाणि बहुसो ३६-२६१
बालस्स पस्स बालत्तं ७-२८
बालाणं अकामं तु ५-३
बालाणं क्रूरकम्माणं ५-१२
बालाणं तु पवेइयं ५-१७
बाला पंडियमाणिणो ६-१०
बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ८-७
बालाभिरामेसु दुहावहेसु १३-१७
बाले मच्चुमुहं पत्ते ५-१५
बाले य मंदिए मूढे ८-५
बाले संतस्सई भया ५-१६
बालेहिं मूढेहिं अयाणएहिं १२-३१
बावत्तरिं कलाओ य २१-६
बावीसं सागराइं ३६-२३३
बावीसं सागरोवमा ३६-१६६,२३४
बावीससहस्साइं ३६-८०
बावीस सागरा ऊ ३६-१६५
बावीसाए परीसहे ३१-१५
बाहाहिं काउं संगोफं २२-३५
बाहाहिं सागरो चेव १९-३६
बाहिरब्भंतरो तहा २८-३४; ३०-७
बाहिरो छव्विहो वुत्तो २८-३४; ३०-७
बिइए वासचउक्कम्मि ३६-२५२
बिइयम्मि जहन्नेणं ३६-२३५
बिइया य निसीहिया २६-२
बीए सोहेज्ज एसणं २४-१२
बीयं झाणं झियायई २६-१२,१८,४३
बीयाणि हरियाणि य १७-६
बुद्धपत्त नियागट्ठी १-७
बुद्धस्स निसम्म भासियं १०-३७
बुद्धाणं अंतिए सया १-८
बुद्धे अभिजाइए ११-१३
बुद्धे परिनिव्वुडे चरे १०-३४
बुद्धेहायरियं सया १-४२
बुद्धो भोगे परिच्चयई ६-३
बुद्धोवघाई न सिया १-४०
बूहि जन्नाण जं मुहं २५-१४
बूहि धम्माण वा मुहं २५-१४
बेइंदियआउठिई ३६-१३२
बेइंदियकायठिई ३६-१३३
बेइंदियकायमइगओ १०-१०
बेइंदियजीवाणं ३६-१३४
बेइंदियतेइंदिय ३६-१२६
बेइंदिया उ जे जीवा ३६-१२७
बोद्धव्वा इंदकाइया ३६-१३८
बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ८-१५

(भ)

भइए फासओ वि य ३६-४२ से ४६
भइस संठाणओ वि य ३६-२२ से ४१
भइए से उ गंधओ ३६-२२ से २६
भइए से उ वण्णओ ३६-२७ से ४६
भइणीओ मे महाराय ! २०-२७
भइयव्वा ते उ खेत्तओ ३६-११
भंडगं दुविहं मुणी २४-१३
भंडयं पडिलेहित्ता २६-८
भगवं अरिट्ठनेमि त्ति २२-४
भगवं ! एत्थ मे खमे १८-८
भगवं गोयमे नामं २३-६
भगवं वद्धमाणो त्ति २३-५
भगवं ! वाहराहि मे १८-१०
भगवं वेसालिए वियाहिए ६-१७
भुग्गुज्जोयपराइयं २२-३६
भज्जं जायइ केसवो २२-६
भज्जंति धिइदुब्बला २७-८
भज्जा पुत्ता य ओरसा ६-३
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य १३-२५
भणंता अकरेंता य ६-६
भणियं रसविवज्जणं ३०-२६
भणिया जिणवरेहिं ३६-६०
भत्तं पाणं गवेसए २६-३१
भत्तपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे २९ सू० ४१
भत्तपाणस्स अट्ठाए १९-८०
भत्तपाणेय पोसिया २७-१४
भद्द त्ति नामेण अणिंदियंगी १२-२०
भद्दवए कत्तिए य पोसे य २६-१५
भमरे कीडपयंगे य ३६-१४६
भयट्ठाणेसु सत्तसु ३१-६
भयभेरवा तत्थ उईति भीमा २१-१६
भयवं अंतेउरं तेणं ६-१२
भयवं केसिगोयमे २३-८६
भयवेराओ उवरए ६-६
भरहं वासं नरीसरो १८-४०
भरहवासं नराहिवो १८-३५
भरहो वि भारहं वासं १८-३४


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भल्लीहिं पट्टिसेहि य १९-५
भवकोडीसंचियं कम्मं ३०-६
भवणवइवाणमंतर ३४-५१
भवतण्हा लया वुत्ता २३-४८
भवप्पवंच उम्मुक्का ३६-६३
भवम्मि चरिमम्मि उ ३६-६४
भवसिद्धीयसंमए ३६-२६८
भवाओ परिमुच्चए ९-२२
भवाहि मणुयाहिवा ९-४२
भविस्सामो जहा इमे १४-४५
भवे देवि त्ति मे सुयं ७-२६
भवोहंतकरा मुणी २३-८४
भाणू य इइ के वुत्ते ? २३-७७
भायणं पडिलेहए २६-२२
भायणं सव्व दव्वाणं २८-९
भायरं बहुमाणेणं १३-४
भायरो मे महाराय ! २०-२६
भारिया मे महाराय ! २०-२८
भारुंडपक्खी व चरप्पमत्तो ४-६
भावं चादुत्तरं सुण ३३-१६
भावणाहि य सुद्धाहिं १९-९४
भावम्मि य आहिया उ जे भावा ३०-२४
भावसच्चेणं भंते ! जीवे ··· २९ सू० ५१
भावस्स मणं गहणं वयंति ३२-८८
भावाणुगासाणुगए य जीवे ३२-९२
भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं ३२-९७
भावाणुवाएण परिग्गहेण ३२-९३
भावे अतित्तस्स परिग्गहे य ३२-९५
भावे अतित्ते य परिग्गहे य ३२-९४
भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ३२-९६
भावेणं पज्जवेहि य ३०-१४
भावेणं सद्दहंतस्स २८-१५
भावे विरत्तो मणुओ विसोगो ३२-९९
भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं ३२-८९
भावोमाणं मुणेयव्वो ३०-२३
भासई मुणिवरो विगयमोहो ८-३
भासं भासेज्ज पन्नवं २४-१०
भासच्छन्ना इवग्गिणो २५-१८
भासादोसं परिहरे १-२४
भासियव्वं हियं सच्चं १९-२६
भिक्खट्ठा बंभइज्जम्मि १२-३
भिक्खमट्ठा उवट्ठिए २५-५
भिक्खमाणा कुलेकुले १४-२६
भिक्खाए वा गिहत्थे वा ५-२२,२८
भिक्खायरियमाहिया ३०-२५
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ३०-८
भिक्खालसिए एगे २७-१०
भिक्खावत्ती सुहावहा ३५-१५
भिक्खियव्वं न केयव्वं ३५-१५
भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा ३५-१५
भिक्खुधम्मं विचिंतए २-२६
भिक्खुधम्मंमि दसविहे ३१-१०
भिक्खू कुज्जा वियक्खणो २६-११,१७
भिक्खू जायाहि अन्नओ २५-६
भिक्खूणं पडिमासु य ३१-११
भिक्खू दत्तेसणं चरे १-३२
भिक्खूधम्मंमि दसविहे ३१-१०
भिक्खू न भवइ तारिसो ३५-१४
भिक्खू परमसंजए ३५-७
भिक्खेणं भिक्खुउत्तमा २५-३७
भिच्चाविहूणो व्व रणे नरिंदो १४-३०
भिन्ना हु न डहंति मे २३-५३
भिसं कूराइं कुव्वइ ५-४
भीए संते भिए तत्थ १८-३
भीमा भयभेरवा उराला १५-१४
भीमा भीमफलोदया २३-४८
भीयं पवेवियं दट्ठुं २२-३६
भीया य सा तहिं दट्ठुं २२-३५
भुओरगपरिसप्पा य ३६-१८१
भुंजंते मंससोणियं २-११
भुंज माणुस्सए भोगे १९-४३
भुंजमाणे सुरं मंसं ५-९; ७-६
भुंजामि माणुसे भोगे २०-१४
भुंजामु ता कामगुणे पगामं १४-३१
भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू ! १३-१४
भुंजाहि भोगाइ मए समाणं १४-३३
भुंजाहि सालिमं कूरं १२-३४
भुंजित्तु नमीराया ९-३
भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ५-२७
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु ७-२७
भुज्जो वि मंदा ! पगरेह पावं १२-३९
भुत्तभोगा तओ पच्छा २२-३८
भुत्तभोगी तओ जाया १९-४३
भुत्ता दिया निंति तमं तमेणं १४-१२
भुत्ता रसा भोइ ! जहाइ णे वओ १४-३२
भुत्ता विसफलोवमा १९-११
भुयमोयगइंदनीले य ३६-७५
भूईकम्मं च जे पउंजंति ३६-२६४
भूयग्गामं विहिंसई ५-८
भूयत्थेणाहिगया २८-१७
भूयाणं जगई जहा १-४५
भूयाणं दीसई वहो ३५-८
भेओ होइ आहिओ ३६-१९८
भेत्तूणं कम्मकंचुयं ९-२२
भेयं देहस्स कंखए ५-३१
भेया अट्ठवीसइं ३६-१९७
भेया छत्तीसमाहिया ३६-७७
भोइत्ता समणमाहणे ९-३८
भोए चयसि पत्थिवा ९-५१
भोगकालम्मि संजया ! २०-८
भोगा इमे संगकरा हवंति १३-२७
भोगामिसदोसविसण्णे ८-५
भोगी भमइ संसारे २५-३९
भोगे भुंजाहि संजया ! २०-११
भोगे भोच्चा वमित्ता य १४-४४
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं १४-९
भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ १७-३
भोच्चा माणुस्सए भोए ३-१९
भो भिक्खू सव्वकामियं २५-८
भोमिज्जवाणमंतर ३६-२०४
भोमेज्जाणं जहन्नेणं ३६-२१९
भोयणे परिणिट्ठिए २-३०
भोयावेउं बहुं जणं २२-१७


## (म)


मए उ मंदपुण्णेणं १८-७
मए नायमणायं वा २०-२९
मए सोढाओ भीमाओ १९-४५
मए सोढाणि भीमाणि १९-४६
मंतं मूलं विविहं वेज्जचिंतं १५-८
मंतमूलविसारया २०-२२
मंताजोगं काउं ३६-२६४
मंदा निरयं गच्छंति ८-७
मंदा य फासा बहुलोहणिज्जा ४-१२
मंसट्ठा भक्खियव्वए २२-१५
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं २०-५१
मग्गं च पडिवज्जई २३-५६
मग्गं बुद्धेहि देसियं ३५-१
मग्गं विराहेत्तु जिणुत्तमाणं २०-५०
मग्गगामी महामुणी २५-२
मग्गे उप्पहवज्जिए २४-५
मग्गेण जयणाइ य २४-४
मग्गे तत्थ सुहावहे २३-८७
मग्गे य इइ के वुत्ते ? २३-६२
मघवं नाम महाजसो १८-३६
मच्चुणाब्भाहओ लोगो १४-२३
मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले १३-२२
मच्छा जहा कामगुणे पहाय १४-३५
मच्छा य कच्छभा य ३६-१७२
मच्छियपत्ता तणुयरी ३६-५९
मच्छिया मसगा तहा ३६-१४६
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ३२-६३
मच्छो वा अवसो अहं १९-६४
मज्झिमा उज्जुपन्ना य २३-३६


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मज्झिमाउवरिमा तहा ३६-२१४
मज्झिमामज्झिमा चेव ३६-२१४
मज्झिमाहेट्ठिमा तहा ३६-२१३
मज्झे चिट्ठसि गोयमा ! २३-३५
मणइच्छियचित्तत्थो ३०-११
मणं पवत्तमाणं तु २४-२१
मणं पि न पओसए २-११, २६
मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे... २९ सू० ५४
मणगुत्ती चउव्विहा २४-२०
मणगुत्ती वयगुत्ती २४-२
मणगुत्तो वयगुत्तो १२-३; २२-४७
मणनाणं च केवलं २८-४; ३३-४
मणपरिणामे य कए २२-२१
मणपल्हायजणणिं १६-२
मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ १२-३२
मणवयकायसुसंवुडे स भिक्खू १५-१२
मणसमाहारणयाए णं भंते !... २९सू० ५७
मणसा कायवक्केणं ६-११; २५-२५
मणसा वयसा कायसा चेव ८-१०
मणसा वि न पत्थए ३५-४,१३,१८
मणस्स भावं गहणं वयंति ३२-८७,८८
मणिरयणकुट्टिमतले १९-४
मणुया दुविहभेया उ ३६-१९५
मणुया देवा य आहिया ३६-१५५
मणुस्साउ तहेव य ३३-१२
मणोगयं वक्कगयं १-४३
मणोरमे कामगुणे पहाय १४-४०
मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया १-४७
मणो साहसिओ भीमो २३-५८
मणोसिला सासगंजणपवाले ३६-७४
मणोहरं चित्तहरं ३५-४
मण्डिकुच्छिंसि चेइए २०-२
मत्तं च गंधहत्थिं २२-१०
मद्दवयाए णं भंते !... २९ सू० ५०
मन्नंता अपुणच्चवं ३-१४
ममं भयाहि सुयणू ! २२-३७
ममत्तं छिन्दई ताहे १९-८६
ममत्तबंधं च महब्भयावहं १९-९८
मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं १३-१४
मम लाभे त्ति पेहाए १-२७
मम हत्थज्जमागया १४-४५
मयं नाणुव्वयंति य १८-१४
मयलक्खेण चिट्ठई २७-६
मयेसु बंभगुत्तीसु ३१-१०
मरगयमसारगल्ले ३६-७५
मरणं असइं भवे ५-३
मरणं पि सपुण्णाणं ५-१८
मरणंतंमि सोयई ७-९
मरणम्मि विराहिया होंति ३६-२५६
मरिहिंति ते वराया ३६-२६१
मरिहिसि रायं ! जया तया वा १४-४०
मरुम्मि वइरवालुए १९-५०
मल्लधूवेण वासियं ३५-४
मसंखभागा जहन्नेण नीलटिई ३४-४२
मसंखभागं जहन्निया होइ ३४-४३
महंतमोहं करिसिणं भयावहं २१-११
महज्जुई पंचवयाइं पालिया १-४७
महत्थऽत्थ विणिच्छओ २३-८८
महत्थरूवा वयणप्पभूया १३-१२
महप्पसाया इसिणो हवंति १२-३१
महब्भयाओ भीमाओ १९-७२
महया संवेगनिव्वेयं १८-१८
महाउदगवेगस्स २३-६६
महाउदग वेगेणं २३-६५
महाजंतेसु उच्छू वा १९-५३
महाजयं जयई जन्नसिट्ठं १२-४२
महाजसो एस महाणुभागो १२-२३
महादवग्गिसंकासे १९-५०
महानागो व्व कंचुयं १९-८६
महानियंठाण वए पहेणं २०-५१
महानियंठिज्जमिणं महासुयं २०-५३
महापउमे तवं चरे १८-४१
महापभावस्स महाजसस्स १९-९७
महाबलो रायरिसी १८-५०
महामुणी महापइन्ने महाजसे २०-५३
महामेहप्पसूयाओ २३-५१
महारंभपरिग्गहे ७-६
महारण्णम्मि जायई १९-७८
महारिसी उत्तम ठाण पत्त १२-४७
महाविमाण सव्वट्ठे ३६-२४४
महावीरस्स भगवओ २१-१
महावीरेण देसियं ५-४
महासिणाणं इसिणं पसत्थं १२-४७
महासुक्का व दिप्पंता ३-१४
महासुक्का सहस्सारा ३६-२११
महासुक्के जहन्नेणं ३६-२२८
महिं माणनिसूरणो १८-४२
महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ १३-२०
महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं १३-११
महुमेरगस्स व रसो ३४-१४
महोरगा य गंधव्वा ३६-२०७
माइल्ले पिसुणे सढे ५-६
माई अवण्णवाई ३६-२६५
माई कण्हुहरे सढे ७-५
माई मुद्धेण पडइ २७-६
मा एयं हीलह अहीलणिज्जं १२-२३
मा कासि कम्माइं महालयाइं १३-२६
मा कुले गंधणा होमो २२-४३
मा गलियस्से व कसं १-१२
माणं मायं तहेव लोहं च ६-३६
माणविजएणं भंते ! जीवे किं... २९ सू० ६६
माणुसं जोणिमेंति जे ७-१६
माणुसत्तं भवे मूलं ७-१६
माणुसत्तंमि आयाओ ३-११
माणुसत्तं सुई सद्धा ३-१
माणुसत्ते असारम्मि १९-१४
माणुस्सएसु जे यावि दिव्वा १४-६
माणुस्सं खु सुदुल्लहं २०-११; २२-३८
माणुस्सं भवमागए १८-१६
माणुस्सं विग्गहं लद्धुं ३-८
माणेणं अहमा गई ६-५४
मा तं बिइयं गवेसए १०-३०
मा भमिहिसि भवावट्टे २५-३८
मा मग्गे विसमेवगाहिया १०-३३
मायं च वज्जए सया १-२४
मायं जत्थ उ पवयणं २४-३
मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ४-१२
मायं पिंडस्स पाणस्स ६-१४
मा य चंडालियं कासी १-१०
मायन्ने असणपाणस्स २-३
माया गईपडिग्घाओ ६-५४
माया पिया ण्हुसा भाया ६-३
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा ३२-३०,४३,५६, ६६,८२,६५
माया य मे महाराय ! २०-२५
मायालोभे य पयणुए ३४-२९
मायाविजएणं भंते ! जीवे किं... २९ सू० ७०
मायावुइयमेयं तु १८-२६
मारिओ य अणंतसो १९-६४,६५
मालुगा पत्तहारगा ३६-१३७
मा वंतं पुणो वि आइए १०-२९
मासक्खमणपारणे २५-५
मासद्धमासिएणं तु ३६-२५५
मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा १२-२३
मासस्स ऊ पारणए महप्पा १२-३५
मासिएण उ भत्तेण १९-६५
मासेणं चउरंगुलं २६-१४
मासे मासे गवं दए ९-४०
मासे मसे तु जो बालो ९-४४
माहं परेहि दम्मंतो १-१६
माहणकुलसंभूओ २५-१
माहणत्तं जहाभूयं २५-३५
माहणभोइय विविहा य सिप्पिणो १५-९
माहणी दारगा चेव १४-५३


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माहणेण परिच्चत्तं १४-३८
माहणो य पुरोहिओ १४-५३
माहिंदम्मि जहन्नेणं ३६-२२५
मा हु भंते ! मुसं वए २०-१५
मा हू तुमं सोयरियाण संभरे १४-३३
मिउं पि चंडं पकरेंति सीसा १-१३
मिउ मद्दवसंपन्ने २७-१७
मिए छुभित्ता हयगओ १९-३
मिओ वा अवसो अहं १९-६३
मिगचारियं चरित्ताणं १९-८१,८२
मिगचारियं चरिस्सामि १९-८४
मिगव्वं उवणिग्गए १८-१
मिच्छत्तनिसेवए जणे १०-१६
मिच्छदिट्ठी अणारिए ३४-२५
मिच्छाकारो य निंदाए २६-६
मिच्छा दंडो पजुंजई ६-३०
मिच्छादंसणरत्ता ३६-२५७,२५८
मिच्छादिट्ठी अणारिया १८-२७
मित्तनाईपरिवुडो २०-११
मित्तवं नायवं होइ ३-१८
मित्ता य तह बंधवा १८-१४
मियं कालेण भक्खए १-३२
मियचारियं चरिस्सामि १९-८५
मियाइ पुत्तस्स निसम्म भासियं १९-९७
मिया कालिंजरे नगे १३-६
मिया तस्सग्गमाहिसी १९-१
मियापुत्ते जहारिसी १९-९६
मियापुत्ते त्ति विस्सुए १९-२
मियापुत्ते महिड्ढिए १९-८
मिहिलं सपुरजणवयं ६-४
मिहिलाए चेइए वच्छे ६-६
मिहिलाए डज्झमाणीए ६-१४
मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा २६-२९
मुक्कपासो लहुब्भूओ २३-४०,४१
मुक्को मि विसभक्खणं २३-४६
मुग्गरेहिं मुसंढीहिं १९-६१
मुच्चइ कारओ जणो ६-३०
मुच्चई छविपव्वाओ ५-२४
मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं ८-८
मुणी आसि विसारए २७-१
मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते १५-३
मुणी विगयसंगामो ६-२२
मुत्तीए णं भंते ! जीवे किं... २९ सू० ४८
मुसं ते एवमाहंसु २-४५
मुसं न वयई जो उ २५-२३
मुसं परिहरे भिक्खू १-२४
मुसाभासा निरत्थिया १८-२६
मुसावायविवज्जणं १९-२६
मुसुंढी य हलिद्दा य ३६-९९
मुहपोत्तियं पडिलेहित्ता २६-२३
मुहरी निक्कसिज्जई १-४
मुहुं मुहुं मोहगुणे जयंतं ४-११
मुहुत्तहियाइं च उक्कोसा ३४-५४
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना ३४-३४ से ३६,४६
मूलं घेत्तूण निग्गया ७-१४
मूलच्छेएण जीवाणं ७-१६
मूलियं ते अइच्छिया ७-२१
मूलियं ते पवेसंति ७-१६
मेत्तिं भूएसु कप्पए ६-२
मेत्तिज्जमाणो भयई ११-११
मेत्तिज्जमाणो वमइ ११-७
मेयन्ने किं पभासई ? १८-२३
मेरओ य महूणि य १९-७०
मेरु व्व वाएण अकंपमाणो २१-१६
मेहुणाओ सुसंवुडो २-४२
मोक्खं गओ अणुत्तरं १८-३६
मोक्खमग्गगइं तच्चं २८-१
मोक्खसब्भूयसाहणे २३-३३
मोक्खाभिकंखिस्सवि माणवस्स ३२-१६
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढो १४-६
मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं १५-१
मोणं विराहेत्तु असाहुरूवे २०-४६
मोसं अदत्तं च असेवमाणा १२-४१
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च १२-१४
मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य ३२-३१,४४ ५७,७०,८३,९६
मोहं कओ एत्ति उ विप्पलावो १३-३३
मोहंगयस्स संतस्स १९-७
मोहं च तण्हाययणं वयंति ३२-६
मोहं च भिक्खू सयं वियक्खणो २१-१९
मोहं वा कसिणं नियच्छई १५-६
मोहट्ठाणेसु चेव य ३१-१९
मोहणिज्जं पि दुविहं ३३-८
मोहणिज्जस्स उक्कोसा ३३-२१
मोहणिज्जस्स दंसणे ३३-९
मोहाणिला पज्जलणाहिएणं १४-१०
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ३२-८

(य)

य सम्मत्तसद्दहणा २८-२८

(र)

रइं नोवलभामहं १९-१३
रइयाए जहक्कमं २२-१२
रक्खमाणी तयं वए २२-४०
रक्खसा किन्नराय किंपुरिसा ३६-२०७
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं ४-१२
रज्जं तु गुणसमिद्धं १८-४९
रज्जंतो संजमम्मि य १९-६
रत्तिं पि चउरो भागे २६-१७
रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया १२-२०
रमए अज्जवयणंमि २५-२०
रमए पंडिए सासं १-३७
रमेज्जा संजमे मुणी ३६-२४६
रयणाभ सक्कराभा ३६-१५६
रयहारसंकासा ३४-६
रयाइं खेवेज्ज पुरेकडाइं २१-१८
रसओ अंबिले जे उ ३६-३२
रसओ कडुए जे उ ३६-३०
रसओ कसाए जे उ ३६-३१
रसओ तित्तए जे उ ३६-२९
रसओ परिणया जे उ ३६-१८
रसओ फासओ चेव ३६-२२ से २८
रसओ फासओ तहा ३६-१५
रसओ महुरए जे उ ३६-३३
रसंतो कंदुकुंभीसु १९-५१
रसं न किंचि अवरज्झई से ३२-६४
रसगिद्धेण जंतुणा १८-७
रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ८-११
रसस्स जिब्भं गहणं वयंति ३२-६२
रसाणुगासाणुगए य जीवे ३२-६६
रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं ३२-७१
रसाणुवाएण परिग्गहेण ३२-६७
रसा पगामं न निसेवियव्वा ३२-१०
रसे अतित्ते य परिग्गहे य ३२-६८
रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ३२-७०
रसे अतित्तस्स परिग्गहे य ३२-६९
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ३२-२०
रसे फासे तहेव य १६-१०
रसे विरत्तो मणुओ विसोगो ३२-७३
रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं ३२-६३
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा २-३९
रसो उ काउए नायव्वो ३४-१२
रसो उ किण्हाए नायव्वो ३४-१०
रसो उ तेउए नायव्वो ३४-१३
रसो उ नीलाए नायव्वो ३४-११
रसो उ सुक्काए नायव्वो ३४-१५
रहनेमी अहं भद्दे ! २२-३७
रहनेमी भग्गचित्तो २२-३४
रहाणीए तहेव य १८-२
रहियं थीजणेण य १६-१
रहे कल्लाण भासई ११-१२
रहे भासइ पावगं ११-८
राइणो तम्मि संजए २०-५


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राइभाएसु चउसु वि २६-१७
राइयं च अईयारं २६-४७
राइयं तु अईयारं २६-४८
राईभोयणवज्जणा १६-३०
राईभोयणविरओ ३०-२
राईमई असंभंता २२-३६
राईमई विचिंतेइ २२-२६
राओवरय चरेज्ज लाढे १५-२
रागं च दोसं च तहेव मोहं ३२-६
रागं दोसं च छिंदिया १०-३७
रागदोससमज्जियं ३०-१,४
रागद्दोसग्गिणा जगं १४-४३
रागद्दोसभयाईयं २५-२१
रागद्दोसवसं गया १४-४२
रागद्दोसादओ तिव्वा २३-४३
रागद्दोसे य दो पावे ३१-३
रागस्स दोसस्स य संखएणं ३२-२
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु ३२-२३,३६,४६, ६२,७५,८८
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे ३२-५०
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे ३२-८६
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए ३२-६३
रागाउरे सीयजलावसन्ने ३२-७६
रागाउरे से जह वा पयंगे ३२-२४
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे ३२-३७
रागो दोसो मोहो २८-२०
रागो य दोसो वि य कम्मबीयं ३२-७
राढामणी वेरुलियप्पगासे २०-४२
रायं अभिक्खं समुवाय देवी १४-३७
रायत्थ देवी कमलावई य १४-३
रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए ६-५६
रायलक्खणसंजुए २२-१,३
रायवेट्ठिं व मन्नंता २७-१३
रायाणं न पडिमंतेइ १८-६
राया बलभद्दो त्ति १६-१
राया रज्जं तु हारए ७-११
राया सह देवीए १४-५३
रुक्खमूले व एक्कओ ३५-६
रुक्खमूले व एगओ २-२०
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य ३६-६४
रुप्प सुवण्णे य वइरे य ३६-७३
रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे १७-२०
रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति ३२-२३
रूवाणुगासाणुगए य जीवे ३२-२७
रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं ३२-३२
रूवाणुवाएण परिग्गहेण ३२-२८
रूवाहिएसु सुरेसु अ ३१-१६
रूविणो चेवऽरूवी य ३६-४,२४८
रूविणो य चउव्विहा ३६-१०
रूविणो वि चउव्विहा ३६-४
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य ३२-३०
यवे अतित्ते य परिग्गहे य ३२-२६
रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ३२-३१
रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो ३२-३४
रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं ३२-२४
रेणुयं व पडे लग्गं १६-८७
रेवययंमि ट्ठिओ भगवं २२-२२
रोएइ उ निसग्गो २८-१७
रोगा य मरणाणि य १६-१५
रोगेणालस्सएण य ११-३
रोज्झो वा जह पाडिओ १६-५६
रोहिणी देवई तहा २२-२

## ल

लंघिया तं नइक्कमे १-३३
लंतगम्मि जहन्नेणं ३६-२२७
लक्खणं पज्जवाणं तु २८-६
लक्खणस्सरसंजुओ २२-५
लद्धूण वि आरियत्तणं १०-१७
लद्धूण वि उत्तमं सुइं १०-१६
लद्धूण वि माणुसत्तणं १०-१६
लद्धे पिंडे अलद्धे वा २-३०
लया चिट्ठइ गोयमा ! २३-४५
लया य इइ का वुत्ता ? २३-४७
लयावलय पव्वगा कुहुणा ३६-६५
लया वल्ली तणा तहा ३६-६४
ललिएण नलकूवरो २२-४१
ललियचवलकुंडलतिरीडी ६-६०
लहुभूयविहारिणो १४-४४
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं १४-३२
लाभंतरे जीविय वूहइत्ता ४-७
लाभालाभम्मि संतुट्ठे ३५-१६
लाभालाभे सुहे दुक्खे १६-६०
लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी ! २०-५५
लाभो देवगई भवे ७-१६
लाहा लोहो पवड्ढई ८-१७
लिंगे दुविहे मेहावि ! २३-३०
लुत्तकेसं जिइंदियं २२-२५,३१
लुप्पंतस्स सकम्मुणा ६-३
लुप्पंति बहुसो मूढा ६-१
लेप्पाहिं सउणो विव १६-६५
लेवमायाए संजए ६-१५
लेसज्झयणं पवक्खामि ३४-१
लेसाणं अप्पसत्थाणं ३४-१६,१८
लेसाणं तु सुणेह मे ३४-२
लेसाणं होइ परिणामो ३४-२०
लेसाणं ठिइं तु वोच्छामि ३४-४०
लेसाण ठिई उ देवाणं ३४-४७
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ३४-४४,४७
लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ ३४-४५
लेसाण हुंति ठाणाइं ३४-३३
लेसासु छसु काएसु ३१-८
लेसाहिं परिणयाहिं ३४-६०
लेसाहिं सव्वाहिं ३४-५८,५६
लोए कित्ती से जायए १-४५
लोएगदेसे ते सव्वे ३६-६७,१३०,१३६, १७३,१८२,१८६
लोएगदेसे लोए य ३६-११
लोगं पि एसो कुविओ डहेज्जा १२-२८
लोगदेसे य बायरा ३६-७८,८६,११०, १११,१२०
लोगग्गंमि दुरारुहं २३-८१,८४
लोगनाहे दमीसरे २२-४
लोगमित्ता वियाहिया ३६-७
लोगस्स एग देसम्मि ३६-१४६,१५८, १६८,२१७
लोगालोगे य आगासे ३६-७
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं ६-५८
लोगे लिंगप्पओयणं २३-३२
लोभविजएणं भंते ! जीवे किं... २६ सू० ७१
लोभाओ दुहओ भयं ६-५४
लोभाविले आययई अदत्तं ३२-२६,४२,५५, ६८,८१,६४
लोभे य उवउत्तया २४-६
लोयंतो उ वियाहिओ ३६-६१
लोयग्गम्मि पइट्ठिया ३६-६३
लोयग्गे य पइट्ठिया ३६-५६
लोलुप्पमाणं बहुहा बहुं च १४-१०
लोहं दुगुंछं अरइं रइं च ३२-१०२
लोहतुंडेहि पक्खिहिं १६-५८
लोहा वा जइ वा भया २५-२३
लोहि णीहू य थीहू य ३६-६८
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ३२-८

## व

वइगुत्ती चउव्विहा २४-२२
वइरसो कम्मुणा होइ २५-३१
वएज्ज न पुणो त्ति य १-४१
वए विओगे य कहिं सुहं से ? ३२-२८,४१, ५४,६७,८०,६३
वएसु इंदियत्थेसु ३१-७
वंकजडा य पच्छिमा २३-२६
वंके वंकसमायारे ३४-२५
वंतं इच्छसि आवेतुं २२-४२


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वंतराणं जहन्नेणं ३६-२२०
वंतासी पुरिसो रायं! १४-३८
वंदइ अभित्थुणंतो ६-५५
वंदई य तओ गुरुं २६-५०
वंदणएणं भंते! जीवे किं २९ सू० ११
वंदणं पूयणं तहा ३५-१८
वंदमाणा नमंसंता २५-१७
वंदिऊण तओ गुरुं २६-४५
वंदित्ताण तओ गुरुं २६-२२,३७,४०,४१, ४२,४८,४९,५१
वंदित्ता य तओ गुरुं २६-८
वच्छल्ल पभावणे अट्ठ २८-३१
वज्जपाणी पुरंदरे ११-२३
वज्जभीरू हिएसए ३४-२८
वज्जरिसहसंघयणो २२-६
वज्जित्ता केवलं लेसं ३४-४५
वज्जेज्जा पणिहाणवं १६-१४
वज्जेयव्वा य मोसली तइया २६-२६
वज्जेयव्वो सुदुक्करो १९-३०
वज्झं पासइ वज्झगं २१-८
वज्झमंडणसोभागं २१-८
वट्टमाणे उ संजए ११-६
वड्ढईहिं दुमो विव १९-६६
वड्ढए हायए वावी २६-१४
वड्ढमाणो भयाहि य २२-२६
वणप्फईण आउं तु ३६-१०२
वणस्सइकायमइगओ १०-६
वण्णओ गंधओ चेव ३६-१५
वण्णओ जे भवे किण्हे ३६-२२
वण्णओ जे भवे नीले ३६-२३
वण्णओ परिणया जे उ ३६-१६
वण्णओ पीयए जे उ ३६-२५
वण्णओ लोहिए जे उ ३६-२४
वण्णओ सुक्किले जे उ ३६-२६
वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं १३-२६
वण्णंरसगंधफासा २८-१२
वण्णेणं भावमणुमुयंते उ ३०-२३
वण्णे रूवे य सव्वसो ६-११
वत्तणालक्खणो कालो २८-१०
वत्थाइं पडिलेहए २६-२३
वद्धमाणगिहाणि य ६-२४
वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं १५-८
वयं च सत्ता कामेसु १४-४५
वयं पवत्तमाणं तु २४-२३
वयगुत्तयाए णं भंते! जीवे... २९ सू० ५५
वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु २१-१४
वयणं अस्सुयपुव्वं २०-१३
वयणमिच्छे पुणो पुणो १-१२
वय समाहारणयाए णं भंते !... २९ सू० ५८
वयाणि सीलाणि परीसहे य २१-११
वरं मे अप्पादंतो १-१६
वरवारुणीए व रसो ३४-१४
वल्लराणि सराणि य १९-८०
वल्लरेहिं सरेहि वा १९-८१
ववहारे उवमा एसा ७-१५
वसहे जूहाहिवई ११-१६
वसाओ रुहिराणि य १९-७०
वसामि इरियामि य १८-२६
वसीय सोवागनिवेसणेसु १३-१८
वसुदेवे त्ति नामेणं २२-१
वसे गुरुकुले निच्चं ११-१४
वसे ते ठावइत्ताणं ९-३२
वहणे वहमाणस्स २७-२
वहबंधपरीसहा १९-३२
वहेइ रसमुच्छिए १८-३
वहेई से नराहिवे १८-५
वाइया संगहिया चेव २७-१४
वाउक्कायमइगओ १०-८
वाउजीवाण अंतरं ३६-१२४
वाएइ सयं पडिच्छइ वा २६-२९
वाएण हीरमाणंमि ९-१०
वागरेज्ज जहासुयं १-२३
वाडेसु व रच्छासु व ३०-१८
वाडेहिं पंजरेहिं च २२-१४,१६
वाणारसीए वहिया २५-३
वाणियो देइ धूयरं २१-३
वादं विविहं समिच्च लोए १५-१५
वायणाए णं भंते! जीवे २९ सू०२०
वायणा पुच्छणा चेव ३०-३४
वाया अदुव कम्मुणा १-१७
वायाविद्धो व्व हढो २२-२४
वायाविरियमेत्तेण ६-९
वारिमज्झे महालओ २३-६६
वालुयाकवले चेव १९-३७
वालुयाभा य आहिया ३६-१५६
वावन्नकुदंसणवज्जणा २८-२८
वासं तत्थऽभिरोयए ३५-६
वासंते अंधयारंमि २२-३३
वासलक्खेण साहियं ३६-२२१
वासाइं बारसे व उ ३६-१३२
वासाणुक्कोसिया भवे ३६-८०,८८ १०२,१२२
वासिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो १४-२९
वासीचंदणकप्पो य १९-९२
वासीमुहा य सिप्पीया ३६-१२८
वासुदेवं महिड्ढियं २२-८
वासुदेवस्स जेट्ठगं २२-१०
वासुदेवो य णं भणइ २२-२५,३१
वासेणुल्ला उ अंतरा २२-३३
वाहिओ बद्धरुद्धो अ १९-६३
वाहिणो वेयणा तहा २३-८१
वाहीरोगाण आलए १९-१४
वाहीरोगेहिं पीडिओ १९-१९
विउलं अट्ठियं सुयं १-४६
विउलं चेव धणोहसंचयं १०-३०
विउव्विऊण इंदत्तं ९-५५
विक्किणंतो य वाणिओ ३५-१४
विक्खायकित्ती धिइमं १८-३९
विक्खित्ता वेइया छट्ठा २६-२६
विगईनिज्जूहण करे ३६-२५२
विगलिंदियया हु दीसइ १०-१७
विगहाकसायसन्नाणं ३१-६
विगहासु तहेव च २४-९
विगिंच कम्मुणो हेउं ३-१३
विगिट्ठं तु तवं चरे ३६-२५४
विचित्तं तु तवं चरे ३६-२५२
विचित्ते चित्तपत्तए ३६-१४८
विजढंमि सए काए ३६-८२,९०,१०४,११५, १२४,१५३,१६८,१७७,२४६,
विजयघोसस्स जन्नंमि २५-५
विजयघोसे त्ति नामेणं २५-४
विजयघोसे य माहणे २५-३४
विजया वेजयंता य ३६-२१५
विजहित्तु पुव्वसंजोगं ८-२
विज्जमाणे परे लोए १८-२७
विज्जाचरणपारगा १८-२२
विज्जाचरणपारगे २३-२,६
विज्जाचरणसंपन्ने १८-२४
विज्जामंततिगिच्छगा २०-२२
विज्जामाहणसंपया २५-१८
विज्जुसंपायचंचलं १८-१३
विज्जुसोयामणिप्पभा २२-७
विज्जू अगी य आहिया ३६-२०६
विज्झवेज्ज पंजलिउडो १-४१
विट्ठं भुंजइ सूयरे १-५
विणएज्ज लोमहरिसं ५-३१
विणए ठवेज्ज अप्पाणं १-६
विणएण वंदए पाए १८-८
विणओ एस [illegible] ३०-३२
विणयं पाउकरिस्सामि १-१
विणिघायमागच्छइ से चिरं पि २०-४३
विणियट्टणयाए णं भंते ! जीवे... २९ सू० ३३
विणियट्टंति भोगेसु ९-६२;१९-९६; २२-४९


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विणिहम्मंति पाणिणो ३-६
विणीयविणए दंते ३४-२७
वित्त कामे य भुंजिया ७-८
वित्ते अचोइए निच्चं १-४४
वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ५-१०
वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते ४-५
वित्थाररुइ त्ति नायव्वो २८-२४
वित्थिण्णे दूरमोगाढे २४-१८
विन्नाणेण समागम्म २३-३१
विन्नाय पवितक्किय ं २३-१४
विप्पओगमुवागया १३-८
विप्पजहे तहाविहं भिक्खू ८-४
विप्पमुच्चइ पंडिए २४-२७;३०-३७
विप्पमुच्चइ पंडिओ ३१-२१
विप्पसण्णमणाघायं ५-१८
विप्पसीएज्ज मेहावी ५-३०
विप्फुरंतो अणेगसो १६-५४
विभूसं परिवज्जेज्जा १६-६
विमणो विसण्णो अह माहणो सो १२-३०
विम्हावेंतो य परं ३६-२६३
वियडस्सेसणं चरे २-४
विययपक्खी य बोद्धव्वा ३६-१८८
वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य १२-१०
वियाणिया दुक्खविवद्धणं घणं १६-६८
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता ३२-१११
विरई अबंभचेरस्स १६-२८
विरए आयरक्खिए २-१५
विरए आयहिए पहाणवं २१-२१
विरए कयविक्कए ३५-१३
विरए वेयवियायरक्खिए १५-२
विरओ धणपयणपरिग्गहाओ १२-६
विरज्जमाणस्स य इंदियत्था ३२-१०६
विरत्तकामाण तवोधणाणं १३-१७
विरत्ता उ न लग्गंति २५-४१
विरली अच्छिवेहए ३६-१४७
विलुत्तो विलवंतो हं १६-५८
विवज्जणा बालजणस्स दूरा ३२-३
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं १०-२७
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए १४-३०
विवादं च उदीरेइ १७-१२
विविच्च कम्मुणो हेउं ६-१४
विवित्तलयणाइ भएज्ज ताई २१-२२
विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ३२-१६
विवित्तसयणासणं ३०-२८
विवित्तसयणासणयाए णं भंते !··· २९ सू० ३२
विवित्तसेज्जासणजंतियाणं ३२-१२
विविहं खाइमसाइमं परेसिं १५-११
विविहाण व आसवाण जारिसओ ३४-१४
विसएहि अरज्जंतो १९-६
विसं तालउडं जहा १६-१३
विसं तु पीयं जह कालकूडं २०-४४
विसन्ना पावकम्मेहिं ६-१०
विसप्पे सव्वओधारे ३५-१२
विसमं मग्गमोइण्णो ५-१४
विसमसीला य भिक्खुणो ५-१६
विसालकित्ती य तहोसुयारो १४-३
विसालिसेहिं सीलेहिं ३-१४
विसीयई सिढिले आउयंमि ४-६
विसेसे किंनु कारणं? २३-१३,२४,३०
विसोहेज्ज जयं जई २४-१२
विहगइव विप्पमुक्को २०-६०
विहम्माणो किलिस्सई २७-३
विहरइ महिं महप्पा २७-१७
विहरइ वसुहं विगयमोहो २०-६०
विहरामि अहं मुणी ! २३-३८,४१
विहरामि जहक्कमं २३-४३
विहरामि जहानाय २३-४६
विहरामि महामुणी! २३-४८
विहरिस्सामि निरामिसा १४-४६
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ३२-५
विहरेज्ज पच्छा य जहासुहं तु १७-१
विहाणाइं सहस्ससो ३६-८३,९१,१०५, ११६,१२५,१३५,१४४,१५४,१६९, १७८,१८७,१९४,२०३,२४७
विहारं विहरए मुणी २६-३५
विहारजत्तं निज्जाओ २०-२
विहुणाहि रयं पुरे कडं १०-३
वीदंसएहि जालेहिं १९-६५
वीयरागयाए णं भंते !··· २९ सू० ४६
वीयरागो अणासवो ३५-२१
वीरियं उवओगो य २८-११
वीरियं पुण दुल्लहं ३-१०
वीसई कोडिकोडिओ ३३-२३
वीसई सागरोवमा ३६-२३२
वीसं इत्थियासु य ३६-५१
वीसं तु सागराइं ३६-२३१
वुग्गहे कलहे रत्ते १७-१२
वुच्छं तेसिं चउव्विहं ३६-१५८,१७३,१८२ १८९,२१७
वुच्छामि अणुपुव्वसो ३०-२९;३६-४७,१०६
वुच्छामि सोवागनिवेसणेसु १३-१९
वुज्झमाणाण पाणिणं २३-६५,६८
वेएज्ज निज्जरापेही २-३७
वेगेण य पहावई २७-६
वेमाणिया उ जे देवा ३६-२०९
वेमायाहिं सिक्खाहिं ७-२०
वेयण वेयावच्चे २९-३२
वेयणा अणुभविउं जे २०-३१
वेयणाए दुहट्ठिए २-३२
वेयणाओ अणंतसो १९-४५
वेयणा परमदारुणा २०-२१
वेयणा मे खयं गया २०-३३
वेयणा विउला इओ २०-३२
वेयणा वेइया मए १९-७१,७४
वेयणिज्जं तहा मोहं ३३-२
वेयणिज्जे तहेव य ३३-२०
वेयणीयं पि य दुविहं ३३-७
वेया अहीया न भवंति ताणं १४-१२
वेयाणं च महं बूहि २५-१४
वेयावच्चं तमाहियं ३०-३३
वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ३०-३०
वेयावच्चम्मि दसविहे ३०-३३
वेयावच्चेणं भंते! जीवे ····· २९ सू० ४४
वेयावच्चे निउत्तेणं २६-१०
वेयावच्चे व सज्झाए २६-९
वेरत्तियं पि कालं २६-२०
वेराणुबुद्धा नरयं उवेंति ४-२
वेरुलियनिद्धसंकासा ३४-५
वेवमाणी निसीयई २२-३५
वेसं तं होइ मूढाणं १-२९
वेसं होइ असाहुणो १-२८
वोच्छामि अणुपुव्वसो २४-१९
वोछिंद सिणेहमप्पणो १०-२८
वोदाणेणं भंते! जीवे ··· २९ सू०२९
वोसट्ठकाए विरेज्जा ३५-१९
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो १२-४२

(स)

सइं च जइ मुच्चेज्जा २०-३२
स उज्जुभावं पडिवज्ज संजए २१-२०
सओरोहो य सपरियणो य २०-५८
संकट्ठाणाणि सव्वाणि १६-१४
संकप्पेण विहन्नसि ९-५१
संकमाणो तणुं चरे १४-४७
संकरदूसं परिहरिय कंठे १२-६
संकहं च अभिक्खणं १६-३
संकाभीओ न गच्छेज्जा २-२१
संखिज्जकालमुक्कोसं ३६-१३३,१४२,१५२
संखंककुंदसंकासा ३४-९;३६-६१
संखचक्कगयाधरे ११-२१
संखाईया लोगा ३४-३३
संखा उ कमसो तेसिं ३६-१९७
संखा संखणगा तहा ३६-१२८
संखा संठाणमेव य २८-१३


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकिएगणणोवगं कुज्जा २६-२७
संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो २८-२६
संगहे छद्दिसागयं ३३-१८
संगहेण य थावरे २५-२२
संगामसीसे इव नागराया २१-१७
संगामे दुज्जए जिणे ६-३४
संगो एस मणुस्साणं २-१६
संचिक्खत्तगवेसए २-३३
संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं १४-३२
संजए इरियं रिए २४-४
संजओ अहमस्सीति १८-१०
संजओ चइउं रज्जं १८-१६
संजओ नाम नामेणं १८-२२
संजओ परिवज्जए ३५-३,६
संजओ सुसमाहिओ १२-२
संजमं निहुओ चर २२-४३
संजमं पडिवज्जिया ३-२०
संजमंमि य वीरियं ३-१
संजममाणो वि अहं १८-२६
संजमेणं भंते! जीवे किं ..... २६सू०२७
संजमेण तवेण य १-१६;१६-७७;
२५-४३;२८-३६
संजमे य पवत्तणं ३१-२
संजयं सुसमाहियं २०-४
संजयस्स तवस्सिणो २-३४
संजयाए सुभासियं २२-४६
संजयाणं च भावओ २०-१
संजयाणं तवस्सिणं २३-१०
संजयाण वुसीमओ ५-१८,२६
संजायई समयमुवट्ठियस्स ३२-१०७
संजोगा य विभागा य २८-१३
संजोगा विप्पमुक्कस्स १-१;११-१
संठाणओ भवे तंसे ३६-४४
संठाणो भवे वट्टे ३६-४३
संठाणओ य चउरंसे ३६-४५
संठाणओ य विन्नेओ ३६-१५
संठाणपरिणया जे उ ३६-२१
संठाणादेसओ वावि ३६-८३,६१,१०५,
११६,१२५,१३५,१४४,१५४,१६६,१७८
१८७,१६४,२०३,२४७
संतइं पप्पणाईया ३६-७६,८७,१०१,
१२१,१३१,१४०,१५०,१५६,१७४,१८३
१६०,१६६,२१८
संतइं पप्प तेणाई ३६-१२
संतत्तभावं परितप्पमाणं १४-१०
संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं १४-४१
संति एगेहिं भिक्खूहिं ५-२०
संतिमग्गं च बूहए १०-३६
संतिमे य दुवे ठाणा ५-२
संती संतिकरे लोए १८-३८
संतेए तहिया नव २८-१४
संथवं जहिज्ज अकामकामे १५-१
संथवो चेव नारीणं १६-११
संथारए अणाउत्ते १७-१४
संथारं फलगं पीढं १७-७
संथया ते पसीयंतु २३-८६
संधावई नरगतिरिक्खजोणिं २०-४६
संधीसु य महापहे १-२६
संपइ नेयाउए पहे १०-३१
संपज्जलिया घोरा २३-५०
संपत्ते विरमेज्जा २६-१६
संपत्तो केवलं नाणं ३५-२१
संपिंडिया अग्गरसा पभूया १४-३१
संबुज्झप्पा य सव्वन्नू २३-१
संबुद्धा पुव्वसंथुया १-४६
संबुद्धो सो तहिं भगवं २१-१०
संभोगकाले य अतित्तिलाभे ३२-२८,४१,५४
६७,८०,६३
संभोगपच्चक्खाणेणं भंते!जीवे ... २६सू०३४
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे १४-१८
संमुच्छिमाण एसेव ३६-१६८
संमुच्छिमा य मणुया ३६-१६५
संरंभसमारंभे २४-२१,२३,२५
संलेहुक्कोसिया भवे ३६-२५१
संवच्छरं मज्झिमिया ३६-२५१
संवट्टगवाते य ३६-११६
संवहई घरे तस्स २१-५
संवरो निज्जरा मोक्खो २८-१४
संवुडे निद्धुणे रयं ३-११
संवेगेणं भंते ! जीवे किं ..... २६ सू० २
संसयं खलु सो कुणई ६-२६
संसरइ सुहासुहेहि कम्मेहि १०-१५
संसारं बहुं अणुपरियडंति ८-१५
संसारंमि अणंतए ६-१,१२ ; २०-३१
संसारंमि दुक्खपउराए ८-१
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा १४-४
संसारत्था उ जे जीवा ३६-६८
संसारत्था य सिद्धा य ३६-४८,२४८
संसारपारनिच्छिन्ना ३६-६७
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ३२-१७
संसारमावन्न परस्स अट्ठा ४-४
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया १४-१३
संसारसागरं घोरं २२-३१
संसार हेउं च वयंति बंधं १४-१६
संसारे परिवत्तए ३३-१
संसारो अइवत्तई २७-२
संसारो अण्णवो वुत्तो २३-७३
सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स १४-५
सकम्मसेसेण पुराकएणं १४-२
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ४-३
सकवाडं पंडुरुल्लोयं ३५-४
सकाममरणं तहा ५-२
सकाममरणं मरई ५-३२
सक्के देवाहिवई ११-२३
सक्को माहणरूवेण ६-६
सक्खं सु दीसइ तवो विसेसो १२-३७
सक्खं सक्केण चोइओ ६-६१; १८-४४
सगरो वि सागरंतं १८-३५
सगा जेट्ठकणिट्ठगा २०-२६,२७
सचेले यावि एगया २-१३
सच्चसोयप्पगडा १३-६
सच्चा तहेव मोसा य २४-२०,२२
सच्चा मे भारिया वई १८-५२
सच्चा मोसा तहेव य २४-२०,२२
सच्चेण पलिमंथए ६-२१
सच्चे सच्चपरक्कमे १८-२४
सज्झाएणं भंते! जीवे .... २६ सू० १६
सज्झाए वा निउत्तणं २६-१०
सज्झाओ पंचहा भवे ३०-३४
सज्झायएगंतनिसेवणा य ३२-३
सज्झायं चेव पंचहा २४-८
सज्झायं तओ कुज्जा २६-३६,४४
सज्झायं तु चउत्थिए २६-४३
सज्झायं पओसकालम्मि २६-१६
सज्झायज्झाणजुत्ते १८-४
सड्ढी काएण फासए ५-२३
सड्ढी तालिसमंतिए ५-३१
सढे वालगवी वए २७-५
सणंकुमारमाहिंदा ३६-२१०
सणंकुमारे जहन्नेणं ३६-२२४
सणंकुमारो मणुस्सिंदो १८-३७
सणासणकुसुमनिभा ३४-८
सणाहो वा नराहिवा २०-१६
सण्हा खरा य बोद्धव्वा ३६-७१
सण्हा सत्तविहा तहिं ३६-७१
सत्त ऊ सागरोवमा ३६-२२६
सत्तट्ठभवग्गहणे १०-१३
सत्तमम्मि जहन्नेणं ३६-२४०
सत्तमाए जहन्नेणं ३६-१६६
सत्तमो मिच्छकारो य २६-३
सत्तरस सागराइं ३६-२२८
सत्तरस सागरा ऊ ३६-१६४
सत्तरस सागरोवमा ३६-१६५,२२६
सत्तरिं कोडिकोडिओ ३३-२१


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्तविहं नवविहं वा ३३-११
सत्तहा परिकित्तिया ३६-१५७
सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा ३४-२०
सत्तू मित्तेसु वा जगे १६-२५
सत्तू य इइ के वुत्ते? २३-३७
सत्तेव उ सागरोवमा ३६-१६३
सत्तेव सहस्साइं ३६-८८
सत्तेव सागरा ऊ ३६-१६२
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ३२-२६,४२, ५५,६८,८१,६४
सत्थं जहा परमतिक्खं २-२०
सत्थग्गहणं विसभक्खणं च ३६-२६७
सत्थे संवट्टकोट्टे य ३०-१७
सदावरीय गुम्मी य ३६-१३८
स देवगंधव्वमणुस्सपूइए १-४८
सदेसमह पत्थिओ २१-३
सद्दंधयार उज्जोओ २८-१२
सद्दस्स सोयं गहणं वयंति ३२-३६
सद्दहइ जिणाभिहियं २८-२७
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा १०-१६
सद्दाइया तावइयप्पगारा ३२-१०६
सद्दाणुगासाणुगए य जीवे ३२-४०
सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं ३२-४५
सद्दाणुवाएण परिग्गहेण ३२-४१
सद्दा विविहा भवंति लोए १५-१४
सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य ३२-४३
सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य ३२-४२
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ३२-३७
सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ३२-४४
सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो ३२-४७
सद्दे रूवे य गंधे य १६-१०
सद्देसु जो गिद्धमुवेइ तिव्वं ३२-३७
सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं १४-२८
सद्धा परमदुल्लहा ३-६
सद्धं नगरं किच्चा ६-२०
सनियाणा कण्हलेसमोगाढा ३६-२५६
सनियाणा हु हिंसगा ३६-२५७
सन्नाइपिंडं जेमेइ १७-१६
सन्नाणनाणोवगए महेसी २१-२३
सन्निरुद्धंमि आउए ७-२४
सन्निरुद्धा य अच्छहि? २२-१६
सन्निरुद्धे जलागमे ३०-५
सन्निरुद्धे सुदुक्खिए २२-१४
सन्निदेसे समायघोसे य ३०-१७
सन्निहिं च न कुव्वेज्जा ६-१५
सन्निहीसंचओ चेव १६-३०
सपज्जवसिए वि य ३६-६
सपज्जवसिया वि य ३६-१२,७६,८७, १०१,११२,१२१,१३१,१४०,१५०,१५६, १७४,१८३,१६०,२१८
सपरिसो पंजली होउं २५-१३
सपाहेओ पवज्जई १६-२०
स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए १-४७
स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा ४-६
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ३२-५०
सफला जंति राइओ १४-२५
सब्भावपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे... २६सू०४२
सब्भ,वे उवएसणं २८-१५
सब्भितरबाहिरओ १६-८८
समएणेगेण उ सिज्झई उ ३६-५४
समएणेगेण सिज्झई ३६-५१,५२
समए वि संतइं पप्प ३६-६
समए समयखेत्तिए ३६-७
समं च संथवं थीहिं १६-३
समं हिच्चा महापहं ५-१४
समचउरंसो झसोयरो २२-६
समणं संजयं दंतं २-२७
समणा भविस्सामु गुणोहधारी १४-१७
समणा मु एगे वयमाणा ८-७
समणो अहं संजओ बंभयारी १२-६
समयं गोयम ! मा पमायए १०-१ से ३६
समयं संजए भंजे १-३५
समयाए समणो होइ २५-३०
समया सव्वभूएसु १६-२५
समरेव महामुणी २-१०
समरेसु अगारेसु १-२६
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू ३५-१३
समाइण्णाइं जक्खेहिं ५-२६
समागमे कयमई २३-१४
समागया तं इसिं तालयंति १२-१६
समागया दो वि चित्तसंभूया १३-३
समागया बहू तत्थ २३-१६
समागया सव्वजणेण अम्हे १२-३३
समागया सव्वजणेण तुब्भे १२-२८
समाययंती अमइं गहाय ४-२
समारुओ नोवसमं उवेइ ३२-११
समावन्नाण संसारे ३-२
समावन्नो नराहिवो १८-१८
समासासेंति अप्पयं ६-६
समासेण वियाहिओ ३०-२६
समासेण वियाहिया २४-३,१६; २६-५२;३६-४७,१०६
समासेण वियाहियं ३०-१४; ३३-१५
समाहिउप्पायगा य गुणगाही ३६-२६२
समाहिं पडिसंधए २७-१
समाहिकामे समणे तवस्सी ३२-४,२१
समिई गुत्ती तहेव य २४-१
समिईसु किरियासु य ३१-७
समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स १२-१७
समिए गुत्ते य गुत्तिहिं ३४-३१
समिक्ख पंडिए तम्हा ६-२
समिच्च लोयं समया महेसी ४-१०
समिद्धा कामरूविणो ५-२७
समुदाय तयं तं तु २५-३४
समुद्दंमि पसवई २१-४
समुद्दगंभीरसमा दुरासया ११-३१
समुद्दपालित्ति नामए २१-४
समुद्दपाले अपुणागमं गए २१-२४
समुद्दपालो इणमब्बवी २१-८
समुद्दम्मि जलम्मि य ३६-५०
समुद्दविजए नामं २२-३
समुद्दविजयंगओ २२-३६
समुद्देण समं मिणे ७-२३
समुयाणं उंछमेसिज्जा ३५-१६
समुवट्ठियं तहिं संतं २५-६
समे अज्झुसिरे यावि २४-१७
समो निंदापसंसासु १६-६०
समो य जो तेसु स वीयरागो ३२-२२,३५, ४८,६१,७४,८७
समो य सव्वभूएसु १६-८६
सम्बुक्कावट्टाययगंतुं ३०-१६
सम्मं नो फासयई पमाया २०-३६
सम्मं जयइ संजमे ३६-१
सम्मं जाणामि अप्पगं १८-२७
सम्मं धम्मं वियाणित्ता १४-५०
सम्मं नो पडितप्पइ १७-५
सम्मं भावेत्तु अप्पयं १६-६४
सम्मं संपडिवज्जई २३-१६
सम्मं सुद्धेण चेयसा १८-३२
सम्मग्गं तु जिणक्खायं २३-६३
सम्मग्गं समुवट्ठिया २३-८६
सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं ३३-६
सम्मत्तं तं वियाहियं २८-१५
सम्मत्तचरित्ताइं २८-२६
सम्मद्दंसणरत्ता ३६-२५८
सम्मद्दमाणे पाणाणि १७-६
सम्मामिच्छत्तमेव य ३३-६
सम्मुच्छिमतिरिक्खाओ ३६-१७०
सयं गेहं परिचज्ज १७-१८
सयं च अट्ठुत्तर तिरयलोए ३६-५४
सयणं परियणं चेव २२-३२
सयणा तहा कामगुणा पगामा १४-१६
सयणासणठाणे वा ३०-३६
सयणासणपाणभोयणं १५-११


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सयणासणनेवणया ३०-२८
सयणेण वा कामगुणेहि चेव १४-१७
सयणे नो पडिस्सुणे १-१८
सयमेव लुंचई केसे २२-२४,३०
सया कुसलसंदिट्ठं २५-१६
सया दुही विप्परियासुवेइ २०-४६
सरइ पोराणियं जाइं ६-१;१६-८
सरणं गई पइट्ठा य २३-६५
सरागे वीयरागे वा ३४-३२
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं १४-५
सरिसो होइ बालाणं २-२४
सरीरपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे... २९सू०३९
सरीरपरिमंडणं १६-६
सरीरमाहु नाव त्ति २३-७३
सरीरविवरंतरे २०-२०
सरीरवोच्छेयणट्ठाए ३६-३४
सलिंगे अन्नलिंगे य ३६-४६
सलिंगेण य अट्ठसयं ३६-५२
सलिला सागरंगमा ११-२८
सल्लं कामा विसं कामा ६-५३
सल्लाणं च तियं तियं ३१-४
सवियारअवियारा ३०-१२
स वीयरागो कयसव्वकिच्चो ३२-१०८
सव्वओ परिवारिए १४-२१;१८-२
सव्वओ परिवारिओ २२-११
सव्वओ पिहियासवे १६-६३
सव्वओ विप्पमुक्कस्स १६-१६
सव्वं अप्पे जिए जियं ६-३६
सव्वं कम्मं खवित्ताणं २२-४८
सव्वं गंथं कलहं च ८-४
सव्वंगेसु य पत्थिवा २०-१६
सव्वं जगं जइ तुहं १४-३६
सव्वं जओ जाणइ पासए य ३२-१०६
सव्वं नट्टं विडंबियं १३-१६
सव्वं पि ते अपज्जत्तं १४-३६
सव्वं वावि धणं भवे १४-३६
सव्वं विलवियं गीयं १३-१६
सव्वं सव्वेण बद्धगं ३६-१८
सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं १३-१०
सव्वं से जाइयं होइ २-२८
सव्वकम्मविनिम्मुक्कं २५-३२
सव्वगुणसंपन्नयाए णं भंते! ... २९सू०४५
सव्वजीवाण कम्मं तु ३३-१८
सव्वजीवेसुइच्छियं ३३-२४
सव्वट्ठसिद्धगा चेव ३६-२१६
सव्वट्ठस्सुवरिं भवे ३६-५७
सव्वट्ठेसु व खत्तिया ३-५
सव्वड्ढीए सपरिसा २२-२१
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा २८-३६
सव्वदुक्खप्पहीणे वा ५-२५
सव्वदुक्खविमोक्खणं २६-३८,४१,४६,४६
सव्वदुक्खविमोक्खणिं १६-८५;२६-१
सव्वदुक्खविमोक्खणे २६-१०,४६
सव्वदुक्खा विमुच्चई ६-८
सव्वद्धं तु वियाहिया ३६-८
सव्वधम्माणुवत्तिणो ७-२६
सव्वनयाण अणुमए ३६-२४६
सव्वन्नू जिणभक्खरो २३-७८
सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा २८-२४
सव्वभवेसु अस्साया १६-७४
सव्वभावविभावणं २६-३६
सव्वभूयाण संजया! २०-५६
सव्वमेयं चइत्ताणं ६-५
सव्वलक्खणसंपुन्ना २२-७
सव्वलोगंमि पाणिणं २३-७५,७६,७८
सव्वलोगम्मि विस्सुए २३-५
सव्वलोगप्पभंकरो २३-७६
सव्वसंगविनिम्मुक्के १८-५३
सव्वसत्तू जिणामहं २३-३६
सव्वसुत्तमहोयही! २३-८५
सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो ३२-१
सव्वस्स दुक्खस्स पनोक्खमग्गो ३२-१११
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा १३-१६
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ३२-१६
सव्वारंभपरिच्चाओ १६-२८
सव्वाहि नयविहीहि य २८-२४
सव्वे आभरणा भारा १३-१६
सव्वे उम्मग्गपट्ठिया २३-६३
सव्वे कामा दुहावहा १३-१६
सव्वे ते दुक्खसंभवा ६-१,११
सव्वे ते परिनिव्वुड १४-५३
सव्वे ते विइया मज्झं १८-२७
सव्वे धम्मपरायणा १४-५१
सव्वेसिं चेव कम्माणं ३३-१७
सव्वेसिं चेव भूयाणं २०-३५
सव्वेसु कामजाएसु ८-४
सव्वेसु वि पएसग्गं ३३-२४
सव्वेसु वि पएसेसु ३३-१८
सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी २१-१३
सव्वोसहीहिं ण्हविओ २२-६
ससरक्खपाए सुवई १७-१४
सह संबुद्धो अणुत्तरे धम्मे ६-२
सहसम्मुइयासवसंवरो य २८-१७
सहसावत्तासियाणि य १६-६
सहस्सं हारए नरो ७-११
सहस्सगुणिया भुज्जो ७-१२
सहस्सारे जहन्नेण ३६-२२६
सहायपच्चक्खाणेणं भंते! ... २९सू०४०
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ३२-४
सहिए आएगवेसए स भिक्खू १५-५
सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने १५-१
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा १५-१५
सा उ उद्धरिया कहं? २३-४५
सा उ पारस्स गामिणी २३-७१
सागरंतं जहित्ताणं १८-४०
सागरा अउणतीसई ३६-२४१
सागरा अउणतीसं तु ३६-२४०
सागरा अउणवीसई ३६-२३१
सागरा अउणवीसं तु ३६-२३०
सागरा अट्ठवीसई ३६-२४०
सागरा अट्ठवीसं तु ३६-२३६
सागरा इक्कतीसं तु ३६-२४२
सागरा इक्कवीसई ३६-२३३
सागरा इक्कबीसं तु ३६-२३२
सागरा उ छवीसई ३६-२३८
सागराणि य सत्तेव ३६-२२४
सागरा पणुवीसई ३६-२३७
सागरा सत्तवीसई ३६-२३६
सागरा सत्तवीसं तु ३६-२३८
सागरा साहिया दुन्नि ३६-२२३
सागरोवममेगं तु ३६-१६०
साणुक्कोसे जिएहि उ २२-१८
सा तेसिं कायट्ठिई ३६-१६७,२४५
सा पव्वइया संती २२-३२
सा पुढवी निम्मला सहावेणं ३६-६०
सा बाला नोवभुंजई २०-२६
सा मज्झम्मि वियाहिया ३६-५६
सामण्णं च पुराकयं १६-८
सामण्णं निच्चलं फासे २२-४७
सामण्णं पुत्त! दुच्चरं १६-२४
सामण्णमणुपालिउं १६-३४
सामण्णमणुपालिया १६-६५;३६-२५०
सामण्णस्स भविस्ससि २२-४५
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ६-६१
सामण्णे पज्जुवट्ठिया १८-४६
सामाइएणं भंते! जीवे किं ..... २९सू०६
सामाइयत्थ पढमं २८-३२
सामायारिं पवक्खामि २६-१
सामायारी पवेइया २६-४,७
सामिसं कुललं दिस्स १४-४६
सामी कुज्जा नियंतणं २-३८
सामेहिं सबलेहि य १६-५४
सायं च पायं उदगं फुसंता १२-३६
सायं नो परिदेवए २-८,३६


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सायमसायं च आहियं ३३-७
सायरसइट्ठिहेउं ३६-२६४
सायस्स उ बहू भेया ३३-७
सायागारविए एगे २७-६
सारभंडाणि नीणेइ १६-२२
सारहिं इणमब्बवी २२-१५
सारहिस्स पणामए २२-२०
सारीरमाणसा चेव १६-४५
सारीरमाणसे दुक्खे २३-८०
सावए आसि वाणिए २१-१
सावए वाणिए घरं २१-५
सावए से विकोविए २१-२
सावज्जं वज्जए मुणी १-३६
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो २१-१३
सावत्थि नगरिमागए २३-३
सासए जिणदेसिए १६-१७
सासं दासं व मन्नई १-३६
सासणे विगयमोहाणं १४-५२
सासयं परिनिव्वुए ३५-२१
साहवो संजमुत्तरा ५-२०
साहस्सीए परिवुडो २२-२३
साहस्सीओ समागया २३-१६
साहारणं जं च करेइ कम्मं ४-४
साहारण सरीरा उ ३६-६६
साहारण सरीरा य ३६-६३
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं १४-२६
साहियं पलिओवमं ३६-२२३
साहियं सागरं एक्कं ३६-२१६
साहिया दुन्नि सागरा ३६-२२५
साहिया सागरा सत्त ३६-२२५
साहु गोयम ! पन्ना ते २३-२८,३४,३६, ४४,४६,५४,५६,६४,६६,७४,७६,८५
साहुणा विम्हयन्निओ २०-१३
साहुस्स तस्स वयणं अकाउं १३-३४
साहुस्स दरिसणे तस्स १६-७
साहु अन्नोत्थ वच्चउ २७-१२
साहू कल्लाण मन्नई १-३६
साहू कहय पुच्छिओ २५-१५
सिंगबेरे तहेव य ३६-६६
सिंगारत्थं न धारए १६-६
सिंचामि सययं देहं २३-५१
सिक्खए नीइकोविए २१-६
सिक्खासीलेत्ति वुच्चई ११-४,५
सिक्खित्ता संजमं तवं ५-२८
सिज्झंते जुगवं दुवे ३६-५३
सिज्झिस्संति तहापरे १६-१७
सिणाणं नो वि पत्थए २-६
सित्ता नो व डहंति मे २३-५१
सिद्धाइगुणजोगेसु ३१-२०
सिद्धाणणंतभागो य ३३-२४
सिद्धाणं नमो किच्चा २०-१
सिद्धाणेगविहा वुत्ता ३६-४८
सिद्धाणोगाहणा भवे ३६-६२,६४
सिद्धा सिज्झंति चाणेण १६-१७
सिद्धिं गच्छसि नीरओ ६-५८
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि १०-३५
सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं २२-४८; २५-४३
सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं १६-६५
सिद्धिं वरगइं गया ३६-६३,६७
सिद्धिं संपाउणेज्जासि ११-३२
सिद्धिगइं गए गोयमे १०-३७
सिद्धी लोगग्गमेव य २३-८३
सिद्धे वा हवइ सासए १-४८
सिद्धे हवइ नीरए १८-५३
सिद्धे हवइ सासए ३-२०
सिया हु केलाससमा असंखया ६-४८
सिरे चूडामणी जहा २२-१०
सिसुणागुव्व मट्टियं ५-१०
सीउण्हं विविहं च दंसमसगं १५-४
सीएण फरुसेण वा १-२७
सीओदगं न सेविज्जा २-४
सीओसिणा दंसमसा य फासा २१-१८
सीयं च सोवीरजवोदगं च १५-१३
सीयं फुसइ एगया २-६
सीयंति एगे बहु कायरा नरा २०-३८
सीयंति जत्था बहुकायरा नरा २१-१७
सीयच्छाए मणोरमे ६-६
सीयपिंडं पुराणकुम्मासं ८-१२
सीया उण्हा य निद्धा य ३६-२०
सीया नीलवंतपवहा ११-२८
सीयाए जोयणे तत्तो ३६-६१
सीयारयणं तओ समारूढो २२-२२
सीलं पडिलभे जओ १-७
सीलड्ढं गुणआगरं १६-५
सीलभूएण अप्पणा २७-१७
सीलवंता बहुस्सुया ५-२६; २२-३२
सीलवंता सवीसेसा ७-२१
सीलसहावहासविगहाहिं ३६-२६३
सीसं छेत्तूण भुज्जई ७-३
सीससंघसमाउले २३-३,७,१५
सीसेण एयं सरणं उवेह १२-२८
सीसे सो उ महप्पणो २१-१
सीहकण्णी नहेव य ३६-६६
सीहे मियाण पवरे ११-२०
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा २१-१४
सुइं च लद्धुं सद्धं च ३-१०
सुई धम्मस्स दुल्लहा ३-८
सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं २८-२१
सुंसुमारा य बोद्धव्वा ३६-१७२
सुकडं तस्स सामण्णं २-१६
सुकडे त्ति सुपक्के त्ति १-३६
सुकहियमट्ठपओवसोहियं १०-३७
सुकुमालं सुहोइयं २०-४
सुकुमालो सुमज्जिओ १६-३४
सुक्कझाणं झियाएज्जा ३५-१६
सुक्कलेसं तु परिणमे ३४-३२
सुक्कलेसा उ वण्णओ ३४-६
सुक्कलेसा य छट्ठा उ ३४-३
सुग्गइं उववज्जई बहुसो ३४-५७
सुग्गीवे नयरे रम्म १६-१
सुच्छिन्ने सुहडे मडे १-३६
सुट्ठिया नियमव्वए २२-४०
सुट्ठु मे उवदंसियं २०-५४; २५-३५
सुणगमडगस्स व जहा अहिमडस्स ३४-१६
सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति १-३६
सुणियाभावं साणस्स १-६
सुणेह एगग्गहियं हियत्थं ३२-१
सुणेह जिणभासियं २८-१
सुणेह मे एगमणा इओ ३६-१
सुणेह मेगग्गमणा ३५-१
सुणेह मे महाराय ! २०-५७
सुत्तं अत्थं च तदुभयं १-२३
सुत्तगं च महायसो २२-२०
सुत्तत्थ संचिंतणया धिई य ३२-३
सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी ४-६
सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि २८-२८
सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं १७-१
सुद्धो हवइ कम्मुणा २५-३१
सुद्धेसणाओ नच्चाणं ८-११
सुद्धोदए य उस्से ३६-८५
सुपरिच्चाई दमं चरे १८-४३
सुप्पियस्सावि मित्तस्स ११-८
सुब्भिगंधपरिणामा ३६-१७
सुमहं मंदरे गिरी ११-२६
सुमिणं लक्खणदंडवत्थुविज्जं १५-७
सुयं आभिणिबोहियं ३३-४
सुयं आभिनिबोहियं २८-४
सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवं २ सू० १; १६ सू० १; २६ सू० १
सुयं लद्धुं न मज्जई ११-११
सुयं लद्धूण मज्जई ११-७
सुयं विणयं च गाहिए १७-४
सुयतुंडपईवनिभा ३४-७
सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च २८-२७


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुयधाराभिहया संता २३-५३
सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं २८-२३
सुयरस्सीसमाहियं २३-५६
सुयसीलतवो जलं २३-५३
सुयसीलसमुक्करिसो २३-८८
सुयस्स आराहणयाए णं भंते ! २९ सू० २५
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो ११-३१
सुयाणि मे पंच महव्वयाणि १९-१०
सुया मे नरए ठाणा ५-१२
सुरूवे ! चारुभासिणि २२-३७
सुरूवे पियदंसणे २१-६
सुलहा तेसिं भवे बोही ३६-२५८
सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे ९-४८
सुविणीए त्ति वुच्चई ११-१०,१३
सुविसोज्झो सुपालओ २३-२७
सुव्वए कम्मई दिवं ५-२२
सुव्वंति दारुणा सद्दा ९-७
सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं १२-४२
सुसंभिया कामगुणा इमे ते १४-३१
सुसंभंतो सुविम्हिओ २०-१३
सुसाणे सुन्नगारे वा २-२०; ३५-६
सुसीइभूओ पज्जहामि दोसं १२-४६
सुसीला चारुपेहिणी २२-७
सुहं वसामो जीवामो ९-१४
सुहं वा जइ वा दुहं १८-१७
सुहदुक्खफलविवागं १३-३
सुहमसुहं च आहियं ३३-१३
सुहसाएणं भंते ! जीवे २९ सू० ३०
सुहस्स उ बहू भेया ३३-१३
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं १९-९८
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ३३-१८
सुहुमं तह संपरायं च २८-३२
सुहुमाणं बायराण य ३५-९
सुहुमा तत्थ वियाहिया ३६-७७,८६,१००
सुहुमा ते वियाहिया ३६-११०,११९
सुहुमा बायरा तहा ३६-७०,८४,९२, १०८,११७
सुहुमा सव्वलोगम्मि ३६-७८,८६,१००, १११,१२०
सुहेण य दुहेण य २८-१०
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा ३२-१०५
सुहोइयो तुमं पुत्ता ! १९-३४
सूयरस्स नरस्स य १-६
सूरा दढपरक्कमा १८-५१
सूरे दढपरक्कमे ११-१७
सूरो अभिहणे परं २-१०
सूलेहिं मुसलेहि य १९-६१
सेओ अगारवासु त्ति २-२९
सेओ सच्चपरक्कमे १८-४८
से काहए महया वित्थरेणं २०-५३
से किंचि हु निसामिया १७-१०
से खिप्पं सव्वसंसारा २४-२७; ३०-३७
से घाणबले य हायई १०-२३
से चक्खुबले य हायई १०-२२
से चुए बंभलोगाओ १८-२९
से जिब्भबले य हायई १०-२४
सेज्जं तु पडिलेहए २६-३७
सेज्जं न पडिलेहइ १७-१४
सेज्जा दढा पाउरणं मे अत्थि १७-२
सेट्ठिकुलम्मि विसाले १३-२
सेढितवो पयरतवो ३०-१०
सेणिओ मगहाहिवो २०-२,१०
सेणिया ! मगहाहिवा ! २०-१२
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू २१-१७
से दसंगेभिजायई ३-१६
से न अच्छइ मंडले ३१-३ से २०
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते २०-४८
से नूणं मए पुव्वं २-४०
से फासबले य हायई १०-२५
सेयं ते मरणं भवे २२-४२
सेयं पव्वइउं मम २२-२९
सेयमेयंति मन्नई ५-९
से विणीए त्ति वुच्चई १-३
से वि य सुस्सुयाइत्ता २७-७
से वि सावत्थिमागए २३-७
से संजए सुव्वए तवस्सी १५-५
से समिए त्ति वुच्चई ताई ८-९
से सव्वबले य हायई १०-२६
से सव्वसिणेहवज्जिए १०-२८
सेसाणि उ अप्पसत्थाइं २६-२८
सेसावसेसं लभउ तवस्सी १२-१०
से सिक्खं लद्धुमरिहई ११-१४
से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे १७-२१
से सोयई मच्चुमुहोवणीए १३-२१
से सोयबले य हायई १०-२१
सोइंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे २९ सू० ६३
सोऊण तस्स वयणं २२-१८
सोऊण तस्स सो धम्मं १८-१८
सोऊण रायकन्ना २२-२८
सो एवं तत्थ पडिसिद्धो २५-९
सो करिस्सइ उज्जोयं २३-७६,७८
सो कुंडलाण जुयलं २२-२०
सो खलु आणारुई नाम २८-२०
सो खलु किरियारुई नाम २८-२५
सोगेण उ समुत्थया २२-२८
सोच्चाभिनिक्खम्म पहाय भोए १४-३७
सोच्चाणं जिणसासणं २-६
सोच्चाणं फरुसा भासा २-२५
सोच्चाणं मेहावी सुभासियं इमं २०-५१
सोच्चा नेआउयं मग्गं ३-९; ७-२५
सोच्चा सद्दहिऊण य ३६-२४९
सो तवो दुविहो वुत्तो ३०-७
सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को ३२-११०
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ३२-१०१
सो दाणिसिं राय ! महाणुभागो १३-२०
सो देवलोगसरिसे ९-३
सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो २८-२७
सो पच्छा परितप्पई ५-१३
सो बीयरुइ त्ति नायव्वो २८-२३
सोयगिज्झं विवज्जए १६-५
सोयग्गिणा आयगुणिंधणेणं १४-१०
सोयस्स सद्दं गहणं वयंति ३२-३५,३६
सोरिइनेमिनामो उ २२-५
सोरियपुरंमि नयरे २२-१,३
सोलसविहभेएणं ३३-११
सोवागकुलसंभूओ १२-१
सोवागजाई दुहओ गयाणं १३-१८
सोवागपुत्ते हरिएससाहू १२-३७
सोवागा कासिभूमिए १३-६
सो बिंतम्मापियरो ! १९-७६
सो वि अंतरभासिल्लो २७-११
सो वि राया तवं चरे १८-३७
सोवीररायवसभो १८-४७
सो समासेण छव्विहो ३०-१०
सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो २८-२१
सोहम्मंमि जहन्नेणं ३६-२२२
सोहम्मीसाणगा तहा ३६-२१०
सोही उज्जुयभूयस्स ३-१२
सो हु कंखे सुए सिया १४-२७
सो होइ अभिगमरुई २८-२३

(ह)

हए मिए उ पासित्ता १८-६
हओ न संजले भिक्खू २-२६
हंसा मयंगतीरे १३-६
हट्ठतुट्ठमलंकिया १८-१६
हणाइ वेयाल इवाविवन्नो २०-४४
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं २०-४४
हणेज्जा कोइ कत्थई २-२७
हत्थागया इमे कामा ५-६
हत्थिणपुरम्मि चित्ता १३-२८
हम्मंति भत्तपाणेसु ३५-११
हम्मिहंति बहू जिया २२-१९
हयं भद्दं व वाहए १-३७


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हयमाइगोणमाइ ३६-१८०
हयाणीए गयाणीए १८-२
हरतणू महिया हिमे ३६-८५
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? १४-१५
हरिएसबलो नाम १२-१
हरियकाया य बोद्धव्वा ३६-९५
हरियालभेयसंकासा ३४-८
हरियाले हिंगुलुए ३६-७४
हरिसेणो मणुस्सिदो १८-४२
हलिद्दाभेयसन्निभा ३४-८
हवई किच्चाणं सरणं १-४५
हसियं थाणयकंदियं १६-५
हसियं भुत्तासियाणि य १६-१२
हालिद्दा सुक्किला तहा ३६-१६,७२
हासं किड्डं रइं दप्पं १६-६
हासं कीडं च वज्जए १-९
हासं भयं सोगपुमित्थि वेयं ३२-१०२
हासे भए मोहरिए २४-९
हिंगुलुयधाउसंकासा ३४-७
हिंसगा अजिइंदिया १२-५
हिंसे बाले मुसावाई ५-९; ७-५
हियं तं मन्नए पण्णो १-२८
हियं विगयभया बुद्धा १-२९
हियं सया बंभवए रयाणं ३२-१५
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ८-५
हियनिस्सेसाए सव्वजीवाणं ८-३
हिरण्णं जायरूवं च ३५-१३
हिरण्णं पसुभिस्सह ९-४९
हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं ९-४६
हिरिमं पडिसंलीणे ११-१३
हिरिली सिरिली सिस्सिरिली ३६-९७
हीलं च निंदं च खमाह भंते ! १२-३०
हुज्जा गायविराहणा २-३४
हुयासणे जलंतम्मि १९-४९,५७
हेऊकारणचोइओ ९-८,११,१३,१७,१९,२३, २५,२७,२९,३१,३३,३७,३९, ४१,४३,४५,४७,५०,५२
हेऊहि कारणेहि य २७-१०
हेट्ठिमा उवरिमा चेव ३६-२१३
हेट्ठिमामज्झिमा तहा ३६-२१३
हेट्ठिमाहेट्ठिमा चेव ३६-२१३
होइ किण्हाए ३४-४३
होइ वायस्स कोत्थलो १९-४०
होई भागेण तेऊए ३४-५२
होक्खामि त्ति अचेलए २-१२
होमं हुणामी इसिणं पसत्थं १२-४४
होमि नाहो भयंताणं २०-११


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट २

# उपमा और दृष्टान्त

**उपमाएं—**


| | |
|---|---|
| गलियस्सेव कसं | १।१२ |
| कसं व दट्ठुमाइण्णे | १।१२ |
| गलियस्से व वाहाए | १।३७ |
| भूयाणं जगई जहा | १।४५ |
| कालीपव्वंगसंकासे | २।३ |
| नागो संगामसीसे वा | २।१० |
| पंकभूया उ इत्थिओ | २।१७ |
| घयसित्तव्व पावए | ३।१२ |
| महासुक्का व दिप्पंता | ३।१४ |
| दीवप्पणट्ठे व | ४।५ |
| भारुण्डपक्खी व | ४।६ |
| आसे जहा सिक्खियवम्मधारी | ४।८ |
| दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं | ५।१० |
| धुत्ते व कलिना जिए | ५।१६ |
| पक्खी पत्तं समादाय | ६।१५ |
| कुसग्गमेत्ता | ७।२४ |
| बज्झई मच्छिया व खेलंमि | ८।५ |
| तरंति अतरं वणिया व | ८।६ |
| निज्जाइ उदगं व थलाओ | ८।६ |
| आसीविसोवमा | ६।५३ |
| अबले जह भारवाहए | १०।३३ |
| आसे जवेण पवरे | ११।१६ |
| जहाइण्णसमारूढे | ११।१७ |
| जहा करेणुपरिकिण्णे, कुंजरे सट्ठिहायणे | ११।१८ |
| वसहे जूहाहिवई | ११।१६ |
| सीहे मियाण पवरे | ११।२० |
| अप्पडिहयबले जोहे | ११।२१ |
| जहा से चाउरंते चक्कवट्टी महिड्ढिए | ११।२२ |
| जहा से सहस्सक्खे, वज्जपाणी पुरंदरे | ११।२३ |
| जहा से तिमिरविद्धंसे, उत्तिट्ठंते दिवायरे | ११।२४ |
| जहा से उडुवई चंदे | ११।२५ |
| जहा से सामाइयाणं कोट्ठागारे | ११।२६ |
| जहा सा दुमाण पवरा, जंबू नाम सुदंसणा | ११।२७ |
| जहा सा नईण पवरा | ११।२८ |
| जहा से नगाण पवरे, सुमहं मंदरे गिरी | ११।२६ |
| जहा से सयंभूरमणे | ११।३० |
| समुद्दगंभीरसमा | ११।३१ |
| अगणिं व पक्खंद पयंगसेणा | १२।२७ |
| जहेह सीहो व मियं गहाय | १३।२२ |
| नागो जहा पंकजलावसन्नो | १३।३० |
| जहा य अग्गी अरणीउसंतो | १४।१८ |
| खीरे घयं | १४।१८ |
| तेल्ल महातिलेसु | १४।१८ |
| पंखा विहूणो व्व जहेह पक्खी | १४।३० |
| भिच्चा विहूणो व्व रणे नरिंदो | १४।३० |
| विवन्नसारो वणिओ व्व पोए | १४।३० |
| जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी | १४।३३ |
| जहा य भोई! तणुयं भुयंगो, निम्मोयणिं हिच्चे पलेइ मुत्तो | १४।३४ |
| छिंदित्तु जालं अबलं व रोहिया, मच्छा जहा.. | १४।३५ |
| नहेव कुंचा समइक्कमंता, तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा | १४।३६ |
| पक्खिणि पंजरे वा | १४।४१ |
| गिद्धोवमे | १४।४७ |
| उरगो सुवण्णपासे व | १४।४७ |
| नागो व्व बंधणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए | १४।४८ |
| विसं तालउडं जहा | १६।१३ |
| विसमेव गरहिए | १७।२० |
| अमयं व पूइए | १७।२१ |
| विज्जुसंपायचंचलं | १८।१३ |
| उम्मत्तो व्व महिं चरे | १८।५१ |
| देव दोगुंदगे चेव | १६।३ |
| विसफलोवमा | १६।११ |
| फेणबुब्बुयसन्निभे | १६।१३ |
| जहा किंपागफलाणं परिणामो न सुंदरो | १६।१७ |
| गुरुओ लोहभारो व्व | १६।३५ |
| आगासे गंगसोउ व्व पडिसोओ व्व दुत्तरो | १६।३६ |
| बाहाहिं सागरो | १६।३६ |
| वालुयाकवले | १६।३७ |
| असिधारागमणं | १६।३७ |
| अहीवेगंतदिट्ठीए | १६।३८ |
| जवा लोहमया | १६।३८ |
| जहा अग्गिसिहा दित्ता | १६।३६ |
| जहा दुक्खं भरेउं जे होइ वायस्स कोत्थलो | १६।४० |
| जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करं मंदरो गिरी | १६।४१ |
| जहा भूयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणागरो | १६।४२ |
| महादवग्गिसंकासे | १६।५० |
| महाजंतेसु उच्छू वा | १६।५३ |
| रोज्झो वा जह पाडिओ | १६।५६ |
| महिसो विव | १६।५७ |
| मिओ वा अवसो | १६।६३ |
| मच्छो वा अवसो | १६।६४ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सउणो विव १६।६५
वड्ढईहिं दुमो विव १६।६६
कुमारेहिं अयं पिव १६।६७
महानागो व्व कंचुयं १६।८६
रेणुयं व पडे लग्गं १६।८७
वासीचंदणकप्पो १६।९२
सत्थं जहा परमतिक्खं २०।२०
इंदासणिसमा २०।२१
पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे २०।४२
अयंतिए कूडकहावणे वा २०।४२
राढामणी वेरुलियप्पगासे २०।४२
विसं तु पीयं जह कालकूडं २०।४४
सत्थं जह कुग्गहीयं २०।४४
वेयाल इव २०।४४
अग्गी विवा २०।४७
कुररी विवा २०।५०
विहग इव २०।६०
देवो दोगुंदओ जहा २१।७
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा २१।१४
संगामसीसे इव नागराया २१।१७
मेरु व्व २१।१९
सूरिए वंतलिक्खे २१।२३
समुद्दं व २१।२४
विज्जुसोयामणिप्पभा २२।७
सिरे चूडामणी जहा २२।१०
भमरसन्निभे २२।३०
मा कुले गंधणा होमो २२।४३
वायाविद्धो व्व हढो २२।४४
अंकुसेण जहा नागो २२।४६
चंदसूरसमप्पभा २३।१८
जहा चंदं गहाईया २५।१७
भासच्छन्ना इवग्गिणो २५।१८
अग्गी वा महिओ जहा २५।१९
जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा २५।२६
खलुंका जारिसा जोज्जा २७।८
रायवेट्टिं मन्नंता २७।१३
जायपक्खा जहा हंसा २७।१४
जारिसा मम सीसाउ, तारिसा गलिगद्दहा २७।१६
उदए व्व तेल्लबिंदू २८।१२
ओहरियभारो व्व भारवे २९।१२
जहा सूई ससुत्ता २९।५९
जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे ३०।५
जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य ३०।६
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ३२।१०
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ३२।१२
जहा महासागरमुत्तरित्ता नई भवे अवि गंगासमाणा ३२।१९
जहा वा पयंगे ३२।२४
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ३२।३४,४७,६०,७३,८६,९९
हरिणमिगे व मुद्धे ३२।३७
ओसहिगंधगिद्धे सप्पे बिलाओ विव ३२।५०
बडिसविभिन्नकाए मच्छे जहा ३२।६३
सीयजलावसन्ने गाहग्गहीए महिसे वरन्ने ३२।७६
करेणुमग्गावहिए व नागे ३२।८९
जीमूयनिद्धसंकासा ३४।४
गवलरिट्ठगसन्निभा ३४।४
खंजणंजणनयणनिभा ३४।४
नीलासोगसंकासा ३४।५
चासपिच्छसमप्पभा ३४।५
वेरुलियनिद्धसंकासा ३४।५
अयसीपुप्फसंकासा ३४।६
कोइलच्छदसन्निभा ३४।६
पारेवयगीवनिभा ३४।६
हिंगुलुयधाउसंकासा ३४।७
तरुणाइच्चसन्निभा ३४।७
सुयतुंडपईवनिभा ३४।७
हरियालभेयसंकासा ३४।८
हलिद्दाभेयसन्निभा ३४।८
सणासणकुसुमनिभा ३४।८
संखंककुंदसंकासा ३४।९
खीरपरसमप्पभा ३४।९
रययहारसंकासा। ३४।९


## दृष्टान्त


कुत्ती का दृष्टान्त। १।४
सूअर का दृष्टान्त। १।५
चोर का दृष्टान्त। ४।३
गाडीवान् का दृष्टान्त। ५।१४,१५
उरभ्र का दृष्टान्त। ७।९-१०
कागिणी और आम्र का दृष्टान्त। ७।११,१२
तीन वणिकों का दृष्टान्त। ७।१४-१६
कुशाग्र बिन्दु का दृष्टान्त। ७।२३
द्रुमपत्र का दृष्टान्त। १०।१
कुशाग्र बिन्दु का दृष्टान्त। १०।२
शंख का दृष्टान्त। ११।१५
दवाग्नि का दृष्टान्त। १४।४२,४५
पक्षी का दृष्टान्त। १४।४४,४६
पाथेय का दृष्टान्त। १६।१८-२१
जलते हुए घर का दृष्टान्त। १९।२२,२३
मृग का दृष्टान्त। १९।७७-८३
गोपाल का दृष्टान्त। २२।४५
मिट्टी के गोले का दृष्टान्त। २५।४०,४१
दवाग्नि का दृष्टान्त। ३२।११
बिडाल का दृष्टान्त। ३२।१३
किंपाक फल का दृष्टान्त। ३२।२०


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ३

# सूक्त

**विणय मेसेज्जा। १।७**
विनय की खोज करो।

**अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा निरट्ठाणि उ वज्जए। १।८**
जो अर्थवान् है, उसे सीखो। निरर्थक को छोड़ दो।

**अणुसासिओ न कुप्पेज्जा। १।९**
अनुशासन मिलने पर क्रोध न करो।

**खंतिं सेविज्ज पण्डिए। १।९**
क्षमाशील बनो।

**खुड्डेहिं सह संसग्गिं हासं कीडं च वज्जए। १।९**
ओछे व्यक्तियों का संसर्ग मत करो, हंसी-मखोल मत करो।

**मा य चंडालियं कासी। १।१०**
नीच कर्म मत करो।

**बहुयं मा य आलवे। १।१०**
बहुत मत बोलो।

**कडं कडेत्ति भासेज्जा अकडं नो कडे त्ति य। १।११**
किया हो तो ना मत करो और न किया हो तो हां मत करो।

**ना पुट्ठो वागरे किंचि पुट्ठो वा नालियं वए। १।१४**
बिना पूछे मत बोलो और पूछने पर झूठ मत बोलो।

**कोहं असच्चं कुवेज्जा। १।१४**
क्रोध को विफल करो।

**अप्पा चेव दमेयव्वो। १।१५**
आत्मा का दमन करो।

**अप्पा हु खलु दुद्दमो। १।१५**
आत्मा बहुत दुर्दम है।

**अप्पा दंतो सुही होइ। १।१५**
सुख उसे मिलता है, जो आत्मा को जीत लेता है।

**मायं च वज्जए सया। १।२४**
कपट मत करो।

**न सिया तोत्तगवेसए। १।४०**
चाबुक की प्रतीक्षा मत करो।

**अदीणमणसो चरे। २।३**
मानसिक दासता से मुक्त होकर चलो।

**मणं पि न पाओसए। २।११**
मन में भी द्वेष मत लाओ।

**नाणी नो परिदेवए। २।१३**
ज्ञानी को विलाप नहीं करना चाहिए।

**न य वित्तासए परं। २।२०**
दूसरों को त्रस्त मत करो।

**नाणुतप्पेज्ज संजए। २।३०**
संयमी को अनुताप नहीं करना चाहिए।

**रसेसु नाणुगिज्झेज्जा। २।३९**
रस-लोलुप मत बनो।

**सुई धम्मस्स दुल्लहा। ३।८**
धर्म सुनना बहुत दुर्लभ है।

**सद्धा परम दुल्लहा। ३।९**
श्रद्धा परम दुर्लभ है।

**सोच्चा नेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सई। ३।९**
कुछ लोग सही मार्ग को पा कर भी भटक जाते हैं।

**वीरियं पुण दुल्लहं। ३।१०**
क्रियान्विति सबसे दुर्लभ है।

**सोही उज्जुयभूयस्स। ३।१२**
पवित्र वह है जो सरल है।

**धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई। ३।१२**
धर्म का वास पवित्र आत्मा में होता है।

**असंखयं जीविय मा पमायए। ४।१**
जीवन का धागा टूटने पर संधता नहीं, अतः प्रमाद मत करो।

**जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं। ४।१**
बुढ़ापा आने पर कोई त्राण नहीं देता।

**कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि। ४।३**
किए कर्मों को भुगते बिना मुक्ति कहां?

**वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते। ४।५**
प्रमत्त मनुष्य धन से त्राण नहीं पाता।

**घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं। ४।६**
समय बड़ा निर्मम है और शरीर बड़ा निर्बल है।

**छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं। ४।८**
इच्छा को जीतो, स्वतंत्र बन जाओगे।

**खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं। ४।१०**
तुरंत ही सम्भल जाना बड़ा कठिन काम है।

**अप्पाणरक्खी चरमप्पमत्तो। ४।१०**
आत्मा की रक्षा करो, कभी प्रमाद मत करो।

**न मे दिट्ठे परे लोए चक्खुदिट्ठा रमा रई। ५।५**
परलोक किसने देखा है, यह सुख आंखों के सामने है।

**अप्पणा सच्चमेसेज्जा। ६।२**
सत्य की खोज करो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**मेत्तिं भूएसु कप्पए। ६।२**
सब जीवों के साथ मैत्री रखो।

**न चित्ता तायए भासा। ६।१०**
भाषा में शरण मत ढूंढ़ो।

**कम्मसच्चा हु पाणिणो। ७।२०**
किया हुआ कर्म कभी विफल नहीं होता।

**जायाए घासमेसेज्जा रसगिद्धे न सिया भिक्खाए। ८।११**
मुनि जीवन-निर्वाह के लिए खाए, रस-लोलुप न बने।

**समयं गोयम ! मा पमायए। १०।१**
एक क्षण के लिए भी प्रमाद मत करो।

**मा वंतं पुणो वि आइए। १०।२९**
वमन को फिर मत चाटो।

**महप्पसाया इसिणो हवंति। १२।३१**
ऋषि महान् प्रसन्न-चित्त होते हैं।

**न हु मुणी कोवपरा हवंति। १२।३१**
मुनि कोप नहीं किया करते।

**आयाणहेउं अभिणिक्खमाहि। १३।२०**
मुक्ति के लिए अभिनिष्क्रमण करो।

**कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं। १३।२३**
कर्म कर्त्ता के पीछे दौड़ता है।

**मा कासि कम्माइं महालयाइं। १३।२६**
असद् कर्म मत करो।

**वेया अहीया न भवंति ताणं। १४।१२**
वेद पढ़ने पर भी त्राण नहीं होते।

**धणेण किं धम्मधुराहिगारे। १४।१७**
धन से धर्म की गाड़ी कब चलती है ?

**अभयदाया भवाहि य। १८।११**
अभय का दान दो।

**अणिच्चे जीव लोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि। १८।११**
यह संसार अनित्य है, फिर क्यों हिंसा में आसक्त होते हो !

**पडंति नरए घोरे जे नरा पावकारिणो। १८।२५**
पाप करने वाला घोर नरक में जाता है।

**दिव्वं च गइं गच्छंति चरित्ता धम्ममारियं। १८।२५**
धर्म करने वाला दिव्य गति में जाता है।

**चइत्ताणं इमं देहं गन्तव्वमवसस्स मे। १९।१६**
इस शरीर को छोड़कर एक दिन निश्चित ही चले जाना है।

**निम्ममत्तं सुदुक्करं। १९।२९**
ममत्व का त्याग करना सरल नहीं है।

**जवा लोहमया चेव चावेयव्वा सुदुक्करं। १९।३८**
साधुत्व क्या है, लोहे के चने चबाना है।

**इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचि वि दुक्करं। १९।४४**
उसके लिए कुछ भी दुःसाध्य नहीं है, जिसकी प्यास बुझ चुकी है।

**पडिकम्मं को कुणई अरण्णे मियपक्खिणं ? १९।७६**
जंगली जानवरों व पक्षियों की परिचर्या कौन करता है ?

**वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं। १९।९८**
धन दुःख बढ़ाने वाला है।

**माणुस्सं खु सुदुल्लहं। २०।११**
मनुष्य जीवन बहुत मूल्यवान् है।

**अप्पणा अणाहो संतो कहं नाहो भविस्ससि। २०।१२**
तू स्वयं अनाथ है, दूसरों का नाथ कैसे होगा ?

**न तं अरी कंठछेत्ता करेइ जं से करे अप्पणिया दुरप्पा। २०।४८**
कण्ठ छेदने वाला शत्रु वैसा अनर्थ नहीं करता, जैसा बिगड़ा हुआ मन करता है।

**पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा। २१।१५**
मुनि प्रिय और अप्रिय सब कुछ सहे।

**न यावि पूयं गरहं च संजए। २१।१५**
मुनि पूजा और गर्हा—इन दोनों को न चाहे।

**अणुन्नए नावणए महेसी। २१।२०**
महर्षि न अभिमान करे और न दीन बने।

**नेहपासा भयंकरा। २३।४३**
स्नेह का बन्धन बड़ा भयंकर होता है।

**न तं तायंति दुस्सीलं। २५।२८**
दुराचारी को कोई नहीं बचा सकता।

**विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो। ३२।१६**
मुनि के लिए एकान्तवास प्रशस्त होता है।

**कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं। ३२।१९**
दुःख काम-भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है।

**समलेट्ठुकंचणे भिक्खू। ३५।१३**
भिक्षु के लिए मिट्टी का ढेला और कंचन समान होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ४

# व्यक्ति परिचय

इस सूत्र में अनेक व्यक्तियों के नाम उल्लिखित हुए हैं। कई व्यक्ति इतिहास की परिधि में आते हैं और कई प्राग्-ऐतिहासिक हैं। उनकी अविकल सूची तथा परिचय इस प्रकार है :

**महावीर** (२।सू० १)— इस अवसर्पिणी-काल में जैन-परम्परा के अंतिम तीर्थङ्कर।

**नायपुत्त** (६।१७)—भगवान महावीर का वंश 'नाय'—'ज्ञात' था, इसलिए वे 'नायपुत्त' कहलाते थे।

**कपिल** (अध्ययन ८)—देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० १४५।

**नमि** (अध्ययन ९)—देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० १५६।

**गौतम** (अध्ययन १०)—इनके पिता का नाम वसुभूति, माता का नाम पृथ्वी और गोत्र गौतम था। इनका जन्म (ई०पू० ६०७) गोबर-ग्राम (मगध) में हुआ। इनका मूल नाम इन्द्रभूति था।

एक बार मध्यम पावापुरी में आर्य सोमिल नाम के एक ब्राह्मण ने विशाल यज्ञ किया। इसमें भाग लेने के लिए अनेक विद्वान् आए। इनमें इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति—ये तीनों भाई भी थे। ये चौदह विद्याओं में पारंगत थे।

भगवान् महावीर भी बारह योजन का विहार कर मध्यम पावापुरी पहुंचे और गांव के बाहर महासेन नामक उद्यान में ठहरे। भगवान् को देख सबका मन आश्चर्य से भर गया।

इन्द्रभूति को जीव के विषय में सन्देह था। वे महावीर के पास वाद-विवाद करने आए। उन्हें अपनी विद्वता पर अभिमान था। उन्होंने सोचा—

*यमस्य मालवो दूरे, किं स्यात् को वा वचस्विनः।*
*अपोषितो रसो नूनं, किमजेयं च चक्रिणः॥*

—यम के लिए मालवा कितना दूर है? वचस्वी मनुष्य द्वारा कौन-सा रस (शृङ्गार अदि) पोषित नहीं होता? चक्रवर्ती के लिए क्या अजेय है?

भगवान् ने जीव का अस्तित्व साधा। इन्द्रभूति ने अपने पांच सौ शिष्यों सहित भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

गौतम भगवान् के प्रथम गणधर थे। ये ५० वर्ष तक गृहस्थ, तीस वर्ष तक छद्मस्थ तथा बारह वर्ष तक केवली पर्याय में रहे और अन्त में अनशन कर ९२ वर्ष की अवस्था में (ई०पू० ५१५ में) राजगृह के वैभारगिरि पर्वत पर मुक्त हो गए।

जैन-आगमों में गौतम द्वारा पूछे गए प्रश्न और भगवान् द्वारा दिए गए उत्तरों का सुन्दर संकलन है।

**हरिकेसबल** (अध्ययन १२)—देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० २०८।

**कौशिक** (१२।२०)—कौशलिक कोशल देश के राजा का नाम है। यहां कौशलिक से कौन-सा राजा अभिप्रेत है यह स्पष्ट उल्लिखित नहीं है। कौशलिक पुत्री की घटना वाराणसी में घटित हुई। काशी पर कौशल देश का प्रभुत्व महाकौशल और प्रसेनजित् के राज्यकाल में रहा है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कौशलिक महाकौशल या प्रसेनजित् के लिए प्रयुक्त है। महाकौशल के साथ कौशलिक राष्ट्र का अधिक निकट सम्बन्ध है। संभव है यहां वह उसी के लिए व्यवहृत हुआ हो।

**भद्रा** (१२।२०)—महाराज कौशलिक की पुत्री। देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० २०८।

**चुलणी** (१३।१)—यह काम्पिल्यपुर के राजा 'ब्रह्म' की पटरानी और अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त की मां थी। उत्तरपुराण (७३।२८७) में इसका नाम 'चूड़ादेवी' दिया गया है।

**ब्रह्मदत्त** (१३।१)—इनके पिता का नाम 'ब्रह्म' और माता का नाम 'चुलणी' था। इनका जन्म स्थान पाञ्चाल जनपद में कांपिल्यपुर था। महावग्गजातक में भी चूलनी ब्रह्मदत्त को पाञ्चाल का राजा माना है। ये अंतिम चक्रवर्ती थे। आधुनिक विद्वानों ने इनका अस्तित्व काल ई०पू० दसवीं शताब्दी के आस-पास माना है।[1]

**चित्र, सम्भूत** (अध्ययन १३)—देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० २२४।

**पुरोहित** (१४।३)—पुरोहित का नाम मूल सूत्र में उल्लिखित नहीं है। वृत्ति में इसका नाम भृगु बतलाया गया है।[2]
देखिए—सुखबोधा, पत्र २०४

**यशा** (१४।३)—कुरु जनपद के इषुकार नगर में भृगु पुरोहित रहता था। उसकी पत्नी का नाम यशा था। उसके दो पुत्र हुए। अपने पुत्रों के साथ वह भी दीक्षित हो गई।

**कमलावती** (१३।३)—यह इषुकार नगर के महाराज 'इषुकार' की पटरानी थी।

**इषुकार** (१४।३)—यह कुरु जनपद के इषुकार नगर का राजा था। यह इसका राज्यकालीन नाम था। इसका मौलिक नाम 'सीमंधर था।'[3] अन्त में अपने राज्य को छोड़ यह प्रव्रजित हुआ।[4] बौद्ध-ग्रन्थकारों ने इसे 'एसुकारी' नाम से उल्लिखित किया है।[5]

**संजय** (१८।१)—देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० २८६।

**गर्दभालि** (१८।१९)—ये जैन-शासन में दीक्षित मुनि थे। पाञ्चाल जनपद का राजा 'संजय' इनके पास दीक्षित हुआ था।

**भरत** (१८।३४)—ये भगवान् ऋषभ के प्रथम पुत्र और प्रथम चक्रवर्ती थे। इन्हीं के नाम पर इस देश का नाम 'भारत' पड़ा।

**सगर** (१८।३५)—ये दूसरे चक्रवर्ती थे। अयोध्या नगरी में जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। वह ईक्ष्वाकुवंशीय था। उसके भाई

---

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, पृ० १८०।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९४।
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९४।
४. उत्तरज्झयणाणि १४।४६।
५. हत्थिपाल जातक, संख्या ५०९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का नाम सुमित्रविजय था। उसके दो पत्नियां थीं—विजया और यशोमती। विजया के पुत्र का नाम अजित था। वे दूसरे तीर्थङ्कर हुए और यशोमती के पुत्र का नाम सगर था।

**मघव** (१८।३६)—श्रीवस्ती नगरी के राजा समुद्रविजय की पटरानी भद्रा के गर्भ से इनका जन्म हुआ। ये तीसरे चक्रवर्ती हुए।

**सनत्कुमार** (१८।३७)—कुरु-जांगल जनपद में हस्तिनापुर नाम का नगर था। वहां कुरुवंश का राजा अश्वसेन राज्य करता था। उसकी भार्या का नाम सहदेवी था। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम सनत्कुमार रखा। ये चौथे चक्रवर्ती हुए।

**शान्ति** (१८।३८)—ये हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम अचिरा देवी था। ये पांचवें चक्रवर्ती हुए और अन्त में अपना राज्य त्याग कर सोलहवें तीर्थङ्कर हुए।

**कुन्थु** (१८।३९)—ये हस्तिनापुर के राजा सूर के पुत्र थे। इनकी माता का नाम श्रीदेवी था। ये छठे चक्रवर्ती हुए और अन्त में राज्य त्याग कर सत्रहवें तीर्थङ्कर हुए।

**अर** (१८।४०)—ये गजपुर नगर के राजा सुदर्शन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम देवी था। ये सातवें चक्रवर्ती हुए और अन्त में राज्य छोड़ अठारहवें तीर्थङ्कर हुए।

**महापद्म** (१८।४१)—कुरु जनपद में हस्तिनापुर नाम का नगर था। वहां पद्मोत्तर नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम 'जाला' था। उसके दो पुत्र हुए—विष्णुकुमार और महापद्म। महापद्म नौवें चक्रवर्ती हुए।

**हरिषेण** (१८।४२)—काम्पिल्यनगर के राजा महाहरिश की रानी का नाम मेरा था। उनके पुत्र का नाम हरिषेण था। वे दसवें चक्रवर्ती हुए।

**जय** (१८।४३)—ये राजगृह नगर के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। इनकी माता का नाम 'वप्रका' था। ये ग्यारहवें चक्रवर्ती हुए।[1]

**दशार्णभद्र** (१८।४४)—ये दशार्ण जनपद के राजा थे। ये भगवान् महावीर के समकालीन थे। (पूरे विवरण के लिए देखिए—सुखबोधा, पत्र २५०, २५१)।

**करकण्डु** (१८।४५)—देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० २६८।

**द्विमुख** (१८।४५)—देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० २६६।

**नमि** (१८।४५)—देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० ३००।

**नग्गति** (१८।४५)—देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० ३००।

**उद्रायण** (१८।४७)—ये सिन्धु-सौवीर जनपद के राजा थे। ये सिन्धु-सौवीर आदि सोलह जपनदों, वीतभय आदि ३६३ नगरों, महासेन आदि दस मुकुटधारी राजाओं के अधिपति थे। वैशाली गणतंत्र के राजा चेटक की पुत्री 'प्रभावती' इनकी पटरानी थी।

**काशीराज** (१८।४८)—इनका नाम नन्दन था और ये सातवें बलदेव थे। ये वाराणसी के राजा अग्निशिख के पुत्र थे। इनकी माता का नाम जयन्ती और छोटे भाई का नाम दत्त था।

**विजय** (१८।४९)—ये द्वारकावती नगरी के राजा ब्रह्मराज के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुभद्रा था। ये दूसरे बलदेव थे। इनके छोटे भाई का नाम द्विपृष्ठ था।

उत्तराध्ययन के वृत्तिकार नेमिचन्द्र ने लिखा है कि "आवश्यक निर्युक्ति में इन दो बलदेवों—नन्दन और विजय का उल्लेख आया है। इसलिए हम उसी के अनुसार यहां उनका विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। यदि ये दोनों कोई दूसरे हों और आगमज्ञ-पुरुष उन्हें जानते हों तो उनकी दूसरी तरह से व्याख्या करें।"[2]

इस कथन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रगत ये दोनों नाम उस समय सन्दिग्ध थे। शान्त्याचार्य ने इन दोनों पर कोई ऊहापोह नहीं किया है। नेमिचन्द्र ने अपनी टीका में कुछ अनिश्चित-सा उल्लेख कर छोड़ दिया है।

यदि हम प्रकरणगत क्रम पर दृष्टि डालें तो हमें यह लगेगा कि सभी तीर्थङ्करों, चक्रवर्तियों तथा राजाओं के नाम क्रमशः आए हैं। उद्रायण भगवान् महावीर के समय में हुआ था। उनके बाद ही दो बलदेवों—काशीराज नन्दन और विजय का उल्लेख असंगत-सा लगता है। अतः यह प्रतीत होता है कि ये दोनों महावीरकालीन ही कोई राजा होने चाहिएं। जिस श्लोक (१८।४८) में काशीराज का उल्लेख है, उसी में 'सेय' शब्द भी आया है। टीकाकारों ने इसे विशेषण माना है। कई इसे नामवाची मानकर 'सेय' राजा की ओर संकेत करते हैं। आगम-साहित्य में भी कहीं 'काशीराज सेय' का उल्लेख ज्ञात नहीं है। भगवान् महावीर ने आठ राजाओं को दीक्षित किया था, ऐसा उल्लेख स्थानांग में आया है।[3] उसमें 'सेय' नाम का भी एक राजा था। परन्तु वह आमल-कल्पा नगरी का राजा था, काशी का नहीं। इसी उल्लेख में 'काशीराज शंख' का भी नाम आया है। तो क्या श्लोकगत काशीराज से 'शंख' का ग्रहण किया जाय?

भगवान् महावीर-कालीन राजाओं में 'विजय' नाम का कोई राजा दीक्षित हुआ हो—ऐसा ज्ञात नहीं है। पोलासपुर में विजय नाम का राजा हुआ था। उसका पुत्र अतिमुक्तक (अइमुत्तय) भगवान् के पास दीक्षित हुआ—ऐसा उल्लेख अंतगडदशा में है।[4] परन्तु महाराज विजय के प्रव्रजित होने की बात वहां नहीं है।

विजय नाम का एक दूसरा राजा उत्तरपूर्व दिशा में मृगगाम नगर में हुआ था। उसकी रानी का नाम मृगा था।[5] परन्तु वह भी दीक्षित हुआ हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

**महाबल** (१८।५०)—टीकाकार नेमिचन्द्र ने इनकी कथा विस्तार से दी है। उन्होंने अन्त में लिखा है कि व्याख्या-प्रज्ञप्ति में महाबल की कथा का उल्लेख है। वे हस्तिनापुर के राजा बल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम प्रभावती था। वे तीर्थङ्कर विमल के परम्परागत आचार्य धर्मघोष के पास दीक्षित हुए। बारह वर्ष तक श्रामण्य का पालन किया। मर कर ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुए। वहां से च्युत हो वाणिज्यग्राम में एक श्रेष्ठी के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। उनका नाम 'सुदर्शन' रखा। ये भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित होकर सिद्ध हुए।

यह कथा व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार दी गई है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि महाबल वही है या अन्य।[6]

---

१. 'भरत' से लेकर 'जय' तक के तीर्थङ्करों तथा चक्रवर्तियों का अस्तित्वकाल प्राग्-ऐतिहासिक है।

२. सुखबोधा, पत्र २५६।

३. ठाणं, ८।

४. अनतगडदशा सूत्र, वर्ग ६।

५. विपाक सूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १।

६. सुखबोधा, पत्र २५६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारी मान्यता के अनुसार यह कोई दूसरा होना चाहिए। क्या यह विपाक सूत्र (श्रुत १ अ० ३) में वर्णित पुरिमताल नगर का राजा तो नहीं है? किन्तु वहां उसके दीक्षित होने का उल्लेख नहीं है।

संभव है कि यह विपाक सूत्र (श्रुत २, अ० ७) में वर्णित महापुर नगर का राजा बल का पुत्र महाबल हो।

**बलभद्र, मृगा और बलश्री** (अध्ययन १६)—बलभद्र सुग्रीवनगर (?) का राजा था। उसकी पटरानी का नाम 'मृगा' और पुत्र का नाम 'बलश्री' था। रानी मृगा का पुत्र होने के कारण जनता में वह 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। देखिए—उत्तरज्झयणाणि, पृ० ३०४

**श्रेणिक** (२०।२)—यह मगध साम्राज्य का अधिपति था। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों परम्पराओं में इसकी चर्चा मिलती है। पौराणिक ग्रन्थों[1] में इसको शिशुनागवंशीय, बौद्ध-ग्रन्थों में हर्यङ्क कुल में उत्पन्न[2] और जैन-ग्रन्थों[3] में वाहीक कुल में उत्पन्न माना गया है। रायचौधरी का अभिमत है कि 'बौद्ध-साहित्य' में जो हर्यङ्क कुल का उल्लेख है वह नागवंश का ही द्योतक है। कोवेल ने हर्यङ्क का अर्थ 'सिंह' किया, परन्तु इसका अर्थ 'नाग' भी होता है। प्रोफेसर भण्डारकर ने नागदशक में बिम्बिसार को गिनाया है और इन सभी राजाओं का वंश 'नाग' माना है।[4]

बौद्ध ग्रन्थ महावंश के इस कुल के लिए 'शिशुनाग वंश' लिखा है।[5] जैन ग्रन्थों में उल्लिखित 'वाहीक कुल' भी नागवंश की ओर संकेत करता है, क्योंकि वाहीक जनपद नाग जाति का मुख्य केन्द्र था। तक्षशिला उसका प्रधान कार्य-क्षेत्र था और यह नगर वाहीक जनपद के अन्तर्गत था। अतः श्रेणिक को शिशुनागवंशीय मानना अनुचित नहीं है।

विम्बिसार शिशुनाग की परम्परा का राजा था—इस मान्यता से कुछ विद्वान् सहमत नहीं हैं। विद्वान् गैगर और भण्डारकर ने सिलोन के पाली वंशानुक्रम के आधार पर बिम्बसार और शिशुनाग की वंश-परम्परा का पृथक्त्व स्थापित किया है। उन्होंने शिशुनाग को बिम्बिसार का पूर्वज न कानकर उसे उत्तरवर्ती माना है।[6]

विभिन्न परम्पराओं में श्रेणिक के विभिन्न नाम मिलते हैं। जैन-परम्परा में उसके दो नाम हैं—(१) श्रेणिक और (२) भंभासार।[7] नाम की सार्थकता पर ऊहापोह करते हुए लिखा गया है कि वह श्रेणी का अधिपति था, इसलिए उसका नाम 'श्रेणिक' पड़ा।[8] जब श्रेणिक बालक था तब एक बार राजमहल में आग लग गई। श्रेणिक भयभीत होकर भागा। उस स्थिति में भी वह 'भंभा' को आग की लपटों से निकालना नहीं भूला, इसलिए उसका नाम 'भंभासार' पड़ा।[9]

बौद्ध-परम्परा में इसके दो नाम प्रचलित हैं—(१) श्रेणिक और (२) बिम्बिसार।[10] श्रेणिक नामकरण के पूर्वोक्त कारण मान्य रहा है।[11] इसके अतिरिक्त दो कारण और बताए हैं—(१) या तो उसकी सेना महती थी इसलिए उसका नाम 'सेनिय' (श्रेणिक) पड़ा या (२) उसका गोत्र 'सेनिय' था, इसलिए वह 'श्रेणिक' कहलाया।[12]

इसका नाम बिम्बिसार इसलिए पड़ा कि इसके शरीर का सोने जैसा रंग था।[13] दूसरी बात यह है कि तिब्बत के ग्रन्थों में इसकी माता का नाम 'बिम्बि' उल्लिखित मिलता है। अतः इसे बिम्बिसार कहा जाने लगा।[14]

पुराणों में इसे अजातशत्रु[15], विधिसार[16] कहा गया है। अन्यत्र इसे 'विंध्यसेन' और 'सुबिन्दु' भी कहा गया है।[17]

श्रेणिक के पिता का नाम 'प्रसेनजित'[18] और माता का नाम 'धारिणी'[19] था। श्रेणिक के २५ रानियों का नाम आगम-ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं।[20] वे इस प्रकार हैं—

| | |
|---|---|
| (१) नन्दा | (१४) काली |
| (२) नन्दवती | (१६) सुकाली |
| (३) नन्दुत्तरा | (१६) महाकाली |
| (४) नन्दिश्रेणिक | (१७) कृष्णा |
| (५) मरुय | (१८) सुकृष्णा |
| (६) सुमरुय | (१६) महाकृष्णा |
| (७) महामरुय | (२०) वीरकृष्णा |
| (८) मरुदेवा | (२१) रामकृष्णा |
| (६) भद्रा | (२२) पितृसेनकृष्णा |
| (१०) सुभद्रा | (२३) महासेनकृष्णा |
| (११) सुजाता | (२४) चेल्लणा[21] |
| (१२) सुमना | (२५) अपतगंधा[22] |
| (१३) भूतदिन्ना | |

बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार श्रेणिक के पांच सौ रानियां थीं।[23]

---

१. भागवत महापुराण, द्वितीय खण्ड, पृ० ६०३।
२. अश्वघोष बुद्धचरित्र, सर्ग ११ श्लोक २ : जातस्य हर्यंककुले विशाले..।
३. आवश्यक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ६७७।
४. स्टडीज इन इण्डियन एन्टिक्वीटीज, पृ० २१६।
५. महावंश, परिच्छो, गाथा २७-३२।
६. स्टडीज इन इण्डियन एन्टिक्वीटीज, पृ० २१५-२१६।
७. अभिधान चिन्तामणि ३।३७६।
८. अभिधान चिन्तामणि, स्वोपज्ञ टीका, पत्र २८५।
९. (क) त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १०।६।१०६-११२।
(ख) स्थानांग वृत्ति, पत्र ४६१।
१०. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भाग १४, अंक २, जून १६३८, पृ० ४१५।
११. वही, पृ० ४१५।
१२. धम्मपाल-उदान टीका, पृ० १०४।
१३. पाली इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११०।
१४. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भाग १४, अंक २, जून १६३८, पृ० ४१३।
१५. भागवत, द्वितीय खण्ड, पृ० ६०३
१६. वही, १२।१।
१७. भगवदत्त : भारतवर्ष का इतिहास पृ० २५२।
१८. आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति, पत्र ६७१।
हरिषेणाचार्य ने बृहत्कल्प कोष (पृ० ७८) में श्रेणिक के पिता का नाम 'उपश्रेणिक' और माता का नाम 'प्रभा' दिया है।
उत्तरपुराण (७४।४,८ पृ० ४७१) में पिता का नाम 'कूणिक' और माता का नाम 'श्रीमती' दिया है। यह अत्यन्त भ्रामक है।
अन्यत्र पिता का नाम महापद्म, हेमजित, क्षेत्रोजा, क्षेत्रोजा भी मिलते हैं। (देखिए—पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० २०५)।
१९. अणुत्तरोववाइयदशा, प्रथम वर्ग।
२०. अन्तकृद्दशा, सातवां वर्ग।
२१. आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्द्ध, पत्र १६४।
२२. निशीथ चूर्णि, सभाष्य, भाग १, पृ० १७।
२३. महावग्ग, ८।१।१५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर कहीं भी उनका नामोल्लेख नहीं मिलता।

श्रेणिक के अनेक पुत्र थे। अनुत्तरोपपातिक[1] तथा निरयावलिका[2] में उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) जाली[3]
(२) मयाली
(३) उवयाली
(४) पुरिससेण
(५) वारिसेण
(६) दीर्घदंत
(७) लष्टदंत
(८) वेहल्ल[4]
(९) वेहायस
(१०) अभयकुमार[5]
(११) दीर्घसेन
(१२) महासेन
(१३) लष्टदंत
(१४) गूढ़दन्त
(१५) सुद्धदन्त
(१६) हल्ल
(१७) दुम
(१८) दुमसेन
(१९) महादुमसेन
(२०) सीह
(२१) सीहसेन
(२२) महासीहसेन
(२३) पूर्णसेन
(२४) कालीकुमार
(२५) सुकालकुमार
(२६) महाकालकुमार
(२७) महाकृष्णकुमार
(२८) सुकृष्णकुमार
(२९) महाकृष्णकुमार
(३०) वीरकृष्णकुमार
(३१) रायकृष्णकुमार
(३२) सेणकृष्णकुमार
(३३) महासेणकृष्णकुमार
(३४) कूणिक[6]
(३५) नंदिसेन[7]

ज्ञाताधर्मकथा में श्रेणिक की पत्नी धारिणी से उत्पन्न मेघकुमार का उल्लेख है।[8]

इनमें से अधिकांश पुत्र राजा श्रेणिक के जीवन-काल में ही जिन-शासन में प्रव्रजित हो भगवान् महावीर के जीवन-काल में ही स्वर्गवासी हो गए।

जाली आदि प्रथम पांच कुमारों ने सोलह-सोलह वर्ष तक, तीन ने बारह-बारह वर्ष तक और अन्तिम दो ने पांच-पांच वर्ष तक श्रामण्य का पालन किया।[9] इसी प्रकार दीर्घसेन आदि १३ कुमारों ने सोलह-सोलह वर्ष तक श्रामण्य का पालन किया।[10]

श्रेणिक की अनेक रानियां भी भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुई थीं। आगम तथा आगमेतर ग्रन्थों में श्रेणिक से सम्बन्धित इतने उल्लेख हैं कि उनके अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि वह जैनधर्मावलम्बी था। उनका जीवन भगवान् महावीर की जीवन-घटनाओं से इतना संपृक्त था कि स्थान-स्थान पर भगवान् को श्रेणिक की बातें कहते पाते हैं। इसके अनेक पुत्र तथा रानियों का जैन-शासन में प्रव्रजित होना भी इसी ओर संकेत करता है कि वह जैन धर्मावलम्बी था। बौद्ध-ग्रन्थ उसे महात्मा बुद्ध का भक्त मानते हैं। कई विद्वान् यह भी मानते हैं कि महाराज श्रेणिक जीवन के पूर्वार्द्ध में जैन रहा होगा, किन्तु उत्तरार्द्ध में वह बौद्ध बन गया था। इसीलिए जैन कथा-ग्रन्थों में उसके नरक जाने का उल्लेख मिलता है। नरक-गमन की बात वस्तु-स्थिति का निरूपण है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह पहले जैन था और बाद में बौद्ध हो गया। नरक-गमन के साथ-साथ भावी तीर्थङ्कर का उल्लेख भी मिलता है। कई यह भी अनुमान करते हैं कि वह किसी धर्म विशेष का अनुयायी नहीं बना किन्तु जैन, बौद्ध आदि सभी धर्मों के प्रति समभाव रखता था तथा सब में उसका अनुराग था।

कुछ भी हो जैन-साहित्य में जिस विस्तार से उसका तथा उसके परिवार का वर्णन मिलता है, वह अन्यत्र नहीं है। श्रेणिक का सम्पूर्ण जीवन तथा आगामी जीवन का इतिहास जैन-ग्रन्थों में सन्दृब्ध है। यदि उसका जैनधर्म के साथ गाढ़ सम्बन्ध नहीं होता तो इतना विस्तृत उल्लेख जैन-ग्रन्थों में कभी नहीं मिलता।

श्रेणिक के जीवन का विस्तार से वर्णन निरयावलिका में है। इसके भावी तीर्थङ्कर-जीवन का विस्तार स्थानांग (९।६२) की वृत्ति (पत्र ४५८-४६८) में है।

**अनाथी मुनि** (२०।९)—ये कौशाम्बी नगरी के रहने वाले थे। इनके पिता बहुत धनाढ्य थे।[11] एक बार बचपन में ये नेत्र-रोग से पीड़ित हुए। विपुल-दाह के कारण सारे शरीर से भयंकर वेदना उत्पन्न हुई। चतुष्पाद चिकित्सा कराई गई, पर व्यर्थ। भाई-बन्धु भी उनकी वेदना को बंटा नहीं सके। अत्यन्त निराश हो, उन्होंने सोचा—'यदि मैं इस वेदना से मुक्त हो जाऊं, तो प्रव्रज्या स्वीकार कर लूंगा।' वे रोग-मुक्त हो गए। माता-पिता की आज्ञा से वे दीक्षित हुए। एक बार राजगृह के मण्डिकुक्षि[12] चैत्य में महाराज श्रेणिक अनाथी मुनि से मिले।[13] मुनि ने राजा को सनाथ और अनाथ का धर्म समझाया। राजा

---

१. अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रथम वर्ग तथा द्वितीया वर्ग।
२. निरयावलिका, १।
३. जाली आदि प्रथम सात पुत्र तथा दीर्घसेन से पुण्यसेन तक के तेरह पुत्र (कुल २० पुत्र) धारिणी से उत्पन्न हुए थे (देखिए—अनुत्तरोपपातिक दशा, वर्ग १,२)
४. वेहल्ल और वेहायस—ये दोनों चेल्लणा के पुत्र थे।
५. अभयकुमार वेणातट (आधुनिक कृष्णा नदी के तट पर) के व्यापारी की पुत्री नन्दा का पुत्र था (अनुत्तरोपपातिक दशा, वर्ग १)। बौद्ध-ग्रन्थों में अभय को उज्जैनी की नर्तकी 'पदुमावती' का पुत्र बताया है (डिक्शनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स, भाग १, पृ० १२३)। कुछ विद्वान् इसे नर्तकी आम्रपाली का पुत्र बताते हैं (डॉ० ला : ट्राइब्स इन एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० ३२८)।
६. कूणिक चेल्लणा का पुत्र था। इसका दूसरा नाम अशोकचन्द्र था। देखिए—आवश्यक चूर्णि, उत्तरभाग, पत्र १६७।
७. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक ३२०।
८. ज्ञाताधर्मकथा, प्रथम भाग, पत्र १६।
९. अणुत्तरोपपातिकदशा, वर्ग १।
१०. वही, वर्ग २।
११. कई विद्वान् इनके पिता का नाम 'धनसंचय' देते हैं। इस नामकरण का आधार उत्तराध्ययन (२०।१९) में आए 'पभूयधणसंचयो' शब्द है, परन्तु यह आधार भ्रामक है। यह शब्द उनके पिता की आढ्यता का द्योतक हो सकता है, न कि नाम का। यदि हम नाम के रूप में केवल 'धनसंचय' शब्द लेते हैं, तो 'पूभय' शब्द शेष रह जाता है और अकेले में इसका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। टीकाकार इस विषय में मौन हैं।
१२. दीर्घनिकाय, भाग २, पृ० ९१ में इसे 'मद्दकुच्छि' नाम से परिचित किया है।
१३. डॉ० राधाकुमुद बनर्जी (हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० १८७) मण्डिकुक्षि में राजा श्रेणिक के धर्मानुरक्त होने की बात बताते हैं। किन्तु वे अनाथी मुनि के स्थान पर अनगारसिंह (२०।५८) शब्द से भगवान् महावीर का ग्रहण करते हैं। परन्तु यह भ्रामक है। क्योंकि स्वयं मुनि (अनाथी) अपने मुंह से अपना परिचय देते हैं। और अपने को कौशाम्बी का निवासी बताते हैं। देखिए—उत्तराध्ययन, २०।१८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेणिक उनसे धर्म की अनुशासना ले अपने स्थान पर लौट गया।[1] मूल ग्रन्थ में 'अनाथी' का नाम नहीं है, किन्तु प्रसंग से यही नाम फलित होता है।

**पालित** (२१।१)—यह चम्पा नगरी का सार्थवाह था। यह श्रमणोपासक था। निर्ग्रन्थ प्रवचन में इसे श्रद्धा थी। यह सामुद्रिक-व्यापार करता था। एक बार यह सामुद्रिक यात्रा के लिए निकला। जाते-जाते समुद्र-तट पर स्थित 'पिहुंड'[2] नगर में रुका। वहां एक सेठ की लड़की से व्याह करके लौटा। यात्रा के बीच उसे एक पुत्र हुआ। उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा। जब वह युवा बना तब उनका विवाह ६४ कलाओं में पारंगत 'रूपिणी' नामक एक कन्या से हुआ। एक बार वध-भूमि में ले जाते चोर को देखकर वह विरक्त हुआ। माता-पिता की आज्ञा ले, वह दीक्षित हुआ और कर्म-क्षय कर मुक्त हो गया।

**समुद्रपाल** (२१।४)—देखिए—'पालित'।

**रूपिणी** (२१।७)—देखिए—'पालित'।

**रोहिणी** (२२।२)—यह नौवें बलदेव 'राम' की माता, वसुदेव की पत्नी थी।

**देवकी** (२२।२)—यह कृष्ण की माता और वसुदेव की पत्नी थी।

**राम** (२२।२)—देखिए—'रोहिणी'।

**केशव** (२२।२)—यह कृष्ण का पर्याय नाम है। ये वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम वसुदेव और माता का नाम देवकी था। ये अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे।

**समुद्रविजय** (२२।६३)—ये सोरियपुर नगर में अंधककुल के नेता थे। इनकी पटरानी का नाम शिवा था। इसके चार पुत्र थे—(१) अरष्टिनेमि, (२) रथनेमि, (३) सत्यनेमि और (४) दृढ़नेमि। अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थङ्कर हुए और रथनेमि तथा सत्यनेमि प्रत्येक-बुद्ध हुए।

**शिवा** (२२।४)—देखिए—'समुद्रविजय'।

**अरिष्टनेमि** (२२।४)—ये बाईसवें तीर्थङ्कर थे। ये सोरियपुर नगर के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। इनकी माता का नाम शिवा था। ये गौतम गोत्रिय थे। कृष्ण इनके चचेरे भाई थे और आयुष्य में इनसे बड़े थे।

**राजीमती** (२२।६)—यह भोजकुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री थी। इसका वैवाहिक-सम्बन्ध अरिष्टनेमि से तय हुआ था। किन्तु विवाह के ठीक समय पर अरिष्टनेमि को वैराग्य हो आया और वे मुनि बन गए। राजीमती भी कुछ काल बाद प्रव्रजित हो गई।

विष्णुपुराण (४।१४।२१) के अनुसार उग्रसेन के चार पुत्रियां थीं—कंसा कंसवती, सुतनु और राष्ट्रपाली। संभव है 'सुतनु' राजीमती का ही दूसरा नाम हो। उत्तराध्ययन (२२।३७) में रथनेमि राजीमती को 'सुतनु' नाम से सम्बोधित करते हैं।

**वासुदेव** (२२।८)—कृष्ण का पर्यायवाची नाम है।

**दसारचक्र**[3] (२२।११)—दस यादव राजाओं को 'दसार' कहा जाता है। वे ये हैं—

| | |
|---|---|
| (१) समुद्रविजय | (६) अचल |
| (२) अक्षोभ्य | (७) धरण |
| (३) स्तिमित | (८) पूरण |
| (४) सागर | (९) अभिचन्द |
| (५) हिमवान् | (१०) वसुदेव |

**रथनेमि** (२२।३४)—ये अन्धककुल के नेता समुद्रविजय के पुत्र थे और तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के लघु-भ्राता थे। अरिष्टनेमि के प्रव्रजित हो जाने पर ये राजीमती में आसक्त हो गए। पर राजीमती का उपदेश सुन कर वे संभल गए और दीक्षित हो गए। एक बार पुनः रैवतक पर्वत पर वर्षा से प्रताड़ित साध्वी राजीमती को एक गुफा में कपड़े सुखाते समय नग्न अवस्था में देख, वे विचलित हो गए। साध्वी राजीमती के उपदेश से वे संभल गए और अपने विचलन पर पश्चात्ताप करते हुए चले गए।[4]

**भोजराज** (२२।४३)—जैन-साहित्य के अनुसार 'भोजराज' शब्द राजीमती के पिता उग्रसेन के लिए प्रयुक्त है।

**अन्धकवृष्णि** (२२।४३)—हरिवंशपुराण के अनुसार यदुवंश का उद्भव हरिवंश से हुआ। यदुवंश में नरपति नाम का राजा था। उसके दो पुत्र थे—(१) शूर और (२) सुवीर। सुवीर मथुरा में राज्य करता था और शूर शौर्यपुर का राजा बना। अन्धक-वृष्णि आदि 'सूर' के पुत्र थे और भोजनकवृष्णि आदि सुवीर के।

अन्धकवृष्णि की मुख्य रानी का नाम सुभद्रा था। उसके दस पुत्र हुए—

| | |
|---|---|
| (१) समुद्रविजय | (६) अचल |
| (२) अक्षोभ्य | (७) धारण |
| (३) स्थिमिति सागर | (८) पूरण |
| (४) हिमवान् | (९) अभिचन्द्र |
| (५) विजय | (१०) वसुदेव |

ये दसों पुत्र दशार्ह नाम से प्रसिद्ध हुए। अन्धकवृष्णि के दो कन्याएं थीं—(१) कुन्ती और (२) मद्री।

भोजकवृष्णि की पत्नी का नाम पद्मावती था। उसके उग्रसेन, महासेन और देवसेन[5]—ये तीन पुत्र हुए।[6] उनके एक गान्धारी नाम की पुत्री भी हुई।[7]

अरिष्टनेमि, रथनेमि आदि अन्धकवृष्णि राजा समुद्रविजय के पुत्र थे।

कृष्ण आदि अन्धकवृष्णि वसुदेव के पुत्र थे। वैदिक पुराणों में इनकी वंशावली भिन्न-भिन्न प्रकार से दी गई है।

पूरे विस्तार के लिए देखिए—पारजीटर : एन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, पृ० १०४-१०७।

**पार्श्व** (२३।१)—ये जैन-परम्परा के तेईसवें तीर्थङ्कर थे। इनका समय ई० पू० आठवीं शताब्दी है। ये भगवान् महावीर से २५० वर्ष पूर्व हुए थे। ये 'पुरुषादानीय' कहलाते थे।

**कुमारश्रमण केशी** (२३।२)—ये भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के चौथे पट्टधर थे। प्रथम पट्टधर आचार्य शुभदत्त हुए। उनके उत्तराधिकारी

---

१. देखिए—उत्तरज्झयणाणि, अध्ययन २०।
२. देखिए—भौगोलिक परिचय के अन्तर्गत 'पिहुंड' नगर।
३. विशेष विवरण के लिए देखिए—उत्तरज्झयणाणि, २२।११ का टिप्पण।
४. सुखबोधा, पत्र २७७-७८।
५. उत्तरपुराण, (७०।१०) में इनका नाम महाद्युतिसेन दिया है।
६. देखिए—हरिवंशपुराण, १८।६-१६।
७. उत्तरपुराण, ७०।१०१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिदत्त सूरि थे, जिन्होंने वेदान्त दर्शन प्रसिद्ध आचार्य 'लोहित्य' से शास्त्रार्थ कर उनको पांच सौ शिष्यों सहित दीक्षित किया। इन नवदीक्षित मुनियों ने सौराष्ट्र, तेलंगादि प्रान्तों में विहार कर जैन-शासन की प्रभावना की। तीसरे पट्टधर आचार्य समुद्रविजय सूरि थे। उनके समय में 'विदेशी' नामक एक प्रचारक आचार्य ने उज्जैन नगरी में महाराज जयसेन, उनकी रानी अनंगसुन्दरी और उनके राजकुमार केशी को दीक्षित किया।[1] ये ही भगवानन् महावीर के तीर्थ-काल में पार्श्व-परम्परा के आचार्य थे। आगे चल कर इन्होंने नास्तिक राजा परदेशी को समझाया और उसे जैन-धर्म में स्थापित किया।[2]

पूरे विवरण के लिए देखिए—उत्तरज्झयणाणि, २३ का आमुख।

**वर्द्धमान** (२३।५)—ये चौबीसवें तीर्थङ्कर थे। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। इनका समय ई० पू० छठी शताब्दी था।

**जयघोष, विजयघोष** (२५।१)—वाराणसी नगरी में जयघोष और विजयघोष नाम के दो भाई रहते थे। वे काश्यप-गोत्रीय थे। वे यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छह कार्यों में रत थे और चार वेदों के ज्ञाता थे। वे दोनों युगलरूप में जन्मे। जयघोष पहले दीक्षित हुआ। फिर उसने विजयघोष को प्रव्रजित किया। दोनों श्रामण्य की आराधना कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

**गार्ग्य** (२७।१)—ये स्थविर आचार्य गर्ग गोत्र के थे। जब उन्होंने देखा कि उनके सभी शिष्य अविनीत, उद्दण्ड और उच्छृंखल हो गये हैं, तब आत्मभाव से प्रेरित हो, शिष्य समुदाय को छोड़ कर, वे अकेले हो गये और आत्मा को भावित करते हुए विहरण करने लगे।

विशेष विवरण के लिए देखिए—उत्तरज्झयणाणि का २७वां अध्ययन।

---

१. समरसिंह, पृ० ७५-७६।

२. नाभिनन्दनोद्धार प्रबन्ध, १३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ५

# भौगोलिक परिचय

उत्तराध्ययन सूत्र में अनेक देशों तथा नगरों का भिन्न-भिन्न स्थलों में निर्देश हुआ है। ढाई हजार वर्ष की इस लम्बी कालावधि में कई देशों और नगरों के नाम परिवर्तित हुए, कई मूलतः नष्ट हो गए और कई आज भी उसी नाम से प्रसिद्ध हैं। हमें उन सभी का अध्ययन प्राचीन प्रतिबिम्ब में करना है और वर्तमान में उनकी जो स्थिति है, उसे भी यथासाध्य प्रस्तुत करना है। जो नगर उस समय समृद्ध थे, वे आज खण्डहर मात्र रह गए हैं। पुराने नगर मिटते गए, नए उदय में आते गए। कई नगरों की बहुत छानबीन हुई है परन्तु आज भी ऐसे अनेक नगर हैं जिनकी छानबीन आवश्यक लगती है। आगम के व्याख्या-ग्रन्थों में तथा अन्यान्य जैन रचनाओं में बहुत कुछ सामग्री विकीर्ण पड़ी हैं। आवश्यकता है कि उनमें भूगोल सम्बन्धी सारी सामग्री एकत्र संकलित हो।

**उत्तराध्ययन में आये हुए देश व नगर**

| | |
|---|---|
| (१) मिथिला (६।४) | (१२) गान्धार (१८।४५) |
| (२) कम्बोज (११।१६) | (१३) सौवीर (१८।४७) |
| (३) हस्तिनापुर (१३।७) | (१४) सुग्रीव नगर (१६।१) |
| (४) कम्पिल्ल (१३।२;१८।१) | (१५) मगध (२०।१) |
| (५) पुरिमताल (१३।२) | (१६) कोशाम्बी (२०।१८) |
| (६) दशार्ण (१३।६) | (१७) चम्पा (२१।१) |
| (७) काशी (१३।६) | (१८) पिहुंड (२१।३) |
| (८) पाञ्चाल (१३।२६;१८।४५) | (१९) सोरियपुर (२२।१) |
| (९) इषुकार नगर (१४।१) | (२०) द्वारका (२२।२७) |
| (१०) कलिंग (१८।४५) | (२१) श्रावस्ती (२३।३) |
| (११) विदेह (१८।४५) | (२२) वाणारसी (२५।१३) |

**विदेह और मिथिला**—विदेह राज्य की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा, पश्चिम में गंडकी और पूर्व में महा नदी तक थी।

जातक के अनुसार इस राष्ट्र का विस्तार तीन सौ योजन था।[1] इसमें सोलह हजार गांव थे।[2]

विक्रम की चौथी-पांचवीं शताब्दी के बाद इसका नाम 'तीरहुत' पड़ा, जिसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। विक्रम की १४ वीं शताब्दी में रचित 'विविध तीर्थकल्प' में इसे 'तीरहुत्ति' नाम से पहचाना है।[3] इसी का अपभ्रष्ट रूप 'तिरहुत' आज भी प्रचलित है।

यह एक समृद्ध राष्ट्र था। यहां के प्रत्येक घर 'कदली-वन' से सुशोभित था। खीर यहां का प्रिय भोजन माना जाता था। स्थान-स्थान पर वापी, कूप और तालाब मिलते थे। यहां की सामान्य जनता भी संस्कृत में विशारद थी। यहां के अनेक लोग धर्म-शास्त्रों में निपुण होते थे।[4]

वर्तमान में नेपाल की सीमा के अन्तर्गत (जहां मुजफ्फरपुर और दरभंगा जिले मिलते हैं) छोटे नगर 'जनकपुर' को प्राचीन मिथिला कहा जाता है।[5]

सुरुचि जातक से मिथिला के विस्तार का पता लगता है। एक बार बनारस के राजा ने ऐसा निश्चय किया कि वह अपनी कन्या का विवाह एक ऐसे राजपुत्र से करेगा जो एक पत्नी-व्रत धारण करेगा। मिथिला के राजकुमार सुरुचि के साथ विवाह की बातचीत चल रही थी। एक पत्नी-व्रत की बात सुन कर वहां के मन्त्रियों ने कहा—'मिथिला का विस्तार सात योजन है। समूचे राष्ट्र का विस्तार तीन सौ योजन है। हमारा राज्य बहुत बड़ा है। ऐसे राज्य में राजा के अन्तःपुर में सोलह हजार रानियां अवश्य होनी चाहिए।'[6]

मिथिला का दूसरा नाम 'जनकपुरी' था। जिनप्रभ सूरि के समय यह 'जगती' (प्रा० जगई) नाम से प्रसिद्ध थी। इसके पास ही महाराज जनक के भाई 'कनक' का निवास-स्थान 'कनकपुर' बसा हुआ था।[7] यहां जैन श्रमणों की एक शाखा 'मैथिलिया' का उद्भव हुआ था।[8]

भगवान् महावीर ने यहां छह चातुर्मास बिताए।[9] आठवें गणधर अकंपित की यह जन्म-भूमि थी।[10] प्रत्येक-बुद्ध नमि को कङ्कण की ध्वनि से यहीं वैराग्य हुआ था। बाणगंगा और गंडक—ये दोनों नदियां इस नगर को परिवेष्टित कर बहती थी।[11] चौथे निह्नव अश्वमित्र ने वीर निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात् 'सामुच्छेदिक-वाद' का प्रवर्तन यहीं से किया था।[12] दशपूर्वधर आर्य महागिरि का यह प्रमुख विहार क्षेत्र था।[13]

जैन-आगमों में उल्लिखित दस राजधानियों में मिथिला का नाम है।[14]

**कम्बोज**—यह जनपद गान्धार के पश्चिम का प्रदेश था।[15] डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने इसे काबुली नदी के तट पर माना है। कुछ इसे

---

१. सुरुचि जातक (सं ४८६), भाग ४, पृ० ५२१-५२२।
२. जातक (सं ४०६), भाग ४, पृ० २७।
३. विविध तीर्थकल्प, पृ० ३२ : ...संपइकाले 'तीरहुत्ति देसो' त्ति भण्णई।
४. विविध तीर्थकल्प, पृ० ३२।
५. दी एन्शियन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया पृ० ७१८।
६. जातक सं० ४८६, भाग ४, पृ० ५२१-५२२।
७. विविध तीर्थकल्प, पृ० ३२।
८. कल्पसूत्र, सूत्र २१३, पृ० ६४।
९. कल्पसूत्र, सूत्र १२२, पृ० ४१।
१०. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६४४।
११. वही, गाथा ७८२।
१२. आवश्यक भाष्य, गाथा १३१।
१३. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ७८२।
१४. ठाणं, १०।२७।
१५. अशोक (गायकवाड लेक्चर्स), पृ० १६८, पद-संकेत १।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बलुचिस्तान से लगा ईरान का प्रदेश मानते हैं।[1] राथ डेविड्स ने इसे उत्तर-पश्चिम के छोर का प्रदेश माना है और इसकी राजधानी के रूप में द्वारका का उल्लेख किया है।[2]

यह जनपद जातीय अश्वों और खच्चरों के लिए प्रसिद्ध था। जैन-आगम-साहित्य तथा आगमेतर-साहित्य में स्थान-स्थान पर कम्बोज के घोड़ों का उल्लेख मिलता है।[3] आचार्य बुद्धघोष ने इसे 'अश्वों का घर' कहा है।[4]

**पञ्चाल और काम्पिल्ल**—कनिंघम के अनुसार आधुनिक एटा, मैनपुरी फर्रुखाबाद और आस-पास के जिले पञ्चाल राज्य की सीमा के अन्तर्गत आते हैं।[5]

पञ्चाल जनपद दो भागों में विभक्त था—(१) उत्तर पञ्चाल और (२) दक्षिण पञ्चाल। पाणिनि व्याकरण में इसके तीन विभाग मिलते हैं—(१) पूर्व पञ्चाल, (२) अपर पञ्चाल और (३) दक्षिण पञ्चाल।[6]

द्विमुख पञ्चाल का प्रभावशाली राजा था।[7] पञ्चाल और लाट देश एक शासन के अधीन भी रहे हैं।[8]

बौद्ध-साहित्य में उल्लिखित १६ महाजनपदों में पञ्चाल का उल्लेख है।[9] किन्तु जैन-आगम में निर्दिष्ट १६ जनपदों में उसका उल्लेख नहीं है।

कनिंघम ने काम्पिल्ल की पहचान उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में फतेहगढ़ से २८ मील उत्तर-पूर्व, गंगा के समीप में स्थित 'कांपिल' से की है। कायमगंज रेलवे स्टेशन से यह केवल पांच मील दूर है।[10] महाराज द्विमुख इसी नगर में शोभाहीन ध्वजा को देख कर प्रतिबुद्ध हुए।[11]

**हस्तिनापुर**—इसकी पहिचान मेरठ जिले के मवाना तहसील में मेरठ से २२ मील उत्तर-पूर्व में स्थित हस्तिनापुर गांव से की गई है।

जैन आगमों में उल्लिखित दस राजधानियों में इसका उल्लेख है[12] और यह कुरु जनपद की प्रसिद्ध नगरी थी। जिनप्रभ सूरि ने इसकी उत्पत्ति का ऊहापोह करते हुए लिखा है—ऋषभ के सौ पुत्र थे। उनमें एक का नाम 'कुरु' था। उसके बाद से 'कुरु' जनपद प्रसिद्ध हुआ। कुरु के पुत्र का नाम 'हस्ती' था। उसने हस्तिनापुर नगर बसाया। इस नगर के पास गंगा नदी बहती थी।[13] पाली-साहित्य में इसका नाम 'हत्थिपुर' या 'हत्थिनीपुर' आता है।

**पुरिमताल**—इसकी अवस्थिति के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं। कई विद्वान् इसकी पहचान मानभूम के पास 'पुरुलिया' नामक स्थान से करते हैं।[14] हेमचन्द्राचार्य ने इसे अयोध्या का शाखानगर माना है।[15] आवश्यक निर्युक्ति में विनीता के बहिर्भाग में 'पुरिमताल' नामक उद्यान का उल्लेख हुआ है। वहां भगवान् ऋषभ को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था और उसी दिन चक्रवर्ती भरत की आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई थी।[16] भरत का छोटा भाई ऋषभसेन 'पुरिमताल' का स्वामी था। जब भगवान् ऋषभ वहां आए तब उसने उसी दिन भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। विजयेन्द्र सूरि ने इस नगर की पहचान आधुनिक प्रयाग से की है, किन्तु अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। उन्होंने इतना मात्र लिखा है कि 'जैन-ग्रन्थों में प्रयाग का प्राचीन नाम 'पुरिमताल' मिलता है।'[17]

सातवां वर्षावास समाप्त कर भगवान् महावीर कुंडाक सन्निवेश से 'लोहार्गला' नामक स्थान पर गए। वहां से उन्होंने पुरिमताल की ओर विहार किया। नगर के बाहर 'शकटमुख' नाम का उद्यान था। भगवान् उसी में ध्यान करने ठहर गए।

पुरिमताल से विहार कर भगवान् उन्नाग और गोभूमि होते हुए राजगृह पहुंचे।

चित्र का जीव सौधर्म कल्प से च्युत हो पुरिमताल नगर में एक श्रेष्ठी के घर में उत्पन्न हुआ।[18] आगे चलकर ये बहुत बड़े ऋषि हुए।

जार्ल सरपेन्टियर ने माना है कि 'पुरिमताल' का उल्लेख अन्यत्र देखने में नहीं आता। यह 'लिपि-कर्त्ता' का दोष संभव है। इसके स्थान पर 'कुरु-पञ्चाल' या ऐसा ही कुछ होना चाहिए।[19] यह अनुमान यथार्थ नहीं लगता। हम ऊपर देख चुके हैं कि पुरिमताल का अनेक ग्रन्थों में उल्लेख हुआ है। यह अयोध्या का उपनगर था, ऐसा भगवान् महावीर के विहार-क्षेत्र से प्रतीत होता है।

## दशार्ण

बुन्देलखण्ड में धसान नदी बहती है। उसके आसपास के प्रदेश का नाम 'दसण्ण' दशार्ण है।

दशार्ण नाम के दो देश मिलते हैं—एक पूर्व में और दूसरा पश्चिम में। पूर्व दशार्ण मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ जिले में माना जाता है। पश्चिम-दशार्ण में भोपाल राज्य और पूर्व-मालव का समावेश होता है।

बनास नदी के पास बसी हुई मृत्तिकावती नगरी दशार्ण जनपद की राजधानी मानी जाती है। कालीदास ने दशार्ण जनपद का

---

१. बौद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृ० ४५६-४५७।
२. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २८।
३. उत्तरज्झयणाणि, ११-१६।
४. सुमंगलविलासिनी, भाग १, पृ० १२४।
५. देखिए—दी एन्शियन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ४१२, ७०५।
६. पाणिनि व्याकरण, ७।३।७३।
७. सुखबोधा, पत्र १३५-१३६।
८. प्रभावक चरित, पृ० २४।
९. अंगुत्तरनिकाय, भाग १, पृ० २१३।
१०. दी एन्शियन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ४१३।
११. सुखबोधा, पत्र १३५-१३६।
१२. ठाणं, १०।२७
१३. (क) विविध तीर्थकल्प, पृ० २७।
(ख) हत्थिपुर या हत्थिनीपुर के पाली विवरणों में इसके समीप गंगा के होने का कोई उल्लेख नहीं है। रामायण, महाभारत, पुराणों में इसे गंगा के पास स्थित बताया है।
१४. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृ० ३३।
१५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १।३।३८६ :
अयोध्याया महापुर्याः, शाखानगरमुत्तमम्।
ययौ पुरिमतालाख्यं, भगवानृषभध्वजः।।
१६. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ३४२ :
उज्जाणपुरिमताले पुरी विणीआइ तत्थ णाणवरे।
चक्कुप्पया य भरहे निवेअणं चेव दुण्हंपि।।
१७. तीर्थङ्कर महावीर, भाग १, पृ० २०६।
१८. सुखबोधा, पत्र १८७।
१९. दी उत्तराध्ययन, पृ० ३२८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख करते हुए 'विदिशा' (आधुनिक भिलसा) को उसकी राजधानी के रूप में माना है।[1]

जैन आगमों में उल्लिखित साढ़े पच्चीस आर्य देशों में 'दशार्ण' जनपद का उल्लेख है।[2]

दशार्ण जनपद के प्रमुख नगर दो थे—(१) दशार्णपुर (एलकच्छ, एडकाक्ष—झांसी से ४० मील उत्तर-पूर्व 'एरच-एरछ' गांव) और (२) दशपुर (आधुनिक मंदसौर)

आर्य महागिरि इसी जनपद में दशार्णपुर के पास गजाग्रपद (दशार्णकूट) पर्वत पर अनशन कर मृत्यु को प्राप्त हुए।[3] दशार्णभद्र इस जनपद का राजा था। महावीर ने उसे इसी पर्वत पर दीक्षित किया था।

**काशी और वाणारसी**—काशी जनपद पूर्व में मगध, पश्चिम में वत्स (वंस), उत्तर में कोशल और दक्षिण में 'सोन' नदी तक विस्तृत था।

काशी जनपद की सीमाएं कभी एक-सी नहीं रही हैं। काशी और कौशल में सदा संघर्ष चलता रहता और कभी काशी कौशल का और कभी कोशल काशी का अंग बन जाता था। ई० पू० छठी-पांचवीं शताब्दी में काशी कोशल के अधीन हो गया था। उत्तराध्ययन सूत्र में हरिकेशबल के प्रकरण में टीकाकार ने बताया है कि हरिकेशबल वाणारसी के तिन्दुक उद्यान में अवस्थित थे। वहां कौशलिकराज की पुत्री भद्रा यक्ष-पूजन के लिए आई।[4] इस घटना से काशी पर कौशल का प्रभुत्व प्रमाणित होता है। काशी राज्य का विस्तार ३०० योजन बताया गया है।[5]

वाराणसी काशी जनपद की राजधानी थी। यह नगर 'वरना' (वरुणा) और 'असी'—इन दो नदियों के बीच में स्थित था।[6] इसलिए इसका नाम 'वाराणसी' पड़ा। यह नैरुक्त नाम है।[7] आधुनिक बनारस गंगा नदी के उत्तरी किनारे पर गंगा और वरुणा के संगम-स्थल पर है।

जैन-आगमोक्त दस राजधानियों में इसका उल्लेख है। यूआन् चुआङ्ग ने वाराणसी को देश और नगर—दोनों माना है। उससे वाराणसी देश का विस्तार चार हजार 'ली' और नगर का विस्तार लम्बाई में १८ 'ली' और चौड़ाई ६ 'ली' बताया है।[8]

काशी, कौशल आदि १८ गणराज्य वैशाली के नरेश चेटक की ओर से कूणिक के विरुद्ध लड़े थे।[9] काशी के नरेश 'शंख' ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली थी।[10]

**इषुकार (उसुयार) नगर**—जैन-ग्रन्थकारों ने इसे कुरु-जनपद का एक नगर माना है।[11] यहां 'इषुकार' नाम का राजा राज्य करता था।

उत्तराध्ययन में वर्णित इस नगर में सम्बन्धित कथा का उल्लेख बौद्ध-जातक (सं० ५०६) में मिलता है। वहां 'वाराणसी' नगरी का उल्लेख है और राजा का नाम 'एषुकार' है।

राजतरंगिणी (७।१३१०, १३१२) में 'हुशकपुर' नगर का उल्लेख हुआ है। आज भी काश्मीर में 'बारामूल' (सं० बराह, बराहमूल) से दो मील दक्षिण-पूर्व में वीहट नदी के पूर्वी किनारे पर 'हुशकार' या 'उसकार' नगर विद्यमान है।

'ह्युयेनशान ने काश्मीर की घाटी में, ईस्वी सन् ६३१ के सितम्बर महीने में पश्चिम की ओर से प्रवेश किया था। उसने पूजनीय स्थानों की उपासना कर 'हुशकार' में रात्रि बिताई।'[12]

अबुरिहान ने भी 'उसकार' का उल्लेख कर उसे नदी के दोनों ओर स्थित माना है।[13]

अल्बरूनी का कथन है कि काश्मीर की नदी झेलम 'उसकार' नगर से होती हुई घाटी में प्रवेश करती है।[14] सम्भव है कि यह 'उसकार' नगर ही 'इषुकार—एषुकार' नगर हो।

**कलिंग**—वर्तमान उड़ीसा का दक्षिणी भाग 'कलिंग' कहा जाता है। साढ़े पचीस आर्य-देशों में इसकी गणना की गई है। बौद्ध-ग्रन्थों में उल्लिखित १६ महाजनपदों में इसका उल्लेख नहीं है।

यूआन् चुआङ्ग ने कलिंग जनपद का विस्तार पांच हजार 'ली' और राजधानी का विस्तार बीस 'ली' बताया है।[15]

कलिंग देश की राजधानी काञ्चनपुर मानी जाती थी।[16] सातवीं शताब्दी से यह नगर 'भुवनेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है।

**गान्धार**—इसकी अवस्थिति की चर्चा करते हुए कनिंघम ने लिखा है कि इसका विस्तार पूर्व-पश्चिम में एक हजार 'ली' और उत्तर-दक्षिण में ८०० 'ली' था। इसके आधार पर यह पश्चिम में लंघान और जलालाबाद तक, पूर्व में सिन्धु तक, उत्तर में स्वात और बुनिर पर्वत तक और दक्षिण में कालबाग पर्वत तक था।[17]

इस प्रकार स्वात से झेलम नदी तक का प्रदेश गान्धार के अन्तर्गत था।

जैन-साहित्य में गान्धार की राजधानी 'पुण्ड्रवर्धन' का उल्लेख है और बौद्ध-साहित्य में 'तक्षशिला' का।

गान्धार उत्तरापथ का प्रथम जनपद था।

**सौवीर**—आधुनिक विद्वान् 'सौवीर' को सिन्धु और झेलम नदी के बीच का प्रदेश मानते हैं।[18] कुछ विद्वान् इसे सिन्धु नदी के पूर्व में मुल्तान तक का प्रदेश मानते हैं।[19]

'सिन्धु-सौवीर' ऐसा संयुक्त नाम ही विशेष रूप से प्रचलित है। किन्तु सिन्धु और सौवीर पृथक्-पृथक् राज्य थे। उत्तराध्ययन में उद्रायण को 'सौवीरराज' कहा गया है।[20] टीका से भी उसकी पुष्टि होती है। उसमें उद्रायण को सिन्धु, सौवीर आदि सोलह जनपदों का अधिपति बतलाया गया है।[21]

---

१. मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक २३-२४।
२. बृहत्कल्प भाष्य, भाग ३, पृ० ६१३।
३. आवश्यक चूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १५६-१५७
४. सुखबोधा, पत्र १७४।
५. धजविहेट्ठ जातक (सं० ३६१), जातक भाग ३, पृ० ४५४।
६. दि एन्शिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ४६६।
७. विविध तीर्थकल्प, पृ० ७२।
८. यूआन् चुआङ्गस ट्रेवेल्स इन इण्डिया, भाग २, पृ० ४६-४८।
९. निरयावलिका, सूत्र १।
१०. ठाणं ८।४१।
११. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३६५।
१२. दि एन्शिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० १०४-१०५।
१३. वही, पृ० १५४।
१४. अल्बरूनी'ज इण्डिया, पृ० २०७।
१५. यूआन् चुआङ्ग'स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, भाग २, पृ० १६८।
१६. बृहत्कल्प सूत्र, भाग ३, पृ० ६१३।
१७. दि एन्शिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया (सं० १८७१), पृ० ४८।
१८. इण्डिया अज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली ट्रेक्ट्स ऑफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृ० ७०।
१९. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शिएन्ट इण्डिया, पृ० ५०७, नोट १।
२०. उत्तराध्ययन, १८।४८।
२१. सुखबोधा, पत्र २५२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**सुग्रीव नगर**—इस नगर की आधुनिक पहचान ज्ञात नहीं है और प्राचीन-साहित्य में भी इसके विशेष उल्लेख नहीं मिलते।

**मगध**—मगध जनपद वर्तमान गया और पटना जिलों के अन्तर्गत फैला हुआ था। उसके उत्तर में गंगा नदी, पश्चिम में सोन नदी, दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत का भाग और पूर्व में चम्पा नदी थी।[1]

इसका विस्तार तीन सौ योजन (२३०० मील) था और इसमें अस्सी हजार गांव थे।[2]

मगध का दूसरा नाम 'कीकट' था। मगध नरेश तथा कलिंग नरेशों के बीच वैमनस्य चलता था।[3]

**कौशाम्बी**—कनिंघम ने इसकी आधुनिक पहचान यमुना नदी के बाएं तट पर, इलाहाबाद से सीधे रास्ते से लगभग ३० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित 'कोसम' गांव से की है।[4]

कौशाम्बी और राजगृह के बीच अठारह योजन का एक महा अरण्य था। वहां बलभद्र प्रमुख कक्कडदास जाति के पांच सौ चोर रहते थे। कपिल मुनि द्वारा वे प्रतिबुद्ध हुए।[5]

जब भगवान् महावीर साकेत के 'सुभूमि भाग' नामक उद्यान में विहार कर रहे थे, तब उन्होंने अपने साधु-साध्वियों के विहार की सीमा की। उसमें कौशाम्बी दक्षिण दिशा की सीमा-निर्धारण नगरी थी।[6]

कौशाम्बी के आसपास की खुदाई के अनेक शिलालेख, प्राचीन मूर्तियां, आयगपट्ट, गुफाएं आदि निकली हैं। उनके सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह क्षेत्र जैन-धर्म का प्रमुख केन्द्र था। कनिंघम ने खुदाई में प्राप्त कई एक प्रमाणों से इसे बौद्धों का प्रमुख केन्द्र माना है। परन्तु कौशाम्बी के जैन-क्षेत्र होने के विषय में सर विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखा है—"मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि इलाहाबाद जिले के अन्तर्गत 'कोसम' गांव में प्राप्त अवशेषों में ज्यादातर जैनों के हैं। कनिंघम ने जो इन्हें बौद्ध अवशेषों के रूप में स्वीकार किया है, वह ठीक नहीं है। निःसन्देह ही यह स्थान जैनों की प्राचीन नगरी 'कौशाम्बी' का प्रतिनिधित्व करता है। इस स्थान पर, जहां मन्दिर विद्यमान हैं, वे आज भी महावीर के अनुयायियों के लिए तीर्थ-स्थल बने हुए हैं। मैंने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि बौद्ध-साहित्य की कौशाम्बी किसी दूसरे स्थल पर थी।"[7]

**चम्पा**—यह अंग जनपद की राजधानी थी। कनिंघम ने इसकी पहचान भागलपुर से २४ मील पूर्व में स्थित आधुनिक 'चम्पापुर' और 'चम्पानगर' नामक दो गांवों से की है। उन्होंने लिखा है—"भागलपुर से ठीक २४ मील पर 'पत्थारघाट' है। यहीं या इसके आसपास ही चम्पा की अवस्थिति होनी चाहिए। इसके पास ही पश्चिम की ओर एक बड़ा गांव है, जिसे चम्पानगर कहते हैं और एक छोटा गांव है जिसे चम्पापुर कहते हैं। संभव है ये दोनों प्राचीन राजधानी 'चम्पा' की सही स्थिति का द्योतक हों।"[8]

फाहियान ने चम्पा को पाटलिपुत्र से १८ योजन पूर्व दिशा में गंगा के दक्षिण तट पर स्थित माना है।[9]

स्थानांग (१०।२७) में उल्लिखित दस राजधानियों में तथा दीघनिकाय में वर्णित छह महानगरियों में चम्पा का उल्लेख है।

महाभारत के अनुसार चम्पा का प्राचीन नाम 'मालिनी' था। महाराज चम्प ने उसका नाम परिवर्तित कर 'चम्पा' रखा।[10]

यह भी माना जाता है कि मगध सम्राट् श्रेणिक की मृत्यु के बाद कुमार कूणिक को राजगृह में रहना अच्छा नहीं लगा। उसने एक स्थान पर चम्पक के सुन्दर वृक्षों को देख कर 'चम्पा' नगर बसाया।[11]

**पिहुंड**—यह समुद्र के किनारे पर स्थित एक नगर था।[12] सरपेन्टियर ने माना है कि यह भारतीय नगर प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः यह बर्मा का कोई तटवर्ती नगर हो सकता है।[13] जेकोबी ने इसका कोई ऊहापोह नहीं किया है।

डॉ० सिलवेन लेवी का अनुमान है कि इसी पिहुंड नगर के लिए खारवेल के शिलालेख में पिहुड (पिथुड), पिहुंडग (पिथुंडग) नाम आया है तथा टालेमी का 'पिदुण्ड्रे' भी पिहुंड का ही नाम है। लेवी के अनुसार इसकी अवस्थित मैसोलस और मानदस—इन दो नदियों के बीच स्थित मैसोलिया का अन्तरिम भाग है। दूसरे शब्दों में गोदावरी और महानदी के बीच का पुलिन (Delta) प्राचीन पिहुंड है।[14]

डॉ० विमलचरण लॉ ने लिखा है कि इस नगर की खोज चिकाकोल और कलिंगपटम के अंतरिक भागों में नागावती (अपर नाम लांगुलिया) नदी के तटीय प्रदेशों में करनी चाहिए।[15]

सम्राट् खारवेल के राज्याभिषेक ई० पू० १६६ के लगभग हुआ। राज्यकाल के ग्यारहवें वर्ष में उसने दक्षिण देश को विजित किया और पिथुंड (पृथुदकदर्भपुरी) का ध्वंस किया।[16] यह 'पिथुंड' नगर 'पिहुंड' होना चाहिए।

**सोरियपुर**—यह कुशावर्त जनपद की राजधानी थी। वर्तमान में इसकी पहचान आगरा जिले के यमुना नदी के किनारे बटेश्वर के पास आए हुए 'सूर्यपुर' या 'सूरजपुर' से की जाती है।[17]

सोरिक (सोरियपुर) नारद की जन्मभूमि थी।[18] सूत्रकृतांग में

---

१. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २४।
२. वही, पृ० २४।
३. वसुदेवहिण्डी, पृ० ६१-६४।
४. दी एन्शिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, ४५४।
५. उत्तराध्ययन, बृहद्वृत्ति, पत्र २८८-२८९।
६. बृहत्कल्प सूत्र, भाग ३, पृ० ९१२।
७. Journal of Royal Asiatic Society, July, 1894.
I feel certain that the remains at kosam in the Allahabad District will prove to be Jain, for the most part and not Buddhist as Cunningham supposed. The village undoubtedly represents the Kausambi of the Jains and the site, where temples exist, is still, a place of pilgrimage for the votaries of Mahavira. I have shown good reasons for believing that the Buddhist Kausambi was a different place.
८. दि एन्शिएण्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ५४६-५४७।
९. ट्रेवल्स ऑफ फाहियान, पृ० ६५।
१०. महाभारत, १२।५।३३४।
११. विविध तीर्थकल्प, पृ० ६५।
१२. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २६१ : समुद्दतीरे पिहुंड नाम नगरं।
१३. The Uttaradhyayana Sutra, p.357
१४. ज्योग्राफी ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ६५।
१५. सम जैन केनोनिकल लिटरेचर, पृ० १४६।
१६. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० १८५।
१७. कालक-कथासंग्रह, उपोद्घात, पृ० ५२।
१८. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १६४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक 'लोरी' के अनेक नगरों के साथ 'सोरियपुर' का भी उल्लेख हुआ है।[1]

**द्वारका**—द्वारका की अवस्थिति के विषय में अनेक मान्यताएं प्रचलित हैं :

(१) रायस डेविड्स ने द्वारका को कम्बोज की राजधानी बताया है।[2]

(२) बौद्ध-साहित्य में द्वारका को कम्बोज का एक नगर माना गया है।[3] डॉ० मललशेखर ने इस कथन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सम्भव है यह कम्बोज 'कंसभोज' हो, जो कि अन्धकवृष्णिदास पुत्रों का देश था।[4]

(३) डॉ० मोतीचन्द्र ने कम्बोज को पामीर प्रदेश मान कर द्वारका को बदरवंशा से उत्तर में स्थित 'दरवाज' नामक नगर माना है।[5]

(४) घट जातक (सं० ३५५) के अनुसार द्वारका के एक ओर समुद्र था और दूसरी ओर पर्वत था। डॉ० मललशेखर ने इसी को मान्य किया है।[6]

(५) भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार द्वारका सौराष्ट्र जनपद का एक नगर था। वर्तमान द्वारिका कस्बे से आगे २० मील की दूरी पर कच्छ की खाड़ी में एक छोटा-सा टापू है, उसमें एक दूसरी द्वारका बसी हुई है, जिसे 'बेट द्वारिका' कहते हैं। अनुश्रुति है कि यहां भगवान् कृष्ण सैर करने आया करते थे। द्वारिका और बेट द्वारिका—दोनों नगरों में राधा, रुक्मिणी, सत्यभामा आदि के मन्दिर पाए जाते हैं।[7]

(६) कई विद्वानों ने इसकी अवस्थिति पंजाब में मानने की संभावना की है।[8]

(७) डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने द्वारका की अवस्थिति का निर्णय संशयास्पद माना है। उनका कहना है कि प्राचीन द्वारका समुद्र में डूब गई।[9]

(८) आधुनिक द्वारकापुरी प्राचीन द्वारका नहीं है। प्राचीन द्वारका गिरनार पर्वत की तलहटी में जूनागढ़ के आसपास बसी होनी चाहिए।[10]

(९) पुराणों के अनुसार यह भी माना जाता है कि महाराज रैवत ने समुद्र के बीच में कुशस्थली नगरी बसायी। यह आनर्त जनपद में थी। वही भगवान् कृष्ण के समय में द्वारका' या 'द्वारवती' नाम से प्रसिद्ध हुई।[11]

(१०) जैन-साहित्य में उल्लेख है कि जरासन्ध के भय से भयभीत हो हरिवंश में उत्पन्न दशार्ह वर्ग मथुरा को छोड़ कर सौराष्ट्र में गए। वहां उन्होंने द्वारवती नगरी बसाई।[12]

महाभारत में इसी प्रसंग में कहा गया है कि जरासन्ध के भय से यादवों ने पश्चिम दिशा की शरण ली और रैवतक पर्वत से सुशोभित रमणीय कुशस्थली (द्वारवती) नगर में जा बसे और कुशस्थली दुर्ग की मरम्मत कराई।[13]

(११) जैन-आगम में साढ़े पचीस आर्य-देशों में द्वारका को सौराष्ट्र जनपद की राजधानी के रूप में उल्लिखित किया गया है।[14] यह नगर नौ योजन चौड़ा और बारह योजन लम्बा था।[15] इसके चारों ओर पत्थर का प्राकार था।[16] ऐसा भी उल्लेख है कि इसका प्राकार सोने का था। इसके ईसान कोण में रैवतक पर्वत था।[17] इसके दुर्ग की लम्बाई तीन योजन थी। एक-एक योजन पर सेनाओं के तीन-तीन दलों की छावनी थी। प्रत्येक योजन के अन्त में सौ सौ द्वार थे।[18]

इन सब तथ्यों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन द्वारका रैवतक पर्वत के पास थी। रैवतक पर्वत सौराष्ट्र में आज भी विद्यमान है। संभव है कि प्राचीन द्वारका इसी की तलहटी में बसी हो और पर्वत पर एक संगीन दुर्ग का निर्माण हुआ हो।

भागवत और विष्णुपुराण में उल्लेख है कि जब कृष्ण द्वारका को छोड़कर चले गए तब यह समुद्र में डूब गई। केवल कृष्ण का राज-मन्दिर बचा रहा।[19] जैन-ग्रन्थों में भी उसके डूब जाने की बात मिलती है।[20]

जैन-ग्रन्थों में उल्लेख है कि एक बार कृष्ण ने भगवान् अरिष्टनेमि से द्वारका-दहन के विषय में पूछा। उस समय अरिष्टनेमि पल्लव देश में थे। अरिष्टनेमि ने कहा—"बारह वर्ष के बाद द्वीपायन ऋषि के द्वारा इसका दहन होगा।" द्वीपायन परिव्राजक ने यह बात लोगों से सुनी। 'मैं द्वारका-दहन का निमित्त न बनूं'—यह सोच वह उत्तरापथ में चला गया। काल की गणना ठीक न कर सकने के कारण वह बारहवें वर्ष द्वारका में आया। यादवकुमारों ने उसका तिरस्कार किया। निदान-अवस्था में मर कर वह देव बना तथा उसने द्वारका को भस्म कर डाला।

द्वारवती-दहन से पूर्व एक बार फिर अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर आए थे।[21] जब द्वारवती का दहन हुआ तब वे पल्लव देश में

---

१. सूत्रकृतांग वृत्ति, पत्र ११६।
२. Buddhist India p. 28. Kamboja was the adjoining country in the extreme north-west, with Dvaraka as its capital.
३. पेतवत्थु, भाग २, पृ० ६।
४. दि डिक्शनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स, भाग १, पृ० ११२६।
५. ज्योग्राफिकल एण्ड इकोनॉमिक स्टडीज इन दी महाभारत, पृ० ३२-४०।
६. दि डिक्शनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स, भाग १, पृ० १५२५।
७. बौद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ४८७।
८. बॉम्बे गेजेटीअर, भाग १, पार्ट १, पृ० ११ का टिप्पण १।
९. इन्डियन एन्टिक्वेरी, सन् १९२५, सप्लिमेन्ट, पृ० २५।
१०. पुरातत्त्व, पुस्तक ४, पृ० १०८।
११. वायुपुराण, ६।२७।
१२. दशवैकालिक, हारिभद्रीय टीका, पत्र ३६।
१३. महाभारत, सभापर्व, १४।४९-५१,६७।
१४. बृहत्कल्प, भाग ३, पृ० ९१२,९१३।
१५. ज्ञाताधर्मकथा, पृ० ६६,१०१।
१६. बृहत्कल्प, भाग २, पृ० ३५१।
१७. ज्ञाताधर्मकथा, पृ० ६६।
१८. महाभारत, सभापर्व, १४।५४-५५।
१९. भागवत, ११।३।२३; विष्णुपुराण, ५१।२७।३६।
२०. सुखबोधा, पत्र ३९-४०।
२१. दशवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ३६-३७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे।[1]

**श्रावस्ती**

यह कौशल राज्य की राजधानी थी। इसकी आधुनिक पहचान सहेट-महेट से की गई है। इसमें सहेट गोंडा जिले में और महेट बहराइच जिले में है। महेट उत्तर में हैं और सहेट दक्षिण में।[2] यह स्थान उत्तर-पूर्वीय रेलवे के बलरामपुर स्टेशन से पक्की सड़क के रास्ते दस मील दूर है। बहराइच से इसकी दूरी २६ मील है।

विद्वान् वी० स्मिथ ने श्रावस्ती को नेपाल देश के खजूरा प्रान्त में माना है। यह स्थान बालपुर के उत्तर दिशा में और नेपालगंज के पास उत्तर-पूर्वीय दिशा में है।[3]

यूआन् चुआङ् ने श्रावस्ती को जनपद मान कर उसका विस्तार छह हजार ली माना है। उसकी राजधानी के लिए उसने 'प्रासाद नगर' का प्रयोग किया है और उसका विस्तार बीस ली माना है।[4]

---

१. सुखबोधा, पत्र ३८।
२. दी एन्शिएन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ० ४६६-४७४।
३. जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग १, जनू १६००।
४. यूआन् चुआङ्ग'स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, भाग १ पृ० ३७७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ६

# तुलनात्मक अध्ययन

नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं।। (१।१४)

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्, नाप्यन्यायेन पृच्छतः।
ज्ञानवानपि मेधावी, जडवत् समुपाविशेत्।। (शान्तिपर्व २८७।३५)

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य।। (१।१५)

अत्तानञ्चे तथा कयिरा, यथञ्ञमनुसासति।
सुदन्तो वत दम्मेथ, अत्ता हि कर दुद्दमो।। (धम्मपद १२।३)

पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि।। (१।१७)

मा कासि पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो।
सचे च पापकं कम्मं, करिस्ससि करोसि वा।। (थेरीगाथा २४७)

कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे।। (२।३)

काल (ला) पव्वंगसंकासो, किसो धम्मनिसन्थतो।
मत्तञ्ञू अन्नपानम्हि, अदीनमनसो नरो।। (थेरगाथा २४६,६८६)

अष्टचक्रं हि तद् यानं, भूतयुक्तं मनोरथम्।
तत्राद्यौ लोकनाथौ तौ, कृशौ धमनिसंततौ।। (शान्तिपर्व ३३४।११)

एवं चीर्णेन तपसा, मुनिर्धमनिसन्ततः। (भागवत ११।१८६)

पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं।
एकं वनस्मिं झायन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।। (धम्मपद २६।१३)

पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरेव महामुणी।
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं।। (२।१०)

फुट्ठो डंसेहि मकसेहि, अरञ्ञस्मिं ब्रह्मवने।
नागो संगामसीसे'व, सतो तत्राऽधिवासये।।
(थेरगाथा ३४।२४७,६८७)

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए।। (२।१८)

एक एव चरेन्नित्यं, सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्, न जहाति न हीयते।। (मनुस्मृति ६।४२)

असमाणो चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए।।

अनिकेतः परितपन्, वृक्षमूलाश्रयो मुनिः।
अयाचक सदा योगी, स त्यागी पार्थ! भिक्षुकः।।? (शान्तिपर्व १२।१०)

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं।। (२।१६,२०)

पांसुभिः समभिच्छिन्नः, शून्यागारप्रतिश्रयः।
वृक्षमूलनिकेतो वा, त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः।। (शान्तिपर्व ६।१३)

सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकंटगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे।। (२।२५)

सुत्वा रुसितो बहुं वाचं, समणाणं पुथुवचनानं।
फरुसेन ते न पतिवज्जा, न हि सन्तो पटिसेनिकरोन्ति।।
(सुत्तनिपात, व० ८,१४।१८)

अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नवं।। (२।३६)

चक्खूहि नेव लोलस्स, गामकथाय आवरये सोतं।
रसे च नानुगिज्झेय्य, न च ममायेथ किंचि लोकस्मिं।।
(सुत्त०, व० ८,१४।८)

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जई।। (३।१७)

खेत्तं वत्थुं हिरञ्ञं वा, गवास्सं दासपोरिसं।
थियो बन्धू पुथू कामे, यो नरो अनुगिज्झति।। (सुत्त०, व० ८,१।४)

असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कण्णू विहिंसा अजया गहिंति।। (४।१)

उपनीयति जीवितं अप्पमायु, जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा।
एतं भयं मरणे पेक्खमाणो, पुञ्ञानि करियाथ सुखावहानि।।
(अंगुत्तर नि०, पृ० १५६)

तेणे जहा संधिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।। (४।३)

चोरो यथा सन्धिमुखे गहीतो, सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो।
एवं पजा पेच्च परम्हि लोके, सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो।।
(थेरगाथा ७८६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चीराजिणं नगिणिणं, जडीसंघाडिमुंडिणं।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परियागयं।। (५।२१)

जे लक्खणं च सुविणं च, अंगविज्जं च जे पउंजंति।
न हु ते समणा वुच्चंति, एवं आयरिएहिं अक्खायं।। (८।१३)

सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए, नमे डज्झइ किंचण।। (९।१४)

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ।। (९।३४)

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ, अदितस्स वि किंचण।। (९।४०)

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं।। (९।४४)

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया। (९।४८)
पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तं चरे।। (९।४९)

वोछिंद सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम! मा पमायए।। (१०।२८)
जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिंसहरा भवंति।। (१३।२२)

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।। (१३।२३)

न नग्गचरिया न जटा न पंका, नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजो व जल्लं उक्कुटिकप्पधानं, सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं।।
(धम्मपद १०।१३)

आथब्बणं सुपिनं लक्खणं, नो विदअो अथो पि नक्खत्तं।
विरुतं व गब्भकरणं, तिकिच्छं मामको न सेवेय्य।। (सुत्त०, व० ८,१४।१३)

सुसुखं बत जीवाम ये सं नो नत्थि किंचनं।
मिथिलाय डय्हमानाय न मे किंचि अडय्हथ।।
(जातक ५३९, श्लोक १२५; जातक ५२९, श्लोक १६; धम्मपद १५)

सुसुखं बत जीवामि, यस्य मे नास्ति किंचन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां, न मे दह्यति किंचन।। (मोक्षधर्म पर्व, २७६।२)

यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे संगामजुत्तमो।। (धम्मपद ८।४)

मासे मासे सहस्सेन यो यजेय सतं समं,
एकंच भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं।।
यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे बने,
एकंच भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं।। (धम्मपद ८।७,८)

यो ददाति सहस्राणि गवामश्वशतानि च।
अभयं सर्वभूतेभ्यः सदा तमभिवर्तते।। (शान्तिपर्व २९८।५)

मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुंजेथ भोजनं।
न सो संखतधम्मानं, कलं अग्घति सोलसिं।। (धम्मपद ५।११)

अट्ठंगुपेतस्स उपोसथस्स, कलं पि ते नानुभवंति सोलसिं।।
(अंगु० नि०, पृ० २२१)

पर्वतोपि सुवर्णस्य, समो हिमवता भवेत्।
नालं एकस्य तद्वित्तं, इति विद्वान् समाचरेत्।। (दिव्यावदान, पृ० २२४)

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
सर्वं तन्नालमेकस्य, तस्माद् विद्वान् शमं चरेत्।। (अनुशासनपर्व ९३।४०)

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति।। (उद्योग पर्व ३९।८४)

यद् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं, तदित्यवितृष्णां त्यजेत्।। (विष्णुपुराण ४।१०।१०)

उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय, निब्बानं सुगतेन देसितं।। (धम्मपद २०।१३)

तं पुत्रपशुसम्पन्नं, व्यासक्तमनसं नरम्।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव, मृत्युरादाय गच्छति।।
सचिन्वानकमेवैनं, कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवादाय, मृत्युरादाय गच्छति।। (शान्ति० ७७५।१८,१९)

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या उत्क्षिप्य राजन्! स्वगृहान्निर्हरन्ति।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति।।
(उद्योग० ४०।१५)

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं, कर्मान्वेति स्वयं कृतम्। (उद्योग० ४०।१८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुंदर पावगं वा।। (१३।२४)

तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से, चिईगयं डहिय उ पावगेणं।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य, दायारमन्नं अणुसंकमंति।। (१३।२५)

अच्चेइ कालो तूरंति राइयो, न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयंति, दुमं जहा खीणफलं व पक्खी।। (१३।३१)

अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते पडिट्ठप्प गिहंसि जाया!।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होह मुणी पसत्था।। (१४।६)

वेया अहीया न भवंति ताणं, भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवंति ताणं, को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं।। (१४।१२)

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए?।। (१४।१५)

धणं पभूयं सह इत्थियाहिं, सयणा तहा कामगुणा पगामा।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो, तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं।। (१४।१६)

अब्भाहयंमि लोगंमि सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडंतीहिं, गिहंसि न रइं लभे।। (१४।२१)

केण अब्भाहओ लोगो? केण वा परिवारिओ?।
का वा अमोहा वुत्ता? जाया! चिंतावरो हुमि।। (१४।२२)

मच्चुणाब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय! वियाणह।। (१४।२३)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ।।
जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ।। (१४।२४,२५)

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया।। (१४।२७)

पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो, वसिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं, छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं।।
(१४।२६)

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुंक्ते, वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून्।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र, पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः।।
(उद्योग० ४०।१७)

उत्सृज्य विनिवर्वन्ते, ज्ञातयः सुहृदः सुताः।
अपुष्पानफलान् वृक्षान्, यथा तात पतत्रिणः।। (उद्योग० ४०।१७)

अनुगम्य विनाशान्ते, निवर्तन्ते ह बान्धवाः।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं, ज्ञातयः सुहृदस्तथा।। (शान्ति० ३२१।७४)

अच्चयन्ति अहोरत्ता.....।
.....।। (थेरगाथा १४८)

वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र!, पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितृणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो, वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत्।।
(शान्तिपर्व १७५।६;२७७।६;जातक ५०६।४)

वेदा न सच्चा न च वित्तलाभो, न पुत्तलाभेन जरं विहन्ति।
गन्थे रगे मुच्चनं आहु सन्तो, सकम्मुना होति फलूपपत्ति।।
(जातक ५०६।६)

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम्।
एवमीहासुखासक्तं, मृत्युरादाय गच्छति।। (शान्ति० १७५।२०)

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते, किं ते दारैर्ब्राह्मण! यो मरिष्यसि।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं, पितामहास्ते क्व गताः पिता च।।
(शान्ति० १७५।३८)

एवमभ्याहते लोके, समन्तात् परिवारिते।
अमोघासु पतन्तीषु, किं धीर इव भाषसे।। (शान्तिपर्व १७५।२७७।७)

कथमभ्याहतो लोकः, केन वा परिवारितः।
अमोघाः काः पतन्तीह, किं नु भीषयसीव माम्।।
(शान्तिपर्व १७५।८;२७७।८)

मृत्युनाभ्याहतो लोको, जरया परिवारितः।
अहोरात्राः पतन्त्येते, ननु कस्मान्न बुध्यसे।। (शान्तिपर्व १७५।९;२७७।९)

अमोघा रात्रयश्चापि नित्यमायान्ति यान्ति च।
यदाहमेतज्जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये जालेनापिहितश्चरन्।।
रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा।।
(यस्यां रात्र्यां व्यतीतायां न किञ्चिच्छुभमाचरेत्।)
तदैव वन्ध्य दिवसमिति विद्याद् विचक्षणः।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम्।।
(शान्तिपर्व १७५।१०,११,१२; शान्तिपर्व २७७।१०,११,१२)

यस्स अस्स सक्खी मरणेन राज, जराय मेत्तो नरविरियसेट्ठ।
यो चापि जञ्ञा न मरिस्सं कदाचि, पस्सेय्युं तं वस्ससतं अरोगं।।
(जातक ५०६।७)

साखाहि रुक्खो लभते समञ्ञं, पहीणसाखं पन खानु माहु।
पहीणपुत्तस्स ममज्जहोति, वासेट्ठि भिक्खाचरियाय कालो।।
(जातक ५०६।१५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वंतासी पुरिसो रायं ! न सो होइ पसंसिओ।
माहणेण परिच्चत्तं, धणं आदाउमिच्छसि।। (१४।३८)

सामिसं कुललं दिस्स, बज्झमाणं निरामिसं।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामि निरामिसा।। (१४।४६)

नागो व्व बंधणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए।
एयं पत्थं महारायं ! उसुयारि त्ति मे सुयं।। (१४।४८)

करकंडू कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो।
नमी राया विदेहेसु, गंधारेसु य नग्गई।।
एए नरिंदवसभा, निक्खंता जिणसासणे।
पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं, सामण्णे पज्जुवट्ठिया।। (१८।४५,४६)

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो।। (१९।१५)

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं।।
अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुप्पट्ठिओ।। (२०।३६,३७)

न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो।। (२०।४८)

दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं, समुद्दपाले अपुणागमं गए।। (२१।२४)

धिरत्थु ते जसोकामी ! जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे।। (२२।४२)

अग्गिहोत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसां मुहं।
नक्खत्ताण मुहं चंदो, धम्माणं कासवो मुहं।। (२५।१६)

तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं।। (२५।२२)

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं।। (२५।२३)

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं बूम माहणं।। (२५।२६)

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो।। (२५।२९)

अवमी ब्राह्मणो कामे, ते त्वं पच्चावमिस्ससि।
वन्तादो पुरिसो राज, न सो होति पसंसियो।। (जातक ५०६।१८)

सामिषं कुररं दृष्ट्वा, बध्यमानं निरामिषैः।
आमिषस्य परित्यागात्, कुररः सुखमेधते।। (शान्तिपर्व ७७८।६)

इदं वत्वा महाराज एसुकारी दिसम्पति,
रट्ठं हित्वान पब्बजि नागो छेत्वा व बन्धनं।। (जातक ५०६।२०)

करण्डु कलिङ्गानं गन्धारानञ्च नग्गजो,
निमिराजा विदेहानं पञ्चालानञ्च दुमुक्खो,
एते रट्ठानि हित्वान पब्बजिंसु अकिञ्चना। (जातक ४०८।५)

जातिपि दुक्खा जरापि दुक्खा,
व्याधिपि दुक्खा मरणंपि दुक्खं।। (महावग्ग १।६।१६)

अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना व सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं।।
अत्तना व कतं पापं, अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमन्थति दुम्मेधं, वजिरं वस्समयं मणिं।।
अत्तना व कतं पापं, अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तना व विसुज्झति।।
सुद्धि असुद्धि पच्चत्तं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये।। (धम्मपद १२।४,५,६)

उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। (गीता ६।५,६)

दिसो दिसं यन्तं कयिरा, वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं, पापियो नं ततो करे।। (धम्मपद ३।१०)

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं, कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तना विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरञ्जनं परमं साम्यमुपैति।।
(मुण्डकोपनिषद् ३।१।३)

धिरत्थु तं विसं वन्तं यमहं जीवितकारणा।
वन्तं पच्चावमिस्सामि मतम्मे जीविता वरं।। (विसवन्त जातक ६६)

अग्निहुत्तमुखा यञ्ञा, सावित्ती छन्दसो मुखं।
राजा मुखं मनुस्सानं, नदीनं सागरो मुखं।।
नक्खत्तानं मुखं चन्दो, आदिच्चो तपतं मुखं।
पुञ्ञं आकंखमानानं, संघोवे यजतं मुखं।। (सुत्तनिपात ३३।२०,२१)

निधाय दंडं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च।
यो हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।। (धम्मपद २६।२३)

अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चं उदीरये।
याय नाभिसजे किंचि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।। (धम्मपद २६।२६)

वारिपोक्खरपत्ते व, आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिप्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।।
न मुण्डकेण समणो, अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालाभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति।।
न तेन भिक्खु होति, यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता।। (धम्मपद १९।६,११)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न मोनेन मुनी होति, मुल्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं व पग्गय्ह वरमादाय पण्डितो।। (धम्मपद १६।१३)

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो'ति पवुच्चति।।
(धम्मपद १६।१५, धम्मपद २६।११)

न जटाहि न गोत्तेहि, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
मौनाद्धि स मुनिर्भवती, नारण्यवसनान्मुनिः।। (उद्योगपर्व ४३।३५)

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो।। (२५।३०)

.....।
समितत्ता हि पापानं समणो ति पवुच्चति।। (धम्मपद १६।१०)

पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनी।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति।। (धम्मपद १६।१४)

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।। (२५।३१)

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो।
कम्मुना ब्राह्मणो होति, कम्मुना होति अब्राह्मणो।।
कस्सको कम्मुना होति, सिप्पको होति कम्मुना।
वाणिजो कम्मुना होति, पेस्सिको होति कम्मुना।।
(सुत्तनिपात, महा० ६।५७,५८)

न जच्चा वसला होती, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो।।
(सुत्तनिपात, उर० ७।२१,२७)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां, विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। (गीता ४।१३)

खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जंति धिइदुब्बला।। (२७।८)

ते तथा सिक्खित्ता बाला अज्जमज्जम गारवा।
नादयिस्सन्ति उपज्झाये खलुंको विय सारथिं।। (थेरगाथा ६७६)

न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो।।
(३२।५)

सचे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभूय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा।।
नो चे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजाव रट्ठं विजितं पहाय, एको चरे मातंगरञ्ञेव नागो।।
एकस्य चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कायिरा।
अप्पोस्सुक्को मातंगरञ्ञेव नागो।। (धम्मपद २३।६,१०;११)

अद्धा पसंसाम सहायसंपदं सेट्ठा समा सेवितब्बा सहाया।
एते अलद्धा अनवज्जभोजी, एगो चरे खग्गविसाणकप्पो।।
(सुत्तनिपात, उर० ३।१३)

जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे।। (३२।२०)

त्रयी धर्ममधर्मार्थं किंपाकफलसंनिभम्।
नास्ति तात! सुखं किञ्चिदत्र दुःखशताकुले।।
(शांकरभाष्य, श्वेता० उप०, पृ० २३)

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेंति किंचि।।
(३२।१००)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। (गीता २।६४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**ब्राह्मण**

जयघोष और विजयघोष नाम के दो भाई थे। जयघोष मुनि बन गए। विजयघोष ने यज्ञ का आयोजन किया। मुनि जयघोष यज्ञवाट में भिक्षा लेने गए। यज्ञ-स्वामी ने भिक्षा देने से इन्कार कर दिया और कहा कि यह भोजन केवल ब्राह्मणों को ही दिया जायेगा। तब मुनि जयघोष ने समभाव रखते हुए उसे ब्राह्मण के लक्षण बताए। उत्तराध्ययन के पच्चीसवें अध्ययन में १६वें श्लोक से ३२वें श्लोक तक ब्राह्मणों के लक्षणों का निरूपण है और (२८,२९,३०,३१) के अतिरिक्त प्रत्येक श्लोक के अंत में 'तं वयं बूम माहणं' ऐसा पद है।

इसकी तुलना धम्मपद के ब्राह्मणवर्ग (३६वां), सुत्तनिपात के वासेट्ठसुत्त (३५) के २४५वें अध्याय से होती है।

धम्मपद के ब्राह्मणवर्ग में ४२ श्लोक हैं और उनमें नौ श्लोकों के अतिरिक्त (१,२,५,६,७,८,१०,११,१२) सभी श्लोकों का अन्तिम पद 'तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं' है।

सुत्तनिपात का 'वासेट्ठ सुत्त' गद्य-पद्यात्मक है। उसमें ६३ श्लोक हैं। उनमें २९ श्लोकों (२७-४५) का अन्तिम चरण 'तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं' है। इसमें कौन ब्राह्मण होता है और कौन नहीं, इन दोनों प्रश्नों का सुन्दर विवेचन है। अन्तिम निष्कर्ष यही है कि ब्राह्मण जन्मना नहीं होता, कर्मणा होता है।

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २४५ में ३६ श्लोक हैं। उनमें सात श्लोकों (११,१२,१३,१४,२२,२३,२४) के अन्तिम चरण में 'तं देवा ब्राह्मणं विदुः' ऐसा पद है।

तीनों में ब्राह्मण के स्वरूप की मीमांसा है।

**उत्तराध्ययन के अनुसार ब्राह्मण**

(१) जो संयोग में प्रसन्न नहीं होता, वियोग में खिन्न नहीं होता,
(२) जो आर्य-वचन में रमण करता है, जो पवित्र है, जो अभय है,
(३) जो अहिंसक है,
(४) जो सत्यनिष्ठ है,
(५) जो अचौर्यव्रती है,
(६) जो ब्रह्मचारी है,
(७) जो अनासक्त है,
(८) जो गृहत्यागी है,
(९) जो अकिंचन है,
(१०) जो गृहस्थों में अनासक्त है और
(११) जो समस्त कर्मों से मुक्त है, वह ब्राह्मण कहलाता है।

**धम्मपद तथा सुत्तनिपात के अनुसार ब्राह्मण**

(१) जिसके पार, अपार और पारापार नहीं है, जो अनासक्त है,
(२) जो ध्यानी है, निर्मल है, आसनबद्ध है, उत्तमार्थी है,
(३) जो पाप-कर्म से विरत है,
(४) जो सुसंवृत है,
(५) जो सत्यवादी है, धर्मनिष्ठ है,
(६) जो पंशुकूल (फटे चीथड़ों से बना चीवर) को धारण करता है,
(७) जो दुबला, पतला और नसों से मढे शरीर वाला है,
(८) जो अकिंचन है, त्यागी है,
(९) जो संग और आसक्ति से विरत है,
(१०) जो प्रबुद्ध है, जो क्षमाशील है, जो जितेन्द्रिय है,
(११) जो चरम शरीरी है,
(१२) जो मेधावी है, मार्ग-अमार्ग को जानता है,
(१३) जो संसर्ग-रहित है, अल्पेच्छ है,
(१४) जो अहिंसक है, अविरोधी है, जो सत्यवादी है, जो अचौर्यव्रती है, जो अतृष्ण है, जो निःसंशय है, जो पवित्र है, जो अनुस्रोतगामी है, जो निःक्लेश है, जो प्राणियों की च्युति और उत्पत्ति को जानता है और
(१५) जो क्षीणाश्रव है, अर्हत् है, जिसके पूर्व, पश्चात् और मध्य में कुछ नहीं है, जो सम्पूर्ण ज्ञानी है—वह ब्राह्मण है।

**महाभारत के अनुसार ब्राह्मण**

(१) जो लोगों के बीच रहता हुआ भी असंग होने के कारण सूना रहता है,
(२) जो जिस किसी वस्तु से अपना शरीर ढंक लेता है,
(३) जो रूखा-सूखा खा कर भी भूख मिटा लेता है,
(४) जो जहां कहीं भी सो रहता है,
(५) जो लोकैषणा से विरत है, जिसने स्वाद को जीत लिया है, जो स्त्रियों में आसक्त नहीं होता,
(६) जो सम्मान पा कर गर्व नहीं करता,
(७) जो तिरस्कार पा कर खिन्न नहीं होता,
(८) जिसने सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान दे दिया है,
(९) जो अनासक्त है, आकाश की तरह निर्लेप है,
(१०) जो किसी भी वस्तु को अपना नहीं मानता,
(११) जो एकाकी विचरण करता है, जो शान्त है,
(१२) जिसका जीवन धर्म के लिए होता, जिसका धर्म हरि (आत्मा) के लिए होता है, जो रात-दिन धर्म में लीन रहता है,
(१३) जो निस्तृष्ण है, जो अहिंसक है, जो नमस्कार और स्तुति से दूर रहता है, जो सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त है,
(१४) जिसके मोह और पाप दूर हो गए हैं, जो इहलोक और परलोक के भोगों में आसक्त नहीं होता—वह ब्राह्मण है—ब्रह्मज्ञानी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ७

# टिप्पण अनुक्रम


| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| **(अ)** | |
| अइक्कमे (१।३३) | ५३ |
| अउला हवइ वेयणा (२।३५) | ६४ |
| अंगविज्जं (८।१३) | २१ |
| अंगुलं बहुए (२६।१४) | ८ |
| अंतकिरियं (२६।१५) | २१ |
| अंतरिच्छं (२०।२१) | १२ |
| अंतरं (३६।८२) | १६ |
| अंतरद्दीवया (३६।१६६) | २३ |
| अंतेउरं तेणं (६।१२) | १८ |
| अंधयार (२८।१२) | १३ |
| अंसहर (१३।२२) | १७ |
| अकम्मकम्मभूमा (३६।१६६) | २३ |
| अकम्मचेट्ठे (१२।२६) | ३५ |
| अकलेवरसेणिं (१०।३५) | २६ |
| अकामकामे (१५।१) | ६ |
| अकाममरणं (५।२) | ४ |
| अकिंचणं (२६।४८) | ५६ |
| अकिरियं (१८।२३,३३) | १३,२४ |
| अकुऊहले (११।१०) | १५ |
| अकोहणे (११।५) | ५ |
| अकुक्कुओ (२।२०,२१।१८) | ३३,२० |
| अक्केस... (२।२५) | ४५ |
| अक्खे (५।१४) | २३ |
| अगारधम्मं (२६।४) | ४ |
| अगारि-सामाइयंगाइं (५।२३) | ३६ |
| अगारेसु (१।२६) | ४५ |
| अग्गरसा... (१४।३१) | २५ |
| अग्गलं (६।२०) | २५ |
| अग्गिसिहा दित्ता (१६।३६) | २८ |
| अग्गिहोत्तमुहा (२५।१६) | १३ |
| अचवले (११।१०) | १३ |
| अचियत्ते (११।६) | ११ |
| अचेलए...सचेलए (२।१३) | २० |
| अचेलगो (२३।१३) | १० |
| अच्चंतकालस्स... (३२।१) | १ |
| अच्चंतनियाणखमा (१८।५२) | ३३ |
| अजीवदेसमागासे (३६।२) | ३ |
| अज्ज (१२।१७) | २५ |
| अज्जयंते (१३।१२) | ७ |
| अज्जवयणं (२५।२०) | १५ |
| अज्जवयाए (२६।४६) | ६० |
| अज्झत्थ (१४।१६) | १६ |
| अज्झत्थं (६।६) | १२ |
| अज्झप्पझाणजोगेहिं पसत्थ... (१६।६३) | ६५ |
| अज्झवसाणम्मि (१६।७) | १० |
| अट्टरुद्दाणि झाणाइं (३०।३५) | १५ |
| अट्ठजुत्ताणि (१।८) | १८ |
| अट्ठपओ... (१०।३७) | २८ |
| अट्ठ पवयणमायाओ (२४।१) | १ |
| अट्ठ समिईओ (२४।३) | २ |
| अट्ठसहस्सलक्खणधरो (२२।५) | ४ |
| अट्ठाए य अणट्ठाए (५।८) | १३ |
| अट्ठियं (१।४६) | ७० |
| अणंतघाइपज्जवे (२६।८) | १२ |
| अणगारगुणेहिं (३१।१८) | ३३ |
| अणगारे तवोधणे (१८।४) | २ |
| अणच्चावायणसीले (२६।५) | ५ |
| अणसणा मरणे (३०।१२-१३) | ४ |
| अणसणे (१६।१२) | ६३ |
| अणागयं नेव य अत्थि किंचि (१४।२८) | २२ |
| अणाणुबंधि (२६।२५) | १७ |
| अणाबाहं (२३।८०) | २८ |
| अणारिया (१२।४) | ५ |
| अणिग्गहे (११।२) | २ |
| अणिच्चे (१८।११) | ५ |
| अणियमेत्ता (८।१४) | २२ |
| अणुकंपओ (१२।७) | १२ |
| अणुक्कसाई (२।३६,१५।१६) | ७०,२८ |
| अणुत्तरनाणदंसणधरे (६।१७) | ३५ |
| अणुत्तरे (१३।३४,३५) | २४ |
| ...अणुपुव्वसो (५।२६) | ४० |
| अणुप्पेहाए (२६।२३) | ३२ |
| अणुभागा (३३।२४) | ६ |
| अणुववायकारए (१।३) | ७ |
| अणुव्वया (२०।२८) | १६ |
| अणुसासम्मी (२७।१०) | १८ |
| अणेगओ (१६।८२) | ५८ |
| अणेगचित्तासु (८।१८) | ३१ |
| अणेगवासानउया (७।१३) | २३ |
| अण्णवं (१०।३४) | २५ |
| अण्णवंसि महोहंसि (५।१) | १ |
| अण्णाणपरीसह (२।४२,४३) | ८० |
| अण्णाण मोहस्स (३२।२) | २ |
| अतरं (८।६) | १३ |
| अत्तपन्नहा (१७।१२) | १३ |
| अत्तपसन्नलेसे (१२।४६) | ४६ |
| अत्थं (१२।३३) | ३७ |
| अत्थधम्मगइं तच्चं (२०।१) | २ |
| अत्थिकायधम्मं (२८।२७) | २३ |
| अद्दीणा (७।२१) | ३१ |
| अद्धा (३४।४५) | १७ |
| अद्धासमए (३६।६) | ७ |
| अधीरपुरिसेहिं (८।६) | १२ |
| अधुवे असासयंमि (८।१) | १ |
| अन्नदत्तहरे (७।५) | ७ |
| अन्नप्पमत्ते (१४।१४) | १५ |
| अन्नाएसी (२।३६) | ७० |
| अन्नाणं (१८।२३) | १३ |
| अन्नायएसी (१५।१) | ७ |
| अपडिबद्धयाए (२६।३१) | ४० |
| अपरिग्गहो (४।१-५) | १० |
| अपुरक्कारं (२६।८) | ११ |
| अप्पं चाऽहिक्खिवई (११।११) | १६ |
| अप्पकुक्कुए (१।३०) | ४६ |
| अप्पणा सच्चमेसेज्जा (६।२) | ५ |
| अप्पणो पाए दिन्नं (६।७) | १७ |
| अप्पपाणेप्पबीयंमि (१।३५) | ५५ |
| अप्पमज्जियं (१७।७) | ७ |
| अप्पमत्तो पमत्तेहिं (६।१६) | ३३ |
| अप्परए (१।४८) | ७५ |
| अप्पसत्थेहिं दारेहिं (१६।६३) | ६४ |
| अप्पिच्छे (२।३६) | ७० |
| अप्फोव (१८।५) | ३ |
| अफुसमाणगई (२६।७४) | ७२ |
| अब्भुदए...संकप्पेण... (६।५१) | ४४ |
| अभओ (१८।११) | ५ |
| अभिक्खं (१४।३७) | २६ |
| अभिक्खणं (११।७,१७।१६) | ६,१८ |
| अभिजाइए (११।१३) | १८ |
| अभिभूय सव्वदंसी (१५।२) | ११ |
| अमयं व पूइए (१७।२१) | १५ |
| अमाई (११।१०) | १४ |
| अमित्त (१५।१६) | २७ |
| अमूढदिट्ठी (२८।३१) | २५ |
| अमोहाहिं (१४।२१) | २० |
| अय (७।६) | १७ |
| अयंतिए (२०।४२) | २६ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| अरइं (२।१४,१५) | २१,२३ |
| अरई (१०।२७) | १७ |
| अल्लीणा (२३।६) | ४ |
| अवग्गमणे (१५।३) | १३ |
| अवन्नए नावणए (२१।२०) | २२ |
| अवसेसं भंडगं (२६।३५) | २२ |
| अवि (११।२) | २ |
| अविज्जा (६।१) | १ |
| अविहेडए (१५।१५) | २६ |
| असंख अणंत (३६।१३,१४) | १० |
| असमाणो (२।१६) | ३० |
| असमंजसं (४।११) | २६ |
| असीहि (१६।५५) | ३६ |
| असंखयं (४।१) | १ |
| असंतो (१४।१८) | १८ |
| असंविभागी (१७।११) | १२ |
| अस्संजमम्मि (३१।१३) | २३ |
| अह कालम्मि संपत्ते (५।३२) | ५३ |
| अहक्खायं (२८।३३) | २६ |
| अहस्सिरे (११।४) | ४ |
| अहाउयं (२६।७३) | ७१ |
| अहीवेगंतदिट्ठीए (१६।३८) | २७ |
| अहुणोववन्नसंकासा (५।२७) | ४४ |
| अहेऊहिं (१८।५१) | ३२ |
| अहे वयइ (६।५४) | ४७ |
| अहो ! वण्णो अहो ! रूवं (२०।६) | ४ |

## आ

| | |
|---|---|
| आइण्णे (११।१६) | २५ |
| आइण्णे गणिभावम्मि (२७।१) | ५ |
| आउं जाणे (१८।१६) | १८ |
| आउजीया (३६।८५) | १७ |
| आउत्तया (१०।४०) | २४ |
| आउयं नरए कंखे (७।१७) | १२ |
| आउसं (१६सू० १) | १ |
| आएसं (७।१) | १ |
| आगासे गंगसोउव्व (१८।३६) | २६ |
| आगंतुं (२५।२०) | १४ |
| आघायाय समुस्सयं (५।३२) | ५४ |
| आणाइस्सरियं (२०।१४) | ८,६ |
| आणाए (२८।२०) | २२ |
| आणानिद्देसकरे (१।२) | ३ |
| आभिओगं भावणा (३६।२५६) | २७ |
| आभिनिबोहियं नाणं (२८।४) | ३ |
| आयगुत्ते (१५।३,२१।१६) | १२,२१ |
| आमोसे (६।२८) | ३२ |
| आयगवेसए (१५।५) | १५ |
| आययट्ठिया (२६।३४) | ४६ |
| आयरक्खिए (२।१५) | २२ |
| आयरियपरिच्चाई (१७।१७) | १६ |
| आयरिया (२०।२२) | १३ |
| आयरियं (६।८) | १८ |
| आयाण (१३।२०) | १४ |
| आयाणं नरयं (६।७) | १५ |
| आयारं (११।१) | १ |
| आयारधम्मपणिही (२३।११) | ७ |
| आयंकेण (५।११) | १७ |
| आरण्णगा (१४।६) | ६ |
| आराहए दुहओ... (१७।२१) | २६ |
| आराहिया दुवे लोग (८।२०) | ३६ |
| आरिअत्तं (१०।१६) | ८ |
| आरिएहिं (८।८) | १५ |
| आरंभ परिग्गहेसु (१३।३३) | २३ |
| आलवंते... (१।२१) | ३७ |
| आलस्सएण (११।३) | ३ |
| आलोएमाणस्स (१६।सू० ४) | ७ |
| आलोयण (१६।४) | ७ |
| आवइ जोणीसु (३।५) | ११ |
| आवसहा (१३।१३) | ८ |
| आससाए (१२।१२) | २१ |
| आसीविसो (१२।२७) | ३२ |
| आसुरी भावणा (३६।२५६) | २७ |
| आसुरं कायं (३।३) | ७ |
| आसुरियं दिसं (७।१०) | १८ |
| आसुरे काए (८।१४) | २५ |
| आसे जहा (४।८) | २० |
| आहाकम्मेहिं (५।१३) | २२ |
| आहारपच्चक्खाणेणं (२६।३६) | ४८ |
| आहारे (२६।३१-३४) | २० |

## इ

| | |
|---|---|
| इंगियागार (१।२) | ५ |
| इंदनीले (३६।७५) | १५ |
| इंदियचोर... (३२।१०४) | १७ |
| इंदियबलहाणी (१०।२०-२५) | १५ |
| इट्ठिगारविए (२७।६) | १५ |
| इड्ढी (२।४४) | ८१ |
| इड्ढी जुई... (७।२७) | ३६ |
| इत्तरियम्मि (१०।३) | ३ |
| इत्तिरिया (३०।६) | २ |
| इमे...एए (२२।१६) | २० |
| इरियं (६।२१) | २७ |
| इरियं रिए (२४।८) | ५ |
| इरियावहियं कम्मं (२६।७२) | ७० |
| इहेह (१४।४०) | ३३ |

## ई

| | |
|---|---|
| ईसीपब्भार (३६।५७) | १४ |

## उ

| | |
|---|---|
| उक्कुडुओ (१।२२) | ३८ |
| उग्ग (१५।६) | २० |
| उग्गतवो (१२।२७) | ३३ |
| उच्चाराईणि वोसिरे (२४।१६-१८) | ११ |
| उच्चावयाइं (१२।१४) | २४ |
| उच्चावयाहिं सेज्जाहिं (२।२२) | ३७ |
| उज्जुकडे (१५।१) | ३ |
| उज्जुकडा (१४।४१) | ३५ |
| उज्जुजडा (२३।२६) | १८ |
| उज्जुपन्ना (२३।२६) | १८ |
| उड्ढं...वत्थं (२६।२३) | १६ |
| उत्तमट्ठ (११।३२) | ४३ |
| उत्तमट्ठं (२०।४६) | ३७ |
| उत्तमधम्म... (१०।१८) | ११ |
| उत्तरगुणे (२६।८) | ५ |
| उत्तराइं (५।२६) | ४१ |
| उत्तिट्ठते (११।२४) | ३४ |
| उदग्गे (११।२०) | २६ |
| उद्देसियं (२०।४७) | ३५ |
| उद्देसेसु दसाइणं (३१।१७) | ३२ |
| उप्फिडइ (२७।५) | ११ |
| उभयस्संतरेण (१।२५) | ४२ |
| उम्मायं...रोगायंकं... (१६।सू० ३) | ५ |
| उराला (१५।१४) | २३ |
| उल्लंघणे (१७।८) | ६ |
| उवचिट्ठे (१।२०) | ३६ |
| उवजोइया (१२।१८) | २७ |
| उववन्नो (६।१) | १ |
| उववाइयं (५।१३) | २१ |
| उववायकारए (१।२) | ४ |
| उववूह (२८।३१) | २५ |
| उवसंतमोहणिज्जो (६।१) | २ |
| उवसग्गे (३१।५) | ४ |
| उवहिं (१६।८४) | ६० |
| उवहिपच्चक्खाणेणं (२६।३५) | ४७ |
| उवेहे (२।११) | १८ |
| उवायओ (२३।४१) | २३ |
| उवासगाणं पडिमासु (३१।११) | १७ |
| उवेहमाणो (२१।१५) | १७ |
| उस्सूलगसयग्घीओ (६।१८) | २४ |

## ऊ

| | |
|---|---|
| ऊणे वाससयाउए (७।१३) | २४ |

## ए

| | |
|---|---|
| एए कंदंति... (६।१०) | १६ |
| एक्को...अणुजाइ कम्मं (१३।२३) | १६ |
| एक्को वि... (३२।५) | ६ |
| एक्को हु... (१४।४०) | ३२ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| एग एव (२।१८) | २६ |
| एगं डसइ पुच्छंमि (२२।४) | ६ |
| एगंतमणुपस्सओ (६।१६) | २१ |
| एगंतमहिट्ठिओ (६।४) | ७ |
| एगंतरए (२६।३२) | ४३ |
| एगग्गमणसंनिवेसणयाए (२६।२६) | ३७ |
| एग दव्वस्सिया गुणा (२८।६) | ५ |
| एगपक्खं (१२।११) | १६ |
| एगविमाणवासी (१४।१) | १ |
| एगवीसाए सबले (३१।१५) | २७ |
| एयं मिणाणं (१२।४७) | ५१ |
| एसणासमिओ...गवेसए (६।१६) | ३४ |
| एस मग्गो (२८।२) | २ |

## ओ

| | |
|---|---|
| ओमचेलए (१२।६) | ८ |
| ओमरत्ताओ (२६।१५) | ६ |
| ओमाणभीरुए (२७।१०) | १७ |
| ओमोयरियं (३।१४) | ५ |
| ओसहि (३२।५०) | १५ |
| ओहीनाणं (२८।४) | ३ |
| ओहोवहोवग्गहियं (२४।१३) | ८ |

## क

| | |
|---|---|
| कंखा (१६।सू० ३) | ५ |
| कंखामोह (२६।२१) | ३० |
| कंटपागहं (१०।३२) | २१ |
| कंथए (११।१६) | २५ |
| कंदप्प भावणा (३६।२५६) | २७ |
| कंदुकुंभीसु (१६।४६) | ३३ |
| कंपिल्ले (१३।२,१८।१) | ३,१ |
| कंबोयाणं (११।१६) | २५ |
| कक्कर (७।७) | ११ |
| कडाण कम्माण न मोक्ख... (१३।१०) | ६ |
| कणकुंडगं (१।५) | १२ |
| कण्ए (६।२) | ६ |
| कप्पविमाणो (२६।१५) | २२ |
| कम्मं तु कसायजं (३३।११) | २ |
| कम्मं तु छद्दिसागयं (३३।१८) | ७ |
| कम्मं नोकसायजं (३३।११) | २ |
| कम्मकिब्बिसा (३।५) | १० |
| कम्मणो हेउं (३।१३) | २० |
| कम्मलेसाणं (३४।१) | १ |
| कम्मसंपया (१।४७) | ७३ |
| कम्मसच्चा (७।२०) | २८ |
| कम्माइं महालयाइं (१३।२६) | २१ |
| कम्माणं...आणुपुव्वी (३।७) | १२ |
| कम्मारेहिं (१६।६७) | ४८ |
| कम्मुणा (२५।३१) | २१ |
| कम्मुणो हेउं (६।१४) | २७ |
| कयकोउयमंगलो (२२।६) | १० |
| करकण्डू (१८।४५) | २८ |
| करणगुणसेढिं (२६।७) | १० |
| करणसच्चेणं (२६।५२) | ६३ |
| कलं अग्घइ सोलसिं (६।४४) | ४१ |
| कलम्बवालुयाए (१६।५०) | ३५ |
| कलहं (८।४) | ६ |
| कलहडमर (११।१३) | १६ |
| कलिना (५।१६) | २४ |
| कल्लाण भासई (११।२२) | १८ |
| कल्ले (२०।३४) | २१ |
| कसायपच्चक्खाणेणं (२६।३७) | ४६ |
| कसिणं (२१।११) | १२ |
| कहं तं विहरसी (२३।४०) | १२ |
| कहं नाहो न विज्जई (२०।१०) | ७ |
| कहावणे (२०।४२) | २८ |
| काउस्सग्गेणं (२६।१३) | १८ |
| कागिणिए (७।११) | १६ |
| कागिणिए हेउं (७।११) | २१ |
| काणणुज्जाण (१६।१) | १ |
| कामकमा (१४।४४) | ४० |
| कामगिद्धे (५।४) | ६ |
| कामगुणे विरत्ता (१४।४) | ५ |
| कामगुणेहि मुच्छिया (१०।२०) | १३ |
| कामभोगरसगिद्धा (८।१४) | २४ |
| कामभोगेसु (५।५) | ७ |
| कामरूव विउव्विणो (३।१५) | २७ |
| कामाणियट्टस्स (७।२५) | ३६ |
| कामे पत्थेमाणा (६।५३) | ४५ |
| कायकिलेसं (३०।२७) | ६ |
| कायगुत्तयाए (२६।५६) | ६४ |
| कायठिइं (३६।८१) | १६ |
| कायट्ठिइ...भवट्ठिइ (१०।५-१४) | ६ |
| कायसमाहारणयाए (२६।५६) | ६६ |
| कालकंखी (६।१४) | २८ |
| कालधम्मे उवट्ठिए (३५।२०) | ६ |
| कालपडिलेहणयाए (२६।१६) | २३ |
| कालिंजरे नगे (१३।६) | ४ |
| कालीपव्व (२।३) | ४ |
| कालेण कालं (२१।१४) | १६ |
| काले कालं समायरे (१।३१) | ५० |
| कालो (२८।१०) | १० |
| कावोया जा इमा वित्ती (१६।३३) | २२ |
| कासवो (२८।१६) | १३ |
| कासिभूमिए (१३।६) | ४ |
| किं (१२।३८) | ४२ |
| किं नाम काहामि सुएण भंते! (१७।२) | ४ |
| किं तवं पडिवज्जामि (२६।५०) | २७ |
| किंनामे? किंगोत्ते? (१८।२१,२२) | ११ |
| किंपागफलाणं (१६।१७) | १५ |
| किच्चाइं (१।४४) | ६७ |
| किच्चाण (१।१८) | ३२ |
| किण्हाए ठिई (३४।४८) | २० |
| किमेगरायं करिस्सइ (२।२३) | ४० |
| किरियं (१८।२३,३३) | १३,२४ |
| किरियासु (३१।७) | ६,१६ |
| किब्बिसियं भावणा (३६।२५६) | २७ |
| कीडं (१।६) | १६ |
| कीयगडं (२०।४७) | ३५ |
| कुच्च (२२।३०) | २६ |
| कुडुंबसारं (१४।३७) | २८ |
| कुड्ड...भित्त (१६।सू० ७) | ८ |
| कुतित्थि (१०।१८) | १२ |
| कुप्पवयणपासंडी (२३।६३) | २७ |
| कुमारसमणे (२३।२) | २ |
| कुमुयं सारइयं (१०।२८) | १६ |
| कुम्मासं (८।१२) | २० |
| कुवियं (१।४१) | ६४ |
| कुस (१०।२) | २ |
| कुसग्गेण तु भुंजए (६।४४) | ३६ |
| कुसला (१२।३८) | ४३ |
| कुसीललिंगं (२०।४३) | ३० |
| कुहेडविज्जा (२०।४५) | ३३ |
| कूडसामली (२०।३६) | २२ |
| कूडाय (५।५) | ८ |
| केयणं (६।२१) | २८ |
| केवलं बोहि (३।१६) | ३० |
| केसं (५।७) | १२ |
| केसलोओ य दारुणो (१६।३३) | २३ |
| ...केसाण (१६।१२) | १३ |
| कोइलच्छद (३४।६) | ५ |
| कोउगामिगा (२३।१६) | १५ |
| कोडीसहिय (३६।२५५) | २६ |
| कोऊहल (२०।४५) | ३३ |
| कोत्थलो (१६।४०) | २६ |
| कोलसुणएहिं (१६।५४) | ३८ |
| कोलाहलगभूयं (६।५) | ६ |
| कोवियप्पा (१५।१५) | २५ |
| कोहं असच्चं (१।१४) | २७ |

## ख

| | |
|---|---|
| खंडिएहिं (१२।१८) | २८ |
| खंतिक्खमे (२१।१३) | १५ |
| खंतीए (२६।४७) | ५८ |
| खंधा य (३६।११) | ६ |
| खज्जइ भुज्जई (१२।१०) | १६ |
| खड्डुया मे... (१।३८) | ६० |
| खत्ता (१२।१८) | २६ |
| खत्तिए (१८।२०) | १० |
| खत्तिओ (३।४) | ८ |
| खत्तिय (१५।६) | २० |
| खमावणयाए (२६।१८) | २५ |
| खलाहि (१२।७) | ११ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| खलुंके (२७।३) | ७ |
| खिंसई (१७।४) | ५ |
| खुड्डुए (३२।२०) | ११ |
| खुरधाराहिं (१९।५९) | ४६ |
| खेत्तं (३।१७) | २९ |
| खेमं (२३।८०) | २८ |
| खेयाणुगए (१५।१५) | २४ |
| खेलंमि (८।५) | ११ |
| खेल्लंति जहा व दासेहिं (८।१८) | ३३ |
| **ग** | |
| गंठिभेए (९।२८) | ३२ |
| गंठियसत्ताईयं (३३।१७) | ६ |
| गंड (८।१८) | ३० |
| गंधणा (२२।४३) | ३५ |
| गंधहत्थिं (२२।१०) | १२ |
| गग्गे (२७।१) | १ |
| गण (१५।९) | २० |
| गणहरे (२७।१) | ३ |
| गमिस्सामो (१४।२६) | २१ |
| गरहणयाए (२९।८) | १३ |
| गलिगद्दहा (२७।१६) | २४ |
| गलियस्स... (१।३७) | ५९ |
| गलियस्स...आइण्णे (१।१२) | २२ |
| गवल (३४।४) | ३ |
| गहणत्थं (२३।३२) | १९ |
| गाढा य विवाग कम्मुणो (१०।४) | ५ |
| गाणंगणिए (१७।१७) | २१ |
| गामकंटगा (२।२५) | ४४ |
| गामे···पल्ली (३०।१६) | ६ |
| गारत्था संजमुत्तरा (५।२०) | ३१ |
| गारवाणं (३१।४) | २ |
| गारवेसु (१९।९१) | ६१ |
| गाहासोलसएहिं (३१।१३) | २२ |
| गिद्धि··· (३२।२४) | १३ |
| गिहिसुव्वया (७।२०) | २८ |
| गुणाणं तु सहस्साइं (१९।२४) | १६ |
| गुणाणमासओ दव्वं (२८।६) | ४ |
| गुणोह... (१४।१७) | १७ |
| गुत्तीओ (२४।२०-१६) | १२ |
| गुरुकुले (११।१४) | २० |
| गुरुपरिभावए (१७।१०) | १० |
| गुरुविद्ध (३२।३) | ३ |
| गेहिं सिणेहं (६।४) | १० |
| गोच्छगं (२६।१३) | १५ |
| गोपुरट्टालगाणि (९।१८) | २३ |
| गोमेज्जए (३६।७५) | १५ |
| गोयं कम्मं (३३।१४) | ४ |
| गोयरग्ग (२।२९) | ५४ |
| **घ** | |
| घयसित्त व्व पावए (३।१२) | १९ |
| घोरपरक्कमा (१४।५०) | ४३ |
| घोरपरक्कमो (१२।२३) | ३० |
| घोरव्वओ (१२।२३) | ३० |
| घोरा मुहुत्ता (४।६) | १३ |
| घोरासमं चइत्ताणं... (९।४२) | ३८ |
| **च** | |
| चउदसरयण (११।२२) | ३१ |
| चउकारणसंजुत्तं (२८।१) | १ |
| चउरिंदिय (३६।१४५) | २१ |
| चंडाल (३।४) | ८ |
| चंडालियं (१।१०) | २० |
| चंपाए (२१।१) | १ |
| चक्कवट्टी (११।२२) | ३१ |
| चक्खुस्स रूवं (३२।२३) | १२ |
| चक्खुफासओ (१।३३) | ५३ |
| चत्तारी कामखंधाणि (३।१७) | २९ |
| चरमप्पमत्तो (४।१०) | २७ |
| चरिया... (२।१९) | ३२ |
| चाउज्जामो पंचसिक्खिओ (२३।१२) | ८ |
| चाउप्पायं (२०।२३) | १५ |
| चाउरंतं (२९।२३) | ३४ |
| चाउरंते (११।२२,१९।४६) | ३१,३१ |
| चारित्तं (२८।३२) | २६ |
| चिंता (२३।१०) | ६ |
| चित्त ! धण्णप्पभूयं (१३।१३) | ९ |
| चित्ता (६।१०) | १९ |
| चीर.. (५।२१) | ३३ |
| चेइए वच्छे (९।९) | १४ |
| **छ** | |
| छउमं (२।४३) | ७९ |
| छक्के आहारकारणे (३१।८) | ११ |
| छविपव्वाओ (५।२४) | ३८ |
| छाया (२८।१२) | १४ |
| छिन्नं सरं भोमं.. (१५।७) | १६ |
| छन्नसोए (२१।२१) | २६ |
| छिन्नाले (२७।७) | १३ |
| छिन्नो (१९।५४) | ३८ |
| छेओवट्ठावणं (२८।३२) | २६ |
| **ज** | |
| जइत्ता...भोइत्ता... दच्चा (९।३८) | ३५ |
| जइ मुच्चेज्जा...पव्वए अणगारियं (२०।३२,३३) | २० |
| जं किंचि (४।७) | १५ |
| जंबू (११।२७) | ३७ |
| जक्ख-सलोगयं (५।२४) | ३९ |
| जक्खा (३।१४) | २४ |
| जगनिस्सिएहिं... (८।१०) | १८ |
| जणओ (२२।८) | ८ |
| जण्णट्ठी वेयसां··· (२५।१६) | १३ |
| जत्थ तत्थ निसीयई (१७।१३) | १५ |
| जन्न (२५।४) | ५ |
| जमजन्नंमि (२५।१) | ३ |
| जयं अपरिसाडियं (१।३५) | ५७ |
| जरोवणीयस्स (४।१) | ३ |
| जलकंते (३६।७६) | १५ |
| जवणट्ठाए (३५।१७) | ५ |
| जवणट्ठाए (८।१२) | २० |
| जवसं (७।१) | २ |
| जसो कामी (२२।४२) | ३२ |
| जहानायं (२३।३८) | २१ |
| जहा न होई असुयाण लोगो... (१४।८,९) | १० |
| जहामट्ठं (२५।२१) | १७ |
| जहा लाहो तहा लोहो (८।१७) | २९ |
| जहा सुणी... (१।४) | ९ |
| जहासुत्तं (३५।१६) | ३ |
| जहासुहं (१७।१) | ३ |
| जहाहियं (२०।२३) | १४ |
| जाइविज्जोववेया (१२।१३) | २२ |
| जाईजरामच्चु (१४।४) | ३ |
| जायखंधे (११।१९) | २८ |
| जायणजीविणु (१२।१०) | १७ |
| जायाई (२५।१) | २ |
| जायाए घासमेसेज्जा (८।११) | १९ |
| जाया य पुत्ता (१४।१२) | १४ |
| जाव सरीरभेओ (४।१३) | ३७ |
| जिच्चा (२।१) | १ |
| जिणदिट्ठे (२८।१८) | २० |
| जीवा गच्छंति (३४।६०) | २३ |
| जीवा चेव··· (३६।२) | २ |
| जीवाजीवविभत्ति (३६।१) | १ |
| जीवाजीवा तहिया नव (२८।१४) | १६ |
| जीवियंतं तु संपत्ते (२२।१५) | १६ |
| जीवो उवओगलक्खणो (२८।१०) | ११ |
| जुगमित्तं (२४।७) | ४ |
| जुवराया (१९।२) | ३ |
| जे केई सरीरे...सव्वसो (६।११) | २१ |
| जेट्ठामूले (२६।१६) | ११ |
| जे संति... (५।२८) | ४५ |
| जोइसंगविऊ (२५।७,८) | ८ |
| जोगक्खेमं (७।२४) | ३४ |
| जोगनिरोहं (२९।७३) | ७२ |
| जोगपच्चक्खाणेणं (२९।३८) | ५० |
| जोगवं (११।१४) | २१ |
| जो मग्गे कुणई... (९।२६) | ३१ |
| जो सक्खं...धम्मं कल्लाण पावगं (२।४२) | ७६ |
| जोगसच्चेणं (२९।५३) | ६३ |
| जोगेसु (३१।२०) | ३८ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| **झ** | |
| झाएज्ज एगगो (१।१०) | २१ |
| झाणं (३०।३५) | १५ |
| झाणाणं च दुयं (३१।६) | ७ |
| **ठ** | |
| ठाणा (५।१२) | १६ |
| ठाणं किं मन्नसी (२३।८०-८३) | २८ |
| ठाणेसु य समाहिए (३१।१४) | २६ |
| ठाणेहिं (११।३) | ३ |
| **ढ** | |
| ढंक (१६।५८) | ४४ |
| **ण** | |
| णाणं मिच्छए (२३।३३) | २० |
| ण्हाणं (२०।२६) | १७ |
| **त** | |
| तओ काले... (५।३१) | ५० |
| तंतुजं (२।३५) | ६५ |
| तं नाणं जिणसासणे (१८।३१,३२) | २३ |
| तं बिंतऽम्मापियरो (१६।४४) | ३० |
| तज्जणा (१६।३२) | २१ |
| तणफास (२।३४) | ६३ |
| तप्पच्चइयं कम्म (२६।६३) | ६८ |
| तमं तमेणं (१४।१२) | १३ |
| तवं खंति... (३।८) | १३ |
| तवो बाहिरब्भंतरो (३०।७) | १ |
| तवोवहाण... (२।४३) | ७७ |
| तस्सऽक्खेवपमोक्खं (२५।१३) | १२ |
| तहाभूएण (५।३०) | ४८ |
| ताई (८।४) | ७ |
| तालउडं (१६।१३) | १२ |
| तालणा (१६।३२) | २१ |
| तिंदुयरुक्खवासी (१२।८) | १३ |
| तिगडुयस्स (३४।११) | ६ |
| ...तिगिच्छगा (२०।२२) | १३ |
| तिगुत्तं (६।२०) | २६ |
| तिण्णो हु सि...तीरमागओ (१०।३४) | २४ |
| तित्थधम्मं अवलंबइ (२६।२०) | २७ |
| तिण्हमन्नयरं (५।३२) | ५५ |
| तिन्नि वणिया (७।१४-१६) | २५ |
| तिरीडी (६।६०) | ४८ |
| तिव्वचंडप्पगाढाओ घोराओ (१७।७२) | ४६ |
| तीयपडुप्पन्नं (२६।१३) | १६ |
| तुच्छ (४।१३) | ३४ |
| तुवर (३४।१२) | ७ |
| तेएण (१८।१०) | ४ |
| तेइंदिय (३६।१३६) | २१ |
| तेउजीवा (३६।१०८) | १६ |
| तेऊए (३४।५२) | २२ |
| तेगिच्छं... (२।३३) | ६२ |
| तेत्तीसासायणासु (३१।२०) | ३६ |
| तेवीसइ सूयगडे (३१।१६) | २६ |
| तेसिं विमोक्खणट्ठाए (८।३) | ५ |
| तोत्तगवेसए (१।४३) | ६३ |
| तोत्तजुत्तेहिं (१६।५६) | ४० |
| **थ** | |
| थंभा (११।३) | ३ |
| थद्धे (११।२) | २ |
| थवथुइ (२६।१५) | २० |
| थिरीकरणे (२८।३१) | २५ |
| थुइमंगलं (२६।४२) | २६ |
| थेरे (२७।१) | २ |
| थेरेहिं (१६।सू० १) | २ |
| **द** | |
| दंड (१६।६१) | ६१ |
| दंडाणं (३१।४) | १ |
| दंडेण फलेण (१२।१८) | २६ |
| दंतसोहणमाइस्स (१६।२७) | १७ |
| दंसणपरीसह (२।४४,४५) | ८२ |
| दंसणविसोहिं (२६।१०) | १५ |
| दढधम्मे (३४।२८) | १२ |
| दप्पं (१६।६) | १० |
| दमीसरे (१६।२) | ४ |
| दमेयव्वो (१।१५) | २६ |
| दया (२०।४८) | ३६ |
| दयाए (१८।३५) | २६ |
| दयाणुकंपी (२१।१३) | १४ |
| दयाधम्मस्स खंतिए (५।३०) | ४७ |
| दवदवस्स चरई (१७।८) | ८ |
| दव्वओ खेत्तओ (३६।३) | ४ |
| दव्वं (२८।८) | ६ |
| दसंगेऽभिजायई (३।१६) | २६ |
| दसण्णे (१३।१६) | ४ |
| दसबंभचेरसमाहिठाणा (१६।सू० १) | ३ |
| दस रुइओ (२८।१६) | १७ |
| दसारचक्केण (२२।११) | १३ |
| दसुया मिलेक्खुया (१०।१६) | ६ |
| दाणिसिं (१३।२०) | १३ |
| दयारमन्नं अणुसंकमंति (१३।२५) | २० |
| दारुणा (२।२५,६।७) | ४४,१२ |
| दारुणा (६।७) | १२ |
| दास-पोरुसं (३।१७) | २६ |
| दासपोरुसं (६।५) | ११ |
| दिगिंछपरिगए (२।२) | २ |
| दित्तरूवे (१२।६) | ६ |
| दिवप्पणट्ठे (४।५) | ६ |
| दिव्वजुयल (२२।६) | ११ |
| दीहमद्धं (२६।२३) | ३३ |
| दीहमद्धाणं (६।१२) | २२ |
| दुक्खं (२।३२, ३२।७) | ५६, ८ |
| दुक्खमा हु (२०।३१) | १६ |
| दुगुंछमाणो (४।१३) | ३६ |
| दुप्पूरए इमे आया (८।१६) | २८ |
| दुमपत्तए पंडुयए (१०।१) | १ |
| दुम्मुहो (१८।४५) | २८ |
| दुरासयं (१।१३) | २५ |
| दुरासया (११।३१) | ४१ |
| दुल्लहाणीह (३।१) | १ |
| दुवालसंगं पवयणं (२४।३) | ३ |
| दुस्साहडं (७।८) | १३ |
| दुस्सील (१।४) | १० |
| दुहओ वि विरायइ (११।१५) | २२ |
| दुही (७।३) | ६ |
| देवगंधव्व (१।४८) | ७५ |
| देवयं (७।२१) | ३२ |
| देवलोएसु (३।३) | ७ |
| देसियं (२६।३६) | २५ |
| दोगुंछी (२।४,६।७) | ६,१६ |
| दोगुंदगो (१६।३) | ५ |
| दोसं (१२।४६) | ५० |
| दोसपओसेहिं (८।२) | ३ |
| दोसमेव (२७।११) | १६ |
| **ध** | |
| धण (१६।२६) | १६ |
| धणपयणपरिग्गहाओ (१२।६) | १५ |
| धणियं (१३।२१) | १५ |
| धणेण किं धम्मधुराहिगारे (१४।१७) | १७ |
| धम्मणिसंतए (२।३) | ५ |
| धम्मं च पेसलं नच्चा...अप्पाणं (८।१६) | ३५ |
| धम्मज्जियं (१।४२) | ६६ |
| धम्मत्थिकाए (३६।५) | ६ |
| धम्मलद्धं (१६।८) | ११ |
| धम्मसद्धाए (२६।४) | २ |
| धम्मसुक्काइं झाणाइं (३०।३५) | १५ |
| धम्माओ भंसेज्जा (१६।सू० ३) | ५ |
| धम्मो कित्ती तहा सुयं (११।१५) | २४ |
| धम्माणं कासवो मुहं (२५।१६) | १३ |
| धम्मो अहम्मो (२८।७) | ७ |
| धारेउं अ महप्पणो (१६।३३) | २४ |
| धारेज्जा... (१।१४) | २८ |
| धिइमं (१६।१५) | १३ |
| धिई (३२।३) | ४ |
| धुत्ते (५।१६) | २५ |
| धुयकम्मंसे (३।२०) | ३१ |
| धुवगोयरे (१६।८३) | ५६ |
| धुवे (१६।१७) | १४ |
| धूमणेत्त (१५।८) | १८ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| **न** | |
| नंदिघोसेणं (११।१७) | २६ |
| नक्खत्त (११।२५) | ३५ |
| नक्खत्तं (२६। १६-२०) | १३ |
| न करेज्ज छहिं चेव (२६। ३३-३४) | २१ |
| नगरमंडले (२३। ४) | ३ |
| नगिणिणं (५।२१) | ३३ |
| नग्गई (१८।४५) | २८ |
| नट्ठेहि (१३।१४) | १० |
| नत्थि चरितं सम्मत्तविहूणं (२८। २६) | २४ |
| न दीसइ जाइविसेस कोई (१२।३७) | ४० |
| न पक्खओ न पुरओ... (१।१८) | ३३ |
| नमी नमेइ अप्पाणं (६।६१) | ४६ |
| नमी नमेइ...पज्जुवट्ठिओ (१८।४४) | २७ |
| नमी राया (१८।४५) | २८ |
| न मे दिट्ठे... (५।५) | १० |
| न य पावपरिक्खेवी (११।१२) | १७ |
| न य वित्तासए परं (२।२०) | ३५ |
| न यावि ···संजए (२१। १५) | १६ |
| नरएसु वेयणा (१६।४७-७३) | ३२ |
| न···संजए (२१। २०) | २३ |
| न संतसंति मरणंते (५।२६) | ४६ |
| न संतसे (२।११) | १६ |
| न सव्व···एज्जा (२१। १५) | १८ |
| नाइउच्चे न नीए वा (१।३४) | ५४ |
| नाइओ...बंधवा (१३।२३) | १८ |
| नाइवेलं विहन्नेज्जा (२।२२) | ३८ |
| नाणसंपन्नयाए (२६। ६०) | ६७ |
| नाणासीला (५।१६) | २६ |
| नाणुतप्पेज्ज पण्णवं (२।३६) | ७१ |
| नानागोत्तासु जाइसु (३।२) | ५ |
| नापुट्ठो... (१।१४) | २६ |
| नामं कम्मं (३३। १३) | ३ |
| नायज्झयणेसु (३१। १४) | २५ |
| नायपुत्ते (६।१७) | ३६ |
| नालं (६।४६) | ४३ |
| नावकंखे कयाइ वि (६।१३) | २५ |
| नासीले न विसीले (११।५) | ५ |
| नाहो (२०।६) | ६ |
| निअए (१६।१७) | १४ |
| निगमे (२।१८) | २८ |
| निक्कंखिय (२८। ३१) | २५ |
| निज्जाइ (८।६) | १७ |
| निज्झायमाणस्स (१६।सू० ४) | ७ |
| निद्दमोक्खं (२६। १८) | १२ |
| निल्लंतमलपावगं (२५। २१) | १६ |
| निल्लंस (३४। २२) | १० |
| निप्पडिकम्मया (१६।७५) | ५१ |
| निब्भेरिय (१२।२६) | ३६ |
| नियम (१६।५) | ८ |
| ...नियमेहि (२०।४१) | २६ |
| नियमव्वए (२२। ४०) | ३१ |
| नियाग (२०।४७) | ३५ |
| नियाणं (१३।१) | २ |
| नियाणछिन्ने (१५।१) | ४ |
| निरंगणे (२१। २४) | ३० |
| निरट्ठं (१।२५) | ४३ |
| निरट्ठाणि (१।८) | १८ |
| निरामिसा (१४।४१) | ३६ |
| निरोवलेवाइ (२१। २२) | २८ |
| निव्वाणं (३।१२) | १६ |
| निव्वाणमुणावहं (१६।६८) | ६६ |
| निव्वावारस्स (६।१५) | २० |
| निव्विसय (१४।४८) | ४२ |
| निसंठे (१।८) | १८ |
| निसम्म (१६।६७) | ६८ |
| निसामित्ता हेऊकारण... (६।८) | १३ |
| निसीहिया... (२।२०,२१) | ३६ |
| निसेज्जं (१७।७) | ६ |
| निस्संसो (३४। २२) | ११ |
| निस्संकिय (२८। ३१) | २५ |
| नीयावत्ती (११।१०) | १२ |
| नेआउयं (३।६) | ३५ |
| नेयाउयं मग्गं (७।२५) | ३७ |
| नेव कुज्जा परिग्गहं (२।१६) | ३१ |
| नेव ताणाय तं तव (१४।३६) | ३० |
| नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा (१४।१६) | १६ |
| नो इत्थीणं कहं (१६।सू० ४) | ६ |
| **प** | |
| पइण्णवाई (११।६) | १० |
| पइरिक्कुवस्सयं (२।२३) | ३६ |
| पएसग्गं (३३। १७) | ६ |
| पंकभूया उ इत्थिओ (२।१७) | २६ |
| पंकेण...रएण (२।३६) | ६६ |
| पंचकुसीले (१७।२०) | २४ |
| पंचमं कुसतणाणि (२३। १७) | १४ |
| पंचविहं नाणं (२८। ४) | ३ |
| पंचविहमंतरायं (३३। १५) | ५ |
| पंचहिं संवरेहिं (१२।४२) | ४५ |
| पंजरे... (१४।४१) | ३४ |
| पंजलिउडो (१।४१) | ६५ |
| पंतं (१५।४) | १४ |
| पंताणि चेव सेवेज्जा (८।१२) | २० |
| पंतोवहिउवगरणं (१२।४) | ४ |
| पंसुपियायभूए (१२।६) | ६ |
| पक्खपिंडं (१।१६) | ३४ |
| पक्खिहिं (१६।५८) | ४५ |
| पक्खी पत्तं समादाय... (६।१५) | ३१ |
| पकप्पम्मि (३१। १८) | ३४ |
| पगाढा जत्थ वेयणा (५।१२) | २० |
| पच्चवायए (१०।३) | ४ |
| पच्चुप्पन्नपरायणे (७।६) | १५ |
| पच्छा (१४।२६) | २१ |
| पच्छा उइज्जंति (२।४१) | ७३ |
| पच्छाणुतावए (१०।३३) | २३ |
| पज्जवाणं (२८। ६) | ६ |
| पज्जवाणं तु लक्खणं (२८। १३) | १५ |
| पट्ठिसेहि (१६।५५) | ३६ |
| पट्टं (५।१) | ३ |
| पडिक्कमणेणं (२६। १२) | १७ |
| पडिच्छन्नंमि (१।३५) | ५६ |
| पडिणीए असंबुद्धे (१।३) | ८ |
| पडिणीयं च बुद्धाणं (१।१७) | ३१ |
| पडिपुच्छणयाए (२६। २१) | २६ |
| पडिबुद्धजीवी (४।६) | १२ |
| पडिमं (२।४३) | ७८ |
| पडिरूवं पडिवत्तिं (२३। १६) | १३ |
| परिरूवण्णू (२३। १५) | १२ |
| पडिरूवयाए (२६। ४३) | ५४ |
| पडिरूवेण (१।३२) | ५२ |
| पडिलेहणापमत्ता (२६। ३०) | १६ |
| पडिलेहा··· (२६। १६) | १० |
| पडिलेहित्ता (२४। १४) | १०,४ |
| पडिसंजले (२।२४) | ४२ |
| पडिसंलीणे (११।१३) | १६ |
| पडिसंधए (२७। १) | ६ |
| पणवीसभावणाहिं (३१। १७) | ३१ |
| पणामए (२२। २०, १६।७६) | २३, ५५ |
| पणीयं (१६। सू० ६) | ६ |
| पण्णापरीसह (२।४०,४१) | ७२,७४ |
| पत्तिएण (१।४१) | ६५ |
| पत्तेगससीरा (३६। ६४) | १८ |
| पत्थं (१४।४८) | ४१ |
| पन्नवओ (७।१३) | २२ |
| पन्ने (१५।२) | १० |
| पबंधं (११।७) | ७ |
| पभावगे (२८। ३१) | २५ |
| पभीओ..अप्पणो (५।११) | १८ |
| पभूयमन्नं (१२।३५) | ३६ |
| पमाएणं (११।३) | ३ |
| पम्हा (३४। ३) | २ |
| पयणुवाई (३४। ३०) | १४ |
| पयाहिणं (२०।७) | ५ |
| परंदमे (७।६) | १० |
| परकेणं (३४। १४) | ८ |
| परगेहंसि वावडे (१७।१८) | २२ |
| परज्झा (४।१३) | ३५ |
| परपासंड (१७।१७) | २० |
| परमं (२।२६) | ४८ |
| परमंतेहिं (१८।३१) | २१ |
| परमट्ठपएहिं (२१। २१) | २७ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| परमाहम्मिएसु (३१।१२) | २१ |
| परलोगे (२२।१६) | २२ |
| परिग्गह (१६।२६) | २० |
| परिग्गहारंभनियत्तदोसा (१४।४१) | ३७ |
| परिजूरइ (१०।२१) | १४ |
| परितावेण (२।३६) | ६७ |
| परिदाहेण (२।८) | १२ |
| परिन्नाय (४।७) | १७ |
| परियागयं (५।२१) | ३२ |
| परिभोयंमि चउक्कं (२४।१२) | ७ |
| परियट्टणा (२६।२२) | २६ |
| परियायधम्मं (२१।११) | १३ |
| परिवाडीए न चिट्ठेज्जा (१।३२) | ५१ |
| परिवूढे (७।६) | ६ |
| परिहारविसुद्धीयं (२८।३२) | २६ |
| पलिउंचंति (२७।१३) | २० |
| पलियमसंखं (३४।४६) | २१ |
| पल्हत्थियं... (१।१६) | ३४ |
| पवयणं (२६।२४) | ३५ |
| पवाले (३६।७४) | १५ |
| पसन्ना (१।४६) | ६६ |
| पसीयंति (१।४६) | ६८ |
| पहं महालयं (१०।३२) | २१ |
| पहाणमग्गं (१४।३१) | २६ |
| पहाणवं (२१।२१) | २५ |
| पागारं (६।१८) | २२ |
| पाडिओ (१६।५४) | ३८ |
| पाढवं सरीरं (३।१३) | २२ |
| पाणं (१२।११) | २० |
| पाणी नो सुप्पसारए (२।२६) | ५५ |
| पायच्छित्तं (३०।३१) | ११ |
| पाली महापाली (१८।२८) | १७ |
| पावकम्मेहि (४।२) | ४ |
| पावगं परिवज्जए (१।१२) | २३ |
| पावसुयपसंगेसु (३१।१६) | ३५ |
| पाविओ (१६।५७) | ४२ |
| पावियाहिं दिट्ठीहिं (८।१७) | १४ |
| पास (४।२) | ५ |
| पासइ वज्झगं (२१।८) | ६ |
| पासंडा (२३।१६) | १६ |
| पासजाईपहे (६।२) | ४ |
| पासाएसु गिहेसु च (६।१७) | ११ |
| पासे (६।४, २३।१) | ६, १ |
| पिंडस्स पाणस्स (६।१४) | २६ |
| पिंडोलए... (५।२२) | ३४ |
| पिंडोग्गहपडिमासु (३१।६) | १२ |
| पियायए (६।६) | १३ |
| पिहुडं (२१।२) | ५ |
| पुच्छ भंते! (२३।२२) | १७ |
| पुज्जसत्थे (१।४७) | ७१ |
| पुढवीजीवा··· (३६।७१-७७) | १५ |
| पुण्णाइं (१३।२१) | १६ |
| पुरंदरे (११।२३) | ३३ |
| पुराणपुरभेयणी (२०।१८) | ११ |
| पुरिमताल्लम्मि (१३।२) | ३ |
| पुरिमस्स पच्छिमम्मी (२३।८७) | २६ |
| पुलए (३६।७६) | १५ |
| पुलागं (८।१२) | २० |
| पुव्वकम्मखयट्ठाए इमं... (६।१३) | २६ |
| पुव्वमेवं (४।६) | २२ |
| पुव्वसंजोगं (८।२) | २ |
| पुव्वाइं वासाइं (४।८) | २१ |
| पुव्वा वाससया बहू (३।१५) | २८ |
| पुव्विल्लम्मि···समुट्ठिए (२६।८) | २ |
| पूइदेह... (७।२६) | ३८ |
| पेज्जदोसमिच्छादंसण (२६।७२) | ७० |
| पेसलं (८।१६) | ३४ |
| पोएण ववहरंते (२१।२) | ४ |
| पोत्थं (२०।१६) | १० |
| पोरिसिं (२६।१२) | ६ |
| पोरिसी (२६।१३) | ७ |
| पोसहं (५।२३) | ३७ |
| पोसहरओ (६।४२) | ३७ |
| पोसेज्ज एलयं (७।१) | ४ |

**(फ)**

| | |
|---|---|
| फणग (२२।३०) | २७ |
| फरुसा (२।२५) | ४४ |
| फालिओ (१६।५४) | ३८ |
| फलिहे (३६।७५) | १५ |
| फासा फुसंती (४।११) | ३० |
| फिट्टई (२०।३०) | १८ |
| फोक्कनासे (१२।६) | ७ |

**(ब)**

| | |
|---|---|
| बंध (१६।३२) | २१ |
| बंधू (१८।१५) | ६ |
| बंभगुत्तीसु (३१।१०) | १५ |
| बंभणो (२५।३०) | २० |
| बंभम्मि (३१।१४) | २४ |
| बल... (६।४) | ६ |
| बलसिरी (१६।२) | २ |
| बहवे परिभस्सई (३।६) | १६ |
| बहिंविहार (१४।४) | ५ |
| बहिंविहारा (१४।१७) | १७ |
| बहिया उड्ढमादाय (६।१३) | २४ |
| बहु (८।१५) | २६ |
| बहुमए...मग्गदेसिए (१०।३१) | २० |
| बहुस्सुए (११।१५) | २३ |
| बहुहा बहुं च (१४।१०) | १२ |
| बहूणं बहुगुणे (६।६) | १५ |
| बारगाओ (२२।२२) | २५ |
| बालग्गवी (२७।१२) | १२ |
| बालग्गपोइयाओ (६।२४) | ३० |
| बालस्स...थीरस्स (७।२८,२६) | ४० |
| बावत्तरिं कलाओ (२१।६) | ७ |
| बावीसाए परीसहे (३१।१५) | २८ |
| बाहाहिं···संगोफं (२२।३५) | २६ |
| बुद्धपुत्त नियागट्ठी (१।७) | १७ |
| बुद्धे (११।१३) | १६ |
| बुद्धोवघाई न सिया (१।४०) | ६२ |
| बेइंदिया (३६।१२७) | २१ |
| बोहिलाभं (१७।१) | १ |
| बोही (८।१५) | २७ |
| बोक्कसो (३।४) | ८ |

**(भ)**

| | |
|---|---|
| भंडगं (२४।१३) | ६ |
| भंडयं (२६।८) | ३ |
| भंडवालो (२२।४५) | ३७ |
| भएसु (१६।१६) | ६१ |
| भगवं (२१।१०) | ११ |
| भत्तपच्चक्खाणेणं (२६।४१) | ५२ |
| भद्दा (२२।१७) | २१ |
| भयट्ठाणेसु सत्तसु (३१।६) | १३ |
| भयभेरवा (१५।१४) | २२ |
| भयवं (६।२) | ४ |
| भयवेराओ उवरए (६।१६) | १४ |
| भरहो...महाबलो (१८।३४-५०) | ३१ |
| भल्लीहिं (१६।५५) | ३६ |
| भारुंडपक्खी (४।६) | १४ |
| भावणाहि य सुद्धाहिं (१६।६४) | ६६ |
| भावसच्चेणं (२६।५१) | ६३ |
| भासं भासेज्ज (२४।६-१०) | ६ |
| भासइ पावगं (११।८) | ६ |
| भिक्खाए...कम्मई... (५।२२) | ३५ |
| भिक्खायरियं (३०।२५) | ७ |
| भिक्खुधम्मं (२।२६) | ४६ |
| भिक्खु धम्मम्मि··· (३१।१०) | १६ |
| भिक्खूणं पड़िमासु (३१।११) | १८ |
| भुंजंते मंससोणियं (२।११) | १६ |
| भुयमोयग (३६।१५) | १५ |
| भूइपन्ना (१२।३३) | ३८ |
| भूयग्गामं (५।८) | १४ |
| भूयगामेसु (३१।१२) | २० |
| भूयत्थ··· (२८।१७) | १६ |
| भेयं (१६।सू० ३) | ५ |
| भेयं देहस्स कंखए (५।३१) | ५२ |
| भोइ! (१४।३२) | २७ |
| भोइय (१५।६) | २० |
| भोगामिस (८।५) | ८ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| भोगा...विसफलोवमा (१६।११) | १२ |
| भोय···वण्हिणो (२२।४३) | ३४ |
| **म** | |
| मंतं (१५।८) | १७ |
| मंथु (८।१२) | २० |
| मंदरे गिरी (११।२६) | ३६ |
| मंदाय (४।१२) | ३१ |
| मंदिए मूढे (८।५) | १० |
| मंदिरं (६।१२) | १७ |
| मंसट्ठा (२२।१५) | १७ |
| मग्गं (२६।१७) | २४ |
| मग्गगामी (२५।२) | ४ |
| मणइच्छियचित्ततथो (३०।११) | ३ |
| मणगुत्तयाए (२६।५४) | ६४ |
| मणनाणं (२८।४) | ३ |
| मणसमाहारणयाए (२६।५७) | ६५ |
| मणसीकरे (२।२५) | ४६ |
| मणस्स भावं (३२।८७) | १६ |
| मणिरयण (१६।४) | ६ |
| मणुस्सदेव···सोग्गईओ (२६।५) | ७ |
| मद्दव (२६।५०) | ६२ |
| मम्मं (११।४) | ४ |
| मम्मयं (१।२५) | ४४ |
| मयंगतीरे (१३।६) | ४ |
| मयेसु (३१।१०) | १४ |
| मरणंतंमि सोयई (७।६) | १६ |
| मरिहिसि... (१४।४०) | ३१ |
| मलपंकपुव्वयं (१।४८) | ७५ |
| मलावधंसी (४।७) | १८,१६ |
| मसारगल्ले (३६।७५) | १५ |
| महया (१८।१८) | ८ |
| महाजयं (१२।४२) | ४६ |
| महाजसो (१२।२३) | ३० |
| महाणुभागो (१२।२३) | ३० |
| महानिज्जरे··· (२६।२०) | २८ |
| महापन्ने (५।१, २२।१५) | २, १८ |
| महापाणे (१८।२८) | १५ |
| महारंभ (७।६) | ८ |
| महारण्णम्मि (१६।७८) | ५४ |
| महासिणाणं (१२।४७) | ५२ |
| महासुक्का (३।१४) | २५ |
| महेसी (४।१०) | २६ |
| माणुसत्तं (३।१) | २ |
| माणुसत्तंमि...जो धम्मं... (३।११) | १७ |
| मा पमायए (४।१) | २ |
| मायानियाण···सल्लाणं (२६।६) | ६ |
| मासे मासे गवं दए (६।४०) | ३६ |
| माहण (६।६) | १० |
| माहण···विप्पो (२५।१) | १ |
| मिए (१।५) | १३ |

| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| मिउमद्दव (२७।१७) | २५,६१ |
| मिगचारियं (१६।८१) | ५७ |
| मिगे (३२।३७) | १४ |
| मिच्छा दंडो... (६।३०) | ३३ |
| मिय... (१६।७६) | ५२ |
| मियाइ पुत्तस्स (१६।६७) | ६७ |
| मियाण (११।२०) | २६ |
| मिहिलाए डज्झमाणीए (६।१४) | १६ |
| मुंडिणं (५।२१) | ३३ |
| मुणी (१२।१, २५।३०) | २, २० |
| मुणीण (१४।८) | ८ |
| मुण्डरुई (२०।४१) | २७ |
| मुसं...आहारिणिं (१।२४) | ४१ |
| मुसंढीहिं (१६।६१) | ४७ |
| मुहं (२५।११) | ११ |
| मुहपोत्तियं (२६।२३) | १५ |
| मुहरी (१।४) | ११ |
| मुहाजीवी (२५।२७) | १६ |
| मुहुत्तद्धं (३४।३४) | १५ |
| मुहुत्तहिया (३४।३४) | १६ |
| मेत्तिज्जमाणो वमइ (११।७) | ८ |
| मेयन्ने (१८।२३) | १२ |
| मेहावी (२।६) | १३ |
| मोणं (१४।७,१५।१) | ७,१ |
| मोह (३२।६) | ७ |
| मोहगयस्स (१६।७) | ११ |
| मोहगुणे (४।११) | २८ |
| मोहट्ठाणेसु (३१।१६) | ३६ |
| मोही भावणा (३६।२५६) | २७ |
| **र** | |
| रइं (१६।६) | १० |
| रई (५।५) | ६ |
| रक्खसीसु (८।१८) | ३२ |
| रक्खेज्ज (४।१२) | ३२ |
| रट्ठं (१८।२०) | ६ |
| ...रयणो (२०।२) | ३ |
| रसगारवे (२७।६) | १५ |
| रसट्ठाए (३५।१७) | ४ |
| रसविवज्जणं (३०।२६) | ८ |
| रसापगामं (३२।१०) | १० |
| राओवरयं चरेज्ज (१५।२) | ८ |
| रागद्दोस (१४।४२) | ३८ |
| रागो··· (२८।२०) | २१ |
| रायरिसिंमि (६।५) | ८ |
| रायलक्खणसंजुए (२२।१) | २ |
| रायवेट्ठिं (२७।१३) | २१ |
| राया रज्जं तु हारए (७।११) | २१ |
| रिट्ठग (३४।४) | ४ |
| रुइ (१८।३०) | १६ |

| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| रुई (२८।१६) | १७ |
| रुक्खमूले (३५।६) | २ |
| रूवाहिएसु सुरेसु (३१।१६) | ३० |
| रूविणो चेवरूवी (३६।४) | ५ |
| रोगपरीसह (२।३२) | ६० |
| रोगेण (११।३) | ३ |
| रोज्झो (१६।५६) | ४१ |
| **ल** | |
| लक्खणं (८।१३) | २१ |
| लक्खणस्सर··· (२२।५) | ३ |
| लज्जू (६।१६) | ३२ |
| लहुदक्खोववेया (१।१३) | २४ |
| लहुभूयविहारिणो (१४।४४) | ३६ |
| लाढे (२।१८) | २७ |
| लाभंतरे... (४।७) | १६ |
| लाभो...अलाभो... (२।३०,३१) | ५७,५८ |
| लुंचई केसे (२२।३०) | २८ |
| लुप्पंति बहुसो मूढा (६।१) | ३ |
| लूहं (२।६) | १० |
| लेसज्झयणं··· (३४।१) | १ |
| लेसाणं···परिणामो (३४।२०) | ६ |
| लेसासु (३१।८) | १० |
| लोगं पि एसो... (१२।२८) | ३४ |
| लोमहरिसं (५।३१) | ५१ |
| लोमहारे (६।२८) | ३२ |
| लोलयासढे (७।१७) | २७ |
| लोहियक्ख (३६।७५) | १५ |
| **व** | |
| व (१३।३१) | २२ |
| वइगुत्तयाए (२६।५५) | ६४ |
| वइदेही (६।६१) | ५० |
| वइर (३६।७३) | १५ |
| वइरवालुए (१६।५०) | ३५ |
| वइसमाहारणयाए (२६।५८) | ६६ |
| वएसु (३१।७) | ८ |
| वंकजडा (२३।२६) | १८ |
| वंजणलद्धिं (२६।२२) | ३१ |
| वंतं···आवेउं (२२।४२) | ३३ |
| वंदणएणं···णिबंधइ (२६।११) | १६ |
| वच्छल्ल (२८।३१) | २५ |
| वज्जभीरू (३४।२८) | १३ |
| वज्जरिसहसंघयणो (२२।६) | ५ |
| वज्झमंडणसोभागं (२१।८) | ८ |
| वणचारिणो (३६।२०५) | २४ |
| वण्ण···बहुमाणयाए (२६।५) | ६ |
| वणस्सईजीवा (३६।६२) | १८ |
| वण्हिपुंगवो (२२।१३) | १४ |
| वत्थ पडिलेहा (२६।२४-२८) | १८ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| वत्थुं (३।१७) | २६ |
| वद्धमाणगिहाणि (६।२४) | २६ |
| वयणप्पभूया (१३।१२) | ७ |
| वरं मे... (१।१६) | ३० |
| वरिससओवमे (१८।२८) | १६ |
| वल्लराणि (१६।८०) | ५६ |
| वह (१६।३२) | २१ |
| वहपरीसहे (२।२६,२७) | ५१,५२ |
| वहमूलिया (७।१७) | २६ |
| वाउजीवा (३६।११७) | २० |
| वाडेहिं पंजरेहिं (२२।१४-२२) | १५ |
| वाणमंतरा (३६।२०४) | २४ |
| वायणाए (२६।२०) | २६ |
| वारि जलुत्तमं (२३।५१) | २५ |
| वारेज्जा (२।११) | १७ |
| वासिट्ठि! (१४।२६) | २३ |
| वासीचंदणकप्पो (१६।६२) | ६२ |
| वाहिन्तो (१।१६) | ३५ |
| वाहीरोगाण (१६।१४) | १४ |
| विउला सिक्खा (७।२१) | २६ |
| विउले देहे आएसं परिकंखए (७।२) | ५ |
| विउस्सग्गो (३०।३६) | १६ |
| विंधइ (२७।४) | १० |
| विकोविए (२१।२) | ३ |
| विगईओ (१७।१५) | १७ |
| विगयभया (१।२६) | ४८ |
| विगलिंदियया (१०।१७) | १० |
| विगहा (३१।६) | ५ |
| विगिंच (३।१३) | २१ |
| विगिट्ठं तवं (३६।२५४) | २६ |
| विचित्तं तवं (३६।२५२) | २६ |
| विज्जा (१८।३१) | २२ |
| विज्जाणुसासणं (६।१०) | २० |
| विज्जुसोयामणिप्पभा (२२।७) | ७ |
| विणओ (३०।३२) | १२ |
| विणओ... (१७।१) | २ |
| विणयं (१।१,१८।२३) | १३ |
| विणयजुत्तस्स (१।२३) | ३६ |
| विणियट्टणयाए (२६।३३) | ४४ |
| वितिगिच्छा (१६।सू० ३) | ५ |
| वित्तेण ताणं... (४।५) | ८ |
| विप्परियासुवेइ (२०।४६) | ३४ |
| विप्पसण्णं (५।१८) | २८ |
| विप्पसीएज्ज (५।३०) | ४६ |
| विप्पा···दिया (२५।७,८) | ७ |
| विभाहाइं (५।२६) | ४२ |
| वियडस्सेसणं (२।४) | ४ |
| वियारे (३२।१०४) | १८ |
| विरई अबंभचेरस्स (१६।२८) | १८ |
| विरओ (२।४२) | ७५ |
| विव (१६।५७) | ४३ |
| विवित्तलयणाइ (२१।२२) | २६ |
| विवित्तसयणासणं (३०।२८) | १०,४१ |
| विवित्ताहारे (२६।३२) | ४२ |
| विवेगमेउं (४।१०) | २५ |
| विसओववन्नो (२०।४४) | ३२ |
| विसभक्खीणि (२३।४५) | २४ |
| विसमसीला (४।१६) | ३० |
| विसारए (२७।१) | ४ |
| विसालिसेहिं... (३।१४) | २६ |
| विसूइया (१०।२७) | १८ |
| विसोहिया (१०।३२) | २२ |
| विस्संभिया (३।२) | ६ |
| विहम्ममाणो (२७।३) | ८ |
| विहारं (१४।७, २६।३५) | ६, २३ |
| वीयरागयाए (२६।४६) | ५७ |
| वीरजायं (२०।४०) | २५ |
| वुक्कसं (८।१२) | २० |
| वुग्गहे कलहे (१७।१२) | १४ |
| वुच्छामु (१३।१६) | १२ |
| वुसीमओ (५।१८) | २७ |
| वेमायाहिं सिक्खाहिं (७।२०) | २८ |
| वेयणिज्जे···ठिई (३३।१६-२०) | ८ |
| वेयणीयं (३३।७) | १ |
| वेयविया ऽयरक्खिए (१५।२) | ६ |
| वेयावच्चं (२६।४४) | ५५,१३ |
| वेयावडिय (१२।२४) | ३१ |
| वेराणुबद्धा (४।२) | ६ |
| वेरुलिए (३६।७६) | १५ |
| वेसं (१।२८) | ४७ |
| वेसालिए (६।१७) | ३७ |
| वोच्चत्थे (८।५) | ६ |
| वोछिंद सिणेहमप्पणो (१०।२८) | १६ |
| वोदाणेणं (२६।२६) | ३८ |
| वोसट्ठकाओ (१२।४२) | ४५ |

## स

| | |
|---|---|
| संकरदूसं परिहरिय (१२।६) | १० |
| संका (१६।सू० ३) | ५ |
| संखचक्कगया (११।२१) | ३० |
| संखया (४।१३) | ३३ |
| संग (१८।५३) | ३४ |
| संगहेण य थावरे (२५।२२) | १८ |
| संगो...इत्थिओ (२।१६) | २४ |
| संघाडि (५।२१) | ३३ |
| संघायणिज्जे (२६।६०) | ६७ |
| संचिक्ख (२।३३) | ६१ |
| संजमबहुले (१६।सू० १) | ४ |
| संजले (२।२६) | ४७ |
| संजोगा विप्पमुक्कस्स... (१।१) | १ |
| संतत्तभावं परितप्पमाणं (१४।१०) | ११ |
| संतरुत्तरो (२३।१३) | ११ |
| संतितित्थे (१२।४५) | ४८ |
| संतिमग्गं (१०।३६) | २७ |
| संथवं (१५।१) | ५ |
| संथवे (२१।२१) | २४ |
| संथारए अणाउत्ते (१७।१४) | १६ |
| संधिमुहे (४।३) | ७ |
| संधीसु (१।२६) | ४५ |
| संपन्ने (१।२) | ६ |
| संभोगपच्चक्खाणेणं (२६।३४) | ४५ |
| संमुच्छिमा य मणुया (३६।१६५) | २२ |
| संलिहे मुणी (३६।२५०) | २५ |
| संलेहणा (३०।१२,१३) | ४ |
| संविग्गो (२१।६) | १० |
| संवरबहुले (१६।सू० १) | ४ |
| संवेगेणं···निव्वेएणं (२६।२-३) | १ |
| संवुडे (१।३५) | ५६ |
| संसारचक्कस्स (१४।४) | ४ |
| सकवाडं (३५।४) | १ |
| सकम्मसेसेण (१४।२) | २ |
| सकाममरणं (५।२,३) | ४,५ |
| सक्कार पुरस्कार (२।३८) | ६६ |
| सच्चरए (११।५) | ५ |
| सच्चसोय... (१३।६) | ५ |
| सज्झाएणं (२६।१६) | २६ |
| सज्झाओ पंचहा (३०।३४) | १४ |
| सट्ठिहायणे (११।१८) | २७ |
| सढे (५।६) | १५ |
| सद्द (२८।१२) | १२ |
| सद्धा (३।१,६) | ४,१४ |
| सन्नाणं (३१।६) | ६ |
| सन्निरुद्धंमि आउए (७।२४) | ३३ |
| सन्निहिं च न...लेवमायाए (६।१५) | ३० |
| सपेहाए (६।४) | ८ |
| सब्भावपच्चक्खाणेणं (२६।४२) | ५३ |
| समचउरंसो (२२।६) | ६ |
| समणं (२।२७) | ५० |
| समण···मुणी (२५।३०) | २० |
| समणो बंभणो··· (२५।३०) | २० |
| समणो संजओ बंभयारी (१२।६) | १४ |
| समयं (१।३५) | ५७ |
| समयखेत्तिए (३६।७) | ८ |
| समरेव (२।१०) | १४ |
| समरेसु (१।२६) | ४५ |
| समागओ (२७।१५) | २२ |
| समाहिजोएहिं (८।१४) | २३ |
| समाहिबहुले (१६।सू० १) | ४ |
| समिए (८।६) | १६ |
| समिद्धा (५।२७) | ४३ |
| समियदंसणे (६।४) | ७ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| शब्द आदि | टि० संख्या |
|---|---|
| समुच्छिन्नकिरियं (२६।७३) | ७२ |
| समुद्दगंभीरसमा (११।३१) | ४० |
| सम्मत्तांगानि (२८।३१) | २५ |
| सयंगणे (७।१) | ३ |
| सरई पोराणियं जाइं (६।१) | ३ |
| सरिसो होइ बालाणं (२।२४) | ४३ |
| सरीरपच्चक्खाणेणं (२६।४०) | ५० |
| सरीरस्स भेए (४।६) | २४ |
| सलिला (११।२८) | ३८ |
| सल्लं कामा... (६।५३) | ४६ |
| सल्ल (१६।६१) | ६१ |
| सल्लाणं (३१।४) | ३ |
| सव्वं नट्टं विडंबियं (१३।१६) | ११ |
| सव्वं विलवियं गीयं (१३।१६) | ११ |
| सव्वं सव्वेण बद्धगं (३३।१८) | ७ |
| सव्वं से...किंचि अजाइयं (२।२८) | ५३ |
| सव्वकम्मविनिमुक्कं (२५।३२) | २२ |
| सव्वकामियं (२५।७,८) | ६ |
| सव्वगुणसंपन्नयाए (२६।४५) | ५६ |
| सव्वट्ठेसु... (३।५) | ६ |
| सव्वत्था (१८।३०) | २० |
| सव्वदिसं (६।१२) | २३ |
| सव्वधम्माणुवत्तिणो (७।२६) | ४० |
| सव्वबले (१०।२६) | १६ |
| सव्वभवेसु अस्साया (१६।७४) | ५० |
| सव्वभावविभावणं (२६।३६) | २४ |
| सव्वे आभरणा भारा (१३।१६) | ११ |
| सव्वे ते दुक्खसंभवा (६।१) | २ |
| सव्वोसहीहि (२२।६) | ६ |
| ससंकप्पविकप्पणासो (३२।१०७) | १६ |
| सहसंबुद्धो (६।२) | ५ |
| सहसम्मुइ... (२८।१७) | १८ |
| सहसावत्तासियाणि (१६।६) | १० |
| सहस्सं (७।११) | २० |
| सहस्सक्खे (११।२३) | ३२ |
| सहायपच्चक्खाणेणं (२६।४०) | ५१ |
| सहिए (१५।१) | २ |
| सागरंतं (१८।३५) | २५ |
| सामाइएणं विरइं (२६।६) | १४ |
| सामाइयत्थ (२८।३२) | २६ |
| सामाइयाणं कोट्ठागारे (११।२६) | ३६ |
| सामुद्दाणियं (१७।१६) | २३ |
| सामायारी (२६।१-७) | १ |
| सायं नो परिदेवए (२।३६) | ६८ |
| सासए (१६।१७) | १४ |
| सासयं (६।२६) | ३१ |
| सासयवाइयाणं (४।६) | २३ |
| सासणे विगय... (१४।५२) | ४४ |
| सारहिं (२२।१५) | १६ |
| सायागारविए (२७।६) | १५ |
| सिंबलिपायवे (१६।५२) | ३७ |
| सिक्खा (११।३) | ३ |
| सिक्खासीले (११।४) | ४ |
| सारही (२७।१५) | २३ |
| सावए (२१।१) | २ |
| साहसिओ (२३।५५) | २६ |
| साहारणसरीरा (३६।६३) | १८ |
| सिणाणं (१५।८) | १६ |
| सिद्धाइगुण (३१।२०) | ३७ |
| सिद्धाणं नमो...भावओ (२०।१) | १ |
| सिद्धाण संथव (२६।५१) | २८ |
| सिद्धा णेगविहा (३६।४८) | १२ |
| सिद्धिं सोग्गइं (२६।५) | ८ |
| सिरसा सिरं (१८।५०) | ३० |
| सिवं (२३।८०) | २८ |
| सिसुणागु व्व... (५।१०) | १६ |
| सीएण फरुसेण (१।२७) | ४६ |
| सीओदगं (२।४) | ७ |
| सीयं (२।६) | ११ |
| सीया नीलवंतपवहा (११।२८) | ३८ |
| सीयारयणं (२२।२२) | २४ |
| सीलं (१।५) | १४ |
| सीलगुणोववेया (१३।१२) | ७ |
| सीलड्ढं (१६।५) | ६ |
| सीलवंता सवीसेसा (७।२१) | ३० |
| सुइचत्तदेहो (१२।४२) | ४५ |
| सुई (३।१) | ३ |
| सुकडं (२।१६) | २५ |
| सुकडे त्ति... (१।३६) | ५८ |
| सुक्कलेसाए (३४।४६) | १८,१६ |
| सुणियाऽभावं (१।६) | १६ |
| सुत्तं अत्थं... (१।२३) | ४० |
| सुत्तत्थ तदुभयाइं (२६।२१) | २६ |
| सुत्तेसु (४।६) | ११ |
| सुदिट्ठं (१२।३८) | ४४ |
| सुपिवासिए (२।५) | ६ |
| सुपेसलाइं (१२।१३) | २३ |
| सुमज्जिओ (१६।३४) | २५ |
| सुयक्खायधम्मस्स (६।४४) | ४० |
| सुयनाणं (२८।४) | ३ |
| सुयणू (२२।३७) | ३० |
| सुयमहिट्ठेज्जा (११।३२) | ४४ |
| सुयस्स आराहणाए (२६।२५) | ३६ |
| सुयस्स पुण्णा विउलस्स (११।३१) | ४२ |
| सुया (१२।४३) | ४७ |
| सुविणं (८।१३) | २१ |
| सुविणीयसंसए (१।४७) | ७२ |
| सुसंभिया (१४।३१) | २४ |
| सुसंवुडो (१२।४२) | ४५ |
| सुसमाहिया (२३।६) | ५ |
| सुसाणे (३५।६) | २ |
| सुसाणे...रुक्खमूले (२।२०) | ३४ |
| सुहमेहए (६।३५) | ३४ |
| सुहसाएणं (२६।३०) | ३६ |
| सुहुमं तह संपरायं (२८।३२) | २६ |
| सुहोइए (२१।५) | ६ |
| सूरकंते (३६।७६) | १५ |
| सूरो (२।१०) | १५ |
| सेओ (१८।४८) | २६ |
| सेओ अगारवासु त्ति (२।३६) | ५६ |
| सेज्जापरीसहे (२।२३) | ४१ |
| सेयाले (२६।७२) | ७० |
| सेलेसिं (२६।६२) | ६७ |
| सेल्लिं (२७।७) | १४ |
| सेसावसेसं (१२।१०) | १८ |
| सोगंधिए (३६।७६) | १५ |
| सोरियपुरम्मि (२२।१) | १ |
| सोवागकुल (१२।१) | १ |
| सोवीर (१५।१३) | २१ |
| सोहिं बहिया (१२।३८) | ४१ |
| सोही उज्जुयभूयस्स (३।१२) | १८ |

## ह

| | |
|---|---|
| हंसगब्भ (३६।७६) | १५ |
| हट्ठतुट्ठ (१८।१६) | ७ |
| हिणाइ वेयाल (२०।४४) | ३१ |
| हढो (२२।४४) | ३६ |
| हत्थागया... (५।६) | ११ |
| हत्थिणपुरम्मि (१३।१) | १ |
| हरा (१४।१५) | १६ |
| हरिएसबलो (१२।१) | ३ |
| हिच्चा (७।८) | १४ |
| हियनिस्सेसाए (८।३) | ४ |
| हियमप्पणो (१।६) | १५ |
| हिरण्णं सुवण्णं (६।४६) | ४२ |
| हिरिमं (११।१३) | १६ |
| हुयासणे (१६।४६) | ३४ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ८

# शब्द–विशेष


| शब्द | अ. टि० |
|---|---|
| अंग | १५।१६ |
| अंगविद्या | ८।२१ |
| अंतक्रिया | २६।२१ |
| अंतरकाल | ३६।१६ |
| अंतराय कर्म | ३३।५ |
| अंधक | २२।१४ |
| अंधकार | २८।१३ |
| अंशधर | १३।१७ |
| अकर्मभूमिज | ३६।२३ |
| अकलेवरश्रेणि (क्षपकश्रेणि) | १०।२६ |
| अकामकाम | १५।६ |
| अकाममरण | ५।४ |
| अकिंचनता | २६।५६ |
| अकुल्कुच | २।३३ |
| अक्रियावाद | १८।१३ |
| –आठ प्रकार | १८।२४ |
| अक्ष | ५।२३ |
| अगंधन सर्प | २२।३५ |
| अगार | २।४५ |
| अगारधर्म | २६।४ |
| अग्निकाय | ३६।१६ |
| अचपल | ११।१३ |
| अचेलक | २।२०, २३।१० |
| अजीव–देश | ३६।३ |
| अज्ञातैषी | २।७० |
| अज्ञान : मोह | ३२।२ |
| अज्ञानवाद | १८।१३ |
| अट्टालक | ६।२३ |
| अतर | ८।१३ |
| अधोमालापहृत | १।५४ |
| अरुझा | ३४।१७ |
| अध्यवसान | १६।१० |
| अध्यात्म | ६।१२ |
| अध्यात्म ध्यान–योग | १६।६५ |
| अध्वासमय | ३६।७ |
| अनंतघातिपर्यव | २६।१२ |
| अनगारगुण | ३१।३३ |
| अनगार–मार्ग–गति | ३५ का आमुख |
| अनशन | ३०।४ |
| –सविचार | ३०।४ |
| –अविचार | ३०।४ |
| –निर्हारि | ३०।४ |
| –अनिर्हारि | ३०।४ |
| –सपरिकर्म | ३०।४ |
| –अपरिकर्म | ३०।४ |
| –अधिकारी | ३०।४ |
| अनुत्कषायी | २।७०, १५।२८ |
| अनुत्तर | १३।२४ |
| अनुप्रेक्षा | २६।३२ |
| अन्तःशल्यमरण | ५ का आमुख |
| अन्तरिक्ष (निमित्त) | १५।१६ |
| अन्त्यकाश्यप | २५।१३ |
| अन्तर्द्वीपज | ३६।२३ |
| अपरिकर्मयोग | ३०।६ |
| अप्काय | ३६।१७ |
| अप्रतिबद्ध | २६।४० |
| अमोघा | १८।२० |
| अरण्यवासी | १४।६ |
| अरति | २।२३ |
| अरति (रोग) | १०।१७ |
| अरिष्टनेमि | २२ गा० ४ |
| अरूपी–रूपी | ३६।५ |
| अर्थ | १२।३७ |
| अर्थधर्मगति | २०।२ |
| अर्थपद | १०।२८ |
| अल्पेच्छ | २।७० |
| अवग्रह–प्रतिमा | ३१।१२ |
| अवधारिणी | १।४१ |
| अवधिमरण | ५ का आमुख |
| अवमचरक | ३० गा० २४ |
| अवमौदर्य | ३०।५ |
| अविद्यावान् | ६।१ |
| अविहेटक | १५।२६ |
| असंबुद्ध | १।८ |
| असंयम | ३१।२३ |
| असंविभागी | १७।१२ |
| असंस्कृत | ४ का आमुख |
| असत् | १४।१८ |
| असत्य भाषण दोष | १।४१ |
| असमाधि–स्थान | ३१।२६ |
| असमान | १२।३० |
| अस्पृशद्गति | २६।७२ |
| अहिंसा (दया) | १८।२६ |
| आएस | ७।१ |
| आकाशगंगा | १६।२६ |
| आकीर्ण (श्रेष्ठ अश्व) | ११।२५ |
| आचार–प्रकल्प | ३१।३४ |
| आचार–भंडक | २६।२२ |
| आचार्य आषाढ | २।८२ |
| आज्ञा | २८।२२ |
| आज्ञानिर्देशकर | २१।३ |
| आतंक | ५।१७ |
| आत्म–गवेषक | १५।१५ |
| आत्मगुप्त | १५।१२ |
| आत्म–प्रश्नहा | १७।१३ |
| आत्मप्रसन्नलेश्य | १२।४६ |
| आत्मरक्षक | १५।६ |
| आत्मावगाहन | ३३।७ |
| आत्यन्तिकमरण | ५ का आमुख |
| आदान | ६।२५, १३।१४ |
| आदिकाश्यप | २५।१३ |
| आभरण | १३।११ |
| आभियोगी भावना | ३६।२७ |
| आभोग | ६।३२ |
| आयतार्थिक | २६।४६ |
| आयुष्मन् | १६।१ |
| आरंभ | १३।२३ |
| आर्जव | २६।६० |
| आर्य | ८।१५ |
| आर्यत्व | १०।८ |
| आर्यवचन | २५।१५ |
| आलकंदक | ३६।१५ |
| आवीचिमरण | ५ का आमुख |
| आशातना | ३१।३६ |
| आशीविष | ६।४६ |
| आशीविषलब्धि | १२।३२ |
| आसन | १७।६ |
| आसनयोग | ३०।६ |
| आसुरी भावना | ३६।२७ |
| आसुरीय दिशा | ७।१८ |
| आहार–प्रत्याख्यान | २६।४८ |
| इंगित–आकार | १।५ |
| इंगिनी | ३०।४ |
| इंगिनीमरण | ५ का आमुख |
| इंद्रनील | ३६।१५ |
| इत्वरिक | १०।३, ३०।१२ |
| इषुकारीय | १४ का आमुख |
| ईर्यापथ | ६।२७ |
| ईषत्–प्राग्भारा | ३६।१४ |
| उग्र | १५।२० |
| उग्रतपस्वी | १२।३३ |
| उग्रसेन | २२।८ |
| उत्कटुक | १।३८ |
| उत्तमार्थ | २०।३७ |
| उत्तरगुण | २६।५ |
| उद्देशक | ३१।३२ |
| उपकरण | १२।४, २४।६ |
| उपधान | २।७७ |
| उपधि | १२।४, १६।६० |
| उपधि–प्रत्याख्यान | २६।४७ |
| उपसर्ग | ३१।४ |
| उपाय | २३।२३ |
| उपाश्रय | २।३६ |
| उपासक प्रतिमा | ३१।१७ |
| उपासना–फल | २६।३८ |
| उपेक्षा | २।१८ |
| उपोसथ | ५।३७ |
| उरभ्रीय | ७ का आमुख |
| उराल | ५।२३ |
| उस्सूलग | ६।२४ |
| ऊर्ध्वमालापहृत | १।५४ |
| ऋजुकृत | १५।३ |
| ऋजुजड | २३।१८ |
| ऋजुप्रज्ञ | २३।१९ |
| ऋद्धि | २।८१ |
| एकपाक्षिक | १२।१६ |


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकलविहार ३२।६
एकांतदृष्टि ६।२७
एकांतरत २६।४३
एकाग्रमन २६।३७
एषणा ३०।७
ओघ उपधि २४।८
औपग्रहिक उपधि २४।८
कंटकापथ १०।२१
कंथक ११।२५
कंदुकुंभी १६।३३
कणकुंडग १।१२
कदलीघातमरण ५ का आमुख
कम्मार १६।४८
करकंडु १८।२८
करणगुणश्रेणि २६।१०
करणसत्य २६।६३
कर्मग्रन्थिविमोचन २६।७०
कर्मणा जाति २५ गा० ३१
कर्म-परमाणु ३३।६
कर्मप्रकृति ३३ का आमुख
कर्मभूमिज ३६।२३
कर्मलेश्या ३४ का आमुख
कर्म-संपदा १।७३
कर्मसत्य ७।२८
कलह-डमर ११।१६
कलि ५।२४
कल्प ६।६
कषाय-प्रत्याख्यान २६।४६
कांक्षा मोहनीय २६।३०
काकजंघा २।४
काकिणी ७।१६
कानन उद्यान १६।१
कान्दर्पी भावना ३६।२७
कापिलीय ८ का आमुख
कापोतीवृत्ति १६।२२
कामकम १४।४०
कामगृद्ध ५।६
कामनिवृत्त ७।३६
कामभोग ५।७
कामरूप ३।२७
कामस्कंध ३।२६
कायक्लेश ३०।६
कायगुप्ति २४।१२
कायसमाधारणा २७।६६
कायस्थिति १०।६, ३६।१६
कायोत्सर्ग २६।१८, ३०।१६
कार्षापण ७।२०
काल २८।१०
काल-प्रतिलेखना २६।२३
कालिंजर नग १३।४
कालीपर्व २ गा० ३
काले कालं १।५०
काश्यप २५।१३
किंपाक फल १६।१५
किल्विषिकी भावना ३६।२७
कुटुंबसार १४।२८
कुतीर्थिक १०।१२
कुप्रवचन २३।२७
कुमारश्रमण केशी २३ का आ०
कुल्माष ८।२०
कुशतृण २३।१४
कुशल १२।४३
कुशील वेश २०।३०
कुहेटविद्या २०।३३
कूटशाल्मली २०।२२
कृत ५।२२
कृत्य १।३२
कृष्णलेश्या ३४।२०
केवलिमरण ५ का आमुख
केशर (उद्यान) १८ गा० ३
केशलोच १६।२३
केशी-गौतमीय २३ का आमुख
कोटिसहित तप ३६।२६
कोत्थलो १६।२६
कोलशुनक १६।३६
कोविदात्मा १५।२५
कोहं असच्चं १।२७
कौतुक-मंगल २२।१०
कौत्कुच्य ३६।२७
क्रिया ३१।६, १६
क्रियावाद १८।१२
क्रीडा १।१६
क्लेश ५।१२
क्षत्रिय ३।८,६
क्षमा १६।२५
क्षान्ति २६।५८
क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय ६ का आमुख
क्षेत्रावगाहन ३६।६
खलुंक २७।७
खलुंकीय २६ का आमुख
खेदानुगत १५।२४
गंथन सर्प २२।३५
गंधहस्ती २२।१२
गंधहस्ती (आचार्य) २४।१३
गंधहस्ती सेचनक १।३०
गणना ३६।१०
गति २६।७२
गमनयोग २४।५, ३०।६
गर्गगोत्रीय २७।१
गलीगर्दभ २७।२४
गाणंगणिक १७।२१
गाथा-षोडशक ३१।२२
गीत १३।११
गुण २८।५
गुप्ति (परिणाम) २६।६६
गुरुकुल ११।२०
गृद्धपृष्ठमरण ५ का आमुख
गृहस्थ सामायिक ५।३६
गृहिसुव्रत ७।२८
गोचराग्र २।५४, ३०।७
गोत्रकर्म ३३।४
गोपुर ६।२३
गोमेदक ३६।१५
गौरव १६।६१
ग्रन्थिभेद (गिरहकट) ६।३२
ग्रामकंटक २।४४
घोरपराक्रम १२।३०, १४।४३
घोरमुहूर्त्त १६।१३
घोरव्रत १२।३०
घोराश्रम ६।३८
चंडाल ३।८
चंपा २१।१
चतुरंगीय ३ का आमुख
चन्द्रशाला ६।३०
चपेटा १।६०
चरणविधि ३१ गा० १
चर्या २।३२
चांडालिक १।२०
चातुरंत ११।३१
चातुर्याम धर्म २३।८
चार दृष्टियां ३६।४
चारित्र-पांच प्रकार २८।२६
चारित्र-संपन्नता २७।६७
चिकित्सा २।६२
चित्र १४ का आमुख
चित्रसंभूतीय १३ का आमुख
चैत्यवृक्ष ६।१४
चोल्लक ३।२
चौदह रत्न ११।३१
छद्म २।७६
छद्मस्थ मरण ५ का आमुख
छविपर्व ५।३८
छात्र १२।२८
छाया २८।१४
छिन्न (विद्या) १५।१६
जलकान्त ३६।१५
जातस्कंध ११।२८
जातिपथ ६।४
जातिविशेष १२।४०
जातिस्मृति १६
जीव-लक्षण २८।११
जीवाजीवविभक्ति ३६ का आ०
ज्ञातपुत्र ६।३६
ज्ञाता-अध्ययन ३१।२५
ज्ञानपंचक २८।३
ज्ञान-संपन्नता २७।६७
ज्येष्ठा-मूल (नक्षत्र) २६।११
ज्योतिषांगविद् २५।८
ढंक १६।४४
तत्प्रत्ययिक २७।३८
तद्भवमरण ५ का आमुख
तथ्य (तत्त्व) २८।१६
तप (बाह्य-आभ्यन्तर) ३०।१
तपोमार्ग गति ३० का आ०
तमंतम १४।१३
तालपुट (विष) १६।१२
तिन्दुक १२।१३
तिन्दुक २३ गा० ४
तीर्थकरपद २६।५५
तीर्थधर्म २६।२७
तृणस्पर्श २।६३
तोत्र १६।४०
त्यक्तमोह १२।४५
त्रायी ८।७
त्रेता ५।२४
दंड ३१।१
दंडविद्या १५।१६
दमन १।२६
दमीश्वर १६।४
दयाधर्म ५।४७
दयानुकम्पी २१।१४
दर्शन (परीषह) २।८२
दर्शन-विशोधि २६।१५
दर्शन-संपन्नता २७।६७
दशांग ३।२६
दशार्ण १३।४
दसारचक्र २२।१३
दस्यु १०।८


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दास ३।२६, ८।३३
दास-पौरुष ३।२६
दिगिंछा २।२
दुक्ख २।५६
दुराशय १।२५
दुःशील १।१०
दृप्तरूप १२।६
देव ३१।३०
देवकी २२ गा० २
देवगंधर्व १।७५
दोगुंछी २।६, ६।१६
दोगुंदग १६।५
दोस (कर्मरज) १२।५०
दोष-प्रदोष ८।३
द्रव्य २८।४
द्रुमपत्रक १० का आमुख
द्वापर ५।२४
द्वारका २२।२५
द्विज १४।१०
द्विमुख १८।२८
द्वैध-राज्य २२ का आमुख
धर्म-अधर्म (अस्तिकाय) २८।७
धर्मलब्ध १६।११
धर्मश्रद्धा २६।२
धर्मार्जित १।६६
धुतकर्मांश ३।३१
धुतांग ३५।२
धुरी ५।२३
धूमनेत्र १५।१८
धूर्त ५।२५
धृति २।८२
धृतिमान् १६।१३
ध्यान १।२१, ३०।१५
-चार प्रकार ३०।१५
ध्रुव १६।१४
ध्रुवगोचर १६।५६
नंदिघोष ११।२६
नक्षत्र ११।३५
नग्गति १८।२८
नग्न ५।३३
नमि १८।२८
नमि-प्रव्रज्या ६ का आमुख
नाट्य १३।१०
नाथ २०।६
नारकीय वेदना १६।३२
निगम २।२८
नित्य १६।४
निदान १३।२
निदानछिन्न १५।४
निद्रामोक्ष २६।१२
निरंगण २१।३०
नियम २०।२६
निरामिष १४।३६
निर्वाण ३।१६
निर्वाणगुण १६।६६
निर्वेद २६।१
निशांत १।१८
निषधा २।३६
निष्कामजीवी २५।१६
निष्प्रतिकर्मता १६।५१
नीनवंतप्रवहा ११।३८
नैर्यातृक ३।१५
पंचकुशील १७।२४
पंचशिक्षात्मक धर्म २३।८
पंडितमरण ५ का आमुख
पक्षपिंड १।३४
पट्टिस १६।३६
पथ्य १४।४१
पनकमृत्तिका ३६।१५
परकोटा ६।२२
परमाधामिक ३१।२१
परमार्थ-पद २१।२७
परिग्रह १३।२३
परिदाह २।१२
परिपाटी (पंक्ति) १।५१
परिभोगैषणा २४।७
परिष्ठापन २४।११
परिषह-प्रविभक्ति २६।४१
पर्याय २८।६,१५
पर्याय-आगत ५।३२
पर्यायधर्म २१।१३
पल्हत्थिका १।३४
पात्र-उपकरण २६।१५
पादपोपगमनमरण ५ का आ०
पादोपगमनमरण ५ का आ०
पाप-परिक्षेपी ११।१७
पाप-श्रमणीय १७ का आ०
प्रणीत १६।६
पापश्रुत-प्रसंग ३१।३५
पार्थिव शरीर ३।२२
पार्श्व २३ गा० १
पार्श्वपत्यीय २३ का आ०
पालित २१ का आमुख
पाली १८।१७
पाशक ३।२
पाषंड २३।१६
पिंडोलक ५।३४
पिहुंड २१।५
पुक्कस ३।८
पुण्यक्षेत्र १२।२३
पुलक (मणि) ३६।१५
पुल्कस ३।८
पुष्कस ३।८
पूज्यशास्त्र १।७१
पूतिकर्णी १।६
पूतिदेह ७।३८
पूर्वजन्म की स्मृति ६।३
पृथ्वीकाय ३६।१५
पोत-व्यापार २१।४
पोषध ५।३७
पौरुष २६।६
प्रज्ञा २।७२
प्रज्ञावान् ७।२२
प्रतिच्छन्न १।५६
प्रतिक्रमण २६।१७
प्रतिबुद्धजीवी ४।१२
प्रतिमा २।७८
प्रतिरूपज्ञ २३।१२
प्रतिरूपता २६।५४
प्रतिलेखना २६।४
-दोष २६ गा० २६
-काल २६।४
-अंग २६।१८
प्रतिलेखनीय २६।४
प्रतिसंलीनता ३०।१०
प्रत्यनीक १।८
प्रत्युपन्नपरायण ७।१५
प्रत्येकबुद्ध ८ का आमुख
प्रदक्षिणा २०।५
प्रदेशाग्र ३३।६
प्रधानमार्ग १४।२६
प्रधानवान् २१।२५
प्रमादस्थान ३२ का आ०
प्रवचन माता २४।१
प्रवाल ३६।१५
प्राणी ३१।२०
प्रान्त ८।२०
प्रान्त्य १२।४
प्रायश्चित्त २६।१३, ३०।११
प्रायोपगमन ५ का आ०, ३०।४
प्रासाद १३।८
प्रासुक १।५४
फोक्कनास १२।७
बल (सेना) ६।६
बलश्री १६।२
बहत्तर कला २१।७
बहिर्विहार १४।५
बहुश्रुत ११।२३
बहुश्रुतपूजा ११ का आ०
बालपंडितमरण ५ का आ०
बालमरण ५ का आ०
बुक्कस ३।८
बुद्ध १ गा० ८,४०,४२
बुद्धपुत्र १।१७
बोधि ३।३०
बोधिलाभ १७।१
ब्रह्मचर्य ३१।२४
-समाधिस्थान १६ का आ०
-नौ गुप्तियां १६ का आ०
-दस स्थान १६ का आ०
-दस नियम १६ का आ०
-नाश के कारण १६।५
ब्राह्मण २५।१,७
भक्तप्रत्याख्यान २६।५२,३०।४
भक्तप्रत्याख्यानमरण ५ का आ०
भद्रा १२ का आ०
भयभैरव १५।२२
भयस्थान ३१।१३
भल्ली १६।३६
भवतृष्णा २३ गा० ४८
भवस्थिति १०।६
भारण्डपक्षी ४।१४
भावना (पचीस) ३१।३१
भावसत्य २६।६३
भिक्षु प्रतिमा ३१।१८
भित्ति १६।८
भुजमोचक ३६।१५
भूत ६।६
भूतिप्रज्ञ १२।३८
भृगु १४ का आ०
भोइ १४।२७
भोग १५।२०
भोगामिष ८।८
भोजराज २२।३४
भौगिक १५।२०
भौम १५।१६
मंद-मूढ ८।१०
मंदर पर्वत ११।३६


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मदस्थान ३१।१४
मनोगुप्ति-चार प्रकार २४।१२
मनःसमाधारणा २६।६५
मरण ५ का आ०
मरणविभक्ति ५ का आ०
मर्मक १।४४
मलावध्वंसी ४।१८
महानिर्जरा १६।२८
महानुभाग १२।३०
महापथंवसान २६।२८
महापाली १८।१७
महाप्रज्ञ २० का आ०
महाप्राण १८।१५
महाशुक्ल ३।२५
महैषी ४।२६
मार्ग २६।२४
माहण ६।१०
मिथ्यादंड ६।३३
मुंडरुचि २०।२७
मुखवस्त्रिका २६।१५
मुनिधर्म २।४८
मुसुण्डि १६।४७
मृगचर्या १६।५७
मृगचारिका १६।५७
मृगापुत्रीय १६ का आमुख
मृतगंगा १३।४
मृदु-मार्दव २६।६१
मेधावी २।१३
मेयज्ञ १८।१२
मोक्षमार्ग २८।२
मोहगुण ४।२८
मोहनीय कर्म ३३।२
मोहस्थान ३१।३६
मौन १५।१
म्लेच्छ १०।६
यक्ष ३।२४
यज्ञ २५।५
यज्ञीय २५ का आ०
यथाज्ञात २।५५
यमयज्ञ २५।३
यशा १४ का आमुख
यष्टिविद्या १५।१६
याचनजीवी १२।१७
याचना २।५३
यायाजी २५।२
युगमात्र २४।४
युवराज १६।३
योगक्षेम ७।३४
योगनिरोध २६।७२
योग-प्रत्याख्यान २६।५०
योगवान् ११।२१
योग-संग्रह ३१।३८
रथनेमीय २२ का आ०
रसपरित्याग ३०।८
रस-विवर्जन ३०।८
राजन्य १५।२०
राजर्षि ६।८
राजवेष्टि २७।२१
राजीमती २२ गा० २६
राम(बलराम) २२ गा० २
रुचि १८।१६
-दस २८।१७
रूक्ष २।१०
रूप(संख्या) ३१।३०
रूपिणी २१ गा० ७
रोग २।५८
रोझ १६।४१
रोहिणी २२ गा० २
लक्षण १५।१६
लक्षणविद्या ८।२१
लघुभूतविहारी १४।३६
लाढ २।२७
लाभ-अलाभ २।५७
लाभान्तर ४।१६
लिंगप्रयोजन २३ गा० ३२
लेश्या-अध्ययन ३४ का आ०
लेश्या-परिणाम ३४।६
लोक २८।८, ३६।२
लोमहर्ष ५।५१
लोमहार ६।३२
वंदना २६।१६
वक्रजड २३।१८
वज्र(हीरा) ३६।१५
वज्रऋषभसंहनन २२।५
वज्रबालुका ६।३५
वणिक् ७।२५
वध परीषह २।५२
वध्यमंडन २१।८
वनस्पति ३६।१८
वर्द्धमानगृह ६।२६
वलन्मरण ५ का आमुख
वल्लर १६।५६
वशार्त्तमरण ५ का आमुख
वाग्गुप्ति(चार प्रकार) २४।१२
वाग्समाधारणा २६।६६
वाणव्यंतर ३६।२४
वाणी-विवेक २४।६
वायुकाय ३६।२०
वासीचंदणकल्प १६।६२
वासुदेव २२ गा० ८
वास्तुविद्या १५।१६
विकथा ३१।५
विकलेन्द्रिय १०।१०
विकृति १७।१७
विकृष्ट तप ३६।२६
विचित्र तप ३६।२६
विद्यानुशासन ६।२०
विनय(तप) ३०।१२
विनय १।२
विनयवाद १८।१३
विपुल शिक्षा ७।२६
विप्र २५।१,७
विप्रसन्न ५।२८
विमात्र शिक्षा ७।२८
वियड २।८
विविक्त आहार २६।४२
विविक्त शयनासन २६।४१
विवेक ४।२५
विश्वभृत ३।६
विसूचिका १०।१८
विहार १४।५, २६।२३
वीतरागता २६।५७
वीरासन ३०।गा० २७
वृक्षमूल २।३४
वृत्तिसंक्षेप ३०।७
वृषीमान् ५।२७
वृष्णि २२।१४
वेद २५।१३
वैडूर्य ३६।१५
वैदेही ६।५०
वैयापृत्य १२।३१
वैयावृत्य ३०।१३, २६।४४
वैशालिक ६।३७
वैहायसमरण ५ का आमुख
व्यंजन १५।१६
व्यंजन लब्धि २६।३१
व्युत्सर्ग ३०।१६
व्युत्सृष्टकाय १२।४५
शतघ्नी ६।२४
शवल ३१।२७
शब्द २८।१२
शयनयोग ३०।६
शय्या(वसति) २।४१
शरीर-प्रत्याख्यान २६।४०
शरीरभेद ४।३७
शल्य ३१।३
शांतितीर्थ १२।४८
शांतिमार्ग १०।२७
शाल्मलि(वृक्ष) १६।३७
शाश्वत १६।१४
शिक्षाशील ११।४
शिक्षित अश्व ४।२०
शिशुनाग ५।१६
शीतोदक २।७
शील १।१४
शीलगुण १३।७
शीलांगगुण १६।१६
शुक्ललेश्या-स्थिति ३४।१८
शैलेशी २७।६७
श्रद्धा-चिकित्सा २०।२०
श्रमण २।५०
श्रुताराधना २६।३६
श्रुति ३।३
श्वपाक १२।१
श्वेत(राजा) १८।२६
संकरदूष्य १२।१०
संकल्प ६।४४
संक्लिष्ट भावना ३६।२७
संख्या ३६।१०
संग १८।३४
संग-असंग २६।४०
संघाटी ५।३३
संघातनीय २७।६७
संजयीय १८ का आमुख
संज्ञा ३१।६
संधि १।४५
संधिमुख ४।७
संभूत १३ का आमुख
संभोज-प्रत्याख्यान २६।४५
संयमबहुल २७३
संयोग ११।१
संलेखना ३०।४, ३५।६
संवरबहुल १६।४
संवृत १।५६
संवेग २६।१
संसारचक्र १४।४
संस्तव १५।५
संस्थान ३६।११


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकाममरण ५ का आमुख
सत्कार-पुरस्कार २।६९
सत्य ६।५
सद्भाव-प्रत्याख्यान २९।५३
सभिक्षुक १५ का आ०
समचतुरस्र २२।६
समण २५।२०
समयक्षेत्र ३६।८
समर १।४५
समाधिबहुल १६।४
समिति-आठ २४।२
समुच्छय ५।५४
समुद्रपाल २१ गा० ४
समुद्रपालीय २१ का आमुख
समुद्रविजय २१ गा० ३
सम्मूर्च्छिम मनुष्य ३६।२२
सम्मोहा भावना ३६।२७
सम्यक्त्व-पराक्रम २९ का आ०
सम्यग्दर्शन-आठ अंग २८।२५
सर्वदर्शी १५।११
सलिला(नदी) ११।३८
समाधियोग ८।२३
सहस्रचक्षु ११।३२
सहाय-प्रत्याख्यान २९।५१
सांतरुत्तर २३।११
साता २।६८
सामाचार २६ का आमुख
सामाचारी २६।१
सामाजिकों का कोष्ठागार ११।३६
सामुदानिक १७।२३
सारथि(आचार्य) २७।२३
साहसिक २३।२६
सिद्ध(चौदह भेद,पन्द्रह भेद)३६।१२
सिद्ध के आदिगुण ३१।३७
सिद्धस्तव २६।२८
सिद्धि सुगति २९।८
सीता ११।३८
सुआख्यात धर्म ९।४०
सुकृत १।५८
सुपक्व १।५८
सुहृत १।५८
सूर्यकान्त ३६।१५
सेल्लि २७।१४
सेवाल २९।७०
सोवीर १५।२१
स्तव-स्तुति २९।२०
स्तुति-मंगल २६।२६
स्त्रीकथा १६।६
स्थंडिल(चार प्रकार) २४ गा० १६
स्थविर २७।२
स्थान ५।१९
स्थान(आसन) २।२४३,२४४
स्थानयोग ३०।९
स्थूलिभद्र १९।१९
स्नान १५।१९
स्वच्छंद-विहारी १७।३
स्पृशद्गति २९।७२
स्फटिक मणि ३६।१५
स्रुव १२।४७
स्वप्नविद्या ८।२१
स्वयं संबुद्ध ९।५
स्वर-सप्तस्वर,स्वरोदय १५।१६
स्वस्मृति(जातिस्मृति) २८।१८
स्वाध्याय ३०।१४
हंसगर्भ ३६।१५
हट(वनस्पति) २२।३६
हर(काल) १४।१६
हरिकेशबल १२ का आ०
हरिकेशीय १२ का आ०
हिंकार ८।१८
हित-निःश्रेयस् ८।४
हिरण्य-सुवर्ण ८।४२
हैहय १५।२०

## वर्गीकृत शब्द

**पर्वत**
कालिंजर १३।६
कैलास ९।४८
नीलवंत ११।२८
मंदर ११।२९;१९।४१
रैवतक २२।२२-३३
**समुद्र**
रत्नाकर १९।४२
स्वयंभूरमण ११।३०
**नदी**
गंगा १९।३६;३२।१८
मृतगंगा १३।६
वैतरणी १९।५९;२०।३६
सीता ११।२८
**उद्यान**
केसर १८।३४
कोष्ठग २३।८
तिंदुक २३।४,१५
मंडिकुक्षी २०।२
**सिक्के**
कार्षापण २०।४२
काकिणी ७।११
**आवास**
उच्चोदक १३।१३
कल्क १३।१३
गोपुरट्टालक ९।१८
प्रासाद १९।४
ब्रह्म १३।१३
बालाग्रपोतिका ९।२४
मथु १३।१३
लयन २२।३३
वर्द्धमानगृह ९।२४
शून्यागार २।२०
**शस्त्र**
अंकुश २२।४६
असि १९।३७
इन्द्राशनि २०।२१
कल्पनी १९।६२
करकच १९।५१
करवत्त १९।५१
कस १२।१९
कुहाड १९।६६
खुर १९।५९
गदा ११।२१
चक्र ११।२१
क्षुरिका १९।६२
दंड १२।१९
धनु ९।२१
पट्टिस १९।५५
फसु १९।६६
भल्ली १९।५५
मुद्गर १९।६१
सुसंढी १८।६१
मूसल १९।६१
वज्र ११।२३
वेत्र १२।१९
संडास १९।५८
शतघ्नी ९।१८
शूल १९।५१
**धातु और रत्न**
अंक ३४।९
अंकन ३६।७४
अभ्रपटल ३६।७४
अभ्रबालुका ३६।७४
अयस् ३६।७३
इन्द्रनील ३६।७५
उत्स ३६।७३
उपल ३६।७३
कंस ९।४६
गेरूक ३६।७६
गोमेदक ३६।७५
चन्दन ३६।७६
चन्द्रप्रभ ३६।७६
त्रपुक ३६।७३
ताम्र ३६।७३
प्रवाल ३६।७४
पृथ्वी ३६।७३
पुलक ३६।७६
फलिह ३६।७५
भुजमोचक ३६।७५
मनःसिला ३२६।७४
मरकत ३६।७५
मसारगल्ल ३६।७५
मुक्ता ९।४६
रूप्य ३६।७३
रूचक ३६।७५
लवण ३६।७३
लोह १९।६८
लोहित ३६।७५
वज्र ३६।७३
वालुका ३६।७३
वैडुर्य ३६।७६
शर्करा ३६।७३
सासक ३६।७४
सिला ३६।७३
सीसग ३६।७३
स्वर्ण ३६।७३
सूर्यकान्त ३६।७६
सौगंधिक ३६।७६
हंसगर्भ ३६।७६
हरिताल ३६।७४
हिंगुलुक ३६।७४
हिरण्य ९।४६
**वनस्पति**
अंबरी १९।५५
अतसि ७।११
असन ३६।९९
आलू २६।९६
इक्षु १९।५३
कंद ३६।९८
कंदली ३६।९७
कृष्ण ३६।९८
कपित्थ ३४।१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालीपर्व २।३
किंपाक १९।१७
कुंद ३४।१९
कुटुम्बक ३६।१७
कुहक ३६।१८
कूटशाल्मली २०।३६
केदकंदली ३६।१७
खर्जूर ३४।१५
जव(यौ) ९।४९
जावईकन्द ३६।१७
निम्ब ३४।१०
नीलाशोक ३४।१५
पलंडु ३६।१७
पद्म २५।२६
मुद्रिका ३४।१५
मुसंढी ३६।१९
मूलक ३६।१६
रोहिणी ३४।१०
लसुन ३६।१७
लोहि ३६।१८
वज्रकन्द ३६।१८
सण ३४।८
सालि ९।४९
सिंगबेर ३६।१६
सिंबली १९।५२
स्निहु ३६।१८
सिरीली ३६।१७
सिरीस ३४।१९
सिस्सिरिली ३६।१७
सीहकर्णी ३६।१९
सूरणक ३६।१८
हट २२।४४
हस्तिपिप्पली ३४।११
हलिद्रा ३६।१७

**प्राणी**

अक्षिरोडक ३६।१४८
अक्षिल ३६।१४८
अक्षिवेधक ३६।१४७
अणुल्लक ३६।१२९
अन्धिक ३६।१४६
अरिष्टक ३४।४
अलस ३६।१२८
अश्व २०।१४
अहि ३६।१८१
आकीर्ण ११।१६
इन्द्रकायिक ३६।१३८
इन्द्रगोपक ३६।१३९
उक्कल ३६।१३७
उद्दंस ३६।१३७
उद्देहिका ३६।१३७
उरग १४।४७
ओहिंजलिया ३६।१४८
कंथक ११।१६
कच्छप ३६।१७२
काष्ठहार ३६।१३७
कार्पासास्थिमिंजक ३६।१३८
कामदुहाधेनु २०।३६
कापोत १९।३३
कृमि ३६।१२८
कीट ३६।१४६
कुंकण ३६।१४६
कुंच १४।३६
कुक्कुट ३६।१४७
कुन्थु ३६।१३७
कुटरी २०।५०
कुलल १४।४६
कोकिल ३४।१६
कोल १४।५४
खलुंक २७।३
गंधहस्ती २२।१०
गवल ३४।१४
गाय ३४।१६
ग्राह ३६।१७२
गृध्र १९।५८
गुल्मी ३६।१३८
गोण(बैल) ६६।१००
गोह ३६।१८१
चन्दन ३६।१२९
चर्मपक्षी ३६।१८८
चाष ३४।१५
चित्रपत्रक ३६।१४८
जलकारी ३६।१४८
जलूक ३६।१२९
जालक ३६।१२९
डोल ३६।१४८
ढंक १९।५८
ढिंकुण ३६।१४६
त्रपुषमिंजक ३६।१३८
तन्तवक ३६।१४७
तृणहार ३६।१३७
तिन्दुक ३६।१३८
दंश १९।३१
नंदावर्त्त ३६।१४७
नाग १४।४८
नीचक ३६।१४८
पत्राहारक ३६।१३७
पतंग ३२।२४
पल्लोय ३६।१२९
पारेवय ३४।१६
पिपीलिका ३६।१३७
पोत्तिका ३६।१४६
बलाका ३२।१६
बिडाल ३२।१३
भ्रमर ३६।४६
भारुंड ४।१६
भृंगारी ३६।१४७
भुजंग १४।३४
मकर ३६।१७२
मत्स्य ३६।१७२
मक्षिका ३६।२४६
मशक ३६।१४६
महिष ३२।७६
मागध ३६।१४८
मातुवाहक ३६।१२८
मालुक ३६।१३७
मृग ३२।१३७
मूसक ३२।१३
रोझ १९।५६
रोहितमत्स्य १४।३५
लोमपक्षि ३६।१८८
वराटक ३६।१२९
वृषभ ११।१९
वासीमुख ३६।१२८
विचित्र ३६।१४८
वृश्चिक ३६।१४७
विततपक्षी ३६।१८८
विरली ३६।१४७
विदंशक १९।६५
शंख ३६।१२८
शंखनक ३६।१२८
शुक ३४।१७
सदावरी ३६।१३८
समुद्गपक्षी ३६।१८८
श्रृंगिरीट ३६।१४७
सीप ३६।१४७
सिंह ३६।१८०
सुंसुमार ३६।१७२
सुनक ३४।१६
सुपर्ण(गरुड) १४।४७
सोमंगल ३६।१२८
हंस १४।३३


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ९

# प्रयुक्त ग्रन्थ–सूची

## ग्रन्थ–नाम लेखक, सम्पादक, अनुवादक, संस्करण व प्रकाशक


**अंगविज्जा**
*सं० मुनि श्री पुण्यविजयजी अंग्रेजी अनु० डॉ० मोतीचन्द्र*
प्रथम, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, बनारस

**अंगुत्तरनिकाय (१–४)**
*सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो*
सन् १९६०, पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार राज्य

**अंगुत्तरनिकाय (भाग १–३)**
*अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन*
सन् १९५७,६३,६६, महाबोधि सभा, कलकत्ता

**अगस्त्य चूर्णि (दशवैकालिक)**
*मुनि अगस्त्यसिंह*
अप्रकाशित

**अनगार धर्मामृत**
*पं० आशाधर*
सं० १९७६, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई

**अनुयोगद्वार**
*आर्यरक्षितसूरि*
सं० १९८०, आगमोदय समिति, मेहसाणा

**अनेकार्थ कोष**
*आचार्य हेमचन्द्रसूरि*

**अन्तकृद्दशा (अंतगडदसाओ)**
*सं० एम.सी. मोदी एम.ए., एल.एल.बी*
सन् १९३२, गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद

**अन्तकृद्दशा (अंतगडदसाओ)वृत्ति**
*सं० एम.सी. मोदी एम.ए., एल.एल.बी*
सन् १९३२, गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद

**अभिधान चिन्तामणि**
*हेमचन्द्राचार्य; विवेचनाकार आचार्य श्री विजयकस्तरसूरि*
सं० २०१३, जैन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद

**अभिधानप्पदीपिका**
*सं० मुनि जिनविजयजी*
प्रथम, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद

**अमितगति श्रावकाचार**
*आचार्य अमितगति*
सन् १९७९, मुनि श्री अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, कालबादेवी रोड, बम्बई

**अष्टपाहुड**
*कुन्दकुन्द*
सन् १९५०, पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मेरठ (राज०)

**अष्टांगहृदय**
*वाग्भट; सं० वैद्य लालचन्द*
प्रथम, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

**अहिर्बुध्न्यसंहिता आचारांग**
सं० १९६१, सिद्धचक्र साहित्य समिति, बम्बई

**आचारांग चूर्णि**
*जिनदासगणि*
सं० १९६८, ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रत्नपुर (मालवा)

**आचारांग निर्युक्ति**
*भद्रबाहु*
सं० १९६१, सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई

**आचारांग वृत्ति**
*शीलांकाचार्य*
सं० १९६१, सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई

**आचारासार आवश्यक निर्युक्ति**
*भद्रबाहु*
सन् १९२८, आगमोदय समिति, बम्बई

**आवश्यक वृत्ति**
*मलयगिरि*
सन् १९२८, आगमोदय समिति, बम्बई

**इतिवुत्तक (खुद्दकनिकाय)**
*सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो*
सन् १९५९, पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार राज्य

**इतिवुत्तक (अनुदान)**
*अनु० भिक्षु धर्मरक्षित*
सन् १९५६, महाबोधि सभा, सारनाथ

**इसिभासियाइं सुत्ताइं**
*अनु० सं० मुनि मनोहर*
सन् १९६३, सुधर्मा ज्ञानमंदिर, बंबई

**उत्तरपुराण**
*जिनसेनाचार्य, सं० पन्नालाल जैन*
सं० २००८, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वाराणसी


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**उत्तराध्ययन चूर्णि (उत्तराध्ययनानि)**
*श्री गोपालगणि महत्तर शिष्य*
सं० १९८९, ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रत्नपुर (मालवा)
**उत्तराध्ययन जोड़**
*आचार्य जीतमलजी*
अप्रकाशित
**उत्तराध्ययन निर्युक्ति (भाग १–३)**
*भद्रबाहु*
सं० १९७२, ७३, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, बम्बई
**उपदेशमाला (भाषान्तर)**
*धर्मदास गणि*
सन् १९३३, मास्टर उमेदचन्द रामचन्द, अहमदाबाद
**उपवास के लाभ**
*विट्ठलदास मोदी*
सन् १९४७, नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर
**उपासकदशा (वृत्ति सहित)**
*सं० पं० भगवानदास*
सं० १९९२, जैन सोसाइटी, नं० १५, अहमदाबाद
**ऋग्वेद भाग (१–५)**
*भा० सायण*
सन् १९२६, ४१, ४६, ६१, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना
**ऐतरेय आरण्यकम् (सभाष्य)**
*भा० सायण*
सन् १९५९, आनन्दाश्रम, पूना
**ऐतरेय ब्राह्मण ओघनिर्युक्ति**
*भद्रबाहु*
सं० १९७५, आगमोदय समिति, मेहसाणा
**ओघनिर्युक्ति भाष्य**
*पूर्वाचार्य (वृ० द्रोणाचार्य)*
सं० १९७५, आगमोदय समिति, मेहसाणा
**औपपातिक**
सं० ९९९४, पं० भूरालाल कालीदास, सूरत
**औपपातिक**
*सं० ल्यूमेन*
सन् १८८३, Leipzig
**औपपातिक वृत्ति**
*अभयदेव सूरि (द्रोणाचार्य द्वारा शोधित)*
सं० १९९४, पं० भूरालाल कालीदास, सूरत
**ओववाइय सुत्तं**
*सं० एन. जी. सुरु एम. ए.*
सन् १९३१, अर्हत् मत प्रभाकर कार्यालय, पूना
**कल्पसूत्र**
*भद्रबाहु*
सं० २००८, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
**कल्पसूत्र चूर्णि (कल्पसूत्र)**
*पूर्वाचार्य; सं० श्री पुण्यविजयजी*
सं० २००८, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
**कल्पसूत्र टिप्पणक (कल्पसूत्र)**
*श्री पृथ्वीचन्द्र सूरि, सं० श्री पुण्यविजयजी*
सं० २००८, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
**कालीदास का भारत (भाग १–२)**
*श्री भगवतशरण उपाध्याय*
प्रथम संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बनारस
**कौटिलीयम् अर्थशास्त्र (भाग १–३)**
*कौटिल्याचार्य स० आर.पी.कांगले*
सन् १९६०, बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई
**गच्छाचारपयन्ना, गच्छाचारपयन्ना (वृत्ति)**
*पूर्वाचार्य*
सन् १९४५, श्री भूपेन्द्र सूरि जैन साहित्य समिति, आहोर (मारवाड़)
**गीता**
*महर्षि वेदव्यास*
सं० २०१६, गीता प्रेस, गोरखपुर
**गीता रहस्य (कर्मयोग शास्त्र)**
*लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, अ० माधवराव जी सप्रे*
सन् १९५५, लोकमान्य तिलक मन्दिर, गायकवाड़वाड़ा, पूना-२
**गोम्मटसार (जीवकांड)**
*नेमिचन्द्र सिद्धांत शास्त्री*
सन् १९२७, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ
**गोम्मटसार (कर्मकांड)**
*अनु० ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद*
सन् १९३७, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ
**चन्द्रप्रज्ञप्ति**
हस्तलिखित
**चरक संहिता (भाग १–२)**
*महर्षि अग्निवेश एवं चरक*
सन् १९५४, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
**चारित्र भक्ति**
*पूज्यपाद*
**छान्दोग्योपनिषद्**
*भा० शङ्कर*
सं० २०१३, गीताप्रेस, गोरखपुर
**जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति**
सं० १९७६, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
**जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति**
*वृत्तिकार शान्तिचन्द्र*
सन् १९७६, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
**जयन्तन्यायमञ्जरी**
**जातक**
*सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो*
सन् १९५९, पालि पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार गवर्नमेंट)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**जातक (१–६)**
*अनु० भदन्त आनन्द कोसल्यायन*
प्रथम संस्करण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
**जीवाजीवाभिगम**
*वृत्ति० मलयगिरि*
सन् १९१९, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
**जैन तर्क भाषा**
*महोपाध्याय श्री यशोविजयगणि, सं० पं० सुखलालजी संघवी*
सं० १९९४, सिंघी जैन ग्रन्थमाला
**ज्योतिषकरण्डकानि**
सन् १९२८, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
**तत्त्व–ज्ञान, तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी), तत्त्वसंग्रह पञ्जिका**
*डॉ० दीवानचन्द*
सन् १९५६, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ
**तत्त्वत्रय**
*लोकाचार्य, भाष्य० श्रीमद् वरवर मुनि*
चोखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी
**तत्त्वानुशासन**
*रामसेन*
प्रथम, माणिकचन्द्र दि० जैन,बम्बई
**तत्त्वार्थ भाष्यानुसारी टीका**
*सिद्धसेन गणी, सं० हीरालाल रसिकलाल कापड़िया*
सन् १९२६, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
**तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भाग १–२)**
*भट्ट अकलंकदेव, सं०पं० महेन्द्रकुमार जैन एम.ए.*
सं० २००९, सं० २०१४, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस-४
**तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय)**
*श्रुतसागर सूरि, सं० प्रो० महेन्द्रकुमार जैन*
सं. २००५, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस-४
**तत्त्वार्थ सूत्र (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र)**
*उमास्वाति*
सं० १९८९, सेठ मणीलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, बम्बई-२
**तपागच्छ पट्टावलि**
*सं० मुनि कल्याणविजयजी*
**दर्शन संग्रह**
*डॉ० दीवानचंद*
**दशवैकालिक चूर्णि**
*अगस्त्यसिंह स्थविर*
**दशवैकालिक चूर्णि**
*जिनदास महत्तर*
सं० १९८४, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी पेढी, रतलाम
**दशवैकालिक टीका**
*हरिभद्र सूरि*
सं० १९१८, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, बम्बई
**दशवैकालिक निर्युक्ति**
*भद्रबाहु*
सन् १९१८, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, बम्बई
**दशवैकालिक सार्थ सटिप्पण**
*वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पा० मुनि नथमल*
सं० २०२०, श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता-१
**दसवेआलियं तह, उत्तरज्झयणाणि**
*वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पा० मुनि नथमल*
सं० २०२३, श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता-१
**दशाश्रुतस्कंध**
सं० २०११, श्री मणिविजय गणि ग्रन्थमाला, भावनगर
**दीघनिकाय**
*सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो*
पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार राज्य
**दीघनिकाय**
*अनु० राहुल सांकृत्यायन*
सन् १९३६, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
**देशीनाममाला**
*आचार्य हेमचन्द्र*
सन् १९३८, बम्बई संस्कृत सिरीज
**देशीशब्दकोश**
*युवाचार्य महाप्रज्ञ*
सन् १९८८, जैन विश्व भारती, लाडनूं
**द्रव्यसंग्रह**
*नेमिचन्द्र आचार्य*
सन् १९२६, जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय
**धनञ्जय नाममाला**
*महाकवि धनञ्जय, भाष्यकार अमर कीर्ति*
सन् १९५०, भारतीय ज्ञानपीठ काशी,बनारस
**धम्मपद**
*अ० धर्मानंद कोसम्बी, रामनारायण वि० पाठक*
सन् १९२४, गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदाबाद
**धर्म संग्रहणी**
*हरिभद्र सूरि*
सन् १९२८, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
**ध्यान शतक (संस्कृत टीका सह)**
*जिनभद्र गणि*
**नवतत्त्व–साहित्य संग्रह**
*संयोजक उदयविजय गणि*
सं० १९७८, माणकलाल मनसुखभाई, अहमदाबाद
**नन्दी सूत्र (चूर्णि,हारिभद्रीय वृत्तियुक्त)**
*देववाचक श्रमाश्रमण*
सं० १९८८, रूपचन्द्र नवलमल, इन्दौर
**नन्दी सूत्र (मलियगिरी वृत्तियुक्त)**
*देववाचक श्रमाश्रमण*
सं० १९८०, आगमोदय समिति, मेहसाणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**नय प्रदीप**
*गङ्गासहाय*
**निदान—कथा (जातकअट्ठकथा)**
*सं० प्रो० एच०के० भागवत*
सन् १९५३, बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई
**निशीथ चूर्णि**
*जिनदास महत्तर*
सन् १९५७, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
**निशीथ भाष्य**
*जिनदास महत्तर*
सन् १९५७, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
**निश्चय द्वात्रिंशिका**
*सिद्धसेन दिवाकर*
**नेमिनाथचरित**
*कीर्तिराज*
**न्यायकारिका**
**न्यायकुमुदचन्द्र (१—२)**
*सं० महेन्द्रकुमार*
**न्याय दर्शन भाष्य**
*वात्स्यायन*
**न्यायसूत्र**
*गौतम*
**न्यायालोक (तत्त्वप्रभावृत्ति)**
*उपाध्याय यशोविजय*
**पंचाध्यायी**
*कविवर पं० राजकमल, टीकाकर देवकीनन्दन सिद्धांतशास्त्री*
वी०सं० २४७६, श्री गणेश वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी
**पंचाशक प्रकरण**
*हरिभद्राचार्य*
सं० १९२८, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
**पंचास्तिकाय**
*आचार्य कुन्दकुन्द, सं० पन्नालाल वाकलीवाल*
सं० १९७२, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
**पद्मपुराण भाग (१—५), पदार्थ—संग्रह**
*कृष्णद्वैपायान व्यास*
सन् १९५७, ५९, मनसुखराय मोर, ५ क्लाइव रोड, कलकत्ता-१
**पाइयसद्दमहण्णवो**
*पं० हरिगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ, सं० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं० दलसुखभाई मालवणिया*
द्वितीय संस्करण, सन् १९६३, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५
**पाणिनि अष्टाध्यायी**
*पाणिनी*
निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
**पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पाणिनि भाष्य**
*वासुदेवशरण अग्रवाल*
सं० २०२२, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस
**पातञ्जल योगदर्शन**
*महर्षि पतञ्जलि, सं० व्या० यशोविजयजी*
सन् १९१२, श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा
**पातञ्जल योगदर्शन**
*पतञ्जलि*
सं० २०१७, गीता प्रेस, गोरखपुर
**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**
*अमृतचन्द्र सूरि, सं० अजित प्रसाद,एम० ए०, एल० एल० बी०*
सन् १९३३, सैन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस,लखनऊ
**पूर्वमीमांसा**
*महामहोपाध्याय, डॉ० गंगानाथ झा*
सन् १९६४, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी
**प्रकरण पञ्जिका**
*शालिकनाथ, व्या० नारायण भट्ट*
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
**प्रज्ञापना (१—४)**
*श्यामाचार्य*
सं० १९७४, आगमोदय समिति, मेहसाणा
**प्रज्ञापना वृत्ति (१—४)**
*मलयगिरि*
सन् १९४४, आगमोदय समिति, मेहसाणा
**प्रमाणनयतत्त्वालोक**
*वादिदेव सूरि, सं० हिमांशुविजय*
सं० १९८९, विजयधर्म सूरि ग्रन्थमाला, उज्जैन
**प्रवचनसारोद्धार**
*नेमिचन्द्र सूरि*
सं० १९७८, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था
**प्रवचनसारोद्धार वृत्ति**
*नेमिचन्द्र सूरि*
सं० १९७८, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था
**प्रशस्तपाद भाष्य व्यामती टीका**
**प्राकृत भाषाओं का व्याकरण**
*रिचर्ड पिशल, अनु०, डॉ० हेमचन्द्र जोशी डी० लिट्*
सं० २०१५, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
**प्राचीन भारतीय अभिलेखों का संग्रह**
**बुद्ध और बौद्ध साधक**
*भरत सिंह उपाध्याय*
सन् १९५०, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
**बुद्धचर्या**
*राहुल सांकृत्यायन*
सन् १९५२, महाबोधि सभा (सारनाथ), बनारस
**बृहत्कल्प भाष्य**
*भद्रबाहु, सं० पुण्यविजयजी*
सन् १९३३ से १९३८, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
**बृहदारण्यकोपनिषद्**
सं० २०१४, गीता प्रेस, गोरखपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**बृहद् वृत्ति उत्तराध्ययन**
*वादिवेताल श्री शान्तिसूरि*
सं० १९७२-७३, श्री देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, बम्बई
**बौद्ध धर्म दर्शन**
*आचार्य नरेन्द्र देव*
**बौद्धायन धर्मशास्त्रम्**
*सं० F. E. Hlutzsch, Ph. D.*
सं० १९८४, Leipzig
**भगवती सूत्र**
*अनु० बेचरदास दोशी*
सन् १९२१ सं० १९८८, आगमोदय समिति, मेहसाणा जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
**भगवती वृत्ति**
*अभयदेव सूरि*
आगमोदय समिति, मेहसाणा
**भागवत (महापुराण) दो खण्ड**
सं० २०१८, गीता प्रेस, गोरखपुर
**भारती इतिहास की रूपरेखा**
*डॉ० बलराम श्रीवास्तव, रत्तिभानु सिंह नाहर*
सं० १९४८, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई
**भारतीय संस्कृति और अहिंसा**
*धर्मानन्द कोसम्बी, अनु० विश्वनाथ दामोदर शोलापुर कर*
**भास्कर भाष्य**
**मज्झिमनिकाय**
*सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो*
सं० २०१५, बिहार राजकीयेन पालि प्रकाशन मण्डल
**मज्झिमनिकाय (अनुवाद)**
*अनु० राहुल सांकृत्यायन*
सन् १९३३, महाबोधि सभा 'सारनाथ', बनारस
**मत्स्य पुराण, माधव सिद्धान्तसार**
*कृष्णद्वैपायण व्यास*
सन् १९५४, नन्दलाल मोर, ६ क्लाइव रो, कलकत्ता-१
**मनुस्मृति**
*मनु० सं० नारायणराम आचार्य काव्यतीर्थ*
सन् १९४६, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
**महाभारत (१--६ खण्ड)**
गीता प्रेस, गोरखपुर
**महावस्तु**
*सं० राधागोविन्द वसाक*
**माण्डूक्यकारिका**
**माध्यमिककारिका**
*नागार्जुन*
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
**मानमेयोदय**
*नारायण*
**मानव की कहानी, मीमांसा श्लोकवार्तिक (न्यायरत्नाकराख्या टीका)**
*कुमारिल भट्ट, टीकाकार पारथ सारथी मिश्र*
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
**मूलाचार (सटीक)**
*वेट्टकेराचार्य, टीकाकार वसुनन्दि*
सं० १९७७, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
**मूलाचार**
*कुन्दकुन्दाचार्य, हि० अनु० जिनदास पार्श्वनाथ फडकले, शास्त्री, न्यायतीर्थ*
वीर सं० २४८४, श्रुत भाण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटन (उत्तर सितारा)
**मूलाराधना**
*शिवार्य*
सन् १९६५, सोलापुर
**मूलाराधना**
*शिवार्य*
सन् १९६५, सोलापुर
**मूलाराधना**
*सं० अनु० अमितगति*
**मूलाराधना--दर्पण**
*पं० आशाधर*
सन् १९६५, सोलापुर
**मूलाराधना (विजयोदया वृत्ति)**
*अपराजित सूरि*
सोलापुर
**मेघदूत**
*टीकाकर मल्लिनाथ*
**यतिपतिमतदीपिका**
*जनार्दन शास्त्री*
मोतीलाल बनारसीदास
**याज्ञवल्क्यस्मृति**
*महर्षि याज्ञवल्क्य*
सन् १९४९, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
**योगविंशिका**
*हरिभद्र सूरि, सं० प्रज्ञाचक्षु, पं० सुखलाल सिंघवी*
सन् १९२२, श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा
**रत्नकरण्ड श्रावकाचार (सटीक)**
*स्वामी समन्तभद्र*
सं० १९८२, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
**रत्नाकरावतारिका**
*टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य*
**राजनिघण्टु कोष**
**राजप्रश्नीय वृत्ति**
*सं० एन० भी० वैद्य, एम० ए०*
सन् १९३८, खादयत बुक डिपो, अहमदाबाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**राजवल्लभ कोष**
**रामायणकालीन संस्कृति लोकप्रकाश भाग (१–२)**
*डॉ० निवयविजय गणि, अनु० मोतीचन्द ओधवजी शाह*
सन् १९२९, आगमोदय समिति, बम्बई
**लोकप्रकाश भाग (१–२)**
*विनयविजय गणि*
सन् १९३२, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई
**वसुनन्दि श्रावकाचार**
*आचार्य वसुनन्दि, सं० पं० हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री*
सं० २००९, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस-४
**वाक्यपदीय**
*भर्तृहरि, टीका० पुण्यराजा*
चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
**वाल्मीकीय रामायण (१–२)**
*महर्षि वाल्मीकि*
सं० २०१७, गीता प्रेस, गोरखपुर
**वास्तुसार, विधिविवेक न्यायकर्णिका**
*ठक्कर फेरु, अनु० भगवानदास*
**विनयपिटक**
*अनु० राहुल सांकृत्यायन*
सन् १९३५, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
**विविध तीर्थकल्प**
*जिनप्रभ सूरि*
सन् १९३४, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शांतिनिकेतन (बंगाल)
**विशुद्धिमग्ग दीपिका**
**विशुद्धिमार्ग (भाग १–२)**
*आचार्य बुद्धघोष, अनु० त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित*
सन् १९५६-५७, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
**विशेषावश्यक भाष्य**
*जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण*
वीर सं० २४८९, दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद
**विष्णुपुराण**
*महर्षि वेदव्यास, अनु० गिरिजाशंकर मायाशंकर शास्त्री*
सं० २०२०, सस्तु साहित्य वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद
**वेदान्तपारिजात सौरभ**
**वैदिक संस्कृत का विकास**
*पं० लक्ष्मण शास्त्री*
**वैदिक साहित्य**
*पं० रामगोविन्द त्रिवेदी*
सन् १९५०, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बनारस
**वैराग्यशतक**
*भर्तृहरि; सं० डॉ रामधन शर्मा शास्त्री*
सं० १९५९, पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली
**वैशेषिक दर्शन**
*महर्षि कणाद*
चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
**वैशेषिक सूत्र**
*सं० मुनि जम्बूविजय*
**व्यवहार भाष्य**
*सं० मुनि माणेक*
सं० १९९४, वकील केशवलाल प्रेमचन्द, भावनगर
**व्यवहार सूत्र**
*भद्रबाहु द्वितीय*
सं० १९८२, जैन श्वेताम्बर संघ, भावनगर
**शतपथ ब्राह्मण**
*भा० सायण*
चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
**शब्दार्णव चन्द्रिका**
*सोमदेव सूरि*
भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, काशी
**शास्त्रदीपिका**
**शेषनाममाला**
**श्रावक धर्मविधि प्रकरण**
*हरिभद्र सूरि, वृत्तिकार श्रीमान् देव सूरि*
सन् १९२४, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
**संयुत्तनिकाय पालि (१–४)**
*भिक्खु जगदीस कस्सपो*
सं० १९५९, पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार
**संयुत्तनिकाय अनुवाद (१–२)**
*भिक्षु जगदीस काश्यप*
सं० १९५४, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
**संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी**
*सर मोनियर विलियम्स, एम. ए. के. सी. आ. ई.*
सन् १९६३, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
**संस्कृत साहित्य मां वनस्पति**
गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
**समयसार**
*कुंदकुंदाचार्य, सं० ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद*
वीर सं० २४४४, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत
**समवायांग वृत्ति**
*अनु० शास्त्री जेठालाल हीराभाई*
सं० १९६५, श्री जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर
**समवायांग वृत्ति**
*अभयदेव सूरि*
सन् १९१८, आगमोदय समिति, मेहसाणा
**सर्वदर्शन संग्रह**
*सायण माधवाचार्य, टीका० महामहोपाध्याय प्राच्यविद्या शास्त्री अभयंकर*
सन् १९२४, संशोधन मंदिन, पूना
**सर्वार्थसिद्धि**
*सं० आचार्य पूज्यपाद, सं० पं० फूलचन्द्र सिद्धांतशास्त्री*
सं० २०१२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, दुर्गाकुण्ड, बनारस
**समुद्र के जीव–जन्तु**
**सांख्यप्रवचन**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**सांख्यकारिका (माठर वृत्ति)**
*ईश्वरकृष्ण, टीका० माथराचार्य*
चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
**सागार धर्मामृत**
*पं० आशाधर; टीका० देवकीनन्दन सिद्धांतशास्त्री*
वीर सं० २४६६, मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सूरत
**सिरिरयणपरिक्खा प्रकरण सुखबोधा (उत्तराध्ययन की टीका)**
*नेमिचन्द्राचार्य, सं० विजयोमंग सूरि*
वीर सं० २४६७, पुष्पचन्द्र खेमचन्द्र वलाद, वाया अहमदाबाद
**सुखबोधिका**
**सुत्तनिपात**
*अनु० भिक्षु धर्मरत्न*
सन् १९५१, महाबोधि सभा, सारनाथ
**सूत्रकृतांग**
सं० १९७३, आगमोदय समिति, मेहसाणा
**सूत्रकृतांग चूर्णि**
*जिनदास गणि*
सं० १९९८, ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रत्लपुर (मालवा)
**सूत्रकृतांग वृत्ति**
*शीलांक सूरि*
सं० १९७३, आगमोदय समिति, मेहसाणा
**स्थानांग**
सं० १९९४, सेठ मणिकलाल चूनीलाल, सेठ कांतिलाल चूनीलाल, अहमदाबाद
**स्थानांग वृत्ति**
*अभयदेव सूरि*
सं० १९९४, सेठ मणिकलाल चूनीलाल, सेठ कांतिलाल चूनीलाल, अहमदाबाद
**स्याद्वादमञ्जरी**
*भक्तिषेण सूरि, अनु० जगदीश चन्द्र एम. ए.*
सं० १९६५, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बंबई
**स्याद्वादरत्नाकर**
वीर सं० २४५३, मोतीलाल लाधाजी, पूना
**श्री गुप्त समाजतंत्र**
**हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता**
*डॉ० बेणीप्रसाद*
**हिन्दू सभ्यता**
*डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी, अनु० वासुदेवशरण अग्रवाल*
**हेमशब्दानुशासन**
*आचार्य हेमचन्द्र*
सं० १९६२, सेठ मनसुखभाई पोरवाड़, अहमदाबाद
**ज्ञाता धर्मकथा**
*टीकाकार अभयदेव सूरि*
सं० १९१९, आगमोदय समिति, बम्बई
**Ancient Indian Historical Tradition**
*F. E. Pargiter, M.A.*
1962, Motilal Banarsidass, Delhi
**India and Central Asia**
*P. C. Bagchi*
**Mysterious Universe**
*Sir James Jeans*
**Purva Mimansa**
*Mahamahopadhyaya, Dr. Sir Ganganath Jha*
1966, Benaras Hindu University.
**Sacred Books of the East, Vol. XLV**
*Translated by Hermann Jacobi*
1895, Oxford.
**Sacred Books of the East, Vol. XLV, Vol. XXII**
*Translated by Hermann Jacobi*
1884, Oxford.
**The History of Science**
*Dempiyan*
**The Nature of the Physical World**
*Eddington*
**The Uttaradhyayana Sutra JARL**
*Charpentier, Ph.D.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org